युगन्धर

शिवाजी सावन्त

युगन्धर

श्रीकृष्ण—अर्थात् हजारों वर्षों से व्यक्त एवं अव्यक्त रूप से भारतीय जनमानस में व्याप्त एक कालजयी चरित्र—एक युगपुरुष!

श्रीकृष्ण-चरित्र के अधिकृत सन्दर्भ मुख्यत: श्रीमद्- भागवत, महाभारत, हरिवंश और कुछ पुराणों में मिलते हैं। इन सब ग्रन्थों में पिछले हजारों वर्षों से श्रीकृष्ण-चरित्र पर सापेक्ष विचारों की मनगढ़न्त परतें चढ़ती रहीं। यह सब अज्ञानवश तथा उन्हें एक चमत्कारी व्यक्तित्व बनाने के कारण हुआ। फलत: आज श्रीकृष्ण वास्तविकता से सैकड़ों योजन दूर जा बैठे हैं।

'श्रीकृष्ण' शब्द ही भारतीय जीवन-प्रणाली का अनन्य उद्‌गार है। आकाश में तपता सूर्य जिस प्रकार कभी पुराना नहीं हो सकता, उसी प्रकार महाभारत कथा का मेरुदण्ड—यह तत्त्वज्ञ वीर भी कभी भारतीय मानस-पटल से विस्मृत नहीं किया जा सकता। जन्मत: ही दुर्लभ रंगसूत्र प्राप्त होने के कारण कृष्ण के जीवन-चरित्र में, भारत को नित्यनूतन और उन्मेषशाली बनाने की भरपूर क्षमता है।

श्रीकृष्ण-जीवन के मूल सन्दर्भों की तोड़-मरोड़ किये बिना क्या उनके युगन्धर रूप को देखा जा सकता है? क्या उनके स्वच्छ, नीलवर्ण जीवन-सरोवर का दर्शन किया जा सकता है? क्या 'गीता' में उन्होंने भिन्न-भिन्न योगों का मात्र निरूपण किया है? सच तो यह है कि श्रीकृष्ण के जीवन-सरोवर पर छाये शैवाल को तार्किक सजगता से हटाने पर ही उनके युगन्धर रूप के दर्शन हो सकते हैं।

प्रस्तुत है शिवाजी सावन्त के इस प्रसिद्ध उपन्यास का नवीनतम संस्करण।

ISBN: 978-81-263-1718-9

ज्ञान गरिमा के
70 वर्ष

भारतीय
ज्ञानपीठ

युगन्धर

श्रीकृष्ण-चरित्र पर केन्द्रित उपन्यास

युगन्धर

शिवाजी सावन्त

रूपान्तर
मृणालिनी शिवाजी सावन्त

भारतीय ज्ञानपीठ

राष्ट्रभारती/लोकोदय ग्रन्थमाला: ग्रन्थांक 688

ISBN 978-93-263-5146-1

पहला संस्करण	: 2002
पाँचवाँ संस्करण	: 2005
नौवाँ संस्करण	: 2008
ग्यारहवाँ संस्करण	: 2010
बारहवाँ संस्करण	: 2012
तेरहवाँ संस्करण	: 2013
चौदहवाँ संस्करण	: 2014
पन्द्रहवाँ संस्करण	: 2015
सोलहवाँ संस्करण	: 2015
सत्रहवाँ संस्करण	: 2016

प्रकाशक:

भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003

आवरण: अनिल उपळेकर

आवरण-सज्जा: ज्ञानपीठ कला प्रभाग

सत्रहवाँ संस्करण: 2016

© अमिताभ एस. सावन्त

YUGANDHAR
(Marathi Novel)
by Shivaji Sawant

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003
Ph.: 011 24698417, 24626467; 23241619 (Daryaganj)
Mob.: 9350536020; e-mail: bjnanpith@gmail.com
sales@jnanpith.net, website: www.jnanpith.net

Seventeenth Edition: 2016

समर्पण

–जिस के लिए–'तुम न होती तो?' यह एक ही प्रश्न है मेरे 'होने' का–मेरे अस्तितव का निर्विवाद उत्तर, और विपरीत स्थितियों में भी जिसने कर्तव्य-तत्पर होकर ज्येष्ठ बन्धु श्री विश्वासराव की मदद से मंगेश, तानाजी और मैं–हम तीनों भाइयों के जीवन को आकार दिया, और इसके लिए हँसमुख रहकर कष्टसाध्य परिश्रम करते हुए जिसके पाँवों में छाले पड़ गये–अपनी उस (स्व.) मातुश्री राधाबाई गोविन्दराव सावन्त के वन्दनीय चरणों को स्मरण करके;

–और मराठी के ख्यातश्रेयस, साक्षेपी, ज्येष्ठ बन्धुतुल्य प्रकाशक श्री अनन्तराव कुलकर्णी, उनके सुपुत्र अनिरुद्ध रत्नाकर तथा समस्त कॉण्टिनेण्टल प्रकाशन परिवार का स्मरण करके;

–और जिसने यह प्रदीर्घ रचना श्रीकृष्ण-प्रेम के कारण अथक निष्ठा से लिपिबद्ध की, जिसने प्रिय कन्या सौ. कादम्बिनी पराग धारप और चि. अमिताभ को अच्छे संस्कार दिये, जो मेरे लिए पहली परछाई और मेरा दूसरा श्वास ही है–अपनी पत्नी सौ. मृणालिनी अर्थात् कुन्दा को साक्षी रख के;

–सभी पाठकों के साथ-साथ उसे भी प्रिय लगे ऐसे शब्दों में कहता हूँ – श्रीकृष्णार्पणमस्तु!

–शिवाजी सावन्त

आचमन

'युगन्धर' की मूल मराठी कथा शब्दांकित हुई। एक अननुभूत कार्यपूर्ति के अवर्णनीय आनन्द से मेरा मन लबालब भर आया है। अज्ञात मन की गहराइयों से मुझे तीव्रता से प्रतीत हो रहा है कि अब अपने मनोभाव को व्यक्त करने हेतु भी लेखनी न उठाऊँ। जो भी कहना है वह हजारों वर्षों से मर्मज्ञ भारतीयों के मन पर राज करता आया वह साँवला कान्हा ही अपने वर्ण के अनुसार गहरे, लहलहाते शब्दों में मुक्त मन से कहे। और इस कथा को 'श्रीकृष्णार्पण' कर, पिछले तीस वर्षों से कृष्ण को जानने के प्रयास में श्रान्त हुए अपने मन और शरीर को अब मैं विश्राम दूँ।

इस प्राक्कथन को मैंने 'आचमन' क्यों कहा है, यह बताना आवश्यक है। 'आचमन' अर्थात् समष्टि के हित-कल्याण हेतु परमशक्ति को मन-ही-मन आवाहन कर प्राशन की जलांजलि। 'युगन्धर' पढ़कर पाठक को इसकी प्रतीति अवश्य होगी, इस बात का श्रीकृष्ण-कृपा से मुझे पूरा विश्वास है। अत: प्रकट-अप्रकट शब्दों में व्यक्त किये इस मनोगत को मैंने 'आचमन' कहा है।

कुछ श्रद्धेय सुहृदों के तीव्र स्मरण से मेरी लेखनी स्तब्ध-सी हो गयी है–जिन्होंने आत्मीयता से युगन्धर की रचना की प्रगति के विषय में मुझसे बार-बार पूछताछ की थी। किन्तु उनके 'युगन्धर कब पूर्ण होगा?' इस प्रश्न का उत्तर स्वयं मुझे ही पता नहीं था, अत: देहू गाँव के सन्त तुकाराम महाराज की भाँति मन-ही-मन मेरा अपने-आप ही से संवाद होता रहता था। इस संवाद का कोई अन्त ही नहीं होता था। इसलिए केवल मुस्कराकर उस समय मैं मौन धारण कर लेता था। इन सुहृदों को झूठमूठ का आश्वासन देने का साहस मुझमें नहीं था। इनमें से दो तो ऐसे थे, जिनकी नस-नस में साहित्य और मानवता का प्रेम निरन्तर बहता रहता था।

इनमें पहले थे ऋषितुल्य–श्रद्धेय तात्यासाहेब–दूर-दूर तक फैले साहित्य-रसिकों के कण्ठमणि, कविश्रेष्ठ कुसुमाग्रज अर्थात् वि.वा. शिरवाडकर! और दूसरे थे पुणे के कॉण्टिनेण्टल प्रकाशन के संचालक अनन्तराव कुलकर्णी अर्थात् भैयासाहेब!

मैंने अपनी पद्धति से 'युगन्धर' के व्यक्तित्व का अध्ययन पूर्ण किया। श्रीकृष्ण-जीवन से सम्बद्ध मथुरा, उज्जैन, जयपुर, कुरुक्षेत्र, प्रभास, द्वारिका, सुदामापुरी, करवीर आदि स्थानों की मैंने अन्वेषक यात्रा भी की। इस विषय से संलग्न कुछ विशेष विद्वानों से मैंने मुलाकातें भी कीं। कथावस्तु में सीधे प्रवेश करने के लिए मेरा मन मचलने लगा। मन की इसी स्थिति में मुझे नासिक शहर से व्याख्यानमाला का एक आमन्त्रण मिला। मैंने भी आदरणीय कुसुमाग्रज जी से भेंट करने की इच्छा से उसे स्वीकार किया।

'आकृतिबन्ध' (Form) की समस्या उनके आगे रखते हुए मैंने कहा, "सोच रहा हूँ कि श्रीकृष्ण द्वारा आत्मचरित्र कथन की शैली में उपन्यास की रचना करूँ!" निष्पाप बालक की

भाँति कुसुमाग्रज जी मुस्कराये। 'श्रीऽराम' नाम लेकर बोले, "अच्छा विचार है। शीघ्र आरम्भ कीजिए।"

मन में निश्चय कर मैं पुणे लौट आया। संयोग से उसी समय हरिद्वार के रामकृष्ण सेवाश्रम के पूज्य स्वामीजी–अकामानन्द महाराज अनपेक्षितत: अपने शिष्य डॉ. इनामदार के साथ मेरे घर आये। उनको देखते ही मेरे मन में आया 'इस प्रदीर्घ रचना का शुभारम्भ स्वामीजी के ही हाथों गन्ध-पुष्प अर्पित कर, शुभकर स्वस्तिकांकन करवा के क्यों न किया जाए?' स्वामीजी ने भी प्रसन्नतापूर्वक सम्मति दी। उनके हाथों घरेलू पद्धति से पूजन करवाकर मैंने नम्रता से उनके चरणों पर माथा रखा। अपना स्नेहशील हाथ मेरी पीठ पर रखकर स्वामीजी ने अत्यन्त प्रेम से कहा, 'तथास्तु–शुभं भवतु।'

श्रीकृष्ण के पहले ही शुभ अध्याय का इस प्रकार अनपेक्षित प्रारम्भ हुआ। लेखनिका श्रीमती सुधाजी लेले प्रतिदिन हमारे घर आने लगीं। श्रीकृष्ण के प्रदीर्घ कथन के दो सौ पृष्ठ पूरे हुए।

स्वामीजी फिर जब किसी काम से पुणे आये, मैंने अपना लेखन उनको पढ़कर सुनाया। गीता के गहरे अध्ययन के कारण स्वामीजी परम श्रीकृष्ण-भक्त हैं। वैज्ञानिक दृष्टि के कारण उनकी श्रीकृष्ण-भक्ति सजग है।

श्रीकृष्ण के जीवन के अधिकतर चमत्कारों को कठोरता से परे रखकर जीवन-कार्य की वास्तविकता को जान लेने का मेरा साहित्यिक व्रत उनको स्पर्श कर गया। मेरा लेखन उनको मन:पूर्वक भा गया। घण्टा-भर हम दोनों श्रीकृष्ण-चर्चा में ही मग्न रहे।

लेखन फिर शुरू हो गया। किन्तु मुझे तीव्रता से आभास होने लगा–अकेला श्रीकृष्ण ही अपनी पूरी जीवनगाथा सुनाए, यह 'गीता' के सन्दर्भ में भी उचित नहीं होगा। मैं फिर रुक गया–कई महीने तक मैं रुका ही रहा। जितना भी लेखन हो चुका था, मैंने सुधाजी से उसे फिर निर्दोष रूप में लिखवाया। उन्होंने भी कभी टालमटोल नहीं की।

मेरे मराठी प्रकाशक अनन्तराव जी आत्मीयता से मेरे पीछे पड़े थे–'कब दे रहे हो मुझे 'युगन्धर'?'

मैं तो भूमिका बाँधने में ही बहुत समय गँवा बैठा था। ऐसे में मुझे व्याख्यान के लिए नासिक जाने का अवसर फिर से प्राप्त हुआ। उस रामतीर्थ क्षेत्र में पहुँचते ही सबसे पहले मैं बन्धुतुल्य, साहित्य-अश्वत्थ कुसुमाग्रज जी से मिलने गया।

मैं उनके चरणस्पर्श कर ही रहा था कि मेरी भुजाओं को पकड़कर मुझे ऊपर उठाते हुए उन्होंने मुझसे वही प्रश्न पूछा, जिसका मुझे डर था–"पहले बताइए, क्या कहता है 'युगन्धर'?'

नित्य की भाँति उन्होंने "कहाँ तक पहुँचा है 'युगन्धर'?" नहीं पूछा था। उनकी बातों की दो पंक्तियों के बीच का आशय जानने का अब तक मुझे अच्छी तरह अभ्यास हो गया।

मैं निरुत्तर-स्तब्ध रह गया–कुछ क्षण ऐसे ही बीत गये। कुछ देर बाद मानो वे अपने-आप ही से बोले–'मुश्किल क्या है? वैसे वह मुश्किल में डालनेवाला है ही–केवल यमुना-तट की ग्वालिनों को ही नहीं–उसे जानने का प्रयास करनेवाले को भी!"

मैंने फिर से 'शैली' की मुश्किल बतायी। उन्होंने निरागस मुस्कराते हुए कहा, " 'मृत्युंजय' की शैली में क्या बुराई है?" उनके स्वभाव के अनुसार यह सूचनात्मक सलाह ही थी। कुछ समय

सोचकर मैंने कहा, “पाठकों को वह ‘मृत्युंजय’ की शैली का अनुसरण लगेगा।”

“बिलकुल नहीं। इसी शैली में महाभारत के विषय पर आप और भी दस उपन्यास लिख सकते हैं। प्रश्न यह है कि उस व्यक्तित्व का आप कहाँ तक आकलन कर सके हैं! अब रुकिये मत। ‘मृत्युंजय’ की ही शैली में आप ‘युगन्धर’ को पूरा कीजिए।”

मैं चुप हो गया। कितना तर्कसंगत सुझाव दिया था तात्यासाहेब ने! प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण ने अर्जुन को एक विशेष अवसर पर ‘यह है सूर्य और यह जयद्रथ’ का सीधा संकेत दिया था। (मैं अर्जुन नहीं हूँ, यह मैं जानता हूँ, किन्तु श्री. वि. वा. शिरवाडकर अर्थात् कुसुमाग्रज जी मराठी की साहित्य-द्वारिका के द्वारिकाधीश हैं, यह ध्यान में रखते हुए) उनकी सलाह मुझे आज्ञा जैसी लगी।

नासिक से लौटते हुए मन-ही-मन मैं छानने लगा, “ ‘युगन्धर’ में किस-किस व्यक्तित्व को मुखर करना होगा! महाभारत के सशक्त मेरुदण्ड श्रीकृष्ण के जीवन में शब्दश: हजारों स्त्री-पुरुष आये थे। उनमें से किसको चुनना है और किसको छोड़ना है! क्यों? कैसे? कौन-सी कसौटी पर?” मेरे मन में प्रश्नों का प्रचण्ड महाभारत शुरू हुआ।

अन्वेषण श्रीकृष्ण का करना था—एक बहुआयामी, प्रत्येक श्वास के साथ प्रतीत होनेवाले प्रिय व्यक्तित्व का, क्षण-भर में सुनील नभ को व्याप्त कर, दूसरे ही क्षण गहरे काले अवकाश के उस पार जानेवाले, भार रहित ब्रह्माण्ड को व्याप्त करनेवाले एक ऊर्जा-केन्द्र के भी केन्द्र, मोरपंखी, कालजयी, अजर व्यक्तित्व का था यह अन्वेषण!

जैसे-जैसे मैं अधिकाधिक चिन्तन की गहराई में उतरता गया, मुझे तीव्रता से स्पष्ट होता गया कि कदाचित् श्रीकृष्ण को उसके अधिक-से-अधिक आयामों सहित जीवन की विविध छटाओं सहित जान लेना सम्भव होगा, किन्तु उसे औरों को समझाना—वह भी ललित साहित्य के माध्यम से—अत्यन्त कठिन है।

ऐसा क्यों होता है कि श्रीकृष्ण अधिक-से-अधिक निकट भी लगता है और बात-बात में वह कहीं दूर—क्षितिज के उस पार भी जा बैठता है। मन को वह एक अनामिक, अनाकलनीय व्याकुलता क्यों दे जाता है? इसे खोजने की धुन मुझ पर सवार हो गयी। इसलिए प्राणायाम पर आधारित साधना मैंने प्रारम्भ की।

तब पहली ही बात मुझे प्रतीत हुई कि श्रीकृष्ण का हम सबके अन्दर अंशत: वास होते हुए भी हमें उसका आभास नहीं होता है। इसका कारण यह है कि पिछले पाँच हजार वर्षों से वह एक से बढ़कर एक चमत्कारों में अन्तर्बाह्य लिप्त हो गया है। अन्धश्रद्धाओं के जाल में फँसा हुआ है।

उसके विराट् रूपधारी, सहस्रों हाथों-मुखोंवाले रूप की कल्पना कर, महाभारत ने जो हजारों वर्षों की यात्रा की है, अनेक प्रज्ञावान महाकवियों ने उसमें अपनी दीप्तिमान प्रतिभा की तेजस्वी समिधाएँ अर्पित कर उसको सामान्य जनों से कोट्यवधि योजन दूर लाकर खड़ा किया है। यह सब उन्होंने जानबूझकर नहीं किया। उनके निर्मल परन्तु भोले-भाले, सरस भक्तिभाव के कारण उनके हाथों यह स्वाभाविकत:, अपने-आप ही घटित हुआ। वैसे देखा जाए तो अर्वाचीन इतिहास में अपने सभी साथियों और पालतू प्राणियों सहित औरंगजेब की कैद से, आगरा से बड़ी कुशलता से भाग खड़े होनेवाले शिवाजी महाराज को भी तत्कालीन समाज ने आदरपूर्वक शिव का अवतार माना था।

साधनामग्न, अलिप्त मन को ‘युगन्धर’ का पहला ही अत्यन्त अनमोल साहित्य-सत्य स्पर्श

कर गया। विज्ञान युग के शिखर पर पहुँची इस सदी के अन्तिम विशिष्ट मोड़ पर खड़े रहकर श्रीकृष्ण को जानने के लिए, उसके चरित्र पर भावुकता से चढ़ाई गयी चमत्कार की पर्तों को निश्चयपूर्वक दूर हटाना होगा। यही काम बड़ा कठिन था।

भारताचार्य चिं. वि. वैद्य जैसे अध्ययनशील, तज्ज्ञ भाष्यकार ने श्रीकृष्ण का जीवनकाल एक-सौ-एक वर्षों का बताया है। क्या यह सम्भव है? (आजकल के प्रदूषित वातावरण की मानवीय आयुर्मर्यादा की कसौटी पर परखने की भूल न करते हुए) हाँ–यह सम्भव है, यही इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर है।

श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर उसके प्रदीर्घ जीवन में ऐसा एक भी क्षण व्यतीत नहीं हुआ, जब कुछ-न-कुछ घटित न हुआ हो। श्रीकृष्ण सभी अर्थों में जीवन को गढ़नेवाली महान विभूति है। उसका सबसे बड़ा गुणधर्म यही है कि जहाँ-जहाँ जीवन को बिगाड़नेवाली दुष्ट, अमंगल शक्तियाँ जीवन के मार्ग में रुकावट बनकर खड़ी हुई, दूरदर्शिता से पहले ही उन्हें पहचानकर श्रीकृष्ण ने भिन्न-भिन्न मार्गों से उन्हें अविलम्ब जड़ सहित उखाड़ दिया। भारतीय जनगंगा का जीवन-मार्ग सदा के लिए कण्टकमुक्त किया।

उन दुष्ट शक्तियों का निर्दलन करते हुए श्रीकृष्ण ने हर बार अपने चकित कर देनेवाले पौरुष का अकल्पित-सा कार्य दिखाया। प्रत्येक प्रसंग में उसने एक ही शस्त्र, एक ही उपाय का नहीं बल्कि परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग उपाय का प्रयोग किया। क्या इसी से ही उसका अपने पूर्व के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक–सम्पूर्ण भारतीय जीवन को मोड़ देनेवाला 'युगन्धर' रूप उद्घाटित नहीं होता?

क्या जीवन के मूलभूत लक्षण–वृद्धि और विकास–के आड़े आनेवाली अ-शिव शक्तियों का केवल निर्दलन करना ही जीवन को गढ़ना होता है? नहीं! यह तो जीवन का नकारात्मक दृष्टिकोण होगा। जीवन को गढ़नेवाली जिस सकारात्मक दृष्टि को श्रीकृष्ण ने अपनाया और जिस सजगता से स्थान-स्थान पर उसका उपयोग किया, एक साहित्यिक के नाते इस ज्ञान-विज्ञान-प्रज्ञान के चैतन्यमय युग में मुझे वह अत्यन्त अनमोल लगती है।

अपने जीवन में आये शब्दश: सहस्रों नर-नारियों से उसने विशुद्ध प्रेमभाव का ही आचरण किया। इसीलिए मुझे पूरा विश्वास है कि श्रीकृष्ण कभी कालबाह्य नहीं होगा।

श्रीकृष्ण-चरित्र का अध्ययन करते हुए मुझे तीव्रता से प्रतीत हुआ कि उपनिषद् काल से, पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रवाहित होता आया, सूर्य-किरणों के समान शाश्वत सत्य–'न हि मनुष्यात् श्रेष्ठतरं किंचित्–' जिसे श्रीकृष्ण ने सभी आयामों से जान लिया, उसे श्रीकृष्ण के पूर्व इस देश में किसी ने नहीं जाना। विचार के इस धागे के साथ चलते-चलते एक महत्त्वपूर्ण बात मेरे ध्यान में आयी। श्रीकृष्ण-चरित्र में केवल गीता को हमने वैश्विक तत्त्वज्ञान के अत्युच्च आविष्कार के रूप में स्वीकार किया। पीढ़ियों से हम उसे बिना समझे केवल रटते रहे।

नि:सन्देह गीता तत्त्वज्ञान का सर्वश्रेष्ठ आविष्कार है। इसमें किसी का मतभेद नहीं हो सकता–मेरा तो है नहीं। किन्तु पूर्ण अध्ययन के बाद मैं समझ-बूझ के साथ विधान कर रहा हूँ कि 'उसके प्रत्येक चरण-चिह्न के साथ जो अनुभव-गीता अंकित होती गयी, उसकी हमने उपेक्षा की! वह भी उसी की भरतभूमि में जन्म लेकर!'

उदाहरण के लिए मैं दो बातें बताना चाहूँगा। श्रीकृष्ण की आठ रानियों में से एक आदिवासी

थी–ऋक्षवान पर्वत के आदिवासी राजा जाम्बवान की कन्या–जाम्बवती!

पूर्ण अध्ययन और चिन्तन के पश्चात् उसके 'युगन्धर' चरित्र को सामने रखते हुए मैं विधान करता हूँ कि उसके पहले किसी भी क्षत्रिय अथवा उच्च वर्ण के व्यक्ति ने जीवन-गंगा को आमूल मोड़ देने का ऐसा आदर्श कर्म नहीं किया है। श्रीकृष्ण को 'युगन्धर' के रूप में स्वीकृत करने के लिए कभी हमने इस सत्य पर तनिक भी विचार किया है?

इसी समय यह भी कहना आवश्यक है कि अच्छे-अच्छों ने सर्वाधिक कठोरता से अकेले श्रीकृष्ण की कड़ी आलोचना की है–वह भी गीता के एक श्लोक–'चातुर्वर्ण्यम् मया सृष्टम्' के आधार पर!

सबसे पहले यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि महाभारत कोई झूठमूठ की कहानी नहीं है। वह भारतवर्ष का प्राचीनतम उपलब्ध ऐतिहासिक दस्तावेज है–किन्तु उस पर प्रक्षेपों की पर्तें-ही-पर्तें चढ़ी हुई हैं।

अठारह पर्वों और एक लक्ष श्लोकोंवाला प्रचलित महाभारत अनेक प्रज्ञावान ऋषियों की प्रक्षिप्त रचनाओं से लदी हुई संहिता है। मूलत: 'भारत-सावित्री' अथवा 'जय नामक इतिहास' नाम की यह वीरगाथा तेरह गुना बढ़ाकर अठारह पर्वों और एक लक्ष श्लोकों में विकसित हो गयी है। भारतीय जीवन-प्रणाली के मानक ग्रन्थ के रूप में यह ग्रन्थ आज विश्वमान्य हो गया है। उसमें से 'गीता' तत्त्वज्ञान के उपाख्यान का एक भाग है। 'गीता' महाभारत के कथासागर की ऐसी बहुमोल गागर है, जिसकी बूँद-बूँद में मानव-जीवन के सागर को मथ डालने की सामर्थ्य है। कौरव-पाण्डव और श्रीकृष्ण का सन्दर्भ 'गीता' में आवश्यकता के अनुसार ही आया है।

आदिवासी स्त्री (जाम्बवती) को ब्याहकर उसे पत्नी का गौरव दिलानेवाला एकमात्र कृष्ण ही है। राजसूय यज्ञ में वह आमन्त्रितों के जूठे पात्र उठाता है, अपने गरुड़ध्वज रथ के चारों अश्वों का खरहरा वह स्वयं करता है। सारथि दारुक को रथ के पार्श्वभाग में बिठाकर वह स्वयं गरुड़ध्वज का सारथ्य करता है।

जीवन में किसी भी कर्म को वह निषिद्ध नहीं मानता। तब वह कैसे कह सकता है कि 'वर्णाश्रम का कर्ता मैं ही हूँ।' इस सरल से तर्क को भी हमने हजारों वर्ष स्वीकार नहीं किया है। समझ में नहीं आता, किसी भी विचारक ने श्रीकृष्ण-जीवन के जाम्बवती की वास्तविकता को ध्यान में लेते हुए यह प्रश्न कभी क्यों नहीं उठाया!

निर्धन सुदामा से श्रीकृष्ण का निरपेक्ष स्नेह, सारथि दारुक के लिए उसका मनोभाव, गोकुल के गोपालों के साथ उसका सख्य निर्मल मन से देखनेवाला कौन अभ्यासक उसको 'वर्णनिर्माता' कह सकता है! इसके लिए विद्वानों को 'गुणकर्म' की कृतक ढाल के पीछे छिपने की आवश्यकता ही क्या है?

मेरे चिन्तन की छलनी से ऐसे कई प्रखर सत्य मुझे श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में स्पष्ट दिखाई दिये। उन सभी सत्यों को मैंने इस प्रदीर्घ रचना में यथाशक्ति स्पर्श किया है।

श्रीकृष्ण के कई सखा हैं–पेंधा सहित सभी गोपाल, बलराम, सुदामा, दारुक, सात्यकि, अर्जुन, महात्मा विदुर, भीष्म आदि। उसका ककेरा बन्धु उद्धव उसका परम सखा है। 'गीता' के बाद केवल उसके लिए श्रीकृष्ण ने 'उद्धवगीता' निरूपित की। महाभारतीय युद्ध के पश्चात् अकेले उद्धव की सेवा को श्रीकृष्ण ने अन्त तक स्वीकार किया। 'ऐसा क्यों?' यह प्रश्न आज तक किसी

के मन में नहीं उभरा।

इसका स्पष्ट अर्थ है कि उद्धव श्रीकृष्ण का केवल ककेरा बन्धु अथवा प्रिय यादव होने के नाते उसका सखा नहीं है। वह उसका भावविश्वस्त है। जिस प्रकार 'रामायण' में श्रीराम का भावविश्वस्त भरत था उसी प्रकार अथवा उससे भी बढ़कर श्रीकृष्ण-जीवन में उद्धव श्रीकृष्ण का भावविश्वस्त था, यह सत्य मुझे अपने चिन्तन में सर्वाधिक स्पर्श कर गया।

नायक श्रीकृष्ण के विषय में मैंने बार-बार बहुत-कुछ कहा है, बहुत से लेख लिखे हैं। किन्तु यहाँ मैं श्रीकृष्ण के केवल 'श्री' विशेषण के विषय में, उसके 'जलपुरुषत्व' के विषय में और उसके अन्य दो जलपुरुषों के साथ भावसम्बन्धों के विषय में विमर्श करना चाहूँगा। हीरे की भाँति संस्कृत के सम्मानसूचक 'श्री' शब्द के कई पहलू हैं—कई अर्थ हैं। 'श्री' अर्थात् सौन्दर्य, 'श्री' अर्थात् अनिरुद्ध सामर्थ्य, अलौकिक बुद्धि, अपार सम्पत्ति, असीम गुणवत्ता आदि। कोई भी परिश्रमशील अभ्यासक श्रीमद्भागवत, महाभारत, हरिवंशपुराण आदि पुराणों में 'कृष्ण' को खोज सकते हैं। किन्तु 'श्री' से युक्त कृष्ण को खोजने के लिए और उसे औरों को समझाने के लिए ललित-लेखक की ही आवश्यकता है, यह मेरा नम्र किन्तु निश्चित कथन है।

महाकाव्य रामायण का नायक राम अपने गुणों के बल पर 'श्रीराम' बना। उसी प्रकार महाभारत का नायक कृष्ण अपनी गुणवत्ता से 'श्रीकृष्ण' बना। इन दोनों महाकाव्यों में भूलकर भी अन्य किसी को 'श्री' की उपाधि लगाकर श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत अथवा श्रीभीम, श्रीअर्जुन नहीं कहा गया है।

क्या इससे स्पष्ट नहीं होता कि श्रीकृष्ण में वास करनेवाला 'श्री' पहले रचनाकार को प्रतीत होना आवश्यक है। फिर वीणावादिनी ज्ञानदेवी सरस्वती की रक्तिम करांगुलि का स्पर्श यदि उसकी प्रतिभा को हो जाए, तब सम्भवत: वह अपने नायक को शब्दों में उद्घाटित कर पाएगा। मुझे विश्वास है कि अब महाभारतीय व्यक्तिरेखाओं के आकलन में प्रगल्भ हुए पाठकों को 'युगन्धर' के प्रत्येक प्रसंग में दो पंक्तियों के बीच अप्रकट किन्तु नि:सन्देह वास करनेवाला 'श्री' अचूक स्पर्श कर जाएगा।

इस चिन्तन में एक नया ही लोमहर्षक आकलन मुझे छू गया। श्रीकृष्ण, भीष्म और कर्ण पंचमहाभूतों में से महत्त्वपूर्ण जलतत्त्व की व्यक्तिरेखाएँ हैं। मूलत: ये तीनों 'जलपुरुष' हैं। जब कभी वे आपस में मिलते हैं, एक-दूसरे का मौन आदर करते हैं। जन्मत: पिता के मस्तक पर से, यमुना के जलप्लावन से जीवन-यात्रा का आरम्भ करनेवाला श्रीकृष्ण, उसी प्रकार जन्म लेते ही अश्वनदी, चर्मण्वती, गंगा—इन नदियों में से बहते हुए अपनी कठिन जीवन-यात्रा का आरम्भ करनेवाला—कुमारी कुन्ती माता का त्यागा कर्ण और प्रत्यक्ष जलमाता—गंगा के पुत्र—गांगेय भीष्म! इनके सुप्त, अज्ञात मन के 'जलपुरुष' के नाते के साथ-साथ चलते हुए हम इन तीनों महान व्यक्तिरेखाओं के सीधे मर्मस्थल तक पहुँच सकते हैं—यह मेरा अनुभव है। तब ये तीनों व्यक्तिरेखाएँ अन्तर्बाह्य अलग ही प्रकट होने लगती हैं। एकदम अलग भाषा में वे रचनाकार से संवाद करने लगती हैं।

इसीलिए 'युगन्धर' के नीलवर्णी सखा श्रीकृष्ण और अर्जुन को भी पाठक सूक्ष्मता से पढ़ें।

श्रीकृष्ण के सखा अनेक, गुरु दो, बहनें तीन, दो माता-पिता, आठ पत्नियाँ, अस्सी पुत्र और चार पुत्रियाँ थीं—किन्तु सखियाँ दो ही थीं—पहली राधा और दूसरी द्रौपदी।

लोकमानस में जिसकी जड़ें जमी हुई हैं, उस राधा का श्रीकृष्ण से सम्बन्ध का भागवत, महाभारत, हरिवंशपुराण आदि ग्रन्थों में कहीं भी स्पष्ट निर्देश तक नहीं है।

'राधा' का 'युगन्धर' में क्या किया जाए? राधा की व्यक्तिरेखा श्रीकृष्ण-चरित्र से कब चिपक गयी? कैसे? पन्द्रहवीं सदी में कवि जयदेव के अत्यन्त जनप्रिय, शृंगाररस प्रधान रसीले खण्डकाव्य 'गीतगोविन्द' से उसने श्रीकृष्ण-चरित्र में प्रवेश किया। तत्पश्चात् 'गीतगोविन्द' को आधार बनाकर प्रतिभावान कवियों ने राधा की व्यक्तिरेखा को मन:पूत भिन्न-भिन्न आविष्कारों में श्रीकृष्ण के साथ अपनी-अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया।

राधा का दामन थामकर काव्य-क्षेत्र में रसिक कृष्ण ने सदियों तक असमर्थनीय ऊधम मचाया। वास्तव में जीवन में नारी का आदर करनेवाला श्रीकृष्ण काव्यों में स्त्रीलोलुपता की ओर घसीटा गया।

बहुत सोचने के बाद मैंने 'राधा' को अपने उपन्यास में स्थान न देने का पक्का निर्णय किया।

चिन्तन के गुत्थमगुत्थे में ही प्रकाश-किरण की तरह एक विचार मेरे मन में आया–सदियों से भक्तजन 'राधे-कृष्ण' का जयघोष करते आये हैं–उस 'राधा' शब्द का अर्थ वस्तुत: क्या है?

बड़ी खोजबीन के बाद 'राधा' शब्द का जो अर्थ मुझे मिला। उससे मेरे अन्दर का साहित्यकार रोमांचित हो उठा–आज भी मैं उस क्षण को भूल नहीं पाता।

राधा संयुक्त शब्द है– रा + धा – 'रा' का अर्थ है 'प्राप्त हो' और 'धा' का अर्थ है 'मोक्ष...मुक्ति'।

'राधा' अर्थात् मोक्षप्राप्ति के लिए व्याकुल जीव! इस शब्दार्थ से मेरा सम्पूर्ण चिन्तन मूल से आलोड़ित हो उठा। अपने लेखन से हटायी राधा अपने-आप प्रबल आवेग से मेरे मन की गुफा में प्रवेश करने लगी। गोकुल की प्रत्येक गोपी में मुझे राधा का प्रत्यय होने लगा। 'राधा' मोक्षप्राप्ति के लिए व्याकुल जीव! हर गोपी राधा! हर राधा व्याकुल मोक्षार्थी! वे सब-के-सब मोक्षप्राप्ति के लिए व्याकुल जीव तो थे! मैंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया–राधा को प्रतिनिधिक गोप-नारी के रूप में लेना अति आवश्यक है। श्रीकृष्ण-कथा में राधा अनिवार्य है–किन्तु उसका चित्रण सावधानी से, संयम से होना चाहिए–विचारपूर्वक मैंने ऐसा ही किया।

श्रीकृष्ण की दो ही बहनें मानी गयी हैं–सुभद्रा और मानस भगिनी द्रौपदी। किन्तु उसकी तीसरी भी एक बहन है, जो अनुल्लेख के घने अँधेरे में छिपी हुई है। वह है नन्द-यशोदा की पुत्री एकानंगा–कृष्ण की गोपभगिनी–'एका'। यहाँ उसे सीमित परन्तु उचित साहित्यिक दृष्टि से लिया गया है।

श्रीकृष्ण के गुरु भी दो हैं–पहले गुरु आचार्य सान्दीपनि तो सर्वज्ञात हैं। आश्रम शिष्य–युगन्धर श्रीकृष्ण का अवन्ती के अंकपाद आश्रम का जीवन पहली ही बार प्रत्ययकारी और चित्रदर्शी शैली में प्रस्तुत हुआ है या नहीं यह तो पाठकों को ही तय करना है। जग को ललामभूत, श्रीकृष्ण का अमर, कालजयी तत्त्वज्ञान का ग्रन्थ–गीता, जिनकी ब्रह्मविद्या की सीख से साकार हुआ, वे श्रीकृष्ण के दूसरे गुरु हैं आचार्य घोर-आंगिरस। उनकी सभी जीवन-छटाओं सहित यहाँ वे पहली बार पाठकों से बात करेंगे, इसका मुझे विश्वास है।

इस कथावस्तु में ऊपर-ऊपर सामान्य लगनेवाली दो व्यक्तिरेखाएँ हैं—दारुक और सात्यकि। पहला है श्रीकृष्ण के गरुड़ध्वज रथ का उसके महानिर्वाण तक सारथ्य करनेवाला उसका आज्ञाकारी, चतुर, कुशल सारथि। स्वयं श्रीकृष्ण सारथियों का भी सारथि है। इसमें लक्षणार्थ अत्यन्त मार्मिक है। वह विचार-रथ का सारथ्य करनेवाला है। वह विचारकों का भी विचारक है। इसलिए वह किशन, कन्हैया, गोपाल, गोविन्द, मोहन, कृष्ण, दामोदर, मुरलीधर, श्याम, मधुसूदन, माधव, मिलिन्द, श्रीकृष्ण, अच्युत, द्वारिकाधीश, वासुदेव जैसे एक से बढ़कर एक विशेष गुणयुक्त नामों से विश्वविख्यात हुआ। ऐसे विचारवानों के विचारवान, सारथियों के सारथि का जीवन-भर सारथ्य करने का परम सौभाग्य दारुक को अन्त तक प्राप्त हुआ। दारुक रुक्मिणी से भी अधिक काल तक श्रीकृष्ण के सान्निध्य में रहनेवाली एकमात्र व्यक्तिरेखा है।

दारुक में मुझे एक सुप्त, प्रभावशाली व्यक्तिरेखा दिखाई दी। श्रीकृष्ण-चरित्र से सम्बद्ध सभी सन्दर्भ-ग्रन्थों में दारुक का केवल उल्लेख मिलता है। उसे मुखर करना मेरे अन्दर के सृजनशील लेखक को एक चुनौती ही प्रतीत हुई। उसी की तरह अबोल रहकर मैंने इसे स्वीकार किया। श्रीकृष्ण के चार दुग्ध-धवल, जीवनीशक्ति से भरपूर, पुष्ट अश्वों के साथ-साथ कृष्ण-सारथि दारुक ने अपनी 'सारथि-गीता' को यहाँ स्पष्ट कर दिखाया है अथवा नहीं, इसका निर्णय पाठक ही करें।

जो स्थिति दारुक की है, एक अलग प्रकार से वही स्थिति यादव-सेनापति सात्यकि की है। श्रीकृष्ण के बाद अकेले सात्यकि का ही 'आजानुबाहु-महारथी' के रूप में सन्दर्भ मिलता है। उसकी इसी विशेषता ने मुझे उसे 'युगन्धर' में मुखर करने पर विवश किया। श्रीकृष्ण ने जीवन-भर जिस बुद्धि-कौशल से उन्मत्त अत्याचारियों का सामना किया, उसी से वह जग में अजेय योद्धा सिद्ध हुआ। गीता के कारण वह सर्वश्रेष्ठ तत्त्वज्ञ प्रमाणित हुआ। मेरे चिन्तन में जब यह तत्त्वज्ञ-योद्धा (Philosopher-warrior) चलने लगता था, परछाई की भाँति अर्जुन उसके पीछे-पीछे रहता था। किन्तु जब श्रीकृष्ण विश्राम करता था अथवा किसी मन्त्रणा-बैठक में होता था, युद्ध-सम्मुख यादवों का महापराक्रमी, अनुभवी, आजानुबाहु सेनापति सात्यकि उसकी परछाई बन जाता था।

श्रीकृष्ण ने अपने वैवाहिक जीवन में अन्तःपुर में प्रिय पत्नी रुक्मिणी से यथेच्छ बातें कीं। सखी द्रौपदी से उसने स्त्रीत्व के जीवन-सत्य के विषय में संवाद किया। गरुड़ध्वज रथ में उसने सखा अर्जुन से वार्त्तालाप किया। कुरुक्षेत्र के शिविर में उसने आजानुबाहु सात्यकि से मनःपूर्वक मन्त्रणा की। किन्तु महाभारतीय युद्ध की समाप्ति के बाद, द्वारिका लौटने पर महर्षि घोर-आंगिरस से भेंट और संवाद के बाद ढलती आयु में चिन्तनशील, व्रतस्थ बने—मन से वानप्रस्थ-आश्रम स्वीकार किये श्रीकृष्ण के द्वारिका के अन्तिम निवासकाल में उसका भावविश्वस्त बना अकेला उद्धव।

इस महाकथावस्तु में उद्धव मेरे साहित्यिक भावकेन्द्र से सर्वाधिक छू गयी रससम्पन्न व्यक्तिरेखा है। किसी बात को कोई समर्थन देने का दायित्व न लेनेवाली, श्रीकृष्ण के बाद मेरी प्रिय भाव-व्यक्तिरेखा यही है। जैसे श्रीकृष्ण और कर्ण एक ही मुद्रा के दो पहलू हैं, उसी प्रकार एक अलग, गहरे अर्थ में श्रीकृष्ण और उद्धव भी एक ही तात्त्विक मुद्रा के दो सशक्त पहलू हैं। यदि उद्धव अर्जुन की भाँति शस्त्र लेकर श्रीकृष्ण के साथ जीवन-संग्राम में उतरता तो? क्या वह भीष्म,

बलराम, अर्जुन, कर्ण को पीछे छोड़ जाता? किसी भी आलोचक को अन्तर्मुख होकर सोचने पर बाध्य करनेवाला यह प्रश्न है।

जीवन में कभी किसी प्रकार का शस्त्र धारण न करनेवाले सुमित्र सुदामा को श्रीकृष्ण के विमल नेत्रों से झरे स्नेहल आत्मरस का अभिषेक अपने मस्तक पर धारण करने का दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हुआ–वह धन्य हो गया–सच्चा मित्र सिद्ध हुआ।

शस्त्र का कभी भी उपयोग न करनेवाला उद्धव भी श्रीकृष्ण का भावविश्वस्त बना। श्रीकृष्ण के निर्वाण के पश्चात् बदरी-केदार में उसके नाम पर आश्रम का निर्माण कर उद्धव कृतार्थ हुआ–अमर हुआ।

सुदामा और उद्धव दो छोर की व्यक्तिरेखाएँ हैं। गोकुल की गोपियाँ और श्रीकृष्ण की मुक्त और पुनर्वसित की हुई कामरूप की सोलह हजार नारियाँ भी स्त्री-जीवनसत्य के दो भिन्न-भिन्न छोर हैं। आचार्य सान्दीपनि और घोर-आंगिरस परमोच्च गुरु तत्त्व के दो छोर हैं। यादवश्रेष्ठ वसुदेव और गोपनायक नन्द दो छोर के वन्दनीय पितृस्थान हैं। जीवन में पराकोटि के भावाघात सहती रही माता देवकी और अन्तर्बाह्य निर्मल, भोले-भाले, प्रेमल गोप-गोपियों की निरलस माता यशोदा दो छोर के पूजनीय मातृस्थान हैं। गोप-सखी राधिका और पाण्डव-सखी द्रौपदी किसी भी लौकिक संकल्पना की पकड़ में न आनेवाली दो छोर की भाव-सखियाँ हैं।

इसके अतिरिक्त बलराम, रेवती, भीष्म, महात्मा विदुर, संजय, अर्जुन सहित सभी पाण्डव, कुन्ती बुआ, पांचाल-युवराज धृष्टद्युम्न और पांचाल, यादव, कौरव, पाण्डव, विराट आदि सहस्रों नर-नारियों ने जिसे वन्दनीय माना वह 'वासुदेव', योगयोगेश्वर, पूर्णरूप श्रीकृष्ण आज भी हमें 'हृदयस्थ' क्यों लगता है? विज्ञान कितनी भी उड़ान क्यों न भरे, ज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान को व्याप्त करके भी दशांगुल शेष रहनेवाला 'श्री' सदैव ही सबके मन में ताजा रहनेवाला है। उसके युगन्धरत्व को जानने का मैंने यथामति, यथाशक्ति प्रयत्न किया है।

सन्दर्भ-शोधन की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल और परिश्रमों की परीक्षा लेनेवाली, शब्दों की पकड़ में न आनेवाली, बालों के गुत्थे जैसी होती है। उसे समझने का प्रयास न करना ही उचित होगा। फिर भी सन्दर्भ-शोधन के लिए जब मैं पुणे में–भाण्डारकर इन्स्टिट्यूट में आसन जमाये रहता था, वहाँ के डॉ. वा. ल. मंजुळ, डॉ. मेहेंदळे, डॉ. विजया देशमुख, श्री सतीश सांगले आदि सभी कर्मचारियों ने (तनिक भी नाराजगी न दिखाते हुए) प्रसन्न मुख और मन से लम्बे समय तक मेरी जो सहायता की है उसे मैं भूल नहीं सकता।

यह महाकाय रचना-कार्य कुछ वर्ष चलता रहा। इसकी पहली लेखनिका थीं श्रीमती सुधाजी लेले। पहले ही अध्याय के बाद कुछ घरेलू कठिनाइयों के कारण वे इस लेखन-कार्य से निवृत्त हो गयीं। लम्बे समय तक मेरा लेखन भी जहाँ का तहाँ रुक गया। फ़र्ग्युसन महाविद्यालय के प्राचार्य सन्मित्र श्री वसन्तराव जी वाघ ने इस काम के लिए कुछ विद्यार्थियों को मेरे पास भेज दिया। फिर भी लेखन अधूरा ही रहा। उन्होंने मेरी जो सहायता की उसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

दो अध्यायों के बाद मेरा लेखन-कार्य रुक ही गया था। फिर एक दिन मेरे मित्र–श्री. एन. एस. राउत जी के सुझाव पर मेरी पत्नी–श्रीमती मृणालिनी मेरी लेखनिका बनी। उसके बाद हमारे लेखन ने गति पकड़ी। छह महीने तक हमारा काम समयबद्ध चलता रहा।

पुस्तक के मुकुटमणि अन्तिम अध्याय–'उद्धव' के लेखन में हम व्यस्त थे। दिसम्बर 1998 में

मैं अचानक बीमार हो गया। मुझे श्वास लेने में दिक्कत होने लगी। मेरे साहित्यप्रेमी सुहृद डॉ. मदन जी फडणीस के कहने पर मैं हॉस्पिटल में भरती हुआ। मुझे हार्ट-अटैक हुआ था। तीन दिन मुझे आइ. सी. यू. में रहना पड़ा। अभी सौ पन्ने लिखना बाकी था। दस दिन हॉस्पिटल में रहकर मैं घर लौट आया। उसके बाद शीघ्र ही मैंने युगन्धर का लेखन पूर्ण किया और वह पाण्डुलिपि कॉण्टिनेण्टल प्रकाशन के श्री रत्नाकर कुलकर्णी के हाथ सौंप ही दी।

इस हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन के लिए भारतीय ज्ञानपीठ को सानन्द सहमति देने के लिए, मूल मराठी प्रकाशक कॉण्टिनेण्टल प्रकाशन का मैं हार्दिक आभारी हूँ।

मैं बस इतना ही मानता हूँ—यह श्रीकृष्णलीला है। उसे पूर्णत: जान पाना क्या कभी किसी के लिए सम्भव होगा?

अन्तत: गीता के अर्थपूर्ण शब्दों में इतना ही कहता हूँ—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।

यह आचमन करने से पूर्व केवल मुझे ही नहीं, जो हर किसी को कहना होगा, वही मैं कहता हूँ—श्रीकृष्णार्पणमस्तु!

—शिवाजी सावन्त

3-रा. प. हाउसिंग सोसायटी
पर्वती ब्रिज के पास, सिंहगढ़ रस्ता
पुणे – 411 030
दूरध्वनि : 433 5655

कृतज्ञता

‘युगन्धर’ के अनुवाद के समय जिन्होंने किसी-न-किसी रूप में मेरी सहायता की है, उनके प्रति आभार व्यक्त करना मेरा परम कर्तव्य है।

सबसे पहले मैं कृतज्ञ हूँ अपने पति श्री शिवाजी सावन्त और पुत्र अमिताभ की। मेरे लेखन-काल में इन दोनों ने गृहकर्मों से मुझे छूट दी, इसलिए मैं इतना बड़ा काम कर सकी।

मेरे अनुवाद-कार्य के संशोधन में डॉ. केशव प्रथमवीर ने मेरी अमूल्य सहायता की है, उसके लिए आभार व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द ही नहीं हैं।

मेरी बहनों—श्रीमती अनुराधा, मानसी और वृषाली तथा बहनोई श्री अजितराव वैद्य, पद्माकर देवधर और किरण फडके तथा उनकी बेटियाँ कु. मिनू, चैत्रू, श्वेता और उर्विजा—इन सबकी सहायता के बिना कुछ कर पाना मेरे लिए असम्भव था। मेरा अनुवाद-कार्य पूरा होने तक इन सबने अत्यन्त आत्मीयता से, स्नेह से मेरा जो खयाल रखा है, उसके लिए कृतज्ञता व्यक्त करने के बदले मैं निरन्तर उनके स्नेहबन्धन में रहना ही पसन्द करूँगी।

मैं मानती हूँ कि युगन्धर—श्रीकृष्ण ने ही इन सबको—स्वयं मुझे भी—इस कार्य के लिए प्रेरित किया था। उसी के चरणों में मेरे द्वारा अनूदित यह पहली कृति नम्रतापूर्वक अर्पित है। श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

—मृणालिनी सावन्त

पुणे
26 जनवरी, 2002

अनुक्रम

श्रीकृष्ण

रुक्मिणी

दारुक

द्रौपदी

अर्जुन

सात्यकि

उद्धव

श्रीकृष्ण

आज मुझे कुछ कहना ही होगा! चौंकिए मत, घबराइए भी नहीं। दौत्य करनेवाले श्रेष्ठ, सम्भाषण-चतुर वक्ता के रूप में तो आप मुझे जानते ही हैं, अत: चौंकने अथवा शंकित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ न मैं किसी प्रकार का दौत्य करनेवाला हूँ और न किसी बात का समर्थन ही। –तो फिर मुझे कहना क्या है? और क्यों और कैसे?

युग-युगों से आप मेरी 'गीता' सुनते आ रहे हैं। बरसों से आप उद्धवगीता का भी अध्ययन करते आये हैं। मेरे जीवन की भी एक गीता है–श्रीकृष्णगीता, जिसे मैं किसी को नहीं–आप सभी को सुनाना चाहता हूँ। वास्तव में इस गीता की ओर तो कोई ध्यान ही नहीं दे रहा है!

गीता में मैंने प्रिय सखा अर्जुन से कहा था कि "ऐसा समय न कभी था और न कभी होगा, जब तुम नहीं थे और मैं नहीं था।" आज पुन: कहता हूँ कि वह बात मैंने केवल अर्जुन से ही नहीं कही थी। हर सजीव से, हर स्त्री-पुरुष से कही थी, और वह भी सदा के लिए। तत्त्व-रूप से, विचार-रूप से आज भी प्रत्येक चराचर में मैं विद्यमान हूँ।

सर्वप्रथम 'समय' का अभिप्राय जान लेना आवश्यक है। आज विज्ञान का युग है–केवल ज्ञान का नहीं–भौतिकी के ज्ञान विशेष का युग है। विज्ञान का कहना है कि समय अखण्ड है। उसका कोई आरम्भ अथवा अन्त नहीं है, वह अनन्त है। और यही बात मैं गीता में कब का कह चुका हूँ, बहुत स्पष्ट रूप से–मैं ही काल हूँ–समय हूँ। क्या यह सच नहीं कि आपसे अपने मन की बातें करने का अधिकार मुझे कल भी था, आज भी है और कल भी रहेगा! चकरा गये? थोड़ा सोचिए, आपको यह अवश्य स्वीकार होगा।

अखण्ड और अनन्त समय के साथ-साथ जड़ और चैतन्यमय जीवन में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तनशीलता ही इसका स्थायी भाव है। मानव सहित सम्पूर्ण जीव-सृष्टि कभी आचार-विचार के उच्चतम शिखर पर विराजमान होती है, तो कभी वह रसातल तक जा पहुँचती है। यही परिवर्तनशीलता है। चैतन्यमय जीवन अनन्त है, असीम है, चिरन्तन है। वृद्धि और विकास ही इसके लक्षण हैं। तो क्या परिवर्तनशील जीवन के साथ-साथ उसे जान लेने की भाषा में भी अन्तर नहीं आएगा? गीता के दूसरे अध्याय में अनेक प्रकारों से, अनेक दृष्टान्तों से मैंने अपने अन्दर के श्रीकृष्ण को स्पष्ट किया है।

परन्तु आज किस रूप में मैं आपसे बात कर रहा हूँ? बाल्यावस्था में ही अलग-अलग नाम और रूप धारण करनेवाले, असुर-राक्षसों का खेल-खेल में अन्त करनेवाले गोपालकृष्ण के रूप में? जलक्रीड़ा करनेवाली गोपियों के वस्त्र चुराने की अक्षम्य लगनेवाली शरारत करनेवाले कन्हैया के रूप में? पहले गोपालों के मुखिया और बाद में यादवों के प्रमुख योद्धा के रूप में? पिता

के घर में दही, दूध, माखन की विपुलता होते हुए भी अपने साथियों के संग गोपालों के घरों में दधि-माखन की चोरी करनेवाले नटखट बालकृष्ण के रूप में? ‘अवतार’ उपाधि का मोहक वस्त्र ओढ़नेवाले ऐन्द्रजालिक कृष्ण के रूप में? सही समय पर द्रौपदी की लज्जा-रक्षा हेतु वस्त्र दिलानेवाले चमत्कारी वासुदेव के रूप में? महाकाव्य महाभारत के एकमात्र मेरुदण्ड—महानायक के रूप में? या यों कहिए कि अठारह अक्षौहिणी बलवान योद्धाओं का लोमहर्षक, प्राणघाती, अनावश्यक महासंग्राम रचानेवाले विक्षिप्त खिलाड़ी के रूप में मैं आपसे बात कर रहा हूँ?

मेरा यही आक्षेप है कि ये सारे रूप मुझ पर थोपकर ही आज तक सभी ने मुझे अपने-आप से बहुत दूर रखा है—जानबूझकर, बड़ी कुशलता से! मन्दिर में केवल पूजा करने योग्य देवता बना रखा है आप सबने मुझे! यह आसान भी है और सुविधापूर्ण भी!

‘मैं विष्णु का अंश हूँ’ इस कथन को मानने के लिए तो आप बड़ी सरलता से और प्रसन्नता से तैयार थे, आज भी हैं और कल भी रहेंगे। शताब्दियों से मैं आग्रहपूर्वक कहता आया हूँ, “मैं अंश रूप में हर-एक के भीतर विद्यमान हूँ” परन्तु इस कथन को मानने को, जानने को आप तैयार नहीं हैं। ऐसा क्यों?

सच कहिए, ‘मैं आपसे बातें कर रहा हूँ’ का अभिप्राय क्या यह नहीं है कि आप स्वयं ही अपने-आप से बातें कर रहे हैं! कृपा करके मुझे अपने से दूर, मन्दिर में स्थित ‘वासुदेव’ न मानिए। मान लीजिए कि आपके मन-मन्दिर का अच्युत ही आपसे बातें कर रहा है।

कई वर्ष पहले हमारा आपस में सम्भाषण हुआ था—लगभग पाँच हजार वर्ष पहले। अत: अब तो मुक्त मन से बोलना ही होगा। मैं बोलने को तत्पर हूँ और आप भी सुनने को उत्सुक हैं। इस समय मेरे समक्ष प्रश्न यही है कि कैसे बातें करें!

मेरा सारा जीवन-पट रोमांचक घटनाओं से खचाखच भरा हुआ है। मेरा जीवन उस डेरेदार गूलर-वृक्ष की भाँति था, जिसकी टहनी-टहनी हरे-गुलाबी, कच्चे-पके फलों के गुच्छों से लदी हो—हाँ, अश्वत्थ-वृक्ष की भाँति नहीं, गूलर-वृक्ष की ही भाँति! सैकड़ों, हजारों स्त्री-पुरुष इस वृक्ष के चारों ओर परिक्रमा करके चले गये। कितनी टहनियाँ—और उन पर लगे घटनाओं के अनगिनत गुच्छे!

मेरी जीवन-गाथा की यात्रा भी सहज और सरल नहीं है। कई प्रज्ञावान ऋषि-मुनियों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुकूल वस्त्र पहनाकर मेरी जीवन-गाथा को यथेच्छ रूप में सजाया और सँवारा है। धीरे-धीरे उन्होंने उसका एक विशाल डेरेदार अश्वत्थ-वृक्ष ही बना दिया—वह भी उलटा अश्वत्थ!

पिछले पाँच हजार वर्षों से मेरे जीवन-पट पर भाँति-भाँति की पर्तें-ही-पर्तें चढ़ी हैं। मैंने आज निश्चय किया है, एकदम पक्का—मेरे यथार्थ अस्तित्व पर चढ़ी, भावुकता से अनजाने में चढ़ायी गयी पर्तों को आज मैं कठोरता से खरोंच डालूँगा। स्पष्ट शब्दों में केवल सत्य ही कहूँगा। सत्य बोलना मेरा जन्मजात स्वभाव है। इसलिए जड़ की खोज करनेवाले प्रश्न ही आपसे और स्वयं से पूछकर उनके उचित उत्तर खोजता रहता हूँ मैं। आप ही कहिए, मेरी गीता और क्या है? क्या उसमें कठिन-से-कठिन प्रश्न और उनके सरल-से-सरल सरस उत्तर नहीं हैं?

हजारों वर्षों से मैं सभी के भिन्न-भिन्न प्रश्नों के केवल उत्तर ही देता आया हूँ। वे आपको मान्य हो गये इसीलिए आपने मुझे अभिजात, श्रेष्ठ तत्त्वज्ञ माना। यह तो ठीक है, परन्तु इस

तत्त्वज्ञ को आपने बड़ी सरलता से किसी की समझ से परे अवतारी ईश्वर ही बना डाला! उस तत्त्वज्ञ के अधिकार से मैं आपसे–सभी से एक ही प्रश्न पूछता हूँ: क्या उसका उचित उत्तर मुझे मिलेगा?

इन हजारों वर्षों में आप सभी ने मुझे क्या-से-क्या बना दिया है? मेरे निस्सीम भक्तों ने भी और कड़े विरोधियों ने भी? भक्तों ने अपनी सुविधा के लिए मुझे देवता बनाया, तो विरोधियों ने मुझे कुटिल-कुचक्री की उपाधि देकर कपटपटु घोषित किया।

इसीलिए अपने जीवन के निर्मल, नीलवर्ण सरोवर पर हजारों वर्षों से जमे हुए शैवाल को आज मुझे ही हटाना होगा–स्वयं अपने हाथों से, अपने ही आत्मिक समाधान के लिए। आप जिसे कई वर्षों से पढ़ते आये हैं, अपना वही परम्परागत ग्रन्थबद्ध जीवन-वृत्त आज मैं नहीं कहने जा रहा हूँ। अपने जीवन की वास्तविकता को बिना उजागर किये, मौन रहना भी आज मेरे वश में नहीं है।

आज इस समय मैं भालका तीर्थ पर एक घने, शाखाओं से सम्पन्न, डेरेदार, प्राचीन अश्वत्थ-वृक्ष के नीचे लेटा हुआ हूँ। मैं यहाँ क्यों आया हूँ? अपने अत्यन्त प्रिय चार पुष्ट श्वेत अश्वों–मेघपुष्प, बलाहक, शैव्य और सुग्रीव–का खरहरा कभी-कभी स्वयं मैं भी करता आया था। यह मेरा सबसे प्रिय केवल कर्मयोग नहीं था, यह स्वाभाविक प्रेमयोग था–मेरे सर्वाधिक प्रिय चपल प्राणियों के लिए! खरहरे के लिए आवश्यक कँटीली वनलताएँ मैंने अरण्य में से चुन-चुनकर अभी-अभी इकट्ठा की हैं। उनकी कँटीली गड्डी अपनी दाहिनी मुट्ठी में कसकर पकड़ी हुई है और माथे पर तपनेवाले प्रखर सूर्य की चिरयुवा किरणें मेरी अनामिका की पुष्कराज-जड़ीं अँगूठी पर पड़ रही हैं। मेरी रक्तपेशियाँ इन किरणों से चिरपरिचित हैं–मेरे जन्म से पहले ही। तभी तो यह पुष्कराज मुझे अपने जीवन का सार्थक प्रतीक प्रतीत होता आया है। मैंने अपनी दायीं मुट्ठी स्वेद से सने ललाट पर हलके से रख दी है। यह प्राचीन वृक्ष आनर्त-सौराष्ट्र के घने अरण्य में खड़ा है। कितना प्राचीन? यह मुझे भी ज्ञात नहीं।

ग्रीष्म ऋतु के दिन हैं। इस घने अश्वत्थ के अविरल पर्णों की स्वर-सुन्दर सरसराहट अरण्य-भर में व्याप्त है। मुझे वह स्पष्ट सुनाई दे रही है। वृक्ष के तने से मस्तक टिकाकर मैं लेटा हूँ। मेरी घनी श्वेत दाढ़ी में वृक्ष से गिरा एकाध सूखा तिनका अटका हुआ है। मेरा सौ वर्ष पार कर चुका–वास्तव में एक सौ उन्नीस वर्षों का लम्बा-चौड़ा, नीला-साँवला शरीर अब यहाँ शान्ति से विश्राम कर रहा है। कितना कुछ और क्या-क्या देखा, अनुभव किया, निर्माण किया और कितनी विपत्तियों का सामना किया मेरे इस नीलवर्ण शरीर ने! शरीर ने? –नहीं, इसके अन्दर के 'श्री' नामक जगद्विख्यात अमर तत्त्व ने–'वासुदेव' के नाम से सर्व-स्वीकृत हुए अजर तत्त्व ने!

मेरे कण्ठ में दुग्ध-धवल पुष्पों की, बीच-बीच में गहरे हरे पर्णों के गुच्छों से सुशोभित प्रफुल्ल वैजयन्तीमाला विराजमान है। उसके साथ मोटे-मोटे मोतियों की कौस्तुभमणि जड़ित मौक्तिक-मालाएँ और स्वर्णिम अलंकार मेरे वक्ष पर मन्द-मन्द स्पन्दित हो रहे हैं। उनके नीचे है बहुत वर्षों बाद आज संकल्पपूर्वक धारण किया हुआ, स्वर्णलेप चढ़ाया मेरा लौहकवच। किन्तु इस समय मेरे पास कोई भी शस्त्र नहीं है। मेरी कटि के दुकूल में सदैव खोंसा रहनेवाला, जिसे मैंने कई बार प्राणपण से फूँका था–वह पांचजन्य शंख भी अब धरती पर विश्राम कर रहा है! दोनों भुजाओं में कसे हुए बाहुभूषणों से होकर बहती स्वेद की उष्ण धाराओं को मैं स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ। अश्वत्थ के घने पर्णों से छनकर आयी सूर्य-किरणें मेरे झिलमिलाते पीताम्बर पर पड़ी हैं। कैसा

चमक उठा है पीताम्बर इन किरणों से! कटि में लपेटे महीन नीलवर्ण दुकूल पर वन्य-तृण के कुछ ढीठ तिनके चिपके हुए हैं। धरती पर रखे दाहिने पाँव के घुटने पर आड़ा रखा मेरा बायाँ पाँव और उसका गुलाबी तलवा भी मुझे स्पष्ट दिख रहा है। हाँ, अपने इस अथक, पर्याप्त भ्रमण किये चक्रवर्ती तलवे में गहरे धँसे हुए, जरा नामक व्याध के सूचिबाण को भी मैं स्पष्ट रूप से देख रहा हूँ। तलवे से टपकते हुए, पीताम्बर से नीचे बहते उष्ण रक्त का स्पर्श भी मैं स्पष्ट अनुभव कर रहा हूँ। धरती पर रखे दाहिने पाँव की एड़ी के नीचे फैले हुए अपने दुर्लभ, उष्ण रक्त का थक्का भी मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है

रक्त! क्या होता है रक्त? चैतन्य की एक 'ॐकार' ध्वनि है वह–पीढ़ी-दर-पीढ़ी की दीर्घ साधना की संस्कारशील यात्रा से प्राप्त! मनुष्य अपने बुद्धि-कौशल से सब-कुछ निर्माण कर सकता है, किन्तु नहीं कर सकता निर्माण रक्त की एक बूँद भी! कैसा था मेरा रक्त? इस क्षण मुझे अनुभव हो रहा है कि अत्यन्त दुर्लभ गुणसूत्रों से युक्त था वह! उन गुणसूत्रों के गुणधर्म को समझनेवाला ही मेरी जीवन-गीता को जान पाएगा।

बचपन में अपने दाहिने पाँव का अँगूठा यूँ ही चूसा करता था मैं। यशोदा माता ने ही कई बार यह मुझे बताया है। उस समय माँ को और उसकी सखियों को वह मेरा ईश्वरीय लक्षण ही लगा था। किन्तु आगे चलकर आचार्य सान्दीपनि और आचार्य घोर-आंगिरस ने इसका गहन अर्थ स्पष्ट करके समझाया था। योगशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण मुद्रा थी वह! दाहिने पाँव का अँगूठा मुख में डालकर शरीर में स्थित जैविक ऊर्जा के चैतन्य का निरामय वलय मैं पूर्ण किया करता था–स्वभावत:–अनजाने में ही!

मेरे तलवे से आवेग से बहती रक्तधाराओं ने मेरे स्मृतिकोश को–बचपन से लेकर आज तक की स्मृतियों के कोश को–तोड़ डाला है। स्मृतियों की भी धाराएँ, रक्तधाराओं की भाँति आवेगपूर्ण चैतन्य से भरी–कितनी स्मृतियाँ! कितनी धाराएँ! उनमें से पहली, उछलती-उफनती रक्तधारा मुझे स्पष्ट दिखाई दे रही है। मेरे मर्मबन्ध की सुगन्धित धरोहर की मंजूषा से जुड़ी हुई है वह–गोकुल से जुड़ी हुई।

गोकुल! कैसा था मेरा वह प्राणप्रिय गोकुल? वैसे तो ब्रजभूमि में और भी सत्रह-अठारह गोकुल थे। मेरा गोकुल उनमें प्रमुख था। उत्क्रान्ति के दूसरे चरण के आरम्भ का। सभी प्रकार के प्रदूषणों से दूर, प्राकृतिक, हरा-भरा। वहाँ केवल गोप नर-नारी ही नहीं बसते थे, बल्कि कृषक, राजगीर, बढ़ई, रजक, धीवर, लोहकार, कुम्भकार, चर्मकार आदि अठारह जातियाँ भी मिल-जुलकर रहा करती थीं। उन्हें भी गोप ही कहा जाता था। आर्यावर्त में गंगा-यमुना की उपत्यका–ब्रह्मावर्त में बसा हुआ छोटा-सा ग्राम ही था वह। आर्यावर्त का विस्तार दण्डकारण्य से लेकर गान्धार तक फैला हुआ था उस समय।

जैसे इस समय मैं आपको प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, वैसे ही मेरे प्रिय गोकुल का चित्र इस क्षण मेरी आँखों के सम्मुख स्पष्ट खड़ा है। पूरे तीन-चार योजन का विस्तार था मेरे प्रिय गोकुल का। चन्द्रकला की भाँति सत्त्वशील, जलमय यमुना उसको अर्धवृत्ताकार घेरे हुए थी। पूरे गोकुल के चारों ओर बाँस और लकड़ी की बाड़ का संरक्षक घेरा था। बाँस और लकड़ियों को रामेटा-वृक्ष की चीमड़ छाल से सागौन की लकड़ी के स्तम्भों से बाँधकर बाड़ को सुदृढ़ बनाया गया था। बाघ, सिंह, शृगाल, भेड़िये, लकड़बग्घे जैसे हिंस्त्र वनचरों से हमारे प्राणप्रिय गोधन की सुरक्षा का

अधिक दायित्व तो कुत्तों का था। भिन्न-भिन्न प्रकार के जंगली कुत्तों को मेरे गोपालों ने कठोर परिश्रम से परचाया था। उनमें लम्बी गठन के, पतली कटिवाले, स्याह काले, ललछौंहे रंग के बहुत से कुत्ते थे। कुछ तगड़े और चितकबरे कुत्ते भी थे!

गोकुल के दक्षिण में बाड़ के बाहर एक लम्बी खाई खुदी हुई थी। कई वर्ष पूर्व, जब हमारे पूर्वजों ने उसे खुदवाया था, तभी खड़िया और चिकनी मिट्टी से उसे लीपा-पोता भी था। गोकुल की गायों का गोबर, गोमूत्र, घास-पात प्रतिदिन साँझ-सवेरे उसमें डाला जाता था। गोबर की उस खाई पर लकड़ी के चौड़े आच्छादन थे। उनको खोलने और बन्द करने के लिए सुदृढ़ लकड़ी की मूँठें थीं।

प्रमुख संरक्षक बाड़ के पूर्व में और पश्चिम में दो ऊँचे-ऊँचे महाद्वार थे। लगभग दो-तीन पुरुष ऊँचे। वे महाद्वार कीकर-वृक्ष की कठोर, टिकाऊ लकड़ी से बनाये गये थे। उन महाद्वारों के तीन गज चौड़े दोनों किवाड़ों पर गोकुल के कुशल गोप-बढ़इयों ने हमारे गोपकुल के सुन्दर मानचिह्न उकेरे थे। पूँछ उठाये, नथुने फुलाये, जबड़े से लार गिराते, अपने प्रतिद्वन्द्वी से माथा भिड़ाने के लिए उतावले दो पुष्ट-मत्त साँड़ों की प्रतिमाएँ थीं वे। उनके पुष्ट, मांसल ककुद दाहिनी ओर झुके हुए थे। धरती को छूनेवाले उनके चुन्नटदार गलकम्बल उनके मद को और भी खिला रहे थे। उनको देखते हुए लगता था कि किसी भी क्षण अपने गलकम्बल को सिकोड़ते हुए वे अपनी डिडकार से सारे परिसर को दहला डालेंगे।

महाद्वार के ऊपरी अंश में पूर्ण चन्द्र की प्रतिमा अंकित की गयी थी। उसका आधा भाग एक किवाड़ पर और शेष आधा भाग दूसरे किवाड़ पर उकेरकर चन्द्र-प्रतिमा को पूरा किया गया था। उसके निकट ही दाहिनी ओर थोड़ा-सा ऊपर एक छोटी-सी तारिका भी अंकित की गयी थी। हमारा गोपकुल चन्द्रवंशी था। यह उसी का प्रतीक–वंशचिह्न था। प्रतिदिन प्रातःकाल और सन्ध्या समय–जब द्वारपाल इन किवाड़ों को बन्द किया करते थे, तब पूर्ण चन्द्र की प्रतिमा आप-ही-आप पूर्ण हो जाया करती थी और दोनों किवाड़ों पर के साँड़ आपस में माथा भिड़ाकर गोकुलवासियों की सुरक्षा के लिए तत्पर हो जाया करते थे। उनकी ओर देखकर तारिका-रूप अरुन्धती नटखट हँसती रहती थी। दोनों महाद्वारों में खम्भों की भाँति गोल, चिकने, प्रचण्ड अरगल लगे हुए थे। रात्रि के समय आवागमन के लिए उपद्वारों का उपयोग किया जाता था। कई बार सुनी हुई उन महाद्वारों की कर-कर ध्वनि मुझे अब भी स्पष्ट सुनाई दे रही है। पूर्व महाद्वार की कर-कर ध्वनि से मेरी कई स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं। सभी इस द्वार को चित्रद्वार कहा करते थे। एक वृद्ध कुलपुरुष की ओर जिस आदर से देखा जाता है, उसी आदर से इस द्वार को देखा जाता था। मेरे दादाजी–नन्दबाबा के बाबा चित्रसेन के नाम पर इस महाद्वार का नाम ‘चित्रद्वार’ रखा गया था।

प्रतिदिन प्रातःकाल गोकुल के पूर्वी महाद्वार से सैकड़ों गायें रँभाती हुई चरने के लिए निकल पड़ती थीं। विविध रंगों की–दुग्ध-धवल, बादामी, काजल जैसी काली, ललछौंहे, ऊदी, भूरे रंग की वे गायें एक-दूसरे को धक्का देते हुए, सींगों को पटकते हुए अपने लिए मार्ग बनाती थीं। उनकी चैतन्यमय, निरन्तर ध्वनियों से मेरे प्रिय गोकुल का कण-कण खिल उठता था और इडादेवी का स्मरण करके वह प्रतिदिन के कर्मयोग में जुट जाता था। पश्चिमी महाद्वार यमुना के पात्र के समीप था। दिन-भर चरकर अघाया गोधन पेट-भर जल प्राशन करके शाम को बछड़ों के आकर्षण से पूँछ डुलाता, चौकड़ियाँ भरता गोकुल को लौट आता था। अस्त होते सूर्य की किरणों में उड़ते गोरज

की परतें इस महाद्वार पर धीरे-धीरे चढ़ा करती थीं। द्वारपाल महीने में दो बार इन महाद्वारों को पाषाण-चिप्पियों से रगड़-रगड़कर यमुना-जल से स्वच्छ धोया करते थे।

गोकुल के चारों ओर के मुख्य संरक्षक बाड़ के अन्दर बाड़ से सटे हुए, उसी प्रकार के किन्तु छोटे-छोटे बाड़ों से घिरे, एक-दूसरे से लगे हुए अलग-अलग गोष्ठ थे। दो गोष्ठों के बीच गोधन का चारा दीमक से बचाने हेतु घास के छाजन से आच्छादित लकड़ी के चौकोने, ऊँचे मचान थे। प्रत्येक गोष्ठ के आगे सुघड़ पाषाणों से निर्मित छोटी-छोटी कुल्याएँ थीं। वे नित्य निर्मल, नीलवर्ण यमुना-जल से भरी रहती थीं। ये गोष्ठ केवल गोपवंशियों के ही नहीं बल्कि अठारह जातियों के लोगों के भी थे। गोष्ठों में गायों की संख्या के अनुसार काष्ठ-खूँटों से बँधे पगहों की पंक्तियाँ रहती थीं। रामबाँस के रेशों से मातंग-गोप पगहों को बटा करते थे। काष्ठ-खूँटों की संख्या से गोपालों का वैभव आँका जाता था। साँड़ों के और छोटे-मोटे बछड़ों के गोष्ठ अलग-अलग हुआ करते थे। पूर्वी महाद्वार के निकट सबसे बड़ा–विशाल गोष्ठ था। वह था मेरे पिता–नन्दबाबा का। सैकड़ों की संख्या में गायें थीं उसमें। मेरे बाबा समूचे गोकुल के सभी गोपालों के मुखिया थे। सभी गोपाल आदर सहित उनको नन्दबाबा ही कहा करते थे। ब्रज के अन्य गोकुल हमारे गोकुल को बाबा के नाम से–'नन्दग्राम' नाम से जानते थे।

सभी गोपालों के घर सादे, स्वच्छ, मिट्टी से बने, खपरैलवाले थे। उनकी भित्तियाँ गेरु से पोती होती थीं। उन पर दुहरे थनवाले गायों के, फुदकते बछड़ों के, रँभाने-फुफकारनेवाले पुष्ट साँड़ों के, छायादार वृक्ष के नीचे पगुराते विश्राम करनेवाले रेवड़ के चित्र चूने से अंकित किये हुए थे। हम आभीरभानु वंश के थे। कुलदेवी इडा के विविध रूप भित्तियों पर चित्रित किये हुए थे। आद्यपुरुष 'आभीरभानु' और उनके परवर्ती अनेक गोप-राजाओं के चित्र भी यथासम्भव चित्रित किये गये थे। मेरे मन में प्रश्न उठा करता था, कैसे दिखते होंगे हमारे आद्यपुरुष आभीरभानु महाराज?

प्रत्येक घर में दधि-माखन के मटकों के लिए सात-आठ छींके तो हुआ ही करते थे। छाछ मथने के कमोरे के समीप ही डोरी से बँधी दन्तुर, लम्बी मथानियाँ रहती थीं। अग्रशाला में जौ, ओदन, गेहूँ के कुठिलों की पंक्तियाँ लगी रहती थीं।

बस्ती के ठीक केन्द्र में मेरे बाबा–नन्दबाबा का आठ कक्षोंवाला, गढ़े हुए पाषाणों से बनाया हुआ प्रशस्त मुखिया-निवास था। उसके आगे परकोटे से संरक्षित विस्तृत प्रांगण था, जो गोपसभा का चौक कहलाता था। प्रांगण के चारों ओर सीसम की लकड़ी के बेलबूटेदार स्तम्भों की अग्रशालाएँ थीं। आवश्यकता होने पर गोकुल की गोपसभा का आयोजन इसी प्रांगण में हुआ करता था। मुखिया-निवास के पूर्व महाद्वार का नाम था 'चित्रसेन' और पश्चिम महाद्वार का नाम था 'अभिद्वार' जो हमारे आभीरभानु वंश का स्मरण दिलाता था। दोनों महाद्वारों में उपद्वार थे। निवास के दाहिनी ओर, थोड़ी दूरी पर पाषाणों से बना एक छोटा-सा गोलाकार शिवालय था। उसके गर्भगृह में गण्डकी शिला का शिवलिंग था, जो अभिषेक-पात्र से झरते यमुना-जल की अविरल धारा में नहाया करता था। शिवालय के आगे के प्रांगण में शिव-वाहन नन्दी की चिकनी, बैठी मूर्ति थी। हमारे कुल के आदिपुरुष आभीरभानु की पत्नी–हमारी आदिमाता से हमारा वंश शिवपूजक बन गया था।

निवास के बायीं ओर कुछ गज दूरी पर मल्लविद्या का अखाड़ा था। उसमें लकड़ी और लोहे की गदाएँ, पाषाणगोले और चिकने मलखम्भों से सुसज्जित प्रशस्त व्यायामशाला भी थी।...

ऐसा था गोकुल–चँगेरी में रखे गाढ़े दही के मटके जैसा! ब्रजभूमि के गाल में खिले मोहक भँवर जैसा! प्रकृति के देखे मधुर उष:स्वप्न-सा! मेरा उषःस्वप्न तो कई छोटे-बड़े, उत्साही, चैतन्यपूर्ण मनुष्यों से खचाखच भरा हुआ था! वे सारे मनुष्य उत्क्रान्तिकाल के दूसरे चरण के आरम्भकाल में से थे; तभी तो वे नितान्त प्राकृतिक थे। उनके क्रोध, लोभ, मद, मोह आदि सारे विकार भी उनके रक्त की भाँति विशुद्ध और गाढ़े थे। और हाँ, उनका निर्दोष, निर्लेप प्रेम भी वैसा ही गहन था, स्वाभाविक था, सुन्दर था! उनके विचार और आचरण अन्तर्बाह्य एक ही थे। उनका स्थायी भाव एक ही था–प्रेम-ही-प्रेम–प्रेमयोग!

यहाँ का प्रत्येक मनुष्य प्रेम का एक निर्दोष, सरस कन्द ही था–भावमधु से लबालब भरा हुआ। तभी तो इन गोकुलवासी नर-नारियों को मैं कभी भुला नहीं पाया। मुझे तो अपने शरीर के अंगों जैसे ही प्रतीत हुए ये सारे! कितने लोग–कितने भाव, विभाव और स्वभाव! उन्होंने समय-समय पर जो बातें मुझे बतायीं और जो मुझे स्मरण हो रही हैं, वही मैं आपसे कह रहा हूँ।

मेरे बाबा–नन्दबाबा गोपालों के मुखिया थे। उनकी शरीर-यष्टि ठिगनी, गठीली थी और मुखाकृति थी गोधूमवर्ण और गोल। मेरी माता–यशोदा माता–सशक्त, गौरवर्णी, चन्द्रमुखी थीं–सदा हँसमुख रहती थीं। मेरे आठ काका थे–सुनन्द, उपनन्द, महानन्द, नन्दन, कुलनन्द, बन्धुनन्द, केलिनन्द और प्राणनन्द। परस्पर उनकी आयु में अधिक अन्तर नहीं था। दिखने में वे सभी लगभग नन्दबाबा जैसे ही थे। उनकी पत्नियों को–अपनी काकियों को–हम उनके पतियों के नाम से ही सम्बोधित करते थे–जैसे सुनन्द काकी, नन्दन काकी, केलिनन्द काकी आदि...। मेरे सभी काका किसी-न-किसी विद्या में निष्णात थे। कोई गायों के ऋतुजन्य रोगों का अचूक उपचार वनस्पति-औषधि से किया करते थे, तो कोई बाबा की अनुपस्थिति में उनके पूरे दायित्व को उन्हीं की जैसी कुशलता से निभाया करते थे। कोई सप्त सुरों को अपने वश में करके संगीत के विविध रागों को अलापा करते थे, तो कोई उपनिषदों के आधार पर सुन्दर प्रवचन किया करते थे। इनमें से केलिनन्द काका तो लपकडण्डा, कबड्डी, कन्दुकक्रीड़ा, जलतरण, मल्लविद्या जैसे कई क्रीड़ा-प्रकारों में निपुण थे। तभी तो वे मेरे सबसे प्रिय काका थे। मेरी दूसरी माता थी रोहिणी माता। यशोदा माता से थोड़ी लम्बी, छरहरे शरीर की और गौरवर्णी। मेरे बड़े भैया–बलराम भैया–मेरे दाऊ की माता।

बलराम भैया! आयु में मुझसे थोड़े से ही बड़े थे। रक्तिम-गौरवर्ण, हृष्टपुष्ट, घने केशोंवाले, शीघ्र भड़कनेवाले और शीघ्र ही शान्त हो जानेवाले। हम दोनों सापत्न भ्राता थे। यशोदा माता को हम सम्मानपूर्वक ‘बड़ी माँ’ कहा करते थे। तब रोहिणी माता का ‘छोटी माँ’ बन जाना तो स्वाभाविक ही था!

हम दोनों भ्राताओं की एक छोटी बहन भी थी–एकानंगा! मेरे जन्म के पश्चात् कुछ वर्ष बाद बड़ी माँ ने उसको जन्म दिया था। बड़े लाड़-प्यार से हमने एकानंगा को ‘एका’ बना दिया था। सभी की लाडली थी ‘एका’!

इस समय सबसे अधिक मेरी आँखों के समक्ष जो खड़े हैं, वे हैं मेरे सर्वाधिक प्रिय दादाजी। हमारी दादीजी का तो बहुत वर्ष पहले ही देहान्त हो चुका था। उनका प्रेम तो प्राप्त नहीं हुआ हमें। दादाजी की मूँछें घनी, शुभ्र-धवल, छत्रक जैसी थीं। उनकी भौंहें भी श्वेत और घनी थीं। हट्टे-कट्टे दादाजी के मुख में सदा ताम्बूल रहता था। और ताम्बूल रखने का घुँघरुओंवाला बटुआ उनकी

कटि में सदैव खोंसा रहता था। वे माथे पर ऐंठनदार, मटमैले रंग की गोप-पगड़ी लपेट लिया करते थे। ललाट पर गोपीचन्दन का बड़ा-सा टीका लगाते थे वे। कम्बल का ही उत्तरीय बनाकर दोनों कन्धों पर ओढ़ लेते थे। कटि में बँधे, गेरु में रँगे, काले किनारेवाले अधरीय का घुटनों तक काछ कस लिया करते थे। उनकी भुजा में चाँदी का ढीला-सा भारी-भरकम कड़ा रहता था। वह हमारे गोपकुल का चिह्न था। उनके दाहिने कान के ऊपरी भाग में सुनहरा मोती लगा, झूलता कर्णभूषण हुआ करता था। वृद्धावस्था के कारण उनकी काया में कुछ बाँकपन-सा आ गया था और घुँघरूवाली, मजबूत लकुट के सहारे ही वे उठा करते थे।

दादाजी ने ही तो गोकुल में मुझे मेरी अपनी जीवन-गीता गोपालों की भाषा में कई ढंग से समझा दी थी। जैसे कोई भी मनुष्य अपनी ही परछाईं को छोड़ नहीं सकता वैसे ही मैं भी चित्रसेन दादाजी को भुला नहीं सकता!

वैसे मेरा बचपन हमारे त्रिदल का—भावत्रिकोण का था। बलराम भैया—बाद में वे केवल दाऊ बने, मैं और हमारी इकलौती लाडली बहन एकानंगा—'एका'। हम दोनों भ्राता जब पाँच-छ: वर्ष के हो गये थे तब उसका जन्म हुआ था।

मुखिया-निवास में हमारा त्रिदल सर्वदा दादाजी के आसपास ही मँडराता रहता था। दादाजी, बाबा, बड़ी माँ, छोटी माँ, सभी काका-काकियाँ, ककेरे भाई-बहनें, हमारा परिवार कैसा भरापूरा था! बाहर भी गोकुल और निवास के अन्दर भी गोकुल!

बड़ी माँ कहा करती थी, मैं जब निपट दुधमुँहा बच्चा था, तभी से अति हृष्टपुष्ट था। सदैव चुलबुला, नटखट, किसी के भी नियन्त्रण में न रहनेवाला था। मेरा बालरूप इतना मोहक था कि बड़ी माँ, छोटी माँ, उनकी सखियाँ और अन्य सभी गोपियाँ क्षण-भर भी मुझे नीचे नहीं रखती थीं। क्षण-भर भी मुझे भुला नहीं पाती थीं। एक दिन दधि मथते समय बड़ी माँ ने बड़ा ही विनोद किया।—किया नहीं, आप-ही-आप हो गया। उसके समीप ही छोटी माँ भी दधि मथ रही थीं। हम दोनों—मैं और दाऊ—मथनी का सिरा पकड़कर ही खड़े थे, इस लालच से कि कब माखन का गोला ऊपर आये और कब हम उसे गटक जाएँ। दोनों नंगे ही थे। केवल कटि में चाँदी की करधनी और पैरों में चाँदी के ही कड़े थे।

बड़ी माँ की एक आदत थी। दधि मथते समय, बीच में ही आँखें मींचकर, स्वयं को भूलकर वह नितान्त तन्मयता से गीत गुनगुनाया करती थीं। उस दिन माखन के गोले की प्रतीक्षा करते-करते मैं उकता गया था। घुटनों के बल चलते हुए, लड़खड़ाते हुए मैं उसकी पीठ-पीछे ही जाकर खड़ा हो गया। कुछ देर बाद बड़ी माँ ने गुनगुनाते हुए छाछ टपकता हुआ माखन का गोला निकालकर हथेली पर ले लिया और वह मटके के पीछे मुझे ढूँढ़ने लगी। मुझे वहाँ न पाकर वह घबरा गयी, हड़बड़ा गयी। 'कहाँ गया?' बड़बड़ाती हुई कक्ष में यहाँ-वहाँ देखने लगी। मैं तो उसके आँचल की ओट में पीछे ही खड़ा था। क्षण-भर उसके साथ-साथ मैं भी गोल-गोल घूम गया। अब तक तो उसके छक्के छूट गये थे। मुझे न पाकर वह तो रुआँसी हो गयी! जब उसे ध्यान आया कि मैं उसी के पैरों के पास, उसके आँचल की आड़ में खड़ा हूँ, झट से उसके मुख के भाव बदल गये। मुझे देखते ही अपने माखन-भरे हाथों से ऊपर उठाकर वह बार-बार मुझे चूमती ही रही! चूमती ही रही मेरे गाल में पड़े भँवर को! मेरी साँस अटक गयी। मैं जोर-जोर से रोने लगा। उसने झट से मेरे खुले मुँह में ताजे माखन का गोला डाल दिया। मैं चुप हो गया। मेरा रोना केवल आँखों में ही

सिमट गया और बड़े प्रेम से वह ऐसे हँसती रही, जैसे उसको पूरे विश्व-भर का सुख मिल गया हो! दुग्ध-कक्ष के आले में रखे गुच्छे से एक मोरपंख उसने निकाल लिया। नीले, जामुनी, हरे, सुनहरे–कितने रंगों से जगमगा रहा था वह! बड़ी माँ ने बड़े आवेग से वह मोरपंख मेरे घने, घुँघराले केशों में लगा दिया। तब से यह मोरपंख मुझसे चिपक ही गया–सदा के लिए। मेरे बलदाऊ को वह कभी प्राप्त नहीं हुआ। भविष्य में यह मोरपंख मेरे जीवन का प्रतीक ही बन गया।

दाऊ सब-कुछ दूर से ही देख रहा था। छोटी माँ के समीप छाछ के मटके के आसपास ही मँडरा रहा था वह। न जाने क्या हुआ, एकाएक वह हमारी ही ओर आने लगा–पहले रेंगते हुए, फिर घुटनों के बल और फिर उठकर लड़खड़ाता हुआ आकर वह बड़ी माँ से लिपट ही गया। मुझे नीचे रखकर माँ उसे अपनी गोद में उठा ले, इसलिए माँ का वस्त्र खींचते हुए वह रो-रोकर कोलाहल मचाने लगा। रूठकर दनादन हाथ-पाँव पटकने लगा। मैं बड़ी माँ की गोद में था, इसलिए दाऊ की ओर उसका ध्यान ही नहीं गया। तब तो वह और भी भड़क उठा। मुँह फुलाकर वह कक्ष के मध्य जा बैठा और हाथ-पाँव पटकता हुआ इस प्रकार आक्रोश करने लगा कि घर की छत ही उड़ जाए! झट से मुझे गोद से उतारकर बड़ी माँ और छाछ के मटके को छोड़कर छोटी माँ–दोनों उसकी ओर दौड़ पड़ीं। उसको शान्त करने के लिए दोनों ने भरसक प्रयत्न किये। तब भी वह आपे से बाहर हो रहा था। दोनों के पकड़ने पर भी उछलता हुआ, एड़ियाँ रगड़-रगड़कर फुसफुसा रहा था। सीधे साँस भी नहीं ले पा रहा था वह। आखिर वह कक्ष के मध्य हाथ-पाँव फैलाकर निश्चेष्ट पड़ गया। दोनों माताएँ झुँझलाकर अपने-अपने मटकों के पास चली गयीं। एक-एक पग उठाता हुआ मैं उसके निकट गया। वह आँखें मूँदकर निश्चेष्ट पड़ा था। बड़े प्रेम से मैंने उसके घने केशों को सहलाया। उसने आँखें खोलकर मुझे देखा परन्तु कुछ भी प्रतिक्रिया प्रकट नहीं की। तब तो मैं भी रूठ गया और उसकी ओर पीठ फेरकर चलने लगा। यह देखकर लड़खड़ाती चाल से, पीछे से आकर उसने मुझे पकड़ लिया। उसके स्पर्श से मैं रोमांचित हो गया। वह भी हँसने लगा–जोर-जोर से–खिलखिलाकर। मैं भी उसके गले से चिपटकर खिलखिलाने लगा। हम दोनों को खिलाखिलाते देखकर दोनों माताएँ अपनी-अपनी मथनियाँ छोड़कर हमारी ओर दौड़ी चली आयीं। उन्होंने झट से उठाकर हमको बार-बार चूमते हुए गोद में ले लिया। मैं था छोटी माँ–रोहिणी माँ–की गोद में और बलदाऊ था बड़ी माँ–यशोदा माँ की गोद में।

उसकी बतायी एक बात तो सदैव ही मेरे साथ रहेगी–मेरे वक्ष पर विद्यमान जन्मजात वत्सचिह्न की भाँति! भविष्य में अर्जुन को गीतोपदेश देकर मैंने उसके सन्देह को दूर किया था। उस हतोत्साह वीर को मैंने आत्मनिर्भर, युद्ध-सम्मुख बनाया था। मेरे जीवन में भावविश्वस्त का स्थान पाये उद्धव को गीता का ज्ञान देकर मैंने उसको भी आत्मविद् योगी बनाया था। परन्तु आज मुझे तीव्रता से लग रहा है कि बड़ी माँ की बतायी उस घटना के समक्ष ये सारी घटनाएँ कुछ भी नहीं हैं।

किशोरावस्था में जब मैं गो-पालन के योग्य हो गया था, एक दिन सन्ध्या समय गायों को चराकर घर लौट रहा था। उस समय संगीत मेरा मर्मस्थल था–वह मुझे सर्वाधिक प्रिय था। उस दिन गायों की रेवड़ हाँकते हुए, स्वयं को भुलाकर आसावरी राग की एक अलग ही धुन मुरली पर बजाता मैं लौट रहा था। गायों के खुरों से उड़ी धूल में मैं और मेरे मित्र–स्तोककृष्ण, श्रीदामा, दामन, वरूथप, भद्रसेन–एक दूसरे को ठीक से दिखाई भी नहीं दे रहे थे। अस्त होती सूर्य-किरणों को पीछे छोड़ते हुए गायों के रेवड़ सहित हमने पश्चिमी महाद्वार से गोकुल में प्रवेश किया।

अभ्यासवश सारी गायें अपने-अपने गोष्ठों में चली गयीं। दाऊ, मैं और सेवकों ने मिलकर गायों के गले में रस्से डाल दिये। रात-भर पगुराने और उनकी क्षमता के अनुसार चिन्तन करने हेतु उनके आगे चारा डालकर हम घर लौटे। छोटी माँ के दर्शन करने हेतु दाऊ उनके कक्ष की ओर चले गये।

कण्डाल के पानी से हाथ-पाँव पखारकर मैं भी नित्य की भाँति बड़ी माँ के कक्ष में चला आया। कन्धे पर पड़ा कम्बल खूँटी पर रख दिया। गायों को चराते समय काम आनेवाली घुँघरूदार लकुटी कक्ष के आले में रख दी। वंशी और कलेवा की पोटली भी वहीं रख दी। अपने सामने ही खड़ी बड़ी माँ के चरणों पर मस्तक रखकर मैंने उसको सन्ध्या-वन्दन किया। मेरे कन्धों को पकड़कर उसने त्वरित मुझे ऊपर उठाया। क्षण-भर मेरी आँखों में अपनी आँखें गड़ायीं। उसका मुखमण्डल कुछ अलग ही दिख रहा था आज! उसकी आँखें भर आयी थीं। मैं चौंक गया। उसके हाथ अपने हाथों में लेकर मैंने उतावली से पूछा, “क्या हुआ बड़ी माँ, ऐसी क्यों दिख रही हो तुम आज? यहाँ होते हुए भी कहीं दूर–किसी वन में खोयी-सी?”

“अभी-अभी तू ही वंशी बजा रहा था न?” उसने पूछा।

“हाँ”–सिर हिलाकर मैंने स्वीकार किया।

“तेरे उन अनजान सुरों ने कितना व्याकुल कर दिया है! तेरे जन्म के समय मेरे मन में जो कुशंका उठी थी, उस पर अब मुझे ग्लानि हो रही है। अभिजित नक्षत्र की रात्रि थी वह–भाद्रपद की कृष्णा अष्टमी। पूरा विश्व ही चैतन्यमय होकर फूल उठा था उस रात। समूचा गोकुल तो भादों की जलधाराओं में नहाता हुआ बड़ी प्रसन्नता से रात-भर नाचता रहा था।”

“कुशंका? कैसी कुशंका?” मैंने उसके हाथों को झकझोरते हुए पूछा। “बैठ”–कहकर उसने मुझे अपने पास आसन पर बैठा दिया और कहने लगी–“जिस रात तेरा जन्म हुआ, प्रसव-पीड़ा से मैं मूर्च्छित हो गयी थी। बहुत बड़ी आँधी उठी थी उस रात। गोकुल के अनेक पुराने, ऊँचे-ऊँचे झबरीले गाँठदार वृक्ष विद्युत्पात होने से हहराकर गिर पड़े थे। प्रत्यूषा में यमुना की ओर से आनेवाले शीतल पवन के झोंकों से मैं जाग उठी थी। तू मेरी गोद में ही था–नवजात, चैतन्यपूर्ण, क्षुधा से रोता हुआ। तुझे दुग्धपान कराने के लिए अपने वक्ष से लगाने हेतु मैंने तेरी ओर हाथ बढ़ाया। तुझे स्पर्श करते ही हृदय के नितान्त भीतर से उभरी उस कुशंका ने मुझे घेर लिया–यह मेरा लाल नहीं है। मैं शंकित होकर विस्फारित आँखों से तुझे देखती ही रह गयी। तू रो-रोकर हाथ-पाँव पटक रहा था। जिस क्षण तू भूख के मारे मेरे वक्ष से चिपक गया, मेरे शरीर में सिर से पैर तक मानो अथाह मातृत्व की भाव-विद्युत् कौंध गयी–जिसे मैंने पहले कभी अनुभव नहीं किया था। तेरे होठों के पहले स्पर्श से ही मेरी संवेदना बदल गयी। मानो बन्द होठों से ही तू मुझसे कह गया–‘मैं ही हूँ तुम्हारा लाल–तुम्हारा पुत्र! और तुम ही हो मेरी माँ–बड़ी माँ–सभी अर्थों में बड़ी।’

“मेरे अन्तर्मन में छिपी हुई वह स्मृति–वह आशंका आज तेरी वंशी की धुन से जाग्रत हो गयी। कृष्ण, मेरे लाल, मेरी इस आशंका के लिए क्षमा कर दे मुझे!”

तब मैं मुस्कराया था–केवल मुस्कराया। वन में गायें चराते समय कभी-कभी मैं अपनी किसी लाडली गाय की गुच्छेदार पूँछ बड़े प्रेम से अपने मुख पर फिराया करता था। उसी प्रकार माँ के दोनों हाथ अपने मुख पर फिराते हुए मैंने कहा, “बावली तो नहीं हो गयी तुम माँ! क्या तुम्हें क्षमा करने की मेरी योग्यता है?” अत्यन्त आवेग से मेरे हाथ पकड़कर उसने कहा, “यमुना की ओर मत जाया करो कन्हैया!” जाने क्यों उसे लग रहा था–कहीं यमुना मेरा हरण न कर ले!

यह तो उसकी बतायी बहुत आगे की बात हो गयी। मेरे नामकरण की घटना उसने मुझे कई बार सुनायी थी। जैसे उसने बतायी ठीक वैसे ही वह आज भी मुझे स्पष्ट स्मरण हो रही है।

मेरे नामकरण-समारोह के लिए गोकुल के सभी गोप-गोपियों ने पहले ही गोकुल गाँव को सुशोभित कर दिया था। गोष्ठों में काम करनेवाले गोपालों ने अपनी कमर कसकर सभी गायों, बछड़ों और साँड़ों के सींग विविध रंगों से रँग डाले थे। उनके गलों में भिन्न-भिन्न आकार की, मधुर ध्वनि करनेवाली घण्टियों की नयी मालाएँ डाली थीं। सभी पशुओं के ललाट कुंकुम-मण्डित कर दिये थे। आम्रपर्णों और भाँति-भाँति के पुष्पों से गोकुल के सभी घर, चौक, शिव-मन्दिर, व्यायामशाला और महाद्वारों को सजाया गया था। गोबर से पोते गये आँगनों में धराऊ वस्त्र पहने हुए गोप नर-नारी, बालक-बालिकाएँ प्रातःकाल से इधर-उधर घूम रहे थे। मुखिया-निवास के प्रांगण के मध्य स्थित डौंडी पिटवाने की वेदिका पर ब्राह्ममुहूर्त से ही नगाड़े, चौघड़े, पीपनी का घोष गूँज रहा था।

मुखिया-निवास के अन्तःपुर का कक्ष अनन्त, चम्पक, मोगरा और अन्य कई प्रकार के वन-पुष्पों की मालाओं से सजाया गया था। कक्ष के बीच सीसम की लकड़ी का बेलबूटेदार सुन्दर पालना लकड़ी की दो घोड़ियों पर झूल रहा था। उसे भी पुष्प, मणि और मोतियों की मालाओं से सुशोभन बनाया गया था। कक्ष में रंगबिरंगे वस्त्राभूषणों से सुसज्जित गोपियों का उत्साहपूर्ण कोलाहल मचा हुआ था। बड़ी माँ ने मुझे काजल का दिठौना लगाकर और गुच्छेदार चौतनी पहनाकर धीरे-से कोमल कन्था में लपेटा और सुशोभित पालने में रख दिया। राजपुरोहित के बताये सुमुहूर्त पर उसने चौतनी में छिपे मेरे कान में कोमल स्वर में मेरे नाम का उच्चारण किया–कृऽष्ण...किशऽन मैं चौंककर जाग गया।

सभी गोकुलवासी हृदय में न समानेवाले, असीम, छलकते उत्साह से परिपूरित थे और एक-दूसरे को गले लगाते हुए कह रहे थे–"बड़ी मन्नतों के बाद प्राप्त हुए नन्दबाबा के पुत्र का नाम क्रिशन है–किशन!"

क्रिशन-कृष्ण–जो कर्षण कर लेता है–आकर्षक! सबको मोह लेनेवाला–मोहक–मोहन कृष्ण!

छोटी माँ ने अपनी स्नेहिल पीठ से एक हलका-सा धक्का देकर पालने को धीरे-से झुलाया। उस लय में मैं पुन: शान्ति से सो गया।

सम्पूर्ण गोकुल नाना प्रकार के वाद्यों के घोष से गुंजायमान था। मुट्ठियाँ भर-भरकर पुष्पों और गुलाल की वृष्टि की जा रही थी। गोप-गोपी सुधबुध खोकर गोकुल के चौक-चौक में, आँगन-आँगन में भादों की पर्जन्यधाराओं में नहाते हुए भाँति-भाँति की क्रीड़ाओं में तल्लीन हो गये।

मुखिया-निवास पर सभी जातियों के छोटे-बड़ों को भोज दिया गया। बड़ी मनौतियों के बाद पुत्र-प्राप्ति होने से मेरे बाबा तृप्त हो गये थे।

मुझे पाकर मेरी माता भी कृतार्थ हो गयी थी। अपने पुत्र बलराम को भ्राता और साथी मिल गया, इसलिए मेरी छोटी माँ भी प्रसन्न हो गयी थी। निर्मल, विशुद्ध, निरपेक्ष प्रेम करनेवाले स्नेहिल प्रेमसखा को पाकर समस्त गोकुल कृतार्थ हो गया था!

दूसरा प्रहर बीत गया और मुखिया-निवास की अग्रशाला में बुलायी गयी महत्त्वपूर्ण बैठक का आरम्भ हो गया। मथुरा से पहले ही आये गर्ग मुनि इस बैठक में उपस्थित थे। वास्तव में वे मथुरा

के शूरसेन राज्य के यादवों के राज-पुरोहित थे, किन्तु आभीरभानु वंश के गोपनायक नन्द के पुत्र के नामकरण पर उसका जातक बताने के लिए वे विशेष रूप से गोकुल पधारे थे। पता नहीं वे किसके द्वारा भेजे गये थे। पिछली रात गुप्त कक्ष के एकान्त में नन्दबाबा और गर्ग मुनि बड़ी देर तक मन्त्रणा करते रहे थे।

बैठक में मेरे आठों काका-काकी, सभी गोपालों के आदरणीय मेरे दादाजी—चित्रसेन उपस्थित थे। गर्ग मुनि ने विशिष्ट गोपालों सहित निकट ही बैठे नन्दबाबा और गोकुल के पुरोहित आभीरनन्द पर अपनी सात्त्विक, तप:शील दृष्टि घुमायी।

गर्ग मुनि! सतेज, शान्त मुखाकृतिवाले! भस्मचर्चित भुजाओं और मस्तक पर स्थित जटाजूट में रुद्राक्षमाला धारण करनेवाले! यादवों के कल्पक वास्तुशास्त्रज्ञ और यादव राजकुल के भविष्यवेत्ता—जातकशास्त्रज्ञ! वे आँखें मूँदकर—अपने अन्तर्मन से भी परे होकर ऐसे बोलने लगे मानो उनके समक्ष कुछ स्पष्ट, साकार हो रहा हो! उनके बोल मानो अनागत से उभरकर वहाँ उपस्थित उत्सुक गोपालों के कान की सीपियों में पैठने लगे—"गोपराज चित्रसेन और नन्दराज सुनिए, समस्त गोपजन भी सुनें—आपके इस प्रिय सुपुत्र का फलित ज्योतिष ध्यानपूर्वक सुनें।

"आपका यह पुत्र अपने नाम के अनुरूप ही होगा। यह अपनी देह के और मन के सौन्दर्य से सबको मोह लेगा—आकर्षित कर लेगा। एक अपूर्व, नूतन योग का—प्रेमयोग का यह निर्माण करेगा। स्वयं को जानने हेतु हम सब अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। इसके लिए हम विविध कर्म करते हैं, तपस्या करते हैं। किन्तु ध्यानपूर्वक सुनिए और कभी न भूलिए कि यह पुत्र जन्म से ही जानता है कि वह 'कौन' है। जितने स्पष्ट रूप में आप प्रतिदिन भिन्न-भिन्न रंगों की गायों को देखते हैं, उतने ही स्पष्ट रूप में यह सत्य को देखता है—सभी अंगों से। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न रंगों की गायों में से आप दूर से भी अपनी गायों को पहचान लेते हैं, उसी प्रकार सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को यह सरलता से पहचान लेगा। यह स्वयं अपने निकष के अनुसार, अपनी 'कृष्णशैली' से प्रत्येक व्यक्ति के साथ व्यवहार करेगा—कोई भी इसे जान लेने का व्यर्थ प्रयास न करे।...

"इस क्षण मैं जो भविष्य-कथन कर रहा हूँ, उसे भी वह जानता है।

"विशुद्ध प्रेम से वह आप सबके साथ इस प्रकार घुल-मिल जाएगा कि आप उसे कभी भूल नहीं पाएँगे। वह आपको प्रेमयोग की दिव्य दीक्षा देगा। किन्तु...किन्तु आपके गोकुल में वह अधिक समय तक रहेगा नहीं। उसका नित्य प्रिय, निर्मल, प्रेमिल साहचर्य आपको अधिक समय तक प्राप्त नहीं होगा।"

गर्ग मुनि आँखें मूँदकर क्षण-भर चुप हो गये। उन्होंने एक दीर्घ श्वास लिया। भोजपत्र पर इस अलौकिक भविष्य को लिखनेवाला उनका शिष्य उनकी ओर देखता ही रह गया। उपस्थित गोकुलवासियों ने नि:श्वास छोड़ी।

अज्ञात के सुदूर पड़ाव पर पहुँचे ध्यानस्थित मुनिवर गर्ग के खनखनाते शब्द पुन: गूँजने लगे और गोपसभा के कक्ष की भित्तियों पर रोमांच खड़े करने लगे—

"यह सुपुत्र न्याय की—धर्म की रक्षा करने के लिए निरन्तर कर्मरत रहेगा। न्यायी होकर भी सदा अन्याय सहते आये एक विस्थापित किन्तु पराक्रमी राजकुल को यह पूर्ण समर्थन देगा। उनको न्याय दिलाने हेतु यह 'न भूतो न भविष्यति' ऐसा महायुद्ध भी करवाएगा, जिसे सम्पूर्ण

विश्व कभी भूल नहीं पाएगा। समस्त मानव-जाति की रक्षा और विकास के लिए, इस महायुद्ध में से कितने ही जीवन-तत्त्व कसौटी पर खरे उतरे रत्नों जैसे उभरकर आएँगे। इसका दिया गया हितोपदेश सम्पूर्ण मानवगंगा को युगों तक शिरोधार्य करने योग्य प्रमाणित होगा। वह चिरस्मरणीय होगा। यह पुत्र भविष्य में भी अंश रूप से बार-बार अवतार लेगा। कई अन्यायी राजाओं और राज्यों का यह निर्दलन करेगा–नाश करेगा। आर्यावर्त की जीवनगंगा की धारा को यह अबाध गति से प्रवाहित करेगा। किन्तु यह स्वयं किसी भी राजसिंहासन पर अधिकार नहीं जताएगा। इसका यह आचरण सम्पूर्ण मानव-जाति का युग-युगों तक मार्गदर्शन करेगा। स्त्रीत्व का सत्यार्थ क्या है और उसका कैसे आदर किया जाता है, इसे यह अपने आचरण से ही दिखाएगा। माता, महामाता, पत्नी, कन्या, बहन, बुआ, काकी, मामी, मौसी, सखी–इन सारे आत्मीय सम्बन्धों के कुछ नये ही अभिप्राय विकसित करेगा यह। यही नहीं, अपने सम्पर्क में आनेवाली प्रत्येक नारी का यह शाश्वत निसर्ग-तत्त्व के रूप में सम्मान करेगा।

"एक समर्थ राजकुल का स्थलान्तर कर यह पश्चिम सागर-तट पर उसको नियोजनपूर्वक पुनर्वसित करेगा। उसी राजकुल के लोगों को सत्य को भूलकर उन्मत्त, उद्दाम बना देख यह उनका उतने ही निर्लिप्त मन से विनाश भी करेगा। औरों के लिए अत्यन्त परिश्रम-साध्य चौदह विद्याएँ इसको अत्यन्त सरलता से प्राप्त होंगी। जिस एक-एक कला को सीखने के लिए कलाकार पूरा जीवन बिताते हैं, उन चौंसठ कलाओं पर इसका पूर्ण अधिकार होगा। प्रत्यक्ष सामवेद के समान संगीत के सप्त स्वर मूर्तिमान होकर इसके व्यक्तित्व में गुंजरित होते रहेंगे। युग-युगों तक यह अपने गुरु और माताओं के नाम से पहचाना जाएगा। वास्तव में इसको ज्ञान देकर गुरु और इसका पालन-पोषण कर माताएँ धन्य और अजरामर होंगी। इसका रूप-सौन्दर्य सुन्दरता के सभी निकषों से परे, अलौकिक पौरुष-सम्पन्न होगा। इसके पौरुष-सौन्दर्य के योग्य ही इसकी वाणी ऊर्जस्वित, कर्णमधुर और अलौकिक होगी। यथावसर वह असहनीय, गगनभेदी भी हो जाएगी। यह पश्चिम सागर-तट पर अपने अलौकिक सौन्दर्य को शोभा देनेवाली अप्रतिम स्वर्णनगरी का उचित समय पर निर्माण करेगा। वहाँ यह अपनी आठ सुलक्षण पत्नियाँ और पुत्र-पौत्रों सहित आनेवाली पीढ़ियों के लिए आदर्श भाव-सम्पन्न पारिवारिक और सामाजिक जीवन व्यतीत करेगा।

"गोपजनो, इसके किये गये चमत्कारों से चकित होकर इसको पहचानने की भूल न करें आप। यह सशरीर आपके बीच रहेगा, यही सबसे बड़ा चमत्कार है। यह अधिक समय जल के समीप निवास करेगा। सत्य का ज्ञाता यह पुत्र पंचमहाभूतों में से जलतत्त्व का स्वामी–जलपुरुष भी है। अत: इसके भाव-विभाव सदैव तरल, प्रवहमान और सृजनशील रहेंगे।

"जिस प्रकार जल कभी एक ही स्थान पर स्थिर नहीं रहता, रुक नहीं जाता, जीवन का सर्जन और विकसन करता हुआ प्रवहमान रहता है, उसी प्रकार यह जलपुरुष जीवन-भर निरन्तर भ्रमण करता रहेगा। यह चक्रवर्ती होगा–युगकर्ता होगा–युगन्धर होगा!

"यह केवल चक्रवर्ती जलपुरुष ही नहीं बल्कि योगी भी है–योगयोगेश्वर है।" वे शान्त, स्पष्ट स्वर में बोलते जा रहे थे। उनके भस्मचर्चित भाल पर अब मोटे-मोटे स्वेदबिन्दु उभर आये थे–मानो उनके द्वारा कथित जातक उनके अन्त:चक्षुओं के आगे साकार हुआ हो!

अपने उस अद्भुत जातक-कथन पर पूर्णविराम लगाते समय आचार्य देहातीत हुए-से दिखाई देने लगे। अपार तेज से उनका मुखमण्डल दीप्तिमान हो उठा। सभी की निर्निमेष दृष्टि उन्हीं पर

टिकी हुई थी। उस अपूर्व जातक की भैरवी के अमृतमय बोल उपस्थित गोपालों को धन्य-धन्य करने लगे–

“प्रिय गोपजनो, हम तपस्वी विशुद्ध ध्यान-सामर्थ्य से ‘ईश्वर’ को जान लेने का प्रयास करते हैं, किन्तु हममें से कोई भी अब तक ईश्वर क्या है, यह स्पष्ट नहीं कर पाया है। पता नहीं, भविष्य में भी कोई कर पाएगा कि नहीं! क्या ईश्वर, देव, अवतार आदि मन को भुलावे में डालनेवाली मात्र भ्रामक कल्पनाएँ नहीं हैं? वह है अथवा नहीं, यह मैं भी बता नहीं पाऊँगा। किन्तु यह सुपुत्र योगयोगेश्वर है–सभी अर्थों में विभूतिपुरुष है, महान पूर्णपुरुष है, केवल अतुलनीय, अद्वितीय है।

इसके जैसा केवल यही है। देवत्व की अपनी सभी कल्पनाओं को निश्शंक होकर इसके चरणों में अर्पित कर दीजिए। जिस प्रकार इसका स्थायी भाव प्रेमयोग है, उसी प्रकार अनासक्ति और विसर्जनयोग भी है। यह फल की अपेक्षा किये बिना ही कर्म करता रहेगा–कर्मफल से कभी उलझा नहीं रहेगा। समय-समय पर आवश्यक कर्म यह कुशलतापूर्वक करेगा। किन्तु कर्मफल से दूर ही रहेगा। षड्रिपुओं से निर्मित वासनाओं से यह जल में स्थित कमलदल की भाँति अलिप्त ही रहेगा। इसीलिए यह आपको दैवी चमत्कारी लगेगा। अपनी निर्मल मुस्कान से यह आपकी भ्रान्त धारणा को बनाये रखेगा।

“जीवन में कृष्ण, श्याम, गोपाल, मुरलीधर, मोहन, मुरारी, मधुसूदन इन सीढ़ियों को पार करता हुआ यह ‘वासुदेव’ के अत्युच्च स्थान पर पहुँच जाएगा। लाखों लोगों को यह–जीवन का अर्थ क्या है और उसे कैसे जिया जाता है, यह सहज, सरल भाषा में बता जाएगा और नित्य जीवन में उसी प्रकार आचरण करेगा।

“जीवन का पहला श्वास इसने गोपनायक नन्द के सुरक्षित आवास में लिया है, किन्तु यह ‘वासुदेव’ देह-विसर्जन करेगा एक घोर अरण्य में–अश्वत्थ-वृक्ष की घनी छाया में, खुले आकाश के नीचे–अत्यन्त सामान्य रीति से, पूर्ण एकान्त में! इति शुभं भवतु।” मुनिवर गर्ग इस प्रकार स्तब्ध-भावमग्न हो गये, मानो कोई भव्य-दिव्य घटना उनकी आँखों के समक्ष साकार हो रही हो! वे अपने-आप में खो गये थे। हाथ जोड़कर, सिर झुकाते हुए वे हलके से बुदबुदाये ‘कृष्णार्पणमस्तु!’

गर्ग मुनि की तपःपूत साँस अपने-आप ही बढ़ गयी थी। सभी उपस्थितों को वह स्पष्ट सुनाई भी दी। शान्त चित्त हुए गोप मन में ‘कृष्ण-किशन’ का नाम जपते हुए मुखिया-निवास से अपने-अपने घर चले गये।

बड़ी माँ का कृष्ण-कन्हैया अर्थात् मैं पालने में शान्त लेटा था।

रेंगने, दौड़ने, कुछ गिराने-लुढ़काने के दिन शीघ्र ही समाप्त हो गये। दोनों माता और काकाओं से मार खाने के दिन भी पीछे छूट गये। मैं और दाऊ अब बड़े हो गये–आठ-दस वर्ष के। कुछ दिन पूर्व जन्मी हमारी सुन्दर, मोहक बहन एकानंगा भी अब हमारी ही भाँति रेंगते-चलते हुए, वस्तुओं को गिराते-तोड़ते हुए बड़ी होने लगी। मुझे वास्तव में ‘गोपाल’ बनानेवाला वह दिन उदित हो गया–गोपदीक्षा का दिन!

आज मुझे और दाऊ को गायों को चराने के लिए गोकुल के बाहर–यमुना-तट की घनी गोचर भूमि में ले जाना था। प्रथा के अनुसार नन्दबाबा ने हमारी गोपदीक्षा के लिए शिवमुहूर्त भी निकाला था। वर्ष-भर में एक बार वे कर देने के लिए यमुना के उस पार यादवों के शूरसेन राज्य

की राजनगरी मथुरा जाया करते थे। इस वर्ष मथुरा की वणिग्वीथी से वे हमारे लिए स्वर्णसूत्र के किनारेवाले मृदुल वस्त्र ले आये थे। कितने आकर्षक थे वे वस्त्र! मेरा वस्त्र था गहरे पीतवर्ण का और दाऊ का था सुन्दर नीलवर्णी! नन्दबाबा का यह चुनाव उचित ही था। मेरा वस्त्र मेरे वर्ण को शोभा देनेवाला था तो दाऊ का वस्त्र उनके रक्तिम, बिम्बाफल जैसे गौरवर्ण की कान्ति को और भी बढ़ानेवाला था। कैसा था मेरा वर्ण? नन्दबाबा के आवास में रहनेवाले अन्य किसी भी व्यक्ति के सदृश नहीं था वह! अपने प्रिय मित्र लोहार-पुत्र वरूथप के पिता की लोहारशाला में एक बार मैं गया था। वहाँ मुझे अपने शरीरवर्ण से मिलती-जुलती रंगछटा अनायास ही दिखाई दी।

उस दिन लोहारशाला में धौंकनी के पास काम करनेवाले वरूथप के पिता अग्नि की आँच से स्वेदसिक्त हो गये थे। उन्होंने भट्टी में दहकते अंगारों पर तपकर लाल हुए लौह-छड़ को सँड़ासे से उठाकर चपलता से निहाई पर रखा और उस पर हथौड़े से एक के बाद एक प्रहार किये। छड़ के दोनों छोर क्षण-भर ही में अचूक रूप से जुड़ गये। समीप रखे लकड़ी के जलपात्र से उन्होंने उस लाल लौह-छड़ पर छपाक से जल का छिड़काव किया। 'चर्र' की ध्वनि के साथ उस रथचक्र के किनारे पर फीके लाल रंग की, निरभ्र आकाश के सदृश, काँटेभँवरी के पुष्प के समान नीलवर्णी, स्वर्णिम रंगछटा धीरे-धीरे जमती गयी। धूप में वह चमचमाने लगी। मैं तो टकटकी लगाये देखता ही रह गया, यही—यही तो था मेरे शरीर का वर्ण! अधपके जामुन जैसा रक्तिम! मानो स्वर्ण में जामुन-रस मिला दिया हो! जन्मपूर्व रक्त-संस्कारों से निर्मित-अद्वितीय!

मेरे शरीरवर्ण का कितना भी वर्णन किया जाए—मेरी बड़ी और छोटी माँ तो मुझे श्याम ही कहती आयी थीं। श्याम अर्थात् कृष्णवर्ण—सीधे शब्दों में काला-साँवला। सत्य है, श्याम अर्थात् साँवला ही तो था मैं! भावभीनी श्रावण-सन्ध्या की भाँति! और यहीं यह भी स्पष्ट बता दूँ कि इस साँवलेपन पर मुझे मनःपूर्वक गर्व था—आज भी है। अपने 'श्याम' नाम से मैं अभ्यस्त हो गया था। यह नाम मुझे अति प्रिय था। दाऊ की तो बात ही अलग थी, उनको तो सभी गोरा-चिट्टा कहते थे। कभी-कभार छोटी माँ उनको संकर्षण—लाड़-दुलार से संकू भी कहा करती थीं। अत: कभी-कभार मैं भी उनको संकू भैया कह देता था।

आज हमारी गोपदीक्षा का दिन था। दाऊ और मैं गोपवेश धारण कर तैयार हो गये थे। माथे पर दादाजी चित्रसेन का लपेटा हुआ भूरे-लाल रंग का ऐंठनदार मुँडासा था। कटि में नन्दबाबा के लाये नीले-पीले वस्त्र कसे हुए थे। वन में हमें जिस प्रकार के कर्मयोग का आरम्भ करना था उसमें सुविधा हो, इसलिए हमने अपने वस्त्र घुटनों तक लेकर काछ कस ली थी। हमारे कन्धों पर गोकुल ही की भेडों की मृदुल ऊन से बने कम्बल थे। उन गहरे काले रंग के कोमल कम्बलों की शोभा बढ़ाने के लिए उनकी किनारी पर शुभ्र ऊन की दो धारियाँ बुनी गयी थीं। दोनों कम्बलों के सिरे के धागों में गाँठें लगाकर उनको टिकाऊ बनाया गया था। दस-पन्द्रह वर्ष तक तो उन कम्बलों को तनिक भी क्षति पहुँचनेवाली नहीं थी। गोकुल के गड़रियों के कर्मयोग की कुशलता थी वह। गोकुल के सभी गोप नन्दबाबा की देखरेख में अपने-अपने काम में कुशल हो गये थे। राजगीर हों, लोहार हों अथवा कृषक—प्रत्येक गोकुलवासी ने अपने-अपने काम में कुशलता प्राप्त कर ली थी। किसी भी काम को वे तुच्छ नहीं समझते थे।

हमारे कम्बल की खोंच में कलेवा की पोटली थी। उसमें खट्टी-मीठी रुचिकर चटनी और दूध में गूँथी गयी रोटियाँ थीं। मुँह पर पलाश-पत्र रखकर वस्त्र से बँधी गाढ़े दही की मटकी और

सेवकों के द्वारा वन से उखाड़ लाये गये कुछ पलाँडू भी हरे-हरे पत्तों सहित थे।

अपने कम्बल की खोंच में मैंने सुबह ही एक छोटा-सा धारदार हँसिया रख दिया था।

गोपदीक्षा की विधि आरम्भ हो गयी। गोप-पुरोहित आभीरनन्द नाद-मधुर संस्कृत मन्त्रों का पाठ करने लगे। मैं और दाऊ दो चौकियों पर बैठे थे। उसके चारों ओर रंगावलियाँ अंकित की गयी थीं। यह हमारे आवास के देवगृह का कक्ष था। अन्तत: पुरोहित आभीरनन्द ने स्वर्ण कुम्भ के अभिमन्त्रित जल का आम्रपर्णों से हम दोनों पर छिड़काव किया। हमारे सम्मुख ही दादाजी चित्रसेन, नन्दबाबा, दोनों माताएँ खड़ी थीं। आज सम्पूर्ण देवकक्ष हमारे सभी काका-काकियों से खचाखच भर गया था। डेढ़-दो वर्ष की एकानंगा इधर-उधर चक्कर काट रही थी। विधि समाप्त होते ही पहले बड़ी माँ ने और तत्पश्चात् छोटी माँ ने नीराजन की जलती ज्योतियों से हमारी आरती उतारी। केसर-मिश्रित मधुर इन्नर की टिकियाँ हमारे मुख में डाल दीं। दोनों की आँखें आज चमक उठी थीं। उनके नीराजन नीचे रखने के बाद हमारे दृढ़काय नन्दबाबा चौकी के आगे आ गये। कन्धे पर रखे कम्बल को सँभालते हुए उन्होंने भी मेरी और दाऊ की आरती उतारी। आरती उतारते हुए उनके हाथ के नीराजन की ज्योति और उनकी पानीदार आँखों को देखते हुए मुझे तीव्रता से आभास हो गया, मानो आकाश के सूर्य-चन्द्र ही उनकी आँखों में उतर आये हैं। अपने वक्ष पर झूलता आभीरभानु वंश का प्रतीक–चाँदी का अष्टकोण पदक उन्होंने उतारकर अँजुरी में ले लिया। उसे माथे से लगाकर, आँखें मूँदकर वे कुछ बुदबुदाये। अगले ही क्षण उस पदक को मेरे कण्ठ में पहनाकर अत्यन्त प्रेम से मेरा माथा सूँघते हुए उन्होंने कहा, "कृष्ण, आज तुम विधियुक्त गोप बन गये हो। मेरे वंशज बन गये हो। आज तक अपनी सामर्थ्य के अनुसार मैंने यहाँ के छोटे-बड़े सभी गोपालों को सँभाला है। आज से यह कर्तव्य तुम्हारा और तुम्हारे बड़े भैया का है। गोपालों को तो तुम्हें सँभालना ही है, उससे भी अधिक तुम्हें यहाँ के गोधन की सँभाल भी करनी है।"

मैंने समीप बैठे दाऊ की ओर देखा। हमारी आरती उतारते समय दादाजी ने उनके कण्ठ में पहनाये पदक पर हाथ फेरते हुए वे मुस्करा रहे थे। हम दोनों आँखों से ही एक-दूसरे से बहुत-कुछ कह गये।

चौकी से उठकर हमने प्रथम देवगृह में विराजित हमारी कुलदेवी इडा को साष्टांग दण्डवत् किया। तत्पश्चात् हमने दादाजी, नन्दबाबा, दोनों माताएँ तथा पुरोहित आभीरनन्द को भी दण्डवत् किया। उन्होंने हमारे माथे को सूँघा। सभी काका-काकियों के हमने चरणस्पर्श किये। देवकक्ष से निकलकर हम गोकुल के वन में जाने के लिए तैयार हो गये। विधियुक्त दीक्षा पाये गोप बनकर–नन्दबाबा के पुत्र के नाते। हमारे ककेरे भाई भी हमारे साथ आनेवाले थे।

अग्रशाला के आले से हमने अपने से भी एक हाथ लम्बी, छोटे-छोटे खनकते घुँघरू-जड़ी दो लकुटियाँ उठायीं। अब वे हमारी सुरक्षा के काम आनेवाली थीं। पग-पग पर हमें उनका उपयोग करना था।...

हमारे आवास के पूर्वी महाद्वार में दोनों माताओं ने हमारी हथेलियों पर गाढ़ा दही रखा। उसको मुख में डालते हुए मैंने क्षण-भर आँखें मूँद लीं। उस मधुर दही की कभी फीकी न होनेवाली मिठास का स्पष्ट आभास मुझे आज भी हो रहा है। मानो वह मुझसे कह रही थी, "आज तू वास्तव में गोपाल बन गया।" हमें बाहर खड़े गोपमित्रों में सम्मिलित होना था, इसलिए बड़ी माँ का हाथ छोड़कर मैं मुड़ने लगा और वहीं रुक गया। मेरे पाँवों में दो नन्ही-नन्ही बाँहों का घेरा पड़ा था। वे

बाँहे थीं मुझे 'किश्न भैया–किश्न भैया' पुकारनेवाली निरन्तर मेरे आसपास घूमती रहनेवाली–मेरी अत्यन्त लाडली बहन एकानंगा–एका की! बलराम भैया को वह कभी 'छंकू भैया' कहा करती थी तो कभी केवल 'भैया' कहा करती थी, किन्तु मुझे वह सदैव 'किश्न भैया' ही कहा करती थी। हमारी दीक्षा-विधि की धूमधाम में उसकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया था। किन्तु वह मुझे भूली नहीं थी। मेरी ओर देखकर वह मधुर-मधुर मुसकरायी। मुझसे रहा नहीं गया। मैंने झट से उसे ऊपर उठाया और उसके गुदगुदे गालों को आवेग से चूम लिया। उसके सघन केशों को बिखराकर मैंने उसे दाऊ के हाथों में दे दिया।

मुखिया-निवास के आगे आँगन में हमारी ही आयु के पन्द्रह-बीस गोप-सखा जमा हो गये थे। हमें देखते ही वे खिलखिलाने लगे–"किशन आ गया–आ गया हमारा कान्हा–हमारा बलदाऊ आ गया–संकू भैया आ गया।"

पहले हम उन सबसे कसकर गले मिले। तत्पश्चात् हम सब गोशाला की ओर मुड़ गये। बँधे गोधन को हमने पगहों से मुक्त किया। कुछ ही समय में एक-दूसरे से शरीर रगड़ते, सींगों को खटखटाते हुए, भिन्न-भिन्न रंगोंवाला, रँभाता हुआ चैतन्य का वह झुण्ड-का-झुण्ड गोकुल से निकल पड़ा।

गोकुल के पूर्वी महाद्वार से वह झुण्ड बाहर निकला। मैं, दाऊ और हमारे साथी उनको जो मन में आया–'अरी ओ चन्दऽर, ओऽकाजलीऽ, ओ भूरीऽ' आदि नामों से पुकारने लगे। कन्धे पर डाले हुए कम्बल को सँभालते और खनकते घुँघरुओंवाली लकुटियों को उठाकर नचाते हुए यमुना-तट पर चारों ओर फैली गोचरभूमि तक हम उन्हें हाँककर ले आये। अब वे सैकड़ों गायें समझदारी से इधर-उधर बिखर गयीं। उनके गले में बँधी क्षुद्र घण्टिकाएँ मधुर ध्वनि में किनकिनाने लगीं। बीच-बीच में चिड़ियाँ, मैना, कौए, कठफोड़े, क्रौंच आदि पक्षी गायों की पीठ पर बैठने लगे। यमुना की ओर से आनेवाले शीतल पवन के झकोरों से लहलहाती कोमल, हरी घास लहराने लगी। उस पर उछलती रंगबिरंगी तितलियाँ दिखाई देने लगीं। पीठ पर बैठे कीट-पतंगों और पंछियों को भगाने के लिए गोलाकार पूँछें नचानेवाली गायों के हिलते-डुलते झुण्ड दिखाई देने लगे। अपने गले में बँधी घण्टियों की बजती मधुर ध्वनि के बीच उन्होंने चरना प्रारम्भ कर दिया। अब मैं और दाऊ अपने साथियों सहित कूदने-फुदकने और मनचाहे खेल खेलने के लिए मुक्त हो गये।

आगे दूर-दूर तक फैला यमुना के नील-जल का पाट दिखाई देने लगा। अपने गोधन, साथियों और दाऊ को भी छोड़कर मैं अकेला ही आवेग से यमुना की ओर दौड़ा। अनजाने में खिंचा-सा चला गया! जाने क्यों, यमुना के प्रथम दर्शन से ही मेरे मन में एक अज्ञात-सी–प्रबल खलबली मच गयी थी। उसके प्रति मेरे मन में असीम और अनिवार्य आकर्षण हो गया था–जिसे न मैं समझ सकता था, न समझा सकता था। मेरे मन में अनेक प्रश्न उभर आते थे। कैसी होगी यमुना के उस पार की मधुपुरी–मथुरा? दादाजी, बाबा और अन्य सभी कितनी बातें करते हैं उस राजनगरी के विषय में? कई नाम सुनता हूँ मैं–महाराज उग्रसेन, महाराज्ञी पद्मावती, सेनापति अनाधृष्टि, मन्त्री कंक, अक्रूर, अमात्य विपृथु, सत्राजित, सात्यकि, बन्दी वसुदेव और उनकी असहाय पत्नी देवकी–देवकीदेवी! उन शब्दों से ही मेरा बाल-मन एक अनजान, असहनीय वेदना से ठनकने लगता था,–अकारण ही! सबकी नाक में दम करनेवाला, राज्य-लिप्सा से प्रत्यक्ष अपने पिता–महाराज उग्रसेन को कारागृह में डालनेवाला कुपुत्र, निर्दय, निर्मम कंस! कैसा होगा

वह? कैसे होंगे मथुरा के यादव? कहते हैं, उनके अठारह कुल हैं और लाखों की संख्या में हैं वे! कई बार मैंने दादाजी, बाबा, दोनों माताएँ, काका-काकी, पुरोहित आदि सभी से खोद-खोदकर ये प्रश्न पूछे थे। किन्तु किसी ने भी इसका उचित उत्तर नहीं दिया था—देनेवाला भी नहीं था। मेरा मन विचलित हो रहा था।

यमुना में अविरत लपलपाती लहरें उठ रही थीं और तट पर फैले रेत के समुद्र को शीतल करती हुई उसमें विलीन हो रही थीं। अर्धवर्तुलाकार ग्रीवा घुमाने पर यहाँ से वहाँ तक यमुना-ही-यमुना दिख रही थी—समुद्र-सदृश! मेरे शास्त्रवेत्ता प्राणनन्द काका सत्य ही कहा करते थे—'यम-ना अर्थात् जो अनिर्बन्ध है, वह यमुना!' सागर ही की भाँति थी यह जलमाता—यमुना! मैंने उसके आँख-भर दर्शन किये। उसके चैतन्यमय, निरन्तर प्रवहमान रूप को मन में समा लिया। उसको वन्दन करने के लिए मेरे हाथ अपने-आप जुड़ गये! क्यों—मैं समझ ही नहीं पाया। मेरा मन अब बिलकुल शान्त हो गया था।

कलेवा की पोटली सहित मैंने अपना काला कम्बल नीचे रेती पर रख दिया और उसी पर माथे से उतारकर मुँडासा भी। कम्बल के पास अपनी लकुटी रख दी। कटि की करधनी में बँधी लँगोटी पर कसे पीताम्बर को भी मैंने हलके से खोलकर कम्बल पर रख दिया। मेरे सम्मुख लहराती यमुना माता अपनी लहरों के सहस्रों हाथों को फैलाकर मुझे बुला रही थी! भिन्न-भिन्न आकार के छोटे-बड़े पक्षी उस पर मँडरा रहे थे। ऊपर गहरा नीला अथाह आकाश फैला हुआ था—वह सुदूर यमुना से मिल गया था। पैरों-तले की भीगी रेत को मैंने दौड़ते हुए पार किया और केवल लँगोटी पहने हुए मैं अत्यन्त आवेग से यमुना माता की गोद में प्रविष्ट हो गया। सर्र से मेरे शरीर के रोएँ खड़े हो गये।

कभी छप-छप हाथ मारता हुआ सीधे, तो कभी पीछे हाथ मारता हुआ उलटा—दीर्घ समय तक मैं यथेच्छ तैरता रहा। यमुना के उष्ण जल के वत्सल स्पर्श को मैं अपने अंग-अंग में समा रहा था। मेरे दादाजी, बाबा, बड़ी माँ और छोटी माँ के अमोल बोल मेरे मन में घूमते रहे। मेरे शास्त्रवेत्ता काका प्राणनन्द के अमृतबोल तो मेरे मन के सरोवर पर ब्रह्मकमल के अंकुर की भाँति सरसराते हुए उभर आये। मेरे कानों में और मन में गूँजने लगे—"पुत्र कृष्ण, जल शब्द के गूढ़ार्थ को भली-भाँति ध्यान में रख—जायते यस्मात् लीयते यस्मिन् इति जल:; अर्थात् जीव जिसमें से जन्म लेता है और जिसमें विलीन हो जाता है, वह जल है। पंचमहाभूतों में यह महाभूत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और बलशाली है।

"जल ही जीवन है। किसी से जब कहा जाता है 'दिखा दे तुझमें कितना पानी है!' उसका यही अभिप्राय होता है।" जल के अर्थ को मन में दुहराते हुए, उलटा तैरता हुआ मैं आकाश में तपते सूर्य-बिम्ब का तेजरस आँखों से ही भीतर भरने लगा—आकण्ठ, मानो मैं अपने-आप ही को भूल गया!

बहुत देर मेरे ध्यान में ही नहीं आया कि मेरे पीछे-पीछे बलराम भैया सहित अन्य सब साथी भी तैरने के लिए यमुना में डुबकियाँ लगा रहे थे। उनकी 'कृष्णाऽ किशऽन...कन्हैयाऽऽ' पुकारों से जब मुझे यह भान हुआ, मैं उनसे जा भिड़ा। उन पर पानी के प्रबल छींटें मारकर मैंने उनको हड़बड़ा दिया। हँसते-खिलखिलाते हुए हमने पुन: यमुना में देर तक डुबकियाँ लगायीं। सूर्य अब माथे पर आने लगा था। सबसे पहले मैं यमुना-जल से बाहर निकल आया। मेरे पीछे-पीछे दाऊ और

अन्य सब साथी भी निकल आये। सबने धूप में ही अपने शरीर सुखाये, अपने-अपने वस्त्र धारण किये और विशाल गोचरभूमि के किनारे खड़े, पत्ते-पत्ते के साथ बड़े-बड़े सुगन्धित पुष्प-गुच्छ लटकनेवाले सघन कदम्ब-वृक्ष की ओर चलने लगे। मार्ग में हरे-पीले रेखाओंवाले बाँस के पौधों का एक सघन समूह दिखाई दिया। न अधिक कोमल, न अधिक कड़ा—ऐसा एक बाँस चुनकर मैंने हँसिये से उसे काट लिया।

फिर उसी प्रिय, घने कदम्ब-वृक्ष के नीचे हमारी गोप-टोली आ गयी। यह वृक्ष पत्ते-पत्ते के साथ लटकते केसरी रंग के, सुगन्धित, पुष्प-गुच्छों से लदा हुआ था। उन पुष्पों की मादक गन्ध, उन पर भिनभिनाती मधुमक्खियाँ और भौंरों की गुंजार से वह परिसर भर गया था। सभी ने कलेवा की अपनी-अपनी पोटलियाँ बाहर निकालीं। अपने-अपने कम्बल बिछाकर दाऊ सहित हमारे सभी साथी मण्डलाकार बैठ गये। सबके बीचोंबीच मेरा कम्बल बिछाया गया। उस पर केले और पलाश के बड़े-बड़े पत्ते बिछाकर श्रीदामन और भद्रसेन ने सभी गोपालों के कलेवा का मिश्रण तैयार किया। एक ओर रोटियों की थप्पी, उसके पास चटनी का बड़ा-सा गोला रखा गया और दूसरी ओर दधि-मिश्रित गुलगुले ओदन का ढेर और काले, मटमैले रंग की दही की मटकियाँ मण्डलाकार रखी थीं। इस प्रकार हमारा गोप-भोज तैयार था।

मैं दूर एक कदम्ब-वृक्ष के तने से पीठ टिकाकर बैठा था। साथ लाये बाँस को, ग्रीवा टेढ़ी कर, हँसिये से तराश-तराशकर अब तक मैंने एक सुन्दर, सुघड़ वंशी बना ली थी। पीताम्बर पर पड़े छिलकों को मैंने झटक डाला। अब सूर्य सीधे माथे पर आ गया। मैंने अभ्यास हेतु नयी वंशी पर धुन बजाना आरम्भ ही किया था, तभी मेरे गोप-सखा हाथ ऊँचे उठाकर मुझे पुकारने लगे। गोलाकार खड़े होकर भिन्न-भिन्न आवाजों में वे चिल्ला रहे थे—“कृष्णाऽ...किशऽन...आ जाओ—हमारा गोप-भोज तैयार हो गया है। पहले तुम आरम्भ करो, उसके बाद हम भी खा लेंगे।” यह तो उनकी आदत थी। मेरे कौर उठाये बिना वे अन्न का एक दाना भी मुँह में नहीं डालते थे।

दाऊ के समीप बैठकर हास-परिहास करते हुए हमने गोप-भोज समाप्त किया। स्तोककृष्ण ने पूछा, “बताओ तो कृष्ण, कौन-कौन-सी वस्तुएँ तुम्हें मनःपूर्वक प्रिय हैं?” मैंने मुस्कराकर उसकी ओर देखते हुए कहा, “स्तोक! पुष्पों में मुझे पारिजात-पुष्प अधिक प्रिय है—उसमें भी शरद् ऋतु की शीतल प्रभात-पवन में ओस से भीगा पारिजात-पुष्प मुझे और भी अधिक प्रिय है। उसकी सुगन्ध भी अद्वितीय होती है। उसका नन्हा-सा केसरी रंग का दण्ड कितना सुन्दर दिखता है न? फलों में मुझे आम्रफल अच्छा लगता है—पकता हुआ, अधपका सिन्दूरी रंग का—वृक्ष के सिरे पर धूप में चमकता हुआ। पक्षियों में मृगपर्जन्य की प्रथम धारा का नाद सुनकर अपने डेरेदार पंखों को फुलाकर थै-थै नाचनेवाला, पंख और रंगों से समृद्ध मयूर मुझे मोह लेता है। रसों में सब गोपालों का प्रिय गोरस ही मुझे प्रिय है। अब भोजन में—व्यंजनों में मुझे क्या अच्छा लगता है, यह संकू भैया तुम्हें बताएँगे।” अवसर पाकर मैंने कुशलता से प्रश्न को दाऊ की ओर मोड़ दिया। स्तोक की पीठ पर एक जोरदार धौल जमाकर, ग्रीवा ऊपर उठाकर खिलखिलाकर हँसते हुए दाऊ ने कहा, “अरे पगले स्तोक, जिसे तुम प्रतिदिन लाते हो वही दधि-मिश्रित चुटकी-भर लवण डाला हुआ गुलगुला ओदन ही इसको अत्यन्त प्रिय है। भविष्य में इसे क्या-क्या अच्छा लगेगा, यह तो वही जाने!”

सभी साथी यमुना पर जाकर जल पी आये। कोई मेरे लिए दो लोटे भरकर ले आया। कदम्ब-वृक्ष के नीचे बनायी मेरी नयी वंशी हाथ में ले, आँखें विस्फारित कर दाऊ ने पूछा, “कैसे कर लेते

हो तुम यह? केवल यही नहीं, और भी बहुत-कुछ!" मैं केवल मुस्कराया। तब फिर उन्होंने कहा, "तुम्हारी हँसी भी सबसे अलग है–किन्तु कैसी है, यह मैं नहीं बता सकता। हर बार की तुम्हारी हँसी में भिन्नता होती है। जब तुम हँसने लगते हो, तुम्हारे कुन्दकलियों जैसे शुभ्र दाँत गुलाबी होठों में से चमक उठते हैं। यह देखकर मेघों की आड़ से बाहर आते बाल-सूर्य का ही स्मरण होता है मुझे। एक बात कहो छोटे, मोगरे की कली जैसा दुहरा दाँत केवल तुम्हें ही क्यों प्राप्त हो गया है?" यह सुनकर भी मैं केवल मुस्कराया और दाऊ मेरी ओर देखते रह गये। मेरे अन्य गोप-सखा भी मेरी ओर देखते ही रह गये थे!

अपना कम्बल एक ऊँचे पाषाण से सटाये हुए बिछाकर मैं उस पर लेट गया। इससे कदम्ब के पर्णों से छनकर मेरे मस्तक पर आनेवाली इक्की-दुक्की किरण का भी अपने-आप निवारण हो रहा था। मैंने ऊँचे स्वर में कहा, "स्तोऽक, वरूऽथऽप, दाऽमन–सुनो मेरा सबसे प्रिय वाद्य! आँखें मूँदकर, तन्मय होकर मैं वंशी पर एक के बाद एक धुनें छेड़ने लगा। मेरे सब साथी भी आसपास के आम्र, अंजन, जामुन, सीसम, खदिर आदि वृक्षों की छाया में, जहाँ जगह मिली, कम्बल बिछाकर शान्त विश्राम करने लगे। आँखें मूँदकर, तल्लीन होकर, स्वयं को भूलकर, लेटे-लेटे वे सभी मेरे 'संगीत-योग' को सुनने लगे। वह उन सब निष्पाप जीवों को प्रिय किन्तु अज्ञात-सा 'विश्राम-योग' था!

जाने कितने समय तक मैं स्वयं को भूलकर वंशी बजा रहा था। संगीत में निष्णात अपने महानन्द काका की सुनायी कई रागिनियों की धुनों को मैंने उनकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मुरकियों सहित अलापा। महानन्द काका तो सप्तसुरों में षड्ज से लेकर सप्तक तक सहज ही संचार कर सकते थे। उनका षड्ज-गन्धार तो शरीर का रोम-रोम खड़ा कर देनेवाला था। निद्रा में भी मैं उसे अचूक पहचान लेता। अब वह मेरी वंशी में भी गूँजने लगा था। यमुना के समीपस्थ गोकुल का वन अब भावमग्न हो चला!...

अब दिन का तीसरा प्रहर आरम्भ हो गया था, सूर्य ढलने लगा था। यमुना की ओर से आते उष्ण पवन-झकोरे शीतल होने लगे थे। उनके शीतल स्पर्श का आभास होते ही मेरे संगीत-योग की समाधि भंग हो गयी। मैंने धीरे-से आँखें खोलीं। आसपास का दृश्य देखते ही मैं तड़ाक् से कम्बल पर उठ बैठा। उस गोचरभूमि में दूर-दूर तक फैली हुई गायें और वृक्षों-तले कहीं-कहीं विश्राम करनेवाले सभी गोप-सखा मेरे समीप जमा हो गये थे। मैं मुस्कराया। कम्बल को झटकते हुए मैं मन को हलका कर देनेवाली विभिन्न क्रीड़ाओं की तैयारी में जुट गया।

हम सब यमुना-तट की प्रशस्त रेतीली भूमि पर पहुँच गये। मैंने चुनकर अपने साथियों के दो सन्तुलित दल बनाये। दो सुदृढ़ साथियों को मैंने मुखिया बनाया। उनमें से एक मुखिया तो सुदृढ़, सुघड़ देहधारी होने के कारण दाऊ ही बन गये। सभी मुझसे अनुरोध करने लगे कि दूसरे दल का मुखिया मैं ही बन जाऊँ। मैंने उन्हें भाँति-भाँति से समझाया और स्तोककृष्ण को दूसरा मुखिया बनाया। दाऊ ने झट से पूछा, "तब तुम क्या करोगे छोटे?"

"मैं? मैं पंच बनूँगा!" कहकर मैं मुस्कराया। तब सभी ने जोर-जोर से चिल्लाकर समर्थन किया–"ठीक है...ठीक है...कन्हैया ही पंच बनेगा! निश्चय ही वह निष्पक्ष निर्णय करेगा।" सभी के मुख खिल उठे थे।

यमुना-तट पर हमारा कबड्डी का खेल रँगने लगा। क्रीड़ांगण के बाहर पेंधा सबके कम्बल

और लकुटियाँ सँभाल रहा था। अति ज्वर के प्रभाव से वह एक पाँव से लँगड़ा हो गया था। वह जन्मत: तनिक तोतला भी था। वह ठीक से 'कृष्ण' नहीं कह पाता था। वह मुझे 'किछ्ना' ही कहता था–एकानंगा ही की भाँति! वह मेरा निरीह, प्राणप्रिय साथी था। उसके और 'एका' के 'किछ्ना' कहने में एक सूक्ष्म अन्तर था। 'एका' सीधे 'किछ्ना' कहा करती थी, तो पेंधा रुकते-रुकते, एक-एक अक्षर काटकर 'कि-छ्-ना' कहा करता था।

कबड्डी तो स्पर्द्धा का ही खेल है! असावधान प्रतिस्पर्धी को अचूक रूप में पकड़ लेना, क्रीड़ांगण की सीमा का ध्यान रखना, श्वास पर नियन्त्रण रखना–क्या वह केवल गोपालों के ही नहीं, अन्य सभी के जीवन का भी प्रतीक नहीं था? एक सीमित क्षेत्र में अपने श्वास को अखण्ड बनाये रखना!...

कबड्डी के पश्चात् और भी कुछ खेल हम खेले। अब सब श्रान्त हो गये थे, अत: मैंने आँख-मिचौनी का खेल खेलने की बात कही। मैं समझ रहा था कि 'पंच' बनकर मैंने सबसे अधिक विश्राम किया है, इस बात की ओर किसी का ध्यान नहीं जाएगा। किन्तु यह बात चतुर पेंधा के ध्यान में आ गयी! वह पाँव से लँगड़ा था, बुद्धि से नहीं। सबसे कहकर खेलने की पहली बारी उसने मुझ पर ही डाल दी! दाऊ ने मेरी आँखों पर वस्त्र-पट्टी कस दी। मुझे गोल-गोल घुमाकर छोड़ दिया। मैं पूरा अन्धा हो गया था। इधर-उधर फैले हुए मेरे साथी नाना प्रकार के पशु-पक्षियों की चित्र-विचित्र ध्वनियाँ निकालकर मुझे चिढ़ाने लगे। उन्हें पकड़ने के लिए वे मुझे छेड़ने लगे–व्यंग्यपूर्ण चुनौतियाँ देने लगे।

मैं घूमने लगा–बन्द आँखों से–इधर-उधर टटोलता हुआ! यमुना-तट की रेती में मैं घूमने लगा–हाथों को ही आँखें बनाकर! उनमें से कोई भी नहीं जानता था कि वे जिस दिशा में थे, उसकी विरुद्ध दिशा में ही उनकी आवाजें सुनाई देनेवाली थीं। इसी युक्ति से मैंने झटपट लगभग सभी साथियों को ढूँढ़ निकाला। केवल पेंधा ही बचा था। उसको भी मैंने ढूँढ़ लिया और आँखों पर बँधी पट्टी खींचकर निकाल ली। वही पट्टी मैंने पेंधा की आँखों पर बाँध, उसे गरगर घुमाकर छोड़ दिया। लँगड़ाता हुआ वह मुँह चिढ़ानेवाले शरारती साथियों को ढूँढ़ने लगा। कोई भी उसकी पकड़ में नहीं आ रहा था। वह रुआँसा हो गया। मैं जानबूझकर उसके समीप खड़ा हो गया। उसने झट से मुझे पकड़ लिया। उसकी आँखों की पट्टी खोलकर मैंने एक तरफा घोषणा की–"आँख-मिचौनी का खेल अब समाप्त हो गया है!" खेलने की अपनी बारी को मैं चतुराई से टाल गया। यह बात भी चतुर पेंधा के अतिरिक्त और किसी के ध्यान में नहीं आयी। उसने भी अर्थपूर्ण आँखें झपकाकर 'तेरी भी चुप मेरी भी चुप' का संकेत किया।

साँझ होने को थी। तीतर, श्येन, सारस, चण्डोल, क्रौंच आदि चित्र-विचित्र चहचहाते पक्षियों के झुण्ड-के-झुण्ड नीड़ों को लौटने लगे थे। दिन-भर चरकर तृप्त हुआ हमारा गोधन यमुना-जल पीकर रँभाता हुआ लौट रहा था। पश्चिम दिशा में तेजोमय, आरक्त सूर्य-बिम्ब धीरे-से यमुना के पाट से आ मिला था।

एक अनामिका प्रेरणा से मैं चिल्लाया–"आज मेरे गोप-जीवन का आरम्भ हो गया है। अत: आज मैं तुम सबको एक नया खेल सिखानेवाला हूँ। मुझे विश्वास है, तुमको वह अवश्य भाएगा। किन्तु मैं जो कहूँगा वह काम प्रत्येक को करना होगा–झटपट!"

"कहो-कहो कन्हैया, क्या करना होगा हमें?" कोलाहल करते हुए सभी ने मेरी सूचना का

स्वागत किया।

"मैं और दाऊ यहीं रुकेंगे। तुममें से श्रीदामा, रुद्रसेन, स्तोक, भद्रसेन आदि को जितना आवश्यक होगा उतना जल कलश भर-भर के लाना होगा। तुममें से कुछ वन से ताजा शुभ्र-धवल पुष्प और ताजा बिल्व-त्रिदल ले आएँगे। कुछ लौटनेवाली गायों को रोककर गो-दोहन कर धारोष्ण दुग्ध के लोटे भर लाएँगे। शेष सभी हमारे साथ रहेंगे। चलो, अपने-अपने काम में जुट जाओ।"

सब इधर-उधर फैल गये। मेरे बताये काम में लग गये। मैंने और दाऊ ने यमुना-तट की उस रेतीली भूमि के एक स्वच्छ स्थल को चुना। बड़े-बड़े कंकर अलग कर, मृदु-महीन रेती को एकत्र कर पानी से हम उसे मलने लगे। हम जो कुछ बना रहे थे वह रात-भर ही विद्यमान रहनेवाला था। मैंने और दाऊ ने साथियों की सहायता से आनन-फानन में, अपनी कटि तक ऊँची रेत की शिव-पिण्डी बनायी–बैठे हुए नन्दी सहित! पिण्डी की जलहरी नगाड़े के आकार की थी। उसका सँकरा सिरा उत्तर दिशा की ओर रखा था। कितनी सुघड़ दिख रही थी वह शिव-प्रतिमा! लोटे के पानी से हमने हाथ धोये।

पश्चिम में धीरे-धीरे अस्त होती सूर्य-रेखा को साक्षी रख मैंने प्रथम दाऊ से उस पिण्डी पर दुग्धाभिषेक करने को कहा। उसके पीछे-पीछे मैंने और हमारे साथियों ने भी उस पिण्डी पर दुग्धाभिषेक किया। तत्पश्चात् हमने उस पर जलाभिषेक किया। मेरे कहने के अनुसार सभी साथियों ने शुभ्र पुष्प और बिल्व-पत्र पिण्डी पर अर्पित किये। हम सबने आँखें मूँदकर हाथ जोड़े। हम सभी के होंठ शिवमय हो गये–"शिवाकान्त शम्भो शशांकार्धमौले। महेशान शूलिन् जटाजूटधारिन्। त्वमेको जगद्व्यापको विश्वरूप। प्रसीद प्रसीद प्रभो पूर्णरूप।।" एक ही स्वर में सबकी शिव-स्तुति सम्पन्न हो गयी।

सूर्य-रेखा पूर्णत: अस्त हो गयी। कुछ देर बाद सर्वप्रथम आँखें खोलकर मैंने शिव-पिण्डी की ओर देखा। अब उसके केवल धुँधले से छोर दिखाई दे रहे थे। मैंने अपने साथियों से कहा, "दाऊ, मेरे मित्रो, हमारे आभीरभानु वंश के गोपालों ने प्राचीन समय से शिव को पूजा है। इस शिव-प्रतिमा की जलहरी स्त्री का प्रतीक है और पिण्डी पुरुष का! शिव अर्थात् शंकर। जो अशान्त मन को शान्त करता है, वह है शंकर! शान्ति के लिए ही वह आवश्यकता होने पर ताण्डव नृत्य भी करता है–वह अन्याय का विनाश करनेवाला होता है। शिव अनिष्ट के अन्त का देवता है।" सब सुनते ही रह गये। हमारे पुरोहित आभीरनन्द के किसी समय सुने शब्दों को ही मैंने दोहराया था–उसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं था।

प्रसन्न मन से हमने झटपट अपने कम्बल उठाये। दौड़धूप करते, अपनी लकुटियों को नचाते हुए हमने इधर-उधर फैले गोधन को एकत्र किया। उन्हें लेकर मैं और दाऊ अपने साथियों सहित गोकुल के पश्चिम द्वार की ओर लौटने लगे। मैंने अपने कम्बल की खोंक से वंशी निकाली और चलते-चलते सहज ही तन्मय होकर उस पर विविध धुनें अलापने लगा। वे गोपदों से उठी धूल के बादलों में और नीड़ों को लौटनेवाले पक्षियों के कलरव में लय होने लगीं। मेरी वंशी की तानें बढ़ने लगीं और अचानक किसी ने दौड़ते हुए आकर मेरे हाथ पकड़ लिये। वंशी-वादन अपने-आप रुक गया। मैंने अधखुली आँखें पूर्णत: खोलीं। वह एक गोप-स्त्री थी–गौरवर्ण, निरीह युवती! वह आयु में मुझसे बड़ी, ऊँची, सुडौल, अप्रतिम सुन्दरी थी। उसने गोपियों जैसे ही वस्त्र धारण किये थे। गोपदों से उड़नेवाली धूल से वह ठीक से दिखाई नहीं दे रही थी। मैंने कुतूहल से अपने साथियों से

पूछा–"कौन है यह?"

"यह रायाण अर्थात् अनय गोप की पत्नी राधा है। यह अपने मामा के गाँव अरिष्टग्राम से अपनी ससुराल गोकुल आयी है।" किसी ने कहा।

"कितना विकल कर दिया तूने कन्हैया, अपनी वंशी की धुन से!" कहते हुए राधा ने मेरे गालों पर हाथ फिराकर अपने कानों पर अँगुलियाँ चटकाते हुए मेरी नजर उतारी। बड़ी देर तक वंशी हाथ में वैसी की वैसी पकड़कर मैं ऐसे स्तब्ध रह गया–जैसे मैं अपने साथियों में था ही नहीं! उसके उस पहले ही स्पर्श में मेरी दोनों माताओं की ममता थी। मेरी छोटी बहन एकानंगा की निरीहता थी। और भी कुछ था, जिसे मैं शब्दों में पकड़ नहीं पाया। अत: उसे बताना भी सम्भव नहीं है।

बलराम भैया की ओर देखकर वह केवल मुस्करायी, किन्तु उनसे उसने कुछ बात नहीं की। मेरे कन्धे पर हाथ रखकर ही वह गोकुल के पश्चिम द्वार की ढलान की ओर चलने लगी–हम सबके साथ। चलते-चलते उसने कहा, "कन्हैया, तेरी मुरली की धुन सुनकर मुझे लगा कि मैं भी मुरली बन जाऊँ!"

जिस क्षण वह मुझसे आ मिली, मैं जान चुका कि यह तो मेरे शरीर का ही एक अंग है। अनजाने में ही मैंने अपना हाथ उसके मांसल, ऊष्मापूर्ण हाथ में दे दिया। उसने भी वह इस आवेग से पकड़ा जैसे भविष्य में वही मुझे चलानेवाली थी–मेरी वासनाहीन प्रिया बनकर, निरपेक्ष सखी बनकर! आज मेरी गोप-दीक्षा हो गयी थी और आज ही राधा मुझसे मिली थी। यह भी मुझे एक दीक्षा देनेवाली थी–सभी सम्बन्धों से परे–स्त्री कैसा निसर्ग तत्त्व है, कैसा निसर्ग सत्य है, इस ज्ञान की दीक्षा!!

गोधन कब का गोकुल में प्रवेश कर चुका था। सखाओं और दाऊ के साथ मैं भी गोकुल में पहुँचा–राधा सहित। अब तक उसका थामा हुआ आर्द्र हाथ मैंने छोड़ दिया। मेरे कन्धे हलके से थपथपाकर वह अपने घर चली गयी। उसको जाते देख, अध्ययन-अध्यापन में कुशल प्राणनन्द काका का बताया 'धा' शब्द का अर्थ मेरे मन में उभर आया–'धा' अर्थात् 'मोक्ष'। किन्तु 'रा' शब्द पर मैं अटक गया। हमने गायों को गोशाला में बाँध दिया। जल-पात्र से पानी लेकर पाँव धोये और उपद्वार से हम अपने आवास में आ गये। गोपवेश उतारकर यथास्थान रख दिया।

आते ही हँसते हुए मैंने बड़ी माँ को दो बातें बतायीं–"आज हमने यमुना-तट पर बहुत बड़ी शिव-पिण्डी बनायी थी–गीली रेती से। कुछ देर पहले ही मुझे राधा मिली थी–कितना मधुर है उसका कण्ठस्वर!"

नित्य की भाँति बड़ी माँ प्रसन्न मुस्करायी। पाक-गृह में ही हमारे भोजन के थाल सजाते हुए उसने कहा, "तू तो बड़ा बावला है कृष्ण! रेती की पिण्डी कितनी देर तक टिक पाएगी? और तू जिस राधा की बात कर रहा है, वह रायाण गोप की पत्नी है। तेरी मुरली ने उसे मोह लिया, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। कभी-कभी मैं भी व्याकुल हो जाती हूँ तेरी मुरली सुनकर। किन्तु कृष्ण, राधा से तू बच के ही रहना–उसका पति रायाण बड़ा ही क्रोधी है।"

हम भोजन करने बैठ गये। हाथ जोड़कर, आँखें मूँदकर हमने पूर्वजों का स्मरण किया। थाल के पास अन्न की चित्राहुति दी। थाल में रोटियाँ, दधि, दूध, अपूप और अन्य व्यंजन परोसे थे। दादाजी और काका भोजन कर चुके थे। वे अग्रशाला में बैठे थे। भोजन करने के पश्चात् हाथ धोकर

हम अग्रशाला में आ गये। सभी ज्येष्ठों की चरण-वन्दना कर हम दर्भासन पर बैठ गये। संगीत में पारंगत हमारे महानन्द काका ने गोपवाद्यों की संगत में कुछ गोपगीत गाये। दादाजी ने उनके समकालीन, हमारे वीर पूर्वजों के पराक्रम की कुछ रोमांचक कथाएँ सुनायीं।

उन्हें सुनने के लिए बड़ी माँ, छोटी माँ और सभी काकियाँ अग्रशाला के द्वार के पीछे आ बैठी थीं। अपनी-अपनी माता के पास हमारे ककेरे भाई-बहन, भी बैठे थे। नन्ही एका फुदकती हुई आकर मेरी गोद में बैठ गयी। अन्तत: बड़ी देर तक मन में रेंगता प्रश्न मैंने प्राणनन्द काका से पूछ ही लिया, "प्राण काका, 'रा' शब्द का अर्थ क्या है?" वे मेरे समीप ही बैठे थे। प्रेम से मेरी पीठ थपथपाते हुए उन्होंने मुस्कराकर कहा, "कान्हा, तुम तो सबको सब-कुछ देते रहते हो–आनन्द तो सदैव ही देते आये हो तुम! आज कुछ पाने की बात कैसे पूछ रहे हो? पुत्र, 'रा' का अर्थ है–लाभ हो–प्राप्त हो!"

मेरे मन में वंशी की एक धुन गूँज उठी–'रा' अर्थात् प्राप्त होना, 'धा' अर्थात् मोक्ष! 'राधा' अर्थात् मोक्षप्राप्ति हेतु व्याकुल जीव! दो घण्टे व्यतीत हुए। गोकुल की डौंडी पिटवाने की वेदिका से समय-पालक ने लौहथाल पर समय-सूचक ठोंके दिये। गोकुल में घर-घर के मिट्टी के–लकड़ी के तैल-दीप बुझने लगे। उनसे उठनेवाले कड़वे धुएँ के कारण घर के वृद्ध तनिक खाँसकर पुन: निद्राधीन हो गये। गोशाला में विश्राम करता गोधन मन्द-मन्द पगुराने लगा। वह चिन्तन-योग में मग्न हो गया। उनके गले की घण्टिकाओं का टुनटुनाता मधुर नाद गोकुल को थपकियाँ देने लगा। समस्त गोकुल ऊँघने लगा।

मुखिया-निवास के हमारे पुरोहित ने हाथ जोड़कर ऊँचे स्वर में प्रणव-नाद किया–'ॐऽऽऽ'। दादाजी के पीछे-पीछे सभी छोटों ने भी हाथ जोड़कर आँखें मूँद लीं। मैंने भी गोद में बैठी एका के हाथ अपनी अँजुली में लेकर आँखें बन्द कीं। मुखिया-निवास के बैठक-कक्ष में हमारे वंशजों की प्राचीन समय से चलती आयी सामूहिक ईश-प्रार्थना आरम्भ हो गयी–

'ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥'

–यह जगत् ईश्वर का निवास-स्थान है। इस सृष्टि में विद्यमान जो भी है, उसमें परमात्मा का वास है। अत: परमात्मा जो भी देंगे उसी का उपभोग कर–अन्य किसी के धन की इच्छा न कर। तत्पश्चात् सत्यदर्शन की प्रार्थी ऋग्वेद की अमर ऋचा का उच्चारण आरम्भ हुआ–

'ॐ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥'

–अर्थात् स्वर्ण की भाँति ज्योतिर्मय पात्र से आदित्य-मण्डल में स्थित 'ब्रह्म' का मुख आच्छादित है। मैं–जो ब्रह्म का उपासक हूँ–उसे 'ब्रह्म' की प्राप्ति हो इसलिए हे सूर्यदेव, उस आच्छादन को हटाकर आप मुझे सत्य का–ब्रह्म का दर्शन कराएँ।

बाहर–गोकुल के समय-दर्शक लौहथाल पर ठोंके पड़ ही रहे थे। गोशालाओं में विविध प्रकार की घण्टिकाओं के नाद भी गूँज रहे थे।...

शयन-कक्ष में शैया पर लेटते ही मेरे मन की गहराई में एक ही शब्द रेंगता रहा–'राऽधा'–मोक्षप्राप्ति के लिए तिलमिलानेवाला जीव! मेरे मन में केवल राधा थी!...किन्तु आज उसके द्वारा

थामा मेरा हाथ निद्रित बलराम भैया की पीठ पर था! बाहर समस्त गोकुल गाढ़ निद्रा में लीन था।

अगले दिन ब्राह्ममुहूर्त में केलिनन्द काका ने दाऊ को, मुझको और मेरे अन्य ककेरे भाइयों को जगाया। मुख-प्रक्षालन कर हम प्रातर्विधियों से निवृत्त हो गये। धारोष्ण दूध पीकर काका की सूचना के अनुसार, हम मुखिया-निवास के प्रांगण में आ गये। उन्होंने हम सबको कुछ सूचनाएँ दीं–विशेषत: मुझे और दाऊ को। नित्य ऐसा ही होता आया था। चित्रसेन दादाजी, नन्दबाबा, दोनों माताएँ, सभी काका-काकियाँ हम दोनों–मैं और दाऊ–के साथ अन्य सभी से अलग व्यवहार करते आये थे। हर बात में हम दोनों को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता था। किन्तु 'ऐसा क्यों?' इस प्रश्न का समाधानकारक उत्तर कोई भी नहीं दे रहा था। मन में उठनेवाले इन प्रश्नों की मार से कभी-कभी मैं झुँझला उठता था।

बलराम भैया का वर्ण रक्तिम-गौर है, मेरा ही नील-काला साँवला क्यों? केवल मुझे ही यमुना का इतना आकर्षण क्यों है? यादव-पुरोहित गर्ग मुनि बीच-बीच में यहाँ क्यों आते रहते हैं? मथुरा के महाराज उग्रसेन को कारागृह में डालनेवाला उनका पुत्र ऐसा क्यों हुआ? कंस के बन्दी बनाये वसुदेव-देवकी से मिलने की तीव्र इच्छा मेरे मन में क्यों उठती है? मथुरा जाने के लिए मेरा मन इतना उतावला क्यों हो रहा है? –मेरे इन प्रश्नों के उत्तर कभी नहीं मिल रहे थे। मथुरा से मेरा क्या नाता है? कल ही मुझसे मिली राधा के मन में मेरे प्रति इतना आकर्षण क्यों है? इन प्रश्नों के उत्तर भी मुझे कभी किसी से मिलनेवाले नहीं थे। मेरी ही भाँति दाऊ के मन में भी कुछ प्रश्न उभरते हैं कि नहीं? इस प्रश्न का उत्तर भी कोई देनेवाला नहीं था। अन्तत: अपने प्रश्नों के उत्तर स्वयं मैं ही दिया करता था–अपने-आप को! और जब वे सच निकलते थे, तब मैं मुस्कराता था– अपने-आप से!

आज केलिनन्द काका ने ब्राह्ममुहूर्त में ही हम सब भाइयों को मुखिया-निवास के उपद्वार से बाहर निकाला, –जैसे हम गोकुल के पूर्व द्वार से गोधन को बाहर निकालते थे! वे सीधे हमें गोकुल की व्यायामशाला में ले आये। गोकुल अभी जागा नहीं था। यमुना के पाट से आती हवा में सुखद शीतलता थी।

व्यायामशाला के द्वार के पास ही, व्यायाम के पश्चात् धूल से सने शरीर को स्वच्छ करने के लिए यमुना-जल से भरा पाषाण का प्रशस्त जलकुण्ड था। व्यायामशाला के चारों आलों के छिद्रों में खोंसे गये तैल के पलीते जल रहे थे। उनके पीले प्रकाश में व्यायामशाला प्रकाशित हो उठी थी–उसके मध्य प्रशस्त घेरवाला मण्डलाकार अखाड़ा बना हुआ था। उसमें फैलायी लाल मिट्टी चमक रही थी। तैल का छिड़काव कर, छाछ सींच-सींचकर गोप-मल्लों ने फावड़ों से गोड़-गोड़कर उसे भली-भाँति तैयार किया था। वे प्रतिदिन फावड़ों से उस मिट्टी को ऊपर-नीचे किया करते थे, उसे वे अखाड़ा गोड़ना कहते थे। सुदूर मगध की पर्वत-श्रेणियों की खान से नन्दबाबा अखाड़े की यह मिट्टी लाये थे। कूट-पीटने के बाद छानकर उस मिट्टी को अखाड़े में फैलाया गया था। चारों दिशाओं में भेजे गये नन्दबाबा के सेवकों द्वारा लाये यज्ञकुण्ड की पवित्र राख से भरी टोकरियाँ अखाड़े के चारों ओर रखी हुई थीं। अखाड़े में मल्लविद्या का अभ्यास करने के पश्चात् स्वेदसिक्त हुए मल्लों के शरीर को इस राख से सुखाया जाता था। यज्ञ के लिए उपयोग में लायी गयी विशिष्ट समिधाओं से बनी होने के कारण वह शरीर के लिए उपकारक होती थी।

व्यायामशाला में हमारी कुलदेवी इडा की गण्डकी पाषाण की सुघड़ मूर्ति देवासन पर

पूर्वाभिमुख स्थापित की गयी थी। काका के कहने के अनुसार हम सबने उसकी वन्दना की। काका को भी हमने प्रणाम किया। हमारे व्यायाम का आरम्भ हुआ। जोड़-बैठकें लगाते हुए 'हुंकार' की ध्वनियाँ गूँजने लगीं। मुदगर घुमाने से, मल्लखम्भ पर नीचे से ऊपर, ऊपर से नीचे चढ़ने-उतरने से होनेवाली 'चकाचक' ध्वनि से, भारी पाषाण-गोलों को उठाकर फेंकने से होनेवाली दनदनाहट से व्यायामशाला गूँज उठी और श्रम-स्वेद की प्रेरक, प्रोत्साहक गन्ध से महक उठी। हमारे शरीर जब तप गये तो काका ने पीछे से दाऊ को और मुझे एक-साथ ही अखाड़े में धकेल दिया। वे भी अखाड़े में उतरे। पीछे-पीछे अन्य साथी भी वहाँ आ गये। गेरुए रंग की अपनी धोती की हमने काछ कस ली। 'कक्षाबन्धन' कर हम तैयार हो गये। कई जोड़ियाँ अब अखाड़े में कूद पड़ीं। हमारे साथी ताल ठोंकते हुए स्पर्धापूर्वक एक-दूसरे से भिड़ गये।

केलिनन्द काका ने मेरी ग्रीवा पर हाथ डालकर एक बलाघातपूर्वक झटका दिया। मैं लड़खड़ाकर धड़ाम से उनके पैरों के पास मिट्टी में औंधे मुँह गिर पड़ा। ऐसा ही झटका देकर उन्होंने दाऊ को भी मिट्टी में पटक दिया था। नाक और मुँह में गयी मिट्टी को निकालकर हम खड़े हो ही रहे थे कि काका ने मेरी कनपटी के पास एक प्रबल झापड़ जड़ दिया। उसके धमाके के साथ ही मेरी आँखें बन्द हो गयीं और दिन-दहाड़े उन बन्द आँखों के सामने चाँद-तारे चमकने लगे! समस्त ब्रह्माण्ड मेरे आगे गरगर घूम गया। मेरी आँखों के आगे क्षणमात्र यशोदा और रोहिणी माता के सात्त्विक मुखमण्डल आ गये। यह अनुभव कुछ अलग था–अविस्मरणीय ही था।

अपनी गर्दन दायें-बायें झटककर मैं जैसे-तैसे खड़ा हुआ। तभी मेरे पीछे से आकर काका ने अपनी सशक्त टाँग से मेरी पिण्डली पर प्रबल प्रहार किया। छटपटाकर मैंने मिट्टी में घुटने टेक दिये। कुछ देर बाद काका मेरे निकट आ गये। प्रेम से मेरे कन्धे थपथपाते हुए मुझे ऊपर उठाकर, मेरे घुँघराले घने केशों को बिखराते हुए अत्यन्त ममता से उन्होंने कहा, "कान्हा, यमुना में कूदकर तुम अपने-आप तैरना कब सीख गये, किसी को पता नहीं चला। किन्तु यहाँ ऐसा नहीं चलेगा। यह मल्लविद्या है। पहले इस मिट्टी की नदी में तैरनेवाले का भय नष्ट होना आवश्यक होता है–हृदय का दृढ़ होना आवश्यक होता है! इसीलिए मैंने तुम पर ये प्रारम्भिक कठोर आघात किये हैं। ऐसे आघातों को तुम्हें प्रतिदिन सहना पड़ेगा। ऐसे ही प्रहार अपने प्रतिस्पर्धी पर करने में जब तुम सक्षम हो जाओगे, तभी तुम वास्तव में मल्ल बन पाओगे–निष्णात मल्ल बन जाओगे। सोचकर ही बता दो मुझे, क्या तुम तैयार हो इसके लिए?"

मेरा थामा हाथ उन्होंने अत्यन्त प्रेमपूर्वक दबाया। मैंने भी प्रेम से उनका हाथ दबाया और मुस्कराकर कहा, "मैं तो तैयार ही हूँ केलि काका–सदैव तैयार हूँ।" उन्होंने पैरों-तले बिछी मिट्टी मेरे और दाऊ के हाथ में दी–आह्वान करने के लिए! हम दोनों ने भुजाएँ ठोंककर एक-दूसरे का आह्वान किया।

केलिनन्द काका ने अपनी भुजाएँ ठोंककर हमें आँखों से ही संकेत किया। हमने भी पुन: भुजाएँ ठोंकी। अब हम एक-दूसरे के भाई नहीं थे–किसी के कुछ नहीं थे। थे केवल प्रतिस्पर्धी! हमारे साथियों ने भी भुजाएँ ठोंकीं। उत्साह और शक्ति से तड़ातड़-फटाफट ताल ठोंकने की जोरदार ध्वनियों से व्यायामशाला गूँज उठी। क्षण-भर में दाऊ और मैं एक-दूसरे से सिर भिड़ाकर, दाँत पीसते हुए स्पर्धापूर्वक लड़ने लगे। बीच-बीच में रोककर काका हमें मल्लविद्या के कील वज्रनिपात, अवरोध, बाहुकण्टक और अन्य जटिल दाँव-पेचों को उनकी सूक्ष्मताओं सहित

समझाने लगे।

हम कितनी देर तक एक-दूसरे से भिड़े रहे, इसका पता ही नहीं चला। हमारे शरीर पर से स्वेद-धाराएँ बहने लगीं। अखाड़े के किनारे रखी टोकरियों से पावन राख लाकर किसी-किसी ने हम दोनों की पीठ पर छिड़क दी। शरीर पर चिपकी मिट्टी के कारण हम होली के स्वाँग जैसे दिखने लगे। मूलत: मैं साँवला तो था ही, श्वेत-भूरी राख के लेप से तो मैं काल-रात्रि का काला भूत दिखने लगा! यदि इस समय प्रत्यक्ष यशोदा माता मुझे देखती तो वह भी भयभीत होकर चीख पड़ती।

डेढ़ घड़ी बाद अपनी पुष्ट भुजाएँ ठोंककर केलिनन्द काका ने मौन रहकर ही व्यायाम समाप्ति की घोषणा की। दाऊ, श्रान्त हुए मेरे ककेरे भाई और साथी स्वेद से लथपथ होकर अखाड़े में निश्चेष्ट लेटे रहे। मैं भी अखाड़े के बीचोंबीच औंधा लेटा रहा। मेरे और दाऊ के स्वदेसिक्त शरीर पर अखाड़े की स्निग्ध, मृदुल मिट्टी काका ने कब बिखेर दी, पता ही नहीं चला। आस्तरण जैसी उसकी ऊष्मा से बाहर निकलने की इच्छा ही नहीं हो रही थी। यमुना में मुक्त मन से तैरते समय उसने मुझे समझाया था कि 'जल' क्या होता है! यमुना में तैरते समय सूर्य की ओर एकटक देखने से मैं जान गया था कि 'तेज' क्या होता है! आज अखाड़े की यह संस्कारित मिट्टी मेरे कानों में—नितान्त मौन रहकर भी कह रही थी कि 'मिट्टी' क्या होती है! पृथ्वी क्या होती है!

गोकुल में व्यतीत होते हमारे दिनों को अब मोरपंख फूटने लगे! शीघ्र ही कितना बड़ा विस्तार हो गया उनका! प्रत्येक पंख पर भिन्न-भिन्न आँखें और अनगिनत आँखोंवाले अनगिनत पंख!

गोकुल का एक भी घर ऐसा नहीं था, जो हमें पता नहीं था। किसी भी घर का गोरस-कक्ष ऐसा नहीं था, जिस पर अपने चुने हुए साथियों सहित दाऊ और मैंने छापा नहीं मारा था। अपने मुखिया-निवास में ढेर सारा दधि, दूध, नवनीत होते भी क्यों घुस रहे थे हम गोकुल के घर-घर में! इसलिए कि समस्त गोकुल ही हमें एक घर लग रहा था—अपना ही! मेरी प्रबल इच्छा थी कि सबको ऐसा ही लगे। मेरा हठ था, निदिध्यास था कि कोई भी 'तेरा-मेरा' न माने—न समझे। यहाँ का कोई भी गोपदम्पती मेरा अपरिचित नहीं था। यहाँ के बालक और बालिकाएँ मुझे और दाऊ को अपने ककेरे भाइयों जैसे—अपनी 'एका' जैसे ही लगते थे।

जैसे-जैसे जल, मिट्टी, आकाश और प्रकाश का हमारे रक्त की बूँद-बूँद से घनिष्ठ परिचय होता गया, गोकुल की संरक्षक बाड़ के अन्दर के और बाहर के हमारे क्रीड़ा-प्रकार दिन-प्रतिदिन बढ़ते गये। उनकी कोई सीमा ही नहीं रही। कहना चाहूँ तो उनकी एक बहुत बड़ी रामायण ही होगी—समाप्त न होनेवाले विराट् काण्डों की! किन्तु उनमें से कुछ विशिष्ट घटनाओं को मैं कभी नहीं भूल पाया। उन्हें तो बताना ही होगा। 'जैसा कन-भर वैसा ही मन-भर' इस उक्ति के अनुसार हमारी शरारतों, क्रीड़ाओं का अनुमान लगाया जा सकता है।

पूरे गोकुल में उत्पात मचानेवाली हमारी टोली ने कभी-कभी सबको हतबुद्धि कर डाला था। छींके में ऊँचाई पर रखा गोरस, दधि, नवनीत सीधे हमारे ही मुख में गिरे, इसके लिए हम भाँति-भाँति की युक्तियाँ लड़ाते थे। आँख में तैल डालकर अत्यन्त सावधानी से अपने घर के गोरस का ध्यान रखनेवाली गोपी घर से बाहर चली जाए और उसका घर हमारे लिए खुला हो जाए, इस हेतु हम प्रकारान्तर से बुद्धि के पलीते जलाया करते थे! हममें से कोई दौड़ता हुआ उसके घर जाकर

उसे विचलित करनेवाली बुरी खबर देता था–'मौसी, आपके प्राणप्रिय पति यमुना-तट पर ऊँचे वृक्ष से गिर पड़े हैं।' दूसरा कोई ऐसी ही अन्य गोपी के घर जाकर कहता था–'काकी, आपका अत्यन्त लाडला पुत्र यमुना में गिर पड़ा है।' वे गोपियाँ भयभीत होकर चीखती-चिल्लाती, वक्ष पीटती हुई यमुना की ओर दौड़ने लगती थीं। फिर उस खुले घर में हमारा ही राज होता था। छींका अधिक ऊँचाई पर न होता तो हमारी लकुटी के आघात से टूटकर गोरस की धारा सीधे हमारे मुख में आ जाती थी। यदि छींका अधिक ऊँचाई पर होता तो दो सशक्त साथियों को घुटने टेककर नीचे बिठाकर अन्य साथी उसी प्रकार एक के ऊपर एक बैठ जाते थे। दाऊ और मैं उन सीढ़ियों से ऊपर चढ़कर दधि, नवनीत पर हाथ मारते थे और उसे अपने साथियों तक पहुँचाते थे।

ग्रीष्म ऋतु में कभी घर के आँगन में–खुली हवा में पति-पत्नी चारपाइयों पर सोये हुए होते थे। मैं और दाऊ हलके हाथों से पति की लम्बी दाढ़ी और पत्नी की नागिन जैसी लम्बी चोटी को कसकर गाँठ लगाते थे। हमारे कुछ साथी पंचम-सप्तक सुर में खर्राटे भरनेवाले गोप की चारपाई हलके से उठाकर चुपके से सीधे पश्चिम महाद्वार के पास रख आते थे। हमारे इन उत्पातों से समस्त गोकुल झुँझला उठा था। प्रतिदिन चढ़ते क्रम से अविवाहिता, युवा विवाहिता, मध्यमवयस्का, वयस्का, प्रौढ़ा गोपियों के झुण्ड-के-झुण्ड तनतनाते हुए मुखिया-निवास पर आ धमकने लगे। कोलाहल करती, एक-दूसरे से बड़बड़ाती हुई वे उलाहना देने लगीं। झुँझलाकर पूछने लगीं–"यशोदा! रोहिणीऽ!–हम गोकुल में रहें या कि यहाँ से मुँह काला कर चले जाएँ? तुम अपने बच्चों को रोकोगी कि नहीं? तुम्हारे लाड़-दुलार से उद्दण्ड बने इन नटखट लड़कों ने ऊधम मचा रखा है।"

दोनों माताएँ गिड़गिड़ाकर, उन्हें समझा-समझाकर थक जाती थीं। अन्तत: अपना विशिष्ट प्रभावी अस्त्र निकालती थीं, "अब हम ही कृष्ण-बलराम को गोकुल से निकालकर बाहर कर देती हैं–कहीं-किसी दूर के गोकुल में! हम भी ऊब गये हैं उनकी इन शरारतों से!"

हेमगर्भ की यह औषधि उलाहना देनेवाली उन गोपियों पर अचूक प्रभाव करती थी। उनकी चढ़ी हुई आवाजें क्षण-भर में अपने-आप नीचे आ जाती थीं। वे आपस में फुसफुसाने लगतीं–"हम ऐसा तो नहीं कह रही हैं; किन्तु बच्चों को कुछ तो मर्यादा में रहना चाहिए।"

दोनों माताओं का दिया दूध-छाछ पीकर कुछ अन्य ही बातें करती हुई, मुस्कराती हुई वे चली जातीं। 'बलराम-किशन, राम-श्याम' के बारे में फुसफुसाती हुई वे हमारे आवास से बाहर निकलती थीं। घर के अन्तर्भाग के द्वार की आड़ से उन्हें देखते हुए वे हमें गोकुल के पूर्वद्वार से बाहर निकलती गायों के झुण्ड जैसी ही लगती थीं–निष्पाप, निरीह!

कभी-कभी राधा का पति रायाण क्रोध से विक्षिप्त हो उठता था। हाथ चमकाता हुआ, भौंहें तानकर, आँखें तरेरकर झुँझलाता हुआ वह मुखिया-निवास में आता था। बाहर चौक में ही खड़ा रहकर अपनी घुँघरूवाली लकुटी भूमि पर दनादन ठोंकता हुआ वह बड़बड़ाता था, "मेरा तो जीवन ही नष्ट कर दिया है तुम्हारे कपूत ने! मेरी पत्नी को तो मुरली बजा-बजाकर वश में कर लिया है उसने! तुम उस पर रोक लगाओ–अन्यथा एक दिन मैं ही उसे फेंक दूँगा यमुना के दह में और राधा को भेज दूँगा अरिष्टग्राम–उसके मायके!"

"रायाण जी! राधा कितनी बड़ी है और मेरा कन्हैया तो अभी छोटा है! कैसी बातें कर रहे हैं आप! हम क्या करें–आप ही अपनी घरवाली पर रोक क्यों नहीं लगाते? नहीं है हमारा साँवला

हमारे वश में! आप चाहें तो अवश्य उसे यमुना के दह में फेंक सकते हैं। हम तनिक भी विरोध नहीं करेंगे।" बड़ी माँ अपना निर्णय सुनाकर झूठमूठ की झुँझलाहट दिखाते हुए आँगन में चक्कर काटती रहती थी।

निरुत्तर होकर रायाण अपने-आप से 'नीच-काली करनीवाला!' बुदबुदाता हुआ, ग्रीवा झटककर, पैर पटकता हुआ चला जाता था।

जब बड़ी माँ को विश्वास होता था कि वह चला गया है, आँचल का छोर मुँह से लगाकर किलककर हँसती हुई वह छोटी माँ से कहती थी–"बड़ा ही पागल है यह राधा का पति! यदि यह सौ बार भी कन्हैया को यमुना के दह में फेंक दे तो भी क्या होगा कन्हैया को? वह तो दिन-भर यमुना में डुबकियाँ लगाता रहता है।" फिर वे दोनों वहाँ अन्य किसी के न होते हुए भी आँचल से मुँह ढँककर मर्यादापूर्वक दबी-दबी हँसती रहती थीं।

यमुना-तट की रेती के कण-कण पर मेरे और दाऊ के पदचिह्न अंकित हो गये। सुदूर फैली गोचरभूमि पर उगी घास के तिनके-तिनके को हमारा घनिष्ठ परिचय प्राप्त हो गया। ऊपर फैले नीले आकाश के नीचे, यमुना-तट के परिसर में कितने खेल खेले होंगे हमने! उसकी कोई सीमा नहीं–कोई अन्त नहीं। आकाश में उड़ते पक्षियों की यमुना-तट की रेती में पड़नेवाली मायावी हिलती परछाइयों को पकड़ने के लिए मैंने और दाऊ ने कितनी बार दौड़ लगायी थी! वृक्षों पर स्वैर छलाँगें लगानेवाले वानरों को दाँत बिचकाकर मुँह चिढ़ाया था। ग्रीष्म ऋतु में ऊँचे स्वर में कूकनेवाले, घनी झाड़ियों से दिखाई न देनेवाले नर कोयल की कूक का हमने ऊँची आवाज में अनुसरण किया था–'कुहूऽ कुहूऽ!–कितना कूकोगे–कुहू कुहू– किसलिए? अपनी सहचरी के लिए?'

सम्प्रति हमारे सुन्दर-सलोने गोकुल पर एक के बाद एक विपत्तियाँ आने लगी थीं। एक दिन अचानक विकराल जबड़ेवाला एक वनगर्दभ हमारी गोचरभूमि में आ धमका। लहराती घास के भी रोएँ खड़े हो जाएँ इस प्रकार वह जोर से रेंकने लगा। उसे नथुने फुलाकर अपनी ही ओर दौड़ते आते देख हमारा गोधन भयभीत हो गया। हमारी गायें भय से अस्त-व्यस्त चौकड़ियाँ भरने लगीं। हमारे गोप-सखा भी कन्धे पर पड़े कम्बल को सँभालते हुए डर के मारे जोर-जोर से चिल्लाने लगे–"हे कृऽष्ण राऽम दौड़ोऽऽ कन्हैयाऽ संकूभैयाऽ शीघ्र दौड़ोऽ!"

मैं और दाऊ जहाँ थे वहीं से अत्यन्त शीघ्रगति से उस ओर दौड़ पड़े। अपनी सारी सामर्थ्य और कुशलता दाँव पर लगाकर हम उस भारी-भरकम वनगर्दभ से भिड़ गये। घटिका-भर टक्कर लेकर हमने उसको समाप्त कर डाला। वहाँ उपस्थित सभी आनन्द-विभोर गोप हमारी जय-जयकार करते हुए, हमें कन्धों पर उठाकर बाजे-गाजे के साथ गोकुल ले गये।

इसी प्रकार एक बार अनियन्त्रित हुआ, बौराया हुआ एक अश्व चौकड़ियाँ भरता हुआ–हिनहिनाता हुआ–गोकुल की गोचरभूमि में घुस आया। हम दोनों भाइयों ने निर्भयता से उसका सामना करते हुए उसे ठिकाने लगा दिया।

हमारे इन पराक्रमों की सूचनाएँ ब्रजभूमि के अन्य सभी गोकुलों में अपने-आप फैल गयीं। उन गोकुलों से प्रसन्न हुए गोपालों के झुण्ड बड़ी उत्सुकता से हमारे गोकुल में आने लगे। वे दादाजी, नन्दबाबा और हमारे काकाओं से हमारे विषय में भिन्न-भिन्न प्रश्न पूछने लगे। उनमें से कुछ तो सीधे हमारे चरान में आकर हमसे मिलने लगे। उसी समय दूर यमुना के एक गहरे दह में एक

बहुत बड़ा सर्प गोपालों को और गायों को सन्त्रस्त कर रहा है, इसकी सूचना हमें मिल गयी। अजगर की भाँति वह बहुत लम्बा था। उसको केवल फुफकारते देखकर ही देखनेवाले की सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती थी। वह प्रचण्ड सर्प कभी सघन चरान-वनों में तो कभी यमुना के दह में छिप जाता था। हमने उसकी टोह लगाकर उसकी गतिविधियों का पता कर लिया।

एक दिन उसकी टोह लेने के लिए मैं उस दह के पास गया था। ऐन दोपहर का समय था वह। दह से बाहर आकर वह सर्प घने चरान में घुस गया। सम्भवत: उसे कोई आखेट मिला हो! उसे निगलकर वह चरान में ही सुस्त पड़ा था। अवसर अच्छा था। मैंने कटिवस्त्र में बँधी एक विशिष्ट पत्थर की दो चिप्पियाँ निकालीं। उनका एक-दूसरे पर प्रहार कर मैंने सूखी घास पर चिनगारियाँ डालीं। घास धुँधकने लगी। फूँक-फूँककर मैंने उसे सुलगाया। आनन-फानन में ही गगनगामी बड़वाग्नि भड़क उठी। चिलचिलाती धूप में बड़वाग्नि की पीली लपटें उठने लगीं। बाल-बच्चों सहित समस्त गोकुल आक्रोश करता हुआ यमुना की दह की ओर दौड़ने लगा। बड़वानल में झुलसा हुआ वह भयानक सर्प अपने शरीर को विचित्र प्रकार से मरोड़ता, फुफकारता, रेंगता हुआ उस आग से बाहर निकला। दह के तट पर जिह्वा फैलाकर वह निष्प्राण हो गया।

दूर से वक्ष पीटते दौड़ी चली आयी बड़ी माँ ने मुझे सुरक्षित देखकर आवेग से अपने आलिंगन में कस लिया!

मुझे बार-बार चूमते हुए वह बड़बड़ाती रही–"मरने दो उस सर्प को! मर ही गया मुआ! चलो, घर चलें कान्हा!" उसके पीछे-पीछे आयी छोटी माँ, दादाजी, बाबा सभी काका-काकी और ककेरे भाई-बहन मुझे हाथ लगाकर अपने-आप को विश्वास दिला रहे थे कि मैं यमुना में डूब नहीं गया हूँ! मेरे साथियों में से चारों ने मुझे झट से कन्धे पर उठा लिया। दाऊ सहित वे सभी सहर्ष नाचते-गाते गोकुल की ओर चल पड़े। किसी ने कण्ठनाल फुलाकर चैतन्यदायी घोषणा की–'गोपराज कृष्ण की...जय हो'। उन्होंने पुन: घोषणा की–'नन्दनन्दन कृष्ण-कन्हैया की जय हो।'

पीछे-पीछे बलराम भैया सहित सभी साथी और भाई-बहनों का आनन्दविभोर झुण्ड चलने लगा। उनके पीछे मेरी दोनों माताएँ, दादाजी सहित अन्य सभी ज्येष्ठ और समस्त गोकुलवासी जन थे–हर्षोन्मत्त!

यमुना-दह के सर्प का यह समाचार वायु पर आरूढ़ होकर सम्पूर्ण ब्रजभूमि में फैल गया। आसपास के अन्य गोकुलों से आनेवाले गोपालों की भीड़ मुखिया-निवास पर जमा होने लगी। उनका स्वागत करते-करते हमारी दोनों माताएँ, सभी काकियाँ, सेवक-सेविकाएँ श्रान्त होने लगीं।

हम सब गोकुल में बड़े आनन्द से रह रहे थे। किन्तु यह आनन्द दीर्घ समय तक टिक नहीं पाया। गोकुल पर एक संयुक्त विपत्ति आ पड़ी–वन्य पशुओं की और प्रकृति की! हमारी संरक्षक बाड़ के बाहर गोचरभूमि में चरते गोधन पर वन से निकलकर बुभुक्षित बाघ, भेड़िये, लकड़बग्घे दिन-दहाड़े टूट पड़ने लगे। कभी-कभी वे जिह्वा लपलपाते हुए बाड़ के चारों ओर चक्कर काटने लगे। हमारे प्रशिक्षित श्वानों के भूँक-भूँककर किये कड़े प्रतिकार से भी वे डरते नहीं थे।

कभी किसी भूले-भटके बछड़े पर झपटकर बाघ उसे वन में घसीट ले जाने का प्रयास करता था। उसे देख गोधन की देखरेख करनेवाले गोप दौड़ते हुए आकर बाबा को सूचना देते थे। मेरे निर्भय नन्दबाबा वस्त्र की काछ कसकर, अग्रशाला के आले से सुदृढ़ दण्डवाला भाला उठाकर,

अन्य किसी के आने की प्रतीक्षा न करते हुए चरान की ओर बाण के वेग से दौड़ पड़ते थे। 'अरे दौड़ोऽ दौड़ोऽ–हमारे बछड़े को उस बैरी बाघ ने दबोच लिया है–' दौड़ते-दौड़ते वे चिल्लाते थे। अन्य सभी गोप भी उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगते थे।

अचूक लक्ष्य साधकर बाबा उस बाघ पर लम्बे फलवाला भाला फेंककर उसको आहत कर देते थे। उसे बछड़े को छोड़ने पर विवश कर देते थे। फिर उस अर्धमृत, आहत बछड़े को हलके से अपने हाथों के झूले में उठाकर उसे मुखिया-निवास पर ले आते थे। वनस्पति-औषधियों से उसकी चिकित्सा करते थे। यह सब देखकर मुझे बाबा पर गर्व होता था।

गोकुल की सुरक्षा के उनके सारे उपाय अपर्याप्त ही ठहरे। बाघ, भेड़िये और लकड़बग्घों ने गोकुल को त्रस्त कर डाला। गोकुल के आसपास की गोचरभूमि पर उगनेवाली घास भी अब हमारे गोधन को कम पड़ने लगी। अब एक वर्ष पर्यन्त तो इस भूमि को छोड़ देना ही उचित था। अपने प्राणप्रिय गोकुल को छोड़कर अब हमें अन्य स्थान ढूँढ़ना था। दूसरा गोकुल बसाना था। मेरे जीवन में प्राणप्रिय स्थान को त्यागने का यह पहला अवसर था।

बाबा के नेतृत्व में मुखिया-निवास में बैठक बुलायी गयी। अनुकूल-प्रतिकूल, सभी प्रकार से विचार-विमर्श किया गया। गोकुल में पीछे रह जानेवाले लोगों का, धन और घरों का क्या प्रबन्ध किया जाए, यह निश्चित किया गया। नया गोकुल बसाने के लिए हमारे ज्येष्ठों ने घूम-घूमकर उचित स्थान ढूँढ़ लिया। इस स्थान को नाम देने के लिए सबने मुझसे ही परामर्श पूछा। इस भूमि पर सर्वत्र सघन वन फैले हुए थे। वनों का वह एक समूह ही था। अत: मैंने उस स्थान का नामकरण किया–वृन्दावन! सभी को वह भा गया। कुछ ज्येष्ठ गोपालों ने पहले वहाँ पहुँचकर लकड़ी की एक संरक्षक बाड़ भी बना ली। पुरोहितों के बताए शुभ-दिन पर गोकुल के पूर्व महाद्वार से वृषभरथों के दल चल पड़े। वे मटके, घड़े, मथानियाँ, ऊखल, पगहे, छींके, टोकरे, वस्त्रों की गठरियाँ, पेटिका आदि से खचाखच भरे हुए थे।

सबके बाद हमारा मुखिया परिवार गोकुल से निकल पड़ा। तब मेरी आयु थी बारह वर्ष की। दाऊ मुझसे एक वर्ष बड़े होंगे। बड़ी माँ ने मेरा बायाँ हाथ थामा था, छोटी माँ ने दाऊ का। नन्ही एका बड़ी काकी की गोद में बैठी थी। गोकुल के पूर्व द्वार को वन्दन कर हमने वृन्दावन की ओर प्रस्थान किया–अपने प्राणप्रिय गोकुल को छोड़कर! कहीं से दौड़कर चली आयी राधा ने बड़े प्रेम से मेरा दाहिना हाथ थाम लिया। हमारे पीछे दादाजी को सँभालते हुए नन्दबाबा, उनके नित्य के सहायक सभी काका, काकी, ककेरे भाई-बहन थे। हमारा आभीरभानु वंश का गोप-समूह चल पड़ा–नयी बस्ती की ओर–नये गोप-जीवन की ओर–गोकुल से वृन्दावन की ओर!!

वृन्दावन! क्या प्रत्येक व्यक्ति के अन्त:करण में एक भाव-वृन्दावन नहीं होता? किन्तु मेरा यह वृन्दावन कुछ अलग ही था। कैसे करूँ उसका वर्णन! उसके जैसा केवल वही था। यहाँ के घर, मार्ग, हमारा आवास–सब-कुछ गोकल का ही प्रतिरूप था। हमारा मुखिया-निवास केवल चार कक्षोंवाला था–वह भी वन्य घास की छाजनवाला। यहाँ भी शिव-मन्दिर था, व्यायामशाला थी। वृन्दावन के पश्चिम में भाँति-भाँति के वृक्ष, पक्षियों से सम्पन्न सघन मधुवन था। इस प्रमुख वन से लगे हुए आम्रवन, केतकवन, कीकरवन, चम्पकवन आदि उप-वन थे। वृन्दावन की बाड़ के बाहर घास के लहलहाते चरान थे। उनको यमुना ने डौलदार अर्धचन्द्राकार घेरा डाल दिया था।

इन सबके मध्य बसा हृत्कमल जैसा वृन्दावन तो प्रकृति की सुषमा के सम्पुट में शोभित

मरकत ही था! यहाँ चम्पक, जामुन, औदुम्बर, आम्र, साग, हलके नीले-हरे मोटे पर्णोंवाले कदम्ब-वृक्षों की वाटिकाएँ-ही-वाटिकाएँ फैली हुई थीं। भरद्वाज, चातक, चण्डोल, मयूर, कोकिल आदि पक्षियों के कलरव से वे गूंजित हो उठती थीं। उनमें कहीं झिरझिर बहते स्वच्छ, स्फटिक-शुभ्र जल के झरने थे, तो कहीं रात-दिन निरन्तर धुआँधार गिरते छोटे-बड़े प्रपात थे। उन प्रपातों की वेगवान धाराओं के नीचे हम मस्तक को पानी के ऊपर रखते हुए, एक ही स्थान पर तैरते रहना सीख गये। इस अभ्यास से हम पानी के वेग की तीव्रता को भली-भाँति जान पाये। ऊपर फैला आकाश तो मोरपंख के रस में ढाला-सा नीला–गहरा नीला था!

वृन्दावन को प्राप्त सबसे सुन्दर देन उसकी पूर्व दिशा में थी। संरक्षक बाड़ के समीपवाले चरान से सटा हुआ एक विशाल भाण्डीर (बरगद) वृक्ष था। सैकड़ों गोलाकार फैली टहनियों और गहरे हरे पर्णों से आच्छादित। सात-आठ गोपालों द्वारा हाथ से घेरा बनाने पर भी उनकी पकड़ में न आनेवाला उसका विशाल तना गाँठदार था। उसके चतुर्दिक् हमारे गोप-सखाओं ने बैठने के लिए पाषाण की वेदिकाएँ बनवायी थीं।

यह वृक्ष ब्रजभूमि के अठारह गोकुलों में प्रसिद्ध था। किसी विशालकाय महापुरुष अथवा वास्तुपुरुष की भाँति दिखता था वह विशाल भाण्डीर-वृक्ष! ब्रज के सारे गोप उसके विषय में आदरपूर्वक बात करते थे। वे उसे अपना प्राचीन कुलपुरुष ही माना करते थे। उस वृक्ष के आगे ऊँचे-ऊँचे गगनगामी शिखरोंवाला आड़ा फैला हुआ भव्य पर्वत था। सभी गोकुल उसको इन्द्रपर्वत कहा करते थे। उस पर्वत के अत्युच्च शिखर पर एक विशाल मन्दिर में पाषाण की बनी एक भव्य, ऊँची इन्द्र की मूर्ति स्थापित की गयी थी। वह आकाश का स्वामी है, यह दिखाने के लिए उसके पैरोंतले पत्थरों में विशाल मेघों की आकृतियाँ खुदवायी गयी थीं। वर्षा ऋतु आरम्भ होने से पहले उस पर्वत पर बड़ा इन्द्रोत्सव मनाया जाता था। पर्वत के स्वामी इन्द्र को किसी ने प्रत्यक्ष देखा तो नहीं था, किन्तु पीढ़ियों के संस्कारों के कारण गोपालों पर उसकी धाक अवश्य जमी हुई थी। वे उत्सव के अतिरिक्त उस पर्वत पर पाँव रखने का साहस नहीं करते थे।

पर्वत की पादभूमि में हमारी जो गोचरभूमि थी, उसमें एक विचित्र जाति के उपद्रवी सर्प पाये जाते थे। उन्हें हम पदबन्धक सर्प कहा करते थे। उन धूर्त सर्पों की एक विचित्र-सी आदत थी। चरनेवाली गायों के झुण्ड से अलग हुई किसी भूली-भटकी गाय की घात में रहते थे वे। उस गाय के पिछले दो पैरों को अपने शरीर के पाश में जकड़कर, उसके दूध-भरे थन को अपने मुँह में पकड़कर वह चुरचुर दूध पीने लगता था। पहले तो गाय को लगता था कि उसका बछड़ा ही दूध पी रहा है, अत: उसे चाटने हेतु वह गोल-गोल फिरने लगती थी। उसे न पाकर हताश होकर वह थकी-सी खड़ी हो जाती थी। उस दौरान वह पदबन्धक सर्प शान्ति से यथेच्छ दूध पीने के पश्चात् ही अपना पाश ढीला करता था। तब तक वह असहाय गाय भयभीत, अर्धमृत-सी हो जाती थी। सर्पबन्ध में फँसी गायों को उस बन्धन से मुक्त करने का एक उपाय मैंने ढूँढ़ लिया। जहाँ जीवन रुक जाएगा–अवरुद्ध हो जाएगा, वहाँ बीच की बाधा को हटाकर जीवन को मुक्त करना, गतिमान करना, यही तो मेरा जीवन-कार्य था! दूर कहीं भी कोई गाय गरगर फिरती दिखाई देती थी, तो मैं भाँप लेता था कि अवश्य ही वह पदबन्धक सर्प के बन्धन में फँस गयी है। उसे देखते ही मैं वंशी पर एक विशिष्ट कम्पनयुक्त धुन बजाने लगता था। मेरे गोपालों को वह विपत्ति-सूचक संकेत ही हुआ करता था। वे जहाँ भी होते थे, वहाँ से मेरी ओर देखने लगते थे। मेरी तर्जनी के संकेत की दिशा में वे अपनी-अपनी लकुटियाँ उठाये 'ठहर जा नीच!' चिल्लाते हुए दौड़ पड़ते थे।

पदबन्धक सर्प के प्राणघाती पाश से वे उस भयभीत, विवश गाय को छुड़ाते थे। लकुटियों से कुचले उस सर्प को वे सूखी घास की जलती चिता में जला देते थे।

कभी-कभी उस अग्नि के धुएँ से इन्द्रपर्वत की कन्दरा में लटकते, सूप के आकार के मधुमक्खियों के छत्ते में हलचल मच जाती थी। जब से हम वृन्दावन आये थे, मुझे स्वयं को भूलकर इन छत्तों को घटिका-घटिका-भर देखते रहने का चसका लग गया था। ये छत्ते मुझे अत्यन्त प्रिय हो गये थे। आदर्श जीवन का प्रतीक थे वे छत्ते। यद्यपि मधुमक्खियाँ मधु बटोरने हेतु गुंजार करती हुई वृन्दावन में कहाँ-कहाँ घूमती थीं, किन्तु मधु लेकर आती थीं वे अचूक अपने-अपने छत्ते में! सहस्रों की संख्या में होते हुए भी वे कभी आपस में लड़ती-झगड़ती नहीं थीं। रात-भर वहीं पर वे विश्राम करती थीं–मिल-जुलकर। उनकी अगली पीढ़ी छत्ते में ही जन्म लेती थी। वह बसा-बसाया छत्ता कन्दरा में कई वर्ष पर्यन्त बड़े ठाठ से लटकता रहता था। ...मधुमक्खी की भाँति मनुष्य भी हर-सम्भव प्रयास कर जीवन में श्रेयस का मधु बटोर ले, उसे अपने छत्ते के उपयोग में लाये–कितना सरल था सब-कुछ! वृन्दावन की मधुमक्खियों द्वारा मुझे प्राप्त अमूल्य विचार था यह!...

वर्षा ऋतु आरम्भ होने से पहले वृन्दावन में इन्द्रपर्वत पर मनाये जानेवाले इन्द्रोत्सव पर विचार-विमर्श करने के लिए गोपसभा बुलायी गयी। देर तक चलती रही वह। नन्दबाबा, दादाजी, काका, वृन्दावन के कुछ ज्येष्ठ गोप–सभी ने इस विषय में अपने-अपने विचार बताये। सभी का एक ही सुर था–इन्द्रोत्सव में किस प्रकार सज-धजकर जाया जाए–इन्द्र को गोरस, दधि, घृत के कितने घड़ों का भोग चढ़ाया जाए–आदि। सबके विचार मैंने शान्ति से सुन लिये। अन्त में मैंने अपने विचार उद्घाटित किये। सभी ज्येष्ठ जनों का निश्चयपूर्वक विरोध करने का मेरे जीवन का यह प्रथम कठोर अवसर था। मैंने निश्चयपूर्वक कहा, "इन्द्र को किसी भी प्रकार का भोग नहीं चढ़ाया जाएगा। कौन है यह इन्द्र? क्यों मानें उसकी धाक? इसके बाद भविष्य में कभी भी इन्द्रोत्सव नहीं मनाया जाएगा। यह इन्द्रपर्वत नहीं है, गोपालों का पर्वत है। इन्द्रोत्सव के लिए यदि आप जाना चाहते हैं तो अवश्य जा सकते हैं–मुझे छोड़कर, मेरी उपेक्षा कर। मैं तो नहीं जाऊँगा।"

मेरे शरीर के रक्त की एक-एक बूँद उस समय उत्तेजित हो उठी। एक अदम्य आत्मविश्वास से मेरा मन लबालब भर गया। मेरा श्वास बढ़ गया। यह अनुभूति नितान्त अलग थी। मुझे अन्तःकरण की गहराई में प्रतीत हुआ कि अभी-अभी जिसने कुछ कहा वह इन गोपालों का किशन था ही नहीं–कोई दूसरा ही था वह। मेरा यह रूप किसी ने इसके पूर्व कभी देखा नहीं था। वे अवाक् हो गये–देखते ही रह गये। मेरी आँखों से व्यक्त होनेवाले भावों को जानने की शक्ति केवल दाऊ को प्राप्त थी। उन्होंने निश्चयपूर्वक मेरा समर्थन किया–"कृष्ण का कहना उचित है। किसी के आतंक से दबकर हम कभी सुख-सन्तोष प्राप्त नहीं कर सकते।"

"मैं इन्द्रोत्सव को समाप्त कर देना चाहता हूँ–इन्द्रपर्वत को इन्द्र के आतंक से मुक्त करना चाहता हूँ। क्या आप सभी मुझे समर्थन देंगे?" मैंने किसी को भी सोचने का अवसर ही न देते हुए पूछा। अब तक मैं जान चुका था कि सोचने का अवसर मिलने पर किसी भी कार्य में लोग काल्पनिक रुकावटें खड़ी कर देते हैं। दूर के, पराये लोग तो यह करते ही हैं, किन्तु अपने भी यही करते हैं।

मेरे शब्दों को जानने की दृष्टि अब नन्दबाबा को भी प्राप्त हो गयी थी। वृन्दावन की गोपसभा का अन्तिम निर्णय उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया–"कृष्ण जो कहेगा, वही होगा–केवल इस समय ही नहीं, भविष्य में भी! इन्द्रपर्वत के मण्डलाधिकारी वसुदेव महाराज हैं–किन्तु वे तो मथुरा में कंस के कारागृह में हैं। मैं उनका सेवक–उपमण्डलाधिकारी हूँ। मैं केवल यही सोच रहा था, यदि वे उपस्थित होते तो क्या निर्णय लेते?"

"सब यही समझ लें कि वही निर्णय मैंने लिया है।" नितान्त सहजता से मेरे मुख से शब्द निकले। सभी ने उसे स्वीकार कर लिया।

इस निर्णय के अगले दिन ही वृन्दावन पर जो भयंकर संकट आ पड़ा, उसका सदैव स्मरण रहेगा। दिन ढल ही रहा था कि अचानक नीले आकाश में हाथी के आकार के प्रचण्ड कृष्णमेघ गड़गड़ाहट के साथ छा गये। विद्युत कौंधने लगी। आकाश मानो विक्षिप्त हो गया। उससे हाथी की सूँड़ जैसी जलधाराएँ बरसने लगीं। साँय-साँय करती प्रबल आँधी से बड़े-बड़े गाँठदार वृक्ष गिरने लगे। सन्ध्या से आरम्भ हुई वर्षा रात-भर मूसलाधार रूप में बरसती रही।

पूरा वृन्दावन पानी के नीचे समा जाने की घड़ी आयी थी जैसे! छतनों और कम्बलों से अपने-आप को आच्छादित करके एक-दूसरे को पुकारते हुए नन्दबाबा, अन्य गोप, उनकी स्त्रियाँ और अपने पति रायाण सहित राधा पर्णकुटियों से निकल आये। वृन्दावन का समस्त भयभीत गोप-समूह अति सघन वट-वृक्ष के नीचे एकत्र हो गया। विद्युत् कौंध रही थी। मूसलाधार वर्षा हो ही रही थी। वृक्ष टेढ़े-मेढ़े हो रहे थे। कुछ कड़कड़ाते हुए, जड़ से उखड़कर गिर रहे थे। प्रकृति का यह रौद्र-भीषण ताण्डव दो दिन निरन्तर चलता ही रहा। इस स्थिति में दाऊ ने कहा, "कृष्ण! इस घोर विपत्ति के समय केवल तुम्हारी मुरली ही सबको धैर्य दिला सकती है।"

मैं केवल मुस्कराया। मैं तो अपनी वंशी को वृन्दावन में ही भूल आया था।

"हाँ कन्हैया, बजाओ मुरली!" सभी ने शीत के मारे दाँत किटकिटाते हुए दाऊ की सूचना का अनुमोदन किया। किन्तु मैं निरुपाय था। मेरे पास वंशी थी ही नहीं।

अन्य सभी की समझ से परे, मेरा साथ देने के लिए एक नारी मेरे जीवन में आयी थी–मेरी प्रिय सखी राधा! थरथराती, दाँत किटकिटाती हुई वह मेरे समीप आ गयी। उसने मेरे ही कम्बल की खोई ओढ़ रखी थी। मेरे हाथ में मुरली देते हुए उसने अधिकारवाणी में कहा, "बजाओ कन्हैया अपनी स्वर्गीय मुरली! भयभीत हुए गोपजनों को धैर्य दो!"

मैंने उसकी ओर प्रेममय दृष्टि से देखा। दाऊ और अन्य गोपालों की ओर देखकर मैं पुन: मुस्कराया। अब भी विद्युत् कौंध रही थी। आँधी साँय-साँय करती चल रही थी। वर्षा हो ही रही थी–सूँड़धार मूसलाधार! मैंने मुरली की एक अज्ञात धुन छेड़ी। वर्षा की जलधाराओं में नहाती हुई वह वृन्दावन के, इन्द्रपर्वत के परिवेश में फैल गयी। शीत से ठिठुरता, पानी में भीगता, प्राणभय से पथराया प्रलय की आशंका से भयभीत हमारा गोप-परिवार, आबाल वृद्ध गोप सब-के-सब सँभल गये, लहलहा उठे। किसी ने कण्ठनाल फुलाकर बरसती जलधाराओं के भी रोएँ खड़े कर देनेवाली घोषणा की–'वृन्दावनतारक, मुरलीधर गोपालकृष्ण की जय!' सबने उस घोषणा को प्रतिध्वनित किया। उसे सुनते हुए वर्षा और आँधी का जोर कम होने लगा। रायाण गोप भी भीतर-बाहर से बहुत सौम्य हो गया था! सम्भवत: रात्रि के जल-प्रलय में इन्द्र कहीं बह गया था।

अगले दिन की सुबह मैंने अन्त:प्रेरणा से घोषित किया–"आज से यह पर्वत गोवर्धन पर्वत हो

गया है। अब इस पर गोवर्धनोत्सव मनाया जाएगा। ब्रजभूमि के अठारह गोकुलों की गायें यहाँ भरपेट चरेंगी–उनके रेवड़ों की वृद्धि होगी।”

उपस्थित गोपालों ने एक-दूसरे से कानाफूसी करते हुए उस पर्वत का नाम निश्चित किया–गोवर्धन! गोवर्धन पर्वत!’

ग्रीष्म की कड़ी धूप वृन्दावन की हरियाली को झुलसाने का प्रयत्न करके थक गयी। तप-तपकर ग्रीष्म ऋतु समाप्त हो गयी। मृग नक्षत्र की वर्षा की सूचना देनेवाले सजल मेघ वृन्दावन के नील आकाश में गरजने लगे। अपने पंखों को फैलाकर, केकारव करते हुए वृन्दावन के मत्त मयूर नृत्य करने लगे। नन्हे-नन्हे पंखोंवाली श्वेत चींटियाँ उड़ने लगीं।

एक दिन मधुवन में मेरी प्रिय सखी राधिका हाथ पकड़कर मुझे साथियों में से खींचकर दूर–एक वृक्ष के नीचे ले गयी। खिले हुए मोटे-मोटे सिन्दूरी रंग के गुच्छों से लदा, हम सबका अत्यन्त प्रिय डेरेदार कदम्ब-वृक्ष था वह! उसके खिले हुए पुष्पगुच्छों की मत्त गन्ध से सारा परिवेश सुगन्धित हो उठा था।

राधा मुझे कुछ भेंट करना चाहती थी। वह अपने वस्त्र के पल्ले में उसे छिपाकर ले आयी थी।

उसके पहले ही स्पर्श से मुझे प्रतीति हो गयी कि आज वह कुछ अलग ही दिख रही थी। उस पर ऐसा तेज चढ़ा था कि जिस पर दृष्टि टिक नहीं पा रही थी। उसकी आँखें तो आकाश के चन्द्र-सूर्य से स्पर्धा करती हुई अपार तेज से दमक रही थीं। उसकी चंचल आँखों का रहस्य जानकर मैंने उससे खोद-खोदकर पूछा–“राधिका, आज तुम कुछ अलग ही दिख रही हो। कैसी दिख रही हो, यह तो मैं बता नहीं सकता, किन्तु अलग दिख रही हो–यह सत्य है। क्या बात है?”

उसने कुछ उत्तर नहीं दिया–केवल लजायी। अपनी चंचल दृष्टि घुमाकर, अपने कपोल पर मोहक भँवर बनाते हुए वह मुस्करायी। उसने केवल इतना ही कहा, “हे मनमोहन, आज मैं तुम्हें एक अपूर्व उपहार देना चाहती हूँ। इसीलिए तो मैं तुम्हें सबसे अलग, यहाँ ले आयी हूँ। मेरा यह छोटा-सा उपहार तुम्हें अवश्य प्रिय लगेगा।” आँचल में छिपाकर लाया उपहार उसने मेरे आगे रखा। छोटे-छोटे गहरे हरे पर्णों से बनाया वह वन-लता का मुकुट था। उसमें लगाया हथेली के आकार का रंगसम्पन्न मोरपंख सुन्दर दिख रहा था। आँखें विस्फारित कर मैं उस मोर-मुकुट को देखता ही रहा। कुछ सोचकर, राधिका की ओर मुस्कराकर देखते हुए मैंने वह मुकुट मस्तक पर धारण किया।

उसकी आँखें चमक उठीं। उनमें पानी छलका। भावमुग्ध होकर उसने घनी पलकों से आच्छादित अपने मत्स्यनेत्र मूँद लिये। आँखें मूँदे हुए देर तक वह स्तब्ध खड़ी रही–मौन! अपनी सुधि खोकर मैं एकटक उसका अलौकिक रूप देखता रहा। मधुवन पर सन्ध्या उतर आयी। गोधूली वेला में हम दोनों गोप-सखाओं सहित वृन्दावन लौट आये। अपने घर लौटते समय राधा ने अत्यन्त प्रेम से थरथराते, आर्द्र हाथ से मेरा हाथ दबाया। उसकी आँखों से ओझल होती धुँधली देहाकृति को मैं देखता रहा।...

मेरे सखा कब के चले गये थे। मुखिया-निवास की ओर मुड़ते हुए मैं मन-ही-मन मुस्कराया। दाऊ वहाँ होते तो निश्चय ही कहते–“कन्हैया, तुम्हारी यह हँसी कुछ अलग ही है। उसे देखकर लगता है, वृन्दावन की साँवली सन्ध्या प्रकाशमान हो रही है–कैसे यह तो मैं नहीं कह सकता!” उसे सुनते हुए भी अनसुना कर मैं हँसता रह जाता!

आज मधुवन में मुझसे बातें करते समय मेरी प्रिय सखी राधिका बार-बार लजा रही थी। उसकी दृष्टि चंचल हो गयी थी। उस पर एक अनोखा तेज चढ़ा था। उसके कारण से मैं अनजान हूँ, इसी भ्रम में राधिका थी। तेज से दमकती राधिका आज ऋतु-स्नात हो गयी थी।

उसका दिया मोर-मुकुट मैंने उसी के समक्ष सोच-समझकर धारण किया था। वह मोरपंख निर्मल नित्यता के अत्यन्त अनुरूप, कोमल प्रतीक था। समस्त स्त्रीत्व के परम पवित्र सृजनशील योनिद्वार का प्रतीक था वह! उसे मैंने विचारपूर्वक जीवन के आरम्भ में ही मस्तक पर धारण किया था।

राधा मेरी पहली स्त्री-गुरु थी। स्त्रीत्व के सभी रूप और भाव-विभावों की मुझे दीक्षा देनेवाली—कभी मौन रहकर तो कभी बहुत-कुछ मुखर होकर। कभी हलके से स्पर्श से तो कभी भावदर्शी दृष्टिक्षेप से यह दीक्षा दी थी उसने मुझे—वासना रहित अतुलनीय प्रेमयोग की! मेरी प्रिय सखी—पहली स्त्री-गुरु राधिका ही थी! वृन्दावन पर श्रावण उतर आया। कभी वह जलधाराओं में आनखशिख नहाने लगा तो कभी पीत धूप में निखरने लगा। पुष्पमालाओं से शोभित ऊँचे-ऊँचे हिंडोले वट-वृक्ष की शाखाओं पर लटकने लगे। उन पर गोप-गोपियों के युगल मुक्त मन से झूलने लगे। मेरे साथ हिंडोले पर राधा हुआ करती थी। जब मैं हिंडोले को ऊँचा ले जाने लगता था, वह कहती थी—"और ऊँचे और ऊँचे!" तब तक हिंडोला वट-वृक्ष की सबसे ऊँची शाखा तक पहुँच चुका होता था। मुझे तीव्रता से आभास हो जाता था कि गोकुल में ऐसा कोई वट-वृक्ष नहीं था। बीच-बीच में सेवकों को भेजकर नन्दबाबा गोकुल का समाचार प्राप्त कर लेते थे।

शीघ्र ही शरद् पूर्णिमा की रुपहली रात्रि हलके पाँवों से वृन्दावन में उतर आयी। थाल के आकार का ज्योत्स्ना-सम्पन्न चन्द्र वृन्दावन और मधुवन पर अपना शुभ्र रस उँड़ेलता हुआ आकाश में चमकने लगा। हम चन्द्रवंशीय गोपालों की पीढ़ियों से चली आयी एक भावपूर्ण प्रथा थी—रास खेलने की! ज्योत्स्ना की अविरत वर्षा करते पूर्ण चन्द्र को साक्षी रख, अपने-आप को भूलकर गोप नर-नारी शरद् पूर्णिमा की रात्रि में मुक्त मन से रास खेला करते थे। ब्रजभूमि के अठारह गोकुलों के अतिरिक्त आर्यावर्त में और कहीं भी यह प्रथा नहीं थी।

सारा वृन्दावन आज मधुवन में जमा हो गया। सभी ने रंग-बिरंगे वस्त्र पहन रखे थे। नील, काषाय, शुभ्र कमलों से भरे नील-सरोवर के तट पर सब जमा हो गये। आज रात्रि के पहले प्रहर में सभी गोप-बालक और वृद्ध दम्पती डाँडिया खेलते, गाते हुए, आनन्दविभोर होकर नाचनेवाले थे।

भूमि में सात-आठ हाथ गहरे गड्ढे खोदे गये थे। चिकनी मिट्टी से उन्हें लीपा-पोता गया था। उनके मुँह पर वृषभचर्म तानकर विराट् नगाड़े बनाये गये थे। आज रात्रि में भिन्न-भिन्न तालों पर गोप-वादक हाथों से ही उन्हें बजानेवाले थे। उससे धरती भी रात-भर फुदकने, गूँजनेवाली थी। अन्य तन्तुवाद्य, चर्मवाद्य, सींग आदि भी उनका साथ देनेवाले थे। रासक्रीड़ा को नादमय करने हेतु विविध वाद्य वहाँ इकट्ठे किये गये थे।

रास का आरम्भ करनेवाले सम्माननीय वयोवृद्ध व्यक्ति थे हमारे दादाजी चित्रसेन! सिर पर धारण किया बड़े घेरवाला मरोड़दार मुँडासा सँभालते हुए, कम्पित ग्रीवा से, कड़ा धारण किये हाथ से शुभारम्भ की कुंकुमांजलि बिखेरते हुए उन्होंने 'जै इडादेवीऽ' की घोषणा की। उसी के साथ विविध वाद्यों ने और रास में भाग लेनेवाले गोपालों के पाँवों ने रास की लय पकड़ ली—रात-भर न रुकने के लिए।

डाँडिया एक-दूसरे पर ताल देने लगी–पाँव थिरकने लगे। बालक और वृद्धों का पहला जत्था नाच-नाचकर श्रान्त हो गया। मधुवन पर अब रात्रि चढ़ने लगी। चाँदनी में चढ़ती लय के अनगिनत स्वर-अंकुर फूटने लगे। सरोवर के तट पर एक बड़े पाषाण-चूल्हे पर एक प्रशस्त कड़ाह रखा हुआ था। उसमें केसर-मधु-मिश्रित गोरस लबालब भरा हुआ था। यमुना के साथ-साथ आकाश की शुभ्र चाँदनी को लजाते उस केसर-मिश्रित गोरस पर लहरें उठने लगीं। गोरस पर उभरी मलाई को और गाढ़ा होने का जब अवकाश ही नहीं रहा, तब हवा के हलके से झोंके से ही उस पर रेखाएँ खिंचने लगीं।

मध्यरात्रि हो गयी। दादाजी ने अपने हाथ की घुँघरुओंवाली लकुटी का धरती पर आघात कर संकेत किया। सभी गोप-गोपी इडामाता की जयकार करते हुए गोरस पर टूट पड़े। बाल-गोपाल आनन-फानन में ही गोरस की मलाई को चाट गये। गोपालों ने लोटे भर-भरकर आकण्ठ गोरस का पान किया। अन्त में दाऊ, मैं, दोनों माताएँ, दादाजी, नन्दबाबा, सभी काका-काकी और हाँ राधा और उसका पति रायाण–हम सभी गोरस पर टूट पड़े। माथे पर चमकता शरद् पूर्णिमा का पूर्ण चन्द्र भी तनिक ढल गया।

रास खेलनेवालों का प्रमुख जत्था अब रासमण्डल में उतरा। राधा ने तो हमारे प्रेम की सदैव स्मृति रखने का मानो निश्चय ही कर लिया था। आज भी वह मेरे लिए एक अमूल्य रत्न अपने वस्त्र में छिपाकर ले आयी थी। मैं, दाऊ, हमारे साथी, ककेरे भाई आदि के रासमण्डल में उतरते ही राधा बड़े प्रेम से अपने आर्द्र हाथों में मेरे दोनों हाथों को थामकर मुझे सबके मध्य ले आयी। बाबा मथुरा से मेरे और दाऊ के लिए रास में धारण करने के लिए वस्त्र लाये थे–मेरे लिए चमकता पीताम्बर और दाऊ के लिए महीन नीलवस्त्र। वही हमने धारण किये थे। कटि में दुकूल, वस्त्र पर मौक्तिक-मालाएँ और मस्तक पर बेलबूटेदार स्वर्णकिरीट थे। केवल मेरे ही किरीट में बड़ी माँ का लगाया डौलदार मोरपंख था।

तब मैं किशोरावस्था में था–चौदह-पन्द्रह वर्ष की आयु थी मेरी। दाऊ मुझसे थोड़े बड़े थे। रास तो बचपन से ही हमारे रक्त में समाया हुआ था। मेरे रक्त की बूँद-बूँद तो कब से रास खेलने के लिए उछल रही थी। तभी मुझसे ऊँची, गौरवर्णी, चन्द्रमुखी, प्रसन्नवदना राधा ने मेरी हथेली अपने हाथों में लेकर कहा, “कन्हैयाऽ! जो उपहार आज मैं तुझे देने जा रही हूँ, उसे मेरा प्राणोपहार समझकर स्वीकार कर। उसे अपने से कभी दूर न करना। इस समय वह जिस रूप में है, उसी रूप में वह नित्य तेरे पास रहे। क्या मेरी–अपनी इस भावुक सखी की–यह माँग तू पूरी करेगा कान्हा? वचन दे मुझे।” पूर्णिमा की ज्योत्स्ना में उसकी आँखें तेज से दमक उठी थीं–मुझे उसका आभास हुआ। अपनी दाहिनी हथेली उसने मेरे आगे की। अब मैंने उसके दोनों हाथों को अपने हाथों में लेकर प्रेमपूर्वक तनिक दबाया। अपना दाहिना हाथ उसके हाथ पर रखकर मैंने कहा, “अवश्य–तुम्हारी यह इच्छा मैं अवश्य पूरी करूँगा। कहो, क्या है तुम्हारा उपहार! दिया मैंने वचन!”

उसने अपने आँचल से ताजे, शुभ्र-धवल, उत्फुल्ल पुष्पों की गहरे हरे रंग के पर्णों से सुशोभित माला अपने हाथों में ली। उसे मेरे गले में डालते हुए वह बुदबुदायी–“यह पुष्पमाला–मेरी वैजयन्तीमाला–तुझे शोभा देनेवाले, तुझे प्राप्त होनेवाले सात रत्नों में से एक है यह। यह पहला ही है–और छः रत्न तुझे भविष्य में प्राप्त होंगे–उचित अवसर पर! कन्हैया, यह मत भूल, यही रत्न उनको शोभा प्रदान करेगा। प्रतिदिन ऐसी ही शुभ्र-धवल पुष्पों की माला धारण किया करना।

इसका नाम मत भूलना कन्हैया–वैजयन्तीऽ!”

उसकी आँखों में छलकती शरद् पूर्णिमा की ज्योत्स्ना मेरी आँखों की ज्योत्स्ना से एकरूप हो गयी। कण्ठ में झूलती उस भावकोमल माला को मैंने लम्बी साँस लेकर सूँघा। घुटने तक पहुँची उस माला पर मैंने हाथ फिराया। दादाजी की भाँति कुलदेवी इडा की जयकार करते हुए मैंने भी आकाश में कुंकुमांजलि बिखेर दी–गोप-मुखिया के पुत्र–एक गोपाल के नाते, मुरली बजानेवाले मुरलीधर के नाते, यशोदा माता के दामोदर के नाते, रासक्रीड़ा के एकमात्र यादव-नायक के नाते!

रास का आरम्भ करने हेतु मैंने सर्वप्रथम कटि के दुकूल में खोंसी गयी मुरली निकालकर उस पर सांकेतिक धुन बजायी। पीछे-पीछे भिन्न-भिन्न वाद्यों की आकाशभेदी सम्मिश्र ध्वनि गूँज उठी। डाँडिया ताल देने लगीं। दुन्दुभियों का नाद गूँजने लगा। आकाश में मुट्ठियाँ भर-भरकर कुंकुम बिखेरा गया। मैंने मुरली दुकूल में खोंस दी। रास में तन्मय रात्रि का चन्द्र जैसे-जैसे आकाश में ऊपर चढ़ने लगा, मधुवन का रास अधिकाधिक रँगता गया। वाद्य चढ़ती लय में गूँजने लगे। समस्त चल-अचल सृष्टि भी रास में रँगने लगी। अपने-अपने नीड़ों में सोये पक्षी चौंककर क्षण-भर फड़फड़ा उठे और पुन: ऊँघने लगे। मेरे कण्ठ की वैजयन्तीमाला निरन्तर झूलती रही।

नाच-नाचकर राधा थक गयी। उसके ललाट पर स्वेद-बिन्दु उभर आये। प्राण-जल की वे विशुद्ध बूँदें निर्मल ज्योत्स्ना में क्षण-भर चमक उठीं। केवल मैं ही उनको देख पाया। हम सब-कुछ भूलकर नाच रहे थे। बिखेरे गये कुंकुम के साथ-साथ हमारा देह-भान भी कब का यमुना पार हो चुका था! मैं और राधा, राधा और मैं–मैं और गोप-गोपी, गोप-गोपी और मैं–हम सब उन्मनी अवस्था में पहुँच चुके थे। न राधा नारी थी, न मैं नर! राधा-कृष्ण के दो भिन्न शरीर रहे ही नहीं थे। दोनों के रूप में एक-ही-एक हिलती-दुलती जीवज्योति सब-कुछ भुला देनेवाले रास में तल्लीन हो गयी थी! एकरूपा हो गयी थी!...

हमें पता ही नहीं था कि रास का आनन्द लेते हुए मण्डलाकार बैठे आबालवृद्ध गोप-गोपी भी तल्लीन हो गये थे। एक ही लय में तालियाँ बजाते हुए वे नादमय ताल दे रहे थे–‘राधाऽकृष्ण, राऽधागोविन्द! राधेऽकृष्ण, राधेऽगोविन्द!’ मुझे एक ही बात का सन्तोष हुआ–इस घोष में उन्होंने एक नारी को–मेरी सखी को अग्रमान दिया था।

आकाश में चमकता शरद् पूर्णिमा का थाल के आकार का भाव-भीना चन्द्र धीरे-धीरे चढ़ रहा था। यमुना की जल-लहरों पर हिलता उसका प्रतिबिम्ब भी अब लहरों के साथ तालियाँ बजाता हुआ, रासमग्न होकर ताल देता हुआ डोल रहा था–‘राधेऽकृष्ण, राधेऽगोविन्द!’

वृन्दावन के भावमन्त्रित दिन शीघ्र ही समाप्त हो गये। वहाँ हमारा पहला गोकुल पुन: हरा-भरा हो गया था। बाबा ने गोकुल लौट जाने की डौंडी पिटवायी। मेरी और राधा की कई भाव-स्मृतियाँ सँभाल रखनेवाले वृन्दावन से विदा लेने का समय आ गया। विदा लेने की क्रिया से तो मैं जन्म से ही अभ्यस्त हो गया था। मेरी जन्मपत्री में ही थी वह! मेरी मुरली की नाना धुनों से वृन्दावन, मधुवन, गोवर्धन का सारा परिसर खिल उठा था, निनादित हो उठा था। वृन्दावन के इस निवासकाल में प्रफुल्लित प्रकृति ने मुझे बहुत-कुछ भर-भर के दे दिया था–उससे भी अधिक दिया था मेरी सखी राधा ने!

राधा ने कभी हर समय बातें करते हुए, तो कभी मौन व्रत रख, कभी हाथों के स्पर्श से तो

कभी आँखों की भाषा से जो-कुछ मुझे सिखाया, वह अनुपमेय था। किस प्रकार नारी विधाता के निर्मल प्रेम की वासना रहित, संस्कारशील रचनात्मक कलाकृति है; मानो इसकी मौन दीक्षा ही राधा ने मुझे दी–सभी अंगों सहित!

हम दोनों ने मन कठोर कर वृन्दावन से विदा ली। मैंने राधा से कहा, "आज से तुम वृन्दावन की स्वामिनी बन गयी हो। जहाँ कहीं नर-नारियों के मन में विशुद्ध, वासना रहित भाव-वृन्दावन होगा, वहाँ राधा भी होगी, अवश्य होगी!" सभी साथियों सहित मैं, दाऊ और राधा गोकुल लौट आये। ऐन यौवन की देहली के दिन थे वे। यौवन! आकाश को भी छूनेवाले विचार-अश्वों का रथ दौड़ानेवाला! सारी भूमि पर अपना स्वामित्व स्थापित करने की इच्छा रखनेवाला! समुद्र का उफनता जल जिस प्रकार बाहर से आते जल को अन्दर नहीं आने देता–बाहर ही फेंक देता है, उसी प्रकार 'असम्भव' शब्द को मन के बाहर फेंक देनेवाला।

गोकुल, वृन्दावन और पुन: गोकुल–ब्रजभूमि की जीवनदायी वायु से हमारे वक्ष अब निर्भय, दृढ़ हो गये थे। केलिनन्द और प्राणनन्द काका के कठोर अनुशासन में किये व्यायाम से हमारे शरीर भी सुदृढ़, स्नायुबद्ध हो गये थे, गो माताओं का धारोष्ण दूध आकण्ठ पी-पीकर सतेज हो गये थे। दाऊ तो मेरी तुलना में अत्यधिक सशक्त, दृढ़काय मल्ल ही दिखने लगे थे! हमारे होठों पर यौवन-सूचक हल्की-सी मूँछें भी उगने लगी थीं।

दादाजी, नन्दबाबा, दोनों माताएँ, काका-काकी सबको कठिनाई में डालनेवाले मेरे प्रश्न अब बढ़ गये थे। मैं उनसे बार-बार पूछा करता था–"मथुरा के महाराज उग्रसेन को उन्हीं के पुत्र कंस ने कारागृह में कैसे डाल दिया है? क्या इसके पूर्व यादववंश में कभी किसी ने ऐसा किया था? कंस के कारागृह में डाले वसुदेव महाराज और देवकी माता को छुड़ाने का प्रयास किसी ने भी कैसे नहीं किया? यादवों के अठारह कुल और उनके सैकड़ों-सहस्रों यादव कर क्या रहे थे उस समय? उनसे मिलने को मेरा मन बार-बार क्यों करता है? उनको कारागृह से मुक्त करने हेतु मेरा मन क्यों विद्रोह कर उठता है? हम गोपों और यादवों में परस्पर क्या नाता है? कौन लगते हैं वे हमारे?" ...मेरी प्रश्नमालिका के आगे वे सब निरुत्तर हो जाया करते थे। वे भयभीत होकर आपस में फुसफुसाते रहते थे–'कंस! कंस!' अपने से ज्यादा अनुभवी दाऊ की भरी हुई स्नायुबद्ध भुजाओं को कसकर मैं पूछा करता था, "दाऊ!–मेरे प्रिय संकू भैया, आप ही कहिए, मेरा मन बार-बार मथुरा जाना क्यों चाहता है? कारागृह में पड़े वसुदेव-देवकी से एक बार क्यों न हो, मिलने को जी क्यों करता है? क्या आपको कभी ऐसा नहीं लगता?" दाऊ मेरी आँखों में केवल देखता रहता और पूछता–"छोटे, जिस प्रश्न का उत्तर तुम्हें ज्ञात नहीं है, वह मुझे कैसे ज्ञात हो सकता है? हम तो केवल नाम के बड़े हैं, वास्तव में बड़े तो तुम ही हो। मैं तो तुम्हारी परछाई हूँ!"

उनके इस उत्तर और उलझन में डालनेवाले मौन से मैं और भी चकरा जाता था। कभी-कभी सवेरे ही अपने साथियों से अलग होकर मैं अकेला ही यमुना-तट पर चला जाता था। उसकी ओर एकटक देखता रहता था–कभी दोपहर की धूप में तो कभी सन्ध्या समय–किन्तु मैं अकेला ही जाता था।

यमुना से मेरा मौन सम्भाषण हुआ करता था–"यमुना माता! मेरे मन में तुम्हारे प्रति इतना अद्भुत आकर्षण क्यों है? मथुरा जाने के लिए मेरा मन बार-बार विद्रोह क्यों कर उठता है? क्या नाता है मेरा मथुरा के यादवों से और मथुरा की कारा में पड़े वसुदेव-देवकी से? दादाजी,

नन्दबाबा, सभी गोप जैसे मुझे अपने लगते हैं, वैसे ही यादव भी मुझे अपने क्यों लगते हैं? आपमें से कोई भी मेरे एक भी प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं देता?"

मेरी उलझन किसी प्रकार सुलझ नहीं रही थी। मेरे एक भी प्रश्न का उचित, समाधानकारक उत्तर मुझे नहीं मिल रहा था। रात और दिन के खिलाड़ी एक-दूसरे को तालियाँ देते हुए खेल को गति दे रहे थे। यौवन की देहली पर खड़े गोप-कृष्ण के मन का बोझ बढ़ता ही जा रहा था–उलझन की गाँठ खुल नहीं रही थी।

अन्तत: वह दिन गोकुल पर उदित हो ही गया। मैं और दाऊ नित्य की भाँति अपने साथियों सहित गायों के रेवड़ लेकर सन्ध्या समय गोकुल लौटे थे। पश्चिम महाद्वार में आज पहली ही बार पाँच चमकदार कृष्णवर्ण के पुष्ट अश्वों का राजरथ खड़ा दिखाई दिया। उसे देख मैं और दाऊ चौंक पड़े। रथ में कोई भी नहीं था। दाऊ तो दौड़ते हुए गोकुल में घुस गये, किन्तु मैं खिंचा-सा उस रथ के समीप आ गया। उन सतेज कृष्णवर्ण अश्वों के पुट्ठे पर थपकियाँ देकर मैंने उनकी ग्रहण-शक्ति को जाँच लिया। मैं उनको आँख-भर देखने लगा और वे भी हिनहिनाते हुए प्रत्युत्तर देने लगे। वे प्राणी मुझे अत्यन्त भा गये। थोड़ी ही देर में बाबा के साथ दाऊ वहाँ आ गये। बड़ी-से-बड़ी विपत्ति के समय भी हँसमुख दिखनेवाले बाबा का मुख आज निस्तेज दिख रहा था। उन्होंने बड़ी त्वरा से कहा, "शीघ्र चलो कृष्ण, तुम्हें लेने मथुरा से राजमन्त्री आये हैं। हमारे आवास पर विश्राम कर रहे हैं वे।"

हम तीनों शीघ्रगति से मुखिया-निवास की ओर चल पड़े–सबसे आगे मैं था। हमारे आवास पर पहुँचते ही एक राजवेशधारी, मस्तक पर मुकुट धारण किया हुआ ऊँचा, सुदृढ़ देहयष्टिवाला दाढ़ीधारी पुरुष दिखाई दिया। उसको देखते ही मेरी चलने की गति अपने-आप बढ़ गयी। दाऊ मेरे पीछे थे। जीवन में पहली बार हम एक यादव पुरुष को देख रहे थे।

आदरपूर्वक उनको प्रणाम करने हेतु जैसे ही मैं झुकने लगा, उन्होंने मुझे पकड़कर ऊपर उठा लिया। बड़े आवेग से हृदय से लगाया। नन्दबाबा ने उनका परिचय कराया–"ये हैं महाराज कंस के मन्त्री–अक्रूर! तुम्हें लेने आये हैं ये–धनुर्यज्ञ के लिए, बलराम को भी आमन्त्रित किया गया है।" बाबा के शब्द खण्डित, थरथराते, कम्पित थे। अक्रूर बड़ी देर तक मुझे एकटक देखते रहे। कुछ देर बाद सँभलकर उन्होंने कहा, "कंस महाराज तुम दोनों का पराक्रम देखना चाहते हैं। अत: मुझे दूत बनाकर भेजा है उन्होंने–तुम दोनों को धनुर्यज्ञ के लिए आमन्त्रित करने हेतु!"

"पहले आप यह बताइए अक्रूर काका कि इतना बड़ा राजरथ यमुना पार कर आप गोकुल कैसे ले आये?" मैंने अचूक प्रश्न किया।

"साधु! बड़े बुद्धिमान हो तुम! अच्छा लगा मुझे तुम्हारा यह प्रश्न। यादवों का शासन जिस प्रकार शूरसेन राज्य की भूमि पर चलता है, उसी प्रकार कई नदियों के जल पर भी चलता है। हमारी चतुरंग सेना में प्रचण्ड नौकाएँ भी सम्मिलित हैं। एक नौका से हमारा रथ और सारथि आया है और दूसरी नौका से मैं उतरा हूँ यमुना तट पर। सम्प्रति दोनों नौकाएँ यमुना में लंगर डाले हुए हैं।" अक्रूर जी ने मन्द मुस्कराते हुए कहा। मेरे कन्धे पर हाथ रखकर ही उन्होंने अन्त:पुर के कक्ष में प्रवेश किया।

रात्रि का भोजन समाप्त हो गया। अतिथि अक्रूर जी भी आज हमारे ईश-स्तवन में सम्मिलित हो गये। मेरे और दाऊ के बीच बैठी एका की ओर वे बड़ी देर तक देख रहे थे।

उनके अप्रत्याशित आगमन से मुखिया-निवास के सभी व्यक्ति विचलित हो गये थे। अपने-अपने कक्ष में शंकाग्रसित होकर वे बिछावन पर करवटें बदल रहे थे। बाबा के शयन-कक्ष के पलीते भी देर तक जल रहे थे। मैं और दाऊ भी मथुरा जाने के विचारों में जाग रहे थे। बड़ी और छोटी माँ शैया पर बैठी हुई थीं–आपस में बातें करते हुए सिसक रही थीं।

हमने सोचा था कि यात्रा से श्रान्त होने के कारण अक्रूर काका शान्त सो गये होंगे। किन्तु ऐसा नहीं था। मध्य रात्रि के घण्टे बजे और हाथ में पलीता लिये अक्रूर काका अपने कक्ष से नन्दबाबा के शयन-कक्ष में आ गये। उन्होंने बाबा से कहा, "नन्दराज, मुझे आपसे कुछ महत्त्वपूर्ण बातें करनी हैं–एकान्त में! आप अकेले ही मेरे विश्राम-कक्ष में आइए, बाद में आपके दोनों पुत्रों की भी आवश्यकता पड़ेगी–आइए..."

कंस की कुख्याति और उसके अप्रत्याशित आमन्त्रण से हड़बड़ाये बाबा और भी हड़बड़ाकर अक्रूर जी के पीछे-पीछे चले गये।

अक्रूर काका ने पहले कक्ष का द्वार बन्द किया। क्रूर कंस का धनुर्यज्ञ के निमित्त रचा गया षड्यन्त्र उन्होंने दबी आवाज में बाबा को बताया–"गोपराज, धनुर्यज्ञ का यह आमन्त्रण मिथ्या है। मथुरा के राजप्रासाद में छल से आपके दोनों पुत्रों को मार डालने का षड्यन्त्र रचा जा रहा है। वहाँ मद्योन्मत्त प्रचण्ड हाथी अचानक उन पर आक्रमण करेगा और बड़े-बड़े मल्ल उनको ललकारेंगे। आपके पुत्रों को सावधान करना आवश्यक है–ले आइए उनको।"

भयभीत हुए बाबा हमारे कक्ष में आये। अर्धनिद्रित मुझे और दाऊ को जगाकर वे हमें अक्रूर काका के पास ले गये। मेरी आँखों की गहराई में आँखें गड़ाकर अक्रूर काका ने सब बताया।

हमने पहली बार देखा–वह यादव अत्यन्त गम्भीर वाणी में बोल रहे थे! उनके शब्दों से मानो चिनगारियाँ बरस रही थीं। उस एक ही रात्रि में भावनाओं के प्रचण्ड कोलाहल का अभूतपूर्व अनुभव हुआ। अपने सभी प्रश्नों के मुझे धड़ाधड़ एक के बाद एक उत्तर मिल रहे थे। मैं जिसे सुन रहा था वह बड़ा ही विचित्र सत्य था। यादव राजसभा के अनुभवी मन्त्री–अक्रूर काका दबे स्वर में कहने लगे–

"हे कृष्ण-बलराम, तुम दोनों गोपपुत्र नहीं हो–यादवपुत्र हो–वसुदेव-देवकी के पुत्र हो। वस्तुत: धर्नुयज्ञ के निमित्त तुम दोनों को आमन्त्रित करने का कोई कारण नहीं है। मैं जो कह रहा हूँ उसे शान्ति से सुन लो और धैर्य रखो। कल धनुर्यज्ञ के निमित्त तुम दोनों पर प्राणघातक क्रूर आघात किये जाएँगे। तुम यादवों के आदरणीय वसुदेव महाराज और देवकीदेवी के पुत्र हो। यादव होने के नाते ही तुम्हें आमन्त्रित किया गया है, किन्तु मित्र के नाते नहीं–शत्रु के नाते!...

"हे कृष्ण, कुलघाती कंस ने यादवों के अठारह कुलों को निर्मूल करने का अकीर्तिकर षड्यन्त्र रचा है।

"पुत्र कृष्ण, उसने अपनी राज्यलिप्सा के कारण प्रत्यक्ष अपने जन्मदाता माता-पिता को कारागृह में डाल दिया है। तुम्हारी माता के विवाह के समय सुनी आकाशवाणी से वह भयभीत हो गया था–भड़क उठा था। तभी तुम्हारे माता-पिता को भी उसने कारागृह में डाल दिया। पुत्र, तुम्हारे छह नवजात भ्राताओं को उसने मार डाला है। समस्त यादवों को कलंकित करनेवाला कृत्य किया है उसने। जन्म लेते ही तुम्हारे भ्राताओं की हत्या की है बड़ी क्रूरता से उसने–शिला पर पटककर! पुत्र बलराम, तुम अकेले ही उसके हाथों से बच गये हो–कृष्ण तुम्हारा भ्राता है।...

"वसुदेव के अधीन गोपराज नन्द ने उनसे परामर्श कर ही तुम दोनों को पालने का कठिन दायित्व स्वीकार किया था। नन्दराज तुम्हारे जन्म से ही जानते हैं—तुम वास्तव में कौन हो!

"मुझे तो कल तुम्हें यहाँ से ले जाना ही होगा। कल तुम बड़ी सावधानीपूर्वक यहाँ के गोपालों से, अपने साथियों से विदा लो। राजा का सेवक होने के नाते मुझे उसकी आज्ञा का पालन करना होगा; किन्तु उसने जिस कुल में जन्म लिया है, उस यादवकुल की रक्षा करना भी मेरा जन्मजात कर्तव्य है। अत: मैंने तुम्हें सावधान किया है। मेरी भूमिका को भली-भाँति जान लो तुम।...

"नन्दराज, कर्तव्य-कठोर होकर कल इन दोनों को विदा कीजिए। आज तक इन्होंने आभीरभानु वंश की सेवा की, मुझे विश्वास है, भविष्य में ये दोनों यदुवंश की सेवा करेंगे।"

भावावेग से उन्होंने हम दोनों को अपने पास खींच लिया। उनकी इस आवेगपूर्ण भेंट से मुझे बहुत-कुछ प्रतीत हुआ। उनके अन्तिम शब्दों से नन्दबाबा सँभल गये। अक्रूर काका के चरणस्पर्श कर हम अपने शयन-कक्ष में लौट आये।

उस रात मुखिया-निवास के सभी लोग शान्त निद्राधीन थे। मेरे जन्मदाता पिता नन्दबाबा नहीं वसुदेवबाबा हैं! ...वे कई वर्षों से मथुरा में कंस के कारागृह में हैं! ...मेरे छह भ्राताओं की क्रूर हत्या मेरी माता के समक्ष मेरे ककेरे मामा—कंस ने की है!...वास्तव में किसी भी मामा को अपना भानजा प्रिय होता ही है। यह तो जीवशास्त्र का नैसर्गिक नियम ही है। फिर मामा होते हुए भी कंस हमारा काल क्यों बन गया? इसका एक कारण था—उसको मृत्यु का भय दिलानेवाली आकाशवाणी—'देवकी का आठवाँ पुत्र तुम्हारा वध करेगा'; और दूसरा कारण था उसका राज्यलोभ! उसने यादवों के राजा-रानी—प्रत्यक्ष अपने माता-पिता को भी कारागृह में डाल दिया था। यादवों के अठारह कुलों को उसने देश से निर्वासित होने पर विवश कर दिया था। मैं भी एक यादव हूँ। मथुरा का कपटी, अन्यायी राजा कंस मेरा मामा है। कैसा मामा है वह! हमें मथुरा में आमन्त्रित कर वह हमारे साथ प्राणघातक चाल चलनेवाला है। क्यों? क्यों भयभीत है वह हमसे? अपनी सुनी आकाशवाणी के कारण? क्या उसको पूरा विश्वास है कि मैं—देवकी का आठवाँ पुत्र—गोपालों का कन्हैया—यादवों का कृष्ण ही उसका काल हूँ! देवकी का आठवाँ पुत्र—मैं ही उसका वध करनेवाला हूँ!

कैसे होंगे मेरे वसुदेवबाबा? कैसी होंगी देवकी माता? कैसे होंगे यादवों के महाराज उग्रसेन और उनकी रानी पद्मावतीदेवी? और हाँ—मुझसे पहली ही बार परिचित होनेवाले मेरे प्रिय आत्मीय जन?

कल ही मथुरा जाना है। धनुर्यज्ञ के मण्डप में कंस हम पर मद्योन्मत्त हाथी और मल्लों द्वारा आक्रमण करवाएगा। क्या उसकी शरण में जाना होगा? उसकी बलि बनना होगा—जिस प्रकार पहले छह हो गये हैं? नहींऽ—कदापि नहीं! मैं—गोपालों का मुरलीधर, यादवों का कृष्ण, अपने निश्चय से अच्युत रहनेवाला—कंस का काँटा निकाले बिना नहीं रहूँगा। कंस? देखता हूँ कंस किस कर्म का नाम है! किस प्रकार यादव है वह! वह कैसी विष-बेलि है! —कैसा विष-वृक्ष है वह!

'ॐ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्...' —ऋग्वेद का यह प्रेरणादायी ईश-स्तवन मेरे अवचेतन में गूँज उठा। मेरा श्वास शान्त, स्थिर हो गया। मैं गाढ़ निद्रा में लीन हो गया।

दूसरा दिन उदित हुआ। मेरे जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण दिन था यह! गोकुल को त्यागने का—कदाचित् सदा के लिए!! मथुरा जाने का—कदाचित् सदा के लिए!! मेरी जीवन-यात्रा का सबसे

बड़ा, सबसे महत्त्वपूर्ण मोड़ था यह! एक ही रात्रि में मैं नखशिख, अन्तर्बाह्य बदल गया था।

नित्य की भाँति ब्राह्ममुहूर्त में ही उठकर मैं और दाऊ प्रातर्विधियों से निवृत्त हो गये। मैं और दाऊ धनुर्यज्ञ के लिए मथुरा जा रहे हैं, यह समाचार जाने कैसे रात्रि में ही पूरे गोकुल में फैल चुका था। गोकुल के सभी जातियों के छोटे-बड़े, नर-नारी, बाल-गोपालों के झुण्ड-के-झुण्ड सुबह-सुबह मुखिया-निवास पर जमा होने लगे। इतनी भीड़ जमा होने पर भी सर्वत्र चुप्पी छायी हुई थी। सबके मुख उदास, रुआँसे थे। आँखों में प्राणों को समेटकर वे हम दोनों की, अस्पष्ट-सी क्यों न हो–झाँकी पाने का प्रयास कर रहे थे। नींद से उठते ही मैंने दाऊ से कहा था–"दाऊ, हम व्याकुल नहीं होंगे–रोएँगे भी नहीं। यह हमारे नये जीवन का आरम्भ है। परछाई की भाँति आपका साथ मेरे लिए नितान्त आवश्यक है।"

बाबा और दादाजी के कहने के अनुसार हमने देवगृह में इडादेवी सहित आभीरभानु वंश के कुलदेवताओं को प्रणाम किया। हमने अपने नित्य के ही वस्त्र धारण किये थे। मेरे मस्तक पर मोरपंख से शोभित मुकुट था। कपट में राधा की दी उत्फुल्ल, ताजा वैयजन्तीमाला थी। आज मैंने नित्य की भाँति कम्बल नहीं उठाया, केवल उस पर हलका-सा हाथ फिराया, एक प्रेमपूर्ण दृष्टिक्षेप किया। अपनी घुँघरुओंवाली लकुटी को उठाकर मैंने उसे भूमि पर खट-खट करके ठोंका। घुँघरुओं की मधुर ध्वनि क्षण-भर मैंने अपने कानों में समेट ली और हलके से उसे यथास्थान रख दिया। कम्बल की खोंक में रखी अपनी प्रिय मुरली को उठाकर मैंने उसे अपने दुकूल में धीरे-से खोंस लिया।

ऊँची, सुदृढ़ देहयष्टिवाले बलराम भैया आगे-आगे चलने लगे, मैं उनके पीछे हो लिया। जब भी हम किसी विशेष कार्य के लिए निकलते थे, सदैव हमारे हाथ पर दधि देनेवाली बड़ी और छोटी माँ आज कहीं दिखाई नहीं दे रही थीं। अन्तःपुर में बैठी वे दोनों रात-भर आँसू बहाती रही थीं। उनके मुख निस्तेज और आँखें सूजी हुई थीं। हमें विदा देने के लिए वे अन्तःपुर से बाहर आ नहीं पा रही थीं। सदैव इधर-उधर घूमती रहनेवाली एका भी आज कहीं दिखाई नहीं दे रही थी। अन्तत: हम दोनों ने अपने मन को दृढ़ करते हुए अन्तःपुर में प्रवेश किया। कितना परिवर्तन आया था दोनों माताओं के मुखमण्डल में–एक ही रात्रि में! मुझे देखते ही बड़ी माँ हृदयभेदक आक्रन्दन करने लगी–"कृऽष्णऽ कान्हाऽ मथुरा मत जा तू। उस कपटी कंस का यह आमन्त्रण झूठा है। एक बार उसके चंगुल में फँस जाओगे तो फिर कभी तुझे देख नहीं पाऊँगी मैं!...अन्तत: यमुना अपनी चाल में सफल हो ही गयी। कन्हैयाऽ तेरे जन्म के बाद क्षण-भर मेरा मन शंकित हो उठा था कि सम्भवत: तू मेरा पुत्र नहीं है–क्या इस बात का इतना बड़ा दण्ड दे रहा है तू मुझे? कान्हा, मत जा मुझे अकेली छोड़कर!"

मेरे गले लगकर वह सिसकने लगी। सिसक-सिसककर उसका श्वास रुँध गया। उसे रोना भी कठिन हो गया! घोर झंझा में थरथराती लता की भाँति मेरी प्राणप्रिय बड़ी माँ असहाय-सी काँप रही थी। मैंने निश्चयपूर्वक उसे थपथपाते हुए कहा, "शान्त हो जा बड़ी माँ–सँभल जा।" वहाँ दाऊ भी प्रयत्नपर्वूक छोटी माँ को शान्त करा रहे थे। अन्तत: जैसे-तैसे वे दोनों शान्त हो गयीं।

हमने दोनों के चरणस्पर्श किये। दूर भित्ति की ओर मुँह कर सिसकती एका को मैंने झकझोरा–"मेरी बात सुन एका! चल मेरे साथ!" वह भित्ति से और अधिक चिपक गयी। मैंने उसकी भुजा पकड़कर उसे गोद में उठा लिया। नन्हीं एका मेरे गले लगकर गद्गद हो

उठी–"किछन्‌भैयाऽ मत जा मथुरा!" उसकी छोटी-छोटी आँखों से बहती निर्मल प्रेमधारा मेरी वैजयन्तीमाला को भिगोने लगी। मैंने आवेग से बार-बार उसके ललाट और गालों को चूमा।

उसको थपथपाते हुए शान्त कर मैंने बड़ी माँ को सौंप दिया। कक्ष के बाहर दादाजी, बाबा, सभी काका-काकी जमा हो गये थे। हमने उन सबके चरणस्पर्श किये। सब के सब सिसक रहे थे। सभी ककेरे भाई-बहनों को हमने वक्ष से लगाया। आँख भरकर सबको देख लिया।

अन्त में थके हुए दादाजी को हमने साष्टांग दण्डवत्‌ किये। जीवन के सौ वर्ष पूरे किया गोकुल का वह वृद्ध कदम्ब-वृक्ष थरथराया–गद्‌गद हो उठा! दादाजी ने अपने दाहिने हाथ का चाँदी का कड़ा निकालकर मेरी दाहिनी कलाई पर चढ़ाया। मुझे अपने आलिंगन में कस लिया। घनी मूँछोंवाले अपने होठों से मेरा ललाट चूमते हुए भर्रायी आवाज में उन्होंने कहा, "पुत्र कृष्ण, गर्ग मुनि पर मुझे पूरा विश्वास है। कुछ नहीं होगा तुझे–तू चिरंजीवी होगा! मेरी भाँति तेरे भी केश पक जाएँगे! किन्तु पुत्र, इस वृद्ध को कभी भूलना मत!"

अन्त में नन्दबाबा के चरणों में दण्डवत्‌ करके हम निश्चयपूर्वक उनके सम्मुख खड़े हो गये। आज तक मैंने नन्दबाबा के बारे में जो सोचा था, वैसे ही थे मेरे प्राणप्रिय नन्दबाबा! उन्होंने अत्यन्त आवेग के साथ दोनों हाथों से हम दोनों को कसकर अपने वक्ष से लगा लिया। हमारे मस्तक पर हाथ रखकर आशीर्वाद देते हुए आर्द्र आँखों से उन्होंने कहा, "पुत्रो, मुझे भूल जाओ तो कोई आपत्ति नहीं, किन्तु यहाँ के गोप-गोपियों को, तुम्हें भर-भरकर गोरस पिलानेवाले गोधन को कभी मत भूलना। गोपकुल के उपहार स्वरूप मैं तुम्हें दो शस्त्र देता हूँ। मनःपूर्वक आशीर्वाद देता हूँ–तुम जीवन में ख्यातकीर्ति होओगे। आभीरभानु और यदुवंश–दोनों का नाम तुम उज्ज्वल करोगे।" थाल लिये एक सेवक समीप खड़ा था। बाबा ने उस थाल से हल्दी-रोली अर्पित किया गया खड्‌ग उठाया। उसे माथे से लगाकर मेरे हाथ में देते हुए उन्होंने कहा, "यह मेरा नन्दक खड्‌ग है। कृष्ण, इसे तुम स्वीकार करो।" दूसरे सेवक के हाथ से कन्धे तक ऊँचा सीसम का–चिकना कृष्णवर्ण मूसल लेकर, उसे दाऊ को सौंपते हुए कहा, "गोपालों का यह मूसल यादवों की रक्षा करे। इसका नाम सौनन्द है। बलराम, यह तुम्हारे लिए है।" हमने उन शस्त्रों को स्वीकार कर माथे से लगाया। वे शस्त्र अक्रूर काका के रथ में रखने हेतु भिजवाये गये।

गोपसभा के चौक में आसन पर बैठे अक्रूर काका हमारी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। पूरा चौक भावाकुल गोप-गोपियों से खचाखच भर गया था। उनमें से कई अक्रूर काका की ओर देखते हुए आपस में फुसफुसा रहे थे–"कैसा अक्रूर है यह! यह तो क्रूरकर्मा है–क्रूरों से भी क्रूर!" मुखिया-निवास के बाहर भी गोपालों की भीड़ जमा हो गयी थी। अक्रूर काका, बलराम भैया, मैं और हमारा समस्त विरह-व्याकुल गोप-परिवार मुखिया-निवास छोड़कर जैसे ही बाहर निकले, चारों ओर से दबी-रुँधी सिसकियाँ सुनाई देने लगीं।

मैंने पीछे मुड़कर आभीरभानु के उस प्राचीन विशाल भवन को आँख-भर देखा। हाथ जोड़कर माथे से लगाते हुए उसे विनम्र वन्दन किया।

यमुना की ओर जाने के लिए मैं मुड़ गया।–अब मेरे सम्मुख वह खड़ी थी–मेरी प्रिय सखी राधा! राधा–मुक्ति के लिए व्याकुल जीव! निस्तब्ध मूर्ति की भाँति खड़ी थी वह। प्रस्तर-मूर्ति भी द्रवित हो उठे, इस प्रकार उसकी आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी। किन्तु उसकी आँखें आज खोयी-खोयी भावहीन-सी दिख रही थीं। और हाँ, उसके पीछे आज उसका पति रायाण भी था–

सिसकता हुआ, व्याकुल!

मैं खिंचा-सा, मूर्तिवत् खड़ी राधा के समीप आ गया। वक्ष पर झूलती वैजयन्तीमाला को तनिक उठाते हुए मैंने राधा से कहा, “तुम्हारे इस भाव-उपहार को मैं कभी नहीं भूलूँगा–सखी! मैं भी आज तुम्हें एक भावोपहार भेंट करता हूँ। तुम भी इसे कभी भूल नहीं पाओगी! यह लो।” मैंने अपनी कटि के दुकूल में खोंसी हुई, गोकुल और वृन्दावन के समूचे परिवेश को निनादित कर देनेवाली अपनी प्राणप्रिय मुरली निकालकर राधा के हाथों में सौंप दी। उसे लेकर होठों से लगाते हुए वह गद्‌गद हो उठी। रुके-रुके से उन क्षणों में जाने कहाँ-कहाँ हमारा मन घूम आया। ‘कन्हैया-कन्हैया’ कहते हुए वह सिसकती रही और रायाण के कन्धे थपथपाकर मैं झट से आगे बढ़ गया। सिसकियाँ भरते–क्रन्दन करते हुए अपने पैरों में लोटनेवाले गोप-गोपियों के घेरों को तोड़ते हुए हम दोनों शीघ्र गति से अक्रूर काका के पीछे-पीछे यमुना की ओर चलने लगे। व्याकुल गोप नर-नारियों का रेला आक्रोश करता हुआ खिंचा-सा हमारे पीछे-पीछे आ रहा था–“हेऽकृष्ण...हे बलराऽम मत जाओ गोकुल को छोड़कर–हमें त्यागकर! फिर कभी हम तुम्हारे दर्शन पा नहीं सकेंगे! ऐसे कठोर मत बनो हमारे लाड़लो–मत जाओऽ कृष्णा-बलराऽम!”

गोकुल की उलटी परिक्रमा कर हम पश्चिम द्वार के बाहर आ गये। अक्रूर काका का सारथि सर्वदमन रथ सहित वहाँ उपस्थित था। पहले अक्रूर काका रथारूढ़ हो गये। उनके पीछे-पीछे दाऊ और मैं रथारूढ़ हो गये। सारथि के प्रतोद फटकारते ही रथ के कृष्णवर्ण सजग अश्व टापों को उठाकर हिनहिनाते हुए चौकड़ियाँ भरने लगे। दो गोपालों का जीवन-रथ यादवों की राजनगरी मथुरा की ओर दौड़ने लगा।

मैंने पीछे मुड़कर देखा। गोकुल के पश्चिम द्वार में मूर्च्छित पड़ी बड़ी माँ–यशोदा माता को नन्दबाबा सचेत कर रहे थे। साथ-ही-साथ स्वयं को भी संयत कर रहे थे। कितने ही गोप नर-नारी ढाढ़ें मारकर, वक्ष पीट-पीटकर आक्रोश जता रहे थे। उनमें मेरे बड़े हो चुके सुदृढ़काय मित्र भद्रसेन, रुद्रसेन, श्रीदामा, स्तोककृष्ण, दामन, पेंधा, वरूथप भी थे। मेरे सभी काका-काकी, ककेरी भाई-बहनें भी थीं। जिनसे मेरी कुछ-न-कुछ स्मृति जुड़ी हुई थी, ऐसे सभी जातियों के नर-नारी वहाँ थे। आज सवेरे से मेरी मुरली सुनने से वंचित रहने के कारण कितनी ही निरीह गायें रँभाते हुए उनके चतुर्दिक् चक्कर काट रही थीं। आज पहली बार वे आँसू बहा रही थीं। रथ दुलकी चाल से यमुना की ओर दौड़ रहा था–बहुत-कुछ पीछे छोड़कर! यदि कोई ध्यानपूर्वक देखता तो अवश्य देख पाता कि गोकुल के महाद्वार पर उत्कीर्ण गोपवंश का चिह्न–‘एक-दूसरे से माथा टकरानेवाले पुष्ट साँड़’ आज महाद्वार के दोनों कपाट बन्द होते ही एक-दूसरे की ग्रीवा पर ग्रीवा डालकर आँसू बहाने को प्रस्तुत थे।

प्राणप्रिय गोकुल का अन्तिम दर्शन करने हेतु मैं पीछे मुड़ गया। सर्र से मेरे शरीर के रोएँ खड़े हो गये। मैंने देखा–दूर से दिखती दो छोटी आकृतियाँ अब भी हमारे रथ को रोकने हेतु प्राणपण से दौड़ती चली आ रही थीं। मैंने सारथि से रथ रोकने को कहा। कुछ ही क्षणों में स्पष्ट होती गयीं वे आकृतियाँ रथ के निकट आ पहुँचीं। उन्हें देखकर क्षण-भर मेरा दृढ़ मन भी डाँवाडोल हो उठा। वे थीं राधा और एकानंगा–एका! मेरी प्रिय सखी और नन्ही-सी प्रिय बहन! मैं तेजी से छलाँग लगाकर रथ से नीचे उतर गया। वे दोनों ठीक से बोल नहीं पा रही थीं। हाँफते हुए राधा ने जैसे-तैसे कहा, “हमारी यह ‘एका’ किसी के भी रोके रुकी नहीं। तुम्हारे साथ मथुरा जाने की हठ

पकड़ी है इसने–एकदम मचल पड़ी है!”

सभी को बहुत-कुछ समझानेवाला मैं इस समय बड़ी उलझन में फँस गया। समझ में नहीं आ रहा था कि इस नन्ही को कैसे समझाऊँ? उसके निकट बैठते हुए, उसके जितना ऊँचा होकर मैंने हलके से उसकी पीठ थपथपायी। उसकी धड़कन को मैंने सामान्य होने दिया और तत्पश्चात् कहा, “मेरी सयानी एका! मानेगी न मेरा कहा? मथुरा में तो गायें नहीं हैं। राधा जैसी बड़ी दीदी भी नहीं है वहाँ! क्या करेगी तू वहाँ जाकर? देख, मैं यूँ गया और यूँ चुटकियों में वापस आया!”

तब भी वह आँसू-भरी आँखों से देखती, मुँह फुलाकर अविश्वास से चुपचाप खड़ी थी। अन्ततः मैंने अपना विशिष्ट अस्त्र निकाला–“यदि तू राधा के साथ इसी समय लौट जाएगी तो मैं तुझे एक मीठा-सा उपहार दूँगा–ठीक है?” उसने स्वीकृति में अपनी ग्रीवा डुलायी। “देख, हठ मत करना और अपने शब्द से पलटना भी नहीं!” उसने पुनः ग्रीवा डुलायी। मैंने झट से अपना बायाँ गाल उसके आगे किया और कहा, “एकाऽ! चल–अब झट से एक मीठा-मीठा चुम्बन ले और लौट जा राधा के साथ!”

मानो इसीलिए वह आयी थी और रुकी थी! उसने तुरन्त अपने नन्हे-नन्हे निर्मल होठ मेरे गाल से लगाये। उसका भरा हुआ गोल मुखमण्डल खिल उठा। वह ऐसे खिलखिलायी कि क्या कहूँ! उसकी बड़ी-बड़ी आँखों की घनी पलकों पर रुके हुए दो निरीह आनन्दाश्रु ढुलक गये। मेरे कण्ठ में झूलती वैजयन्तीमाला पर से ब्रजभूमि में विलीन हो गये! मैं भी प्रसन्न मुस्कराया। उसके ललाट को चूमकर शीघ्रगति से डग भरता हुआ मैं रथारूढ़ हो गया। अब पीछे देखना सम्भव नहीं था। सारथि ने रथ दौड़ाया। लकड़ी के लम्बे-लम्बे फलकों पर से रथ को सीधे यमुना में लंगर डाले हुए नौका पर चढ़ाया। फलकों को खींचकर नौका में रखा गया। नाविकों ने दोनों नौकाएँ चलायीं। अचानक उलटकर देखा तो एक हाथ में मुरली लिये और दूसरा हाथ एका के कन्धे पर रखे हुए राधा दूर से मुझे दिखाई दे रही थी–अस्पष्ट–ऊँची, आकाश को छूनेवाली!

फिर मैंने निश्चयपूर्वक पीठ घुमा ली। गोकुल पीछे छूटता गया। वृन्दावन, मधुवन, गोवर्धन तो उससे भी पीछे छूट गया था। दादाजी, बाबा, दोनों माताएँ, ककेरे भाई-बहनों सहित मुखिया-निवास जहाँ-का-तहाँ रह गया। गोधन सहित मेरे गोपाल भी पीछे छूट गये। और हाँ, मुझमें विद्यमान गोपनायक, मुरलीधर, श्याम, मोहन, मिलिन्द, गोविन्द, दामोदर, गोपाल, माधव भी गोकुल में छूट गये। अब यादवों का नायक कृष्ण प्रत्यक्ष जीवन के रासमण्डल में उतरनेवाला था।

क्या यह भाव-भरा गोकुल फिर कभी मेरे जीवन में आनेवाला था? क्या दादाजी, नन्दबाबा, बड़ी और छोटी माँ, सभी काका-काकी मुझे फिर कभी दिखाई देनेवाले थे? क्या राधा, एकानंगा और गोकुल की अन्य छोटी-बड़ी गोपियाँ फिर कभी मुझसे बातें करनेवाली थीं? क्या मेरे ककेरे भाई-बहन, पेंधा और मेरे अन्य प्राणप्रिय साथी फिर कभी मेरे साथ खेलनेवाले थे? अथवा उनकी स्मृतियों से मेरे भीतर का गोप-कृष्ण नित्य रँभाता रहनेवाला था? नित्य अपने-आप से–अकेले ही?

गोकुल में कभी मेरी आँखों में अश्रु नहीं आये थे, किन्तु इन विचारों के साथ मेरी गोप-आत्मा की व्याकुल पुकार के अश्रुबिन्दु आँखों में छलछला आये–शरीर को चुभनेवाले यमुना के पुनीत पवन-झोंकों से थरथराये, ढुलकते हुए मेरे वक्ष पर झूलती वैजयन्तीमाला से लिपट गये और जिसका मुझे निरन्तर अनामिक आकर्षण था, उस यमुना की लपलपाती सर्वोदार शुभ्र-नील जल-

लहरियों में विलीन हो गये। एकमात्र यमुना ही थी जो मेरे अश्रुओं को झेलने में समर्थ और योग्य थी!

शूरसेन राज्य की राजनगरी मथुरा की भूमि पर अक्रूर काका के पीछे-पीछे दाऊ सहित मैंने पाँव रखा। यमुना के उस तट पर, हाथों में गुच्छेदार, सिन्दूरिया रंग के कदम्ब-पुष्पों की ताजा, प्रफुल्लित, सघन माला लिये एकमात्र यादव मेरे स्वागत हेतु उपस्थित था। आयु में वह मुझसे कुछ छोटा था। पैरों-तले की रेती को रौंदता, बड़े आवेग से वह दौड़ता हुआ मेरे पास चला आया। चमकती हुई आँखों से उसने वह कदम्ब-पुष्पों की माला मेरे कण्ठ में पहना दी। रेती में घुटने टेककर, नम्र भक्तिभाव से अपना मस्तक मेरे चरणों में रखता हुआ वह बुदबुदाया–"भैयाऽ क्या अपने इस छोटे भ्राता को पहचाना आपने?" मैंने उसकी भुजाएँ पकड़कर उसे प्रेमपूर्वक ऊपर उठाया। मैं उसकी प्रेमल, निर्मल आँखों की गहराइयों में झाँक रहा था, तभी अक्रूर काका ने कहा, "कृष्ण, यह उद्धव है। वसुदेव के भ्राता देवभाग और कंसादेवी का पुत्र। इसके और दो भ्राता हैं–चित्रकेतु और बृहद्‌बल। यह तुम्हारा ककेरा भ्राता है।" आँखों-ही-आँखों में हम दोनों एक-दूसरे को पहचान गये थे–जन्म-जन्मान्तर के लिए! 'उत् धव' अर्थात् पवित्र यज्ञाग्नि–सदैव ऊपर जाती जीवज्योति!

"उद्धवऽ ऊधोऽ प्रियभ्राता!" कहते हुए मैंने उसको कसकर वक्ष से लगाया। राधा से जुड़ी अनगिनत स्मृतियों से बँधा मेरा गोकुल, वृन्दावन था। भविष्य का जीवन ऊधो के साथ अकथनीय भावबन्धों में रमनेवाला था। वह तो मेरे भाव-जीवन का भावविश्वस्त बननेवाला था। उसके साथ मैं और दाऊ यमुना-तट की रेती पर चलने लगे। हमारे प्रत्येक पदाघात से अज्ञात का मरुस्थल चरमराने लगा।

धनुर्यज्ञ के सुसज्जित प्रांगण तक पैदल ही जाने का निर्णय मैंने पहले ही किया था–किसी विशेष अनुमान के साथ! चलते-चलते किसी विचार से मैं रुक गया–उद्धव के कन्धे पर हाथ रखकर उसे थपथपाते हुए मैंने कहा, "उद्धव, मेरा एक काम करोगे? तुम्हारे बिना कोई अन्य इसके योग्य नहीं है। इसी समय तुम नौका से गोकुल चले जाओ। मेरे विरह में व्याकुल रोहिणी माता और यशोदा माता को मेरी ओर से समझाओ–मनाओ। मेरी ही भाँति राधा और एका को सान्त्वना दो।"

प्रसन्न होकर चमकती आँखों से उद्धव ने तुरन्त कहा, "जैसी आपकी इच्छा!"

मैंने उसे गले लगाया। नौका की ओर जाते समय उसके पैर कुछ रुक-से गये। पहली ही भेंट में मैंने उस पर एक महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपा था इसलिए वह प्रसन्न तो था, किन्तु मेरी चिन्ता से उसके पैर लड़खड़ाये थे। उसकी आँखों में मैंने निर्मल, निरपेक्ष प्रेम स्पष्ट देखा था।

शीघ्र ही यादवों की राजनगरी मथुरा दृष्टिक्षेप में आ गयी। बहुत वर्ष पूर्व इसका नाम था मधुपुरी! अयोध्या के सूर्यवंशी राजा रामचन्द्र के भ्राता शत्रुघ्न ने इसे बसाया था। चान्द्रवंशी यादवों के हमारे पूर्वजों ने इसे जीतकर इसका नाम रखा था–'मधुरा'। बाद में मधुरा 'मथुरा' बन गयी।

मथुरा के मन्दिरों के गोपुर और राजप्रासादों के ऊँचे सुघड़ कलश दिखाई देने लगे। मथुरा में आते ही सर्वप्रथम पुष्प-हाट हमारे दृष्टिपथ में आ गयी। नाना रंगों के पुष्पों के टोकरे और विविध रंगों की पुष्पमालाओं से शोभित दुकानें दिखने लगीं। पुष्पमालाओं पर भिनभिनाती मधुमक्खियाँ गुंजार करती हुई यहाँ भी निर्भयता से मधु खोज रही थीं। उसका आनन्द उठाते हुए हम जा रहे थे।

गुणक नाम के एक पुष्प-विक्रेता ने हमारे पास आकर हमें पुष्प और पुष्पमालाएँ अर्पित कीं। अचानक कटि से झुकी हुई और बेल-वृक्ष की लकड़ी से बनी एक टेढ़ी लकुटी के सहारे अपना सन्तुलन सँभालती हुई एक अष्टांगी कुरूपा वृद्धा मेरे सम्मुख आ गयी। धीरे-धीरे कटि सीधी करते हुए, थरथराते शब्दों में उसने कहा, "कितनी लम्बी प्रतीक्षा करायी है तुमने कन्हैया! मुझे तो लगा, कहीं राधा के सहवास में मुझे भूल तो नहीं गये?" मैंने झुर्रियों से भरे उसके हाथों को प्रेमपूर्वक अपनी हथेलियों में लेते हुए कहा, "तुम्हें कैसे भूल सकता हूँ? कैसी हो तुम?" मैं बड़े स्नेह से उसकी पीठ पर हाथ फिराता रहा। उसकी आँखों में मुझे कई प्राणज्योतियाँ जलती दिखाई दीं। अपना पोपला मुँह खोलकर वह अत्यन्त मधुर मुस्करायी। मैंने अपने कण्ठ से कदम्ब-पुष्पों की माला उतारकर हँसते हुए उसके कण्ठ में डाल दी।

"कृष्ण, तुम सदैव यशस्वी होगे। यही आशीर्वाद मैं तुम्हें दे रही हूँ।" आशीर्वाद देकर वह लड़खड़ाती हुई चली भी गयी। दाऊ ने कहा, "इस वृद्धा का अनपेक्षित आशीर्वाद हमारे लिए बड़ा ही शुभशकुन है!" अक्रूर काका के आगमन के साथ-साथ 'गोकुल के कृष्ण-बलराम मथुरा आ पहुँचे हैं' यह समाचार भी झंझावात की भाँति मथुरा में फैल गया। हाथों में पुष्पमालाएँ नचाते हुए, खड्ग, भाला, परशु, मूसल, गदा—जो भी शस्त्र हाथ लगा उसे लेकर सहस्रों वीर यादव युवक निकल पड़े। उनको नियन्त्रण में रखना अब अक्रूर काका के वश में नहीं था। मैं और दाऊ भी उनको रोकनेवाले नहीं थे—गोकुल में ही हमने यह निश्चित किया था।

देखते-देखते ज्वार के सागर की भाँति गरजते मथुरावासी यादव वीरों के झुण्ड-के-झुण्ड हमारे पीछे खड़े हो गये। वर्षों से कंस के अनिर्बन्ध, अन्यायी बट्टे के नीचे निर्दयता से पीसे गये निरीह जीव थे वे! एक ही रात्रि में मैंने जो अनुभव किया उसे वे जीवन-भर सहते आये थे। उनका दमित क्रोध आज उफन रहा था—अनियन्त्रित हो रहा था। उनके रेले-के-रेले शस्त्र-सज्जित होकर गरजते हुए हमारे पीछे-पीछे आने लगे। सहस्रों दमित, क्रुद्ध यादव कण्ठ की धमनियों को फुलाकर गरजने लगे—'कृष्ण-बलराऽम की जय हो...जय हो!'...

इस धूमधाम में अक्रूर काका हमसे दूर कहाँ चले गये, कुछ पता नहीं चला। वे भीड़ में ही मिल गये। नगाड़े, तूर्य, दुन्दुभी, रणसिंघा आदि वाद्यों का प्रलयकारी कोलाहल गूँजने लगा। वह गरजती, गगनभेदी ध्वनि क्षण-क्षण बढ़ती ही गयी। किसी के भी कान के परदे फट जाएँ, ऐसी थी वह ध्वनि! फिर भी प्रेरक, रुद्रमंगल! दाऊ और मुझ पर उसका तनिक भी प्रभाव नहीं हुआ। गोवर्धन के वट-वृक्ष के नीचे तीन रात्रि तक हमने कौंधती, गरजती विद्युत् का जो अनुभव किया था, वह अभी ताजा था।

हमारी यह पहली ही मथुरा-यात्रा मथुरा के गलियारों को पार करती हुई प्रशस्त राजमार्ग पर आ गयी। वाद्यघोष अब भी सर्वत्र गूँज रहा था। समस्त मथुरा डाँवाडोल हो उठी थी। मैंने और दाऊ ने पीछे मुड़कर देखा। जिन पर दृष्टि ठहर न पाये ऐसे, कुंकुम से सने, दृढ़ निश्चयी यादव वीरों का गरजता हुआ रक्तवर्ण सागर हमारे पीछे लहरा रहा था। हम दोनों तो अब तक कुंकुम-अबीर से नहा चुके थे। इस समय हमारी माताएँ भी हमारा मूल वर्ण पहचान नहीं पातीं। हमारी देह देह नहीं, दो कुंकुममण्डित रक्तमूर्तियाँ ही दिख रही थीं।

गोकुल को छोड़ते समय मेरा और दाऊ का वक्ष अचल आत्मविश्वास से भर आया था। अपने पीछे लहराते सहस्रों यादवों के गरजते सागर को देखकर हमारा आत्मविश्वास गगनस्पर्शी हो

गया। हम दोनों के शरीर मोरपंख की भाँति हलके हो गये। अब मन में खचाखच भरी थी केवल निर्भयता, अदम्य साहस और दृढ़ निश्चय! अब हम गोपालों के मुरलीधर-बलराम नहीं थे, यादवों के कृष्ण-बलराम भी नहीं थे। हम बने थे केवल लबालब भरे निर्भय आत्मविश्वास के–केवल तेज के अशरण-स्तम्भ!

यादवों का वह उफनता, कोलाहल करता सागर–जिसके अग्रगामी मैं और दाऊ थे, कंस के अन्याय के केन्द्र–उसके राजप्रासाद के समीप आ धमका। मैं और दाऊ बड़े आवेश से धनुर्यज्ञ के प्रांगण में घुस ही गये थे कि सवेरे से ही मदिरा पिलाकर मदोन्मत्त बनाये गये और महामात्र नामक महावत द्वारा अंकुश चुभोकर उत्तेजित किये गये एक प्रचण्डकाय हाथी ने अचानक चिंघाड़ते हुए हम दोनों पर आक्रमण किया। उसका नाम था कुवलयापीड़। उसकी भयानक चिंघाड़ और गुंजा जैसी लाल-लाल आँखें देखकर हमारे साथ बड़े प्रयास से प्रांगण में घुसे यादव भयभीत हो गये, इधर-उधर बिखर गये। अन्दर घुस न पाने के कारण कई यादव प्रागंण के प्राकार के बाहर ही रुके हुए थे। मैंने और दाऊ ने क्षणार्द्ध में गले की पुष्पमालाएँ उतारकर दूर फेंक दीं। अब मेरे वक्ष पर केवल कुंकुममण्डित वैजयन्तीमाला झूल रही थी। कब हम अपने वस्त्रों के काछ कसकर हाथी से जूझने के लिए तैयार हो गये, किसी की समझ में ही नहीं आया। प्रांगण के उस ओर–दूर ऊँचे सिंहासन पर आसीन मथुरा का निर्दयी, उन्मत्त, घमण्डी राजा कंस–हमारा मामा अस्पष्ट-सा दिखाई दे रहा था। उसकी मन्त्रिपरिषद् और राजसभा के अन्य सदस्य उसको घेरे हुए थे। उनमें उसके आठ सहोदर भ्राता–न्यग्रोध, कंक, शंकु, सुहू, राष्ट्रपाल, सृष्टी, सुनामा और तुष्टिमान थे। राजस्त्रियों के कक्ष में उसकी महाराज्ञियाँ अस्ति और प्राप्ति के साथ उसकी बहनें–कंसवती, कंका, शूरभू, राष्ट्रपालिका और कंसा–भी उपस्थित थीं।

जैसे ही हमने हाथी को बड़ी कुशलता से चकमा दिया–कि तालियों की गड़गड़ाहट से परिवेश गूँज उठा। क्षणार्द्ध में ही दाऊ उस प्रचण्डकाय, हिलते-डोलते प्राणी की तनी हुई छोटी पूँछ की ओर मुड़े और मैं चपलता से उसकी सूँड़ की ओर लपका। हमारे रूप में मानो विद्युत् की दो लपटें ही उस मदोन्मत्त गजशक्ति से निश्चयपूर्वक भिड़ गयीं। अपनी पुष्ट ग्रीवा को झटके देता, सूँड़ नचाता हुआ वह हाथी निरन्तर प्राण-भेदक चीत्कार करने लगा। वहाँ उपस्थित सभी जन पथराये-से केवल देखते रहे।

अनजाने में अपने-आप ही हम दोनों ने उस हाथी के दो भागों को बाँट लिया था। उसकी सूँड़ को चकमा देकर मैं चपलता से उसके पेट के नीचे गया। उसकी पूँछ को रस्सी की भाँति पकड़कर दाऊ एक ही छलाँग में उसकी पीठ पर चढ़ गये। पलक झपकते ही वे उस प्रचण्ड प्राणी के मदरस झरते गण्डस्थल पर जा पहुँचे और उसके महावत से भिड़ गये। क्षण-भर में ही बलशाली दाऊ ने उसे दबोच लिया और अंकुश सहित उठाकर नीचे फेंक दिया। इस झड़पा-झड़पी में उड़ी धूल कुवलयापीड़ के मदरस से चिपक गयी।

मैं उस प्रचण्ड प्राणी के आगे के दो पैरों के बीच में से निकलकर उसकी सूँड़ के सामने खड़ा हो गया और उसकी मदमस्त, लाल आँखों में आँखें डालकर उसकी गतिविधि का अचूक अनुमान करने लगा। उसको चकमा देने लगा और चुनौती देते हुए उसे उत्तेजित करने लगा। अब हम दोनों ने उस पर पूरा नियन्त्रण कर लिया था। दाऊ ने नीचे उतरकर भूमि पर पड़ा अंकुश उठाया। भयभीत हुआ महावत कहीं दूर पलायन कर गया था। पीछे से अंकुश चुभोकर हाथी को गरगर

घुमानेवाले दाऊ और आगे उसकी सूँड़ की पकड़ से बचकर चकमा दे-देकर उसको चक्कर में डालनेवाला मैं–आवर्तन का यह गतिमान खेल बहुत देर तक चलता रहा।

हाथी की समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करे, कहाँ जाए? गोल-गोल घूमने से मद्य का नशा उस पर और भी चढ़ गया था। उसका पुष्ट गण्डस्थल मद से लथपथ हो गया था। दाऊ के अंकुश की चुभन से वह कभी मेरी ओर, कभी दाऊ की ओर ग्रीवा घुमा-घुमाकर थक गया था–स्वेदसिक्त हो गया था वह। उसके स्वेद से भीगे पैरों के चिह्न अब भूमि पर अंकित होने लगे। हमने अपनी गतिविधियों की गति और बढ़ायी। चकमा दे-देकर उसे और भी फिरकनी की भाँति घुमाया।

मद्य का प्रभाव और गोलाकार भ्रमण के कारण चकराया हुआ वह हाथी धीरे-धीरे लड़खड़ाने लगा और अन्तत: वह भूमि पर गिर गया। उसके भयानक चीत्कारों से धरती की धूल हवा में उड़ने लगी। मैंने शीघ्रता से उसकी सूँड़ के समीप जाकर इडामाता की जयकार करते हुए उसका हाथ-भर लम्बा, टेढ़ा दाहिना दाँत एक झटके में उखाड़ डाला। रक्त का एक फव्वारा छूटा। उसने मेरी कलाई में दादाजी द्वारा पहनाये रुपहले कड़े को नहला दिया! मेरा पीताम्बर उस रक्त से भीग गया। उस नुकीले दाँत को ही शस्त्र बनाकर मैंने कुवलयापीड़ के मद झरते हुए गण्डस्थल पर निरन्तर प्रहार किये। दाऊ ने उसके शरीर का कोई भी भाग ऐसा नहीं छोड़ा था, जिस पर अंकुश का आघात न हुआ हो। हम दोनों स्वेद और रक्त से लथपथ हो गये थे।

कंस द्वारा हमारे ऊपर चलाये गये पहले शस्त्र–मदोन्मत्त हाथी कुवलयापीड़ ने पैर तानकर फुसफुसाते हुए प्राण छोड़ दिये! एक प्रचण्ड शक्ति-केन्द्र नष्ट हो गया।

अब तक दबे हुए, पथराये-से यादवों ने अपने मुँड़ासे हवा में फहराते और तालियों की अविरत गड़गड़ाहट करते हुए स्वयंस्फूर्त नारे लगाये–'कुवलयापीड़ गिर पड़ाऽ उसका अन्त हो गया ऽ!...साधुवाऽद साधुवाऽद! ...कृष्ण-बलराऽम की जय हो–जय हो!' उस रोमहर्षक जयघोष को सुनकर अब तक राजप्रासाद के महाद्वार के बाहर रुके यादवगण रेल-पेल करते हुए, राजप्रासाद के भव्य महाद्वार से नारे लगाते हुए, पानी के रेले की भाँति अन्दर घुस आये।

मैं और दाऊ स्वेदसिक्त अवश्य हो गये थे, किन्तु श्रान्त नहीं हुए थे–उलटे, यमुना से आती शीतल वायु-लहरों का हमारे स्वेद से लथपथ शरीरों को स्पर्श होते ही हम एक अनोखे उत्साह से फूल उठे। दूर राजवेदी पर मथुरानरेश कंस अब अपने आसन से उठ खड़ा हुआ था। क्रोध से उसका शरीर थर-थर काँप रहा था। उसकी घनी, मोटी भौंहें सिमटकर टेढ़ी हो गयी थीं। आँखें आग-ही-आग उगल रही थीं। उसका अहंकार कड़क उठा, "अमात्य, उन गँवार ग्वालों को ले आओ धनुर्यज्ञ मण्डप में!"

उसकी वेदी के आगे ही कीकर की लकड़ी के स्तम्भों से बँधी रस्सियों के वेष्टक में लाल मिट्टी का विशाल अखाड़ा था। उसके मध्य बेलबूटेदार महीन आस्तरण पर पुष्पमालाओं से मण्डित एक धनुष रखा हुआ था।

कंस का अमात्य विपृथु हमारे समीप आ गया। उसने कड़कते हुए अपने राजा का आदेश सुनाया–"चलो, धनुर्विद्या का कौशल दिखाने!" मैं और बलदाऊ ताल ठोंकते हुए अखाड़े में उतरे।

दाऊ तो भोले थे। वे निकट जाकर धनुर्यज्ञ के लिए रखे धनुष का निरीक्षण करने लगे! किन्तु मैं चारों ओर दृष्टि घुमाता हुआ सावधानी से उनके पास खड़ा ही रह गया, क्योंकि मैं जानता था–धनुर्यज्ञ एक बहाना है–चाल है। अचानक कहीं से दनादन ताल ठोंकने की आवाजें

आयीं। पीछे-पीछे काछ-कसे दो स्नायुबद्ध, महाकाय राजमल्ल अखाड़े में उतरे।

छाछ-मिश्रित एरण्ड के तैल से मर्दन करने के कारण उनके चिकने शरीर दमक रहे थे। उनमें से एक था चाणूर और दूसरा मुष्टिक। उन्होंने पुन: दनादन ताल ठोंके। दोनों हाथ ऊपर उठाकर एक पाँव पर नाचते हुए उन्होंने जयघोष किया–'अजेय मल्लवीऽर मथुरानरेश कंस महाराऽज की जय हो–जय हो!' उन्होंने दौड़ते हुए अखाड़े की दो परिक्रमाएँ कीं। उनके ताल ठोंकने से समस्त प्रांगण दनदना उठा। उनके केवल दर्शन से ही सर्वत्र भयंकर आशंका छा गयी।

अब दाऊ भी सँभल गये थे। चाणूर ने बीच में रखा धनुष आस्तरण सहित उठाया और मेरी ओर तिरस्कार से देखकर विकराल रूप से हँसते हुए उसे सीधे अखाड़े के बाहर फेंक दिया। मुट्ठी-मुट्ठी-भर मिट्टी हम दोनों पर फेंकते हुए चाणूर मुझसे और मुष्टिक दाऊ से भिड़ गया। योजनापूर्वक मण्डप में कहीं-कहीं रखे, लेकिन अब तक दिखाई न पड़नेवाले नगाड़े एकदम बज उठे। भयाक्रान्त कोलाहल से पूरा मण्डप भर गया।

चाणूर के मेरी कनपटी पर किये पहले ही आघात से मेरी आँखों के आगे चिनगारियाँ-ही-चिनगारियाँ चमक उठीं। कानों में केलिनन्द काका का मल्लवेद उसकी सभी ऋचाओं सहित मेरे कानों में गूँज उठा–'ऐसा ही दशरंग आघात जब तुम अपने प्रतिस्पर्धी पर करोगे, तभी तुम सच्चे मल्ल बनोगे' क्षणार्द्ध में ही जलते अंगारों पर फूलनेवाले लाजाओं की भाँति मेरे रक्तकण भी फूल उठे।

मेरे आगे खड़ा मल्ल अब मुझे उस हाथी जैसा ही दिखने लगा–एक तुच्छ-से ढेर की भाँति! असीम तेज का एक वलय मेरे शरीर के चतुर्दिक् घूम गया। चाणूर समझ नहीं पा रहा था, मैं उसकी पीठ के पीछे हूँ, दायें हूँ कि बायें हूँ! उसकी कनपटी पर प्रहार कर रहा हूँ कि उसकी पीठ पर मुष्टि-प्रहार! जिस प्रकार छोटे-से रम्भे से प्रचण्ड पाषाण को भी पलटा जाता है, उसी प्रकार मैंने कभी टाँग तो कभी कैंची लगाकर, तो कभी पछाड़ के दाँव पर उसे पटक-पटककर आहत कर दिया। अन्ततः भूमि पर औंधे पड़े चाणूर की पुष्ट ग्रीवा पर घुटना टेककर मैंने उसे रौंद डाला। पुरवा वर्षा की अविरत झड़ी की भाँति अखाड़े के चारों ओर निरन्तर गूँजती तालियों का गगनभेदी कोलाहल भी मुझे सुनाई नहीं दिया। कनपटियों सहित मेरा सम्पूर्ण मस्तक जैसे सूर्य के तपते गोले से चिपक गया था–और तप्त हो गया था, भान रहित हो गया था। जब चाणूर हाँफने लगा, मैंने अपना विशिष्ट बाहुकण्टक दाँव निकाला। उसका प्राणान्तक चाँप मैंने होठ काटते हुए अपने प्रतिस्पर्धी के कण्ठ पर कस दिया। जीभ निकालकर, आँखें गरगर घुमाते हुए, रक्त उगलकर एड़ियाँ रगड़ते हुए वह छूटने के लिए छटपटाने लगा। मगर मैं उसे अवसर देनेवाला ही नहीं था। यह मल्लविद्या का अन्तिम प्राणघातक दाँव था–बाहुकण्टक! बाहुकण्टक अर्थात् प्रतिस्पर्धी के कण्ठ में कसा प्रत्यक्ष मृत्यु का कँटीला पाश!

चाणूर जैसें-जैसे छटपटाता गया, मैं बाहुकण्टक का पाश और कसता गया। एड़ियाँ रगड़-रगड़कर कंस का महाकाय मल्ल गतप्राण हो गया। दाऊ ने भी अपने प्रतिस्पर्धी–मुष्टिक को प्राणदण्ड दिया था।

तालियाँ पीटते हर्षोत्फुल्ल मथुरावासी यादव हवा में उत्तरीयों को, मुँड़ासों को फहराते हुए 'कृष्ण-बलराम की जय हो!...जय हो!' के जयघोष करते हुए अखाड़े में घुस आये। उन गगनभेदी गर्जनाओं से राजवेदी का मण्डप डाँवाडोल हो उठा! राजवेदी के पास क्रोध से पैर पटकता कंस

जोर से चिल्लाया–"देखते क्या हो?–अमाऽत्य!–सेनापति! तोशलक, कूट, शल, कौशल को आदेश दो–इन ग्वालों को उचित पाठ पढ़ाएँ!" कंस का क्रोधोन्माद देखकर उसके भ्राता सुनामा ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा, "दोनों में से बड़े ग्वाले को मैं पढ़ाता हूँ पाठ!"

एक ओर से मुझसे भिड़ने हेतु तोशलक, कूट और दूसरी ओर से दाऊ से भिड़ने हेतु सुनामा, शल और कौशल अखाड़े में उतर आये। सशस्त्र सेवकों ने अखाड़े में घुसे मथुरावासियों को भगा दिया। दनादन ताल ठोंकते हुए उन मल्लों ने पूरे प्रांगण को दहला दिया। क्षणार्द्ध में ही वे हमसे भिड़ गये। चाणूर और मुष्टिक के मृत शरीरों को सेवक पहले ही उठा ले गये थे।

हमें श्वास लेने का भी अवसर न देते हुए कंस के विशालकाय मल्ल हम दोनों पर टूट पड़े। तोशलक और कूट ने मुझे तथा सुनामा, शल और कौशल ने दाऊ को एक-साथ घेर लिया। यह तो अन्यायकारक और प्राणघातक प्रहार थे–यह संकुल युद्ध ही था।

नगाड़ों की कर्णकर्कश ध्वनि निरन्तर गूँजने लगी। तोशलक और कूट जैसे महाकाय मल्लों के आगे मैं गोवर्धन पर्वत के दुहरे शिखरों के आगे नगण्य एक तुच्छ टीले के समान था। दाऊ से भिड़ा मल्ल सुनामा तो कंस का प्रिय भ्राता ही था। शल, कौशल उसका साथ दे रहे थे। किन्तु हम दोनों को प्रतिस्पर्धियों की संख्या और महत्ता का आभास ही नहीं हो रहा था। हम अब मानव-देह नहीं रहे थे–हम बन गये थे गगनस्पर्शी चैतन्यज्योति!

प्रथा के अनुसार प्रतिस्पर्धियों के हाथों में अखाड़े की मिट्टी देते ही मैं बारी-बारी से उन दोनों से टकराने लगा। उनकी पुष्ट ग्रीवाओं पर मेरी हथेलियों के पाश बारी-बारी कसने लगे–अत्यन्त चपलता से, तीव्र गति से। दाऊ भी निश्चयपूर्वक अपने तीनों प्रतिस्पर्धियों से अकेले ही भिड़ गये थे।

आँखों में प्राण भरकर हमारी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म गतिविधियों पर ध्यान रखनेवाला एकमात्र जीव था यादवों का गर्वोन्मत्त राजा–मेरा मामा–अत्याचारी कंस!

मैं और दाऊ स्वेद से लथपथ हो गये थे। मथुरावासियों द्वारा स्वागत हेतु हम दोनों पर बिखेरा हुआ कुंकुम अब स्वेदधाराओं से धुल गया था। हमारे नैसर्गिक नील और रक्तिम-गौर वर्ण अब झिलमिलाने लगे थे।

स्वेद से लथपथ होते हुए भी हमारी गतिविधियों में तनिक भी शिथिलता नहीं आयी थी। स्वेद से निर्मित हुई शरीर की फिसलन का हम प्रतिस्पर्धियों को चकमा देकर औंधे मुँह गिराने हेतु उपयोग करने लगे। महाकाय तोशलक, सुनामा और उनके साथी हमारे चपल चकमों से धोखा खाकर धड़ाधड़ गिर पड़े। यह देखकर आनन्द से उफनते यादव निरन्तर स्वयंस्फूर्त नारे लगाने लगे–'दबोच ले उस नराधम को जाँघों में...छोड़ना नहीं...कस दे सवारी...दबा दे घुटना...रौंद डाल उसे...'। कान के परदे फाड़नेवाले हर्ष-घोष गूँजने लगे।

हमारी अन्तिम मुठभेड़ एक घटिका-भर चलती रही। अन्ततः दाऊ ने और मैंने अपना अन्तिम–प्राणघातक दाँव चलाया और एक-एक करके पाँचों प्रतिस्पर्धियों को समाप्त कर डाला।

धनुर्यज्ञ के मण्डप की छत को भी उड़ा देनेवाला प्रचण्ड जयनाद सहस्रों यादवों के मुख से निकला–'कृष्ण-बलराम की जय होऽ! कृष्ण-बलराऽम की जऽयऽ! कृष्ण-बलराम कीऽ जऽय!' उस जयनाद को सुनकर प्राकार के बाहर सशस्त्र सैनिकों द्वारा रोक रखे उत्सुक यादवों का निरंकुश रेला धक्कमधक्का करते हुए धनुर्यज्ञ मण्डप में घुस आया। वहाँ अब चींटी को भी पग धरने की जगह नहीं थी। घोषणाओं और किलकारियों का जोर बढ़ता ही गया। बीच ही में किसी ने

एक उत्तेजक घोषणा की—"अन्यायी नराधम कंस को धिक्काऽर हैऽ धिक्कार हैऽऽ—अन्त कर डालो उस पापी काऽ अन्त कर डालो ऽऽ!"

अखाड़े के लकड़ी के वेष्टक पर से मैंने छलाँग लगायी। शूरसेन राज्य का सर्वाधिकारी कहलानेवाले बलोन्मत्त, मदान्ध कंस के अन्यायी राजसिंहासन के सम्मुख मैं तनकर खड़ा हो गया। सहस्रों व्याकुल हृदय यादवों के कण्ठ से निकली कंस के धिक्कार की घोषणाएँ प्राकार की पाषाण-भित्तियों के भी रोएँ खड़े कर देने लगीं—

"धिक्कार है...धिक्कार है...पापी का अन्त हो...अन्त हो...अपनी बहन के नवजात शिशुओं की हत्या करनेवाले नराधम को धिक्कार है! माता-पिता को बन्दीवास दिलानेवाले कुलघाती को धिक्कार है! सैकड़ों यादवों को निर्वासित कर देनेवाले अत्याचारी को धिक्कार है! जय हो कृष्ण-बलराऽम की ऽ! जय होऽ! पापी कंस का अन्त हो...अन्त हो...अन्त हो!"

मेरी कनपटियाँ तपकर लाल हो गयीं। एक चैतन्य स्वर मेरे कान में गूँजने लगा—'ॐ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम् मुखम्...सत्यधर्माय दृष्टये।'

राजवेदी पर थरथराते हुए खड़े, ऊँचे, विशालकाय मामा कंस की आँखों से मेरी पापघ्न, खलघ्न, असत्य को बेधनेवाली आँखें भिड़ गयीं। उन आँखों के पीछे क्या छिपा है, यह इन आँखों ने जान लिया। वे आँखें भी जान चुकीं—यह कैसा क्षण है! वह थरथरा रहा था—क्रोध से नहीं, प्राणभय से! उसकी लाल आँखों में कालिमा छा गयी। यह वही क्षण था—अन्याय का आमूल निर्दलन करने का! यह वही क्षण था—वर्षों से दबाये गये, आतंकित किये गये असंख्य जीवों को मुक्त श्वास दिलाने का!

मेरे आसपास गूँजती घोषणाओं और किलकारियों से भी उच्च गगन-प्रदत्त, मेरे लिए भी अपूर्व, मेरा अपना जीवन-स्वर मुझे सुनाई देने लगा—"आगे बढ़ कृष्ण! तेरा जन्म भी तो इसीलिए हुआ है—अन्याय को पैरों-तले कुचलने के लिए! अवरुद्ध हुए न्याय को मुक्त करने के लिए—कन्धे पर उठाने के लिए। ध्यान में रख, वृद्धि और विकास ही जीवन के लक्षण हैं! जीवन-गंगा के विकास की इस बाधा को जड़ से उखाड़ दे।...इस समय रिश्ते-नातों पर ध्यान मत दे। प्रत्येक जीव से तेरा जन्मसिद्ध सम्बन्ध और कर्तव्य कदापि मत भूल। तू किसी का भानजा नहीं है—कोई तेरा मामा नहीं है। कंस का तू कुछ भी नहीं लगता है। अधर्म का निर्दलन और सत्यधर्म का उत्थान—यही तेरा जीवन-कार्य है।..."

राजवेदी पर यदुवंश का, सोमवंश का, शूरसेन राज्य का मूर्तिमान घोर पाप प्राणभय से थरथराता हुआ खड़ा था।

प्रचण्ड आत्मविश्वास से मेरा मन और आकाश-प्रदत्त सामर्थ्य से मेरा मेरुदण्ड व्याप्त हो गया। झटके के साथ मैंने राजवेदी की सीढ़ियाँ पार कर डालीं। एक ही छलाँग में मैं सीधे कंस से भिड़ गया। वह भयभीत होकर, गलितगात्र-सा—आँखें विस्फारित कर मेरी ओर देखता ही रहा। क्षणार्द्ध में मैंने उसके हाथ को ऐसा झटका दिया कि सीढ़ियों से लुढ़कता हुआ वह सीधे बेलबूटेदार पाँवड़े पर पीठ के बल गिरा। उसका उन्मत्त स्वर्णमुकुट भी लुढ़कता, ठनठन आवाज करता हुआ कहीं गिर गया। उसके रूक्ष, घने केश अस्त-व्यस्त बिखर गये।

मेरे छह नवजात भ्राताओं को शिलाखण्ड पर पटककर उनकी हत्या करनेवाली कंस की निर्दयी, निर्मम, सशक्त भुजाएँ आज निर्बल कैसे हो गयीं? उसने तनिक भी प्रतिकार कैसे नहीं

किया? इसका कारण स्पष्ट था—वह अत्यन्त भयभीत हो गया था और भयभीत होने के कारण हड़बड़ा गया था। बलशाली पाप भी जब मृत्यु के द्वार पर खड़ा हो जाता है, वह ऐसे ही लड़खड़ा जाता है, किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है, निर्बल हो जाता है। आप-ही-आप निःसत्त्व हो जाता है।

राजवेदी की सीढ़ी से पुन: एक छलाँग लगाकर मैं कंस के उन्मत्त, पुष्ट वक्ष पर आरूढ़ हो गया। मानो कुवलयापीड़ के स्वामी के गण्डस्थल पर चीता आरूढ़ हो गया हो! मैंने उसके रूक्ष, घने केश बायीं मुट्ठी में कसकर पकड़ लिये और उसकी मदोन्मत्त ग्रीवा ऊपर उठाकर उसका सिर कई बार सीढ़ियों पर पूरी शक्ति के साथ पटका। "यह ले यादव कुलघाती!" —कहते हुए, आँखें विस्फारित कर, रुपहले कड़े से मण्डित अपने दायें हाथ की वज्रमुष्टि का प्रबल प्रहार मैंने उसके उन्मत्त वक्ष पर किया।

फिर यही क्रिया देर तक चलती रही—बायीं मुट्ठी में उसके केश कसकर उसका मस्तक पटकने की और दायें हाथ की वज्रमुष्टि के प्रबल प्रहार उसके गर्वोद्धत वक्ष पर करते रहने की! प्रत्येक प्रहार के साथ मेरे मुख से शब्द निकल रहे थे—"यह मेरे पहले भ्राता की हत्या के लिए—जऽय इडामाताऽ...यह दूसरे की...यह तीसरे की हत्या के लिए...जऽर देवकी ऽ माता ऽ...यह मेरी माता को दी निर्घृण यन्त्रणाओं के लिए...यह मेरे पिता की घोर अवमानना के लिए—उनकी पीड़ाओं के लिए...यह यादवों के अठारह कुलों को निष्कासित करने के लिए...जय इडामैयाऽ!" एक के बाद एक प्रहार—प्रत्येक प्रहार के साथ छूटता अन्यायी रक्त का फव्वारा—उसमें भीगता मेरा पीताम्बर और विदीर्ण, उद्ध्वस्त होता अन्यायी, असहाय वक्ष!

मण्डप में उपस्थित विजयोन्माद से पगला गये मथुरावासी यादव हवा में ही आवेश से प्रहार करते हुए गरजने लगे—'यह पहला...यह दूसरा...' मानो मैं नहीं, वे स्वयं ही कंस के वक्ष पर बैठे हैं—मथुरा के अन्यायी राजा का वध कर रहे हैं! कई युगों की उनकी मानसिक, आत्मिक और लौकिक विवशता आज आमूल नष्ट हो रही थी—वे मुक्त हो रहे थे।

कंस एड़ियाँ रगड़-रगड़कर छटपटाता हुआ मुझे अपने वक्ष से दूर हटाने का भरसक प्रयास कर रहा था, किन्तु मेरे जाँघों की पकड़ दृढ़ थी—मगरमच्छ की भाँति! मेरी मुट्ठियों में और भुजाओं में अपार, अरोध्य बल था। स्वेद से, रक्त से लथपथ हुआ कंस अपनी मोटी भौंहों को टेढ़ी-मेढ़ी सिकोड़ता, रक्त उगलता हुआ, एड़ियाँ रगड़-रगड़कर, गुर्राता-कराहता हुआ निष्प्राण हो गया। कई वर्ष मथुरा में भाँय-भाँय करता-गरजता एक अन्यायी, क्रूर, भयावह, अनिर्बन्ध राज-झंझावात शान्त हो गया। मेरे कण्ठ में झूलती वैजयन्तीमाला उसके मुख और वक्ष से झरने की तरह बहते हुए रक्त से जाने कब लथपथ हो गयी, मुझे पता ही नहीं चला!

पहले भयभीत हुए किन्तु बाद में क्रोध में पागल हुए कंस के कंक, न्यग्रोध आदि भ्राताओं को मुझ पर टूट पड़ने हेतु दौड़ते देख बलदाऊ ने आड़े आकर उन सबको ललकारा और क्षुब्ध हुए यादवों की सहायता से उनको समाप्त भी कर डाला।

कंस और उसके परामर्शदाताओं का रचा गया धनुर्यज्ञ का आँखों को सन्तुष्ट कर देनेवाला समारोह समाप्त हो गया था। विजय से और प्रेम से उन्मत्त हुए यादवों ने हर्षातिरेक से मुझे और दाऊ को कन्धे पर उठा लिया। ऊँचे स्वर से हाथ चमकाते हुए उन्होंने गगनभेदी जयघोष किया—'यादवरादऽज कृष्ण-बलराऽम की जय...जय!' हर्षोत्फुल्ल होकर निरन्तर जयनाद करते हुए उन्होंने हम दोनों को राजवेदी के निकट लाकर खड़ा कर दिया। मेरे मन में उठी भावझंझा भी

अब शान्त हो गयी थी। मैंने दोनों हाथ ऊपर उठाकर यादवों को सम्बोधित किया—“मेरे प्रिय मथुरावासी बान्धवो, शान्त हो जाइए।” पिछले लगभग तीन घटिका तक चलता रहा अविरत नारों और जयकारों का घोषयज्ञ क्षणार्द्ध में शान्त हो गया। उसी क्षण मुझे तीव्रता से प्रतीत हुआ कि मेरे कण्ठ में एक आकाश-प्रदत्त, प्रणव पर स्वामित्व स्थापित करनेवाला अद्वितीय स्वर सुप्त रूप में विराजमान है। उसके प्रकट होते ही सहस्र जनों को स्तब्ध होकर सुनना ही पड़ता है। मुझे अपना जीवन-स्वर मिल गया।

राजवेदी के समीप दाऊ के दाहिने खड़े होकर मैं धीमे शब्दों में बोलने लगा—“आज से मथुरा नगरी ‘कंसमुक्त’ हो गयी है। स्वतन्त्र-गणतन्त्र हो गयी है। शूरसेन राज्य मुक्त हो गया है। आप सबका समर्थन प्राप्त हो तो और भी बहुत-कुछ मुक्त होगा, स्वतन्त्र होगा। आप सबके आशीर्वाद से मैं अपने माता-पिता के प्रासाद में जाकर वर्षों के बन्दीगृह से उनको मुक्ति दिला दूँगा। कारागृह में जाकर महाराज उग्रसेन और महाराज्ञी पद्मावती को भी मैं मुक्त कर दूँगा—इसी समय!

“नगरजनो, विश्वास रखिए, मथुरा के राजसिंहासन पर हमारे महाराज उग्रसेन ही पुन: विधिवत् आसीन होंगे—मैं नहीं। यहाँ के जो भी अमात्य हों, शीघ्र मेरे सम्मुख आ जाएँ।”

मेरे निश्चयपूर्ण शब्दों से उपस्थितों में खुसुर-फुसुर मच गयी। सबने मार्ग बनाकर एक मध्यम-वयस्क, गोल मुखाकृति और उभरी नाकवाले, दाढ़ीधारी, सुदृढ़ कायाकाठीवाले यादवश्रेष्ठ को मेरे आगे उपस्थित कर दिया।

हाथ जोड़कर, नतमस्तक होकर, थर-थर काँपते हुए वे मेरे आगे खड़े हो गये। कंस के शासनकाल में उसको सहयोग देने के अपराध में मैं उनको प्राणदण्ड दूँगा—इस आशंका से वे भयभीत हो गये थे। काँपते हुए वे वेदी के समीप की सीढ़ी पर खड़े रहे।

“आपका परिचय क्या है?” मैंने उनसे पूछा।

“विपृथुऽ” वे सहमे-सहमे-से बुदबुदाये।

“घबराइए मत अमात्य! मैं आपको कोई भी दण्ड नहीं दूँगा। शान्त हो जाइए। इसमें आपका कोई दोष नहीं है। आप केवल आज्ञापालक और राज्य-हितैषी हैं। अमात्य को ऐसा ही होना चाहिए। एक बात आप जान लीजिए, यहाँ का कंस-राज्य अब समाप्त हो गया है। शीघ्र ही महाराज उग्रसेन का, यादवों का लोकहितकारी शासन आरम्भ होगा। अत: शीघ्र ही उनके राज्याभिषेक का प्रबन्ध कीजिए और इस समारोह का आमन्त्रण आर्यावर्त के सभी महाजनपदों को भिजवा दीजिए।”

भयभीत हुए विपृथु इस अप्रत्याशित अभयदान से आश्वस्त हुए। उन्होंने कहा, “जो आज्ञा यादवश्रेष्ठ! आपने मुझे अभय दिया, जीवनदान दिया—इस बात को मैं कभी नहीं भूलूँगा। और क्या आदेश है मेरे लिए?”

मैंने सूचना दी—“अमात्य, कंस के भय से देश-त्याग किये वृष्णि, अन्धक, भोज, दाशार्ह आदि अठारह यादवकुलों को परिवार सहित सम्मानपूर्वक मथुरा में आमन्त्रित कीजिए, उनको पुनर्वसित कीजिए। कंस द्वारा बलात् अपहरण की गयी उनकी सम्पत्ति और भूमि उन्हें लौटाने का प्रबन्ध कीजिए।”

“जो आज्ञा!” अमात्य ने कहा।

“विपृथु, भविष्य में मुझे स्थान-स्थान पर आपके सहयोग की आवश्यकता पड़ेगी। आप मेरी

गतिविधियों को, आदतों को—सबसे अधिक मेरी आँखों से व्यक्त होनेवाले भावों को जानना सीख लीजिए। पुरोहित से कहकर आज के धुनर्यज्ञ में व्यर्थ गये 'बाणों' का—तोशलक, मुष्टिक, सुनामा, कूट, चाणूर आदि सभी का विधिपूर्वक अन्तिम संस्कार करवाइए।—और हाँ, उनके पास ही राजगज कुवलयापीड़ का भी अग्निदाह कीजिए।

"यमुना के तट पर कंस का चन्दनकाष्ठों की चिता पर राजोचित यथाविधि दहन करने का प्रबन्ध कीजिए। 'मरणांतानि वैराणि' यही हमारी पुरातन धारणा है। यहाँ के अनुभवी यादव सेनापति कौन हैं? उन्हें भी शीघ्र बुलवाइए।"

"जो आज्ञा आर्य! ये हैं यादव सेनापति अनाधृष्टि—ये आपके काका भी हैं।"—कहते हुए अमात्य ने हस्त-संकेत से ही अनाधृष्टि को राजवेदी के पास बुलवा लिया। लम्बी-सी मुखाकृतिवाले, दाढ़ीधारी, लम्बी नाकवाले, लौहकवच धारण किये अनाधृष्टि मेरे सम्मुख आ गये। मैंने उनके चौड़े कन्धों को थपथपाया। वे मुझे अभिवादन करने हेतु झुक ही रहे थे कि मैंने उन्हें पकड़कर ऊपर उठाया और पूछा—"कैसे सम्बोधित कर सकता हूँ मैं आपको सेनापति अनाधृष्टि काका?"

"सभी यादव मुझे 'यादवश्रेष्ठ' कहते हैं, आप भी उसी प्रकार सम्बोधित करेंगे तो मुझे अच्छा लगेगा।" सेनापति ने निर्भयता से कहा।

"काम बड़े साहस का भी है और कोमल भी! कंस की अन्त्यक्रिया होने के बाद हमारी मामी—कंसपत्नी अस्तिदेवी और प्राप्तिदेवी को उनके मायके—मगध पहुँचाना है। कंस की अन्त्यक्रिया समाप्त होने के बाद सशस्त्र अश्वारोहियों सहित आप गिरिव्रज की ओर प्रस्थान करें।"

अब मैं क्षण-भर भी रुक नहीं सकता था। कंस का धनुर्यज्ञ समाप्त हुआ था। इसी क्षण से मेरा जीवन-यज्ञ—राजयोग आरम्भ हो रहा था। उसमें तनिक भी त्रुटि नहीं होनी चाहिए थी।

"चलिए दाऊ! अब अपने माता-पिता के दर्शन करने हैं।" —कहते हुए मैंने अत्यन्त प्रेम से दाऊ का हाथ अपने हाथ में ले लिया। उनका मुझसे जो नया ही नाता मुझे प्रतीत हुआ था, उसे साक्षी रखकर, मुझे इस हाथ को अब कभी भी छोड़ना नहीं था। सम्भवत: उनके मन में भी ऐसा ही कुछ हो।

कंस को समाप्त करने के पश्चात् धनुर्यज्ञ के प्रांगण से हम निकल पड़े—अपने माता-पिता के प्रासाद की ओर—अपने जन्मस्थान की ओर! यद्यपि मैंने और दाऊ ने कोई आदेश नहीं दिया था—विपृथु, अनाधृष्टि, सात्यकि, अक्रूर, कृतवर्मा, देवभाग, विकद्रु, आहुक, प्रभंजन—आदि कई प्रमुख यादव अपने-आप ही हमारे पीछे-पीछे चलने लगे।

मेरा जन्मस्थान आ गया। यहाँ के सभी प्रहरी, सेवक और सेविका—जिन्होंने राजाज्ञा से मेरे माता-पिता पर दृष्टि रखने का काम किया था, कंस के पतन की सूचना मिलते ही पलायन कर गये थे। वह भव्य प्रासाद अब सुनसान पड़ा था—वहाँ कोई भी नहीं था। जिस कक्ष में हमारे माता-पिता थे, वहाँ हम पहुँच गये। लौहद्वार पर एक बड़ा-सा ताला लटक रहा था। सलाखों के पीछे हमारे थके, व्याकुल, आँखों में प्राण समेटे हुए माता-पिता थे—स्थानबद्धता के नाम पर कारागृह में डाले गये!

हमारे मर्मस्थल को बेधनेवाले उस ताले को किसी एक यादव ने गदा के एक ही प्रहार में तोड़ डाला। भव्य लौहद्वार कर-कर करता हुआ खुल गया—कई वर्षों के बाद, कई युगों बाद! मैं और बलदाऊ रुँधे कण्ठ से अपनी माता के पास गये। एक ही साथ हम दोनों को अपने आलिंगन

में लेते हुए वह बिलख-बिलखकर रोने लगी। हमारी माता–देवकी माता! वसुदेव बाबा भी हमसे गले मिलते हुए ऐसे ही सिसक रहे थे। उस कारागृह ने भी इतने मनुष्यों को आज पहली बार देखा–मानो वह भी आज मुक्त हो गया!

तात वसुदेव और देवकी माता को लेकर कुछ विशिष्ट यादवों सहित उग्रसेन महाराज को बन्धन-मुक्त करने हेतु हम मुख्य कारागृह की ओर निकले!

'आकाशवाणी' को सुनने के पश्चात् कंस की मानसिकता अत्यन्त विचित्र, जटिल हो गयी थी। हमारे माता-पिता को उसने उनके ही अपने भवन में बन्दी बना रखा था। प्रजाजनों को यह दिखाने के लिए कि वसुदेव-देवकी को केवल स्थानबद्ध किया गया है। किन्तु इससे पहले स्वयं अपने माता-पिता को भी उसने स्थानबद्ध कर, फिर उन्हें सीधे राजकीय कारागृह में डाल दिया था।

क्यों किया था उसने ऐसा? कुछ भी हो, था तो वह पराक्रमी, दूरदर्शी। सुनामा, कंक जैसे व्यक्ति उसके मन्त्री थे। बहुत सोच-विचारकर ही उन्होंने यह राजनीतिक निर्णय किया था। उग्रसेन महाराज तो वृद्ध हो गये थे। सत्ता-लोभ के कारण कंस ने उन्हें कारागृह में डाल दिया था। वे प्रतिकार कर ही नहीं सकते थे। किन्तु हमारे तात मध्यम आयु के, शक्तिशाली थे। कंस ने ही उन्हें सूर्यपुर से बुलवाकर मथुरा में सुस्थापित करवाया था। गोवर्धन मण्डल का मण्डलेश्वर बनाकर उन्हें अपना गुरु भी बनाया था। ऐसे एक बलशाली मण्डलेश्वर को, अपने गुरु को वह कारागृह में नहीं डाल सकता था। यदि वह ऐसा करता तो आज भड़क उठे यादव उसी समय आपे से बाहर हो सकते थे।

जब हमने मथुरा के कारागृह में महाराज उग्रसेन और महाराज्ञी पद्मावती देवी के पैरों में पड़ी शृंखलाएँ तुड़वायीं तो उस वृद्ध दम्पती की आँखों से लगातार अश्रु बहने लगे। अँधेरी कोठरी में होने से, ताखे में रखे पलीतों के धुँधले-से प्रकाश में हमें उनके अश्रु ठीक से दिखाई भी नहीं दिये। बाहर यमुना के उत्तरी तट पर तड़तड़ाती हुई कंस की चिता शूरसेन राज्य को, समस्त आर्यावर्त को–और हाँ, यमुना से–अनिर्बन्ध यमुना से लिपटे सन्ध्या समय के सूर्य को भी स्पष्ट दिख रही थी। उसके आसपास मन्त्राग्नि दी हुई सुनामा, चाणूर, मुष्टिक, तोशलक, कूट, शल, कौशल आदि की चिताएँ भी मथुरावासी देख रहे थे। विविध शान्ति-दानों को स्वीकार करते हुए पौरजन सन्तुष्ट हुए थे। अत्याचारी कंस के अत्याचारों से मुक्ति पाने से मथुरावासी जितने प्रसन्न थे, उससे भी अधिक वे प्रसन्न थे वर्षों पश्चात् हुए महाराज उग्रसेन और महाराज्ञी पद्मावती देवी के दर्शन से!

मेरी जीवन-कथा का पहला अध्याय–'कंसपर्व' समाप्त हो चुका था–'कंसपर्व इतिश्री।'

अमात्य विपृथु ने यादवों के राजपुरोहित गर्गाचार्य से परामर्श कर शुभ मुहूर्त निकाला। मथुरा के भव्य राजप्रासाद में उग्रसेन महाराज का राज्याभिषेक यथाविधि सम्पन्न हो गया। उपस्थित सभी यादवों के अनुरोध पर मैंने भी जलाभिषेक और विविध संस्कारों से उन्हें पवित्र किया और वही स्वर्णमुकुट महाराज उग्रसेन के मस्तक पर पुन: चढ़ाया। पद्मावती देवी भी महाराज्ञी के पद पर अभिषिक्त की गयीं। इस समारोह के उपलक्ष्य में आर्यावर्त के विदेह, कोसल, पांचाल, हस्तिनापुर, पंचनद, कलिंग, निषाद, अश्मक, विराट आदि राज्यों से गोधन, अश्व, गज, धन-धान्य, वस्त्र-आभूषण आदि उपहार आये थे।

यादवों की राजसभा आज खचाखच भरी हुई थी। अपने कार्य में सफल होकर गोकुल से लौटा उद्धव भी वहाँ उपस्थित था। शूरसेन राज्य के यादवों के सभी राजकुलों के प्रमुख यादव इस राज्याभिषेक समारोह में उपस्थित थे। उनमें वृष्णि, अन्धक, भोज, सात्वत, यदु, तुर्वसु, चेदि, कुकुर, द्विमिढ आदि प्रमुख और कौशिक, शैनेय, महाभोज, बहुम, मधु, आभीर, राष्ट्रिक और दाशार्ह आदि गौण राजकुल सम्मिलित थे। पराक्रमोत्सुक, युवा यादवों का मानो यह वीर-मेला ही लगा हुआ था। उनमें से कई दूर से ही अँगुलि-निर्देश कर मेरा और बलदाऊ का परिचय एक-दूसरे से कराते हुए दिखाई दे रहे थे।

सिंहासन पर आरूढ़ होते ही उग्रसेन महाराज ने यादवों की भरी राजसभा पर दृष्टि घुमाते हुए घोषणा की–“इस सिंहासन पर आरूढ़ होने का अधिकार वास्तव में इस वसुदेव-पुत्र का–कृष्ण का है। किसी भी कारण से यदि वह अस्वीकार कर दे तो उसके ज्येष्ठ भ्राता बलराम का है। मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि इस वृद्धावस्था में शूरसेन राज्य का दायित्व उसने मुझे क्यों सौंप दिया है। मैं उसको मनःपूर्वक आशीर्वाद देता हूँ। मैं उससे अनुरोध करता हूँ कि मथुरा की राजसभा में इतने वर्षों बाद पहली ही बार एकत्र हुए अठारह कुल के सभी यादवों का वह उचित मार्गदर्शन करे।”

मैं अपने आसन से उठ खड़ा हुआ। सभी उपस्थित यादवों को मैंने पहले अपनी आँखों में समेट लिया। फिर उनके हृदयों के साथ अपने हृदय की एक तार छेड़ते हुए मैंने कहा, “प्रिय यादव बान्धवो! आप पर अन्याय करनेवाला कंस भी एक यादव था, वह मेरा मामा भी था; फिर भी मुझे उसका वध करना पड़ा। क्यों? –इस बात को कोई भूले नहीं। अब मथुरा पर सबसे बड़ा संकट आनेवाला है–गिरिव्रज का, मागधों का, कंस के श्वशुर मगधसम्राट् जरासन्ध का! अपने जामाता के वध की सूचना पाकर वह चुप नहीं बैठेगा। प्रतिशोध की अग्नि में जल रहा होगा वह!...

“अपने संकल्पित ‘शतराजशीर्षमेध’ यज्ञ में बलि चढ़ाने हेतु वह अन्य राज्य जीतकर राजाओं को गिरिव्रज के कारागृह में बन्दी बना रहा है। कई दुर्बल राजाओं को उसने अपनी झूठी मित्रता के भुजपाश में ले लिया है! कंस की मृत्यु हुई है, इस बात को ध्यान में रखने की अपेक्षा आप जरासन्ध के होनेवाले आक्रमण को ध्यान में रखें। इसलिए महाराज उग्रसेन के अनुभव का लाभ उठाते हुए आप एकजुट जो जाएँ–उनकी आज्ञा में रहें।

“केवल महाराज उग्रसेन ही ऐसे आदरणीय वृद्ध मुझे दिखाई दे रहे हैं, जिनके आदेश का सभी यादव आदर करेंगे। इसीलिए यह दायित्व मैंने उनको सौंप दिया है। पहले तो उष्ण रक्त के, बात-की-बात में शस्त्र उठानेवाले शीघ्रकोपी यादवों का एकत्र आना कठिन है, उससे भी कठिन है उनका एकजुट होना। अत: आपकी ओर से आपका नेतृत्व करने का निवेदन मैं अनुभवी महाराज उग्रसेन से करता हूँ। मेरा निर्णय उचित है कि अनुचित, यह हमारे राजपुरोहित आपको बताएँ।”

मैंने मुस्कराते हुए तनिक झुककर गर्ग मुनि की ओर देखा। अपना स्वर्णसूत्र की किनारीवाला उत्तरीय सँभालते हुए वे उठकर बोले–“शूरसेन राज्य के समस्त यादवजनो, आपका पुरोहित होने के नाते महाराज और महाराज्ञी को मनःपूर्वक आशीर्वाद देते हुए आपको बताना चाहता हूँ–इस वसुदेव-पुत्र कृष्ण का गोकुल में उसके जन्म के समय मैंने जो भविष्यफल बताया था उसका अब मुझे स्पष्ट प्रमाण मिल गया है। इस युवा कृष्ण ने अपने ज्येष्ठ भ्राता बलराम के सहयोग से आप सबके जीवन की एक बहुत बड़ी बाधा दूर की है। यह कृष्ण–अर्थात् मोहक-आकर्षक है! कल वह गोकुल का आकर्षण था, आज मथुरा का है–कल भी रहेगा! वह सर्वत्र-

सर्वदा ऐसा रहेगा!

"यादवजनो! मैंने जो भी शास्त्राध्ययन किया है, जो भी साधना, ध्यान-धारणा निष्ठापूर्वक की है, उसके आधार पर आज मैं एक अर्थपूर्ण उपाधि का उच्चारण कर रहा हूँ। मुझे विश्वास है, आपको भी वह यथार्थ प्रतीत होगी। वेदों से लेकर उपनिषदों तक 'श्री' यह प्रणव-सदृश, एकाक्षरी उपाधि सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है। सर्वश्रेष्ठ नरोत्तम को उचित समय पर उसे प्रदान करना सर्वथा उचित होगा।

" 'श्री' अर्थात् सामर्थ्य, 'श्री' अर्थात् सौन्दर्य। 'श्री' का अर्थ है अनगिनत सम्पत्ति, अमोघ बुद्धि, अशरण बुद्धि। 'श्री' के कई अर्थ हैं–असीम यश भी उसका एक अर्थ है। अनेकानेक सद्गुणों की असीम यशदायी सम्पत्ति क्या आपको इस यौवन-सम्पन्न वसुदेव-पुत्र कृष्ण में समायी हुई नहीं दिखाई दे रही है? मुझे तो वह स्पष्ट दिख रही है।

"क्या इसकी विविध व्यायामों से सुदृढ़ बनी यह सुगढ़ नील देह देखते ही रहने को आपका मन नहीं कह रहा? क्या आज इसके 'शतकोटिसूर्यसमप्रभ' मुखमण्डल पर विराजित तेज पर आपकी दृष्टि ठहर पा रही है? क्या, जीवन-भर इसके मुकुट के मोरपंख का एक रंग बनकर रह जाने की इच्छा आपके मन में नहीं हुई? कहिए, इसके भृंगवर्णी अथाह नेत्रों की थाह क्या आप कभी पा सकेंगे?

'कंस-वध के पश्चात् हो रहे इस धार्मिक-राजकीय समारोह के समय, सभी यादवों को साक्षी रखकर क्या मथुरा के 'श्रीकृष्ण' के रूप में आप इसको सम्मानित नहीं करेंगे?

"कल राजप्रासाद में मेरे पौरोहित्य में इसका उपनयन-संस्कार पूरे विधि-विधान से सम्पन्न किया जाएगा। आपके आद्य कुलपुरुष महाराज यदु से आपके वंश को क्षत्रियत्व-लोप का जो दोष लगा है, उसे मैं कल समाप्त कर दूँगा–यथासंस्कार, यथाविधि!

"यह कृष्ण उपनयन के पश्चात् विधियुक्त क्षत्रिय बनेगा–कृष्ण से 'श्रीकृष्ण' बनेगा। क्या आप सबको यह स्वीकार है? आप सब मुझसे सहमत हैं?" गर्ग मुनि की धारदार दृष्टि सभागृह पर दौड़ गयी। उनको उत्तर देने के बदले सभी उपस्थित यादवों ने एक सुर में, एक मुख से उत्स्फूर्त जयघोष किया–"यादवराऽज श्रीकृष्ण–की जय होऽऽ...जय हो! यादवों का जन्म-जन्म का श्रेयस–हमारे दुर्लभ। सौभाग्य श्रीऽकृष्ण कीऽ जय होऽ...जय हो ऽऽ... जय होऽऽ!"

अगले दिन सुमुहूर्त पर गर्ग मुनि के पौरोहित्य में मेरा उपनयन सविधि सम्पन्न हुआ। उसके निमित्त आठ दिनों तक पूरा मथुरा नगर हर्ष-वर्षा में नहाता रहा था। मैं कृष्ण से सर्वमान्य 'श्रीकृष्ण' बन गया! लोगों की दृष्टि में 'क्षत्रिय' बन गया–उपनयन होने से द्विज बन गया! किन्तु वास्तव में मैं केवल क्षत्रिय था कि द्विज? कि उनसे भी अलग कोई था? क्या मैं गोकुल के गोपालों से एकात्म हुआ, उनको कभी भूल न पानेवाला केवल एक गोप था? नहीं–कदापि नहीं। तो कौन था मैं? यह अद्यापि मुझे ज्ञात होना था, जग के लिए इस बात का निश्चय अभी होना था।...

उधर मगध के राजनगर गिरिव्रज में मगधसम्राट् जरासन्ध की राजसभा में लम्बी चर्चा के पश्चात् एक निर्णय किया गया–मथुरा पर निर्णायक आक्रमण करने का! उस सभा में करुष देश के राजा दन्तव्रक्र, सौवीर देश के राजा शैव्य और हाँ–चेदि देश के राजा दमघोष का पुत्र शिशुपाल और विदर्भ के राजा भीष्मक तथा उनके पुत्र रुक्मि ने अपने कुलदेवता को साक्षी रखकर

जरासन्ध की पूरी सहायता करने की शपथ ली थी।

इनमें से शिशुपाल और दन्तवक्र तो मेरे फुफेरे भ्राता ही थे–बुआ श्रुतश्रवा और भुतदेवी के पुत्र! और भीष्मक? आज तो वे जरासन्ध जैसे प्रबल शत्रु के मित्र थे–कल वे कौन होनेवाले थे, यह अभी निश्चित होना था!

हंस और डिम्भक नाम के दो निष्णात मल्ल जरासन्ध के सेनापति थे। मगध साम्राज्य महाबलाढ्य था, शस्त्रास्त्रों से सज्ज था, सम्पन्न था। उनकी सामर्थ्य से समस्त आर्यावर्त आतंकित था।

हमारे गुप्तचरों की सूचना के अनुसार शीघ्र ही जरासन्ध की विराट् चतुरंग सेना हंस और डिम्भक के नेतृत्व में मथुरा में भिड़ ही गयी।

सैकड़ों नौकाओं द्वारा इस शस्त्र-सज्जित सेना ने यमुना को पार किया था। वे यमुना को पार न कर पाएँ, इसलिए हमारे नौकादल ने उन पर बाणों की वर्षा की–उनका तीखा प्रतिकार किया, फिर भी लाखों की संख्या में शत्रु-सैन्य ने जाने कहाँ-कहाँ से यमुना को पार किया और वह मथुरा के चतुर्दिक् फैल गया। कर्ण-कटु मागधी रणवाद्यों का घोष करते हुए वह प्रचण्ड सैन्य मथुरा से भिड़ गया।

मथुरा के चारों ओर पानी से भरी चौड़ी खाई थी, जिसमें भाँति-भाँति की बाधाएँ निर्माण की हुई थीं। मथुरा की चारों दिशाओं के बन्द महाद्वार नुकीले कीलों से अभेद्य बनाये हुए थे। हमारी यादव-सेना में अनाधृष्टि, सात्यकि, अवगाह, कृतवर्मा, पृथु, शतदयुम्न, कंक, शिनि, बभ्रु जैसे एक से बढ़कर एक रथी-महारथी थे। जरासन्ध ने खाई को लाँघने और मथुरा के पूर्व तथा पश्चिम महाद्वार को प्रचण्ड हाथियों द्वारा टक्करें दे-देकर तुड़वाने के भरसक प्रयास किये।

एक-दो नहीं, सत्ताईस दिन यह घोर युद्ध चलता रहा, किन्तु मागधों को अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं हुई। मथुरा के प्राकार के अन्दर बाणों द्वारा जलते पलीतों और शताघ्नियों द्वारा पाषाण-खण्डों की वर्षा कर-करके मागध सैनिक थक गये। अवसर पा, उपद्वारों से निकलकर, मागध-सैनिकों पर चढ़ाइयाँ करते-करते यादव-सैनिक भी श्रान्त हो गये।

सत्ताईसवें दिन जरासन्ध ने शुभ्र पताका सहित अपने राजदूत को मथुरा के पूर्व महाद्वार पर भेजा। मेरे आदेश से उसे अन्दर ले आया गया। राजदूत के साथ एक सन्देश था–धूर्त और भ्रामक! 'सेनापति हंस और डिम्भक में से किसी के भी साथ कोई भी समबल यादव मल्लयोद्धा निर्णायक मल्लयुद्ध करे। उसी निर्णय को हम अन्तिम विजय अथवा पराजय मानेंगे!' मल्लयुद्ध के निर्णय पर युद्ध का निर्णय करने का प्रस्ताव था वह।

जरासन्ध के इस दाँव को मैंने पहचान लिया। वास्तव में वह मल्लयुद्ध में पराजित हुए यादवों को देखना चाहता था। मल्लयुद्ध के पश्चात् उठनेवाले कोलाहल में, जान पर खेल जानेवाले कुछ सैनिकों को उपद्वार से मथुरा के अन्दर घुसाकर उनके द्वारा वह महाद्वार खुलवाना चाहता था। मथुरा की सीमा के अन्दर ही वह मथुरा पर युद्ध लादना चाहता था। महाद्वार खुल जाने के पश्चात् विराट् मागध-सेना के आगे यादव-सेना टिक नहीं सकती थी।

राजदूत का सन्देश सुनकर मैंने बलदाऊ की ओर केवल देखा। उन्होंने उठकर इस चुनौती के स्वीकार किये जाने की घोषणा की। मैं उनकी ओर देखकर केवल मुस्कराया। सन्देश के साथ दूत लौट गया।

हमने निष्णात मल्लों का चयन किया, जिनको दाऊ के साथ भेजना था। मथुरा के महाद्वार के आगे एक विशाल अखाड़े में यह मल्लयुद्ध होना निश्चित किया गया।

निश्चित किये गये समय पर कोलाहल करते यादवों और मागधों के घेरे के मध्य दाऊ और डिम्भक एक-दूसरे से भिड़ गये। समय-समय पर स्वयं विपृथु मुझे मल्लयुद्ध के बारे में सूचना दे जाते थे। इस समय मेरा मागध-सैनिकों की निगाह में आना उचित नहीं था।

मैंने गुप्तचरों द्वारा मागध-सैनिकों में अफवाह फैला दी–"अब युद्ध नहीं होगा। मल्लयुद्ध के साथ ही मागध और यादवों के वैमनस्य का अन्त होगा।" उसे सुनकर मन-ही-मन निराश हुआ और डिम्भक की सफलता पर विश्वास करनेवाला हंस मगध लौटने की तैयारी करने लगा।

यहाँ अखाड़े में दाऊ और डिम्भक दाँत पीस-पीसकर, एक-दूसरे पर दाँव-प्रतिदाँव लगाते हुए स्वेद से लथपथ हो गये थे। मल्लयुद्ध करते हुए, स्फीत स्नायुओंवाले, वीरश्री से लाल हुए दाऊ यादवों को आज देखने को मिले! वे ऐसे सुन्दर दिख रहे थे कि कुदृष्टि लग जाने का भय था! यह थर्रा देनेवाला मल्लयुद्ध देखने के लिए कोलाहल करते यादवों और मागधों ने अखाड़े के आसपास घेरा डाल दिया था। बलदाऊ आज डिम्भक को ही नहीं बल्कि अवसर आता तो जरासन्ध को भी भारी पड़ते! कुछ ही देर में दाऊ ने डिम्भक को ऊपर उठाकर धड़ाम से धरती पर पटक दिया। उसके कण्ठ में अपने प्रिय बाहुकण्टक दाँव का पाश कस दिया। उसे देखकर दर्शकों ने–अब डिम्भक समाप्त हो ही गया, ऐसा सोचकर आँखें विस्फारित कीं। उनके श्वास रुद्ध हो गये।

यह समाचार विपृथु ने शीघ्र मुझ तक पहुँचाया। मैंने उनको डिम्भक के दाऊ के हाथों मारे जाने की सूचना फैलाने के काम पर लगा दिया! यही समाचार हंस तक पहुँचाने का प्रबन्ध करने के लिए भी मैंने उनसे कहा।

मेरी सूचनाओं को कार्यान्वित करने हेतु विपृथु चले गये। सात्यकि और अनाधृष्टि सहित मैं भी प्राकार के बाहर चला आया। मुझे देखते ही यादव और मागध-सैनिकों में एक लहर उठी–'वह आ गया–वह आ गयाऽ...चलो हटोऽ।' मल्लयुद्ध अब अन्तिम सिरे पर था। दाऊ अब डिम्भक के कण्ठ में डाले बाहुकण्टक का पाश कसे बिना रहनेवाले नहीं थे। उनको रोकना मेरे–केवल मेरे लिए सम्भव था। इस क्षण वह आवश्यक था।

मैं बड़ी क्षिप्रता से अखाड़े में कूद पड़ा। झुककर मैंने उनकी पीठ थपथपायी। उनकी स्वेद से लथपथ रक्तिम-गौर पीठ से स्वेद के छींटे उड़े। मैंने कहा, "दाऊ, छोड़ दीजिए उसे। यह सत्य है कि प्रतिस्पर्धी का प्राणान्त ही द्वन्द्वयुद्ध का अन्त है, किन्तु यह मत भूलिए कि विजेता का प्रतिस्पर्धी को अभय देने का अधिकार भी द्वन्द्वयुद्ध का अन्त हो सकता है।"

जिह्वा निकाले, आँखें फिराते मरणासन्न हुए डिम्भक को मैंने संकेत किया–"शरण में आओ–अँगूठा उठाकर प्राणदान की याचना करो।" प्राणभय से उसने ऐसा ही किया।

अंगारे की भाँति धधकते दाऊ निराश हो गये। मेरी ओर देखते हुए, निरुपाय होकर उन्होंने बाहुकण्टक के पाश को ढीला किया। डिम्भक के प्राण बच गये। लड़खड़ाता हुआ वह खड़ा हो गया। मागध-सैनिक हर्ष से चिल्लाने लगे–'मगधसम्राट् जरासन्ध महाराऽज की जऽयऽ!' उसे सुनकर मुझे हँसी आ गयी।

डिम्भक की मृत्यु का असहनीय कटु समाचार सुनकर हंस ने अपने प्राणप्रिय मित्र की मृत्यु

पर आक्रोश करते हुए, वक्ष पीटते हुए अपना शरीर यमुना में झोंक दिया—डिम्भक के पास जाने हेतु!

उसके सैनिकों ने उसे ढूँढ़ने के भरसक प्रयास किये, किन्तु वे असफल रहे। उन्होंने लौटकर मागध-सेना कों सेनापति हंस के यमुना में डूबकर मर जाने की सूचना दी। मल्लयुद्ध में प्राणदान पाया डिम्भक इस समाचार से बौरा गया। वह त्वरित अपने प्राणप्रिय मित्र की खोज में निकला। हंस ने जिस स्थान पर अपना शरीर यमुना को अर्पित किया था, डिम्भक भी आक्रोश करते हुए उसी स्थान पर यमुना में कूद गया! यमुना, जिसकी थाह पाना असम्भव था!

जब मैं यमुना के बारे में सोच रहा था, उसी समय मागधों की चतुरंग सेना ने नौकाओं से यमुना को पार करना आरम्भ किया था—अपने दो युद्ध-कुशल सेनापतियों को खोकर, पराजित होकर, पूरे सत्ताईस दिन पश्चात्!

मैंने विपृथु, सात्यकि और अनाधृष्टि से कहा, “जरासन्ध इतना सरल नहीं है—वह अवश्य लौट आएगा।”

मागधों के इस सत्ताईस दिन के आक्रमण में सबसे अधिक हानि पहुँची थी हमारे कृषि-क्षेत्र को। मगध के अश्वदल, गजदल, पदाति हमारी कृषि को बड़ी निर्दयता से रौंद गये थे। हमारी सभी प्रकार की सघन फसलें मिट्टी में मिल गयी थीं। मथुरा के कोठरों में अब जो धान्य-भण्डार शेष था, वह अत्यन्त अपर्याप्त था। मेरे सम्मुख सबसे बड़ा प्रश्न यह खड़ा था कि सत्ताईस दिन के युद्ध से श्रान्त हुए लाखों यादवों की अनाज की आवश्यकता की पूर्ति कैसे की जाए! उनकी बची-खुची कृषि को कैसे बचाया जाए?

मैंने क्षिप्रता से आदेश दिये। जिन हाथों ने पिछले कई दिन भारी-भरकम शस्त्र-अस्त्र उठाये थे, उन्हीं हाथों ने अब कृषि-कार्य के लिए आवश्यक अकरी, हल, कुदाल, फावड़ा आदि उपकरण उठाये। बलशाली युवकों के दल-के-दल यमुना-तट पर पहुँच गये। उनके अगुआ हम थे—प्रचण्ड फालवाला डौलदार ‘संवर्तक’ हल धारण किये दाऊ और वृषभों के लिए हाथ में सोंटा लिये हुए मैं!

महाराज यदु और क्रोष्टु के जयघोष में ही मैंने अपने हाथ के सोंटे को नीचे रखा और पीताम्बर की काछ कस ली। दाऊ ने भी अपने नीलाम्बर की काछ कस ली। मैंने झुककर, शिवमुहूर्त पर ‘जय इडादेवी’ गरजते हुए शूरसेन राज्य की धरती पर पहली कुदाल मारी। कुछ ही समय में मेरे माथे के स्वेद की बूँदें मेरे कण्ठ में झूलती मौक्तिकमाला की कौस्तुभ मणि पर टपकने लगीं। मेरे पीछे-पीछे दाऊ ने भी हल नीचे रखकर कुदाल उठायी। उनके पीछे-पीछे सैकड़ों युवा यादवों के कुदालों के आघात यमुना के पुलिन पर होने लगे। मथुरा के कृषि-क्षेत्र तक यमुना-जल की एक विशाल कुल्या खुदवाने का जो कार्य पहले कभी न हुआ, वह प्रयास आरम्भ हो गया।

मध्याह्न तक हमने यमुना को पर्याप्त मात्रा में अपनी ओर मोड़ भी लिया। एक प्रचण्ड सृजनशील अभियान का आरम्भ हुआ था।

भोजन का समय होते ही मैंने अपनी वंशी पर सांकेतिक चंचल धुन छेड़ी। एक विशाल वट-वृक्ष की घनी छाया में सभी यादव श्रमिकों का कलेवा एकत्रित किया गया। गोकुल में जैसे गोप-भोज हुआ करता था, वैसे ही यहाँ यादव-भोज तैयार हो गया। वही वातावरण, वही हास-परिहास और वही मनमुक्त गप-शप भी!

दोपहर के विश्राम के पश्चात् खुदाई पुन: आरम्भ हो गयी। सन्ध्या समय तक हमने यमुना के जीवनदायी जलतत्त्व को सीधे मथुरा के कृषि-क्षेत्र तक पहुँचाया। यमुना मानो यादव बन गयी। उसने अपने-आप को मोड़ लिया, 'श्री' अर्थात् 'सम्पत्ति'–यह प्रमाणित करने हेतु! अपनी प्रिय अनिर्बन्ध यमुना को हमने अपने लिए कुल्या के बन्धन में बाँध दिया।

अगले दिन जब हम एक विशाल कृषि-क्षेत्र पर आ पहुँचे, दाऊ ने अपना बृहत् हल कन्धे से उतारकर नीचे रख दिया। डौलदार सींगोंवाले दो शुभ्र-धवल बैलों के पुष्ट कन्धों पर जुआ रखकर उन्होंने अपना हल उसमें जोत दिया। मैंने अपने सोंटे से उस जोड़ी में से एक बैल को तनिक कोंचा। मेरी जीवन-गाथा के प्राणी और प्रतोद पर्व का आरम्भ हुआ। कृषक यादवों के अपने वृषभों द्वारा शूरसेन राज्य की कृषि-धरती पर कई हल चलाये जाने लगे–जीवन को उगाने हेतु, खिलाने हेतु! किसी ने अपने साथियों को उत्साहित करने हेतु ललकारी दी।

उस सन्ध्या में कन्धे पर बृहत् हल लिये दाऊ और हाथ में सोंटा लिये मैं, युवा यादवों के दलों सहित मथुरा के पश्चिम द्वार की ओर लौट आये–गोकुल ही की भाँति, गायों के खुरों से उड़ती धूल के साथ! किन्तु आज हम गोपाल नहीं थे–कृषक यादव थे! मैंने हँसते हुए दाऊ से पूछा–"आज से मैं आपको हलधर कहूँ, तो आप रुष्ट तो नहीं होंगे दाऊ? संकर्षण तो आप हैं ही, आज हलधर भी बन गये हैं।"

"अवश्य! तुम कुछ भी कहोगे और कुछ भी करोगे–सब मुझे सदैव स्वीकार होगा। तुम तो भली-भाँति जानते हो, यद्यपि मुझे शीघ्र क्रोध आता है, लेकिन शीघ्र ही वह उतर भी जाता है!" दाऊ बोले।

मथुरा पर चार वर्षों में मागधों के चार आक्रमण हुए। निश्चयपूर्वक हमने उनका प्रतिकार किया। इसी अन्तराल में दाऊ के दो सहोदर भ्राताओं का जन्म हुआ। छोटी माँ के दो पुत्र हुए। उनके नाम रखे गये–गद और सारण। गद सारण से दो वर्ष बड़ा था। दाऊ ने ही उसका नाम रखा था–पने प्रिय शस्त्र गदा का स्मरण करा देनेवाला।

गर्ग मुनि के विविध राज्यों में भेजे दूत आवश्यक सूचना प्राप्त कर मथुरा लौट गये। पांचालराज द्रुपद से प्राप्त हुई सूचना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। द्रुपद तात वसुदेव के सुहृद् थे। बीच-बीच में पांचाल पधारनेवाले अवन्ती के कश्यप कुलोत्पन्न आचार्य सान्दीपनि की उन्होंने बड़ी प्रशंसा की थी।

सान्दीपनि! आर्यावर्त में स्थान-स्थान पर अपने आश्रम सुस्थापित किये हुए महान ब्रह्मर्षि। तात वसुदेव, उग्रसेन महाराज और गर्ग मुनि के द्वारा सर्वसम्मति से चुने गये मेरे और दाऊ के भावी आचार्य।

सुदूर दक्षिण में अवन्ती के अरण्य में उनका 'अंकपाद' नाम का आश्रम था। अंकपाद अर्थात् गुरुपद के चिह्नों से पुनीत हुआ स्थान। नाम बड़ा अर्थगर्भित था–सुनते ही भा गया। हमने उस नगर और आचार्य का नाम कभी सुना नहीं था। जब सुना तब उनके दर्शन होने से पहले ही–केवल नाम सुनकर ही, मुझे उद्धव की पहली भेंट में जो प्रतीत हुआ था वही प्रतीत हुआ–जिसे शब्दों में कहा नहीं जा सकता! बड़ा ही नादसम्पन्न नाम था सान्दी ऽ प ऽ नि ऽ!

मथुरा की मन्त्रिपरिषद्, हमारे परिवार-प्रमुख और गर्ग मुनि ने निश्चित किया–"बलराम और श्रीकृष्ण अब अपने जीवन की सर्वांगीण शिक्षा प्राप्त करने हेतु आचार्य सान्दीपनि के अंकपाद

आश्रम–अवन्ती जाएँगे। यादवश्रेष्ठ देवभाग का पुत्र उद्धव उनके साथ जाएगा। राजसारथि दारुक उन्हें पहुँचाने जाएगा।” मेरी सूचना के अनुसार अमात्य विपृथु का भेजा सारथि दारुक एक दिन मेरे सम्मुख आ खड़ा हुआ।

दारुऽक! उभरी नाक, पुष्ट शरीर, अत्यन्त चपल, साँवला, सजग और एकनिष्ठ–नम्र यादव सारथि!

मेरे सम्मुख वह हाथ जोड़कर अत्यन्त नम्रता से खड़ा हुआ। उसके समीप जाकर, अपने हाथों से उसके कन्धे थामकर, उसकी आँखों की गहराई में झाँकते हुए मैंने कहा, “दारुक, अश्व मेरा सबसे प्रिय प्राणी है। पवन से भी स्पर्धा करनेवाली उसकी गति मुझे सर्वाधिक प्रिय है। ऐसे चार-चार, सात-सात अश्वों को बड़ी सरलता से नियन्त्रित करते हुए मैंने तुमको कई बार देखा है। अत: अश्वों की भाँति ही तुम भी मुझे प्रिय हो। क्या मेरी सेवा करना तुम्हें अच्छा लगेगा? आवश्यकता हो तो पूरे जीवन-भर?” मैंने नित्य की भाँति श्रोता को उलझन में डाल देनेवाली हँसी अपने मुख पर बिखेर दी।

जाने क्यों, दारुक की आँखों में देखने पर वह भी मुझे उद्धव की ही भाँति अपने शरीर का ही एक अवयव प्रतीत हुआ–जन्म-जन्मान्तर का! मेरी मुस्कराहट के संकेत को अचूक ताड़ लेने का भाव क्षण-भर उसकी आँखों में झलक उठा। अगले ही क्षण वह भी मुस्कराया। कितनी निर्मल, निश्छल और निष्ठावान हँसी थी वह! ‘बिना कुछ बोले, झट से घुटने टेककर उसने अपना मस्तक मेरे चरणों में रख दिया। मैं अस्पष्ट-सा बुदबुदाया–“सारथ्य योग! दारुक, सारथ्य करना भी एक योग ही है! शुभं भवतु!” उसे त्वरित ऊपर उठाकर मैंने उद्धव ही की भाँति अपने वक्ष से लगा लिया–प्रगाढ़ आलिंगन में!

गर्ग मुनि का बताया, अवन्ती की ओर प्रस्थान करने का शुभ दिवस उदित हुआ। दारुक ने राजप्रासाद के महाद्वार के आगे चार ललछौंहे, काले, बादामी और चितकबरे रंग के पुष्ट अश्वों का रथ लाकर खड़ा कर दिया। मैंने और दाऊ ने तात, देवकी माता, रोहिणी माता और गर्ग मुनि सहित मन्त्रिपरिषद् से आशीर्वाद लेते हुए विदा ली। उद्धव ने अपने माता-पिता और भाई-बहनों से विदा ली। हम सब मथुरावासियों से विदा लेकर चल पड़े–अवन्ती की ओर–आचार्य सान्दीपनि के अंकपाद आश्रम की ओर। रथ पर आरूढ़ होते ही मैं दारुक के कान में बुदबुदाया–“मित्र, तुम्हारे अश्व मुझे भा गये, किन्तु उनके भिन्न-भिन्न रंग नहीं भाये। मेरा आश्रम-योग पूर्ण होने के पश्चात् मुझे वापस लेने जब आओगे, तब चार पूरी ऊँचाई के, एक ही वय के, दुग्ध-धवलवर्णी, पुष्ट, सुलक्षण अश्वों का ही रथ ले आना। क्यों? स्मरण रहेगा न? शुभ्र-धवल और चार ही अश्वोंवाला रथ!”

अश्वों की घनी पूँछों को प्रतोद से कोंचकर रथ दौड़ाते हुए उसने कहा, “कैसे भूल सकता हूँ? श्रीकृष्ण महाराज, आप जो भी कहेंगे उसे सुनने के लिए और जो भी दिखाएँगे उसे देखने के लिए ही तो मेरा जन्म हुआ है।”

गोकुल और मथुरा को छोड़कर मेरे जीवन की यह पहली ही इतनी लम्बी यात्रा थी। दारुक के रथ सहित भव्य नौकाओं के द्वारा हमने कई नदियों को पार किया। प्रत्येक पन्द्रह-बीस योजनों पर परिवर्तित होते नयनाभिराम प्रकृति परिवेश को मैं बड़ी रुचि के साथ अपनी आँखों में समेटता चला। हमने कई पड़ाव पीछे छोड़े। मेरे और दाऊ के लिए भोजन पकाना, वन से फल

चुनकर लाना, किसी अशोक अथवा घने आम्र-वृक्ष के नीचे हमारे लिए आस्तरण बिछाना आदि सभी काम उद्धव और दारुक बड़ी आत्मीयता से, तत्परता से किया करते थे। एक मास के पश्चात् हम अवन्ती अरण्य के पास पहुँचे। घोर, सघन, विविध पशु-पक्षियों और प्राणियों से भरा–उनकी ध्वनियों से गूँजता अरण्य!

कई नदियों को पार कर अन्ततः हम विख्यात क्षिप्रा नदी के तट पर पहुँचे। क्षिप्रा अर्थात् अनिरुद्ध गतिमान! वह मेरे मर्म की एक धरोहर बन गयी। वह लम्बी, चौड़ी थी। स्फटिक-शुभ्र जल से सम्पन्न–विशाल थी। किन्तु यमुना की तुलना में वह बहुत ही छोटी थी। अवन्ती के अरण्य की एक विशेषता मेरे ध्यान में आयी–छोटे-बड़े सरोवरों से यह अरण्य भरा हुआ था। ये सरोवर भ्रमरों को अपने चारों ओर चक्कर काटने पर विवश करनेवाले नील; काषाय, शुभ्र, रक्तवर्ण कमल-पुष्पों से भरे हुए थे। वे बड़े ही नयनाभिराम–चित्ताकर्षक दिखाई देते थे।

एक भव्य नौका में से अपने रथ सहित हमने क्षिप्रा को पार किया। अन्ततः अवन्ती राज्य के, आर्यावर्त में विख्यात आचार्य सान्दीपनि के आश्रम की लकड़ी की बाड़ हमें दृष्टिगोचर हुई। मैंने दारुक से रथ रोकने को कहा। रथ में रखी छोटी-बड़ी वस्तुओं को हमने रथ से धरती पर उतार लिया। प्रगाढ़ आलिंगन के साथ मैंने दारुक को विदा किया। वहीं से वह लौट गया। अपनी वस्तुओं को कन्धे पर, पीठ पर उठाकर हम तीनों नंगे पाँव चलने लगे–यादवों की मन्त्रिपरिषद्, राजप्रासाद, कुलाचार, वैभव–सब-कुछ क्षिप्रा के तट पर छोड़कर, केवल आज्ञाकारी आश्रम-कुमार बनकर।

हम तीनों आचार्य के अंकपाद आश्रम के कश्यप नाम के पूर्वी प्रवेशद्वार के आगे खड़े हो गये। अभी-अभी सूर्योदय हो रहा था–सारा आश्रम परिवेश स्वर्णिम सूर्य-किरणों में प्रकाशित हो उठा था। यह विश्व ही अलग था–ज्ञानयोग का, साधना-पर्व का। बाड़ के अन्दर प्रवेश करने के पूर्व हमने उस पवित्र परिवेश की भूमि को हस्तस्पर्श कर उसे अपने मस्तक से लगाते हुए भक्तिपूर्वक वन्दन किया।

हमारे स्वागत के लिए आचार्य द्वारा भेजे गये दो आश्रम-कुमारों ने बड़ी आत्मीयता से हमारी अगवानी की। हम आपस में गले मिले। मैंने खड़े-खड़े ही आश्रम के परिसर पर दृष्टि दौड़ायी। यह भी तो एक गोकुल ही था–साधना का, ज्ञान का, संस्कारों का गोकुल!

यहाँ भी विशाल परिसर को घेरकर सुदृढ़, संरक्षक लकड़ी की बाड़ खड़ी थी। आश्रम के गोधन को हिंस्त्र पशुओं से सुरक्षित रखने हेतु आश्रम-कुमारों ने ही बनायी थी वह। आश्रम के मुख्य द्वार के दोनों ओर गोधन के रक्षक श्वानों के लिए श्वान-घर बनाये हुए थे। बाड़ के अंन्दर चारों ओर पर्णकुटियों की तिहरी पंक्तियाँ दिख रही थीं। उनके बीच गोधन का चारा रखे हुए काष्ठ-मचान थे। बाड़ से सटी हुई पर्णकुटियों की पंक्ति गुरु-सेवा हेतु सदैव आश्रम में रहनेवाले, आश्रम-सेवक बने, शिक्षा पूर्ण किये शिष्यों की थी। बीचवाली पंक्ति आश्रम में शिक्षा ले रहे शिष्यों के लिए थी। उन कुटियों में पूर्व दिशा के कलिंग, अंग, बंग, मगध, कामरूप–दक्षिण दिशा के पाण्ड्य, वनवासी, अश्मक, विदर्भ, कोसल, महाराष्ट्र–पश्चिम दिशा के आनर्त, सौराष्ट्र, सौवीर–और उत्तर दिशा के पंचनद, काश्मीर, कुरुजांगल, पांचाल, वत्स, चेदि आदि देशों से आये आश्रम-कुमार रह रहे थे। बाहरवाली पंक्ति भिन्न-भिन्न विषयों में निष्णात उप-आचार्यों के लिए थी। आचार्य ने बड़ी दूरदर्शिता से, शिष्य सदैव उनकी आँखों के सामने रहें इस हेतु उनकी पर्णकुटियाँ बीचवाली

पंक्ति में रखी थी।

इन सबके मध्य एक बहुत ऊँची, भव्य आचार्य-कुटी थी। उस पर पाँच हाथ लम्बी, तिकोनी, शुभ्र आश्रम-पताका लहरा रही थी। उसमें एक ही समय सभी उप-आचार्य अपने शिष्यों सहित अध्ययन-अध्यापन का कार्य चला सकते थे। आचार्य-कुटी में गुरुपत्नी का अन्त:पुर कक्ष भी था। मुख्य कुटी की बायीं ओर घास-फूस के छप्पर का, कई कोठरोंवाला लम्बा कक्ष था। यह आश्रम का भण्डारगृह था। नानाविध धान्य, वस्त्र, शस्त्र, वनौषधियाँ, ईंधन आदि आश्रम के लिए आवश्यक वस्तुओं से वह भरा हुआ था। दायीं ओर आश्रम के गोष्ठ थे।

आचार्य के भेजे आश्रम-कुमारों के पीछे हम चलने लगे। बीच में दाऊ, उनकी दायीं ओर मैं और बायीं ओर उद्धव। यादवों के अठारह कुलों में से इस आश्रम में आनेवाले हम पहले ही वृष्णि-अन्धक कुल के यादवकुमार थे। हमें इतना अच्छा अवसर दिलानेवाले–अनदेखे महाराज द्रुपद के प्रति मेरा मन कृतज्ञता से भर गया। दाऊ के साथ मैं चलता रहा–सोचते हुए कि कैसे दिखते होंगे, कैसा व्यवहार करेंगे आचार्य सान्दीपनि हमारे साथ? हमारे आश्रम-परिसर में पाँव रखते ही रक्षक श्वानों ने भूँक-भूँककर कोलाहल मचा दिया। दृष्टिक्षेप से ही उन पर धाक जमाते हुए मैं धीमे-धीमे बुदबुदाया–"चुप हो जाओ ग्राम-केसरियो–चुप हो जाओ!" क्षण-भर में ही वे श्वान शान्त हो गये।

आश्रम के हृदय-स्थल–आचार्य-कुटी में हमने प्रवेश किया। उसके मध्य दर्भ के आस्तरण पर बिछाये मृगचर्म के प्रशस्त आसन पर आचार्यश्री विराजमान थे। इस समय वे ध्यानावस्थित थे। जपमाला धारण किया हुआ अपना दाहिना हाथ उन्होंने काष्ठ की कुबड़ी पर टिका रखा था।

आचार्यश्री का वह रूप देखते हुए हमारे पाँव मानो वहीं जम गये। मेरी दृष्टि उनके गौरवर्ण, सतेज मुख पर, चम्पाकली जैसी नासिका के ऊपर दो भौंहों के बीच स्थिर हो गयी। कदली के गाभे जैसे सतेज, रक्तिम-गौर वर्ण के, कृश कायावाले, रुद्राक्षमालाओं से माथे पर बँधे जटाजूटवाले और ललाट पर गोपीचन्दन की आड़ी रेखाएँ धारण किये हुए आचार्यश्री आज तक मेरे देखे हुए महापुरुषों में सबसे अलग थे। कितनी तेजस्वी, सत्त्वशील, शान्त दिख रही थी उनकी ध्यानमग्न मुखाकृति! धरती से सद्य: उगे भूचम्पा की कली की भाँति! समुद्र-मन्थन में अभी-अभी ऊपर आयी लक्ष्मी के हाथ में सुशोभित शुभ्र, खड़े, सुडौल शंख जैसी! वैसी ही पवित्र-पारदर्शी!

आज तक मैंने कई बार अनुभव किया था–मुझे देखते ही लोग खिंचे-से मेरे पास चले आते हैं। आज तो उलटा ही अनुभव था। आचार्यश्री के देखे बिना ही मैं उनकी ओर खिंचा चला गया, अपने-आप! पद्मासन में अस्पष्ट दिखते उनके दाँयें पैर पर माथा टिकाकर मैंने उनको साष्टांग दण्डवत् किया। आँखें खोले बिना ही उन्होंने कहा, "आ जाओ यादवकुमार श्रीकृष्ण! हे वृष्णि-अन्धकों के तारक, कब से मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ! यहाँ बहुत सारे हैं–केवल तुम्हारी ही कमी थी। तुम्हारा स्वागत है!" उन्होंने अपने कमल-नेत्रों को धीरे-धीरे खोला। पहली बार हमारी आँखें एक-दूसरे से मिलीं। हमें जन्म-जन्मान्तर का परिचय मिल गया। मैं मुस्कराया। उन्होंने भी मुस्कराकर कहा, "तुम्हारा अभिवादन मुझे प्राप्त हुआ–अब उठ भी जाओ!"

मेरे पीछे-पीछे दाऊ और उद्धव ने भी उनको प्रणाम किया। आचार्यश्री के आसपास मृगचर्म के कई आसन थे। इस समय वे सभी रिक्त थे। उनमें से तीन आसनों पर हम नम्रतापूर्वक बैठ गये।

अत्यन्त शान्त, धीमे शब्दों में आचार्यश्री ने हमें आश्रम की दिनचर्या समझायी। मुझे पूरा आभास हुआ–गोकुल को छोड़ते समय राधा को दी मेरी मुरली जैसी ही उनकी आवाज थी–

अत्यन्त नादमधुर, आत्मीय स्वर्गिक! –जिसे सुनते ही रहने की इच्छा हो!

उन्होंने कहा, "बलराम-श्रीकृष्ण!–उद्धव! तुम अपने राजवस्त्र उतारकर, बेंत की पेटिका में रखकर आश्रम के वस्त्र-भण्डार में रख दो। अपने स्वर्णमुकुट वहाँ के प्रबन्धक उप-आचार्य को सौंप दो। वे जो आश्रम-वस्त्र तुम्हें देंगे, उन्हें धारण करो। आश्रम-वस्त्रों को कैसे पहना जाता है, यह भी वे ही तुम्हें सिखाएँगे। कल ही से तुम्हारा आश्रम-जीवन आरम्भ होगा। यह जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण 'ब्रह्मचर्याश्रम' है।

"मेरी योजना के अनुसार वह ठीक चौंसठ दिन चलेगा। यह अन्तराल अन्य जनों को अपर्याप्त लगेगा। किन्तु मेरी दृष्टि में इतना समय तुम्हारी शिक्षा पूर्ण होने के लिए पर्याप्त है। यहाँ का कर्तव्य-योग पूर्ण कर मुझे अन्य आश्रमों में जाना पड़ेगा। तुम यहाँ राजकुमार नहीं हो। तुम्हारे जैसे सौ से भी अधिक आश्रम-कुमार यहाँ शिक्षा ले रहे हैं। उनमें अवन्ती की राजनगरी माहिष्मती से आये तुम्हारे फुफेरे भ्राता विन्द-अनुविन्द भी हैं। और भी कई आश्रम-कुमार हैं। तुम भी उन आश्रम-कुमारों में से एक हो। राजप्रासाद की आचारसंहिता को तुम मनःपूर्वक इसी क्षण से क्षिप्रा में डुबो दो। मेरे लिए तो तुम केवल आश्रम-कुमार हो–पुत्रवत् हो।"

उन्होंने अपनी आँखें मूँद लीं। एक अज्ञात तीव्र वेदना की झाँकी मुझे उनके मुखमण्डल पर स्पष्ट दिखाई दी।

उन्होंने आगे कहा, "यहाँ वेदों से लेकर वादों-विवादों तक, जीवन के सभी अंगों की सम्पूर्ण शिक्षा तुम्हें दी जाएगी। ज्ञान-दान करने हेतु भिन्न-भिन्न राज्यों से आये, ज्ञान की सभी शाखाओं के ज्ञाता आचार्य इस आश्रम में हैं। मेरे ही जैसा उनका भी आदर करने में कभी चूकना नहीं। मुख्य प्रबन्धक से यहाँ की दिनचर्या की जानकारी ले लो और उसका अचूक पालन करो। अब तुम तीनों जाकर विश्राम करो।"

अस्त होता सूर्य जैसे धीरे-से सन्ध्या के शीतल कक्ष में प्रवेश करता है, उसी प्रकार आँखें मूँदकर आचार्य सान्दीपनि शान्त हो गये। मानो वे हमसे कई योजन दूर चले गये हों,–'गये हों' नहीं–चले ही गये थे।

'ब्राह्ममुहूर्त में उठकर गायत्री छन्द के सवितृ मन्त्र के पुरश्चरण से यहाँ की दिनचर्या आरम्भ होती है। तत्पश्चात् शान्त समय पर स्वयं आचार्य अपने शिष्यों को ज्ञान का बोध कराते हैं अनन्तर अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार प्रत्येक शिष्य को आश्रम के काम, ध्यान-धारणा, भोजन, विश्राम के पश्चात् अध्ययन किये विषयों की आवृत्ति करनी होती है। सन्ध्या समय समवेत सन्ध्या-वन्दन और रात्रि में ईश-स्तवन होता है। निद्राधीन होते समय विद्यार्थी दिन-भर प्राप्त किये ज्ञान का चिन्तन-मनन करते हैं।' यह पूरी दिनचर्या आश्रम के प्रमुख प्रबन्धक ने हमें समझा दी।

पहली ही रात्रि में हमें दी गयी पर्णकुटी में दर्भ के आस्तरण पर सोते समय मुझे चित्रसेन दादाजी, नन्दबाबा, छोटी और बड़ी माँ, हमारी लाडली एका, सभी काका-काकी, गोप-गोपी और विशेषत: मेरी मुरली को सहेजनेवाली राधा–सब तीव्रता से स्मरण हो आये। उसके बाद मुझे देवकी माता, तात वसुदेव, गर्ग मुनि, महाराज उग्रसेन, सात्यकि, अनाधृष्टि, विपृथु, देवभाग काका और मगधराज जरासन्ध का भी स्मरण हुआ। कितना विचित्र होता है मन! कहा नहीं जा सकता उसे कब और क्या स्मरण होगा? मैं अपने-आप से मुस्कराया। आचार्यश्री ने आज जो कहा था उसे कितना शीघ्र भूल गया था मैं! गोकुल और मथुरा की स्मृतियों को मैंने निश्चयपूर्वक कुछ समय के

लिए क्षिप्रा में विसर्जित कर दिया। मैं गाढ़ निद्रा में लीन हो गया।

काँय-काँय की ध्वनि से मैं बड़े तड़के ही जाग गया। कान खड़े कर मैं उस ध्वनि को सुनने लगा। पहले एक ही स्वर सुनाई दे रहा था, फिर उसी प्रकार के दूसरे स्वर ने उसका साथ दिया–काँय-काँय। आश्रम-परिसर के आम्र, कपित्थ, जामुन, नीम, पिप्पल, औदुम्बर जैसे ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की चोटी पर, दुशाखाओं में घास-तिनकों के बनाये घोंसलों में रह रहे वन-काक थे वे। मैं अपने-आप से मुस्कराया।

ध्यान लगाकर उन स्वरों को मैं सुनता ही रहा। देखते-देखते वन-काक पक्षियों का बड़ा कोलाहल आरम्भ हो गया। आज पहली बार मुझे तीव्रता से आभास हुआ कि प्राणी-जगत् में सबसे पहले काक पक्षी जाग उठता है। त्वरित ही वह अपने जाति-बन्धुओं को जगाता है। उनके पश्चात् समस्त जीव-सृष्टि जाग जाती है।

काक ऐसा गूढ़ पक्षी है जिससे कुछ बोध लिया जा सकता है–निद्रित जीव-सृष्टि में सबसे पहले जागनेवाला–औरों को जगानेवाला! क्या सम्बन्ध होगा काक पक्षी का मानव से? उसको भी जगानेवाले उसके अन्तर्मन से? मैं सोचता ही रहा।

ब्राह्ममुहूर्त होने से, मुख-प्रक्षालन किये कुछ आश्रम-कुमारों ने एक के पीछे एक, एक ही लय में शंख फूँके। उसके पीछे-पीछे गायों के कण्ठ में बँधी घण्टियों की ध्वनि सुनाई देने लगी। उनके गोबर विसर्जन की आवाजें भी आने लगीं। उनका रँभाना अधिक स्पष्ट हो गया। भिन्न-भिन्न पक्षी सम्मिश्र चहचहाने लगे। सांकेतिक शंखनाद गूँजने लगे। उन मधुर ध्वनियों से जागा आश्रम सचेतन होने लगा–अपने-अपने कर्मयोग में जुटने लगा। कुटी-कुटी से अग्निहोत्र के कुण्ड से उठते धुएँ के बादल चक्कर खाते हुए आकाश की ओर चढ़ने लगे। नादमय गम्भीर प्रातःस्तवन अस्पष्ट-सा सुनाई देने लगा–‘ॐ ईशावास्यम् इदं सर्वम्...’

मैं दर्भ के आस्तरण से उठा। हाथों की आँजुली आँखों के सम्मुख लाकर पहले मैंने कर-दर्शन किये। अपनी गुलाबी हथेली के ध्वज, चक्र, यव, मत्स्य, शंख, त्रिकोण, चौकोन, स्वस्तिक आदि जन्मजात रेखाचिह्न देखते हुए मैं क्षण-भर उन्हीं के विचारों में खो गया। तत्पश्चात् अपने हाथों की अँजुली मैंने हलके से मुख पर फिरायी।

धरती पर पाँव रखने से पहले ‘पादस्पर्शं क्षमस्व मे’ कहते हुए मैंने भूमि-वन्दन किया। अद्यापि प्रभात नहीं हुआ था। आश्रम की पर्णकुटियाँ, वृक्षों की आकृतियाँ अभी स्पष्ट दिखाई नहीं दे रही थीं। नदी की ओर जानेवाली कुछ-कुछ श्वेत पगडण्डी अस्पष्ट-सी दिख रही थी। मैं, दाऊ और उद्धव एक-साथ क्षिप्रा-तट पर चले गये। मुख प्रक्षालन कर हम क्षिप्रा के उष्ण जल में उतर गये और नहा-धोकर लौट आये।

आचार्य-कुटी में जाकर हमने पहले आचार्यश्री के दर्शन किये। वे कब के उठकर सभी आह्निकों से निवृत्त हो ध्यानमग्न हो गये थे। उनके समीप ही अग्निहोत्र का कुण्ड धधक रहा था। अन्दर गुरुपत्नी अपने गृह-कृत्यों में व्यस्त थी। हमने उनके भी दूर ही से दर्शन किये। अनन्तर गोष्ठ में जाकर हमने गो-दर्शन किये। गोरस-कक्ष में जाकर हमने धारोष्ण दूध पिया। होंठों पर लगा दूध हमने औंधी मुट्ठियों से पोंछ डाला।

अब आचार्यश्री के ज्ञान-दान का समय हुआ था। आश्रम में शंखों की विशिष्ट सांकेतिक धुन गूँज उठी। उसका संकेत पाकर अपनी-अपनी कुटी से निकलकर, आपस में फुसफुसाते हुए, बगल

में दबायी हुई दर्भासन की लपेटों को सँभालते हुए शिष्यों के समूह आचार्य-कुटी की ओर जाने लगे। आश्रम के अस्पष्ट आकार अब स्पष्ट हो गये। अंकपाद आश्रम पर प्रसन्न प्रभात उदित हुआ। आचार्य-कुटी में खचाखच भरे हम शिष्यों ने आँखें बन्द कर शान्तिपूर्वक गुरुवन्दना आरम्भ की–

'ॐ गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वर:
गुरु: साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नम:'

सबकी आँखें आचार्यश्री के मुख पर स्थिर हो गयी थीं। स्वर्गिक भाषा के उनके अमृत-बोल सुनने के लिए शिष्यों के कानों की सीपियाँ उत्सुक हो गयीं। एकाग्र हो गयीं। सभी शिष्यों पर अपनी प्रेमिल दृष्टि फिराकर आचार्यश्री मन्द, मधुर मुस्कराये। शारदीय प्रभात में मानस-सरोवर पर सद्य: खिले ब्रह्मकमल की कली के सदृश था वह हास्य! तत्पश्चात् वे साधनास्नात, मुरली जैसे नाद-मधुर स्वर में धीमे-धीमे बोलने लगे–

"प्रिय आश्रम-कुमारो, जिनमें पारंगत होना तुम्हारे लिए आवश्यक है, ऐसी चौदह विद्याएँ हैं। आज मैं उन्हीं के विषय में विस्तारपूर्वक बताने जा रहा हूँ। इसे तुम ध्यानपूर्वक सुनो।" कुटी में सर्वत्र शान्ति-ही-शान्ति छा गयी।

"चौदह विद्याओं में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद–ये चार वेद चार स्वतन्त्र आद्य विद्याएँ मानी गयी हैं। विद् अर्थात् जानना, समझना। वेद का अर्थ है जो जाना उसे बताया। चारों वेद दूर गान्धार देश में माल्यवत् पर्वत पर रचे गये। कई अनाम, प्रज्ञावान ऋषियों ने उनका सहजस्फूर्त मौखिक रूप में कथन किया। यह कार्य पीढ़ियों से चलता रहा, किन्तु किसी ने भी कहीं भी अपना नाम-निर्देश तक नहीं किया। अत: वेदों को 'अपौरुषेय ' माना जाता है। इनमें पहला है ऋग्वेद, यह उषा और वरुण देवताओं की प्रशंसा और अत्यन्त लयबद्ध ऋचाओं से समृद्ध है। दूसरा है यजुर्वेद, परमात्मा के चरणों में सम्पूर्ण समर्पण की ऋचाओं से यह सम्पन्न है। इसकी दो शाखाएँ हैं–शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। तीसरा है सामवेद इसे संगीत की ऋचाओं ने सौन्दर्य प्रदान किया है। और चौथा है अथर्ववेद, यह शत्रु के विनाश और अपने संरक्षण की प्रार्थनाओं की प्रभावशाली ऋचाओं से भरा है। अपने पर आनेवाली विपत्तियों से बचाने की आत्मिक पुकार भी उसमें है। वस्तुत: वेद 'वाङ्मय' है। 'वाचा' से सहजस्फूर्त प्रकट हुआ यह जगत् का पहला धारावाही, सुसंगत, समृद्ध साहित्य है। मेरे अलग-अलग उप-आचार्य तुम्हें ये चारों आद्य विद्याएँ सिखाएँगे। उसमें कुछ सन्देह, शंका हो तो तुम मुझसे किसी भी समय पूछ सकते हो।

"इन वेदों के छह अंग हैं। उनको भी छह स्वतन्त्र विद्याएँ माना गया है। पहले अंग को 'शिक्षा' कहते हैं। 'शिक्षा' अर्थात् वेदों के शब्दों के निर्दोष, योग्य और कर्ण-मधुर उच्चारण का शास्त्र। वेदों की वास्तविक सामर्थ्य उसके अचूक और स्पष्ट उच्चारण में निहित है। उच्चारण के अर्थात् वाणी के चार भेद हैं–परा, पश्यन्ती, मध्यमा, और वैखरी।

" 'वैखरी' वाणी का सबसे गौण भेद है। प्रतिदिन के व्यवहार में उसका अनजाने में नित्य उपयोग किया जाता है। जिह्वा, तालु और होंठों के संयोग से जो केवल कण्ठ से निकलती है, वह वैखरी है। इसका मन, हृदय, बुद्धि और आत्मा से सम्बन्ध होगा ही, ऐसा कहा नहीं जा सकता। ऐसी मुँह-देखी वैखरी का सभी नित्य उपयोग किया करते हैं, उसे हमें पहचानना चाहिए।

"जो हृदय से निकलती है, वह वाणी है मध्यमा। तीसरी वाणी है पश्यन्ती, जिसका स्थायी भाव है प्रेम और अन्य भावनाएँ। यह नाभि स्थान से निर्मित होती है। जो मूलाधार केन्द्र से प्रकट

होती है, आत्मशक्ति से ही स्वाध्याय और साधना से जो निर्मित होती है, उसको परा वाणी कहते हैं। यह सब वाणियों में श्रेष्ठ है। इसे समझाना नहीं पड़ता है। यह इतनी स्वयंसिद्ध और सशक्त है कि जीवों को अपने-आप ही इसकी प्रतीति होती है। 'परा' अर्थात् दूसरे की–'परा' वाणी उच्चारण करनेवाले की नहीं होती; किसी और की होती है–अलौकिक होती है।"

अभिभूत हुए आश्रम-कुमारों पर दृष्टि घुमाते हुए आचार्य क्षण-भर रुक गये। मुझ पर दृष्टि गड़ाते हुए उन्होंने पूछा, "श्रीकृष्ण, कुछ समझे तुम? कौन-सी वाणी तुम्हें अच्छी लगेगी?"

मैं भी तनिक रुक गया। फिर मैंने हँसते हुए कहा, "मुझे चारों अच्छी लगेंगी। किन्तु आचार्यश्री कोई पाँचवीं वाणी विद्यमान नहीं है क्या?"

"नहींऽ, शास्त्र ने तो चार ही वाणियाँ मानी हैं।" आचार्यश्री भी सहेतुक गूढ़-मधुर मुस्कराये। फिर हम दोनों एक-दूसरे की ओर और अन्य सभी हम दोनों की ओर देखते रहे। हमारे परस्पर दर्शन के पीछे छिपी हुई नि:शब्द वाणी को आचार्यश्री जान गये थे, मैं भी जान गया था। वह थी परमात्मा की वाणी–प्रेम की वाणी। पार्थिव देह के किसी भी अवयव में वह समा नहीं सकती थी। उसका कोई आदि भी नहीं था और अन्त भी नहीं था।

"वेदों के दूसरे अंग का नाम है छन्द।" आचार्यश्री बोलने लगे–"छन्द अर्थात् संगीत के स्वर, ताल और लय का शास्त्र-शुद्ध ज्ञान।" अब वे अपने विवेचन में रँग गये थे–"भाषा के निर्दोष आकलन के नियम जिसमें हैं, वह तीसरा अंग है 'व्याकरण'।

"वेद सहजस्फूर्त हैं, अत: उनके अर्थों की भी कोई मर्यादा नहीं है। उनके चौथे अंग को 'निरुक्त' कहते हैं, उसका अभिप्राय है वेदों का सरल और अर्थपूर्ण निरूपण।

"वेदों का पाँचवाँ अंग है ज्योतिष, इसमें काल-मापन ग्रहगोल, नक्षत्र और हस्तरेखा विद्या की चर्चा है।

"छठा अंग है कल्प, जिसमें धार्मिक विधि और संस्कारों का ऊहापोह है। जिनकी कल्पना नहीं की जा सकती, ऐसे कुछ आडम्बर इसमें घुस सकते हैं। उनसे सदैव सावधान रहना चाहिए। ऐसे आडम्बरों की अन्धश्रद्धा बनने में देर नहीं लगती। ऐसी अन्धश्रद्धाओं को जो नष्ट करता है, वह युगपुरुष, योगयोगेश्वर होता है। 'अव' का अर्थ है–नीचे-मनुष्यों को तारने के लिए, उनका उद्धार करने के लिए जो नीचे–पृथ्वी पर आता है, वह 'अवतार' होता है। असंख्य अन्धश्रद्धालुओं को तारने के लिए जो पृथ्वी पर आता है, वह अवतारी युगपुरुष, युगन्धर होता है।" आचार्यश्री तनिक रुक गये। मेरी ओर एकटक देखते हुए उन्होंने पूछा, "क्यों श्रीकृष्ण, समझ गये?"

"आकस्मिक धार्मिक आडम्बर ही भविष्य में अन्धश्रद्धा बनते हैं, यह तो मैं समझ गया, किन्तु 'अवतार' के विषय में आपने जो-कुछ कहा, वह मैं नहीं समझा, आचार्यश्री!" मैंने अपने मुख पर जिज्ञासा का भाव लाते हुए पूछा।

"नहीं समझे? ठीक है–समझ जाओगे, उचित समय पर!" हम दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े। सब आश्रम-कुमार चकराकर, हड़बड़ाकर हमारी ओर देखते रहे। हँसने से आँखों में आया पानी आचार्यश्री ने तर्जनी से पोंछ डाला। सर्वत्र दृष्टि घुमाते हुए उन्होंने कहा, "शिष्यो, चार वेद और उसके छह अंग मिलकर दस विद्याएँ हो गयीं।"

आचार्यश्री की वाणी में अब स्वर्गीय तेज झलकने लगा।

"अब रहीं चार विद्याएँ, उनके नाम हैं–मीमांसा, तर्क, पुराण और धर्म। मीमांसा का अर्थ है किसी विषय को सभी उचित, अनुचित अंगों सहित स्पष्ट करना, उसकी गहराई तक पहुँचना, उसका सर्वांगीण विश्लेषण करना। मीमांसा के दो भेद हैं–पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। और जिसमें न्याय-अन्याय की चर्चा की गयी है, वह है तर्कविद्या।"

आचार्यश्री की आँखें अर्धोन्मीलित हो गयी थीं। हमारे बीच होते हुए भी वे कहीं दूर पहुँच गये थे–

"अगली विद्या है 'महापुराण'। ये अठारह हैं–इनमें प्रमुख हैं–ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय और अग्नि। शिवपुराण को वायुपुराण भी कहते हैं। इनके अतिरिक्त भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड मिलकर अठारह पुराण होते हैं। ये पुराण अलग-अलग जीवन-विषयों से सम्बन्धित हैं।

"किन्तु पुराणों में अर्थ की गहनता कम और कर्मकाण्डों का आडम्बर अधिक होने से लोकमानस से दूर रहे हैं।

"अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण विद्या है–'धर्म'। इसका अर्थ ध्यानपूर्वक समझ लो। तुम भी उसका चिन्तन, मनन करो। ज्ञानियों ने जीवन के चार पुरुषार्थ माने हैं–मानो वे जीवन के चार पक्के स्तम्भ ही हैं। उनके नाम हैं–धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। धर्म क्या है? 'धृ-धारयति इति धर्मः।' जीव के पूर्ण विकास के लिए जो उसे धारण करता है–उसकी धारणा बनाता है–वही धर्म है।

"यह मत भूलो कि जीवनदायी सत्य धर्म के आचरण के लिए जीवन में चारों पुरुषार्थों की नितान्त आवश्यकता है। धर्म का अर्थ शुष्क कर्मकाण्ड नहीं है। धर्म को भी कभी-कभी ग्लानि हो सकती है, वह आमूल लड़खड़ा सकता है। अधर्म का प्रभाव बढ़ने से लड़खड़ाते धर्म की निश्चयपूर्वक रक्षा करनी पड़ती है।

"तुम क्षत्रियकुलोत्पन्न हो। तुम्हारा तो यह प्रथम कर्तव्य ही है। उसका पालन करने के लिए, मेरी दृष्टि में सर्वसम्मत चौदह विद्याओं की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण है 'युद्धविद्या'। उसके दो प्रमुख अंग है शस्त्र और अस्त्र। अस्त्रों में मुख्य हैं–वरुण, वायु, अग्नि, पाशुपत, पर्जन्य, प्रस्वाप, नारायण और ब्रह्मास्त्र। उनका मन्त्रों सहित प्रक्षेपण और परस्पर निरोधन भी मैं तुमको यथाक्रम सिखा दूँगा। शस्त्रों में खड्ग, तोमर, गदा, भल्ल, भुशुण्डी, मूसल, शतघ्नी, परिघ, अग्निकंकण, चक्र और धनुष-बाण आदि मुख्य हैं। धनुष-बाण चलाने की विद्या को ही धनुर्विद्या कहा गया है। कुछ भाष्यकारों ने तो इसकी अमोघ गति और अचूकता को ध्यान में रखते हुए इस विद्या को वेद का स्थान दिया है। धनुर्विद्या को पाँचवाँ वेद ही माना है। धनुर्वेद के मुख्य अंग चार हैं–दीक्षा, संग्रह, सिद्धि और प्रयोग।

"दीक्षा का अर्थ है उपयोग में लाने से पहले धनुष को मन्त्रसहित वन्दन करना। तत्पश्चात् बायें हाथ से धनुष का अचूक मध्य पकड़कर धनुष का दूसरा सिरा धरती पर टेककर हाथ नीचे से ऊपर ले जाते हुए बायें हाथ से ही धनुष का ऊपरी सिरा पकड़कर झटके में उसे वक्रता देना और पलक झपकने से पहले दाहिने हाथ से उस पर प्रत्यंचा चढ़ाना। प्रत्यंचा की टंकार कर धनुष सुलक्षण है अथवा नहीं, इसकी जाँच करना। लक्ष्य पर दृष्टि रख, पीठ पर बँधे तूणीर में भरे जिह्म, सूचि, सुवर्णपुंख, चन्द्रमुख, नाराच, बस्तिक आदि बाणों में से केवल हस्तस्पर्श से ही उचित बाण चुनना, इन सभी क्रियाओं को दीक्षा कहते हैं।

"संग्रह का अर्थ है, चुना हुआ बाण मस्तक से लगाकर, गुरु-स्मरण कर, आँखें बन्द कर अपने-आप से प्रक्षेपण के मन्त्र का उच्चारण करना, प्रत्यंचा पर बाण चढ़ाना, कान के पास आनेवाला बाणपुच्छ, निश्चित किये लक्ष्य का अग्र, एक आँख बन्द कर दूसरे आँख की एकाग्र की हुई दृष्टि और अन्ततः लक्ष्य का मर्मभेद–इन सब क्रियाओं का संग्रह करना।

"सिद्धि धुनर्वेद का यौगिक अंग है। संग्रही स्थिति में बहती हवा का अनुमान लगाकर आवश्यक हवा से वक्ष भर लेना और पैंतरा लेकर उसे निश्चित करना–यही सिद्धि है। इससे धनुर्योग की पूर्ति होती है।

"प्रयोग का अर्थ है बाण का प्रेक्षपण। निमिष-भर में निश्चित लक्ष्य पर बाण अचूक प्रक्षेपित कर, वक्ष में भर ली गयी हवा को छोड़कर वक्ष रिक्त कर लेना। यहीं प्रयोग पूर्ण होता है।" आचार्यश्री के धीर-गम्भीर शब्दों से कुटी में सर्वत्र शान्ति छा गयी।

"चौदह विद्याओं के साथ-साथ जीवन को सर्वांगसुन्दर, परिपूर्ण बनानेवाली चौंसठ कलाएँ भी हैं। यथाक्रम मैं उन सबकी विस्तृत व्याख्या करूँगा। चौंसठ कलाओं में सर्वश्रेष्ठ और पहली कला है संगीत। 'सा रे ग म प ध नि' ये उसके अमर सप्तसुर हैं। षड्ज, पंचम, सप्तक आदि उसकी गतियाँ हैं। भू, मल्हार, यमन, मालकंस, आसावरी, भैरवी आदि राग-रागिनियों के विशाल वट-वृक्ष को मूल सप्त सुर बड़ी सामर्थ्य से धारण करते हैं।

"संगीत ही सर्वश्रेष्ठ कला क्यों है? इसलिए कि संगीत बिना किसी मध्यस्थ के सीधे श्रोता के हृदय को स्पर्श करता है। संगीत के एक अलाप में जो बताया जा सकता है, वह महाकाव्य के एक पूरे सर्ग में भी नहीं बताया जा सकता। फिर भी यह मत भूलो कि संगीत को विद्या नहीं माना गया है, कला ही मना गया है।"

आचार्यश्री की अत्यन्त गहरी, धारदार अमृतवाणी अब ज्ञान के अथाह आकाश की तारिकाओं को खोंटकर बिखेरने लगी, "चर्मचक्षुओं को अर्थात् दृष्टि को जो दिखता है, वह विश्व है, किन्तु उससे परे जो अनन्त है–वह ब्रह्माण्ड है। असीम विश्व में विद्यमान हमारी धरती मूलभूत महाभूतों के नियमों से बद्ध है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश–ये मुख्य पंचमहाभूत हैं।

"यह भली-भाँति जान लो कि आकाश और अवकाश में अन्तर है। नीलवर्ण आकाश हमें स्पष्ट दिखाई देता है, अवकाश उसके उस पार है–वह अनन्त है, असीम है, कृष्णवर्ण है। क्यों बलराम, कुछ समझे?" अचानक उन्होंने दाऊ को टटोला। उसने झट से उत्तर दिया, "जो कृष्ण है, वह असीम है–अनन्त है।" आचार्यश्री और मैं दाऊ की ओर देखकर उनके दोहरे उत्तर पर मुस्कराये, किन्तु वे निरीह, जिज्ञासु भाव अपने मुख पर बिखेरकर चुप रहे।

आचार्यश्री आगे बोलने लगे, "चैतन्यमय प्रकाशरूप प्राणतत्त्व अवकाश पर प्रभाव डालता है, तभी जड़ और चैतन्ययुक्त विश्व साकार होने लगता है। यह विश्व क्रमशः विकसित होने लगता है। उस विकास का एक परमोच्च बिन्दु निश्चित होता है, उसके बाद इस विश्व का संकोच होने लगता है। उसका परम नीच बिन्दु भी निश्चित होता है। तत्पश्चात् अवकाश पर प्राणतत्त्व का पुनः प्रभाव, पुनः विकसन और पुनः संकोच–यह चक्र कोटि-कोटि वर्ष से चलता आया है; चलता रहेगा।

"इस जीवन-सत्य को जानने के लिए तुम्हें एक और जीवन-सत्य को समझ लेना होगा। 'काल' ही वह सत्य है। दिवस, रात्रि, मास, वर्ष, तप और युग से हम काल की गिनती करते हैं। बारह वर्षों से एक तप और सहस्र तपों से एक युग बनता है। ऐसे एक सहस्र युगों से ब्रह्मा का एक

दिन बनता है। ब्रह्मा के ऐसे कई दिनों से 'कल्प' बनता है। अर्थात् चार सौ बत्तीस दश लक्ष वर्षों का एक कल्प होता है।"

सभी शिष्यों को क्लिष्ट, जटिल गणित की पहेली में उलझाकर, क्षण-भर रुककर आचार्यश्री अपने-आप में ही मन्द-मन्द मुस्कराये। स्वयं प्रश्न कर, स्वयं ही उत्तर देते हुए उन्होंने कहा, "क्या, ऐसे अनन्तकाल की गणना कोई कर सकता है? नहीं। काल अखण्ड है, उसका कोई आदि नहीं–अन्त नहीं। उसी प्रकार जीवन भी असीम है, अनन्त है, चिरन्तन है। इस सत्य को जो जानता है, वह द्रष्टा होता है। और 'मैं ही काल हूँ, जीवन भी मैं ही हूँ' कहनेवाला तथा उसका ज्ञान रखनेवाला तो परमद्रष्टा होगा। हो सकता है, ऐसा कोई परमद्रष्टा तुममें ही हो!"

अचानक रुककर, फट से आँखें खोलते हुए आचार्यश्री ने पूछा, "क्यों श्रीकृष्ण?"

मेरी ओर देखकर वे पुन: मन्द-मन्द अर्थपूर्ण ढंग से मुस्कराये। मैं भी उसी हास्य के प्रतिबिम्ब जैसा मुस्कराया, किन्तु कुछ बोला नहीं। पुन: एक बार सभी आश्रम-कुमार हम दोनों की ओर देखते रह गये।

विषय में परिवर्तन करते हुए आचार्यश्री कहने लगे, "अपनी आत्मशक्ति के सर्वांगीण विकास में अहंकार बाधा डालता है। उसके अनेक भेद और पहलू होते हैं। सत्ता का, सामर्थ्य का, सम्पत्ति का, सौन्दर्य का, कीर्ति का–कोई भी अहंकार जीव को कभी विकास की ओर अग्रसर नहीं होने देता।

"बलराम, क्या तुम बता सकते हो, सबसे अधिक घातक अहंकार कौन-सा होता है?" आचार्यश्री ने अचानक दाऊ को उलझन में डाल दिया। लेकिन उन्होंने पुन: झट से उत्तर दिया–"सामर्थ्य का अहंकार आचार्यश्री!"

"नहीं बलराम, ज्ञान का! आध्यात्मिक साक्षात्कार के ज्ञान का अहंकार सबसे घातक होता है। फल-भार से झुके आम्र-वृक्ष की भाँति साक्षात्कारी ज्ञानी को सदैव नम्र रहना चाहिए। ऐसा होने पर ज्ञान के स्वर्ण में सत्य की सुगन्ध आती है।

"एक बात ध्यान में रखो, जीव सदैव तीन परिमाणों में विचरण करता है–लम्बाई, चौड़ाई और गहराई; ये ही वे परिमाण हैं। जिसने चौथे परिमाण 'अखण्ड काल' को जान लिया और स्वीकार किया, वही पुरुषोत्तम है। और भी कुछ परिमाण हैं, किन्तु उनको मैं फिर कभी बताऊँगा।...अर्पणमस्तु।" पहले कुछ शब्द होठों-ही-होठों में बुदबुदाते हुए आचार्य सान्दीपनि ने धीरे-धीरे अपनी आँखें बन्द कर लीं। वे सहज समाधि में चले गये।

पहले मैं, दाऊ और उद्धव–हमारी त्रयी एक ही कुटी में रहती थी। कुछ दिन बाद हमारी कुटी में और एक आश्रम-कुमार आ गया–सौराष्ट्र का सुदामा। अब हमारी त्रिकुटी चौकड़ी बन गयी।

सुदामा छरहरे शरीरवाला, गौरवर्णी, भोला-भाला, निरीह, परिश्रमी ब्राह्मण-कुमार था। आज तक के कई अनुभवों से भली-बुरी कसौटियों पर परखने के बाद स्नेह के विषय में मेरी एक पक्की धारणा बन गयी थी। विशुद्ध स्नेह-निर्माण कैसे होता है, कैसे वह बढ़ता है और कैसे दृढ़ होता है, इसे शब्दों में नहीं बताया जा सकता। स्नेह तो जीवों का जन्म-जन्म का मेल होता है। न उसके उद्गम को ढूँढ़ने की आवश्यकता होती है, न अन्त को। स्नेह का केवल अनुभव किया जाता है...

आश्रम की सम्पूर्ण दिनचर्या में हमारी चौकड़ी एकत्र ही हुआ करती थी। बड़े तड़के ही उठकर हम प्रातर्विधियों से निवृत्त हुआ करते थे। आचार्यश्री के यज्ञ के लिए विविध समिधा, पूजा के पुष्प, उपहार के लिए फल और ईंधन के लिए लकड़ी इकट्ठा करने के लिए अवन्ती के अरण्य में हम इतना घूम चुके थे कि उसके चप्पे-चप्पे से परिचित हो गये थे।

ऐसी भटकन्ती में हमें कभी-कभी अन्य पर्णकुटियों में रहनेवाले सहाध्यायी अचानक मिल जाते थे। फिर हमारे आनन्द-विभोर कोलाहल से सारा अरण्य निनादित हो उठता था। कभी-कभी हम दस-बीस आश्रम-कुमार समीपस्थ सरोवर के तट पर भाँति-भाँति के खेल खेला करते थे। जब हमारे शरीर तप जाते थे, स्वेदसिक्त हो जाते थे, तब जलक्रीड़ा करने हेतु हम सरोवर में कूद पड़ते थे। यथेच्छ जलक्रीड़ा करने के पश्चात् हम सरोवर-तट के दर्भ के घने तृण-क्षेत्र में आ जाया करते थे। तब सुदामा और उद्धव वहाँ बड़े भोर में नाच-नाचकर उड़ गये मयूरों के गिरे हुए रंगीन पंख ढूँढ़-ढूँढ़कर लाया करते थे। मेरे भीगे, घने, घुँघराले केशों में मोरपंख खोंसते हुए उद्धव अवश्य कहा करता था, “भैया, जब-जब हम आपके ये भीगे, घने, कृष्णवर्ण केश देखते हैं, आपको कुछ कहते हुए सुनते हैं, तो हमें—कम-से-कम मुझे—तो लगता है कि आप हमसे नितान्त भिन्न हैं—अलग हैं, किन्तु कैसे हैं यह मैं बता नहीं सकता।”

“मुझे भी ऐसा ही लगता है—तुम हमसे कुछ अलग ही हो।” कहते हुए सुदामा भी अत्यन्त प्रेम से एकाध मोरपंख मेरे केशों में खोंसता था। तत्पश्चात् पन्द्रह-बीस आश्रम-कुमारों का वह समूह मुझे और दाऊ को बीच में रखकर हमारे चतुर्दिक् चक्कर लगाते हुए, विविध प्रकार के लोकगीत गाते हुए नाचते रहते थे।

आश्रम को लौटते समय सुदामा को उकसाने की सनक मुझ पर सवार हो जाती थी। मैं उससे कहता था, “मित्र सुदामा, ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं, एक नैष्ठिक अर्थात् आजन्म ब्रह्मचारी और दूसरा उपकुर्वाण अर्थात् अध्ययन पूर्ण होने के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करनेवाला—अनैष्ठिक ब्रह्मचारी। मित्र, तुम इनमें से कौन-से ब्रह्मचारी बनोगे?”

“मैं एक साधारण, निर्धन ब्राह्मणकुमार हूँ—अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान। यहाँ का ब्रह्मचर्याश्रम पूरा होने के पश्चात् अपने गाँव लौटकर मुझे तो विवाह करना होगा। पत्नी सहित अपने माता-पिता की सेवा करनी होगी।” सुदामा प्रांजल और नम्र उत्तर देता था।

प्रसन्न होकर बिना कुछ बोले मैं केवल उसका कन्धा थपथपाता रहता। आश्रम लौटने के बाद हमें ईंधन के लिए कुल्हाड़ी से लकड़ी काटने का काम करना होता था। कभी-कभी शारीरिक श्रम का यह काम कृशकाय सुदामा के सामर्थ्य के बाहर हो जाता था। दूर से ही यह भाँपकर उसके हाथ की कुल्हाड़ी अपने हाथ में लेकर मैं उससे बातचीत करते-करते लकड़ियाँ काटने लगता था। बीच ही में ललाट पर उभर आये स्वेद-बिन्दुओं को पोंछता था। उसके हिस्से के श्रमयोग को भी मैं नितान्त सरलता से पूरा कर डालता था। जब मैं माथे का स्वेद पोंछने के लिए तनिक रुककर उसकी ओर देखते हुए मुस्कराता था, वह कहे बिना रह नहीं पाता था—“मित्र कृष्ण, तुम्हारी यह हँसी ही सबसे अलग है। हँसते हुए तुम्हारा मुखमण्डल अधिक आकर्षक दिखता है। तुम्हारे दाहिनी ओर के दुहरे दाँत हँसते समय चमक उठते हैं, तुम्हारे हास्य को वे अधिक शोभा प्रदान करते हैं। तुम्हारे गुलाबी होंठों के पीछे छिपे कुन्दकलियों जैसे दाँत पुन:-पुन: देखने को जी करता है। जी चाहता है, तुम्हें नित्य हँसते हुए देखूँ—घण्टों तुम्हें देखता ही रहूँ।”

सहज स्नेह-भाव से बोलनेवाला सुदामा मेरा और दाऊ का अभिन्न प्रिय हो गया। उद्धव तो हमारा ही था। हम चार थे ही नहीं। देह और मन से एक हुई हमारी चौकड़ी आचार्य सान्दीपनि के आश्रम में सुखपूर्वक रहने लगी।

आश्रम के हमारे एक-एक दिन को अनेक स्मृतियों के मोरपंख निकल आये। आश्रम के सभी शिष्य अब हमारे दृढ़ परिचित हो गये थे। किन्तु उनमें से कोई भी हमारे स्नेह-चौकोण में प्रवेश नहीं कर पाया। मेरे फुफेरे भ्राता होते हुए भी–आश्रम-साथी होते हुए भी विन्द-अनुविन्द के लिए वह कभी सम्भव नहीं हो पाया। मैं इसे कभी नहीं भूल पाया। बहुत सोचने पर भी मैं इसका कारण ढूँढ़ नहीं पाया। बाद में तो मैंने इस बात पर सोचना ही छोड़ दिया।

प्रतिदिन के ज्ञानबोध के सत्र में एक दिन आचार्यश्री ने पहली बार ललितकलाओं के विषय को स्पर्श किया। हम सब उत्सुक शिष्यों पर एक प्रेमपूर्ण दृष्टिक्षेप करते हुए वे नाद-मधुर स्वर में शान्ति से बोलने लगे–"मेरे प्रिय शिष्यो, संगीत के बाद दूसरी महत्त्वपूर्ण कला है–आलेख। आलेख अर्थात् साहित्य और चित्रकला। जो स+हित होता है, वही साहित्य है। जो पाठक का थोड़ा ही क्यों न हो, हित करता है, वह साहित्य होता है। जो मनुष्य का अल्प-सा भी उन्नयन करता है, सच्चे अर्थ में वही साहित्य होता है। वह सीधे पाठक के हृदय को स्पर्श करता है। यह कला संगीत जैसी ही है। जिस प्रकार परा वाणी मूलाधार केन्द्र से निकलती है, उसी प्रकार जो साहित्य अनुभूति के मूल से निर्मित होता है, उसको अक्षर अर्थात् क्षय न होनेवाला साहित्य कहते हैं। मेरे बताये सभी वेद उत्कृष्ट अक्षर श्रेणी में आते हैं। आँखों द्वारा हृदय को स्पर्श करनेवाली चित्रकला का भी 'आलेख' कला में समावेश है।

"संगीत हो, साहित्य हो, अथवा चित्र हो, चौंसठ कलाओं में से किसी भी कला के सृजन के लिए कलाकार का मन परा स्पर्श से युक्त, सशक्त, विशुद्ध, निर्दोष, निर्लिप्त होना आवश्यक है। निर्मल मन का वास निर्मल तन में ही होता है। अत: वेद-स्त्रष्टाओं ने देह को विश्वदेव का मन्दिर कहा है। स्वस्थ देह-सम्पत्ति की स्वर्गीय देन मनुष्य को देनेवाली योग जैसी अन्य कोई विद्या नहीं है। मैं तो योग को पन्द्रहवीं विद्या ही मानता हूँ।"

कुछ सोचकर आचार्यश्री रुक गये। उन्होंने अपनी शान्त दृष्टि शिष्यगणों पर घुमायी। फिर मुझ पर दृष्टि गड़ाकर उन्होंने मुझे मानो आदेश ही दिया–"श्रीकृष्ण, वहाँ से उठकर अपने दाऊ, उद्धव और सुदामा सहित मेरे सम्मुख आकर बैठ जाओ।" हम चारों जल्दी से उठकर विनम्र भाव से आचार्यश्री के सम्मुख आ बैठे। अब स्वयं आचार्यश्री ने आँखें बन्द कर घन-गम्भीर स्वर में गुरु-वन्दना आरम्भ की। इस बात को शिष्यगण पहली ही बार अनुभव कर रहे थे। प्रत्यक्ष गुरु के विमल मुख से गुरुब्रह्म की पावन वन्दना आरम्भ हो गयी–'ॐ गुरुर्ब्रह्माऽ...' मेरे मन में एक विचार झलक उठा–'कौन होंगे आचार्यश्री के आचार्यश्री?' उस समय यदि पर्णकुटी के छाजन का एकाध तिनका भी टूटता तो उसकी भी आवाज सुनाई देती, ऐसी नीरव शान्ति सर्वत्र छा गयी। गुरुदेव सान्दीपनि मुझ सहित दाऊ, उद्धव, सुदामा और अन्य शिष्य–सबको योगवेद सुनाने लगे। नित्य की अपेक्षा उनकी वाणी कुछ अलग, तेजस्वी बन गयी–परा वाणी में लय हो गयी। उसको साक्षात् देवी शारदा की वीणा की झंकार प्राप्त हो गयी! गुरुदेव के कण्ठ से शब्द-स्रोत बहने लगा, मानो हिमालय के उत्तुंग शिखर से हिमगंगा का अनिरुद्ध प्रवाह निरन्तर झर रहा हो। उसे सुनने का आनन्द केवल अवर्णनीय था, अविस्मरणीय था।

"श्रीकृष्ण, बलराऽम, उद्धव-सुदामा और मेरे प्रिय शिष्यो, अब 'सांख्ययोग' पर ध्यान दो–सबसे महत्त्वपूर्ण जीवन-योग है यह।

"जीव की नाभि-स्थान के पास होता है उसके प्राणों का मूलकन्द। वहाँ से निकलकर बहत्तर सहस्र धमनियाँ पूरे शरीर में व्यवस्थित फैली हुई होती हैं। प्रत्येक मानव-शरीर में छह चक्र होते हैं। उसके कटि-स्थान के मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी नाम की भगवती शक्ति सर्प की भाँति कुण्डली मारकर अधोमुख स्थित होती है।

"उसके ऊपर दस और नीचे दस मुख्य धमनियाँ होती हैं। दो-दो आड़ी फैली हुई धमनियाँ भी होती हैं। कुल चौबीस मुख्य और उपधमनियों में रक्त के रूप में प्राणशक्ति निरन्तर बहती रहती है–सूर्य-किरणों की भाँति उसका अस्तित्व सदैव रहता है। अत: जीवन को जानने के लिए पहले 'रक्त' का अर्थ जान लेना आवश्यक है।

"रक्त का अर्थ है जीव के द्वारा अपनी संस्कारशीलता की स्वीकृति। उसको वहन करनेवाली दस मुख्य धमनियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं–इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलंबुषा, कुहू और शंखिनी। इनमें भी इडा, पिंगला और सुषुम्ना का महत्त्व अधिक है।

"शरीर के बायें भाग की अनेक धमनियों की शाखाओं सहित जो निरन्तर कार्यरत रहती है, वह 'इडा' नाम की धमनी है। शरीर के दाहिने भाग की धमनियों की रक्त-शाखाओं सहित जो कार्यरत रहती है उसका नाम है पिंगला और इन दोनों के बीच में, मेरुदण्ड की मज्जा-रज्जुओं द्वारा जो निरन्तर कार्यरत रहती है, वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धमनी है 'सुषुम्ना'। सुषुम्ना के अधोभाग में मूलाधार चक्र में मोक्षदायी, दिव्य, भगवती शक्ति औंधे मुँह सर्पाकार बैठी है। इसकी प्रतीति बहुत ही कम लोगों को पूर्वपुण्याई के कारण होती है। उसे जाग्रत करने की इच्छा उनमें से कुछ ही को होती है। इने-गिने लोगों को ही उसमें सफलता प्राप्त होती है। अपनी प्रबल इच्छाशक्ति के अनुकूल उसको काम में लाना किसी परमद्रष्टा, योगयोगेश्वर के लिए ही सम्भव होता है। यह भगवती कुण्डलिनी जाग्रत होकर छह चक्रों को भेदती हुई मस्तक के ब्रह्मरन्ध्र से जा मिलती है। उस कैवल्य द्वार से वह प्रत्यक्ष असीम, तेजोमय, अनन्त परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। परमात्मा अर्थात् असीम, स्थल-कालातीत, सृजनशील, भार रहित ऊर्जा की प्रतीति।

"भगवती कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के नियमबद्ध शास्त्र को ही 'सांख्ययोग' कहते हैं। इस योग के आठ अंग हैं–यम, नियम, प्रत्याहार, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधि। यद्यपि ये सभी अंग महत्त्व के हैं, उनमें सबसे अधिक महत्त्व 'प्राणायाम' का है। प्राणायाम का अर्थ है प्राणी की प्राणशक्ति–'श्वास' का किया गया शास्त्रशुद्ध नियमन!

"श्वास सूर्यगति से सम्बद्ध है। साधारणत: दिन में मनुष्य का श्वसन दाहिने नासापुट से होता है। उसको सूर्य-स्वर अथवा सूर्य-प्रवाह कहते हैं। रात्रि में बायें नासापुट से श्वसन होता रहता है, उसको चन्द्र-स्वर अथवा चन्द्र-प्रवाह कहते हैं। श्वास पर नियन्त्रण करते हुए कुछ योगी दिन में भी और रात्रि में भी दोनों नासापुटों से श्वसन करते हैं। जो दिन में चन्द्र-स्वर और रात्रि में सूर्य-स्वर का प्रचलन कर सकते हैं ऐसे योगी बहुत कम होते हैं। इसमें कोई 'चमत्कार' नहीं होता। यह सब देहशास्त्र पर आधारित है।

"शिष्यो, ऐसे कुछ महानुभाव हमारे आश्रम में हैं। तुम क्षत्रिय-कुमार हो इसलिए एक बात का ध्यान रखो, जब धमनी का सूर्य-प्रवाह चलता रहता है, तब शास्त्राध्ययन, कठिन विद्याओं का

पठन करना हितकर होता है। उस समय शत्रु-निर्दलन का निश्चय करना, शस्त्र धारण करना, हाथी, अश्व पर आरोहण करना आदि लाभप्रद होता है।

"चन्द्र-प्रवाह के चलते दान करना, व्याधि की चिकित्सा करना, मैत्री हेतु सन्धि करना आदि हितकर होता है।

"जब सुषुम्ना का नियमन किया जाता है, तब जगदीश्वर का स्मरण और चिन्तन करना उचित होता है। जगत्-कल्याण की इच्छा से यदि उस समय युद्ध हो रहा हो, तो केवल परमेश्वर का चिन्तन करते रहना ही उचित होता है। जिस योगी की सुषुम्ना धमनी सूर्य-स्वर में चलती हो, उसको दिया शाप व्यर्थ होता है, वह कभी सफल नहीं होता।

"अन्य किसी भी शास्त्र में सांख्ययोग को समझ लेना अधिक कठिन होता है–उसको आचरण में लाना और भी कठिन होता है। किन्तु जब उसका अभ्यास हो जाता है, जीवात्मा नितान्त सरलता से भूत, वर्तमान और भविष्य–इन त्रिकालों में और पाताल, धरा तथा स्वर्लोक–इन तीनों लोकों में संचार कर सकती है। उसको वायु और प्रकाश से भी अधिक गति प्राप्त हो सकती है। इस शास्त्र का अध्ययन अथवा स्वाध्याय करते हुए जीवात्मा को कुछ सिद्धियाँ सरलता से प्राप्त हो सकती हैं। किन्तु योगी को उन सिद्धियों का उपयोग नहीं करना चाहिए, उससे शक्ति क्षीण हो जाती है।

"जागृत कुण्डलिनी के सामर्थ्य पर ब्रह्मरन्ध्र को भेदकर जब जीवात्मा ब्रह्माण्ड में संचार करनेवाले अनन्त, असीम परमात्मा से एकरूप हो जाती है, उसको समाधि स्थिति कहते हैं। इस स्थिति में कर्म करनेवाले को योगेश्वर कहते हैं।

"जो जीवात्मा समाधि स्थिति में कैवल्यरूप होकर अर्थात् कृतार्थ होकर देह का त्याग करती है, वह मोक्ष को प्राप्त हो जाती है। मोक्ष की भी इच्छा न रखते हुए जो व्यक्ति जीवन-भर प्रेम के लिए प्रेम, कर्म के लिए कर्म करते हुए, जिस प्रकार डण्ठल को छोड़कर फल वृक्ष का त्याग करता है, उसी प्रकार सरलता से देह का त्याग करता है, उसको योगयोगेश्वर कहते हैं। उसके द्वारा सहज ही उच्चारित किये गये शब्द मानव-जाति के लिए युग-युगों तक मार्गदर्शक हो जाते हैं। वे तत्त्व युग-युग को धारण करते हैं, अत: उन तत्त्वों का अधिकारी पुरुष 'युगन्धर' हो जाता है।"

सांख्ययोग का दुर्लभ बोध कराते हुए बन्द की गयीं आँखें गुरुदेव ने धीरे-धीरे खोलीं। उन्होंने मुझ पर ही दृष्टि गड़ायी। देर तक वे मेरी ओर एकटक, अचल, मौन देखते ही रहे। फिर सभी शिष्यों पर दृष्टि घुमाते हुए वे बुदबुदाये–"हो सकता है, तुममें ही ऐसा कोई परमद्रष्टा 'योगयोगेश्वर' हो!" समझ में नहीं आ रहा था, वे शिष्यों से कह रहे हैं कि किसी और से! उनके ऐसे चकरा देनेवाले विधानों से मैं अब भली-भाँति परिचित हो गया था। उस क्लिष्ट विषय को टालने हेतु मैंने उनसे पूछा, "गुरुदेव, आपने तन्दुल-कुसुमावली, उदकघात, धारण-मातृका और आकार-ज्ञान आदि ललितकलाओं का उल्लेख किया था–क्या आप इन्हें सविस्तार समझाएँगे?"

आचार्यश्री नन्हे शिशु की भाँति खिलखिलाये, फिर बोले–"ठीक है, सुनो, तन्दुल-कुसुमावली का अर्थ है तन्दुल और पुष्पों की सहायता से सुन्दर रंगावलियाँ एवं चित्र बनाना। उदकघात का अर्थ है जलक्रीड़ा करना अथवा पिचकारी मारना। धारण-मातृका अर्थात् स्मरणशक्ति बढ़ाने की कला। आकर-ज्ञान अर्थात् भूगर्भ-स्थित खानों का गहन ज्ञान। और एक महत्त्व की कला सुनो श्रीकृष्ण!–तुम्हें तो उसे सुनना ही होगा–उसका नाम है छलिक-योग!" सबको उलझन में डालते

हुए आचार्यश्री पुन: एक बार बालक की भाँति खिलखिला पड़े।

आचार्यश्री के बोल सुनकर सबकी ग्रीवाएँ मेरी ओर मुड़ गयीं। मैंने भी मुस्कराते हुए सरलता से कहा, "मैं जानता हूँ इस कला को! छलिक योग का अर्थ है चतुराई बरतना, सद्भाव से छल करना! किन्तु गुरुदेव, आप मुझे सम्पाठ्य, मानसी-काव्यक्रिया, अक्षरमुष्टिका-कथन, अभिधानकोष और म्लेच्छित कला-विकल्प आदि कलाओं के विषय में कुछ अधिक बताइए।" मैंने भी चतुराई से विषयान्तर किया।

"वह तो नितान्त सरल है। सम्पाठ्य का अर्थ है किसी के पठन को सुनकर ज्यों-का-त्यों सुनाना, किसी का अनुकरण करना, आवृत्ति करना। मानसी-काव्यक्रिया का अर्थ है शीघ्रकवित्व। अक्षरमुष्टिका-कथन का अर्थ है मौन रहकर केवल कर-पल्लवी द्वारा, हस्तसंकेतों द्वारा सन्देश देना। अभिधानकोष अर्थात् अमोघ वक्तृता और म्लेच्छित कला-विकल्प का अर्थ है विदेशी भाषा को जानना।"

आचार्य-कुटी में उपस्थित सभी आश्रम-कुमारों का ध्यान ललितकलाओं की ओर आकृष्ट हुआ था। इसी का लाभ उठाकर गुरुदेव को बोलते रखने हेतु मैंने पूछा, "गुरुदेव, दुर्वाचयोग, वस्त्रगोपन, क्रिया-विकल्प आदि कलाओं का उल्लेख आपके कथन में हुआ अवश्य है किन्तु क्या आप उन्हें विस्तार से समझाने की कृपा करेंगे?"

"ठीक है–ठीक है" कहते हुए आचार्यश्री पुन: अपने-आप से मुस्कराये और उन्होंने उन कलाओं का स्पष्टीकरण देना आरम्भ किया–

"श्रीकृष्ण, दुर्वाचयोग का अर्थ है कठिन शब्दों का उचित, सरल अर्थ जान लेना। वस्त्रगोपन अर्थात् फटे वस्त्र को कौशलपूर्वक सीना, आवश्यकता पड़ने पर उसे थिगली लगाना। 'क्रिया-विकल्प' में अधिक कुशलता आवश्यक होती है। उसका अर्थ है, किसी क्रिया के प्रभाव को उलटा करना, अर्थात् जल से शीतलता के बदले उष्णता दिलाना और अग्नि से उष्णता के बदले शीतलता निर्माण करना।

"वाद्य, नाट्य, नृत्य आदि कलाओं से तुम यहाँ आने से पहले ही भली-भाँति परिचित होगे। अब नाट्य के विषय में मैं तुम सबको कुछ विशेष बातें बताता हूँ। नाटक जीवन को केवल दर्पण दिखाता है। नाट्य-गृह में दर्शक पृथ्वी की गति के अनुकूल बायीं ओर से दायीं ओर दृष्टि घुमाता है। अत: नेपथ्य की रचना दायीं ओर चढ़ते क्रम से आशयपूर्ण और आकर्षक होनी चाहिए। नेपथ्य को भी एक स्वतन्त्र कला माना गया है। रंगमंच के बायें कोने में पात्रों के परिचय, विनोद और साधारण घटनाएँ घटित होनी चाहिए। रंगमंच के मध्य पर महत्त्वपूर्ण घटनाएँ, संघर्ष की घटनाएँ और दायें कोने में षड्यन्त्रकारी तथा मृत्यु की घटना दिखाना प्रभावकारी होता है।

"रत्न-परीक्षा, शयन-रचना, देश-भाषा-ज्ञान, मालागुम्फन और द्यूत इन कलाओं का परिचय तो तुम्हें होगा ही।" "क्या द्यूत भी कला है आचार्यश्री?" क्वचित् ही प्रश्न पूछनेवाले उद्धव ने बीच ही में प्रश्न पूछा। "बिना छल किये कुछ समय मनोरंजन के लिए खेला गया द्यूत अन्य किसी भी खेल की भाँति रंजक ही माना गया है।"

गुरुदेव एक के बाद एक ललितकलाओं का अभिप्राय हमें समझाने लगे। एक-एक अंश से कलाओं पर रंग चढ़ने लगा। " 'विशेषकच्छेद्य' अर्थात् तिलक लगाने के लिए साँचा बनाना 'पुष्पास्तरण' का अर्थ है पुष्पों की समतल शैया बनाना, 'दशन-वसन-नागराग' का अभिप्राय है,

दाँत, वस्त्र और शरीर के विविध अंगों को कलापूर्ण ढंग से सजाना। 'मणिभूमिका-कर्म' अर्थात् ऋतु के अनुकूल घर को रँगना। 'उदकवाद्य' अर्थात् जलतरंग बजाना। 'चित्रयोग' का अर्थ है वृद्ध को युवा बनाना। 'केशशेखराऽपियोजन' का अर्थ है मुकुट तैयार करना। 'कर्णपत्रभंग' अर्थात् पर्ण-पुष्पों के कर्णाभूषण बनाना। 'गन्धयुक्ति' का अर्थ है सुगन्धित द्रव्य बनाना। 'भूषण-भोजन' अर्थात् अवयव के योग्य अलंकार धारण करना। 'इन्द्रजाल' का अर्थ है युद्ध में बरती जानेवाली चतुराई। क्यों श्रीकृष्ण, इन्द्रजाल के अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता है तुम्हें?" आचार्यश्री ने मुझ पर दृष्टि गड़ाकर पूछा। "नहीं–तनिक भी नहीं–गुरुदेव अगली कला की ओर बढ़ सकते हैं।" मैंने हँसते हुए उत्तर दिया।

" 'कौचुभारयोग' का अर्थ है कुरूप को सुरूप बनाना।"

आचार्यश्री के मुख से एक-एक ललितकला का अभिप्राय सुनते हुए शिष्यों में मन्द हास्य की लहर उठने लगी। जीवन के विविध ढंगों का परिचय होने लगा।

"कुमारो, 'भक्ष्यविकार क्रिया' का अर्थ है भोजन पकाना। 'पानकरस' अर्थात् औषधि क्वाथ बनाना। 'सूत्रकर्म' का अभिप्राय है बेलबूटे बनाना। 'प्रतिमाला' अर्थात् अन्त्याक्षर की योग्यता निश्चित करना। 'सूचितरंग' का अर्थ है सिलाई का काम करना। 'प्रहेलिका' अर्थात् पहेली बुझाना। ग्रन्थपठन, केशमार्जन, यन्त्रमातृका–अर्थात् यन्त्र निर्माण करना–ये भी कला मानी गयी हैं।"

"यन्त्र शब्द का निश्चित अर्थ क्या है गुरुदेव?" दाऊ ने बीच ही में पूछा। वे अधिक बोलते नहीं थे, किन्तु जब बोलते थे–अचूक बोलते थे।

कुछ देर रुककर गुरुदेव शान्ति से कहने लगे, "यन्त्र का अर्थ है अंगभूत रचना के आधार पर गतिमान होनेवाला आकार-समूह। तुम जिस रथ से आश्रम में आये हो, वह रथ भी एक यन्त्र ही है। ध्यान रखो, यन्त्र का मूल आधार है 'चक्र'।"

हमारे आश्रम-जीवन का ज्ञानचक्र चौंसठ दिन अविरत घूमता रहा। क्या-क्या नहीं सीखा हमने इन चौंसठ दिनों में? अनगिनत विषयों का आमूल ज्ञान सभी सूक्ष्मताओं सहित हमने प्राप्त किया। ये चौंसठ दिन चौंसठ युगों की योग्यता के थे। सभी विद्या, चौंसठ कला, वेद, उपनिषद्, मीमांसा, ब्राह्मणक, आरण्यक, पुराण–सभी विषयों में हम पारंगत हो गये। अन्तत: वह दिन उदित हो ही गया–वह दिन–जिसे मैं जीवन में कभी भूल नहीं पाया–गुरु-दक्षिणा का दिन।

आचार्यश्री आज सर्वप्रथम ब्राह्ममुहूर्त में ही जाग उठे। वे अकेले ही क्षिप्रा में सुस्नात होकर, सभी आवश्यक क्रियाओं से निवृत्त होकर अपनी कुटी में आ गये। शिष्यों की भावी जीवन-यात्रा को शुभेच्छा देने हेतु, मृगाजिन पर बैठकर वे ध्यानरत हो गये। वे कब के देहातीत हो गये थे।

उनके पीछे-पीछे निद्रा से जागनेवाले हम चारों थे–उनमें भी मैं पहला था। आज भी उसी काक पक्षी ने बिना चूके मुझे सर्वप्रथम जगाया था। आज भी उसकी काँव-काँव की गूढ़ पक्षी बोली सुनते हुए वही विचार मेरे मन में उठा–इसकी काँव-काँव का क्या सम्बन्ध होगा मानव के अन्तर्मन से? इस प्रश्न पर मैंने बहुत विचार किया, किन्तु कोई समाधानकारक उत्तर नहीं मिला, तब मैंने उस प्रश्न को काक-ध्वनि के पीछे छोड़ ही दिया।

अब दाऊ, उद्धव और सुदामा भी जाग गये थे। हमारी चौकड़ी मिलकर ही अपनी कुटी से निकली। आश्रम के भण्डारगृह में रखी अपनी वस्तुओं की पेटिकाएँ हमने प्रबन्धक से वापस ले लीं। अब नित्य की शंखध्वनि के पश्चात् अन्य कुटियों में शिष्यगणों की गतिविधियों का आभास

होने लगा। अद्यापि प्रभात नहीं हुआ था। झुटपुटे में ही हम धुँधली-सी दिखती हलकी-सी श्वेत पगडण्डी से सरोवर की ओर चलने लगे। जाने क्यों सुदामा आज चुप-चुप-सा था। मैंने उद्धव से पूछा, "भ्राता ऊंधो, आचार्यश्री की सीख में किस बात ने तुम्हारे हृदय को अधिक छुआ है? अस्त्रविद्या, शस्त्रविद्या कि चौंसठ कलाएँ?"

"भैया, मुझे सबसे प्रिय लगा गुरुदेव का बताया अविस्मरणीय, गहरा जीवन-दर्शन। सोचता हूँ, उनके चरणों में गुरु-दक्षिणा अवश्य अर्पित करूँ, किन्तु यहाँ से लौट जाने के बदले यहीं आश्रम में रहकर उनकी सेवा करता रहूँ। अपना जीवन ही गुरु-दक्षिणा के रूप में उनके चरणों में अर्पित कर दूँ।" उद्धव आमूल बदल गया था। चलते-चलते ही मैंने उसके कन्धे थपथपाये।

मैंने दाऊ से पूछा, "दाऊ, गुरुदेव के सान्निध्य में आपको कौन-सी बात सबसे अच्छी लगी?" उन्होंने वक्ष फुलाते हुए उत्तर दिया, "गुरुदेव की युद्ध-कला की सीख मुझे सबसे अधिक स्पर्श कर गयी। केलिनन्द काका से सीखी गयी मल्लविद्या को मैं यहाँ अधिक गहराई से जान पाया।"

अन्त में हँसते हुए मैंने सुदामा से पूछा, "मित्र सुदामा, आचार्यश्री की सीख के किस भाग ने तुम्हें अधिक प्रभावित किया?" मेरे प्रश्न की ओर तो उसका ध्यान ही नहीं था। वह किसी और ही चिन्ता में डूबा हुआ था। उसे तनिक झकझोरते हुए मैंने पूछा, "कहाँ ध्यान है तुम्हारा सुदामा? मैं पूछ रहा हूँ, गुरुदेव की दी शिक्षा में तुम्हें सबसे अच्छा क्या लगा?"

थोड़ा हिचकिचाते हुए उसने कहा, "मुझे–मुझे अच्छी लगी उनकी गृहस्थाश्रम की सीख।"

अब तक हमारी चौकड़ी एक विशाल नील सरोवर के तट पर आ गयी थी। हमने अपनी बेंत की पेटिकाएँ सरोवर-तट पर फैले दर्भ पर धीरे-से रख दीं। कण्ठ में बँधी आश्रमवस्त्र की गाँठ खोलकर उसे हमने कटि में बाँधा और तैरने के लिए काछ कस ली। हम चारों सरोवर में उतर गये। सरोवर का जल आज नित्य की अपेक्षा कुछ अधिक ही ऊष्मापूर्ण था। ज्येष्ठता के अधिकार से दाऊ ने पूछा, "आज क्षिप्रा के बदले हम सबको तुम यहाँ कैसे ले आये छोटे? तुम्हारे प्रत्येक काम में कुछ-न-कुछ रहस्य अवश्य होता है, इसलिए पूछ रहा हूँ?"

"क्षिप्रा पर आज शिष्यगणों की बहुत भीड़ होगी, दाऊ। और वहाँ कमल-पुष्प भी तो नहीं मिलेंगे। यहाँ से गुरुदेव के लिए कुछ कमल-पुष्प ले जाना चाहता हूँ मैं।" मैंने सरोवर में छप-छप हाथ मारते हुए मुस्कराकर कहा।

हम यहाँ-वहाँ बिखर गये–तैरने लगे। घटिका-भर समय बीत गया। सुदूर पूर्व में अवन्ती के अरण्य से सूर्य-बिम्ब ऊपर उग आया। अरण्य आलोकित हो उठा–जगमगा गया।

समान स्वभाव, रुचि-अरुचि के कारण बनी आश्रम-कुमारों की टोलियाँ गुरुदेव को गुरु-दक्षिणा अर्पित कर अपने-अपने रथ से लौटने लगीं। आश्रम के कश्यप नामक पूर्व मुख्य द्वार पर कई सुसज्जित राजरथ पंक्तिबद्ध खड़े थे।

सूर्य-बिम्ब आकाश में पूर्णत: ऊपर आ चुका था। एक प्रहर बीत गया था। सरोवर में चक्कर काट-काटकर श्रमित हुए दाऊ, उद्धव और सुदामा सरोवर-तट की तृणभूमि पर निकल आये थे। पेटिकाओं से निकाले अपने-अपने वस्त्र धारण करके वे तीनों मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। यद्यपि उन्हें रुकना पड़ा था, वे उकता नहीं गये थे।

मैं यथेच्छ तैरता रहा–तैरता ही रहा–हेतुत:। अवन्ती के अरण्य में यह मेरा अन्तिम दिन था। मन में गुरुदेव का कराया बोध फिर रहा था और जल में हाथ। 'जल अर्थात् जायते यस्मात् लीयते यस्मिन् इति जल:। आकाश–आ अर्थात् पर्यन्त, काश अर्थात् शून्य स्थान। पृथ्वी–पृथ अर्थात् जो विपुल है...' मैं अपने रक्त के कण-कण में जल का अर्थ और आँखों में, आकाश में तपते सूर्य का हिरण्यवर्णी तेज यथासम्भव समेट रहा था। यह अनुभूति कुछ अलग ही थी। मुझे तीव्रता से आभास हो रहा था कि आचार्यश्री की दी गयी दीक्षा के पश्चात् मुझमें विद्यमान अनेकार्थी 'श्री' अब पूर्णता को प्राप्त हो गया है।

अब सूर्य दो हाथ ऊपर चढ़ आया था। सरोवर के तट से 'श्रीऽकृष्ण... भैयाऽऽमित्रवर ऽ...बाहर आ जाओ' की पुकारें स्पष्ट सुनाई देने लगीं। मेरा जलतत्त्व से 'स्नेहयोग' भी पूर्ण हो चुका था। सरोवर का अन्तिम चक्कर काटते हुए मैं हाथ आते नीलवर्णी कमल-पुष्प खोंटने लगा–उनमें कलियाँ थीं, अर्धविकसित पुष्प थे। उन सम्मिश्र पुष्पों का बड़ा-सा गुच्छा लेकर ही मैं सरोवर से बाहर आया। कमल-नाल की छाल नख से उसकी पंखुड़ियों तक छीलकर उसी से बँधा वह भीगा हुआ पुष्पगुच्छ मैंने सुदामा के हाथ में सौंप दिया।

अब तक दाऊ और उद्धव ने अपना राजवेश और सुदामा ने कनटोप, अँगरखा तथा लाल किनारीवाली धोती का ब्राह्मणवेश धारण कर लिया था। नित्य की भाँति उस तृणभूमि पर उकड़ूँ बैठकर सूर्य-किरणों में शरीर सुखाकर मैं उठा। उद्धव ने मेरी बेंत-पेटिका खोली। आचार्यश्री की दूरदर्शिता से मैं चकित रह गया। पेटिका में सबसे ऊपर थी शुभ्र-धवल, प्रफुल्लित पुष्पों की सुगन्धित वैजयन्तीमाला। उसके दर्शनमात्र से ही प्रिय सखी राधिका की कई छटाएँ मेरी आँखों के आगे घूम गयीं।

उद्धव ने धीरे-से वह माला उठाकर मेरे हाथ में दे दी। मैंने उसकी गन्ध को गहरी साँस भरकर सूँघ लिया। और फिर उसे हरित तृणभूमि पर रख दिया। उद्धव एक-एक वस्तु मेरे हाथ में देता गया और उसे लेते हुए मैं अपना राजवेश धारण करता गया। कटि में झिलमिलाता हुआ स्वर्णवर्णी पीताम्बर और उस पर नीला दुकूल मैंने कस लिया। बाहुभूषण धारण किये। कण्ठ में बड़े-बड़े मोतियों की और कौस्तुभ मणि से युक्त मालाएँ धारण कीं। सूर्य-किरणों में चमकता, बेलबूटेदार, मोरपंखों से सुशोभित स्वर्णमुकुट दाऊ ने मेरे घने, कृष्णवर्ण केशों पर ठीक से बिठा दिया।

अन्तत: उद्धव ने भूमि पर रखी वैजयन्तीमाला उठाकर मेरे कण्ठ में पहनायी। कदम्ब-पुष्पों की माला का मुझे तीव्रता से स्मरण हुआ। बड़ी-बड़ी, भावपूर्ण, निर्मल आँखें विस्फारित कर, आरक्त-गौरवर्णी, चन्द्रमुख उद्धव अवाक् होकर दो पग पीछे हट गया। वह मेरी ओर देखता ही रहा। फिर अत्यन्त हर्षित होकर बोला, "भैयाऽऽ भैयाऽऽ, आपके रूप पर दृष्टि ठहर ही नहीं रही है। आपके मुखमण्डल पर दमकते शतसूर्यों की प्रभा देखकर आकाश का वह सूर्य भी लजा गया होगा–आपकी तो नजर ही उतारनी चाहिए–रुक जाइए!..." कहते हुए उसने सुदामा के हाथ के गुच्छे से एक प्रफुल्लित नीलकमल खींच ही लिया और मेरे मस्तक से पाँवों तक उसे उतारते हुए मेरी नजर उतार भी ली। अपने हाथ के नीलकमल का निर्माल्य उसने सरोवर के नील जल में फेंक दिया। सरोवर में दूर तक तरंगें उठीं। उद्धव के इस विशुद्ध भ्रातृभाव पर मुझे हँसी आयी। वह देखकर उद्धव सहित दाऊ और सुदामा की आँखों में एक साथ कई सूर्य जगमगा उठे। किन्तु क्षण-भर में ही सुदामा का मुख पुन: म्लान हो गया। क्यों? मेरे मन में प्रश्न उठा। सवेरे से ही वह हमारे

साथ होते हुए भी हमसे कहीं दूर दिख रहा था।

हम आचार्यकुटी की ओर चल पड़े–गुरु-दक्षिणा देने हेतु। आगे दाऊ और उद्धव। पीछे-पीछे मैं और मेरा प्राणप्रिय सन्मित्र सुदामा। मैंने हेतुत: दाऊ और उद्धव को थोड़ा आगे जाने दिया। फिर चलते-चलते प्रेमपूर्वक सुदामा का कन्धा थपथपाते हुए उसे टटोला, "सवेरे से मैं देख रहा हूँ–तुम आज ऐसे उदास क्यों हो मित्र सुदामा? बोलते क्यों नहीं हो? चुप क्यों हो?" वह रुक गया, बोला, "मित्र, मैं आज बड़ी उलझन में हूँ। गुरुदेव को दक्षिणा देने के लिए मेरे निर्धन माता-पिता ने मुझे कुछ भी नहीं दिया है–न वे कुछ दे सकते हैं। क्या गुरु-दक्षिणा दूँगा मैं आज गुरुदेव को?" चलते-चलते वह रुक ही गया–जैसे किसी ने उसे बलात् रोक लिया हो। अपार वेदना से उसका पारिजात जैसा गौर मुख निस्तेज हो गया।

"बस–इतना ही? निश्चिन्त हो जाओ सुदामा! मैंने तुम्हें नीलकमलों का गुच्छा यों ही नहीं दिया है। क्या इसके पहले मैंने तुम्हें कभी कोई पुष्पगुच्छ दिया था? इन नीलकमलों की ही गुरु-दक्षिणा तुम श्रद्धापूर्वक गुरु-चरणों में अर्पित करो और देखो, सबसे अधिक शुभ आशीर्वाद तुम ही पाओगे।"

सुदामा ने मेरी ओर देखा। उसके मन पर छाया अभ्र अब लुप्त हो गया। उसकी आँखों में फिर एक बार कई सूर्य जगमगा उठे।

हम चारों जब आचार्य-कुटी के समीप आ गये, सूर्य माथे पर आने को था। अन्य सभी शिष्य गुरु-दक्षिणा की विधि पूर्ण करते हुए गुरुदेव से आशीर्वाद पाकर अपने-अपने देश चले गये थे। आचार्य-कुटी अत्यन्त शान्त थी।

हम चारों आचार्यश्री के सम्मुख आ गये। मेरे संकेत करने पर पहले दाऊ और उद्धव अग्रसर हुए। घुटने टेककर आचार्यश्री के चरणस्पर्श कर दाऊ कुछ बोलने ही वाले थे कि आँखें बन्द किये गुरुदेव ने समाधि स्थिति में ही कहा, "यादवों के ज्येष्ठ सुपुत्र–बलराम!"

आचार्यश्री ने आँखें खोले बिना ही उन्हें पहचान लिया, यह देखकर दाऊ चकित हो गये। उन्होंने विनम्रता से कहा, "जी–गुरुदेव, मैं बलराम ही हूँ। मथुरा से मेरे तात वसुदेव और महाराज उग्रसेन की भिजवायी दुधारू गायें और अलंकृत अश्व गुरु-दक्षिणा के रूप में मैंने कल ही आश्रम की गोशाला और अश्वशाला में सौंप दी हैं। भावी जीवन-यात्रा के लिए गुरुदेव मुझे आशीर्वाद देने की कृपा करें।"

आचार्यश्री तनिक मुस्कराये। दाऊ के मस्तक पर हाथ रखकर बन्द आँखों से ही उन्होंने कहा, "हे बलराम, तुम जीवन में यश प्राप्त करोगे। 'ज्येष्ठ' के नाते सारा जग तुम्हारी प्रशंसा करेगा, किन्तु एक बात का ध्यान रखो, कभी-कभी धोखा दे जानेवाले अपने प्रबल मनोवेग को तुम निश्चयपूर्वक नियन्त्रण में रखने का प्रयास करो। तथाऽस्तु।"

मेरे नेत्र-संकेत पर उद्धव ने घुटने टेककर आचार्यश्री के चरणों पर मस्तक झुकाया।

बन्द आँखों से ही उसके स्पर्श को अचूक पहचानकर आचार्यश्री ने कहा, "उद्धव! मथुरा के यादव देवभाग और आर्या कंसा का सुपुत्र!"

"जी–गुरुदेव, मैं उद्धव ही हूँ।" बड़ी-बड़ी निष्पाप आँखें और गोल मुखमण्डलवाले उद्धव ने अभिभूत होकर विनम्रता से कहा, "गुरुदेव, मैंने आपके और अन्य आचार्यों के लिए वस्त्र-प्रावरण

और सभी के लिए धन-धान्य के थैले आश्रम के भण्डार में जमा किये हैं। गुरुदेव उदार होकर मेरी जीवन-यात्रा के लिए मुझे मंगल आशीष देने की कृपा करें।"

आचार्यश्री का हाथ कुबड़ी पर से ऊपर उठा। उन्होंने कुछ भिन्न ही, घन-गम्भीर वाणी में कहा, "उद्धव, तुम सच्चे भक्त हो। किसी योगयोगेश्वर के परमद्रष्टा के प्रिय होने की क्षमता केवल तुममें ही विद्यमान है। ऐसे तत्त्वज्ञ योगी का तुम सेवक बनोगे और उसी के विश्वस्त के रूप में तुम जग के प्रिय बनोगे। अपने मन पर एक भारी पाषाण रखकर एक अत्यन्त कटु धर्मकर्तव्य तुम्हें उत्तर-जीवन में करना पड़ेगा। जाओ वत्स, शुभं भवतु।" उन्होंने अपना हाथ उद्धव के मस्तक पर रख दिया।

अब बचे हम दोनों–सुदामा और मैं। मैंने उसको नेत्र-संकेत किया। सुदामा ने गुरुदेव के समीप जाकर नम्रतापूर्वक नीलकमलों का गुच्छा उनके चरणों में रख दिया और उसी पर अपना मस्तक रखकर वह सिसक-सिसककर रोने लगा–अपनी निर्धनता की हृदयभेदक, असहनीय टीस से!

आगे साक्षात् गुरुब्रह्म या त्रिकालदर्शी। उनके नेत्र आधे खुल गये। समाधिरत अवस्था में गुरुदेव ने शब्दों से ही सुदामा को थपथपाया, सान्तना दी–"वत्स सुदामा, तुम्हारे हीन वस्त्रों के कारण लोग तुम्हें 'कुचैला' भी कहते हैं। तुम अपने-आप को निर्धन मानते हो।–तुम हो भी, किन्तु एक बात अवश्य ध्यान में रखो, तुम्हारी विशुद्ध, प्रेमल आत्मा को प्राप्त पूर्वपुण्याई के अद्वितीय वसनों के कारण वस्तुत: तुम 'सुचैला' हो! तुम्हें प्राप्त हुई स्वर्गीय स्नेह की सम्पत्ति तो दुर्लभ है। उसके लिए तुम जगद्विख्यात हो जाओगे। परममित्र बनकर उस स्नेह-सम्पत्ति को सदैव सँभाले रहो। मैं तुम्हें मनःपूर्वक आशीर्वाद देता हूँ–कल्याणमस्तु!"

इस समय सूर्य सीधे आश्रम के माथे पर तप रहा था। मैं अग्रसर हुआ–गुरुदेव सान्दीपनि का अन्तिम आश्रम-शिष्य! पद्मासन में अस्पष्ट दिखते गुरुदेव के चरणों में माथा टिकाकर मैंने सीधे उनको साष्टांग दण्डवत् किया। आँखें खोले बिना ही मेरे स्पर्श को अचूक पहचानकर हँसते-हँसते आचार्यश्री ने कहा, "श्रीकृष्ण! वृष्णि-अन्धकों का युग-युग का जीवनश्रेयस श्रीकृष्ण! वसुदेव-देवकी का आठवाँ पुत्र! गोकुल के गोपालों का गोपाल–मेरा शिष्योत्तम श्रीकृष्ण!" मेरे स्पर्श के साथ उनके बन्द मत्स्यनेत्र पर्णकुटी के किवाड़ों की भाँति धीरे-धीरे अपने-आप खुल गये। तब तक मैं हाथ जोड़कर उनके सम्मुख नतमस्तक खड़ा था। उन्होंने मेरी आँखों में आँखें गड़ाकर देखा। उनकी यह दृष्टि नितान्त अलग थी, जो मैंने पहले कभी न देखी थी! वे मन्द-मन्द मुस्कराये।

"गुरुदेव, आपके सभी शिष्यों ने कुछ-न-कुछ गुरु-दक्षिणा अर्पण कर आपसे आशीर्वाद प्राप्त किये हैं, किन्तु गुरुदेव! उदार हृदय से आप मुझे क्षमा करें–क्षमा इसलिए कि आपके प्रति उचित गुरु-दक्षिणा देने के लिए इस समय मेरे पास कुछ भी नहीं है" कहकर मैं मुस्कराया। नित्य की अपेक्षा मेरी यह हँसी निश्चय ही कुछ अलग होगी। गुरुदेव कुछ क्षण मेरी हँसी पर दृष्टि लगाये रहे, फिर उनके मुख पर भी वैसी ही हँसी झलकी। गुरुदेव नित्य की भाँति शान्ति से बोले, "वत्स, बन्द करो यह छलिक विद्या! गुरु-दक्षिणा की कोई आवश्यकता भी नहीं है–योगयोगेश्वर मेरे आश्रम में इतने दिन तुमने शिष्य बनकर निवास किया, क्या इससे बढ़कर कोई और गुरु-दक्षिणा हो सकती है इस अशाश्वत जग में?" गुरुदेव पुन: मुस्कराये–निरीह, नवजात शिशु की भाँति; मेरे

मुख पर भी वही हास्य प्रतिबिम्बित हुआ।

मेरी आँखों में आँखें गड़ाकर गुरुदेव ने आँखों द्वारा ही मुझमें एक अबोध शक्ति सम्प्रेषित कर दी। देर तक हम दोनों भान रहित हो गये—केवल एक-दूसरे को देखते ही रह गये। गुरुदेव के उस दिव्य शक्ति-सम्प्रेषण से आशीर्वाद के रूप में मैंने क्या-क्या पाया, यह केवल मैं ही जानता हूँ।

गुरुदेव ने कहा, "मेरे परमप्रिय शिष्योत्तम, तुम्हारा जीवन-मार्ग सदैव शुभंकर ही रहेगा। हे यदुनन्दन, भविष्य में जब कभी अवसर मिलेगा, तुम अवश्य प्रयाग चले जाना—ऋषिवर घोर-आंगिरस के पास! हे नन्दनन्दन, उनसे ब्रह्मज्ञान अवश्य प्राप्त कर लेना।

"अपने नाम के अनुसार ही वे 'घोर' तपस्या के अधिकारी हैं। वे अग्नि के नैष्ठिक पूजक हैं। आद्य-अंगिरस के वे उचित उत्तराधिकारी हैं, यह ध्यान में रखना। अग्नि ही की भाँति उनका स्वभाव है—मर्यादा में रहते हो तो ऊष्मापूर्ण—उल्लंघन करते हो तो दाहक! कुछ ही समय वे प्रयाग क्षेत्र में रुकेंगे। तत्पश्चात् वे रैवतक पर्वत की ओर चले जाएँगे—एक पन्थ के तीर्थंकर के रूप में, उस पन्थ का प्रचार और प्रसार करने हेतु।

"तुम्हारा और उनका जो नाता है, उसे तुम यथासमय जान जाओगे। श्रीकृष्ण, जब तुम्हारी उनसे भेंट होगी, मेरा प्रणाम उन तक अवश्य पहुँचा देना। हे वासुदेव, आज मैं तुम्हें जो उपहार देने जा रहा हूँ—वैजयन्तीमाला की ही भाँति उसे प्रेमपूर्वक स्वीकार करो और सदैव उसका ध्यान रखो।" आज सवेरे से ही उन्होंने कमण्डल में सँभालकर रखा काषायवर्णी, प्रफुल्लित कमल-पुष्प मेरे हाथ पर रख दिया। मैंने भी बड़े भक्ति-भाव से उसे अँजुली में लेकर मस्तक से लगाया। तो यह था तीसरा रत्न!

गुरुदेव ने अपने दोनों हाथ छत्र की भाँति मेरे मुकुट पर रख दिये। उस समय वे जो कुछ अस्पष्ट-सा बुदबुदाये थे, उसे आज मैं स्पष्टत: जान चुका हूँ। वे शब्द थे 'श्रीकृष्णाय अर्पणमस्तु।'

गृहकर्मों में व्यस्त गुरुपत्नी अधिकतर बाहर नहीं आया करती थीं, किन्तु आज वे बाहर आयीं। हम सबने विनम्रतापूर्वक उनको दण्डवत् किया। उन्होंने हमें मुख भरकर आशीर्वाद दिया और वे मूर्तिवत् खड़ी ही रह गयीं। उनकी आँखों से झरती अश्रु-धाराएँ क्षण-भर में ही मुझे उनकी मौन वेदना का कारण बता गयीं। उनको अभय देते हुए मैंने निश्चयपूर्वक कहा, "गुरुमाते, शंखासुर द्वारा बलात् अपहरण किये गये आपके सुपुत्र दत्त को मैं छुड़ाकर ले आऊँगा। माता, यह मेरा वचन है।"

आँखों से बरसती अश्रु-धाराओं को आँचल से पोंछती गुरुपत्नी—हमारी गुरुमाता की आँखों का व्याकुल भाव एकदम बदल गया। अत्यन्त भावपूर्ण आँखों से मेरे मस्तक पर हाथ रखते हुए उन्होंने कहा, "अब तुम्हारे बिना यहाँ कैसे जीवन बिताएँ मधुसूदन? जाओ पुत्र—विजयी भव।"

गुरुदेव को और गुरुमाता को पीठ न दिखाते हुए हम कुटी से बाहर आ गये।

सुदामा कहीं दिखाई नहीं दे रहा था। बेंत की पेटिकाएँ उठाकर मैं, दाऊ और उद्धव आश्रम के मुख्य द्वार पर आ गये। वहाँ दारुक खड़ा ही था। मेरे चरणस्पर्श करने हेतु वह शीघ्रता करने लगा। मैंने झट से उसे ऊपर-ही-ऊपर उठाकर दृढ़ आलिंगन में ले लिया। कितना बदल गया था वह अन्तर्बाह्य! उसके मुख पर बड़ा ही निखार आया था। उसी समय मैंने जीवन-भर का मन्त्र उसको सुनाया, "दारुक, इसके बाद तुम मेरे केवल सारथि-सेवक नहीं रहोगे। जीवन के हर क्षेत्र में, हर समय मेरा साथ देनेवाले तुम मेरे प्राण-रक्षक सखा हो। आज तुम नहीं—मैं सारथ्य करूँगा इस रथ

का!”

उसके पीछे-पीछे हम तीनों उसके लाये राजरथ के पास आ गये। मेरे दारुक द्वारा लाया हुआ वह अलंकृत राजरथ कितना आकर्षक था! उसकी बेलबूटेदार, शुद्ध स्वर्ण की छत सूर्य-किरणों में चमक रही थी। उसके माथे पर ध्वजदण्ड को अविरत हिलाती रहनेवाली, स्वर्ण-सूत्रों की किनार से चमकती त्रिकोणी काषाय गरुड़ध्वजा निरन्तर फहरा रही थी। छत का पिछला भाग मृग और व्याघ्रचर्म से आच्छादित था। रथ की लय पर मधुर खनखनाती छोटी-छोटी स्वर्णिम घटिकाएँ छत से लटक रही थीं। रथ का पार्श्वभाग इतना विशाल था कि उसमें कई व्यक्ति और कई शस्त्रास्त्र समा सकते थे। उस सुघड़ रथ के चक्र कटि तक ऊँचे थे। उसका लम्बा जुआ कीकर-वृक्ष की सुदृढ़, रंगीन लकड़ी से बना, चिकना और बेलबूटेदार था। पहली ही दृष्टि में मेरे मन को आकर्षित करनेवाले चार हिमधवल, दुग्धवर्णी अश्व दारुक ने उसमें जोत रखे थे। वे बार-बार पूँछें हिलाकर कान खड़े कर रहे थे।

उनको देखते ही अपने-आप को भूलकर, खिंचा-सा, लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ मैं उन चपल प्राणियों के समीप गया। मेरे कानों में गुरुदेव के शब्द घूम रहे थे, ‘पवन से स्पर्धा करनेवाला अश्व मनुष्य का सबसे पहला विश्वासी प्राणी है। अश्व जब तीन पैरों पर खड़ा होकर चौथा पैर अधर में रखता है, तब वह दौड़ने के लिए निरुपयोगी हुआ होता है। अपने स्वामी के स्पर्श और शब्द की जिस भाषा को अश्व जान लेता है, उसे कभी-कभी मनुष्य भी समझ नहीं पाता।’

स्वयं को भूलकर मैंने अपने समक्ष खड़ी उस अश्व-चौकड़ी में से एक अश्व के पुष्ट पुट्ठे पर बड़े प्रेम से थपकी लगायी। उसने पूँछ फुलायी और सर्र से उसके शरीर के रोंगटों के भौंरे फिर गये। हिनहिनाते हुए उसने कान खड़े किये। मेरी ओर दृष्टि घुमाकर मेरे पहले ही स्पर्श में उसने मुझे पहचान लिया। सदैव के लिए मुझे अपनी आँखों में समा लिया।

मैंने दारुक से पूछा, “शुद्ध वंश का यह प्राणी कहाँ से प्राप्त किया तुमने?”

उसने हँसते हुए कहा, “पूरा पंचनद छान मारा है मैंने इसके लिए। चन्द्रभागा और इरावती नदियों की तृणभूमि से सम्पन्न घाटी से लाया हूँ इसे। इसका डीलडौल जैसे बड़ा है, वैसे ही दौड़ने में भी यह वेगवान है,–आज्ञाकारी भी है।”

“बहुत ही अच्छा काम किया है तुमने दारुक। इस अश्व को ‘शैव्य’ कहना मुझे अच्छा लगेगा। तुम्हें कैसा लगेगा?”

“छोटे, तुम्हारे रखे नाम पर वह कैसे नाम धरेगा?” कहकर दाऊ ने भी हँसते-हँसते उस अश्व की पीठ पर थपकी दी।

मैं दूसरे अश्व के निकट गया। उसकी घनी अयाल को मैंने क्षण-भर झँझोड़ डाला। जैसे मैं उद्धव अथवा सुदामा के गले में डाला करता था, वैसे ही मैंने उस अश्व की पुष्ट, लोचदार, स्नायु-सम्पन्न ग्रीवा में अपनी भुजाओं का घेरा डाल दिया।

उद्धव तत्त्वों का केवल शुष्क पिष्टपेषण करनेवाला वाचाल नहीं था। वह एक योद्धा भी था। उसने मुझे अचूक रूप से छेड़ा, “इस अश्व के लिए भी उचित नाम आप ही बताइए भैया।” मैंने हँसते हुए उसके ढाल जैसे गोल, आरक्त-गौर मुख पर दृष्टि डालते हुए कहा, “उद्धव, इसकी ग्रीवा में मैंने कितनी सरलता से अपनी भुजा का घेरा डाल दिया, क्या इसी से इसका नाम स्पष्ट नहीं हो रहा? अरे, यह तो हमारे रथ का ‘सुग्रीव’ है।”

“सुग्रीव! सुन्दर ग्रीवावाला!” इतना ही कहकर उद्धव मेरे कण्ठ में झूलती वैजयन्तीमाला और सुग्रीव की अयाल से शोभित ग्रीवा की ओर देखता रहा। उसने कहा, “भैया, मेरी समझ में नहीं आ रहा, आप की नीलवर्ण देह पर यह वैजयन्तीमाला शोभा दे रही है, कि सुग्रीव की सुदृढ़ ग्रीवा पर शुभ्र अयाल से लिपटा आपका नीलवर्ण हाथ अधिक सुन्दर दिख रहा है!”

“इस उन्नत, पुष्ट ग्रीवावाले सचेत अश्व को मैं विख्यात कम्बोज जनपद से ले आया हूँ, स्वामी।” दारुक ने नम्रतापूर्वक दूसरे अश्व का परिचय दिया।

हम तीनों तीसरे अश्व के समीप गये। वह तनिक हिनहिनाया। आश्विन की सन्ध्या के शुभ्र-धवल मेघ-सदृश और पर्वत जैसा दृढ़ दिख रहा था वह।

मेरे पूछने से पहले ही दारुक ने तीसरे अश्व का परिचय दिया–“इस अश्व को मैं सुदूर गन्धार महाजनपद से ले आया हूँ, यादवश्रेष्ठ! इसीलिए मैं उस देश की राजनगरी–पुष्कलावती गया था।”

अपने नटखट स्वभाव के अनुसार मैंने दाऊ को छेड़ा, “दाऊ, आप ही बताइए इस अश्व के लिए कोई उचित नाम।”

बहुत सोचने पर भी जब कुछ सूझा नहीं, तब कुछ निराश होकर उन्होंने कहा, “मैं सोच ही रहा था कि अब तक तुमने मेरे कन्धे पर धौल कैसे नहीं जमायी! माथापच्ची करने का यह काम करने को मुझसे कैसे कहा तुमने? चाहो तो इस अश्व को सीधे कन्धे पर उठाकर दिखा सकता हूँ! नाम रखने का काम तो तुम्हारा है।”

“सचमुच इस अश्व को उचित नाम देना कठिन है, आप ही इसे कर पाएँगे।” उद्धव ने दाऊ का साथ दिया।

“हम इसको ‘बलाहक’ कहेंगे। बलाहक अर्थात् शुभ्र, उड़ान भरता बक पक्षी!” दारुक सहित दाऊ और उद्धव ने हर्ष-भरा सीत्कार किया।

अब हम रथ के दूसरे छोर को दृढ़ता से सँभालनेवाले चौथे और अन्तिम अश्व के समीप आ गये। वैसे ये चारों अश्व शुभ्रता में एक-दूसरे से स्पर्धा करनेवाले ही थे। किन्तु इस अश्व की शुभ्रता तनिक अधिक थी। सूक्ष्म दृष्टि से देखनेवाले को ही उसका आभास हो सकता था। हिमालय से गिरती नदी के हिमजल के फेन जैसा था उसका वर्ण। उसके लम्बे से मुख पर थपथपाते हुए मैंने दारुक से पूछा, “निश्चय ही तुम इसे हिमालय प्रदेश से लाये होगे!”

“जी–आर्य। इसके लिए मुझे कामरूप राज्य में–प्राग्ज्योतिषपुर जाना पड़ा।” हँसते हुए दारुक ने कहा।

“इसको हम ‘मेघपुष्प’ के अतिरिक्त और किस नाम से पुकार सकते हैं? क्या यह हिमालय से सटे हुए शुभ्र मेघों के पुष्प जैसा ही नहीं है?”

“दारुक, अनन्त के पुष्प जैसे ये चारों अश्व–शैब्य, सुग्रीव, बलाहक और मेघपुष्प–मेरे प्राणप्रिय हैं। आज से ये आर्यावर्त की चारों दिशाओं को पादाक्रान्त करने हेतु दौड़ेंगे–मेरे संकेत पर नहीं, आचार्यश्री के आशीर्वाद से।

“हम यादवों की विरासत विजिगीषु रक्त की है–पक्षीराज गरुड़ की। विशाल, दृढ़ पंखों को फैलाकर वह गगन में उड़ान भरता है। उस पक्षीराज गरूड़ का स्मरण दिलानेवाली ध्वजा इस रथ पर फहरा रही है। मैं विनम्रतापूर्वक आचार्य सान्दीपनि का स्मरण करता हूँ और आप सब प्रिय

सुहृदों को साक्षी रखकर मैं इस राजरथ का नाम घोषित करता हूँ–गरुड़ध्वज!" एक अनामिक आवेग से मैंने आँखें बन्द कर लीं। बन्द आँखों के आगे मुझे नीलाकाश में आवेगपूर्ण, ऊँची उड़ान भरनेवाले स्वर्णिम गरुड़ पक्षी-ही-पक्षी दिखाई दिये। दाऊ, उद्धव और दारुक एक ही सुर में, एक साथ ऐसे चिल्ला उठे मानो किसी ने कोई कल घुमायी हो–"साधु! साधु! गरुड़-ध्वज...गरुड़ध्वज...सुन्दर...अद्वितीय!"

"तुम सब रथ में बैठ जाओ।" कहकर मैंने एक ही छलाँग में रथनीड़ पर–सारथि का स्थान ले लिया। चारों अश्वों के स्वर्णसूत्रों से मण्डित वल्गाओं को मैंने अपने हाथ में पकड़ लिया।

अपने प्रिय अंकपाद आश्रम के आँख-भर अन्तिम दर्शन करने हेतु मैंने आश्रम-परिसर पर दृष्टि दौड़ायी और आगे-आगे आती एक अँगुली-भर लम्बी श्वेतरेखा को देखकर मैं मन-ही-मन हड़बड़ाया। दूर आश्रम की बाड़ के किनारे-किनारे, कन्धे पर नित्य की झोली लटकाये, मस्तक झुकाये, सुदामा अपने पैरों को घसीटते हुए जैसे-तैसे आ रहा था–असहाय-सा

उसको हमसे कहीं दूर जाना था–सौराष्ट्र! किन्तु उसके लिए न यात्रा का कोई साधन उपलब्ध था, न कोई उसे लेने आया था। रथ में पार्श्वभाग में बैठे उद्धव से मैंने तत्काल कहा, "उद्धव, शीघ्र जाओ और मेरे परममित्र सुदामा का हाथ थामकर उसे ले आओ।" उद्धव को भी सुदामा के अकेलेपन का आभास हुआ। वह झट से उठा, छलाँग लगाते हुए ही गरुड़ध्वज से नीचे उतरा। प्रेमपूर्वक सुदामा का हाथ थामकर वह उसे ले आया। दोनों रथ पर आरूढ़ हो गये।

आश्रम के भव्य प्रवेशद्वार से मेरा रथ दौड़ने लगा। मेरे द्वारा वल्गाओं को झटका देते ही चारों अन्तर्बाह्य शुभ्र विश्वासी प्राणी चौकड़ियाँ भरने लगे। मेरा जीवन-रथ कर्मयोग की अखण्ड तीर्थयात्रा पर चल पड़ा–जीवन की अथाह क्षिप्रा नदी को आगे रखकर!

मेरा और दारुक का सारथ्य–योग पर सम्भाषण आरम्भ हुआ–"दारुक, अश्व को तुम क्या मानते हो?" उसने झट से उत्तर दिया–"मनुष्य का एकनिष्ठ मित्र।"

"इतना ही नहीं, अश्व मुझे सूर्य की वेगवान किरणों के समान प्रतीत होता है। वह एकनिष्ठ मित्र तो होता ही है। उसकी एकनिष्ठता ऊष्मापूर्ण स्नेह की भी होती है–भूलना नहीं।" मैंने कहा।

"दौड़ते अश्वों की कैसी-कैसी आवाजें तुम्हें सुनाई देती हैं, दारुक?" मैंने पूछा।

"एक लय में दौड़ते उनके खुरों की–हिनहिनाने की।"

"बस–इतना ही? दारुक, सारथ्य-कर्म के ज्ञाता को तो दौड़ते अश्वों के हृदय की धक-धक और श्वासों की फुरफुरी भी स्पष्ट सुनाई देनी चाहिए और ठीक-ठीक समझ आनी चाहिए। दौड़ते अश्व के हृदय की धक-धक आकाश के सूर्य की गतिविधि से निरन्तर सम्बद्ध होती है। ध्यान में रखो दारुक, अश्व सूर्यपुत्र ही है।" यह सुनकर दारुक मौन हो गया, विचारमग्न हो गया। उसी के विचारों के स्तर पर उसे आगे ले जाते हुए मैंने कहा, "सूर्य को मित्र कहते हैं। जानते हो क्यों? इसलिए कि वह निरन्तर साथ देता रहता है। दारुक, यह कभी न भूलना कि अश्व सूर्यपुत्र है–वह मनुष्य का सबसे पहला, सबसे निकट का और सदैव रहनेवाला मित्र है। क्यों? कुछ समझे दारुक?"

"जी स्वामी। मैं समझ गया।"

"अश्व के स्वास्थ्य को तुम कैसे जानोगे दारुक?" मैं उसको सारथ्य-योग की गहराई में ले

जाने लगा।

"चारों पैरों पर सन्तुलित खड़े रहने के उसके डौलदार ढंग से।" मार्ग के एक मोड़ पर रथ का संन्तुलन तनिक बिगड़ते ही, रथ के काष्ठदण्ड के सहारे अपना सन्तुलन बनाये रखते हुए दारुक ने उत्तर दिया।

"इतने से ही परीक्षा पूरी नहीं होती दारुक। अश्व के मुख से कान लगाकर उसकी श्वास-प्रश्वास की फुरफुरी की लय भी जाँचनी पड़ती है! अश्व आँखों से बहुत-कुछ कहता है। अपनी पूँछ की अविरत हलचल से वह अपनी चेतना को उद्‌घाटित करता रहता है। पवन के हलके झोंके से ही अश्व अपने शरीर पर भँवरी के वलय उठाता है। उन लहरों को केवल देखते ही, दिखाई न देनेवाली पवन किस दिशा से किस दिशा में बह रही है, इसका अनुमान करने की कुशलता निष्णात सारथि के लिए आवश्यक होती है, दारुक!" अश्वों की वल्गाएँ सँभालते हुए, उनको 'हेऽ शैव्यऽ, अरे ओऽ बलाहऽक' पुकारता हुआ मैं दारुक के सारथ्य-योग की सिद्धता परखने लगा।

मैंने उससे पूछा, "अश्व की बुद्धिमत्ता को तुम जानते हो दारुक?"

"जी आर्य। अरण्य में मार्ग-भूला अश्वारोही जब वल्गा ढीली छोड़कर उस पर केवल अपना आसन जमाये रहता है, तब अश्व ही उसे अचूक रूप मे उसके मूल स्थान पर ले आता है।"

"ठीक कहा तुमने। दौड़ की दृष्टि से अपने खुरों में नाल जड़ना आवश्यक है, इस बात को अश्व जानता है। इसीलिए नाल जड़ने के समय वह चुपचाप लेटा रहता है। मरुभूमि में आँखों में रेती न जाने पाये इस हेतु आँखें बन्द रखते हुए भी अश्व अपने स्वामी को अपेक्षित दिशा में ले जाता है। अश्वारोही की जंघा के हलके से दबाव को भी अश्व समझ लेता है। दौड़ते हुए ही वह उस दबाव के अनुकूल दिशा बदलता है। अश्व की श्रवणेन्द्रिय अत्यन्त तीक्ष्ण और तत्पर होती हैं। पवन के हलके से झोंके की ध्वनि भी वह अचूक रूप से पहचानता है। अपने स्वामी के शब्दों की और स्पर्श की भाषा को वह भली-भाँति जानता है।

"दारुक, अश्व धरती पर बैठकर अथवा लेटकर कभी नहीं सोता। वास्तव में वह कभी सोता ही नहीं है। खड़े-खड़े केवल झपकी लेकर वह विश्राम करता है। सब प्राणियों में अश्व 'या निशा सर्व भूतानाम्...' का जन्मजात वरदान प्राप्त किया श्रेष्ठ योगी ही है। जैसे तुम हो, उद्धव है, वैसे ही इनमें से प्रत्येक अश्व मेरा सखा ही है। इन सखाओं की भी एक विशेष अश्वगीता है। उचित समय पर मैं तुम्हें वह बता दूँगा। सम्भवत: अवसर आने पर मुझे ही निर्दोष सारथ्य-योग का प्रदर्शन करना पड़े...क्यों दारुक?" मैंने उसके मन के अश्व को किसी गहराई में ले जाकर अधर में ही छोड़ दिया। वह केवल, 'जी आर्य, सत्य है स्वामी,' कहता हुआ विचारों में खो गया।

योजनों के बाद योजन पीछे छोड़ते हुए हम जा रहे थे। हमने कुछ पड़ाव डाले। अन्तत: एक ऐसे स्थान पर रथ आ गया, जहाँ से सीधे वह मथुरा जा सकता था और बायें मुड़कर सौराष्ट्र जा सकता था। मैंने रथ को रोक दिया।

"अब तो मथुरा पहुँचने में कुछ ही पड़ाव शेष हैं।" दाऊ ने मथुरा के रथमार्ग की ओर देखते हुए कहा, "हम सीधे मथुरा ही जाएँगे न?"

"नहीं दाऊ! हम पहले सौराष्ट्र जाएँगे। सुदामा को उसके गाँव तक पहुँचाकर ही हम मथुरा लौटेंगे।" मैंने निर्णय सुनाया और वल्गाओं को झटककर रथ को गति दी–सौराष्ट्र की दिशा में। पीछे मुड़कर हेतुत: हँसते हुए मैंने सुदामा की ओर देखा। उसका मुख दमक उठा था।

कुछ और पड़ावों पर रुकना पड़ा। अन्ततः हमारा गरुड़ध्वज ऐसे स्थान पर आ गया जहाँ से हम आगे नहीं जा सकते थे। सुदामा का गाँव भी अब निकट था। उस ओर जानेवाली परिचित टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डी दृष्टिपथ में आते ही सुदामा ने कहा, "हे मिलिन्द-मित्रवर, यहीं रुक जाते हैं। अब पैदल जाऊँगा मैं।"

मेरे जीवन का वह क्षण आ गया–मित्र से विदा लेने का! वल्गाओं को छोड़कर एक ही छलाँग में मैं नीचे उतरा। रथ के पार्श्वभाग से सुदामा भी नीचे उतरा। दाऊ, उद्धव और दारुक रथ में ही ठहर गये।

सौराष्ट्र के शान्त, निविड़ अरण्य का यह एक निर्जन स्थान था। सन्ध्या होने को थी। नीड़ों की ओर लौटे पक्षियों के कलरव से गूंजित मधुक, पाटल, अशोक, आमला जैसे ऊँचे-ऊँचे वृक्ष खड़े थे। उनसे लिपटी भाँति-भाँति की वनलताओं का घना झुरमुट बना हुआ था।

सुदामा मेरे सम्मुख खड़ा था। कन्धे से सरकती झोली को सँभालते हुए उसने कहा, "मित्र श्रीकृष्ण, इस निर्धन ब्राह्मण-पुत्र को स्मरण रखना। गुरुदेव के आश्रम में हम गुरुबन्धु रहे, यह तो अपने पूर्वजन्म का सम्बन्ध ही मानता हूँ मैं। किन्तु मित्र..." कहते-कहते उसका कण्ठ भर आया।

उसके दोनों कन्धों को थामकर उसकी आँखों में झाँकते हुए मैंने कहा, "मित्रवर! मैं तुम्हें कभी नहीं भूलूँगा। कहो मित्र, जो भी कहना है, खुलकर... निःसंकोच कहो।"

अपने संकोची स्वभाव के अनुसार वह तनिक झिझका, फिर बोला, "श्रीकृष्ण, तुम्हारे साथ बिताये आश्रम-जीवन के दिन कैसे बीत गये, पता ही नहीं चला। इन दिनों की स्मृति जागृत रखने के लिए तुम मुझे अपनी कोई वस्तु भेंटस्वरूप दे दो–मैं उसे जीवन-भर प्राणों से भी अधिक सँभालकर रखूँगा।"

सुदामा ने मुझे उलझन में डाल दिया। मैंने मुस्कराकर कहा, "मित्र, कहीं तुम विक्षिप्त तो नहीं हो गये? गुरु-दक्षिणा के दिन आचार्यश्री से आशीर्वाद प्राप्त करते हुए मैंने उनसे जो कहा था, वह तुमने सुना नहीं क्या?

"मैंने उनसे कहा था, आपको गुरु-दक्षिणा देने योग्य कुछ भी मेरे पास नहीं है। फिर भी आज तुम मुझसे स्नेह-भेंट माँग रहे हो? क्या दूँ मैं तुम्हें? मित्र, वास्तव में देने योग्य कोई भी वस्तु मेरे पास है ही नहीं।"

सुदामा तनिक हड़बड़ा गया। जाने क्यों, किसी का भी हड़बड़ा जाना मुझे बहुत अच्छा लगता था।

सुदामा की दृष्टि मेरे मस्तक पर स्थित मोरमुकुट पर घूम गयी, फिर कण्ठ में झूलती कौस्तुभमणियुक्त मौक्तिक-मालाओं से होकर, स्वर्णिम बाहुभूषणों से उतरकर मेरे स्वर्णवर्णी पीताम्बर पर स्थिर हो गयी। उसकी ग्रीवा किसी दुविधा में हिली-डुली।

मेरे पाँवों की चन्दनी खड़ाउओं पर दृष्टि जाते ही उसकी आँखों के भाव त्वरित बदल गये। अत्यानन्द से उसकी आँखें चमक उठीं। नीचे झुककर निश्चयपूर्वक मेरे पैरों की खड़ाउँओं पर अपने हाथों की पकड़ जमाते हुए उसने अत्यन्त आवेग से कहा, "यही अनमोल भेंट मुझे दे दो मित्रवर–यही मेरे योग्य है।" तत्पश्चात् उसने अपना मस्तक ही मेरी खड़ाउँओं पर रख दिया! सदैव मुस्कराते रहनेवाला मैं अब गम्भीर हो गया। खड़ाउँओं में से मेरे पाँव पीछे हट गये–अनजाने में ही।

मेरे प्राणप्रिय सुदामा ने उन खड़ाउँओं को अपनी झोली में झट से इस प्रकार डाल लिया मानो उसको त्रिलोक का राज्य प्राप्त हुआ हो।

मैंने तुरन्त सुदामा को ऊपर उठाकर अपनी भुजाओं के आलिंगन में कस लिया। आज तक मेरी आँखों में कभी अश्रु नहीं आये थे, किन्तु सौराष्ट्र के उस निविड़ अरण्य में मेरी आँखों से निकले दो स्नेह-भरे अश्रु-बिन्दु सुदामा के कनटोप पर गिर पड़े। मेरे मन में एक विचित्र-सा विचार घूम गया–'हम यादवों में कई पराक्रमी योद्धा स्वयं का राज्याभिषेक करवाएँगे। आचार्यश्री के आश्रम के कई वीर शिष्य भविष्य में राजसिंहासन पर आरूढ़ होंगे–दिग्विजय करेंगे। किन्तु हे मित्र, बिना कोई शस्त्र धारण किये एक मित्र के अश्रु-बिन्दुओं से हुए तुम्हारे अभिषेक से अन्य किसी अभिषेक की तुलना हो पाएगी? जाओ सुदामा, भविष्य में जग तुम्हें यादवराज श्रीकृष्ण के परममित्र के नाते ही पहचानेगा।' मैंने धीरे-से उसकी हथेली थपथपाते हुए उससे विदा ली। पगडण्डी से जाते, पीछे मुड़-मुड़कर देखते सुदामा की दूर-दूर जाती आकृति को अपनी आँखों में समा लेते हुए मैं उसी स्थान पर रुका रहा–देर तक! उससे विदा ली–युग-युगों के लिए एक निरपेक्ष-विशुद्ध स्नेह का आदर्श स्थापित करते हुए, जिसे केवल वह और मैं ही जान सकते थे!...

मथुरा में हमारा अत्यधिक उत्साह से स्वागत हुआ। सारी नगरी पताकाओं, तोरणों और पुष्पमालाओं से सजी हुई थी। प्रत्येक घर के आगे चित्रमय रंगावलियाँ सजाकर नगरवासी नर-नारियों ने हमारी आरती उतारकर हम पर पुष्प-वर्षा की। नगर के चौक-चौक में नगाड़े बज रहे थे। उत्साह से इधर-उधर दौड़ते अश्वारोही और बरछैत मुट्ठी भर-भरकर शर्करा-बताशे बाँट रहे थे। उनमें से ही एक ने अति उत्साह से गरुड़ध्वज के रथनीड़ पर चढ़कर मेरे हाथ पर बताशे रख दिये। 'कल नामकरण होगा' ऐसा ही कुछ बुदबुदाता हुआ वह चला भी गया।

हम मथुरा के विशाल राजप्रासाद के प्रांगण में आ गये। राजा यदु के उस प्राचीन प्रासाद के आगे ललछौंहे रंग के पाषाणों की ऊँची-ऊँची सीढ़ियाँ थीं। उसके आगे एक और विस्तीर्ण प्रांगण था और प्रांगण के अन्तिम छोर पर सीढ़ियाँ थीं।

उस प्रांगण में महाराज उग्रसेन, तात वसुदेव और बड़ी माँ को देखते ही हम तीनों झपाके से सीढ़ियाँ चढ़ते हुए उनके निकट गये। मैं, दाऊ और उद्धव–हम तीनों ने प्रथम तात वसुदेव को वन्दन किया। तत्पश्चात् हमने महाराज उग्रसेन को वन्दन किया। वे बहुत थके हुए-से दिख रहे थे। उन्होंने कहा, "हे श्रीकृष्ण, तुम्हारी अनुपस्थिति में हमने जरासन्ध के आक्रमणों का बार-बार सामना किया है। अब तुम आ गये हो तो हम निश्चिन्त हो गये।" बड़ी माँ को वन्दन करते हुए तीव्रता से मेरे ध्यान में आया कि हमारी छोटी माँ–रोहिणी माता कहीं दिखाई नहीं दे रही है। मथुरा आने के पश्चात् देवकी माता को ही बड़ी माँ कहने का प्रचलन अपने-आप ही आरम्भ हुआ था। मैंने बड़ी माँ से पूछा, "छोटी माँ कहीं दिखाई नहीं दे रही है?" तब मुख पर निर्मल, वत्सल हँसी बिखराते हुए उसने कहा, "अरे, वह कैसे आ सकती है यहाँ? प्रसूता हो गयी है वह। तुम्हें बहन मिल गयी है। वह बलराम जैसी ही है–आरक्त-गौर, हृष्टपुष्ट!"

"तभी तो नगर कल सजने के बदले आज ही सज गया है–तुम्हारे स्वागत हेतु।" तात ने कहा।

“श्रीकृष्ण, तुम्हारी बहन का नामकरण-समारोह कल ही है।” उग्रसेन महाराज ने कहा। अब हमें बोध हुआ कि नगर इतना क्यों सजाया गया है! दूसरे ही दिन हमारी नवजात बहन के नामकरण के लिए यादव नर-नारी तथा नगरजनों के झुण्ड-के-झुण्ड राजप्रासाद में इकट्ठा हो गये। मेरे तात के वर्षों से सहे कष्टमय जीवन की परिणति ही यादववंशियों तथा नगरजनों के प्रेम से प्रकट हो रही थी। यदुवंशियों का यह राजप्रासाद कई वर्षों बाद आज पहली बार नर-नारी, बालक-बालिकाओं के कोलाहल से गूँज उठा था।

इस निमित्त मुझे पता चला कि हरियाली की भाँति हमारा गोत्र कितना फैला हुआ है। दाऊ के बाद छोटी माँ के दो पुत्र–मेरे भ्राता–गद और सारण अब बड़े हो गये थे। उसकी पहली ही पुत्री के नामकरण पर एकत्र हुए सम्बन्धियों में मेरे सगे काका देवभाग, देवश्रवस, आनक, सृंजय, श्यामक, कंक, शमीक, अनाधृष्टि, गण्डष, वत्सक और वृक उपस्थित थे। उद्धव के पिता होने के कारण देवभाग काका से मेरा और दाऊ का अधिक सम्पर्क हुआ था। अन्य काकाओं से हमारा सम्बन्ध कारणवश आनेवाला था। कंस-वध के समय, कारागृह में पड़े इनमें से कुछ-एक को मैंने मुक्त किया था और उनकी क्षमताओं के अनुकूल उन्हें उचित पदों पर नियुक्त भी किया था।

इनमें से देवश्रवस काका की पत्नी थी कंसवती। वह कंस की सहोदरा थी। यह दम्पती अत्यन्त प्रेमल थे। उनके तीन पुत्र थे–शत्रुघ्न, सुवीर और ईशुमान। उनमें से शत्रुघ्न बचपन में ही अरण्य में कहीं खो गया था। यह बात उनके अन्तर में एक शूल की भाँति चुभती थी। आनक काका के दो पुत्र थे–पुरुजित और सत्यजित। उनकी पत्नी कंका भी कंस की बहन थी। उनके बाद थे सृंजय काका। उनकी पत्नी राष्ट्रपालिका भी कंस की बहन थी। उनके पुत्र थे धनु और वज्र। उनके बाद के श्यामक नाम के काका के पुत्र थे हिरण्याक्ष और हरिकेश। उनकी पत्नी थी शूरभू। वह भी कंस की बहन थी। अर्थात् मेरी सगी काकियों में से चार कंस की बहनें थीं।

शमीक काका का एक ही पुत्र था–प्रतिक्षत्र। उनकी पत्नी थी सौदामिनी। उनके बाद थे कंक काका, वत्सक काका और वृक काका। उनकी पत्नियों के नाम थे क्रमश: कर्णिका, मित्रकेशी और दूर्वाक्षी। उनके पुत्र थे क्रमश: कृतधामन् व जय, वृक तथा तक्ष और पुष्कर। कंक काका कंस की मन्त्रिपरिषद् के एक मन्त्री होने के कारण अनुभवी थे।

अनाधृष्टि काका की पत्नी थी अश्मकी। उनका एक ही पुत्र था–यशस्वी। केवल गण्डष काका ही अपत्यहीन थे। मेरी छह सगी मौसियाँ थीं–सहदेवा, शान्तिदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, वृकदेवा और उपदेवा। इनमें से शान्तिदेवा मौसी की कोई सन्तान नहीं थी। देवरक्षिता और उपदेवा मेरी ये दो मौसियाँ मेरी सौतैली माताएँ भी थीं। मेरे कई मौसेरे और सौतैले भ्राता थे। छोटी माँ की यह नवजात पुत्री इकलौती बहन होने के कारण सबकी अत्यन्त प्रिय बननेवाली थी।

गोकुल की भाँति यहाँ भी अनेक काका-काकी, ककेरे भाई-बहनों का एक ही गोत्र था और वे सभी यहाँ उपस्थित थे।

यह सब नामावली सुनकर किसी के भी मन में प्रश्न उठ सकता है कि अपने भाई–महामण्डलेश्वर वसुदेव के कारागृह में रहते हुए इन सबने क्या किया?

इसी प्रश्न ने मुझे भी कई बार सताया था। देवभाग काका इन सबसे अलग स्वभाव के और मत के थे। वे अत्यन्त सात्त्विक और प्रेमल थे। वे यादवों के हितैषी थे। उनका पुत्र उद्धव मानो उन्हीं का प्रतिबिम्ब था। देवभाग काका उद्धव को उधू, चित्रकेतु को चित्रू और बृहद्बल को बृहू–इन

संक्षिप्त नामों से पुकारा करते थे।

कंक और आनक काका तो कंस की मन्त्रिपरिषद् के मन्त्री ही थे। देवभाग काका को छोड़कर अन्य सभी कंस के आतंक से दबे हुए थे। आज पहली बार वे सब एकत्र हो रहे थें।

मेरी बड़ी माँ–देवकी माता की ओर से मेरे चार सगे मामा थे–देववान, उपदेव, सुदेव और देवरक्षित। बड़ी माँ की बहनों में से दो तो मेरी सौतैली माताएँ ही थीं। मेरी और भी दस सौतैली माताएँ थीं।

छोटी माँ की इस सुलक्षण पुत्री के नामकरण पर चार महत्त्वपूर्ण राजदूत उपहार सहित मथुरा में उपस्थित हुए थे। तात वसुदेव ने उनका परिचय हमें कराया। इसलिए कि ये चारों राजदूत तात की बहनों के–मेरी बुआओं के राजनगरों से आये थे। उनमें से एक राजदूत चेदि देश से, मेरी बुआ श्रुतश्रवा और उनके पति दमघोष की ओर से आया था। श्रुतश्रवा और दमघोष का एक पुत्र शिशुपाल मेरी ही आयु का था। मेरे गुप्तचरों की सूचना के अनुसार वह जरासन्ध के पूर्ण वश में था। जरासन्ध ने भी यादवों से अपने वैमनस्य को ध्यान में रखते हुए उसे अपने एक सेना विभाग का सेनापति बना दिया था। मेरे जीवन में वह एक बाधा ही बननेवाला था। दूसरा राज-उपहार आया था। अवन्ती से–मेरी दूसरी बुआ राजाधिदेवी और उनके पति जयसेन की ओर से। उनके दो पुत्र थे–विन्द और अनुविन्द, जो आचार्य सान्दीपनि के आश्रम में हमारे गुरुबन्धु भी रहे थे। अंकपाद आश्रम में हमारा साहचर्य कुछ अधिक नहीं था–हम एक-दूसरे से केवल परिचित ही हुए थे।

तीसरा राजदूत करुष देश से आया था–मेरी बुआ श्रुतदेवा और उनके पति वृद्धशर्मन की ओर से। उनका पुत्र था दंतवक्र!

चौथा उपहार किसी राजदूत-द्वारा नहीं आया था, वह आया था वन से–एक ऋषि के हाथों। अत: उन्होंने जो कुछ बताया, उसे मैंने ध्यानपूर्वक सुना और अपने मन पर अंकित कर लिया। वह उपहार आया था मेरी बुआ कुन्तीदेवी की ओर से। हस्तिनापुर की महाराज्ञी होते हुए भी गन्धमादन पर्वत के वनों में उन्हें अपने पति सहित बड़े धैर्य के साथ जीवन से जूझना पड़ा था। ऋषि के शाप के कारण ही यह सब घटित हुआ था।

उनकी सारी कथा सुनाते हुए तात वसुदेव की आँखों में अश्रु छलक आये–"हमारी कुन्ती के अपने तीन पुत्र हैं–युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन। माद्री नाम की अपनी सपत्नी के दो पुत्रों–नकुल-सहदेव को भी उसने अपना ही मान लिया है। ये पाँचों–कौन्तेय और माद्रेय अपने पिता पाण्डु के नाम पर 'पाण्डव' कहे जाते हैं। पुत्र, तुम्हारी इस बुआ ने बचपन से ही जो सहा है, उसके आगे तुम्हारी माँ और मेरे द्वारा कारागृह में सही गयी यातनाएँ कुछ भी नहीं हैं। जीवन में कभी वह तुमसे मिले तो उसका उचित आदर-सत्कार करना। यथासम्भव उसकी सहायता भी करनी है।"

दूत बनकर आये ऋषि के समक्ष बुआ के स्मरण से तात व्याकुल हो उठे थे।

छोटी माँ की पुत्री के नामकरण के मुहूर्त पर पुरोहित ने उनसे पूछा, "क्या नाम रखना है इस पुत्री का?" तब उस भरे हुए कक्ष में मेरी ओर देखते हुए छोटी माँ ने मानो आदेश ही दिया, "श्रीकृष्ण, तुम ही सुझा दो इसके लिए अच्छा-सा कोई नाम!"

छोटी माँ के आदेश को शिरोधार्य करते हुए मैंने कहा, "आचार्यश्री के आश्रम से बहुत-कुछ शुभ लेकर लौटा हूँ मैं। यहाँ आने पर पता चला वह 'शुभ' कितना सुन्दर है। गोकुल में मेरी बहन एकानंगा थी। मथुरा में उसका स्थान लेने के लिए यह आयी है! मैं इसको 'सुभद्रा' कहूँगा।" मथुरा

के नगरजन मिश्री के टुकड़े खाते, मृदंगों के ताल पर नाचते हुए मेरी और बलदाऊ की बहन का नाम एक-दूसरे को बता रहे थे–'सुभद्रा!–सुभद्रा!'

उस दिन ईश-स्तवन के पश्चात् शैया पर लेटते हुए मेरी बन्द, जागती आँखों के आगे दो ही शब्द घूम रहे थे–कुन्ती बुआ और उनके सभी पाण्डव!

मेरा और दाऊ का आद्य कर्तव्य था गुरुपुत्र दत्त की मुक्ति। अवन्ती से लौटने के बाद यह एकमात्र विचार मेरा पीछा करता आया था।

अमात्य विपृथु के विविध राज्यों में भेजे गुप्तचर विविध सूचनाएँ ला रहे थे। किन्तु सफलता प्राप्त हुई पश्चिम दिशा में भेजे गये गुप्तचरों को ही। पश्चिम सागर के तटीय प्रदेश के रैवतक अथवा उज्जयन्त पर्वत के समीप श्वेत सागर के एक द्वीप पर रहनेवाले शंखासुर नामक बलाढ्य असुर ने गुरुपुत्र दत्त के अपहरण का कुकर्म किया था। पश्चिम सागर को ही उसकी फेनिल लहरों के कारण उसके तट पर रहनेवाले लोग श्वेत सागर कहते थे। वहाँ के वासी शंखासुर को 'पंचजन' नाम से भी जानते थे।

यमुना-तट पर दाऊ और उद्धव के आगे मैंने दत्त का विषय छेड़ा। अन्य किसी भी प्रकार से शंखासुर दबनेवाला नहीं था। अपने सुरक्षित द्वीप पर आसुरी सेना के बल पर वह निर्भय होकर रहता था। लम्बे विचार-विमर्श के पश्चात् मैंने और दाऊ ने शंखासुर पर सशस्त्र आक्रमण का निर्णय लिया! पश्चिम सागर पर स्थित उस द्वीप तक पहुँचने के लिए छोटी-बड़ी नौकाओं को हाथियों की पीठ पर लादकर ले जाने का हमने निर्णय लिया।

उग्रसेन महाराज की सम्मति से मैंने यह निर्णय यादव राजसभा में निवेदित किया। इस अभियान के लिए हमने कष्ट-सहिष्णु, लड़ाकू यादव योद्धाओं को चुना। उनमें सात्यकि, उद्धव, कृतवर्मा, शैनेय और अवगाह मुख्य थे। जरासन्ध के आक्रमण का भय अब भी नष्ट नहीं हुआ था। अत: सेनापति अनाधृष्टि अपने युवा पुत्र यशस्वी और हमारे काका-मामाओं सहित मथुरा में ही रहनेवाले थे। आवश्यकता पड़ने पर राजनीतिक कार्य में सहायता करने हेतु अमात्य विपृथु भी हमारे साथ आनेवाले थे। सेना में युवा यादवों की ही अधिकता थी।

हमारी चतुरंग सेना बाजे-गाजे के साथ मथुरा के पश्चिम महाद्वार से निकल पड़ी। दीक्षान्त होने के पश्चात् हमारी यह पहली लम्बी यात्रा थी। पड़ाव डालते-डालते दो महीने बाद हमारी सेना पश्चिम सागर के तट पर आ पहुँची। जीवन में पहली बार मैं सागर-दर्शन कर रहा था।

सागर! अथाह प्रवाही जल की अमोघ शक्ति को लहरों में सीमित कर देनेवाला महासामर्थ्यशाली तत्त्व! सदैव गरजते उस जल-तत्त्व को मैंने, दाऊ ने और उद्धव ने सर्वप्रथम वन्दन किया। सागर-तट पर हमारी विराट् चतुरंग सेना का पड़ाव था। ऊँचा, दूर तक फैला हुआ रैवतक पर्वत भी समीप ही था।

भाले लिये हमारे निष्णात गुप्तचर नौकाओं सहित पश्चिम सागर में चारों ओर फैल गये। सन्ध्या होने तक उन्होंने द्वीप पर स्थित शंखासुर की गुफा को ढूँढ़ निकाला। गुफा में छिपे शत्रु पर रात्रि के समय किसी भी युद्धतन्त्र का प्रयोग करना सम्भव नहीं था। इसलिए छोटी-छोटी रावटियाँ खड़ी करके समुद्र का गर्जन सुनते हुए हमने पुलिन पर पड़ाव डाला।

समुद्र! –दिन-भर लहरों के साथ निरन्तर लपलपाता समुद्र रात्रि में उन्हीं लहरों से लयबद्ध, गूढ़रम्य गर्जन करता रहता है। वह गर्जन उसका प्राणमय श्वास ही प्रतीत होता है–घनगम्भीर

लगने लगता है। अवन्ती के आश्रम में रात्रि के समय मौन रहकर भी अरण्य कैसे और कितना बोलता है, यह मैंने अनुभव किया था। आज, रात्रि के समय सागर अपनी ही बोली में कितने प्रकारों से बोलता है, इसका मैं अनुभव कर रहा था।

इस पहले अनुभव से ही मुझे सागर से प्रेम हो गया। पश्चिम सागर मुझे निरन्तर पुकारनेवाला आवाहक प्रतीत हुआ और इसी कारण प्रिय हुआ—अनजाने में ही।

जिस प्रकार गोकुल में नन्दबाबा, बड़ी माँ, छोटी माँ, दाऊ, नन्हीं एका, स्त्री के भिन्न-भिन्न रूपों का मौन बोध करानेवाली राधिका, मथुरा में मिले उद्धव, सात्यकि, दारुक, आश्रम-मित्र सुदामा, परमपूज्य आचार्य सान्दीपनि मुझे जनम-जनम के सम्बन्धी लगे थे—उसी प्रकार यह पश्चिम सागर भी मुझे जनम-जनम का साथी प्रतीत हुआ।

दूसरे ही दिन हमारे युद्ध-सम्मुख लड़ाकू यादव-सैनिक सैकड़ों नौकाओं से नीलवर्ण सागर-लहरों को पार करते हुए शंखासुर के द्वीप पर उतर गये। उसकी असुरसेना की संख्या का कोई अनुमान हम नहीं लगा पाये थे। हम सैनिकों की ही लहरें उस गुफा पर भेज रहे थे।

हमारे सैनिक शत्रुसेना से लड़कर, श्रान्त-हताश होकर लौटने लगे। कुछ वहीं पर धराशायी हो गये। एक-दो दिन नहीं—दो सप्ताह तक यह संग्राम चलता रहा, किन्तु इसका कोई निर्णय नहीं हो पाया।

ऐसा कितने दिन चलता रहेगा? युद्धतन्त्र के किसी इन्द्रजाल का प्रयोग किये बिना शंखासुर की यह गाँठ सुलझनेवाली नहीं थी। आचार्यश्री के उपदेश को मैंने स्मरण किया—कोई उपाय सूझ नहीं रहा था। व्यर्थ ही अपने सैनिकों की बलि क्यों चढ़ायी जाए? कुछ समझ में नहीं आ रहा था।

एक दिन—जब मैं सागर से ऊपर आते हुए सूर्यदेव को अर्घ्य दे रहा था, एक विशालकाय मत्स्य उछलकर ऊपर आया—जैसे रुपहली विद्युत् ही चमक उठी हो! वह क्षण-भर में लुप्त भी हो गयी। मुझे आभास हुआ—शंखासुर का गुफा से बाहर आना आवश्यक है। सैनिकों को गुफा में घुसाने से काम नहीं चलेगा। गुफा में धुएँ की लपटें घुसने से, बिल से निकलते सर्प की भाँति वह निकल आएगा। हमने सभी सैनिकों को पहले वापस बुला लिया।

गुफा के मुख पर हमने झाड़-झंखाड़ और ताड़-वृक्ष के सूखे पत्तों का ढेर रच दिया और उसमें आग लगा दी। यह उपाय एकदम सफल प्रमाणित हुआ। स्वेद से तर हुए आहत असुरों के झुण्ड-के-झुण्ड धुएँ की लपटों के कारण चिल्लाते, हाँफते, खाँसते हुए बाहर निकल आये। पीछे-पीछे बलाढ्य, महाकाय शंखासुर गुंजा की भाँति लाल आँखें विस्फारित करता हुआ, गरजता हुआ, चौड़े फलवाला खड्ग हाथ में लिये गुफा से निकल आया। उसके बायें रोएँदार हाथ में एक बहुत बड़ा, घुमावदार, शुभ्र-धवल चमकता हुआ शंख था। जैसा कि हमने पहले ही निश्चित किया था, दाऊ ने उसको मल्लयुद्ध की चुनौती दी। दोनों ने अपने-अपने शस्त्र नीचे रख दिये।

द्वीप की पुलिन की रेती में दनादन ताल ठोंकते हुए दोनों एक-दूसरे से भिड़ गये। उसके पहले शंखासुर ने अपने शंख से सारे परिसर को दहला देनेवाला नाद किया।

शंख फूँकने का भी कोई शास्त्र होता है, उसमें भी एक संगीत होता है, इसका उसे तनिक भी ज्ञान नहीं था। शंख को उसने दूर पुलिन पर फेंक दिया। अब तक पुलिन पर छिड़े युद्ध में यादव-सैनिकों ने कई असुरों को यमसदन भेज दिया था। दाऊ के लिए मल्लविद्या अब केवल विद्या या कला नहीं रही थी। वह उनका श्वास ही बन गयी थी। घटिका-भर में ही दाऊ ने बाहुकण्टक दाँव

पर यादवों और शरणागत असुरों के बीच शंखासुर को निष्प्राण कर डाला। हमारे सैनिकों के जयघोष की लहर सागर-लहरों से जा मिली–'यादववीऽर बलराऽम की ऽ...श्रीकृष्ण की...जय हो...जय हो!'

शंखासुर के उस शुभ्र-धवल, सुलक्षण, प्राणप्रिय शंख को, जो अब रेती पर पड़ा था–मैंने धीरे-से उठा लिया। स्वयं को भूलकर देर तक मैं उस शंख को देखता ही रहा।

सुलक्षण शंख की सभी कसौटियों पर वह खरा उतर रहा था। वह शंख था ही नहीं–वह था एक अनमोल रत्न–एक अद्वितीय सत्य! दाऊ, उद्धव, दारुक, सात्यकि–सभी कुतूहल से मेरे पास इकट्ठा हो गये थे। अस्तंगत होता सूर्य पश्चिम सागर से सटा हुआ था। मुझे तीव्र आभास हुआ–सागर की ही भाँति यह शंख भी मेरा जनम-जनम का साथी है, मेरे शरीर का एक अभिन्न अंग!

सबके साथ मैं पश्चिम सागर की गरजती, फेनिल लहरों में घुटनों तक उतर गया। एक दुर्दम्य, अनामिक आत्मविश्वास से मेरा वक्ष भर आया। दाऊ, उद्धव, सात्यकि, विपृथु, दारुक–सभी अस्त होते सूर्य को सागर-जल से अर्घ्य रहे थे। मेरी आँखों के भावों को जानकर प्रिय उद्धव ने शंख पर सागर-जल की धार डाली। मैंने तन्मय होकर मूलचक्र के पराकेन्द्र से, मस्तक को गगन में ऊँचा उठाकर, कण्ठ की धमनियाँ फुलाते हुए बन्द आँखों से उस दिव्य शंख को प्राणपण से फूँका। वह नाद सुनते ही मेरा सारा शरीर रोमांचित हो उठा। सागर में रहते विविध प्रकार के मत्स्य उस नाद को सुनने के लिए आवेश से उछलकर जल के ऊपर आ गये और चन्द्र-धवल रंग से चमककर क्षण में ही सागर-जल में लुप्त हो गये।

उस शंख की सत्यप्रेरक-पोषक ध्वनि-लहरों से हर्षोन्मत्त हुए यादव-सैनिक कण्ठनाल फुलाकर जयघोष करते हुए नाचने लगे–'यादवराऽज श्रीकृष्ण की जय हो–जय हो!' असत्य का पीछा करते हुए उसका निपात करनेवाला था वह दिव्य शंख। उसकी स्वरबद्ध ध्वनि-लहरों का विदारक नाद यादवों के बन्दी बनाये असुर सैनिकों को असहनीय हो गया। अपने-आप को यादवों के बन्धन से छुड़ाकर वे प्राणभय से इधर-उधर भागने लगे। उनके भगोड़े पैरों के नीचे सागर-तट की रेती चरमराने लगी–'वह आ गया है–वह आ गया है! उसने जीत लिया है! भागोऽ दुष्टोऽ दुरात्माओऽ भागोऽ!'

मैंने सात्यकि को आदेश दिया, "सेनापति, सीधे गुफा में जाइए और गुरुपुत्र दत्त को मुक्त कर सम्मानपूर्वक ले आइए।"

"आज्ञा आर्य" कहकर कुछ सशस्त्र सैनिकों सहित सात्यकि गुफा में घुस गया।

शंखासुर का विधियुक्त दाह-संस्कार करने का आदेश मैंने दिया। हमारे सैनिकों ने उस द्वीप का नामकरण किया–शंखोद्धार। उस द्वीप को दूसरे दीप से जोड़नेवाला भू-भाग हमें दिखाई दिया। गहरी नीली लहरोंवाला पश्चिम सागर हमने नौकाओं से पार किया। खुली हवावाले उस द्वीप ने मुझे पूरा आकर्षित कर लिया था।

गुरुपुत्र दत्त सहित हमारी सेना का पहला पड़ाव रैवतक पर्वत की पादभूमि में पड़ा। उस पर रैवत कुलोत्पन्न ककुद्मिन राजा का राज्य था। पर्वत-शिखर पर ही उनकी विशाल राजनगरी थी–रैवतनगर। यहाँ थोड़ा विश्राम करने की हमारी योजना थी, किन्तु यहाँ हमारे निवास की अवधि बढ़ेगी इसकी हमें कल्पना नहीं थी। हमारे मन अवन्ती के आचार्य-आश्रम की ओर खिंचे जा रहे थे। दिये वचन के अनुसार हमें गुरुपुत्र को गुरुमाता के हाथ सौंपना था। उनका आशीर्वाद शिरोधार्य

करना था। दूसरे दिन हमारी सेना प्रातर्विधियों से निवृत्त हो ही रही थी कि पर्वत पर से आया राजदूत राजा ककुद्मिन का सन्देश लेकर मेरे सम्मुख उपस्थित हुआ। उन्होंने हमें सहर्ष, सम्मानपूर्वक अपनी राजनगरी में आमन्त्रित किया था। उस आमन्त्रण को हम टाल नहीं सकते थे।

मैंने सेनापति सात्यकि को गुरुपुत्र दत्त सहित आगे जाकर क्षिप्रा तट पर पड़ाव डालने की सूचना दी। वह आगे निकल गया। मैं, बलदाऊ, उद्धव और विपृथु कुछ विशिष्ट वीरों सहित सघन अरण्यों से भरा वह ऊँचा पर्वत चढ़ने लगे। एकाएक दूर से वनराज सिंह की भयावह गर्जनाएँ सुनाई देने लगीं। सिंहों के निवास-स्थान के रूप में यह पर्वत आर्यावर्त में विख्यात था। हमारी इस पर्वत-यात्रा में घनी अयालवाले एक-दो शक्तिशाली वनराज ग्रीवा टेढ़ी करके हमें देखते हुए निर्भयता से चले भी गये। सदैव बातें करनेवाले, खिलखिलाकर हँसते हुए लाल होनेवाले, उद्धव की पीठ पर धौल जमानेवाले दाऊ अचानक गम्भीर रूप से मौन हो गये थे। स्तब्ध हो गये थे। केवल विपृथु से वे कुछ-कुछ बातें कर रहे थे।

दाऊ में हुए इस परिवर्तन का मुझे त्वरित आभास हुआ। मैंने उनके निकट जाकर कहा, "पर्वत बहुत ही ऊँचा है न दाऊ? आप कुछ हास-परिहास करें तो इस पर बड़ी सरलता से चढ़ सकते हैं। क्यों, आपका क्या कहना है? है न पर्वत ऊँचा–चढ़ने में कठिन?"

मेरी बातों का गूढ़ार्थ दाऊ जान गये। मेरे कन्धे पर थपकी देते हुए उन्होंने कहा, "छोटे, सब-कुछ तो तुम जानते हो। फिर क्यों पूछ रहे हो?" उस पर हम दोनों मनःपूर्वक खिलखिलाये। हमारे हँसने का कारण किसी की समझ में नहीं आया। आनेवाला था भी नहीं।

रैवतकराज ककुद्मिन ने हमारा भव्य स्वागत किया। भोजन के पश्चात् उन्होंने मूल्यवान आभूषण, गायें, अश्व, हमें भेंट-स्वरूप दिये और आयु में सबसे बड़े विपृथु के सम्मुख एक अनपेक्षित प्रस्ताव रखा–"यादवों के ज्येष्ठ सुपुत्र बलराम मेरी सुलक्षणा, विनयशील उपवर पुत्री रेवती का पाणिग्रहण करें।"

उस अप्रत्याशित प्रस्ताव से अमात्य विपृथु हड़बड़ा गये। झिझकते हुए वे बोले, "मैं...यह निर्णय? मैं...कैसे...?" मेरी ओर देखकर दाऊ केवल मन्द-मन्द मुस्कराये। उसका अभिप्राय था, इस प्रस्ताव का उचित निर्णय मैं ही करूँ।

"महाराज, आपका यह अकृत्रिम प्रेम यादवों को स्वीकार है। यह विवाह अवश्य सम्पन्न होगा। भविष्य में आपके सहयोग की हमें नितान्त आवश्यकता पड़ेगी। मेरा विचार है, हमारी होनेवाली भाभीजी को–अपनी होनेवाली पत्नी को बलराम भैया एक बार देख तो लें। क्यों?" मैंने अपने निर्णय को उद्घाटित किया।

राजा ककुद्मिन की आँखों में सहस्रों दीप जल उठे। उन्होंने त्वरित आज्ञा दी। कुछ ही समय में मूल्यवान, कोमल राजवस्त्र धारण किये, किसी मूर्ति-शिल्प जैसी, अधोमुख, रैवतक राजकुमारी रेवतीदेवी हमारे सम्मुख उपस्थित हुई। वे मेरी और उद्धव की भाभी बननेवाली थीं। हमने उनका निरीक्षण किया। वे ऊँची, सशक्त और दाऊ जैसी ही आरक्त-गौरवर्णी, हँसमुख थीं।

मेरे और उद्धव के द्वारा अनपेक्षित वन्दन के कारण वे हड़बड़ा गयीं। झट से पीछे हटकर उन्होंने कहा, "यह क्या कर रहे हैं आप?" नार्युचित लज्जा से उनका मुखमण्डल लाल-लाल हो गया।

"रेवती भाभी, अब हमारा नाता निश्चित हो गया है। यह निर्णय मैंने नहीं, दाऊ ने ही किया है।" मैंने आदरपूर्वक कहा।

हमारे सभी यादव सम्बन्धी मथुरा में ही थे। इस उलझन को सुलझाते हुए महाराज ककुद्मिन ने कहा, "रैवतकों की प्रथा के अनुसार हम यहाँ रेवती का केवल 'स्वयंवर' रचाएँगे। आप मथुरा जाने के पश्चात् विधिपूर्वक विवाह सम्पन्न करें।"

"महाराज ककुद्मिन के प्रस्ताव के अनुसार, स्वयंवर सम्पन्न कर रेवती भाभी को अपनी सखियों सहित साथ लेकर हम रैवतक पर्वत से नीचे उतरे। उस पर्वत की घुमावदार, लम्बी, सिंहगर्जनाओं से गूँजती रहती ढलान उतरते हुए मुझे बार-बार लग रहा था कि इस पर्वत से मेरे दृढ़ भावबन्ध जुड़नेवाले हैं–जन्म-जन्मान्तर के लिए! मुझे यहाँ फिर आना पड़ेगा। क्यों आना पड़ेगा, यह मैं कह नहीं सकता था, क्योंकि स्वयं मुझे ही वह ज्ञात नहीं था।

अवन्ती तक पहुँचने में यहाँ के सैनिक हमारी सहायता करनेवाले थे। उनके सहित हम क्षिप्रा-तट पर पड़ाव डाले हुए सात्यकि से जा मिले। नौकाओं से क्षिप्रा पार कर गुरुपुत्र सहित दाऊ, मैं और उद्धव अंकपाद आश्रम पहुँच गये। दत्त को हमने गुरुमाता के हाथों सौंप दिया। कई वर्षों के वियोग के पश्चात् पुत्र को आलिंगन में लेते हुए वह माता गद्गद हो उठी थीं।

साथ ले आये दुर्लभ, सुलक्षण शंख को आचार्यश्री को दिखाने के लिए मैं उतावला हो रहा था। आश्रम में आये हुए नये शिष्यगण आचार्य-कुटी में झाँक-झाँककर मुझे, दाऊ को और उद्धव को दूर से ही देखकर आपस में कुछ फुसफुसाते हुए लौट रहे थे! रात्रि-भोजन के पश्चात् ईश-स्तवन के समय अपने मन का शूल मैंने आचार्यश्री के सम्मुख निवेदित किया–"मगध साम्राज्य बलाढ्य है। हमारा जनपद उसके आगे बहुत ही छोटा और नगण्य है। कंस-वध से क्रुद्ध हुआ उसका श्वशुर जरासन्ध मथुरावासियों को चैन की साँस नहीं लेने दे रहा है। आज तक उसके सशस्त्र आक्रमणों का सामना करते आये हैं हम। क्या इस पर कोई और उपाय आप सुझा सकते हैं?"

मेरा प्रश्न सुनकर वे मुस्कराये–किसी बालक की भाँति। उन्होंने पूछा, "अभी-अभी तुम सागर-दर्शन करके लौट रहे हो श्रीकृष्ण। क्या उसके साहचर्य में रहने को तुम्हारा मन नहीं करता? एक बात और–श्वेत सागर से लाया वह सुलक्षण शंख तुम मुझे दिखा रहे हो कि नहीं?" उन्होंने जानबूझकर मेरे प्रश्न और विषय को दूसरा ही मोड़ दे दिया और केवल मुस्कराये, मैं भी मुस्कराया।

कटि के नील दुकूल में बँधा वह चमकदार, सुलक्षण शंख निकालकर मैंने उसे माथे से लगाया और धीरे-से आचार्यश्री के चरणों में रख दिया। उसे देखकर आचार्यश्री के शान्त मत्स्यनेत्रों में कई ज्योतियाँ झिलमिला उठीं। जिस प्रकार गुरुपत्नी पारिजात-वृक्ष के नीचे पड़े ओस से भीगे पुष्पों को हलके हाथों से उठाया करती थीं, उसी प्रकार गुरुदेव ने शंख को उठाया। उसके केवल स्पर्श से ही उनकी आँखें अपने-आप बन्द हो गयीं।

अपने नाद-मधुर स्वर में उन्होंने कहा, "श्रीकृष्ण, तुम्हारी वैजयन्तीमाला के अनुरूप शोभाशाली जैसा ही है यह अमूल्य रत्न। यह 'पांचजन्य' नाम से विख्यात होगा। तुमने अपनी गुरु-दक्षिणा दे दी है। आज मैं तुम्हें एक अनमोल भेंट दे रहा हूँ। मैंने तुम्हें धनुर्वेद सिखाया ही है। उसकी कीर्ति बढ़ानेवाली ही है यह भेंट, इसे भी तुम एक रत्न ही मान लो।"

कुटिया के भीतरी कक्ष में खड़ी गुरुपत्नी की ओर उन्होंने केवल देखा। वे मधुमालती की

सुन्दर पुष्पमालाओं से मण्डित घुमावदार धनुष और बाणों से भरा तूणीर दत्त की सहायता से उठाकर ले आयीं। आचार्यश्री ने तत्परता से उसे उठाया और उसकी प्रत्यंचा का एक घन-गम्भीर टंकार किया। धनुष उठाये आचार्यश्री का दर्शन दुर्लभ था। वे अस्पष्ट-से कुछ बुदबुदाये। उन्होंने कहा, "यह मैं तुम्हें भेंट कर रहा हूँ। इसका नाम है अजितंजय।" धनुष को माथे से लगाते हुए उस गुरु-प्रसाद को मैंने नम्रतापूर्वक स्वीकार किया। अजितंजय की दृढ़ प्रत्यंचा की गम्भीर टंकार मैंने भी की। देर तक उसका प्रभावशाली नाद कुटी में गूँजता रहा। उस अपूर्व भेंट को मैंने कुछ देर कन्धे पर लटकाया। फिर अनिमिष नेत्रों से उसे देखनेवाले दाऊ के हाथों में मैंने उस यशस्वी धनुष को दे दिया। उन्होंने भी उस धनुष को कन्धे पर तोला। अब तक उद्धव ने तूणीर में भरे बाणों का निरीक्षण कर लिया था।

सुन्दर पंखोंवाला राजहंस पक्षी जिस प्रकार सरोवर पर उतरता है, उसी प्रकार एक विलक्षण विचार उस आनन्द के क्षण में मेरे मन में सरसराता हुआ उभर आया। आचार्य की ओर एकटक देखते हुए मैंने अनुरोध किया, "गुरुदेव, केवल एक ही बार आप इस शंख को पंचप्राणों के आवेग से फूँकें। असुरों के साहचर्य से इसकी पवित्रता में लगे अमंगल के दोष का निवारण करते हुए आप इस पांचजन्य को पावन करें! तत्पश्चात् गुरुदेव हमें रण-योग के लिए आशीर्वाद दें।"

व्याघ्रचर्म पर रखे पांचजन्य को अपनी लम्बी-लम्बी अँगुलियोंवाली अँजुली में लेते हुए आचार्यश्री उठे। पर्णकुटी की छत की ओर ग्रीवा उठाते हुए हमारे पूजनीय गुरुदेव ने आँखें बन्द कर कण्ठ की धमनियों को फुलाते हुए उच्च स्वर में दिव्य पांचजन्य को फूँका। उनका गौरवर्णी मुखमण्डल आरक्त हो उठा। शंख की आवाहक ध्वनि से आश्रम-कुमारों के झुण्ड-के-झुण्ड मन्त्रमुग्ध होकर आचार्य-कुटी की ओर दौड़ने लगे।

मैं देखता ही रहा। मैं निर्णय नहीं कर पा रहा था, आचार्यश्री की घनी दाढ़ी अधिक शुभ्र है, बालक-सदृश हँसते हुए दिखनेवाले दाँत अधिक शुभ्र हैं, उनकी अँजुली में विराजित शंख अधिक शुभ्र है या उसकी अलौकिक ध्वनि अधिक शुभ्र-धवल है!

हम जब मथुरा लौट आये, मेरे पास चार अनमोल रत्न थे–वैजयन्तीमाला, पांचजन्य, अजितंजय और चौथा रत्न थी हमारी रेवती भाभी!

उग्रसेन महाराज ने मथुरा की सीमा पर हम सबका स्वागत किया। मथुरावासियों ने पुष्पवर्षा के साथ जयघोष करते हुए रेवती भाभी को सहर्ष सवीकार किया। उनके स्वागत के लिए सारा नगर तोरणों, पताकाओं से सजा था। मेरे पांचजन्य का मथुरा में यह प्रथम प्रवेश था। उसे ध्यान में लेते हुए मथुरा की सीमा पर ही दाऊ ने हेतुत: मेरे कन्धे पर हाथ रखा और उसे तनिक दबाते हुए सूचना दी–'छोटे, पांचजन्य!' उसकी और रेवती भाभी की ओर देखकर मैं मुस्कराया। गर्ग मुनि सहित सभी प्रमख यादव आज मथुरा की सीमा पर जमा हुए थे। गद और सारण को अग्र स्थान पर रखकर नयी पीढ़ी के यशस्वी, चित्रकेतु, बृहद्‌बल आदि भी उनमें सम्मिलित थे।

मथुरा को चन्द्राकार घेरे रही, चंचल लहरोंवाली यमुना को मैंने आँख-भर देख लिया। राजप्रासाद में मेरी प्रतीक्षा करनेवाले तात वसुदेव और देवकी माता का स्मरण कर, शूरसेन राज्य की सीमा पर, अँजुली में समा न सकनेवाले उस शुभ्र-धवल पांचजन्य को मैंने पूरी प्राणशक्ति से फूँका।

जब से यह शंख मेरे हाथ लगा था, तब से मेरी चित्तवृत्ति में बड़ा परिवर्तन आया था।

पहलेवाला कृष्ण जैसे लुप्त ही हो गया हो। मैंने मन-ही-मन जो कुछ निश्चित किया था और करनेवाला था, उसका रहस्य पांचजन्य की रोमहर्षण, स्वर्गीय लहरों ने यमुना की लहरों से कब का बता दिया था।

नित्य कर्मों के लिए पीछे रह गये सभी यादव नर-नारी और सेवक भी पांचजन्य का नाद सुनकर सीमा की ओर खिंचे चले आने लगे। राजप्रासाद में केवल तात वसुदेव, बड़ी माँ और उनके सेवक रह गये थे। शंखनाद को सुनकर भी स्थितप्रज्ञ रहने का अधिकार केवल उन्हीं का था।

मथुरा में हमारा आगमन बड़े ठाठ-बाट से हुआ। किन्तु वहाँ मगध के मदान्ध सम्राट जरासन्ध को शूरसेन राज्य के समस्त यादववंश को नष्ट किये बिना शान्ति मिलनेवाली नहीं थी। मगध के राजनगर गिरिव्रज में उसकी पुत्रियाँ—कंस की पत्नियाँ अस्ति और प्राप्ति उसको क्षण-भर भी 'यादवों का उच्छेद और मुख्यत: कृष्ण का यथाशीघ्र वध' करने के अतिरिक्त अन्य कोई विचार करने ही नहीं दे रही थीं।

'अपने शत्रु का शत्रु अपना मित्र होता है' इस राजनीतिक नियम के अनुसार जरासन्ध ने करुष देश के दन्तवक्र और चेदि देश के शिशुपाल से राजनीतिक सन्धि की थी। वास्तव में वे दोनों मेरे फुफेरे भ्राता ही थे, किन्तु उगते सूर्य को नमस्कार करते हुए वे सामर्थ्यशाली सम्राट् जरासन्ध के शरणागत हो गये थे। शिशुपाल, दन्तवक्र और जरासन्ध की त्रिकुटी ने विदर्भ के दूरदर्शी राजा भीष्मक को भी अपने पक्ष में खींच लिया था। सौवीर देश के राजा शैब्य, काशीराज वत्स, विदेहाधीश, सौभपति शाल्व, मद्रराज, त्रिगर्तराज, दरद नरेश जैसे अपने अधीन राजाओं को सम्राट् जरासन्ध ने गिरिव्रज में आमन्त्रित किया था। यादवों का विनाश करने के लिए सारी शत्रु-शक्तियाँ एकत्र हो गयीं। एक सप्ताह बीता नहीं कि मेरे पांचजन्य के सम्मुख मागधों के प्रचण्ड आक्रमण का आह्वान पुन: खड़ा हो गया।

यह जरासन्ध का सत्रहवाँ आक्रमण था। गोमती, शरयु, गण्डकी, कौशिकी आदि नदियों को पार करता हुआ प्रचण्ड चतुरंग सैन्य दल गिरिव्रज में एकत्रित हो गया था। नौकाओं से यमुना पार कर गरजता हुआ वह मथुरा से आ भिड़ा। आज तक हुए सोलह आक्रमणों से यह आक्रमण प्रचण्ड और निर्णायक था। स्वयं जरासन्ध ही सेना का सैनापत्य करने शस्त्र-सज्ज होकर मथुरा के पास उपस्थित हुआ था। सहस्रों छोटी-बड़ी नौकाएँ यमुना के विशाल पाट में लंगर डाले हुए थीं। मागध युद्ध-सम्मुख, शूर योद्धा थे। समस्त आर्यावर्त में उनके पराक्रम का डंका बज रहा था।

उग्रसेन महाराज और तात वसुदेव के नेतृत्व में यादवों की राजसभा आमन्त्रित की गयी। इस सभा में मैं, दाऊ, सेनापति अनाधृष्टि, सात्यकि, उद्धव, अक्रूर, कृतवर्मा, सत्राजित, शिनि, मेरे सभी काका, मामा और सभी प्रमुख योद्धा निश्चयपूर्वक एकत्र हो गये थे। दाऊ, सात्यकि, कृतवर्मा और अनाधृष्टि का निर्णय था—अपनी पूरी शक्ति के साथ इस आक्रमण की धज्जियाँ उड़ा दें।

मैंने अपने गुप्तचरों से सब सूक्ष्म और अचूक सूचनाएँ प्राप्त कीं। यह आक्रमण केवल जरासन्ध का नहीं था। यादवों से शत्रुता करनेवाली सभी छोटी-बड़ी शक्तियाँ उसके नेतृत्व में एक हो गयी थीं। यह युद्ध अत्यन्त असमतोल और दीर्घकालीन चलनेवाला था।

विराट् मागध-सेना के आगे यादव एक मूषक के समान थे। यह समझते हुए भी राजसभा में उत्साही यादवों के निश्चय को मैंने चुपके से सुन लिया। क्रोधी स्वभाव के यादव बिना अनुभव के सावधान होनेवाले नहीं थे, सुधरनेवाले नहीं थे। मैंने उनके निर्णय को मौन सहमति दी। राजसभा

की सर्वसम्मति से यादव मागधों से लड़ने के लिए तैयार हो गये।

मथुरा के प्राकार के चारों महाद्वार बन्द कर दिये गये। विराट् मागध-सेना ने मथुरा को घेर लिया। रणदुन्दुभियाँ कड़कने लगीं। नगाड़े बजने लगे। तुरहियाँ फूँकी गयीं। जिसका अन्तिम परिणाम बताया नहीं जा सकता था ऐसे दीर्घकालीन, घोर युद्ध का आरम्भ हो गया। वैसे तो पहले आक्रमण के समय यादव और मागध सत्ताईस दिन लड़े ही थे।

अन्दर मथुरा के संरक्षण के लिए युद्ध-सज्ज यादव और बाहर प्राकार के अन्दर घुसने के लिए आक्रमण-सज्ज मागध, ऐसी स्थिति बन गयी। मागध-सेना भुशुण्डी, शतघ्नियों से बड़े-बड़े पाषाण-खण्ड और जलते पलीते प्राकार के अन्दर फेंकने लगी। अन्दर से यादव भी उनको प्रत्युत्तर देने लगे। आठ दिन बीत गये। युद्ध का कोई निर्णय नहीं हो रहा था,–होनेवाला था भी नहीं। मथुरा नगरी के बाहर शूरसेन राज्य की समस्त कृषि हाथी, ऊँट और अश्वों के पैरों-तले नष्ट होने लगी।

जरासन्ध के सशस्त्र अश्वारोही गाँव-गाँव घूमकर शूरसेन राज्य के प्रजाजनों को सताने लगे। कभी उनको पकड़कर सेना के बन्धन में भी रखने लगे। उन पर धाक जमाकर धन-धान्य, करभार उगाहने लगे। दस दिन बाद बहुत सोच-विचारकर मैंने महाराज उग्रसेन को दूरदर्शिता की एक सूचना दी। एकान्त में मैंने उनको अपना एक गुप्त निर्णय सुनाया और तत्काल राजसभा आमन्त्रित करने की सूचना दी। आज तक युद्ध के पूर्व और युद्ध-समाप्ति के पश्चात् ही इस प्रकार राजसभा आमन्त्रित की गयी थी। वह भी रात्रि के समय! युद्धकाल के बीच अचानक बुलायी गयी, सबके लिए अनपेक्षित, यह पहली ही सभा थी।

जलते पलीतों की ओर देखते हुए वृद्ध महाराज उग्रसेन ने सभा का आरम्भ किया–"हम यादवों ने आज तक शस्त्र-सज्ज और बलाढ्य मागधों के आक्रमणों का लगातार सामना किया है। भविष्य में भी करेंगे। परिस्थिति का उचित मूल्यांकन कर, निर्णय लेने की क्षमता रखनेवाला श्रीकृष्ण आज मुझे एकमात्र यादव युद्धनेता दिखाई दे रहा है। मुझे लगता है, आप सब उसका कहना मानें और उसका अनुसरण करें। श्रीकृष्ण का कहना है, युद्ध को रोक दिया जाए। यदि मागधों को यह स्वीकार न हो तो यादव उसे अपनी ओर से स्थगित कर दें।"

"इसका क्या अर्थ हुआ? सोलह बार उनको शक्तिशाली टक्कर देकर भी अब हम उनकी शरण में चले जाएँ? नहीं...यह सम्भव नहीं है।" नित्य की भाँति सात्यकि अपने स्वभाव के अनुसार उबल पड़ा। बलदाऊ, अनाधृष्टि सहित अनेक निर्भय यादवों ने उसका समर्थन किया–"ठीक कहा तुमने! हम लड़ेंगे–प्राणपण से लड़ेंगे।" लम्बी चर्चा और बड़े कोलाहल के पश्चात् सभागृह में स्पष्टत: दो पक्षों का निर्माण हुआ–एक युद्धविराम चाहनेवाला और दूसरा किसी भी मूल्य पर युद्ध लड़ते हुए जीत की आशा करनेवाला।

मैं अपने आसन पर शान्ति से बैठा मौन रहकर सब सुनता रहा। उस समय यादवों के एक जन्मजात गुणधर्म का मुझे तीव्रता से आभास हुआ। जब वे एकजुट होते हैं, तब वे अत्यन्त बलशाली, अजेय लगते हैं, दिखते हैं और होते भी हैं। किन्तु जब उनके अहंकार को चोट लगती है, उनमें फूट पड़ती है, तब उनको सँभालना किसी के भी वश में नहीं होता। तब प्रत्येक यादव एक अनियन्त्रित, उछलता हुआ स्वतन्त्र फुहारा बन जाता है। उसके रूप में अहंकार का एक ऐसा अत्युच्च मेरुदण्ड कान विचरने लगता है, जिसका न अनुमान लगाया जा सकता है, न उसे रोका

जा सकता है।

उग्रसेन महाराज ने शान्ति से आरम्भ किया। परिस्थिति पर विचार-विमर्श करने के लिए बुलायी गयी इस सभा में उल्टे-सीधे वक्तव्यों के कारण प्रचण्ड तनाव निर्मित हो गया था। समझ में नहीं आ रहा था–कौन, किससे, क्या कह रहा है! फिर भी मैं शान्त ही था–नितान्त शान्त।

अन्ततः सभा में उपस्थित सदस्यों में सबसे वृद्ध, विकद्रु नामक ज्येष्ठ यादव अपने आसन से उठ खड़े हुए। उनकी शुभ्र, घनी दाढ़ी ग्रीवा के साथ तनिक थरथरायी। दोनों हाथ ऊपर उठाकर अधिकार-वाणी में वे जोर से कड़क उठे–"शान्त हो जाइए आप सब! मैं अपनी ज्येष्ठता के अधिकार से जो कह रहा हूँ, उसे शान्ति से सुनिए।"

वृद्ध विकद्रु खाँसे, थरथराये और बोलने लगे, "क्यों यह माथापच्ची कर रहे हैं आप? व्यर्थ है यह सब! कंस के श्वशुर जरासन्ध के भड़क उठने का वास्तविक कारण पता है आपको? उसे जानने का प्रयास आप कभी करनेवाले हैं कि नहीं? उसकी आपसे शत्रुता होने का कोई कारण नहीं है, सम्बन्धी होने के कारण पहले भी कभी नहीं था। इस शत्रुता का मूल कारण है श्रीकृष्ण–केवल श्रीकृष्ण! उसके हाथों अपनी मृत्यु होगी, इस भय से–आशंका से कंस ने उस पर कई प्राणघातक वार किये। उन सबसे बचकर श्रीकृष्ण ने ही भरी सभा में कंस का वध किया। कंस का श्वसुर होने के नाते क्या जरासन्ध अपने जामाता के वध से क्रुद्ध नहीं होगा? वह केवल श्रीकृष्ण से प्रतिशोध लेना चाहता है। इसीलिए वह मथुरा पर बार-बार ससैन्य आक्रमण कर रहा है। एक नहीं–दो नहीं–सोलह बार हम पर यह आक्रमण हो चुका है। सम्राट् जरासन्ध के निरंकुश क्रोध में–उसके आक्रमणों में, कितनी बार बलि चढ़ाते रहेंगे आप हमारे युवा यादवों की?

"समस्त यादवों के हित का एक ही मार्ग मुझे सूझ रहा है। श्रीकृष्ण अभी आयु में छोटा है, किन्तु मुझे विश्वास है कि बिना क्रोधित हुए वह मेरा अभिप्राय समझ लेगा। मेरा कहना है कि श्रीकृष्ण और बलराम अब क्षण-भर भी मथुरा में न रहें।–कहीं दूर–अज्ञात देश में चले जाएँ। इससे मथुरावासियों को शान्ति मिलेगी, सुविधा मिलेगी। क्या इस कठिन समय पर एकमात्र यही उपाय आपको उचित नहीं लगता?...क्यों श्रीकृष्ण? तुम्हारा क्या कहना है?"

वृद्ध विकद्रु थरथराते, एकटक मेरी ओर देखते हुए खड़े ही रहे थे। जलते पलीतों पर झपट पड़ने से दग्ध होते पतिंगों की तड़-तड़ सबको दहलाने लगी। उस वृद्ध यादव के मर्मभेदी, अनुभवी शब्दों से सभी यादव थर्रा उठे, फिर शान्त हो गये। वे एक-दूसरे की ओर देखने लगे। जो कुछ हुआ, सबके लिए अप्रत्याशित था, अद्भुत था।

अब मेरा कुछ कहना आवश्यक हो गया था। संयोग से यह सभा उसी क्षण और उसी मोड़ पर रुक गयी थी–जहाँ मैं चाहता था। वही मेरा उद्देश्य था।

मैं शान्तिपूर्वक उठा। खचाखच भरी सभा पर मैंने सरसरी दृष्टि दौड़ायी। गोकुल की मुरली और पश्चिम सागर के शंख से नाता रखनेवाली मेरी परा वाणी फूटकर निकली–"समस्त यादवजनो, क्या वन्दनीय विकद्रु बाबा का कहना सार्थ नहीं है? यद्यपि उन्होंने जो कहा–कटु है, फिर भी वह कठोर सत्य है। क्या वृद्धों के बोल गुणकारक औषधियों जैसे नहीं होते। यादवों की वर्तमान वेदना का उन्होंने निर्भय होकर अचूक निदान किया है। जरासन्ध सबसे पहले श्रीकृष्ण का रक्त देखना चाहता है। मैं जानता हूँ, जिसके जामाता का वध मैंने किया है, वह शक्तिशाली जरासन्ध ही मेरा सर्वप्रथम शत्रु है। आज वह सामर्थ्य के अजेय शिखर पर आरूढ़ है। क्या केवल

मेरे ही कारण वह निरीह यादवों को अपनी विराट् सेना के पैरों-तले रौंद नहीं रहा है? यह उसने अथक सोलह बार किया है।

"विकद्रु बाबा का कहना उचित है। एक व्यक्ति के लिए अनेक को क्यों संकट में डाला जाए? यदि मैं यादव हूँ, तो समस्त यादवों के हित के लिए क्या मुझे अपने भले-बुरे का विचार त्यागना नहीं चाहिए?

"विकद्रु बाबा के केश भले-बुरे अनुभवों से ही पके हैं, सूर्य के ताप से नहीं। मैं नम्रतापूर्वक उनसे कहना चाहूँगा कि जो सूचना उन्होंने दी है, वही प्रस्ताव आज की सभा में रखने का अनुरोध मैंने महाराज उग्रसेन से किया था। यही कहकर कि यादवों की विपत्ति का कारण बनने की अपेक्षा मैं आज ही दाऊ सहित मथुरा छोड़कर चला जाता हूँ।

"मैं जानता हूँ, इससे भावी पीढ़ियाँ 'रणछोड़दास' कहकर मेरा उपहास करेंगी। जीवन का यह कलंक, यह अवहेलना भी मैं आनन्द से स्वीकार करूँगा। यादव जीवन-भर किसी आक्रमण के, अन्याय के दास बनें, अकारण ही मृत्यु को प्राप्त हो जाएँ, इसकी अपेक्षा किसी एक यादव का 'रणछोड़दास' बनना मुझे स्वीकार है। क्या सत्य है और क्या असत्य, यह तो महाराज उग्रसेन ही आपको बताएँगे।"

मैंने सभागृह पर दृष्टि घुमायी। मेरे मथुरा छोड़कर चले जाने के निर्णय से विचलित, व्याकुल हुए कई मुख मुझे दिखाई दिये। जब मैंने गोकुल को छोड़ा था, गोप-गोपियों के मुख भी ऐसे ही दिखाई दिये थे। मैं बैठ गया–अत्यन्त समाधानपूर्वक।

महाराज उग्रसेन कहने लगे, "हे यादवजनो, श्रीकृष्ण ने पहले ही अपना निर्णय बताकर यह सभा आमन्त्रित करने पर मुझे बाध्य किया था। मुझे लगता है, श्रीकृष्ण कोई साधारण व्यक्ति नहीं है, जिसे हम सरलता से समझ पाएँ। जितना मैं उसे समझ पाया हूँ, उसके आधार पर मथुरा का राजा होने के नाते मैं घोषित करता हूँ, आपकी अथवा अन्य किसी की इच्छा हो–न हो, श्रीकृष्ण अब मथुरा में रुकेगा नहीं, पल-भर के लिए भी! रुकना उसकी प्रकृति नहीं है। क्या जल और पवन कभी रुके हैं? कभी रुकेंगे? सूर्य-किरण कभी रुकी है? कभी रुकेगी? मैं हाथ जोड़कर उससे इतना ही अनुरोध करूँगा, जब तक मैं जीवित हूँ, वह मथुरा से अपना भाव-सम्बन्ध अखण्ड बनाये रखे।"

यादवों की विशेष रात्रि-सभा समाप्त हो गयी। उसी रात मैं और दाऊ, उद्धव, विपृथु और विशिष्ट यादव योद्धाओं सहित सुरंग के मार्ग से यमुना-तट पर पहुँच गये। एक भव्य नौका से हम दक्षिण दिशा की ओर निकल पड़े।

'कृष्ण भाग गया! मागधों से डरकर, मथुरा छोड़कर कृष्ण भाग गया।' यह समाचार गुप्तचरों द्वारा मागध सैन्य-शिविर में फैलाने को हम भूले नहीं थे। उसे सुनकर जरासन्ध हमारा पीछा किये बिना रहनेवाला नहीं था। उसके शिविर का पड़ाव उठते ही हमारे कुछ चुने हुए यादव-योद्धा हमसे आकर मिलनेवाले थे। सम्प्रति मथुरा आक्रमण-मुक्त होनेवाली थी।

हमने मथुरा छोड़ तो दी, परन्तु अब कहाँ जाएँ, यह प्रश्न हमारे सम्मुख खड़ा था। मैंने उस पर पहले ही सोच रखा था। गुप्तचरों की सूचना के अनुसार दक्षिण में हमारे आप्त यादवों के चार राज्य थे। ये राज्य हमारे आदिपुरुष महाराज यदु को चार नागकन्याओं से प्राप्त चार पुत्रों ने स्थापित किये थे। एक था नर्मदा-तट पर बसाया माहिष्मती राज्य। यह राज्य मुचकुन्द ने दक्षिण ऋक्षवान

पर्वत के समीप बसाया था।

दूसरा राज्य पद्मावत महाबलीश्वरम् के पास था। यदुपुत्र पद्मवर्ण ने उसे सह्याद्रि के पठार पर वेण्णा नदी के तट पर बसाया था। पंचगंगा नदी के तट पर बसी करवीर नामक वेदकालीन विख्यात नगरी भी इस राज्य के अन्तर्गत थी। उस पर शृगाल नामक नागवंशीय माण्डलिक राजा का आधिपत्य था। करवीर नगरी को दक्षिण काशी माना जाता था।

उसके दक्षिण में यदुपुत्र सारस का स्थापित किया गया तीसरा राज्य था—क्रौंचपुर। वहाँ की भूमि लाल मिट्टी की और उर्वरा थी। इस राज्य को 'वनवासी' राज्य भी कहा जाता था।

चौथा राज्य यदुपुत्र हरित ने पश्चिम सागर-तट पर बसाया था। वहाँ के निष्णात मछुआरे सागर में डुबकियाँ लगाने में प्रवीण थे। बड़ी कुशलता से वे सागर के उदर से मोतियुक्त सीपियाँ, शंख, प्रवाल निकाला करते थे।

इन चारों राज्यों में अमात्य विपृथु ने पहले ही दूतों द्वारा सन्देश भिजवाये थे। पद्मावत राज्य में वेण्णा नदी के तट पर भगवान परशुराम निवास किये हुए हैं, यह समाचार मेरी दृष्टि में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था।

महेन्द्र पर्वत से—अर्थात् पूर्व समुद्र से वे नौकाओं में से अपने अनेक शिष्यों सहित पद्मावत राज्य में आये थे।

'परशुराम!' पिछले कई वर्षों से समस्त आर्यावर्त पर 'परशुराम' के नाम का आदरपूर्ण बड़ा दबदबा था। हाथ में परशु, वैसी ही धारदार बुद्धि, वृत्ति, पराक्रम और दृष्टि थी भगवान परशुराम की! सम्पूर्ण आर्यावर्त में मन्त्र सहित ब्रह्मास्त्र विद्या देने की क्षमता रखनेवाले इने-गिने पुरुषश्रेष्ठों में परशुराम प्रमुख थे। उनके शिष्य आर्यावर्त में सर्वत्र फैले हुए थे—उनके आश्रम भी।

दाऊ से विचार-विमर्श कर मैंने निर्णय किया कि पहले हम भगवान परशुराम के दर्शन करें। हमें तनिक भी कल्पना नहीं थी कि उसके लिए हमें कितनी नदियों को और अरण्यों को लाँघना पड़ेगा। मथुरा छोड़ते समय हीरे, माणिक, मोती, रत्न, स्वर्ण आदि विपुल सम्पत्ति साथ लेना हम भूले नहीं थे। मथुरा में रहे सेनापति सात्यकि को हमने सतर्क रहने की अनेक सूचनाएँ दी थीं। जरासन्ध की सेनाओं का पड़ाव उठते ही मथुरा से निकलकर कुछ चुने हुए शूर यादव-योद्धाओं सहित वह गोमन्त पर्वत के पास हमसे मिलनेवाला था।

इस दक्षिण यात्रा में तीन महीने पश्चात् हमारे सम्मुख सबसे बड़ी चुनौती खड़ी हो गयी। वह थी दण्डकारण्य की—विन्ध्य, सतपुड़ा और पारियात्र पर्वत-श्रेणियों की!

गोकुल में अथवा मथुरा में जहाँ भी दृष्टि डालें, जलमय यमुना-ही-यमुना दिखा करती थी। वैसे ही यहाँ, जहाँ भी दृष्टि घुमाएँ, अरण्य-ही-अरण्य दिख रहा था। इस अरण्य को पार करने के लिए एक ही सँकरा मार्ग था—'दक्षिणापथ' नाम से। उसके चकमा देनेवाले मोड़ों का चप्पा-चप्पा जिसे पता था, ऐसे अनुभवी वनवासी मुखिया को हमने अपने साथ ले लिया। दारुक द्वारा अपनी अश्वपारखी दृष्टि से चुनकर क्रय किये गये विशालकाय, हट्टे-कट्टे अश्व हमारे साथ थे।

भिन्न-भिन्न विकराल हिंस्त्र श्वापदों की गर्जनाओं से गूँजती, विविध पक्षियों के कलरव से और फड़फड़ाहट से निनादित होती वह अरण्य पंक्ति थी। यह निविड़ दण्डकारण्य दिन-दहाड़े सूर्य-किरणों को धरती का स्पर्श नहीं करने देता था। दक्षिणापथ के सँकरे मार्ग से उसे पार करने हेतु

हमने उस पथ पर पाँव रखा।

'दक्षिणापथ'! कितना सँकरा था यह मार्ग? केवल एक अश्वारोही अश्व की वल्गा थामकर एक-एक पग बढ़ सकता था—वह भी मार्ग में आनेवाली कँटीली वनलताओं को काटकर मार्ग से हटाते हुए, अत्यन्त प्रयासपूर्वक। अपने अश्वारोहियों की पंक्ति को अपने पीछे-पीछे लिये हुए हम उस पथ पर चलने लगे। मैंने दाऊ से पूछा—"दाऊ, क्या आप जानते हैं, हमसे पहले किस आर्य ने दण्डकारण्य को पार किया था?"

"हाँ—गुरुदेव सान्दीपनि ने बताया था एक बार। अयोध्या के रघुकुलोत्पन्न दशरथपुत्र श्रीराम थे वह आर्य पुरुष। वचनपूर्ति के लिए उन्होंने पत्नी सीता और भ्राता लक्ष्मण के साथ ही इसी दक्षिणापथ से दण्डकारण्य पार किया था। गोदावरी के तट पर, जनस्थान की पंचवटी में उन्होंने विश्राम किया था। अब युगों पश्चात् हम चान्द्रवंशीय उसे पार करनेवाले हैं।" दाऊ ने अचूक उत्तर दिया।

"इस दण्डकारण्य के उस पार जैसे हमारे कुछ यादव राज्य हैं, वैसे ही विदर्भ, अश्मक, कुन्तल, वनवासी, मलय और पाण्ड्य—से राज्य भी हैं। सुसंस्कृत द्रविड वंशियों के हैं ये राज्य। जिन भगवान परशुराम से मिलने हम जा रहे हैं, वे पूर्व समुद्र के मार्ग से पद्मावत राज्य में आये हैं।" मैंने दाऊ को सविस्तार बताया।

"छोटे, इस घने अरण्य में रात्रि हुई है कि नहीं, यह हम कैसे जान पाएँगे? रात्रि में पड़ाव कहाँ और कैसे डालेंगे? हमारी यह यात्रा कितने दिन चलेगी?" सदैव निश्चिन्त रहनेवाले दाऊ ने एक के बाद एक शंकाएँ खड़ी कीं।

मैं मुस्कराया। कुछ अलग ही दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए उन्होंने कहा, "कन्हैया, तुम्हारी यह हँसी एकदम भिन्न—रहस्यमय-सी है। परिहास मत करो, सच कहो। इस घने अरण्य से बाहर निकलने के लिए वास्तव में इस पथ का कोई दूसरा छोर भी है?"

दाऊ के कन्धे पर अतीव प्रेम से हाथ रखकर हँसते हुए मैंने कहा, "दाऊ, हे हलधर, चिन्ता मत कीजिए। दिन में भी अस्पष्ट सुनाई देती झींगुरों की ध्वनि बढ़ जाने पर हम रात्रि का अनुमान लगा पाएँगे। तब पक्षियों का कलरव भी बन्द हुआ होगा। हिंस्त्र पशुओं की गर्जनाएँ रात्रि में इस पथ को थर्रा डालेंगी।

"परशुओं से कँटीली वनलताएँ काटकर, उस स्थान को स्वच्छ कर, पड़ाव डालने के लिए छोटी-छोटी रावटियाँ खड़ी करनी पड़ेंगी। उनके चारों ओर खाई खोदकर उसमें रात-भर आग जलानी पड़ेगी। उस अग्नि के कारण हिंस्त्र पशु हमारे आसपास भी नहीं आ पाएँगे। उस अग्नि के कारण दावानल भड़क न उठे, इस हेतु अग्नि से उठती चिनगारियों पर ध्यान देना पड़ेगा। रात्रि में हर-एक को निद्रा प्राप्त हो, इसलिए बारी-बारी से प्रहरियों को बदलना होगा, रात-भर अपनी बस्ती को जागता रखना होगा। ऐसे कई पड़ाव डालने पड़ेंगे दण्डकारण्य में।

"प्रत्यूषा में दण्डकारण्य के आकाश में उदित होनेवाले सूर्य के जन्मजात आकर्षण से सबसे पहले काक काँय-काँय कर उठेंगे। उनके बाद कुक्कुट बोलने लगेंगे। तत्पश्चात् सारा पक्षी-जगत् जाग उठेगा। अपना पड़ाव उठाकर और धूनियाँ बुझाकर हमें अपनी यात्रा आरम्भ करनी होगी। हमें अपनी भोजन की कच्ची सामग्री का उपयोग मितव्ययिता से करना होगा। एक महीने बाद हम इस निसर्ग-निर्मित प्रचण्ड, निविड़ अरण्य को पार कर पाएँगे और आँख-भर सूर्य-दर्शन कर

सकेंगे। खुली हवा में आते ही, अचानक होनेवाले सूर्य-दर्शन के कारण हमें कुछ खोया-खोया-सा लगेगा।"

यह कठिन यात्रा हमने एक-दूसरे को सँभालते हुए निश्चयपूर्वक पूरी की। एक महीने बाद अश्वों सहित हमने अरण्य को पार किया।

समीपवर्ती विदर्भ राज्य की सीमा पर गोदावरी नदी पार कर हम अश्मक राज्य में आ गये। श्रीराम ने जहाँ निवास किया था, उस कुन्तल राज्य के जनस्थान पर्वत–नासिक परिसर को अपनी दायीं ओर रखते हुए, भीमा नदी को पार कर हम पद्मावत राज्य की सीमा पर आ गये।

महाबलीश्वरम् के समीप वेण्णा नदी के तट पर अरण्य में स्थित भगवान परशुराम का भृगु आश्रम अब निकट था। अपने आगमन की सूचना देने हेतु मैंने एक अग्रदूत को उनके पास भेजा। एक दिन हमने सीमा पर ही विश्राम किया। मैं और दाऊ प्रत्यूषा में ही अपने विशिष्ट साथियों सहित भृगु परशुराम से मिलने हेतु निकले।

सबसे पहले कृष्णा और कोयना के संगम में स्नान कर, करहाटक तीर्थक्षेत्र को पार कर हम वेण्णा नदी के परिसर में आ गये। हमारे स्वागत के लिए परशुराम द्वारा भेजे गये, कन्धों पर चमकते हुए परशु लिये दो जटाधारी शिष्य आ गये थे। उनके साथ हम भृगु-आश्रम की ओर चल पड़े।

पिछले डेढ़ महीने से मैंने अपने मन में भगवान परशुराम का जो चित्र बनाया था, उसे पोंछते हुए प्रत्यक्ष जमदग्नि-पुत्र परशुराम हँसते हुए, भुजाएँ फैलाकर आश्रम के प्रवेशद्वार पर खड़े थे। मैं तो स्तम्भित हो गया। जिस प्रकार आचार्य सान्दीपनि को देखते ही मैं उनकी ओर खिंचा चला गया था, उसी प्रकार भृगुश्रेष्ठ को देखते ही मैं उनकी ओर खिंचा चला गया! दाऊ को साथ लिये मैं शीघ्र पग बढ़ाता हुआ उनकी ओर अग्रसर हुआ। आश्रम के प्रवेशद्वार पर ही मैंने उनको आदर सहित दण्डवत् किया, दाऊ ने भी किया।

झट से मुझे ऊपर उठाकर प्रगाढ़ आलिंगन में लेते हुए भृगुश्रेष्ट ने आशीर्वाद दिया–"जयोऽस्तु यादवश्रेष्ठ!" दाऊ को भी उन्होंने आशीर्वाद दिया। दाऊ के पहले उन्होंने मुझे आलिंगन में लिया था, इसकी मुझे विशेष प्रतीति हुई।

गोकुल में यमुना के प्रति मेरा अनामिक आकर्षण उसके दर्शन होते ही शान्त हुआ करता था। मथुरा छोड़ते समय मेरे मन में भृगुश्रेष्ट परशुराम के प्रति निर्मित हुआ आकर्षण, जिसे केवल मैं ही समझ सकता था, उनके प्रत्यक्ष दर्शन से ही शान्त हुआ।

हिम-धवल वर्ण की घनी दाढ़ी थी उनकी। उन्होंने शुभ्र उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किया हुआ था। मस्तक पर रुद्राक्षमालाओं से बँधा घुमावदार जटाभार था। वृद्ध होते हुए भी उनका मुखमण्डल तेजस्वी और आँखें प्रशान्त थीं। मन्द-मन्द मुस्कराते हुए उन्होंने कहा, "वत्स, तुम्हारे आगमन से इस धरती का उद्धार हुआ है। मैं जानता हूँ, तुम वस्तुत: कौन हो! आश्रम में चलो। पहले कुछ फलाहार, विश्राम करो, फिर देखेंगे।" उनके बोल पाषाण-खण्ड से टकरानेवाले परशु की ध्वनि की भाँति खनखनाते, दानेदार और प्रणवनाद की भाँति मधुर थे।

वे अपनी आचार्य-कुटी की ओर धीरे-धीरे चलने लगे, उनके पीछे-पीछे उनके शिष्यगण। उनके कन्धों पर धारण किये सैकड़ों परशु सूर्य-किरणों में चमक उठे। हम सब चलने लगे–मृगुश्रेष्ठ के पीछे-पीछे, खिंचते हुए-से।

विश्राम के पश्चात् भृगुश्रेष्ट परशुराम ने अत्यन्त आत्मीयता के साथ हमारी यात्रा के विषय में पूछताछ की। यादवों का मस्तकशूल बने जरासन्ध के आक्रमणों के संकट को मैंने उनके समक्ष विस्तार से प्रस्तुत किया।

मेरी यात्रा का वृत्तान्त सुनकर, जरासन्ध की समस्या ध्यान में आते ही वे सोच में पड़ गये। कुछ क्षण आँखें बन्द की और आत्मलीन हो गये। फिर उन्होंने कहा, "यादवश्रेष्ठ श्रीकृष्ण! जरासन्ध सम्राटों का सम्राट् क्यों न हो, तुम्हारे आगे वह कुछ भी नहीं है। मथुरा छोड़ने का तुम्हारा निर्णय उचित ही है। इसके लिए यादवों द्वारा स्वीकृत कारण भी तुमने बताया कि एक यादव के लिए समस्त यादववंशियों को क्यों संकट में डाला जाए? किन्तु मैं जानता हूँ, तुमने मथुरा क्यों छोड़ी है?

"मथुरा में ही नहीं, तुम कहीं भी एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सकते। तुम चक्रवर्ती हो–सदैव भ्रमण करते रहनेवाले। जहाँ भी तुम्हारे पाँव पड़ेंगे, उस भूमि का उद्धार होगा। अत: तुम निरन्तर भ्रमण करते ही रहोगे, रहो भी! किन्तु तुम जहाँ भी रहोगे, जरासन्ध तुम्हें ढूँढ़ता हुआ आएगा। इसलिए मेरा कहना हैं कि अब तुम अपने साथियों सहित नैसर्गिक संरक्षण प्राप्त गोमन्त पर्वत पर चले जाओ। यादव-सेना का साथ मिलते ही तुम जरासन्ध का घमण्ड चूर-चूर कर दो। गोमन्त विजय के पश्चात् तुम्हें पुन: मुझसे मिलने आना है। तुम्हारे लिए मैंने एक अनमोल, अपूर्व उपहार वर्षों से सँभाल रखा है। अपने हाथों से उसे तुम्हें सौंपकर मैं मुक्त हो जाऊँगा। अन्य किसी को मैं वह दे नहीं सकता।"

अब तक केवल हमारी चर्चा सुनते रहे और भृगुश्रेष्ठ की दूरदर्शिता से चौंधिया-से गये दाऊ का संकोच कुछ कम हुआ। वे धैर्यपूर्वक बोले, "भगवन्, यह तो छोटे मुँह बड़ी बात होगी–क्षमा करें–पूछूँ कि न पूछूँ इस सम्भ्रम में पड़ा हुआ हूँ मैं। अनुमति हो तो..." हाथ जोड़कर दाऊ भृगुश्रेष्ट के आगे नतमस्तक हो गये। उनका यह रूप सर्वथा अलग ही था। तात और माता के आगे भी मैंने उनको कभी इस प्रकार नम्र होते नहीं देखा था।

"नि:शंक होकर पूछो बलराम।" भृगुतेज ने मुस्कराते हुए शान्तिपूर्वक कहा।

"भगवन्, आपके कन्धे पर सदैव दमकता परशु इस बार आपके कन्धे पर दिखाई नहीं दे रहा है। क्या क्षत्रिय-दमन करने की आपकी प्रतिज्ञा में कोई परिवर्तन आया है? कुछ लोगों के कहने के अनुसार महाराज यदु के समय से हमारे क्षत्रियत्व का लोप हुआ है?" दाऊ द्वारा कन्धे पर उतारकर नीचे रखे सुनहरे फलवाले हल की ओर देखकर परशुराम क्षण-भर मुसकराये। फिर उन्होंने कहा, "इसका समुचित उत्तर मैं नहीं, तुम्हारा भ्राता श्रीकृष्ण ही देगा।" उन्होंने शान्त दृष्टि से हेतुत: मेरी ओर देखा। मेरी ओर उनकी दृष्टि मिलते ही हम दोनों मुस्कराये–एक ही लय में, एक ही भाव से!

जो उत्तर भृगुश्रेष्ट ने दिया होता, वही उत्तर मैंने दाऊ और अपने यादवों को लक्ष्य करके दिया–"हे भार्गवो और यादवजनो, परशु एक प्रतीक है–बुद्धि में फैले अनावश्यक तृण को, खरपतवार को काट फेंकनेवाला! भगवान की कभी भी क्षत्रियों से शत्रुता नहीं थी। क्षत्रियत्व के नाम पर उन्मत्त एवं बलान्ध हुई जो अविचारी शक्तियाँ जीवन के मूलभूत लक्षणों–वृद्धि और विकास में बाधा डाल रही थीं, उनसे थी भृगुश्रेष्ठ की शत्रुता! आवश्यक कार्य पूर्ण होते ही उन्होंने परशु को कन्धे से उतारकर नीचे रख दिया। उनके शिष्यों ने उसी प्रतीक के रूप में परशु को

कन्धे पर धारण किया है। दाऊ, जब आपका कार्य पूरा होगा, आप भी हल को कन्धे से उतारकर रख देंगे; फिर भी वह सदैव आपके नाम से चिपका रहेगा–भविष्य में जग आपको 'हलधर' के नाम से ही जानेगा।

"यदि आप क्षत्रियत्व के बारे में कहना चाहते हैं, तो क्षत्रियत्व जन्म पर नहीं पराक्रम पर निर्भर करता है। मुझे लगता है, इसीलिए भगवान ने हमें संकेतात्मक आशीर्वाद दिया है। इसीलिए अपना उपहार उन्होंने मेरे लिए सँभालकर रखा है।"

"ठीक कहा तुमने! मैं जानता था कि तुम अचूक रूप से यही कहोगे। हे श्रीकृष्ण-बलराम, मैं तुम्हें मनःपूर्वक आशीर्वाद देता हूँ–'कृष्ण-राम की जय होऽ...जय होऽऽ!"

दायीं ओर से मुझे और बायीं ओर से दाऊ को वक्ष से लगाते हुए भृगुश्रेष्ठ ने प्रेमपूर्वक हम दोनों के कन्धे थपथपाये। कितनी आश्वासक ऊष्मा थी उनके स्पर्श में! वेण्णा-तट पर भृगु-आश्रम में दो दिन आस्थापूर्ण आतिथ्य स्वीकार कर हम गोमन्त पर्वत की ओर चल पड़े।

कृष्णा नदी पार कर कोयना-घाटी से हम शूर्पारक के भृगु-आश्रम के पास आ गये। उसे देखते हुए हम गोमन्तक राज्य की सीमा पर गोमन्त पर्वत की पादभूमि में पहुँत गये।

गोमन्त! हमारे आज तक लाँघे सभी पर्वतों में अधिक घने अरण्योंवाला था यह पर्वत! खड़ी रेखा में दूर-दूर तक फैला हुआ–ऊँचा और दुर्लंघ्य। इसकी पादभूमि में कई योजनों तक ऊँचे, घने और मोटे पर्णोंवाले सागवान-वृक्षों के सघन वन फैले हुए थे। उनके पीछे क्रमश: ऊँचे-ऊँचे होते गये, दूर तक फैले इस पर्वत पर जामुन, आम, ऐन, खैर, अंजन, सीसम, कांचन आदि वृक्षों के घने वन फैले हुए थे। मात्र पर्वत के शिखर पर समतल भूमि दिख रही थी। वह भाग भी घनी हरियाली और विरल पेड़-पौधों से भरपूर था। वहाँ से पश्चिम में कदम्ब वंश के गोमन्तक राज्य का कुछ भाग स्पष्ट दिखाई देता था।

इस समतल भूमि पर एक ऊँचा, विशाल, सीसम वर्ण का शिलाखण्ड था। उस पर खड़े होकर देखने से गोमन्तक के उस ओर फैले पश्चिम सागर की लपलपाती जलरेखा, अस्त होते सूर्य-किरणों में चमकती हुई धुँधली-सी दिखाई पड़ती थी। मैं और दाऊ अपने विशिष्ट साथियों सहित गोमन्त के घने अरण्य में घुस गये। सन्ध्या समय तक हम पर्वत-शिखर पर पहुँच गये। वहाँ पहुँचते ही हमारे सैनिकों ने परशु, कुल्हाड़ी, हँसिया चलाकर लकड़ियाँ इकट्ठा कीं और पर्वत-शिखर की समतल भूमि पर टिकाऊ पर्णकुटियाँ खड़ी कर दीं। उस दिन उस ऊँचे शिलाखण्ड पर चढ़कर, आँखों पर हाथ की छाया करते हुए मैंने सुदूर दिखती पश्चिम सागर की रुपहली जलरेखा को आँख भरकर देखा। निकट ही खड़े दाऊ से मैंने कहा, "मेरी समझ में नहीं आता दाऊ, जब हम गोकुल में थे, मुझे सदैव यमुना का आकर्षण रहता था। शंखासुर के निमित्त जब से मैंने इस पश्चिम सागर को देखा है, तब से मेरे भीतर इसके प्रति इतना आकर्षण क्यों हुआ है?"

एक बार सुदूर दिखती जलरेखा की ओर, और एक बार मेरी आँखों की ओर देखते हुए दाऊ ने कहा, "तुम्हें लहराते जल के सागर का आकर्षण है और हम जैसों को तुम्हारी पानीदार आँखों का! कहाँ मथुरा और कहाँ यह गोमन्त पर्वत? छोटे, कहाँ-से-कहाँ आ गये हैं हम?"

देर तक हम उस शिलाखण्ड पर सुख-दुःख की बातें करते रहे। मेरी अन्वेषक दृष्टि सन्धि-प्रकाश में गोमन्त पर्वत के परिसर पर घूमती रही।

गुप्तचरों से प्राप्त दक्षिण देश की जानकारी मैं दाऊ को देने लगा। पूर्व की ओर अँगुली से

निर्देश करते हुए मैंने कहा, "सामने जो दिख रहा है, वह है वनवासी राज्य। उसके नीचे दक्षिण में पाण्ड्य और मलय राज्य हैं। जहाँ यह आर्यभूमि समाप्त होती है, वहाँ कुमारी नाम का भूशिर है। दाहिनी ओर से आता पश्चिम सागर, पूर्व से आता पूर्व सागर और इन दोनों से बड़ा, इनसे आड़ा मिलनेवाला दक्षिण सागर भी है।"

पशु-पक्षियों से भरे, नयनाभिराम गोमन्त पर हमारे दिन आनन्द से व्यतीत होने लगे। मैंने और दाऊ ने एक सप्ताह-भर घूम-घूमकर जितना देख सकते थे, गोमन्त पर्वत को देख लिया। पर्वत से नीचे उतरने के लिए जहाँ-जहाँ स्थान था, उन ढलानों को भी हमने देखा–ध्यान में रखा।

यहाँ के विविध रसपूर्ण फलों, खनिजयुक्त जल और शीतल, मन्द पश्चिम पवन के कारण मुझे और दाऊ को तो इस पर्वत से प्रेम ही हो गया! आनन्द-भरे वे दिन पर्वत पर कब उदित होते थे और कब अस्त होते थे, पता ही नहीं चलता था हमें!

हमारे अग्रदूतों के दिये सन्देश के अनुसार, जैसे-जैसे माहिष्मती, पद्मावत, वनवासी और हरित–इन यादव-राज्यों से सशस्त्र चतुरंग दल सेनाएँ गोमन्त पर्वत पर आने लगीं, हमारा आनन्द बढ़ता ही गया। महारथी, आजानुबाहु, सेनापति सात्यकि जब सेना सहित हमसे आ मिला, तब तो उसकी पराकाष्ठा हो गयी! गोमन्त पर्वत पर अब जहाँ भी अवकाश मिला, यादव-सेना का पड़ाव डाला गया। पर्वत की पादभूमि से शिखर के समतल मंच तक, हमारे सशस्त्र दूत पूरे गोमन्त पर्वत की सभी गतिविधियों की सूक्ष्म सूचनाएँ हमें देने लगे। पर्वत को अब तक एक विशाल सैन्य-शिविर का रूप प्राप्त हो गया था।

दण्डकारण्य पार करते हुए, भृगुश्रेष्ठ परशुराम से मिलकर जब से हम गोमन्त पर्वत पर आये हैं, तब से ही मेरे मन के वन में आशंका के काक-पक्षी की काँव-काँव निरन्तर सुनाई देने लगी है–'यहाँ कुछ-न-कुछ अवश्य घटित होनेवाला है! अगली पीढ़ियों को सदैव स्मरण रखने योग्य जैसा कोई नाटक यहाँ अवश्य रंग लाएगा!...'

रह-रहकर मेरी आँखों के आगे आ रही है एक आकृति! मेरी प्रिय मथुरा को लगातार सशस्त्र आक्रमणों द्वारा निर्दयता से कुचल डालनेवाले मदान्ध जरासन्ध की आकृति है वह। उसके पीछे-पीछे उसके अधीन शिशुपाल जैसे उसके हितकर्ता मित्रों की आकृतियाँ। प्रतिदिन पर्वत शिखर मंच के शिलाखण्ड पर चढ़कर अस्त होती सूर्य-किरणों में चमकती सागर की रुपहली जलरेखा को देखते हुए मेरा मन एक ही ताल बजाने लगा है–'जरासन्ध...जरासन्ध! वह रुकनेवाला नहीं है, दण्डकारण्य पार करके वह अवश्य हम पर टूट पड़ेगा।'

वैसा ही हुआ! हमें यहाँ आये एक महीना हो रहा था कि एक दिन उदित होते सूर्य-बिम्ब के साथ ही पर्वत की पादभूमि से उठी दुन्दुभि, नगाड़ों, रणभेरियों की सम्मिश्र तुमुल ध्वनि गोमन्त के घने अरण्यों से आ टकरायी। चढ़ते सूर्य के साथ वह रण-कोलाहल भी चढ़ता गया। कई रणवाद्यों की गगनभेदी ध्वनि के कारण सदैव आनन्द से चहचहाते पक्षियों में से कुछ भयभीत होकर और भी जोर से चहचहाते हुए उड़कर कहीं दूर चले गये। कुछ भय के मारे अपने-अपने नीड़ों में सिमटकर बैठ गये।

मैं, दाऊ, सात्यकि, दक्षिण देश के अन्य यादव-राज्यों के सेनापति–हम सभी उस ऊँचे विशाल शिलाखण्ड पर चढ़ गये। वक्ष पर धारण किये लौहत्राण के ऊपर झूलती वैजयन्तीमाला पर हाथ फिराता हुआ मैं पर्वत की पादभूमि का निरीक्षण करने लगा। वहाँ चतुरंगदल मागध-सेना का

सागर लहरा रहा था, कोलाहल कर रहा था। सर्वत्र मागधों के त्रिकोणी, सिन्दूरिया रंग की ध्वजाओं की पंक्तियाँ-ही-पंक्तियाँ फैली हुई थीं। उनके पीछे चेदिराज की ध्वजाओं की पंक्तियाँ थीं।

अभिप्राय स्पष्ट था–प्रतिशोध विवेक की सीमा को लाँघ गया था। जरासन्ध ने मेरे लिए मथुरा पर किये सत्रहवें आक्रमण को दक्षिण दिशा में–गोमन्त तक फैलाया था। जामाता कंस के वध के कारण मुझ पर उसका क्रोध प्रतिदिन बढ़ता हुआ अब चरम सीमा को पहुँच गया था। चेदिराज शिशुपाल सहित वह मेरे पीछे पड़ा था। यहाँ आकर सीधे गोमन्त पर्वत से भिड़ गया था! उसके साथ अपनी-अपनी सेना सहित आये कलिंगराज श्रुतायु, काश्मीरनरेश गोनर्द, किन्नरराज द्रुम, मालवराज सूर्याक्ष, वेणुदारि, छागली, सोमक आदि राजा भी थे।

अब हमारी चीते जैसी चपल गतिविधियाँ आरम्भ हो गयीं। पहले मैंने पर्वत की पादभूमि में सागवान-वृक्षों के वन में बिखरे अपने सैनिकों को पर्वत के ऊपर बुलवा लिया। मैंने अपनी सेना को पर्वत की रचना के अनुकूल विभाजित किया। संरक्षण का पक्का पैंतरा बदला। संयम और शान्ति किस चिड़िया का नाम है, जरासन्ध के मागधों को इसका पता ही नहीं था। वे सीधे सागवान के वन में घुसने लगे। घात में बैठी हमारी यादव-सेना ने उनका कड़ा प्रतिकार किया और उनको मृत्यु के घाट उतार दिया। इससे वन में घुसने का प्रयास करनेवाला मागधों का दूसरा दल पीछे हटा। और भागने लगा। किन्तु इससे समाप्त न होनेवाले एक दीर्घकालीन युद्ध का आरम्भ हुआ।

जरासन्ध और शिशुपाल प्रतिदिन सैनिकों की नयी टुकड़ियाँ उस घने वन में हमारे सैनिकों पर आक्रमण करने के लिए भेजने लगे। उनमें से कई सैनिक तो आवश्यक विश्राम के अभाव में अकारण ही गिर पड़ने के कारण आहत होने लगे। नाटक का यह पूर्वरंग चार दिनों तक चलता रहा। गोमन्त के आधे विस्तार पर हम यादव फैले हुए थे। उसकी पादभूमि में जरासन्ध, शिशुपाल के अनगिनत सैनिक थे। –और हमारे बीच में था घना अरण्य। युद्ध का यह दृश्य शत्रुओं को पर्वत के अरण्य में तिल-भर भी घुसने न देते हुए तटस्थ ही बना रहा।

मथुरा के काले को अपनी पकड़ में लेने के लिए जरासन्ध उतावला हो गया था। दाँत पीसते हुए 'काले' को गदा के प्रहारों से चकनाचूर कर देने के सपने देखनेवाले जरासन्ध की आक्रामकता में बाधा पड़ गयी। कवचधारी जरासन्ध प्रतिदिन अपनी सेना में भ्रमण कर रहा था। हताश होकर वह अपनी ग्रीवा ऊपर उठाकर पर्वत-शिखर की ओर देखता था। विवश होकर क्रोध से वह अपने सेनाधिकारियों पर बरस पड़ता था।...

मुझे और दाऊ को गोमन्त पर्वत से बाहर खींचने के लिए उसने गोमन्त पर्वत में ही आग लगा देने का निर्णय किया। उसने अपने अश्व और गजदलों को पीछे हटाया। जलते पलीते लिये, शिरस्त्राणधारी, कवच धारण करनेवाले पदाति दलों को उसने पर्वत की पादभूमि के चतुर्दिक् फैल जाने की आज्ञा दी। आग उगलनेवाली कौन-सी चाल वह चलनेवाला है, यह मैं जान गया।

मैंने और दाऊ ने अपने सैनिकों को आदेश दिये–पर्वत छोड़कर, जहाँ भी स्थान मिले, वहाँ से पर्वत की पश्चिम पादभूमि में एकत्रित हो जाएँ।

मागध-सैनिकों के जलते पलीते छुआते ही धरती पर पड़े सूखे पत्ते क्षण-भर में ही कर्पूर की भाँति धड़ाधड़ जलने लगे। आनन-फानन में ही अग्नि की लपलपाती ज्वालाओं ने गोमन्त पर्वत की पूरी पादभूमि को अपनी लपेट में ले लिया। बहती पवन के साथ आकाश की ओर उड़ान

भरनेवाली अग्नि की प्रचण्ड लपटों ने हाहाकार मचा दिया! बाघ, चीते, हाथी, पक्षी, नाग, अजगर आदि प्राणी अग्नि में झुलस गये। सागवान, ऐन, अंजन, कांचन, खैर, जामुन आदि ऊँचे-ऊँचे वृक्ष जलकर गिरने से घोर सम्मिश्र कड़कड़ाहट की ध्वनि होने लगी। जैसे ही गोमन्त का जलता घना अरण्य भव्य अग्निकुण्ड का भयावह रूप धारण कर दहकने लगा, जलती राख के उष्ण कण वायु के झोंकों पर सर्वत्र बिखरने लगे।

जलते गोमन्त पर्वत की आँच जब असहनीय हो गयी तो जरासन्ध के सैनिक सिटपिटाकर अर्ध योजन तक पीछे हट गये। जरासन्ध और शिशुपाल ने तो आनन्दविभोर होकर अपने शिविर में मैरेयक मद्य के कुम्भ-के-कुम्भ पीकर आनन्दोत्सव मनाना आरम्भ किया। उन्होंने तो सोचा था–जैसे भट्टी की तपती राख में शकरकन्द को भूना जाता है, वैसे ही कृष्ण-बलराम गोमन्त के जलते भट्टे में भुन गये होंगे!

यहाँ समस्त यादव-सैनिकों को पर्वत की पश्चिम दिशा से सुरक्षित बाहर निकालकर मैं और दाऊ भी कब के पर्वत को छोड़ चुके थे। धनुष से निकला बाण अपने लक्ष्य पर पहुँचकर ही रुकता है, उसी प्रकार गोमन्त पर्वत की यह दावाग्नि समय आने पर अपने-आप ही बुझनेवाली थी। उसे जलाना जरासन्ध के हाथ में था, किन्तु उसे बुझाना उसके हाथ में नहीं था और न दाऊ के, न मेरे!

एक ओर से वनवासी राज्य के और दूसरी ओर से गोमन्तक राज्य के परिसर को प्रकाशित कर देनेवाली इस दावाग्नि को साक्षी रख हमारी सेना ने दक्षिण देश की सेना से हाथ मिलाया। इस सम्मिलित सेना ने पूरे पर्वत की परिक्रमा करते हुए मद्योन्मत्त, असावधान जरासन्ध और शिशुपाल पर अचानक एक शक्तिशाली आक्रमण कर दिया। मागध और चेदियों के शस्त्र सँभालने के पहले ही युद्ध का आरम्भ हुआ। रणवाद्यों के तुमुल नाद के साथ हमारी सेना द्वारा किये गये इस बलशाली आक्रमण से, दावानल की आँच से चौंधिया गयी शत्रुसेना हड़बड़ा गयी।

मागध धैर्यशाली, युद्ध में निष्णात, पराक्रमी और संख्या में बहुत अधिक थे। फिर भी अपने शूर सैनिकों को उत्साहित करते हुए, हाथी पर हौदे में बैठकर मैं और दाऊ शत्रु पर टूट पड़े। दाऊ का पहला ही सामना हुआ राजा दरद से। शीघ्र ही दाऊ ने अपने संवर्तक हल से दरद को रथ से नीचे खींच लिया और सौनन्द मूसल के एक ही प्रबल प्रहार से उसका वध कर डाला।

इसके पहले कभी जो घटित नहीं हुआ था, वह आज हो गया। आर्यावर्त में अपने पराक्रम का आतंक उत्पन्न करनेवाला सम्राट् जरासन्ध पीछे हट गया और भागने लगा! उसकी चतुरंगिनी सेना भी उसके पीछे-पीछे भाग खड़ी हुई। मेरी सैनिकी प्रतिचाल सफल हो गयी। अब हमारी उत्साहित सेना मागधों का पीछा करने लगी। सौनन्द मूसल हाथ में लिये मैं और संवर्तक हल लिये दाऊ रथ पर आरूढ़ होकर अपनी सेना का नेतृत्व करने लगे। आगे मागध-चेदि और उनके पीछे यादव। यह खेल सन्ध्या होने तक चलता रहा। अन्तत: उनको वनवासी राज्य की सीमा से बाहर भगाकर ही हम लौट आये।

जरासन्ध और शिशुपाल ने जहाँ पड़ाव डाला था, वहीं हमने भी अपना पड़ाव डाला। पर्वत जल ही रहा था। दिन के प्रकाश की भाँति प्रतीत होते उसके उजाले में हमारे सैनिकों ने नये शिविर लगाये। रात्रि का भोजन पकाया। पिछले कई दिनों से युद्ध करते और आज मागधों का पीछा करते हुए श्रान्त होने के कारण हमारे सैनिक शिविरों के आगे खुली धरती पर विश्राम करने लगे।

दाऊ तो युद्ध हो–न हो, आस्तरण से पीठ लगते ही कुछ ही क्षणों में खर्राटे भरने लगते थे, आज भी वे खर्राटे भरने लगे। सोने से पहले उन्होंने कहा, "छोटे, दावाग्नि का इतना बड़ा प्रकाश मैंने इसके पहले कभी नहीं देखा।"

मध्यरात्रि तक मुझे नींद ही नहीं आ रही थी। मैं शिविर से बाहर आया। आगे जलते हुए दावानल को देखते हुए मैं अपने-आप में खो गया। विचारों का दावानल मेरे मन में फैलने लगा–'सुन्दर वनश्री से सजे इस पर्वत को जलाकर क्या पाया जरासन्ध ने? अकारण ही कितने निरीह प्राणी उसकी क्रोधाग्नि की बलि चढ़ गये? मानवी बुद्धि जब क्रोधान्ध हो जाती है, तब कितनी विध्वंसक बनती है वह! जरासन्ध...जरासन्ध! यज्ञ में बलि देने हेतु कई राजाओं को गिरिव्रज के कारागृह में डालनेवाला–सम्राट् कहलानेवाला! इसके सत्रह आक्रमणों का हमने सामना किया। यह स्वयं ही द्वेष का, राज-अहंकार का प्रचण्ड दावानल है। उस पर अस्थायी रोक लगाना कोई उपाय नहीं है, उसके स्थान का आभास उसे कराना ही होगा।'

दूसरे ही दिन हमारी विजयी सेना भृगुश्रेष्ट परशुराम के शुर्पारक आश्रम की ओर बढ़ने लगी। हमारी विजय का समाचार वहाँ पहले ही पहुँच चुका था। आश्रमवासियों ने हमारा प्रचण्ड स्वागत किया। अब मेरा मन खिंचा जा रहा था केवल भगवान परशुराम के चौंधिया देनेवाले तेजस्वी, भव्य मुखमण्डल के प्रत्यक्ष दर्शन की ओर। गोमन्त पर चले जाने का उनका निर्देश कितना अचूक था! उनसे मेरी भेंट ही न होती तो? जरासन्ध से हमारा खुली-समतल भूमि पर ही सामना होता तो? भृगुश्रेष्ट अद्यापि वेण्णा नदी के तट पर ही थे।

शूर्पारकों का आतिथ्य स्वीकार कर मैं और दाऊ अपनी विजयी सेना सहित वेण्णा-तट के आश्रम की ओर चल पड़े।

दण्डकारण्य पार कर हमारे पीछे-पीछे दक्षिण देश में उतरा सेनापति सात्यकि भी हमारे साथ था। जरासन्ध और शिशुपाल पर प्राप्त विजय से वह अत्यन्त प्रभावित हुआ था। वैसे उसकी मूल प्रकृति उतावली ही थी। कोयना-घाटी की यात्रा में दाऊ, सात्यकि और मैं एक ही रथ में थे। हमें मथुरा छोड़े हुए कई महीने हो गये थे। इस बीच वहाँ की कोई सूचना हमें नहीं मिल पायी थी। एक-एक कर मैंने उससे पूरा समाचार जान लिया। कुछ-कुछ बातें वह स्वयं ही कह रहा था–"मथुरा में महाराज उग्रसेन और अन्य सभी प्रमुख यादव इन आक्रमणों से ऊब गये हैं। आपके और बलराम के मथुरा छोड़ने पर भी उन्हें भय लगता है कि मागध कहीं पुन: आक्रमण न कर दें।"

"सेनापति, जरासन्ध और उसके मित्र मथुरा पर अब कभी आक्रमण नहीं करेंगे। मैंने मन-ही-मन कुछ निश्चय किया है। मथुरा लौटने पर राजसभा में मैं उसे उद्घाटित करूँगा। जिस स्थिति में और जिस प्रकार मैंने मथुरा को छोड़ा है, उसका शूल मुझसे अधिक यादवों को ही चुभ रहा है; उसे निकालना आवश्यक है। उचित समय पर मैं वह करूँगा।" सात्यकि के कन्धे पर हाथ रखकर मैंने उसको धैर्य बँधाया।

हम वेण्णा के तट पर भृगु-आश्रम के समीप आ गये। पिछली बार दाऊ, मैं, विपृथु और कुछ गिने-चुने यादव ही यहाँ आये थे। इस बार दक्षिण देश का विजयी यादव सैन्य दल भी हमारे साथ था। इस समय अपने समस्त शिष्यों सहित प्रत्यक्ष भृगुश्रेष्ठ परशुराम हमारे स्वागत के लिए आगे आये। और हाँ–उनके कन्धे पर वह विख्यात, चौड़े फलवाला परशु चमक रहा था। मैं, दाऊ, सात्यकि और अन्य सभी ने उस तेजस्वी, द्रष्टा, योगी पुरुष को आदर सहित प्रणाम किया।

तत्परता से हमें ऊपर उठाकर वक्ष से लगाते हुए उन्होंने स्वागत के बदले विदाई का आशीर्वाद दिया–"जयोऽस्तु।" उसे सुनकर दाऊ और सात्यकि चौंक पड़े। किन्तु उनका अभिप्राय जानकर मैं नित्य की भाँति मुस्कराया। भृगुश्रेष्ठ की आँखें कुछ अलग ही भाव से भरी हुई मुझे स्पष्ट दिखाई दे रही थीं।

अपनी विशाल पर्णकुटी की ओर चलते हुए, मेरे कन्धे पर बड़े प्रेम से हाथ रखकर उन्होंने कहा, "प्रकृति की सैकड़ों वर्षों की साधना से समृद्ध हो पाया गोमन्त जैसा पर्वत जरासन्ध ने जला डाला। इससे तुम व्याकुल हुए, यह उचित ही है। किन्तु मुझे स्पष्ट दिख रहा है, भविष्य में तुम्हें भी ऐसा ही निर्णय करना पड़ेगा–इससे भी घने वन को जलाने का! मानव-कल्याण हेतु वह तुम्हें करना ही पड़ेगा।" ज्येष्ठ भृगु मुख भरकर मुस्कराये।

हम आचार्य-कुटी में आ गये थे। हमें फलाहार प्रस्तुत किया गया। कुटी के मध्य दिन-रात धधकता भव्य यज्ञकुण्ड था। उसके समीप व्याघ्रचर्म बिछाये ऊँचे काष्ठासन पर भृगुश्रेष्ठ बैठ गये। पूर्वाभिमुख होने के कारण उन्हें आकाश में तपता सूर्य स्पष्ट दिखाई दे रहा था। उसकी सर्वस्पर्शी किरणों में नहायी, घुमावदार वेण्णा नदी भी उनको दिखाई पड़ रही थी। उनके दोनों ओर, जहाँ भी अवकाश मिला, उनके शिष्यगण और हमारे प्रमुख यादव खड़े थे।

मैं और दाऊ यज्ञकुण्ड की दूसरी ओर भृगुवर के सम्मुख मृगचर्म पर बैठ गये। हमारे सैनिक कुटी के बाहर आश्रम परिसर में फैले हुए थे। जिस प्रकार अंकपाद आश्रम में घन-गम्भीर, नादमय स्वर में आचार्य सान्दीपनि हमें ज्ञानबोध कराते थे, उसी गुरु-भाव से भगवान बोलने लगे, "हे राम-श्रीकृष्ण, इसके पूर्व आर्यावर्त के दक्षिणी छोर–दण्डकारण्य को लाँघकर केवल दशरथ-पुत्र श्रीराम लक्ष्मण सहित आये थे। अब तुम आ गये हो और तुमसे भेंट करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है।

"जब से तुमसे भेंट हुई है, मैं सोच रहा हूँ, तुमसे मेरी भेंट कराने में प्रकृति का–परमात्मा का क्या उद्देश्य हो सकता है? आयु और अनुभव में तुमसे ज्येष्ठ होने के कारण मुझे जो स्पष्ट प्रतीत हो रहा है, वह मैं तुम्हें बता रहा हूँ।

"–जो दुर्बलों के जीवन की, अधिकारों की रक्षा करता है, वही सच्चा क्षत्रियत्व है–वही सच्चा पुरुषार्थ है।

"जीवन क्या होता है, अधिकार का अर्थ क्या है, उत्तरदायित्व क्या होता है, प्रकृति का अभिप्राय क्या होता है, इसका बोध जो सरलता से कराता है, वही ब्रह्मत्व है।

"जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी कर्म से मैंने निष्ठापूर्वक क्षत्रियत्व का पालन किया है। सर्वांगीण जीवन में बाधा डालनेवाले, किसी का भी आदर न करनेवाले मदोन्मत्त क्षत्रियत्व का मैंने निर्दलन किया है। किसी भी राजसिंहासन का लोभ किये बिना ही सम्पूर्ण आर्यावर्त में भृगु-आश्रम स्थापित करते हुए ज्ञानदान का ब्रह्मकर्म मैं जीवन-भर निष्ठापूर्वक करता आया हूँ।...

"जीवन का जो अर्थ मुझे ज्ञात है, वह मैं तुम्हें बताता हूँ।

"ज्ञान, विज्ञान और प्रज्ञान जीवन के प्रमुख अंग हैं। ज्ञान का अर्थ है चराचर सृष्टि की समग्र जानकारी। पूरे आर्यावर्त और दक्षिण देश में भ्रमण करके जो ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ, उसे मैंने अपने आश्रमों में बाँटने का प्रबन्ध कराया है।

“विज्ञान का अर्थ है विशेषज्ञान–सूक्ष्म-से-सूक्ष्म ज्ञान। ब्रह्मास्त्र की विद्या से मैंने वह प्राप्त किया और अपने योग्य शिष्यों को प्रदान किया।

“प्रज्ञान का अर्थ है अपने स्वयं सहित सम्पूर्ण जीवन का समग्र ज्ञान। अपने अन्दर और प्रत्येक सचेतन-अचेतन में निहित चिरन्तन चैतन्य का जो अन्वेषण करता है, वह प्रज्ञान होता है।

“अब तुम्हें मैं जो बता रहा हूँ, वह ज्ञान-विज्ञान से परे, प्रज्ञान के क्षेत्र से सम्बद्ध है, अत: महत्त्वपूर्ण है।

“हे राम एवं श्रीकृष्ण, यद्यपि तुम यदुकुलोत्पन्न हो, परन्तु तुम न केवल अठारह यादव शाखाओं के हो, न शूरसेन राज्य के, न ही आर्यावर्त के! निरन्तर बहती मानवी जीवन-गंगा के घाट पर चिरन्तन जलते दीप हो तुम! स्थल-काल की, कुल की मर्यादाएँ तुम्हें बाँध नहीं सकतीं।

“हे श्रीकृष्ण, तुम्हारी आँखों में मुझे अपना उत्तराधिकारी दिखाई दिया है। अत: आज मैं तुम्हें एक अनमोल, स्वर्गीय उपहार दे रहा हूँ। उसे ग्रहण करने की, उचित समय पर उसका प्रक्षेपण और विसर्जन करने की क्षमता मुझे केवल तुममें ही दिखाई दे रही है। एकमात्र तुम ही उसके लिए योग्य हो।”

ज्येष्ठ भृगु ने धीरे-धीरे अपनी आँखें बन्द कर लीं। उनकी योगमुद्रा यज्ञकुण्ड में प्रदीप्त अग्नि की भाँति दहकती दिखने लगी। अपने पांचजन्य की ध्वनि से समानता रखनेवाले, जो मैंने पहले कभी न सुने थे, ऐसे मन्त्रबोल उनके मुख से अबाध रूप में निकलने लगे। उस मन्त्रघोष ने उपस्थितों को मुग्ध कर दिया। मेरे स्मृति-पटल पर वे शब्द अपने-आप अंकित होने लगे। मेरे शरीर का कण-कण अपूर्व रूप में रोमांचित हो उठा।

क्षणार्द्ध में आचार्य-कुटी को गुंजायमान कर देनेवाले विविध स्वर सुनाई देने लगे। धीरे-धीरे वह स्वरदण्ड बढ़ता गया। आँखों को चौंधिया देनेवाले–शतकोटि सूर्यों की आभा को लजानेवाले प्रकाश से कुटी प्रदीप्त हो उठी!

ध्यानस्थ, शुभ्र दाढ़ी-जटाधारी तेजस्वी भृगुश्रेष्ठ की ऊपर उठायी दाहिनी तर्जनी क्षण-भर के लिए स्थिर हो गयी। उस पर बारह आरोंवाला, वज्रनाभ, गरगर घूमता सुलक्षण चक्र दिखने लगा। प्रत्यूषा में मानस-सरोवर पर दिखनेवाले ब्रह्मकमल की कली की भाँति वह दिख रहा था। उसके दिव्य तेज से सबकी आँखें चौंधिया गयीं! उस तेज के अतिरिक्त कुछ भी उन्हें दिखाई नहीं दे रहा था। सब भयभीत हो गये। दाऊ भी हड़बड़ा गये। हाँ, मुझे–केवल मुझे ही भृगुवर की तर्जनी पर घूमता चक्र स्पष्ट दिख रहा था। आँखों को चौंधियानेवाला वह तेजपुंज मुझे गोकुल की रासपूर्णिमा की ज्योत्स्ना की भाँति शीतल प्रतीत होने लगा।

भृगुश्रेष्ठ के नेत्र-संकेत पर मैं दाऊ के पास से उठकर उनके सम्मुख गया। मेरे कान में मन्त्रोच्चारण करते हुए उन्होंने कहा, “प्रत्यक्ष ही देखो इस सुदर्शन चक्र के प्रभाव को।” भृगुवर ने मन्त्र बुदबुदाते हुए उस तेजचक्र को प्रक्षेपित किया। वेण्णा नदी को पार कर सुदूर पर्वत-श्रेणियों को स्पर्श कर वह उसी वेग से लौटकर उनकी तर्जनी पर स्थित हुआ। गरगर घूमते वलयों को समेटता हुआ, वह जैसे प्रकट हुआ, वैसे ही लुप्त हो गया।

भृगु राम ने बन्द आँखों से ही कमण्डल का अभिमन्त्रित जल मेरे करतल पर डालते हुए कहा, “आचमन करो।” मैंने आचमन किया। वे आगे कहने लगे, “वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण, आज से मेरे इस सुदर्शन चक्र के अधिकारी तुम हो गये हो। हे अच्युत, इसकी जन्मकथा तो तुम जानते ही

हो। इसकी स्मृति को पुनर्जागृत करने हेतु मैं तुम्हें बता रहा हूँ–

"युगों पहले प्रत्यक्ष शिव ने त्रिपुरासुर को–अर्थात् उसकी जीवन-विनाशक क्रूर शक्तियों को जलाने हेतु इस सुलक्षण चक्र का निर्माण किया था। प्रत्यक्ष विष्णु ने..." कुछ कहने से पहले भृगुवर रुक गये। आँखें खोलकर मेरी ओर देखने लगे। कुछ देर पहले यज्ञकुण्ड की भाँति दिखती उनकी दृष्टि अब शान्त हो गयी थी। उनके होंठों के कोरों से निकलकर दाढ़ी में घुल जानेवाली गूढ़-रम्य हँसी क्षण-भर के लिए मुझे अपनी ही हँसी लगी। उस विचार से मेरे मुख पर भी हँसी झलक आयी।

भृगुश्रेष्ठ पुन: आँखें बन्द करते हुए बोले, " 'विष्णु', क्या है, यह मैं तुम्हें क्या बताऊँ? तुम तो जानते ही हो! हमारे विष्णु ने शिव को सहस्र कमल अर्पण कर 'सुदर्शन' प्राप्त किया और उसे अग्नि को प्रदान कर दिया। अग्नि ने वह वरुण को दिया और वरुण से वह मुझे प्राप्त हुआ है। जीवन में कभी मैंने सुदर्शन का उपयोग नहीं किया, आवश्यकता ही नहीं पड़ी। परशु से ही मेरा जीवन-कार्य सम्पन्न होता रहा है।

"आज से तुम इस सुदर्शन चक्र के पूर्ण अधिकारी बन गये हो। जब कभी तुम्हें तीव्र आवश्यकता प्रतीत होगी, तभी इसका प्रक्षेपण करना। तुम्हें सत्य, न्याय और धर्म की रक्षा करनी है। छाया की भाँति तुम्हारा साथ देते हुए बलराम को तुम्हारा छत्र बनकर रहना है।

"हे यादवो, जिन्हें युग-युगों तक धारित किया जाए, ऐसे जीवन-सत्य बलराम के हल से आर्यभूमि को खोदकर तुम्हें बीज रूप से बोने हैं, उनको बढ़ाना है और उनका पालन करना है। इस सुदर्शन को उनकी रक्षा करनी है।

"मेरा जीवन-कार्य अब समाप्त हो गया है। मुझे लगता है कि तुम ही इस कार्य के एकमात्र उत्तराधिकारी हो। शूर्पारक आश्रम के भार्गवों को अन्तिम उपदेश देकर मैं सीधे हिमालय चला जाऊँगा।

"ज्येष्ठ भृगु के नाते मैं तुम्हें आशीर्वाद दे रहा हूँ–जयतु श्रीकृष्ण–जयतु बलराम!– जयतु वासुदेऽव!"

उस दिन भृगुश्रेष्ठ को वन्दन कर जब हम कुटी से बाहर आये, अब तक घटी घटना से चौंधिया गये बलदाऊ ने मुझसे कहा, "छोटे, तुम्हारी वैजयन्तीमाला, तुम्हारा पांचजन्य शंख और अजितंजय धनुष के कारण पहले ही तुम सब यादवों से अलग लगते थे। आज तो जिस पर दृष्टि ठहर ही न पाए, ऐसे अपार तेज से तुम्हारा मुखमण्डल दमक रहा है! गोमन्त की बड़वाग्नि का प्रकाश जिसके आगे कुछ भी नहीं है, ऐसा तेजोमय दिख रहा है वह! छो...टे...मु...झे..." झिझककर वे रुक गये। "दाऊ, नि:शंक होकर आप मुझे 'छोटे' कहिए।" मैंने उनकी झिझक को दूर करने हेतु कहा। फिर भी उन्होंने पूछा, "सचमुच, तुम कौन हो?"

मन-ही-मन सुदर्शन के मन्त्रबोलों के साथ लय साधते हुए, दूसरी ओर एक हाथ दाऊ के हाथ में और दूसरा सात्यकि के कन्धे पर रखते हुए मैंने उनसे कहा, "दाऊ, आप उचित कहते हैं– मैं आपका अनुज ही हूँ, छोटा हूँ! क्यों सात्यकि, तुम्हें क्या लगता है?"

मेरा प्रश्न सात्यकि के मस्तिष्क तक पहुँचा ही नहीं। सुदर्शन के सुन्न कर देनेवाले अनुभव से वह अब तक बाहर निकल ही नहीं पाया था।

अत्यन्त समाधान के साथ भृगु-आश्रम में दो दिनों तक निवास करते हुए हम क्रौंचपुर के यादव राजा सारस के आमन्त्रण पर उनके राज्य में जाने के लिए निकल पड़े। उनके सेनापति एक टुकड़ी के साथ हमारा मार्गदर्शन कर रहे थे। उनके पीछे-पीछे चलते हुए एक सप्ताह के बाद हम वरदा नदी के तट पर बसे क्रौंचपुर पहुँच गये।

हमारी गोमन्त-विजय का समाचार यहाँ कब का पहुँच चुका था। राजा सारस ने अपने राज्य की सीमा पर हमारा भव्य स्वागत किया। लाल मिट्टी के इस उर्वर प्रदेश में भाँति-भाँति के स्वादिष्ट फल हमें खिलाये गये। यहीं से हमने पद्मावत, माहिष्मती और समुद्र-तट के यादव राजाओं के लिए उपहार भिजवाये। मथुरा लौटते समय दण्डकारण्य के पास से हम उनकी सेनाओं को वापस भेजनेवाले थे।

राजा सारस ने एक विशेष राजसभा का आयोजन किया। हमें एक सालंकृत, सुशोभित छत्र और अश्वों सहित राजरथ उपहार में दिया गया। कत्थई रंग के उन चमकदार अश्वों को देखकर मुझे दारुक, अपने प्रिय शुभ्र-धवल अश्व शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक सहित अपने सुलक्षण गरुड़ध्वज रथ का तीव्रता से स्मरण हुआ।

मुझे तीव्रता से प्रतीत हुआ कि अब मथुरा लौटना चाहिए। राजा सारस की राजसभा की राजनर्तिकाओं के भाव-समृद्ध नृत्यों का हमने आनन्द उठाया। वनवासी राज्य के स्वादिष्ट खाद्य-पदार्थों का आस्वाद भी हमने लिया। राजा सारस से विदा लेते हुए मैंने उनसे कहा, "यादवराज, हम फिर कब मिलेंगे, कह नहीं सकता; किन्तु मेरा मन कहता है, आप हमारे शूरसेन राज्य को भूलेंगे नहीं। सहायता की आवश्यकता पड़ने पर आप अवश्य उपस्थित होंगे। अपना भ्रातृभाव बनाये रहेंगे।"

राजा सारस हमें विदा देने के लिए उनके राज्य की सीमा तक आ गये। पड़ाव के बाद पड़ाव डालते हुए हम मार्ग-क्रमण करने लगे। उस राज्य के स्थान-स्थान के सरोवरों से लौटते क्रौंच पक्षियों के झुण्ड-के-झुण्ड हमें दिखाई देने लगे। ताम्रपर्णी नदी पार कर हम घटप्रभा के तट पर आये।

मैं, दाऊ और सात्यकि अपने शिविर में बैठे थे। यात्रा में आनेवाली रुकावटों की चर्चा हो रही थी। दाऊ और सात्यकि में ही बातें हो रही थीं। दक्षिण देश के चारों राज्यों के सेनापति बीच-बीच में उनके प्रश्नों के उत्तर में कुछ कह रहे थे। मैं केवल सुन रहा था।

जब से मुझे सुदर्शन के मन्त्र प्राप्त हुए थे—मेरी चित्तवृत्ति पूर्णत: बदल गयी थी। अब कुछ कहने की अपेक्षा सुनना ही अच्छा लग रहा था। दृष्टि अब दूर तक—भविष्य में उड़ान भरना चाह रही थी। मुझे लग रहा था कि भूर्जपत्र की भाँति मनुष्य को भी अथ से इति तक पढ़ने की अद्भुत शक्ति मुझे प्राप्त हुई है! विशाल वट अथवा अश्वत्थ-वृक्ष की धरती में छिपी सहस्रों जड़ों से लेकर लाखों पर्णों की सरसराहट तक का मुझे सरलता से आभास हो रहा था। मुझे तीव्रता से प्रतीत हो रहा था कि यह शक्ति देह, मन और काल से भी परे है। दाऊ और सात्यकि की चर्चा में मैं सम्मिलित था भी और नहीं भी।...

तभी हमारी सेना के गुप्तचर विभाग का प्रमुख एक हट्टे-कट्टे नागरिक को साथ लिये शिविर में आया। अभिवादन कर उसने कहा, "यह करवीर का नगरवासी है। यह आपसे कुछ निवेदन करना चाहता है, न्याय माँगना चाहता है!"

मैंने उस करवीरवासी पर आपादमस्तक एक दृष्टिपात किया। वह तिलमिलाकर बोलने लगा, "हे श्रीकृष्ण महाराज, क्या हमें इस पद्मावत राज्य को छोड़कर जाना पड़ेगा? यहाँ का राजा शृगाल शृगाल जैसी ही हिंसक-वृत्ति का हो गया है! किसी की भी स्त्री, सम्पत्ति, धरती को वह हड़प लेता है। कई नगरजन उसके लालच की बलि चढ़ चुके हैं। कई तो राज्य छोड़कर भाग खड़े हुए हैं। हमने सुना है कि मथुरा के राजा कंस का अन्यायी होने के कारण आपने, अपना मामा होते हुए भी, वध किया है। हमें आपके अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा नरश्रेष्ठ दिख नहीं रहा है, जो शृगाल को दण्ड दे सके। इसलिए इतनी लम्बी यात्रा करते हुए मैं आपके दर्शन के लिए यहाँ आया हूँ–समस्त करवीरवासियों की ओर से! कुछ भी कीजिए, बचाइए हमें इस दुष्ट से!"

मैं उठकर उसके समीप गया। उसके 'महाराज' सम्बोधन से मुझे हँसी आयी। न मैं किसी राजसिंहासन का स्वामी था, न होने की मेरी इच्छा थी। मैं अभिषिक्त राजा नहीं था, फिर भी उसने मुझे 'महाराज' कहा था। उसके कन्धे पर हाथ रखकर जैसे ही मैंने उसे थपथपाया, वह मेरे पैरों पर गिर पड़ा। उस स्पर्श से मेरे पाँव के अँगूठे से मस्तक तक वही प्रणवनाद गूँज उठा जो सुदर्शन चक्र के प्रकट होने के पहले गूँज उठा था। मैंने उसे ऊपर उठाकर सान्त्वना देते हुए सात्यकि से कहा, "सेनापति, हम करवीर से होते हुए मथुरा जाएँगे।"

हमारी सेना करवीर की दिशा में चल पड़ी। पद्मावत राज्य के माण्डलिक शृगाल का पंचगंगा के तट पर बसा करवीर राज्य छोटा-सा था। किन्तु मदोन्मत्त, उद्धत शृगाल अपने-आप को अजेय, बलाढ्य सम्राट् ही मानता था।

पंचगंगा नदी के तट पर उसने लाल मिट्टी का सुदृढ़ परकोटा बनवाया था। उसको लाँघने के कई मार्ग सात्यकि ने बताये। मैंने उन्हें केवल सुन लिया। हाथियों का एक झुण्ड भेजकर मैंने उस दुर्ग के द्वार को तुड़वाया। दाऊ, मैं और सात्यकि कुछ सैनिकों सहित अन्दर घुस गये। शृगाल और हमारे सैनिकों की मुठभेड़ आरम्भ हो गयी। हम शृगाल के प्रासाद तक पहुँच गये। वह प्रासाद की सबसे ऊपरी सीढ़ी पर खड़ा था और मैं सबसे निचली सीढ़ी के पास खड़ा था। शृगाल सुदृढ़ शरीर-यष्टिवाला लड़ाकू योद्धा था। अपनी करवीरी बनावट की प्रचण्ड, गोलाकार गदा को उठाकर वह चिल्लाया–"मथुरा से भाग खड़े हुए वसुदेव के भगोड़े, गोमन्त पर भड़क उठी बड़वाग्नि का लाभ उठाकर तू सम्राट् जरासन्ध को भगा सका है, किन्तु यह करवीर नगरी है–अजेय मल्लों की नगरी। मैं ही यहाँ का सम्राट् हूँ। चलता बन यहाँ से, नहीं तो चीर डालूँगा मैं तुझे।"

मुझे उसके दहकते शब्द सुनाई ही नहीं दिये। मन की गुफा में गूँजते, प्रदर्शन के लिए उत्सुक सुदर्शन के पवित्र मन्त्रबोल गतिमान होकर मेरे मन और मस्तिष्क में गरगर घूमने लगे। होठों से उनकी तेजस्वी शृंखलाएँ निकलने लगीं। अंगारों की भाँति दहकते तेजकण शरीर में भ्रमण करने लगे। आँखें अपने-आप बन्द हो गयीं। अब मैं वसुदेव-पुत्र कृष्ण नहीं रहा था, बन गया था दहकते तेज का केवल एक स्तम्भ! मेरा दाहिना हाथ अपने-आप ऊपर उठा। बँधी मुट्ठी की मेरुदण्ड की भाँति खड़ी तर्जनी पर प्रचण्ड गति से घूमता तेजस्वी सुदर्शन चक्र प्रकट हुआ।

दृष्टि ठहर न पाए इतनी तीव्रता से वह गरगर घूमने लगा। लक्ष्यवेध करने हेतु मेरा हाथ अपने-आप हिला। सुदर्शन का पहला प्रक्षेपण हो गया। पलक झपकने से पहले ही शृगाल के मुकुटधारी मस्तक के मदोन्मत्त कण्ठनाल को वह अचूक भेद गया। उसका कवचधारी पुष्ट धड़

रक्त से सीढ़ियों को रँगता हुआ, गड़गड़ाकर नीचे गिर पड़ा। पीछे-पीछे उसका रक्तलांछित मस्तक भी लुढ़कता हुआ आ गया। मेरे मस्तक को चूर-चूर कर देनेवाली उसकी लौहगदा भी खनखनाकर सीढ़ियों से टकराती हुई नीचे आ गिरी। तीनों मेरे पैरों में आ पड़े थे। मुझसे रक्त का स्पर्श होते ही, चक्र गरगराता हुआ लौट आया और मेरी तर्जनी पर स्थित हुआ। उस पर मानवी रक्त की एक बूँद भी नहीं थी। गूँजती ध्वनियाँ धीरे-धीरे कम होती गयीं। अपने वलयों को समेटता हुआ चक्र भी धीरे-धीरे लुप्त हो गया।

करवीर नगरी अब शृगाल से मुक्त हो गयी थी। शृगाल का एकमात्र पुत्र था शक्रदेव। सागवान की सुडौल पट्टी की भाँति सुदृढ़–युवावस्था पाँव रखता हुआ। इस मुठभेड़ में वह आहत हुआ था। हमारे सैनिकों ने उसे रस्सी से बाँधकर दाऊ और मेरे समक्ष प्रस्तुत किया। हमें करवीर में अपना राज्य स्थापित नहीं करना था। कंस-वध के पश्चात् मथुरा में मैंने जो किया, वही मुझे यहाँ भी करना था–शृगाल-पुत्र को करवीर के राजसिंहासन पर बिठाना था। वह नवयुवक हम दोनों की ओर अत्यन्त तिरस्कार और क्रोध से देख रहा था। यह तेज कुछ अलग ही था। उसे उचित मोड़ देकर जीवनीय बनाना ही उचित था।

मैंने शृगाल-पुत्र के समीप जाकर, उसकी रस्सियाँ काटकर उसे बन्धनमुक्त किया। यद्यपि वह क्रूद्ध आँखों से हमारी ओर देख ही रहा था, मैंने स्नेहपूर्वक उसके कन्धे पर हलके से थपकी दी। उसकी आँखों के भाव बदलने लगे। उसकी निर्भय आँखों में आँखें गड़ाकर मैंने कहा, “हे शृगाल-पुत्र, अपने पिता के जीवन-विनाशक मार्ग का अनुसरण मत कर। वह उचित नहीं होगा। यह राज्य हम तुम्हें ही सौंप रहे हैं। यहाँ तुम प्रजा को सुख-शान्ति दिलानेवाले कल्याणकारी राज्य का निर्माण करो।”

अब उसमें बड़ा ही परिवर्तन आया। उसने झुककर मुझे अभिवादन किया। उसको ऊपर उठाकर मैंने वक्ष से लगाया। उस रात्रि हमने पंचगंगा-तट की उर्वरा भूमि के सुवासिक तन्दुल के भात का स्वाद चखा। करवीर एक तीर्थक्षेत्र था। अत: हमने पंचगंगा में स्नान भी किया। एक सप्ताह के पश्चात् हमें विदा देने के लिए शक्रदेव सहित पंचगंगा के तट पर आये नगरजनों ने जयघोष किया–‘मथुराधिपति महाराऽज श्रीऽकृष्ण-बलराम की जऽय...जय होऽ! करवीराधिपति शक्रदेव महाराऽज की ऽ जऽय...जय होऽ!’

कुन्तल, अश्मक देशों को पीछे छोड़ते हुए कई पड़ाव डालने के पश्चात् विदर्भ की सीमा पर हमने पड़ाव डाला। वैदर्भियों की प्रसिद्ध राजनगरी कौण्डिन्यपुर यहाँ से कुछ ही योजन दूर थी। उस राज्य से हमारे स्वागत के लिए कोई भी आनेवाला नहीं था। यहाँ के राजा भीष्मक कब के जरासन्ध से हाथ मिला चुके थे। उनका पुत्र रुक्मि हमारे सात्यकि की ही भाँति उतावला था, शीघ्रक्रोधी था। रुक्ममालि, रुक्मरथ, रुक्मबाहु और रुक्मकेश–इन चार भ्राताओं का दृढ़ समर्थन उसे प्राप्त था। इसी पड़ाव पर सात्यकि ने मुझसे पूछा, “महाराज भीष्मक के पास दूत भेजकर क्या हम अनुमति लेंगे? यहाँ अम्बिका माता का एक अत्यन्त प्राचीन, भव्य, सुघड़ मन्दिर है। देवी के दर्शन करेंगे हम।”

“नहीं–अभी नहीं। देवी के दर्शन करेंगे अवश्य, किन्तु उचित समय पर!” मैंने मुस्कराते हुए सात्यकि के प्रस्ताव को अस्वीकार किया। साथ ले आये दक्षिण देश के सेनादलों को एक भव्य समारोह में उपहार देकर हमने उन्हें विदा किया।

दण्डकारण्य से होकर ही हमें मथुरा लौटना था। इस समय सात्यकि भी हमारे साथ था। वापसी की यात्रा में दक्षिणापथ पर पाँव रखते ही मुझे तीव्रता से प्रतीत हुआ कि मुझे पहले ही प्राप्त हुए तीन रत्नों के साथ अब चौथा अमूल्य रत्न भी मेरे साथ दक्षिण से उत्तर की ओर जा रहा था–सुदर्शन!

एक महीने की कठिन यात्रा के पश्चात् हमने दण्डकारण्य को पार किया। हम अवन्ती राज्य के भोजपुर नगर के पास आ गये। यह कुन्ती बुआ के पालक पिता राजा कुन्तिभोज का नगर था। यहाँ अचानक ही गर्ग मुनि हमसे मिले। वे पश्चिम सागर-तट पर स्थित अजितंजय नगर के यवन राजा से मिलकर आ रहे थे। उस नगर के नाम का ही मेरा धनुष था। दूर गान्धार, काब्रा नदी के प्रदेश में रहनेवाले लोगों को यवन कहा जाता था। वे हमारे लिए दूर के–पराये ही थे। मैंने गर्ग मुनि से पूछा भी कि "आपका उस यवन राजा से क्या सम्बन्ध है?" किन्तु वे टाल गये। आखिर वे हमारे राजपुरोहित थे–अर्थात् गुरु-समान थे। अत: मैंने उनसे कुछ अधिक पूछा नहीं।

अन्तत: हम मथुरा पहुँच गये। इस समय उग्रसेन महाराज, तात वसुदेव विशिष्ट यादवों सहित हमारे स्वागत के लिए उपस्थित थे।

हमारे द्वारा हुई जरासन्ध की दुर्गत का विजयी समाचार शूरसेन राज्य में कब का पहुँच चुका था। सारा मथुरा नगर ही सीमा पर एकत्र हो गया था। उद्धव भी सबसे आगे अपने भ्राता बृहद्बल और चित्रकेतु के साथ खड़ा था। कितने बड़े हो गये थे वे दोनों!

राजस्त्रियों ने हमारे भाल पर कुंकुम-तिलक लगाया और जलते नीराजनों से हमारी आरती उतारी। नाना वाद्यों का तुमुल नाद होने लगा। मुझे देखकर आवेग से अग्रसर हुआ उद्धव ज्येष्ठों को वन्दन करते हुए सीधे रथ पर चढ़ा– "भैया, आपका मुखमण्डल आज अपूर्व, अनुपम तेजस्वी दिख रहा है। आपने जरासन्ध का दर्प चूर-चूर कर दिया, इसका मुझे अभिमान है; किन्तु...किन्तु एक बात के लिए मैं आपसे अप्रसन्न हूँ।"

"किस बात पर तुम मुझसे अप्रसन्न हो, ऊधो?" रथ से उतरकर मैं उसके साथ अग्रसर हुआ। तात–महाराज उग्रसेन और अन्य ज्येष्ठों को हमने प्रणाम किया। जरासन्ध के सताये यादवगण गोमन्त पर उसके पलायन से हर्ष-विभोर हो उठे थे। वह स्वाभाविक भी था। नाचते हुए, बाजे-गाजे के साथ, रथ में बिठाकर उन्होंने हमारी गौरव यात्रा ही निकाली थी। उद्धव को अपने साथ रथ में लेकर मैंने पूछा, "भ्राता ऊधो, क्यों अप्रसन्न हो गये थे तुम मुझसे?"

"आप अचानक ही मथुरा छोड़कर चले गये, मुझे बिना बताये, मुझे साथ न लेते हुए–इसलिए।"

"बस...इतना ही? मुझे लगा, अपने तीनों रत्न सबसे पहले मैंने तुम्हें ही दिखाये थे, इसलिए अब तुम पूछोगे कि भैया, आप आज क्या लाये हैं?" मैंने उद्धव को चकमा दिया। उसे प्रश्न में उलझाया।

"भैया, मैंने पहले ही पहचान लिया है कि इस बार आप सबसे अधिक अमूल्य रत्न ले आये हैं!"

"वह कैसे?" मैंने उसे टटोला। रथ मन्द गति से आगे बढ़ रहा था। वाद्य-ध्वनियों के साथ युद्ध-प्रिय स्वभाव के यादव जयघोष करते नाचते ही जा रहे थे।

"आपके मुख से! आपका मुख आज अनुपमेय तेज से दमक रहा है। क्या लाये हैं आप? कहिए न भैया।"

उद्धव की दार्शनिक आँखों की गहराई में झाँकते हुए मैंने कहा, "प्रकृति के जीवन-चक्र को स्वस्थ गति देनेवाला रत्न मैं ले आया हूँ। क्या हो सकता है वह? पहचान लो।"

"प्रकृति के जीवन-चक्र को? भैया, आपने तेजयन्त्र सुदर्शन के स्वर्गीय मन्त्रों को प्राप्त किया है! कहिए भैया, कहाँ मिले थे आपसे भगवान परशुराम?" उद्धव ने अत्यानन्द से मुझे प्रगाढ़ आलिंगन में भर लिया। उद्धव को इतना प्रसन्न होते मैंने पहले कभी नहीं देखा था—मानो उसको ही सुदर्शन प्राप्त हुआ था।

रात्रि-भोजन के पश्चात् हम बैठक के कक्ष में आ गये। तात वसुदेव कुछ चिन्ताग्रस्त दिख रहे थे। उन्होंने कहा, "पुत्र श्रीकृष्ण, मेरी तीन बहनों—श्रुतश्रवा, राजाधिदेवी, श्रुतदेवी—से मेरी कभी-न-कभी भेंट हो जाती है। उनका क्षेम-कुशल मैं जान सकता हूँ। किन्तु मेरी सबसे प्रिय बहन कुन्ती का मुझे बचपन से वियोग सहना पड़ा है।"

"तात, सचमुच कुन्ती बुआ आपकी सबसे प्रिय बहन दिखती हैं!" मैंने कहा। तात का समर्थन करते हुए बड़ी माँ ने तत्परता से पूछा, "क्या कहना चाहते हो तुम?" मैंने मुस्कराते हुए कहा, "बड़ी माँ, क्या दाऊ और मैं जन्म से ही तात से दूर नहीं हो गये थे? इस बात को तात कैसे भूल गये?" अपने स्वभाव के अनुसार मैंने चक्कर चलाया।

"परिहास मत करो कृष्ण! तुम्हारी बुआ कुन्तीदेवी सदैव ही धैर्यपूर्वक नियति का सामना करती आयी हैं। अपने पति—महाराज पाण्डु की मृत्यु के पश्चात् वह अपने पाँचों पुत्रों सहित गन्धमादन पर्वत से हस्तिनापुर लौट आयी हैं। मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि हस्तिनापुर में वह उनका पालन कैसे कर पाएँगी! मेरे भानजे, जिन्हें मैंने कभी देखा भी नहीं, कैसे बड़े होंगे?"

मुझे तीव्रता से प्रतीत हुआ कि मेरे तात का सारा जीवन पहले यादवों की, फिर बड़ी माँ की, फिर हम दोनों की और अपनी प्रिय बहन कुन्तीदेवी की चिन्ता करने में ही व्यतीत हुआ था।

मैंने उनके निकट जाकर उनके दोनों हाथ प्रेम से अपने हाथों में ले लिये। उनकी श्वेत हो चली घनी दाढ़ी पर दृष्टि घुमाते हुए मैंने कहा, "तात, आपका यह पुत्र अपनी प्रिय कुन्ती बुआ और उनके पुत्रों का—पाँचों पाण्डवों का सदैव ध्यान रखेगा!...मुझे प्राप्त अमोघ शक्ति को साक्षी रखकर, मैं आपको वचन देता हूँ कि बुआ कुन्तीदेवी और उनके सभी पाण्डवों को मैं यथोचित न्याय दिलाऊँगा, उनका जीवन-भर साथ दूँगा।"

"मुझे विश्वास था, तुम यही कहोगे। आज तुम्हारे मुख पर झलकते अपार तेज से मैं समझ चुका हूँ कि तुम्हें सुदर्शन चक्र प्राप्त हुआ है। भगवान परशुराम से तुम मिल चुके हो! सुदर्शन चक्र के एकमात्र स्वामी के नाते ही मैंने कुन्ती के दुःख तुम्हें बताये हैं।"

पहले उद्धव ने ही मुझे चकित कर दिया था, और अब तात ने भी वही किया। मैं समझ ही नहीं पाया कि मेरे सुदर्शन प्राप्त करने की बात उन दोनों को कैसे ज्ञात हो गयी? मेरा भ्रमनिरास हो गया कि मैं सरलता से सबको चक्कर में डाल सकता हूँ!

शीघ्र ही दूत भेजकर मैंने मन्त्री अक्रूर को आमन्त्रित किया। उनके आते ही एक महत्त्वपूर्ण कार्य मैंने उनके अनुभवी कन्धों पर डाला—"अक्रूर काका, आप शीघ्र ही हस्तिनापुर चले जाएँ।

वहाँ जाकर आप हमारी कुन्ती बुआ और उनके पुत्रों से भेंट करें। जिस प्रकार गोकुल में आपने हमें सावधान किया था, उसी प्रकार आप उनको भी सचेत करें। महाराज धृतराष्ट्र को आप कुशलतापूर्वक सुझाएँ कि वे पाण्डवों से उचित व्यवहार करें। अपनी सूक्ष्म गरुड़-दृष्टि से आप पाण्डवों के गुण-स्वभाव विशेषों को परख लें। सम्भव है, भविष्य में मेरा उनसे दृढ़ स्नेह-सम्बन्ध स्थापित हो!"

"जो आज्ञा यादवश्रेष्ठ! हस्तिनापुर से आने के पश्चात् मैं सविस्तार निवेदन करूँगा आपसे।" अक्रूर अपना दायित्व निभाने के लिए चले गये।

उनकी दूर जाती आकृति की ओर देखते हुए सुदूर गंगा-तट पर बसे हस्तिनापुर के राजप्रासाद का स्पष्ट चित्र मेरी आँखों के आगे खड़ा हुआ। महाराज धृतराष्ट्र अन्धे होते हुए भी वहाँ अपने ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन के राज्याभिषेक के मधुर स्वप्न देख रहे थे।

महाराज्ञी गान्धारी का 'राजनीतिकुशल' भ्राता शकुनि महाराज धृतराष्ट्र को अपने मीठे शब्दों में राजनीति की कुटिल चालें चलने का परामर्श दिया करता था। गुरु द्रोणाचार्य और कृपाचार्य राजकुमारों को शस्त्र-अस्त्र विद्या सिखाने में मग्न थे। न्यायी वृत्ति के दर्शन मुझे केवल कुरु महामन्त्री महात्मा विदुर में हो रहे थे। उनसे मिलने के लिए भी मैंने अक्रूर से कहा था। कुरु राज्य का पूरा उत्तरदायित्व केवल ज्येष्ठ कुरु भीष्म पर ही था। मैंने उनको देखा तो नहीं था, किन्तु तात के मुख से उनकी जीवन-गाथा सुनते हुए मेरे मन में उनके प्रति सहज सुन्दर प्रेमभाव का उदय हुआ था—उद्धव ही की भाँति।

तात के मुख पर प्रसन्नता झलकने लगी। मेरे समीप आकर उन्होंने अत्यन्त प्रेम से मेरे हाथ अपने हाथों में लेकर उन्हें धीरे-से थपथपाया। आचार्य सान्दीपनि और भगवान परशुराम का ही स्मरण दिलानेवाले नादमय शब्दों में उन्होंने कहा, "श्रीकृष्ण, अठारह यादवकुलों के प्रत्येक पराक्रमी योद्धा का सदैव एक ही लक्ष्य रहा है—सभी यादवों के लिए गौरवशाली, सर्वश्रेष्ठ उपाधि 'वासुदेव' को प्राप्त करने का!

...मैंने उसके लिए जीवन-भर प्रयास किया। सूर्यपुर को छोड़कर, कंस पर विश्वास करके मैं मथुरा चला आया। पहले उसने मेरा गौरव दिया, मुझे गुरु का स्थान भी दिया; किन्तु आकाशवाणी सुनते ही उसने मेरे पैरों में लौह-शृंखलाएँ डाल दीं!

"पुत्र, 'वासुदेव' बनने का मेरा स्वप्न कभी साकार नहीं हुआ। क्या मेरे इस स्वप्न को तुम पूरा करोगे? इसके लिए आवश्यक सभी गुण एवं सुलक्षण तुममें समाये मुझे स्पष्ट दिख रहे हैं। क्या मेरी इस अधूरी इच्छा को तुम पूरा करोगे? पुत्र, क्या तुम 'पुं' नामक नरक से अपने पूर्वजों का उद्धार करोगे?"

जब से तात कंस के कारागृह से मुक्त हो गये थे, वे बहुत कम बोलते थे। किन्तु आज वे खुलकर मनःपूर्वक बोल रहे थे।

उनकी आँखों से आँखें मिलाकर, एक अज्ञात आत्मविश्वास से मैंने कहा, "तात, मैं अवश्य 'वासुदेव' बनूँगा। उसके लिए मैं पूरा प्रयास करूँगा। मैं सुदूर तक भ्रमण करूँगा। सब मेरे ही शरीर के अंग हैं, यह समझकर बिना भेदभाव किये सबसे प्रेम करूँगा। प्रेमयोग से मैं मनुष्यों को अपना बनाऊँगा। उसके लिए आवश्यक ज्ञान का कण-कण मैं एकत्रित करूँगा। 'वासुदेव' को उचित अलिप्त एवं समर्पित भावना से ही मैं प्रत्येक कर्म करूँगा। यद्यपि मेरा जन्म भले ही कारागृह में

हुआ हो, मैं जीवन को सदैव मुक्त रखूँगा। आप अपने पुत्र को 'वासुदेव' बना हुआ अवश्य देखेंगे।"

मन में कुछ निश्चय कर मैंने माता-पिता को वन्दन किया। उस दिन शयन-कक्ष की ओर जाते समय मेरे मन के गर्भगृह में सुदर्शन चक्र के स्वर्गीय मन्त्रों के स्वर गूँजते रहे। शैया पर लेटे-लेटे अपने गुलाबी करतल पर दिखते शंख, मत्स्य आदि चिह्नों को देखते हुए वक्ष पर स्थित केशमय वत्सचिह्न पर हाथ फिराते हुए मेरे मन में एक ही शब्द घूमता रहा–'वासुदेऽव–वासुदेव!'

दूसरे ही दिन राजसभा में अमात्य विपृथु ने महाराज उग्रसेन से निवेदन किया–"वसुदेव से मिलने के लिए उनकी बहन चेदि के महाराज दमघोष की राज्ञी श्रुतश्रवादेवी शुक्तिमती नगरी से आयी हैं। वे कुछ विशेष निवेदन करना चाहती हैं। उनको सभा में उपस्थित होने की अनुज्ञा मिले!"

मैंने और दाऊ ने एक-दूसरे की ओर देखा। तात की पहली बहन–हमारी पहली बुआ के आज हमें पहली ही बार दर्शन होनेवाले थे।

मथुरा के स्वागत-मन्त्री चेदि देश की महाराज्ञी को–हमारी बुआ को सम्मानपूर्वक राजसभा में ले आये। उग्रसेन महाराज को उपहार भेंट कर, उनको प्रणाम करके चेदि की महाराज्ञी श्रुतश्रवादेवी ने राजसभा में उपस्थित सभी यादवों को, विशेषत: तात वसुदेव को लक्ष्य कर कहा, "मथुरा मेरा मायका है। मथुरा की मैं पुत्री हूँ। अत मैं एक निवेदन करना चाहती हूँ। मेरा पुत्र शिशुपाल अपने माता-पिता का कहना नहीं मानता है। वह मगधसम्राट् जरासन्ध से मिल गया है। अभी-अभी वह गोमन्त पर श्रीकृष्ण-बलराम से अशोभनीय पराजय स्वीकार करके, अपने प्राण बचाकर लौटा है। मेरी यादवों से, भ्राता वसुदेव से और विशेषत: श्रीकृष्ण से विनती है कि कृपया वे मेरे पुत्र के अपराध क्षमा करते हुए मुझे उसका प्राणदान करें।"

इस अप्रत्याशित घटना से उग्रसेन महाराज हड़बड़ा गये। वे अपेक्षा से तात की ओर देखने लगे। तात भी सम्बन्धों की जटिलता में फँसे हुए दिखाई देने लगे। उसे तोड़ना आवश्यक था। अब मुझे लोगों को समझाने का अभ्यास हो गया था।

मैं तत्काल उठा। सभागृह पर दृष्टि घुमाते हुए मैंने कहा, "हे यादववीरो, मथुरा की पुत्री होने के नाते चेदि की महाराज्ञी की विनती को हमें स्वीकार करना ही होगा। मैं उसे आनन्दपूर्वक स्वीकार करता हूँ। इस भरी सभा में वन्दनीय बुआ को मैं वचन देता हूँ कि उनके पुत्र शिशुपाल के सौ अपराधों को मैं क्षमा करूँगा। किन्तु एक-सौ-एकवाँ अपराध करने की अनुमति मैं उसे नहीं दूँगा! मुझे लगता है, इस आश्वासन से बुआ अवश्य प्रसन्न होंगी। अब वे यादवों का उपहार और आतिथ्य स्वीकार करें।"

बुआ प्रसन्न होकर लौट गयीं। सम्प्रति मुझे ब्रज के गोकुल का बार-बार स्मरण होने लगा था। किन्तु वहाँ जाना मेरे लिए सम्भव नहीं था। वहाँ जाने के बाद लौट आना कठिन था। दूसरी बात थी, गोकुल छोड़ने के बाद मुझमें जो आमूल परिवर्तन हुआ था, उसके कारण गोकुल के गोप-गोपी पहले की भाँति खुलेपन से मेरे निकट आनेवाले नहीं थे। उनकी मन-मंजूषा में विराजमान 'गोपालकृष्ण' को आघात पहुँचाने का मुझमें स्थित 'श्रीकृष्ण' को कोई अधिकार नहीं था।

अत: जब मैं, दाऊ, रेवती भाभी, तात और बड़ी माँ कुछ वार्तालाप कर रहे थे, दाऊ को प्रसन्न देखकर मैंने विषय छेड़ा, "दाऊ, एक बार आप ब्रज हो आइए तो! नन्दबाबा, यशोदा माता, बचपन के हमारे सभी साथी और गोप-गोपियों से आप मिल लें। उनसे कुशल पूछते आइए।"

"बस! केवल इन्हीं से? और किसी से तो नहीं?" दाऊ ने परिहास किया।

"क्यों नहीं? हमारी एका अब बड़ी हो गयी होगी। उसको, सभी काका-काकियों और भाई-बहनों को मिले बिना कैसे लौट सकते हैं आप?" मैंने कहा।

"देखो, कोई और रह तो नहीं गया? नहीं तो लौटने के बाद बचपन की भाँति अपनी वंशी से पीटोगे तुम मुझे।" दाऊ के संकेत को मैं पहचान गया था। अत: उनको सही मोड़ पर लाते हुए मैंने कहा, "आपको मेरी प्रिय सखी राधिका से तो अवश्य मिलना होगा। किन्तु एक बात का ध्यान रखना होगा, मेरी किसी भी बात को बढ़ा-चढ़ाकर नहीं कहना है। वह कैसी है, क्या वह मुझे स्मरण करती है–यही पूछना है! मेरी वंशी को उसने सँभालकर रखा होगा। कन्धे पर गदा रखकर, दहाड़कर चुनौती देते हुए जिस किसी को आतंकित करना ही सब-कुछ नहीं होता। हो सके तो एक बार राधा को मुझ जैसी वंशी बजाकर दिखाइए। हाँ–और एक विशेष सन्देश है मेरा उसके लिए।" मैंने दाऊ की ठिठोली उड़ा देते हुए उनको चक्कर में डाल दिया। बड़ी माँ, तात और रेवती भाभी हँसते हुए हमारी शाब्दिक लड़ाई सुन रहे थे।

"कैसा सन्देश? यही न, कि न भूलते हुए मैं तुम्हारी वैजयन्तीमाला को धारण करता हूँ। अथवा उससे कह दूँ कि यादवराज श्रीकृष्ण ने तुम्हें मथुरा आमन्त्रित किया है!" दाऊ ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को विस्फारित करते हुए दिखने में भोला-भाला किन्तु टेढ़ा प्रश्न पूछ लिया।

"उससे कहिए, प्रिय सखी, तुम्हें स्मरण किये बिना मेरा एक भी दिन व्यतीत नहीं होता। तुम्हारे द्वारा समझाये गये नारीत्व के विविध प्रकारों को मैं नित्यप्रति देखता हूँ और उन्हें अधिकाधिक समझने का प्रयास करता हूँ। मुझे लग रहा है, तुम्हारे जैसी एक और प्रिय सखी शीघ्र ही मेरे जीवन में आनेवाली है! वह मुझे कितनी प्रिय होगी, तुम्हारे ही जितनी कि तुमसे भी अधिक–यह अभी कैसे बताऊँ?" मेरे अन्तर्मन के किसी कोने में सुदर्शन के स्वर्गीय मन्त्रों की अस्पष्ट-सी गूँज मुझे सुनाई देने लगी। बोलते-बोलते मैं अचानक रुक गया।

"और एक बात मैं उससे अवश्य बताऊँगा–तुम्हें दुर्लभ सुदर्शन चक्र के प्राप्त होने की।" मुझसे एकात्म होते हुए दाऊ ने एकदम अलग स्वर में कहा। मैं मुस्कराया। आखिर वे मेरे प्रेमल दाऊ थे–मेरे ऊपर भ्रातृ-प्रेम का छत्र रखनेवाले!

"दाऊ, ब्रज जाते समय आप राजवेश को छोड़कर सीधा-सादा गोपवेश धारण कीजिए–उन्हीं के जैसे बनकर जाइए। तभी वे आपको पहचानेंगे, अपना मानेंगे और आपसे खुलकर बातें करेंगे। आपको तो पता है दाऊ, आप कितने ऊँचे और हृष्टपुष्ट हो गये हैं! आपके गालों पर दो लाल फल ही पक गये हैं! मेरा कहना आपको झूठ लग रहा हो, तो रेवती भाभी से पूछिए!" मैंने भाभी की ओर तिरछी दृष्टि डालते हुए दाऊ को चिढ़ाया।

मेरे शब्दों से लजाकर भाभी बैठक से उठ ही गयीं। "स्वामी को भेजने की अपेक्षा स्वयं आप ही क्यों नहीं चले जाते गोकुल, अपने प्रिय जनों से मिलने!" कहती हुई वे झट से भीतर चली गयीं।

मेरी सूचना के अनुसार दाऊ ब्रज जाकर सभी ब्रजवासियों से मिलकर आये।

जरासन्ध के आक्रमण के संकट का निवारण होने से सम्प्रति मथुरा निश्चिन्त हो गयी थी। दिन आनन्द में व्यतीत हो रहे थे। दाऊ और उद्धव सहित प्रतिदिन रथ में बैठकर मैं यमुना-तट पर टहलने जाया करता था। एक दिन टहलते हुए दाऊ ने मुझे चौंका दिया–"छोटे, मुझे तो तुमने विवाह-शृंखला में बाँध दिया, किन्तु तुम्हारा क्या? क्या केवल इन दुर्लभ रत्नों को पाकर ही तुम

रह जाओगे? किसी स्त्री-रत्न को तुम कभी प्राप्त कर लोगे कि नहीं?"

"आपकी भाँति मुझे तो किसी राजा ने आमन्त्रित किया नहीं है, दाऊ! यदि किया होता तो मैं भी सोच लेता। आखिर छोटा हूँ न मैं–सभी अर्थों में!" मैं सरलता से उनके प्रश्न को टाल गया।

मेरा समर्थन करते हुए उद्धव ने कहा, "मेरे इस लोक-विलक्षण भैया के अनुरूप कोई आर्यकन्या आज तक मुझे दिखाई नहीं दी। जब तक कोई योग्य कन्या नहीं मिल जाती, तब तक आप कोई उतावली मत कीजिए भैया।" उद्धव मुझसे नितान्त निरपेक्ष प्रेम करता था। अत: वह बात तो सीधी करता था, किन्तु औरों को लगता था कि वह उपदेश दे रहा है। केवल मैं ही ठीक से उसका अभिप्राय समझता था।

उस दिन जब हम राजप्रासाद में लौटे तो अमात्य विपृथु ने एक अवमानकारक सूचना हमारे राजपरिवार को दी। सिर झुकाकर उन्होंने कहा, "विदर्भ के राजा भीष्मक ने अपनी पुत्री रुक्मिणी का स्वयंवर रचा है। किन्तु हमारे शूरसेन राज्य के यादवों को उन्होंने आमन्त्रित नहीं किया है।"

वह सुनते ही उद्धव, दाऊ, तात, बड़ी और छोटी माँ, मेरे काका आदि सभी क्षुब्ध हो गये। ऐसे व्यथित हुए जैसे उनके मर्म को आघात पहुँचा हो।

महाराज उग्रसेन ने विपृथु से पूछा, "क्यों आमन्त्रित नहीं किया गया है यादवों को?"

"भीष्मक जरासन्ध के पूर्ण अधीन कैसे हो गये?" तात ने भी उग्रसेन महाराज का समर्थन किया।

सुसंस्कारित, राजनिष्ठ अमात्य विपृथु हिचकिचाते हुए बोले, "विदर्भकन्या आयु में छोटी भी है और कौण्डिन्यपुर से मथुरा बहुत दूर भी है। हमें आमन्त्रित करने की ओर सम्भवत: उनका ध्यान ही न गया हो!"

"यह कैसे हो सकता है अमात्य? अभी-अभी तो हम उनके राज्य के समीप से लौटे हैं–करवीर के शृगाल का वध करके।" दाऊ ने दृढ़ शब्दों में कहा।

"वैदर्भियों ने यादवों को क्यों आमन्त्रित नहीं किया, इसका कारण तो स्पष्ट है। कहा जाता है कि हमारे आद्यपुरुष महाराज यदु शापित थे–अपने पिता के शाप से! तभी से हमारे कुल के क्षत्रियत्व का लोप हुआ है। वैदर्भीय हमें अपने समकक्ष नहीं मानते।" मैंने शान्ति से कहा।

"इसीलिए आमन्त्रित न होते हुए भी स्वयंवर में जाने का मैंने निर्णय किया है। मथुरा की रक्षा के लिए दाऊ को मैं यहीं छोड़ जाऊँगा। जरासन्ध के अधीन हुए राजा भीष्मक और उनके पुत्र–परशुराम-शिष्य रुक्मि और रुक्ममालि, रुक्मकेश, रुक्मकेतु, रुक्मबाहु को साक्षी रखकर मैं विदर्भकन्या को मथुरा ले आऊँगा। साम, दाम, दण्ड, भेद के उपायों से यदि मैं सफल न हो पाया तो अन्तत: कन्या-हरण का क्षत्रियोचित मार्ग अपनाकर मैं उसे ले आऊँगा ही।" मैंने निश्चयपूर्वक कहा। यह सुनकर सब शान्त हो गये। उद्धव ने कहा, "आपका निर्णय उचित ही है, भैया।" दाऊ बोले, "निश्चिन्त होकर जाओ तुम छोटे। मथुरा का उत्तरदायित्व मैं लेता हूँ।"

कार्तिक पूर्णिमा के कुछ पहले हमारा विशेष सेनादल मथुरा से निकलकर दण्डकारण्य की ओर बढ़ने लगा। पहले मैंने भगवान परशुराम के दर्शन करने की तीव्र इच्छा से इस निविड़ अरण्य को पार किया था। अब मैं इसे पुन: पार करनेवाला था–अनदेखी विदर्भकन्या की प्राप्ति हेतु!

हमारी सेना में अनाधृष्टि, सात्यकि, उद्धव, अवगाह, शिनि आदि चुने हुए योद्धा थे। इस बार

हमने अपनी यात्रा का मार्ग बदल दिया था। चर्मण्वती नदी पार कर, निषादों के राज्य से होते हुए हम दण्डकारण्य तक पहुँच गये। पुन: हमने सघन दण्डकारण्य पार किया। एक महीने बाद हमने विदर्भ राज्य में प्रवेश किया।

कौण्डिन्यपुर! आन्ध्रभृत्यों का राजनगर। नगर की सीमा के निकट ही राजा भीष्मक के आमन्त्रित राजाओं ने पड़ाव डाले थे। उनमें जरासन्ध, शिशुपाल, शाल्व और उत्तर तथा पूर्व दिशा के पांचाल, वत्स, मत्स्य, विदेह, कोसल आदि देशों के राजाओं के शिविर थे। उन शिविरों में एक-दूसरे की सूचना पाने के लिए गुप्तचरों की गतिविधियाँ बढ़ गयी थीं। सभी शिविरों में सम्भाव्य विदर्भ-जामाता के विषय में भिन्न-भिन्न नामों की चर्चा हो रही थी। शूरसेन राज्य के यादवों का नाम कहीं भी चर्चा में नहीं था। यदि कहीं आ ही जाता था, तो उस प्राचीन शाप का निर्देश करके उसकी उपेक्षा की जाती थी और चर्चा को कहीं और ही मोड़ दिया जाता था। स्वयंवर का दिन जैसे-जैसे निकट आने लगा, तनाव बढ़ गया। केवल एक ही शिविर में हमारा समर्थन किया जा रहा था, वह शिविर था राजा क्रथकैशिक का!

हमें क्षत्रियत्वहीन मानकर कंकड़ की भाँति स्वयंवर से दूर रखा जा रहा है, यह उनको स्वीकार नहीं था। उन्होंने अपने अमात्य को भेजकर हमें आमन्त्रित किया। सात्यकि, अनाधृष्टि के समक्ष क्रथकैशिक ने अपना राज्य मुझे अर्पित किया। सभी आमन्त्रितों के समक्ष उन्होंने अपना राजमुकुट राजपुरोहित के हाथों विधियुक्त मेरे मस्तक पर रख दिया।

सुदूर दण्डकारण्य को लाँघकर आने के बाद तुच्छ से कारण के लिए स्वयंवर में सम्मिलित हुए बिना ही लौट जाना हमारे यादव साथियों के पराक्रम का अवमान करना था। अत: क्रथकैशिक के राज्य को मैंने स्वीकार किया। जीवन में पहली बार मैं राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। यह अनुभव भी मैंने प्राप्त किया।

सिंहासन पर आरूढ़ होते हुए मुझे तीव्रता से प्रतीत हुआ कि अभिषिक्त राजा बनना बड़ा कठिन कार्य है। उससे तो मनुष्य के मन पर प्रेम का राज्य स्थापित करना अधिक सरल और दीर्घकाल तक टिकनेवाला होता है। किन्तु यहाँ निरुपाय होकर, क्रथकैशिक के प्रेमभाव से मैं राजा बन गया!

अब हम विदर्भकन्या के स्वयंवर में भाग लेने के योग्य हो गये थे। दूसरे दिन होनेवाले स्वयंवर की प्रतीक्षा करते हुए हम शिविर में ही रुके थे।

किन्तु स्वयंवर हुआ ही नहीं। उसी रात जरासन्ध, शाल्व, शिशुपाल ने षड्यन्त्र के चक्र घुमाये। सभी उपस्थित राजाओं की एक बैठक बुलायी गयी। उस बैठक में जरासन्ध और शिशुपाल ने मुझे यथेच्छ रूप में लांछित किया।

उस बैठक के पश्चात् उन्होंने भीष्मक-पुत्र रुक्मि को सन्देश भिजवाया कि 'किसी के द्वारा राजा बनाये गये और हमसे परास्त हुए ग्वाले कृष्ण को स्वयंवर मण्डप में हमारे साथ खड़ा करना हमें स्वीकार नहीं है। वह क्षत्रिय नहीं है। एक तुच्छ ग्वाला है वह! स्वयंवर में भाग लेने का उसे अधिकार ही नहीं है। उसे हमारे समकक्ष रखना हमारा अवमान है।'

उस सन्देश से राजा भीष्मक हड़बड़ा गये। रुक्मि ने उनको सूचना दी, "यादव कृष्ण को आप लौट जाने को कहें और अन्य उपस्थित राजाओं को स्वयंवर में उपस्थित होने का अनुरोध करें।" वह भीष्मक को अपना कहना मनवाने लगा। उचित समय पर वहाँ उपस्थित हुए क्रथकैशिक के

निवेदन के कारण राजा भीष्मक का मन विचलित हुआ। वे यादवों को स्वयंवर में उपस्थित रहने की अनुमति देने को तैयार हो गये।

कौण्डिन्यपुर में उपस्थित आमन्त्रित राजाओं को यह समाचार मिलते ही वे भड़क उठे। सबसे पहले जरासन्ध और शिशुपाल अपना शिविर छोड़कर अपने-अपने राज्य को चले गये। उनके पीछे-पीछे शाल्व सहित सभी नरेशों ने एक-एक करके, रथारूढ़ होकर अपने-अपने मार्ग पकड़ लिये। प्रभात होने तक सभी शिविर रिक्त हो गये थे।

नीरव हो गयी विदर्भ भूमि में अब केवल हम ही शेष रहे थे–शूरसेन राज्य के यादव और हमारे परममित्र राजा क्रथकैशिक। उस दिन मेरी समझ में ही नहीं आ रहा था कि क्रथकैशिक से क्या कहूँ! आर्यावर्त के विविध देशों के नरेश कितने संकीर्ण विचारोंवाले थे! आखिर अपने उस सहायकर्ता मित्र से मैंने कहा, "मित्रवर, अब आपके राजनगर चलते हैं। हमारे सैनिकों को तनिक विश्राम करने दें। तत्पश्चात् हम मथुरा लौट जाएँगे। आज से आप हमारे घनिष्ठ मित्र बन गये हैं।"

क्रथकैशिक के राज्य में आने के पश्चात् मस्तक पर भार-सा लगनेवाला उनका राजमुकुट एक शुभ मुहूर्त पर राज्य सहित मैंने उनको लौटा दिया। कितना हलका-हलका लगा मुझे उस समय! क्रथकैशिक के उपहार में दिये सालंकृत रथ में बैठकर लौटते समय मैंने उद्धव से कहा, 'ऊधो, तुम्हें तो बड़ा प्रेम और गर्व है अपने भैया पर! देखा, जरासन्ध, शिशुपाल और शाल्व ने कैसा नीचा दिखाया तुम्हारे भैया को!"

"कुछ भी कहिए भैया! क्रथकैशिक को उसका राज्य लौटाने का निर्णय केवल आप ही कर सकते हैं। आप ही को शोभा देता है यह। अपनी धवल कीर्ति पर आप ने तनिक भी कलंक नहीं आने दिया। मुझे आप पर पूरा गर्व है।" मेरे गरुड़ध्वज रथ पर आरूढ़ सात्यकि और अनाधृष्टि हमारे पीछे-पीछे आ रहे थे। आज मैं और उद्धव क्रथकैशिक के दिये सालंकृत राजरथ पर आरूढ़ थे।

उस समय मेरे अन्तर्मन में कहीं दूर सुदर्शन के दिव्य मन्त्र अस्पष्ट से गूँज रहे थे। किन्तु मेरे जागते मन में दो ही नाम मँडरा रहे थे। आसपास के प्रकृति परिवेश में मुझे उन्हीं की आकृतियाँ दिखाई दे रही थीं–क्रथकैशिक की और कभी न देखी हुई विदर्भकन्या रुक्मिणी की! कैसी दिखती होगी और वास्तव में कैसी होगी विदर्भ की वह राजकुमारी!

जब हम मथुरा पहुँचे, एक अलग ही समस्या हमारे सामने खड़ी थी। यह समस्या थी हमारे वयोवृद्ध राजपुरोहित गर्ग मुनि के विषय में। मेरी भी समझ में नहीं आ रहा था कि उनसे कैसे और क्या पूछें?

गर्ग मुनि अत्यन्त उत्पाती प्रमाणित होनेवाले हमारे सम्भाव्य शत्रु के जन्मदाता पिता थे। और यह कटु सत्य अब हमारे सामने आ रहा था।

हमें मथुरा से जड़ सहित उखाड़ने में असफल हुए जरासन्ध ने बड़ी कुशलता से एक नयी चाल चली थी। उसने सौभपति शाल्व को अपने षड्यन्त्र में सम्मिलित कर लिया था। यादवों को–विशेषत: मुझे अपने मार्ग से सदा के लिए हटाने हेतु उसने सुदूर गान्धार देश के समीप से कालयवन को आमन्त्रित किया था।

स्वयं शाल्व भी कोई सामान्य व्यक्ति नहीं था। उसके पास आकाश मार्ग से सैकड़ों योजनों का अन्तर काटनेवाला प्रचण्ड गतिमान अद्भुत वायुयान था। उसका नाम भी 'सौभ' ही था। शाल्व की राजनगरी मार्तिकावती आनर्त और मरुस्थली की सीमा के निकट अर्बुद गिरि पर बसी हुई

थी। पश्चिम सागर को पार करके उसने एक देश-विघातक कर्म किया था। अपने अमात्य और सेनापति सहित सौभ वायुयान में बैठकर शाल्व गान्धार देश गया था। मथुरा पर आक्रमण करने के लिए उसने कालयवन को आमन्त्रित किया था।

अपने ही घर के झगड़े में आर्यावर्त से विदेशी व्यक्ति को दिया गया यह पहला बुद्धिहीन, घातक आमन्त्रण था। वर्ष के कुछ महीने कालयवन गान्धार देश के अन्तर्गत अपने राज्य में निवास करता था, तो कुछ महीने आर्यावर्त के दक्षिण देश के अजितंजय नगर में अपने पालक पिता–यवनराज के साथ रहता था! यह कालयवन हमारे राजपुरोहित गर्ग मुनि का ही पुत्र था।

यह अघटित घटना कैसे घटित हुई थी? अजितंजय नगरी के यवन राजा ने किसी समय गर्ग मुनि के भ्रमण काल में मन:पूर्वक उनकी सेवा करके उन्हें प्रसन्न किया था। गर्ग मुनि ने उसे पुत्रप्राप्ति का आशीर्वाद दिया था। उसकी कई पत्नियाँ होते हुए भी वह सन्तानहीन था, उसे सन्तानप्राप्ति होनेवाली भी नहीं थी। इस बात का जब उसने गर्ग मुनि को आभास कराया, तब पहले तो वे हड़बड़ा गये, फिर एक अटल विश्वास से उन्होंने निश्चयपूर्वक कहा–"मेरा आशीर्वाद असत्य नहीं होगा। अपने पुत्र के न सही, मेरे पुत्र के पालक-पिता बनोगे तुम!"

अपने वचन के अनुसार गर्ग मुनि ने मथुरा में ही गोपाली नामक गोप-स्त्री से जन्मे अपने जिस पुत्र को जन्मत: ही यवन राजा के पास भिजवा दिया था, यह वही कालयवन था।

जितना नि:शंक होकर गर्ग मुनि ने यह किया था, उतना ही नि:शंक होकर पूरी बात उन्होंने हमें बता दी थी। हम उन पर कैसे क्रोध कर सकते थे? हमने जब उनके पुत्र कालयवन द्वारा हमें धर्मसंकट में डाल देनेवाली समस्या को उनके आगे रखा, तब उन्होंने विचलित हुए बिना ही कहा, "जब मैंने उसे यवन राजा को सौंप दिया तो वह उसी का बन गया। मेरा उससे सम्बन्ध समाप्त हो गया। यादव-प्रमुख होने के नाते उसके विषय में कोई भी कठोर निर्णय करने का तुम्हें पूरा अधिकार है। इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी। मेरी निष्ठा सदैव यादवों से रही है, और रहेगी।"

गर्ग मुनि हमारे आदर्श थे–ज्ञानी थे। वे जातक और स्थापत्य शास्त्र के विशेषज्ञ थे। जीवन का सर्वांगीण ज्ञान उन्होंने अँजुली भर-भरकर यादवों को दिया था। उन्हें अपमानकारक कुछ बोलना हमारे लिए सम्भव नहीं था और उन्हें चोट पहुँचे, ऐसा कुछ करना और भी असम्भव था।

"आवश्यकता पड़ने पर हमें उसका वध भी करना पड़ेगा। आपको यह कैसे स्वीकार होगा मुनिवर!" दाऊ ने स्पष्ट कहा।

मैं उनकी ओर देखकर मुस्कराया। मैंने कहा, "दाऊ, भूल कर रहे हैं आप। आचार्य ऐसा कुछ भी नहीं कहेंगे।" मैंने अपेक्षा से आचार्य की ओर देखा।

अब वे भी मुस्कराये। उन्होंने कहा, "उचित कहा श्रीकृष्ण ने। मुझे पहचानने में तुमने भूल की है बलराम।" उन्होंने अपनी बात स्पष्ट की। अब हम सभी कठिन समस्याओं का सामना करने को तैयार हो गये। यादवों सहित मुझे और दाऊ को आमूल नष्ट किये बिना जरासन्ध सन्तुष्ट होनेवाला नहीं था। गोमन्त पर हुई अपनी घोर पराजय से वह और भी भड़क उठा था, बहुत अपमानित हुआ था वह। उसने अपने साथियों में अब शाल्व और कालयवन को सम्मिलित कर लिया था। मथुरा पर किये जानेवाले संयुक्त आक्रमण पर विचार-विमर्श के लिए गिरिव्रज में राजसभा का आयोजन किया गया। इस आक्रमण में मेरे दो फुफेरे भ्राता शिशुपाल और दन्तवक्र तथा कालयवन और गुप्त रूप से राजा भीष्मक जरासन्ध की सहायता करनेवाले थे।

पूर्व से शिशुपाल और स्वयं जरासन्ध, पश्चिम से शाल्व और दक्षिण से भीष्मक की तिधारी कतरनी में जरासन्ध मथुरा को चीर डालना चाहता था। जरासन्ध के नरमेध यज्ञ में यादव बाधा बने थे। उसके नरमेध यज्ञ के संकल्प को पूरा करने में अब केवल चौदह राजाओं की कमी थी।

बलाढ्य शत्रु की सशस्त्र सेनाएँ अब मगध में इकट्ठा होने लगीं। यह सूचना मिलते ही मैं अमात्य विपृथु, उद्धव और दाऊ को लेकर ककुद्मिन महाराज के पास रैवतक चला गया। उनकी सहायता से कुछ निष्णात पनडुब्बों को हमने अपने साथ ले लिया। एक सप्ताह तक हमने प्रभास क्षेत्र से लेकर कुशस्थली तक के समुद्र का सूक्ष्म निरीक्षण किया। जिस द्वीप पर मैंने शंखासुर का वध किया था, वहाँ तक समुद्र-तट के सारे प्रदेश को हमने नौकाओं द्वारा छान डाला।

सौभाग्य से रैवतक पर्वत के पास कुशस्थली के समीप एक शान्त, विशाल द्वीप हमारी दृष्टि में आया। भिन्न-भिन्न वृक्षों से घिरा वह हरा-भरा द्वीप सागर के नीले सम्पुट में विराजित मरकत मणि की भाँति शोभित हो रहा था!

समुद्र में ही पूँछ के आकार की बीस कोस लम्बी भू-पट्टी से वह द्वीप शंखोद्धार द्वीप से जुड़ा हुआ था। वे दो अलग-अलग द्वीप नहीं थे। बीच की पट्टी को लेकर, डमरू के आकार का वह जुड़वाँ द्वीप था। खाड़ी से एक योजन का अन्तर पार कर सरलता से कुशस्थली के द्वीप पर जाया जा सकता था। समुद्र पर दृष्टि रखने के लिए भी वह स्थान योग्य था।

शंखोद्धार द्वीप भी समुद्र में समुद्र-तट से एक योजन की दूरी पर था। एक सँकरी भू-पट्टी से जुड़े ये दोनों द्वीप–शंखोद्धार और कुशस्थली–प्रकृति का एक दुर्लभ चमत्कार थे! कैसे दिखते थे वे! दूर तक फैली लहरों के अपने हाथ-पाँव हिलाती नन्ही-सी सागरकन्या के हाथ के झुनझुने के समान! सागर का अविरत गर्जन उसकी झुन-झुन थी। आनर्त, सौराष्ट्र, भृगुकच्छ, मरुस्थल, अवन्ती आदि राज्यों से भू-मार्ग द्वारा सम्पर्क बनाये रखने के लिए ये द्वीप योग्य थे। उनकी उत्तर दिशा में दूर तक सैकड़ों योजन वीरान मरुभूमि फैली हुई थी। कच्छ की मरुभूमि। अर्थात् दक्षिण, पश्चिम और उत्तर–तीनों दिशाओं से इन द्वीपों पर आक्रमण सम्भव नहीं था, वहाँ सर्वत्र पश्चिम सागर फैला हुआ था। केवल पूर्व दिशा में वे द्वीप समुद्र-मार्ग से सौराष्ट्र की भूमि से संलग्न थे।

मैंने दाऊ, उद्धव और विपृथु सहित नौकाओं से जाकर दोनों द्वीपों का चतुर्दिक् निरीक्षण किया। उन जुड़वाँ द्वीपों का परिसर विशाल था। कुशस्थली द्वीप के केन्द्र में एक विशाल पाषाण-खण्ड पर हम बैठ गये। वह पाषाण-खण्ड वर्षों से धूप की और सागर-जल की मार सहता आया था। सूर्य-किरणों में उसका सीसे जैसा रंग ऐसे चमक रहा था कि उस पर दृष्टि ठहर नहीं पाती थी। जाने कैसे, वहाँ बैठे-बेठे अपने-आप ही मैं आचार्य सान्दीपनि के सिखाये ध्यान में लीन हो गया–'हिरण्मयेन पात्रेण...सत्यधर्माय दृष्टये...'

क्षण-भर में मैं उस द्वीप से दाऊ, उद्धव एवं विपृथु से अलग हो गया। दीर्घ समय तक समुद्र के गर्जन से एकात्म होकर मैंने उससे मौन संवाद स्थापित किया। सुदर्शन के मन्त्र और समुद्र का गर्जन एकरूप हो गया। मुझे प्रतीत हुआ, यह अनाहत नाद मुझसे भली-भाँति परिचित है। उससे मेरा अखण्ड, अटूट सम्बन्ध है–नहीं, वह मेरा ही नाद है! मैं और वह अलग नहीं हैं। मेरे सुदर्शन मन्त्र की लय और समुद्र-गर्जन एक ही हैं। मेरे मेरुदण्ड से–उन दोनों स्वरों से एक तीसरा ही स्वरदण्ड सरसराता हुआ ऊपर आया।

वह अनाहत नाद गरजकर मुझसे कहने लगा–"श्रीऽकृष्ण, यही है तुम्हारी कर्मभूमि! हे

श्रीकृष्ण, यहीं तुम आर्यावर्त के पहले वैभवशाली स्वर्णनगर का निर्माण करो। भव्य नौकाओं को आश्रय देनेवाले आर्यावर्त के पहले ही पत्तन का तुम निर्माण करो–यहीं जीवनी-शक्ति से निरन्तर गरजते रहते इस सागर-तट पर। यही तुम्हारी कर्मभूमि, तपोभूमि और मोक्षभूमि है।...

"उठो वृष्णि-अन्धकों के वंशज, वसुदेव के सुपुत्र, हे अच्युत, ऐसा दृढ़ और गगनस्पर्शी संकल्प करो, जो सम्पूर्ण विश्व को सदैव स्मरण रहे। इसी समय, कुशस्थली की इस भूमि पर यादवों के लिए एक विशाल, सुरचित, स्वर्णिम, सुरक्षित राजनगरी का निर्माण करने का संकल्प करो।"

मैंने धीरे-धीरे आँखें खोलीं। मन्त्रबिद्ध-सा होकर मैं अपने-आप खड़ा हो गया। कटि के दुकूल में बँधे पांचजन्य को निकालकर मैंने अपनी अँजुली में ले लिया। उसे मस्तक से लगाकर मैंने आचार्य सान्दीपनि, भगवान परशुराम, अपने दोनों माता-पिताओं, राधिका, चित्रसेन दादाजी और अपने पूर्वजों का स्मरण किया। कण्ठ की धमनियों को फुलाते हुए, गगनगामी ग्रीवा उठाकर मैंने पंचप्राणों से उस सुलक्षण, दिव्य शंख को फूँका। उसके रोमांचक स्वर पश्चिम सागर के गर्जन में लीन होने लगे। मानो उन्हें सुनने हेतु कई बड़े-बड़े रुपहले मत्स्य सागर-जल पर उछले और फिर अदृश्य भी हो गये!

समय-सूचक उद्धव शीघ्रता से अँजुली भरकर सागर-जल ले आया। उसने वह जल शुभ्र-धवल पांचजन्य से कुशस्थली की भूमि को अर्पित किया और धड़ाधड़ भू-पूजन के मन्त्रों का उच्चारण किया। संकल्प घोषित करनेवाला, शंखनाद करनेवाला मैं और संकल्प-जल अर्पित करनेवाला उद्धव–हमने नम्रतापूर्वक हाथ जोड़े। अब संकल्प हो चुका था–पश्चिम सागर के तट पर यादवों के संरक्षक, स्वर्णिम राजनगरी के निर्माण का! एक सामर्थ्यशाली, कल्याणकारी महाजनपद के निर्माण का!

दूसरे ही दिन उद्धव सौराष्ट्र से एक वेद-सम्पन्न, वृद्ध पुरोहित को ले आया। उसके द्वारा हमने कुशस्थली के द्वीप पर विधिपूर्वक भूमि-पूजन करवाया। तत्पश्चात् हम मथुरा लौट आये। मेरे मन में एक ही प्रश्न मँडरा रहा था–राजनगरी का निर्माण तो होगा ही, किन्तु उसका नाम क्या होगा? उसके लिए उचित नाम मुझे सूझ नहीं रहा था।

मैंने मथुरा में यादव राजसभा को आमन्त्रित किया। सभी प्रमुख यादवों की जीवन-यात्रा में, मथुरा में आयोजित की गयी वह अन्तिम राजसभा थी। मेरी सूचना के अनुसार, उस सभा के मुख्य अतिथि-पद का सम्मान उग्रसेन महाराज गर्ग मुनि को प्रदान करनेवाले थे। उस सभा के पश्चात् सभी यादव निष्ठापूर्वक नूतन नगर-निर्माण के कार्य में जुट जानेवाले थे। खचाखच भरी वह यादव-सभा गम्भीर वातावरण में आरम्भ हो गयी।

सबका स्वागत करने के पश्चात् मैंने कहा, "प्रिय यादवजनो, आप सबके लिए मैं एक आनन्द का समाचार लाया हूँ। यादवों के लिए शीघ्र ही एक नूतन राजनगरी का निर्माण किया जाएगा। दाऊ, उद्धव और विपृथु सहित मैंने उचित स्थल को चुना है। उसका पूजन करके ही हम लौटे हैं। सुदूर पश्चिम सागर-तट पर आनर्त राज्य की रैवतक पर्वत-श्रेणी के निकट ही है वह स्थल।

"आँखों को चौंधिया देनेवाली उस नगरी का योजनाबद्ध निर्माण हमारे निष्णात स्थापत्य-विशारद मुनिवर गर्ग करेंगे। मुझे विश्वास है, अपनी प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि के अनुरूप ही नगरी का निर्माण करेंगे वे। हमारे स्थापत्य-विशारद, लौहकर्मी, काष्ठतक्ष, ताम्रकार, सुवर्णकार आदि सभी

कारीगर मुनिवर की सूचनाओं के अनुसार कार्य में जुट जाएँगे। अमात्य विपृथु के द्वारा देश-विदेश से आमन्त्रित किये गये निष्णात कारीगर उनकी सहायता करेंगे। वह नगर सभी यादवों का होगा। अत: अपनी पूरी कुशलता और परिश्रम के साथ सभी नगरजनों को उस कार्य में जुट जाना है।

"मथुरा यादवों का मूल स्थान है। इसलिए हम उसे पूर्णत: त्याग नहीं सकते। महाराज उग्रसेन अपनी इच्छा के अनुसार कुछ समय विशिष्ट योद्धा और सैनिकों सहित मथुरा में ही रहेंगे। अन्य सभी–आबालवृद्ध, नर-नारी अब पश्चिम सागर की ओर प्रस्थान करेंगे। क्या यह प्रस्ताव सभी को स्वीकार है?" मैंने अपने दाहिने हाथ की मुट्ठी ऊपर उठाकर यादवों की भरी राजसभा का भावपूर्ण आह्वान किया।

"स्वीकार हैऽ! स्वीकार है ऽ यादवश्रेष्ठ! कल ही हम मथुरा से प्रस्थान करेंगे। यादव-नायक श्रीऽकृष्ण महाराऽज की जय हो!...जय हो!" राजसभा में ऐसा एक भी कण्ठ नहीं था, जिसने इस जयघोष का साथ न दिया हो।

उनमें से कई वृद्ध यादवों के कानों में गोकुल के गोपालों से सुने शब्द मँडराने लगे–'पश्चिम सागर-तट पर यह किसी राजकुल का पुनर्वास कराएगा।'

मेरे मन में सुदर्शन का दिव्य मन्त्रघोष गूँज रहा था और आँखों के सामने अविरत लपलपाती नीली लहरोंवाला सागर छलक रहा था।

कुछ दिन व्यतीत हुए। हमारे गर्ग मुनि और देश-विदेश के राजपुरोहितों द्वारा घोषित किये गये खग्रास सूर्यग्रहण की सूचना सर्वत्र फैल गयी। प्रथा के अनुसार इस ग्रहण का प्रदोष निवारण करना था। ब्रह्मावर्त के प्रमुख महाजनपदों के राजा और उनके परिवार तीर्थक्षेत्र कुरुक्षेत्र पर आनेवाले थे–सन्नेथ सरोवर के तट पर–सूर्यकुण्ड के पास! हम यादव भी वहाँ जानेवाले थे। यादवों के कुछ दल भेजकर शिविर का प्रबन्ध भी किया गया था। हमारे शूरसेन राज्य को भी तीन प्रबल शत्रुओं का–कालयवन, शाल्व और जरासन्ध का विनाशक खग्रास ग्रहण ग्रसनेवाला था।

प्रस्थान के मुहूर्त पर हम–अर्थात् मैं, दाऊ, उद्धव, दोनों सेनापति, अक्रूर, सत्राजित आदि योद्धा कुरुक्षेत्र की ओर निकल पड़े। मेरे गरुड़ध्वज रथ का सारथ्य दाऊ और ऊधो करनेवाले थे। दान-वस्तुओं से लदी बैलगाड़ियाँ पहले ही आगे भेजी गयी थीं। जाने क्यों इस बार मुझे तीव्रता से प्रतीत हो रहा था कि मैं सारथ्य न करूँ! रथ के पार्श्वभाग में बैठकर दिखती नयनाभिराम प्रकृति को निहारते हुए मेरे मन में विचारों के चक्र-ही-चक्र घूम गये थे!

कुरुक्षेत्र! सरोवरों से सम्पन्न, पवित्र धर्मक्षेत्र! यादव, कुरु, मत्स्य, चेदि, पांचाल आदि क्षत्रियों के पूर्वजों की कई पीढ़ियाँ कई वर्षों से यहाँ उपस्थित हुआ करती थीं–प्रत्येक सूर्यग्रहण के समय। सन्नेथ सरोवर के तट पर विविध दान देकर वे धन्य हो गयी थीं।

हम भी कुरुक्षेत्र की ओर जा रहे थे। लाख प्रयास करने पर भी मेरे मन का जल-काक पक्षी मेरे शरीर की शाख पर ठहर नहीं पा रहा था। जब से मैंने सुदर्शन को प्राप्त किया था, उसी के पवित्र मन्त्र मेरे मन में गूँजते रहते थे। किन्तु आज मुझे बार-बार आभास हो रहा था सागर के ज्वार के भयंकर गर्जन का और टिटहरी की कर्कश ध्वनि का। क्यों हो रहा था ऐसा? मैंने अपने मन से कई बार पूछा, किन्तु उचित उत्तर नहीं मिल रहा था। आखिर अपने-आप से मुस्कराते हुए मैंने मन में उभरते प्रश्नों को झटक डाला। मुझे मुस्कराते देख उद्धव ने पूछा, "ऐसे रहस्यमय क्यों मुस्करा रहे हैं आप? भैया, क्या सोच रहे थे आप, कहिए तो?" आगे दिखते सन्नेथ सरोवर की

ओर तर्जनी से निर्देश करते हुए मैंने कहा, "देखो उद्धव, हमारा गन्तव्य स्थान आ गया–कुरुक्षेत्र–धर्मक्षेत्र!"

सूर्यकुण्ड की उत्तर दिशा में हमने पड़ाव डाला था, शिविर खड़े किये थे। गर्ग मुनि की सूचना के अनुसार स्नानादि से निवृत्त होकर हम सूर्यकुण्ड में उतर गये। ग्रसित होनेवाले आकाशमणि सूर्यदेव को हमने अर्घ्य दिया। कुण्ड के तट पर बनी दान-वेदिका पर खड़े होकर मैं, दाऊ और उद्धव यात्रियों को दान देने लगे। सरोवर-तट पर सर्वत्र दान दिये जा रहे थे। हम भी सुलक्षण, पुष्ट गायें, उपयुक्त पालित प्राणी, शुद्ध मधु और दिव्य वनौषधियों के कुम्भ, वस्त्र, धन, माणिक, मोती, वैदूर्य आदि रत्न, सुवर्ण, चाँदी आदि के अलंकार दान देने लगे। तेजस्वी सूर्य-बिम्ब का ग्रास आरम्भ हो गया और मेरा सारा शरीर थरथरा उठा। आसपास के आप्तजन, अमात्य, मुनिवर गर्ग, सन्नेथ कुण्ड और हाँ–कुरुक्षेत्र को भी मैं भूल गया। मेरी आँखें अपने-आप बन्द हो गयीं। मुझे आभास हुआ मैं–मैं ही ग्रसित हो रहा हूँ! मैं–रविरंशुमान! और कुछ भी शेष नहीं रहा। कण-कण से मैं ग्रसित होता गया–होता गया!...

कुछ ही क्षणों में मुझे झँझोड़कर, आँखें विस्फारित करते हुए उद्धव ने पूछा, "भैया, कुछ ही समय पहले–ग्रहण काल में–कितने काले पड़ गये थे आप! भैया, सच बताइए, वास्तव में आप हैं कौन?"

उसका ध्यान दूसरी ओर खींचते हुए मैंने कहा, "पहले अक्रूर काका क्या कह रहे हैं, वह तो सुन लो उद्धव!" फिर मैं मुस्कराया, जैसे कुछ हुआ ही न हो! अक्रूर काका समीप ही खड़े थे। वे कहने लगे, "हे श्रीकृष्ण, हस्तिनापुर के महामन्त्री विदुर से मेरी अभी-अभी भेंट हुई थी। आपकी बुआ कुन्तीदेवी भी आयी हैं यहाँ–अपने पाँचों पुत्रों सहित। वे अपने दानादि धर्मकृत्यों से निवृत्त हो चुकी हैं। आपसे मिलने के लिए वे यहीं आ रही हैं।" यह सुनकर मैंने दाऊ से कहा, "दाऊ, हमारे दान सार्थक हो गये। आज सूर्यग्रहण के दिन, कुरुक्षेत्र में हमारी बुआ कुन्तीदेवी के–उनके पुत्रों सहित–शुभदर्शन का सुअवसर हमें प्राप्त हो रहा है। आइए दाऊ, उनका स्वागत करें।" वे दोनों मेरे पीछे आ रहे हैं कि नहीं, यह देखे बिना ही मैं अक्रूर काका के साथ चल पड़ा।

हरी-भरी तृण-भूमि पर चलते हुए कुछ ही दूरी पर मैं पहुँचा था कि तात ने बार-बार जिनका उल्लेख किया था, वे मेरी कुन्ती बुआ दिखाई दीं–शुभ्रवस्त्रा, सात्त्विक, तनिक स्थूलकाय! उनका मुखमण्डल गोलाकार था, भालप्रदेश कुंकुमविहीन! उनकी चाल धीमी थी। उनकी दायीं ओर उनका एक पुत्र था और बायीं ओर एक हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ठ पुत्र था। उनके पीछे-पीछे राजहंसों की डौलदार जोड़ी की भाँति एक ही आयु की शारीरिक क्षमतावाले दो पुत्र चल रहे थे। इस पूरे परिवार के पीछे हमारे विपृथु की ही आयु के, वैसे ही सत्त्वशील दिखनेवाले कौरवों के महामन्त्री महात्मा विदुर थे।

आचार्य सान्दीपनि और भृगुश्रेष्ठ परशुराम के दर्शन होते ही जिस प्रकार मैं उनकी ओर खिंचा चला गया था, उसी प्रकार मैं कुन्ती बुआ की ओर खिंचा चला गया। शीघ्र ही डग भरते हुए मैं उनके समीप गया। घुटने टेककर मैंने अपना मोरमुकुटधारी मस्तक उनके विमल चरणों पर रख दिया। मुझे आभास हुआ, यह चरणस्पर्श तो मेरी गोकुल की और मथुरा की बड़ी माँ के चरणस्पर्श के समान ही है। कुछ क्षण मेरा मस्तक उनके चरणों पर टिका ही रहा। मेरे मोरपंख पर पड़े दो अश्रु-बिन्दु मेरे मुकुट से फिसलकर मेरे गालों पर पड़े। जिस प्रकार मैं सूर्यग्रहण के समय थर्रा उठा

था, उसी प्रकार अब भी थर्रा उठा! पीछे-पीछे भाव-भरे दो शब्द सुनाई दिये–"हे कृष्ण, उठो...उठो।"

मैंने ऊपर उठकर बुआ की आँखों से आँखें मिलायीं। मानो जनम-जनम का आन्तरिक परिचय मिल गया। वे आँखें अलग ही थीं। न मेरी दोनों माताओं जैसी थीं, न तात जैसी! दूसरे ही क्षण मेरी उस प्रिय, मानिनी, सहनशील बुआ ने मुझे अपने दृढ़ आलिंगन में ले लिया। उनका हृदय भर आया था।

कुछ क्षण बाद उनकी भावनाओं में आया उफान कुछ शान्त हो गया। मेरे कन्धों पर हाथ रखकर उन्होंने मुझे अपने ज्येष्ठ पुत्र के सम्मुख किया और कहा, "युधिष्ठिर, यह तुम्हारा ममेरा भ्राता है–मेरे भैया वसुदेव और देवकी भाभी का पुत्र। यह जग के लिए श्रीकृष्ण होगा, मेरे लिए केवल कृष्ण।"

मैं युधिष्ठिर को वन्दन करने के लिए झुका ही था कि उसने "नहीं... नहीं...रहने दो...रहने दो" कहकर बीच ही में मुझे रोक दिया।

अब दाऊ और उद्धव ने भी बुआ के चरणस्पर्श किये। बुआ ने अपनी बायीं ओर खड़े गौरवर्ण, हृष्ट-पुष्ट पुत्र की भुजा पकड़कर उसे हमारे सम्मुख किया और कहा, "यह है मेरा भीम! इसे वश में रखना झंझावात को वश में रखने जैसा है। मुझे छोड़कर यदि यह किसी की सुनेगा, तो केवल तुम्हारी!" हृष्ट-पुष्ट भीम ने अपनी माता के संकेत का अभिप्राय समझकर पीछे खड़े दो अनुजों को आगे लाकर चरण-वन्दना हेतु निर्देश दिया और मुझसे कहा, "हे यादवश्रेष्ठ, मेरी अपेक्षा इन दोनों को ही तुम्हारे मार्गदर्शन की अधिक आवश्यकता होगी। ये हैं मेरे प्रिय अनुज–नकुल और सहदेव।" उन दोनों अनुजों को ऊपर उठाते हुए मैंने उनकी ओर देखा। उनमें से नकुल बहुत ही सुन्दर था–सीधी नाक, सुघड़ शरीराकृति, आरक्त-गौरवर्ण–मेरे उद्धव जैसा ही। दोनों में एक अन्तर था। उद्धव अधिक सात्त्विक प्रतीत होता था। भीम ने मुझे अपने आलिंगन में कस लिया। क्षुधा शान्त हुए वनराज सिंह की भाँति उसका मुख अब शान्त दिखने लगा था!

मैंने अत्यन्त प्रेम से अपने चारों फुफेरे भ्राताओं–पाण्डुपुत्रों की आकृतियों का एक ही दृष्टिपात में निरीक्षण किया। युधिष्ठिर ऊँचा, चौड़े कन्धोंवाला, उन्नत वक्ष, गौरवर्ण और उभरी नाकवाला था। उसके मुखमण्डल पर शान्त भाव था। उसकी पुष्ट ग्रीवा कन्धों से ऊपर कुछ अधिक ही लम्बी थी। उसकी भौंहें लम्बी थीं। कनपटियाँ कुछ ऊँची और कान की लौ रक्तिम, मांसल थी। आयु में वह मुझसे थोड़ा ही क्यों न हो, ज्येष्ठ ही था।

भीम के नेत्रों के किनारे आरक्त थे। उसका शरीर शब्दश: पर्वत के समान और पुट्ठे वनराज के समान थे। उसका वक्ष इतना पुष्ट एवं दृढ़ था कि उसे यदि बलयुक्त मुष्टिप्रहार से आघात किया जाए तो 'ठन्न' जैसी ध्वनि ही निकलती! मानो वह लोहे से ही बना हुआ हो! उसके विपुल, घुँघराले केश उसके पुष्ट कन्धों पर झूल रहे थे। सुननेवाले को दहला देनेवाली उसकी आवाज थी–मृग नक्षत्र में गरजते मेघों जैसी। वह भी मुझसे ज्येष्ठ था।

नकुल-सहदेव एक ही आयु के थे। उनकी शरीराकृति और ऊँचाई एक जैसी थी। कपोत पक्षियों के नर जोड़े की भाँति वे दिखाई देते थे। दोनों के शरीर चिकने थे। वे बुद्धिमान दिखते थे। ऊँचाई में वे मुझसे थोड़े कम थे। भीम उनसे तनिक ऊँचा किन्तु मुझसे ठिगना था। इस पहली ही भेंट में मुझे तीव्रता से प्रतीत हुआ कि उनमें से किसी के भी मस्तक पर मुकुट नहीं था। तीर्थक्षेत्र पर आना था, इसलिए उन्होंने कौरवों की प्रथा के अनुसार पारम्परिक मरोड़दार मुँडासे ही धारण

किये हुए थे।

उन चारों को ऊँचाई की दृष्टि से क्रमश: निहारते हुए मुझे अचानक प्रतीत हुआ कि इनमें मेरी ऊँचाई का कोई कैसे नहीं है? उनके समीप ही कौरवों के महामन्त्री विदुर खड़े थे। मेरी दृष्टि उनकी दृष्टि से मिलते ही उनकी आँखों से मानो असंख्य तेजपक्षी उड़ गये! उनकी गोलाकार, गौरवर्णी मुद्रा भावुक हो गयी। ज्येष्ठ होते हुए और कौरवों के महामन्त्री होते हुए भी वे मुझे वन्दन करने हेतु झुकने लगे। शीघ्रता से उनको ऊपर उठाते हुए मैं उनसे लिपट गया। मैं उद्धव से भी इसी प्रकार लिपट गया था—यमुना के कछार पर। मैं बुदबुदाया—"कैसे हैं आप?" मेरे मन में एक और सुहृद का नाम लिख गया। बुआ की ओर मुड़ते हुए मैंने पूछा, "बुआ, आपका पाँचवाँ पुत्र कहीं दिखाई नहीं दे रहा है? कहाँ है वह?"

बुआ मेरी ओर देखकर हँसती ही रहीं। मेरी कुछ समझ में नहीं आ रहा था। आज तक मैं जग को चक्कर में डालता आया था। किन्तु बुआ की हँसी रहस्यमय थी—मुझे चकरा देनेवाली। क्षणार्द्ध में उन्होंने योगी की भाँति अपनी आँखें भौंहों की ओर घुमायीं। मैं समझ गया, वह मेरे पीछे ही खड़ा है। मैं धीरे-से पीछे मुड़ा। चरणस्पर्श के लिए उत्सुक उस तेजस्वी कुरुयोद्धा ने बड़ी चपलता से, पलक झपकते ही अपना बायाँ घुटना धरती पर टेककर ऐसा सुदर्शन वीरासन लगाया कि मैं देखता ही रह गया। देखते ही रहने जैसा था भी वह! कैसा दिखाई दिया वह मुझे उस वीरासन में? अपने शुभ्र पंख हिलाते हुए मानसरोवर पर उतरनेवाले डौलदार पक्षीराज राजहंस जैसा! मथुरा के राजप्रासाद के कलश पर बैठे डौलदार श्वेत कपोत जैसा! नहीं—वह किसी और की भाँति नहीं, स्वयं अपने जैसा ही दिख रहा था वह—अपने विशिष्ट वीरासन के कारण।

उसके पुष्ट वृषभस्कन्धों को पकड़कर मैंने उसे प्रेमपूर्वक धीरे-से ऊपर उठाया। अपनी आँखें उसकी आँखों से मिलायीं। वह मुस्कराया। हम एक-दूसरे को पहचान गये—जन्म-जन्मान्तर के लिए! वह मेरी ही ऊँचाई का था। उसका वर्ण भी मेरे ही जैसा था। हलका नीला। तप्त लौह-छड़ पर जल छिड़कने से फैलनेवाली नीली, जामुनी छटा जैसा! वह मत्स्यनेत्र और बाण के फल की भाँति सीधी नाकवाला था। मेरी ग्रीवा की भाँति ही सुन्दर ग्रीवावाला—मेरी ही प्रतिकृति। क्षण-भर के लिए मुझे लगा—कहीं मैं स्वयं को ही तो दर्पण में नहीं देख रहा हूँ! अगले ही क्षण उसमें और मुझमें जो सूक्ष्म अन्तर था, वह मेरे ध्यान में आया। मेरे मुँह में दायीं ओर एक दुहरा दाँत था। उसके मुँह में ऐसा ही दुहरा दाँत बायीं ओर था। मैं मुस्कराया, वह भी वैसे ही मुस्कराया। बुआ ने हम दोनों के कन्धों पर हाथ रखकर उन्हें हलके से दबाया। इससे पहले कि वे कुछ बोलें, मैंने कहा, "बुआ, आपका यह अर्जुन यथासम्भव ज्ञान का अर्जन करनेवाला, सद्गुणों को ही धन समझकर प्राप्त करनेवाला धनंजय है! क्यों पार्थ?" मैंने उसकी आँखों से आँखें मिलाते हुए पूछा।

"जन्मत: ही इन्द्रियों को वश में रखनेवाले हृषीकेश, आपको किसी का परिचय प्राप्त करने की क्या आवश्यकता है? और मुझे आपका कैसा परिचय चाहिए, यह तो मैंने दिखा ही दिया है, तेरे चरणों में नत होनेवाले अपने वीरासन से!" उसने कहा। मैंने उस सुडौल शरीराकृतिवाले नरोत्तम को अपने दृढ़ आलिंगन में कस लिया। मेरी प्रिय बुआ के संक्षिप्त से शब्द सुनाई दिये—'एक जैसे ही दिख रहे हैं। पहचाना ही नहीं जाता कौन—कौन है! ऐसे ही रहो, एकप्राण—एकमन! आयुष्मान भव! विजयी भव!'

कुरुक्षेत्र के सन्नेथ सरोवर पर शान्त रात्रि उतर आयी। मैंने कुन्ती बुआ के मुख से उनकी

सत्त्व-परीक्षा लेनेवाली जीवन-गाथा सुनी। उनके चारों पुत्र थोड़ी देर में निद्राधीन हो गये। पूरी रात बुआ हर्ष-अमर्ष की घटनाओं से परिपूर्ण, रोंगटे खड़े कर देनेवाली बालपाण्डव-गाथाएँ सुनाती रहीं, मैं सुनता रहा–मन में बार-बार उफनते सुदर्शन के दिव्य मन्त्रों को रोकते हुए। इसका साक्षी था केवल बीच-बीच में मधुर मुस्कराता हुआ जागृत अर्जुन! गुडाकेश–निद्राविजयी!

जिस प्रकार मेरे कुछ यादव साथी, मेरे अश्व, पश्चिम सागर, दारुक, सुदामा, उद्धव और ग्रसित हो गया सूर्य मुझे अपने शरीर के ही एक-एक अंग लगे थे, उसी प्रकार यह अर्जुन भी था। गोकुल में मेरी प्रिय सखी राधा थी, उद्धव मेरा प्रिय भ्राता था; किन्तु यह सबसे अलग था–मेरा जीवन-सखा।

मैं वृक्ष था–अश्वत्थ, उलटा अश्वत्थ! किन्तु अर्जुन था उस उलटे अश्वत्थ की सीधी छाया। मैं आकृति था–मानव-शरीर की नहीं, एक वजन रहित ऊर्जा की एक तेजस्वी जीवन-ज्योति की! मेरा यह प्रिय सखा अर्जुन उस दिव्य ज्योति की छाया था। क्या ज्योति की छाया हो सकती है? हाँ–हो सकती है, वह भी तेजःपुंज! साँवला अर्जुन मुझे तेजस्वी छाया जैसा ही लगा। एक विशेष लक्ष्य के लिए विसर्जन की भावना से मैं अविरत प्रयत्नशील था। इस लक्ष्य को प्रेमयोग से ही प्राप्त किया जा सकता था। इसलिए मुझ पर नितान्त एकनिष्ठ श्रद्धा रखनेवाले पराक्रमी साधन-पुरुष की मुझे आवश्यकता थी। अर्जुन के रूप में वह मुझे प्राप्त हुआ था।

कुन्ती बुआ से विदा लेकर हम मथुरा लौट आये। लौटते समय एक ही विचार मेरा पीछा कर रहा था–जैसे सचेत सारथि अपने हाथ का प्रतोद फटकारता हुआ अश्वों का पीछा करता है। सूर्यग्रहण का प्रदोष दान द्वारा निवारण किया जाता है। भविष्य में आनेवाले मानवी ग्रहणों का प्रदोष-निवारण करने का क्या उपाय हो सकता है?

मथुरा पहुँचने के पश्चात् सेनापति सात्यकि ने भृगुकच्छ के आश्रम से आये एक शिष्य को मेरे सम्मुख प्रस्तुत किया। उसके द्वारा दी गयी सूचनाएँ हमें अपने कर्तव्य के लिए शीघ्रता करने को बाध्य कर देनेवाली थीं। कालयवन की प्रचण्ड सेना सागर के मार्ग से नौकाओं द्वारा पश्चिम तट पर उतरी थी। मगध से आयी जरासन्ध की सेना भी उससे मिल गयी थी। अर्बुदगिरि के राजनगर मार्तिकावती से ससैन्य निकला शाल्व उनसे आ मिला था और कौण्डिन्यपुर से राजा भीष्मक भी उनकी सहायता हेतु ससैन्य निकल पड़ा था। पश्चिम सागर के तट पर इस त्रिकुटी का मिला-जुला गरजता सेना-सागर फैल गया था। वहाँ से निकलकर मथुरा को चारों ओर से घेरकर मसल डालने की, समूल नष्ट कर देने की योजना थी उनकी।

भृगुकच्छ के परशुराम-शिष्य ने ही ये सूचनाएँ हमें दी थीं। अब समय को व्यर्थ जाने देना सम्भव नहीं था। मैंने और दाऊ ने सेना की तैयारियाँ आरम्भ कीं। भेरी, तुरही, नगाड़ों, दुन्दुभियों के सम्मिलित नाद से मथुरा नगरी गूँज उठी। सुनहरे गरुड़-चिह्न से अंकित केसरिया रंग की ध्वजाओं को फहराते हुए रथ सज्जित हो गये और मथुरा से निकलकर पश्चिम सागर की दिशा में चलने लगे। हमारे नगरजन और कारीगर बड़ी संख्या में नये राजनगर के निर्माण हेतु पहले ही कुशस्थली की ओर निकल गये थे। हमारी सैन्य-व्यवस्था हमारे कुलपुरुष यदु-क्रोष्टु के काल से ही आदर्श थी। दूर-दूर के अभियानों पर चले जाना, युद्ध लड़ना यादवों की परम्परा ही थी।

हमारे सैन्यों के अग्र में हमारा गजदल था, जिसमें बेलबूटेदार झूलों से और घण्टिकाओं की मालाओं से सजे और हौदों से युक्त सैकड़ों हाथी थे। गजदल के सेनापति को गजदलपति कहा

जाता था। गजदल के पीछे हाथियों द्वारा उखाड़कर फेंके गये ऊँचे-ऊँचे वृक्षों को मार्ग से हटाने के लिए कुशल लोग थे। उनके पीछे दोनों ओर ऊँटों की पंक्तियाँ थीं। ऊँटों की पीठ पर भी योद्धाओं को बैठने के लिए मचान थे। उनके पीछे भाला, खड्ग, शतघ्नी, भुशुण्डी आदि शस्त्र धारण किये अश्वारोहियों के दल थे।

इस दल के पीछे गदा, चक्र, खड्ग, भाला आदि शस्त्र धारण किये पदातियों के दल थे। और सबसे पीछे सेना के लिए आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति करनेवाला दल था, जिसे आरक्षा-दल कहा जाता था। उसमें सेना के भोजन से लेकर वस्त्रों तक, औषधियों से लेकर मनोरंजन तक पूरा प्रबन्ध करनेवाले कुशल सैनिक हुआ करते थे।

अपनी इस चतुरंगदल सेना पर दो निष्णात सेनापति रात-दिन दृष्टि रखा करते थे—सात्यकि अर्थात् युयुधान और अनाधृष्टि। हमारे सैनिक उनका आदर किया करते थे।

पश्चिम सागर की इस यात्रा में मैंने और दाऊ ने मथुरा के सभी यादवों को अपने साथ ले लिया था। सत्राजित, कृतवर्मा, अक्रूर, शिनि, अवगाह, यशस्वी, चित्रकेतु, बृहद्‌बल, भङ्कार आदि कई निष्णात योद्धा हमारे साथ थे। एक के बाद एक पड़ाव डालते हुए हम पश्चिम सागर के पास मरुस्थली में अर्बुदगिरि के समीप आ गये। हमें सूचना मिली थी कि शत्रु-सैन्य धौलपुर के समीप पर्वत की पादभूमि में पड़ाव डाले हुए है। धौलपुर के समीप आते ही सैन्य की गतिविधियों का अपना प्रस्ताव मैंने दाऊ के समक्ष रखा। एक ही ओर से हम शत्रुसेना पर धावा बोल दें, यह सम्भव नहीं था। तीन बलाढ्‌य शत्रुओं की एकत्रित सेना हमारी सेना से तिगुनी थी। एक ओर पश्चिम सागर, दूसरी ओर शत्रु का सेना-सागर और बीच में सुदूर फैली मरुस्थली, ऐसा यह दृश्य था। मैंने दाऊ को और दोनों सेनापतियों को समझाया कि अब हमारी सेना को तीन भागों में विभाजित करना आवश्यक है, जो हमारे हित में है। दाऊ चुनौतीपूर्वक शाल्व को अर्बुदगिरि की ओर ले जाएँ। दोनों सेनापति विशाल सेना सहित जरासन्ध को चकमा देकर मगध ही की ओर ले जाएँ और अपनी विशेष सेना सहित स्वयं मैं कालयवन से भिड़ जाऊँगा।

कालयवन और उसके यहाँ के 'देशभक्त' मित्रों को अपनी गतिविधियों की आहट दिये बिना हम धौलपुर पहुँच गये।

धौलपुर! चारों ओर से मरुभूमि से घिरा राजनगर। यहाँ मैं कालयवन को दिखा देना चाहता था कि यदि वह यवन है, तो मैं उसका प्रत्यक्ष काल हूँ। हमारी योजना के अनुसार दाऊ शाल्व को भुलावे में डालकर एक ओर ले गये और दूसरी ओर से हमारे पराक्रमी सेनापति-द्वय ने जरासन्ध को चुनौती दी। धौलपुर के पड़ाव पर रह गया अकेला कालयवन—अपनी सेना सहित। रणवाद्यों के तुमुल घोष के साथ शीघ्र ही मेरा गरुड़ध्वज कालयवन के रथ के सामने आ गया। मैं सीधे कालयवन से जा भिड़ा। पहले हम दोनों ने भुशुण्डियों से एक-दूसरे पर पथराव किया। हमारे पथराव से आसपास के रथ और अश्व आँखों से ओझल हो गये सारथि दारुक चारों अश्वों को नियन्त्रित करते हुए भौंरे की भाँति कालयवन के रथ के चतुर्दिक् घुमा रहा था। जब हम दोनों का पाषाण-संचय समाप्त हो गया, हमारे बीच धनुर्युद्ध आरम्भ हुआ। कालयवन कुशल योद्धा था,—सम्भवत: कुशल सारथि भी। हमारे तूणीरों में से बाण समाप्त होने पर हम भालों से लड़ने लगे।

मेरी सूचनाओं के अनुसार दारुक अश्वों को दौड़ा रहा था। कभी चारों अश्व वल्गाओं के एक ही झटके से अगले पैरों को दोहरा कर नीचे बैठते थे। कभी वल्गाओं के संकेत पर जैसे-तैसे रथ

को खींच रहे थे। अचानक मैंने रथ को सेना से बाहर निकालने के लिए दारुक को आदेश दिया। मेरी सूचना के अनुसार उसने रथ को कष्टपूर्वक मन्द गति से युद्ध-स्थल से बाहर निकाला। मेरी योजना के अनुसार ही दारुक ने यह युद्ध-नाट्य खेला। मैंने मन-ही-मन कुछ सोचकर पांचजन्य को होठों से लगाया और ग्रीवा आकाश की ओर उठाकर एक विचित्र-सा भयाकुल शंखघोष किया। उसका अर्थ था–'पीछे हटो... दौड़ो...भाग जाओ...' यादव-सेना उससे भली-भाँति परिचित थी, पीछे मुड़कर वह तेजी से भागने लगी।

कालयवन ने अपनी यावनी भाषा में सारथि को सूचना दी। उसने पुष्ट, मटमैले रंगवाले सात अश्वों का अपना रथ मेरे पीछे दौड़ाया–मुझे भगोड़ा, रणभीरु समझकर, आमूल उखाड़ फेंकने हेतु। सब-कुछ मेरी योजना के अनुसार घटित हो रहा था। दारुक मेरे गरुड़ध्वज को शीघ्रगति से दौड़ा रहा था। प्राणभय से हम युद्ध से भाग रहे हैं, यह देखकर कालयवन बहुत उत्साहित हुआ। गान्धार देश की मदिरा से लाल हुई उसकी आँखें मुझ पर आवेश से चिल्लाते हुए और भी लाल हो गयी थीं। उसने अपने सारथि की भुजा पकड़कर उसे रथ के पार्श्वभाग में बिठाया। स्वयं रथनीड़ पर चढ़कर उसने अपने हट्टे-कट्टे गान्धारी अश्वों की वल्गाओं को दोनों मुट्ठियों में पकड़कर झटका। अबूझ यावनी भाषा में आवेश से चिल्लाते हुए वह बड़ी तीव्रता से मेरा पीछा कर रहा था।

दारुक ने गरुड़ध्वज की चाल को धीमा किया। प्रत्यक्ष काल के पीछे दौड़नेवाला यवन!–यह दृश्य बड़ा अद्‌भुत था। मैं मुस्कराया। बड़ी कुशलता से दारुक कालयवन को युद्धभूमि से कई योजन दूर ले आया था।...

इस पलायन नाटक का दूसरा चरण अब आरम्भ हो गया। मेरे विशिष्ट संकेत पर दारुक ने आठों वल्गाओं को एक बलयुक्त झटका देते हुए ऐसा विचित्र सांकेतिक अश्वनाद किया कि मेरे चारों अश्व जहाँ-के-तहाँ रुक गये। अगले दोनों खुरों को उठाकर अश्व कर्कश स्वर में हिनहिनाये और फिर घुटने टेककर धरती पर झुक गये। मानो प्राणभय से दौड़ता हमारा रथ टूटकर गिर पड़ा हो, निरुपयोगी हो गया हो। दारुक ने चपलता से धरती पर छलाँग लगायी। क्षण में ही, रथ में दायीं ओर जुते सुग्रीव के बन्ध खोलकर उसे रथ से अलग कर दिया। पूँछ झटककर, कान खड़े कर, झट से खड़ा होकर वह हिनहिनाया। मैंने भी चीते की-सी चपलता से धरती पर छलाँग लगायी और दौड़कर सुग्रीव की पीठ पर क्षणार्द्ध में आरूढ़ हो गया। उसे एक बलयुक्त एड़ लगायी। मेरा संकेत समझकर वह सुलक्षण प्राणी अगले दोनों पैर उठाकर ऊँची ध्वनि में हिनहिनाया और फिर चौकड़ियाँ भरने लगा।

आगे था रेत की तहों से बना, मध्यम ऊँचाई का, झाड़-झंखाड़ों से घिरा हुआ धौल पर्वत। सुग्रीव की दौड़ती श्वेतरेखा उसी ओर बढ़ी जा रही थी। कुछ अन्तर पार करने के बाद मैंने मुड़कर देखा। प्रतिशोध की भावना से दहकता कालयवन मेरा पीछा कर ही रहा था। वह भी अपने रथ से एक अश्व को अलग निकालकर उस पर आरूढ़ हुआ था। उसके कन्धे पर लगी गहरे हरे रंग की चौड़ी यावनी झूल हवा से फहरा रही थी। कालयवन रुकने को तैयार नहीं था। वह रुकनेवाला था भी नहीं। मैं पुन: मुस्कराया। आगे काल पीछे यवन–अच्छा संयोग था वह! स्वेद से लथपथ होते हुए हम दौड़ रहे थे। धौल पर्वत के शिखर तक हम पहुँच गये। अब सुग्रीव को छोड़कर मैं पैदल चलने लगा। चिलचिलाती धूप शरीर को झुलसा रही थी। माथे पर, अथाह नील नभ में सूर्य जगमगा रहा था। वीरान, दहकती मरुभूमि चतुर्दिक् फैली हुई थी। आगे दिख रहा था एक गुफा का झाड़-

झंखाड़ों से आच्छादित डेढ़ पुरुष ऊँचा मुख। मैं अपने-आप से बुदबुदाया–'यही वह स्थान है। यहीं होगा अन्त इस युद्ध-नाटक का।' कुलदेवी इडा का स्मरण करते हुए मैंने उस बालुकामय गुफा में प्रवेश किया। मुझे विश्वास था, कालयवन यहाँ भी मेरा पीछा छोड़नेवाला नहीं था। गुफा के अँधेरे घुमावदार मोड़ों पर मैं चलता रहा। कुछ समय चलने पर मैं गुफा के विशाल केन्द्र में आ गया। वस्तुत: वह ऋषि-मुनियों की ध्यान-धारणा की सुरक्षित, पवित्र गुफा थी। छत में से एक-दो प्राकृतिक छिद्रों से आती सूर्य-किरणों से वह अस्पष्ट-सी दिख रही थी। विश्व के निर्माण से लेकर अब तक कुछ धैर्यशील, ऊर्ध्वरेतस् ऋषि ही यहाँ आ पाये थे, और जीवन के गहरे अर्थों को प्राप्त करते हुए समाधानपूर्वक लौट गये थे। समस्त आर्यावर्त में उन्होंने ज्ञानदान के लिए आश्रम स्थापित किये थे। यह वही स्थान था–ऋषियों के चरणस्पर्श से पुनीत हुआ!

गुफा के केन्द्र-स्थान में एक ओर लेटी युग-युगों से विश्राम करती हुई राजर्षि की अस्पष्ट-सी आकृति मुझे दिखाई दी। श्वास पर नियन्त्रण पानेवाली योग-साधना के कारण ही उनके लिए यह सम्भव हो पाया था। उनकी लेटी हुई देहाकृति पर कण्ठ तक चींटियों ने वल्मीक बना लिया था। उनके मुखमण्डल के चतुर्दिक् मकड़ी के जाले थे। वे थे राजयोगी–राजर्षि मुचुकुन्द। सूर्यवंशी राजा मान्धाता के पुत्र। ऐसे ही एक और पुरुषश्रेष्ठ के विषय में आचार्य सान्दीपनि ने मुझे बताया था। उनसे कब भेंट होगी, यह तो भगवान ही जाने। कुछ सोचकर मैं अपने-आप से मुस्कराया।

वल्मीक से दिखाई न देते राजर्षि के चरणों पर मैंने अत्यन्त आदरपूर्वक मस्तक रखा। कटि के नील दुकूल में बँधे पांचजन्य को निकालकर मैंने उसे मस्तक से लगाया और फिर राजर्षि के चरणों के पास रख दिया। तत्पश्चात् उस दुकूल को झटककर इस प्रकार सावधानी से उनके शरीर पर बने वल्मीक पर नीचे से ऊपर तक ओढ़ा दिया, जिससे उनकी योग-निद्रा टूट न जाए। और वहीं एक कोने में मैं छिप गया। चौंसठ कलाओं से भिन्न छिपने की इस कला में मैं पहले से ही कुशल था! पता नहीं, यह कला कब-कब मेरे काम आएगी।...

काल के पीछे पड़े यवन की प्रतीक्षा करते-करते कुछ समय बीत गया। कुछ समय बाद यवन के गूँजते, धमकते शब्द सुनाई दिये–'भागकर जाएगा कहाँ मथुरा के ग्वाले? कहाँ जाएगा तू?' पीछे-पीछे हाँफते यवन का दीर्घ श्वास भी सुनाई दिया। अब तक मेरी दृष्टि में न आया वह काला, विशालकाय, लाल आँखों और क्रूर मुखाकृतिवाला कालयवन गुफा के मध्य आकर खड़ा हो गया! उस स्थिति में भी, दूर से उसे देखते हुए मुझे आभास हुआ, उसमें और हमारे सुघड़ शरीरवाले गर्ग मुनि में तनिक भी सादृश्य नहीं है।

क्रोध से ग्रीवा गरगर घुमाते हुए बड़बड़ानेवाले उस विशालकाय यवन को मेरा नीला दुकूल दिखाई देते ही उसके आनन्द में उबाल आ गया। उस गुफा को प्रतिध्वनित करते हुए वह गरज उठा–"सो रहा है! उठ जा निर्लज्ज ग्वाले, द्वन्द्व के लिए तैयार हो जा!" नीला दुकूल ओढ़कर मैं ही सो गया हूँ, यह सोचकर कालयवन ने एक शक्तिशाली पद-प्रहार किया और सर्र से दुकूल को खींच लिया। वल्मीक को तोड़ते हुए उसकी लात योग-निद्रा में लीन राजर्षि मुचुकुन्द को लगी। दीर्घ योग-निद्रा के भंग होने से राजर्षि तड़ाक् से उठ खड़े हुए। गुफा आलोकित हो उठी। योग-निद्रा में लीन होने से पहले अपने पैरों के पास रखे अग्नि-कंकण को उन्होंने उठाया। पैंतरा लेते हुए वे गरज उठे, "हे उन्मत्त यवन, तूने मेरी योग-निद्रा को भंग किया है, भुगत ले उसका फल।"

क्षणार्द्ध में उन्होंने अपने हाथ के अग्नि-कंकण को विद्युत् गति से ऐसे घुमाया कि उसके

तीक्ष्ण दाँत कालयवन के मस्तक में घुस गये। वह तीव्र वेदना से चिल्ला उठा। राजर्षि ने एक के बाद एक उसके वक्ष और भुजाओं पर प्रहार किये। यावनी रक्त के फव्वारे फूट निकले उस तपोभूमि पर। छटपटाता हुआ और एड़ियाँ रगड़ता हुआ कालयवन धराशायी हो गया। उसके कन्धों पर फड़कती झूल रक्त में भीग गयी। छिपे हुए स्थान से बाहर निकलकर मैंने राजर्षि के चरणों पर अपना मस्तक रख दिया। उन्होंने मुझे उठाकर अपने वक्ष से लगाया और आदेश दिया, "हे श्रीकृष्ण, अपने जीवतारक दिव्य पांचजन्य को उठा ले और गुफा के मुख के पास जाकर उसे पूरी प्राणशक्ति के साथ फूँक। मैं स्वयं ही उसे उठाकर तेरे हाथ में देता, किन्तु यवन-रक्त से मेरे हाथ लांछित हो गये हैं।"

सम्मोहित-सा होकर मैंने पांचजन्य को उठाया और गुफाद्वार के पास जाकर, मस्तक आकाश की ओर उठाते हुए आवेग से उस सुलक्षण शंख को फूँका। उसकी प्रेरक ध्वनि दूर तक गूँजती रही।

अपने हाथ लगी कालयवन की अमित सम्पत्ति को हमने कुशस्थली भेज दिया। उसमें गान्धार के हृष्ट-पुष्ट अश्व थे, ऊँट थे और मुख्यत: कालयवन द्वारा पश्चिम तट पर स्थित राज्यों को लूटकर इकट्ठा की हुई स्वर्ण-सम्पत्ति थी।

आचार्य सान्दीपनि और मुनिवर गर्ग ने कुशस्थली द्वीप पर बसाये जानेवाले नये राजनगर के निर्माण के आरम्भ के लिए भूमि-पूजन का शुभ मुहूर्त निकाला। वह था मन्दवासर का शनिवार, उस दिन शुभंकर रोहिणी नक्षत्र भी था। मैं, दाऊ, उद्धव, अमात्य, दोनों सेनापति और कुछ इने-गिने यादव और तात वसुदेव तथा देवकी माता भी उचित समय पर वहाँ पहुँच गये। तात और माता के शुभ हाथों भूमि-पूजन सम्पन्न हुआ।

अब नये राजनगर के निर्माण का प्रचण्ड कार्य विधिवत् आरम्भ हुआ। इस कार्य के लिए गर्ग मुनि ने असुरों के मय नामक विख्यात स्थापत्य-विशारद को आमन्त्रित किया था। कुरुजांगल प्रदेश से विख्यात शिल्पकार विश्वकर्मा को भी बुलाया गया था। उन दोनों ने अन्य विशेषज्ञों की सहायता से द्वीप के तट पर एक कक्ष में चिकनी मिट्टी से नये राजनगर की एक रूपरेखा बनायी। मैंने और दाऊ ने उसका सूक्ष्म निरीक्षण किया। उनकी सर्जनशील कल्पना चकित कर देनेवाली थी। उस रूपरेखा को देखने के बाद मय के कन्धे पर हाथ रखते हुए मैंने कहा, "कुशस्थली द्वीप पर राजप्रासाद और राजनगर का निर्माण करना है और इससे जुड़े द्वीप पर रनिवास को बसाना है। मैंने पूरी रूपरेखा को सूक्ष्मता से देखा है। सुन्दर ही है वह, उसमें तनिक भी त्रुटि नहीं है। मुख्यत: मैं यह देखना चाहता हूँ कि तुम मेरे प्रासाद को कैसे बनाते हो। ऊपरी खण्ड के मेरे विश्राम-कक्ष की ओर जानेवाले 'कृष्णसोपान' की एक विशेष कल्पना मेरे मन में है। सम्पूर्ण प्रासाद की रचना में वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।"

"आज्ञा दीजिए महाराज! मैं अपनी पूरी स्थापत्य-कुशलता को दाँव पर लगाकर स्वामी की इच्छा के अनुसार 'कृष्णसोपान' खड़ा कर दिखाऊँगा। पीछे नहीं हटूँगा।" मय ने अपनी कला के अभिमान से परन्तु नम्रतापूर्वक कहा। मय और गर्ग मुनि सुनने लगे। मैं उनको प्रासाद के निचले खण्ड से ऊपरी खण्ड के विश्राम-कक्ष की ओर जानेवाले 'कृष्णसोपान' की अपने मन में निहित

संकल्पना को समझाने लगा, “यह सोपान मुझे कृष्ण सीसम की लकड़ियों से बनाना है। लकड़ी की सीढ़ियों को स्वर्णलेप चढ़ाये गये ताम्र-पत्तरों से मढ़वाना है। आरम्भ में ये सीढ़ियाँ पच्चीस होंगी–अठारह यादव कुलों की स्मृति के लिए अठारह, दोनों माता-पिता के नाम पर चार, दाऊ और रेवती भाभी के लिए दो और आचार्य सान्दीपनि की एक। इस प्रकार आरम्भ में केवल पच्चीस सीढ़ियों का यह कृष्णसोपान होगा।”

“केवल पच्चीस? आर्य श्रीकृष्ण के जीवन का यह तो आरम्भ है। उनके जीवन में अभी बहुत से व्यक्तियों का प्रवेश होना है। उनका क्या?” मुनिवर गर्ग ने मार्मिक प्रश्न किया।

मुस्कराकर उनकी ओर देखते हुए मैंने कहा, “इसलिए सीढ़ियों में पर्याप्त अन्तर रखा जाएगा। समय और आवश्यकता पड़ने पर उनके बीच और सीढ़ियाँ बनायी जा सकेंगी। समय आने पर विश्राम-कक्ष के खण्ड को ऊपर उठाना होगा। सम्भवत: यह काम आपको ही करना होगा मुनिवर।” देर तक मैं गर्ग मुनि, मय और विश्वकर्मा को ‘कृष्णसोपान’ की अपनी कल्पना समझाता रहा। उनकी आँखों में उभरे प्रश्न-चिह्नों को भी मैं भली-भाँति पढ़ पा रहा था। मानो वे पूछ रहे थे–‘जुड़वाँ द्वीप की इस भव्य परियोजना के राजसभा, राजप्रासाद, रनिवास, देवालय, व्यायामशाला आदि किसी के भी निर्माण में आपने इतना ध्यान नहीं दिया, तब केवल सोपान के निर्माण में आप क्यों इतना ध्यान दे रहे हैं?’ वे कुछ अधिक पूछें इससे पहले ही मैंने कहा, “मैं और दाऊ अब मथुरा से यहाँ निरन्तर आते रहेंगे। सभी आवश्यक सामग्री भिजवाते रहेंगे। अब होने दो आरम्भ इस विशाल निर्माण- कार्य का।”

हमारे राजदूतों द्वारा ब्रह्मावर्त के चारों ओर से भेजे गये लोहकार, काष्ठकार, ताम्रकार, स्वर्णकार आदि सहस्रों शिल्पी, कारीगर कुशस्थली पर जमा हो गये। इस द्वीप की पर्याप्त भूमि कुश नामक तृण के घने तृण-क्षेत्रों से व्याप्त थी। पहले इन तृण-क्षेत्रों को साफ करते हुए उसे समतल बनाना पड़ा। विविध कार्यशालाओं से उठती भाँति-भाँति की ध्वनियाँ पश्चिम सागर के गर्जन में विलीन होने लगीं। काष्ठकारों की कर्मशाला में सागौन, सीसम, कटहल, ऐन, खैर, कीकर जैसे ऊँचे-ऊँचे वृक्ष आरियों से कटने लगे। गहरे पीले, काले, श्वेत वलयांकित लकड़ियों के कुन्दों के ढेर बनाये जाने लगे। बड़ी-बड़ी भट्ठियों में ताम्र, लौह, सीसा, स्वर्ण आदि धातु पिघलने लगे। तप्त धुएँ की प्रचण्ड लपटें आकाश की ओर उड़ान भरने लगीं। इडादेवी, कुलपुरुष यदु, क्रोष्टु के जयघोष के साथ तप्त धातुरस खड़े साँचों में उँडेला जाने लगा। निर्माण हुए तप्त लौह, ताम्र, स्वर्ण-पत्तर ठण्डा करने के लिए बड़े-बड़े सँड़सों में पकड़कर पाषाणों से टिकाकर रखे जाने लगे। उनकी आँच से कारीगर स्वेद से लथपथ होने लगे। उनकी स्वेद-धाराओं से कुशस्थली की भूमि भीगने लगी। किसी भी निर्माण-कार्य की सफलता के लिए आवश्यक स्वेद का पवित्र अर्घ्य श्रमदेवता को सहस्रों हाथों से दिया जाने लगा। छेनियों से ताम्रवर्ण के पत्थरों को आकार देने में शिल्पी मग्न हो गये। चूने के फूँके हुए पत्थर को मलने के लिए पाषाण-चक्रों को घुमाने में श्रमिक अपने-आप को भूल गये। सुघड़ काष्ठ-सेतु बनाने में काष्ठकार व्यस्त हो गये।

ऋतुएँ आती रहीं, जाती रहीं। हमारी राजनगरी का प्रचण्ड सृजन-कार्य कुछ वर्ष चलता रहा। इस कार्य की प्रचण्डता प्रतीत होने पर मय ने अपने निष्णात साथी ताराक्ष, कमलाक्ष और विद्युन्माली को बुलवा लिया था। उसको भी अधिक सहायता की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब मय के विशेषज्ञ पुत्र दुन्दुभि, मायाविन्, अजकर्ण और कालिक भी उसका हाथ बँटाने आ गये। इस

अन्तराल में मैं और दाऊ उन पर ध्यान दे रहे थे। समय-समय पर भिन्न-भिन्न कार्यों में कुशल यादवों को साथ लेकर हमने कच्छ-सौराष्ट्र के चक्कर लगाये। एक दिन आचार्य गर्ग और मय का एक विशेष दूत हमारे लिए सुखद समाचार लेकर मथुरा आया। उसने सन्देश सुनाया–"राजनगर के निर्माण का कार्य पूर्ण हो चुका है। महाराज अब अपने राज्याभिषेक का मुहूर्त निकलवा सकते हैं। किन्तु पहले ज्येष्ठ यादवों सहित आप एक बार हमारी इस रचना पर दृष्टिपात कर लें और इसमें कुछ त्रुटि रह गयी हो तो आवश्यक सुधार का आदेश दें। विश्वास है, 'कृष्णसोपान', को देखकर तो स्वामी हमारे कार्य की सराहना करेंगे ही।"

बचपन में गोकुल में मुझे सदैव मथुरा का आकर्षण रहता था। अब मेरे मन में नये राजनगर को देखने का तीव्र आकर्षण उत्पन्न हुआ था।

गरुड़ध्वज रथ पर आरूढ़ होकर दाऊ और उद्धव सहित मैं मथुरा से निकल पड़े। दारुक सारथ्य कर रहा था। हमारे पीछे दोनों सेनापतियों के रथ थे। और उनके पीछे हमारे चुनिन्दा अश्वदल थे। अब मथुरा से कुशस्थली के मार्ग से हम भली-भाँति परिचित हो गये थे। मार्ग में आती नदियों, अरण्यों को लाँघते हुए हम पश्चिम सागर-तट पर आ गये।

हमने सामने दिखते हुए कुशस्थली द्वीप की ओर दृष्टि उठायी। विश्वास ही नहीं हो रहा था। यहाँ से वहाँ तक फैला, सूर्य-किरणों में चमकता स्वर्णिम परकोटा प्रथम दर्शन में ही हमारी आँखों में चौंधिया गया। सागर-जल में पड़ा उसका लम्बा-सा, पीतवर्ण, हिलता-डुलता प्रतिबिम्ब क्षण-भर भी स्थिर नहीं हो रहा था। जल-लहरों पर ही वह थेई-थेई नाच रहा था। यहाँ से एक भू-पट्टी समुद्र में घुसने के कारण दाहिनी ओर का जुड़वाँ द्वीप दिखाई नहीं दे रहा था। गर्ग मुनि द्वारा भेजी गयी भव्य नौकाओं से हम सब द्वीप पर आ गये। कुछ दूर चलने के बाद हमारे सामने आ गया राजनगर का उत्तुंग, स्वर्णिम पूर्व महाद्वार। पाँच पुरुष ऊँचा था वह–कीकर की टिकाऊ लकड़ी से बना हुआ। गोकुल के महाद्वार की भाँति यह भी जोड़ द्वार था। स्वर्णलेप चढ़ाये ताम्र-पत्तर उस पर जड़ दिये गये थे। धूप के कारण उनकी चमक आँखों को सहन नहीं हो रही थी। बीचोंबीच द्वार पर अंकित, दो भागों में विभाजित होनेवाला, अपने स्वर्णिम पंख फैलाते हुए आकाश में उड़ान भरने को उद्यत डौलदार, भव्य गरुड़ पक्षी बरबस अपनी ओर ध्यान आकर्षित कर रहा था। उसके स्वर्णिम नाखून तीक्ष्ण और वक्र थे। हम यादवों की प्रेरणा का प्रतीक ध्वज-चिह्न था वह–दर्शक पर धाक जमाकर उसे द्वार में ही रोकनेवाला! उसने अपने माथे पर पूर्ण विकसित चन्द्र की प्रतिकृति धारण की हुई थी। हम सोमवंशी यादवों का वह वंश-चिह्न था। दाहिने द्वार पर अर्धचन्द्र की आकृति के पास छोटी-सी तारिका–अरुन्धती–चमक रही थी! वंश-चिह्न को छोड़कर पूरा महाद्वार खड्ग, चक्र, गदा, त्रिशूल, मूसल, अग्नि-कंकण, शर-चाप आदि शस्त्रों की आकृतियों से व्याप्त था। गज, अश्व, वृषभ आदि प्राणियों के चित्र भी उस पर उकेरे हुए थे। और हाँ दुहरे थनवाली एक निर्भय, शान्त, पुष्ट गाय और उसकी ओर शान्ति से देखनेवाला वनराज सिंह भी उस पर अंकित किया गया था।

हमारा निरीक्षण पूर्ण होने के बाद द्वारपालों ने वह भव्य द्वार खोल दिया। अनजाने में ही मैंने अपनी कर्मभूमि को वन्दन करने हेतु दाहिना हाथ भूमि से लगाकर अपने वक्ष और माथे से लगाया। दाऊ ने भी नमस्कार किया। मय, विश्वकर्मा और गर्ग मुनि के पीछे-पीछे हम उस द्वार के घुमावदार सोपान से उस प्राचीर के शिरोभाग पर गये। नेत्र के आकार में खुदे दो गवाक्ष गर्ग मुनि

और मय ने खोल दिये। क्रमश: दोनों ने कहा, "हमारे इस राजनगर को केवल इसी दिशा–पूर्व दिशा से ही आक्रमण का भय है। अन्य तीनों दिशाओं में तो सागर-ही-सागर फैला हुआ है। सावधानी के लिए पूर्व दिशा पर दृष्टि रखनेवाली ये दो आँखें ही हैं राजनगर की। यहाँ से दस योजन की दूरी तक सागर और भूमि का परिसर हमारी दृष्टि में आता है।" यह सुनकर मैंने मय की पीठ उसकी बुद्धिमानी के लिए थपथपायी और कहा, "इसकी उलटी दिशा में पश्चिम महाद्वार तो होगा ही! वहाँ से भी सागर पर दृष्टि रखने के लिए उचित स्थान का चयन करना आवश्यक है–द्वीप पर नहीं, सागर में ही एक सुदृढ़ पाषाण-स्तम्भ को खोजकर।"

"मैं नहीं समझा स्वामी! सागर में स्तम्भ?" मय ने पूछा।

"वह किसलिए छोटे?" अब दाऊ का कुतूहल भी जाग गया।

"दाऊ, आप भूल गये होंगे, किन्तु मैं नहीं भूला। कालयवन समुद्री मार्ग से ही आया था। इस नगर की रक्षा के लिए हमें जलसेना का निर्माण करना होगा। सागर के पार पश्चिम में कुछ जनपद हैं। उनसे सम्पर्क बनाये रखने के लिए इस नगर को पत्तन के रूप में विकसित करना पड़ेगा। समुद्री मार्ग से आनेवाली नौकाओं को इस पत्तन की जानकारी देने के लिए समुद्र में ही पाषाण पर प्रकाश-स्तम्भ खड़ा करना पड़ेगा। सूर्यास्त के पश्चात् पूरी रात उस स्तम्भ पर पुरुष-भर ऊँचे पलीते को प्रज्वलित रखने की सावधानी भी बरतनी पड़ेगी। दिन में तो उसका स्वर्ण-कलश दूर से भी सूर्य-किरणों में दमकता दिखाई देगा।"

मेरी बात सुनकर दाऊ, उद्धव, गर्ग मुनि, विश्वकर्मा, मय–सभी गहरे विचारों में खो गये। मैं भी सोच में पड़ा था कि इस द्वार का क्या नाम रखा जाए?

मैंने बायीं ओर के भव्य मन्दिर की ओर प्रसन्नता से देखा। उसके स्वर्ण-कलश पर केसरिया रंग की पताका फहरा रही थी। वह हमारी कुलदेवी इडा का मन्दिर था। मथुरा के पाषाणों से बने मन्दिर की अपेक्षा कितना भव्य था वह! मैं, उद्धव और दाऊ अन्य सभी के साथ उस मन्दिर में गये। गर्भगृह में खड़ी, शस्त्रधारी दशभुजा इडादेवी बाहर से भी स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। अभी तक उनकी विधिवत् प्राणप्रतिष्ठा नहीं हुई थी। अत: सभी ने बाहर से ही देवी को प्रणाम किया। मन्दिर के सुन्दर, बेलबूटेदार स्तम्भों और कमानों को देखते हुए हमने उसकी परिक्रमा की। हमने पुजारी द्वारा दिया गया प्रसाद ग्रहण किया।

तत्पश्चात् विशाल गोशाला पर दृष्टि डालते हुए मैंने पूछा, "मुनिवर, इस नगर के और कितने महाद्वार हैं?" मुनिवर गर्ग ने बताया, "और तीन दिशाओं के तीन प्रमुख महाद्वार हैं। प्रत्येक महाद्वार में उपद्वार भी है। उनके अतिरिक्त द्वीप की रचना को ध्यान में रखते हुए और भी कुछ छोटे-छोटे द्वार रखे गये हैं।" सुरचित गोशालाओं को देखते हुए मैंने समाधानपूर्वक गर्ग मुनि, मय, विश्वकर्मा और प्रमुख कारीगरों से पूछा, "आपने गोशालाओं का निर्माण अच्छा ही किया है, किन्तु गोचरभूमि की क्या स्थिति है? एक यादव-प्रमुख ने बड़े उत्साह से कहा, "प्राचीर की खाई के बाहर विशाल गोचरभूमि है, महाराज! आवश्यकता पड़ने पर हम अपने गोधन को नौकाओं से सौराष्ट्र की भूमि पर ले जा सकते हैं।"

"किन्तु खाई को पार कैसे करेगा गोधन?" मैंने पूछा। "उसके लिए हमने लकड़ी के चौड़े सेतु बनाये हैं।" एक कुशल काष्ठकार ने बताया।

मैं सन्तोष के साथ मुस्कराया। दाऊ की ओर देखकर आँख झपकाते हुए मैंने रक्षक-दल के

प्रमुख से पूछा, "जिनके सहारे शत्रु भी इन खाइयों को पार कर पाएँगे, ये सेतु तो ऐसे ही होंगे न?"

"नहीं। यदि शत्रु का आक्रमण हो ही जाता है, तो इस सेतु को खींच लेने की व्यवस्था की गयी है। तब इस द्वीप का सारे जग से सम्पर्क टूट जाएगा। इसके अतिरिक्त खारे पानी से भरी यह गहरी और चौड़ी खाई सुरक्षित है। इसमें स्थान-स्थान पर कँटीले जल-लताओं के जाल फैले हुए हैं। समुद्र से खदेड़कर लाये गये विकराल, विशालकाय मगरमच्छों को लोहे की जालियाँ डालकर खाई में फँसाया गया है। वे समुद्र में लौट नहीं सकते। लोहे की जाली से आती छोटी-छोटी मछलियों को निगलकर वे खाई में घूमते रहते हैं। इसके अतिरिक्त यज्ञ से बचा पुरोडाश और शिल्पियों के भोजन से बचा उच्छिष्ट भी खाई में डाला जाता है। ये विशालकाय मगरमच्छ ही वास्तव में हमारी खाई के रक्षक हैं!" रक्षक-दल के मुखिया ने वक्ष फुलाकर कहा।

अब हमारे साथ सभी दल-प्रमुख, कारीगर-प्रमुख, निष्णात शिल्पी और सशस्त्र सैनिक चलने लगे थे। हम दक्षिण महाद्वार के समीप आये। यहाँ के सागर-तट पर पड़े कृष्णवर्ण पाषाण शुभ्र-धवल समुद्रफेन में नहाते हुए अत्यन्त मनोरम दिख रहे थे। बड़ी देर तक सबके साथ मैं समुद्रफेन की वर्षा देखता रहा।

वहाँ से हम पश्चिम महाद्वार की ओर चल पड़े। समुद्री पवन के कारण इस द्वीप पर इसी दिशा से गजकाय मेघों में से मूसलाधार वर्षा होनेवाली थी। यहाँ आते ही दूर सागर में दिखती चट्टान के शिरोभाग की ओर तर्जनी से निर्देश करते हुए मैंने कहा, "उसी शिला पर खड़ा होगा हमारा प्रकाश-स्तम्भ।" अन्य सभी उस विषय में सोचने लगे। दाऊ ने महत्त्वपूर्ण प्रश्न किया, "इस द्वार पर मूसलाधार वर्षा की प्रचण्ड मार होगी छोटे, उसका क्या सोचा है तुमने?"

मैं दाऊ की ओर देखकर मुस्कराया। अमात्य विपृथु के कन्धे पर हाथ रखकर उत्तर द्वार की ओर चलते हुए मैंने कहा, "अमात्य, सूखे कुश के ढेर-के-ढेर पड़े हैं द्वीप पर। उनके टट्टर बना लीजिए। पश्चिम द्वार के स्वर्ण-गरुड़ के पंखों को उचित समय पर ही आच्छादित कर दीजिए।" अब हम अन्तिम द्वार–उत्तर द्वार के निकट आ गये थे। इसी द्वार से रनिवास के द्वीप का मुख्य द्वीप से सम्पर्क रहनेवाला था। उस द्वार से दिखनेवाले सागर की ओर देखते हुए मैं देर तक आत्मलीन हो गया। मैंने दाऊ से कहा, "इसी दिशा में कहीं दूर–कुरुक्षेत्र के भी उस पार अत्युच्च, गगनस्पर्शी हिमपर्वत है–हिमालय। योगीश्रेष्ठ शिव का निवास-स्थान–कैलाश उसी पर है।"

"छोटे, तुम्हें स्मरण है, बचपन में हमने यमुना-तट पर रेती की शिव-पिण्डी बनायी थी!"

"हाँ दाऊ, हमने अपने गोप सखाओं सहित उस शिव-पिण्डी पर लोटे भर-भरकर दुग्धाभिषेक भी किया था।" चलते-चलते मैं रुक गया। यहाँ भी चमकते स्वर्ण-कलश से सम्पन्न शिवालय था। गोकुल के हमारे आभीरभानु वंशीय गोपालों का दैवत था शिव। मथुरा में हम यादवों की कुलदेवी थी इडादेवी। मेधावी गर्ग मुनि ने उन दोनों की इस नगरी में स्थापना की थी। मेरे मन के पश्चिम द्वार पर किसी अज्ञात पर्जन्य की धाराएँ बरसने लगीं। सुदर्शन के मन्त्रों की गूँज भी झलक उठी। दाऊ, उद्धव, अमात्य, गर्ग मुनि आदि से मैं धड़ाधड़ कहता गया, "सागर पर दृष्टि रखनेवाले हमारे पूर्व महाद्वार का नाम होगा 'शुद्धाक्ष'। समुद्रफेन में नहाते पाषाणों को देखनेवाले दक्षिण महाद्वार का नाम होगा 'पुष्पदन्त'। पर्जन्य की प्रबल मार सहनेवाले पश्चिम महाद्वार का नाम होगा 'ऐन्द्र'। 'शिव' का स्मरण दिलानेवाले इस उत्तर महाद्वार का नाम होगा 'भल्लात'।"

मेरे आसपास के यादवगण सुन रहे थे और मैं कह रहा था—"द्वीप के केन्द्र में स्थित, अन्य राजभवनों के मध्य विराजित, स्वर्ण-कलश से सुशोभित हमारी इस राजसभा जैसी राजसभा आर्यावर्त के अन्य किसी भी महाजनपद की नहीं है। उसके कलश के ध्वजदण्ड पर यादवों की पाँच हाथ लम्बी, गरुड़-चिह्नांकित राजध्वजा फहरा रही है। स्वर्ण-जड़ित किनारीवाली केसरिया रंग की चमचमाती ध्वजा दूर से भी स्पष्ट दिखाई पड़ रही है। इस राजसभा का नाम होगा सुधर्मा! सत्य, शिव, सुन्दर और धर्म की संरक्षिका—सुधर्मा! हमारी इस राजनगरी के लिए सुयोग्य नाम अभी मुझे सूझ नहीं रहा है, किन्तु शीघ्र ही सूझेगा। राजसभा में उचित समय पर मैं उसे घोषित करूँगा। चलिए, वहीं चलते हैं।" उत्तर द्वार से निकलते हुए राजमार्ग से हम राजसभा की ओर पैदल ही चल पड़े। मार्ग में स्थान-स्थान पर जल-तुषारों का नृत्य करनेवाले फुहारे दिखाई दे रहे थे। मार्ग के दोनों ओर भाँति-भाँति के वृक्षों का सुरचित रोपण किया गया था। उनके पीछे ऊँची-ऊँची वेदिकाओं पर विविध वस्तुओं की सुयोजित पण्य-वीथियाँ लगी हुई थीं और बाड़रक्षित उद्यान थे। दो उद्यानों के बीच के रिक्त स्थानों में कहीं शस्त्रागार, कहीं कोषागार, कहीं अश्वशाला, गजशाला, तो कहीं उष्ट्रशाला थी। यह सब निहारते हुए मैंने मय से पूछा, "यहाँ व्यायाम के अभ्यास का क्या प्रबन्ध है?"

दाऊ ने भी अपनी रुचि का प्रश्न किया—"यहाँ की व्यायामशालाएँ कहाँ हैं? हाथियों की टक्कर के क्रीड़ांगण कहाँ हैं? यादव-सैनिकों की अश्व-स्पर्धा के क्रीड़ांगण कहाँ हैं?"

उनका समाधान करते हुए गर्ग मुनि ने उत्तर दिया, "उनका प्रबन्ध दो राजमार्गों के बीच विशाल खुली भूमि पर स्थान-स्थान पर किया गया है। एक क्रीड़ांगण तो साँड़ों की लड़ाई के लिए भी आरक्षित रखा गया है।"

"पश्चिम की ओर तो कुक्कुटों की लड़ाई के लिए एक विशिष्ट क्षेत्र रखा गया है।" एक उत्साही लौहकार यादव ने जानकारी दी। हम राजसभा के पूर्वाभिमुख द्वार के समीप आ गये। उसकी स्वर्णिम सीढ़ियाँ सामने दिखाई दे रही थीं। मेरी कर्मभूमि पर स्थित इसी भवन में अब जीवन-भर मेरा कर्मयोग रंग लानेवाला था। अपने नये महाजनपद की राजसभा की पहली सीढ़ी को मैंने दोनों हाथों की उँगलियों से स्पर्श किया और उन्हें वक्ष तथा मस्तक से लगाया। दोनों हाथ जोड़कर मनःपूर्वक प्रणाम करते हुए मैं अग्रसर हुआ। दाऊ, उद्धव, अमात्य, गर्ग मुनि आदि मेरे पीछे-पीछे चल पड़े। राजसभा की विशाल मण्डलाकार रचना देखते हुए क्षण-भर मैं भी चौंधिया गया। सब-कुछ स्वर्णिम, दीप्तिमान था। आगे—पश्चिम दिशा में हमारा वही डौलदार राजचिह्न था, दमकते पूर्णचन्द्र को माथे पर धारण किये, पंख फैलाये, उड़ान भरते भव्य स्वर्ण-गरुड़ का।

उनके वक्र नख सर्वोच्च स्थान पर स्थापित दो भव्य स्वर्णिम सिंहासनों के ऊपरी छोर का स्पर्श कर रहे थे। वे सिंहासन थे महाराज और महाराज्ञी के—मेरे माता-पिता के। वास्तव में वे दोनों ही इन पदों के अधिकारी थे, मैं अथवा दाऊ नहीं। उन सिंहासनों के हत्थे जबड़ा खोले हुए मृगेन्द्र के आकार के थे। इन सिंहासनों का एक भी कोना ऐसा नहीं था, जिस पर सुन्दर बेलबूटे और राजचिह्न अंकित न हों। उन सिंहासनों के चरणासनों के पास आते, थोड़े नीचे, तनिक छोटे आकार के दो आसन थे। वे थे युवराज-युवराज्ञी के—मेरे प्रिय दाऊ और भाभी के। उनके तनिक नीचे, दाहिनी ओर बिना हत्थोंवाला तथा लकड़ी की पीठवाला, मृगांजिन बिछा हुआ एक आसन था—आचार्य सान्दीपनि का। ऐसा ही एक आसन बायीं ओर था—राजपुरोहित गर्ग मुनि का। उनके

तनिक नीचे दाहिनी ओर पाँच और बायीं ओर पाँच मन्त्रिगणों के आसन थे। उनके बीच अन्य आसनों से तनिक ऊँचाई पर एक आसन था—वह था अमात्य विपृथु का। उनकी दाहिनी ओर यादवों के सुदर्शनीय, रत्नजटित स्वर्णिम राजदण्ड को रखने हेतु बनाया गया पाषाणी खड़ा आला था। राजदण्ड के नीचे दोनों ओर हमारे दोनों सेनापतियों के—सात्यकि और अनाधृष्टि के आसन थे। उनके नीचे, दोनों ओर हमारे गुप्तचर-प्रमुख, कोषागार-प्रमुख, शस्त्रागार-प्रमुख, दान-प्रमुख और अन्य विविध दल-प्रमुखों के आसन थे।

महाराज वसुदेव के और युवराज बलराम के आसन से कुछ समान्तर दाहिनी ओर सभी आसनों से दूर अलग-से लगते दो आसन थे—स्वर्णिम किन्तु सादे, बिना बेलबूटों के। उनमें से दाहिनी ओर का आसन मेरा था और बायीं ओर का मेरी भावी पत्नी के लिए! इस समय वह रिक्त था।

राजसभा के सदस्यों के आसनों की यह रचना दर्शकों के मन में यादवों की 'सुधर्मा' राजसभा की आदरयुक्त प्रतिष्ठा दिखानेवाली थी! इस आसन-व्यवस्था के आगे नगरजनों, अतिथियों और महाराज के पास न्याय पाने के निमित्त आनेवालों के लिए एक विशाल प्रांगण था,—यही वास्तविक सुधर्मा राजसभा थी। वहाँ भी नर-नारियों के लिए अलग-अलग कक्ष थे। राजसिंहासन के समान्तर बायीं और दायीं ओर अन्य राजस्त्रियों के कक्ष थे। उनसे सटे हुए कक्ष आमन्त्रित विदुषियों और अतिथि स्त्रियों के लिए थे।

दाऊ और उद्धव सहित घूमते हुए मैंने इन आसनों की प्रत्येक पंक्ति का निरीक्षण किया। इस मण्डलाकार राजसभा में सशस्त्र रक्षकों के लिए वेदिकाएँ भी बनायी गयी थीं। राजसभा के पूर्व द्वार की दाहिनी ओर एक बड़ा गोलाकार समय-सूचक थाल टँगा हुआ था। उसके पास ही आले में एक हथौड़ा रखा हुआ था। वे दोनों लोहे के बने थे, किन्तु उन पर स्वर्णलेप चढ़ाया गया था। मैंने कुतूहल से हथौडा उठाया और उससे समय-सूचक थाल पर एक भरपूर प्रहार किया। उसकी 'ठण्ण्' ध्वनि से मानो 'काल' जागृत हो गया! उसकी सजग ध्वनि-लहरें सागर-गर्जन में विलीन होने के लिए दौड़ गयीं। मैं जानता था, जहाँ से हम गणना आरम्भ करते हैं, वहीं से काल का आरम्भ होता है। वस्तुत: काल अखण्ड है। उसका न कोई आदि है, न कोई अन्त।

हथौड़ा दाऊ के हाथ में देते हुए मैंने कहा, "दाऊ, आप भी कीजिए एक प्रहार, पुकारिए 'काल' को!" भौंहें उठाते हुए वे प्रसन्नता से मुस्कराये। हथौड़े का एक प्रबल प्रहार उन्होंने थाल पर किया। उस सशक्त ध्वनि से हमारे आगे खड़े हुए साथी चौंककर तनिक पीछे हट गये। दाऊ से लेकर मैंने वह हथौड़ा उद्धव के हाथ में दिया और मुस्कराते हुए कहा, "ऊधो, प्रिय बन्धु, तुम भी कर दो एक समय-दर्शक प्रहार! मिला लो 'काल' से अपना स्वर!"

एक बार हथौड़े को और एक बार मुझे देखकर उद्धव अत्यन्त मधुर रूप से मुस्कराया। दूसरे ही क्षण उसने हथौड़े से उस थाल पर आघात किया। उससे जो 'ठण्णर्' ध्वनि उठी, वह सीधे मेरी धवनि जैसी ही थी।

प्रसन्न मन से हम सुधर्मा सभा से निकल पड़े। महाराज, युवराज, अमात्य, सेनापति आदि सभी के प्रासाद देखकर हम अपने निजी प्रासाद में आये।

मुझे अपार कुतूहल और असीम उत्सुकता थी केवल 'कृष्णसोपान' के विषय में। प्रासाद में प्रवेश करते ही स्वर्णिम सीढ़ियोंवाला वह झलमलाता, भव्य कृष्णसोपान मुझे दिखाई दिया। जीवन

में जो भी विशेष व्यक्ति मुझे मिले थे, पहली ही भेंट में मैं उनकी ओर आकर्षित हुआ था–एक अनामिक आवेग से। उन व्यक्तियों की प्रतिक्रिया भी वैसी ही आवेगपूर्ण थी। उसी आवेग से मैं उस स्वर्णिम सोपान की ओर खिंचा चला गया। मैं उसकी पहली सीढ़ी के पास आ गया। उसकी बायीं ओर के आधार-दण्ड को पकड़कर मैं उन सीढ़ियों को देखने लगा, नीचे से ऊपर तक। मेरी दृष्टि अन्तिम–पच्चीसवीं सीढ़ी पर स्थिर हो गयी। अनजाने में ही मैं जीवन की गहराई में उतर गया।

जीवन के ऊँचे सोपान पर कितना चढ़ना है अभी मुझे! जीवन के प्रत्येक मोड़ पर कौन-कौन मिलनेवाला है मुझे! जीवन के कितने मोड़ पीछे छूट गये हैं–मेरा प्राणप्रिय गोकुल, नन्दबाबा, यशोदा माता, दादाजी, काका-काकी, मेरे गोप सखा, गोपियाँ, एका और राधा! गोकुल! बचपन! मेरे ही क्यों, क्या प्रत्येक के जीवन में अपने-अपने बचपन का गोकुल नहीं होता?

मैंने मन कठोर करते हुए निश्चयपूर्वक जिसका वध किया था, वह मामा कंस और शृगाल, तथा अंकपाद आश्रम में मुझसे मिला सुदामा, ये तो मेरे जीवन-सोपान की झलकियाँ हैं। मेरे वास्तविक गन्तव्य अभी बहुत दूर हैं।

जीवन-सोपान के पहले ही दर्शन में, पहली सीढ़ी पर पाँव रखते हुए मेरे सुदर्शनधारी मन ने अपने-आप से कहा–'ॐ हिरण्मयेन पात्रेण...सत्यधर्माय दृष्टये ...हे परमेश्वर, हिरण्मय आच्छादन से आच्छादित सत्य के–केवल सत्य के ही मुझे दर्शन कराइए। मुझे नित्य सत्य के साथ एकरूप होने दें।'

उस स्वर्णिम सोपान से हम ऊपर गये। विश्राम-कक्ष और शयन-कक्ष पर दृष्टि डालकर घूमते-घूमते हमने पूरा प्रासाद–छोटे-बड़े सभी कक्ष देखे। प्रासाद से निकलते हुए बड़ी प्रसन्नता से मैंने अपनी मोतियों की माला मय के हाथ में दे दी और कहा, "मय जी, कुशस्थली पर आपने बहुत ही अच्छा काम किया है! इसमें तनिक भी त्रुटि नहीं है। विशेष राजसभा में मैं यथासमय आपको सम्मानित करूँगा ही! कल हम शंखोद्धार द्वीप पर बनाये गये अन्तःपुर के भवनों को देखेंगे।"

उस दिन हमने कुशस्थली पर ही निवास किया। दूसरे दिन ब्राह्ममुहूर्त में उठकर हम आह्निकों से निवृत्त हो गये। सागर-जल में खड़े रहकर हम तीनों ने आकाशमणि सूर्य को अर्घ्य दिया। दोनों द्वीपों को जोड़नेवाली भू-पट्टी को छोड़कर हम नौका से शंखोद्धार द्वीप पर आये। कुशस्थली की भाँति यहाँ भी प्राचीर और खाई की व्यवस्था थी। आकार में कुशस्थली से यह द्वीप छोटा था। अन्तःपुर के इस द्वीप के भी चार महाद्वार थे, किन्तु कुशस्थली के महाद्वारों जैसे वे भव्य नहीं थे। यहाँ भी अनेक प्रकार की शालाएँ थीं। गायों के लिए रक्षित गोचरंभूमि थी। पश्चिम पुलिन के प्राचीर के पास स्थित प्राकृतिक शिलाओं को आसनों के आकार दिये गये थे। इस द्वीप के मध्य वेदिका पर लगाये ध्वज-स्तम्भ पर यादवों का गरुड़-ध्वज फहरा रहा था।

विशेषत: इस द्वीप की रथशाला विशाल थी। दोनों द्वीपों को जोड़नेवाला भू-मार्ग सँकरा था–आधे योजन का। यह मार्ग पच्चीस-तीस योजन लम्बा था। इस मार्ग से रथ और अश्वों द्वारा ही दोनों द्वीप आपस में सम्पर्क बनाये रख सकते थे। जलमार्ग से डोंगियों, नौकाओं आदि जलवाहनों द्वारा भी दोनों द्वीप जुड़े रह सकते थे। दोनों मार्गों को उपयोग में लाया जाने लगा था। अन्तःपुर के आठ प्रासाद थे–आमने-सामने चार-चार। उन्हें देखते हुए मैंने सदैव की भाँति नटखटपन से मुनिवर गर्ग से पूछा, "ये भवन आठ ही क्यों हैं?" वे कुछ समय रुक गये, फिर हल्के से मुस्कराते

हुए उन्होंने कहा, "यादवराज की पत्नी चाहे एक हो, उसकी कीर्ति की सुगन्ध निश्चय ही आठों दिशाओं में फैलेगी। ये आठ भवन उसी के प्रतीक हैं।" मैं चकराकर उनकी ओर देखता रहा। हँसते हुए उन्होंने अत्यन्त ममता से मेरे कन्धे थपथपाये।

बलराम भैया का रनिवास भी हमने देखा। उस रात मैंने उसी द्वीप पर निवास किया। दूसरे दिन हम वहाँ से सीधे मथुरा चले गये।

तात वसुदेव के राज्याभिषेक के आमन्त्रण आर्यावर्त के सभी राज्यों में भिजवाये गये थे। गोकुल में नन्दबाबा, यशोदा माता, एकानंगा, राधा आदि सभी को आमन्त्रित करने के लिए मैंने उद्धव को भेज दिया, किन्तु वह एक भाव-भरा नकार और कुछ उपहार लेकर लौट आया। यशोदा माता ने कहा था, "इतने वर्षों बाद तुम्हें देखने के पश्चात् गोकुल लौट आने को हमारा मन नहीं करेगा। तुमने मथुरा को छोड़ा है, किन्तु हम गोकुल को सदा के लिए नहीं छोड़ सकते। जब तुम्हें अवसर मिले, एक बार आ जाना गोकुल, अपनी प्रिय एका से मिलने। अब वह बड़ी हो गयी है। अपनी सखी राधा से भी मिलने आ जाना एक बार। तब तक हम अपने मन में विराजित गोपालकृष्ण से मिलते रहेंगे!"

कुछ इने-गिने लोगों को छोड़कर सभी मथुरावासी यादवों ने मथुरा छोड़ी। राज्याभिषेक के सभी सूत्र आचार्य सान्दीपनि के अधीन थे। स्वर्णिम महाद्वार, राजप्रासाद, प्रासाद, प्राकार की दमक से झिलमिलाता कुशस्थली द्वीप विविध पुष्पमालाओं से सुरभित–आम्रपर्णों के तोरणों और कमानों से सुशोभित हुआ। प्रथम आचार्य सान्दीपनि और मुनिवर गर्ग ने तात वसुदेव और देवकी माता के हाथों आमन्त्रित ऋषि-मुनियों के समक्ष राजप्रासाद का पुण्याह-वाचन और स्वस्ति-वाचन करवाया। मन्दिरों में देवताओं की विधिवत् प्रतिष्ठापना की गयी। याचकों को यथेष्ट, भर-भरकर दान दिये गये। नये वस्त्र-अलंकारों से सजे, उपहारों के थाल लिये नर-नारी नगरवासियों की भीड़ राजसभा में जमा होने लगी। काशी, प्रयाग, अहिच्छत्र, कुरुक्षेत्र, पंचनद, हृषीकेश आदि क्षेत्रों से आये तपस्वी ऋषि-मुनियों के मन्त्रपठन के साथ सूर्योदय के मुहूर्त में राज्याभिषेक की विधियाँ आरम्भ होनेवाली थीं। विधि के अनुसार पहले से उपवास रखने के कारण तात और देवकी माता तनिक कृश हो गये थे, उनके मुखमण्डल आज अनुपम, अद्वितीय तेज से दमक रहे थे। शान्त कृतार्थता का समाधान, बिना किसी शब्द के–उनकी वत्सल आँखों से छलक रहा था।

सूर्य उदित हुआ। उसकी प्रथम किरणों ने यादवश्रेष्ठ वसुदेव महाराज और महाराज्ञी देवकी के चरणस्पर्श किये। सैकड़ों ऋषि-मुनियों के विमल कण्ठों से देववाणी के वेदमन्त्रों का अविरत घोष होने लगा। पाँच पुरोहितों ने आर्यावर्त की गंगा, सिन्धु, यमुना, नर्मदा, कावेरी आदि पावन नदियों के जल का तात और माता के मस्तक पर अभिषेक किया। पीछे-पीछे पवित्र दुग्ध, मधु, सुवर्णजल, कमलजल, चन्दनजल का अभिषेक किया गया। तत्पश्चात् अभिषेक समाप्ति के रूप में सप्त सरिताओं के जल से अभिषेक किया गया। तात और माता ने झिलमिलाते राजवस्त्र और आभूषण धारण किये।

मेरे प्रिय दाऊ का युवराज के नाते और रेवती भाभी का युवराती के नाते इसी प्रकार का अभिषेक विधि-विधान से किया गया। उन दोनों ने भी राजवस्त्र और अलंकार धारण किये। मैंने भी उद्धव और अन्य सभी भ्राताओं सहित अभ्यंग स्नानादि आवश्यक विधियाँ सम्पन्न कीं। नित्य की भाँति पीताम्बर धारण किया। नील दुकूल में मैंने अपने प्रिय पांचजन्य को खोंस लिया। मस्तक पर

मोरपंख से मण्डित स्वर्णमुकुट धारण किया। कौस्तुभमणियुक्त मौक्तिकमालाओं पर मैं वैजयन्तीमाला धारण करना नहीं भूला। मैंने अपने वक्ष पर स्वर्णलेप चढ़ाया लौहकवच धारण किया। कन्धे पर अजितंजय धनुष लटकाया। कटि में नन्दक खड्ग को कस लिया और कौमोदकी गदा को उठाया। फिर उद्धव ने एक उत्फुल्ल, काषाय रंग का कमल मेरे हाथ में दिया।

आचार्य सान्दीपनि और गर्ग मुनि का बताया हुआ शुभ मुहूर्त जब निकट आया, तात के राजप्रासाद से हम सुधर्मा राजसभा की ओर निकल पड़े। स्वर्णिम राजदण्ड हाथ में लिये अमात्य विपृथु सबसे आगे चल रहे थे। उनके पीछे आचार्य सान्दीपनि, गर्ग मुनि और अन्य ऋषि-मुनि थे। उनके पीछे थे यादवों की विशिष्ट पगड़ी धारण किये तात वसुदेव और देवकी माता। उनके पीछे रोहिणी माता सहित युवराज बलराम भैया और युवराज्ञी रेवती भाभी चल रही थीं। उनके पीछे मैं था और मेरी दायीं ओर उद्धव और उसके भ्राता चित्रकेतु, बृहद्बल और अन्य ककेरे, मौसेरे, ममेरे भ्राता थे। मेरी बायीं ओर थे सात्यकि, अनाधृष्टि, अक्रूर, सत्राजित, विकद्रु आदि मन्त्रिपरिषद् के प्रमुख सदस्य।

सुधर्मा सभा के पूर्वद्वार से हमने अन्दर प्रवेश किया। नगाड़े, दुन्दुभी, तुरही, ढोल, मृदंग आदि वाद्यों का सम्मिश्र, तुमुल घोष हुआ। असंख्य यादव और विविध राज्यों के आमन्त्रित सुहृद अभ्यागतों से राजसभा ऐसी खचाखच भरी हुई थी कि तिल धरने की भी जगह नहीं थी। राज्याभिषेक के प्रमुख पाँच पुरोहितों ने भावी महाराज-महाराज्ञी का स्वागत किया। सजी-सँवरी सात यादव सुहागिनों ने उनके भाल पर कुंकुम-तिलक लगाया। माथे पर अक्षत डाले गये। स्वर्णिम नीराजनों से उनकी आरती उतारी गयी। पाँच पुरोहितों ने रामेटा वनस्पति की छाल से बँधे पैरोंवाले, लाल शिरोभागवाले, चोंच खोलकर कण्ठ भाग फुलाते पाँच पुष्ट वनकुक्कुट दोनों पर से उतारकर दोनों ओर फेंक दिये। उनकी बोली और पंखों की फड़फड़ाहट यादव-सैनिकों की भीड़ में लुप्त हो गयी। पुरोहितों ने स्वर्णिम आचमनी से महाराज और महाराज्ञी की हथेली पर दधि रख दिया। स्वर्णपुष्प उन पर बरसाये गये। उनके स्वागत में, चलने हेतु उनके आगे-आगे लाल रंग का लम्बा पाँवड़ा बिछाया गया। वहाँ इकट्ठा हुए असंख्य यादवों द्वारा मेरे प्राणप्रिय तात और माता पर अँजुली भर-भरकर भाँति-भाँति के पुष्प बरसाये गये। रक्तवर्ण पाँवड़ों पर चलते हुए हमारा पूरा राजपरिवार पूर्व दिशा में बनायी गयी राजवेदी के निकट पहुँच गया। पुरोहितों के मार्गदर्शन के अनुसार तात ने धीरे-से अपना दाहिना पाँव चरणासन पर रखा। सिंहासन को पदस्पर्श न हो सके, इस सावधानी के साथ तात अर्धवीरासन में सिंहासनस्थ हो गये। देवकी माता ने भी उनका अनुसरण किया। राजसभा का कोना-कोना अविरत करतलध्वनियों से गूँज उठा।

राज्याभिषेक के मुहूर्त में अब कुछ पल ही शेष रहे थे। पुरोहितों के प्रमुख ने तात के मस्तक से मरोड़दार पगड़ी उतारकर समीप खड़े सेवक के हाथों के थाल में रख दी। अब मुख्य अभिषेक आरम्भ हुआ—स्वर्णमुद्राओं से। पुरोहितों का स्पष्ट मन्त्रोच्चारण आरम्भ हुआ। राजधर्म का यथोचित गुणगान करनेवाली वेदों की ऋचाओं का अखण्ड प्रवाह उनके मुख से प्रपात की भाँति बहने लगा। मन्त्रघोष के साथ तात और देवकी माता के मस्तक पर स्वर्णमुद्राओं का अखण्ड अभिषेक होने लगा। गोलाकार स्वर्णमुद्राएँ राजवेदी की स्वर्णिम सीढ़ियों से लुढ़कती, सभागृह में आसनों पर बैठे श्रेष्ठ जनों के चरणों में गिरने लगीं!

चारों द्वारों के पास स्वर्णिम जलपात्रों में मुहूर्त के घटिकापात्र डाले हुए थे। राज्यारोहण के

मुहूर्त के अचूक क्षण वे बुडुक की ध्वनि करते हुए डूब गये। चारों द्वारों पर के समय-पालकों ने एक ही समय हथौड़ियों से समय-सूचक थाल पर प्रहार किये। उनकी समवेत, सम्मिश्र ध्वनि निनादित हो उठीं—'ठण्ण्'। इसी क्षण राजवेदी के पास पाँचों पुरोहितों ने दश हाथों से राजकिरीट उठाया। बेलबूटों से विशेष रूप से सुशोभित, पार्श्ववलयांकित, उस भव्य स्वर्णिम राजकिरीट को उन्होंने धीरे-से मेरे तात के श्वेत-श्याम केशोंवाले मस्तक पर रखा। तत्पश्चात् उन्होंने छोटे आकार का स्वर्णकिरीट मेरी बड़ी माँ—देवकी माता के मस्तक पर रखा। वह देखकर जीवन में पहली बार मेरी आँखों में अश्रु छलक आये। राजसभा में जयघोष गूँजने लगा—'यादवकुलभूषण, अखण्ड लक्ष्मीअलंकृत, शूरसेन-मारिषादेवी-पुत्र, महाराऽज वसुदेऽव की जय होऽ जय होऽऽ! देवककन्या महाराज्ञी देवकीदेवी की जय होऽऽ जय होऽऽऽ!'

तत्पश्चात् युवराज-युवराज्ञी का भी अभिषेक हुआ।

अपने-आप को भूलकर मैं वह राज्याभिषेक देखता रहा। उस क्षण महाराज-महाराज्ञी, युवराज-युवराज्ञी को छोड़कर राजसभा के अन्य सभी सदस्य खड़े थे। किसी विचार में मगन अनजाने में मैं अपने आसन पर बैठा रहा। बायीं ओर के रिक्त आसन को देखते हुए मैं अपने-आप में खो गया—'कौन बैठनेवाली है इस आसन पर? क्या होगा उसका अधिकार? कौन होगी वह? जीवन के अज्ञात प्रदेश की खोज करते हुए मेरा भावुक, प्रेममय मन दौड़ने लगा। मैं तल्लीन हो गया।

वहाँ सुधर्मा राजसभा का परिसर जयघोष की चरम सीमा पर पहुँच चुका था—'यादवों के महानायक श्रीऽकृष्ण महाराऽज की जय होऽऽ...जय होऽऽऽ!' वे इसी एकमात्र वाक्य पर जमे हुए थे, तब मैंने राजपुरोहित को संकेत किया। उन्होंने अमात्य के पद पर विपृथु का नाम घोषित किया और यादवों का भूषण रत्नजटित स्वर्णिम राजदण्ड विधिपूर्वक उनके हाथ में सौंप दिया।

अब पुरोहितों का धर्म-कार्य समाप्त हुआ। वे अपने-अपने स्थानों पर आसनस्थ हो गये। राजसभा अमात्य के अधिकार में आ गयी। उनके द्वारा राजदण्ड ऊपर उठाते ही सम्पूर्ण राजसभा राजदण्ड का आदर करने हेतु खड़ी हो गयी और राजदण्ड नीचे करते ही यन्त्रवत् बैठ गयी। ऊँची शरीराकृतिवाले वृद्ध, अनुभवी अमात्य विपृथु अपनी धीर-गम्भीर अधिकारवाणी में बोलने लगे—"यादवजनो और आमन्त्रित अतिथिगणो, सुहृदयो, अब केवल हमारे वन्दनीय यादव-प्रमुख महाराज श्रीकृष्ण हमसे कुछ कहेंगे। आप सब उनके अमृतबोल ध्यानपूर्वक सुनें। इसके पहले उन्हीं के हाथों इस राजनगरी का निर्माण करनेवाले स्थापत्य-विशारद मय और उनके साथियों का सम्मान किया जाएगा।"

मैंने मुस्कराकर राजपरिवार में बैठे उद्धव की ओर देखा। प्रिय दाऊ, भाभी, तात, बड़ी माँ, राजस्त्रियों के कक्ष में बैठी छोटी माँ को मन-ही-मन वन्दन किया। मैंने बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण देकर अपनी नगरी के निर्माताओं का गौरव किया। नूतन राजनगरी की राजसभा को मैं पहली बार सम्बोधित करने लगा—"मेरे प्रिय यादवजनो और हम सबके सम्माननीय आमन्त्रित अतिथियो, जीवन में बहुत-कुछ कष्ट सहने और अपमानित होने के बाद मेरे प्रिय यादव बन्धुओं की अपनी स्वतन्त्र राजनगरी आज बस गयी है, इसका मुझे अत्यन्त आनन्द हो रहा है। यह उनका युगों से देखा हुआ एक दिव्य स्वप्न था। सागरदेवता के आशीर्वाद से और असंख्य यादवों के अथक कुशल कर्मयोग से इस राजनगरी का निर्माण हुआ है। इस बात का मुझे इतना आनन्द

हुआ है कि न वह मेरे वक्ष में समा सकता है, न उसे शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है।

"सर्वप्रथम मैं इस नगरी के चारों महाद्वारों के नाम घोषित करता हूँ—पूर्व महाद्वार का नाम होगा 'शुद्धाक्ष'—पश्चिम का 'ऐन्द्र', दक्षिण महाद्वार का 'पुष्पदन्त', और उत्तर महाद्वार को हम 'भल्लात' कहेंगे। इस नगरी का जो नाम मुझे सूझ रहा है, वह है द्वारिका—द्वारावती!

"द्वारावती—अनेक द्वारोंवाली सुन्दर द्वारिका! जिस किसी के मन का द्वार खुला होगा उसे अपने में समा लेने को उत्सुक नगरी—यादवनगरी, भावनगरी, प्रेमनगरी!" मेरे इन शब्दों के बाद ऐसी घोषणाएँ झरती रहीं मानो सभी जन उनका कई दिनों से अभ्यास कर रहे हों—'अष्टादश यादवकुलों के महाजनपद की राजनगरी द्वारिकाऽ शुभम् भवतु—जयोऽस्तु द्वारावतीऽ जयतुऽ जयतुऽ!'

जयघोष समाप्त होने के पश्चात् मैंने अपनी बात आगे बढ़ायी, "मेरे प्रिय यादव बन्धुओ, आर्यावर्त के सोलह महाजनपदों में से कुछ मुख्य प्रतिनिधि आज यहाँ उपस्थित हैं। कुछ नहीं आये हैं—आनेवाले थे भी नहीं। मैं जानता हूँ, जो आये हैं, वे महाराज वसुदेव के लिए—हम यादवों के लिए अमूल्य उपहार लेकर, उससे भी अधिक अमूल्य सद्भावनाओं सहित आये हैं। हम द्वारिकावासियों को भविष्य में यहाँ सबके साथ प्रेम से, मिल-जुलकर रहना है। मुझे केवल एक ही विश्वसत्य पर विश्वास है—प्रेम पर।

"सबको साक्षी रखकर, महाराज वसुदेव की अनुज्ञा से मैंने इस राजनगरी का नाम घोषित किया है। मेरी अपेक्षा है, आर्यावर्त हमारी द्वारिका को सत्रहवें महाजनपद के रूप में स्वीकार करे। इसके लिए हम सदैव प्रयत्नशील रहेंगे। इस नगरी में सबका स्वागत होगा।"

पीछे-पीछे किसी ने घोष किया—'यादव महाजनपद द्वारिका ही जय हो!"

रैवतक, काशी, कोसल, कुरु, अवन्ती, अश्मक, पांचाल, विदेह, सिन्धु-सौवीर, शिधि-उशीनर, दार्व-अभिसार, काम्बोज, गान्धार आदि महाजनपदों से आये राजदूतों ने अपने-अपने उपहार महाराज वसुदेव को अर्पित किये। मागध जरासन्ध, चेदि शिशुपाल तथा शाल्व, दन्तवक्र और विशेषत: कौण्डिन्यपुर के राजा भीष्मक की ओर से कोई उपहार नहीं आया, आनेवाला भी नहीं था। दक्षिण दिशा के वनवासी, क्रौंचपुर, पद्मावत, महिष्मती, पुरिका, रत्नद्वीप, हरित आदि हमारे यादव राजाओं ने विशेष उपहार भिजवाये थे। उनमें स्वर्ण, चाँदी, रत्न, अन्न, गज, अश्व, गायें आदि विपुल मात्रा में थे। दस बलाढ्य यादव सदस्यों से द्वारिका की मन्त्रिपरिषद् बनाने का प्रस्ताव भी था। उसमें उद्धव के वृद्ध एवं अनुभवी पिता देवभाग, राजनीतिकुशल देयश्रवसू और विकद्रु तथा हृदिक-पुत्र महारथी कृतवर्मा, आहुक, सत्यक, सत्राजित, सत्यव्रत और अमात्य विपृथु के पिता चित्रक तथा अक्रूर भी थे। उनका पराक्रमी, कुशल मार्गदर्शन सबको प्राप्त होनेवाला था।

मुझे तो पूरा विश्वास था, मेरी इस दूरदर्शी नगर-योजना में भविष्य में अमृतफल लगेंगे। द्वारिका का नाम सोलह महाजनपदों को भी लाँघकर समुद्र के उस पार पहुँच जाएगा!

उस दिन सन्ध्या समय मैं उद्धव को लेकर ऐन्द्र द्वार से निकलकर सागर-पुलिन पर आया। दारुक और रथ पीछे रह गये। पश्चिम सागर से आ मिले अथाह आकाश में गुलाबी मेघावलियाँ फैली हुई थीं। स्वयं को भूलकर मैं देखता ही रह गया। उद्धव ने पूछा, "क्या देख रहे हैं भैया आप रंगीन आकाश में?" उसकी ओर देखते हुए मैंने मुस्कराकर कहा, "आकाश का रंग आज तुम्हारे ही जैसा दिख रहा है, उद्धव!"

वह भी कुछ कम नहीं था। मुझसे गूढ़ोक्ति में बात करने में उसे बड़ा आनन्द आता था। मेरी बात को उसने दूसरी ओर मोड़ दिया–"हम जैसे बावरे उन मेघों के पीछे की शाश्वत नीलिमा को देखने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं।"

वह किस ओर जा रहा है, यह मैंने पहचान लिया। किन्तु मैं जानकर भी अनजान बना रहा। मैंने समुद्र-तट पर दिखते धीवर-प्रमुख को पुकारा। वह अपने साथियों सहित समुद्र से लायी मछलियों से भरे बाँस के टोकरे तट पर उतारने में मग्न था। हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक मेरे समीप आते हुए उसने कहा, "आज्ञा महाराज!" मैंने मुस्कराते हुए उससे पूछा, "क्या आप फिर अपनी डोंगियाँ सागर में डालेंगे? सागर की गहराई में उतरकर मोतीयुक्त सीपियाँ निकाल लाएँगे?"

"जैसी आपकी इच्छा यादवराज!" उसने कोई भी बहाना नहीं बनाया। उसके साथ वहाँ इकट्ठा हुए अन्य धीवर भी मुझे प्रमपूर्वक वन्दन करते हुए बड़े उत्साह से सागर में उतरने को तैयार हो गये। दस-बीस डोंगियाँ पुन: सागर में घुस गयीं।

उन साहसी धीवरों ने सूर्यास्त होने से पहले ही बहुत-सी सीपियाँ इकट्ठी कर, उन्हें स्वच्छ धोकर, सीपियों से भरी टोकरियाँ मेरे आगे रख दीं। मैंने उन्हें वे टोकरियाँ राजप्रासाद में भेज देने के लिए कह दिया।

सागर-तट से लौटते समय उद्धव ने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न किया–"भैया, तात वसुदेव का राज्याभिषेक खूब धूमधाम से सम्पन्न हुआ। उसमें किसी को कोई त्रुटि प्रतीत नहीं हुई। किन्तु मुझे हुई है–भैया, अपने बायीं ओर के रिक्त आसन को कब भरेंगे आप? कौन होगी हमारी आदरणीया, भाग्यशालिनी भाभी?"

शीघ्र ही हमारे नये महाजनपद के नित्य व्यवहार नियमित रूप में आरम्भ हो गये। सैनिक, सेवक, नगरजनों का दोनों द्वीपों पर सरलता से आवागमन आरम्भ हुआ। मन्दिर-मन्दिर से उठनेवाले घण्टानाद सागर-गर्जन में विलीन होने लगे। राजसभा के समीप के प्रासाद में अधिकतर मेरा निवास हुआ करता था। स्वर्णिम सोपान के ऊपर के विश्राम-कक्ष में मैं निवास करने लगा। उद्धव मेरे साथ ही हुआ करता था। एक दिन उद्धव और अमात्य एक कृश, मध्यम आयु के ब्राह्मण को लेकर मेरे कक्ष में आ गये। स्पष्ट दिख रहा था कि वह कहीं दूर से, कष्टमय यात्रा करके यहाँ पहुँचा है। उसके वस्त्र मलिन, फटे हुए थे। कड़ी धूप में, पैदल यात्रा करने से उसका गौरवर्ण झुलस गया था, काला पड़ गया था। मेरे सम्मुख आते ही उसने मुझे साष्टांग दण्डवत् किया। मैंने उसके कन्धे पकड़कर उसे ऊपर उठाया और थपथपाया। उसने अपने कन्धे पर के उत्तरीय से, अत्यन्त सँभालकर लायी एक रेशमी वस्त्र की छोटी-सी थैली निकालकर मेरे हाथ में दी और कहा, "हे महाराज श्रीकृष्णदेव, हमारी राजकुमारी के अमूल्य प्राणों की रक्षा करना अब केवल आप ही के हाथ है। उनकी इच्छा के विरुद्ध उनके पिता और भ्राता ने उनका स्वयंवर रचा है। शीघ्र ही आप स्वयं सेना सहित प्रस्थान करें–कौण्डिन्यपुर पधारें।"

कौण्डिन्यपुर! यह नाम सुनते ही मेरे हृदयाकाश में अनेक श्वेतवर्ण राजहंस पक्षी उड़ान भरने लगे। विदर्भ के राजा भीष्मक और महाराज्ञी शुद्धमति की पुत्री रुक्मिणी मेरी आँखों के आगे खड़ी हो गयीं। उन्हें मैंने पहले कभी नहीं देखा था। शब्दों की पकड़ में न आनेवाले, अनेक अध्यायोंवाले भाव-रामायण के पृष्ठ मेरी आँखों के आगे फड़फड़ाने लगे। कौण्डिन्यपुर और रुक्मिणी इन दो नामों से मेरे अन्तर्मन की गहराई में जड़ पकड़े सुदर्शन के पावन बोल भी क्षण-भर के लिए झंकृत

हो उठे।

“आपका शुभनाम?” मैंने उस सत्‌शील ब्राह्मण से पूछा।

“मेरा नाम सुशील है। विदर्भ की राजकुमारी रुक्मिणीदेवी का मैं पुरोहित हूँ। इस समय मैं उनका दूत हूँ।” उसने कहा।

मैंने उसे आसन पर बैठाया। मेरे सेवक ने उसके जलपान का प्रबन्ध किया, किन्तु मेरे समक्ष उसे ग्रहण करने में वह संस्कारशील ब्राह्मण हिचकिचाने लगा। मैंने उसके कन्धे थपथपाकर उसे धीरज बँधाया, तब उसने जलपान ग्रहण किया। वह तृप्त हो गया। मैंने उससे राजकुमारी के स्वयंवर की पूरी जानकारी प्राप्त की। अमात्य को उसका ध्यान रखने की सूचना देकर मैंने उस ब्राह्मण दूत को विश्राम करने हेतु अतिथि-गृह में भेज दिया।

मुझे और दाऊ को रणभूमि में परास्त करने में जरासन्ध असफल हुआ था, अत: अब उसने टेढ़ी चाल चली थी। अपना लक्ष्य पाने के लिए टेढ़ी अँगुली से घी निकालने की योजना बनायी थी उसने। भीष्मक-पुत्र रुक्मि को उसने अपने राजनगर गिरिव्रज में आमन्त्रित किया था। राजसभा में स्वर्णिम मूठ का कोशबद्ध खड्‌ग, विशाल ढाल और अमूल्य राजवस्त्र प्रदान कर उसका सम्मान किया था।

रुक्मि! हमारे उद्धव जैसा ताम्रगौर वर्ण का उतावला, शीघ्रकोपी–हमारे दाऊ और सात्यकि की भाँति, वैसा ही पराक्रमी भी। अपनी बहन जैसा ही सुन्दर। उसके चार भ्राता भी थे–रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और रुक्ममालिन्। रुक्मि के पिता भीष्मक अर्थात् हिरण्यरोमन् अब वृद्धत्व की ओर ढलने लगे थे। अत: विदर्भ में अब रुक्मि की ही चलती थी।

रुक्मि को अपने वश में करके जरासन्ध मुझे मात देना चाहता था। उसने रुक्मि को मेरे फुफेरे भ्राता शिशुपाल के पास शुक्तिमती भेज दिया था। रुक्मि ने शिशुपाल के आगे प्रस्ताव रखा था कि वह उसकी बहन का पाणिग्रहण करे। शिशुपाल ने उस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया था। दोनों ने मिलकर राजा भीष्मक को विवाह का मुहूर्त निकालने पर बाध्य कर दिया था। अपने राजनगर गिरिव्रज में बैठकर जरासन्ध ने इस बात का सूत्र-संचालन किया था। वह भीष्मक को उनके पुत्रों सहित अपने वश में करना चाहता था–शिशुपाल की बंसी में फँसाकर! विदर्भकन्या रुक्मिणी की इच्छा का तो प्रश्न ही नहीं उठता था–क्योंकि वह एक नारी थी।

विश्राम-कक्ष के एकान्त में सुशील का दिया भूर्जपत्र मैं पढ़ने लगा। वह भूर्जपत्र था ही नहीं! वह था मुझे देखे बिना ही मन-ही-मन मेरा वरण किये मनस्वी क्षत्राणी नारी के हृदय का अन्तिम आक्रन्दन। उसने अपने हाथ से मयूरपंख की लेखनी से लिखा था–

श्रुत्वा गुणान्भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम्
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थ लाभं
त्वय्यच्चुताविशति चित्तमपत्रपं मे॥...

“हे त्रिभुवनसुन्दर श्रीकृष्ण, जो आपका गुणगान सुनते हैं उनके त्रिविध कष्ट क्षणार्द्ध में नष्ट हो जाते हैं, उनका जीवन सार्थक होता है। जो आपके रूप को आँखों में बसा लेते हैं, उनकी आँखें कृतार्थ होती हैं। आपकी यह कीर्ति सुनकर लज्जा रहित होकर मैं अविरत आप ही के चिन्तन में

मग्न रहती हूँ। अपनी जनलज्जा और मनलज्जा को आपके चरणों में त्यागकर मैं आपको यह पत्र लिख रही हूँ।”

उसके पत्र के आरम्भ ने ही मेरे मन को आकर्षित कर लिया। वह मुझसे विशुद्ध, निरपेक्ष प्रेम की याचना कर रही थी। मैंने भी आज तक इससे भिन्न क्या किया था! और भविष्य में भी क्या करनेवाला था? क्या विशुद्ध, निरपेक्ष प्रेम ही मेरे जीवन का सार नहीं था?

स्वयं को भूलकर कुतूहल से मैं आगे पढ़ने लगा, “हे मधुसूदन, आपका शील, कुल, तेज, धन, विद्या, रूप, सामर्थ्य, वाणी–सब अतुलनीय है। अपने नाम के अनुसार त्रिभुवन को मोह लेनेवाले आपके चरणों में यदि मुझ जैसी विवाहयोग्य नारी अपने जीवन का पारिजात-पुष्प अर्पित करे, तो उसमें आश्चर्य क्या है?” उसने मेरे नाम में निहित कृष्ण और श्रीकृष्ण को सटीक रूप में शब्दबद्ध किया था। उसकी बुद्धिमानी की प्रशंसा करते हुए मैं अपने-आप ही मुस्कराया और पढ़ने लगा, “हे प्राणमोहन, कुछ भी कहिए, किन्तु मैंने मन-ही-मन आपका वरण किया है। इसलिए इस समय जो भी करना आवश्यक और उचित है, उसे करने में तनिक भी आनाकानी मत कीजिए।” उसके पत्र के भाव-लालित्य से चकित होकर मैं पढ़ने लगा, “आप मृगेन्द्र हैं। यादवों के वनराज हैं। अपना भाग ले जाने में यदि आप तनिक भी हिचकिचाएँगे तो शिशुपाल रूपी शृगाल उस पर झपट पड़ेगा! यह किसके लिए लज्जास्पद होगा? गरुड़ का भाग कौआ उड़ा ले जाए, क्या यह ऐसा ही नहीं होगा?”

किसी भी क्षत्रिय के स्वाभिमान को उत्तेजित करने में समर्थ प्रभावशाली शब्दों का प्रयोग उसने किया था। उसके रूप-सौन्दर्य के साथ-साथ मुझे उसकी तड़पदार बौद्धिक सुन्दरता का आभास हुआ। वह मुझे विचलित होने का अवसर ही नहीं देना चाह रही थी। यह जानकर मैं अपने-आप ही मुस्कराया। उसने आगे लिखा था, “आपको सम्बोधित यह पत्र लिखने के मेरे साहस को सम्भवत: आप उद्धतपन भी कह सकते हैं। कुछ भी हो, आपके लिए कुल, शील आदि सर्वस्व का त्याग करने को मैं तत्पर हूँ।”

पत्र में यहाँ तक दिखती उसकी बुद्धि की चमक की आगे तो पराकाष्ठा ही हो गयी थी। किसी किशोर को उसका हाथ थामकर कबड्डी और लपकडण्डा खेलना सिखानेवाले गुरु जैसा ही उसका मनोभाव था। नारियों में निसर्गत: होनेवाली चतुराई उसमें अपनी सभी विशेषताओं के साथ विद्यमान थी। उसने लिखा था–“आपको सन्देह होगा कि विवाह-समारम्भ में आपके आने पर कुछ-न-कुछ बाधा खड़ी होगी, किन्तु इस विषय में आप नि:शंक हो जाइए। विवाह के एक दिन पहले ही वधू को कौण्डिन्यपुर की सीमा पर स्थित देवी अम्बिका के मन्दिर में देवी-दर्शन के लिए ले जाने की हमारे भोजकुल की प्रथा है। जब मैं देवी अम्बिका के दर्शन हेतु अपनी सखियों सहित वहाँ पहुँचूँगी, तब आप रथ सहित वहाँ उपस्थित रहिए। जैसे ही मैं देवी के दर्शन कर मन्दिर से बाहर आऊँगी, आप मेरा हरण कर ले जाइए। मैंने मन से आपका वरण किया है। अत: परस्त्री-हरण का दोष आपको नहीं लगेगा।” उसके स्पष्टत: सुझाये इस उपाय से मेरे गाल पर भँवर पड़ गये। मैं उत्सुकता से पढ़ने लगा कि पत्र के अन्त में उसने क्या लिखा है!

“हे कमलनयन, सब-कुछ कहने पर भी यदि आपने मेरे निवेदन को अस्वीकार कर दिया तो हे मधुसूदन, हे मनमोहन, आपका स्मरण करते-करते मैं प्राण त्याग दूँगी। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में आप अवश्य मेरे प्राणसखा बनेंगे।

“हे श्रीहरि-श्रीधर-श्रीकृष्ण! अपने प्राणों की ज्योति जलाकर मैं केवल आप ही की प्रतीक्षा कर रही हूँ। भूलिए नहीं। एक क्षण का भी विलम्ब हुआ तो हे आनन्दकन्द-मुकुन्द, हे गोविन्द मेरे लिए वह महाप्रलय की घड़ी होगी! अत: शीघ्र प्रयाण करें।” पत्र के अन्त के इस भाव-त्रिशूल ने मुझे झँझोड़ डाला।

मेरे किरीट में लगे विविधरंगी मोरपंख को देखते हुए स्वयं को भूले उद्धव से मैंने कहा, “ऊधो, तुम बार-बार पूछ रहे थे न, कि राजसभा में मेरी बायीं ओर के आसन की स्वामिनी कौन है? यही है वह–रुक्मिणी–तुम्हारी भाभी!” मैंने वह भूर्जपत्र अपने भावविश्वस्त प्रिय भ्राता उद्धव के हाथ में दे दिया। उसने मन:पूर्वक उसे पढ़ा।

“जाओ उद्धव, शीघ्रता करो। पत्र-लेखक, राजदूत और अश्वदल-प्रमुख को भेज दो। कोषागार-प्रमुख से कहो, वह मूल्यवान उपहार तैयार रखे। दारुक से कहो कि वह शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक को तैयार रखे। केवल अश्व ही हमारे साथ चलेंगे, गरुड़ध्वज रथ यहीं रहेगा। मैं आज सन्ध्या समय ही सुशील ब्राह्मण सहित कौण्डिन्यपुर की ओर प्रस्थान करूँगा। दाऊ से कहो, सेना सहित वे मेरे पीछे-पीछे आयें, तुम भी उनके साथ चले आना।” मैंने उद्धव को काम में लगा दिया।

हर्षविभोर उद्धव उत्साह से लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ चला गया। मैंने पत्र-लेखक से दक्षिण दिशा के चारों यादव राजाओं को कौण्डिन्यपुर आने के लिए पत्र लिखवाये और राजदूतों द्वारा भिजवा दिये। अश्वदल-प्रमुख को मैंने पवन गति से दौड़नेवाले अश्व और चुने हुए हट्टे-कट्टे यादव-सैनिकों को तैयार रखने की आज्ञा दी। दो बार दण्डकारण्य की यात्रा करने से मैं बहुत-कुछ सीख गया था। द्वारिका से कौण्डिन्यपुर की यात्रा बहुत लम्बी थी। इस यात्रा की सुविधा के लिए हमने विशेष दल तैयार करवाये थे। सबको तैयार रहने की आज्ञा दी गयी।

चक्र के आरे तीव्रता से घूमने लगे। महाराज्ञी होने पर भी हम जिसे बड़ी माँ ही कहते आये थे, उस देवकी माता के हाथों विदाई का दधि और आशीर्वाद स्वीकार कर हमने कौण्डिन्यपुर की ओर प्रस्थान किया। इस बार हमने दो सप्ताहों में ही दण्डकारण्य को पार किया। अपने आगमन की सूचना देने के लिए हमने अग्रदूत को राजा भीष्मक के पास भेज दिया। उन्होंने हमारी अगवानी के लिए अपने अमात्य रुक्मवर्मा को उपहार सहित भेजा। उन्होंने हमसे सैन्य सहित नगर में आने के लिए अनुरोध किया, किन्तु बहाने बनाकर मैं उसे टाल गया। हमने कौण्डिन्यपुर की सीमा पर ही पड़ाव डाला। विवाह के लिए दक्षिण दिशा से कई राजा आये हुए थे। उत्तर से जरासन्ध, शाल्व और दन्तवक्र साथ-साथ उपस्थित हुए थे। नियोजित वर शिशुपाल तो कब का कौण्डिन्यपुर पहुँच चुका था। जरासन्ध के आग्रह और आतंक के कारण अन्य भी कई नरेश ससैन्य आये हुए थे। नगर में तो तिल धरने की भी जगह नहीं थी। दक्षिण से आये हमारे चार आप्त यादव राजा मेरी पूर्वसूचना के अनुसार नगर की दक्षिण सीमा पर ही पड़ाव डाले हुए थे। मैंने अपने विशिष्ट कृष्ण-कौशल से विदर्भ के अमात्य रुक्मवर्मा से आमन्त्रितों की पूरी जानकारी प्राप्त कर ली।

युवराज रुक्मि ने इस समय भी शिशुपाल को अपना भावी बहनोई मानकर, हमें ग्वाला कहते हुए आमन्त्रित नहीं किया था। हमारे आने का समाचार सुनकर वह चौकन्ना हो गया। हमारे शिविर में भेजे गये उसके सेवक वास्तव में गुप्तचर थे। अब हमें प्रति-गुप्तचरों को नियुक्त कर उनकी गतिविधियों पर दृष्टि रखते हुए पाँव उठाना था।

कौण्डिन्यपुर की दक्षिण सीमा पर पड़ाव डाले हुए राजा क्रथकैशिक से मैंने उनका अलंकृत

राजरथ मँगवाया। मेरी सूचना के अनुसार उसमें चार चमकदार कृष्णवर्ण, पुष्ट अश्व जुते हुए थे।

मेरी अपेक्षा के अनुसार, हमारे शिविर में कृष्णवर्ण अश्वोंवाले राजरथ के आगमन की सूचना रात्रि में ही रुक्मि तक पहुँच गयी। उसने अपने गुप्तचर-प्रमुख को बुलवाकर आज्ञा दी–"उस काले के काले अश्वोंवाले रथ पर सावधानी से दृष्टि रखो। वह कभी भी और कुछ भी कृष्ण-कृत्य कर सकता है।"

आते ही मैंने सुशील ब्राह्मण द्वारा विदर्भकन्या रुक्मिणी को सन्देश भिजवाया था–"मैं आ गया हूँ। चिन्ता मत करो–निर्भय हो जाओ। कल अम्बिका-दर्शन के लिए आ रहा हूँ! तैयार रहो–धैर्य धरो!"

विवाह के पूर्व दिन मेरे कुछ विशेष सैनिकों ने क्रथकैशिक के रथ से कृष्ण-अश्वों को अलग करके उसमें मेरे चार शुभ्र-धवल अश्वों को जोत दिया। ध्वजदण्ड पर गरुड़ध्वजा फहरा दी गयी।

नगर के दक्षिण में ठहरे हुए हमारे चारों आप्त यादवनरेश सेना सहित विवाह-मण्डप जाने हेतु निकल पड़े, किन्तु पहुँच गये सीधे हमारे पड़ाव पर। अब हमारा शिविर शक्तिशाली हो गया था।

मेरी जीवन-यात्रा का सबसे अधिक रोमांचक क्षण मेरे आगे खड़ा था–युग-युग तक गूँजते रहनेवाले मेरे विवाह का क्षण! चार शुभ्र अश्वोंवाला, गरुड़-चिह्नांकित, काषाय ध्वजा फहरानेवाला राजरथ दारुक ने मेरे शिविर के आगे खड़ा कर दिया। वल्गाओं को नीचे रखकर वह रथनीड़ से नीचे उतरा और शीघ्रता से पैर उठाते हुए मेरे समीप आकर उसने मुझे और मेरी बायीं ओर खड़े उद्धव को वन्दन किया। मैंने उसे टटोला–"सब तैयार है? कुछ रह तो नहीं गया?"

"नहीं आर्य, सब तैयार है। रथ के पार्श्वभाग में बाण-तूणीर, शार्ङ्ग और अजितंजय धनुष, चक्र, अग्नि-कंकण, कौमुदी गदा, सौनन्द मूसल, कोशबद्ध नन्दक खड्ग–सब तैयार रखा है।" तत्परता से उत्तर देते हुए वह अत्यन्त प्रसन्न मुस्कराया।

आज उसने मेरे प्रिय अश्वों की पीठ पर मृदु, रेशमी, शुभ्र झूलें उढ़ायी थीं। मुझे मुस्कराते देख उद्धव ने कहा, "भैया, कितनी यौवन-सम्पन्न है आपकी हँसी! आप निश्चय ही सफल होकर लौटेंगे।"

"तुम दोनों यहीं ठहर जाओ। अम्बिका के दर्शन कर और आशीर्वाद प्राप्त करके मैं शीघ्र ही लौट आता हूँ।" एक ही छलाँग में मैं रथनीड़ पर चढ़ गया। कटि में बँधे हुए नील दुकूल से अपना प्रिय पांचजन्य निकालकर मैंने उसे हथेली से पकड़ मस्तक से लगाया। कौण्डिन्यपुर की सीमा पर गगनगामी ग्रीवा उठाते हुए, कण्ठ की धमनियाँ फुलाकर मैंने उसे प्राणपण से फूँका। मुझे स्वयं ही आभास हुआ कि इसके पहले मैंने कभी इतने आवेश से उसे नहीं बजाया था। अपने प्रिय अश्वों की वल्गाएँ मैंने हाथों में लीं। तात वसुदेव और माता, अपने पूर्वज और आचार्य सान्दीपनि का स्मरण करके मैंने अपनी परा वाणी से चारों अश्वों को उनके नामों सहित पुकारा–"चलो–शैब्य, सुग्रीऽव, मेऽघ, बल–चलोऽ" मेरी पुकार का अपनी हिनहिनाती परावाणी से प्रत्युत्तर देते हुए वह अश्वचैतन्य चौकड़ियाँ भरने लगा। मैं चल पड़ा–अकेला ही, अदम्य आत्मविश्वास के साथ। अपने गरुड़ध्वज रथ ने आनन-फानन में ही टेढ़े-मेढ़े मोड़ों को पीछे छोड़ दिया। मैं उसे घनी पर्वत-श्रेणियों की तलहटी में स्थित सुघड़ अम्बिका-मन्दिर के पास ले आया। रथ का मुख मोड़कर मैंने उसे मन्दिर के आगे, दूर एक स्वर्णचम्पक-वृक्ष के नीचे खड़ा किया। मन्दिर के पुजारी और सेवक हड़बड़ाकर देखते ही रहे। तीव्र गति से सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ, मन्दिर का प्रांगण पार करके मैं

गर्भगृह में पहुँचा। प्रसन्नवदन देवी अम्बिका के पवित्र चरणों में मैंने अपना स्वेदसिक्त मस्तक टिकाया। फिर शान्ति से परिक्रमा की। प्रसाद ग्रहण करने हेतु मैंने अपनी दाहिनी हथेली पुजारी के आगे फैलायी। अब भी वह कुछ हड़बड़ाया हुआ-सा ही दिख रहा था। मेरे किरीट में लगे मोरपंख और कण्ठ में झूलती शुभ्र-धवल वैजयन्तीमाला को वह आँखें विस्फारित करके देखता रहा। मेरे स्वर्णाभूषणों पर उसकी दृष्टि घूमती रही। किसी को भी व्यूह में फँसाकर उसे भ्रमित हुआ देखना मेरा प्रिय खेल रहा है। दुविधा में पड़े पुजारी का दिया गया प्रसाद मैंने ग्रहण किया। अपने कण्ठ से एक मौक्तिक-माला उतारकर उसे भेंट करते हुए मैंने पूछा, "आप नहीं गये विवाहोत्सव देखने नगर में?"

"वधू राजकुमारी ही आएगी अब देवी के दर्शन करने। उसको आशीर्वाद देने के पश्चात् चला जाऊँगा मैं नगर में–राज-दक्षिणा लेने।" पुजारी ने हँसते हुए कहा।

मौक्तिक-माला की ओर देखते हुए मैं बुदबुदाया–"मेरी दक्षिणा यही है।"

नगर की सारी भीड़ विवाह-मण्डप के पास जमा हो गयी थी। मन्दिर में अब गिने-चुने लोग ही थे। अपने जीवन में विशेष भावपूर्ण स्थान पानेवाला वह मन्दिर मैंने बाहर से भी चारों ओर घूमकर देखा। सीढ़ियाँ उतरकर मैं पुन: गरुड़ध्वज रथ में आ बैठा–विचारों में मनन हो गया। कुछ ही देर में दौड़ते अश्वों की टापों की खड़खड़ाहट सुनाई देने लगी। फिर धीरे-धीरे वह बढ़ने लगी। पीछे-पीछे कई वाद्यों की सम्मिश्र मधुर ध्वनियाँ उसमें मिल गयीं। मैं चौकन्ना हो गया। कुछ ही क्षणों में सशस्त्र अश्वारोहियों ने पूरे मन्दिर को घेर लिया। वधु राजकुमारी का वह संरक्षक अश्वदल था। उसके पीछे काषाय और शुभ्र वस्त्र धारण किये हुए ऋषि-मुनियों ने खड़ाऊँ खटखटाते हुए मन्दिर के प्रांगण में प्रवेश किया। मन्त्रघोष करते और बीच-बीच में शंख फूँकते हुए वे सीढ़ियाँ चढ़कर मन्दिर में चले गये। उनके पश्चात् वस्त्रालंकारों से सजी हुई वधु-सेविकाओं का समूह आया। देवी के चरणों में अर्पित करने के लिए उनके हाथों में फल, पुष्पमालाएँ, वस्त्र, आभूषण आदि पूजा की सामग्री थी। उनके बाद वधु के साथ की आप्त स्त्रियों को लेकर भव्य रथ वहाँ पहुँच गये। उनके पीछे वधु के पाँचों भ्राताओं के अलंकृत रथ थे। अन्तिम रथ था वधु–राजकुमारी रुक्मिणी–का सबसे अधिक सजाया हुआ, सबसे ऊँचा और भव्य। उसके ध्वजदण्ड पर भोजकुल का श्वेत राजध्वज फहरा रहा था।

उपहार के थाल लिये हुए दासियों सहित राजस्त्रियों ने मन्दिर में प्रवेश किया। अपने-अपने अश्वों की वल्गाएँ रक्षकों को सौंपकर सेनापति और विशिष्ट शस्त्रधारी रक्षकों सहित पाँचों राजपुत्र मन्दिर की सीढ़ियाँ चढ़ने लगे। अन्त में सजे हुए भव्य रथ से उतरकर वधु ने अलक्तक से रँगे अपने नूपुरधारी कोमल पद धरती पर रखे।

मुझे उसके केवल नूपुरधारी, रक्तगौर पदकमल ही दूर से अस्पष्ट-से दिखाई दिये। उसने मुख पर स्वर्णसूत्र-मण्डित किनारीवाली कोमल ओढ़नी ओढ़ रखी थी। उसका तन वस्त्रालंकारों से पूर्णत: ढँका हुआ था।

उसके पदकमलों के अस्पष्ट दर्शन से ही मेरे मन में एक प्रकार की भावतरंग-सी उठी। मेरे अन्तर्मन में सुप्त रूप से स्थित सुदर्शन की दिव्य तरंगें आलोड़ित हो उठीं। अपने-आप ही मेरा हाथ दुकूल में बँधे पांचजन्य पर गया। मैंने उसे होठों से लगाकर पूरी शक्ति से फूँका।

उसकी अद्‌भुत ध्वनि सुनकर वह चौंक पड़ी और वहीं रुक गयी। मुख पर से ओढ़नी हटाकर

उसने मेरे गरुड़ध्वज रथ की ओर देखा। चन्द्रविकसी कुमुद-पुष्प की भाँति दिख रहा था उसका मुखकमल–प्रफुल्लित, यौवन-सम्पन्न! मेरे रथ के ध्वजदण्ड पर लगे गरुड़ध्वज को देखकर आनन्दोर्मि से उसका मुख खिल उठा। मानो लाखों स्वर्णिम गरुड़ पक्षी मैनाक पर्वत के शिखर की भाँति उन्नत दिखते हुए उसके प्रसन्न मुखमण्डल पर उतर आये हों! अगले ही क्षण उसने अपनी ओढ़नी पुन: ओढ़ ली। उसके पग अब निर्भयता के साथ निश्चयपूर्वक धीरे-धीरे बढ़ने लगे–मन्दिर की ओर।

मेरा काम पूरा हुआ–उसे संकेत मिल चुका था।

कुछ ही क्षणों में मन्दिर के भीतर धार्मिक विधियाँ आरम्भ हो गयीं। वातावरण में असंख्य घण्टानाद गूँज उठे। उसी ध्वनि में ऋषियों की शंखध्वनि भी मिल गयी। एक घटिका-भर धार्मिक विधियाँ चलती रहीं। तत्पश्चात् वधु के कर-स्पर्श किये दान के थाल एक के बाद एक याचकों की भीड़ में बँटने लगे। देवी अम्बिका ने प्रसन्न होकर वधु रुक्मिणी को आशीर्वाद दिया। मुझे तो वह पहले ही मिल चुका था।

अब सबसे पहले ऋषि-मुनियों का समूह मन्दिर से बाहर आया। किसी के भी ध्यान में नहीं आया कि इस दर्शन-यात्रा ने जिस क्रम से मन्दिर में प्रवेश किया था, उसी क्रम से वह बाहर नहीं आयी। सुशील ब्राह्मण ने मेरी सूचनाओं का पालन अचूक रूप से किया था। सारा क्रम तोड़ते हुए ऋषियों के पीछे-पीछे प्रत्यक्ष रुक्मिणी ही बाहर निकल आयी। उसके पीछे उसकी विशेष दासियाँ थीं उसकी आँखें गरुड़ध्वज को ही खोज रही थीं। मैंने अब तक गरुड़ध्वज रथ को घुमाकर सीधे मन्दिर की सीढ़ियों के पास खड़ा कर दिया था। वह आयी–धूप में चमकते मन्दिर के श्वेत सोपानों से धीरे-धीरे उतरते हुए, स्फटिक के चलते-फिरते शिल्प की भाँति!...शरद् ऋतु में खिले पारिजात-पुष्पों से सुगन्धित प्रसन्न प्रभात की तरह!...आषाढ़ के आरम्भ में श्यामल मेघमाला में चमकती विद्युल्लता को लजाते हुए!...मेरे रथ के आगे आते ही उसने ओढ़नी पीछे फेंक दी। मेरी और उसकी आँखें चार हो गयीं। मौन रहकर ही हमने एक-दूसरे से बहुत-कुछ कह दिया। उस स्थिति में भी अपने एक रोचक विचार से मैं अपने-आप ही मुस्कराया–'वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा वाणी से भी परे एक वाणी होती है गुरुदेव–प्रेमवाणी!' उसकी गहरी काली, बड़ी-बड़ी, तेजस्वी और निष्पाप आँखें मेरे किरीट के मोरपंख की मोहक, आवाहक रंगच्छटाओं पर गड़ गयीं। उसका मुख एक अज्ञात लज्जा से आरक्त हो गया। उसके गाल पके कोकम फल जैसे दिखने लगे। क्षण-मात्र में उसकी आँखें मेरी आँखों से मिल गयीं। मानो हमें जन्म-जन्मान्तर की पहचान मिल गयी हो। उसकी आँखें मेरे वक्ष पर झूलती वैजयन्तीमाला पर पड़ती हुई मेरे चरणों पर गड़ गयीं और वे फिर ऊपर नहीं उठीं। अपने जीवन में मिले व्यक्तियों में कुछ ही व्यक्ति ऐसे थे जो मुझे अपने शरीर के अंग ही प्रतीत हुए थे, वैसे ही यह भी प्रतीत हुई। यह मेरे शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग–हृदय थी, दिखाई न देनेवाला, किन्तु सदैव स्पन्दित रहनेवाला!

मेरे अन्तर्मन की गहराई से सुदर्शन की पावन मन्त्र-ध्वनि उछलकर ऊपर आने लगी और धमनियों से बहते हुए मेरे कानों में गूँजने लगी। मुझे स्पष्ट सुनाई देने लगा–'ॐ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम् मुखम्!...' क्षणार्द्ध में मेरी आँखों के आगे से एक निष्पाप मुखाकृति–प्रिय सखी राधा की–सरककर लुप्त हो गयी। दोनों में कुछ विलक्षण समानता थी, किन्तु दोनों पूर्णत: भिन्न थीं–स्वर्णमुद्रा के दो पहलुओं जैसी!

वह आरक्त-गौर, सुडौल, ऊँची, रूपवती क्षत्राणी मुझे देखकर कम्पित हो उठी। आज तक रोके रखे अश्रुकण उसकी आँखों से टपकने लगे। उसने आवेग से स्वर्णिम बन्धों से बँधे मेरे पदत्राणों पर अपना श्रान्त मस्तक रख दिया। वह विह्वल होकर बुदबुदायी, "हे अच्युत, हे माधव, कितनी प्रतीक्षा कराएँगे! अब ले चलिए मुझे यहाँ से दूर।" और तब उसका हाथ अपने हाथ में पकड़कर मैंने उसे धीरे-से रथ के पृष्ठ भाग में खींच लिया। वहाँ से उतरकर एक ही छलाँग में मैं रथनीड़ पर चढ़ गया। वल्गाओं को झटककर मैंने अश्वों को दौड़ने का संकेत किया। आगे के खुर उठाकर चारों अश्व ऊँचे स्वर में हिनहिनाये और अगले ही क्षण चौकड़ियाँ भरने लगे। मन्दिर से बाहर आये ऋषि-समूह में से बहुतों ने हम पर पुष्पवर्षा की, आशीर्वाद देने हेतु अपने जपमालाधारी हाथ ऊपर उठाये। कुछ ने शंखघोष किया। उन सबने मेरे रथ के गरुड़ध्वज को अचूक रूप में पहचान लिया था।

मेरा रथ अम्बिकादेवी को साक्षी बनाते हुए रुक्मिणी को लेकर विदर्भ के आन्ध्रभृत्यों के नाकों को ठोकर मारता हुआ दौड़ने लगा।

मैंने रुक्मिणी का क्षत्रियोचित 'हरण' किया था–उसी की इच्छा के अनुसार!

रथ कौण्डिन्यपुर की उत्तरी सीमा पर आया। उद्धव और दारुक मेरी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। द्वारिका से अभी-अभी ससैन्य आये हुए बलदाऊ अपने शिविर में विश्राम कर रहे थे। मैं रथनीड़ से नीचे उतरा। दारुक ने अपना स्थान ग्रहण किया। मैं उद्धव सहित रथ के पृष्ठभाग में जा बैठा। हम दण्डकारण्य की ओर दौड़ने लगे। दाऊ पीछे–वहीं रहनेवाले थे, मेरा पीछा करनेवाले वैदर्भी और उनके मित्रों की सेनाओं का सामना करने हेतु। मेरे साथ अपनी और दक्षिण के यादवों की विपुल सहायक अश्वसेना थी।

वहाँ कौण्डिन्यपुर में कुहराम मच गया। अत्यन्त क्रोधित हुआ रुक्मि चुप कैसे बैठा रहता! शीघ्रता से हम दक्षिणापथ पहुँच गये। रथ सहित दण्डकारण्य पार करना सम्भव नहीं था। राजा क्रथकैशिक के रथ को हम लौटा भी नहीं सकते थे। दारुक और उद्धव सोच रहे थे कि रथ का क्या करें? मैंने उपाय सुझाया कि दक्षिणापथ के वनवासी जाति के राजा को रथ देकर उससे दीर्घ काल तक टिकनेवाले फल और वनौषधि प्राप्त करें। एकमात्र स्त्री रुक्मिणी के लिए एक शिविका और कुछ आदिवासी सेविकाएँ भी उससे प्राप्त की जाएँ। हमारा पीछा करनेवाले रुक्मि को रोकने का हर-सम्भव प्रयास करने की शर्त भी उसके समक्ष रखी जाए।

मेरे दल-प्रमुख ने वनवासी राजा से मिलकर यह कार्य सम्पन्न किया। शीघ्रता से अल्पकालिक पड़ाव डालते हुए हमने दण्डकारण्य को पार किया। शस्त्रधारी सैनिकों की सुरक्षा में बन्द शिविका में बैठी विदर्भकन्या सहित हमारा सुनियन्त्रित अश्वदल अवन्ती के समीप पहुँच चुका था। हमारे स्वागत के लिए द्वारिका से आये राजरथ और विशिष्ट गजदल हमसे यहीं मिल गये। आचार्य सान्दीपनि परिवार सहित द्वारिका में थे। उनका अंकपाद आश्रम इसी परिसर में था–क्षिप्रा-तट पर। आचार्यश्री के उत्तराधिकारी उसे भली-भाँति चला रहे थे। अब वह और भी अधिक कार्यरत हुआ था। उद्धव ने बड़ी प्रसन्नता से यह जानकारी अपनी भाभी को दी। तब रुक्मिणी ने मुझसे अनुरोध किया कि वह आचार्यश्री का आश्रम देखना चाहती है। निरुपाय होकर मैंने आश्रम के लिए कुछ उपहार देकर सशस्त्र सैनिकों सहित उसको आश्रम भिजवाने का प्रबन्ध किया।

वास्तव में अवन्ती मेरी बुआ राजाधिदेवी और फूफाजी जयसेन महाराज का राज्य था। उनके

दो पुत्र भी थे–विन्द और अनुविन्द। किन्तु उन सबसे मेरा कभी निकट सम्पर्क नहीं हो पाया था, होनेवाला भी नहीं था। मानव-मन बड़ा अद्‌भुत होता है, इसका मैंने कई बार अनुभव किया है। दूर देश के राजा क्रथकैशिक ने समय आने पर मेरी सहायता की थी किन्तु चेदि का शिशुपाल मेरा फुफेरा भ्राता होते हुए भी मेरे विरोध में खड़ा हो गया। क्या पता, विन्द-अनुविन्द मुझसे कैसा व्यवहार करें! अवन्ती की सीमा पर, क्षिप्रा के तट पर ही हम रुक्मिणी और उद्धव के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे। उनको लौटने में दो दिन लग गये। आश्रम ने उनका स्वागत करते हुए बड़े आग्रह के साथ एक दिन उनको वहीं ठहरा लिया था। उनके आते ही हमने शीघ्रता से पड़ाव उठाना आरम्भ किया। मैं अपने रथ में रुक्मिणी और उद्धव सहित द्वारिका जाने के लिए तैयार था। हमारी सेना निकलने के लिए तैयार हो ही रही थी कि अवन्ती के दक्षिण से रणवाद्यों का तुमुलघोष सुनाई देने लगा। पीछे-पीछे दौड़ते अश्वों ने हमारे शिविर को घेर लिया। वह रुक्मि था। नागफनी के डोंड़े की भाँति उसका मुख लाल हो गया था। बहन का अचानक हरण होने से वह नख-शिख रूप से जल-भुन उठा था।

वह अपने शक्तिशाली, पुष्ट अश्व को जैसे-तैसे रोकते हुए मेरे रथ के पास आ धमका।

अपने अधोवस्त्र की काछ कसकर वह मुझसे लड़ने के लिए तत्पर था। अश्व की पीठ पर चर्मावरण में रखी प्रचण्ड गदा उसने झटके से खींच ली और मुझ पर सीधे आक्रमण किया। अपनी घनी भौंहें तानते हुए, आँखें विस्फारित करके वह ऊँची ध्वनि में चिल्लाया–“अरे भगोड़े ग्वाले! हमारे भोजकुल की शोभा, हमारी प्रिय बहन रुक्मिणी का सबके समक्ष हरण करनेवाले चोऽर...नीऽऽच, मैं तुझे द्वन्द्व की चुनौती देता हूँ। यदि तू चाहता है कि दोनों ओर के सैनिकों का रक्तपात न हो, यदि तुझमें कुछ सामर्थ्य हो, तो मेरी चुनौती को स्वीकार कर ले। मेरी बहन को ले जाना चाहता है, तो तुझे मेरे शव पर से ही जाना होगा। अन्यथा इस द्वन्द्व में मैं ही तेरा वध कर डालूँगा। रुक्मिणी को लेकर ही मैं कौण्डिन्यपुर लौटूँगा–शिशुपाल के गले में विवाहमाला डलवाने के लिए। मैंने प्रतिज्ञा की है, यदि मैं यह न कर पाया तो कौण्डिन्यपुर में पाँव नहीं रखूँगा। अरे भगोड़े, तुझमें सामर्थ्य हो तो उतर आ नीचे।” उसने अपनी प्रचण्ड गदा को गोलाकार घुमाया। वह स्वयं भी ‘जय अम्बिका’ की गर्जना करते हुए मण्डलाकार फिरने लगा। दोनों ओर के सैनिक आँखें विस्फारित करके देखते रहे कि आगे क्या होगा? मेरे मन में सुदर्शन के मन्त्र उछलने लगे थे। किन्तु रुक्मिणी पर दृष्टि जाते ही मैंने उन्हें नियन्त्रित कर लिया।

अब द्वन्द्व का आह्वान स्वीकार करना मेरे लिए अनिवार्य हो गया था। क्षत्रियों की एक प्रथा को तो मैंने स्वीकार कर ही लिया था–कन्याहरण की। अब दूसरी प्रथा को भी स्वीकार करना आवश्यक था–द्वन्द्व की। मैंने भी तत्काल पीताम्बर की काछ कस ली, भुजाएँ ठोंकी और केलिनन्द काका को स्मरण किया।

अपनी प्रचण्ड कौमुदी गदा को उठाकर इडादेवी का जयघोष करते हुए मैंने रथ से धरती पर छलाँग लगायी। मुझे रोकने हेतु रुक्मिणी ने मेरा उत्तरीय पकड़ा, किन्तु वह उसके हाथ में ही रह गया। मैंने भी डौलदार ढंग से गदा को मण्डलाकार घुमाया।

क्षण-भर में ही हम दोनों की गदाएँ आपस में टकरायीं। उनकी ठनठनाहट के साथ चिनगारियाँ बिखरने लगीं। एक भयंकर प्राणान्तक द्वन्द्वयुद्ध का आरम्भ हुआ–साले और बहनोई के बीच। दोनों ओर के सैनिक श्वास रोककर केवल दर्शक बन गये। रुक्मि के पैरों की हलचल

देखकर ही मैं ताड़ लेता था कि वह कौन-सी चाल चलनेवाला है, और उसका प्रत्युत्तर देता था। उसके वक्ष, भुजाओं, जंघाओं के स्नायुओं की गतिविधियाँ भाँपकर मैं उसके प्राणघातक प्रहारों को टाल जाता था। हम दोनों स्वेद से लथपथ हो गये थे। शरीर पर स्थान-स्थान पर हुए गदा-प्रहारों से रक्त फूट पड़ा था। प्रबल प्रहारों के कारण हमारी गदाओं के दण्ड टेढ़े हो गये। गदायुद्ध अपने-आप ही रुक गया। रुक्मिणी पर एक तिरस्कार-भरी दृष्टि डालकर रुक्मि ने गदा फेंक दी, मैंने भी फेंक दी। अब उसने अपने कटिबन्ध से चौड़े फलवाला चमकता हुआ खड्ग खींच लिया। अब हममें खड्गयुद्ध होनेवाला था। किन्तु मेरे हाथ में तो कोई शस्त्र नहीं था। मैंने चपलता से रथ की ओर छलाँग लगायी। दारुक द्वारा तत्परता से अपनी ओर फेंके गये नन्दक खड्ग को मैंने अधर में ही पकड़ लिया।

अब हमारे खड्ग खनखनाते हुए आपस में टकराने लगे। कभी हम हवा में खड्ग घुमाकर ग्रीवा पर प्रहार करना चाह रहे थे, तो कभी नीचे पिण्डली की दिशा में आते हुए प्रहार को रोक रहे थे। रुक्मि निष्णात खड्गयोद्धा था। वृत्ताकार घूमते हुए और पैरों-तले की घास को उद्ध्वस्त करते हुए हमारा रोमांचक खड्गयुद्ध एक घटिका तक चलता रहा। हम दोनों स्वेद से पूरे लथपथ थे। खड्ग के आघातों से आहत होकर हम ग्रीष्म ऋतु में खिलते पलाश-वृक्ष की भाँति रक्तवर्ण और भयावह दिखने लगे थे। उत्तेजित कर देनेवाले इस खड्गयुद्ध में हम दोनों अपने आसपास के जग को भूल गये थे। मेरे कण्ठ की वैजयन्तीमाला रक्त में नहायी हुई थी। मेरे किरीट में लगे मोरपंख पर भी रक्त के छींटे पड़ गये थे। मेरा पीताम्बर रक्त और स्वेद से भीगकर शरीर पर चिपक गया था, किन्तु युद्ध का कुछ निर्णय नहीं हो रहा था।

अन्तत: रुक्मि के खड्ग के मध्य को लक्ष्य करते हुए मैंने एक ऐसा प्रबल प्रहार किया कि उसका खड्ग दो भागों में विघटित हो गया। रुक्मि सिटपिटा गया। वह जानता था कि द्वन्द्व का परिणाम क्या होता है! अपने खण्डित खड्ग पर मेरे प्रहार झेलता हुआ वह एक-एक पग पीछे हटने लगा। खिसकते-खिसकते वह मेरे रथचक्र के निकट जा पहुँचा। कुछ समय पहले दोनों सेनाओं के समक्ष उन्मत्त तिरस्कार से निन्द्य शब्दों में मेरी घोर निर्भर्त्सना करनेवाले रुक्मि की जिह्वा अब प्राणभय के कारण तालु से चिपक गयी थी। उसका स्वेदसिक्त रक्तवर्ण मुख मृत्यु के भय के कृष्ण-मेघों जैसा काला पड़ गया था।

अन्तिम प्रहार करके उसका मस्तक धड़ से अलग करने हेतु मैंने निश्चयपूर्वक अपना खड्ग ऊपर तो उठाया, किन्तु उसे नीचे नहीं ला पाया। रथ में खड़ी रुक्मिणी ने अत्यन्त आवेग से उसे कसकर पकड़ लिया था। उसके हाथों से रक्त बह रहा था। उसने मुख से तो कुछ नहीं कहा, किन्तु उसकी आँखें कह रही थीं, "स्वामी, क्या मेरे भ्राता का वध करके ही आप मुझे–अपनी वधु को–द्वारिका ले जाएँगे? इसने भूल की है, क्या आप भी उसको प्राणदान न देने की भूल करेंगे?" उसकी आँखों का भाव-आर्जव, उसकी गहरी करुणा मेरे हृदय को स्पर्श कर गयी। मेरा निश्चय डाँवाडोल हो गया।

मैं धीरे-धीरे खड्ग नीचे ले आया। रुक्मिणी की उस करुणार्द्र दृष्टि को मैं जीवन में कभी नहीं भूल पाया। मैं शान्तिपूर्वक रथ पर चढ़ा। पीताम्बर के छोर से माथे का स्वेद पोंछते हुए मैंने दारुक से कहा, "राजकुमारी के घाव पर औषधि-लेप कर दो दारुक। तत्पश्चात् रथ क्षिप्रा के तट पर ले चलो। स्नान करने के पश्चात् ही हम द्वारिका चलेंगे।" इस बीच कौण्डिन्यपुर के युद्ध में शत्रुओं को

पराजित करके लौटे बलराम भैया सेना सहित हमसे आ मिले। मुझसे प्राणदान पाया पराजित रुक्मि छटपटाता हुआ लौट गया। हमारे युद्ध-स्थल को अवन्तीवासियों ने सहर्ष नाम दिया–'गोपालपुर!'

रुक्मिणी सहित हम सब कुशस्थली के तट पर पहुँच गये। अग्रदूतों को द्वारिका भेज दिया गया था। एक दिन में सम्पूर्ण द्वारिका सुसज्जित हो उठी। घर-घर पर पताकाएँ फहरायी गयीं। जलती दीपिकाओं ने द्वारिका को आलोकित कर डाला। पुष्पमालाओं की कमानें खड़ी की गयीं। अमात्य विपृथु ने तात, दोनों माताओं और प्रचण्ड समूह के साथ हमारा स्वागत किया।

गर्ग मुनि और आचार्य सान्दीपनि ने शीघ्र ही विवाह का शिवमुहूर्त निकाला। उस मुहूर्त में विदर्भकन्या रुक्मिणी से मेरा विवाह सभी यादवों की उपस्थिति में बड़े ठाठ-बाट के साथ सम्पन्न हुआ।

तात के राज्याभिषेक के पश्चात् सबको दीर्घकाल तक स्मरण रहनेवाला ही यह समारोह था। असंख्य मित्र महाजनपदों से विपुल मात्रा में उपहार आये। उनसे द्वारिका के भण्डार और कोशागार ठसाठस भर गये। रुक्मिणी शब्दश: हम यादवों की 'लक्ष्मी' ही प्रमाणित हुई।

कुछ दिन व्यतीत हुए। जोड़ द्वीप पर का अन्त:पुर कक्ष अब तक पूरा नहीं बस पाया था। अत: रुक्मिणी अपनी सखियों और सेविकाओं सहित मेरे ही प्रासाद में रह रही थी। पहली बार उस जगमगाते सोपान की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए रुककर उसने पूछा था, "कितनी सारी सीढ़ियाँ हैं ये? किसलिए?"

वह अनुपम सुन्दरी थी और अद्वितीय बुद्धिमती भी। यह मैं पहली ही दृष्टि-भेंट में जान चुका था। मैंने हँसते हुए कहा, "आर्ये, जीवन भी एक सोपान ही है। बिना रुके, थके हम उस पर चढ़ते रहते हैं–यह उसी का प्रतीक है। गंगा, यमुना जैसी नदियों पर विश्राम हेतु घाट बनाये हुए होते हैं, वैसी ही हैं ये सीढ़ियाँ। क्यों?" उस समय वह चुप रही थी।

आज मैं उसको एक रुचिकर लगनेवाला सुन्दर उपहार देकर चकित करना चाहता था। सोपान चढ़कर मैं विश्राम-कक्ष के बाहरी खण्ड में आया। मेरी सूचना के अनुसार सेवकों ने पहले ही बाँस की टोकरियाँ लाकर पंक्तिबद्ध रख दी थीं। उन पर बाँस के ही गोलाकार ढक्कन थे। मुझे देखते ही सेविकाएँ अन्त:पुर में चली गयीं–रुक्मिणी को मेरे आगमन की सूचना देने हेतु। मैं रुक्मिणी की प्रतीक्षा करता हुआ स्वर्णिम आसन पर बैठ गया–अन्त:पुरी द्वार के महीन पर्दे पर दृष्टि डालता हुआ। कुछ क्षण बीत गये। मुझे वे क्षण एक-एक युग जैसे ही प्रतीत हुए।

कुछ ही क्षणों में, ध्यान देने पर ही सुनाई देनेवाली एक सूक्ष्म मधुर ध्वनि सुनाई दी। उसके पीछे-पीछे द्वारिका के समुद्री पवन पर आरूढ़ होकर चन्दन के उबटन की सुगन्ध फैल गयी और झीने पर्दे के पीछे से, छोटी-छोटी स्वर्णिम घण्टिकाओं से शोभित स्वर्ण-पैंजन पहना हुआ एक गौरवर्ण, गदराया हुआ पग बाहर आया। उसका वर्ण पके आम्रफल जैसा सतेज था। स्वयं को भूलकर मैं उसे एकटक देखता रहा। उसका सौन्दर्य आज कुछ निराला ही था। एक नटखट हँसी मेरे मुख से फूटी।

शुभ्र वस्त्र से ढँका अपना विपुल, भृंगवर्ण केशपाश सँवारती रुक्मिणी मेरे सम्मुख खड़ी हुई। विलक्षण रूप से सुन्दर और सतेज दिख रही थी वह आज–संगमरमर की मूर्ति की भाँति! मैंने शरारत से उसे कहा भी–"सुन्दर तो तुम हो ही, किन्तु आज तुम कुछ अधिक ही सुन्दर दिख रही

हो। आज तुम्हारे पाँव तुम्हारे मुखमण्डल से भी अधिक सुन्दर दिख रहे हैं–पके आम्रफल जैसे पीतगौर!" वह लजायी।

वास्तव में वह अत्यन्त बुद्धिमती थी। मेरे नटखटपन को अचूक पहचानकर उसे चुटकी से उड़ाते हुए उसने कहा, "अब बस भी कीजिए श्रीजी! मेरे लिए क्या भेंट लाये हैं, वह तो दिखाइए!"

हँसते? हुए टोकरियों के समीप जाकर मैंने एक टोकरी का ढक्कन खोला। मोटे-मोटे तेजस्वी मोतियों से वह लबालब भरी हुई थी। मेरे मछुआरे यादव उन्हें सीपियों से निकालकर लाये थे। प्रसन्नता से मैंने उनमें से अँजुली-भर मोती उठाये। रुक्मिणी के समीप आकर उन्हें उसकी अँजुली में डालते हुए मैंने कहा, "तुम सौन्दर्य की खान तो हो ही, मेरे इस उपहार से आभूषण बनवाकर उन्हें धारण करने पर तुम और भी सुन्दर दिखोगी। तब तो स्वर्ण में मलय-चन्दन की सुगन्ध आएगी!"

क्षण में उसके गाल आरक्त हो उठे। मोतियों से भरी अँजुली को वह कुछ क्षण केवल देखती रही। फिर नकार में सिर हिलाते हुए उसने कहा, "नहीं आर्यश्रेष्ठ, मेरी अपेक्षा आप ही की अँजुली में ये अधिक सुन्दर दिखते हैं–अधिक शोभा देते हैं।" उसने पुन: अपनी अँजुली मेरी अँजुली में रिक्त कर दी। तिरछी दृष्टि से देखते हुए, लजाकर वह ऐसे मधुर मुस्करायी कि मैं हड़बड़ा गया। अँजुली के मोतियों पर दृष्टि घुमाकर मैंने उससे पूछा, "मैं समझा नहीं तुम्हारा अभिप्राय! मेरे हाथों में खड्ग अथवा प्रतोद शोभा देगा–पांचजन्य शोभा देगा, किन्तु मोती?" अपनी लम्बी-लम्बी घनी पलकें नचाते हुए वह अकलुष मुस्करायी। मधुर शब्दों में बोली, "इन मोतियों को भली-भाँति निहारें स्वामी। क्या आपके हाथों में ये आकाश जैसी हल्की नीलवर्णी रंगच्छटा परावर्तित नहीं कर रहे? मेरी अँजुली में ये दुष्ट मोती ताम्रगौर रंगच्छटा को ही परावर्तित कर रहे थे। साँवला नीलवर्ण आकाश-सदृश होता है और सभी रंगच्छटाओं को वह अपने अन्दर समा लेता है, क्या यह आर्य को बताना पड़ेगा?"

तो यह बात थी! मेरे कुछ कहने से पहले ही वह मुड़ी और पर्दे को सरकाकर मेरी दृष्टि से ओझल भी हो गयी। इस प्रकार अन्तर्गृह में चले जाने की शीघ्रता उसने क्यों की थी? उसने भाँप लिया था कि उसके पाँव देखकर मैं जान गया हूँ कि वह ऋतुस्नात है!

रुक्मिणी के आगमन के साथ मेरे जीवन का बहुरंगी गृहस्थ-जीवन आरम्भ हुआ था। कारीगरों ने मेरे जीवन के प्रतीक स्वर्णिम सोपानों में, मेरे निर्देशानुसार, एक और सीढ़ी–पाँचवीं सीढ़ी जोड़ दी थी–मेरे दोनों पिता और दोनों माताओं के पश्चात् जिसका स्थान था, उस रुक्मिणी के नाम की।

रुक्मिणी के आगमन के साथ मेरी भाव-द्वारिका विविध भाव-गन्धों से, रंगच्छटाओं से सम्पन्न हो गयी थी। उस पर एक नया ही तेज चढ़ा था!

रुक्मिणी

नारी-जीवन का अर्थ ही है–सृजन की प्रचण्ड शक्ति का सुप्त केन्द्र। जब कभी वह अपनी इस शक्ति को पहचान लेती है, तब जीवन में पीछे मुड़कर कभी नहीं देखती, व आगे-आगे ही चलती रहती है। मैं–आन्ध्रभृत्य, भोजवंशीय–विदर्भकन्या रुक्मिणी! परन्तु वह रुक्मिणी तो भ्राता रुक्मि और 'श्रीजी' के द्वन्द्वयुद्ध के समय अवन्ती की सीमा पर ही रह गयी।–और द्वारिका में तो कानों से टकरानेवाले पश्चिम सागर के सतत समुद्र-गर्जन को साक्षी रखकर, प्रतिक्षण प्रत्येक सत्त्व-परीक्षा में जो खरी उतरी है, वह है यादवों की रुक्मिणी–द्वारिका की ही नहीं, समूचे आर्यावर्त की रुक्मिणी।

देखिए ना, सम्पूर्ण विश्व के वन्दनीय अपने पतिदेव को कितनी स्वाभाविकता से मैं श्रीजी कह गयी! वैसे तो मैं उनको 'स्वामी-आर्य-यादवश्रेष्ठ-यादवराज' कई नामों से सम्बोधित किया करती थी, परन्तु एकान्त में, हम दोनों में जब आन्तरिक बातें होती थीं, तब अनायास ही मेरे मुख से श्रीजी सम्बोधन निकल जाता था।

आज मैं श्रीजी से जुड़ी स्वयं अपनी जीवन-गाथा को खोलकर बताना चाहती हूँ। कठिनाई बस इतनी है कि श्रीजी का जीवन द्वारिका को घेरे हुए सागर के समान है। उसकी अविरल लहरों जैसी ही मेरे मन में उनकी स्मृतियाँ हैं–सागर-गर्जन के समान नादमय, अविरत, और अनगिनत! एक के पश्चात् तुरन्त दूसरी खड़ी। समझ में नहीं आता किसको थाम लूँ, और किन शब्दों में?

स्मृति की लहरों को यथाक्रम कहते हुए बड़ी गड़बड़ हो रही है। यत्न करने पर भी घटनाओं का क्रम ठीक से नहीं लगा पा रही हूँ मैं। कोई बात नहीं, जो और जैसे स्मरण होगा, उसी क्रम से मनःपूर्वक कहती जाऊँगी मैं। जैसे मैं अपने-आप से ही बातें कर रही हूँ! स्वयं अपने अनुभवों से मैं पूर्णत: जान चुकी हूँ कि स्मृतियों के कोने-कोने को कितना भी झटक-झटककर कह दूँ, तब भी श्रीजी का जीवन और कार्य दशांगुल शेष ही रहेगा।

अभी-अभी मैं जीवन का एक परमकर्तव्य निभाकर द्वारिका के पूर्वी महाद्वार–शुद्धाक्ष से लौटी हूँ। द्वारिका राज्य की प्रथम पुत्रवधू और अपने प्रथम पुत्र प्रद्युम्न तथा उसकी नवपरिणीता पत्नी रुक्मवती–दोनों की आरती उतारकर स्वागत करके मैं लौट रही हूँ। प्रद्युम्न साक्षात् मदन का प्रतिरूप है–अप्रतिम रूपवान है। रुक्मवती तो मेरी भतीजी है। मेरे भ्राता रुक्मि की कन्या–अब मेरी पुत्रवधू हो गयी है। यह सब श्रीजी के कारण ही हो सका है।

आज तक मैं सुनती आयी हूँ कि मैं ही एकमात्र परम सौन्दर्यवती हूँ, परन्तु यादवों की प्रथम पुत्रवधू रुक्मवती को देखकर मेरा भ्रम टूट गया। जैसा नाम है, वैसी ही है मेरी पुत्रवधू–स्वर्णप्रतिमा–रुक्मवती! इसीलिए तो त्वरित, स्वाभाविकता से मैं कह गयी–"आओ, शुभांगी!"

वैसे तो यादव, कुरु, भोज—किसी भी कुल में स्त्री के मायके का मूल नाम बदलने की प्रथा नहीं थी। ससुराल में भी वही नाम स्वीकृत होता था। ऐसे ही स्वीकृत नाम हैं—पाण्डव-माता कुन्ती, द्रौपदी, रेवती दीदी, कौरव-माता गान्धारी। इसी प्रकार मेरा नाम भी स्वीकृत हो चुका था। परन्तु यादव पुत्रवधू रुक्मवती मेरे कारण रुक्मवती से शुभांगी बन गयी।

प्रद्युम्न और शुभांगी को साथ लेकर आये श्रीजी सेना सहित द्वारिका के पूर्वी महाद्वार 'शुद्धाक्ष' पर खड़े हो गये। मैं तो उन तीनों को देखती ही रही। कितना सुन्दर दिख रहा था वह यादवकुल का बिल्व-त्रिदल!

कौण्डिन्यपुर में मेरी और भ्राता रुक्मि की कभी पटती ही नहीं थी। हम छह भाई-बहनों में वे ज्येष्ठ थे। उनसे छोटे थे रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और रुक्ममालिन्। मैं सबसे छोटी थी। रुक्मि भैया को छोड़कर बाकी सब मेरी सुनते थे। हो सकता है, इकलौती और छोटी भगिनी होने के कारण सुनते होंगे। रुक्मिभैया स्वभावत: ही ऐंठू—अहंकारी थे। सच कहूँ तो घमण्डी थे। मेरे सारे भ्राता, जैसे उनके नाम थे वैसे ही थे—सुन्दर, स्वर्णवर्णी—तात भीष्मक के सदृश। तात भीष्मक के कान्तिमान स्वर्णवर्ण के कारण उनकी माता—हमारी पितामही ने बड़े प्रेम से उनको एक और नाम दिया था—हिरण्यरोमन्। उनका यह नाम भी प्रचलित हो गया।

हमारे इकलौते काका थे आकृति काका। वे एक दुर्लभ विद्या—गारुड़-विद्या में निपुण थे। किसी भी विषैले सर्प के डसे हुए रोगी का विष उनके उपचारों से शीघ्र ही उतर जाता था। आकृति काका द्वारा आँखें मूँदकर मन्त्र बुदबुदाते हुए, रोगी के दंशित अंग पर फूँक मारकर हाथ फिराते ही विष उसी प्रकार तीव्र गति से लुप्त हो जाता था, जिस प्रकार पक्षिराज गरुड़ को देखकर सर्प तीव्र गति से अदृश्य हो जाते हैं।

द्वारिका आने के पश्चात् एक बार भी मैं कौण्डिन्यपुर नहीं गयी थी। परन्तु जब कभी आकृति काका का स्मरण हो आता था, तो एक अनोखा विचार मेरे मन में सरसरा उठता था। मेरे श्रीजी को भी एक अतर्क्य गारुड़-विद्या प्राप्त थी। वैसे दूरश्रवण, दूरदर्शन, प्रतिस्मृति-विद्या जैसी अनेक कलाओं में वे निपुण थे। कट्टर शत्रु भी उनके दर्शन होते ही शीघ्र गति से पलायन कर जाते थे। हठ पकड़कर, पैर गड़ाकर शत्रुता करनेवाले को भी श्रीजी अपनी मधुर वाणी से कब अपना लेते थे, यह उसकी समझ में ही नहीं आता था। तभी तो रुक्मि भैया ने श्रीजी को,—जिन्होंने किसी समय उनसे प्राणान्तक द्वन्द्वयुद्ध किया था, अपनी रुक्मवती नामक पुत्री पुत्रवधू के रूप में प्रदान की थी। यह तो श्रीजी की मधुर वाणी की गारुड़-विद्या का ही प्रभाव था।

यद्यपि मेरे पिताश्री, बड़े भैया और उनके कारण मेरे अन्य भ्राताओं ने भी हमारे विवाह का विरोध किया था, लेकिन मेरी माता शुद्धमतीदेवी ने मेरा समर्थन ही किया था। अपने नाम के अनुसार ही वह एकदम निरीह और विशुद्ध, भोले स्वभाव की थी। विलक्षण प्रेम करती थी वह मुझसे। उसने सदा ही मुझे धीरज बँधाया है। वस्तुत: मेरी माता ने अपने जामाता यादवराज श्रीकृष्ण को पहले कभी आँख भरकर देखा ही नहीं था। फिर भी अपनी पुत्री की रुचि को उसने अपनी रुचि माना। जिनके हाथों मैंने श्रीजी को अपना प्रथम पत्र भेजा था, उन्हीं पुरोहित 'सुशील' ने मेरे और माता के बीच मध्यस्थता की थी।

माता शुद्धमती को छोड़कर अन्यों के मन में जो यह प्रश्न उठा था कि 'बिना देखे ही इसने श्रीकृष्ण को पति कैसे चुना?' उसका उत्तर कभी नहीं मिल पाया।

यही तो रहस्य की बात है। जब सारी बातें खुलकर, स्पष्ट कहने का निश्चय कर ही लिया है, तो सब-कुछ कहना ही होगा। विवाह से पूर्व मैंने श्रीजी को कभी भी देखा नहीं था। सुनी थी केवल उनकी अपार कीर्ति। अधिकतर रुक्मि भैया के मुख से निकलनेवाली उनकी अपकीर्ति! तो फिर वह कौन-सा क्षण था जब मैंने अपने जीवन का यह निर्णय किया? वह क्षण था–पिता और भ्राता रुक्मि द्वारा आयोजित किये गये मेरे प्रथम स्वयंवर का। वह क्षण था, जब रुक्मि भैया ने मेरे समक्ष ही 'कृष्ण क्षत्रिय नहीं हैं' कहकर झुँझलाते हुए, हाथ-पैर पटककर उनको स्वयंवर में आमन्त्रित करना अस्वीकार किया था। वह अविरत चिल्लाता रहा था, 'हम सात्वत कुल के आद्यपुरुष महाभोज के वंशज हैं। क्षत्रिय हैं। ययाति-पुत्र यदु के समय से ही कृष्ण के वंश के क्षत्रियत्व का लोप हुआ है। वह एक तुच्छ ग्वाला है। भले ही प्राण चले जाएँ, अपनी बहन, भोजकुलोत्पन्न क्षत्रिय-कन्या रुक्मिणी को हम उसे नहीं देंगे। देंगे क्षत्रियकुलोत्पन्न चेदिराज शिशुपाल को!'

वह भूल रहा था कि उसकी बहन क्षत्राणी ही है; और विवाह बहन का होना था, उसका अपना नहीं। उसी क्षण मैंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया, विवाह करूँगी तो बस इस गोपाल से ही।

जब मैं पहले-पहल अनदेखी-अपरिचित द्वारिका में आयी तो भौचक-सी रह गयी थी, मायके का कोई भी व्यक्ति मेरे साथ नहीं था। जैसे स्वर्णिम द्वारिका की ख्याति चारों ओर फैली हुई थी, वैसे ही ठेठ स्वभाव के यादवों की भी। इस नगरी के प्रथम दर्शन से तो मैं चौंधिया गयी थी। मेरे मन में प्रश्न उठा था–'कैसे निभा पाऊँगी मैं यहाँ?' फिर एक के बाद एक अनेक प्रश्न–प्रश्न-ही-प्रश्न खड़े हुए। यहाँ के लाखों यादवों से मैं कैसा व्यवहार करूँ? किस प्रकार वे मुझे अपना लेंगे? यहाँ की यानी यादवकुल की ज्येष्ठ स्त्रियाँ मेरा कैसे स्वागत करेंगी?' परन्तु जैसे ही ये प्रश्न मेरे मन में उठे, वैसे ही वे अपने-आप लुप्त भी हो गये। मेरे प्रथम आगमन के समय द्वारिका के नगरजनों ने जो हर्षोत्फुल्ल स्वागत किया, उसे आज तक मैं भूली नहीं हूँ। यहाँ ज्येष्ठ स्त्रियों में प्रमुख थीं मेरी सासुजी महाराज्ञी देवकीदेवी और जेठानी युवराज्ञी रेवतीदेवी। सासुजी ने तो पहली ही भेंट में मुझे प्रगाढ़ आलिंगन में लेकर मेरे कानों में अस्फुट स्वर में कहा था–"पुत्री रुक्मिणी, तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रही थी मैं!" 'श्री-माता' के उन आत्मीयतापूर्ण शब्दों की प्रतिक्रिया में मेरे मुख से अनायास ही निकल पड़ा था–"मा ऽ ता ऽ!"

तब से 'श्री-माता' देवकीदेवी मेरी भी बड़ी माँ हो गयीं। जितनी सहजता से पहली ही भेंट में युवराज्ञी रेवतीदेवी को मैंने 'दीदी' कहा, उतनी ही सहजता से उन्होंने भी 'छोटी' कहकर मुझे आलिंगन में कस लिया। फिर रोहिणी माता भी अपने-आप मेरी 'छोटी माँ' बन गयीं और गुरुवर सान्दीपनि की अर्धांगिनी को मैं 'गुरुमाता' कहने लगी।

कभी-कभी अनुभवी कुलस्त्रियों को भी नये स्थान में असुविधा होती है, परन्तु मुझे द्वारिका नगरी में किसी भी यादव नर-नारी से सम्बन्ध स्थापित करने में कोई असुविधा नहीं हुई।

विवाह के पश्चात् पहला वर्ष तो बातों-बातों में उड़ गया–समुद्री पवन जैसा। पीछे छोड़ गया कई रंगबिरंगी स्मृतियाँ–कुछ खारी, कुछ मधुर!

प्रद्युम्न के जन्म-समय की स्मृति तो इतनी खारी है कि उसके स्मरण-मात्र से आज भी लगता है जैसे समुद्री जल से आचमन किया हो!

उस समय मैं अन्तःपुर के द्वीप पर रहती थी– अपने विशाल स्वर्णवर्णी भवन में। जब वह गर्भ

में था, तभी हमने–मैंने और श्रीजी ने–निश्चय किया था कि पुत्र का नाम प्रद्युम्न ही रखेंगे। मुझसे भी अधिक श्रीजी को ही विश्वास था कि पुत्र ही जन्म लेगा और वह भी मदन-समान सुन्दर। अपने भवन में गर्भ से भाराक्रान्त अवस्था में टहलते हुए मैं सोचती रहती थी–'मेरे भवन के निकट ही और सात भवन बनवाये गये हैं–वो किसलिए? मैं पुत्र को जन्म दूँगी या कन्या को? जो भी हो, कैसा होगा मेरी उस सन्तान का जीवन?' इस प्रकार के अनुत्तरित प्रश्नों के उभरने से उस बोझिल अवस्था में मैं विचलित हो उठती थी। तब दोनों माताएँ और रेवती दीदी मेरा बहुत ही ध्यान रखा करती थीं। उनके प्रेम से आनन्दित होकर मैं अपने प्रश्नों को गरजती हुई सागर-लहरों को सौंप दिया करती थी।

प्रद्युम्न के जन्म के समय मेरी इच्छाएँ बड़ी ही अद्भुत थीं। मुझे लगता था कि निरन्तर समुद्र-गर्जन सुनने की अपेक्षा कहीं दूर जाकर किसी अरण्य में बस जाऊँ–एकान्त में, शान्त। परन्तु वह कल्पित एकान्त भी मुझे ठीक से नहीं मिल पाता था। विविध वाद्यों की सम्मिश्र ध्वनि सुनने को गर्भ-बोझिल मन लालायित होता था। विचित्र, ढीले-ढाले आसुरी वेश धारण करने को मन करता था।

मेरी इच्छापूर्ति के लिए सभी स्त्रियों ने बड़े ठाठ-बाट के साथ प्रीतिभोज का आयोजन करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। दोनों द्वीपों पर कितने लोगों को भोजन खिलाया गया, इसकी कोई गिनती नहीं थी। वह उचित भी था, क्योंकि स्वर्णवर्णी द्वारिका के नवनिर्मित महाजनपद का नया उत्तराधिकारी आनेवाला था। वैसे तो अपने जेठ बलराम भैया के–मैं भी उनको बड़े भैया ही कहती थी–दो सशक्त पुत्र थे ही, निशठ और उल्मुक। वे सबके प्रिय थे और सबसे अधिक श्रीजी के प्रिय थे। परन्तु अब श्रीजी का प्रथम पुत्र आनेवाला था। और इस बात की सबसे अधिक प्रसन्नता बलराम भैया को थी। अपनी छोटी भगिनी सुभद्रा की भाँति मुझे भी वे बड़े प्रेम से 'रुक्मिणी' कहकर बुलाते थे। इतने बड़े गदायोद्धा–बलशाली यादव होते हुए भी, अपनी 'युवराज' पदवी को भूलकर, बन्धु गद और सारण के साथ मुझसे मिलने के लिए वे रनिवास के द्वीप पर आते थे। अपनी सारी यादवोचित अकड़ को भूलकर, गर्भकाल में कैसी-कैसी सावधानी बरतनी चाहिए, यह मुझे समझाते थे–बड़ी माँ की भाँति ही! और बीच में ही कहते थे–"इस छोटे की समझ में कुछ नहीं आता। मैं उसे भलीभाँति पहचानता हूँ। वह तो सदैव राजसभा, ऋषि-मुनियों से मेल-मिलाप और युद्ध की चालों-प्रतिचालों में ही व्यस्त रहता है। तुम उस पर तनिक भी निर्भर मत रहना। तुम्हें जो कुछ भी चाहिए, वह रेवती को बता देना।"

न जाने क्यों उनकी बातें सुनकर मुझे हँसी आ जाती थी, परन्तु बड़े प्रयत्नों से कुशलतापूर्वक मैं उसे रोक लेती थी और युवराज से कहती थी, "मैं भी उन्हें भलीभाँति जानती हूँ। मुझे कुछ भी चाहिए होगा तो दीदी से क्यों, आप से ही कहूँगी मैं बड़े भैया–निःसंकोच!" तब 'ठीक-ठीक' कहते हुए ग्रीवा ऊपर उठाकर वे ऐसा निर्मल ठहाका लगाते थे कि सारा द्वीप डोल उठे।

प्रद्युम्न के जन्म का केवल एक दिवस ही नहीं, बल्कि उस सप्ताह-भर को ही मैं प्रयास करने पर भी नहीं भुला सकती। प्रद्युम्न का जन्म ऐन मध्यरात्रि में हुआ था। मेरे सूतिका-कक्ष के बाहर सारे ज्येष्ठ और युवा यादव बड़ी उत्सुकता से इकट्‌ठा हुए थे। श्रीजी के प्रथम पुत्र का निश्चित जन्म-समय जानने के लिए जल से भरे हुए विविध स्वर्णवर्णी कुण्डों में स्वर्णिम घटिकापात्र

डालकर अनेक निष्णात पुरोहित और जातक विशेषज्ञ मुनिवर गर्ग के नेतृत्व में बड़ी सावधानी से वहाँ उपस्थित थे।

समयपालों ने ठीक मध्यरात्रि के समय समय-दर्शक थालों पर सशक्त आघात किये। उनकी एक ही ध्वनि गूँजी–ठण्ण्... और समुद्र-गर्जन में विलीन हो गयी। जलकुण्डों में तैरनेवाले घटिकापात्र डूब गये। सूतिका-कक्ष में नवजात यादव ने प्रणव का हुंकार किया–यँ हाऽ

ऐन मध्यरात्रि में द्वारिका द्वीप पर मानो जगमगाता दिन चढ़ आया हो। द्वारिका के दुर्ग, चारों महाद्वार और असंख्य उपद्वारों पर कहीं भी ऐसी जगह नहीं बची थी, जहाँ दीपकों की ज्योति नहीं जगमगा रही हो। आनन्दोत्फुल्ल यादवों के समूह-के-समूह इडादेवी का जय-जयकार कर रहे थे और जगह-जगह वाद्य-ध्वनियों के साथ विभिन्न प्रकार के खेलकूदों की धूम मची थी। महाराज, राज माता, युवराज बलराम, रेवती दीदी–सभी ने मुट्ठियाँ भर-भरकर स्वर्णमुद्राएँ दान दीं। वह सम्पूर्ण रात ऐसे जगमगाती रही, मानो वह रात ही न हो!

उस अद्भुत दैवयोग को स्मरण करके आज भी मुझे आश्चर्य होता है। प्रसूतिका-गृह की शुद्धि होने से पहले श्रीजी अथवा कोई भी प्रमुख यादव स्त्री-पुरुष बाल यादव के दर्शन करने सूतिका-कक्ष में प्रवेश नहीं कर सकता था। दस दिनों के पश्चात् ही कोई उसे देख सकता था। निःसन्देह मेरा यह पुत्र अप्रतिम सुन्दर था–घने, घुँघराले, काले केशोंवाला, सतेज रक्तवर्णी और हृष्ट-पुष्ट। समुद्री पवन के हलके से झोंके से भी उसके मांसल गाल पर भँवर खिल उठता था। निद्रा के अतिरिक्त सारा समय सागर-लहरों के समान अविरत हाथ-पैर हिलानेवाला वह अग्निज्वाला के समान था। कितना यथार्थ प्रमाणित होनेवाला था उसका नाम–जो हम उसे देने जा रहे थे–प्रद्युम्न।

हमारे पुत्र के जन्म-प्रीत्यर्थ उपहार लेकर द्वारिका महाजनपद के प्रमुख महाद्वार 'शुद्धाक्ष' से चारों दिशाओं में अश्वारोही दौड़ाये गये थे। दक्षिण में यादवों के सगे-सम्बन्धियों के जो चार राज्य थे, वहाँ से भी मूल्यवान उपहार लेकर अश्वारोही द्वारिका में आने लगे। दक्षिण की ओर से पाण्ड्य, चोल, दमिल, वनवासी, अश्मक-मल्लक और कुन्तल जनपदों से उपहार आये थे। हस्तिनापुर, काम्पिल्य नगर और करवीर से भी उपहार आये थे। नहीं आया था तो केवल कौण्डिन्यपुर से। और चेदि-मगध से भी कोई उपहार आनेवाला नहीं था। दूर-दूर से उपहार आने अभी शेष थे।

पाँच दिन हो गये। ये पाँच दिन यादवों की राजनगरी द्वारिका रात-दिन प्रसन्नता में जैसे डुबकियाँ लगा रही थीं। पाँचवाँ दिन ढल गया–रात उतर आयी। पुत्र-जन्म का छठा दिन उगनेवाला था। 'त्रिकालसंचारी देवी षष्ठी' कल नवागत यादव के ललाट पर उसका भाग्य-लेख लिखनेवाली थी, जो केवल स्वयं उनको ही ज्ञात था।

देवी षष्ठी के स्वागत के लिए यादवों के जातक विशेषज्ञ गर्ग मुनि बड़ी दौड़-धूप कर रहे थे। अंग-बंग से लेकर कपिश-काम्बोज तक के निष्णात जातक विशेषज्ञों को उन्होंने षष्ठी देवी के स्वागत के लिए आमन्त्रित किया था।

छठा दिन उग आया। उगा नहीं–कालरात्रि लेकर ही आया था वह। बाल यादव के सुशोभित पालने के निकट से दाई वेत्रा आक्रोश करती हुई, दौड़ती मेरे पर्यंक के पास आ गयी–"महारानीऽ अनर्थ हो गयाऽ नन्हें राजकुमार कहीं दिखाई नहीं दे रहे हैं... बचाइए ऽ मुझे बचाइए ऽ" ...गला फाड़-फाड़कर वह चिल्ला रही थी। उसके हृदयवेधी आक्रोश से दचककर मैं जाग गयी। 'कितना भी समझाओ, मानती ही नहीं। मुझे महारानी ही कहती है। देवी कहने में क्या कष्ट होता है

इसको?' मैं बुदबुदायी। पिछले पाँच दिन मैं ठीक से सो नहीं पायी थी। इसलिए झुँझलाकर मैंने उसे फटकारा, "क्या हुआ वेत्रे? कहीं आकाश तो नहीं फट गया न? चिल्ला क्यों रही हो?"

"आकाश ही फट गया है देवीऽ। छोटे राजकुमार पालने में नहीं हैं–कहीं भी मिल नहीं रहे हैं। अब मेरा क्या होगा देवीऽ" युवराज बलराम भैया के क्रोध के भय से वह थर-थर काँप रही थी। ओढ़ी हुई दुलाई को झटके से फेंककर मैं पालने की ओर ऐसे झपट पड़ी, मानो वज्राघात हुआ हो। विक्षिप्त-सी होकर मैंने पालने में पड़े आस्तरणों को उलट-पुलट डाला–मेरा लाल वहाँ नहीं था...कहीं भी नहीं था। मुझ पर तो विद्युत्पात हो गया। इतनी कड़ी सुरक्षा-व्यवस्था के होते हुए भी श्रीजी के प्रथम अंकुर–सुकुमार बालक का अपहरण हुआ था।

"माते अम्बिके ऽ! देवी इडे ऽ"–विह्वल होकर आक्रन्दन करते हुए मैं मूर्च्छित हो गयी। आनन-फानन में ही यह हृदयवेधी कटु वार्त्ता मन्त्रिमण्डल और सम्पूर्ण द्वारिका में फैल गयी। पाँच दिन प्रसन्नता में डूबी हुई राजनगरी क्षण-भर में निस्तेजत् हो गयी। सुधर्मा राजसभा पर लहरानेवाली भव्य गरुड़ध्वजा आज सुबह ही ध्वजदण्ड से नीचे उतारी गयी। यादवों के समूह मुझे सान्त्वना देने के लिए अन्तःपुर के द्वीप की ओर दौड़ने लगे। परन्तु अमात्य और दोनों सेनापति स्वयं ही उनका निवारण करने लगे।

बलराम भैया के साथ श्रीजी मुझसे मिलने अन्तःपुर में आये। माथे पर शुष्ठि का लेप किये मैं पर्यंक पर लेटी हुई थी–अचेतना-सी। पर्यंक पर मेरे निकट बैठकर श्रीजी ने प्रेम से मेरे माथे पर हाथ रखा। कितना बड़ा अभयवचन था उनके स्पर्श में! मैंने आँखें खोलीं। स्पर्श से भी अधिक मृदु मुस्कान के साथ वे बोले, "धैर्य रखो रुक्मिणी, उसको कुछ भी नहीं हुआ है–हो ही नहीं सकता। उचित समय पर वह लौट आएगा। धीरज रखो।"

श्रीजी के मुख से निकले उन अमृत-मधुर शब्दों पर मैंने दृढ़ विश्वास किया। बड़े निग्रह के साथ अपने-आप को सँभाला। यद्यपि आप्तजन मुझसे मिलकर और ही रोने-धोने लगते, मैंने स्वयं को सँभाल लिया था। उल्टे मैं ही उनको समझाने लगी, "मत रोइए। जो होना था, हो चुका है। जो होना है, वह तो होकर ही रहेगा।"

इस अन्तराल में बलराम भैया के स्नेहल और प्रियभाषी पुत्र निशठ और उल्मुक मेरे अधिक निकट हो गये। उन दोनों के मेरे आसपास रहने से मुझे बड़ी सान्त्वना मिली। उनको नित्य मेरे कक्ष में भेजते रहने की चतुराई श्रीजी की ही थी। धीरे-धीरे मैंने अपने पुत्र के अपहरण के दुःख को परे हटाया। द्वारिकावासियों ने भी वही किया। सत्य तो यह है कि अन्त में 'काल' ही किसी भी व्यथा की औषधि होता है।

बाहर से तो दिख रहा था कि द्वारिकावासी बाल यादव को भूल गये हैं। परन्तु मैं उसे कैसे भूल सकती थी? मैं तो उसकी माता थी–और वह मेरा प्रथम पुत्र था। न मैं उसे जी भर के हृदय से लगा सकी थी, न उसे दूध पिला सकी थी। मैं सदैव सोचती रहती थी–किसने किया होगा मेरे पुत्र का अपहरण? क्यों? और कैसे? क्या वह यादवों में से ही कोई होगा? जिसे अनजाने में श्रीजी से कोई चोट पहुँची हो! कौन होगा वह? सोच-सोचकर मेरा मस्तिष्क भ्रमित होने लगता, कोई भी मार्ग नहीं दिखाई देता था। फिर थककर, श्रान्त होकर मैं पर्यंक पर लेटी रहती थी। किसी भी स्थिति में मेरे पुत्र के बारे में विचार, गुनगुनाते भौंरे की भाँति निरन्तर मेरा पीछा करता रहता था।

यादव कभी हार माननेवाले नहीं थे। मगधसम्राट् जरासन्ध का सत्रह बार बड़े शौर्य-धैर्य से

सामना करके वे द्वारिका आ बसे थे। खोये हुए बाल यादव की खोज में यादवों के निष्णात गुप्तचर चारों दिशाओं मैं फैल गये। श्रीजी, बलराम भैया, दोनों सेनापति, अमात्य, तात वसुदेव महाराज, बड़ी और छोटी माँ ने अपने-अपने कक्ष में बुलवाकर एकान्त में उनको आवश्यक सूचनाएँ दीं। चुनिन्दा और कुशल गुप्तचरों का एक दल द्वारिका के उत्तर में सुदूर सिन्धु-सौवीर, बाह्लिक, काम्बोज से गन्धार देश की राजनगरी पुष्कलावती तक जाकर, हताश होकर लौट आया। दूसरा दल मध्य देश के पांचाल, चेदि, वत्स से लेकर विदेह की जनकपुरी तक जाकर असफल ही लौटा। तीसरा साहसी, शस्त्रधारी दल पंचनद में अम्बष्ठ, त्रिगर्त, औदुम्बर, कुलिन्द, मद्र आदि सूरमा योद्धाओं के जनपदों से असफल होकर लौट आया। श्रीजी और बलराम भैया ने मिलकर परिश्रमी गुप्तचरों का एक दल पूर्व दिशा में मगध, अंग-बंग, कलिंग, पुण्ड्र, सोम आदि देशों से लेकर सीधे कामरूप, किरात तक भेजा था। परन्तु वहाँ से भी मेरे प्रिय पुत्र की कोई सूचना नहीं मिली। दक्षिण की ओर अश्मक, कुन्तल, वनवासी देशों में जानेवाले गुप्तचर दल में कुशल बहुरूपियों को समाविष्ट करने का अनुरोध मैंने एकान्त में श्रीजी से किया। मैंने कहा, “कौण्डिन्यपुर में भी पूरी छान-बीन करने की आज्ञा उनको दीजिए। हो सकता है, अपमानित हुए भ्राता रुक्मि का ही इसमें हाथ हो!”

मेरी सूचना सुनकर श्रीजी ने प्रसन्न मुस्कान के साथ कहा, “ऐसा कर्म रुक्मि नहीं कर सकता। वह भोजवंशी यादव है। मैंने उसको ‘अभय’ दिया है, यह बात वह इतनी शीघ्रता से नहीं भूलेगा। तथापि तुम्हारे अभिप्राय को मैं जान गया हूँ। यह दल अवश्य कौण्डिन्यपुर जाएगा। छान-बीन में कोई त्रुटि नहीं रहेगी। अब तो सन्तुष्ट हो?” औरों के अन्तर्मन में वे बड़ी सरलता से प्रविष्ट हो सकते थे। रुक्मि भैया के बहाने मैं अपने मायके का समाचार जानना चाहती हूँ, यह उन्होंने अचूक रूप से पहचाना था।

बालक की इस खोज-यात्रा में, न जाने कैसे एक राज्य सभी की दृष्टि से छूट गया—वह था शूरसेन राज्य, हमारा ही मूल राज्य।

अपने रत्न जैसे पुत्र को तो मैंने खो दिया, परन्तु उसके पश्चात् छह महीनों में ही रत्न-समान दो व्यक्तियों ने मेरे जीवन में प्रवेश किया। मेरे कौण्डिन्यपुर की सीमा लाँघने के पश्चात् माता अम्बिका की इच्छानुसार द्वारिका में मेरे पाँव रखने के बाद बहुत-कुछ घटित हुआ। एक मास भी ऐसा नहीं बीता, जिसमें कुछ-न-कुछ अद्भुत घटित न हुआ हो। माँ अम्बिका की कृपा मानकर मैंने वह सब स्वीकार किया। मेरा खोया हुआ पुत्र भविष्य में युवा यादव नायक प्रद्युम्न बनकर लौटा। परन्तु तब तक मेरे जीवन में जो भी उथल-पुथल हुई वह क्या कम थी? कोई और होती तो घनघोर आँधी के थपेड़ों से डूबती नौका की भाँति डूब ही जाती। परन्तु मैं टिकी रही—शुद्धमती माता के आशीर्वाद से—उससे भी अधिक श्रीजी के समर्थ आधार पर। केवल टिकी ही नहीं, द्वारिका की महाराज्ञी न होते हुए भी महाराज्ञी कहलायी थी। लाखों द्वारिकावासी नर-नारियों ने बड़ी और छोटी माँ के पश्चात् मुझे गौरवशाली, आदरपूर्ण सम्मान दिया।

मेरे पुत्र के अपहरण के पश्चात् छह महीनों में ही द्वारिका में एक अघटित घटना घटित हुई। बात कुछ इस प्रकार हुई कि सुधर्मा राजसभा के मन्त्रिपरिषद् में सत्राजित नाम के एक प्रतिष्ठित मन्त्री थे। उनकी पत्नी का नाम था वीरवती। प्रसेन नाम के उनके एक जुड़वाँ भाई भी थे, जो दिखने में उन्हीं के जैसे थे, किन्तु हठी स्वभाव के थे। दोनों भाइयों का मन्त्रिपरिषद् में बहुत बड़ा

प्रभाव था। उसका एक विशेष कारण था। सत्राजित निष्ठावान सूर्यभक्त थे। उनके भव्य भवन में नित्य धार्मिक समारोह हुआ करते थे। यज्ञ-कुण्ड से उठनेवाले धूम से उनके भवन का प्रांगण भरा हुआ रहता था। उनके भवन में नित्य सवितृ मन्त्र के घोष गूँजते रहते थे–'ॐ भूर्भुवः स्व: तत्सवितुर्वरेण्यं ऽऽ......'

इस कठोर सूर्याराधना के कारण सत्राजित को 'स्यमन्तक' नामक एक बहुमूल्य मणिरत्न प्राप्त हुआ था। उस मणि में पारस जैसे अमोल गुण थे। जहाँ वह मणि होती थी, वहाँ स्वास्थ्य और समृद्धि का निवास होता था। विधिपूर्वक पूजा करके उसके निकट रखा हुआ लौहखण्ड पूजा के मन्त्रघोष में स्वर्ण में परिवर्तित होता था। इसी स्वर्ण-संचय से सत्राजित बड़े धनवान बने थे। उनकी सारी सन्तानें लाड़-दुलार में पली थीं, सुन्दर और हृष्ट-पुष्ट थीं। उन सबमें उनकी ज्येष्ठ पुत्री सत्यभामा कुछ अधिक ही लाडली थी। वह अनुपम सौन्दर्यशालिनी और विलक्षण हठी थी। उसके सौन्दर्य की ख्याति केवल द्वारिका, सौराष्ट्र, आनर्त में ही नहीं, सुदूर मध्य देश तक फैल गयी थी। उसे सुनकर शतधन्वा नामक भोजवंशीय यादव राजा ने द्वारिका में आकर सत्राजित से सत्यभामा का हाथ माँगा था। यह शतधन्वा मूल शूरसेन राज्य के यादव हृदीक का पुत्र और द्वारिका के प्रमुख यादव कृतवर्मन् का भ्राता था। सत्राजित ने 'कन्या अभी विवाह के योग्य हुई नहीं, जब होगी तब सोचेंगे' कहकर उन्हें वापस भेज दिया था। उनके कथन को सम्भाव्य स्वीकृति मानकर, मन में सत्यभामा के पाणिग्रहण की आशा रख के शतधन्वा चला गया था।

ये सारी बातें श्रीजी को ज्ञात नहीं थीं, ज्ञात होने का कोई कारण भी नहीं था। वे सदैव शूरसेन राज्य और मथुरा के विषय में सोचते रहते थे। यहाँ श्रीजी और बलराम भैया के पराक्रम से द्वारिका समृद्ध बनती जा रही थी। शुक्ल पक्ष के चन्द्र के समान प्रतिदिन उसका वैभव विकसित ही हो रहा था। वहाँ मथुरा में महाराज उग्रसेन बचे-खुचे यादवों के साथ राजकार्य सँभाल रहे थे। उनके कोशागार की स्थिति भी कुछ डावाँडोल थी। उनको सहयोग देना भी आवश्यक था।

मन में कुछ सोचकर एक दिन श्रीजी, देवर उद्धव और अमात्य विपृथु को साथ लेकर सत्राजित जी से मिलने के लिए उनके भवन पर गये। आवभगत, दुग्धपान और फलाहार के पश्चात् श्रीजी ने सत्राजित जी के सम्मुख एक प्रस्ताव रखा, "ज्येष्ठ काकाजी, मेरा आप से एक नम्र अनुरोध है। हम सब यादव तो मूलत: मथुरा से हैं। महाराज उग्रसेन हमारे उस मूल स्थान को सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नशील हैं। सुना है, उनके कोशागार की बड़ी दुरवस्था है। हम सबको उनकी सहायता करनी चाहिए। इसलिए मैं एक प्रस्ताव लेकर आया हूँ।"

"कहिए द्वारिकाधीश! क्या प्रस्ताव है?" सत्राजित जी ने यह कहते हुए दर्शाया तो नहीं, परन्तु क्षण-भर के लिए शंकित अवश्य हुए, कहीं उनकी लाडली सत्यभामा के पाणिग्रहण का यह दूसरा प्रस्ताव तो नहीं है!

"आप अपना बहुमूल्य 'स्यमन्तक' मणिरत्न समन्त्र मुझे सौंप दीजिए। मैं उसे महाराज उग्रसेन को अर्पित करने के लिए उद्धव और मुनिवर गर्ग के हाथों मथुरा भेज दूँगा।" नित्य की भाँति हँसते हुए, अलिप्त भाव से श्रीजी ने प्रस्ताव रखा। उसे सुनकर सत्राजित जी हड़बड़ा गये–विचलित हो गये। अपने प्रबन्धक की ओर देखते हुए बोले, "कैसा असंगत प्रस्ताव है यह? द्वारिकाधीश, हमारे स्थान पर आप होते, तो क्या इस प्रस्ताव को स्वीकार करते? क्षमा कीजिए, यह नहीं हो सकता।" अन्तत: वे भी एक निडर यादव ही थे!

स्पष्टत: इस अवहेलनापूर्ण उत्तर को सुनकर भी–"ठीक है। जैसी आप की इच्छा!" कहते हुए श्रीजी निर्लेप हँस दिये। परन्तु अपने ही सम्बन्धियों से अपने प्रिय भ्राता को 'उपहार' में प्राप्त इस अवमान को सुनकर उद्धव जी के मन को गहरी चोट पहुँची। सभी चुपचाप उस कक्ष से बाहर निकल आये। कोई भी, कुछ भी बात नहीं कर रहा था। उसी समय अपने अश्वपाल पर क्रोधित हुई एक तेजस्विनी स्त्री ने भवन में प्रवेश किया। अभी-अभी अश्वारोहण से निवृत्त होकर वह लौटी थी। कड़ी धूप के कारण वह स्वेद से सराबोर हुई थी। उसके मुख पर लालिमा छायी थी। अमात्य विपृथु, उद्धव जी और कुछ विशिष्ट यादवों के साथ स्वयं श्रीजी को अपने भवन में देखते ही वह कुछ सिटपिटा गयी और स्त्रियोचित संकोच में चुपचाप अन्दर चली गयी। स्यमन्तक मणि के नाटक का यह आरम्भ था।

कुछ दिन बीत गये। राजनगरी द्वारिका अपने नित्यकर्मों में लगी हुई थी। एक दिन सत्राजित-बन्धु प्रसेन ने अपने अश्वारोही और आखेट के रथदल सज्जित किये। यादवों की प्रथा के अनुसार वे बाजे-गाजे के साथ आखेट के लिए निकल पड़े। उनके आखेटदल शुद्धाक्ष महाद्वार से निकलकर नौकाओं में से आनर्त प्रदेश में उतरे। न जाने क्यों, प्रसेन जी को आज बेलबूटेदार स्वर्ण-सूत्रों में कौस्तुभ के समान शोभान्वित होनेवाली स्यमन्तक मणि कण्ठ में धारण करने की इच्छा हुई थी। ज्येष्ठ भ्राता सत्राजित की अनुमति से ही उन्होंने इस मणिरत्न को धारण किया था।

उनके आखेटदल ऋक्षवान पर्वत के घने अरण्य में घुसे। रैवतक के समान इस पर्वत पर भी बड़ी संख्या में वनराज सिंहों का निवास था। हाथ में भाला उठाकर अश्वारूढ़ प्रसेन जी किसी मत्त खांगड़ वनशूकर के पीछे पड़ गये। इस धुन में उन्हें अपना ध्यान ही नहीं रहा। अचानक गहन वन से एक भारी-भरकम डीलडौलवाला अयालधारी सिंह दहाड़ता हुआ उन पर टूट पड़ा। उस सूने अरण्य में दोनों की दहला देनेवाली झड़प हुई। मनुष्य कितना भी बलवान और शूर क्यों न हो, हिंस्र सिंह के आगे उसकी क्या चलेगी? अन्तत: उस झड़प में सिंह ने उसके शरीर को छिन्न-विच्छिन्न कर डाला। सत्राजित जी का प्राणप्रिय स्यमन्तक मणिरत्न ऋक्षवान के अरण्य में रक्त से लथपथ एकाकी पड़ा रहा। सन्ध्या समय समीप था। उस अरण्य का निवासी निषधराज जाम्बवान अपने साथियों के साथ अपनी गुफा की ओर लौट रहा था। मार्ग में उसने प्रसेन की छिन्न-भिन्न निष्प्राण देह को देखा। वे सभी चौंक पड़े, परन्तु द्वारिका के उस यादव-वीर को उनमें से कोई भी नहीं पहचान सका। एक निषाद ने प्रसेन के कण्ठ से स्वर्णमाला में जड़ा स्यमन्तक उतार लिया और वन-झरने के जल से उसे धोकर अपने स्वामी जाम्बवान को सौंप दिया। उन्होंने वहीं चिता रचकर प्रसेन की अग्निक्रिया की।

सप्ताह बीत गये, फिर भी प्रसेन लौटे नहीं। सत्राजित पहले तो चिन्तातुर हुए, असमंजस में पड़ गये और अन्तत: शंकाकुल हो गये। उनके भवन में प्रबन्धक और सेवकों में कानाफूसी होने लगी कि 'द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण ने ही प्रसेन जी की हत्या की है और मनोवांछित स्यमन्तक मणि को चुपचाप उड़ाया है।'

सत्राजित जी ने तो महाराज वसुदेव से विशेष राजसभा आमन्त्रित करने की माँग की। नियत दिन निश्चित समय पर राजसभा का आयोजन किया गया। भरी सभा में महाराज वसुदेव के समक्ष सत्राजित जी ने कड़े, कठोर शब्दों में श्रीजी पर सीधा आक्षेप किया। वे गरजे, "महाराज, अपराधी द्वारिकाधीश है, इसलिए उसका अपराध क्या क्षमा किया जाएगा? मेरे प्रिय बन्धु प्रसेन को निर्जन

अरण्य में अकेला पाकर उसकी निर्घृण हत्या की गयी है। उसके गले की तेजस्वी, सुलक्षणी स्यमन्तक मणि बड़ी धूर्तता से छीनी गयी है। यादवों के कल्याण की धुरा अपने ही कन्धे पर होने की डींग हाँकनेवाले, आप के कनिष्ठ पुत्र कृष्ण ने ही एक यादव की हत्या के साथ-साथ यह घोर चौर्य-कर्म किया है। राजसभा को निष्पक्षता से इसका उचित निर्णय करना चाहिए और मुझे अपना रत्न–स्यमन्तक–वापस मिलना चाहिए।"

उस सन्तप्त आक्षेप के प्रबल आघातों से सम्पूर्ण राजसभा थर्रा उठी। ज्येष्ठता, मन्त्रीपद के अधिकार और अपार ऐश्वर्य के बल पर ही सत्राजित भरी सभा में श्रीजी पर यह आरोप लगाने का साहस कर सके। परन्तु यह आरोप यादवसभा के लिए असहनीय था। क्षण-भर में राजसभा में खलबली मच गयी और हर क्षण वह बढ़ती ही गयी। खड्ग की मूठ पर हाथ रखकर, नेत्रों से अंगार-वर्षा करते और सत्राजित की ओर तिरस्कार से देखते हुए सेनापति सात्यकि खड़े हो गये। युवराज बलराम भैया की बलिष्ठ मुष्टि गदादण्ड पर कस गयी।

"यह असत्य है। स्यमन्तक के स्वामी को यादवों के शिरोमणि श्रीकृष्ण पर किया गया यह आक्षेप क्षमा-याचना के साथ वापस लेना होगा अन्यथा परिणाम भुगतने को तैयार होना होगा।" 'धिक्कार हो--धिक्कार हो--' कौन-कौन और कहाँ-कहाँ से बोल उठा, कुछ समझ में नहीं आया।

सम्पूर्ण राजसभा की दृष्टि हमारे आसनों पर ही गड़ी हुई थी। राजसभा का वह अभूतपूर्व दृश्य देखकर मैं तो भयभीत हो गयी। अपने समीप ही, दाहिनी ओर–स्वर्णासन पर बैठे श्रीजी की ओर मैं एकटक देखने लगी। 'अब क्या करेंगे स्वामी?' मेरे मन में अनेक प्रश्नों का–शंकाओं का बवण्डर उठा। मुझे भयभीत जानकर भी वे नित्य की भाँति नटखट भाव से मेरी ओर देखकर मुस्कराते हुए, अत्यन्त शान्ति के साथ अपने आसन से उठ खड़े हुए। क्षण-भर में ही प्रत्यक्ष कालपुरुष को भी रोककर, सोचने पर विवश करने वाली उनकी श्रवणीय, नादमय वेणुवाणी प्रवाहित होने लगी–

"यादववीरो, शान्त हो जाइए–शान्त हो जाइए! सर्वप्रथम मैं सुधर्मा राजसभा के ज्येष्ठ मन्त्री, आदरणीय सत्राजित काका का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।" इस पूर्णत: अनपेक्षित और चमत्कारिक आरम्भिक शब्दों से राजसभा क्षण में ही निस्तब्ध हो गयी और एकाग्र होकर दुर्लभ श्रीवाणी को सुनने लगी। स्वयं सत्राजित उनमें कब सम्मिलित हो गये, उनके ध्यान में ही नहीं आया। मैं तो सुध-बुध खोकर अपने श्रेयस की ओर देखती-सुनती ही रह गयी। उन असंख्य यादवों ने अपने जीवन में कभी ऐसा कुछ सुना नहीं था। श्रीजी की मोहनी वाणी से यादवों की राजसभा मन्त्रमोहित हो गयी।

"अभिनन्दन इसलिए कि सत्राजित काका ने समस्त यादवों को आज निर्भयता की नयी सीख दी है–न्यायप्राप्ति के लिए, किसी की भी परवाह न करते हुए, घटित अन्याय को भरी सभा में स्पष्ट रूप से उद्‌घाटित करने की सीख। मेरे गुरुदेव सान्दीपनि ने मुझे भी यही शिक्षा दी है। मेरे सौभाग्य से वे आज राजसभा में उपस्थित हैं।

"महाराज और राजमाता की शपथ लेकर और गुरुदेव सान्दीपनि को साक्षी रखकर मैं कहता हूँ कि मैंने ऐसा कोई कुकर्म नहीं किया है। किसी भी सुलक्षण, तेजस्वी मणिरत्न का मुझे मोह नहीं है, होने का कारण भी नहीं है।" श्रीजी ने हेतुत: वक्ष पर झूलते हुए कौस्तुभ मणि को क्षण-भर सहलाया।

"उचित...यथार्थ....साधु...." यादवसभा ने अनुमोदन किया और श्रीजी के हाथ उठाते ही सभा

पुन: शान्त हो गयी और वह उनकी वाणी की अमृतधारा का रसपान करने लगी।

"यादववीरो, महाराज यदु और क्रोष्टु का स्मरण करके, कुलदेवी इडा की शपथ लेकर मैं घोषित करता हूँ कि ज्येष्ठ यादव सत्राजित जी की प्राणप्रिय स्यमन्तक मणि जहाँ भी कहीं होगी—भले ही वह पाताल में भी हो—उसे ढूँढ़कर मैं इसी राजसभा में उनको सौंप दूँगा।

"अन्तत: इस गुणवान मणि के निमित्त मैं अपने सभी यादवों से कहना चाहता हूँ कि मणि, स्वर्ण, धन आदि सभी साधन मात्र हैं, जीवन का साध्य नहीं। जीवन का साध्य है केवल प्रेम, किसी भी धन से बढ़कर है वह योग—प्रेमयोग!

"मेरी इच्छा नहीं थी, परन्तु आज भरी राजसभा में मुझ पर आक्षेप लगाया गया है, इसलिए सुधर्मा सभा के समक्ष एक अज्ञात सत्य का उद्घाटन करना आज आवश्यक हो गया है।

"मैंने ज्येष्ठ यादव सत्राजित काका से स्यमन्तक की माँग अवश्य की थी, परन्तु वह मेरे अपने लिए नहीं—कदापि अपने लिए नहीं। अपने मथुरावासी, यादव बान्धवों की बुरी स्थिति को सुधारने के लिए मैंने वह माँग की थी। उसी भ्रान्त धारणा के कारण मेरे ऊपर यह आक्षेप लगाया गया है। मैं निश्चयपूर्वक आपसे कहता हूँ कि इसके पूर्व भी मेरे विषय में भ्रान्त धारणाएँ हुई हैं, आगे भी होंगी। परन्तु इस मणि से मुझे ऐसा क्या प्राप्त होगा, जो मैं उसे चुरा लूँ?"

"कुछ नहीं—कुछ भी नहीं—क्षमा माँगिए सत्राजित।" उतावले यादव फिर उबल पड़े। हस्त-संकेत से उन्हें शान्त कराते हुए और वही मोहक मुस्कान मुख पर बिखेरते हुए श्रीजी ने समस्त यादवों को सम्भ्रम में डालनेवाले विचार व्यक्त किये। उन्होंने कहा, "ऐसा भी नहीं कहा जा सकता यादव सुहृदय बन्धुओ। इस स्यमन्तक से बहुत-कुछ प्राप्त होगा मुझे। स्वयं ज्येष्ठ यादव सत्राजित जी को भी जो लाभ इस समय ज्ञात नहीं है, वह उचित समय पर ही उन्हें भी ज्ञात होगा।"

सुधर्मा राजसभा एक ही घोष से निनादित हो उठी—"द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण महाराऽज! जयतु...जयतु...! महाराज वसुदेव, महाराज्ञी देवकीदेवी पुत्र श्रीऽकृष्ण...जयतु...जयतु...आचार्य सान्दीपनि-शिष्य यादवश्रेष्ठ श्रीकृष्ण...जयतु...जयतु।"

अमात्य द्वारा राजदण्ड का भूमि पर सभा-समाप्ति सूचक आघात करते ही सभा विसर्जित होने लगी। मेरे निकट खड़े श्रीजी मृदु मुस्कराते हुए सत्राजित की ओर ही देख रहे थे। स्वयं सत्राजित भी अनजाने में मुट्ठी बाँधकर जयनाद में सहभागी हो गये थे।

भरी सभा में सत्राजित जी को दिया गया वचन पूरा करना आवश्यक था। श्रीजी ने आदेश दिये और दूसरे ही दिन वे दोनों सेनापति—महारथी सात्यकि और अनाधृष्टि के साथ ऋक्षवान के अरण्य में चले गये। साथ में चुनिन्दा, मृगयाकुशल और लड़ाकू यादव-सैनिक थे। उस अरण्य की पूरी सूक्ष्मता से जानकारी रखनेवाले वनवासी गुप्तचर भी उनके साथ थे। मुझे पूरा विश्वास था कि अब स्यमन्तक मणि को हस्तगत किये बिना श्रीजी द्वारिका नहीं लौटेंगे।

यादव प्रथानुसार मैंने आरती उतारकर स्यमन्तक की मृगया के लिए उनको विदा किया। विदा लेते समय, नीराजन की ज्योति पर अँजुली फिराकर अपनी गुलाबी हथेलियों से उस तेज को उन्होंने अपने नीलवर्ण मुखमण्डल में समा लिया। देखनेवाले के मन को मोरपंख के कोमल स्पर्श की अनुभूति दिलानेवाली मृदु मुस्कान के साथ उन्होंने मुझसे पूछा—"तुम्हें क्या लगता है रुक्मिणी? क्या स्यमन्तक मणि पुन: द्वारिका में आएगी? वह रत्न है, अकेला नहीं आएगा। अपने स्वाभाविक गुण के अनुसार वह अपने साथ कुछ-न-कुछ संकट भी लेकर आएगा। स्वीकार है

तुम्हें?” श्रीजी सदैव ऐसी ही बातें किया करते थे–पहेली बुझानेवाली, सम्भ्रमित करनेवाली!

अन्तत: मैं भी उनकी पत्नी थी–लाख समझाने पर भी द्वारिकावासियों ने जिसे ‘महाराज्ञी’ की उपाधि दी थी। मैंने भी हँसते-हँसते उत्तर दिया–“मुझे सब-कुछ स्वीकार है। श्रीजी का सकुशल, सुरक्षित पुनरागमन ही मेरे लिए किसी भी रत्न से अधिक मूल्यवान है।”

श्रीजी ने ऋक्षवान पर्वत की ओर प्रस्थान किया। एक सप्ताह बीता। ‘वे ऋक्षवान क्षेत्र में पहुँच चुके हैं, गुप्तचर अरण्य में चारों ओर फैल गये हैं, कड़ी जाँच हो रही है।’ एक के बाद एक वार्ताएँ द्वारिका में आ रही थीं। दूसरा सप्ताह पूरा होने से पहले ही वह आनन्दवार्त्ता द्वारिका में आ पहुँची। सफलता से भिन्न कुछ भी स्वीकार न करनेवाले श्रीजी यशस्वी होकर लौट रहे हैं–उसी गौरवशाली, सुलक्षण ‘स्यमन्तक’ मणिरत्न के साथ। द्वारिका का पूर्वी महाद्वार ‘शुद्धाक्ष’ पुष्पमालाओं और प्रज्वलित दीपमालाओं से सुसज्जित हो गया। विविध प्रकार के शुभकर वाद्यों की मिश्रध्वनि निनादित होने लगी।

श्रीजी के स्वागत के लिए तात वसुदेव, बड़ी और छोटी माँ, युवराज बलराम भैया, रेवती दीदी, मन्त्रिगण और समस्त द्वारिका ‘शुद्धाक्ष’ पर इकट्ठी हो गयी। उस भीड़ में ज्येष्ठ यादव सत्राजित भी थे। मैं भी अपने सेवक-सेविकाओं सहित अन्त:पुर के द्वीप से मूल द्वारिका में उपस्थित हुई थी।

स्यमन्तक मणि के साथ द्वारिकाधीश के आगमन की सूचना देनेवाले रक्षक दल नौकाओं में से शुद्धाक्ष महाद्वार पर आ धमके। वहाँ एकत्रित हुए यादवों के हर्षविभोर जयनाद से महाद्वार गुंजायमान हो गया। उसके तुरन्त पश्चात् एक प्रचण्ड नौका से हाथी की अम्मारी में आसीन कुछ विशेष व्यक्ति महाद्वार में उतरे।

सात सुहागिनों के साथ मैंने प्रथम पके ओदन की मुट्ठियों से उनकी दीठ उतारी और फिर उसे दूर फेंक दिया। कितना तेजस्वी, विजयोत्फुल्ल दिख रहा था उनका मुखमण्डल! स्वर्ण-कलश में से जल लेकर मैंने अँगुली से उनकी मुँदी पलकों पर लगाया। अपने ऊपर स्यमन्तक मणि की चोरी के लगाये गये लांछन को उन्होंने बड़े शौर्य से मिटाया था। इतना गर्व हुआ मुझे उन पर! मेरी ओर देखते समय उनके मुख पर मुझे उनकी परिचित वही नटखट हास्य-छटा दिखाई पड़ी। निश्चय ही इसके पीछे कोई-न-कोई मर्म अवश्य होगा, मुझे ऐसा लगा और मैं सतर्क हो गयी।

अपने पीठ-पीछे खड़ी एक साँवली, सशक्त स्त्री की भुजा थामकर उसे सम्मुख करते हुए उन्होंने सहजता से कहा, “यह एक और स्त्रीरत्न आया है स्यमन्तक के साथ-साथ। मैं नहीं, स्यमन्तक मणि ही लायी है इसे। यदि यह रत्न न आता तो स्यमन्तक भी प्राप्त न होती!” सदैव की भाँति श्रीजी ने कूट प्रश्न का जाल फैलाया।

मैंने सम्मुख खड़ी, अधोमुख, सहमी-सी यौवन से लहलहायी युवती की ओर देखा। वह सुडौल, साँवली, विपुलकेशा थी। उसके वस्त्रों से मैंने तत्काल भाँप लिया, वह एक वन्य स्त्री थी–एक आदिवासी यौवना। द्वारिका के प्रबल प्रभावी, वैभवशाली प्रथम दर्शन से वह हड़बड़ा गयी थी। घनी पलकें झपकाते हुए, भयभीत पक्षिणी के समान वह मेरी ओर टुकुर-टुकुर देखती ही रही।

“केवल तुम्हारे भरोसे ही इसको ब्याहकर, अपनी पत्नी और तुम्हारी सखी के रूप में लाया हूँ मैं–रुक्मिणी! इसका नाम जाम्बवती है। ऋक्षवान के निषधराज जाम्बवान की पुत्री है यह।” श्रीजी तो नित्य की भाँति नितान्त सरलता से कह गये। परन्तु उस क्षण मेरी स्थिति तो वैसी हो गयी जैसी अपने प्रथम पुत्र के खो जाने पर हुई थी। क्षण-भर को मुझे आभास हुआ कि पूरा शुद्धाक्ष

महाद्वार मण्डलाकार घूम रहा है। दूसरे क्षण ही मैंने स्वयं को सँभाला। जो भी हो, अन्तत: श्री-पत्नी जो ठहरी मैं—द्वारिकावासियों की हृदय से स्वीकृत महाराज्ञी हूँ। "आओ जाम्बवती, मेरी छोटी बहन, मुझसे गले मिल लो!" सम्मुख खड़े आदिवासी सौन्दर्य को अभय देते हुए मैंने अपने बाहु पसारे। बड़ी आशा से वह मेरे गले लगी। सिसकते हुए बुदबुदायी, "मेरे ध्यान में कुछ भी नहीं आ रहा है। आप कृपा कर मेरी सहायता कीजिए। मेरी दीदी बन जाइए।" मैंने उसे थपथपाते हुए शान्त किया। श्रीजी ने उसके पिता—जाम्बवान का सबसे परिचय कराया। वे अपने साथ द्वारिका के यादव-प्रमुखों के लिए उपहार-स्वरूप मधु और महुआ के मद्य के कुम्भ, विविध औषधि-वनस्पतियाँ, रंगबिरंगी मणिमालाएँ, अलग-अलग पंछियों के विविध रंगी पंख—हाँ उनमें कुछ सप्तरंगी सुन्दर मोरपंख भी थे—ले आये थे।

जैसे ही मैंने जाम्बवती को आलिंगन में भरा, द्वारिकावासियों ने उसे श्रीजी की द्वितीय रानी के रूप में स्वीकार किया। श्रीजी ने जो मुक्ति का नि:श्वास छोड़ा, उसे मैंने उसी क्षण अनुभव किया था।

वहाँ एकत्रित असंख्य उत्साही यादवों के 'यादवराज्ञी जाम्बवतीदेवीऽ जयतु...जयतु' के स्वागत-घोष के बीच जाम्बवती ने द्वारिका में प्रवेश किया।

यह अतर्क्य घटना घटित कैसे हुई? स्यमन्तक की खोज करते-करते जब श्रीजी को ज्ञात हुआ कि वह मणि जाम्बवान ने हस्तगत की है और अपनी गुफा में सुरक्षित छुपा रखी है, यादव-सेना ने उस गुफा को घेर लिया। सेनापति सात्यकि और अनाधृष्टि ने निषधराज जाम्बवान को वन्य-बेलों से बाँधकर, बन्दी बनाकर श्रीजी के सम्मुख उपस्थित किया। स्यमन्तक मणि की माँग करते ही बिफरकर उसने कहा, "वह मणि मेरे पास है। भले ही मेरे प्राण चले जाएँ, मैं वह मणि यूँ ही नहीं दूँगा। पहले मुझे अभय दीजिए।"

"अभय किसलिए? किस प्रकार लौटाएँगे आप वह मणि?" उस निर्भय निषधराज का निर्भय उत्तर भी श्रीजी को मन-ही-मन भा गया। जाम्बवान ने कहा, "मेरी इकलौती कन्या है जाम्बवती—यदि तुम्हारा यह मुखिया उसे अपनी पत्नी बनाने को तैयार हो, तो मैं वह रत्न प्रस्तुत करता हूँ, अन्यथा नहीं।"

न जाने क्या सोचकर श्रीजी ने उस विचित्र शर्त को स्वीकार किया था। एक चान्द्रवंशी, क्षत्रिय नरश्रेष्ठ ने एक आदिवासी वनकन्या को पत्नी के रूप में सादर स्वीकार किया। यह घटना आर्यावर्त में अभूतपूर्व थी। आगे कभी ऐसा घटित होगा कि नहीं, कहना कठिन था। इस मन्वन्तर को रचते हुए उन्होंने जिस आकाश-सदृश मन के दर्शन कराये थे, उसे देखकर क्षणार्द्ध में मैंने भी निश्चित किया था कि उनकी पत्नी होने के नाते मैं भी अपने हृदय को ऐसा ही उदार बनाऊँगी। इससे मैं श्रीजी को और भी अधिक प्रिय हो सकूँगी! यदि मैं ऐसा न करती, तो मुझे विश्वास था, ऋक्षवान के घने अरण्य में भी वे जाम्बवती नगरी स्थापित करते—केवल आदिवासियों के लिए। तब मैं क्या करती?

जाम्बवती को आलिंगन में भरते हुए मुझे स्त्री-मन का—उससे भी बढ़कर राज्ञी-मन का—बोध हुआ। उसके आलिंगन में रहते ही मेरे मन में एक विलक्षण विचार कौंधा। कौण्डिन्यपुर में मेरे स्वयंवर के लिए इकट्‌ठा हुए, श्रीजी को ग्वाला कहकर उनकी उपेक्षा करनेवाले, स्वयं को सम्राट् कहलानेवाले जरासन्ध सहित सारे क्षत्रियों में से क्या कोई क्षत्रिय पुरुषोत्तम यह साहस करता?

उनमें से कोई एक भी किसी आदिवासी स्त्री को अपनी पत्नी स्वीकार करता?

जाम्बवती झरने के समान निर्मल मन की थी। वह उत्साही और अध्ययनशील स्वभाव की थी। यादवों की मन्त्रिपरिषद्, उनकी रासक्रीड़ा से लेकर मृगया, उत्सव, त्यौहार, उनकी प्रथाएँ, उनकी वेशभूषा, आदर-सत्कार की पद्धति, शिष्टाचार–कुछ भी उसे ज्ञात नहीं था, फिर भी सारिका पक्षिणी जैसे जौ के दाने झटपट चुग लेती है, वैसे ही वह स्वाभाविक चतुराई से मेरे कहने के अनुसार यादवों का जीवन आत्मसात् करने लगी। उसको इन बातों की दीक्षा देने में घण्टों मेरा मन बहल जाता था। इसका कारण यह था कि बातें करते-करते वह वन का एकाध दुर्लभ सन्दर्भ दे जाती थी। उस समय वह अत्यन्त आदर से अपनी माता ऋक्षराज्ञी व्याघ्री का उल्लेख किया करती थी। तब मैं ही कुतूहल से उससे उस सम्बन्ध में कई प्रश्न पूछा करती थी। वह भी अरण्य के वासी नाना प्रकार के प्राणी, पक्षी और वनस्पतियों की बहुत-कुछ जानकारी देती रहती थी। वह सब सुनते समय कभी-कभी मैं यह सोचकर अपने-आप ही हँसती रहती थी कि मैं क्या दीक्षा दूँगी इसको? यह तो मुझे ही अरण्य-दीक्षा देकर मेरी गुरु बनती जा रही है।

मुझे हँसते देखकर बीच में ही रुककर वह कहती, "दीदी, आपकी हँसी मुझे बहुत अच्छी लगती है–हर समय वह कुछ अलग ही होती है!" उसकी इन बातों से मेरे मन में श्रीजी की स्मृति उभर आती। मैं उससे कहा करती थी, "मेरी हँसी की प्रशंसा छोड़ो जाम्बवती। तुम एक बार अपने पतिदेव को हँसते हुए भलीभाँति देख लो। प्रत्यक्ष हँसी को भी हँसी आ जाए, ऐसी विविध छटाएँ तुम्हें उसमें दिखाई देंगी। इतनी सरल नहीं है यह पहेली!"

फिर हम दोनों ही श्रीजी के केवल स्मरण से ही बहुत समय तक खिलखिलाकर हँसती ही रहती थीं।

स्यमन्तक के हस्तगत होते ही श्रीजी ने अमात्य विपृथु से कहकर विशेष राजसभा का आयोजन करवाया। आज की सभा में श्रीजी पर अपने प्राण न्योछावर करनेवाले यादव असीम उत्साह से कोलाहल मचा रहे थे। उनमें से हर-एक को लग रहा था कि श्रीकृष्ण महाराज नहीं, स्वयं वही लोग स्यमन्तक को लौटा कर लाये हैं। इन यादवों को समझना बड़ा ही दुष्कर काम है।

राजसभा का प्रयोजन बताते हुए अमात्य ने निवेदन किया–"द्वारिका के यादववीरो, द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण ने ऐसा पराक्रम किया है, जिससे हममें से प्रत्येक का वक्ष गर्व से उन्नत है। अपनी तेजस्वी, सुलक्षण स्यमन्तक मणि के अपहरण का सर्वथा वृथा आरोप ज्येष्ठ यादव सत्राजित ने श्रीकृष्ण पर लगाया था।

"कुछ अघटित घटनाओं के पश्चात् वह मणिरत्न जिस निषधराज जाम्बवान के पास था, उससे युद्ध करके यादवश्रेष्ठ श्रीकृष्ण वह मणि वापस ले आये हैं। उनके पराक्रम से प्रसन्न होकर निषधराज ने अपनी कन्या देवी जाम्बवती उन्हें अर्पित की है। देवी रुक्मिणी के बाद देवी जाम्बवती को भी हमें श्रीकृष्ण-पत्नी के रूप में स्वीकार करना चाहिए। क्या राजसभा इससे सहमत है?" सभागृह को सचेत करने के लिए अमात्य ने रत्नजटित राजदण्ड से भूमि पर आघात किया।

"स्वीकार है...स्वीकार है...रानी जाम्बवतीदेवी की जय हो! श्री कृष्ण महाराज की ऽ जय! महाराज्ञी रुक्मिणीदेवी की ऽ जऽय!" समस्त यादव अब मुझे 'महाराज्ञी' कहने के अभ्यस्त हो गये थे। तभी तो बड़ी माँ–देवकीदेवी के सिंहासन पर आसीन रहते हुए भी उन्होंने मेरा 'महाराज्ञी

रुक्मिणीदेवी' कहकर जयघोष किया था। अब श्रीजी की पत्नी को जो शोभा दे, मुझे ही अपने बुद्धिचातुर्य से ऐसा कोई उपाय करना आवश्यक हो गया था। उसी समय, राजसभा में आसन पर बैठे-बैठे मैंने मन-ही-मन निश्चय किया कि आज से मैं ही बड़ी माँ को 'ज्येष्ठ महाराज्ञी' कहना आरम्भ करूँगी।

"द्वारिकाधीश आज इसी सुधर्मा राजसभा की साक्षी में स्यमन्तक को सत्राजित के हाथों सौंपेंगे। उसे स्वीकार करते हुए सत्राजित यादवश्रेष्ठ को आशीर्वाद दें!" अमात्य ने कहा। गर्वोन्नत मन से श्रीजी अपने आसन से उठकर खड़े हो गये। असीम तेज से उनका मुखमण्डल दमक रहा था। उनके हाथ में मणि की नक्षीदार सीसम-पेटिका थी। सत्राजित मन्त्रिगणों के मण्डल से उठकर थरथराते हुए श्रीजी के निकट आ गये। नित्य की भाँति मन्द, नटखट मुस्कराते हुए श्रीजी ने वह मणि-पेटिका सत्राजित को सौंप दी और उनको नम्रतापूर्वक प्रणाम किया। तालियों की गड़गड़ाहटी गूँज में, इडादेवी, महाराज वसुदेव और महाराज्ञी के नाम के जयघोष से राजसभा निनादित हो गयी।

इसी सभागृह में श्रीजी पर लगाये गये अविचारी आरोप के स्मरण से सत्राजित अत्यन्त लज्जित हो गये थे। पेटिका को अपने हाथों में सँभालते, कम्पित शब्दों में उन्होंने कहा, "यद्यपि मैं ज्येष्ठ हूँ, राजसभा को साक्षी रखकर श्रीकृष्ण मुझे क्षमा करें। अपना मनोगत व्यक्त करने के लिए मेरे पास उचित और पर्याप्त शब्द ही नहीं हैं। मैं केवल इतना ही कर सकता हूँ–पिता होने के नाते इसी क्षण मैं अपनी वीरकन्या सत्यभामा श्रीकृष्ण को अर्पित करता हूँ! उदार मन से स्यमन्तक मणि के साथ-साथ वे उसको भी अपनी तीसरी पत्नी के रूप में स्वीकार करें।" आखिर सत्राजित का दूसरा नाम शक्तिसेन जो था!

"मान्य है...मान्य है... द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण, स्यमन्तक समेत सत्राजित का दूसरा उपहार भी स्वीकार कीजिए! आप सर्वथा उसके योग्य ही हैं। यादवश्रेष्ठ, देवी सत्यभामा को अपनाइए। मणि स्वीकार कीजिए!" नित्य रणोत्सुक यादवगण निरन्तर एक स्वर से बोलते जा रहे थे। तब मेरे निकट ही बैठे श्रीजी मेरी ओर एकटक केवल देखते ही रहे। कितने भाव छिपे थे उनके उस दृष्टिक्षेप में! जैसे वे मूकता से ही मुझे पूछ रहे थे, "क्या करूँ मैं? दोनों को स्वीकार करूँ?" मैंने झुकती पलकों से उनको अपनी मूक सम्मति दी। फिर भी कुछ क्षण वे मेरी ओर देखते ही रहे। उनकी ग्रीवा कुछ ऐसे हिली, जैसे वे किसी बात से असहमत हों। फिर वे धीरे-से उठकर खड़े हो गये।

बिना कुछ कहे, मुट्ठी कसकर उन्होंने दाहिनी भुजा ऊपर उठायी। उस संकेत से राजसभा तालियों की गड़गड़ाहट और जयघोष से निनादित हो उठी। श्रीजी की ऊपर उठी भुजा को मैं देखती ही रही।

ऊपर उठायी गयी भुजा को शान्त भाव से नीचे लेते हुए श्रीजी ने धीमे और दृढ़ शब्दों में कहा, "प्रिय यादवजन, सम्भ्रमित मत हो जाओ। मैंने दोनों नहीं, एक ही रत्न को–स्त्रीरत्न को स्वीकार किया है। स्यमन्तक मणि का मोह मुझे न कभी था, न कभी होगा। मैं उसे ज्येष्ठ यादव सत्राजित काका को–जो उस मणि के एकमात्र अधिकारी हैं–विनम्र भाव से, राजसभा को साक्षी रखकर लौटा रहा हूँ। वे उसे स्वीकार करें और उससे प्राप्त धन के बल पर अपनी सूर्याराधना अखण्ड बनाये रखें। उसे ऐसे सुरक्षित रखें, जिससे द्वारिका में स्वास्थ्य और समृद्धि का वास हो।" सत्राजित की

दी हुई पेटिका श्रीजी ने पुन: उनके हाथों सौंप दी। मेरी अनुमति पर अपनी ग्रीवा सन्दिग्ध ढंग से हिलाकर उन्होंने जो आधी अस्वीकृति दर्शायी थी, उसका रहस्य अब स्पष्ट हुआ था!

स्यमन्तक मणिरत्न नाटक का दूसरा सर्ग, मेरे जीवन में दूसरी सपत्नी–सत्यभामा और श्रीजी के जीवन में तीसरी पत्नी का प्रवेश कराकर समाप्त हो रहा था।....

जाम्बवती को मैं सरलता से अपना सकी थी, सत्यभामा को अपना लेना कठिन था। वह एक यादवकन्या जो थी! धनवान पिता के घर लाड़-दुलार में पलने के कारण वह गर्वीली भी थी। वास्तव में वह अप्रतिम सौन्दर्यवती थी और साहसी भी। इसी कारण तो वह अहंकारी भी थी। उस पर भी विशेष बात यह थी कि उसे अपनी अहंकारिता ध्यान में ही नहीं आती थी। मेरा सबसे दुष्कर कार्य यही था। आँख में सदैव चुभनेवाला तिनका हलकी सी फूँक मारकर ही निकाला जाता है। आँखें मलने से या कुछ अन्य उपाय करने से आँखें लाल होने की सम्भावना ही अधिक होती है। और यदि भामा जैसी अहंकारी स्त्री की आँखें लाल हो जाएँ, तो उनका निखरना और भी कठिन! मैं उसे केवल भामा ही कहने लगी। वैसे तो वह सत्य से कुछ-कुछ दूर ही थी। किसी की भी और कुछ भी वह शान्ति से कभी सुनती ही नहीं थी–कभी-कभी तो श्रीजी की भी नहीं। न जाने क्यों मेरे समक्ष तो वह विनम्र ही रहती थी–"देखिए न दीदी!...क्या करूँ, महाराज्ञी?" किसी-न-किसी दोषारोपण के स्वर में ही वह मुझसे परामर्श पूछा करती थी। भाँति-भाँति के अलंकार और विविध अतलसी वस्त्र-प्रावरणों में उसकी बहुत रुचि थी। वस्त्रालंकारों का उसका चयन बहुत ही बढ़िया रहता था और वे उस पर फबते भी थे। मैं तो नित्य उसे कहा करती थी, "परिधान किये गये इन वस्त्रालंकारों का सौन्दर्य तुम्हारे कारण और भी निखर उठता है।" प्रशंसा उसको बहुत प्रिय थी। स्व-रूप की सुखद कल्पना से उसके गाल झट से कोकम फल की भाँति रक्तिम हो जाते थे। किन्तु ऐसी प्रसन्न मन:स्थिति के समय वह सरलता से कह जाती थी, "परन्तु इसका क्या लाभ महाराज्ञी? अन्तत: हम तो दूसरे स्थान पर हैं! गुरुपत्नी और दोनों माताएँ तो आपकी ही सरलता, सात्त्विकता का नित्य गुणगान करती रहती हैं!"

उसका बड़ी कुशलता से जानबूझकर जाम्बवती को तीसरे स्थान पर ठेलना जानते हुए भी अनभिज्ञ बनकर मैं उसके कन्धे प्रेमपूर्वक थपथपाते हुए पूछती थी, "कितना सरल स्वभाव है न जाम्बवती का? किसी वन-झरने के समान! उससे बहुत-कुछ सीखा जा सकता है न? क्या वह यादवकन्या नहीं है, इसलिए इतनी सरल-हृदया है?"

मेरे कहने का अभिप्राय उसके ध्यान में ही नहीं आता था। 'हँ...जंगली...' कहकर नाक-भौं सिकोड़ती, अपने बुँदकीदार वस्त्र को झटकती हुई, अकड़कर वह चली भी जाती थी।

मैं हँसकर उसकी जाती हुई आकृति की ओर देखती ही रहती थी। मैं जान गयी थी कि यह अध्याय तो श्रीजी को भी भारी पड़नेवाला है। अब मुझे ही कुछ-न-कुछ करना होगा। यादवों की महाराज्ञी के नाते इसका कुछ उपाय करना अनिवार्य था। मुझे विश्वास था कि मेरे समक्ष वह कुछ भी ऐसी-वैसी बात नहीं करेगी।

अन्त:पुर के द्वीप पर निर्माण किये गये प्रासादों में से तीन प्रासाद अब बस गये थे। वे सेवक-सेविकाओं के आवागमन से सजीव हो उठे थे। किन्तु हमारे प्रासादों के आसपास ही निर्मित अन्य पाँच प्रासाद अब तक रिक्त ही थे। वहाँ नित्य साज-सँभाल करनेवाले सेवक-सेविकाएँ तो थीं परन्तु उन प्रासादों की स्वामिनियों के नाते वहाँ किसी का भी निवास नहीं था। यह बात मेरी दोनों

बहनों के ध्यान में अब तक तो नहीं आयी थी। आवश्यकता होने पर समय-समय पर उन दोनों को समझाने की पहल मुझे ही करनी पड़ेगी।

मेरे प्रथम प्रणिपात के समय ही वास्तुशास्त्रज्ञ गर्ग मुनि ने आशीर्वाद के साथ-साथ मुझे सूचक संकेत भी किया था, "यादवकुल की महाराज्ञी, शुभं भवतु–अष्टपुत्र सौभाग्यवती भव–यह तो आप का अधिकार ही है परन्तु 'अष्टवास्तुपालिका भव' यह मेरा विशेष आशीर्वाद है।" भविष्य का अनुमान करके ही उन्होंने द्वीप पर राज्ञी-कक्ष के लिए आठ प्रासादों का निर्माण किया था। उनका एक सुरचित-सा उपनिवेश ही बसाया गया था। आमने-सामने चार-चार प्रासाद और उनके मध्य विस्तृत, उत्तुंग श्री-प्रासाद। इन सभी प्रासादों के गवाक्षों में से सागर के दर्शन होते थे। सम्भवत: श्रीजी निवास करने के लिए राज्ञी-कक्ष के द्वीप पर ही आया करते थे। कभी-कभी आद्य द्वारिका में भी उनका निवास होता था। जब वे द्वारिका से बाहर, सागर-पार चले जाते थे तब महीनों उनके दर्शन नहीं होते थे। तब उनकी केवल प्रतीक्षा और अविरत सुनाई देता सागर-गर्जन ही हमारा जीवन बन जाता था।

श्रीजी दोनों द्वीपों में जहाँ भी हों, उनकी दिनचर्या निश्चित हुआ करती थी। ब्राह्ममुहूर्त से एक घटिका पहले ही संगीत-कुशल चारणगण चारों वेदों में से ऋचाओं और स्तवनों का गान नाद-मधुर स्वरों में किया करते थे। उनके सुस्वर, नादमय कल्लोल में से भी कौओं की पहली काँव-काँव न जाने कैसे उनको ही सुनाई देती थी। उसी के साथ अचूक ब्राह्ममुहूर्त पर वे जाग जाते थे। अपने भावार्द्र मत्स्यनेत्रों से प्रथम कर-दर्शन किया करते थे। करतल पर अंकित सूक्ष्म रक्तिम रेखाओं को निहारा करते थे। करतल पर दिखते राजचिह्नों का निरीक्षण करते हुए उनके मुख पर हास्य की विविध तरल छटाएँ झलकती थीं। फिर अपनी अंगभूत विनम्रता से भूमि-वन्दन करने के पश्चात् स्वर्णिम पात्र में रखे मीठे जल का वे अँगुलियों से नेत्रों को स्पर्श कराते थे। पर्यंक पर बैठे-बैठे वे पद्मासन लगाकर, आँखें मूँदकर कुछ समय तक परमात्मा का ध्यान करते थे। इसी समय मन-ही-मन वे सुदर्शन के दिव्य मन्त्रों का भी स्मरण करते थे। ऐसे समय कभी-कभी मुझे ही उनके दुष्प्राप्य दर्शन हो जाते थे। कितना तेजस्वी दिखाई देता था उनका ध्यानरत मुखमण्डल! इसके प्रश्चात् वे अपनी स्फटिक-धवल दंत-पंक्ति को हरीतकी, विभीतक और नीम के पत्तों के मिश्र चूरण से माँजते थे। सुरभित जल से मुख-प्रक्षालन करते थे। कुछ समय श्वासों पर नियन्त्रण रखनेवाले योगासनों के व्यायाम करते थे। इस समय उनके विश्वासपात्र, चुनिन्दा सेवक-सेविकाएँ ही उनकी सेवा में उपस्थित रहती थीं।

उनकी स्नान-विधि भी एक उत्सव ही हुआ करती थी। प्रशस्त स्वर्णिम कलशों को आनर्त की विविध नदियों के उष्ण, समशीतोष्ण और शीतल जल से भरा जाता था। अलग-अलग, छोटे-बड़े सुनहरे कटोरों में भाँति-भाँति के सुवासित उबटन रहते थे। गोवर्धन की खानों में से लायी गयी, छानकर करंज के तैल में सानी हुई पुष्टिकारी ताम्रवर्ण मृत्तिका रहती थी। ग्रीवा, वक्ष और एड़ियाँ रगड़ने के लिए, गण्डकी नदी में से लायी काले रंग की पाषाण-चिप्पियाँ रहती थीं। शरीर पर मृत्तिका और उबटन का लेप करने के पश्चात् वे उसे सुवासित जल से धो डालते थे। तत्पश्चात् सौराष्ट्र की गायों का गाढ़ा धारोष्ण दूध मिलाये हुए जल से स्नान करते थे। अन्तत: सेवक-सेविकाएँ स्वर्ण-कुम्भों से उन पर सुगन्धित, शीतल जलाभिषेक किया करती थीं। उस जलाभिषेक को आँखें मूँदकर अपने मस्तक पर धारण करते हुए वे अपने-आप से कुछ मन्त्र बुदबुदाया करते थे। सम्भवत: वह सुदर्शन के दिव्य मन्त्रों का मद्धिम उच्चारण होता होगा।

उनकी स्नान-सेवा में रहनेवाले सेवक-सेविकाओं को आपस में खुसुर-फुसर करते हुए मैंने कई बार सुना है–"मस्तक पर जलाभिषेक धारण करते हुए द्वारिकाधीश सोमनाथ मन्दिर के गर्भागार में स्थित शिव-पिण्डी के समान दिखते हैं!"

इस प्रकार सुस्नात होकर राजवेश धारण करके, वक्ष पर प्रफुल्लित वैजयन्तीमाला और मस्तक पर मोरपंख-मण्डित स्वर्णिम मुकुट धारण किये श्रीजी को देखने पर कई बार मुझे वे पश्चिम सागर से ऊपर उठनेवाले तेजोमय सूर्यदेव के समान प्रतीत हुए थे।

कभी-कभी वे देवरजी उद्धव, बलराम भैया सात्यकि सहित समुद्र-स्नान के लिए जाते थे। परन्तु वहाँ स्नान-विधि का कोई भी उपचार नहीं हुआ करता था। वातायन से वे प्रथम सभी के साथ समुद्र-पूजन करते हुए सुदूर दिखाई देते थे। फिर पंक्ति में खड़े रहकर अपने साथियों के साथ देर तक सूर्य को समुद्र-जल से अर्घ्य देते हुए दिखते थे। तैरने के लिए जब वे जल में उतरते थे, तो बचपन में यमुना में जिस प्रकार जलक्रीड़ा करते थे उसी प्रकार यथेष्ट जलक्रीड़ा करते थे। जिस दिन सवेरे समुद्र-स्नान करके वे सूर्य को अर्घ्यदान दिया करते थे, उस दिन सन्ध्या समय भी वे समुद्र में से ही अर्घ्यदान दिया करते थे।

स्नान के पश्चात् वे प्रथम माता-पिता के साथ-साथ सभी ज्येष्ठ व्यक्तियों के दर्शन किया करते थे। सन्ध्योपासना करने के बाद स्वर्ण-कुम्भ से धारोष्ण दूध पीते। पुरोहितों के मन्त्र-पठन के साथ अग्नि को हवि अर्पण, फिर उसके बाद अपने साधना-कक्ष से दिखते उदीयमान सूर्य का पूजन करते थे। दर्भासन पर बैठकर एकाग्र चित्त से, नम्र भाव से सवितृ मन्त्र का पुरश्चरण करते थे। देवों और पूर्वजों के साथ-साथ कुल के ऋषियों को समन्त्र तर्पण देने के पश्चात् नानाविध वस्तुओं का दान-सत्र आरम्भ होता था। आरम्भ में मैं अकेली ही दान देने के लिए श्रीजी के निकट बैठा करती थी। फिर अपने-आप ही मेरे ध्यान में आया कि मेरी दोनों बहनों को भी इस विधि में सहभागी बनाना आवश्यक है। तब दान-सत्र के समय उन दोनों के स्वर्णिम आसन भी सजाये जाने लगे।

दान-सत्र के पश्चात् श्रीजी राजसभा के लिए सशस्त्र राजवेश धारण करते थे। कभी-कभी वे कन्धे पर अजितंजय धनुष लटकाते थे। पीठ पर तूणीर रहता था। कभी उनके हाथ में काले रंग का लम्बा, चिकना, सीसम का सौनन्द मूसल होता था। कभी उनके कन्धे पर स्वर्णलेप की गयी गोल, डौलदार, कौमोदकी गदा रहती थी। कभी वे कटि में केवल कोशावृत खड्ग बाँधकर निकलते थे। श्रीजी को इन विविध रूपों में देखना ही मेरा छन्द और आनन्द था।

सुधर्मा सभा में जाने से पहले हम दोनों प्रशस्त स्वर्णथाल में रखे घृत के दर्पण में मुख-दर्शन करते थे। बैठक-कक्ष में रखे आसन पर बैठकर हम दोनों पौरजन, सेवकजन, सैनिक और विविध दल-प्रमुखों का सुख-दुःख सुनते थे। जिनकी जैसी आवश्यकताएँ होती थीं, उनको पूरा करते थे। द्वारिका जनपद के लिए जिसने कुछ विशेष पराक्रम किया हो, उसको वस्त्र-अलंकार, अश्व, गज देकर उसका सम्मान करते थे। यदि किसी व्युत्पन्न, प्रज्ञावन्त ऋषि-मुनि का आगमन हुआ हो, तो उनको सवत्स गायों का दान और आश्रम के लिए धान्य आदि दिया जाता था।

पौरजनों के इन मेल-मिलापों में श्रीजी का एक प्रमुख, गुण विशेष मुझे तीव्रता से प्रतीत होता रहा–अपार प्रेम का, निरपेक्ष स्नेह का। मेरे अन्तर्मन पर अनजाने में जैसे उनकी एक राजमुद्रा ही अंकित हो गयी–श्रीजी सर्वप्रथम साक्षात् प्रेम हैं–विशुद्ध प्रेम, तत्पश्चात् और कुछ!

प्रात: समय के नित्यकर्मों से निवृत्त होकर वे आद्य द्वारिका की ओर प्रस्थान करते थे। इस समय उनके साथ बलराम भैया, उद्धव जी, सेनापति सात्यकि अथवा अनाधृष्टि और अमात्य विपृथु अवश्य हुआ करते थे। कभी-कभी इनमें मन्त्रिपरिषद् के किसी सदस्य के स्थान पर कोई अपरिचित अभ्यागत दिखाई देता था। कभी-कभी श्रीजी का सामीप्य प्राप्त किये हुए असित देवल, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, गृत्समद, याज-उपयाज में से कोई ऋषि-मुनि उनके साथ दिखते थे तो कभी उनके साथ कलाकारों में से कोई गायक, नर्तक अथवा शिल्पकार हुआ करता था। जनपद द्वारिका के कुशल और चतुर गुप्तचर आर्यावर्त की चारों दिशाओं में नित्य भ्रमण करते रहते थे। ऐसे समय किसी विभाग का गुप्तचर श्रीजी से कर्णवार्त्ता कर लेता था। कोई गुप्त वार्त्ता उन तक पहुँचाकर उनकी आज्ञा और सूचनाएँ प्राप्त कर लेता था। सर्वाधिक दर्शनीय दृश्य होता था उनके एकमात्र प्रिय सारथि दारुक का उनके समक्ष उपस्थित होना। हाथ जोड़कर अभिवादन करके जैसे ही दारुक उनसे गरुड़ध्वज में आरूढ़ होने की प्रार्थना करता था, वे पूर्णत: रथ के हो जाते थे। दारुक को झुककर अपने चरणस्पर्श करने का अवसर ही न देते हुए वे आश्वासक स्नेह से उसके दोनों हाथ अपनी हथेली में ले लेते थे। तत्पश्चात् वे रथ के मेघपुष्प, बलाहक, सुग्रीव और शैव्य—इन चारों शुभ्र-धवल अश्वों को उनके नाम से पुकारते थे। उनमें से किसी की अयाल झँझोड़ते थे तो किसी की पूँछ हलके से मरोड़ते थे। किसी के उन्नत, पुष्ट पुट्ठे पर सशक्त धौल जमाते थे। हिनहिनाते हुए, अपना सम्पूर्ण शरीर झँझोड़ते हुए, कान खड़े करके जैसे ही वह अपना हर्ष व्यक्त करता था, श्रीजी की एक अज्ञात-सी अश्वगीता इस प्रकार आरम्भ होती थी, मानो अपने-आप से ही कुछ कह रहे हों। उस अश्वगीता के एक शब्द का भी ज्ञान किसी को नहीं होता था—होनेवाला भी नहीं था। किन्तु उसे सुननेवाले, कान खड़े किये, फूल उठे वे निरीह मूक प्राणी मुझे कुछ अलग ही दिखाई देते थे। टकटकी लगाकर वह विलोभनीय दृश्य अपने भवन के गवाक्ष से मैंने कई बार आँख भरकर देखा है। शुभ्र-धवल अश्व के पुष्ट पुट्ठे पर रखा श्रीजी का नीलवर्ण, स्नायुबद्ध हाथ दृष्टि को बाँधकर रखता था। कैसा दिखता था वह? बहुत सोचने पर भी कोई उपमा नहीं सूझी मुझे।

रथारूढ़ श्रीजी के हाथ उठाकर संकेत करते ही दारुक गरुड़ध्वज की वल्गाओं को झटककर अश्वों को प्रोत्साहक हँकारता था। फिर नीलाकाश में काषाय ध्वजा की फहराती रेखा को अंकित करते हुए श्रीजी का रथ दौड़ने लगता। अब सन्ध्या समय तक अन्त:पुर का द्वीप सूना-सूना लगेगा, इस प्रतीति से, एक अव्यक्त उदासीनता से मन भर आता था। यादवराज दिन-भर सुधर्मा राजसभा के कामकाज में मग्न रहते—थे। वे द्वीप पर आकर बसे तो थे, फिर भी आर्यावर्त के निवासियों से अलग नहीं हुए थे,—हो ही नहीं सकते थे। कौन-कौन आकर उनसे मिलते थे, कैसी-कैसी कठिन समस्याएँ उनके समक्ष रखते थे, इसके रोचक वृत्तान्त देवरजी उद्धव से मुझे ज्ञात हो जाते थे। कभी-कभी उत्सुकता से अनेकानेक प्रश्न पूछकर मैं उनसे वह निकलवा लेती थी। विशेष बात यह थी कि उद्धव जी मुझे देवर की अपेक्षा भ्राता ही अधिक लगते थे। दिखते भी थे वे मेरे ही सदृश! द्वारिका के सभी यादवों में यही एकमात्र यादव ऐसा था, जो मुझे श्रीजी की छाया ही लगता था। श्रीजी की वाणी मधुर मुरली समान थी—उद्धव जी की भी! परन्तु दोनों में एक सूक्ष्म भेद था। वाणी की मुरली श्रीजी बजा रहे हैं, ऐसा कभी नहीं लगता था—वह स्वभावत: ही बज रही है, यही आभास होता था; परन्तु उद्धव जी उसे बजा रहे हैं, ऐसा अनुभव होता था। औरों का पता नहीं, मुझे तो ऐसा ही लगता था। दोनों की वाणी मुझे बहुत ही अच्छी लगती थी। उनकी बातों में बिना कोई

बाधा डाले उन्हीं की बातों को सुनने को जी करता था।

बलराम भैया की तो बात ही अलग थी। कभी-कभी वे उन दोनों की बातों को एक झटके में सीधे उड़ा ही देते थे। कुछ समय पश्चात् स्वयं उन्हें ही लगता था कि उनसे कुछ भूल हो गयी है। ज्येष्ठ होने के कारण वे क्षमा-याचना तो नहीं कर सकते थे, लेकिन ऐसी स्थिति में बड़ी कुशलता से वे उन दोनों को 'अभी बच्चे हो—अनजान हो' कहते हुए ग्रीवा को पीछे झटककर खिलखिलाकर हँस देते थे। मैं समझ जाती थी कि यह हँसी ही उनकी क्षमा-याचना है। उनको इस प्रकार हँसते देख अवश्य मेरे मन में एक विचार-तरंग उठती थी—क्या श्रीजी और देवरजी उद्धव कभी इस प्रकार हँसेंगे? और यदि हँस दिये, तो कैसे दिखाई देंगे?

सन्ध्या समय भाँति-भाँति के सागर-पाखी चहचहाते हुए अपने-अपने नीड़ों की ओर लौटने लगते। सूर्य-तेज के अस्त होने के समय श्रीजी का रथ अन्तःपुर के द्वीप की ओर लौटता था। दारुक उसको अश्वशाला में ले जाता था। कभी-कभी राजनीति की कोई कठिन समस्या श्रीजी के सम्मुख खड़ी हो जाती थी। तब वे किसी नाविक-यादव को नौका समुद्र में डालने का आदेश देते थे। ऐसे समय बलराम भैया, अमात्य विपृथु, सात्यकि, अनाधृष्टि अथवा कृतवर्मा—इनमें से जो कोई उस समस्या से सम्बद्ध रहता था, श्रीजी के साथ हुआ करता था। परन्तु ऐसा भूलकर भी नहीं होता था कि उद्धव जी श्रीजी के साथ न हों। उस समय उस नौका पर ऐसी शुभ्र-धवल पताका चढ़ायी जाती थी, जो दूर से भी स्पष्ट दिखाई दे। नौका सागर में डालने से पहले नाविक शंख से जो समुद्र-गर्जन जैसा परन्तु स्पष्ट सुनाई देनेवाला बोल निकालता था, उसकी लय सम्पूर्ण द्वीप में गुंजित हो उठती थी। उसका स्पष्ट संकेत होता था कि इस समय द्वारिकाधीश सागर में तैरती नौका के सुरक्षित मन्त्रणा-कक्ष में राजनीति के किसी महत्त्वपूर्ण परामर्श में उलझे हुए हैं। परन्तु इस मन्त्रणा की भनक भी कभी किसी के कानों में नहीं पड़ती थी।

सामान्यत: सन्ध्या समय निष्णात आचार्यों के साथ उनका असिचर्या, अश्वचर्या, गजचर्या, रथचर्या, धनुर्वेद आदि का अभ्यास तब तक चलता रहता था, जब तक वे स्वेदसिक्त न हो जाएँ। सूर्यास्त के समय वे सन्ध्या के लिए दर्भासन ग्रहण करते थे। फिर इडादेवी का स्मरण करके यादवों का परम्परागत ईश-स्तवन होता था। उसके पश्चात् वे रात्रि का भोजन करते थे। वह भी एक समारोह ही हुआ करता था। दधि-दूध से बनाये गये व्यंजन उनको बहुत प्रिय थे। गुलगुला ओदन, जौ की रोटियाँ और चटनी वे बड़े चाव से खाते थे। बलराम भैया, सात्यकि आनर्त-सौराष्ट्र में उतरकर जो मृगया लाते थे, उसका भी स्वाद वे लेते थे। भोजन के समय अन्य जनों का ध्यान रखकर वे स्वयं विशेष व्यंजन उनको परोसने को कहते थे। किन्तु स्वामी स्वयं आवश्यकता से अधिक एक कण भी नहीं ग्रहण करते थे।

भोजनोपरान्त वे परिवार के प्रमुख स्त्री-पुरुषों से सुख-दुःख की बातें करते थे। आचार्य-पुरोहितों के साथ वेद-वेदान्त, शास्त्र-पुराण, नृत्य-संगीत आदि समयानुसार चर्चा में आनेवाले विषयों पर सांगोपांग विचार-विमर्श करते थे। तात वसुदेव, बड़ी और छोटी माँ, बलराम भैया, युवराज्ञी रेवतीदेवी और उद्धव के साथ वे दूसरे दिन होनेवाले धार्मिक और पारिवारिक कार्यों की चर्चा करते थे। कभी मेरे साथ, कभी भामा के साथ तो कभी जाम्बवती के साथ वे चौपड़ भी खेलते थे। इस खेल के विषय में मैंने जो जानकारी प्राप्त की थी, वह बड़ी मनोरंजक थी। भामा अथवा जाम्बवती के साथ खेल में श्रीजी कभी हारे नहीं थे, परन्तु मेरे साथ खेलते समय उन्होंने कई बार

हार मानी थी।

द्वारिका के प्रमुख चौक में जैसे ही समय-पालक लौह-थाल पर ठनठनाकर रात्रि के द्वितीय प्रहर के आरम्भ की सूचना देता था, श्रीजी जहाँ भी होते–मोहक मुस्कान के साथ हाथ जोड़कर आसपास के लोगों को सूचित करते थे कि 'आज का कर्मयोग समाप्त हुआ है। अब मैं तुम्हारा नहीं हूँ।' उनकी हँसी में इतनी मिठास होती थी कि उन्हें आगे कुछ भी कहने की आवश्यकता ही नहीं रहती थी। जो भी उनके पास होता था, संकेत जानकर, उनके शयन-कक्ष की ओर मुड़ने से पहले ही शीघ्रता से उनके चरणस्पर्श करने का अवसर पा लेता था। अपने शयन-कक्ष की ओर लौटते समय श्रीजी के मुखमण्डल पर दिन-भर बीते सुख-दुःख के क्षणों की झाँकी अस्पष्ट-सी भी नहीं दिखाई देती थी। मुझे तो वे सन्ध्या समय सागर-जल में अस्त होते सूर्यदेव के समान ही लगते थे। उनके शयन-कक्ष में चले जाने के पश्चात् चारणगण निद्राराधन का संक्षिप्त-सा स्तवन-गान आरम्भ करते थे। मेरे अपने कक्ष में होते हुए भी मैं अनुभव करती थी कि श्रीजी का उस स्तवन-गान की ओर तनिक भी ध्यान नहीं होगा। पर्यंक पर आसीन होकर स्वयं उन्होंने नित्य स्तवन किया होगा–'ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यान् जगत्... यह चराचर विश्व परमात्मा का निवास-स्थान है...' कहते-कहते वे गहरी परन्तु सजग निद्रा के अधीन भी हुए होंगे।

द्वारिका जनपद को अब सम्पूर्ण आर्यावर्त एक वैभवशाली, सामर्थ्यशाली सत्ता केन्द्र मानने लगा। रेवती दीदी के साथ-साथ हम तीनों–मैं और मेरी दोनों बहनें अपनी सेवक-सेविकाओं समेत द्वीप द्वारिका में बस गये। बड़ी और छोटी माँ वृद्धावस्था के कारण मूल द्वारिका में ही रह रही थीं। अब मूल द्वारिका के साथ-साथ द्वीप द्वारिका का डंका सर्वत्र बज रहा था। इस द्वीप को तो अब सब लोग 'महाराज्ञी रुक्मिणी का द्वीप' कहने लगे थे। यहाँ सारी सुख-सुविधाएँ हमारे सम्मुख हाथ जोड़कर खड़ी थीं। परन्तु मेरे लिए तो श्रीजी का नित्य-दर्शन ही सबसे बढ़कर था। मेरी बहनों का–जाम्बवती और भामा का साहचर्य तो मुझे बड़ा ही आश्वासक लगता था। हाँ, कभी-कभी मेरे खोये हुए पुत्र की स्मृति टिटिहरी के कर्कश स्वर के समान मन को व्याकुल कर देती थी–श्रीजी ने कहा है कि उसको तनिक भी क्षति नहीं पहुँचेगी। उचित समय पर वह लौट आएगा। इस समय कहाँ होगा वह? अब कैसा हुआ होगा?–ऐसे कई प्रश्न मेरा पीछा करते। अपने मन का यह घाव मैंने अपनी दोनों बहनों के सम्मुख कभी खोलकर नहीं दिखाया। व्यर्थ ही उनके सुखी जीवन में बाधा डालना मैंने उचित नहीं समझा।

सत्यभामा द्वारिकावासी और यादवकन्या थी, अत: सब-कुछ जानती थी। कभी-कभी इस विषय में मुझसे कुछ पूछने हेतु वह कहने लगती–"दीदी, आपसे मर्म की एक बात कई बार पूछना तो चाहा, परन्तु वह मन में ही रह जाती है..." कहते-कहते वह कुछ और ही कहने लगती थी। मैं जान जाती थी कि स्पष्टत: कुछ पूछने का साहस वह नहीं जुटा पा रही है। मैं भी मुस्कराते हुए विषय-परिवर्तन करती थी, "भामा, द्वारिका के हाट में अश्मक राज्य के प्रतिष्ठान नगर से आये, रौप्यसूत्रों से बुने, सुन्दर, अतलसी वस्त्र-अंशुकों के भण्डार लगे हैं। जाम्बवती को साथ लेकर एक बार हो तो आओ। उसको तो वस्त्रों का कुछ विशेष ज्ञान है ही नहीं; परन्तु उसको अपने साथ अवश्य ले जाना। हमारी बहन के नाते द्वारिकावासियों को उसे देखने-परखने तो दो! ठीक कह रही हूँ न मैं?"

वह हँसकर कहती थी, "आप कह रही हैं, तो ले जाना ही पड़ेगा। परन्तु उसको देखकर

विक्रेता चुनिन्दा, बढ़िया वस्त्र थोड़े ही दिखाएँगे? मैं उसको साथ अवश्य ले जाऊँगी, परन्तु बोलने नहीं दूँगी–ठीक रहेगा न?"

अपना हठ वह कभी नहीं छोड़ेगी, यह बात मन-ही-मन समझते हुए मैं कहती; "जैसा तुम ठीक समझो!"

रेवती दीदी अपने दोनों पुत्रों–निशठ और उल्मुक को जिनकी वय में कुछ विशेष अन्तर नहीं था, लेकर बीच-बीच में मुझसे मिलने आया करती थीं। वे प्राय: अपने पिता के रैवतक राज्य और अधिकतर रैवतक पर्वत के विषय में जी भरकर बातें किया करती थीं। अपने नैहर के राजप्रासाद में रखे, अपने पिता द्वारा मृगया किये हुए सिंहों के पयाल भरे, भयावह मुद्रावाले पुतलों के विषय में भी वे कुछ-न-कुछ कहती थीं। वे बहुत ही वाक्चपल और सुस्वभाव की थीं। वे अपने देवरों–गद और सारण को भी सराहती रहती थीं। वे उलाहना देती थीं तो केवल बलराम भैया के बारे में,–वह भी बड़ा मनोरंजक! बड़ी सावधानी से आसपास कोई है तो नहीं, इसकी आहट लेकर वे कहती थीं–"क्या बताऊँ तुम्हें रुक्मिणी, कैसे खर्राटे भरते हैं स्वामी! अच्छा है कि निरन्तर गर्जन करता सागर समीप है, वरना नित्य रात्रि तुम लोग चली आती हमारे भवन की ओर!" उनकी बातें सुनकर मुझे हँसी आती। मैं जानबूझकर बलराम भैया का पक्ष लेकर उनसे कहती, "बहुत ही भोले-भाले हैं हमारे भैया। आपको उनके खर्राटे भरने की चिन्ता पड़ी है, परन्तु मेरे स्वामी की भाँति दो-दो सपत्नियों की आपत्ति में तो नहीं डाला है न उन्होंने आपको?" उस क्षण वह निरुत्तर हो जातीं, परन्तु शीघ्रता से अपने देवर का पक्ष लेती हुई कहतीं, "देवरजी के बारे में कुछ न कहना रुक्मिणी। तुम्हारे स्थान पर मैं होती तो और भी चार-पाँच सपत्नियों को स्वीकार करती!" अपने देवर के लिए उनके मन में निष्कलुष प्रेमभाव ही था।

एक बार इसी प्रकार बातों-ही-बातों में रेवती दीदी ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही। उनके पिता–महाराज ककुद्मिन–मध्यदेश स्थित प्रयाग से यदा-कदा आनेवाले किसी ऋषि की बड़े आदर से आवभगत किया करते थे। उन्होंने उन ऋषिवर के लिए रैवतक पर्वत पर एक आश्रम ही स्थापित कर रखा था। कहा जाता था कि वे ऋषि पूर्वाश्रम में यादववंशी थे, शूरसेन राज्य की मथुरा नगरी से थे। श्रीजी और बलराम भैया के वे निकट सम्बन्धी थे। सम्भवत: महाराज ककुद्मिन के अतिरिक्त किसी को यह बात ज्ञात नहीं थी। यादवों के इस सर्वसंग-परित्यागी पुरुषश्रेष्ठ ने हिमालय में जाकर अंगिरस ऋषि की निष्ठापूर्वक सेवा करके उनसे दीक्षा ग्रहण की थी। मूलत: क्षत्रिय, यादववंशी इस दीक्षा के कारण आंगिरस बने थे। प्रयाग के परिसर में वे 'घोर-आंगिरस' के नाम से विख्यात थे। यूँ ही मन करता था कि कभी-न-कभी अवश्य इन ऋषिवर से भेंट हो।

हम सभी स्त्रियों में सुभद्रा छोटी थी। रेवती दीदी और मैं– हम दोनों की वह लाडली थी। वह थी ही ऐसी गुणवती! स्वयं श्रीजी ने ही उसका नाम रखा था–सुभद्रा। उनको तो वह अति प्रिय थी। उसकी इच्छाओं और भावनाओं का तो वे बहुत ही ध्यान रखते थे। कभी-कभी वे अनुरोधपूर्वक दूर गोकुल में रहनेवाली अपनी दूसरी लाडली बहन एकानंगा की बातें करते थे। आग्रह से कहते थे, "सुभद्रा, दाऊ के साथ एक बार तुम गोकुल हो आओ, एकानंगा से मिल लो। और हाँ, आते समय उसको अपने साथ लेकर ही आना।" यह सुनकर भोली-भाली सुभद्रा स्वीकृति-सूचक सिर हिलाती थी। मैंने जब दो-तीन बार श्रीजी को सुभद्रा से यही बातें कहते सुना, तब बीच ही में मैंने उनको टोका–"सुभद्रा के साथ बड़े भैया को ही जाने की क्या आवश्यकता है? आप भी तो जा

सकते हैं सुभद्रा के साथ गोकुल! अपने सभी प्रियजनों से मिलकर आप ही ले आइए अपनी प्रिय बहन को!"

मेरा संकेत राधा की ओर है, यह जानकर श्रीजी हँसकर कहते, "मैं तो अब गोकुल जाने से रहा। कितना काम पड़ा है यहाँ।" साधारणत: वे कभी गम्भीर नहीं हुआ करते थे। परन्तु बातों-बातों में जब भी गोकुल का केवल उल्लेख भी होता था, श्रीजी के मुख पर उदासी की एक सूक्ष्म-सी लहर दौड़ती थी। मुझे वह शीघ्र ही प्रतीत होती थी। हमने कभी गोकुल अथवा राधा के विषय में बातचीत नहीं की थी। परन्तु ऐसे समय श्रीजी की ओर देखकर मेरे मन में तीव्रता से विचार आता था–यमुना-तट का श्रीजी का प्रिय गोकुल मैं भी तो देख लूँ एक बार! 'श्री-सखी' राधिका से मिलकर, उसके हाथ अपने हाथों में लेकर उससे मन की कुछ कह लूँ, मन की कुछ सुन लूँ!

श्रीजी की चार बुआएँ थीं–राजाधिदेवी, श्रुतश्रवा, श्रुतदेवा और कुन्तीदेवी। इनमें से कुन्तीदेवी के प्रति तात महाराज और श्रीजी के मन में कुछ विशेष ही स्नेह था। उनके कारण बलराम भैया और अन्य यादवों के मन में भी वही स्नेहभाव था और उसका कारण भी उचित था। कुन्तीदेवी अपने बचपन से ही विलक्षण विपदाओं का और विपरीत परिस्थितियों का सामना करती आयी थीं। मैंने तो अब तक इन चारों में से किसी को भी नहीं देखा था। उनके विषय में केवल सुना ही था। सबके मन में कुन्तीदेवी के प्रति झरते आदरयुक्त प्रेमभाव को मैंने अनजाने में ही अनुभव किया था। कभी न देखे उस दृढ़मना कुरु कुलस्त्री के लिए मेरे मन में भी प्रेमादर का निर्माण हुआ था। गोकुल की भाँति ही हस्तिनापुर भी, एक बार ही क्यों न हो, जाने को मन करता था– केवल कुन्तीदेवी के दर्शनों के लिए। परन्तु ऐसा संयोग कभी हुआ ही नहीं।

इसी बीच आनन्दमय राजनगरी द्वारिका को जड़मूल से हिला देनेवाला असहनीय कटु समाचार पश्चिम सागर को पार कर आ धमका–"वारणावत के अरण्य में कुन्तीदेवी अपने पाँचों पुत्रों सहित अग्नि का भक्ष्य बन गयीं। अग्निज्वालाओं में झुलसे हुए, न पहचाने जानेवाले उनके मृत देह दग्ध भवन में पाये गये हैं; और हस्तिनापुर लाने की स्थिति में न होने के कारण वारणावत में ही उनका दाह-संस्कार किया गया है। उनके एकनिष्ठ सेवक पुरोचन का भी मृत देह पाया गया है और उसका भी दाह-कर्म वहीं किया गया है। राजनगर हस्तिनापुर शोकसागर में डूब गया है। महाराज धृतराष्ट्र युवराज दुर्योधन की सहायता से गंगा-तट पर तिलांजलि, तर्पण देने की विधि सम्पन्न करेंगे। इसके लिए द्वारिका के युवराज बलराम, द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण और अन्य प्रमुख यादवों की हस्तिनापुर में उपस्थिति प्रार्थनीय है।"

ध्वजदण्ड पर फहरता हुआ यादवों का वैभवशाली गरुड़ध्वज आधा नीचे उतारा गया। द्वारिका के निर्माण के पश्चात् पहली बार मरणाशौच में व्याकुल सुधर्मा राजसभा आमन्त्रित की गयी। कोई भी, किसी से भी, कुछ भी बात करने की मन:स्थिति में नहीं था। प्रिय बहन की मृत्यु के समाचार से शोक-सन्तप्त महाराज वसुदेव और महाराज्ञी आज राजसभा में उपस्थित नहीं थे। दोनों मूल द्वारिका के राजप्रासाद में शोक-व्याकुल, जड़वत् बैठे थे। उनको सान्त्वना देकर ही बलराम भैया के साथ श्रीजी राजसभा में पधारे थे। रेवती दीदी सास-ससुरजी की सेवा में रही थीं। परन्तु श्रीजी के 'चलो' कहते ही मैं रथारूढ़ हुई थी। आते समय फुसफुसाते हुए परन्तु दृढ़ता से उन्होंने जो कहा था, मैं भी वही सोच रही थी–"रुक्मिणी, मुझे नहीं लगता कि इस सूचना में कुछ तथ्य होगा। यह दुर्योधन, शकुनि की महाराज धृतराष्ट्र की आड़ में कोई कुटिल, राजनीतिक चाल होगी। नहीं–

गदावीर भीम को जीवित जलानेवाली ज्वालाएँ मेरी आँखों के सामने आ ही नहीं रहीं!"

प्राप्त समाचार से उपजी उस कठिन स्थिति में भी श्रीजी की हस्तिनापुर के विषय में सूक्ष्म जानकारी देख मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ।

कुरुओं के सम्बन्धी यादवों की शोक-व्याकुल सुधर्मा राजसभा में अमात्य विपृथु ने राजदण्ड उठाकर सन्तुलित शब्दों में निवेदन किया—"हमारे महाराज वसुदेव की बहन कुन्तीदेवी अपने पाँचों पुत्रों सहित वारणावत के अरण्य में अग्नि का भक्ष्य बन गयी हैं। उनकी दुर्दैवी अकाल मृत्यु से इस राजसभा को मरणाशौच हुआ है। समस्त यादवों की ओर से मृतकों को तिलांजलि देने के लिए युवराज बलराम और द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण हस्तिनापुर जाएँगे। राजसभा इसी क्षण विसर्जित की जाती है।"

कुछ ही क्षणों में राजसभा विसर्जित हो गयी। बलराम भैया और श्रीजी ने सीधे वहीं से दारुक सहित हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान किया। अब चौदह दिनों तक तो द्वारिका में किसी भी वाद्य की ध्वनि गूँजनेवाली नहीं थी। मन्दिरों में देवताओं की पूजा नहीं होनी थी। बड़ा विचित्र अवसर था यह।

एक सप्ताह बीता। श्रीजी ने रथ में जिस शंका का उच्चारण किया था, मैं उसी पर विचार करती रही। 'पाण्डव और पाण्डव-माता के सम्बन्ध में जो सूचना मिली है, उसमें कोई तथ्य नहीं है।' ऐसा उन्होंने क्यों कहा होगा? और यदि उन्हें विश्वास है कि यह समाचार मिथ्या है, तो समस्त द्वारिकावासियों को वे इस विषय में अँधेरे में क्यों रख रहे हैं?.....कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था।

हस्तिनापुर से आनेवाले समाचार कुछ अच्छे नहीं थे। मध्यदेश से आनेवाले गुप्तचर-प्रमुख से श्रीजी वे समाचार एकान्त में सुना करते थे। कभी-कभी वे बहुत ही चिन्तित दिखाई देते थे—कहते थे, "आर्ये, कुरुओं का जनपद हस्तिनापुर आर्यावर्त का एक बलवान शक्तिकेन्द्र है। हमारी नवनिर्मित द्वारिका को सदैव उनके साथ स्नेह-सम्बन्ध रखना चाहिए। यादवों के प्रमुख प्रतिस्पर्धी, सामर्थ्यशाली जरासन्ध को मिटाना हो तो हस्तिनापुर को बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। बाह्यत: पाँच दिखनेवाले परन्तु विचारों में एकरूप, संस्कारशील पाण्डवों की योग्यता अधिक है। दुर्योधन और उसके सौ बन्धुओं के साथ एक सौ पाँच कौरवों-पाण्डवों का राज्य भविष्य में कितना सामर्थ्यशाली होगा! परन्तु....परन्तु...." कहते-कहते अचानक वे कहीं खो जाते थे—मानो सुदूर भविष्य में घटित होनेवाली घटनाओं का अनुमान लगा रहे हों। वे गम्भीर हो जाते थे।

द्वारिका को और यादवों को छोड़कर श्रीजी हस्तिनापुर के और कुरुओं के बारे में क्यों सोचते रहते हैं? इतने दूर के राज्य का द्वारिका से क्या सम्बन्ध है? मेरे मन के ऐसे अनेक प्रश्नों के सन्देह-निवारक उत्तर मुझे श्रीजी से बातों-बातों में अपने-आप ही मिल जाते थे। अनजाने में श्रीजी के साथ-साथ मैं भी कुरु-पाण्डवों के विचारों में खो जाती थी। मेरे मन में छिपी तीव्र इच्छा स्वयं ही होठों पर आ जाती, "मुझे भी लगता है कुन्ती बुआ से मिलूँ, उनके आशीर्वाद पा लूँ, पाण्डवों को अपनी आँखों से देखूँ। सौ कौरव बन्धु आपस में कैसा व्यवहार करते हैं इसका अवलोकन करूँ। एक बार ही क्यों न हो, कुरुश्रेष्ठ भीष्म पितामह से जी भरकर बात करूँ। सुना है कि वे परशुराम-शिष्य हैं। फिर भी अवसर आने पर उन्होंने युद्ध में अपने गुरु को परास्त किया है। उन्हीं भगवान परशुराम से अद्भुत तेजचक्र प्राप्त किये मेरे श्रीजी के प्रति पितामह भीष्म का क्या मनोभाव है, यह

जान लूँ।" मेरे मन की बातें सुनकर मुस्कराते हुए श्रीजी कहते, "कितनी संवेदनशील हो तुम रुक्मिणी! मैं भी कुरुश्रेष्ठ भीष्म के दर्शन करना चाहता हूँ। देखते हैं, कब पूरी होती है यह अभिलाषा?"

फिर अपने स्वभाव के अनुसार धीरे-से मेरे विचारों को अन्य दिशा में मोड़ देकर वे कहते, "मुझे आश्चर्य होता है रुक्मिणी, अन्ध महाराज धृतराष्ट्र और अन्धत्व को स्वीकार करनेवाली उनकी महाराज्ञी गान्धारीदेवी के बारे में तो तुम कुछ भी नहीं पूछ रही?"

उनका कहना सत्य था। मेरे मन में उनका ध्यान क्वचित् ही आता था। किन्तु श्रीजी के स्मरण दिलाने पर मैं महाराज धृतराष्ट्र और महाराज्ञी गान्धारीदेवी के बारे में सोचने लगती थी। सौ पुत्रों का पालन उन्होंने कैसे किया होगा? अन्धत्व को स्वीकार कर इतने विशाल राज्य के महासम्राज्ञी-पद का कैसे निर्वाह किया होगा? ऐसे में एक विचार अवश्य मेरे मन को चुभता रहता। श्रीजी की दो बहनें थीं–सुभद्रा और एकानंगा। सौ कौरवों की भी एक ही क्यों न हो, बहन थी–दुःशला। परन्तु पाँचों वीर पाण्डवों की कोई सगी बहन नहीं थी।

हस्तिनापुर में गुरु द्रोण द्वारा आयोजित कौरव-पाण्डवों के भव्य वासन्तिक स्पर्धा का आशादायी समाचार अभी-अभी तो मिला था हमें। इस प्रतियोगिता में नवयुवा, विजिगीषु कौरव-पाण्डवों ने अपने देदीप्यमान विक्रमों से हस्तिनापुरवासियों की आँखों को तृप्त किया था। प्रतियोगिता के अजेय वीर की गौरवमाला अर्जुन के कण्ठ में पहनाने से पहले ही, अचानक क्रीड़ागार में उतरे किसी तेजस्वी युवक ने अर्जुन को सीधे द्वन्द्व का आह्वान करते हुए द्रोणाचार्य का प्रतिरोध किया था। वह था एक सूतपुत्र–कर्ण। गुरु द्रोण के श्यालक कृपाचार्य ने प्रश्न उठाया, "एक राजपुत्र और एक सूतपुत्र में द्वन्द्व कैसे हो सकता है?" उसी क्षण दुर्योधन ने आगे बढ़कर कर्ण को 'अंगराज' पद प्रदान किया और कौरव-पाण्डवों में जो सम्बन्ध होना था, द्वन्द्व-सम्बन्ध आरम्भ हो गया।

इसके कुछ ही समय पश्चात् यह आघात करनेवाला समाचार आ धमका था। वारणावत में कुन्तीदेवी का अपने पुत्रों सहित अग्निसात् होने का समाचार। मृत पाण्डवों और बुआ कुन्तीदेवी को तिलांजलि अर्पित करने के धर्म-कर्तव्य को पूरा करने के लिए श्रीजी बलराम भैया और देवरजी उद्धव को साथ लेकर हस्तिनापुर चले गये। यह श्रीजी की प्रथम हस्तिनापुर-भेंट थी। इस भेंट में क्या-क्या हो सकता है, यह सोचते-सोचते सप्ताह बीत गया। पाण्डवों के उस समाचार के पश्चात् श्रीजी के एकाएक चले जाने से एक असहनीय खालीपन से मेरा मन भर गया था। तात महाराज और देवकी माता को सान्त्वना देकर मैं मूल द्वारिका से लौट आयी। राजपरिवार के ज्येष्ठ सदस्य होते हुए भी वे दोनों मेरा कहना मान लेते थे। मेरा बड़ा आदर करते थे। इससे कभी-कभी मुझे बहुत संकोच होता था। कुछ ही समय में वे मेरे जन्मदाता माता-पिता के समान ही बन गये थे। द्वारिका मेरा नैहर ही बन गयी थी। इसके अनेक कारणों में से यह एक कारण था। असंख्य विपदाओं को झेलने के कारण मेरे वृद्ध सास-ससुर को मनुष्य को परखने की दृष्टि प्राप्त हुई थी। मेरे अनन्तर वन-कन्या जाम्बवती ही कुछ सीमा तक मन से उनके समीप जा सकी थी। मात्र भामा को अभी इसमें सफलता नहीं मिली थी। इस बात का मुझे आश्चर्य भी होता था। मन-ही-मन सोचती थी–कैसे निर्वाह होगा इसका?

उस दिन चीखती-चिल्लाती, आक्रोश करती भामा मेरे कक्ष में ऐसे घुस गयी कि मैं काँप उठी।

मन भी कितना शंकाशील होता है! क्षण-भर के लिए सारे शरीर को जड़वत् कर देनेवाली शंका उभरी। मैं सकपका गयी, कहीं दूर हस्तिनापुर में मेरे श्रीजी को तो कोई हानि नहीं पहुँची? भामा क्या कह रही है, उसे मैं पहले तो ठीक से समझ ही नहीं सकी। वह अथक आक्रोश कर रही थी–"मैं लुट गयी रुक्मिणी दीदी। घात हो गया यादव-महाराज्ञी, अब क्या करूँ मैं?"

मैंने उसकी दोनों भुजाओं को कसकर पकड़ते हुए उसे डाँटा–"चुप हो जाऽ। शान्त हो जा भामाऽ। अब ठीक से कहो, क्या हुआ है?" उसकी साँस उखड़ी थी। कुछ क्षण वह सिसकती ही रही। फिर स्त्री-हृदय को क्षुब्ध करनेवाला, मर्मभेदी कटु सत्य लड़खड़ाते शब्दों में उसके मुख से फूट पड़ा–"क्या कहूँ दीदी, उस दुष्ट ने मेरे निद्राधीन पिता की क्रूर हत्या की है। देवगृह से हमारी स्यमन्तक मणि चुराकर, सैनिक, सेनापति को झाँसा देकर वह नीच भाग खड़ा हुआ है! ले जाना ही था तो केवल स्यमन्तक ही ले जाता वह अधम,–मेरे प्रिय पिता के प्राण क्यों लिये पापी ने–यादव होते हुए भी!"

वह एक-एक शब्द सुनते हुए मेरी दशा भी विचित्र हो गयी थी। श्रीजी के सुरक्षित होने के प्रति आश्वस्त होते ही मैंने साँस छोड़ी, परन्तु ज्येष्ठ यादव–भामा के पिता–सत्राजित जी की हत्या का कटु सत्य स्वीकारते हुए मेरी साँस रुद्ध हो गयी। महाराज्ञी के नाते तीव्रता से मुझे एक ही आभास हुआ कि हमारी द्वारिका में निद्रित यादव की क्रूर हत्या जैसी घोर घटना पहले कभी घटित नहीं हुई थी। अनजाने में ही मेरे भीतर की महाराज्ञी जागृत हो गयी। फिर से भामा की भुजाओं को कसकर पकड़, उसे झकझोरते हुए मैंने पूछा–"किसने किया यह दुष्कर्म? कब?" मेरे गले लगकर, मुझसे लिपटकर एक-एक शब्द का उच्चारण करते हुए उसने कहा, "श-त-ध-न्वा-ने! कल रात!"

उस कटु सत्य को सुनकर मैं तो सन्न रह गयी। यादवों के छोटे-बड़े पराक्रमों का मुझे बड़ा अभिमान था। जरासन्ध के सत्रह आक्रमणों का उन्होंने जिस साहस से सामना किया था, उसका भी मुझे अभिमान था। कहीं का भी क्यों न हो, कोई यादव इस प्रकार की नीच करनी कर सकता है–चोरी और हत्या! यह पहला ही आघात था मेरे लिए।

अन्य समय मेरा तत्पर साथ देनेवाली मेरी प्रज्ञा भामा को सान्त्वना देते हुए मानो मेरा साथ छोड़ गयी थी। सत्राजित जी मानो मेरे ही पिता हों–यह सोचते हुए स्वयं को कहीं खोकर, अपार स्नेह से भामा को थपथपाते हुए मैं कहती रही, "चुप–चुप...शान्त हो जा। अपने पिता के लिए धैर्यशील यादवकन्या-सा आचरण करो। देवी इडा की सौगन्ध है तुम्हें–शान्त हो जाओ! स्वामी को द्वारिका लौटने दो। विश्वास रखो, वे निश्चय ही इस अधम अपराधी को ढूँढ़ लेंगे और कठोर दण्ड भी देंगे।"

"नहीं दीदी–मेरा सारा शरीर जैसे क्रोध से जल रहा है। मैं प्रतीक्षा नहीं कर सकती। आप अमात्य विपृथु को मेरे साथ भेज दीजिए। मैं सीधे हस्तिनापुर जाऊँगी और उनको साथ लेकर ही द्वारिका लौटूँगी।" निश्चयपूर्वक भावावेग का अवरोध करते हुए भामा ने कहा। मैं ही क्या, अब कोई भी उसे रोक नहीं सकता था।

मैंने अमात्य विपृथु को उसके साथ चले जाने का आदेश दिया। रथ और यात्रा के लिए आवश्यक सामग्री लेकर कुछ रक्षकों के दल सहित वह चली गयी। एक ही सारथि को उसने अपने साथ रखा था। आवश्यकता पड़ने पर उसको विश्राम दिलाने के लिए वह स्वयं सारथ्य

करनेवाली थी। पिता सत्राजित के औध्र्व दैहिक विधि का उत्तरदायित्व भी आत्मीयता के अधिकार से वह मुझको सौंप गयी थी।

हमारे राजपरिवार पर जो आकस्मिक विपत्तियाँ आ पड़ीं, उससे एक अच्छी बात हो गयी। भामा में छिपी कठोर, अडिग क्षत्राणी को मैं जान गयी। मुझमें भी एक निर्णयक्षम महाराज्ञी है, इस बात का स्वयं मुझे ही पता चला।

कुछ दिन बीत गये और दृढ़ निश्चयवाली भामा श्रीजी सहित द्वारिका लौट आयी। अग्रदूत से श्रीजी, बलराम भैया और उद्धव जी के आगमन की सूचना मिलते ही मैं उनके स्वागत के लिए शुद्धाक्ष महाद्वार पर उपस्थित हुई। गरुड़ध्वज से सबके साथ उतरते श्रीजी के सम्मुख मैं खड़ी थी। द्वारिका में कुछ ही दिन पूर्व जो घटनाएँ घटित हुई थीं, उससे कुछ बातचीत करना सम्भव ही नहीं था। प्रथा के अनुसार मैंने उनका केवल औपचारिक स्वागत किया। उनको आँख-भर देखते ही मेरा मन शान्त हो गया। दृष्टि से दृष्टि मिलते ही वे तनिक इस प्रकार मुस्कराये कि उसका गूढ़ार्थ केवल मैं ही जान सकती थी। उसका अर्थ यही था–कुन्तीदेवी उनके पुत्रों समेत सकुशल हैं...कुरुश्रेष्ठ भीष्म और विदुर जी से इच्छित भेंट हो गयी...।

सुधर्मा राजसभा की ओर बढ़ते हुए अनुभवी और सुदृढ़ अनाधृष्टि के कन्धे पर हाथ रखकर श्रीजी ने पूछा, "सेनापति, सत्राजित काका का औध्र्व दैहिक विधियुक्त सम्पन्न तो हो गया न? अब क्या करना है इसका ध्यान रखिए। सर्वत्र वार्त्ता फैलायी जाए कि मैं अभी हस्तिनापुर में ही हूँ। इस समय शतधन्वा कहाँ है, इसका पूरा समाचार हमें शीघ्रातिशीघ्र मिलना चाहिए। उसके भ्राता कृतवर्मा को त्वरित मेरे पास भेज दीजिए–और अक्रूर काका को भी!" सुनते हुए मुझे भी आश्चर्य हुआ–नित्य की भाँति वे दोनों स्वामी के स्वागत के लिए आज महाद्वार पर उपस्थित नहीं थे। स्वामी की तीक्ष्ण दृष्टि से यह बात छिपी नहीं थी। एक बात स्पष्ट थी कि दोनों का व्यवहार सन्देहपूर्ण था। और दूसरी बात यह थी कि श्रीजी जहाँ भी हों, द्वारिका में घटनेवाली प्रत्येक घटना का पूरा विवरण उनको मिल जाता था। किसी कुशल शासक की भाँति सम्पूर्ण राज्य पर दृष्टि रखने की उनकी व्यवस्था निर्दोष थी।

सत्राजित जी के हत्यारे की खोज शीघ्र गति से शुरु हुई। किसी भी सत्य तक पहुँचने के लिए चारों ओर जाल फैलाने की श्रीजी की अपनी एक विशेष 'श्रीकृष्ण-नीति' थी, जो औरों को अज्ञात थी। उनके समीपवर्ती कुछ इने-गिने व्यक्तियों को ही उसका ज्ञान रहता था। सत्यान्वेषण के कार्य में प्रथम अन्याय किसके साथ और कैसे हुआ, यह श्रीजी अपने यौगिक बुद्धिबल से जान लेते थे। न्याय पक्ष को मन-ही-मन परखकर मन में ही रखते थे। अन्याय भी कभी-कभी प्राकृतिक दुर्घटना से अथवा भ्रान्त धारणा के कारण हो सकता है। ऐसे समय वे सम्बन्धित व्यक्ति को बचाव का, क्षमा-याचना का, परिमार्जन का अवसर भी देते थे। न्याय्य पक्ष को वे केवल अपने सशक्त समर्थन का अभयदान ही नहीं देते थे, प्रत्युत इसकी सावधानी भी रखते थे कि वह इतना दुर्बल न रहे कि उसको न्याय की भिक्षा माँगनी पड़े। तभी तो–जहाँ श्रीजी वहाँ न्याय, वहीं सत्य, वहाँ ही विजय–का समीकरण ही बन गया था। यह बात केवल द्वारिका जनपद में ही नहीं, जहाँ-जहाँ द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण वसुदेव यादव की नाम-पताका पहुँच चुकी थी, वहाँ-वहाँ स्वीकार हुई थी। इसीलिए चारों ओर से उनके विषय में जो कुछ सुनने में आता था, उससे मुझे उन पर सार्थ अभिमान होता था। सच बात तो यह है कि मैं अपने नैहर और कौण्डिन्यपुर का जैसे नाम ही भूल

गयी थी। अन्तर्बाह्य द्वारिका की महाराज्ञी बन गयी थी, यादवों की रुक्मिणीदेवी बन गयी थी, और बन गयी थी श्रीजी की प्रिया!

हत्यारे की खोजबीन का पहला आरा घूम गया। श्रीजी ने बुलावा भेजकर अपने कक्ष के एकान्त में कृतवर्मा से स्यमन्तक मणि के विषय में पूछताछ की। कृतवर्मा शतधन्वा का सहोदर भ्राता ही था। वे दोनों ज्येष्ठ यादव हृदीक के पुत्र थे। कृतवर्मा द्वारिका में ही उच्च पद पर था। शतधन्वा सुदूर शूरसेन राज्य में ही रहता था। योग्यता न होते हुए भी उसने सौन्दर्य-निधि सत्यभामा का लोभ किया था। सत्यभामा के पिता के सम्मुख उसने वैसा प्रस्ताव भी रखा था। परन्तु वे उसे कुशलता से टाल गये थे। इन सब बातों से श्रीजी पूर्णत: अनभिज्ञ थे। स्यमन्तक मणि के निमित्त सत्यभामा श्रीजी के जीवन में आयी थी। अभिभूत हुए सत्राजित जी ने उसको भरी राजसभा में वचनद्वारा श्री-चरणों में अर्पित किया था। इससे गहरी चोट पाये हुए शतधन्वा ने सत्राजित जी की निर्घृण हत्या का दुष्कर्म किया था।

घटित घटनाओं का क्या परिणाम होगा, यह बात कृतवर्मा श्रीजी से मिलने के पहले ही जान चुका था। जो यथार्थ उसे पता था, उसे श्रीजी के सम्मुख प्रस्तुत करने का मन-ही-मन निश्चय करके ही उसने श्रीजी के कक्ष में प्रवेश किया था। फलों और केसरयुक्त दूध के उपाहार के साथ बड़े स्नेह से स्वामी ने उसका स्वागत किया। कुछ इधर-उधर की बातें होने के पश्चात् वे मूल विषय पर आये। उन्होंने पूछा, “कृतवर्मा, हो सकता है कि महाराज और सुधर्मा सभा स्यमन्तक को खोजने का काम आपको ही सौंप दें। आपका क्या विचार है?” दूसरों को अपनी थाह न देनेवाली स्वामी की इस राजनीति से कृतवर्मा थर्रा गया। झट से उसके मुख से निकला, “मैं जानता हूँ, इस समय स्यमन्तक किसके पास है। मेरे भ्राता शतधन्वा ने अविवेक से सत्राजित की हत्या करने की मूर्खता की है। अब उसने काशिराज का आश्रय ग्रहण किया है। मेरे समक्ष ही उसने स्यमन्तक मणि सुरक्षित रखने के लिए अक्रूर जी को सौंप दी है। आप उन्हीं को बुलवाकर सत्य को परख लीजिए।”

सत्राजित जी की हत्या के काण्ड में सत्य की ओर अग्रसर होनेवाला धागा श्रीजी के हाथ लग गया। अब खोजचक्र का दूसरा आरा घूमनेवाला था। सुरक्षित रखने के लिए स्यमन्तक मणि अक्रूर जी के हाथों सौंपी गयी थी, यह बात चोट पहुँचानेवाली थी। इस बात का दूसरा छोर तो और भी धक्कादायक था। कृतवर्मा को स्वामी ने बुलावा भेजा है, इस बात की कानों में भनक पड़ते ही वन्दनीय, ज्येष्ठ अक्रूर काका स्यमन्तक को लेकर द्वारिका से पलायन कर गये थे। उनके पिता श्वफल्क और माता गान्दिनी ने ही इस सत्य को श्रीजी के सम्मुख उद्घाटित किया था।

यह स्यमन्तक मणि अब कितनी समस्याएँ खड़ी करेगी और कितनों की कठिन परीक्षा लेगी, कुछ समझ में नहीं आ रहा था।

सात्यकि अब द्वारिकाधीश के निकटवर्ती विशेष मण्डल में एक विश्वस्त महारथी बन गये थे। उनमें और अनाधृष्टि में सेना के उत्तरदायित्व का एक अलिखित विभाजन ही हो गया था। दोनों ने उसे स्वेच्छा से स्वीकार किया था। अनाधृष्टि द्वारिका जनपद के दोनों द्वीपों की सुरक्षा का भार उठाते थे। द्वारिका के चारों ओर–सौराष्ट्र, भृगुकच्छ, आनर्त तक फैली हुई सीमाओं पर भी कड़ी दृष्टि रखते थे। सात्यकि द्वारिका में और राज्य से बाहर भी श्रीजी के साथ रहा करते थे। राज्य के बाहर सेना की गतिविधियाँ उनकी मन्त्रणा के अनुसार ही हुआ करती थीं।

शतधन्वा का अता-पता ज्ञात होते ही सात्यकि और चतुरंगिणी सेना के साथ श्रीजी ने द्वारिका से प्रस्थान किया। सदैव की भाँति बलराम भैया उनके साथ थे ही। अत: इस अभियान की मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं थी।

सेना अभियान पर चली गयी और पीछे-पीछे उसके मार्गक्रमण के समाचार आने लगे। नर्मदा-तट से आगे बढ़ते हुए अवन्ती राज्य की माहिष्मती नगरी सेना ने पार की है। द्वारिकाधीश अपने साथियों सहित वेत्रवती नदी को पार करके चेदि राज्य में उतरे है। यद्यपि वह राज्य बुआ श्रुतश्रवादेवी का था, शिशुपाल के कटु व्यवहार का स्मरण करके श्रीजी चेदि राजनगर शुक्तिमती को एक ओर रखकर आगे बढ़े हैं। परन्तु चेदि राज्य को छोड़ने से पहले बुआ श्रुतश्रवादेवी को वस्त्रालंकारों का उपहार भेजना वे भूले नहीं हैं। अपेक्षित अन्तिम समाचार द्वारिका में आ धमका। गंगा, यमुना और सरस्वती के प्रयाग स्थित पावन संगम में श्रीजी और बलराम भैया ने सेनापति सात्यकि समेत स्नान किया। प्रयाग के निकट ही घोर-आंगिरस के आश्रम के लिए श्रीजी ने सवत्स गायें, धान्य की गोनियाँ और चपल संरक्षक श्वान विशेष दूत के द्वारा उपहारस्वरूप भिजवा दिये हैं। काशी राज्य की सीमा पर ही श्रीजी और बलराम भैया ने शतधन्वा को घेर लिया और युद्ध में उसका वध भी किया। काशिराज सुबाहु की सहायता लेकर वह वाराणसी की सीमा पर आया था। युद्ध के पश्चात् पलायन करते काशिराज का पीछा करते हुए श्रीजी सीधे वाराणसी में घुस गये। बलराम भैया और सात्यकि सीमा पर ही रह गये। पराजय होते ही काशिराज श्रीजी की शरण में आ गया। अर्थ-दण्ड के रूप में उसने अपार सम्पत्ति यादवश्रेष्ठ के चरणों में अर्पित की। काशिराज से विदा लेकर द्वारिकाधीश यादव-सेना में लौटे। परन्तु वहाँ स्यमन्तक मणि के ही निमित्त पुन: एक अघटित नाट्य प्रस्तुत हुआ।

वैसे तो बड़े भैया को धन-सम्पत्ति में कभी भी विशेष रुचि नहीं थी। द्वारिका के कोषागार की ओर वे कभी फटकते भी नहीं थे। परन्तु उस उत्पाती स्यमन्तक मणि ने उनके मन में एक अनिवार्य कुतूहल जगाया था। श्रीजी के सम्मुख आते ही नित्य की भाँति हँसते हुए वे बोले, “छोटे, एक बार हमें भी तो देखने दे वह विक्रमी स्यमन्तक! उसका पीछा करते-करते कितनी दूर आ चुके हैं हम! हमारे मार्ग की सारी बाधाएँ भी अब दूर हो गयी हैं। पिता को खो बैठी हमारी सत्यभामा इस मणि के दर्शन होते ही स्वयं को थोड़ा-सा तो सँभाल लेगी। दिखा दो वह रत्न!”

कन्धे झटककर हँसते हुए श्रीजी बोले, “मेरे हाथ लगी ही नहीं वह। वह तो अक्रूर काका के पास है। पहले उनको ढूँढ़ना होगा फिर उसे हस्तगत करना होगा! तत्पश्चात् ही उसके दर्शन होंगे–आपको और मुझे भी!”

वैसे श्रीजी के विषय में बलराम भैया की भ्रान्त धारणा कभी हुआ नहीं करती थी, परन्तु काशी राज्य की सीमा पर पहली बार वह हो गयी। वे पुन: पुन: अनुरोधपूर्वक कहने लगे, “केवल एक बार ही वह मणि मुझे दिखा दो। मुझे उसकी तनिक भी अभिलाषा नहीं है।” श्रीजी बार-बार उन्हें समझाने लगे, “मेरे पास वह मणि नहीं है। सचमुच नहीं है–कहाँ से दिखाऊँ मैं?” इस विवाद में कहते-कहते बलराम भैया भड़क उठे! हठात् बोले, “ज्येष्ठ बन्धु की अपेक्षा तुम्हारे मन में सम्भवत: इस मणि का मोल अधिक है, तो उसे ही लेकर बैठ जा। मैं चला–जहाँ मार्ग मिलेगा वहाँ। तुम्हारा मुँह भी देखना नहीं चाहता मैं।” और उन्होंने जैसा कहा वैसा किया भी। कन्धे पर गदा रखकर तनतनाते हुए वे शिविर से बाहर चले भी गये। उनके पीछे-पीछे उनके अनुयायी यादवगण

भी चले गये। गंगा नदी लाँघकर, शरयू को पार करके गण्डकी नदी-तट से वे मिथिला नगरी में होते हुए सीधे जनकपुर जा पहुँचे।

बिना किसी कारण के ही स्यमन्तक मणि ने श्रीजी के मधुर भावबन्ध को प्रबल आघात पहुँचाया था—प्राणप्रिय ज्येष्ठ बन्धु की भ्रान्त धारणा का, उनके वियोग का!

शतधन्वा को प्राणदण्ड देकर विजयी स्वामी द्वारिका लौट आये। परन्तु तब बलराम भैया उनके साथ नहीं थे। न ही उनके साथ सारे झगड़े की जड़ वह मणि थी। द्वारिकावासियों को ये दोनों बातें तीव्रता से प्रतीत हुईं। फिर भी उन्होंने द्वारिकाधीश का सहर्ष स्वागत किया। यादव स्वयं से भी अधिक श्रीजी से प्रेम करते थे। श्रीजी भी सभी से उतना ही प्रेम करते थे। परन्तु भैया क्रुद्ध होकर रूठकर चले गये हैं, यह बात मेरे गले उतर ही नहीं रही थी। प्रयास करने पर भी यह बात मानने को मेरा मन तैयार नहीं था। युवराज्ञी रेवती दीदी से शीघ्र ही मिले बिना मुझसे रहा नहीं गया। उलटे उन्होंने ही मुझे सान्त्वना दी। मेरे मन पर जो बड़ा भारी बोझ था, उसे उन्होंने क्षण-भर में हलका कर दिया। वे मुझे समझाने लगीं, "तुम व्यर्थ ही चिन्ता कर रही हो रुक्मिणी! युवराज कहीं नहीं जाएँगे। शीघ्र ही लौट आएँगे वे। तुम तनिक भी चिन्ता मत करो। देवरजी के बिना वे रह ही नहीं सकेंगे। स्यमन्तक मणि तो ऊपरी कारण है। वास्तव में उनका स्वभाव ही शीघ्रकोपी है—वैसे ही शीघ्रतोषी भी।"

श्रीजी के चक्रवर्ती जीवन को स्थैर्य मानो रास ही नहीं आता था। यह उनके भाग्य में ही नहीं था। तभी तो अमात्य विपृथु ने मेरे समक्ष ही वह वृत्तान्त श्रीजी के सम्मुख प्रस्तुत किया। सोचने पर विवश करनेवाला था वह। आर्यावर्त के पूर्व से—कामरूप राज्य से आयीं स्त्रियों के एक दल ने उनसे भेंट की थी। उस दल ने कामरूप और उसके आसपास के स्त्री-जीवन की दारुण कथा अमात्य के सम्मुख, सहायता की अपेक्षा से, कही थी। कामरूप के राजनगर प्राग्ज्योतिषपुर में स्त्रियों का—विशेषत: सुरूप, सुन्दर स्त्रियों का जीवन संकट में पड़ा हुआ था। बड़ी क्रूरता का खेल खेला जा रहा था स्त्री-जीवन के साथ। वहाँ के राजा नरकासुर अर्थात् भौमासुर ने एक-दो नहीं सोलह सहस्र स्त्रियों को अपने कारागृह में बन्दी बना रखा था। —अपनी इच्छानुसार उपभोग के लिए—वासनापूर्ति के लिए। उनमें नित्य नयी भरती भी की जा रही थीं। "इन निष्पाप सहस्रों नारियों का इस विराट् आर्यावर्त में कोई त्राता है या नहीं? इन दुर्बल नारियों के जीने के अधिकार की रक्षा करनेवाला कोई वीर पुरुषोत्तम है या नहीं?" ऐसे मर्मभेदी प्रश्न पूछकर उस दल ने श्रीजी से भेंट की माँग की थी।

यह तो एक और नयी समस्या थी। इसको बड़ी कुशलता से और मृदुता से हल करना होगा। इसलिए पूरे आर्यावर्त को पार करके सहस्रों योजन दूर कामरूप देश से भिड़ना होगा। परन्तु मुझे तो पूरा विश्वास था कि निश्चय ही श्रीजी इस चुनौती को स्वीकार करेंगे। हुआ भी वैसा ही। प्रत्यूष वेला के ब्राह्ममुहूर्त में ध्यानस्थित रहते हुए, सुदर्शन के दिव्य मन्त्रों का स्मरण करते हुए उनका मुखमण्डल जैसे विलक्षण तेजोमय दिखता था, क्षण-भर में वैसा ही दिखने लगा। उन्होंने निर्णयात्मक, सन्तुलित शब्दों में अमात्य से कहा, "मैं कामरूप राज्य में—प्राग्ज्योतिषपुर अवश्य जाऊँगा।"

द्वारिकाधीश की सूचना के अनुसार आपत्तिकालीन राजसभा का आयोजन किया गया। उस सभा में केवल स्वामी ही बोले। उनकी दृष्टि में स्त्रीत्व का अर्थ क्या है, इसे यथार्थ के धरातल पर

समझानेवाला वह अत्युत्तम भाषण था—अत्यन्त उचित एवं अचूक शब्दों में। मैं उसे भुला ही नहीं सकती। उन्होंने कहा, “मेरे प्रिय यादववीरो, पुरुषार्थ कितना भी उत्तुंग क्यों न हो, वह निर्माण होता है स्त्री की कोख से ही। जो स्त्रीत्व का आदर, सम्मान नहीं कर सकता, वह पुरुषार्थ व्यर्थ है। इसीलिए स्त्रीत्व को निर्दयता से कुचलनेवाले नरकासुर पर मैंने द्वारिका की चतुरंग यादव-सेना सहित आक्रमण करने का निर्णय किया है। क्या सबको यह स्वीकार है?”

“स्वीकार है...स्वीकार है...द्वारिकाधीश की जय हो!...जय हो!” राजसभा ने सर्वसम्मति से स्वीकृति दी।

यादवराज श्रीकृष्ण द्वारा कामरूप के निर्दय, मदान्ध राजा नरकासुर पर ससैन्य आक्रमण की घोषणा पूरी द्वारिका में की गयी। राज्य के सौराष्ट्र, भृगुकच्छ, आनर्त प्रदेशों से निर्भय नवयुवकों की यादव-सेना में भरती की जाने लगी। उनको शस्त्र और अस्त्र-कुशल बनाने के लिए विशेषज्ञ उपसेनापति और दल-प्रमुखों के शिविर द्वारिका-भर में आयोजित किये गये। मूलत: युद्धसम्मुख यादवों की विशाल सेना में प्रतिदिन वृद्धि होने लगी। द्वारिका के निष्णात गुप्तचर प्राग्ज्योतिषपुर के मार्ग में आनेवाले अवन्ती, चेदि, दक्षिण कोसल, मगध, विदेह-वज्जी आदि राज्यों में फैल गये। आपस में सजग, तत्पर और गुप्त सम्पर्क रखते हुए, वे शत्रु-सामर्थ्य की जानकारी प्राप्त करके शीघ्रता से द्वारिका भेजने लगे। जिस प्रकार द्वारिका-निर्माण के समय सभी जन एकजुट हुए थे, उसी प्रकार इस समय भी सभी जातियों के नागरिक दिन-रात अपने-अपने काम में जुट गये। यह अभियान प्रचण्ड परिश्रम का, चुनौती देनेवाला और युद्ध-कुशल यादवों की परीक्षा लेनेवाला था। वैसे तो द्वारिका जनपद का कामरूप देश से कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। यह एक चिरन्तन सत्य के लिए—विपत्ति में फँसे स्त्रीत्व की रक्षा के लिए होनेवाला सैद्धान्तिक युद्ध था। उसमें तनिक भी त्रुटि नहीं होनी चाहिए थी। श्रीजी अपने दोनों सेनापतियों, उद्धव, शिनि, कृतवर्मा, अवगाह आदि साथियों समेत पूरे राज्य में ऐसे घूम रहे थे, जैसे उनके पैरों में चक्र लगे हों। चतुरंग सेना की अचूक और सम्पूर्ण संयोजना में वे जुट गये थे।

स्वामी के मुख पर विराजित अपार, अद्वितीय तेज देखकर ही सैनिक फूल उठते थे। उनके केवल सूचना देनेवाले शब्द सुनकर भी वे धन्य हो जाते थे। प्रचण्ड नौकाओं का गठन, विविध शस्त्रों का निर्माण, विविध आकारों के टिकाऊ एवं सुदृढ़ रथों की जोड़ाई, गज, अश्व और उष्ट्र दलों की लम्बी दौड़ के लिए देखभाल—इस प्रकार प्रचण्ड कर्मयोग का आरम्भ हुआ। तुच्छ-से लगनेवाले सुघड़ काम के लिए भी श्रीजी स्नेह से श्रमिकों के कन्धे थपथपाते। उनके हल्के से स्पर्श से भी वे कारीगर कृतार्थ एवं धन्य हो जाते। इस प्रकार उन दोनों को देखकर सहस्रों यादव असीम उत्साह से इडादेवी का जयघोष करते हुए काम में जुट जाते। कुछ दिनों में ही द्वारिका जनपद के दोनों द्वीप के कण-कण में कर्मयोग का मन्त्र पूर्णत: गुंजरित होने लगा।

आचार्य सान्दीपनि और गर्ग मुनि ने मिलकर इस युद्ध-अभियान के लिए शिवमुहुर्त निकाला। सर्वत्र एक ही चर्चा थी—इस विराट् सेना में युवराज बलराम का होना आवश्यक था। पहले तो मुझे भी वैसा ही लगा। परन्तु एकान्त में श्रीजी से भेंट हुई और मेरी सारी आशंकाएँ दूर हो गयीं। मुझे पूरा विश्वास था कि इस युद्ध में यश:श्री लेकर ही श्रीजी लौटेंगे। मेरे जैसा ही उनसे प्रेम करनेवाले दो व्यक्तियों की तत्काल जो प्रतिक्रिया हुई, वह भिन्न ही थी। वह अप्रत्याशित थी और चोट पहुँचानेवाली भी। श्रीजी के साथ जाने का हठ भी दोनों ने ही पकड़ा—वे थे देवरजी उद्धव और

सत्यभामा!

यद्यपि उद्धव जी शूर थे, यादव थे–परन्तु वे स्वभाव से योद्धा नहीं थे। उलटे युद्ध को टालकर सामोपचार करने की बात वे निर्भयता से कहते थे। यही बात किसी और के मुँह से निकलती तो प्रमुख यादवों के साथ-साथ श्रीजी भी उसे हँसी में उड़ा देते। परन्तु देवरजी उद्धव की बात श्री सहित सभी चुपचाप मान लेते थे। उनका व्यक्तित्व अन्य सभी यादवों से अलग ही था–मूलत: यादववंशी होकर भी संन्यासी बने घोर-आंगिरस से समानता रखनेवाला। इसीलिए तो द्वारिका में उनका आचार्य सान्दीपनि जैसा आदर एवं सम्मान किया जाता था।

यही उद्धव जी हठ करके इस अभियान में श्रीजी के साथ जाने को उद्यत हुए थे। सभी को इस बात पर आश्चर्य हो रहा था–मुझे नहीं। बलराम भैया की कमी को पूरा करने के लिए वे श्रीजी के साथ जा रहे हैं, यह मैंने जाना था। मुझे आश्चर्य हुआ था भामा पर। आश्यर्च्च के साथ कुछ-कुछ ईर्ष्या भी हुई थी। पति के साथ पत्नी के रणभूमि पर जाने की चान्द्रवंशी यादवों में प्रथा नहीं थी। मैंने सुना था, किसी समय सूर्यवंशियों में यह प्रथा विद्यमान थी। श्रीराम माता कैकेयी इसका उदाहरण थीं। जो भी हो, भामा श्रीजी के साथ जाएगी यह सुनकर मेरी प्रतिक्रिया हो ही गयी। मुझे तीव्रता से लगा कि मैं भी उनके साथ जाऊँ। द्वारिका की महाराज्ञी होने के नाते मेरा वह अधिकार भी था। मैंने एकान्त में श्रीजी से कहा भी। वे किसी को समझाने में और मान्य न होनवाली बात को भी मनवाने में मुझसे अधिक कुशल थे। नित्य की उसी मनमोहक मुस्कान को अपने मुख पर बिखेरते हुए वे बोले, “महाराज्ञी, ऐसा नहीं है कि तुमसे अधिक प्रिय होने के कारण सत्यभामा मेरे साथ जा रही है। वह सारथ्य-कर्म में कुशल है। मेरा शतधन्वा को दण्डित करना उसको ‘उपकार’ प्रतीत होता है। एक क्षत्राणी होने से युद्ध में मेरी सहायता करके वह उस ऋण को उतारना चाहती है। तुम सारथ्य कर सकती हो क्या? तो तुम भी चलो! मेरी कोई कृति तुम्हें ‘उपकार’ लगती है क्या? लगती हो, तो तुम भी चलो। क्या तुम सत्यभामा जैसी ऋणी क्षत्राणी हो?”

अब वे इसी प्रकार प्रतोद पर प्रतोद चलाते जाएँगे–यह जानकर बीच में ही उनको बरजते हुए मैंने कहा, “रुक जाइए...रुक जाइए...नहीं बनना है मुझे उसके जैसी क्षत्राणी! सुख से जाइए आप दोनों और सकुशल लौट आइए। यही पर्याप्त है मेरे लिए।”

निश्चित किये गये मुहूर्त पर महाराज, देवकी माता, आचार्य और ज्येष्ठ जनों से आशीर्वाद लेकर श्रीजी मुझसे मिलने आये। मैंने और जाम्बवती ने उनके साथ-साथ उद्धव जी और भामा की आरती उतारी। प्रसन्नतापूर्वक उनको विदा दी। डंके, रणभेरी और तुरही के तुमुल घोष में, श्रीजी, उद्धव जी और भामा को अग्रस्थान पर रखकर सात्यकि के साथ यादवों की प्रचण्ड चतुरंगदल सेना शुद्धाक्ष महाद्वार से निकल पड़ी और प्रशस्त नौकाओं से खाड़ी लाँघकर, तट पर पहले ही डेरा डाले हुए सैन्य से जा मिली। योजनाबद्ध प्रणाली से, स्वर्ण किनारीवाला काषायवर्णी गरुड़ध्वज फहराते हुए गजदल, अश्वदल और पदातियों के दल क्रमश: चल पड़े। द्वारिका से–आनर्त से कामरूप की ओर–प्राग्ज्योतिषपुर की ओर।

दोनों सेनापति और बलराम भैया की अनुपस्थिति में और श्रीजी के साथ चुनिन्दा महारथी-योद्धाओं के चले जाने से, महाराज्ञी के नाते मेरा दायित्व और भी बढ़ गया था। जनपद का कामकाज सँभालने के लिए वृद्ध महाराज और देवकी माता की सहायता करना आवश्यक था। इसलिए अन्त:पुर का द्वीप जाम्बवती के अधीन करके मैं मूल द्वारिका में चली आयी। मेरे लिए–

महाराज्ञी के लिए–बनाये गये भवन में मैंने अपना निवास बनाया। रेवती दीदी और रोहिणी माता के साथ मैं सुधर्मा राजसभा के कामकाज में ध्यान देने लगी। श्रीजी के प्रस्थान के पन्द्रह दिन बाद ही सात्यकि जी का भेजा एक महारथी द्वारिका के राजपरिवार के लिए एक अतिथि को लेकर 'शुद्धाक्ष' पर आ धमका। वह थी अवन्ती राज्य की राजकुमारी मित्रविन्दा–अवन्तीनरेश महाराज जयसेन और राजाधिदेवी की पुत्री। विन्द और अनुविन्द की भगिनी।

मार्ग में आये अवन्ती राज्य में प्रचण्ड 'श्री-सैन्य' ने प्रवेश किया। ठीक इसी समय अवन्तीनरेश ने अपनी इस सुकुमार पुत्री का स्वयंवर रचा था। उनको लगा–द्वारिकाधीश स्वयंवर के लिए ही पधारे हैं। विन्द और अनुविन्द ने राजदूत द्वारा श्रीजी के लिए सन्देश भेजा–'तुम इस स्वयंवर में भाग नहीं ले सकते। तुम्हारे क्षत्रियत्व का लोप हुआ है। इसीलिए तुमको स्वयंवर में निमन्त्रित नहीं किया गया।' अवन्ती की महाराज्ञी राजाधिदेवी श्रीजी की बुआ थीं। यह अकड़–यह तनाव गृहान्तर्गत ही था। इससे यादव कभी छुटकारा पानेवाले थे या नहीं, भगवान ही जाने!

किन्तु इस समय विन्द–अनुविन्द ने एक राजकीय मूर्खता ही की थी। श्रीजी के आगमन की वार्त्ता का उचित आकलन करके वे श्रीजी के लिए उपहार भेज देते तो श्रीजी सेना सहित सीधे आगे चले जाते। जाते समय अपनी बुआ के लिए अधिक वैभवशाली उपहार भेजने को भी वे नहीं भूलते। परन्तु यह तो विपरीत हुआ था।

विपरीत को अनुकूल बनाने का राजकीय कौशल श्रीजी को जन्मजात ही प्राप्त था। उन्होंने विन्द–अनुविन्द को प्रतिसन्देश भेज दिया–"हम स्वयंवर के लिए नहीं आये हैं। हम जा रहे हैं नरकासुर पर चढ़ाई करने–प्राग्ज्योतिषपुर। उसके पूर्व ज्येष्ठता के नाते महाराज जयसेन और बुआजी के आशीर्वाद लेने हम अवन्ती के राजनगर आ रहे हैं।" अच्छा-भला निरुत्तर करनेवाला तमाचा प्राप्त होने के कारण विन्द-अनुविन्द श्रीजी को बाजे-गाजे के साथ राजनगर ले जाने को विवश हो गये। ग्वाले को स्वयंवर में आने से वे रोक सकते थे, परन्तु ज्येष्ठों के आशीर्वाद लेने से रोकना कैसे सम्भव था?

स्वामी ने उनकी विशाल सेना के सारे विशिष्ट विभागों को अवन्ती के राजनगर की ओर मोड़ दिया। और ठीक समय पर योजनाबद्ध पद्धति से उन्होंने स्वयंवर मण्डप में प्रवेश किया। महाराज जयसेन द्वारा आमन्त्रित सभी राजा चकित होकर देखते ही रहे और स्वामी ने मित्रविन्दा को बलात् हरण करके रथ में बिठा लिया। बौखलाये विन्द-अनुविन्द को सात्यकि और अनाधृष्टि ने रोका और लड़ाई में उलझाये रखा। स्वामी ने मित्रविन्दा को अपने विश्वस्त महारथी के साथ, सशस्त्र दल के संरक्षण में सीधे द्वारिका भेज दिया। यह सब समाचार उस महारथी ने ही मुझको कह सुनाया। मैंने मित्रविन्दा का–अपनी तीसरी बहन का भी प्रसन्नता से स्वागत किया। उसके पूर्व आये हम तीनों जैसा उसका उल्लासपूर्ण स्वागत करने के लिए द्वारिका में पर्याप्त यादव थे ही नहीं। अपने-अपने भाग्य की बात है!

स्वयं मैं मित्रविन्दा को साथ लेकर पुन: अन्त:पुर के द्वीप पर आयी। अष्ट भवनों में से एक उसके अधीन किया। उसकी इच्छानुसार सेवक-सविकाएँ चुनने की स्वतन्त्रता दी। मित्रविन्दा का स्वभाव जाम्बवती और भामा के स्वभाव के मध्य था। वह मूलत: यादववंशी होने के कारण भामा जैसी अभिमानी थी। परन्तु उसका अभिमान भामा जैसा आक्रामक नहीं था। जाम्बवती के समान वह चतुर एवं जिज्ञासु थी। परन्तु उसकी जिज्ञासा में जाम्बवती जैसी निर्मलता की गरिमा नहीं थी।

मेरे और जाम्बवती के साथ-साथ अब वह भी श्रीजी के आगमन की प्रतीक्षा करने लगी। उनके सम्बन्ध में आनेवाले समाचार वह ध्यान देकर सुनने लगी। मैंने भाँप लिया कि उसने मन-ही-मन स्वामी को स्वीकार किया है, उनका वरण किया है। अब शीघ्र ही उसका भी अपने नैहर का–अवन्ती राज्य का आकर्षण अपने-आप कम होगा।

अन्त में दो माह पश्चात् हम जिस समाचार की बड़ी आकुलता से प्रतीक्षा कर रहे थे, वह द्वारिका के विजयी शुद्धाक्ष महाद्वार पर आ पहुँचा। उसने द्वारिका के स्वर्णवर्णी-किनार से शोभित गरुड़ध्वज को और भी ऊँचा कर दिया। उस समाचार से समस्त आर्यावर्त ऐसे थर्रा उठा, जैसे कंस-वध के पश्चात् शूरसेन राज्य भी नहीं थर्राया था!

द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण महाराज ने प्राग्ज्योतिषपुर की समरभूमि में कामरूपाधिपति नरकासुर का वध किया। लोहितगंगा अर्थात् ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर यह रोमहर्षक युद्ध हुआ। परन्तु उसके पूर्व यादवश्रेष्ठ को नरकासुर के चार राज्यपाल और सेनापति मुर से घनघोर युद्ध करना पड़ा। इसमें प्राप्त की गयी विजय स्वामी की युद्ध-कुशलता का श्रेष्ठ प्रमाण थी। असुरों ने सेनापति मुर के नेतृत्व में राजनगर प्राग्ज्योतिषपुर के पास तृण-क्षेत्र में छह सहस्र सशस्त्र गुप्त पाशों का सुदृढ़, संरक्षक जाल बिछाया था। स्वयं मुर अपने पुत्र ताम्र, अन्तरिक्ष, श्रवण, विभावसू, वसू और अरुण के साथ उस जाल के संरक्षण के लिए सशस्त्र तत्पर था। उसकी कुशल युद्ध-रचना का पहला ही घेरा तोड़ना विकट काम था। उसके लिए शस्त्र उठाकर जैसे ही साहसी यादव आगे बढ़ने लगते, पैरों के नीचे छिपे गुप्त सूत्रों पर पैर पड़ते ही पाशों में लगे हुए अदृश्य भाले अपने-आप खुल जाते और तीव्र गति से यादव-सैनिकों पर आ गिरते थे। वे कहाँ से आ रहे हैं, यही बात यादव-सैनिक समझ नहीं पा रहे थे। मर्मभेदी आघातों के कारण यादव-सैनिक बिना लड़े ही चीखते हुए गिर पड़ते थे। इस घेरे के पीछे एक-से-एक ऊँचे पहाड़ थे। नरकासुर के राज्यपाल हयग्रीव और निशुम्भ वहाँ ससैन्य घात में बैठे थे। यह दूसरा घेरा था। इसके पीछे मणिपर्वत में उसके और दो राज्यपाल–विरूपाक्ष और पंचजन उसी प्रकार घात में बैठे, अन्तिम, प्रबल प्रतिकार के लिए ससैन्य तत्पर थे। यह तीसरा घेरा था।

पहले ही घेरे में असुर-सेनापति मुर से युद्ध करना अनिवार्य था। उसकी कुटिल व्यूह-रचना और मायावी पाशयुद्ध के कारण उसको परास्त करना दुस्साध्य ही था।

मायावी पाशघेरे को तोड़ने के लिए वीर यादव-सैनिक एक सप्ताह-भर प्राणपण से लड़े। उनमें से कई उस हिममय प्रदेश में वीरगति को प्राप्त हुए। इतने बड़े धैर्यशाली सात्यकि, अनाधृष्टि, शिनि, अवगाह–सब-के-सब हताश हो गये, किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। सेना के शिविर में सभी ग्रीवा झुकाकर द्वारिकाधीश के समक्ष चिन्तित बैठे थे। लम्बे समय तक चढ़ाई की उलटी-सीधी चर्चा चली–उसमें भामा का भी सहभाग था। यहाँ भी उद्धव जी अपने स्वभाव के अनुसार पहले तो कुछ नहीं बोले, किन्तु अन्ततः निश्चयपूर्वक उन्होंने कहा, "भैया, मैं ही कुछ कहूँ, यह तो आवश्यक नहीं है। आप तो सब-कुछ जानते हैं। मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि आप कुछ निर्णय क्यों नहीं ले रहे हैं? आप अपने दिव्य सुदर्शन का प्रक्षेपण क्यों नहीं कर रहे हैं? इन सबके प्राण बचाने की मैं आपसे प्रार्थना और अनुरोध करता हूँ। अन्ततः निर्णय आपके हाथ में है।"

शिविर में उपस्थित सभी जन बड़ी आशा से टकटकी लगाकर श्रीजी की ओर देखने लगे। श्रीजी ने हँसकर उद्धव जी की ओर देखा और केवल 'तथास्तु' कहा। उन्होंने नेत्र मूँद लिये। उनका

मुखमण्डल अपार तेज से सूर्य-पुष्प के समान खिल उठा। सुदर्शन के दुर्लभ दिव्य मन्त्रों का उन्होंने स्मरण किया। क्षणार्द्ध में उपस्थित जनों का ध्यान हरनेवाली स्वर्गीय वाद्यलय शिविर में गूँजने लगी। नेत्र मूँदकर ही श्रीजी आसन से उठकर अपने-आप खड़े हो गये। धीरे-धीरे उनका दाहिना हाथ ऊपर उठा। उनकी तर्जनी पर मण्डलाकार घूमता, बारह आरोंवाला, वज्रनाभी, दीप्तिमान तेजयन्त्र प्रकट हुआ। उसके तेज से सभी की आँखें चौंधिया गयीं। श्रीजी ने मायावी शस्त्र-पाशों का जाल बेधने के लिए तेजयन्त्र को प्रक्षेपित किया। सब देखते ही रह गये। थर्रा देनेवाले संगीत की लय और गम्भीर ध्वनि के साथ वह गतिमान चक्र घनी तृण-भूमि में छिपाये सहस्रों मायावी पाशों को काटने लगा। उसका प्रतिकार करने के लिए गदा उठाकर दौड़ पड़े सेनापति मुर और उसके छह पुत्रों का शिरश्छेद करके वह तेजचक्र लौटा और श्रीजी की तर्जनी पर आकर स्थिर हुआ। अपने तेज वलयों को समेटता हुआ, जैसे प्रकट हुआ था, वैसे ही लुप्त भी हुआ। श्रीजी की उस मुद्रा को भूलना वहाँ उपस्थित किसी के लिए भी सम्भव नहीं था–देवरजी और भामा के लिए तो कदापि ही नहीं।

यह समाचार सुनते समय मुझे जो बात सबसे अधिक प्रतीत हुई, वह थी भामा की महत्ता, उसका बड़प्पन। वास्तव में वह बड़ी पुण्यशीला और भाग्यवती श्री-पत्नी थी, जिसने श्रीजी को सुदर्शनधारी दिव्य रूप में प्रथम देखा था। मैंने तो उनको केवल द्वन्द्वयुद्ध करते देखा था। देवरजी तो मुझे सदैव श्रीजी की छाया जैसे ही लगे थे। केवल सुदर्शन के दर्शन करने से ही नहीं, वे तो जन्म से ही भाग्यवान थे।

प्राग्ज्योतिषपुर से आये दूत ने यह जो वृत्तान्त-कथन किया, उससे तो मैं रोमांचित हो उठी। यादवों की महाराज्ञी, श्रीजी की पत्नी और भोजवंशियों की पुत्री के नाते मुझे स्वामी पर इतना गर्व हुआ, जितना पहले कभी नहीं हुआ था! वह मेरे मन में समा नहीं रहा था।

असुर-सेनापति मुर के प्रतिरोध को श्रीजी ने विफल कर दिया। सात्यकि, अनाधृष्टि आदि महारथियों के साथ यादव-सेना को प्रोत्साहित करते हुए उन्होंने प्रबल प्रहारों से नरकासुर के अगले दोनों संरक्षक घेरों को तोड़ डाला। दूसरे घेरे के संरक्षक राज्यपाल हयग्रीव और निशुम्भ को धराशायी किया। मणिपर्वत के ओदका नामक स्थान पर तीसरे संरक्षक घेरे के राज्यपाल पंचजन और विरूपाक्ष ने तीव्र विरोध किया, परन्तु श्रीजी ने उनका वध करके उस विरोध का अन्त कर दिया। ये चारों राज्यपाल और सेनापति मुर नरकासुर के प्रमुख सहकारी थे। उन्होंने ही कामरूप और उसके निकट के मणिपुर, त्रिपुरा, अंग, बंग आदि जनपदों से सहस्रों क्षत्रिय कुलस्त्रियों को बलात् हरण करके प्राग्ज्योतिषपुर के कारागृह में बन्द कर रखा था। लगभग सोलह सहस्र स्त्रियों को बन्दी बनाया गया था। उस कारागृह में पाँच सहस्र बन्दियों को रखने का प्रबन्ध था, परन्तु स्त्री बन्दियों से कारागृह खचाखच भरने के पश्चात् भी क्रूर मुर ने कारागृह के बाहर के खुले प्रांगण को ही कारागृह बना दिया। आश्रम अथवा गोकुल की भाँति प्रांगण के चारों ओर उसने लकड़ी के ऊँचे-ऊँचे सुदृढ़ बाड़ों का घेरा डाल दिया था। पग-पग पर सशस्त्र रक्षकों के पहरे बिठाकर उस प्रांगण का कड़ा बन्दोबस्त किया था, उसे और भी प्रवेश-दुर्गम बना दिया था। उस बाड़ के अन्दर लगभग दस सहस्र क्षत्रिय स्त्रियों को निरीह गायों की भाँति बन्धन में रखा गया था। यह तो कारागृह था ही नहीं, यह था बाड़ की आड़ में बन्दिनी स्त्रियों का प्रचण्ड गोष्ठ। दूध के लिए क्यों न हो, गायों की देखभाल करनी पड़ती है, परन्तु मानव-जाति में जन्मी ये अभागिनी स्त्रियाँ इतनी भी भाग्यवती नहीं थीं। सोलह सहस्र स्त्री-रूपी गायों को एकत्र बाँधकर रखनेवाला,

इतना बड़ा–प्रचण्ड गोष्ठ पूरे आर्यावर्त में किसी भी गोकुल में नहीं था।

बन्दी स्त्रियाँ खुले प्रांगण में ही अलग-अलग टोलियाँ बनाकर, पत्थरों के चूल्हों पर बड़े-बड़े पात्रों में अपना भोजन पकातीं और प्रचण्ड पाषाणी कुण्डों में से अँजुली भर-भरकर पानी पीती थीं। उनमें से कई स्त्रियाँ कामरूपाधीश की वासना की बलि चढ़ गयी थीं। कई उसके सेनापति मुर, राज्यपाल और कारागृह के अधिकारियों के मनमाने अत्याचारों के सम्मुख विवश होकर झुक गयी थीं।

प्राग्ज्योतिषपुर का यह प्रचण्ड कारागृह समस्त आर्यावर्त पर एक घोर कलंक था। यह तो अन्धकारमय अन्याय का यन्त्रणा-केन्द्र बनी नरकपुरी थी, जहाँ सहस्रों स्त्रियों को बन्दी बनाकर रखा गया था। भौमासुर नाम के उस असुर को इस नरकपुरी के कारण ही 'नरकासुर' कुनाम प्राप्त हुआ था। ऐसी स्थिति में इस नाम को जड़मूल से उखाड़ना ही एकमात्र उपाय था। श्रीजी यही करना चाहते थे।

तीनों संरक्षक घेरे ध्वस्त होते ही यादव-सेना में असीम युद्ध-ज्वर उमड़ पड़ा। इडादेवी के नाम का अविरत गगनभेदी जयघोष करते हुए सहस्रों यादव प्राग्ज्योतिषपुर की सीमा में घुस गये। काषायध्वज फहरानेवाले द्वारिकाधीश के गरुड़ध्वज रथ को चारों शुभ्र-धवल अश्वों को प्रोत्साहित करते हुए स्वयं भामा ने नरकासुर के रथ से भिड़ा दिया। भामा ने आज लौहत्राण और रणवेश धारण किया था। वह स्त्री नहीं, एक योद्धा ही लग रही थी। स्वामी के उन्नतग्रीव होकर पांचजन्य का प्रेरक नाद करते ही, उनमें और नरकासुर में घनघोर युद्ध छिड़ गया। सीमा-प्रदेश की युद्धभूमि पर असुर-सैनिक और यादव-सैनिक एक-दूसरे पर टूट पड़े।

आर्यावर्त के अन्यायी पूर्वी भाग के साथ न्याय-रक्षक पश्चिमी भाग की यह कड़ी लड़ाई थी। उसका शीघ्र निर्णय होनेवाला नहीं था। प्रथम स्वामी और नरकासुर में भुशुंडियों द्वारा पाषाण-प्रक्षेपण का युद्ध हुआ। उसके पश्चात् उनमें घनघोर धनुर्युद्ध हुआ। प्रहर-प्रहर से दिन चढ़ता रहा। दोनों योद्धाओं में से कोई भी पीछे नहीं हट रहा था। अन्ततः दोनों निर्णायक द्वन्द्वयुद्ध के लिए रथ से नीचे उतरे। शरीर के रोएँ खड़े करनेवाले गदायुद्ध का प्रारम्भ हुआ। पीताम्बर की काछ कसे, कौमोदकी गदा को सहजता से धारण किये स्वामी ने इडादेवी की जयकार की। बड़े आवेश से वे अन्याय की जड़–नरकासुर से भिड़ गये। वे दोनों सैन्य और युद्धभूमि को भूल गये। एक-दूसरे पर प्राणघाती, दृढ़ प्रहार करनेवाले वे दोनों योद्धा झपट पड़नेवाले श्येन पक्षी की भाँति निर्भय दिखने लगे। उनके पैरों के नीचे कामरूप की भूमि का मोटा तृण उद्ध्वस्त होने लगा। उनमें से कुछ तृणपात तो उन दोनों के घावों से टपकते रक्त की बूँदों से सन गये। भामा और दारुक निश्चल होकर रथ में से ही उस रोमांचक संग्राम को निर्निमेष देखते ही रह गये।

दोनों योद्धाओं के वस्त्र रक्त-स्वेदसिक्त हो गये। उस प्राणान्तक गदायुद्ध का निर्णय क्या होगा, इसका अनुमान लगाना कठिन था। सम्भ्रमित, शंकाव्याकुल भामा के मन में एक प्रश्न उभरा–स्वामी अपने तेजयन्त्र सुदर्शन का प्रक्षेपण क्यों नहीं कर रहे हैं?

सन्ध्या होने को थी। मणिपर्वत के निवासी दीर्घ पंखोंवाले श्वेत हिमपक्षी नीड़ों की ओर लौट रहे थे। सुदूर पर्वत-शिखरों को छूता सूर्य-बिम्ब अस्त हो रहा था। यह स्वामी का सवितृ-स्मरण का नियत समय था। हाथ में पकड़ी प्रचण्ड गदा को उन्होंने क्षण-भर के लिए हल्के से उछाला, फिर उसे निहारने के बहाने गोल घूमते हुए सूर्य के आँख भरकर दर्शन किये। दूसरे ही क्षण पैर भूमि में

गड़ाकर पैंतरा लेते हुए, सारे जग को झाँसा देनेवाले नरकासुर को उन्होंने ऐसा चकमा दिया कि सम्मुख खड़ा ग्वाला अचानक उसकी आँखों से ओझल हो गया। वह उसके पीठ पीछे कब और कैसे चला गया, इसे नरकासुर बिलकुल समझ नहीं पाया। अनगिनत कुकृत्यों का पृष्ठ-पोषण करनेवाले नरकासुर की चौड़ी आसुरी पीठ पर श्रीजी का एक प्रबल गदा-प्रहार होते ही वह औंधे मुँह गिर पड़ा। उसकी मिची आँखों के आगे कई सूर्य एक-साथ जगमगा उठे। कराहते हुए, आसुरों की देवी का नाम लेते हुए वह चित हुआ। अस्त होते सूर्यदेव को साक्षी रखकर श्रीजी ने नरकासुर का वक्षस्थल छिन्न-भिन्न करनेवाला शक्तिशाली, निर्णायक गदा-प्रहार किया। आसुरी रक्त के फुहारे छूटे। कामरूप भूमि का मोटा तृण रक्तस्नात हो गया। कार्तिक सुदी चतुर्दशी का दिन था वह।

सेनापति सात्यकि, अनाधृष्टि को दायें-बायें लेकर और देवरजी उद्धव तथा भामा को पृष्ठ में रखकर विजयी स्वामी वहाँ से निकल पड़े। उनके पीछे यादववीरों के हर्षोत्फुल्ल, रणघोष देते दल थे। वे सभी नरकासुर के अत्याचारों के केन्द्रस्थान–कारागृह के आगे आ पहुँचे। वहाँ के सशस्त्र प्रहरी कब के पलायन कर चुके थे। सुदृढ़ बाड़ के पीछे बन्दी स्त्रियों का कोलाहल अस्पष्ट-सा सुनाई दे रहा था। स्वामी के हँसकर दृष्टिक्षेप करते ही सात्यकि ने उस बाड़ के काष्ठद्वार पर पहला गदा-प्रहार किया। उसके पश्चात् विजयी सैनिकों ने हाथ लगे शस्त्रों से उस द्वार को तोड़-फोड़ डाला। उस खड़खड़ाहट से बन्दी स्त्रियों का कोलाहल ऐसे बन्द हुआ मानो किसी ने उनका गला दबा दिया हो। उन भयभीत स्त्रियों को लगा कि नित्य की भाँति झबरे नरकासुर के साथ मुर और उसके साथियों का आसुरी आक्रमण हो रहा है। वे भयाकुल होकर चुपके से एक-दूसरे की ओर टुकुर-टुकुर देखती रहीं। सभी की आँखों में प्रश्न था–'आज किसके भाग फूटनेवाले हैं? आज किस-किस की बारी है?'

यादव समूह के बीच खड़े अत्यन्त तेजस्वी द्वारिकाधीश को देखकर वे हड़बड़ा गयीं। उनकी दुविधा को वे जान गये। बिना कुछ कहे उन्होंने अपना पुष्ट, स्नायुमय बाहु ऊपर उठाया। निकट खड़े उद्धव जी की ओर केवल दृष्टिक्षेप किया। वे तत्काल अग्रसर हुए। दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर उन्होंने कहा, "मेरी प्रिय बहनो, डरिए मत। आप हमें भयभीत दृष्टि से मत देखिए। आप पर कई वर्ष अत्याचार करते रहे पापी नरकासुर का अन्त मेरे प्रिय भ्राता ने कर दिया है। ये हैं द्वारिकाधीश–यादव-नायक महाराज श्रीकृष्ण। उनकी आज्ञा से ही आप सबको अभयवचन देकर मैं घोषित करता हूँ कि अब आप कहीं भी–जहाँ भी जाने की आपकी इच्छा हो, जा सकती हैं।"

नरकासुर का वध हो चुका है, इस सत्य को मान लेने में भी उनको कुछ देर लगी। वे अब बन्धमुक्त हो गयी हैं, इस बात को कुछ समय तक वे समझ नहीं पायीं। अन्यों के मन जानने में तत्पर देवरजी ने इस बात को भाँप लिया। उनको सत्य से अवगत कराने के लिए कण्ठ की धमनियाँ फुलाकर ऊँचे स्वर में उन्होंने कहा, "आप बन्धमुक्त हैं। जहाँ आपका मन करे, वहाँ जाने को आप स्वतन्त्र हैं। नरकासुर मारा गया है।" देवरजी के इस बार-बार कथन के पश्चात् वह स्त्री-सागर सचेत हो गया। उनमें से कुछ उद्ध्वस्त द्वार तथा श्रीजी की ओर हस्त-निर्देश करते, पहले फुसफुसाते हुए, फिर एक-दूसरे को समझाते हुए कुछ बोलने लगीं। सन्दिग्ध शब्द फूट पड़े–'मुक्त...स्वतन्त्र...चाहे जहाँ जाने को...' उनमें से एक निर्भय युवती आगे बढ़ी। भुजाएँ उठाकर उसने मुक्तिघोष किया–'द्वारिकाधीऽश महाराऽज श्रीऽकृष्ण की...जयऽऽ!' सैकड़ों, स्त्री-कण्ठों ने उसका साथ दिया–'...की जऽय... जऽयऽऽ।' असहनीय बन्दी जीवन से विवश बनी

स्त्रियों के झुण्ड कोलाहल और रेल-पेल करते हुए कारागृह के टूटे-फूटे द्वार से दौड़ते-दौड़ते ही निकल गये। उनको देखकर खुले वन की ओर जानेवाली, गोष्ठ की निरीह गायों का स्मरण हो रहा था। वे तो चली गयीं, परन्तु प्राणपण से किया गया उनका मुक्तिघोष–'जयतु-जयतु' अब भी अस्पष्ट-सा सुनाई दे ही रहा था।

कारागृह से नारी-मुक्ति की कार्यपूर्ति करके श्रीजी अपने सहकर्मियों के साथ प्राग्ज्योतिषपुर के राजप्रासाद के प्राकार-वेष्टित प्रांगण में पहुँच गये। वहाँ पदाति दल-प्रमुख ने एक युवा राजकीय बन्दीवान को द्वारिकाधीश के सम्मुख प्रस्तुत किया। यह था नरकासुर-पुत्र भगदत्त! अकस्मात् घटित हुई घटनाओं से वह भयभीत हुआ था। उसके विषय में स्वामी ने पहले ही सम्पूर्ण जानकारी ज्ञात कर ली थी। पिता और उसके अधिकारियों के दमन-सत्र में भगदत्त का तनिक भी भाग नहीं था। वह मूलत: पापभीरु था। प्राणदण्ड के भय से वह सन्न रह गया था। स्वामी ने उद्धव जी से विचार-विमर्श किया। तत्पश्चात् आगे बढ़कर उन्होंने बन्दी भगदत्त के कन्धे पर अपना स्नेहशील हाथ रखा। झट से झुककर भगदत्त ने श्रीचरण पकड़ लिये। उसको थपथपाते हुए श्रीजी ने ऊपर उठाया और अपने विशाल हृदय से लगाया। उन्होंने कहा, "भगदत्त, भयभीत मत हो। अब इस राज्य को तुम्हें ही सँभालना है। अपने पिता की भाँति नहीं, –स्वयं अपने ढंग से। अपने पिता का अग्निकर्म अब ब्रह्मपुत्र के तट पर तुम ही सम्पन्न करो। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है।" श्रीजी ने वहीं पर सेनानायकों को आज्ञा दी–"असुरों में मरणाशौच की रूढ़ि नहीं होती। अत: कल ही नगर के प्रमुख चौक में असुरराज भगदत्त का राज्याभिषेक आयोजित किया जाए। स्वयं मैं उसके सिर पर असुरों का राजकिरीट रखूँगा–नगरजनों के समक्ष। सम्पूर्ण नगर में इसकी घोषणा की जाए।"

उस रात लोहितगंगा के तट पर स्थित विस्तृत शिविर में देवरजी और भामा के साथ श्रीजी कुछ चर्चा करते हुए विश्राम कर रहे थे। तैल से प्रज्वलित मशालें जल रही थीं। सशस्त्र प्रहरी बाहर पहरा दे रहे थे। देवरजी कह रहे थे, "भैया, आप भी सहज ही भूल जाएँगे, परन्तु आज के भाग्यशाली दिन को मैं कभी भूल नहीं पाऊँगा।"

इतने में कुछ स्त्रियों की फुसफुसाहट और उनको रोकने के लिए प्रहरियों का डाँटना सुनाई दिया। श्रीजी ने अपने भ्राता उद्धव जी की ओर दृष्टि डाली। उनका अभिप्राय जानकर देवरजी शिविर से बाहर गये। कुछ ही समय में स्त्रियों की एक टोली को साथ लेकर वे वापस लौटे। उन्होंने श्रीजी से कहा, "इनका कुछ कहना है, और मैंने वह सुन लिया है, भैया। परन्तु इनकी समस्या जटिल है। इन्हीं के मुख से आप उसे सुनें, यही अधिक उचित होगा।"

कारागृह से मुक्ति पाते समय जो धैर्य से अग्रसर हुई थी, उसी सबसे अधिक युवा स्त्री ने पहल की–"महाराज, हम सभी आप की ऋणी हैं। यह ऋण कभी उतारा नहीं जा सकता। जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते थे, वह मुक्ति का प्रकाश आपने हमें दिखाया है। कहीं भी जाने की स्वतन्त्रता उदार हृदय से आपने हमें प्रदान की है। परन्तु...परन्तु..." वह ठिठक गयी। 'कैसे कहा जाए?' वह दुविधा में पड़ गयी।

"परन्तु क्या? बिना झिझक, निर्भय होकर कहो–डरो मत।" श्रीजी ने उसे धीरज बँधाया।

जैसे-तैसे, बड़े धैर्य से उसने कहा, "हममें से कुछ यहाँ की–प्राग्ज्योतिषपुर की ही निवासी हैं। आपके मुक्ति दिलाते ही वे अति प्रसन्नता से, शीघ्र गति से अपने-अपने घर पहुँचीं। परन्तु..." वह

पुन: रुक गयी।

“परन्तु क्या? कहो...कहो...” श्रीजी के भाल पर कभी न दिखनेवाली लकीरें खिंच गयीं।

“परन्तु...महाराज, उनके स्वजनों ने उन्हें पतिता, भ्रष्टा मानकर अस्वीकृत किया है। उनको घर से निकाल बाहर कर दिया है। आपने तो हमको मुक्तिदान दिया, परन्तु हमारे स्वजन हमें आश्रय नहीं दे रहे हैं। समाज भी हमें स्वीकार नहीं कर रहा है, तब हम कहाँ जाएँ? क्या करें? असुर के कारागृह में हम लौटना चाहें तो भी लौट नहीं सकतीं, क्योंकि वह तो अब रहा ही नहीं। असुर का तो आपने ही वध किया है। अब हम कहाँ जाएँ? किस मुँह से? कैसे?” वह थी त्वष्टा राजा की षोडश वर्षीया कन्या–कशेरू! सिर झुकाकर, असह्य व्यथा से वह सिसकने लगी। अन्य स्त्रियाँ भी सिसकती हुई उसकी पीठ थपथपाकर उसको सान्त्वना देने लगीं। अपने दोनों हाथ परस्पर पीछे पकड़कर श्रीजी शिविर में चक्कर काटने लगे। ऐसा वे क्वचित् ही करते थे। वे अपने-आप से ही कुछ बुदबुदाये। तत्पश्चात् अपना वही स्वाभाविक मधुर हास्य मुख पर बिखेरते हुए उन्होंने अपने भ्राता से कहा, “ऊधो, इन सभी स्त्रियों को कल राज्याभिषेक के समय नगर के प्रमुख चौक में उपस्थित रखने का प्रबन्ध करो। इनके साथ भी न्याय किया जाएगा। तुम जिसे समस्या कह रहे हो, वह समस्या ही नहीं है। उसका समाधान भी अपनी पद्धति से ही होगा। इन सबका उचित प्रबन्ध करो।”

दूसरे दिन प्राग्ज्योतिषपुर का प्रमुख राजचौक कामरूप के स्त्री-पुरुष नगरजनों से खचाखच भर गया, इतना कि तिल रखने की भी जगह नहीं बची। चौक के मध्य, मण्डप में ऊँची, प्रशस्त-सी चौकोनी राज्याभिषेक वेदी बनायी गयी थी। कामरूप के परिश्रमी कारीगरों ने एक ही रात्रि में वेदी बनाकर उसको पुष्पमालाओं से सुशोभित किया था। राज्याभिषेक के लिए आवश्यक सभी सामग्री सुचारु रूप से वेदी पर रखी गयी थी। नरकासुर का शासन उसकी प्रजा को असह्य हुआ था, इसीलिए नये युवा राजा के स्वागत के लिए नगरजन सज-धजकर बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित हुए थे। राज्याभिषेक के मुहूर्त के पूर्व एक घटिका तक पहाड़ी वाद्यों ने सम्पूर्ण परिसर निनादित कर रखा था। उद्धव जी की सूचना के अनुसार सोलह सहस्र कामरूपी स्त्रियाँ भी वहाँ उपस्थित हुई थीं। यादव और कामरूप के योद्धाओं ने उनका मार्गदर्शन करके उनको एकत्र ही बिठा दिया था। इतनी बड़ी संख्या में होते हुए भी वे कटु जीवनानुभव के कारण चुप्पी साधे बैठी थीं। भाग्य में क्या लिखा गया है, इस चिन्ता से ग्रस्त थीं वे। कामरूप के राजपुरोहित मन्त्र-पठन करते हुए वेदी पर टहल रहे थे। वहाँ एकत्र हुए प्रचण्ड समुदाय के चारों ओर सशस्त्र यादव-सैनिकों ने घेरा डाला था। भगदत्त के राज्याभिषेक के मुहूर्त के कुछ ही समय पूर्व अलंकृत गरुड़ध्वज रथ पर आरूढ़ श्रीजी ने भगदत्त के साथ उस चौक में प्रवेश किया। उनके स्वागत के लिए पहाड़ी वाद्यों का घोष उठते ही वहाँ का कोलाहल शान्त हुआ। भगदत्त को अपनी दायीं ओर रखकर, कामरूप के स्त्री-पुरुष नगरजनों को नम्रवन्दन करते हुए श्रीजी बिछाये हुए पाँवड़ों पर से चलने लगे। उनके पीछे देवरजी, दोनों सेनापति और भामा भी। वेदी की ओर जाते हुए द्वारिकाधीश, भगदत्त, देवरजी, भामा आदि पर नगरजन दोनों हाथों से पुष्प-वर्षा करने लगे।

भगदत्त और अपने राजपरिवार सहित श्रीजी वेदी पर चढ़ गये। उनके स्वागत में तालियों की गड़गड़ाहट गूँज उठी। नरकासुर के कारागृह से मुक्त, वहाँ उपस्थित सभी स्त्रियाँ भी उसमें सहभागिनी थीं।

पुरोहित ने धीर-गम्भीर स्वर में मन्त्रपाठ का आरम्भ किया। भगदत्त के मस्तक पर अभिमन्त्रित जल का प्रथम अभिषेक होते ही वह अन्तर्बाह्य पवित्र हो गया। उसके असुर कुल में इसके पूर्व यह भाग्य किसी को भी प्राप्त नहीं हुआ था। उसके पिता को भी नहीं। छल-कपट से राज्य छीन लेने की ही उनकी परम्परा थी।

अभिषेक-स्नान के पश्चात् वेदी पर ही दो सैनिकों के थामे पट के पीछे भगदत्त ने उनका परम्परागत पहाड़ी आसुरी राजवेश धारण किया। कटि में बँधे अतलसी वस्त्रों पर अपनी प्रथा के अनुसार उसने मृगचर्म कसा। कण्ठ में मोतियों की मालाओं के साथ-साथ रंगबिरंगी वन-मणियों की मालाएँ धारण कीं। वक्ष पर असुर कुल का मानचिह्न–दहाड़ते व्याघ्रमुख का ताम्रपदक–धारण किया। वेदी पर रखे आसन पर बैठे देवरजी वह आनन्दोत्सव ध्यानपूर्वक देख रहे थे।

पुरोहित भगदत्त को वेदी के मध्य रखे सबसे ऊँचे राज-आसन के निकट ले आये। उस आसन पर भी व्याघ्र-सिंहचर्म बिछाये थे। वेदी के चारों कोनों पर रखे जल के ताम्र-कण्डालों में छोड़े मृत्तिका के घटिका-पात्र डूबने को आये। पुरोहितों का मन्त्रपाठ अधिक गतिमान हुआ। वहाँ एकत्र हुए समूह की उत्कण्ठा अत्यधिक बढ़ गयी। जिस प्रमुख पुरोहित के हाथ में असुरों का परम्परागत राजकिरीट था, उसने श्रीजी के आसन के निकट आकर, नतमस्तक होकर उनसे अनुरोध किया। श्रीजी उठकर पुष्पमालाओं से मण्डित राज-आसन के समीप गये। तबक में रखे किरीट को हस्त-स्पर्श करने से पहले उन्होंने कटि में खोंसा पांचजन्य अपनी विमल हथेली में ले लिया। पुष्ट ग्रीवा को गगनगामी उठाया। कण्ठ-नलियों को फुलाकर उन्होंने उस दिव्य स्वर-यन्त्र से कुछ ऐसे स्वर्गीय स्वर फूँके कि मन्त्रपाठ करनेवाले असुर पुरोहित, पहाड़ी वादक स्तब्ध हो गये। वहाँ एकत्र स्त्री-पुरुषों का जन-समुदाय अपने-आप वेदी की ओर खिंच गया। घटिका-पात्र के डूबते-डूबते श्रीजी ने राजकिरीट भगदत्त के मस्तक पर रख दिया। वेदी पर पुष्प-वर्षा करते-करते लाखों कण्ठों ने घोष किया–"द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण महाराऽज की ऽजऽय...जऽऽय! कामरूपाधिपति भगदत्त महाराऽज की ऽ जऽऽय...जऽऽय!"

सभी के समक्ष भगदत्त श्रीचरणों में वीरासन की मुद्रा में बैठ गया। मस्तक का किरीट उतारकर नम्रता से उसने वह श्रीजी के चरणों के समीप रख दिया और कृतज्ञता से अपना मस्तक श्रीजी के चरणों पर रख दिया।

प्रेमयोग को ही जीवन-योग माननेवाले श्रीजी ने एक हाथ से किरीट उठाते हुए दूसरे हाथ से भगदत्त को ऊपर उठाया। किरीट पुन: उसके मस्तक पर रखकर उसका दृढ़ आलिंगन किया।

भगदत्त के अमात्य ने हाथ उठाकर उपस्थित नगरवासियों को शान्त किया। उन्होंने कहा, "अब द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण महाराज हमारे नूतन महाराज को आशीर्वाद देंगे। उनके विषय में–विशेषत: उनकी मधुर वाणी के विषय में–हम बहुत-कुछ केवल सुन चुके हैं। आशा है, इस शुभ अवसर पर उसे प्रत्यक्ष सुनने का सौभाग्य हमें प्राप्त होगा।"

वेदी पर रखे राज-आसन के दाहिने हत्थे में उत्कीर्ण सुनहरे सिंहमुख पर श्रीजी का हाथ सहज ही विराजित हुआ। वे उठकर खड़े हुए और अपनी सहज मधुर वाणी में बोलने लगे। इतनी शान्ति छा गयी कि वेदी की सुशोभित छत में बँधे बन्दनवार के किसी आम्रपर्ण पर, पूँछ उठाकर फुदकनेवाली एकाध चींटी नीचे गिर जाती तो वह ध्वनि भी सबको सुनाई देती–"कामरूप राज्य के नगरजनो, असुरश्रेष्ठ भगदत्त को आज मैं तुम्हारा राजा घोषित करता हूँ। उसके पिता के

निर्मम शासन को तुम सभी ने अनुभव किया है। मुझे पूरा विश्वास है कि उसी अनुचित मार्ग का अनुसरण तुम्हारे नूतन महाराज कभी नहीं करेंगे। कामरूप के ऊँचे-ऊँचे पर्वतों का आदर्श ही वे निरन्तर अपने समक्ष रखेंगे। वृद्धि और विकास ही जीवन के मुख्य चिह्न हैं। यह जानकर अपने प्रजाजनों का वे अपत्यवत् पालन करेंगे। मेरे आशीर्वाद सदैव उनके साथ रहेंगे। आवश्यकता होने पर मेरे जनपद–द्वारिका की सामर्थ्य भी उनके साथ होगी।

"पौरजनो, भगदत्त को मैंने पुत्रवत् माना है। अत: उसके पिता–नरकासुर ने मानवता को कालिख पोतने का जो घोर पाप किया है उसे प्रक्षालित करने का दायित्व मैं स्वेच्छा से स्वीकार करता हूँ। नरकासुर ने बलात् कारागृह में डाल रखी, अनगिनत अत्याचारों की बलि चढ़ी सहस्रों आर्य स्त्रियों को मैंने और मेरे यादवों ने मुक्ति दिला दी है। परन्तु मुझे ज्ञात हुआ है कि उनको स्वीकार करना अन्ध रूढ़ियों से ग्रस्त निष्ठुर समाज को स्वीकार नहीं है। वह उनको भ्रष्टा, पतिता, कलंकिता मानता है। किन्तु इसमें उन स्त्रियों का क्या दोष है? कुछ भी नहीं। इसलिए मैं–द्वारिका के महाराज वसुदेव का पुत्र श्रीकृष्ण उन सभी स्त्रियों को प्रकट अभयदान की घोषणा करता हूँ।

मेरे प्रिय भ्राता उद्धव ने रात-भर जागकर कामरूप के अमात्य और सैनिकों की सहायता से एक ही 'कृष्णमणि' के सहस्रों मंगलसूत्र तैयार किये हैं। हे समाज की बहिष्कृत नारियो, मैं तुम्हें पत्नी के रूप में स्वीकार करता हूँ। मंगलसूत्रों की थालियों को मैं हस्त-स्पर्श करता हूँ। भ्राता उद्धव सैनिकों की सहायता से ये मंगलसूत्र तुम्हें देंगे। इसे कण्ठ में धारण करके समस्त आर्यावर्त में कहीं भी और किसी से भी तुम सिर उठाकर कह सकती हो कि 'मैं द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण की पत्नी हूँ।'

"आज से तुम द्वारिका की बन गयी हो। ससुराल नहीं, नैहर समझकर तुम वहाँ मुक्त मन से रह सकती हो। लक्षावधि यादवों की भाँति तुम्हारा भी पुनर्वास मैं द्वारिका में करता हूँ। निस्सन्देह आज, इसी क्षण से तुम मुक्त–पूर्णत: मुक्त हो गयी हो।"

नरकासुर के कारागृह से छूटी स्त्रियों से भरी प्रचण्ड नौकाएँ खाड़ी पार करके द्वारिका के शुद्धाक्ष द्वार पर आने लगीं। उनके साथ आये संरक्षक दल-प्रमुख ने मुझे सविस्तार वृत्तान्त बताया। जिस विश्वास के साथ स्वामी ने उन स्त्रियों को भेजा था, उसे मैंने श्रीपत्नी के नाते पहले ही अपनी तीन बहनों का स्वागत करके सार्थक किया था। अब भी उसी भाव से मैंने सहस्रों स्त्रियों का स्वागत किया। श्रीजी के सन्देश के अनुसार उनके पुनर्वास-कार्य के लिए मैं कटिबद्ध हो गयी। गर्ग मुनि को आमन्त्रित करके उनके स्थापत्य-दल को कामरूपी स्त्रियों के लिए उपनिवेश के निर्माण-कार्य का आदेश दिया। द्वारिका-निर्माण के समान ही यह प्रचण्ड निर्माण का कार्य था।

अब मैं प्रतीक्षा कर रही थी श्रीजी के प्रत्यक्ष दर्शन की। भामा के बारे में सुनकर तो मैं इतनी आतुर हुई कि कब उससे मिलूँ और जी भर के स्वामी के पराक्रम की बातें सुनूँ! परन्तु दल-प्रमुख ने जो समाचार सुनाया, उसका अभिप्राय था कि उनकी प्रतीक्षा का समय अभी समाप्त नहीं हुआ है। भामा को साथ लेकर वे नग्नजित राजा के कोसल देश में चले गये थे। वहाँ से वे सीधे हिमवान में जानेवाले थे। बहुत दिनों की अमरनाथ गुफा में स्थित स्वयम्भू हिमलिंग के दर्शन करने की इच्छा उनको पूर्ण करनी थी। हिमलिंग के दर्शन के लिए उनका अमरनाथ जाना मैं समझ सकती थी, परन्तु कोसल राज्य में उनके प्रयाण का प्रयोजन मेरे ध्यान में नहीं आ रहा था। दल-प्रमुख से

मैंने खोद-खोदकर पूछताछ की, परन्तु उसको कुछ भी ज्ञात नहीं था। अमरनाथ के स्वयम्भू शिवलिंग के बारे में मैंने बहुत-कुछ सुना था। उसके दर्शन करने की तीव्र इच्छा कई बार मेरे मन में उभरी थी। परन्तु अब तो सत्यभामा की आँखों से ही मुझे अमरनाथ के दर्शन होने थे। इसीलिए मैं उत्सुकता से उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। दो सप्ताह पश्चात् कोसल से श्रीजी के विक्रम की सूचना द्वारिका आ पहुँची। उस राज्य में वे ऐसे ही नहीं गये थे। नग्नजित ने विशेष राजदूत को प्राग्ज्योतिषपुर भेजकर श्रीजी के द्वारिकाधीश पद को ललकारा था। उसका सन्देश था–'सोलह सहस्र बन्दी स्त्रियों का उनको मुक्त करवाकर वरण करना सरल है, सुगम है। पण पूरा करके कोसल राजपुत्री को जीतने का आह्वान दुस्साध्य है। मेरे देश के सात पुष्ट वृषभों को नकेल डालकर उनको वृषभ-रथ से जोतने में समर्थ वीर क्षत्रिय के लिए मैंने पण रखा है। उसे पूरा करने की सामर्थ्य रखते हो, तो कोसल की गण्डकी नदी के तट पर बसे राजनगर श्रावस्ती चले आओ।'

उस सन्देश को सुनकर श्रीजी चुप रहते, यह तो असम्भव था। कोसल के दूत के साथ अपने विशेष दूत को भेजकर उन्होंने कोसलराज नग्नजित को प्रति-सन्देश भिजवाया–'मदोन्मत्त पुष्ट साँड़ों को नकेल डालकर वश में करने का मुझे बचपन से ही अभ्यास है। मैं तो जन्मजात ग्वाला हूँ–गोकुल में रहनेवाला। ग्वाले को वृषभों से कैसा डर! द्वारिकाधीश होने के पश्चात् पौरजनों में से कई मदोन्मत्त वृषभों को भी मैं नकेल डाल चुका हूँ। इस अभिप्राय से भी मैं ग्वाला ही हूँ। गण्डकी के जल से सूर्यदेव को अर्घ्य अर्पण करने का अवसर अब तक तो मुझे प्राप्त नहीं हुआ है। उसे पाने के लिए और गण्डकी का जल-प्राशन करने मैं आ रहा हूँ। दर्शन का लाभ दीजिए।'

इस सन्देश के अनुसार स्वामी ने कौशिकी नदी को पार करके सेना समेत कोसल राज्य में प्रवेश किया। मगध देश निकट ही था। जरासन्ध की सैनिकी गतिविधियों पर वे सतर्क दृष्टि रखे हुए थे। कोसल जाते समय मगध देश को टालने के लिए वे उसकी दक्षिण सीमा से हो लिये थे। लौटते समय पुनश्च मगध को एक ओर रखकर उसकी उत्तर सीमा से उन्होंने यात्रा की थी। शरयू तट पर बसी अयोध्या कोसल की श्रीरामकालीन राजनगरी थी। परन्तु अब पूर्व दिशा में गण्डकी के तट पर बसी श्रावस्ती कोसल की राजनगरी बनी थी। गण्डकी का ही दूसरा नाम था सदानीरा। वह श्वेतजलवाहिनी थी।

कोसलपुत्री सत्या के स्वयंवर का पण पूरा करने के लिए द्वारिकाधीश आ रहे हैं, यह समाचार पण के लिए रेखांकित किये गये खुले क्रीड़ास्थल तक पहुँच गया। राजा नग्नजित और स्वयंवर के लिए आमन्त्रित, हिमवान की तलहटी में एकत्र हुए अनेक राजाओं को चकित कर दें, ऐसी अद्भुत घटना सदानीरा के तट पर घटित हुई। क्रीड़ास्थल पर उपस्थित कोसल के नगरजन अचानक दौड़ने लगे। उनके झुण्ड-के-झुण्ड आकृष्ट होकर श्रीदर्शन के लिए गरुड़ध्वज रथ की ओर दौड पड़े।

प्रचण्ड कोलाहल करते कोसलवासियों की भीड़ के साथ ही गरुड़ध्वजारोही द्वारिकाधीश का पण के क्रीड़ास्थल पर आगमन हुआ। रथनीड़ पर उनके साथ भामा और देवरजी उद्धव भी थे। संरक्षित घेरे में डिडकारते सात पुष्ट साँड़ों को देखकर वीरश्री से उद्दीप्त होकर श्रीजी रथ से नीचे उतरे। घेरे के मध्य ऊँचे पहियोंवाला, सुदृढ़, पुष्पमालाओं से मण्डित वृषभ-रथ खड़ा था। उसके रंगीन नीड़ पर गेरुए रंग के मोटे रस्से की, सुनहरे धागों से सुशोभित कुछ नकेलें डाली हुई थीं। जुआ टिकाये हुए खुले रथ के आसपास जो भी दिख पड़े, उससे टकराने के लिए अधीर सात पुष्ट

साँड़ मत्त होकर डिडकारते हुए इधर-उधर चक्कर काट रहे थे। उनमें से कुछ दुग्ध-धवल वर्ण के थे, कुछ ललछौंहे तो कुछ काले-मटमैले वर्ण के थे। क्षण-भर में ही श्रीजी ने पीताम्बर की काछ कस ली। स्तिमित होकर सब देखते ही रहे। तभी वाद्यों के घोष में श्रीजी सातों साँड़ों से भिड़ गये। दर्शकों को आक्रमण करनेवाली सात शुभ्र, ललछू, मटमैली आड़ी-टेढ़ी रेखाएँ और उनको चपलता से चकमा देनेवाली एकमात्र नीलवर्णी रेखा में छिड़ी भीषण भिड़न्त, केवल इतना ही दिख रहा था। मथुरा में बलराम भैया और उन्होंने महाकाय कुवलयापीड़ हाथी को किस प्रकार हतप्रभ किया होगा, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण ही कोसलवासियों को देखने को मिला। क्रीड़ागण में दिखती चपल नीलरेखा एक-एक वृषभ को चकमा दे-देकर कब शान्त कराती है, रथनीड़ पर पड़ी नकेल को उठाकर कब उसके नासिका-छिद्र में डाल देती है, किसी के कुछ ध्यान में नहीं आ रहा था।

कहते-कहते श्रीजी ने सातों कोसली पुष्ट वृषभों को नकेलें डालकर रथ के साथ जोत दिया और क्रीड़ास्थल के चारों ओर सरपट चक्कर लगाया। पूरा क्रीड़ागण तालियों की गड़गड़ाहट के साथ-साथ ओजस्वी, प्रोत्साहक घोषणाओं से गूँज उठा—"गोकुल के गोपराज कन्हैया कीऽ जय होऽ!... नरेशों में नरवृषभ द्वारिकाधीश महाराऽज श्रीऽकृष्ण...जयतु...जयतु!"

श्रमित, क्लान्त वृषभों के मुँह से निकला झाग और लार के तार भूमि पर टपकने लगे थे। हाँफनेवाले उन भयभीत वृषभों की ओर अब तक अपलक देखनेवाले गरुड़ध्वज रथ के चार हिमशुभ्र अश्वों में से एक पूँछ हिलाकर हिनहिनाया। इसी समय कोसलपुत्री सत्या ने द्वारिका के ग्वाले के कण्ठ में वरमाला डाल दी थी! सदानीरा नदी अपने तट पर घटित इस नाटक की साक्षी बनकर मन्द-मन्द बह रही थी।

स्पष्ट था, अब किसी दल-प्रमुख के साथ आनेवाली श्रीजी की पंचम पत्नी का स्वागत करने का कर्तव्य मुझे ही निभाना होगा। इस कार्य के लिए मैं तैयार हो गयी। हिमवान की तलहटी की उस क्षत्राणी का रूप कैसा होगा, आचरण कैसा होगा, द्वारिका में वह कैसे निर्वाह कर पाएगी, इस प्रकार के विचार मेरे मन में उभरने लगे।

इसी प्रकार कुछ दिन बीत गये। एक दिन अचानक शुद्धाक्ष महाद्वार के स्वागत-कक्ष में भेरी, तुरही, नगाड़ों की ध्वनि के पश्चात् मेरी परिचित कई बाँसुरियों की विशेष धुन बज उठी। यह धुन रनिवास के केवल श्री-पत्नी के आगमन का संकेत दिया करती थी। उसे सहजता से पहचाना जा सके इसलिए मैंने ही स्वागत-कक्ष के प्रमुख को सूचना देकर अब वहाँ श्रीजी के प्रिय बाँसुरी-वादकों की नियुक्ति करवायी थी।

आज वह धुन अविराम, ऊँचे स्वर में सुनाई देने लगी। मैंने भाँप लिया—सत्या आयी है।

रनिवास के द्वीप से जाम्बवती और मित्रविन्दा के साथ मैं दो दिन पूर्व ही मूल द्वारिका आयी थी। वे दोनों मेरे प्रासाद में मेरे साथ ही रही थीं। उनको साथ लेकर बड़े कुतूहल से मैं सत्या के स्वागत के लिए शुद्धाक्ष द्वार पर आयी। लेकिन यादव स्त्री-पुरुषों के प्रचण्ड समूह में स्वयं सत्यभामा को—सत्या को रथ से उतारते देखकर मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं रही। सत्या तो आनेवाली ही थी, परन्तु उसके साथ भामा कैसे आ गयी? पहेली कुछ समझ में नहीं आ रही थी।

क्षण में ही सारे प्रश्नों को झटककर मैंने दोनों का स्वागत किया। भामा तो देखते ही मुझसे लिपट गयी। सत्या हम दोनों की ओर देखती ही रही। भामा से बहुत-कुछ पूछने के लिए मैं तो अधीर हो रही थी। वह भी सब-कुछ बताने को उतनी ही उत्सुक थी। यह उसकी आँखों में ही मुझे

प्रतीत हुआ।

मूल द्वारिका में मेरे प्रासाद में आने के पश्चात् धीरे-धीरे भामा ने उसके अमरनाथ जाने के बदले द्वारिका लौट आने का कारण बताया। ‘अमरनाथ की गुफा हिमवान के अत्युच्च शिखर पर है। कोसल देश से अमरनाथ तक का मार्ग हिमवान की तलहटी से कभी हिममय प्रदेश से होकर तो कभी घने अरण्यों से गुजरता है। अमरनाथ-यात्रा का यह प्रथम चरण पूरा करते ही हिमवान की खड़ी चढ़ाई का दूसरा चरण आरम्भ होता है। वह हिम-घाटियों के दुर्गम मोड़ों से भरा है। सेना के साथ जग को जीता जा सकता है, हिमवान को नहीं।’ प्रथम यह कारण बताकर पश्चात् इस यात्रा के कष्टों को झेलना स्त्री के लिए सम्भव नहीं है, यह बात स्वामी ने भामा को समझायी थी। यह सुनकर बीच में ही बरजते हुए मैंने उसे छेड़ा, “उन्होंने समझाया होगा, परन्तु सदा की अपनी टेक, अपना हठ छोड़कर स्वामी का कहना तुमने कैसे मान लिया?”

वह भी कुछ कम नहीं थी। उसने कहा, “दीदी, वे मुझे अपने साथ ले जाएँ, इसके लिए मैंने बहुत प्रयास किया। मैंने उनसे कहा भी कि किसी भी प्रकार का श्रम, कष्ट उठाने में मुझे कोई भी आपत्ति नहीं होगी। मुझे अमरनाथ जाना ही है। आप ले चलिए न मुझे अपने साथ! परन्तु दीदी, बिना अधिक कुछ कहे उन्होंने अपना नित्य का ‘कृष्णजाल’ फैलाया। उन्होंने कहा, ‘भामा, लगता है तुम नहीं चाहती कि मैं हिमलिंग के दर्शन करूँ। चलो, वहाँ जाने का विचार ही मैं छोड़ देता हूँ। परन्तु...परन्तु...एक बात अवश्य है...’ अमरनाथ जाने का विचार उन्होंने त्याग दिया है, यह सुनकर मैं थोड़ा हड़बड़ा गयी। फिर भी मैंने पूछा, ‘कौन-सी बात?’

“तब मुझे अपना हठ छोड़ने के लिए विवश करनेवाला युक्तिसंगत कारण अपनी उसी मोहक मुस्कान के साथ उन्होंने बताया। “तुम क्या सोचती हो, क्या कहा होगा उन्होंने?” मैं भी सोच में पड़ गयी। भामा को निरुत्तर करनेवाली, हठ छोड़ने को विवश करनेवाली कौन-सी बौद्धिक चाल चली होगी श्रीजी ने? कुछ समय पश्चात् चुटकी बजाकर मैंने धीरे-से कहा, “भामा, उन्होंने कहा होगा–‘यही बात मैं रुक्मिणी से कहता तो वह झट से मान जाती। तनिक भी आनाकानी न करती कभी। मुझसे ही भूल हो गयी, मेरे ध्यान में आना चाहिए था कि तुम रुक्मिणी नहीं हो’।”

भामा की विशाल, कजरारी आँखें आश्चर्य से और बड़ी हो गयीं। आवेग से मेरी भुजाओं को कसकर पकड़कर विस्मय से वह चिल्लायी, “रुक्मिणी दीदी, यही कहा उन्होंने और वह भी इन्हीं शब्दों में! तुमने कैसे भाँप लिया?” मैं केवल मुस्करायी।

तत्पश्चात् मैं उसके द्वारिका से निकलकर वापस लौटने तक की नानाविध घटनाओं के विषय में बातें करती रही। यात्रा के मार्ग में उससे मिले भिन्न-भिन्न देशों के नगरजन, उनके वेश, रहन-सहन, प्रथाओं के सम्बन्ध में बहुत समय तक हमारा वार्तालाप होता रहा। बातें हो रही थीं, परन्तु मेरे अन्तर्मन की गहराइयों में आभास हो रहा था कि श्रीजी को यदि यादवों में सबसे अधिक प्रिय कोई है, तो वे हैं देवरजी उद्धव। तभी तो अमरनाथ जाते समय वे उन्हीं को साथ ले गये थे।

सत्या के द्वारिका आने के पश्चात् कुछ ही दिनों में ज्येष्ठ सेनापति अनाधृष्टि यादवों की लगभग सम्पूर्ण सेना सहित लौट आये। भगदत्त द्वारा उपहार में दिये गये बीस सहस्र हाथी, चालीस सहस्र हथिनी, अठारह सहस्र अश्व और अठारह सहस्र दुधारू गायें–इतना प्रचण्ड पशु-समूह वे इतनी दूर तक सुरक्षित ले आये थे। पहले से ही असंख्य यादव नर-नारियों से भरी-पूरी द्वारिका में

सहस्रों कामरूपी स्त्रियाँ और नित्योपयोगी विपुल पशुधन के आने से चहल-पहल और बढ़ गयी। उनके उचित प्रबन्ध के लिए कष्ट उठाने में अमात्य और मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों ने दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा। भगदत्त से उपहार में मिले विपुल स्वर्ण, नानाविध रत्न और कामरूपी शैली के अलंकार द्वारिका के कोशागार में जमा किये गये।

इतना सारा वैभव लाये सत्या के आगमन को शुभ माननेवाले श्रद्धालु यादव उसका बहुत सम्मान करने लगे। शीघ्र ही वह श्रीजी के रनिवास में घुल-मिल गयी। उसकी एक विशेषता थी। वह नृत्य-कला में अत्यन्त निपुण थी। राजकुमारी होते हुए भी इस परिश्रम-साध्य कला के अभ्यास में उसने न कभी ढिलाई बरती, न एक दिन भी उसमें व्यवधान पड़ने दिया। सौन्दर्यखानि सत्या अपने प्रासाद में नित्य तब तक नृत्याभ्यास करती रहती, जब तक वह स्वेदसिक्त न हो जाए। अपने मार्गदर्शक गुरु को वह कोसल से–अपने नैहर से साथ ले आयी थी।

नित्याभ्यास के पश्चात् स्वेदसिक्त सत्या को उत्तरीय से कण्ठ, मुखमण्डल पोंछते हुए देखने में एक अलग ही आनन्द था। अब तक तो श्रीजी इस आनन्द से वंचित ही रहे थे।

एक माह बीत गया। शरयू, गोमती नदियों को पार करते हुए गंगा-तट से स्वामी पांचालों की सीमा पर आ गये। नौकाओं द्वारा उन्होंने यादव-सेना को पांचालों के राजनगर काम्पिल्यनगर भिजवा दिया। हिमवान के शीत प्रदेश में टिक पाएँ ऐसे परिश्रमी यादव-योद्धाओं को चुनकर उन्होंने अपने साथ लिया। सेनापति सात्यकि पांचालराज द्रुपद की सहायता से सेना को यमुना के पार करवाकर, कुन्तिभोज राज्य से होकर सौराष्ट्र भिजवाने का प्रबन्ध करनेवाले थे। स्वयं स्वामी की सेवा में लौटनेवाले थे। योजना के अनुसार महारथी सात्यकि चले गये। बातों-ही-बातों में स्वामी सदा जिसका उल्लेख किया करते थे, उस कुरुराज्य की सीमाओं से होकर ही अब उनको यात्रा करनी थी। परन्तु पाण्डव-विहीन हस्तिनापुर की ओर वे मुड़नेवाले नहीं थे। यहाँ तक कि कुरुराज्य की सीमा से होकर वे गुजर रहे हैं, इसकी भनक भी अन्धराजा धृतराष्ट्र के कानों में न पड़े इसलिए वे सतर्क थे। उनके साथ यादव-सेना के न होने से इस बात को गुप्त रखना सम्भव हुआ। मार्ग में गन्धमादन पर्वत की ओर जानेवाला हिमालय का मोड़ आ गया। उस पड़ाव पर ऊँचे हिमपर्वत के शिखरों की ओर देखते हुए स्वामी ने देवरजी से कहा, "उद्धव, सम्भव होता तो इसी समय मैं तुम्हें लेकर गन्धमादन पर चला जाता। न जाने क्यों, अपने इस प्रवास-काल में मुझे तीव्रता से प्रतीत हो रहा है कि मेरा इस पर्वत से दृढ़ पूर्व सम्बन्ध है। इस पर्वत पर अलकनन्दा नदी के तट पर अयोध्या-भूषण श्रीराम ने कुछ समय तक वास किया था। विशेष बात यह है कि कुन्ती बुआ के सभी पुत्रों ने इसी पर्वत पर जन्म लिया है।

दोनों बन्धु कुरुराज्य की सीमा से गंगा नदी पार करके, उसके तट से ही इने-गिने यादवों सहित तीर्थक्षेत्र हरिद्वार पहुँच गये। पूर्व निश्चय के अनुसार वहाँ सेनापति सात्यकि की प्रतीक्षा में पड़ाव डाला गया था। यादव-सेना का द्वारिका लौटने का उचित प्रबन्ध करके सात्यकि अपने चुनिन्दा रथियों सहित स्वामी के दल से आ मिलें। अब इस दल में केवल तीन प्रमुख योद्धा और इने-गिने परिश्रमी साथी रह गये थे। यह छोटा-सा दल हरिद्वार से निकलकर बीच के मार्ग से ब्रह्मावर्त में से यमुना-तट पर आ गया। यह वही नदी थी, जिसके तट पर श्रीजी का बचपन रमणीय क्रीड़ा में व्यतीत हुआ था। उसके जल में स्नान करके सूर्यदेव को अर्घ्यदान देते हुए श्रीजी ने, सबको सुनाई दे इस प्रकार जोर से कहा–"यमुना: पुनातु माम्।" वह सुनकर भी चुप रहे देवरजी

की ओर मुस्कराते हुए देखकर उन्होंने कहा, "बन्धु, सुना नहीं क्या तुमने? तुम भी वही कहो–उच्च स्वर में।"

बिना कुछ पूछे देवरजी ने यमुना-जल से अर्घ्यदान देते हुए स्वीकृति-सूचक ग्रीवा हिलाकर वही दोहरा दिया। अमरनाथ गुफा के हिमलिंग दर्शन के लिए आतुर श्रीजी सरस्वती नदी को पार कर मत्तमयूर राज्य में उतरे। समीप के पंचनद राज्य की सीमा से होकर विपाशा, शतद्रु, इरावती, चन्द्रभागा नदियों के तट पर बसे वाहीक, केकय, मद्र राज्यों को पीछे छोड़कर अन्त में गोनर्द के कश्मीर राज्य में हिमवान की खड़ी चढ़ाई की तलहटी में आ गये।

उनके साथ कुछ ही वीरों के होने से और श्रीजी की दूरदर्शिता, सतर्कता के कारण मार्ग में आये राज्यों के नरेशों, महारथियों, मल्ल-गदावीरों को तनिक भी भनक नहीं लगी कि स्वयं द्वारिकाधीश उनके प्रदेश से गुजर रहे हैं। यही तो श्रीजी की विशेषता थी। गदायुद्ध में अथवा किसी भी द्वन्द्वयुद्ध में श्रीजी के दाँव-पेंचों का अनुमान उनका प्रतिस्पर्धी कभी भी नहीं कर सकता था। द्वारिका के किसी भी योद्धा को कभी पता नहीं चलता था कि श्रीजी कब उसको बुला लेंगे और किस कार्य-पूर्ति के कर्मयोग में लगा देंगे। उनसे मिलने आनेवाले अथवा अनुरोधपूर्वक आमन्त्रित किये गये प्रज्ञावन्त ऋषि-मुनियों को भी ज्ञात नहीं होता था कि वे कब क्या पूछेंगे और कब किस तत्त्वज्ञान के सिद्धान्तों की कठिन मीमांसा करने को कहेंगे। हम दोनों–मैं और देवरजी–सदा श्रीजी के सान्निध्य हुआ करते थे, तब भी हम उनकी गतिविधियों का अनुमान नहीं लगा सकते थे। अपनी इसी अतुल बुद्धि-सामर्थ्य से ही उन्होंने ऊँचे हिमालय की सैकड़ों योजनों की लम्बी यात्रा निर्विघ्न पूर्ण की थी। अन्ततः अमरनाथ गुफा की दुष्कर हिमयात्रा आरम्भ हुई।

जिनको परिश्रमी जानकर श्रीजी साथ ले गये थे, वे योद्धा भी पहले ही कुछ टेढ़े-मेढ़े हिममय मोड़ों पर एक-एक करके पीछे छूट गये। दूसरे चरण के पड़ाव पर एक दिन रावटी से बाहर निकले उस हिममय प्रदेश में पूर्व क्षितिज पर उदित सूर्यदेव के दर्शन करते श्रीजी को एक मोहक, मादक सुगन्ध ने आकर्षित कर लिया। दीर्घ श्वास लेकर, उसे अपने वक्ष में भरकर मूँदी आँखों से श्रीजी ने उसे अचूक पहचान लिया। उस निर्जन हिमवेष्टित प्रदेश में उन्होंने देवरजी से कहा, "ऊधो! बन्धु, निकट ही कहीं किसी सरोवर में ब्रह्मकमल खिले हैं। सात्यकि को साथ लेकर यदि तुम ब्रह्मकमल की कुछ कलियाँ और पुष्प ले आओ तो हमारा शिव-दर्शन विधियुक्त और समग्रतापूर्ण होगा। ये साधारण पुष्प नहीं हैं। मुख को ढँकने के लिए एक वस्त्र साथ में ले जाओ। ब्रह्मकमल की मादक सुगन्ध में इतनी सामर्थ्य होती है कि वह किसी को मूर्च्छित कर सकती है। ऐसे खिले हुए ब्रह्मकमल को शिव-स्तवन के साथ स्वयम्भू शिवलिंग को अर्पित करना तो शिव-भक्ति का दुर्लभ योग है!"

इस हिमयात्रा में अब तक टिके रहे दो यादव-वीरों को साथ लेकर देवरजी उस सुगन्ध की टोह में सरोवर की ओर निकल पड़े। सभी ने वस्त्रों से नाक ढँक लिये थे, तब भी हिमपुष्प की वह उग्र गन्ध आ ही रही थी।

यद्यपि यह राज्य राजा शतक्रतु का था, वह दूर कश्मीर की सीमा पर रहा करता था; परन्तु वास्तव में यहाँ राज्य था हिमवान का, सर्वत्र फैले हुए शुभ्र, शीतल, चुभनेवाले हिम का। किसी और के लिए देवरजी यह साहस कभी न करते, परन्तु उनके प्रिय भैया के आगे उनकी एक नहीं चलती थी। भैया के मुख से निकला प्रत्येक शब्द उनके लिए ब्रह्मवाक्य के समान था। सन्ध्या

समय तक वस्त्र में लपेटे कुछ खिले कुछ अधखिले ब्रह्मकमल लेकर देवरजी लौटे। निकट आते ब्रह्मकमल की सुगन्ध को भाँपकर श्रीजी रावटी के द्वार पर दोनों हाथ कटि पर रखकर खड़े हो गये थे। सफल होकर लौटे देवरजी को देखकर आगे बढ़ते हुए श्रीजी ने मुस्कराकर कहा, "उद्धव, मेरा मन कहता है, इस यात्रा के अन्तिम चरण में अकेले तुम ही मेरे साथ टिके रहोगे। रावटी में विश्राम करते लेटे हुए सात्यकि को यह सम्भाषण सुनाई दे, यह सम्भव नहीं था।

श्रीजी ने जैसा कहा, वैसा ही हुआ। बड़े प्रयास से श्रीजी के साथ टिके रहे दो-तीन यादव-योद्धा और आजानुबाहु महारथी सात्यकि भी अमरनाथ की शिवयात्रा के अन्तिम चरण में पीछे छूट गये। केवल दोनों बन्धु ही साथ-साथ चल पड़े। देवरजी की काँख में कमल-पुष्पों की पोटली होने के कारण हिममय चढ़ाव के दुष्कर मोड़ों पर चलने में उनको कठिनाई होने लगी। तब रुककर उनका कन्धा हलके से थपथपाते हुए श्रीजी ने वह पोटली अपने हाथ में ले ली और दाहिना हाथ देवरजी की ओर बढ़ाकर उन्होंने कहा, "इसका सहारा लेकर मेरे पीछे-पीछे निर्भय होकर चलते रहो–पार हो जाओगे।" इतना ही कहकर वे कुछ ऐसे हँसे कि वहाँ से लौटने के पश्चात् देवरजी ने कई बार मुझसे कहा कि "उस हँसी का वर्णन नहीं किया जा सकता। वह था अन्तर्बाह्य श्वेतशुभ्र हिम-हास्य!

उनके हाथ में हाथ देते हुए मुस्कुराकर देवरजी ने कहा, "अब निश्चय ही मुझे शिव-दर्शन प्राप्त होंगे। यह हाथ सुदर्शनधारी है–मेरा बोझ तो इसके लिए कुछ भी नहीं!" अन्तत: सत्त्व-परीक्षा लेनेवाले हिमवान के अन्तिम चरण के टेढ़े-मेढ़े मोड़ों को पार करके दोनों भ्राता अमरनाथ गुफा के एक पुरुष बराबर ऊँचे स्वयम्भू हिमलिंग के सम्मुख पहुँच गये। देवरजी ने लम्बी साँस भरी। स्फटिक धवल, आर्द्र, स्वयम्भू शिव के दर्शन होते ही श्रीजी ने पोटली खोलकर अपने नीलवर्णी हस्तकमलों से एक-एक करके ब्रह्मकमल हिमलिंग पर चढ़ाये। कुछ चढ़ाने के लिए भ्राता को दे दिये। उनके घनी पलकोंवाले दीर्घ मत्स्यनेत्र अपने-आप मुँद गए, हाथ जोड़े गये। उनके कमल की पंखुड़ियों जैसे होंठों से अस्पष्ट-सी शिव-स्तुति स्रवने लगी। स्वयं शिव उसे ध्यान से सुनने लगे–'पशूनां पतिं पापनाशं...शिवाकान्त शम्भो शशांकार्धमौले महेशान शूलिन् जटाजूटधारिन्। त्वमेको जगद्व्यापको विश्वरूप, प्रसीद प्रसीद प्रभो पूर्णरूप।'

अत्युच्च हिमवान की निर्जन गुफा में शिव के समक्ष हाथ जोड़कर खड़े द्वारिकाधीश देर तक उसी अवस्था में ध्यानरत रहे। देवरजी ने भी उनका अनुसरण किया, परन्तु आँख भरकर शिव-दर्शन करने के पश्चात् शिवलिंग के आगे खड़े अपने ध्यानरत भैया को एकटक देखते-देखते वे अपनी सुधबुध खो बैठे। हिमलिंग से ध्यान हटाकर उन्होंने उसे अपने भैया पर एकाग्र किया और फिर वे भी ध्यानरत हो गये।

यथाविधि शिव-दर्शन करने के बाद दोनों भ्राता वापसी की यात्रा पर चल पड़े। लौटते समय मार्ग उतार का होने से देवरजी आगे थे और श्रीजी पीछे। वापसी के पहले ही मोड़ पर श्रीजी ने कहा, "ऊधो, दौड़ो मत! हाथ बढ़ाओ, मुझे भी साथ ले लो। अब कहो, अमरनाथ के शिवलिंग के दर्शन करके तुम्हें क्या प्रतीत हुआ? क्या माँगा तुमने शिव से?"

यह सुनते ही आगे चले गये देवरजी उद्धव रुक गये। अपने भैया को एकटक देखते हुए उन्होंने कहा, "हिमजल को टपकाते उस ऊँचे पावन, प्रफुल्ल हिमलिंग को देखकर मैं हर्षित हुआ, परन्तु भैया आपके समक्ष होने से वह आर्द्र, श्वेत हिमलिंग ऐसे दिखने लगा, जैसे उसने धूसर,

नील वस्त्र ओढ़ लिया हो। क्षण-भर मुझे ऐसे लगा जैसे शिव ने आकाश को ओढ़ लिया हो। तब मैंने अपना सारा ध्यान आप पर ही एकाग्र किया और आपको ही देखता रहा। आपके मुख से शिव-स्तुति सुनते-सुनते मेरी आँखें अपने-आप बन्द हो गयीं। उनके सामने एक ही दृश्य दिखता रहा–नील आकाश में श्वेत हिम का शिखरमाथा घुस गया है–वह उसी में लय हो गया है! दोनों एकरूप हो गये हैं! इस दृश्य से शिव से कुछ माँगना है, आपसे कुछ कहना है, यह तो मैं भूल ही गया।"

लौटते समय भिन्न-भिन्न पड़ावों पर रुके साथियों को लेकर दोनों भ्राता द्वारिका की ओर आगे बढ़ने लगे। उनके आगमन के समाचार निरन्तर शुद्धाक्ष पर आने लगे। पूरा द्वारिका नगर और जनपद उनके स्वागत के लिए पुलकित हो उठा। द्वारिकाधीश और उद्धव जी अब मत्स्य राज्य में अर्बुद पर्वत के पास आ चुके थे। अर्बुद से वे सौराष्ट्र की ओर निकल पड़े। उनके साथ कुछ इन-गिने ही यादव-सैनिक थे, परन्तु मार्ग में बसे कई जनपदों के नरेशों ने उनको उपहार में इतने सैनिक भेंट किये थे कि उन्हीं की एक सेना बन गयी थी। यह सब श्रीजी की दूरदर्शी, राजनीतिक गतिविधियों का प्रभाव था। वापसी की यात्रा में पंचनद से ही मार्ग में आनेवाले राज्यों के नरेशों को उनके आगमन की वार्त्ता भिजवाना वे भूलते नहीं थे। प्रत्येक जनपद में पौरजन 'नरकासुरान्तक' द्वारिकाधीश का सहर्ष स्वागत करते थे।

अन्त में नरकासुर-वध की यह बहुचर्चित यात्रा सफल करके श्रीजी देवरजी के साथ द्वारिका के शुद्धाक्ष महाद्वार में विजयोल्लास के साथ खड़े हो गये। उनके पीछे उपहार में मिले सैनिकों की प्रचण्ड अनुशासित सेना थी। मैं तो कब की श्रीजी की प्रतीक्षा में मूल द्वारिका में आकर ठहरी थी। मेरी चारों बहनें–जाम्बवती, सत्यभामा, मित्रविन्दा और सत्या रनिवास के द्वीप से आकर मुझसे मिल गयी थीं। वाद्यों के प्रचण्ड घोष में हम पाँच श्री-पत्नियों ने प्रकाशमान दीपज्योतियों से श्रीजी और देवरजी की आरती उतारी। घर-घर पर पताकाएँ फहराकर राजमार्ग के प्रत्येक चौक में तोरण बाँधकर, मुट्ठी भर-भरकर कुंकुम-वर्षा करती हुई पूरी द्वारिका नगरी हर्षित हो उठी थी। जहाँ-तहाँ झाँझ, डाँडिया की क्रीड़ाओं में युवा यादव रँग गये थे। कामरूपी और यादव-स्त्रियाँ एक-दूसरी के हाथ में हाथ डालकर अपने पदन्यासों से द्वार-द्वार में रेखांकित रंगावलियों को बिखराते हुए नृत्य और क्रीड़ाओं में खो गयी थीं। द्वारिका नगरी की संरक्षक प्राचीर प्रज्वलित दीपिकाओं से और भी अधिक प्रकाशमान की गयी थी। पूर्व महाद्वार पर वसुदेव महाराज, दोनों माताएँ, युवराज्ञी, अमात्य, राजसभा के सभी मन्त्रिगण, सेनापति अनाधृष्टि और अनगिनत यादव वक्ष में न समानेवाले असीम उत्साह से इकट्ठे हुए थे। उस प्रचण्ड जनसमूह पर मैंने दृष्टि डाली और मुझे तीव्रता से आभास हुआ कि उपस्थितों में हमारे बलराम भैया और मन्त्री अक्रूर काका नहीं थे।

गरुड़ध्वज रथ से उतरकर श्रीजी और देवरजी ने नम्रता से माता-पिता के चरणों पर माथा रखकर आशीर्वाद की याचना की। वाद्यघोष और नगरजनों का कोलाहल अब थम गया था। अपने प्रिय पुत्र का दृढ़ आलिंगन करके तात वसुदेव उनकी पीठ थपथपा रहे थे। निकट ही भावाभिभूत देवरजी उन दोनों को देख रहे थे। यही क्षण था जिसकी मैं प्रतीक्षा कर रही थी। मन में रोके रखे एक कुतूहल को मैं शान्त करना चाहती थी। अग्रसर होकर देवरजी की भुजा को थामकर उन्हें भीड़ से कुछ अलग करके मैंने पूछा, "कैसे हैं आप देवरजी? क्या कभी इस भाभी का भी स्मरण हुआ था? सबसे पहले एक बात मुझे बताइए, जब आप दोनों अमरनाथ की गुफा में शिव-दर्शन करने गये थे, तब ब्रह्मकमल की उग्र सुगन्ध से बचने के लिए क्या स्वामी ने भी नाक पर वस्त्र लपेट लिया था?"

देवरजी का विशाल भाल सूक्ष्म सिकुड़नों के जाल से क्षण-भर आकुंचित हो उठा। पहले तो उन्होंने बड़े विस्मय से मेरी ओर देखा, फिर अपनी स्वाभाविक हँसी के साथ कहा, "नहीं, उन्होंने नाक को वस्त्र से आच्छादित नहीं किया था, यह बात तो अब मेरे ध्यान में आ रही है; परन्तु भाभी, उन्होंने आपको कभी स्मरण नहीं किया। मैंने ही दोनों स्वयंवरों के समय उनको आपका स्मरण दिलाया था। पूछ लीजिए उनसे, तभी विश्वास कीजिए मेरे कहने पर।" देवरजी के मुख से 'स्वामी ने वस्त्राच्छादन से नाक नहीं ढँकी थी' यह सुनकर मैंने एक दीर्घ श्वास छोड़ा, जिसे 'नरकासुरान्तक द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण महाराऽज की ऽ जऽय...की ऽ जऽय' के गगनभेदी जयघोष के बीच देवरजी ने नहीं सुना। शायद मुझे भी सुनाई नहीं दिया।

नरकासुर-वध के कारण श्रीजी का कीर्तिघोष अब सम्पूर्ण आर्यावर्त में गूँजने लगा था। कामरूप में घटित घटनाओं का समाचार मिथिला में भी पहुँच चुका था। जनकनगर में जा बैठे रुष्ट बलराम भैया भी इस बात से अवगत हो चुके थे। प्राग्ज्योतिषपुर से निकलकर श्रीजी कोसल राज्य में ठहरे थे, वह भी इसलिए कि मिथिला का राज्य समीप होने के कारण सत्या के स्वयंवर में बलराम भैया से निश्चय ही भेंट होगी। परन्तु ऐसा नहीं हुआ था। बड़े भैया बड़े हठी थे। किसी से प्रेम करते थे तो जी भरकर और रुष्ट हो जाते थे तो उसे अपने मन से ही निकाल देते थे। एक बार वे किसी बात के लिए 'हाँ' या 'ना' करते थे तो उसी पर अटल रहते थे। 'त्रिलोकाधिपति' की उपाधि से यदि श्रीजी के नाम का डंका बजता, तब भी बलराम भैया द्वारिका की ओर नहीं पलटते।

बड़े भैया और देवरजी के बिना अकेले श्रीजी को देखना मुझे अच्छा नहीं लगता था। आजकल यादवों का यह बिल्व-त्रिदल एक दल के बिना अधूरा-सा लगने लगा था, अखरने लगा था। अत: मूल द्वारिका में भोजन के पश्चात् विश्राम-कक्ष में मैंने श्रीजी के समक्ष यह विषय उपस्थित किया, "अमरनाथ की गुफा में आपने देवरजी के साथ शिव-दर्शन किये। मैंने सोचा था, स्वयं मैं तो नहीं परन्तु आपके साथ भामा की आँखों से तो मैं शिव के दर्शन कर पाऊँगी। वहाँ हिमलिंग पर किसी भक्त का अर्पित किया बिल्व-त्रिदल तो होगा ही! परन्तु आज उस त्रिदल का दायाँ दल खो जाने से सब-कुछ सूना-सूना-सा लग रहा है। आपसे प्रार्थना है कि..."

मेरी बात काटकर उन्होंने कहा, "थोड़ा रुक जाओ रुक्मिणी, कुछ माँगने से पहले मेरी बात तो सुन लो। आज ही मैंने अमात्य विपृथु और उद्धव को चित्रकेतु और बृहद्बल के साथ किसी विशेष कार्य के लिए भेज दिया है।"

"आपके कामकाज का तो कोई अन्त नहीं है। सभी निकटवर्तियों को किसी-न-किसी काम में लगा देने के आपके स्वभाव को भी मैंने भलीभाँति जान लिया है। द्वारिका की महाराज्ञी तो मैं नाममात्र के लिए हूँ। वास्तव में मैं बन गयी हूँ स्वागतिका–श्रीजी के प्रिय जनों की! परन्तु इन सबके स्वागत करने में जो प्रसन्नता मुझे नहीं हुई, वह अब एक ही व्यक्ति का स्वागत करने से होगी।" मैंने कहा।

"सुन तो लो महाराज्ञी! अमात्य विपृथु गये हैं मिथिला जनपद में–जनकपुर! अपना पूरा बुद्धि-कौशल्य दाँव पर लगाकर, समझा-बुझाकर वे दाऊ को साथ लेकर ही आएँगे। यह कठिन कार्य उनके लिए सरल बन जाय, इसलिए मैंने एक छोटी-सी चाल चली है। महाराज्ञी जैसा उच्च कोटि का बुद्धि-कौशल तो मेरे पास है नहीं! अब महाराज्ञी ही बताएँ कि अमात्य के साथ मैंने जो एक वस्तु भिजवायी है, वह क्या होगी? और एक छोटा-सा सन्देश भी भिजवाया है, क्या होगा वह?"

उन्होंने हँसते-हँसते अपना कृष्णजाल फैलाया।

मैं उलझन में पड़ गयी। कुछ पल सोचकर मैंने कहा, “श्रीजी ने अमात्य के साथ युवराज की प्रिय गदा भिजवायी होगी और सन्देश भी दिया होगा कि यह गदा आपके बिना सूनी लग रही है। सुधर्मा सभा में युवराज का सिंहासन भी सूना-सूना लग रहा है। अत: दोनों का सम्मान करने के लिए अमात्य के साथ चले आइए।”

वे मुस्कराये। बोले, “इतना बुद्धिबल मेरे पास कहाँ से आएगा? मैंने तो अमात्य के साथ एक बन्द पेटिका में भिजवाया है केवल अपना प्रिय मयूरपंख! सन्देश दिया है, जब से आप गये हैं, तब से मैंने इसे पेटिका में बन्द रख छोड़ा है। यदि स्वयं आप आकर इसे मेरे किरीट में लगाएँगे, तभी समस्त यादव इसे पुन: देख पाएँगे अन्यथा द्वारिकाधीश का यह स्वर्णकिरीट ऐसे ही रहेगा– मयूरपंखहीन, सूना-सूना! अंकपाद आश्रम में बिताये दिनों का स्मरण करके इस मयूरपंख के साथ चले आइए!”

अब कहीं मुझे ध्यान हुआ कि बलराम भैया के चले जाने के पश्चात् श्रीजी ने मयूरपंखधारी किरीट अपने मस्तक पर धारण किया ही नहीं था। उनके बुद्धिचातुर्य से चकित होकर मैं तो उनकी ओर देखती ही रह गयी! सतर्क होकर मैंने पूछा, “फिर आपने देवरजी को उनके भ्राताओं के साथ कहाँ भेजा है? किसलिए? मुझे तो लगा था, इस कार्य के लिए सबसे अधिक योग्य व्यक्ति देवरजी ही हैं।”

“तुम भूल कर रही हो, रुक्मिणी! उद्धव को देखते ही दाऊ उसे झिड़क देते कि, ‘तू तो छोटे से भी छोटा है। यह पेटिका लेकर उल्टे पाँव चलता बन। क्या स्वयं वह नहीं आ सकता था?’ तभी तो इस कार्य के लिए मैंने अमात्य विपृथु को चुना है। उसे वह अस्वीकार नहीं कर सकेंगे। आचार्यश्री के अंकपाद आश्रम का स्मरण दिलाकर ‘छोटे’ के हठ करने के अधिकार का भी मैंने प्रयोग किया है। देखते हैं, दाऊ ‘ज्येष्ठ’ बनते हैं क्या? अन्यथा मुझे ही जाना होगा जनकपुर!” उन्होंने कहा।

“तो देवरजी को कहाँ भेजा गया है? किसलिए?” अब तो मैं सचमुच चकरा गयी थी। परन्तु नित्य की भाँति वे तो ऐसे मोहक मुस्कराये, जैसे कुछ हुआ ही न हो–“उद्धव काशी चला गया है, अक्रूर काका को समझाने के लिए। अपनी मधुर वाणी से वह उनको समझाएगा कि वे स्वयं सुधर्मा सभा में स्यमन्तक मणि सभासदों को केवल एक बार दिखाकर सभी को विश्वास दिला दें कि वह मणि द्वारिकाधीश के पास नहीं है। उसके पश्चात् वे चाहें तो काशी राज्य लौट सकते हैं। द्वारिकाधीश का अनुरोध है कि अक्रूर काका शेष जीवन द्वारिका में ही बिताएँ। इस तुच्छ-सी मणि के लिए द्वारिकाधीश को पुन: काशी न लौटना पड़े।” टेढ़ी उँगली से घृत निकालने की श्रीजी की यह चतुर चाल सुनकर मैं तो चकित रह गयी। फिर भी मैंने उनका पीछा नहीं छोड़ा। अन्तिम प्रश्न पूछ ही लिया–“तब चित्रकेतु और बृहद्बल को देवरजी के साथ क्यों भेज दिया है श्रीजी ने? कहीं स्यमन्तक मणि के लिए देवरजी पर दृष्टि रखने का तो विचार नहीं हैं द्वारिकाधीश का?”

“फिर भूल कर रही हो महाराज्ञी! अक्रूर काका उद्धव के हाथों में स्यमन्तक मणि कभी भी नहीं सौंपेंगे। मुझे तो उसकी अभिलाषा कभी थी ही नहीं। उद्धव को मैं भलीभाँति जानता हूँ। वह योद्धा कम, तत्त्वज्ञ अधिक है। वह अन्तर्बाह्य स्पष्ट, निर्मल विचारोंवाला मेरा भक्त है। इसीलिए उसके संरक्षण का उत्तरदायित्व भी मेरा ही है। उद्धव के भ्राता उससे ज्येष्ठ हैं, महारथी योद्धा हैं। जो

कुछ कहना आवश्यक है, मैंने उनसे कह दिया है।”

उनका एक-एक शब्द सुनते हुए मुझे लगा, मेरे सम्मुख श्रीजी नहीं, शब्दों का एक नीलवर्ण ब्रह्मकमल ही खड़ा है! वस्त्र-पट्टिका से नासिका ढँक लेने का समय आने से पहले ही यहाँ से चल देना चाहिए, इस विचार के साथ मैं झट से विश्राम-कक्ष से निकल भी पड़ी थी।

वास्तव में वे दिन मयूरपंखी थे। केवल मेरे लिए नहीं, हम पाँचों श्रीपत्नियों के लिए–द्वारिका के सभी नगरजनों के लिए भी।

हम पाँचों पाँच दिशाओं से द्वारिका में आयी थीं। प्रत्येक का स्वभाव मूलत: भिन्न-भिन्न था। हाथ की पाँचों अँगुलियाँ भी तो एक जैसी नहीं होतीं! तब भी उन्हीं से एक सुदृढ़ मुट्ठी बनती है। मैं भलीभाँति जानती थी कि उस मुट्ठी की कुंजी मेरे पास है। वे चारों महाराज्ञी के नाते मेरा आदर करती थीं। मैं उन सब को अप्रत्यक्षत: अपने आचरण से ही प्रतीति दिलाती थी कि मैं केवल महाराज्ञी ही नहीं, उन सबमें ज्येष्ठ भी हूँ। एक बार अन्य तीनों के समक्ष भामा को धक्का लगे, ऐसा उपाय मैंने किया। सज-धज, बनाव-सिंगार में उसकी जन्मजात रुचि थी। उसके आरक्त गौरवर्ण और सुडोल रूप पर वह सजता भी था। शृंगार-सेविका द्वारा अपने गोरे पैरों में अलक्तक से बेलबूटे बनवाना उसे बहुत प्रिय था।

एक बार हम पाँचों इकट्ठा बैठी थीं। भामा की सेविका उसके पैरों को अलक्तक लगाने में मग्न थी। इस काम में वह सेविका हमारे साथ-साथ आसपास के जग को भी भूल गयी थी। एकान्त में श्रीजी से बातें करते हुए मैंने कई बार उनसे सुना था,“स्वयं को भूलकर सधा हुआ कोई भी कर्मयोग ईश्वर की पूजा ही होता है। कर्म कभी छोटा-बड़ा नहीं होता, देखनेवाले की दृष्टि में वह छोटा या बड़ा होता है।”

सेविका को अपने काम में इस प्रकार तन्मय देखकर मुझे तीव्रता से लगा कि अपनी इन बहनों को, मैं महाराज्ञी–उनकी ज्येष्ठ भगिनी–इससे बढ़कर कुछ और ही हूँ, यह दिखाने का यही सुअवसर है। मैंने हेतुत: उस सेविका से पूछा, “अलते का इतना महीन चित्रांकन कैसे कर लेती हो तुम? क्या मुझसे यह हो सकेगा?”

मेरा अभिप्राय वह समझ नहीं पायी। उसने कहा, “क्यों नहीं? आप चेष्टा तो कीजिए!”

मैंने तुरन्त उसकी बात को स्वीकार किया। उसको दूर हटाकर मैंने भामा का गोरा पाँव अपने हाथ में लेकर हलके से अपनी गोद में रखा। एक हाथ में अलते का कटोरा पकड़कर दूसरे हाथ से सुनहरी सलाई से, ग्रीवा तिरछी कर-करके मैं एकाग्रता से अलता लगाने लगी।

वे चारों देखती ही रह गयीं और मैं मन:पूर्वक अपना काम करती रही। अलता लगाने का काम पूरा करके, सलाई कटोरे में रखकर मैंने वह नीचे रख दिया। ग्रीवा तिरछी करके भामा के पाँव पर अलते की रंगावली बनाने के काम में मैं सफल हुई हूँ कि नहीं, इसका अनुमान किया। वे चारों आँखें विस्फारित करके चीख उठीं–“ओऽहो माँ ऽ...सुन्दर ऽ...अतिसुन्दरऽऽ...महाराज्ञी के इस कौशल्य की तो हम में से किसी को भी कल्पना ही नहीं थी!”

मेरा हेतु साध्य हो चुका था। उन चारों के मन पर कभी न मिटनेवाला भावचित्र मैंने अंकित कर दिया था। किसी भी काम को तुच्छ न समझनेवाली मैं श्रीजी के योग्य, उनकी ज्येष्ठ पत्नी हूँ, इस बात को वे जान चुकी थीं; मेरे कुछ कहे बिना ही!

वे दिन श्रावण के थे। क्षण में धूप तो क्षण में बरसती जल-धाराएँ, तो कभी पीत धूप में नहा रहीं रुपहली जल-धाराएँ—इस प्रकार प्रकृति आँख-मिचौनी का खेल खेल रही थी। द्वारिका के पश्चिम महाद्वार के पास के स्वर्णिम प्राकार को गरजती सागर-लहरें नहला रही थीं। सागर में डोलनेवाला उनका प्रतिबिम्ब क्षण-भर भी स्थिर नहीं हो रहा था। हम पाँचों मिलकर कभी रथ में से तो कभी वृषभरथ में से मूल द्वारिका में जाया करती थीं। ऐन्द्र महाद्वार के समीप स्थित इडादेवी के मन्दिर में हम सबके कई धार्मिक कार्य एक साथ ही हुआ करते थे। इस महाद्वार के बाहर पाषाणों में खोदे हुए आसन थे। वहाँ बैठकर पश्चिम सागर की घरघराती लहरों का खेल देखना हमें अत्यन्त प्रिय था। जब भी वर्षा की वेगवान झड़ी लगती थी, हमारी सेविकाएँ हमें वर्षा से बचाने के लिए छत्र लेकर दौड़ पड़ती थीं। उनको भगाते हुए भामा कहा करती थी, "चलो—हटो, भीगने दो हमें वर्षा में!" मैं भी उसका समर्थन करते हुए कहती थी—"देखने दो हमें सागर-लहरों में नहाते इस ऐन्द्र महाद्वार को—हटा दो छत्रों को!" जाम्बवती तो पाषाणी सीढ़ियाँ उतरकर सीधे सागर-जल में पाँव डालकर बैठ जाती थी। कुछ समय पश्चात् वह भीगे वस्त्र का आँचल सँभालते हुए, भीगे पैरों से आसन की ओर लौटती थी। सागर-जल में भीगे उसके साँवले, सुडौल पाँव अत्यन्त सुन्दर दिखते थे। मित्रविन्दा और सत्या मुझसे और भामा से कुछ-न-कुछ पूछती रहती थीं। सत्या मुझसे पूछती—"बड़ी दीदी, गोकुल कहाँ है? मथुरा कैसी दिखती है?" मित्रविन्दा भामा से पूछती—"छोटी दीदी, तुम तो यादववंशी हो। यहाँ आने से पहले क्या तुमने मथुरा में कंस को कभी देखा था? कैसा दिखता था वह?"

एक मास बीत गया और अग्रदूत समाचार ले आया, कार्य-सिद्धि के लिए श्रीजी के भेजे अमात्य विपृथु और देवरजी उद्धव सफल होकर लौट रहे हैं। उनके साथ बलराम भैया और अक्रूर काका भी हैं। वर्षा के उन अन्तिम दिनों में भी द्वारिका पुन: प्रफुल्लित हो उठी। द्वारिका का यह आनन्द कुछ अलग ही था।

मेरी प्रसन्नता के तो दो कारण थे। पहला था, श्रीजी का दृढ़ आधार—हमारे प्रिय शक्तिशाली बड़े भैया क्षोभ को त्यागकर द्वारिका लौट रहे हैं और दूसरा कारण यह था कि श्रीजी पर स्यमन्तक के कारण किये गये सन्देह का अब निवारण होगा। भामा को छोड़कर हम चारों ने उस मणि को कभी देखा नहीं था। एक के बाद एक घटित अद्भुत घटनाओं के कर्ता उस मणिरत्न को अब हम प्रत्यक्ष देखनेवाले थे। मेरे मन में एक जिज्ञासा उठी—लम्बे समय तक द्वारिका से बाहर रही उस मणि के विषय में श्रीजी अब क्या निर्णय लेंगे? अब मैं सावधान हो गयी थी कि श्रीजी से उनके किसी भी राजनीतिक निर्णय के विषय में न सीधे न किसी अन्य मार्ग से कुछ पूछना चाहिये। इतना ही नहीं, अपनी चारों बहनों के विषय में भी उनसे कुछ अधिक नहीं पूछना चाहिए। कहा नहीं जा सकता था कि उनसे कब, क्या और कैसा व्यंग्यपूर्ण उत्तर सुनने को मिलेगा।

उद्धव जी, उनके दोनों भ्राता, बलराम भैया और अक्रूर काका का द्वारिकावासियों ने सहर्ष स्वागत किया। शुद्धाक्ष महाद्वार में, माता-पिता के समक्ष बड़े भैया के चरणस्पर्श के लिए झुकनेवाले श्रीजी को ऐसा करने से रोकते हुए बड़े भैया ने उनको दृढ़ आलिंगन में ही ले लिया। भावोन्मत्त हुए सहस्रावधि यादवों ने प्रचण्ड हर्षघोष किया—'बलराऽम श्रीऽकृष्ण...जय हो!...जय हो!...श्रीऽ कृष्ण-राऽम की जय होऽ!...जय होऽ!' मेरी दृष्टि में, द्वारिका का अधूरा बिल्व-त्रिदल अब पूरा हो गया!

दूसरे ही दिन बलराम भैया और अक्रूर काका के स्वागत के लिए सुधर्मा राजसभा का आयोजन किया गया। मैं श्रीजी के समीप अपने आसन पर बैठ गयी। मेरी चारों बहनें राज्ञीमण्डल के विशेष कक्ष में आसीन हो गयी थीं। सिंहासन पर बैठे तात वसुदेव और देवकी माता तथा अपने दोनों पुत्रों को बहुत दिनों के पश्चात् एक-साथ देखकर विशेष कक्ष में बैठी रोहिणी माता के मुख पर वात्सल्यानन्द छलक रहा था। वे अपनी आयु भी भूल गये थे। युवराज के रूठकर चले जाने के पश्चात् रेवती दीदी भूलकर भी कभी राजसभा में नहीं आयी थीं। वे भी कुछ कम हठी नहीं थीं। वे भी अपने पति से रूठ गयी थीं। परन्तु आज उन दोनों को अपने आसन पर विराजमान देख उत्साहित यादव आपस में कानाफूसी करने लगे। प्रसन्नमुख आचार्य सान्दीपनि और प्रज्ञावान, तेजस्वी मुनिवर गर्ग अपने-अपने स्थान पर विराजमान थे। दोनों सेनापति, प्रमुख मन्त्रिगण और उनकी निचली पंक्ति में विविध दल-प्रमुख तथा गुप्तचर-प्रमुख आसनस्थ थे। उत्साह से उत्फुल्ल यादव युवक, प्रौढ़ और वृद्ध यादव वीरों का सम्मिश्र कोलाहल अमात्य के राजदण्ड उठाकर भूमि पर ठोंकते ही शान्त हो गया।

अमात्य ने द्वारिका की विशेष राजसभा के प्रयोजन को मुखरित किया–"सुधर्मा सभा के सम्मानित सदस्यो और यादवजनो, आज की सभा द्वारिका लौटे दो विशेष ज्येष्ठ यादवों के स्वागत के लिए बुलायी गयी है। यह सभा युवराज बलराम और मन्त्री अक्रूर का सहर्ष, ससम्मान स्वागत करती है। इस राजसभा में पहली बार उपस्थित द्वारिकाधीश की पत्नी सत्यभामादेवी, जाम्बवतीदेवी, मित्रविन्दादेवी और सत्यादेवी को मैं द्वारिका के समस्त पौरजनों की ओर से सादर प्रणाम करता हूँ–उनका स्वागत करता हूँ! द्वारिकाधीश की विशेष सूचना के अनुसार मैं घोषित करता हूँ कि प्राग्ज्योतिषपुर में उनके द्वारा अभयदान दी गयी सोलह सहस्र नारियों का द्वारिका के छोटे-बड़े समस्त नगरजन आदर और सम्मान करेंगे। कोई भूलकर भी उनका अनादर नहीं करेगा। यदि ऐसा हुआ तो उस घटना से सम्बद्ध स्त्री तो इसी राजनगर में रहेगी, परन्तु अपराधी यादव को उसी क्षण द्वारिका से निष्कासित किया जाएगा। ऐसे व्यक्ति को द्वारिका में पुन: प्रवेश करने का अधिकार नहीं रहेगा।

"युवराज बलराम दीर्घकालीन वियोग के पश्चात् द्वारिकाधीश को कोई उपहार भेंट करना चाहते हैं। मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि वे अपना प्रेमोपहार द्वारिकाधीश को भेंट करें।" सभागृह में उपस्थितों में कुतूहल फैल गया कि वे अब अपने छोटे को क्या भेंट करेंगे!

बड़े भैया अपने आसन से उठे। सीसम की लकड़ी की बेलबूटेदार पेटिका हाथों में लिये सीधे हमारे आसनों के सम्मुख आ खड़े हुए। डबडबायी आँखों से मैं वह अद्भुत दृश्य देख रही थी। विशालकाय बलराम भैया ने बड़े ही कोमल हाथों से पेटिका खोली और उससे भी अधिक कोमलता से उसमें से हथेली के आकार का लहलहाता, विविधरंगी मोरपंख बाहर निकाला। उनकी विशाल, भोली-भाली डबडबायी आँखें मुझे स्पष्ट दिख रही थीं। अपने पुष्ट हाथों से वह मोरपंख ऊपर उठाकर घूमकर समस्त बान्धवों को दिखाया और नीचे झुककर श्रीजी के जगमगाते स्वर्णकिरीट में लगा दिया। छत से टकराती तालियों की गूँज में श्रीजी आसन से उठ खड़े हुए। वैसे श्रीजी की विलक्षण तेजस्वी आँखों में अश्रु क्वचित् ही आया करते थे, परन्तु आज अपने दाऊ को देखते-देखते उनकी आँखें भर आयीं। दाऊ के आशीर्वाद के लिए वे झुके, किन्तु इससे पहले ही उन्होंने श्रीजी के वृषस्कन्ध पकड़कर उनको दृढ़ आलिंगन में बाँध लिया। अत्यन्त स्नेह से उन्होंने श्रीजी के कन्धे थपथपाये। समस्त यादव-सभा निरन्तर तालियों और प्रचण्ड

हर्षघोष से उमड़ पड़ी–‘जयतु! जयतु!’ अपने प्रिय भ्राता के स्वर्णकिरीट पर आशीर्वादात्मक हाथ फिराकर बिना कुछ कहे बड़े भैया अपने आसन की ओर मुड़े। कुछ कहना उनका स्वभाव ही नहीं था।

राजदण्ड का भूमि पर आघात करके अमात्य ने सभा के आज के महत्त्वपूर्ण काम का आरम्भ किया। इसके पूर्व मन्त्रिमण्डल में विराजित होनेवाले अक्रूर काका आज अभ्यागतों के चौक में एक बैठक पर साधारण अभ्यागत के नाते सिमटकर बैठे थे। इस परिस्थिति के लिए वे स्वयं उत्तरदायी थे। स्यमन्तक मणि की मंजूषा लेकर ही आज वे सुधर्मा सभा में आये थे। अपने मामा कंस को राजसिंहासन से नीचे घसीटते श्रीजी को उन्होंने मथुरा में प्रत्यक्ष देखा था। आज श्रीजी क्या निर्णय करेंगे, इस विचार से वे मन-ही-मन भयभीत थे।

अक्रूर काका की ओर हाथों से संकेत करते हुए अमात्य विपृथु ने कहा, “द्वारिकाधीश की आज्ञा से मैं मन्त्रिपरिषद् के एक ज्येष्ठ मन्त्री अक्रूर का भी स्वागत करता हूँ। एक तुच्छ-सी मणि के लिए ऐसी घटना घटित हुई है, जो नहीं होनी चाहिए थी। सहस्रों यादवों के कण्ठ की कौस्तुभ मणि–हमारे वन्दनीय द्वारिकाधीश और उनके ज्येष्ठ भ्राता युवराज बलराम के बीच भ्रान्त धारणा के कारण खाई बनने गयी। अपने कक्ष से ही अक्रूर जी वह मणि समस्त यादव-सभा को दिखा दें, इससे सबको विश्वास होगा कि वह मणि श्रीकृष्ण महाराज के पास कभी थी ही नहीं। अक्रूर जी उस मणि को सबके समक्ष द्वारिकाधीश के चरणों में अर्पित करें। वहीं उसका स्थान है।”

सूचना के अनुसार अक्रूर काका आसन से उठे और अपनी पंक्ति में ही अर्धवर्तुलाकार घूमते हुए उन्होंने जगमगाती हुई वह मणि सभा को दिखायी, फिर श्रीजी के पास आकर सीसम की वह पेटिका उन्होंने श्रीचरणों में रख दी। श्रीजी को प्रणाम करके वे पुन: अपने आसन पर जा बैठे। अमात्य पुन: कहने लगे, “अब द्वारिकाधीश जो निर्णय करेंगे, वह इस सभा को स्वीकार होगा। द्वारिकाधीश से प्रार्थना है कि स्यमन्तक मणि के लिए ही, परन्तु उससे भी अधिक बहुमूल्य मार्गदर्शन वे धन-सम्पत्ति के सम्बन्ध में राजसभा को करें।” सदैव की भाँति अमात्य ने राजदण्ड को भूमि पर ठोंका। समस्त यादव-सभा तीव्र उत्कण्ठा से शान्त हो गयी। केवल दूर–पश्चिम से समुद्र का गर्जन निरन्तर सुनाई देता रहा।

उठने से पहले श्रीजी ने मुझ पर एक दृष्टि डाली। उनके तेजस्वी मत्स्यनेत्र आत्मतेज से कैसे चमक रहे थे! वे किंचित् हँसे। गुलाबी होंठों के पीछे से उनका दुहरा दाँत क्षण-भर के लिए चमक उठा। दूसरे ही क्षण उस सीसम की मंजूषा को अपने हाथों में सहजता से डुलाते हुए वे उठ खड़े हुए। उन्होंने अपनी गरुड़-दृष्टि सभागृह पर दौड़ायी। उनकी वेणुवाणी प्रवाहित होने लगी–

“मेरे प्राणप्रिय यादवजनो, आज का दिन मेरी अपेक्षा आप सबके जीवन का महत्त्वपूर्ण दिन है। इसी सभागृह में मेरे दिवंगत श्वसुर–ज्येष्ठ यादव–सत्राजित जी ने मुझ पर स्यमन्तक मणि के चौर्य का निन्द्य आरोप लगाया था। इसी महाविक्रमी मणि ने मेरे प्राणप्रिय दाऊ के मन में भी मेरे लिए सन्देह उपजाया।

“आज इन दोनों बातों का निराकरण हो चुका है। स्यमन्तक का लालच मुझे कभी भी नहीं था और न किसी अन्य रत्न का कभी होगा। धन-सम्पत्ति तो जीवन-चक्र को चलाने का केवल एक साधन है, वह कभी भी साध्य नहीं हो सकता। जब ऐसा होता है तब ऐसी आपत्तियाँ आ पड़ती हैं, जिनका अच्छे-अच्छों को भी आभास नहीं होता। तब वह राज्य संकट में फँस जाता है, सभी

जातियों द्वारा असीम परिश्रम से की गयी उन्नति सौ वर्ष पिछड़ जाती है। बुद्धिमत्ता ही मनुष्य का वास्तविक धन है। सुसंस्कारों से परिष्कृत निर्दोष बुद्धि ही सच्चा रत्न है, सच्चा धन है। वही जीवन को अग्रसर करती है, जीवन का विकास करती है।

"स्यमन्तक मणि ने हमारे नूतन जनपद में अनेक बवण्डर उठाये। भ्रान्त धारण के कारण मेरे प्राणप्रिय दाऊ के मन में जो सन्देह उत्पन्न हुआ, उसे दूर करने के लिए ही मैं हाथ धोकर स्यमन्तक मणि के पीछे पड़ा था। उनका सन्देह दूर होते ही औरों का सन्देह भी अपने-आप मिट जाता। ज्येष्ठ जनों की भ्रान्त धारणा कठोर शाप से भी अधिक हानिकर होती है। अब सभी का सन्देह-निवारण हो गया है। इसका द्वारिकाधीश के नाते ही नहीं, उससे भी अधिक एक यादव होने के नाते मुझे सन्तोष है, आनन्द है।

"इस समय द्वारिकाधीश के नाते मुझे स्पष्ट करना चाहिए कि स्यमन्तक के सम्बन्ध में ज्येष्ठ यादव अक्रूर काका और कृतवर्मा के स्वार्थपूर्ण आचरण से मैं अत्यन्त अप्रसन्न हूँ। उन्होंने शतधन्वा जैसे एक दूरस्थ यादव को उकसाकर, षड्यन्त्र रचाकर, द्वारिका के लिए अत्यन्त उपयुक्त—मन्त्रिगणों में से एक ज्येष्ठ यादव सत्राजित जी की उसके हाथों हत्या करवायी। दोनों को कठोर चेतावनी दी जाती है कि ऐसा अक्षम्य अपराध दुबारा न हो।...

"स्यमन्तक हाथ आते ही अक्रूर काका ने जो विचित्र व्यवहार किया है, वह समझ से परे है। कंस से मिलने के लिए मुझे गोकुल से मथुरा लाते समय उन्होंने ही सावधान किया था। उनका वह सौहार्द मैं कभी भी भूला नहीं हैं—भूलूँगा भी नहीं। उस समय मुझे सावधान करनेवाले मन्त्री ने अब ऐसा विवेकहीन आचरण क्यों किया होगा? स्पष्ट है—लालच के कारण। इसीलिए इस समय सबसे स्पष्ट कहना आवश्यक है—लालच के सहारे यह नवनिर्मित जनपद टिक नहीं सकेगा। वह चाहे जितनी उन्नति करे, अपरिमित लालच के कारण वह नष्ट होगा। वह टिकेगा केवल असीम त्याग के बल पर, असीम कर्तव्यपूर्ति के आधार पर।

"ज्येष्ठ यादव अक्रूर काका को दुबारा यह अवसर देने के लिए, सभी की ओर से मैं उनसे निवेदन करता हूँ, अपने कक्ष से उठकर वे पुन: मन्त्री-कक्ष में आसन ग्रहण करें। इसी दिन के लिए उनके चले जाने के बाद भी उनका आसन मैंने हेतुपूर्वक आज तक रिक्त रखा है। उसको वे स्वीकर करें और इस स्यमन्तक मणि को भी वे ही सहेजकर रखें। काशी राज्य में, स्यमन्तक से प्राप्त सम्पत्ति का दान करके पायी 'दानपति' उपाधि को भी वे बनाये रखें। वे इस बात को कभी न भूलें कि स्यमन्तक के अस्तित्व से और उसके कारण किये गये दान से द्वारिका का स्वास्थ्य बना रहेगा और इन सब बातों से उनका अपना स्वास्थ्य भी अच्छा रहेगा।"

श्रीजी ने सेवक के हाथों से लेकर स्यमन्तक की मंजूषा अक्रूर काका को सौंप दी।

भावुक बने, लम्बी दाढ़ीवाले अक्रूर काका तालियों की गड़गड़ाहट में ही अपने स्थान से उठे। धीरे-धीरे पैर बढ़ाते मन्त्री-कक्ष में अपने रिक्त आसन पर वे पुन: जा बैठे। एक अनोखी दीप्ति से उनका मुख दमक उठा था।

अब अपने प्रिय दाऊ की ओर देखते हुए श्रीजी ने सभा का समापन किया। उन्होंने कहा, "आप सबके युवराज और अपने दाऊ के लिए मेरी भावनाओं को स्पष्ट करने के लिए मेरे पास उचित शब्द ही नहीं हैं। मेरे सन्देश का निरादर करके दाऊ द्वारिका न लौटते तो..." राजसभा की प्रतिक्रिया को जान लेने के उद्देश्य से श्रीजी क्षण-भर के लिए रुक गये। उनके प्रश्न से यादवों में

एक खलबली-सी मच गयी, फिर खुसुर-फुसुर बढ़ने लगी। उसे बढ़ते देखकर श्रीजी ने अपनी पुष्ट भुजा ऊपर उठाकर निर्णायक श्री-शब्दों का सुदर्शन फेंका–"दाऊ लौटकर आते ही नहीं तो...तो उनकी पादुकाओं को उनके युवराजासन पर रखकर मैं द्वारिका का राज्य-भार उठाता। यद्यपि हम चान्द्रवंशी हैं, किन्तु सूर्यवंशी श्रीराम और भरत को हम कभी भूल नहीं सकते।"

उस दिन राजसभा से लौटते हुए दूर से सुनाई देनेवाले समुद्र-गर्जन के साथ-साथ मेरे मन में एक ही विचार ने जड़ पकड़ी। अच्छा हुआ–जिस सत्य को मैंने बहुत पहले जान लिया था, समस्त यादवों को भी वह आज ज्ञात हुआ कि श्रीजी का हृदय पश्चिम सागर के समान विशाल और अथाह है।

इस वर्षा ऋतु में यादवों की राजनगरी द्वारिका जल-धाराओं की आकाश-वर्षा में जैसे नहा उठी। पश्चिम सागर की उछलती, अरोध्य, अविरत लहरें गरजती हुई ऐन्द्र महाद्वार पर टकराने लगीं–उछलते तुषारों में परिवर्तित होकर बिखरने लगीं। अब वह द्वार चार महीने तक बाहर से तृण झाँप लगाकर बन्द ही रखा जानेवाला था। द्वारिका के पत्तन में नौकाओं का, डोंगियों का आवागमन अब पूर्णत: बन्द हो गया था। सागर में दूरी पर क्रोष्टु नामक दीपस्तम्भ पर पूरे वर्ष-भर प्रज्वलित रहनेवाला पलीता जलाना जल-सेनापति की आज्ञा से अब रोक दिया गया था। पाषाण का वह दीपस्तम्भ अब आधे से भी अधिक फेनिल जल-लहरों में नहलाया जाने लगा। मछलियों को पकड़ने के लिए सागर की गहराइयों को बेधनेवाले धीवर अब घर पर ही रहने लगे।

वर्षा ऋतु के समाप्त होते ही तीव्र शीत की शरद् ऋतु ने द्वारिका को अपने बाहुपाश में ले लिया। सागर-पृष्ठ से उठनेवाले कुहासे के मेघों ने द्वारिका के चारों महाद्वारों को घेर लिया। अब दो-तीन महीने तो उस कुहासे से कभी-कभार ही होनेवाले सूर्यदेव के दर्शन से ही सन्तुष्ट होना होगा।

दूसरे समय की मेरी गोद-भराई को समस्त यादव सम्बन्धियों ने पहली गोद-भराई समझकर ही बड़े स्नेह से सम्पन्न किया। मेरे प्रथम पुत्र के अपहरण की घटना अब बहुत पीछे छूट गयी थी। उस घटना का शल्य मुझसे भी अधिक आप्त यादवजनों को पीड़ा दे रहा था। इसीलिए इस समारोह में उन्होंने तनिक भी कसर नहीं रख छोड़ी। श्रीजी ने मुझसे कहा, "इस पुत्र का नाम हम 'चारुदेष्ण' रखेंगे।"

मैंने पूछा, "चारु' से क्या अभिप्राय है?"

सहज हँसी के साथ उन्होंने कहा, "चारु का अर्थ है सुन्दर मनोहर।"

"और कन्या हुई तो?" मैंने भी उन्हीं की भाँति पहेली बुझायी।

उन्होंने कहा, "नहीं। पुत्र ही होगा और उसका नाम चारुदेष्ण ही रहेगा। रही कन्या की बात–वह तो जब की तब देखी जाएगी।"

परन्तु मैं तो सोच में डूब गयी–यदि कन्या हो गयी तो क्या नामकरण करेंगे उसका?

श्रीजी के होंठों से असत्य शब्द कभी नहीं निकला। अब तक के अनुभवों से तो मैं जान चुकी थी, यदि नींद में भी उनके मुख से अनजाने में कोई शब्द निकला, तो वह शब्द ही स्वयं को सार्थक सिद्ध करने की चेष्टा करेगा।

मुझे पुत्र ही प्राप्त हुआ और उसका नामकरण हुआ–चारुदेष्ण। नाम के अनुसार ही वह सुन्दर

था। प्रथम पुत्र के वियोग की मेरी व्यथा को उसने दूर किया। तात वसुदेव और दोनों माताएँ आचार्य और पुरोहित के साथ आकर अपने पौत्र को आशीर्वाद दे गये। चारुदेष्ण को देखने के लिए बलराम भैया बड़े स्नेह से अपने सहोदरों–गद, सारण और रोहिताश्व तथा पुत्र निशठ, उल्मुक और विपुल को साथ लेकर अन्तःपुर के द्वीप पर आये। रेवती दीदी भी सुभद्रा के साथ मुझसे मिलने आयीं। यौवन में पदार्पण करती सुभद्रा अब अत्यन्त सुन्दर दिखने लगी थी। चारुदेष्ण के जन्म के तुरन्त पश्चात् द्वारिका में वसन्त ऋतु का आगमन हुआ। राजनगरी के चौक-चौक में लगे विविध वृक्ष रंगबिरंगे पुष्पों से लहलहा उठे। विशाल आम्र-वृक्षों में छोटे-छोटे, नन्हे-नन्हे टिकोरे लग गये। दूर-दूर से आनेवाले लम्बोतरे, श्वेत पंख और पुच्छवाले पक्षियों की चहचहाहट से राजनगरी द्वारिका निनादित होने लगी। नर कोकिल के तारसप्तक में, प्रणयाराधन करनेवाले ऊँचे स्वर गूँजने लगे। वसन्त के चढ़ते सूर्य को साक्षी रखकर यादवों का वंशवृक्ष भी लहलहा उठा!

मेरे पीछे-पीछे भामा को पुत्र प्राप्त हुआ। वह अपनी माता जैसा गौरवर्णी और सूर्य के समान तेजस्वी था। उसका नाम रखा गया 'भानु'। अगले पखवाड़े में ही जाम्बवती भी माता बन गयी। वह भामा के पहले श्री-पत्नी बनी थी, किन्तु माता उसके बाद बनी। वैसे तो श्रीजी और जाम्बवती साँवले ही थे। किन्तु उनका यह पुत्र गौरवर्ण और सुन्दर था। पुत्र होकर भी वह कन्या जैसा ही दिख रहा था। जाम्बवती के पिता के आराध्य थे शिवशंकर। परन्तु उनके वनवासी साथी शिवजी को 'साम्ब' कहा करते थे। उसके स्मरण के रूप में जाम्बवती के पुत्र का नाम 'साम्ब' रखा गया। इसी समय मित्रविन्दा भी पुत्रवती हो गयी थी। उसका पुत्र अविरत हाथ-पाँव हिलाता हुआ कुलबुलाता रहता था। उसका नाम 'वृक' रखा गया। वसन्त ऋतु के समाप्त होते-होते सत्या की कोसल-लता भी सफल हो गयी। उसको भी पुत्र प्राप्त हुआ। उसका नाम रखा गया 'वीर'। मेरी चारों बहनों के नैहर से, उनके पुत्रवती होने के उपलक्ष्य में विपुल उपहार द्वारिका में आ गये। कौण्डिन्यपुर से मेरे लिए कोई उपहार आनेवाला नहीं था। मेरी ऐसी अपेक्षा भी नहीं थी। मेरे नैहरवालों का क्रोध अब तक भी कुछ कम नहीं हुआ था।

हम पाँचों अपने-अपने नवजात शिशुओं के पालन में व्यस्त हो गयी थीं। ऐसे में एक महत्त्वपूर्ण समाचार सुधर्मा राजसभा में आ पहुँचा–'पांचाल देश के एकचक्र नगरी के समीप वेत्रवन में बकासुर नाम के कुख्यात विकराल, नरभक्षक राक्षस का किसी बलवान ब्राह्मणपुत्र ने निश्चयपूर्वक वध कर दिया है।' यह समाचार बताते हुए दारुक ने लक्षित की एक सूक्ष्म बात भी मेरे सम्मुख रख दी। उसने कहा, "यह समाचार सुनते ही द्वारिकाधीश का मुख दीप्तिमान हो उठा। उन्होंने गुप्तचर-प्रमुख को बुलवाकर दो निष्णात गुप्तचरों को शीघ्रता से वेत्रवन की ओर भिजवाने का आदेश दिया।" बकासुर-वध का समाचार सुनकर श्रीजी प्रसन्न हुए, इस बात का मुझे तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ। असुर, दानव, बर्बर, राक्षस, म्लेच्छों के उपद्रव को मिटाना तो उनको प्रिय था। परन्तु इस समाचार को सुनकर उन्होंने शीघ्रता से इतनी दूर तक गुप्तचरों को क्यों भिजवाया, यह बात मेरी समझ में नहीं आयी। उनकी कई गतिविधियाँ ऐसी होती थीं, जो उनके ज्येष्ठ भ्राता, दोनों माता, तात वसुदेव और प्रथम पत्नी होते हुए स्वयं मुझको भी ज्ञात नहीं होती थीं तो औरों का क्या कहना!

बड़े भैया और श्रीजी के कारण द्वारिका जनपद को समस्त क्षत्रिय-मण्डल में सम्मान का स्थान प्राप्त हुआ था। आचार्य सान्दीपनि और श्रीजी के साथ पांचाल राज्य का सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध होने के कारण यादव राजसभा को एक वेधक आमन्त्रण प्राप्त हुआ– वह था पांचालराज द्रुपद की

पुत्री याज्ञसेना अर्थात् द्रौपदी के स्वयंवर का आमन्त्रण। राजा द्रुपद ने स्वयंवर के लिए ससैन्य काम्पिल्यनगर आने के लिए श्रीजी को बड़े आग्रह से आमन्त्रित किया था।

मैंने याज्ञसेना और यज्ञ से ही प्राप्त उसके बन्धु–धृष्टद्युम्न–दोनों के विषय में बहुत-कुछ सुना था। कहा जाता था, स्वयं यज्ञदेव ने यज्ञकुण्ड से प्रकट होकर उन दोनों को राजा द्रुपद और उनकी पत्नी सौत्रामणि को अर्पण किया था। राजा द्रुपद का यज्ञ से पूर्व शिखण्डी नाम का एक पुत्र था और यज्ञ के पश्चात् उनके आठ पुत्र हुए थे, जिनके नाम थे–सुमित्र, प्रियदर्शन, चित्रकेतु, ध्वजकेतु, वीरकेतु, सुकेतु, सुरथ और शत्रुंजय। द्रौपदी के साँवले, सुगन्धित सौन्दर्य की ख्याति सम्पूर्ण आर्यावर्त में गूँज रही थी। अब तक तो मैंने उसको देखा नहीं था, परन्तु उसको प्रत्यक्ष देखने की एक अकथनीय तीव्र इच्छा मन में अवश्य थी।

पांचाल राजकन्या के स्वयंवर के लिए ससैन्य प्रस्थान करने की यादवों की तैयारियाँ आरम्भ हो गयीं। यमुना के उस पार का पांचाल राज्य विशाल था। राजकाज की सुविधा के लिए उसके दो भाग किये गये थे। उत्तर पांचाल की राजनगरी थी अहिच्छत्र। इस देश की सीमाएँ उत्तर की ओर ब्रह्मावर्त से होकर सीधे कुरुराज्य हस्तिनापुर की सीमा से मिल गयी थीं। दक्षिण पांचाल की राजनगरी थी काम्पिल्यनगर। द्रौपदी-स्वयंवर इसी नगर में होनेवाला था। इस स्वयंवर से समस्त आर्यावर्त के भवितव्य में आमूलाग्र परिवर्तन आनेवाला था। परन्तु स्वयंवर में भाग लेनेवाले मध्यदेश के कई राजा इस बात से अवगत नहीं थे। किन्तु स्वयंवर के लिए आनेवाले प्रत्येक नरपुंगव के मन में सौन्दर्यखानि, सुगन्धिक द्रौपदी की अभिलाषा अवश्य सिर उठा रही थी। आश्चर्य तो तब होता, यदि ऐसी अनुपम स्त्री की प्राप्ति की स्पर्धा में यादव अपने सर्वस्व को दाँव पर लगाकर न उतरते। काम्पिल्यनगर जाने के लिए बलराम भैया, दोनों सेनापति, देवरजी उद्धव, कई यादव-वीर और स्वयं श्रीजी की बड़ी दौड़धूप हो रही थी। ऐसे में सम्पूर्ण द्वारिका को अत्यानन्द से जड़मूल से आलोड़ित करनेवाली, सभी को अनपेक्षित, अकल्पनीय घटना घटित हुई।

मेरा बहुत वर्ष पहले अपहृत हुआ प्रथम पुत्र अचानक द्वारिका के शुद्धाक्ष द्वार पर आ खड़ा हुआ। उसके साथ कई असुर थे। वह आया था यादवों के मूल शूरसेन राज्य से–गोवर्धन पर्वत के घने अरण्य से। न जाने किस वैमनस्य के कारण शम्बरासुर ने बहुत वर्ष पहले मेरे नवजात पुत्र का, उसके जन्म के छठे दिन ही अपहरण किया था। शम्बरासुर और उसकी पत्नी मायावती ने बड़ी सावधानी से अपने आसुरी संस्कारों में उसे पाला था।

तथापि उनकी सारी चेष्टाएँ विफल हो गयी थीं। जिस क्षण उसे ज्ञात हुआ कि वह द्वारिका के यादवकुल का अंकुर–प्रत्यक्ष द्वारिकाधीश का पुत्र है, उसी क्षण उसका रक्त उबल पड़ा। उसने शम्बर से घनघोर युद्ध किया और उसका वध करके ही वह चला आया था। मायावती को छोड़कर, कुछ एकनिष्ठ असुरों को साथ लेकर वह सीधे द्वारिका चला आया था। इस सम्पूर्ण समाचार के साथ उसने एक अग्रदूत भेजा था।

'द्वारिकाधीश का अपहृत पुत्र द्वारिका लौट रहा है।'–इस समाचार से द्वारिका जैसी खिल उठी थी, वैसी अपने निर्माण से आज तक कभी भी वह नहीं खिली थी! मेरा यह पुत्र अत्यन्त सुन्दर था–साक्षात् मदनदेव का अवतार! गोवर्धन के खुले वातावरण में पलने से वह पहली ही दृष्टि में अप्रतिम सुन्दर, ऊँचा दिख रहा था। स्वयं श्रीजी ने बलराम भैया के साथ शुद्धाक्ष द्वार पर उसका स्वागत किया। उसके सुदृढ़ वृषस्कन्धों को दृढ़ता से थामकर, उसके नील नेत्रों में गहराई तक

झाँककर, पूर्णत: परखने के पश्चात् श्रीजी ने उसको अपने दृढ़ आलिंगन में ले लिया। मैं और मेरी चारों बहनें तात वसुदेव तथा दोनों माताओं के समीप ही खड़ी थीं। इतने वर्षों बाद जब मेरा प्रथम पुत्र मुझे प्रणाम करने आया, तब मैं हड़बड़ा गयी। मुझे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि वह मेरा ही पुत्र है! अग्रदूत भेजने की सावधानी वह न बरतता, श्रीजी उसे अपने हृदय से न लगाते, तो माता होकर भी अपने पुत्र को स्वीकार करने में मैं हिचकिचाती।

मैंने उसको दृढ़ आलिंगन में ले लिया। इतने वर्ष से रुके हुए अश्रु खुलकर बहने लगे। उसी समय श्रीजी के दूरदर्शी शब्द मेरे कानों में पड़े, "पहले तो माता होना कठिन है, और सु माता होना तो इतना कठिन है, जितना प्रेमयोग! रुक्मिणी, इसके आसुरी संस्कारों को मिटाने के दुष्कर कर्मयोग का दायित्व आज से ही तुम पर आया है। जैसे तुमने जाम्बवती को यादव कुलस्त्री बनाया, वैसे ही जाम्बवती की सहायता से तुम इसको यादव महारथी में परिवर्तित करवा लेना।"

हमारे प्रथम पुत्र का द्वारिका के राजपुरोहितों ने विधिवत् नामकरण किया। सबको साक्षी रखकर उसका नाम प्रद्युम्न रखा गया, जो हमने बहुत पहले तय किया था। नामकरण विधि के स्वादिष्ट भोजन से सन्तुष्ट यादव चतुरंगिणी सेना के साथ काम्पिल्यनगर की ओर निकले–पांचाली के स्वयंवर के लिए।

युवा, रूपसम्पन्न प्रद्युम्न के आगमन से पूर्वनियोजित यादवमण्डल में अब वृद्धि हो गयी। श्रीजी ने कुछ सोचकर उसे अपने साथ ले लिया था। उनका उद्देश्य था कि वह क्षत्रियों की स्वयंवर-प्रथा को प्रत्यक्ष देखे। परन्तु उससे द्वारिका के यादवों में और आसपास के नरेशों में किंवदन्ती फैल गयी कि द्वारिकाधीश अपने प्रथम पुत्र प्रद्युम्न के लिए ही काम्पिल्यनगर जा रहे हैं। किन्तु जाते समय उन्होंने मुझसे स्पष्ट कहा था कि, "स्वयंवर का आमन्त्रण द्वारिकाधीश के लिए है। हो सकता है इस स्वयंवर में पण पूरा करने के लिए मुझे ही उतरना पड़े। स्वयंवर का पण भी बड़ा विचित्र है। सम्पूर्ण धनुर्वेद की परीक्षा लेनेवाला।"

यह सुनकर मैंने कहा, "पाँचवीं बहन के रूप में पांचालपुत्री का स्वागत करने के लिए मैं तैयार हूँ। परन्तु स्वयं श्रीजी के लिए भी धनुर्विद्या का यह पण कितना कठिन है?" श्रीजी के मुख से 'असम्भव' और 'कठिन' ये शब्द कभी नहीं निकलते थे। कई बार अनेक कठिन और दुष्कर कहे जानेवाले कार्यों को भी बड़ी सरलता से, कुशलता से श्रीजी को पूरा करते मैंने प्रत्यक्ष देखा है। मेरा कुतूहल जाग उठा।

श्रीजी ने पांचाली के स्वयंवर के लिए रखा गया पण इस प्रकार मेरी आँखों के आगे चित्रवत् खड़ा किया, मानो पांचाली का स्वयंवर-मण्डप सामने दिख रहा हो। मेरे निकट आकर अपनी विशिष्ट शैली में दाहिने हाथ की तर्जनी उठाकर गोलाकर घुमाते हुए वे बोले–"पांचालराज ने स्वयंवर-मण्डप के मध्य गण्डकी पाषाणों से एक प्रशस्त, सुघड़, गोल जलकुण्ड का निर्माण करवाया है। वह कुण्ड पवित्र सप्त सरिताओं के जल से पूरित है। जलकुण्ड के मध्यभाग तक पहुँचनेवाला पूर्व-पश्चिम में सँकरा मार्ग बनवाया गया है। उसके मुख पर धनुर्धर के लिए गोलाकार आसन की रचना की है। आसन के समीप ही पांचालों द्वारा पूजे जानेवाले पुष्पमाला-मण्डित शिव-धनुष और तूणीर के लिए स्थान बनाया गया है। सूचिबाणों से भरे अनेक तूणीर वहाँ रखे होंगे। जलकुण्ड के ऊपर छत में एक घूमता मत्स्य-यन्त्र लगाया गया है। और उस घूमते मत्स्य का केवल पाँच बाणों से नेत्रभेद करना है–केवल पाँच।" उनकी घूमती अँगुली के साथ मेरी दृष्टि भी

घूमती रही। उन्होंने अँगुली छत की ओर उठायी। उनका कथन सुनते-सुनते मैं भी छत की ओर देखती रही। केवल कल्पना से ही मैं आँखें विस्फारित कर गर-गर घूमनेवाले मत्स्य का नेत्र ढूँढ़ने लगी।...अनजाने में बुदबुदाती रही–‘डोलती मछली का हाथ आना ही बड़ा दुष्कर है, तब घूमती मछली का नेत्रभेद करना–और वह भी केवल पाँच बाण चलाकर?’

दूसरे हाथ से श्रीजी ने मेरी ग्रीवा नीचे झुकायी और सहज नटखटपन से जलकुण्ड में पड़े प्रतिबिम्ब का संकेत करके कहा, “नेत्रभेद ही करना है और वह भी पाँच में से किसी एक बाण से! परन्तु सीधे ऊपर–मत्स्य की ओर देखकर नहीं, नीचे जल में पड़े उसके प्रतिबिम्ब को देखकर–ग्रीवा नीचे, नेत्रभेद ऊपर! इसके लिए धनुर्विद्या का अनुपम कौशल आवश्यक है।

“इस समय ऐसा एक ही अनुपम धनुर्धर है हस्तिनापुर में–सूतपुत्र कर्ण। गुरु द्रोण द्वारा आयोजित वासन्तिक प्रतियोगिता में अर्जुन के सभी विक्रमों को दोहराकर कर्ण ने उसे द्वन्द्वयुद्ध की चुनौती भी दी थी।

“वास्तव में यह पण पूरा करने की योग्यता अर्जुन में ही थी। परन्तु...परन्तु...” किसी जटिल समस्या का हल ढूँढते समय कभी-कभार श्रीजी के भव्य भाल पर जैसी रेखाएँ दिखती थीं वैसी ही रेखाएँ क्षण-भर के लिए दिखाई दीं। फिर ‘चलता हूँ’ कहकर उन्होंने मुझसे विदा ली। यादवों के साथ वे काम्पिल्यनगर तो चले गये, किन्तु मेरे मन में एक प्रश्न छोड़ गये–मत्स्य का नेत्रभेद करने की योग्यता रखनेवाले दो धनुर्वीरों का संकेत तो उन्होंने किया था, किन्तु स्वयं अपना निर्देश उन्होंने नहीं किया था। मुझे तो पूरा विश्वास था, कितना भी कठिन क्यों न हो, यह पण श्रीजी ही जीतेंगे। अन्तःपुर के द्वीप पर निर्माण किये गये प्रासादों में से छठे प्रासाद की स्वामिनी अब पांचालकन्या होगी।

यद्यपि वे मुझे ‘बुद्धिमती–महाराज्ञी’ कहते थे, फिर भी थी तो मैं भोली-भाली ही। मैं सोचती रही– कैसी दिखती होगी पांचालों की वह सुगन्धिक यज्ञकन्या द्रौपदी? श्रीजी की हिमवन्त-यात्रा के वर्णन में सुगन्धि ब्रह्मकमलों के विषय में तो सुना ही था। कहते हैं, यह यज्ञकन्या भी सुगन्धि है। कैसा होगा यह सुगन्धित स्त्री-कमल? सुना है, धृष्टद्युम्न की यह याज्ञसेना-श्यामला भगिनी बड़ी मानिनी है। कैसा आचरण करेगी वह मेरे साथ? भामा जैसा? कि जाम्बवती जैसा? मेरी चारों बहनों के नैहर की जनशक्ति इकट्ठा करने पर जितनी होगी, उतना संख्याबल तो अकेली पांचाली के नैहर का–पांचालों का होगा। मेरी अन्य चारों बहनें मेरे पश्चात् आयीं और उन्होंने मुझे महाराज्ञी का सम्मान भी दिया। क्या पांचाली भी ऐसा करेगी?

क्या पता, आगे चलकर वह ही बनेगी यादवों की महाराज्ञी! सौन्दर्यखानि तो वह है ही–आवाहक, सुडौल और विपुलकेशा भी है। और इन सबसे बढ़कर भूचम्पक के पुष्पों जैसी सुगन्धि–यज्ञजा–क्षत्राणी! यज्ञजा है–तब तो वह बुद्धिमती भी होगी।–क्या वह मुझसे भी अधिक बुद्धिमती होगी?

जब प्रद्युम्न का अपहरण हुआ, जब जाम्बवती और भामा एक के बाद एक मेरे जीवन में आयीं, तब भी मैं उतनी विचलित नहीं हुई थी जितनी अब हो गयी। फिर भी महाराज्ञी के दैनन्दिन कर्म नित्य की भाँति करती रही। दोनों द्वीपों पर रहनेवाले आप्तगणों के सुख-दुःख का ध्यान रखती रही।

एक महीना बीत गया। द्वारिकाधीश, बलराम भैया और देवरजी उद्धव के साथ द्वारिका लौट

आये। परन्तु मेरे अनुमान के अनुसार पांचालकन्या द्रौपदी उनके साथ नहीं थी। उसके पिता का यादवों को दिया विपुल उपहार मात्र था। यह सब कैसे हुआ? मेरा कुतूहल जागृत हो गया। अपने प्रश्न का उत्तर पाने के लिए मैं श्रीजी से उनके कक्ष में मिली। मुझे लगा था कि वे–जिस किसी ने पण जीता है, उसके साथ भविष्य में आनेवाले सम्बन्धों का विचार करते गम्भीर बैठे होंगे अथवा पांचालकन्या प्राप्त न होने के कारण उदास होंगे; परन्तु प्रत्यक्ष में जो कुछ हुआ, वह मेरे लिए पूर्णत: अनपेक्षित था।

मुझे देखते ही वे शीघ्रता से अग्रसर हुए। अपार प्रसन्नता से मेरी दोनों भुजाओं को कसकर पकड़कर वे एक अनोखे ही ढंग से कहने लगे–"रुक्मिणी, पाण्डव जीवित हैं। शान्त, सत्त्वशील मुखवाला युधिष्ठिर, उसका अद्वितीय बलवान, मल्लयोद्धा बन्धु भीम, स्वयंवर का पण जीतनेवाला अजेय धुनर्धर अर्जुन, हमारे प्रद्युम्न जैसा दिखनेवाला नकुल और दारुक का स्मरण दिलानेवाला अश्व-विशेषज्ञ सहदेव–सभी...सभी पाण्डव जीवित हैं! काम्पिल्यनगर में एक कुम्भकार के घर बुआ कुन्ती, द्रौपदी और पाण्डवों से मिलकर ही मैं आया हूँ। महाराज्ञी, अर्जुन जीवित है! मेरे मन के अनेक संकल्प अब पूरे होंगे। जिस कुशलता से तुमने अपनी सपत्नियों और सहस्रों कामरूपी स्त्रियों का स्वागत किया, वह अद्वितीय है। परन्तु अब तो तुम्हें इससे भी अधिक कुशलता का कार्य करना है–द्वारिका के यादवों के अतिरिक्त हस्तिनापुर के कुरुवंशियों के सुख-दुःख का ध्यान रखना है!

"प्रिये रुक्मिणी, इस स्वयंवर के कारण मेरे जीवन में एक नये पर्व का आरम्भ हुआ है। काम्पिल्यनगर में जो कुछ हुआ, उसका विवरण तुम्हारे प्रिय देवरजी तुम्हें बता ही देंगे।"

उसी दिन रात्रि के समय देवरजी उद्धव मुझे वन्दन करने के लिए मेरे कक्ष में आये। द्रौपदी-स्वयंवर की समग्र घटना को उन्होंने मेरे समक्ष चित्रवत् साकार किया–"पांचाली के स्वयंवर का पण पूरा करने के लिए कई राजा स्वयंवर-मण्डप में उपस्थित थे। उनमें दुर्योधन भी दु:शासन सहित अपने सभी भ्राताओं के साथ आया था। उसकी ओर से पण पूरा करने के लिए अंगराज कर्ण भी अपने बन्धु शोण और पुत्र सुदामन् सहित आया था। दुर्योधन को परामर्श देनेवाला उसका मामा शकुनि अपने बन्धुओं–वृषक, बृहद्बल, अचल, सुभग, विभु, भानुदत्त, गज, गवाक्ष, चर्मवत्, आर्जव और शुक सहित उपस्थित था। मगधनरेश जरासन्ध अपने सेनापति शिशुपाल के साथ आया था। द्वारिकाधीश के अन्य दो फुफेरे भ्राता–दन्तवक्र और विदूरथ, स्वयं को 'वासुदेव' कहलानेवाले पौण्ड्रक–भी आये थे। चेकितान, भगदत्त, अंशुमान, शंख और मद्रराज शल्य भी वहाँ उपस्थित थे। रुक्मांगद, भूरि, भूरिश्रवा, सुदक्षिण दृढ़धन्वा, सुषेण, शिबि, सैन्धव जयद्रथ, बाह्लिक, चित्रांगद, ये सभी नरेश वहाँ एकत्र हुए थे। बलराम भैया, भैया, दोनों सेनापति, अक्रूर जी, अमात्य, मैं और प्रद्युम्न–हम सभी वहाँ थे। बहुसंख्य नरेश इस स्वयंवर के लिए काम्पिल्यनगर में उपस्थित थे।

"युवराज धृष्टद्युम्न ने पांचाल-अमात्य और सेनापति के साथ आमन्त्रित नरेशों का स्वागत किया। उसने भगिनी पांचाली के गुण और सौन्दर्य का सरस वर्णन करके स्वयंवर में रखे गये कठिन पण के नियम बताये। पांचालों की कुलदेवी और यज्ञीय देवताओं का स्मरण करके सुमुहूर्त पर मत्स्य-यन्त्र शुरू किया गया। छत से समानान्तर भ्रमण करनेवाले मत्स्य के साथ-साथ आर्यावर्त के कई पराक्रमी राजाओं का भाग्य भी भ्रमण करने लगा! मत्स्य के साथ-साथ

जलकुण्ड के शान्त जल में उसका प्रतिबिम्ब भी भ्रमण करने लगा। कई नरेश धृष्टद्युम्न के आह्वान को स्वीकार कर, वक्ष फुलाकर अग्रसर हुए। परन्तु पांचालों के भारी शिव-धनुष को उठाते-उठाते ही किसी की दुर्दशा हो गयी, तो किसी की धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाते-चढ़ाते। ऐसे ही एक प्रहर बीत गया। मद्रराज शल्य और जयद्रथ भी असफल रहे। स्वयंवर मण्डप में खुसुर-फुसुर शुरू हो गयी। तभी महाकाय मगधसम्राट् जरासन्ध आसन से उठ खड़ा हुआ। उसके विशाल वक्ष पर विराजित स्वर्णिम राजपदक चमचमा उठे। मण्डप में उपस्थित उसके चेदि और मागध सदस्य तालियों की गड़गड़ाहट में अविरत हर्षघोष करने लगे–‘मगधाधिपति सम्राट् जरासन्ध महाराऽज की ऽ जऽय! गिरिव्रज नरेश अजेय मल्लयोद्धा, श्रेष्ठ धनुर्धर–सम्राऽट् जराऽसन्ध ऽ की ऽ जऽय - - जऽय!’ कुछ उतावले मागधों ने तो हर्षनाद किया–‘मगध महाराज्ञी देवी याज्ञसेना की ऽ जऽऽय-ज ऽऽ य!’

“मगधसम्राट् ने उठते-उठते द्वारिकाधीश की ओर अत्यन्त तिरस्कारपूर्ण दृष्टि डाली। मानो वह धृष्टद्युम्न की नहीं, द्वारिकाधीश की भगिनी को ही ब्याहने आया था। और बिना कुछ बोले ही कहना चाहता था–‘मथुरा से पलायन करनेवाले भगोड़े भीरु ग्वाले, देख तेरे समक्ष ही द्रौपदी को कन्धे पर डालकर ले जाता हूँ गिरिव्रज! जलते गोमन्त पर्वत से तो तू भाग निकला, परन्तु इस स्वयंवर के पश्चात् रस्सी से जकड़कर तुझे भी मैं गिरिव्रज ले जाऊँगा।’

“वक्ष तानकर गर्वोद्धत जरासन्ध दनादन पैर पटकता सँकरे मार्ग से शिव-धनुष के पास गया। वीरासन लगाकर, धनुष का मध्य पकड़कर वह भारी शिव-धनुष उसने उठाया। जरासन्ध के पूर्व कोई भी राजा उस धनुष को उठा नहीं सका था, इसलिए भान रहित हुए मागधों ने प्रचण्ड जयनाद से स्वयंवर मण्डप को गुंजायमान कर डाला–‘जय हो ऽ जय हो ऽ’! जरासन्ध ने तूणीर में से एक बाण खींचकर माथे से लगाया। कुलदेवता का स्मरण करके वह बाण प्रत्यंचा पर चढ़ानेवाला ही था कि एकाएक सन्तुलन बिगड़ गया और वह धड़ाम से गिर पड़ा। सारा मण्डप तड़ाक् से उठ खड़ा हुआ। अब जरासन्ध स्वयंवर का पण जीतने ही वाला है, यह सोचकर आँखें विस्फारित कर चक्कर लगाती मछली की ओर देखनेवाले दर्शकगण हताश होकर, भारी-भरकम शिव-धनुष के बोझ के नीचे छटपटाते, एड़ियाँ रगड़नेवाले जरासन्ध की ओर देखने लगे। छियासी राजाओं को कारागृह में डालनेवाले उस घमण्डी सम्राट् को उस प्रचण्ड शिव-धनुष ने विवश कर डाला। ऐसा प्रतीत होने लगा कि एड़ियाँ रगड़ते-रगड़ते अब जरासन्ध मर ही जाएगा।

“इसी समय अंगराज कर्ण आसन से उठ खड़ा हुआ। मुस्कराकर दुर्योधन की ओर देखते हुए वह शिव-धनुष के निकट गया। बड़ी सरलता से उसने अपने विजय-धनुष की भाँति शिव-धनुष को उठाया। जरासन्ध मुक्त हो गया। नीचे पड़े मुकुट को उठाकर उसने अपने सिर पर धारण किया और आँखें फाड़कर उसने कर्ण की ओर देखा, फिर छटपटाता हुआ वह आसन पर जा बैठा। जैसे ही कर्ण ने शिव-धनुष उठाया, ‘अंगराज कर्ण कीऽ जयऽ..की ऽ जयऽऽ!’ के नारों से मण्डप गूँज उठा। मैं भी उसकी ओर एकटक देखने लगा। वह हमारे प्रद्युम्न के समान अप्रतिम रूप-सम्पन्न दिख रहा था। कदाचित् मुझे आभास हुआ होगा कि वह भैया के चरणों को ही अनिमिष देख रहा है।

“उसने सहज ही बाण प्रत्यंचा पर चढ़ाया। कपोत की भाँति अपनी सुडौल ग्रीवा को घुमाकर वह कुण्ड में फिरते मत्स्य के प्रतिबिम्ब के नेत्र पर ध्यान केन्द्रित करने लगा। सम्पूर्ण स्वयंवर-

मण्डप श्वास रोककर उसके लक्ष्यवेध की प्रतीक्षा करने लगा। तभी हाथों में श्वेत-कमलों की माला लिये नतमस्तक द्रौपदी ने ग्रीवा ऊपर उठायी। समस्त मण्डप को थर्रा देनेवाले, कठोर प्रहार करनेवाले उसके निर्णायक शब्द बिजली की भाँति कड़क उठे–'रुक जाइए। आप इस पण में भाग नहीं ले सकते। कभी भी, किसी भी सूत की पत्नी अथवा पुत्रवधू बनना मुझे स्वीकार नहीं है।'

"कर्ण की सुपुष्ट भुजाओं में सज्ज धनुष क्षण-भर काँप उठा। उसका वीरासन टूट गया। प्रत्यंचा पर चढ़ाया सूचिबाण धनुष से छूटा और वक्रगति से आकर सीधे भैया के पाँव के अँगूठे में घुस गया। भैया ने मुस्कराते हुए खींचकर उसे बाहर निकाला। ग्रीवा आकाश की ओर उठाकर कर्ण ने अट्टहास किया। द्रौपदी के उन शब्दों के पश्चात् कर्ण की वह हँसी भी मण्डप में बैठे राजाओं को भयभीत कर गयी। दूसरे ही क्षण आवेग से शिव-धनुष नीचे फेंककर, लौटकर वह दुर्योधन के समीप के आसन पर जा बैठा।

"याज्ञसेना पांचाली ने संस्कारवश फिर सिर झुकाया। कहनेवाली थी याज्ञसेना द्रौपदी और जिससे वह कटु बात कही गयी, वह था सूर्यभक्त कर्ण; इसलिए मण्डप में बैठे सभी राजा स्तब्ध रह गये। उनमें आपस में कानाफूसी शुरू हो गयी। आर्यावर्त के समस्त पौरुष का उपहास करता मत्स्य-यन्त्र निरन्तर घूमता ही रहा। मण्डप में चारों ओर प्रचण्ड तनाव व्याप गया। तब यज्ञपुत्र धृष्टद्युम्न उठ खड़ा हुआ। वह गरज उठा–क्या मेरी यज्ञदत्त भगिनी का वरण करने का साहस आर्यावर्त के एक भी नरश्रेष्ठ नरेश में नहीं है? यहाँ का समस्त धनुर्वेद क्या आज पराक्रम-शून्य हुआ है? रूपसुन्दरी, गुणवती, पांचालपुत्री द्रौपदी को क्या उचित जीवन-साथी नहीं मिलेगा? क्या इस य:कश्चित् मत्स्य-यन्त्र के समक्ष अपनी हार स्वीकार करने के लिए ही इतने सारे नरेश यहाँ इकट्ठे हुए हैं? धिक्कार–धिक्कार है अपने गगनभेदी पराक्रम की डींग हाँकनेवाले आर्यावर्त के क्षत्रियत्व पर! धिक्कार है सूर्य-चन्द्र कुल के वंशज कहलानेवाले क्षत्रियों पर!' वे धृष्टद्युम्न के मुख से निकलनेवाले शब्द नहीं थे,–भभकते यज्ञकुण्ड से निकलनेवाली चिनगारियाँ थीं वे। सुनकर कुछ राजाओं के हाथ उनके शस्त्रों की ओर बढ़े तो कुछ राजाओं ने कानों पर हाथ धरे।

"अब मेरी दायीं ओर बैठे मेरे प्रिय भैया–द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण तनकर खड़े हो गये। वे कुछ बुदबुदा रहे थे। सम्भवत: वे सुदर्शन चक्र के आवाहन के दिव्य मन्त्र थे।

"जैसे ही वे उठकर खड़े हुए, यादवों के साथ-साथ वहाँ उपस्थित राजाओं में से कई आमन्त्रितों ने उच्च स्वर में उनके जयघोष के नारे लगाये। उनके पूर्ण विकसित सूर्य-पुष्प समान मुखमण्डल से दृष्टि हटाने को मेरा मन ही नहीं कर रहा था। मैं उनकी ओर देखता ही रहा। अब किसी भी क्षण वे इडादेवी का जयघोष करते हुए अग्रसर होनेवाले थे। अब तक अकेले अंगराज कर्ण ने ही डौलदार वीरासन लगाकर उस भारी-भरकम शिव-धनुष को उठाया था। परन्तु मेरे भैया अब उससे भी अधिक प्रभावी वीरासन लगाकर अपने शार्ङ्ग धुनष की भाँति उसे सहज ही उठानेवाले थे। उनका केवल वीरासन देखकर ही मण्डप में उपस्थित नरेश हर्ष से तालियाँ बजानेवाले थे। आचार्य सान्दीपनि का स्मरण करके, नितान्त सरलता से प्रत्यंचा पर सूचिबाण चढ़ाकर, आँखें मूँदकर वे मन-ही-मन इडादेवी को वन्दन करनेवाले थे। जलकुण्ड में गर-गर फिरते मत्स्य के नेत्र पर अपनी दृष्टि एकाग्र करके पहले ही बाण के प्रक्षेपण से वे अनायास ही मत्स्य का नेत्रभेद करनेवाले थे।

"द्वारिकाधीश के नाम का जयघोष सुनकर मगधराज जरासन्ध, पांचालराज द्रुपद, युवराज

धृष्टद्युम्न, महाराज्ञी सौत्रामणिदेवी के साथ-साथ सभी उपस्थितों की आँखें केवल भैया की अप्रतिम लावण्यमय मूर्ति पर टिकी हुई थीं। यही नहीं, मैंने तो स्पष्ट देखा कि नतमस्तक याज्ञसेना द्रौपदी ने भी अनजाने में झुकी ग्रीवा को उठाकर भैया को आँख-भर देख लिया था।

"मुझे लगा कि उच्च स्वर में किये जा रहे इस जयघोष के कारण स्वयंवर मण्डप की छत अब उड़ ही जाएगी। तभी उपस्थित राजाओं में से मार्ग निकालता हुआ एक ऊँचा, अत्यन्त तेजस्वी, उन्नतग्रीव ब्राह्मण वक्ष तानकर जलकुण्ड के पास आया। वह कौन था, कहाँ से आया था, उसका नाम क्या था, मण्डप में किसी को भी, कुछ भी ज्ञात नहीं था। परन्तु वह इस चपलता से और आत्मविश्वास से आया था कि वहाँ का सम्पूर्ण कोलाहल क्षण में ही शान्त हो गया। मैंने उस ब्राह्मणवेशधारी युवक का भलीभाँति निरीक्षण किया। क्षण-भर के लिए मुझे लगा—कहीं भैया तो ब्राह्मणवेश में जलकुण्ड के पास नहीं खड़े हैं! यह कैसे सम्भव है? अब मैं भी उसकी ओर एकटक देखने लगा। धीमी चाल और आत्मविश्वास के साथ वह अग्रसर हुआ और जलकुण्ड के मध्य में स्थित धनुर्धर की बैठक के पास गया। सभी उपस्थितों की दृष्टि को उसने बलात् अपनी ओर खींच लिया था।

"जैसे ही उसने वीरासन की प्रभावशाली मुद्रा ली, मण्डप में तालियों की वर्षा हुई। मैं तो तालियाँ पीटते-पीटते खट् से खड़ा हो गया। भैया के दबे बोल मुझे सुनाई दिये, 'ऊधो, बन्धु, यह वही वीरासन है, जो मैंने कुरुक्षेत्र में, सूर्यकुण्ड के तट पर सूर्यग्रहण के दिन देखा था। ऊधो, यह कोई और नहीं, पाण्डुपुत्र—कौन्तेय अर्जुन ही है।' मैं आश्चर्य से भैया की ओर देखता ही रह गया। अब तो भैया भी हर्षित होकर हल्की-सी तालियाँ पीट रहे थे। उनके इस रूप को तो मैंने पहले कभी देखा नहीं था।

"इतने में शिव-धनुष उठाकर, प्रत्यंचा पर बाण चढ़ाकर, ब्राह्मण युवक ने प्रतिबिम्ब को देखकर, पहले ही सूचिबाण से मत्स्य का नेत्रभेद कर भी लिया था। मत्स्य-यन्त्र की गति अब रुक गयी थी, परन्तु उसी क्षण अघटित घटनाओं का चक्र गतिमान हुआ था। पांचालकन्या द्रौपदी ने मुस्कराते-लजाते हुए श्वेतकमलों की माला ब्राह्मण युवक के कांठ में डाल दी। इसी क्षण मेरे कन्धे पर हाथ रखकर भैया अस्पष्ट से बुदबुदाये—'यह तीसरी है—पहली गोकुल में, दूसरी द्वारिका में और यह तीसरी काम्पिल्यनगर में!' मैं असमंजस में पड़ गया। मैंने उनसे पूछा, 'तीसरी कौन?'

"वे मधुर मुस्कराये। उनके स्वर्णकिरीट का रंगीन मोरपंख फड़फड़ाया। बहुतों के हृदयों को जीतनेवाला, भैया के कपोलों में खिलनेवाला भँवर क्षण-भर उभरकर लुप्त हो गया। क्षण-भर मुझे लगा कि उनके गले की वैजयन्तीमाला में गूँथे अनन्तपुष्प की भाँति मेरा जीवन भी उनके चरणों में समर्पित कर दूँ। भैया ने कहा 'गोकुल में एकानंगा, द्वारिका में सुभद्रा, और यह तीसरी—याज्ञसेना!'

इस प्रकार की बात वे अकेले ही कह सकते हैं, कर सकते हैं। कुछ समय पहले स्वयंवर में भाग लेने के लिए तत्पर मेरे भैया ने कुछ ही क्षणों में उसी सुगन्धित, सौन्दर्यशालिनी क्षत्राणी को अपनी भगिनी माना था। सचमुच उनका जीवन युग को नया मोड़ देनेवाला था—नयी-नयी प्रथाओं का आरम्भ करनेवाला और मनःपूर्वक उनका पालन भी करनेवाला!

"जिस क्षण द्रौपदी ने ब्राह्मण युवक के गले में वरमाला डाली, मण्डप में उपस्थित क्षत्रिय भड़क उठे। जरासन्ध चिल्लाया, 'हमारे समक्ष यह क्षुद्र ब्राह्मण पांचालकन्या को—एक क्षत्राणी को

ले जाएगा क्या?'

"'हम यह कदापि सहन नहीं करेंगे।' अनेक राजाओं ने उसका समर्थन किया। धनुष, गदा, खड्ग आदि शस्त्र उठाये गये। स्वयंवर-मण्डप का रणभूमि में रूपान्तरण हुआ। ब्राह्मण युवक की रक्षा के लिए एक और सुदृढ़ शरीर-यष्टिवाला युवक जलकुण्ड के पास आया। उसको देखते ही भैया ने मुझसे कहा, 'उद्धव, यह महाबली भीम है।' उसके पीछे-पीछे आये और तीन युवकों को भैया ने अचूक पहचान लिया—वे युधिष्ठिर और नकुल-सहदेव थे।

"जरासन्ध के साथ अर्जुन पर आक्रमण करनेवाले सशस्त्र राजाओं को दहाड़ते हुए विशालकाय भीम ने युधिष्ठिर और नकुल-सहदेव की सहायता से आह्वानपूर्वक परास्त किया। पण पूरा करने के लिए रखा शिव-धनुष तानकर अर्जुन कर्ण, दुर्योधन, कर्णबन्धु शोण आदि से भिड़ गया। अवाक् हुई द्रौपदी ने बन्धु धृष्टद्युम्न का आश्रय लिया। पांचालराज द्रुपद दोनों हाथ उठाकर क्षुब्ध क्षत्रियों को रोकने का असफल प्रयास करने लगे। भयभीत देवी सौत्रामणि द्रौपदी के निकट जाकर उसको धैर्य दिलाने लगी। धृष्टद्युम्न एक हाथ से जूझते राजाओं को रोकने का प्रयास कर रहा था। उस भीड़ में कहीं खो न जाए, इसलिए उसने दूसरे हाथ से द्रौपदी की भुजा को कसकर थामा था।

"भैया तो अत्यन्त शान्त हैं, इसका मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मण्डप में मचे कोलाहल में ठीक से सुनाई दे इसलिए मेरे कान के पास मुख लाकर उन्होंने आदेश दिया—'उद्धव, इस स्वयंवर-युद्ध को पाण्डव ही जीतेंगे। युद्ध समाप्त होते ही द्रौपदी अपने पति के पीछे-पीछे चली जाएगी। तुम उनका पीछा करके पाण्डव और बुआ कुन्ती कहीं ठहरे हैं, इसका पता करो।'

"जैसा भैया ने कहा था, वैसा ही हुआ। उस युद्ध में अर्जुन के बाण से कर्णपुत्र सुदामन् विद्ध होकर गिर पड़ा। अपना धनुष फेंककर कर्ण उसकी ओर दौड़ा। दुर्योधन ने कर्ण की पुष्टि करते हुए युद्ध को रोक दिया। उसके पीछे-पीछे जरासन्ध ने भी अपने समर्थकों को युद्ध करने से रोका। रुके हुए मत्स्य-यन्त्र की भाँति वह घनघोर युद्ध भी रुक गया। अर्जुन के बाण से कर्णपुत्र सुदामन् गतप्राण हो गया था। गतप्राण पुत्र के समीप बैठे शोक-सन्तप्त कर्ण के चतुर्दिक् उसके समर्थक इकट्ठा हो गये थे।

"महाराज द्रुपद और महाराज्ञी सौत्रामणिदेवी को प्रणाम करके अर्जुन अपने चारों भ्राताओं सहित मण्डप से जाने के लिए निकला। पणपूर्ति करने से अर्जुन की पत्नी बनी द्रौपदी माता-पिता और बन्धु के संकेत पर सिर झुकाकर उसके पीछे-पीछे चलने लगी। अर्जुन के चारों भ्राता उन दोनों के पीछे-पीछे चल दिये। अपार क्षात्र-तेज से द्योतित हुए युवा अर्जुन को मैंने टकटकी लगाकर देखा। क्या कहूँ भाभी, भैया और अर्जुन में कितना सादृश्य है! दोनों के वर्ण, शरीर-यष्टि और ऊँचाई में कितनी समानता है! मुझे विश्वास है, आप उन दोनों को एक-साथ पीछे से देखोगी, तो आप भी भैया को पहचान नहीं सकोगी। मैंने जब उनका निरीक्षण किया तो मुझे लगा कि भैया अर्जुन से तनिक ऊँचे होंगे—होंगे नहीं, हैं।

"भैया की आज्ञा के अनुसार मैंने पाण्डवों का पीछा किया। वे काम्पिल्यनगर की सीमा पर एक कुम्भकार के घर ठहरे थे। वारणावत छोड़ते ही ब्राह्मणवेश धारण करने के कारण और कभी भी इकट्ठे न घूमने की सावधानी बरतने के कारण कोई उन्हें पहचान नहीं पाया था। उन्हें जीवित देखकर पाँच संलग्न पर्वत-शिखरों की भाँति एक साथ देखकर मुझे भी बड़ा हर्ष हुआ।

'लौटते ही पाण्डव-माता कुन्ती के साथ कहाँ ठहरे हैं, इसकी सूचना मैंने भैया को दी। एक क्षण भी व्यर्थ न गँवाकर वे दाऊ और मुझे लेकर पूजनीया बुआ कुन्ती से मिलने के लिए निकले।"

जिस तन्मयता से देवरजी सारा वृत्तान्त बता रहे थे, उससे मुझे आभास हो रहा था कि श्रीजी, बड़े भैया और देवरजी के साथ मैं भी काम्पिल्यनगर में ही हूँ। जिसके कारण यह सब घटित हुआ वह द्रौपदी वास्तव में कैसी दिखती होगी, इसका आत्यन्तिक कुतूहल अपने-आप मेरे मन में जागा। इससे भी अधिक श्रीजी और द्रौपदी की पहली भेंट को मैंने मन-ही-मन में चित्रांकित किया, परन्तु उससे मुझे कुछ सन्तोष नहीं हुआ। मैंने देवरजी उद्धव से किसी बालिका की भाँति बड़े कुतूहल से पूछा, "कैसे मिले वे दोनों आपस में? बताइए न!" देवरजी अपने प्रिय भैया की पत्नी, अपनी भाभी और यादवों की महाराज्ञी इन सभी रूपों में मेरा मन:पूर्वक बहुत आदर करते थे। सम्भवत: इसीलिए कभी-कभी वे मेरे साथ अच्छा हास-परिहास कर लेते थे। नटखटपन में वे कुछ कम नहीं थे। हाथों के संकेत से मेरी उत्तेजना को शान्त करते हुए वे बोले, "बताता हूँ–बताता हूँऽ भाभी! भैया को समक्ष देखते ही पाण्डव-माता–बुआ कुन्तीदेवी चकित रह गयीं। इससे पहले कि भैया झुककर उनके चरण छुएँ, उन्होंने भैया को आलिंगन में ही ले लिया और कहा, "अब हमारा स्मरण हुआ है तुम्हें? सुना है, हस्तिनापुर जाकर तुम हमारे लिए तिलांजलि भी दे आये हो। इस विक्रम के लिए क्या आशीर्वाद दूँ तुम्हें।' कुन्ती बुआ ने ताने कसना आरम्भ किया। दोनों कानों की लोलकियाँ चुटकी में पकड़कर भैया ने बुआ से कहा, 'भूल हो गयी बुआ। क्षमा कीजिए! परन्तु शास्त्रों में तो कहा गया है कि जीवित व्यक्ति को तिलांजलि देने पर वह और भी दीर्घजीवी और यशस्वी हो जाता है। और फिर वह राजनीति की चाल भी थी। तिलांजलि देने से आप लोग सुरक्षित रहनेवाले थे।' भैया ने क्षमा भी माँगी तो अपने ढंग से। पश्चात् बुआ ने भैया, दाऊ और मुझे मुख-भर आशीर्वाद दिये।

"भैया के दर्शन से आनन्दविभोर बुआ ने अपने मन की चुभन भैया के समक्ष खोल दी–'हे कृष्ण, अभी-अभी मैं एक बहुत बड़ी भूल कर बैठी हूँ। पांचाली को लेकर जब अर्जुन लौटा, उसने द्वार के बाहर से ही कहा–माता, आज बहुत बड़ी भिक्षा लेकर आया हूँ। उसकी आवाज में जो उत्साह था, उससे मुझे लगा कि नित्य की भाँति वह खाद्यान्न की ही भिक्षा होगी, किन्तु विपुल मात्रा में ले आया होगा। अत: मैंने अन्दर से ही कहा–तो तुम सब मिलकर बाँट लो।

"'मेरे आज्ञाकारी अर्जुन और उसके भ्राताओं ने मेरा कहना–मेरी इच्छा को ही निर्णय मान लिया है। मेरे पुत्रों ने पांचालकन्या द्रौपदी को उन सबकी पत्नी के रूप में स्वीकार किया है। मुझे लग रहा है कि इसमें मेरी ही कुछ भूल हो गयी है। मुझे यह बात चुभ रही है कि कहीं स्त्री होकर भी मैंने इसके साथ कोई अन्याय तो नहीं किया है? कृष्ण, तुम तो आर्यावर्त-भर घूमते रहते हो। कृष्ण से श्रीकृष्ण बन गये हो। लोगों की समस्याओं को बड़ी सरलता से हल करते हो। अब तुम ही कहो, मैंने जो कहा वह उचित है कि अनुचित? मान लो कि तुम ही मेरे अर्जुन हो, यह सोचकर कहो।'

"बुआ को लगा था कि भतीजा झिझकेगा, हिचकिचाएगा–परन्तु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। भैया ने झट से कहा, 'अर्जुन का निर्णय उचित है। आपके अन्य चार पुत्रों में भी द्रौपदी की अभिलाषा हुई है। आपने जो कहा–भिक्षा आपस में बाँट लो–वह भी अनजाने में नहीं कहा गया था।

आप इन पाँचों के सुख-दुःख से इतनी बँधी हुई हैं कि आपके मुख से अपने-आप सत्य का उच्चारण हुआ। पाण्डव-माता, अब आप ही सोचकर मेरे एक प्रश्न का उत्तर दीजिए–मान लीजिए कि आप ही युधिष्ठिर हैं, और कहिए क्या पांचाली के लिए आपके मन में अभिलाषा नहीं होती?'

"अब चकरा जाने की बारी थी बुआ की! बड़े स्नेह से पुत्रों को समर्थन देते हुए जीवन-भर बहुत-कुछ सहती रही वह अपराजिता क्षत्राणी बोली–'सत्य कहा तुमने! मेरे मन में भी पांचाली की अभिलाषा अवश्य उपजती। अर्जुन और मेरे अन्य पुत्रों का निर्णय उचित ही है।'

"'आपने ठीक कहा बुआ। मुझे भी यही कहना था। यदि ये पाँचों भ्राता दृढ़ बन्द मुट्ठी की भाँति एकत्र, एकमन होकर रहेंगे, तभी ये अपनी आवाज उठा सकेंगे। अपना कहा अन्यों को मनवा सकेंगे। अपने न्यायोचित अधिकारों को साक्षात् काल के मुख से भी निकालकर प्रस्थापित कर पाएँगे।

"'अद्वितीय, अतुलनीय रूपवती द्रौपदी के कारण पाँचों भ्राताओं की एकता में दरार पड़ने की जो सम्भावना थी, उसे आपने मिटा दिया है बुआ। भिक्षा बाँट लेने की यह दीक्षा केवल आप ही दे सकती हैं। परन्तु मैं सोच रहा हूँ पांचालकन्या याज्ञसेना द्रौपदी के विषय में।' यह कहकर अब तक उन्हीं की ओर एकटक देखती रही द्रौपदी से ही भैया ने सीधे प्रश्न किया–पहली ही भेंट में। प्रश्न सुनकर द्रौपदी को लगा होगा कि प्रत्यक्ष पिता द्रुपद ही उसके आगे खड़े हैं। भैया ने पूछा, 'द्रौपदी, क्या तूने वास्तव में इन पाँचों को मन:पूर्वक अपना पति स्वीकार किया है? यदि किया है, तो क्या सोचकर?'

"अब पाँचों पाण्डव अपनी माता के साथ बड़ी उत्सुकता से पांचाली के उत्तर की प्रतीक्षा करने लगे। बलराम भैया के मुख पर भी कुतूहल स्पष्ट दिख रहा था। और भाभी, उत्तर सुनने के लिए मैं भी सचेत हुआ था! भैया के स्वर्णकिरीट में सजे रंग-समृद्ध मोरपंख पर दृष्टि लगाकर पांचाल राजकुमारी याज्ञसेना बोलने लगी। उसका कण्ठ-स्वर पहली बार सुनते समय मुझे लगा कि वह कहीं दूर गगनमण्डल से, सूर्य-केन्द्र के यज्ञकुण्ड से ही आ रहा है। उस विलक्षण दानेदार, तीक्ष्ण कण्ठ-स्वर में एक निश्चय भी था और माधुर्य भी–लगभग भैया के कण्ठ-स्वर के समान। परन्तु भैया के कण्ठ-स्वर में बाँसुरी की जो मिठास है, उसकी मात्रा उस स्वर में कुछ कम थी। भाभी, उस स्वर को जब मैंने सुना, तो मुझे आपके कण्ठ-स्वर का स्मरण हुआ। मुझे पहली बार प्रतीत हुआ कि आपका कण्ठ-स्वर उन दोनों के मध्य है।

"द्रौपदी ने जो उत्तर दिया, वह उसी को शोभित था। उसने कहा, 'हे हृषीकेश, इन पाँचों भ्राताओं को मैंने मन से पति स्वीकार किया है। ये मेरे लिए सदैव वन्दनीय हैं। मैं जागृत अवस्था में अथवा निद्रा में भी कभी भूल नहीं सकती कि मैं यज्ञकन्या हूँ। माता-पिता के संस्कारों से अन्तर्बाह्य क्षत्राणी बनी हूँ। किसी के भी मन में मेरी अभिलाषा हो, ऐसी सौन्दर्यवती मैं हूँ–और सुगन्धित भी। अत: मैं यह भी भलीभाँति जानती हूँ कि इस अतुलनीय सौन्दर्य के कारण भविष्य में मुझ पर आनेवाली विपत्तियों का सामना करना, मेरे यज्ञदत्त स्त्रीत्व की रक्षा करना एक पति के सामर्थ्य से बाहर है। तब तो मेरे लिए ये पाँच पति ही योग्य हैं।

"'हे माधव, तुम जानते हो, बाहर से ये पाँच दिखते हैं, परन्तु अन्दर से इनका एक ही अस्तित्व है। मैं भी ऐसा ही मानती हूँ। जग के लिए ये पाँच हैं, किन्तु मेरे लिए एक ही हैं।

"'हे अच्युत, मैंने तुम्हारे विषय में बहुत-कुछ सुना है। मेरा सबसे बड़ा सौभाग्य है कि आज

तुम्हारे प्रत्यक्ष दर्शन हुए। अब मैं तुमसे पूछती हूँ, तुम क्या मानते हो मुझे?'

"हम सब बड़ी उत्सुकता से भैया की ओर देखने लगे। भैया ने तनिक भी विलम्ब नहीं किया। उन्होंने कहा, 'सखि! मेरी प्रिय सखि! समस्त जग तुझे मेरी बहन कहेगा,–वह तो सुभद्रा है ही, परन्तु तुम मेरी सखी हो।'

"पांचाली प्रसन्न हुई। अपने उसी दानेदार स्वर में उसने कहा, 'तब अपनी प्रिय सखी को उचित आशीर्वाद दो।' अलक्तक के बेलबूटों से सजे अपने लम्बी अँगुलियोंवाले हाथों से उसने भैया के चरण छुए। जिस प्रकार उसको स्वीकार करते समय उसके पिता द्रुपद अँजुली फैलाकर भावपूर्ण नेत्रों से यज्ञकुण्ड के पास बैठे होंगे, उसी प्रकार वह भैया के चरणों में बैठ गयी।

"बुद्धि को भ्रमित करनेवाले अनेक प्रश्नों के उत्तर वे आज तक बड़ी सरलता से देते आये थे। परन्तु आज अपनी प्रिय सखी को आशीर्वाद देते हुए उनके घनी पलकोंवाले मत्स्यनेत्र धीरे-धीरे बन्द हो गये। जिस हाथ की तर्जनी पर कई बार उन्होंने सुदर्शन चक्र को धारण किया था, वह दाहिना हाथ द्रौपदी को आशीर्वाद देने के लिए ऊपर उठा। उनके धीरोदात्त, शान्त शब्द पाण्डवों को सुनाई दिये–'पाँच पतियों की पत्नी होते हुए भी तू सतीत्व के अत्युच्च शिखर पर पहुँच जाएगी। युगों-युगों तक तेरा नाम प्रातःस्मरणीय रहेगा। मृगनक्षत्र की धुआँधार वर्षा के पश्चात् जैसे असीम आकाश पुन: निरभ्र हो जाता है, वैसे ही पाँचों पतियों की सेवा में तेरा कौमार्य अकलंक रहेगा। बिल्वपत्रों से शिवलिंग सुन्दर दिखता है, मोरपंख के कारण मेरा किरीट सुशोभन दिखाई देता है, उसी प्रकार तेरे कारण पाण्डुपुत्रों का यह पंचक शोभा देगा। तेरी सास, सास नहीं– माता ही है, इसकी प्रतीति भी तुझे उचित समय पर होगी। तुम सातों अजर, अमर, अक्षय हो जाओगे।'"

द्रौपदी-स्वयंवर के पश्चात् स्वामी के साथ समस्त यादव-मण्डल द्वारिका लौट आया। जाते हुए उन्होंने मुझसे कहा था, "इस स्वयंवर के पश्चात् मेरे जीवन का एक नया पर्व आरम्भ होगा।" स्वयंवर का समाचार देवरजी से सुनते समय मुझे उनके उस कथन की यथार्थता प्रतीत हुई। स्वामी की ओर देखने की एक नयी दृष्टि मुझे मिल गयी। उनकी यही विशेषता थी कि घटनास्थल पर उपस्थितों को तो वे घटती घटना पर विचार करना सिखाते ही थे, वहाँ अनुपस्थित दूरस्थ को भी उस घटना की जड़ तक पहुँचने के लिए वे बाध्य करते थे। द्रौपदी-स्वयंवर का वृत्तान्त देवरजी से सुनकर मेरे मन में जिज्ञासा जागृत हुई–'दूरदृष्टि से पाँच वीर पुरुषों को पति रूप में स्वीकार करनेवाली द्रौपदी कैसी होगी! कैसा होगा उसका व्यवहार?' मुझे तीव्रता से लगा कि एक बार क्यों न उससे मिल लूँ, मुक्त मन से उससे वार्त्तालाप कर लूँ। स्वामी का जीवन और कार्य चन्द्र-बिम्ब की भाँति था–अपने साथ-साथ सुदूर सागर में ज्वार लानेवाला, दूरस्थित सरोवर के कुमुद-पुष्पों को विकसित करनेवाला।

कुछ दिन बीत गये और श्रीजी को पंचनद प्रदेश जाना पड़ा। सम्भवत: पांचालराज द्रुपद से प्रेरणा लेकर मद्र देश के राजा बृहत्सेन ने अपनी पुत्री लक्ष्मणा का स्वयंवर रचा था। और पण भी वही था, जो द्रौपदी के स्वयंवर में रखा गया था। वाहीक और मद्र देश पास-पास ही थे। इस स्वयंवर का आमन्त्रण भी द्वारिका में आ पहुँचा। ब्रह्मावर्त, कुरुजांगल और मध्यदेश के पास का पंचनद प्रदेश राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। तात वसुदेव की एक भगिनी–देवी श्रुतकीर्ति इसी प्रदेश में कैकेयाधिपति महाराज धृष्टकेतु से ब्याही गयी थी। मद्र देश की राजनगरी थी शाकलनगर और केकय की गिर्जक। यह नगरी इरावती नदी के तट पर थी तो शाकलनगरी थी

चन्द्रभागा के तट पर। श्रीजी के गरुड़ध्वज रथ के चार अश्वों में से एक–शैब्य को दारुक इन्हीं नदियों के प्रदेश से लाया था। वाहिक, केकय, मद्र यह पंचनद का प्रदेश अपराजित, संग्रामोत्सुक, शूर योद्धाओं के लिए विख्यात था। द्रौपदी-स्वयंवर के कारण अभी-अभी कुरु-पांचालों में वैमनस्य का बीज बोया गया था। मद्र देश के राजा बृहत्सेन की पुत्री लक्ष्मणा के स्वयंवर का आमन्त्रण आते ही राजसभा आमन्त्रित की गयी। सभा में बलराम भैया, अमात्य विपृथु और दोनों सेनापतियों में से अनाधृष्टि ने अपना विचार प्रकट किया–इस स्वयंवर के कारण यदि किसी प्रकार का वैमनस्य निर्माण होता हो तो पंचनद जैसे युयुत्सु प्रदेश से बैर मोल लेना द्वारिका के लिए उचित नहीं होगा। हमारा पहला शत्रु है यादवों को मथुरा से जड़ से उखाड़ने की चेष्टा करनेवाला, सम्राट् कहलानेवाला उन्मत्त जरासन्ध। अत: इस स्वयंवर में न जाना ही उचित होगा।

कुछ यादव-योद्धाओं का मत इसके पूर्ण विरुद्ध था–उनमें मन्त्रिगणों में से कुछ ज्येष्ठ यादव भी थे। सात्यकि, कृतवर्मा, अवगाह, शिनि ने उसका समर्थन किया था। लक्ष्मणा के स्वयंवर के आमन्त्रण को लेकर राजसभा में दो परस्पर विरोधी पक्ष बन गये। तब आचार्य सान्दीपनि और राजपुरोहित गर्ग मुनि ने महाराज वसुदेव को अन्तिम राजाज्ञा देने का अनुरोध किया। जीवन में कठोर परीक्षा लेनेवाले अनेकानेक प्रसंगों से पार उतरे अनुभवी महाराज वसुदेव ने निर्णय किया, "मुझे लग रहा है कि आप लोग इस विषय में अकारण ही वाद-प्रतिवाद कर रहे हैं। मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि राजनीति और युद्धनीति के ज्ञाता–मेरे पुत्र श्रीकृष्ण के इस राजसभा में रहते आप लोग इस विषय में उलझन में क्यों पड़ रहे हैं? जिस दिन मेरे समस्त यादव इस मूढ़ावस्था से छुटकारा पाएँगे, वह दिन मेरे लिए स्वर्णदिन होगा।

"यादव-प्रमुख के नाते मेरा विचार है कि श्रीकृष्ण मद्राधिपति बृहत्सेन के आमन्त्रण का आदर करें। इसी प्रदेश के गिर्जक नगर में मेरे पुत्र के नाते श्रीकृष्ण श्रुतकीर्ति से एक बार मिल लें। प्रत्यक्ष रूप से नहीं, परन्तु पुत्र के नेत्रों से तो उसे देखने का आनन्द और उसके साथ-साथ ही उसका क्षेम-कुशल भी मुझे ज्ञात होगा।

"अब यादव-नायक और मेरा पुत्र होने के नाते श्रीकृष्ण जो भी निर्णय करेगा, वह आप सबको–और मुझे भी स्वीकार होगा; क्योंकि मैं जानता हूँ कि इन सभी उपाधियों से वह ऊपर है। अब वह अपना निर्णय घोषित करे।"

श्रीजी अपने आसन से उठे। अपने परमपूजनीय पिता के पश्चात् कुछ अधिक कहना उनको उचित नहीं लगा होगा अत: उन्होंने थोड़े में ही कहा, "मेरे प्रिय यादववीरो, महाराज की आज्ञा को शिरोधार्य करके मैं अवश्य शाकलनगर जाऊँगा। दाऊ के साथ आप सब भी नि:शंक होकर मेरे साथ चलिए। पंचनद के रणकुशल योद्धाओं से किसी विशेष उद्देश्य से मिलने हेतु मैं जा रहा हूँ। महाराज की प्रिय बहन, अपनी श्रुतकीर्ति बुआ का कुशल-समाचार भी मैं महाराज के चरणों में अवश्य ही निवेदित करूँगा। जिस तरह द्वारिका छोड़कर जब आप आर्यावर्त में कहीं भी रहते हैं, आपका ध्यान द्वारिका की ओर लगा रहता है, उसी प्रकार मेरे रथ के अश्व शैब्य को अब उसकी जन्मभूमि स्मरण हो रही है! मैं उसको चन्द्रभागा और इरावती का जल पिलाने के लिए ले जा रहा हूँ!" अन्य समय तुच्छ प्रतीत होनेवाली परन्तु योद्धा के लिए महत्त्वपूर्ण ऐसी बातें केवल श्रीजी के ही ध्यान में आ सकती थीं। सुधर्मा सभा के यादवों ने सामूहिक समर्थन के रूप में जयनाद किया–'वसुदेव-पुत्र, यादवनायक, द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण महाराऽज की ऽ जय हो ऽऽ–जय हो ऽ

ऽ!'

सम्पूर्ण सिद्धता के साथ यादव वीर पंचनद की ओर निकले। इस यात्रा में बलराम भैया, उद्धव जी, दोनों सेनापति, कृतवर्मा, इषुमान, भङ्कार, देवव्रत्–ये योद्धा और सुनियन्त्रित चतुरंगदल सेना श्रीजी के साथ थी। इस यात्रा में विशेष रूप से श्रीजी ने अमात्य विपृथु को साथ लिया था। उनका कार्यभार युवा प्रद्युम्न को सौंपकर श्रीजी ने उसको समय-समय पर आचार्य, राजपुरोहित, तात वसुदेव मुझसे तथा अन्य सभी ज्येष्ठों से परामर्श करके उसका पालन करने की सूचना दी थी।

सबसे विदा लेकर शुद्धाक्ष महाद्वार से निकले श्रीजी ने प्रचण्ड नौकाओं से मूल द्वारिका की खाड़ी पार की। सुनियन्त्रित यादव-सेना को साथ लेकर गरुड़ध्वज की स्वर्णकिनारवाली काषाय ध्वजा फहराते हुए वे मार्गस्थ हुए।

रैवतक पर्वत की तलहटी से होकर एक के पश्चात् एक पड़ाव डालते हुए वे अर्बुद पर्वत की तलहटी में पहुँचे। यह मत्स्य जनपद की सीमा थी। समीप ही कुछ योजनों पर मत्स्य की राजनगरी–विराटनगर–थी। यहाँ का राजा था विराट। अब तक तो श्रीजी ने दक्षिण देश के करवीर, गोमन्त से लेकर, पूर्व दिशा के कामरूप देश के राजनगर प्राग्ज्योतिषपुर से लेकर हिमालय तक यात्रा की थी। वे काम्पिल्यनगर भी हो आये थे। मार्ग में आनेवाले राज्यों के राजाओं ने बड़े-बड़े उपहार भेजकर द्वारिकाधीश का स्वागत किया था। सभी को श्रीजी से प्रेम की अपेक्षा थी।

परन्तु मत्स्य जनपद में एक उलटी बात हो गयी। स्वामी ने देवरजी से सन्देश भिजवाकर अमात्य को अपने शिविर में बुलवाया और आज्ञा दी–"उद्धव, तुम अमात्य के साथ उपहारों से भरे दो थाल लेकर विराटनगर चले जाओ। प्रथम एक थाल मत्स्यराज विराट को भेंट करो, फिर दूसरा थाल अमात्य के हाथों सेनापति कीचक के पास भेज दो। मत्स्यराज विराट से स्वयं तुम बात करो और उनसे कहो कि मैं द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण का भ्राता उद्धव हूँ। परन्तु मैं नहीं–स्वयं द्वारिकाधीश ही पधारे हैं, ऐसा मानकर आप इस उपहार को स्वीकार करें। द्वारिकाधीश चाहते हैं कि मत्स्य जनपद के यादवों से दृढ़ सम्बन्ध रहें।"

श्रीजी ने अमात्य को समझाया, "सेनापति कीचक का उपहार आप स्वयं उसको भेंट करें। आप ही उससे वार्त्तालाप करें। बातों-बातों में हमारी चतुरंग सेना के गज, उष्ट्र, अश्व, पदातियों का संख्या सहित वर्णन करते हुए कहें कि समस्त यादव-सेना की ओर से यह उपहार दिया गया है। – यह कहना मत भूलिए!"

दोनों अपना-अपना कार्य सफलतापूर्वक करके लौट आये। यादव-सेना यमुना नदी को दो बार पार करके सरस्वती के किनारे आ गयी। कुरुक्षेत्र की पवित्र भूमि पर बहनेवाली यह पावन नदी थी। उसके स्फटिकशुभ्र पवित्र जल में तीनों भ्राताओं के स्नान किया। दान भी दिया। वीर यादवों की प्रचण्ड सेना अब मत्तमयूर जनपद में उतरी। लम्बी यात्रा के पश्चात् सबने वहाँ दो-तीन दिन विश्राम किया। अन्त में विपाशा नदी पार करके श्रीजी के साथ विजिगीषु यादव-सेना ने वाहीक जनपद में पड़ाव डाला। यहाँ पंचनद महाजनपद का आरम्भ हो रहा था। श्रीजी की चपल, सैनिकी गतिविधियाँ आरम्भ हो गयीं। उन्होंने अम्बष्ठ, त्रिगर्त, औदुम्बर, कुलिन्द, मद्र और केकय आदि देशों के राजाओं के पास स्नेहदर्शी भूर्जपत्रों के साथ विपुल उपहार देकर कुशल राजदूतों को भेज दिया। एक विशेष राजदूत बृहत्सेन के शाकलनगर चला गया। स्वयं अमात्य विपृथु

कैकेयाधिपति धृष्टकेतु के यहाँ चले गये। उन्होंने महाराज धृष्टकेतु और श्रीजी की बुआ देवी श्रुतकीर्ति को महाराज वसुदेव और माता देवकी की ओर से उपहार दिये। कैकेय महाराज को सन्देश देना वे नहीं भूले कि स्वयं श्रीजी उनसे मिलने आ रहे हैं।

शाकलनगर से लौटे दूत ने समग्र वृत्तान्त श्रीजी के समक्ष प्रस्तुत किया–'मद्रकन्या लक्ष्मणा के स्वयंवर की पूरी तैयारी हो चुकी है। इस पण में भाग लेने के लिए अम्बष्ठराज के साथ मगधराज जरासन्ध भी आनेवाला है। काम्पिल्यनगर से हस्तिनापुर जाने के लिए निकला अर्जुन भी अपने चारों भ्राताओं सहित आ रहा है।'

यह सुनकर श्रीजी नित्य की भाँति नटखट मुस्कराये। और उसी नटखटपन से उन्होंने देवरजी से कहा, "पण में भाग लेने का अवसर उसको मिलेगा ही नहीं। पण पूरा करने की सबसे पहले मैं ही पहल करूँगा। धनुष यदि मेरे वक्ष पर गिर पड़े तो अर्जुन ही उसे उठाकर मुझे मुक्त करेगा।"

देवरजी इतने चतुर थे कि सेना के उसी पड़ाव से उन्होंने मेरे पास दूत भेज दिया–"वन्दनीया, प्रातःस्मरणीय भाभीजी, आपकी एक और बहन, मद्रकन्या लक्ष्मणादेवी आप के पास आ रही हैं। उनके स्वागत के लिए प्रस्तुत हो जाइए।"

निश्चित किये गये दिन चन्द्रभागा नदी के तट पर स्थित शाकलनगरी में स्वयंवर सम्पन्न हुआ। द्रौपदी-स्वयंवर में उपस्थित लगभग सभी नरेश इस स्वयंवर में उपस्थित थे। अर्जुन भी अपने भ्राताओं सहित वहाँ आया था। पंचनद प्रदेश के अम्बष्ठ, त्रिगर्त, औदुम्बर राज्यों के राजा भी आये थे। उपस्थित राजाओं में प्रमुख थे–जरासन्ध, चेकितान, पौण्ड्रक, जयद्रथ, दन्तवक्र, भगदत्त और भूरिश्रवा आदि। इस स्वयंवर में हस्तिनापुर से कोई भी नहीं आया था। वस्तुत: दुर्योधन और उसके भ्राता तथा शकुनि और उसके भ्राता ऐसे चुनौती-भरे आमन्त्रण को कभी अस्वीकार नहीं करते थे।

नियत समय पर स्वयंवर के लिए उपस्थित राजाओं का स्वागत करके महाराज बृहत्सेन ने सेवकों को मत्स्य-यन्त्र गतिमान करने की आज्ञा दी। मद्रकन्या लक्ष्मणा हाथों में वरमाला लिये विनम्रता से माता-पिता के समीप खड़ी थी। इस स्वयंवर में श्रीजी ने किसी को भी, किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित करने का अवसर ही नहीं दिया। मैंने और देवरजी ने उनकी एक विशेषता का सूक्ष्म निरीक्षण किया था–अनजाने में ही क्यों न हो, एक बार हो चुकी भूल दुबारा न हो, इसलिए वे अत्यन्त सतर्क रहते थे।

शाकलनगर के राजप्रासाद में निर्माण किया गया स्वयंवर-मण्डप आमन्त्रित नरेशों से खचाखच भर गया था। पणपूर्ति के लिए सबसे पहले श्रीजी उठे। उपस्थित जन और यादवों की तालियों की अविराम गूँज और जयनाद से समीप से बहती चन्द्रभागा नदी भी रोमांचित हो उठी।

श्रीजी ने सहज ही धुनष उठाया। जलकुण्ड के किनारे श्रीजी ने कपोत पक्षी की सुडौल ग्रीवा की भाँति डौलदार वीरासन लगाकर प्रत्यंचा पर बाण चढ़ाया। पणपूर्ति के लिए चलाया जानेवाला यह पहला ही बाण था। वहाँ उपस्थित सहस्रों पंचनदवासियों की आँखें उस बाण के अग्र और छत में लगे, गरगर फिरते मत्स्य के नेत्र पर लगी हुई थीं। सभी उपस्थित साँस भी रोककर बड़ी उत्सुकता से मत्स्यवेध के क्षण की प्रतीक्षा कर रहे थे। और अचानक जाने क्या हुआ, उठाया धनुष श्रीजी ने धीरे-से नीचे ले लिया। उपस्थितों की रुकी हुई साँसें चलने लगीं। स्वयंवर-मण्डप में कानाफूसी होने लगी। अपने भ्राताओं के बीच बैठे धनुर्धर धनंजय पर जैसे वज्राघात हुआ। वह

तड़ाक् से उठ खड़ा हुआ। मद्रराज बृहत्सेन चिन्ताकुल हुए। स्वयं वधु लक्ष्मणादेवी ने स्थल-काल भूलकर, ग्रीवा उठाकर मत्स्य-यन्त्र और श्रीजी के साथ-साथ उनके धनुष पर अपनी जिज्ञासु दृष्टि दौड़ायी।

अकेले देवरजी ही श्रीजी के बेलबूटेदार स्वर्णकिरीट में लगे मोरपंख की ओर देख रहे थे। श्रीजी ने मुस्कराकर मण्डप में उपस्थित केवल दोनों की ओर देखा–पहले देवरजी को और उसके बाद अर्जुन की ओर। अर्जुन की भाँति देवरजी भी उठ खड़े हुए थे। श्रीजी ने नेत्र-संकेत से दोनों को बैठ जाने को कहा। दोनों ने उनके संकेत का पालन किया।

श्रीजी ने धनुष को धीरे-से नीचे रखा। उन्होंने अपने मस्तक से किरीट उतारकर उसमें लगे मोरपंख को निकालकर धीरे-से जलकुण्ड के किनारे रख दिया। फिर मुकुट को मस्तक पर धारण किया। पुन: धुनष को सहज ही उठाया। फिर उसी प्रकार डौलदार वीरासन लगाया। उन्होंने प्रत्यंचा पर कब बाण चढ़ाया, वक्ष में साँस भरकर बाण कब प्रक्षेपित किया और मत्स्य का नेत्र-भेदन कब, कैसे किया, किसी को कुछ भी पता नहीं चला।

घूमता मत्स्य-यन्त्र जब रुका, तब तालियों की अविरत गड़गड़ाहट गूँजती रही। एक ही जयघोष निनादित हो उठा–'आर्यावर्त के सर्वश्रेष्ठ धुनर्धर-द्वारिकाधीश...लक्ष्मणापति ऽ श्रीकृष्ण महाराज की ऽ जय हो ऽऽ जय हो ऽऽ!' अपने उत्तरियों को हवा में फहराते हुए अनगिनत मद्रदेशवासी स्वामी के अभिनन्दन के लिए जलकुण्ड की ओर दौड़ने लगे।

महाराज बृहत्सेन के साथ जलकुण्ड के पास आयी लक्ष्मणा ने स्वामी के कण्ठ में वरमाला डाल दी। आवेग में दौड़े देवरजी ने अपने प्रिय भैया को कसकर आलिंगन में बाँध लिया। जलकुण्ड के किनारे रखे मोरपंख को उठाकर उन्होंने अपने भैया के किरीट में लगाया। अर्जुन भी अपने भ्राताओं सहित स्वामी के समीप आया। ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर के चरण छूने के लिए स्वामी झुकने लगे, परन्तु युधिष्ठिर ने उनको ऐसा करने से रोका। इतने में सहज विनम्रता से अर्जुन स्वामी के चरणस्पर्श कर भी चुका था। उस कोलाहल में भी स्वामी ने उससे आस्थापूर्वक बुआ कुन्तीदेवी और सखी द्रौपदी आदि का कुशल-क्षेम पूछ लिया। वे सब हस्तिनापुर जा रहे थे। स्वामी ने उनको शाकलनगर की सीमा पर यादव-शिविर में मिलने के लिए कह दिया।

देवरजी उद्धव ने लक्ष्मणा-स्वयंवर का समग्र वृत्तान्त सुनाया। परन्तु मेरा पगला मन श्रीजी के द्वारा बीच में ही किरीट से उतारे गये उस मोरपंख में अटका रहा। मुझसे रहा नहीं गया। बीच में ही रोककर मैंने देवरजी से पूछा, "वह सब तो ठीक है, किन्तु स्वामी ने मुकुट में लगे मोरपंख को निकालकर नीचे क्यों रख दिया?"

देवरजी ने हँसते-हँसते मुझे सम्भ्रम में डाला, "आप नहीं समझ पायीं भाभीजी? व्यर्थ ही बनी हैं आप भैया की प्रिय पत्नी–यादवों की महाराज्ञी!–अब तो मेरी अन्य भाभियों में से किसी को आपका स्थान देना चाहिए!" उन्होंने नटखटपन से मुझे छेड़ा।

मैंने तनिक बनावटी रोष से कहा, "देवरजी, नटखटपन स्वामी को शोभा देता है, आपको नहीं! अब आप कुछ बताएँगे भी कि मैं चली जाऊँ?" मेरे जीवन में खोये भ्राता का स्थान देवरजी उद्धव कब के ले चुके थे।

जैसे ही मैंने कुपित होने का स्वाँग भरा, देवरजी ने वीरासन लगाकर, श्रीजी ने ऐन समय पर मोरपंख क्यों उतार रखा, इसको प्रत्यक्ष कर दिखाया। उन्होंने कहा, "स्वयंवर-मण्डप में कोई भी

समझ नहीं सका कि उस मोरपंख के कारण भैया जलकुण्ड में प्रतिबिम्बित, गरगर घूमते मत्स्य के नेत्र को भेद नहीं पा रहे थे। जलकुण्ड में दोलायमान मत्स्य-बिम्ब के साथ-साथ चन्द्रभागा को छूकर आती शीतल वायुलहरों के कारण भैया के मुकुट में लगे मोरपंख का जलकुण्ड में पड़ा प्रतिबिम्ब भी दोलित होकर मत्स्यभेद में बाधा डाल रहा था। वह भैया की एकाग्रता भंग कर रहा था। अत: भैया ने उसे उतारकर रखा।"

यह सुनकर दीर्घ नि:श्वास के साथ अनजाने में मेरे मुख से निकल पड़ा—"एक साधारण-सा मोरपंख भी स्वामी के कार्य में बाधा डाल गया!"

तत्परता से मेरी बात को सुधारते हुए देवरजी ने कहा, "भाभीजी, वह मोरपंख साधारण नहीं—भैया के किरीट में लगा मोरपंख है वह!"

शाकलनगर में मद्र जामाता श्रीजी ने ससैन्य एक सप्ताह-भर निवास किया। महाराज बृहत्सेन ने सबका यथेच्छ आतिथ्य किया। इस निवासकाल में श्रीजी बड़े भैया और देवरजी उद्धव के साथ गरुड़ध्वज पर आरूढ़ होकर चन्द्रभागा के तट पर सैर करने जाते थे। चन्द्रभागा के शीतल जल में खड़े रहकर हरसिंगार के पुष्पों की अँजुली उसको अर्पण करते थे। बड़े भैया और देवरजी एक साथ चन्द्रभागा के जल से सूर्यदेव को अर्घ्य देते थे। उनकी सूचना के अनुसार, दारुक चारों अश्वों को चन्द्रभागा का जल पिलाता था। न जाने कैसे शैव्य अश्व ने अपनी जन्मभूमि को अचूक पहचाना था। आकण्ठ जल पीने के पश्चात् अन्य तीन अश्व चन्द्रभागा के पाट से बाहर निकलते थे, परन्तु शैव्य अपने शरीर पर भँवर खिलाकर हिनहिनाता था। वह तब तक जल से बाहर नहीं निकलता था, जब तक दारुक अँजुलियाँ भर-भरकर उस पर जल नहीं छिड़कता था और भलीभाँति उसे खरहरा नहीं करता था। नदी-तट से राजप्रासाद की ओर लौटते समय इन लोगों को अरण्य की ओर जानेवाली गायों के झुण्ड-के-झुण्ड दिखाई पड़ते थे। अन्यत्र कहीं भी न दिखनेवाली डौलदार गोल सींगोंवाली, गोल मुखड़ेवाली और बड़ी-बड़ी कंजी आँखोंवाली भैंसें भी उस झुण्ड में दिखती थीं। उनमें से किसी की चौड़ी पीठ पर हिलते-डुलते बैठे नंगे पंचनदीय नटखट बालक दिखाई देते थे। देखरेख के लिए हाथों में लिये डण्डे उठाकर अपनी अटपटी-सी मद्र भाषा में पुकारते हुए उन पशुओं को नियन्त्रण में रखनेवाली गेहुएँ वर्ण की, पुष्ट, फुर्तीली मद्र ललनाएँ भी उनको दिखाई देती थीं। रथारूढ़ श्रीजी की ओर अँगुलि-निर्देश करती हुई, अंशुक का आँचल मुख पर ओढ़कर, मुस्कराती हुई वे आपस में कुछ खुसुर-फुसुर करती थीं। देवरजी उद्धव तो उनका बड़ा रोचक स्वाँग रचते हुए कहते थे—"सोलह सहस्र स्त्रियों का स्वामी!"

स्वयंवर-मण्डप में श्रीजी ने ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर से कहा था कि वे बुआ कुन्तीदेवी से मिलने उनके शिविर जाएँगे। शाकलनगर की सीमा पर पाण्डव-शिविर में जाने के लिए जब श्रीजी निकले, तब उनके साथ बलराम भैया, देवरजी, दोनों सेनापति, अमात्य और अन्य यादव वीर भी थे।

बुआ कुन्तीदेवी अपनी नूतन पुत्रवधू द्रौपदी सहित श्रीजी के स्वागत के लिए आगे आयीं। उनके पीछे वीर पाण्डवों का पंचक था। श्रीजी ने बुआ का कुशल पूछकर उनके चरणस्पर्श किये। काम्पिल्यनगर के पश्चात् होनेवाली पहली भेंट में द्रौपदी ने श्रीजी की चरणधूलि माथे से लगायी। श्रीजी ने अनुरोधपूर्वक उससे कहा, "हे पांचाली, मैंने तुझे प्रिय सखी माना है। मेरे समक्ष हर समय इन कुलाचारों का पालन करने की तुझे कोई आवश्यकता नहीं है। तू सर्वदा मेरे साथ सुभद्रा की

भाँति ही निःसंकोच व्यवहार किया कर।” द्रौपदी को धीरे-से नकारदर्शी सिर हिलाते देवरजी ने देखा।

चन्द्रभागा के तट पर पाण्डव-शिविर में श्रीजी के साथ पाण्डव, पाण्डव-माता और श्री-सखी की विशेष बैठक हुई। उस बैठक में बातों का प्रमुख विषय था हस्तिनापुर के राज्य पर पाण्डवों के न्यायोचित अधिकार का।

वंश-परम्परा से हस्तिनापुर का राज्य सम्राट् पाण्डु का था। किन्दम ऋषि के शाप के कारण महाराज पाण्डु को राज्य त्यागकर वन जाना पड़ा था। उनके ज्येष्ठ भ्राता धृतराष्ट्र के जन्मत: अन्धे होने के कारण कुरु मन्त्रिपरिषद् ने पहले ही उनको राजसिंहासन पर आसीन होने के लिए अपात्र घोषित किया था।

सम्राट् पाण्डु वन चले गये। कुरु मन्त्रिपरिषद् के पास अन्ध धृतराष्ट्र से प्रतिनिधि के रूप में हस्तिनापुर के राज्य की देखरेख करने की विनती करने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं रहा। वास्तव में निरीच्छ, सत्यप्रतिज्ञ, आजन्म ब्रह्मचारी पितामह भीष्म ही कुरुकुल के अन्तिम अधिकारी थे। उन्होंने मन्त्री विदुर के परामर्श से हस्तिनापुर का राज्य अन्ध धृतराष्ट्र के हाथों सौंप दिया।

धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ दुर्योधन, उसकी केवल छाया बना दुःशासन और दुर्मर्षादि भ्राता, कुटिल षड्यन्त्रकारी मामा शकुनि और उसका साथ देनेवाले उसके भी भ्राता एकत्र हुए थे। मन्त्री कणक और वासन्तिक स्पर्धा के समय अंगराजपद दिलाने के पश्चात् दुर्योधन का मित्र बना विक्रमी कर्ण, इनको तो भाग्य ही एकत्र ले आया था। उनके बल पर अन्धे धृतराष्ट्र को असम्भव स्वप्न साकार होते देखनेवाली शतविध आँखें निकल आयी थीं! उससे उसकी मनोवृत्ति अत्यन्त दुर्बोध और जटिल हो गयी थी। महाविक्रमी भीष्म और महात्मा विदुर हस्तिनापुर में एकाकी हो गये थे।

हस्तिनापुर की इस यथार्थ स्थिति का समाचार श्रीजी ने चालाक गुप्तचरों से समय-समय पर प्राप्त किया था। परिस्थितियों की लपटें सहते आये सत्त्वशील, पराक्रमी, गुणवान पाण्डवों को उनका न्यायोचित अधिकार दिलाना इतना सरल नहीं था। इसका पूरा ध्यान रखकर, श्रीजी फूँक-फूँककर पाँव रख रहे थे। उन्होंने बैठक का आरम्भ किया—“कैकेयाधिपति महाराज धृष्टकेतु मेरे फूफाजी हैं। उन्होंने मुझे सेना सहित राजनगर गिर्जक आने के लिए आग्रहपूर्वक आमन्त्रित किया है। मैं वहाँ जा रहा हूँ।

“युधिष्ठिर, तुम—पाण्डव भी बुआ श्रुतकीर्ति के भानजे हो। परन्तु तुम्हारे यहाँ आने का समाचार उनको प्राप्त नहीं हुआ है। काम्पिल्यनगर के स्वयंवर के समाचार से तो वे अवश्य अवगत हुए होंगे। हस्तिनापुर में अपना अधिकार पाने और उसकी रक्षा करने के लिए तुम्हें छोटे-बड़े जितने भी होंगे, समर्थक प्राप्त करने होंगे। मेरा सुझाव है कि भले ही कैकेयों का आमन्त्रण न हो, तब भी तुम सब मौसी और मौसाजी के दर्शन एवं आशीर्वाद के लिए मेरे साथ गिर्जक नगर चलो।”

बैठक में रात-भर इस विषय पर सविस्तार चर्चा हुई। पाण्डव अपनी माता कुन्तीदेवी की आज्ञा का उल्लंघन कभी नहीं किया करते थे। जीवन-भर विपदाओं का सामना करते-करते कुन्तीदेवी अत्यन्त दूरदर्शी और निर्णय लेने में तत्पर हो गयी थीं। उन्होंने बैठक की समाप्ति की—“श्रीकृष्ण जो कहेगा वही मेरे पुत्र और पुत्रवधू करेंगे। कल हम श्रीकृष्ण के साथ गिर्जक नगर चलेंगे।

मद्रों से विदा लेते समय श्रीजी ने देवरजी को असमंजस में डालनेवाली आज्ञा दी, "उद्धव, नित्य की भाँति अपने विशेष दूत को यहीं से द्वारिका भेज दो। अपनी प्रिय भाभी को अग्रिम सूचना भेज दो कि और दो अतिथि द्वारिका आ रहे हैं। उनके स्वागत की तैयारियाँ करें।" देवरजी ने नम्रता से कहा, "जी भैया, आज ही भेज देता हूँ दूत को।"

मद्रों ने अपने नूतन जामाता को पशु-पक्षी, वस्त्र-अलंकार, विपुल धान्य और मद्र देश के विशाल पृष्ठवाले श्वेत, कृष्ण, कत्थई वर्ण के सैकड़ों अलंकृत अश्व भेंट में दिये थे। उनके साथ लक्ष्मणा के आगमन की सूचना देनेवाला दूत भी द्वारिका आया।

यथासमय दो अतिथि द्वारिका आ भी गये, किन्तु हमारी कल्पना के अनुसार वे श्रीजी और लक्ष्मणा नहीं थे। श्रीजी के अतिरिक्त दो विशेष अतिथि थे। लक्ष्मणा के पदचिह्नों पर चलते-चलते केकयकन्या भद्रा भी श्री-पत्नी के रूप में द्वारिका पधारी थीं।

श्रीजी के पाण्डवों सहित गिर्जक पहुँचते ही बुआ श्रुतकीर्तिदेवी हर्ष से उमड़ पड़ीं। वे तो अपेक्षा कर रही थीं केवल भतीजों के आगमन की और उनके समक्ष पहुँचें यादवों के साथ-साथ कुरुकुल के भानजे–पाण्डव भी। उन्होंने बहन कुन्तीदेवी का भानजों सहित स्वागत किया। उन्होंने एकान्त कक्ष में यादवी ढंग से प्रिय भतीजे द्वारिकाधीश को समझाया, "पुत्र कृष्ण, तुम्हारा द्वारिका जनपद अभी नया है। हमारी पंचनद की सैन्य-शक्ति अधिक है। पड़ोस के सभी राज्यों से हमारे दृढ़ रक्त-सम्बन्ध हैं। उसी प्रकार यदि द्वारिका से भी हमारे सम्बन्ध जुड़ जाएँ तो द्वारिका को सम्पूर्ण पंचनद का समर्थन प्राप्त होगा।"

बुआ का वह घरेलू राजनीति का चक्रव्यूह श्रीजी ने शान्ति से, मुस्कराते हुए सुना। वे जानकर भी अनजान बने रहे। बुआ का ध्यान पाण्डवों की ओर आकर्षित करते हुए उन्होंने कहा, "आपका कहना नितान्त सत्य है बुआ। महाराज धृष्टकेतु से अधिक तो आपही राजनीति-कुशल हैं। अब आपही कहिए, मेरे लिए क्या आज्ञा है? आप जो कहेंगी, वही मैं करूँगा। परन्तु...आपको भी मेरे लिए कुछ करना है..." श्रीजी ने बात अधूरी ही रखी।

कैकेय की चतुर महाराज्ञी ने श्रीजी का कन्धा थपथपाते हुए कहा, "श्रीकृष्ण, तुम कैकेय के जामाता बन जाओ। ऐसा करने से तुम सम्पूर्ण पंचनद के ही जामाता बन जाओगे। अपनी पुत्री भद्रा का तुमसे ब्याह रचाना चाहती हूँ मैं। तुम क्या चाहते हो?–स्पष्ट रूप से कहो। औरों की भाँति राजनीति की कोई चाल मेरे सामने मत चलना!"

अपनी प्रिय बुआ के दोनों हाथ स्नेह से अपने हाथों में लेकर श्रीजी ने क्षणैक उन्हें थपथपाया। उन्होंने बुआ की ज्येष्ठता का आदर करते हुए बड़ी चतुराई से अपनी चाल चल ही ली। बुआ के कुछ ध्यान में नहीं आया। श्रीजी ने कहा, "बुआ, आपसे छोटा होने के नाते आपकी इच्छा मेरे लिए आज्ञा ही है। जैसा आप कहती हैं, वैसा ही होगा। मैं अवश्य कैकेय-जामाता बनूँगा। अब मेरी समझ में आ रहा है कि हमारे पंचनद आने का समाचार मिलते ही शीघ्रता से आप ने तात से मिलने के लिए अपना विशेष दूत द्वारिका क्यों भेजा था! उन्होंने मुझे आपसे मिलने के लिए क्यों कहा था! इससे आपकी इच्छा और तात की आज्ञा का पालन और द्वारिका गणराज्य का कल्याण होगा। मैं तो सदा केवल निमित्त होता हूँ। अब भी होऊँगा।"

बुआ श्रुतकीर्तिदवी के प्रसन्न होने का अवसर पाकर श्रीजी ने कहा, "बुआ, अपने इस जामाता के लिए आप एक कष्ट उठाइए। मेरे साथ आपके भानजे–मेरे फुफेरे भ्राता–पाण्डव आये हैं।

उनको मुझ जैसा ही मानकर समय आने पर आप समस्त पंचनद की सामर्थ्य उनके हित में खड़ी कीजिए। क्या मेरे लिए आप इतना करेंगी?"

बुआ ने सबके समक्ष पंचनदीय ढंग से, बड़े स्नेह से कनपटी पर अँगुलियाँ चटकाते हुए अपने प्रिय भतीजे की दृष्टि उतारी और कहा–"सुपुत्र, जैसा तुम कहते हो वैसा ही होगा।" उन्होंने राजनगर के समीप से बहती इरावती नदी के तट पर भव्य मण्डप खड़ा किया और बड़ी धूमधाम से अपनी पुत्री भद्रा का विवाह रचाया।

श्रीजी की यह सातवीं पत्नी थी–भद्रा।

लक्ष्मणा और भद्रा–दोनों पंचनदकन्याएँ सेनापति अनाधृष्टि और यादव-सेना के साथ द्वारिका आयीं। द्वारिकावासियों ने उत्साह से उनका स्वागत किया। गर्ग मुनि ने कुशल राजगीर और काष्ठतक्षक नियुक्त करके श्रीजी के राजप्रासाद के श्रीसोपान में वृद्धि करायी। उसमें मेरे पश्चात् आयीं छह श्री-पत्नियों के नाम से कुछ और अन्य स्वर्णिम सीढ़ियाँ भी जोड़ी गयीं। अब वह श्रीसोपान पहले से कितना ऊँचा, चौड़ा और भव्य दिखने लगा! दमकती स्वर्णिम सीढ़ियों के कारण कैसा दीप्तिमान दिखने लगा! उस सोपान का आचार्य सान्दीपनि का किया नामकरण सार्थक सिद्ध होने लगा। द्वारिका के चारों महाद्वारों के समीप स्थित स्वर्णमन्दिरों की ही भाँति श्रीसोपान को भी महत्त्व प्राप्त हुआ। सुधर्मा राजसभा के प्रांगण में आया कोई भी अतिथि लौटने से पहले श्रीसोपान के दर्शन करने से नहीं चूकता था। द्वारिका की भाँति श्रीसोपान की कीर्ति भी अब सर्वत्र फैल गयी थी। द्वारिका के यादव तो राजप्रासाद में आते ही श्रीसोपान की पहली ही सीढ़ी पर बड़ी श्रद्धा से माथा टिकाये बिना नहीं रहते थे। कई लोग तो आदर से इस सोपान पर पाँव रखने से ही हिचकिचाते थे। यदि भूल से सोपान पर पाँव रख ही दिया तो झट से दाहिना हाथ अपने गालों को बार-बार लगाकर अपनी भूल पर पश्चात्ताप व्यक्त किया करते थे।

जैसे-जैसे दिन बीतते गये, महाराज्ञी के नाते मेरा दायित्व बढ़ता गया। अब तक तो मैंने प्रिय जाम्बवती की सहायता से अपने प्रद्युम्न का एक संस्कारशील महारथी के रूप में परिवर्तन कराया था। मेरी सभी छोटी बहनें उससे अत्यधिक प्रेम करती थीं। दृढ़काय, अति रूपवान होने पर भी प्रद्युम्न उनके साथ सम्मानपूर्वक व्यवहार करता था। द्वारिका में श्रीजी की कमी का वह किसी को भी आभास नहीं होने देता था। निशठ, उल्मुक और विपुल तो सदैव उसके साथ रहते थे। द्वारिका के आरोग्यदायक वातावरण में, सागर के साहचर्य में श्रीजी की वंशलता लहलहाने लगी। मैं और मेरी छह बहनों का द्वीप द्वारिका से मूल द्वारिका आना-जाना लगा रहा। दोनों द्वीपों को जोड़नेवाला मार्ग अब एक विस्तृत राजमार्ग ही बन गया। उसके दोनों ओर आम्र, अशोक, स्वर्णचंपक, इमली, शाल्मली, आँवला, जामुन जैसे वृक्षों की लम्बी पंक्तियाँ लगी थीं। रनिवास का द्वीप और सुधर्मा राजसभा का द्वीप अब जैसे एकरूप हो गये थे।

श्रीजी की जीवन-गंगा के पाण्डव-पर्व का वास्तव में अब आरम्भ हुआ था। उन्होंने लक्ष्मणा और भद्रा को मत्स्यों के विराटनगर से सीधे द्वारिका भेज दिया था। स्वयं श्रीजी, बड़े भैया, देवरजी, अमात्य विपृथु, सात्यकि, बुआ कुन्तीदेवी, पाण्डव और द्रौपदी सहित, अपनी विशिष्ट सेना को लेकर हस्तिनापुर की ओर निकल गये थे। घने खाण्डववन के समीप यमुना को पार करके वे गंगा-तट पर स्थित हस्तिनापुर पहुँच गये थे। कुरुराज्य की सीमा से ही उन्होंने अमात्य विपृथु और उद्धव जी के हाथों महाराज धृतराष्ट्र के लिए सन्देश के साथ मूल्यवान उपहार भिजवा दिये

थे। देवरजी को गोपनीय परामर्श दिया था कि लौटते समय वे महामन्त्री विदुर, पितामह भीष्म, अमात्य वृषवर्मा से एकान्त में मिलें। पाण्डव जीवित हैं और सकुशल हस्तिनापुर लौट रहे हैं–इस विषय में उनकी और हस्तिनापुरवासियों की प्रतिक्रिया को कुशलता से जान लें। पाण्डवों के पिता सम्राट् पाण्डु को नगरजन पूर्णतया भूल गये हैं अथवा अब भी स्मरण करते हैं, इस बात को भी समझ लें। पाण्डव-माता कुन्तीदेवी के विषय में उनका क्या मत है, यह भी सूक्ष्मता से ज्ञात कर लें। महाराज धृतराष्ट्र, ज्येष्ठ कौरव दुर्योधन, मामा शकुनि और उन दोनों के सभी भ्राता, मन्त्री कणक, गुरु द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, आचार्य कृप, प्रमुख सारथि संजय और अंगराज कर्ण से भी वे मिलें।

श्रीजी की इच्छा के अनुसार अमात्य और देवरजी उद्धव अपने-अपने कार्य में सफल होकर लौटे।

कौरव-माता गान्धारीदेवी स्वभावत: ही सत्यप्रिय और निश्चयी थीं। उनका पाण्डवों के प्रति निश्छल प्रेम आज भी वैसा ही था। उनसे मिलने के लिए गान्धारीदेवी आतुर थीं। उनकी कोख से दुर्योधन का जन्म लेना और शकुनि आदि उसके भ्राताओं का उसको आदर्श मानना कुरुकुल का दुर्भाग्य था।

पाण्डवों के आगमन की वार्त्ता से कुरुकुल में उलझनें हो गयीं। सबसे अधिक जटिल हो गया महाराज धृतराष्ट्र का अन्तरंग! उस कुरु महाराज के अन्दर दो धृतराष्ट्र उत्पन्न हो गये थे–एक था कर्तव्यपरायणता का ढोंग रचानेवाला महाराज धृतराष्ट्र और दूसरा था पुत्रप्रेम के कारण अपने अचेतन मन में गुप्त, कुटिल, राजनीतिक दाँव-पेंच रचनेवाला स्वार्थी पिता। मनश्चक्षुओं से अपने प्रथम पुत्र दुर्योधन को अपने राजसिंहासन पर आरूढ़ होते देखनेवाला, स्वाभाविक सन्तान-प्रेम से घिरा हुआ पिता। यह पिता दूसरे पुत्र दु:शासन के कौरव-सेनापति बनने का स्वप्न देख रहा था। अवसर पाकर वह महामन्त्री विदुर को हटाकर, कुटिल परामर्श में काम आनेवाले कणक को उस स्थान पर बिठाना चाहता था। परन्तु प्रकट रूप में बातें करते हुए महाराज धृतराष्ट्र सम्राट् पाण्डु के पराक्रम की, पाण्डव और कुन्तीदेवी के स्वभाव की, गुणों की प्रशंसा ही करते थे। पाँचों पाण्डवों का मिथ्या गुणगान किये बिना, सीधी-सरल बात वे कहते ही नहीं थे। वह अन्ध राजा अपनी अन्धता का, बनावटी असहायता का प्रदर्शन करते हुए, जन्मजात दुष्प्रवृत्त दुर्योधन को अपने पितृत्व का राजकवच पहनाना नहीं भूलता था। अन्तिम कुरु, महापराक्रमी भीष्म पितामह से झूठमूठ का आदरपूर्वक व्यवहार करने से वह नहीं चूकता था। परन्तु एकान्त में वह कपटी, षड्यन्त्रकारी शकुनि और उसके ही प्रतिबिम्ब जैसे कणक से दिन-रात वह अन्ध आँखों से किन्तु जागृत कुटिल बुद्धि से राजनीतिक षड्यन्त्र के जटिल पाश बुनता रहता था।

कौरवों के राजप्रासाद में अन्य सभी के पास तो पंचेन्द्रियाँ ही थीं, किन्तु धृतराष्ट्र के पास एक छठी इन्द्रिय थी–राजतृष्णा की! इस छठी इन्द्रिय के कारण ही वह इस सत्य को पूर्णतया भूल गया था कि उसका अनुज पाण्डु हस्तिनापुर का राज्य विश्वस्त के नाते सँभालने हेतु उसको सौंप गया है। साथ ही उसका यह भी निश्चित मत था कि आयु में ज्येष्ठ होते हुए भी केवल अन्धत्व के कारण उसको राजसिंहासन से वंचित होना पड़ा। उसके साथ यह अन्याय हुआ है। परन्तु अब सम्राट् पाण्डु दिवंगत हो गया है और स्वयं वह भी वृद्ध हो गया है, अत: उसके अपने ज्येष्ठत्व के कारण उसका ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन ही पहले हस्तिनापुर का युवराज और फिर राजा बनने का

अधिकारी है। और यह बात वह हर समय, हर अवसर पर, भिन्न-भिन्न प्रकार से महामन्त्री विदुर और पितामह के गले मढ़ने की चेष्टा करता रहता था। परन्तु वे मनस्वी राजपुरुष उसकी बात पर तनिक भी ध्यान नहीं देते थे।

"उनका कहना था कि युधिष्ठिर कौरव-पाण्डवों में ज्येष्ठ है। उसके पिता सम्राट् पाण्डु ने हस्तिनापुर को अस्थायी रूप से सँभालने के लिए धृतराष्ट्र को सौंपा था। अब वह सम्मानपूर्वक ज्येष्ठ पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर को लौटाना धृतराष्ट्र का कर्तव्य है। धृतराष्ट्र के पश्चात् हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर युधिष्ठिर का ही राज्याभिषेक होना चाहिए। यही न्यायोचित है, धर्मसंगत है।

हस्तिनापुर राज्य के अधिकार के विषय पर कौरवों की मन्त्रिपरिषद् में स्पष्ट दो पक्ष हो गये–एक पाण्डवों का समर्थक था और दूसरा कौरवों का। हस्तिनापुर मगध की भाँति एकछत्र राज्य नहीं था। इस राज्य में तीसरा पक्ष था पौरजनों का–और वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। नगरजन अब भी सम्राट् पाण्डु को बड़ी उत्कटता से स्मरण करते थे। गुणवान पाण्डुपुत्रों की राजमाता कुन्तीदेवी और पाण्डवपत्नी द्रौपदी के दर्शन और स्वागत करने को हस्तिनापुरवासी आतुर थे।

द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण महाराज पाण्डवों को साथ लेकर हस्तिनापुर पधार रहे हैं। यह समाचार पूरे नगर में फैल गया। पूरा हस्तिनापुर प्रसन्नता से झूम उठा। राजनगर हस्तिनापुर के चारों महाद्वारों को रंग-बिरंगे पुष्पों की मोटी-मोटी मालिकाओं से कमानीदार रूप में सजाया गया। स्वागत के लिए पश्चिम महाद्वार पर राजवाद्य गूँज उठे। सहस्रों नर-नारियों ने कुंकुम और पुष्पांजलियों की वर्षा करते हुए श्रीजी सहित पाण्डवों का सहर्ष भव्य स्वागत किया।

इसके पहले भी एक बार श्रीजी हस्तिनापुर गये थे। पाण्डवों को तिलांजलि अर्पण करने हेतु–उनकी अन्तिम क्रिया पर! परन्तु आज वे एक अलग ही वातावरण में, बलराम भैया, देवरजी उद्धव, अमात्य और चुने हुए यादव वीरों सहित हस्तिनापुर में प्रवेश कर रहे थे। उनके श्यामल चरणों से, हस्तिनापुर के पश्चिम महाद्वार से लगभग लुप्त हुए एक सत्य का सूर्य उदित हो रहा था। अब उनके साथ पाँच पर्वत-शिखरों के समान प्रत्यक्ष पाँच पाण्डव ही थे।

बलराम भैया, देवरजी और पाण्डवों सहित श्रीजी को देखते ही नगरवासियों ने असीम हर्षोल्लास से केवल दो ही जयघोषों की वर्षा की –"द्वारिकाधीऽश श्रीकृष्ण महाराऽज कीऽ जय हो ऽ ऽ–जय हो ऽ ऽ! कुरुसम्राट् महाराज पाण्डु ऽ की ऽ जय हो ऽऽ–जय हो ऽ ऽ!"

यादव-पाण्डव वीरों के स्वागत के लिए हस्तिनापुर के पश्चिम महाद्वार पर पितामह भीष्म, महात्मा विदुर, अमात्य वृषवर्मा, मन्त्री संजय के साथ हस्तिनापुरवासी नर-नारियों की प्रचण्ड भीड़ जमा हो गयी थी। परन्तु इस भीड़ में महाराज धृतराष्ट्र, उनके पुत्र, मामा शकुनि, कणक इनमें से कोई भी नहीं था। विदुरजी उपस्थित थे पाण्डव और श्रीजी के प्रेम के वशीभूत होकर! सच्चे अर्थ में हस्तिनापुर राज्य का केवल एक ही प्रतिनिधि वहाँ उपस्थित था–राजाज्ञा से आये अमात्य वृषवर्मा!

श्रीजी ने गरुड़ध्वज से उतरकर हस्तिनापुर की भूमि पर पाँव रखा। उनकी अगवानी के लिए महापराक्रमी, ऊँचे, बलिष्ठ, चौड़े वक्ष पर श्वेत घनी दाढ़ी को झुलाते हुए पितामह भीष्म अग्रसर हुए। उनको देखते ही प्रणाम करने हेतु श्रीजी झुकने लगे, तभी भरी आँखों से महाबाहु पितामह ने अपनी स्नायुबद्ध भुजाएँ फैला दीं। "हे वासुदेऽव, कितने दिनों बाद मिल रहे हो! अब अपने चरणों

से तो इस कुरु राजनगर में सुख-शान्ति का आगमन होने दो! हे अच्युत, इन सबका अब तुम्हीं उचित मार्गदर्शन करो,–मैं तो थक गया!” कहते हुए उन्होंने श्रीजी को दृढ़ आलिंगन में ले लिया।

स्वयं गंगापुत्र, परशुराम-शिष्य, जन्म के अधिकार के एकमात्र और अन्तिम, कुरु पितामह के मुख से श्रीजी के लिए निकला 'वासुदेव' सम्बोधन सबसे पहले देवरजी उद्धव को छू गया। तेजी से आगे बढ़ते हुए उन्होंने पितामह के चरणस्पर्श किये और कहा, “मैं इसी क्षण की प्रतीक्षा कर रहा था, पितामह कि सुयोग्य व्यक्ति के मुख से भैया के लिए 'वासुदेव' सम्बोधन निकले। आज वह क्षण आ गया। हम यादवों के लिए परमोच्च 'वासुदेव' उपाधि का आपके मुख से उच्चारण हो गया। हम धन्य हो गये!”

फिर अन्तःप्रेरणा से ही सात्त्विक, गौरवर्णी, गोलाकार मुखमण्डल वाले देवरजी ने अपनी सुदृढ़ भुजा ऊपर उठाकर प्रेरक जयघोष किया। हस्तिनापुर की पावन भूमि पर सभी उपस्थितों ने उनका साथ दिया, “यादवश्रेष्ठ द्वारिकाधीऽश, वसुदेवपुत्र 'वासुदेऽव' महाराऽज की ऽ जय ऽ ऽ होऽऽ–जय होऽऽ।” इसी जयनाद के बीच, हस्तिनापुरवासियों की पुष्प-वर्षा में पितामह भीष्म, महात्मा विदुर, संजय और पाण्डवों सहित श्रीजी पैदल ही राजप्रासाद की ओर चल पड़े। मितभाषी बड़े भैया ने शरीर पर होनवाली पुष्प-वर्षा स्वीकार करते हुए, हँसते-हँसते श्रीजी से कहा, “छोटे, यह तो बहुत बड़ा काम हो गया। स्वयं पितामह ने तुम्हें 'वासुदेव' सम्बोधित किया है। तात वसुदेव और हमारी दोनों माताएँ इससे सर्वाधिक प्रसन्न होंगी। तुम तो वासुदेव बन गये किन्तु मेरा क्या?”

“मैं वासुदेव बनूँ या कुछ और, किन्तु मेरे प्रिय दाऊ, आपके भ्रातृ-प्रेम का छत्र सदा ही मुझ पर रहे, यही कामना है। अब कभी भी और कहीं भी मुझे छोड़कर मत जाइए।” श्रीजी ने बड़े भैया को अपनी भावरज्जु में बाँध लिया।

“मैं भले ही तुम्हें छोड़कर भाग जाऊँ, लेकिन तुम थोड़े ही छोड़नेवाले हो मुझे! मैं भलीभाँति जानता हूँ कि तुम्हारा गोकुल का नाम 'मोहन' भले ही छूट जाए और तुम 'वासुदेव' बन जाओ, किन्तु सबको अपनी ओर आकर्षित कर लेने की तुम्हारी वह कला अब भी वैसी ही है।” बलदाऊ ने कहा।

“मुझे 'वासुदेव' की उपाधि मिल गयी, आप पूछ रहे हैं कि आपको क्या मिला? इस प्रश्न का उत्तर मैं द्वारिका में रेवती भाभी को दूँगा। आप मुझे इस बात का स्मरण दिलाइएगा।” श्रीजी ने कहा।

“तुम्हें–इस जग के वासुदेव को–ज्येष्ठता के नाते मैं कुछ भी कह सकता हूँ, परन्तु रेवती के पास मेरी एक भी नहीं चलती!” कहकर हस्तिनापुर के उस राजपथ पर ग्रीवा ऊपर उठाकर कन्धे पर प्रचण्ड गदा रखे बलराम भैया खिलखिलाकर हँस पड़े।

यादव और पाण्डवों के राजपरिवार ने महामन्त्री विदुर के भवन में निवास किया। श्रीजी ने अमात्य विपृथु द्वारा महाराज धृतराष्ट्र का कुशल-क्षेम पूछते हुए सन्देश भिजवाया कि “पाण्डुपुत्र अपनी माता सहित अपना न्यायोचित राज्यभाग माँगने हेतु हस्तिनापुर आये हैं। कुरु-राजसभा को आमन्त्रित करके उनका निवेदन सभा के समक्ष रखा जाए और इस प्रकार का निर्णय लिया जाए जिससे लम्बे समय तक बना रहनेवाला वैमनस्य कौरवों-पाण्डवों में स्थायी न रहे।”

महाराज धृतराष्ट्र ने भी अपने अमात्य वृषवर्मा द्वारा राजनीतिक चतुराई से भरा सन्देश

भिजवाया। उन्होंने अपने सन्देश में पितामह की भाँति श्रीजी को 'वासुदेव' सम्बोधित करते हुए तात वसुदेव, देवकी माता, यादव मन्त्रिपरिषद् का कुशल-क्षेम पूछ लिया था। महाराज से आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए श्रीजी को बुलाया गया था। श्रीजी के आगमन के समय हस्तिनापुर के महाद्वार पर न आ पाने का कारण नेत्रहीनता को बताया गया था। अपने प्रतिनिधि के रूप में अमात्य वृषवर्मा को भेजने का चतुरतापूर्ण समर्थन भी किया गया था। दुर्योधन-शकुनि का उसमें उल्लेख तक नहीं था। अगले दिन की कुरु-राजसभा में भतीजों को महाराज की दृष्टि में, पुत्रों के समान पाण्डवों के अधिकार को न्यायोचित निर्णय दिलाने का बनावटी आश्वासन भी दिया गया था। श्रीजी ने मुस्कराते हुए वह सन्देश सुना।

उस रात हस्तिनापुर के प्राचीन आकाश ने दो पक्षों की भिन्न-भिन्न चर्चाएँ निर्लिप्तता, स्थितप्रज्ञता से सुनीं। उनमें से एक पक्ष था प्रत्यक्ष हस्तिनापुराधिपति महाराज धृतराष्ट्र का! उनके मन्त्रणा-कक्ष में जलते पलितों के प्रकाश में उनकी राजनीतिक चर्चा मध्यरात्रि तक चलती रही। इस बैठक में उपस्थित थे शकुनि और उसके कुछ भ्राता, कणक, दुर्योधन तथा दुःशासन सहित उसके गिने-चुने दस भ्राता और अमात्य वृषवर्मा। कुरु-राज्य का सबसे अधिक दायित्व जिन पर था, वे पितामह भीष्म वहाँ उपस्थित नहीं थे। दुर्योधन के परममित्र होते हुए भी सूतपुत्र होने के कारण अविश्वसनीय माने गये अंगराज कर्ण और इसी कारण संजय भी वहाँ उपस्थित नहीं थे।

अन्त में मध्यरात्रि के समय इस राजकीय मन्त्रणा का निर्णय हो गया–पाण्डवों को उनके राज्यभाग के रूप में घने अरण्यों और हिंस्र पशुओं से भरा खाण्डवप्रस्थ और खाण्डववन वाला प्रदेश स्वीकारने पर बाध्य किया जाए! हस्तिनापुर से उनका किसी भी प्रकार से सम्बन्ध न रहे, इसकी पूरी सावधानी बरती जाए।

राजनीति में शकुनि के समानधर्मा कणक ने इस निर्णय का समर्थन किया–"खाण्डववन इतना घना है कि उसकी भूमि तक सूर्य-किरणों को पहुँचाना ही एक महायुद्ध सिद्ध होगा। इस युद्ध में पाण्डव या तो हिंस्र श्वापदों का भक्ष्य बनेंगे या वहाँ की नाग, असुर, दानव, निषाध, व्याध, बर्बर आदि जंगली जातियाँ उनको समाप्त कर देंगी। पाण्डवों को खाण्डववन देना, जगदम्बा के प्रसाद के रूप में प्रज्वलित अंगार हथेली पर रख देने जैसा है।" इस निर्णय के और केसर-मिश्रित दुग्धपान के साथ बड़े तड़के ही यह बैठक समाप्त हो गयी।

विदुर जी के आवास पर श्रीजी के नेतृत्व में हुई बैठक में भी हस्तिनापुर राज्य में पाण्डवों के राज्यभाग का ही विषय था। उसमें महामन्त्री विदुर, बलराम भैया, देवरजी उद्धव, सात्यकि, अमात्य विपृथु उपस्थित थे। अपने पाँचों पुत्रों सहित पाण्डव-माता कुन्तीदेवी थीं–नहीं थी केवल द्रौपदी। वह अन्तःकक्ष में विदुरपत्नी पारशवीदेवी के साथ पारिवारिक बैठक में उपस्थित थी। अमात्य विपृथु और विदुर जी का आग्रह था कि हस्तिनापुर राज्य से बहती गंगा को ही सीमा मानकर उसके पूर्व में कौरव और पश्चिम में पाण्डवों के राज्यभाग की माँग की जाए। यादव सेनापति सात्यकि का कहना था कि सम्बन्धी पांचालों का राज्य पूर्व दिशा में है, अत: पूर्व में पाण्डव और पश्चिम में कौरव–इस प्रकार विभाजन की माँग की जाए। श्रीजी की उपस्थिति के कारण पाण्डव स्वयं कुछ भी नहीं कर रहे थे। वे केवल श्रीजी की ओर देख रहे थे, चर्चा सुन रहे थे।

'वासुदेव' श्रीजी अत्यन्त शान्त थे। वे बीच-बीच में मन्द-मन्द मोहक मुस्कान बिखेर रहे थे।

पलितों के धीमे प्रकाश में, उनके गाल पर पड़नेवाला भँवर क्षण-भर खिलकर विलीन हो जाता था। उनके गुलाबी होठ तो बन्द ही थे।

अन्त में मध्यरात्रि के समय अपनी दायीं ओर बैठे अर्जुन के कन्धे पर धीरे-से थपथपाते, बैठक से उठते हुए उन्होंने कहा, "तुम जो चर्चा कर रहे हो, ऐसा कुछ भी कल कुरु-राजसभा में होनेवाला नहीं है। जो भी अन्तिम निर्णय करना हो, ज्येष्ठ कुरु पितामह भीष्म ही करेंगे। उनके प्रस्ताव को मैं स्वीकृति देनेवाला हूँ। दूँ या नहीं? तुम सब भ्राताओं का क्या विचार है? सोचकर बताओ।" श्रीजी ने अपने मत्स्यनेत्र ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर पर गड़ाये।

"जैसा तुम कहो वासुदेव, किन्तु मुझे लगता है, इस विषय में कुन्ती माता की राय पर भी विचार किया जाए।" युधिष्ठिर ने अपने स्वभाव के अनुसार अपना मत व्यक्त किया।

"बुआ के मत की चिन्ता तुम मत करो। वे मेरा ही समर्थन करेंगी। क्यों बुआ, आप क्या कहती हैं?" श्रीजी ने बुआ से स्पष्ट ही पूछा। कुन्तीदेवी ने मुस्कराते हुए कहा, "जैसा तुम कहो और करो, वैसा ही होगा वासुदेव!"

"तुम सब की क्या राय है, युधिष्ठिर?" श्रीजी ने मूल विषय को पकड़े रखा। भीमसेन ने बीच में ही निर्भय शब्दों में अपना अभिप्राय कह डाला,

"हमारी ओर से, गंगा को सीमा मानकर ही तुम राज्य के विभाजन की माँग करो, वासुदेव।"

श्रीजी ने अर्जुन की ओर देखा। उसने केवल श्रीजी के किरीट में लगे सप्तरंगी मोरपंख पर क्षण-भर दृष्टि डाली और मौन रहकर ही श्रीजी के चरणस्पर्श किये। उसको धीरे-से ऊपर उठाते हुए मुक्त मन से हँसनेवाले श्रीजी के गुलाबी होंठों की ओट से उनका दुहरा दाँत क्षण-भर चमक उठा। यह देखकर नकुल-सहदेव कुछ कहना-करना भूलकर उन दोनों की ओर केवल देखते ही रह गये। श्रीजी के नेतृत्व में मन्त्रणा-कक्ष में बुलायी गयी पाण्डवों की पहली ही राजनीतिक बैठक समाप्त हो गयी–निर्णय का दायित्व श्रीजी को सौंपकर।

दूसरे दिन हस्तिनापुर में कुरु-राजसभा बुलायी गयी। आज की सभा का प्रमुख विषय था–हस्तिनापुर राज्य का कौरव-पाण्डवों में विधिवत् विभाजन। पाण्डवों के साथ द्वारिकाधीश हस्तिनापुर में पधारे हैं और वे राजसभा में उपस्थित रहनेवाले हैं, यह समाचार पवन की भाँति सर्वत्र फैल गया। हस्तिनापुरवासी नर-नारियों की प्रचण्ड भीड़ कुरु-सभागृह में जमा हो गयी। सद्गुणी पाण्डव और उनकी धैर्यशील माता के श्रीजी सहित दर्शन करने के लिए वे उत्सुक थे। आज बहुत वर्षों बाद कुरु-राजसभा खचाखच भरी हुई थी।

प्रथा के अनुसार अमात्य वृषवर्मा का भूमि पर राजदण्ड का आघात करते ही सर्वत्र शान्ति छा गयी। सभा का कार्य आरम्भ हुआ। सिंहासन पर आसीन महाराज धृतराष्ट्र और महाराज्ञी गान्धारीदेवी की ओर से महामन्त्री विदुर ने पहले श्रीजी सहित पाण्डव और उनकी माता का, और फिर अन्य सभी का स्वागत किया। सभा का प्रयोजन गिने-चुने शब्दों में बता दिया गया। उन्होंने अपने प्रिय भ्राता पाण्डु के पराक्रम का सबको तीव्रता से स्मरण कराया। हस्तिनापुर राज्य के समक्ष खड़ी कठिन समस्या का सबको आभास कराया। अन्त में उन्होंने कहा, "कुरु राज्य के न्यायसंगत और एकमात्र ज्येष्ठ अधिकारी पितामह भीष्म ही इस बात का अन्तिम और उचित निर्णय करें और सब उस निर्णय को शिरोधार्य करें।" विदुर जी ने अनुभवी महामन्त्री का दायित्व पूरा किया।

सभागृह में आज सिंहासन की दायीं ओर के आसनों पर सर्वप्रथम पितामह भीष्म, फिर दुर्योधन, अंगराज कर्ण, दु:शासन और उसके पाँच भ्राता, मामा शकुनि और उसके दो भ्राता, शोण, कणक, उसके बाद शेष कौरव और भिन्न-भिन्न विभाग-प्रमुख बैठे थे।

सिंहासन की बायीं ओर आचार्य कृप, गुरुवर द्रोण, महामन्त्री विदुर, मन्त्री संजय, अमात्य वृषवर्मा आदि मन्त्रिपरिषद् के सदस्य बैठे थे। उनके पश्चात् पहले बलराम भैया, फिर श्रीजी और देवरजी उद्धव, युद्धिष्ठिर, भीम, अर्जुन आदि पाण्डव बैठे थे। तत्पश्चात् सात्यकि, विपृथु आदि यादववीर और पाण्डवों को समर्थन देने हेतु उपस्थित पांचाल-अमात्य और सेनापति बैठे थे। पाण्डव-माता कुन्तीदेवी और पाण्डवपत्नी द्रौपदी राजस्त्रियों के साथ विशेष कक्ष में बैठी थीं।

साक्षात् धनुर्वेद की भाँति, सम्पूर्ण सभागृह में ज्येष्ठ पितामह भीष्म बोलने लगे। उनकी वाणी हिमगंगा-सदृश अन्तर्बाह्य शुभ्र, सत्त्वशील, प्रवाहमय और प्रौढ़ थी। कौरवों के हित का वर्षों से चिन्तन करने से वह समुद्र-गर्जन की भाँति धीर-गम्भीर हो गयी थी। श्रोताओं को आत्म-निरीक्षण के लिए विवश करनेवाली थी। विशाल वक्ष पर विराजित, स्वर्णपत्तर जटित लौहकवच पर झूलते, स्वर्णिम किनारीवाले मृदु उत्तरीय को अपनी बलिष्ठ मुट्ठी में कसकर उन्होंने दृढ़ वाणी में कहा, “इस प्राचीन कुरु-राजसभा में आज पहली बार यादवश्रेष्ठ वासुदेव श्रीकृष्ण अपने ज्येष्ठ भ्राता बलराम और कनिष्ठ भ्राता उद्धव सहित उपस्थित हैं। मैं समझता हूँ कि हम सब चान्द्रवंशियों के लिए यह बड़े गौरव की बात है। मैं उनका सहर्ष स्वागत करता हूँ। श्रीकृष्ण को मैं भलीभाँति पहचानता हूँ, किन्तु उसके मन में क्या है यह नहीं जान पाता। मैं ही नहीं, उसके पिता–यादवश्रेष्ठ महाराज वसुदेव, गुरुदेव आचार्य सान्दीपनि जैसे अधिकारी पुरुष भी उसके मन को जान नहीं पाये। –आज मेरे लिए भी वह सम्भव नहीं है!

“पिछली बार जब वह हस्तिनापुर आया था, तब वह राजसभा में उपस्थित नहीं था। उस समय उसने मुझसे आशीर्वाद माँगा था, परन्तु समझ-बूझकर मैंने वह नहीं दिया था–कल भी नहीं दिया है। यह सत्य है कि मैं उससे ज्येष्ठ हूँ। किन्तु केवल आयु की ज्येष्ठता का अभिप्राय जीवन की श्रेष्ठता नहीं होती। अन्य किसी भी रूप में मैं उससे तनिक भी ज्येष्ठ नहीं हूँ।

“मैं उसको क्या मानता हूँ–यह वह दूर द्वारिका में रहते हुए भी, मन-ही-मन भलीभाँति जानता है। अत: उसी का स्मरण करके, करतल के फफोले की भाँति मैंने जिस हस्तिनापुर का ध्यान रखा है, उसके विषय में जीवन के इस महत्त्वपूर्ण मोड़ पर मैं मनःपूर्वक कुछ कहने जा रहा हूँ। सब उसे शान्ति से सुनें।

“जीवन में बहुत-कुछ सहन करके भी पाण्डव जीवित हैं, इस बात से मैं परम प्रसन्न हूँ। उनको मृत जानकर की गयी तर्पण-विधि के कारण हुए दोषों का मैं निवारण करने जा रहा हूँ। इस क्षण पाण्डवों के पिता सम्राट् पाण्डु की असंख्य सुखद स्मृतियों से मेरा मन भर आया है। पराक्रमी, दिग्विजयी सम्राट् पाण्डु ने कुरुवंश की कीर्ति क्षितिज तक फैलायी। पाण्डव अपनी माता सहित आज अपने पिता के राजनगर में लौट आये हैं। मैं उनका हार्दिक, आशीर्वादपूर्वक स्वागत करता हूँ।

“पाण्डव और कौरव मन की दृढ़ता के साथ एक हो जाएँ। यदि ऐसा हुआ तो छियासी राजाओं को कारागृह में डालनेवाले, सम्राट् कहलानेवाले, सत्तामद से उन्मत्त बने जरासन्ध को, यादवश्रेष्ठ श्रीकृष्ण के सहयोग और मार्गदर्शन से कुरु उचित पाठ पढ़ा सकेंगे। युधिष्ठिर के संयमशील

नेतृत्व को स्वीकार करने से तथा श्रीकृष्ण के निरन्तर समुचित परामर्श और उसके द्वारिका जनपद के सहयोग से मेरे ये एक सौ पाँच कौरव स्वयं ही गौरवशाली सम्राट् पद को प्राप्त करेंगे, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है। इसीलिए मैंने जीवन-भर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन किया है–अथक परिश्रम किये हैं। मेरी इस तपस्या का अब तक तो अपेक्षित, सन्तोषप्रद परिणाम प्राप्त नहीं हुआ है। वह मुझे प्राप्त हो, इसके लिए मैं रात-दिन तड़पता रहता हूँ।

"इस राज्य के अभिषिक्त राजा पाण्डु के पराक्रमी पुत्र अब लौट आये हैं। ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर अपने पिता का न्यायसंगत उत्तराधिकारी है। पाण्डु के पश्चात् एक विश्वस्त के रूप में सँभालने के लिए सौंपे गये हस्तिनापुर के राज्य को धृतराष्ट्र अब सम्मानपूर्वक युधिष्ठिर के हाथों सौंप दें।

"अन्य सभी पाण्डव और सभी कौरव उसके नेतृत्व में हस्तिनापुर राज्य की कीर्ति-पताका को निरन्तर ऊँचा रखें। अन्तिम ज्येष्ठ कुरु के नाते मेरा यह अन्तिम और निष्पक्ष निर्णय है। राजा के अधिकार से युधिष्ठिर ज्येष्ठ कौरव दुर्योधन को प्रमुख सेनापति के पद पर नियुक्त करें और दोनों मिलकर पराक्रम के नये मानदण्ड स्थापित करें।"

न्यायी और सत्यप्रिय पितामह भीष्म का वह स्पष्ट निर्णय सुनते ही सम्पूर्ण राजसभा स्तब्ध रह गयी। अपने निर्णय में उन्होंने किसी भी प्रकार के सन्देह के लिए स्थान नहीं रहने दिया। पितामह का निर्णय सुनते ही राजसिंहासन पर बैठे महाराज धृतराष्ट्र अवाक् रह गये। सिंहासन के दोनों ओर के सिंहमुखों को वे अपनी मुट्ठियों में कसकर पकड़ते हुए क्षण-भर छटपटाये। अपने-आप से ही अस्पष्ट बुदबुदाये–"अर्थात्–मैं–मैं इस सिंहासन को त्याग दूँ?" उनकी छटपटाहट देखकर, उनके अस्पष्ट-से उद्‌गार सुनकर दुर्योधन तो अपने आसन से तड़ाक् से उठ खड़ा हुआ। गदा की ठनकार के समान शब्दों में उसने कहा, "लगता है, महाराज द्वारा आज तक की गयी सिंहासन की सेवा को पितामह भूल गये हैं। जब तक महाराज जीवित हैं, हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर अन्य किसी के आसीन होने का प्रश्न ही नहीं उठता। और उनका ज्येष्ठ पुत्र होने से युवराज पद तो मेरा ही है। चाहे तो पाण्डव अपना राज्यभाग माँग सकते हैं। महाराज की इच्छा हो तो, वे जो कुछ देंगे उसे पाण्डव चुपचाप स्वीकार करें।"

आँखों में तैल डालकर सदैव अपने भानजे का समर्थन करनेवाला सुबल-पुत्र शकुनि उठ खड़ा हुआ। सदा की भाँति अपने छद्मी, कुटिल, चुभते शब्दों में उसने कहा, "पितामह तो आज अप्रत्यक्षत: महाराज को वानप्रस्थी होने का ही परामर्श दे रहे हैं। वास्तव में तो उनके प्रिय पाण्डवों का जन्म ही वन में हुआ है। उन्हीं को वन अत्यधिक प्रिय हैं। अत: कुरु मन्त्रिपरिषद् को मैं उचित परामर्श देना चाहूँगा कि यदि पाण्डवों को राज्यभाग देना ही हो तो खाण्डववन का ही दिया जाए। जब तक हस्तिनापुर के विश्वस्त महाराज धृतराष्ट्र जीवित हैं, तब तक नये महाराज या युवराज का प्रश्न ही नहीं उठता।"

"शकुनि, तुमसे परामर्श नहीं माँगा गया है। तुम चुप रहो। जो भी निर्णय करना हो, महाराज धृतराष्ट्र करें।" पितामह ने शकुनि को बरजने का अन्तिम प्रयत्न किया। अब सभागृह में देर तक खुसुर-फुसुर होती रही। कठोर शब्दों में उसे बन्द करते हुए दुर्योधन ने कहा, "इस राजसिंहासन से पाण्डवों का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वे कौन्तेय होंगे, माद्रेय होंगे, परन्तु हमारे काका पाण्डु के पुत्र नहीं हैं। सभी पौरजन जानते हैं, हमारे काका महाराज पाण्डु हस्तिनापुर छोड़कर क्यों चले

गये थे! पितामह पाण्डवों का तनिक भी समर्थन न करें और पाण्डवों के लिए राज्य के पूरे अथवा आधे भाग की माँग भी न करें। यह कुरुसभा जो भी देगी, उसे पाण्डव चुपचाप स्वीकार करें।"

श्रीजी अब जान गये कि दुर्योधन नियोग पद्धति से हुए पाण्डवों के जन्म-विषयक गहन वन में घुसने जा रहा है। आज तक श्रीजी ने मथुरा, करवीर, प्राग्ज्योतिषपुर जैसे कई राज्यों के बारे में उचित निर्णय किया था। परन्तु कुरु राज्य की यह गुत्थी सुलझाना बड़ा ही कठिन था। पाण्डवों के जन्म के सम्बन्ध में बखेड़ा खड़ा करके उनको अपने पूज्य पिता के राज्य के अधिकार से वंचित करने की दुर्योधन की चाल ध्यान में आते ही श्रीजी निश्चयपूर्वक अपने आसन से उठ खड़े हुए। यह देखते ही कुरुसभा एकदम स्तब्ध रह गयी। श्रीजी की वाणी की सामर्थ्य के विषय में कुरुसभा के सदस्यों ने बहुत-कुछ सुन रखा था। शकुनि, दुर्योधन सहित सभी कौरव मन-ही-मन में डर गये। उनको लगा अब द्वारिकाधीश अपने वाक्-चातुर्य और भाषण की मोहिनी से महाराज धृतराष्ट्र को देखते-देखते अपने वश में कर लेंगे। परन्तु हुआ कुछ और ही। अत्यन्त शान्त और धीमी वाणी में स्वामी ने कहा, "प्रिय कुरुजनो, हस्तिनापुर राज्य के विषय में पितामह के निर्दोष विचार मुझे उचित लगते हैं। परन्तु उनके कहने के अनुसार ही सब-कुछ होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। दुर्योधन का कथन सुनकर मैं जान चुका हूँ कि कौरव और पाण्डव रात और दिन की तरह कभी भी एकत्र न आनेवाली सम्भावनाएँ हैं।

"शकुनि मामा ने पाण्डवों की गुण-श्रेष्ठता को बिल्कुल सही जान लिया है। यह सत्य है कि पाण्डवों को वन अत्यन्त प्रिय हैं। मुझे भी हैं। पाण्डवों के अजेय पुरुषार्थ पर मुझे दृढ़ विश्वास है। महाराज धृतराष्ट्र, सभी कौरव, मामा शकुनि, पितामह भीष्म और उपस्थित सभी सदस्यों को, पाण्डवों के प्रतिनिधि के नाते मैं घोषित करता हूँ कि अपने पिता के राज्यभाग के रूप में महाराज के द्वारा दिये जानेवाले खाण्डववन का भाग पाण्डवों को स्वीकार है।"

पाण्डवों को भी अनपेक्षित श्रीजी के इस निश्चित निर्णय से, पितामह भीष्म सहित सम्पूर्ण कुरुसभा चकित रह गयी। उस खचाखच भरे सभागृह में एक ही व्यक्ति ऐसा था, जो तनिक भी चौंका नहीं, अस्थिर नहीं हुआ। वह थी एक स्त्री हमारी बुआजी–पाण्डव-माता कुन्तीदेवी। यद्यपि पिछली रात्रि की बैठक में पाण्डवों ने श्रीजी को सर्वाधिकार दे दिये थे, फिर भी भीमसेन कुछ भुनभुनाया। उसको सान्त्वना देने हेतु पाण्डवों में कुछ खुसुर-फुसुर हुई। उसे बढ़ने का अवसर न देते हुए कुशल कुरु-अमात्य वृषवर्मा ने अपने हाथ का राजदण्ड उठाकर उससे भूमि पर आघात करते हुए पूछा, "पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर, क्या खाण्डववन का राज्यभाग आप को स्वीकार है? एक बार इसे स्वीकार करने के पश्चात् आपको किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

श्रीजी के संकेत से युधिष्ठिर शान्तिपूर्वक खड़े हुए–"मेरे पिता के उत्तराधिकार के रूप में–यमुना नदी से खाण्डववन तक का राज्यभाग महाराज दे रहे हैं तो मुझे स्वीकार है। पितामह और मेरे दिवंगत पूज्य पिता सम्राट् पाण्डु, वन्दनीय महाराज-महाराज्ञी, महाराज हस्ति से लेकर सभी स्वर्गवासी कुरु नृपश्रेष्ठ, बन्धुवर श्रीकृष्ण-बलराम को अभिवादन करते हुए मैं खाण्डववन को विनम्रतापूर्वक स्वीकार करता हूँ।" इन शब्दों में उन्होंने अपना निर्णय सभागृह में घोषित किया। अत्यन्त सौजन्य से उन्होंने आगे कहा, "हमें सभी के केवल हार्दिक आशीर्वाद चाहिए। हस्तिनापुरवासी विश्वास रखें कि सम्राट् महाराज पाण्डु का स्मरण करके, द्वारिकाधीश वासुदेव श्रीकृष्ण और माता कुन्ती के आशीर्वाद से हम खाण्डववन में नया राज्य खड़ा कर दिखाएँगे।"

"साधुवाऽद ऽ साऽधुवाऽद...स्वर्गीय सम्राट् महाराऽज पाण्डु कीऽ जऽय!... द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण महाराज की ऽ जय होऽ! ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर की ऽ जय हो।" की गूँज उठी। कुरु-राजसभा की यह बैठक बड़ी ही संघर्षपूर्ण होगी, ऐसा बहुतों का अनुमान था। परन्तु श्रीजी ने सभी को एक आश्चर्य में डालते हुए पाण्डवों की ओर से खाण्डववन को स्वीकार करके यह बैठक बड़ी सरलता से समाप्त कर दी थी। हस्तिनापुर की इस विशेष राजसभा का वृत्तान्त देवरजी ने अपनी रसीली वाणी में मेरे समक्ष ज्यों-का-त्यों खड़ा कर दिया।

हस्तिनापुर की इस भेंट में श्रीजी ने अपने परमभक्त महात्मा विदुर और मन्त्री संजय के यहाँ निवास करते हुए उनके आतिथ्य को सहर्ष स्वीकार किया। पितामह भी एक बार हस्तिनापुर की सीमा पर स्थित विदुर जी के आवास पर भोजन के लिए आये थे। यद्यपि महात्मा विदुर महाराज धृतराष्ट्र और दिवंगत सम्राट् पाण्डु के भ्राता थे, किन्तु वे दासीपुत्र थे। रहन-सहन में सीधे-सादे और विरक्त प्रकृति के थे। कुरू-मन्त्रिपरिषद् के ज्येष्ठ मन्त्री होते हुए भी वे हस्तिनापुर की निर्जन सीमा पर एक साधारण-से आवास में अपनी पत्नी पारशवी और परिवार सहित रहा करते थे। हस्तिनापुर के महामन्त्री और महात्मा के रूप में आसपास के राज्यों में वे जितने विख्यात थे, उससे भी अधिक वे विख्यात थे श्रीजी के परमभक्त के नाते। श्रीजी और वे पहली बार कहाँ मिले, यह किसी को भी ज्ञात नहीं था–मुझे भी नहीं! परन्तु जैसे उन्होंने देवरजी उद्धव, दारुक और अर्जुन को पहली ही भेंट में वक्ष से लगा लिया था, वैसे ही विदुर जी को भी ले लिया था। श्रीजी के मुख से कई बार मैंने विदुर जी की प्रशंसा सुनी थी।

धृतराष्ट्र के विशेष मन्त्री संजय भी श्रीजी के भक्त थे। धृतराष्ट्र के निजी सारथि-दल के वे प्रमुख थे। वे भी बड़े प्रेमल स्वभाव के और चतुर थे। कौण्डिन्यपुर के मेरे आकृति काका के पास जैसी एक दुर्लभ गारुड़-विद्या थी, वैसी ही मन्त्री संजय जी के पास 'दूरदर्शन' नामक एक दुर्लभ विद्या थी। जैसे ही वे ध्यानस्थ हो जाते थे, उनके समाधिमग्न जाग्रत अन्तःचक्षुओं के समक्ष, सैंकड़ों योजनों पर घटित होनेवाली इच्छित घटनाएँ और स्थल साक्षात् खड़े हो जाते थे। उनकी वाणी भी मधुर, रसीली और चित्रात्मक थी। अन्त-चक्षुओं को दिखनेवाला दृश्य वे अपनी रसीली वाणी के इन्द्रजाल से सुननेवाले के समक्ष ज्यों-का-त्यों खड़ा कर पाते थे। संजय जी की अद्भुत कथा श्रीजी के मुख से सुनते हुए मेरी कई बार इच्छा हुई कि इनसे भी एक बार भेंट हो जाए। केसर-मधु-मिश्रित दुग्ध के चषक से उनका आतिथ्य करके मैं उनसे पूछ लेती कि उनके अन्त-चक्षुओं को मेरे श्रीजी किस-किस रूप में और किस-किस ढंग से दिखाई देते हैं! मुझे पूरा विश्वास था कि मेरे अन्त-चक्षुओं ने श्रीजी के जो और जितने रूप देखे थे, उतने तो संजय जी भी अपने अन्त-चक्षुओं के दूरदर्शन पटल पर देख नहीं पाये होंगे!

उनके अनेक रूपों में से जिस रूप से मैं भलीभाँति परिचित हो गयी थी, ऐसे एक रूप के मुझे शीघ्र ही दर्शन होनेवाले थे। हस्तिनापुर छोड़कर श्रीजी पाण्डवों सहित खाण्डववन का–पर्यावलोकन करने हेतु वहाँ चले गये। वहाँ खाण्डवप्रस्थ नामक एक छोटा-सा ग्राम था। उसकी सीमा पर श्रीजी ने पाण्डवों के लिए एक प्रशस्त, मजबूत पर्णकुटी बनवाने का प्रबन्ध किया। हस्तिनापुर छोड़ते समय श्रीजी, विदुर जी और संजय जी की सहायता से पाण्डवों को राजनगर और भवन-निर्माण में सहायक कुछ राजगीर, बढ़ई, लौहकार तथा स्थापत्य-विशारदों को खाण्डवप्रस्थ भिजवाने का प्रबन्ध भी किया था। विख्यात स्थापत्य-शास्त्रज्ञ मयासुर तथा उसके सहायक ताराक्ष, कमलाक्ष, विद्युन्माली और त्वष्टा नाम के अद्वितीय स्थापत्य-विशारदों को भी

उन्होंने विशेष दूत भिजवाकर शीघ्र ही खाण्डववन में उपस्थित होने के आदेश दिये थे।

इस अन्तराल में श्रीजी नित्य खाण्डववन के सघन अरण्य से बहती यमुना नदी के तट पर स्नान और अर्घ्यदान के लिए जाया करते थे। ऐसी ही एक सुप्रभात में वे देवरजी और कुछ ही यादवों सहित मन्द गति से बहती यमुना के तट पर आ गये। उषःकाल के उस सुन्दर समय श्रीजी को यमुना-जल में खड़ी एक स्त्री दिखाई दी। उसकी पीठ श्रीजी की ओर थी। कटि तक जल में वह आँखें मूँदकर शान्त खड़ी थी–किसी शिल्प की भाँति! घने भृंगवर्णी केशपाश को उसने शुभ्र-धवल कुन्द-पुष्पों की माला से कसकर माथे पर ही सँवारा था। उसके शरीर पर श्वेत वस्त्र और श्वेत ही कंचुकी थी। वन्दन-पूजन से निवृत्त होकर वह आँखें मूँदकर ध्यानस्थ हो गयी थी। जल के बाहर दिखती उसकी कमनीय, केतकगौर काया का प्रतिबिम्ब यमुना-जल पर हलके से हिल-डुल रहा था। उसको देखते ही श्रीजी के पैर वहीं जम गये। उन्होंने उद्धव से कहा, “बन्धु ऊधो, इस जलकन्या से उसका परिचय तो पूछ लो!”

देवरजी मुस्कराये। उस घने अरण्य में, कुरुवंशियों द्वारा पाषाणों से बनाये घाट की सीढ़ियाँ धीरे-धीरे उतरते हुए वे यमुना के समीप गये। सामने खड़ी जलकन्या की समाधि भंग करने से सकुचाकर वे वहीं रुक गये। तभी कहीं दूर से लम्बे-लम्बे पंखोंवाला एक वनमयूर तीव्र केका करता हुआ आ गया। सुनहरी, नीली, हरी आँखों से शोभित पंखों को फड़फड़ाता हुआ वह धीरे-से यमुना-तट पर उतरा। फिर वह पानी पीने लगा। उसकी पंखों की फड़फड़ाहट से जलकन्या का ध्यान भंग हुआ। अर्घ्य की अन्तिम अँजुली सूर्यदेव को अर्पित करने के बाद, मुस्कराकर मयूर की ओर देखते हुए वह जल से बाहर निकली और घाट की सीढ़ी पर रखा, जल से भरा मृत्तिका-कुम्भ कटि पर रखकर चल पड़ी। उसके भीगे सुकुमार पदकमलों के चिह्न घाट के पाषाणों पर पंक्तिबद्ध अंकित होने लगे। अब देवरजी अग्रसर हुए। हाथ जोड़कर नम्र अभिवादन करते हुए यादवोचित सभ्यता से उन्होंने उससे पूछा, “क्षमा कीजिए देवि! आप कौन हैं? कहाँ की हैं? क्या आप प्रतिदिन यहाँ आती हैं? किस देवता का ध्यान और पूजन करती हैं आप?”

पहले तो वह चौंक गयी। किन्तु उद्धव जी का सात्त्विक मुखमण्डल और उनकी नम्रता देखकर हँसते हुए उसने कहा, “मैं कालिन्दी हूँ। यहाँ खाण्डववन में ही रहती हूँ। जब से समझदार हुई हूँ द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा कर रही हूँ। उन्हीं का ध्यान और पूजन करती हूँ। परन्तु आप कौन हैं?”

“मैं उद्धव हूँ। आप जिनका ध्यान-पूजन करती हैं, वे मेरे ज्येष्ठ भ्राता द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण स्वयं यहाँ उपस्थित हैं। वो देखिए!” देवरजी ने घाट की सबसे ऊपर की सीढ़ी पर खड़े श्रीजी की ओर संकेत किया।

जलकन्या और जलपुरुष की आँखें मिल गयीं! श्रीजी एक-एक सीढ़ी उतरते गये। कालिन्दी अपनी तपस्या के बल पर जीवन की एक-एक सीढ़ी चढ़ती हुई ऊपर आ गयी। पक्षिराज मयूर केका करता हुआ उड़ चला। जाते-जाते वह मोरपंखी भाव-कथा अंकित कर गया।...

श्रीजी की हस्तिनापुर-भेंट के पश्चात् मुझे शुद्धाक्ष महाद्वार पर अपनी सातवीं और अन्तिम बहन का स्वागत करना पड़ा। उसको आलिंगन में लेकर थपथपाते हुए मैंने निःश्वास छोड़ा। कालिन्दी आठवीं श्री-पत्नी थी। श्रीजी ने उससे यमुना-तट पर ही गान्धर्व विवाह कर लिया था। हम सातों श्री-पत्नियों से वह कुछ अलग ही थीं। गर्ग मुनि के अन्तःपुर के द्वीप पर बनाये प्रासादों

में से अन्तिम प्रासाद उसके आगमन से भर गया। नित्य धर्म-कर्म और तपस्या के कारण कालिन्दी धार्मिक कार्यों में समर्पित पुष्प की भाँति पावन हो गयी थी। वह थी तो क्षत्रियकन्या परन्तु दिखती, लगती और बोलती थी विप्रकन्या की भाँति। हम सातों से वह सहज ही एकरूप हो गयी।

द्वारिका अब भरापूरा गोकुल ही बन गया। मैंने ध्यानपूर्वक देखा था कि श्रीजी की पाण्डवों से भेंट होने के पश्चात्, विशेषत: जब से उनके और अर्जुन के मन मिल गये थे, उनकी चित्तवृत्ति में बड़ा ही अन्तर आया था। वे सदैव हँसमुख दिखने लगे थे। उनका प्रत्येक कर्म उत्साह से लबालब भरा हुआ होता था। जैसे सुगन्धित वायु उद्यान में सहज ही संचार करती है, वैसे ही स्वामी भी हम आठों पत्नियों के कक्षों में विहार किया करते थे। मेरी सात बहनों को क्या लगता था, यह तो मुझे ज्ञात नहीं; परन्तु वे किसी के भी कक्ष में हों, मुझे तो प्रतीत होता था कि वे मेरे ही कक्ष में हैं।

सम्प्रति तो एक क्षण भी ऐसा नहीं बीतता था कि, श्रीजी की बातों में किसी-न-किसी प्रकार पाण्डवों का उल्लेख न हो–उनका कुछ-न-कुछ गुणगान न हो। बुआ कुन्तीदेवी के विषय में तो वे अथक, अत्यन्त उत्साह से, असीम आदर से बातें किया करते थे। भोजन के बाद, पारिवारिक बैठक में यदि तात वसुदेव और बड़ी माँ उपस्थित हों, तब तो वे बहुत ही प्रसन्न हुआ करते थे। उनकी रसीली वाणी और भी खिल उठती थी। बुआजी ने जीवन-भर जो कुछ सहा उसकी गहरी चुभन तात के मन में है, इस बात को वे भलीभाँति जानते थे। इसीलिए कुन्तीबुआ के तृतीय पुत्र अर्जुन की सर्वगुणसम्पन्नता के विषय में वे अपनी मधुर शैली में भाँति-भाँति की बातें किया करते थे। बातों-बातों में वे कहा करते थे कि "अर्जुन मेरे सदृश ही दिखता है, बोलता है और आचरण भी करता है। पराक्रम में तो मुझसे कुछ बढ़कर ही है। उसका नाम ही अर्जुन है–अर्थात् जो भी ज्ञान प्राप्त हो उसे संग्रहीत करनेवाला! उसे और मुझे एक साथ देखते हुए कई लोग धोखा खा जाते हैं।" बातों-बातों में श्रीजी कभी उसका उल्लेख धनंजय, कभी पार्थ, कभी कौन्तेय तो कभी गुडाकेश के नाम से किया करते थे। उनके मुख से यह अर्जुनाख्यान सुनते-सुनते मैं तो सुधबुध खो देती थी। कभी-कभी श्रीजी में मुझे अर्जुन का आभास होने लगता था। तब स्वयं ही अपने को चिकोटी काटकर मैं सँभल जाती थी। लेकिन श्रीजी के प्रिय धनंजय से मिलने की प्रबल इच्छा मन में हिलोरें लेने लगती थीं।

श्रीजी के मन में अर्जुन से तनिक बढ़कर ही सखी द्रौपदी का स्थान था। इस बात को सभी बारीकियों के साथ केवल मैं ही जानती थी। गोकुल की राधा श्रीजी की सखी थी और द्रौपदी भी श्रीजी की सखी ही थी। परन्तु उन दोनों में कुछ अन्तर था। उसको भी केवल मैं ही जानती थी। राधिका ग्रहण के पूर्व के सूर्य-बिम्ब की भाँति थी–दुग्ध-धवल! द्रौपदी ग्रहण के पश्चात् दिखनेवाले सूर्य-बिम्ब की भाँति थी–दधि-धवल! राधा मोहक थी–भूचम्पा की कली की भाँति सुगन्धित। तो द्रौपदी ब्रह्मकमल की मादक कली की भाँति थी। राधा मृग-वर्षा के पश्चात् आकाश में चमकती नि:शब्द विद्युल्लता की भाँति थी और द्रौपदी तेज मृग-वर्षा में कौंधती सौदामिनी की भाँति थी। दोनों श्रीजी की समान रूप से प्रिय सखियाँ थीं, इसीलिए दोनों से मिलने की मेरी इच्छा कभी-कभी बहुत तीव्र हो जाती थी। अन्य पाण्डवों के विषय में श्रीजी गिने-चुने, अचूक शब्दों में कहते थे, "युधिष्ठिर अत्यन्त सुयोग्य ज्येष्ठ पाण्डव हैं। अन्य चारों पाण्डव गरजते हुए फेनिल समुद्र की भाँति हैं। युधिष्ठिर के एकमात्र संयमी, विशाल मन का तट चारों को घेरकर शान्त खड़ा है। सभी पाण्डव युधिष्ठिर का बहुत आदर करते हैं। युधिष्ठिर के केवल पैर के संकेत पर पाण्डवों में से

कोई भी हो, अपने मुँह की बात अधूरी छोड़कर चुप हो जाता है–प्रत्यक्ष भीम भी! भीम तो प्रचण्ड सामर्थ्य का प्रलयकालीन महासागर ही है। वह ऊपर से तो शान्त दिखता है किन्तु अन्दर से खौलता रहता है। उसकी क्षुधा और निद्रा उसके विशाल शरीर को शोभा देनेवाली है। यद्यपि नकुल-सहदेव जुड़वे भ्राता हैं, लेकिन उनके स्वभावों में समानता नहीं है। उनकी प्रकृतियाँ भिन्न-भिन्न हैं। नकुल अत्यन्त रूपसुन्दर है–हमारे प्रद्युम्न जैसा। हमारा उद्धव भी दिखने में नकुल और प्रद्युम्न सदृश है। परन्तु स्वभावत: वह उन दोनों से एकदम अलग है–शान्त खड़े ऊँचे हिमशिखर जैसा! सहदेव अद्वितीय अश्वपरीक्षक है। अश्व की ही भाँति तेज और नित्य सावधान!

"पाण्डव हाथ की पाँच अँगुलियों जैसे हैं–भिन्न-भिन्न आकार की, भिन्न-भिन्न गुणधर्मों से युक्त निरन्तर कार्यरत रहनेवाली पाँच अँगुलियाँ। द्रौपदी उन पाँचों अँगुलियों को एकत्र रखनेवाली, आदिशक्ति जैसी दुर्लभ नारी है। इन सबको एक करके जो अडिग शक्ति निर्मित होती है, वह है कुन्ती माता! उनका हर शब्द...हर स्वप्न..."

श्रीजी पाण्डवों के विषय में जी भर-भरकर बातें करने लगते थे, तो जी करता था, सुनती ही रहूँ। पाण्डवों को परखने में स्वामी ने किसी भी प्रकार कमी नहीं रखी थी। पाण्डवों के पुरोहित धौम्य ऋषि की तुलना वे यादवों के पुरोहित गर्ग मुनि से करते थे। बातों के क्रम में वे धौम्य ऋषि को गर्ग मुनि से कुछ बढ़कर ही बताते थे, और तुरन्त की कोई इस कथन को अन्यथा न ले इसलिए धौम्य ऋषि को आचार्य सान्दीपनि के चरणों में भी बैठा देते थे।

श्रीजी के मन के विविध धागे पाण्डवों से बँध गये और श्री-चरित्र के एक अलग ही पर्व का आरम्भ हुआ। अब उनका ध्यान केवल पाण्डवों की वैभवशाली, भरी-पूरी राजनगरी बसाने की ओर लगा था। ऐसे रचनात्मक कर्मयोग से उनको विलक्षण आनन्द मिलता था। द्वारिका में रहकर ही वे अब पाण्डवों के राजनगर के निर्माण-कार्य में ध्यान देने लगे।

श्रीसोपान के ऊपर के विश्राम-कक्ष में मन्त्रणा हेतु श्रीजी की विश्वकर्मा, त्वेष्टा, गर्ग मुनि, मय और उसके साथी ताराक्ष, कमलाक्ष, विद्युन्माली तथा मयपुत्र मायाविन्, दुन्दुभि, अजकर्ण, कालिक एवं देश-विदेश के कुशल स्थापत्य-विशारदों के साथ लगातार बैठकें होने लगीं। द्वारिका के निर्माण-कार्य का अनुभव तो इन सबके पास था ही। यादवों के गुप्तचर विभाग के कार्यकुशल, परिश्रमी अश्वारोही चारों ओर फैल गये। वे जहाँ से भी सम्भव हो, निष्णात कारीगरों को इकट्ठा करके उन्हें खाण्डवप्रस्थ की ओर भेजने लगे। द्वारिका के अठारह विभागों के कुशल कारीगर एक विशाल निर्माण-कार्य में मग्न हो गये। विविध कर्मशालाओं से दिन-रात उठनेवाली ध्वनियों से द्वारिका पुन: निनादित हो उठी। साग, सीसम, कटहल की बनायी गयी सुघड़ पट्टियाँ और सप्ताह-सप्ताह-भर चूने की चक्की-पाट से पीसे गये चूने के बोरे के बोरे तैयार होने लगे। लौह और ताम्र के चिकने बनाये गये स्तम्भ, राजप्रासाद और मन्दिरों के निर्माण के लिए ढाले हुए स्वर्णिम रुपहले कलश प्रचण्ड वृषभ-रथों एवं हाथियों की पीठ पर लादकर खाण्डवप्रस्थ की ओर भेजे जाने लगे। द्वारिका से खाण्डववन तक वृषभ-रथ, उष्ट्र-रथ और हाथियों का जैसे ताँता बँध गया हो। इसी बीच खाण्डववन से युधिष्ठिर का सन्देश लेकर एक अश्वारोही द्वारिका आ धमका। खाण्डववन के घने अरण्य को काट-कूटकर साफ करने के लिए पाण्डव अपनी शक्ति-भर भरपूर प्रयत्न कर रहे थे। परन्तु उसमें अपेक्षित सफलता नहीं मिल रही थी। जिस गति से यह काम चल रहा था, उस गति से तो खाण्डववन को साफ करने में पूरे बारह वर्ष लग जाते। इस विचार से हताश हुए उन पाँचों

भ्राताओं ने श्रीजी को स्मरण किया था। अब श्रीजी का खाण्डववन जाना अनिवार्य हो गया था। पाण्डव तो श्रीजी की श्वास ही बन गये थे। वे उनके मर्मस्थल से जुड़े हुए थे। दण्डकारण्य के लिए विशेष रूप से तैयार किये गये यादवों का परिश्रमी दल लेकर श्रीजी खाण्डववन की ओर चले गये। इस समय उन्होंने बलराम भैया और देवरजी को अपने साथ न लेकर उन्होंने युवा प्रद्युम्न और उसके युवक दलों को साथ ले लिया था। अनुभवी सात्यकि भी उनके साथ था।

निर्माण-कार्य लम्बे समय तक चलता रहा। इस अन्तराल में ऋतुएँ आयीं और गयीं। वहाँ यमुना-तट पर पाण्डवों का राजनगर–इन्द्रप्रस्थ साकार हो रहा था। यहाँ द्वारिका में श्रीजी का यादव वंश फूलता-फलता जा रहा था। श्रीजी की हम सभी पत्नियों की सन्तानें इस समय छोटी-छोटी थीं।...

इस अन्तराल में द्वारिका के दोनों द्वीपों का रूप चैत्र पूर्णिमा के चन्द्र जैसा था। बातचीत के समय कभी-कभी श्रीजी वृन्दावन के विशाल भाण्डीर-वृक्ष का उल्लेख किया करते थे। उस वृक्ष की भाँति द्वारिका नगरी छोटे-मोटे यादव परिवारों से लहलहा उठी थी। मैं और मेरी सातों बहनों के पुत्रों की सेवा में अनेक दास-दासी थे। इस भरे-पूरे द्वारिका महाजनपद के दोनों द्वीपों पर देश-देश के ऋषि-मुनियों का, योगी-तपस्वियों का आना-जाना निरन्तर लगा रहता था। उनमें अत्रि-अनसूया के पुत्र दुर्वासा, बाष्कल मुनि के शिष्य याज्ञवल्क्य भी होते थे। उनके साथ अपने-अपने शिष्यों के जत्थे भी आया करते थे। श्रीजी और मैं बलराम भैया और देवरजी के साथ उनके स्वागत, आतिथ्य पर पूरा ध्यान देते थे। उनके निवासकाल में श्रीजी अपनी अन्तरदर्शी दृष्टि से उनके सुयोग्य शिष्यों को परख लेते थे। नयी पीढ़ी की शिष्टाचार-सभ्यता, शस्त्र-अस्त्र, वेद-विद्या आदि की शिक्षा के लिए वे उन शिष्यों से द्वारिका में रहने का अनुरोध किया करते थे। कभी-कभी कुशल नर्तक, सुरीले गायक, निष्णात रथ-निर्माता द्वारिका में आते थे। श्रीजी और बलराम भैया, तात वसुदेव, बड़ी और छोटी माँ के समक्ष, भरी सुधर्मा सभा में स्वर्ण अलंकार, मुलायम वस्त्र आदि देकर उनका यथोचित सम्मान किया करते थे। उनमें से भी अनेकों को अनुरोधपूर्वक आदर सहित द्वारिका में ही ठहराया जाता था। द्वारिका का डंका अब दूर-दूर तक बज रहा था।

ऐसे ही एक दिन मेरे पुरोहित सुशील जी ने नम्रता से एक सूचना दी, "सौराष्ट्र से कोई एक ब्राह्मण आया है। वह कृशगात है। लम्बी यात्रा के कारण थका-माँदा है। वह द्वारिकाधीश से ही मिलने की इच्छा व्यक्त कर रहा है। क्या किया जाए?"

द्वारिका की महाराज्ञी के नाते ऐसी सूचनाओं की तो मैं अभ्यस्त हो गयी थी। मैंने पुरोहित से कहा, "उनको अतिथि-कक्ष में ठहराइए। उनके आतिथ्य का भलीभाँति प्रबन्ध कीजिए और उनसे कहिए कि द्वारिकाधीश के द्वारिका लौट आने के पश्चात् अवश्य भेंट होगी।" सुशील जी आज्ञापूर्ति के लिए चले गये।

कुछ ही दिनों में श्रीजी के आगमन की पूर्व सूचनाएँ द्वारिका में आ पहुँचीं। खाण्डववन में पाण्डवों के राजनगर के निर्माण का महत् कार्य पूरा कराकर ही श्रीजी लौट रहे थे। पहली ही बार श्रीजी रात्रि के समय द्वारिका में प्रवेश कर रहे थे। जब उनका आगमन हुआ, पूरी द्वारिका निद्रा में लीन थी। अत: स्वामी ने शुद्धाक्ष महाद्वार पर उपस्थित सभी मन्त्रियों को स्वागत की किसी भी औपचारिकता को न निभाते हुए पूर्णत: शान्ति बनाये रखने का निर्देश दिया था। स्वयं मुझे भी पता नहीं चला कि रात्रि में श्रीजी द्वारिका कब पधारे! उनके इस प्रकार आगमन से मुझे उनका

एक अलग ही पहलू दिखाई पड़ा। श्रीजी निद्रा को–वह मनुष्य की हो अथवा प्राणी की–बहुत महत्त्व देते थे। किसी की भी निद्रा भंग न हो, इसका ध्यान रखते थे। निद्रा को वे 'निद्रायोग' ही कहते थे, जिस पर उनका पूरा नियन्त्रण था। उनका प्रिय शिष्य अर्जुन भी इस विषय में उनके जैसा ही था। दिन और रात्रि का कोई भी समय उनके लिए समान ही था–पवित्र और मंगलमय।

दूसरे दिन प्रातःकालीन सभी नित्यकर्मों से निवृत्त होकर श्रीजी सहित मैं दान-सत्र के लिए उपस्थित हुई। मेरी सातों बहनें भी अपने-अपने स्थान पर आसीन थीं। मैंने ही श्रीजी से आग्रह किया था कि मेरी बहनें भी दान-सत्र में नित्य उपस्थित रहें। उन्होंने भी मुस्कराते हुए मेरे आग्रह की स्वीकृति दी थी।

पाण्डवों के राजनगर के निर्माण का कार्य मनोनुकूल होने से श्रीजी प्रसन्न दिखाई दे रहे थे। दान-सत्र के स्वर्ण-आसन पर बैठते ही मेरी ओर देखकर मधुर मुस्कान के साथ उन्होंने कहा, "रुक्मिणी! पाण्डवों का राजनगर–इन्द्रप्रस्थ बहुत ही सुन्दर बन गया है। द्वारिका से तनिक बढ़कर ही! खाण्डववन नष्ट करने के लिए मुझे और अर्जुन को वनराज वरुण से घोर संघर्ष करना पड़ा। 'अपना निवास स्थान–यह वन–मैं तुम्हें नहीं जलाने दूँगा' कहकर वरुण ने बड़े क्रोध से अपनी सेना सहित हम पर आक्रमण किया। हमारा यह उग्र युद्ध कई दिन चलता रहा। अन्तत: उसको पराजय स्वीकार करनी पड़ी। अर्जुन के पराक्रम से प्रसन्न होकर वरुण ने उसको अपना अक्षय तूणीर, गाण्डीव नामक सुलक्षणी धनुष और नन्दिघोष नामक सुघड़ रथ भी प्रदान किया है। अर्जुन शीघ्र ही उस धनुष सहित उसी रथ से द्वारिका आनेवाला है।" पाण्डवों के विषय में बातें करना श्रीजी को बहुत प्रिय है, यह मुझे ज्ञात था ही। वे अब खाण्डववन और वरुण-युद्ध के विषय में जी भर-भरकर बातें करेंगे, यह जानते हुए भी और यह सब सुनने को उत्सुक होते हुए भी मैं महाराज्ञी के नाते अपना कर्तव्य निभाना चाहती थी, श्रीजी से कुछ कहना चाह रही थी।

किन्तु श्रीजी मुझसे और अपनी अन्य सात पत्नियों से खाण्डववन के सम्बन्ध में बातें करते-करते दान देने लगे। अपने सामने उपस्थित हुए पराक्रमी वीरों, विभिन्न कलाओं में निपुण द्वारिकावासी कलाकारों और ऐसे ही अन्य व्यक्तियों को वे किसी को ऐंठनदार उष्णीय-उत्तरीय, किसी को स्वर्णमुद्राएँ दान करने लगे। हमें भी इस कार्य में हाथ बँटाने के लिए कहने लगे। दान स्वीकार करनेवालों से वे उनके परिवार के वृद्ध, ज्येष्ठ सदस्यों के विषय में हास्य के साथ बड़ी आत्मीयता से पूछताछ भी करने लगे। मेरी बात उन तक पहुँचाने का वह उचित समय था। बेंत की टोकरी से श्रीजी अँजुली भरकर मोती उठा रहे थे, तभी मैंने धीरे-से उनसे कहा, "सौराष्ट्र से कोई ब्राह्मण आया है। आपसे मिलना चाहता है। अतिथि-कक्ष में वह प्रतीक्षारत है।" चौंककर उन्होंने मेरी ओर देखा, फिर पूछा–"कौन? कहाँ से आया है?"

"ब्राह्मण–सौराष्ट्र से।" मेरे शब्द सुनते ही श्रीजी की मोहक आकृति ऐसी खिल उठी, जिसे मैंने पहले कभी नहीं देखा था। उनके मत्स्यनेत्र चमक उठे। अँजुली के मोती फिर से टोकरी में ही छोड़ते हुए वे बुदबुदाये, "वही होगा–मेरा प्रियवर सुदामा!" उनके प्रसन्न, मृदु मुस्कराते ही गुलाबी होंठों के पीछे छिपा दुहरा दाँत दमक उठा।

"मैं अभी होकर आता हूँ, महाराज्ञी! तुम दान-सत्र का काम पूरा करो।" कहते हुए वे उठकर अतिथि-कक्ष की ओर चल पड़े। नित्य की भाँति समीप ही खड़े देवरजी उनके पीछे-पीछे हो लिये।

दान-सत्र चलता ही रहा। वह समाप्त होने को ही था कि श्रीजी और देवरजी एक कृशगात

ब्राह्मण को दोनों ओर से हलके से थामे, सँभालकर कक्ष में लाते हुए दिखाई दिये। उसकी काया दुबली-पतली थी। सौराष्ट्री पहनावा, आधे-अधूरे पैर खुले रखनेवाली लाल किनारीवाली धोती, कानों को आच्छादित करनेवाला कनटोप, दोनों भौंहों के बीच ललाट पर और ऊँची गठन के गालों पर अंकित गोपीचन्दन का तिलक, हाथ में सूखी, टेढ़ी बिल्वयष्टि, कन्धे पर लटकती मटमैली थैली और बिना पदत्राणों के पैर–ऐसा भद्दा रूप था उसका। कैसा तो दिख रहा था यह विद्रूप स्वर्णनगरी द्वारिका के दान-कक्ष में? स्वर्णमुद्रिका के मोटे पुष्कराज पर बैठी काली-कलूटी मक्षिका की भाँति! हम सब अवाक् होकर, खाण्डववन-दहन की पृष्ठभूमि पर श्रीजी और देवरजी का यह अद्भुत विक्रम देखती ही रह गयीं। क्या कहें, मुझे तो कुछ सूझ ही नहीं रहा था।

दोनों भ्राताओं ने सँभालते हुए लाकर अपने मित्र को सीधे श्रीजी के स्वर्ण-आसन पर ही बिठा दिया। इससे तो वह ब्राह्मण डरा-डरा-सा दिख रहा था। आँखें विस्फारित करके वह सर्वत्र केवल टुकुर-टुकुर देख रहा था। अब तक तो यह समाचार पूरे राजप्रासाद में फैल गया था। जिसने भी सुना, कुतूहल से दान-सत्र के कक्ष की ओर दौड़ा चला आया। और जहाँ भी स्थान मिला, खड़ा रहकर इस अद्भुत दृश्य को देखने लगा।

श्रीजी ने अपने प्रिय मित्र को स्वर्ण-सिंहासन पर बिठाकर सुशील जी से कहा, "पूजा का स्वर्णथाल ले आइए–उसमें पारिजातक के पुष्प भी हों।" सुशील जी ने दौड़धूप करते हुए श्रीजी की आज्ञा का पालन किया। पूजा-सामग्री की छोटी-छोटी थालियों से सजा भव्य थाल सिंहासन के आगे रखी चौकी के समीप रखा गया। मन्त्रिपरिषद् के सभी मन्त्रिगण, दोनों सेनापति और कई दल-प्रमुख भी कक्ष में एकत्र हो गये। अपने भ्राता गद, सारण, पत्नी रेवतीदेवी और पुत्र निशठ, उल्मुक तथा विपुल के साथ बलराम भैया भी वहाँ आ धमके। उनके पीछे-पीछे गुरुपत्नी और पुत्र दत्त सहित आचार्य सान्दीपनि भी आ गये। अन्त में हम सबके पूज्य तात वसुदेव और दोनों माताओं को आते देख वहाँ उपस्थित यादवों की भीड़ ने अपने-आप उनके लिए मार्ग खुला कर दिया।

अपने आसपास क्या हो रहा है, कौन-कौन एकत्र हो गये हैं, इस ओर श्रीजी का तनिक भी ध्यान नहीं था। वे स्वयं को भूलकर 'स्नेहयोग' के कर्म में मग्न हो गये थे। सिंहासन के आगे रखी चौकी पर एक स्वर्णथाल रखकर श्रीजी ने अपने परमप्रिय मित्र से अपने धूलसने पैर उस थाल में रखने की विनती की। प्रासाद के देवगृह में रखे सप्त नदियों के पवित्र जल-कुम्भों में से गंगा-जल का कुम्भ श्रीजी ने मँगा लिया। वह पवित्र जल उन्होंने अभिषेक-धारा की भाँति अपने प्रिय मित्र के चरणों पर उँड़ेल दिया। अपने पैरों की ही भाँति उसके पाँव स्वच्छ धोये! अपने झलमलाते पीताम्बर के झूलते निचले छोर से उन पैरों को हलके से पोंछ दिया। उन पर चन्दन-तिलक लगाया। हल्दी-कुंकुम और पारिजात-पुष्पों की अँजुली अर्पित की। श्वेत कमल और कुन्द-पुष्पों की माला अपने मित्र के गले में डालकर श्रीजी ने ऐसी स्नेहार्द्र दृष्टि से उसकी ओर देखा कि उसका अन्त:करण गद्‌गद हो उठा। उसकी आँखें भर आयीं और सम्मुख खड़े श्रीजी की आकृति उसे धुँधली-सी दिखाई देने लगी। उसके कृश कन्धों को थामकर ऊपर उठाते हुए श्रीजी ने आवेग से उसे दृढ़ आलिंगन में ले लिया। उसके वक्ष पर झूलती माला श्रीजी के वक्ष पर शोभित वैजयन्तीमाला से मिल गयी। दोनों मित्र-हृदय एक-दूसरे से मिल गये। मौन रहकर ही 'स्नेहयोग' के काण्ड, पर्व रच गये। 'प्रेमयोग' की ऋचाएँ ही साकार हो उठीं। अन्तत: श्रीजी ने पूजा के थाल से स्वर्ण-पात्र उठाकर अपने मित्र की दाहिनी हथेली की अँजुली में तीन बार पवित्र गंगा-जल प्रदान

किया, जिसे गद्‌गद मन से उसने ग्रहण किया। थाल में रखा कटोरा उठाकर श्रीजी ने उसमें से केसर-मिश्रित मधुर इन्नर का प्रसाद अपने हाथ से उसे खिलाया।

मुख में घुल रहे प्रसाद के अविस्मरणीय मधुर स्वाद के साथ-साथ मित्र की आँखों से अविरत आत्म-रस अश्रुरूप मे रिसने लगा।

“मित्र सुदामाऽ, मेरी ओर देखो! आओ–मेरे गले लग जाओ मित्र!” कहकर द्वारिकाधीश ने अपनी भुजाएँ फैला दीं। और उनका परमप्रिय मित्र–वह दरिद्री ब्राह्मण भी अपने बाहुओं को फैलाते हुए उनसे लिपट गया। पूरा कक्ष इस दृश्य को देखकर गद्‌गद हो उठा। जिस तरह पश्चिमी पवन के तीव्र झोंकों से आकाश में जमा हुए कृष्णमेघ इधर-उधर छितर जाते हैं, उसी प्रकार श्रीजी के परमप्रिय मित्र के प्रथम दर्शन के साथ मन में उसके विषय में उठे घृणा के विचार अब चम्पत हो गये। उस अपराध-बोध के लिए भी अब मेरे मन का कोई भी कोना रिक्त नहीं रहा। मेरा मन भी सुदामा के प्रति प्रेम से लबालब भर आया था। यह सब भावनामय सम्मोहक चमत्कार श्रीजी का ही तो था।

अपने मित्र को आलिंगन से मुक्त करने के पश्चात् कुछ सँभलकर स्वामी ने सर्वप्रथम मेरी ओर देखा। उनकी आँखों की मौन भाषा से अब मैं पूर्णत: अवगत हो चुकी थी। मैं झट से अग्रसर हुई। सुदामा जी को आसन पर बिठाकर मैंने उनसे चौकी पर रखे थाल में पैर रखने की विनती की। मैंने भी दूर से आये अपने इस सम्पन्न-हृदय देवरजी की श्रीजी की ही भाँति पूजा की। मेरे पीछे-पीछे श्रीजी की अन्य सात पत्नियों ने भी क्रमानुसार देवरजी का चरण-पूजन किया।

श्रीजी ने पुन: अपने मित्र को आसन पर बिठाकर बड़े प्रेम से पूछा, “मित्र सुदामा, कब से देख रहा हूँ, तुम कुछ बोल नहीं रहे हो! बार-बार तुम्हारा हाथ उस थैली को टटोल रहा है, ऐसा क्या है उसमें?”

“और क्या होगा?” बुदबुदाते हुए सुदामा जी ने भरे अन्त:करण से अपनी थैली में हाथ डाल दिया। वहाँ उपस्थित सभी यादव स्त्री-पुरुषों की उत्कण्ठा चरमसीमा को पहुँच गयी थी। सभी की आँखें उसी थैली पर गड़ी हुई थीं। सुदामा जी ने थैली से दो चन्दनी खड़ाऊँ बाहर निकाली और इस भाव से उनकी ओर देखते रहे, जैसे त्रिलोक का राज्य अपने हाथ में हो। उन खड़ाउँओं को उन्होंने बड़े प्रेमादर से अपने ललाट पर लगे गोपीचन्दन के तिलक से लगाया।

श्रीजी और देवरजी सुदामा अंकपाद आश्रम में आचार्य सान्दीपनि के शिष्य रहे थे, यह मुझे ज्ञात था। मुझे लगा कि वे खड़ाऊँ आचार्यश्री की ही हैं। इस समय तो स्वयं आचार्यश्री कक्ष में उपस्थित थे। किन्तु सुदामा जी इतने भावमुग्ध हो गये थे कि आचार्यश्री को देख ही नहीं पाये थे। मेरे आगे आते ही उन्होंने वे खड़ाऊँ मेरे हाथ में थमा दीं। मैंने भी उन्हें आचार्यश्री की खड़ाऊँ मानकर माथे से लगाया और पुन: उनके हाथों में दे दिया। शरारत-भरी हँसी हँसते हुए श्रीजी यह सारा खेल केवल देख रहे थे। तभी सुदामा जी का ध्यान आचार्य दम्पती की ओर गया। और वे उन खड़ाउँओं सहित खिंचे-से आचार्यश्री की ओर दौड़ पड़े। उन्होंने अपना मस्तक आचार्यश्री के चरणों में रख दिया। झट से पीछे हटते हुए आचार्यश्री ने प्रथम उन खड़ाउँओं को उठाया और फिर सुदामा जी को हलके से ऊपर उठाया। क्षण-भर उनके कृश कन्धे थपथपाकर आचार्य सान्दीपनि ने उनके मस्तक पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया। सुदामा जी ने गुरुपत्नी के भी चरणस्पर्श किये। इतने में आचार्यश्री और श्रीजी की आँखें एक-दूसरे से मिलीं। हाथों में उठायी उन खड़ाउँओं को आचार्यश्री ने

क्षण-भर देखा। वे कुछ दुविधा में पड़े। फिर कुछ निश्चय कर उन्होंने सीधे वे खड़ाऊँ अपने माथे से लगाये।

यह देखकर मैं तो चकरा गयी। मेरी कुछ समझ में ही नहीं आ रहा था कि आखिर वे खड़ाऊँ हैं किसकी? मैं सोचती ही रह गयी। श्रीजी लपककर आचार्यश्री के पास गये। उनके हाथों से सुदामा जी की खड़ाउँओं को स्वामी ने अपने हाथों में ले लिया और उन खड़ाउँओं सहित अपना मस्तक आचार्य सान्दीपनि और गुरुपत्नी के चरणों में रख दिया। श्रीजी ने वे खड़ाऊँ पुन: सुदामा जी को सौंप दिये और सुदामा जी ने उन्हें सँभालकर अपनी थैली में रख दिया।

अब दोनों मित्रों ने मिलकर आदर सहित गुरुदेव को लाकर दान-सत्र के उस स्वर्ण-आसन पर बिठा दिया। उनका अनुसरण करती गुरुपत्नी मेरे आसन पर आसीन हो गयीं। आचार्य के दोनों परमशिष्य आमने-सामने गुरुचरणों में बैठ गये। इतने में बलराम भैया ने रेवती भाभी सहित आकर आचार्य को वन्दन किया और वे भी श्रीजी के समीप बैठ गये। रेवती भाभी मेरे पास चली आयीं। यादवों की भीड़ से अमात्य विपृथु तात वसुदेव और दोनों माताओं को आसन के पास ले आये। मेरी बहनों के रिक्त किये आसनों पर उनको बिठाया गया। उनको देखते ही बलराम भैया और श्रीजी वन्दन करने हेतु उठने लगे। परन्तु तात ने हस्त-निर्देश से ही उनको बैठ जाने का आदेश दिया। आदेश का आदर करते हुए वे दोनों बैठ गये। देर तक दूर खड़े देवरजी उद्धव आकर उनके समीप बैठ गये। अब सबकी आँखें केवल गुरुदेव सान्दीपनि पर गड़ गयीं। गुरुदेव ने आँखें मूँद ली थीं। वे भाव-समाधिस्थ हो गये थे। अब भी सुदामा जी का हाथ थैली की ओर ही जा रहा था।

गुरुदेव के मुख पर दृष्टि गड़ाये श्रीजी ने हाथ जोड़कर अत्यन्त आदर से कहा, "गुरुदेव, आपसे प्रार्थना है, अपने मौलिक उपदेश से हमारे कानों को कृतार्थ करें।" गुरुदेव की शुभ्र दाढ़ी हिली। सर्वत्र ऐसी शान्ति फैली हुई थी कि द्वीप द्वारिका के समुद्र का गर्जन स्पष्ट सुनाई दे रहा था। मुस्कराते हुए गुरुदेव ने बन्द आँखों से ही कहा, "कहता हूँ श्रीकृष्ण! पहले सुदामा को अपनी औपचारिकता का तो निर्वाह करने दें। सुदामा, अपनी थैली में लाये प्रेमोपहार को सबके सम्मुख, बिना किसी लज्जा के, नि:संकोच होकर अपने मित्र को दे दें।"

समूचा यादव-मण्डल अति उत्सुक हो गया। सभी की आँखें सुदामा जी की थैली की ओर लग गयीं। दो बार सुदामा जी का हाथ थैली में गया, परन्तु खाली ही बाहर आया। अन्तत: गुरुदेव ने कहा, "सुदामा, दरिद्रता में कोई दोष नहीं है,–मन की दरिद्रता अवश्य दोष है। दे दो सबके समक्ष अपनी स्नेह भेंट!" मेरे देवर सुदामा ने निश्चयपूर्वक अपनी थैली से मटमैले वस्त्र की एक पोटली बाहर निकाल ही ली। फिर काँपते हाथों से उन्होंने वह द्वारिकाधीश के गुलाबी करतल पर रख दी। श्रीजी ने हलके हाथों से उस पोटली को खोला–उसमें था सूखा चिवड़ा। मित्र को देने के लिए कुछ माँगने पर सुदामा जी की पत्नी द्वारा शीघ्रता में दी गयी भावपूर्ण भेंट थी वह! श्रीजी के पुष्कराज की भाँति तेजस्वी नेत्र उस सूखे चिवड़े को आनन्दविभोर होकर देखने लगे। सुदामा जी के इस कक्ष में प्रवेश के बाद अब तक तो श्रीजी के नेत्र सजल नहीं हुए थे, परन्तु इस अपूर्व स्नेहभेंट को देखकर उनके मत्स्यनेत्रों में पानी भर आया। श्रीजी ने प्रथम उस चिवड़े के दो दाने आचार्य के चरणों में अर्पित किये। फिर चटखारे भरते हुए दो दाने अपने मुख में डाल दिये। चिवड़े की वह पोटली श्रीजी ने मेरी ओर बढ़ायी। मैंने भी उसमें से दो दाने उठाकर मुख में डाल लिये। अपूर्व स्वाद था उनमें। श्रीजी ने उठकर बड़े प्रेम से वह स्नेहप्रसाद प्रथम तात वसुदेव, फिर दोनों

माता, बलराम भैया, रेवती दीदी और मेरी सातों बहनों में बाँट दिया। तत्पश्चात् बड़े उत्साह से सभी उपस्थितों में घूम-घूमकर उन्होंने वह प्रसाद बाँटा। पुन: आकर वे गुरुदेव के चरणों में बैठ गये। मैंने खड़े-खड़े ही उनके हाथ की वह पोटली देखी, अब भी वह भरी की भरी थी।

श्रीजी ने पुन: गुरुदेव से निवेदन किया, “अब अपने दिव्य उपदेशामृत का प्रसाद दीजिए, गुरुदेव!” वह पोटली हाथ में ही लिये हुए उन्होंने हाथ जोड़े।

आचार्य सान्दीपनि ने चुनिन्दा, अविस्मरणीय शब्दों में कहा, “हे द्वारिकावासी यादवजनो, आज का दिन द्वारिका के जीवन का स्वर्ण-दिवस है। श्रीकृष्ण और सुदामा–दोनों परममित्र मेरे परमशिष्य हैं। कभी मैंने उनसे जो कहा था, वह आज मैं आपसे कह रहा हूँ। अहंकार–वह सत्ता का हो या सम्पत्ति, सौन्दर्य, सामर्थ्य, ज्ञान का हो, जीव की वह प्रचण्ड हानि करता है–उसे वह तनिक भी आगे नहीं बढ़ने देता। सामर्थ्य, सत्ता, सम्पत्ति का अहंकार तो बुरा होता ही है, किन्तु सबसे बुरा होता है ज्ञान का अहंकार।

“श्रीकृष्ण और सुदामा–अपने इन दोनों शिष्यों पर मुझे बड़ा अभिमान है। जीवन का अर्थ है स्नेह। उसका आप जीवन-भर ध्यान रखें और उसे बाँटें–सुदामा के लाये और श्रीकृष्ण द्वारा बाँटी गयी स्नेहभेंट की भाँति! इति...अर्पणमस्तु!”

यद्यपि अन्तिम शब्दों का अस्पष्ट-सा उच्चारण उन्होंने किया–मुझे लगा उन्होंने ‘श्रीकृष्णाय अर्पणमस्तु’ कहा हो!

सुदामा जी सप्ताह-भर द्वारिका में निवास करके, अपने मित्र के साथ जी भर-भरकर बातें करके अपने गाँव चले गये। तत्पश्चात् शीघ्र ही श्रीजी ने अमात्य विपृथु को अपने कक्ष में बुला लिया। देर तक वे अमात्य को सूचनाएँ देते रहे। मैं जब वहाँ पहुँची, उनके अन्तिम शब्द ही मुझे सुनाई दिये–“इसकी पूर्ति होते ही डंका पिटवाकर उस नगरी का नाम ‘सुदामापुरी’ घोषित करवाइए। द्वारिका-शासन की ओर से यह घोषणा की जाए। मैंने भाँप लिया–इन्द्रप्रस्थ की भाँति सुदामा जी की नगरी का नवनिर्माण हो रहा है। इसी तरह एक दिन–किसी विशेष अतिथि के आगमन की सूचना हेतु बजाया जानेवाला डंका शुद्धाक्ष महाद्वार पर सहसा बजने लगा। मैं मूल द्वारिका में ही थी। मेरी सातों बहनें अब प्रसंग विशेष पर ही द्वारिका आती थीं। वे अब अपने-अपने बच्चों में मग्न हो गयी थीं। किन्तु महाराज्ञी के दायित्व के कारण मुझे तो रनिवास के द्वीप से बार-बार मूल द्वारिका आना पड़ता था। डंके की ध्वनि सुनकर और कुछ सन्देश पाकर श्रीजी को अपने कक्ष से बाहर जाते हुए मैंने देखा। विशेष अतिथि के स्वागत का सन्देश मुझे भिजवाकर वे सशस्त्र सैनिकों सहित शीघ्र ही शुद्धाक्ष महाद्वार की ओर चले भी गये। जाते-जाते उन्होंने अमात्य, दोनों सेनापति और अन्य दल-प्रमुखों के लिए कुछ आदेश भी दिये। मैं सोचती रही, ऐसा कौन विशेष व्यक्ति आ रहा है, जिसके स्वागत हेतु स्वयं द्वारिकाधीश जा रहे हैं? रेवती दीदी के साथ जब मैं शुद्धाक्ष पर पहुँच गयी, तब तो और भी चकित रह गयी। सभी वहाँ किसी की प्रतीक्षा कर रहे थे। बलराम भैया, देवरजी उद्धव, अमात्य विपृथु, दोनों सेनापति, महाराज वसुदेव, दोनों माता, गर्ग मुनि और स्वयं आचार्य सान्दीपनि भी वहाँ उपस्थित थे। विशेष बात यह थी कि गुरुपत्नी भी अपने पुत्र दत्त के साथ वहाँ उपस्थित थीं। सुधर्मा राजसभा में भी इकट्ठा न होनेवाले उस यादव-समूह को देखकर मेरी उत्सुकता और भी बढ़ गयी–कौन आ रहा है? किसका स्वागत हो रहा है यह? कुछ समझ में नहीं आ रहा था।

कुछ देर की प्रतीक्षा के पश्चात् द्वारिका के नौदल-प्रमुख ने पुष्पमालाओं से सजी, ध्वज-पताकाओं से मण्डित एक भव्य नौका को धीरे से शुद्धाक्ष के प्राकार से लगा दिया। उसमें से एक शुभ्र दाढ़ी-जटाधारी, शुभ्र-धवल वस्त्र धारण किये, ऊँचे से तेजस्वी वृद्ध पुरुष ने द्वारिका की भूमि पर पाँव रखा। होंठों को ढँकनेवाले शुभ्र वस्त्र की पट्टी को उन्होंने कानों पर से लेकर ग्रीवा के पीछे उसकी गाँठ बाँध रखी थी। उनके पाँव द्वारिका की भूमि से लगते ही श्रीजी परमपूज्य आचार्य सान्दीपनि के साथ तत्परता से अग्रसर हुए। दोनों आचार्य मनःपूर्वक एक-दूसरे के गले मिले। स्वागत-कक्ष से कई शंखों और वाद्यों की सम्मिश्र ध्वनि उठी। अनगिनत द्वारिकावासी नर-नारियों के आँखों के समक्ष श्रीजी ने घुटने टेककर अपना विमल मस्तक ऋषिवर के, समूचे आर्यावर्त में घूमनेवाले विमल चरणों में रख दिया। उस मस्तक का स्पर्श हो ही रहा था कि ऋषिवर ने झट से झुकते हुए 'यह क्या हृषीकेश!' कहते हुए श्रीजी के कन्धे थामकर उन्हें ऊपर उठाया और आवेग से अपने वक्ष से लगा लिया। आसपास के द्वारिकावासियों के मुख से जयघोष उठा—"द्वारिकाधीऽश वसुदेवपुत्र वाऽसुदेऽव श्रीकृष्ण महाराज की ऽ जय होऽऽ...जय होऽऽ!...ऋषिवर घोर-आंगिरस की ऽ जऽय...की ऽ जऽय...!

तो ये ऋषिवर घोर-आंगिरस थे! आचार्य सान्दीपनि के मुख से आज तक मैंने उनके विषय में बहुत-कुछ सुना था। मैंने भी अग्रसर होते हुए, नतमस्तक होकर नम्रतापूर्वक उनको प्रणाम किया। उन्होंने केवल मुझे और श्रीजी को ही सुनाई दे सके, ऐसी धीमी आवाज में कहा, "तुम धन्य हो विदर्भकन्या। तुम तो साक्षात् लक्ष्मी हो। तुम्हें आशीर्वाद देने की मेरी योग्यता नहीं है। शुभं भवतु!"

आचार्य सान्दीपनि से सुनी ऋषिवर घोर-आंगिरस की जीवन-गाथा विस्मित कर देनेवाली थी।

वे मूलतः हमारे शूरसेन राज्य के मथुरावासी यादव ही थे। वे श्रीजी के दूर के सम्बन्धी थे। युवावस्था में ही विरक्त होकर वे घर-परिवार को छोड़कर हिमालय में चले गये थे। विख्यात ऋषि अंगिरस के चरणों में लीन हो गये थे। उनका शिष्यत्व स्वीकार कर इस युवा यादव ने घोर तपस्या की थी। उनकी कठोर परीक्षा लेने के पश्चात् ही ऋषिवर अंगिरस ने उनको अपने ऋषिकुल के आश्रमों का उत्तरदायित्व सौंपा था। अपने गुरु के पश्चात् उन्होंने अंगिरस कुल के आश्रम की शाखाएँ आर्यावर्त में भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थापित की थीं। प्रयाग के समीप उनका प्रमुख आश्रम था। कुछ हिमालय में और आर्यावर्त में अन्यत्र भी उनकी आश्रम-शाखाएँ फैल गयी थीं। सम्प्रति वे उनके पूर्ववर्ती दार्शनिक ऋषभनाथ के अहिंसा, अपरिग्रह, सर्वसंगपरित्याग के विचारों से अभिभूत हो गए थे। उन्होंने काषाय वस्त्रों को त्यागकर शुभ्र वस्त्रों को स्वीकार किया था। उनके शिष्यगण उनको घोर-आंगिरस और अरिष्टनेमी—दोनों नामों से सम्बोधित किया करते थे।

ऋषिवर घोर-आंगिरस की द्वारिका में अलंकारों से सजाये स्वर्णरथ में बड़ी धूमधाम से शोभायात्रा निकाली गयी। द्वारिकावासी नर-नारियों ने पुष्पों की बौछार करते हुए उनका भव्य स्वागत किया। ऋषिवर का पूरे एक मास तक द्वारिका में निवास रहा। श्रीजी ने अपने सोपान के समीप के कक्ष में ही उनके रहने का प्रबन्ध किया था। स्वयं श्रीजी, देवरजी, रेवती दीदी, बलराम भैया, मैं और सुभद्रा उनकी सेवा में रहते थे। रनिवास के द्वीप से आकर मेरी सातों बहनें उनके दर्शन करके आशीर्वाद प्राप्त कर चुकी थीं। श्रीजी के कक्ष में ऋषिवर और श्रीजी की घण्टों चर्चा चलती थी। ऋषिवर महान ब्रह्मज्ञानी थे। तभी तो अनेक विषयों पर प्रश्नों की झड़ी लगाकर श्रीजी

ऋषिवर को विस्मय में डाल देते थे। यदि आचार्य सान्दीपनि भी उस समय वहाँ उपस्थित हों, तो श्रीजी और भी आवेश में आ जाते थे। इस चर्चा-सत्र की आदि से अन्त तक पूरी जानकारी मुझे देवरजी से मिलती थी। कभी नीतिशास्त्र, कभी राजनीति तो कभी युद्धनीति के विषय में श्रीजी ऋषिवर से कुछ चुने हुए प्रश्न पूछा करते थे। उनके उत्तर भी वे तन्मय, एकाग्र होकर सुना करते थे। चर्चा किसी भी शास्त्र के विषय में हो, श्रीजी उनको ब्रह्मज्ञान के घने अरण्य में ले जाया करते थे। पहले-पहल आचार्य सान्दीपनि और देवरजी भी इस चर्चा में भाग लिया करते थे। परन्तु आगे चलकर दोनों केवल श्रवणभक्ति करने लगे। जब कभी वे श्रीजी के मर्मस्पर्शी प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाते थे, तब ऋषिवर दोनों कानों की लोलकी अँगुलियों से पकड़कर, आँखें मूँदकर भावावस्था में चले जाते थे। घोर-आंगिरस के द्वारिका के निवास-काल में श्रीजी ने द्वारिका के राज-काज में तनिक भी ध्यान नहीं दिया, न द्वारिका छोड़कर भ्रमण हेतु वे कहीं गये। अपनी सभी पत्नियों और पुत्रों को मूल द्वारिका बुलवाकर श्रीजी ने उनको ऋषिवर का दर्शन तो करवाया ही था, यही नहीं बीच-बीच में वे ऋषिवर सहित रनिवास के द्वीप पर आया करते थे। कभी भामा, कभी जाम्बवती, कभी मित्रविन्दा तो कभी भद्रा के भवन में–सभी श्री-पत्नियों के यहाँ ऋषिवर के लिए सम्मान-भोज आयोजित किये गये थे। बलराम भैया के प्रासाद में भी उनके लिए सम्मान-भोज कराया गया था। उसका पूरा प्रबन्ध रेवती दीदी और सुभद्रा ने किया था। श्रीजी के पुत्र ऋषिवर से नाना प्रश्न किया करते थे और ऋषिवर भी बालकों में बालक बनकर, मुस्कराते हुए उन प्रश्नों के उत्तर दिया करते थे। एक बार मेरी पुत्री चारु ने उनसे ऐसा प्रश्न किया कि इतने बड़े ब्रह्मज्ञानी ऋषिवर भी निरुत्तर रह गये। उसने पूछा, "गुरुदेव, आप तो हम यादवों में से ही हैं, तो एक बात बताइए, यदि जरासन्ध आपके आश्रमों को सत्रह बार ध्वस्त कर दे, तो क्या दण्ड देंगे आप उसको?"

उस अप्रत्याशित प्रश्न का उनके पास कोई उत्तर नहीं था। वे मौन ही रह गये। तब चारु ने ही उत्तर दिया–"यह तो नितान्त सरल है, क्यों न उसका वध ही कर डालें!"

उनकी यह बात सुनते ही श्रीजी उस समय गम्भीर हो गये थे। ऋषिवर आंगिरस के निवास-काल में विशेष बात यह हुई कि रेवती दीदी के पिता, रैवतक के महाराज ककुद्मिन केवल ऋषिवर के दर्शन हेतु दो-तीन बाद द्वारिका आये थे। श्रीजी और देवरजी की अनुपस्थिति में ऋषिवर उनसे घण्टों बातें किया करते थे। सेविकाओं द्वारा उनको दुग्ध और फलाहार देते समय उनकी जो चर्चा सुनाई पड़ती थी, बड़ी प्रभावशाली, अर्थपूर्ण हुआ करती थी।

महाराज ककुद्मिन अश्वमेध यज्ञ, दिग्विजय, युद्धशास्त्र आदि विषयों पर तन्मय होकर बातें करते थे। वे आग्रहपूर्वक कहते थे–वीरगति को प्राप्त होना ही क्षत्रिय की मुक्ति है। ऋषिवर घोर-आंगिरस उनका कहना शान्ति से सुनते थे और धीरे-धीरे, मधुर शब्दों में उन्हें समझाते थे कि अहिंसा, अपरिग्रह, सर्वसंगपरित्याग और शान्ति ही वास्तव में मुक्ति के तत्त्व हैं।

महाराज ककुद्मिन आग्रहपूर्वक ऋषिवर से नम्र प्रार्थना करते थे कि अपनी पावन चरणधूलि से वे रैवतक राज्य को पवित्र करें। तब उचित समय पर रैवतक पर आने का आश्वासन देकर मुस्कराते हुए ऋषिवर उनको विदा देते थे।

उनकी चर्चा से श्रीजी भी प्रभावित हो जाते थे। ऋषिवर का शिष्यत्वं पाने के लिए ही श्रीजी ने आग्रहपूर्वक उनको द्वारिका आमन्त्रित किया था। आचार्य सान्दीपनि और गर्ग मुनि की उपस्थिति में श्रीजी ने ऋषिवर के सम्मुख इस विषय को प्रस्तुत भी किया था। हाथ जोड़कर, नतमस्तक

होकर, विनयपूर्वक उन्होंने ऋषिवर से कहा, "हे भगवन्, आधे से भी अधिक जीवन तो निष्ठापूर्वक क्षत्रिय-कर्मों को पूरा करने में ही बीत गया। अब लगता है, मुझे प्राप्त दिव्य सुदर्शन सुयोग्य चरणों में अर्पित करके, उन्हीं चरणों में बैठकर, जीवन के अन्तिम, शाश्वत अर्थ को खोजूँ। मेरी आपसे नम्र प्रार्थना है कि कृपालु होकर आप मुझे अपना शिष्य स्वीकार करें।" बालक की भाँति खिलखिलाकर हँसते हुए घोर-आंगिरस ने कहा, "जीवन का अन्तिम शाश्वत अर्थ? हे अच्युत, यह सब मैं बताऊँ? और वह भी तुम्हें? लगता है, तुम्हारा गोकुल का नटखटपन अभी गया नहीं! तुम कहते हो तो तुम्हारा गुरुपद स्वीकार कर भी लूँगा। किन्तु इस समय नहीं, फिर कभी–उचित समय पर!" आखिर वे भी तो हिमालय में घोर तपस्या किये, उसी की ऊँचाई तक पहुँचे जीवनमुक्त तपस्वी थे।

एक यादव-कुलीन व्यक्ति अपनी नैष्ठिक तपस्या से किस ऊँचाई पर पहुँच सकता है, इसके बारे में द्वारिकावासी यादवों को भी जानकारी मिले, इसीलिए श्रीजी ने भरी राजसभा में आचार्य घोर-आंगिरस का वैभवशाली सम्मान, गौरव करवाया।

किसको क्या अच्छा लगेगा, प्रिय लगेगा, यह जानने-समझने की कला श्रीजी के भीतर जन्मजात थी। खचाखच भरी सुधर्मा सभा में आचार्य घोर-आंगिरस के सम्मान-समारोह में श्रीजी ने उनको तात वसुदेव के हाथों शुभ्र, मृदु वस्त्र और श्वेत अनन्त पुष्पों की पुरुष-भर लम्बी, सघन माला अर्पित की। फिर उन्होंने युवराज बलराम भैया द्वारा आचार्यश्री के चारों दिशाओं में फैले आश्रमों के लिए दुधारू गायें, धान्य की बोरियाँ और आश्रमों की रक्षा के लिए सशस्त्र सैनिक तथा चपल श्वान-दल भिजवाने की घोषणा करवायी। विशेष बात यह थी कि आचार्य घोर-आंगिरस का शिष्यत्व स्वीकार करने की अपनी इच्छा श्रीजी ने यादवों के भरे सभागृह में स्पष्ट रूप से प्रकट की।

वास्तव में श्रीजी सम्भाषण-चतुर थे। इस कला में कोई उनसे प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता था। सुधर्मा राजसभा में प्रत्येक प्रसंग विशेष पर उनका वक्तव्य मेरे मन में पत्थर पर लकीर की तरह उकेरा हुआ था। लेकिन उस दिन आचार्य घोर-आंगिरस के सम्मान में उन्होंने जो कुछ कहा, वह केवल अनुपम था।

उन्होंने जो कहा उसका सारांश था–"जैसे दिवस और रात्रि प्रकृति के शाश्वत रूप हैं, वैसे ही विक्रम और वैराग्य भी जीवन के शाश्वत तत्त्व हैं। यादवकुल में जन्मे आचार्य घोर-आंगिरस ने कभी आपकी ही भाँति शस्त्र धारण करके पराक्रम किया था। आज उसी पराक्रम पर वैराग्य के शुभ्र-धवल वस्त्र ओढ़कर वे हम सबसे मिलने द्वारिका आये हैं। मैं आप सबके समक्ष अपनी इच्छा प्रकट करता हूँ, आचार्यश्री अपना शिष्यत्व प्रदान करके मुझे उपकृत करें।"

स्थितिप्रज्ञ जीवन से भी परे हो चुके आचार्य घोर-आंगिरस भी श्रीजी की इस नम्र भावना से गद्गद हो उठे। उनके इस निवेदन का उत्तर देते हुए, अपने आचार्य पद और शुभ्र-धवल वस्त्रों को भुलाते हुए उन्होंने यादवों जैसे सीधे-सरल शब्दों में कहा, "मेरे प्रिय यादव बान्धवो, मैं तो आपका ही हूँ। आप सबका अनन्त जन्मों का पुण्य है, जो आपको श्रीकृष्ण जैसा अलौकिक, अद्वितीय मार्गदर्शक प्राप्त हुआ है। उसने वृष्णि कुल के भीमसात्वत, वृष्णि, अनमित्र, देवमीढ़ुष, शूर और वसुदेव जैसे वीर पूर्वजों के श्रेयस सहित जन्म लिया है। अन्धक कुल के सात्वत, अन्धक, महाभोज और भजमान का उत्तराधिकार भी उसने पाया है। मैं मनःपूर्वक आपसे कहना चाहता हूँ

कि कभी भी उसके वचन की अवहेलना मत कीजिए। ऐसा करना आपके लिए बड़ा ही हानिकारक होगा। आप सबके समक्ष वह मुझसे अपना शिष्य बनने का आग्रह कर रहा है। अत: उसी की कृपा से मैं स्पष्ट कह रहा हूँ कि यद्यपि आयु में मैं उससे बड़ा हूँ, किन्तु उसको शिष्यत्व प्रदान करने का अधिकार अब तक तो मुझे प्राप्त नहीं हुआ है। उचित समय पर उसी की इच्छा से, यह कार्य मैं अवश्य करूँगा।...शुभं भवतु।"

श्रीजी सहित सभी को अपने चले जाने की व्यथा में डालकर, द्वारिका से विदा लेकर आचार्य घोर-आंगिरस उत्तर दिशा की ओर चले गये। उनके आने से द्वारिका के सभी जनों में चैतन्य की एक लहर-सी आ गयी थी। शीघ्रकोपी यादवों को उन्होंने अपने आचरण से समग्र जीवन के बारे में नये सिरे से विचार करने पर विवश किया था। श्रीजी की ओर देखने की एक नयी दृष्टि ही उन्होंने बहुतों को दी थी। ऋषिवर के चले जाने के एक मास पश्चात् भी द्वारिका में उनके विषय में चर्चा चलती रही थी।

इसी प्रकार एक दिन पुन: एक बार शुद्धाक्ष महाद्वार पर डंका बजने लगा, जैसे ऋषिवर घोर-आंगिरस के स्वागत में बज उठा था। क्षण-भर के लिए तो द्वारिकावासियों को लगा–कहीं द्वारिकाधीश के मोहक प्रेमयोग से अभिभूत हुए ऋषिवर घोर-आंगिरस ही तो नहीं लौट आये! किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं था। जानकारी मिली कि हम सब– मैं, रेवती दीदी, तात वसुदेव, बड़ी और छोटी माँ–आज तक जिसकी केवल कीर्ति ही सुनते आये थे, वह पाण्डवश्रेष्ठ धनंजय अर्जुन ही आज पहली बार धौम्य मुनि के साथ द्वारिका में प्रवेश कर रहा था। अजेय गाण्डीव धनुष धारण किये हुए वह एक भव्य नौका से द्वारिका आया था। गाण्डीव धनुष के साथ-साथ सुघड़-सन्तुलित, अलंकारों से सुशोभित नन्दिघोष रथ भी वह ले आया था। उसके रथ में भी चार ही दुग्धवर्णी, शुभ्र-धवल और पुष्ट अश्व जुते हुए थे। रथ-ध्वज पर उड़ान भरनेवाले कपि की आकृति अंकित थी। उसके आने का समाचार पवन गति से समूची द्वारिका में फैल गया। उसके दर्शन हेतु द्वारिकावासियों के झुण्ड-के झुण्ड कोलाहल करते हुए शुद्धाक्ष महाद्वार पर इकट्ठे हो गये। उस भीड़ से मार्ग बनाते हुए हमारे अमात्य विपृथु, अर्जुन के सारथि और चुने हुए सैनिक उसको राजप्रासाद तक ले आये। विशेष बात यह थी कि स्वामी जिस तरह ऋषिवर घोर-आंगिरस के स्वागत के लिए तत्परता से राजप्रासाद से निकले थे, वैसे ही वे अब भी निकले थे। किन्तु धनंजय ने उनको अवसर ही नहीं दिया। जैसे साधन संकल्प की ओर स्वयं चला आए, उसी प्रकार अर्जुन श्रीजी के चरणों में उपस्थित हो गया। मैं भी उसको देखने हेतु सेविकाओं सहित शीघ्रता से श्रीजी के कक्ष में चली आयी। वीरासन लगाये, श्रीजी के चरणों में बैठे अर्जुन को देखकर मैं तो सम्भ्रम में पड़ गयी। क्षण-भर मुझे लगा श्रीजी ही वीरासन लगाये बैठे हैं! एक-दूसरे के आलिंगन में बँधे श्रीजी और अर्जुन को देखते हुए मैं निर्णय ही नहीं कर पा रही थी कि उनमें कौन अर्जुन है और कौन श्रीजी?

मुझे देखते ही अर्जुन श्रीजी के आलिंगन से निकलकर, लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ चरणस्पर्श करने हेतु मेरी ओर आने लगा। उन दोनों को पहचानने का अचूक उपाय उसी क्षण मुझे मिल गया। मैं प्रसन्न और निश्चिन्त हो गयी।

विशाल वक्षवाला, लम्बा-सा अर्जुन मेरी ही ओर आ रहा था। उसकी चाल एक योद्धा की चाल थी–जिसमें अपनी सुगठित शरीर-सम्पदा का पूरा भान था। मेरे श्रीजी भी योद्धा थे। वे शार्ङ्ग धनुष

धारण करनेवाले धनुर्धर थे, कौमोदकी गदा धारण करनेवाले गदाधर थे, नन्दक खड्ग चलानेवाले खड्गवीर थे और सुदर्शन को धारण करनेवाले चक्रधर थे, फिर भी श्रीजी की चाल में योद्धा की अकड़ मैंने कभी नहीं देखी थी। उनकी चाल पवन-झकोरे की भाँति सहज थी, वेणु के आलाप की भाँति आह्लादक थी।

पाण्डुपुत्र धनंजय अविलम्ब मेरे सम्मुख आ ही गया। मेरे चरणों में मस्तक रखते हुए उसने कहा, "सीढ़ियाँ चढ़ने का कष्ट आपने क्यों किया? मैं तो आनेवाला ही था आपके पास।" मैं मुस्करायी। उसको लगा कि मैं उसकी विनम्रता से प्रसन्न होकर मुस्करा रही हूँ। किन्तु अर्जुन का कण्ठ-स्वर सुनकर मुझे इस बात पर हँसी आयी थी कि श्रीजी और अर्जुन में अन्तर करने का एक और मार्ग मुझे मिल गया था। अर्जुन का कण्ठ-स्वर था पाषाण से टकरानेवाले बाण की भाँति तीव्र और खनखनाता और श्रीजी का कण्ठ-स्वर था वेणुनाद के समान मधुर, मोहक। ओलती से गिरते जल के संगीत की भाँति लयबद्ध–कितना भी सुनो, सुनते ही रहने को जी करता है।

पाण्डुपुत्र अर्जुन अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के लिए समस्त यादवों को आमन्त्रित करने हेतु द्वारिका आया था। सुधर्मा सभा में वह धौम्य मुनि सहित तात वसुदेव और बड़ी माँ के समक्ष उपस्थित हो गया। यदि स्वयं युधिष्ठिर आ जाता तो जिस प्रकार व्यवहार करता, उसी प्रकार अर्जुन का व्यवहार था। घुटने टेककर उसने निमन्त्रण का भूर्जपत्र महाराज-महाराज्ञी के चरणों में रख दिया। सामान्यत: खनखनाते शब्दों में बोलनेवाला अर्जुन आमन्त्रण देते समय अपने ज्येष्ठ भ्राता की भाँति नम्र-मृदुता से बोला, "महाराज! आप दोनों, युवराज-युवराज्ञी, भ्राता श्रीकृष्ण–रुक्मिणी भाभी, भ्राता उद्धव और पूरे परिवार सहित मेरे वन्दनीय ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर के राज्याभिषेक समारोह में अवश्य ही इन्द्रप्रस्थ पधारें।"

अर्जुन की नम्रता से अभिभूत तात वसुदेव ने सिंहासन से उठकर उसे वक्ष से लगा लिया और पूछा, "पुत्र पार्थ, तुम्हारी माता–हमारी बहन कैसी है?"

अर्जुन केवल धनुर्धर ही नहीं, चतुर भी था। उसने कहा, "उनसे मिलने के लिए तो आप अवश्य इन्द्रप्रस्थ पधारें। वे कुशलपूर्वक हैं।"

पाण्डुपुत्र अर्जुन का ज्यों-का-त्यों श्रीजी सदृश दिखना, बोलना, व्यवहार करना इन सब बातों से सुधर्मा सभा में उपस्थित मन्त्रिपरिषद् के सदस्य, सभी दल-प्रमुख और खचाखच भरे यादव नर-नारी, सभी अभिभूत हो गये, विस्मित हो गये। उन्होंने अर्जुन का अविरत जयघोष किया। उस जयघोष की लहरों से कम्पित होते पट के पीछे राजस्त्रियों के कक्ष में बैठी एक यादव युवती केवल अभिभूत ही नहीं हुई थी, बल्कि चौंधिया गयी थी। महीन, पारदर्शी पट में से भी उसको सभागृह में उपस्थित ऊँचा पाण्डुपुत्र स्पष्ट दिखाई दिया–और भा भी गया। मन-ही-मन उसने तो पाण्डुपुत्र का वरण ही कर लिया। वह थी श्रीजी और बड़े भैया की लाडली बहन–सुभद्रा। मेरी प्रिय भद्रा। जाने क्यों, उसने कभी भी मुझे भाभी नहीं कहा–सदैव सुश्री कहती थी। मुझे भी उसका वह कहना बहुत अच्छा लगता। मैं भी अनजाने में उसको भद्रा कहने लगी।

अर्जुन एक सप्ताह तक द्वारिका में रहा। इस कालावधि में द्वारिकावासियों ने द्वारिका के शाङ्ग चौक में धनुर्विद्या के अभ्यास की क्रीड़ा-भूमि पर गाण्डीव धनुष द्वारा अर्जुन के दिखाए गये धनुर्विद्या के चौंधिया देनेवाले कई चमत्कार देखे। सभी ज्येष्ठ यादव भी वहाँ उपस्थित थे। उस समय अपने समीप बैठी सुभद्रा की अर्जुन का कौशल देखते-देखते होनेवाली प्रतिक्रिया देखकर

मैं मन-ही-मन मुस्करायी थी। सुभद्रा को तो सुधि ही नहीं थी कि वह दर्शकों के स्त्री-कक्ष में बैठी है। वहाँ बैठी सभी स्त्रियों की अर्जुन के धनुष से निकले बाण पर लगी दृष्टि, उस बाण से भी अधिक गति से, चीत्कार करती सुभद्रा की ओर मुड़ती थी। हमारी सुभद्रा स्फटिक की भाँति निर्मल मन की, सौन्दर्य पुंज और सबकी प्रिय थी। किन्तु उसके विषय में बलराम भैया का क्या विचार है, यह किसी ने भी नहीं सोचा था।...

द्वारिका में ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के लिए निकलने की धूमधाम शुरू हुई। श्रीजी के निर्देशानुसार रथ, वृषभ-रथ, उष्ट्र-रथ आदि वाहनों द्वारा द्वारिकावासी नर-नारियों की टोलियाँ इन्द्रप्रस्थ की ओर प्रस्थान करने लगीं। सभी यादवों को पाण्डव-माता कुन्तीदेवी और पराक्रमी पाण्डवों से अत्यन्त प्रेम था। समय-समय पर श्रीजी ने अपनी मधुर वाणी से पाण्डवों का जो गुणगान किया था, उसी से यह प्रेम पनपा था। यादव और पाण्डव अब दो नहीं रहे थे। इन्द्रप्रस्थ में एक शक्तिशाली केन्द्र खड़ा करने की अपनी कल्पना श्रीजी ने मुझे कई बार बतायी थी। उनके इस संकल्प के पूरा होने में मुझे तनिक भी सन्देह नहीं था। सबसे पहले अपने पुत्र दत्त और पत्नी सहित आचार्य सान्दीपनि और गर्ग मुनि शिष्यगणों को साथ लेकर इन्द्रप्रस्थ की ओर मार्गस्थ हो गये। तत्पश्चात् राजसभा के चुनिन्दा मन्त्रिगण और सहस्रों यादव-योद्धाओं ने प्रस्थान किया। उनके पीछे-पीछे उनकी स्त्रियाँ और परिवार चल पड़े। भिन्न-भिन्न दल-प्रमुख, सुभद्रा सहित रेवती दीदी, मेरी सात बहनों में से लक्ष्मणा, मित्रविन्दा, सत्या और कालिन्दी ने भी प्रयाण किया। सुभ्रदा से तो श्रीजी ने एक ही बात बार-बार कही थी–"इन्द्रप्रस्थ पहुँचते ही पाण्डवों में से किसी को साथ लेकर समूचा इन्द्रप्रस्थ देख लें।" अपने जन्मस्थल जाने की कल्पना से ही कालिन्दी अत्यधिक प्रसन्न थी। जाम्बवती और भद्रा आनेवाली नहीं थीं।

तात वसुदेव, बड़ी और छोटी माँ द्वारिका में ही रहनेवाले थे। द्वारिका के संरक्षण हेतु मेरा पराक्रमी, ज्येष्ठ पुत्र प्रद्युम्न भी द्वारिका में ही रहनेवाला था।

अन्तत: बलराम भैया श्रीजी, देवरजी उद्धव, विपृथु, सेनापति सात्यकि और अनाधृष्टि के रथ चलनेवाले थे। सदा की भाँति श्रीजी, देवरजी, मैं और भामा गरुड़ध्वज रथ से ही जानेवाले थे। सारथ्य दारुक ही करनेवाला था।

प्रस्थान के नियत समय पर स्वयं तात वसुदेव, दोनों माताएँ और प्रद्युम्न शुद्धाक्ष महाद्वार पर आ गये। आज तो दारुक ने अपने-आप ही गरुड़ध्वज को अप्रतिम रूप से सजाया था। गरुड़ध्वज को एक भव्य नौका पर चढ़ाकर ही वह हम सबकी प्रतीक्षा कर रहा था।

श्रीजी और बलराम भैया के पीछे-पीछे मैं, प्रद्युम्न और भामा शुद्धाक्ष महाद्वार की सीढ़ियाँ उतरकर नौका की ओर चल ही दिये थे कि अचानक श्रीजी रुक गये। वे किसी सोच में थे। ऊँचे, दृढ़काय प्रद्युम्न के कन्धे पर हाथ रखकर श्रीजी उसे हम सबसे अलग करके एक ओर ले गये। धीमे स्वर में उन दोनों में कुछ बातचीत हुई। फिर क्षण-भर में ही वे नौका में बैठे बड़े भैया के पास भी पहुँच गये। सबसे विदा लेकर हम इन्द्रप्रस्थ की यात्रा पर निकले।

कुछ पड़ाव हमने मरुस्थल और दशार्ण राज्य में डाले। अर्बुद पर्वत के पास मत्स्यों के राज्य के विराटनगर की सीमा पर जब हमने पड़ाव डाला तो हमें लगा था कि यहाँ से भी हम शीघ्र ही अगली यात्रा के लिए चल पड़ेंगे। किन्तु श्रीजी की आज्ञा से हम दो दिनों तक वहीं पर पड़ाव डाले रहे। हमारी इस यात्रा के मार्ग में जितने भी राज्य पड़े थे, श्रीजी स्वयं जाकर किसी भी राजा से नहीं

मिले थे; बल्कि कई राजा स्वयं ही हमारे पड़ाव पर आकर उनसे मिले थे। परन्तु विराटनगर में स्वयं श्रीजी बलराम भैया और देवरजी सहित उपहार लेकर राजा विराट से मिलने गये। यह बात अन्य किसी के तो नहीं, परन्तु बलराम भैया के ध्यान में आ गयी। उन्होंने सदैव की भाँति अपने प्रिय भ्राता की चुटकी ली–"क्यों द्वारिकाधीश, अब राजा विराट का जामाता बनने का विचार है क्या?" सदा की भाँति मोहक मुस्कान के साथ श्रीजी ने कहा, "अब मेरा विवाह तो केवल कर्तव्यपूर्ति के साथ ही होगा। क्या पता, भविष्य में यादवों का न सही, पाण्डवों का ही रक्त-सम्बन्ध विराट से हो जाए। दाऊ, परिचित मार्ग पर तो सभी चलते हैं, नया मार्ग खोजनेवाले कम ही होते हैं।" विराटनगर में श्रीजी का यथोचित स्वागत हुआ। इस भेंट के समय मुझे एक नयी सखी मिल गयी–विराटपत्नी महाराज्ञी सुदेष्णा। इन्द्रप्रस्थ राज्य में यमुना नदी के तट पर हमारा अन्तिम पड़ाव था। एक रमणीय सन्ध्या समय हम वहाँ पहुँच गये।

अगले दिन ब्राह्ममुहूर्त में ही तनिक शंकाग्रस्त बलराम भैया मेरे और भामा के शिविर में आये। कुछ भयाकुल किन्तु दबे-से स्वर में उन्होंने कहा, "रुक्मिणी, कन्हैया और उद्धव कब से दिखाई नहीं दे रहे हैं कहीं! समझ में नहीं आ रहा, कहाँ गये हैं दोनों!"

मैंने मुस्कराते हुए उनसे कहा, "चिन्ता मत कीजिए बड़े भैया। वे यहीं कहीं, किसी कार्य में मग्न होंगे।" तब बलराम भैया भी हँसकर बोले, "वैसे मैं कभी भी किसी की किसी भी बात की चिन्ता नहीं करता; किन्तु इसकी चिन्ता किये बिना रहा ही नहीं जाता। क्या करें, ज्येष्ठ जो ठहरा!"

उनके उद्‌गारों में मेरी और भामा की हँसी लुप्त हो गयी।

थोड़ी ही देर में हाँफता हुआ एक यादवदूत हमारे शिविर में आ गया। उसने कहा, "महाराज्ञी, देवी कालिन्दी स्वामी के दर्शन हेतु अपने शिविर से निकल तो पड़ी हैं, किन्तु अब तक वे यहाँ भी नहीं पहुँची हैं। बहुत ढूँढ़ा, कहाँ गयीं वे, कुछ पता नहीं चल रहा।"

अब मैं और भामा भी चिन्ताग्रस्त हो गयीं। चारों दिशाओं में अन्वेषक-दल भेजकर विशेषत: कालिन्दी की खोज आरम्भ हो गयी। किसी के भी ध्यान में यह नहीं आया कि यमुना के घाट पर उसकी खोज की जाए।

घटिका बीत गयी। हमारे शिविर पर सुन्दर प्रभात उदित हुआ। जाने कैसे, कुछ इन्द्रप्रस्थवासियों को द्वारिकाधीश के यमुना-तट पर आगमन की आहट लग गयी। जिसे भी इस बात का पता चला, वह यमुना की ओर दौड़ पड़ा। क्षण-क्षण लोगों की भीड़ बढ़ने लगी। श्रीजी, देवरजी और कालिन्दी को खोजना और भी कठिन हो गया। तभी कुछ इन्द्रप्रस्थवासियों से घिरे, सादे वस्त्र पहने श्रीजी और देवरजी आते दिखाई दिये। तब कहीं हमारे मन का बोझ हलका हुआ। उनके पीछे-पीछे शुभ्रवस्त्रा कालिन्दी को आते देखा तो हमारी चिन्ता ही मिट गयी। वे सभी यमुना के घाट की ओर से ही आ रहे थे।

बाद में पता चला कि यमुना-तट पर पड़ाव डालने के पश्चात् रात्रि में श्रीजी ने केवल देवरजी उद्धव को बुलवाकर विशेष मन्त्रणा की थी–अगले ही दिन ब्राह्ममुहूर्त पर यमुना में यथेच्छ जलक्रीड़ा करने की! गोकुल-मथुरा में और आचार्य सान्दीपनि के आश्रम में किये नदी-स्नान की स्मृतियों को हरा करने की! इस निमित्त एक बात मेरे ध्यान में आ गयी–द्वारिका आने के पश्चात् श्रीजी का यमुना में डुबकियाँ लगाना बन्द हो गया था। अपनी इस मन्त्रणा में श्रीजी ने बलराम

भैया को जानबूझकर सम्मिलित नहीं किया था। यदि उनको सम्मिलित किया जाता तो श्रीजी की गुप्त जलक्रीड़ा की योजना खुली जलक्रीड़ा में परिवर्तित हो जाती। कालिन्दी श्रीजी सहित अपनी कोई मनौती पूरी करने हेतु अपने अग्रवर्ती शिविर से श्रीजी के शिविर में आयी थी। बड़ी कुशलता से यह पुण्य उसने प्राप्त किया था। मेरी सातों बहनों में कालिन्दी ही जाम्बवती की भाँति बुद्धिमान थी।

जब हम–मैं, श्रीजी, बलराम भैया, देवरजी और भामा–इन्द्रप्रस्थ में प्रवेश करने के लिए कुरु नामक पश्चिम महाद्वार के समीप उपस्थित हुए, तो मैं चकित रह गयी। वहाँ तो पाण्डवों को चाहनेवाले नगरजनों की अपार भीड़ जमा हो गयी थी! राजमाता कुन्तीदेवी, पाण्डवपत्नी द्रौपदी, पाँचों पाण्डव, उनके पुरोहित धौम्य, पांचालराज द्रुपद, महाराज्ञी सौत्रामणि, युवराज धृष्टद्युम्न, पांचाल और पाण्डवों के सेनापति, अमात्य, ऋषिवर याज-उपयाज, असित-देवल और उनके शिष्यगण–सभी श्रीजी के स्वागत के लिए वहाँ प्रत्यक्ष उपस्थित थे। महर्षि व्यास को निमन्त्रण देने हेतु विशेष दूत हिमालय में भेजे गये थे। किन्तु वे यात्रा पर गये थे, अत: मिल नहीं सके। और इसी कारण वे इन्द्रप्रस्थ नहीं आये थे। श्रीजी ने क्षण-भर उपस्थितों पर अपनी गरुड़दृष्टि दौड़ायी–हस्तिनापुर का कोई भी कौरव-प्रतिनिधि उनमें नहीं था।

श्रीजी के स्वागत हेतु इन्द्रप्रस्थ राज्य के वादकों ने विविध वाद्यों का तुमुल घोष किया। उनके कण्ठ में पुष्पमालाएँ अर्पित करते हुए चरणधूलि लेने की औपचारिकताएँ भी पूरी की गयीं। हर्षोन्मत्त इन्द्रप्रस्थवासियों ने हम सब पर पुष्पांजलियों की वर्षा की। श्रीजी ने आग्रह से अर्जुन को अपने रथ पर ले लिया। उसके पीछे-पीछे द्रौपदी भी रथ में चढ़ गयीं। रथ में अब बहुत भीड़ हो गयी थी, इसलिए मैं नीचे उतरने लगी। किन्तु भामा ने मुझे रोका और वह स्वयं ही नीचे उतर गयी। अब तक तो भामा में आमूल परिवर्तन हो गया था। उसका अहंकार अब सुन्दर अस्मिता के रूप में निखर गया था। श्रीजी की सभी राज्ञियों में वह मुझसे सर्वाधिक आदरयुक्त प्रेम करने लगी थी।

इन्द्रप्रस्थवासियों के अनवरत जयघोष के बीच यादवों का गरुड़ध्वज और पाण्डवों का नन्दिघोष मन्थर गति से बढ़ने लगे। स्वागतयात्रा आरम्भ हो गयी।

मैं तो विस्मित होकर मार्ग के दोनों ओर देखती ही रह गयी। जैसे पश्चिम सागर के घेरे में बसी सुन्दर द्वारिका को धीरे-से उठाकर किसी ने यमुना-तट पर रख दिया हो!

इन्द्रप्रस्थ! पाण्डवों का राजनगर! अपराजित पौरुष द्वारा निर्माण किया गया अद्वितीय शिल्प! श्रीजी के द्वारा इन्द्रपर्वत का गोवर्धन पर्वत में रूपान्तरण करने की कथा मैंने सुनी थी। देवेन्द्र के स्वर्ग को तो मैंने नहीं देखा था, किन्तु यमुना-तट पर बसे स्वर्गीय इन्द्रप्रस्थ को तो मैं प्रत्यक्ष देख रही थी। सुरचित ऊँचे-ऊँचे भव्य भवन, बेलबूटेदार सुघड़ कलशों से सुशोभित प्रशस्त मन्दिर, विविध युद्ध-प्रकारों के अभ्यास हेतु बनाये गये विस्तृत क्रीड़ांगण, अश्वशालाएँ, उष्ट्रशालाएँ, अज, कुक्कुटों की टक्कर के लिए बनाए गये बाड़ से रक्षित अखाड़े, मार्गों को जोड़नेवाले भव्य चौक, लतावेष्टित डेरेदार वृक्ष और पक्षियों के कलरव से गूंजित उद्यान-मण्डल, सुदूर दिखाई देते स्फटिकशुभ्र निर्झर–सब-कुछ मैं अनिमिष नेत्रों से देखती ही रह गयी! यह राजनगर मुझे द्वारिका से भी अधिक सुन्दर लगा।

यहाँ केवल एक ही बात का अभाव था–द्वारिका की भाँति अविरत समुद्र-गर्जन यहाँ सुनाई नहीं दे रहा था। इससे इन्द्रप्रस्थ मुझे शान्त-शान्त-सा लगा। श्रीजी के मुख से निकले प्रत्येक

शब्द को मैंने वेदमन्त्र की भाँति सत्य मान लिया था। इन्द्रप्रस्थ के निर्माण के समय कई बार उन्होंने मुझसे कहा था, "देखना रुक्मिणी, इन्द्रप्रस्थ यावच्चंद्रदिवाकरौ कीर्तिमान रहेगा–किसी-न-किसी कारण इसकी ख्याति सदैव रहेगी। पाण्डवों का यह राजनगर अमर हो जाएगा।"

इन स्मृतियों में मैं खोयी हुयी थी, तभी अन्तर्यामी की भाँति श्रीजी मेरे कान में फुसफुसाये–"प्रिय रुक्मिणी, उसी प्रकार अब अभिषिक्त होनेवाला यह राजा युधिष्ठिर भी अमर हो जाएगा!"

युधिष्ठिर का राज्याभिषेक समारोह सप्ताह-भर चलता रहा। इस अवधि में देश-विदेश के आमन्त्रित राजाओं के निवास का प्रबन्ध पाण्डवों के भव्य, विशाल राजप्रासाद में किया गया था। उन राजाओं की लंगर डाली हुई नौकाओं से यमुना नदी का विशाल पाट भर गया था। उनके मस्तूलों पर भिन्न-भिन्न रंगों के, चिह्नों के ध्वज फहरा रहे थे। कहाँ-कहाँ से आये वेदज्ञ ऋषि-मुनियों के मन्त्रघोष से इन्द्रप्रस्थ की राजवेदी निरन्तर गुंजित हो रही थी।

अभिषेक विधि की प्रारम्भिक औपचारिकताएँ पूरी हो गयीं। उसके लिए आवश्यक उपवास करने से युधिष्ठिर और द्रौपदी तनिक कृश दिखने लगे, किन्तु उनके मुख पर फैली अपार सन्तोष की तेजरेखा कुछ निराली ही थी। वैसे हमारे वहाँ पहुँचने के पश्चात् शीघ्र ही मेरी भेंट द्रौपदी से हो गयी। हमारी बातें भी हुई थीं, किन्तु वे मेरी इच्छा के अनुसार खुलकर नहीं हो पायी थीं। इस समय वह सम्भव भी नहीं था। पहली ही भेंट में मुझे तीव्रता से प्रतीत हुआ कि साँवली होने पर भी वह अप्रतिम सुन्दरी थी। उसके अवयव सुघड़, सुडौल थे। वह सुगन्धिता, विपुलकेशा थी। उसका ठनठनाता मधुर कण्ठ-स्वर, निग्रही था और नेत्र चमकदार, भृंगवर्णी थे। वास्तव में किसी भी महान पौरुष को आह्वान करने में समर्थ उसका सौष्ठव था। राजमाता बननेवाली सत्त्वशीला कुन्तीदेवी के दर्शन से मैं तो धन्य हो गयी। सुखद आश्चर्य की बात यह थी कि अपनी ज्येष्ठता और प्रतिष्ठा को भूलकर वे स्वयं ही मुझसे मिलने आयीं। द्रौपदी की माता देवी सौत्रामणि को साथ लेकर ही वे आ गयीं। सेविकाओं के घेरे में उन दोनों को स्वयं आते देख मैं तो चकरा गयी। उनके चरणस्पर्श करने हेतु शीघ्रगति से मैं उनके निकट गयी, किन्तु उन्होंने तो मुझे सीधे आलिंगन में ले लिया। वे अपने-आप से ही बुदबुदायीं–'कहीं-न-कहीं तो उससे भेंट हो ही गयी है, किन्तु तुझसे तो कहीं भेंट नहीं हुई पुत्री! यशस्वी भव, आयुष्मान भव।' उनके आलिंगन में मुझे तीव्रता से आभास हुआ–कौण्डिन्यपुर में माता शुद्धमती से अन्तिम विदा लेते समय मुझे जो ऊष्मा मिली थी, वह ऐसी ही थी। क्षण-भर मुझे लगा कि जो बातें माता के साथ नहीं हो पायी थीं, वे इनसे कर लूँ।

ज्येष्ठ पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर के इन्द्रप्रस्थ के भव्य स्वर्णिम राजसिंहासन पर आरूढ़ होने का सुदिन आ पहुँचा। रात-भर सो न पाया समस्त इन्द्रप्रस्थ बड़े तड़के ही जगमगा उठा। मन्त्रघोष के साथ ही भावी महाराज-महाराज्ञी, युधिष्ठिर-द्रौपदी ने अभ्यंग स्नान किये। राजमाता कुन्तीदेवी और अन्य पाण्डव भी स्नानादि से निवृत्त हो गये। दृष्टि को चौंधिया देनेवाले महीन राजवस्त्र और आभूषण धारण करके सब सुसज्जित हुए। वीर भ्राताओं का वह पंचक मेरे और श्रीजी के दर्शन और आशीर्वाद प्राप्त करने एकसाथ ही हमारे कक्ष में आ गया। अर्जुन तो आज ऐसा दिख रहा था कि किसी की दृष्टि न लग जाए!

हमसे आशीर्वाद पाकर वे हमारे साथ कुछ हास-परिहास कर ही रहे थे कि इन्द्रप्रस्थ के सेनापति लगभग दौड़े-दौड़े चले आये। उन्होंने युधिष्ठिर, अर्जुन के बदले श्रीजी को ही वन्दन

करके उन्हीं के समक्ष एक विशेष समाचार प्रस्तुत किया–"वन्दनीय द्वारिकाधीश, हस्तिनापुर से पितामह भीष्म ज्येष्ठ पाण्डुपुत्र को आशीर्वाद देने हेतु इन्द्रप्रस्थ पधारे हैं। उनके साथ महात्मा विदुर और मन्त्री संजय भी हैं।"

उस पर श्रीजी ने जिज्ञासा प्रस्तुत की, "और कौन-कौन आया है?"

"और पितामह की विशेष सेना, अन्य कोई भी नहीं।"

यह सुनकर नित्य की भाँति मोहक मुस्कराते हुए श्रीजी ने कहा, "चलिए सेनापति, पितामह का स्वागत करें।" और देवरजी सहित वे उत्तर दिशा में शूरसेन नामक महाद्वार की ओर चले गये।

यह तो अच्छा ही हुआ कि राजा बननेवाले युधिष्ठिर को पितामह का आशीर्वाद प्राप्त होगा।

नियोजित शुभ मुहूर्त पर इन्द्रप्रस्थ की 'श्रीकृपा' नामक राजसभा में राज्याभिषेक सम्पन्न हो गया। देश-देश से पधारे हुए ऋषिवरों के मन्त्रघोष के साथ अभिषेक विधि के प्रमुख पाण्डव-पुरोहित धौम्य ऋषि ने युधिष्ठिर के मस्तक से कुरुवंश की पेंचदार पगड़ी उतारकर, बेलबूटेदार स्वर्णिम राजमुकुट उसके मस्तक पर चढ़ाया। उसी प्रकार तिकोने आकार का बेलबूटेदार छोटा राज्ञी-किरीट महाराज्ञी द्रौपदी के मस्तक पर चढ़ाया गया। विविध वाद्यों के प्रचण्ड घोष से 'श्रीकृपा' राजसभा गूँज उठी। उपस्थित राजाओं ने और इन्द्रप्रस्थवासियों ने आनन्दोल्लास से महाराज-महाराज्ञी पर पुष्पवर्षा की। 'इन्द्रप्रस्थाधिपति पाण्डवकुलभूऽषण पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर महाराऽज' के राजघोष की पूर्ति में सहस्रों कण्ठों से प्रतिध्वनि उठी–'जय होऽ जय होऽ'। इस प्रतिध्वनि से यमुना की चंचल लहरें भी रोमांचित हो उठीं।

पूरा दिन समस्त इन्द्रप्रस्थ हर्षोत्फुल्ल होकर नगर के चौक-चौक में नाचने-गाने और भाँति-भाँति की क्रीड़ाओं में तल्लीन हो गया। उस दिन सन्ध्या समय पाण्डवों का पूरा राजनगर देखकर लौट आयी हमारी सुभद्रा मुझे कुछ अलग-अलग-सी लगी। उसके मुखमण्डल से प्रसन्नता के जैसे सैकड़ों कपोत उड़ना चाह रहे थे। मैंने खोद-खोदकर उससे पूछा, "सुभद्रे, इन्द्रप्रस्थ में कुछ देखना-परखना शेष तो नहीं रह गया?" चतुर सुभद्रा ने उत्तर में कहा, "पूरा-पूरा इन्द्रप्रस्थ देख लिया सुश्रीजी–कुछ भी शेष नहीं रहा।"

यह तो स्पष्ट ही था कि वह नन्दिघोष रथ से इन्द्रप्रस्थ का पर्यटन करके लौट आयी थी। मैंने धीरे-से उसकी पीठ थपथपाते हुए कहा, "राज्याभिषेक के न होते हुए भी राजयोग होता है किसी-किसी के भाग्य में!" वह मन्द-मन्द मुस्करायी।

जिसका डंका आर्यावर्त-भर में बज रहा था, उस युधिष्ठिर का राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ। आमन्त्रित जन लौटने लगे। द्रौपदी यद्यपि आमन्त्रितों को विदा देने में अत्यन्त व्यस्त थी, फिर भी किसी-न-किसी बहाने से वह श्रीजी से बार-बार मिल रही थी। भिन्न-भिन्न स्वभाव के अपने पतियों के विषय में कुछ-न-कुछ पूछती रहती थी। अपने पतियों का उल्लेख करते समय उसकी मुद्रा बड़ी रोचक होती थी, फिर भी स्त्रियोचित नम्रता को वह भूलती नहीं थी। युधिष्ठिर का उल्लेख कभी वह 'ज्येष्ठ' के नाम से तो कभी 'महाराज' के नाम से किया करती थी। सहज ही सहदेव का उल्लेख 'कनिष्ठ' या 'अश्वज्ञ' के नाम से होता था। अर्जुन का उल्लेख करते समय उसके नेत्र चमक उठते थे। उसके विषय में श्रीजी से बात करते समय वह 'तेरी परछाईं' 'धनुर्धर' कहकर उसका उल्लेख किया करती थी। भीम का उल्लेख करते समय उसके विशालाक्ष और भी विशाल हो जाते थे। उसका उल्लेख वह 'वायुपुत्र' कहकर किया करती थी। नकुल के विषय में

हमारे प्रद्युम्न का उल्लेख करके वह उसके रूप-सौन्दर्य की प्रतीति दिलाती थी।

घण्टों चलती रहती श्रीजी और द्रौपदी की मनमुक्त बातें सुनने में एक अवर्णनीय आनन्द होता था। उनकी बातों से एक बात का मुझे आभास हो गया–द्रौपदी उनसे एकवचन में खुले ढंग से बातें करती थी। श्रीजी के सम्बन्ध में यह बात केवल ज्येष्ठों के लिए ही सम्भव थी। मैं भूलकर भी कभी उनसे इस प्रकार बात नहीं कर पाती, मेरी अन्य बहनों की तो बात ही दूर रही।

पहली भेंट में ही मैंने जान लिया कि द्रौपदी श्रीजी की मानस-भगिनी है। उससे भी अधिक वह उनसे सम्बन्धित नारीजनों में उनकी सर्वाधिक प्रिय सखी है–जैसे गोकुल में राधा थी।

मुझसे कभी भी न मिली राधा श्रीजी के मन के आदर्श ग्राम-नारी का–श्रमशील नारी का प्रतीक थी तो द्रौपदी आदर्श राज-स्त्री का! क्या राधा फिर कभी श्रीजी से मिलनेवाली थी? यद्यपि उससे मिलने की मेरी तीव्र इच्छा थी, क्या उससे मिलना मेरे भाग्य में था? कुछ कहा नहीं जा सकता था। राधा श्रीजी के सुप्त अन्तर्मन का एक सुन्दर वृन्दावन थी, यह तो मैंने कभी का जान लिया था। अत: मैंने निश्चय कर लिया था कि श्रीजी से द्रौपदी के विषय में बात करनी हो तो पहले मैं उनके सुप्त मन की सखी राधिका का उल्लेख करूँगी। तभी द्रौपदी के विषय में बात करना मेरे लिए सरल हो जाता।

द्रौपदी मेरा अत्यन्त आदर-सम्मान करती थी। कभी-कभी तो राजमाता कुन्तीदेवी और हमारी रेवती दीदी से भी अधिक! इसीलिए इन्द्रप्रस्थ छोड़ने से पहले मैं द्रौपदी से बार-बार मिला करती थी–वह भी अपनी रूपसुन्दरी, अल्हड़ सुभद्रा सहित! द्रौपदी को तो श्रीजी की भगिनी के नाते सुभद्रा से अथाह स्नेह था! यदि कोई ज्येष्ठ स्त्री अल्हड़ सुभद्रा को किसी कारण कुछ कठोर शब्द कहती तो द्रौपदी शीघ्र ही सुभद्रा का पक्ष लेकर उस स्त्री को चुप कराती थी। यह देखकर मुझे हँसी आती थी। मैं उससे कहती थी, "पाण्डव-महाराज्ञी, इस यादवकन्या का अधिक गुणगान न करो। मैं भलीभाँति जानती हूँ इसको। दूर के ढोल सुहावने होते हैं। मैं अभी तुम्हें आमन्त्रित करती हूँ, द्वारिका आ जाओ अपने धनुर्धर सहित! शीघ्र ही जान पाओगी तुम इसके गुण!"

द्वारिका लौटने के पूर्व श्रीजी का महाराज युधिष्ठिर और राजमाता कुन्तीदेवी से मिलना-जुलना बढ़ गया। उनकी बैठकें अधिक होने लगीं। ऐसी ही एक बैठक में श्रीजी ने कुन्तीदेवी और सभी पाण्डवों के समक्ष एक प्रस्ताव रखा–नितान्त सहजता से, सभी को मान्य होनेवाला। उन्होंने कहा, "इन्द्रप्रस्थ राज्य की कीर्ति का डंका अब आर्यावर्त-भर में गूँज उठेगा। तुम सब वीर भ्राता आर्यावर्त की एक-एक दिशा चुनकर, अपनी दिग्विजयों से इन्द्रप्रस्थ की ध्वजा चारों दिशाओं में फहराओ। किसको किस दिशा में भेजना है, इसका निर्णय तुम अपने नये महाराज पर छोड़ दो।

"किसी भी राजा का केवल वैभवशाली राज्याभिषेक होना ही पर्याप्त नहीं है। उसके राजसिंहासन का सर्वत्र आदर होना आवश्यक है। यह एक ही मार्ग से हो सकता है–गगनभेदी पराक्रम से! इस कार्य के लिए द्वारिका अपनी चतुरंग सेना, धन-सम्पत्ति, गज, अश्व, शस्त्रादि सामग्री इन्द्रप्रस्थ राज्य के पीछे सदैव खड़ी कर देगी। महाराज युधिष्ठिर सहित सभी पाण्डव इस बात का ध्यान रखें कि सैन्य, सामग्री, सम्पत्ति ये सब अपराजेय पराक्रम के ही वश में रहते हैं।

"अब सर्वाधिक महत्त्व की बात है, तुम्हारे नूतन गणराज्य का संरक्षण। इसलिए एक दूर की बात कहता हूँ। तुम सब पराक्रमी हो, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है। फिर भी इन्द्रप्रस्थ के संरक्षण का दायित्व मुख्यत: दोनों के ही कन्धों पर आनेवाला है–अर्जुन और महाबली भीम के!

अत: गदा और मल्लविद्या में निष्णात भीमसेन को इन विद्याओं में अतुलनीय कुशलता प्राप्त करनी चाहिए। इसलिए उसे इन विद्याओं में जिनका अधिकार अन्तिम रूप से माना जाता है, उनके पास–अर्थात् हमारे दाऊ के पास शिक्षा पाने के लिए शीघ्र ही भेजा जाए।"

महाराज युधिष्ठिर ने निर्णय की अपेक्षा से राजमाता कुन्तीदेवी की ओर देखा। उनकी स्वीकृति का संकेत पाते ही युधिष्ठिर ने द्वारिकाधीश से कहा, "आपके कहने के अनुसार भीमसेन द्वारिका जाएगा। भीमसेन के शिक्षा प्राप्त करके लौटते ही हम दिग्विजय के लिए इन्द्रप्रस्थ से निकल पड़ेंगे। बलराम भैया मेरे भ्राता को अपना शिष्य स्वीकार करें और श्रीकृष्ण दिग्विजय के लिए हमें आशीर्वाद दें।"

सबसे विदा लेकर बलराम भैया, श्रीजी और उद्धव जी सहित हम सब इन्द्रप्रस्थ से द्वारिका लौट आये। बलराम भैया के रथ में उनके साथ महाबली भीमसेन भी था। द्वारिका अग्रसूचना पहुँचने से शुद्धाक्ष महाद्वार पर भीड़-ही-भीड़ इकट्ठी हो गयी थी। अर्जुन के आगमन के समय उसे देखने के लिए जितनी भीड़ इकट्ठी हुई थी, उससे भी अधिक भीड़ जमा हुई थी भीमसेन को देखने के लिए।

अद्वितीय शरीर-सामर्थ्य के स्वामी के रूप में आज तक मैं अपने बलराम भैया को बड़े आदर से देखती आयी थी। उनके रथ में बैठे महाकाय भीमसेन को देखते हुए मुझे प्रतीत हो रहा था कि जिस प्रकार अर्जुन श्रीजी की छाया है, वैसे ही भीमसेन भी बलराम भैया की छाया बन सकता है। उन दोनों को एक साथ देखना कैलास और मैनाक पर्वत का एक ही दृष्टिक्षेप में दर्शन करने जैसा था। महाकाय, स्नायुबद्ध शरीरवाले भीमसेन के दर्शन होते ही उतावले यादवों ने पागलों की भाँति उस पर पुष्पवर्षा की। कुंकुमवर्षा से उसे सराबोर कर दिया। बीसियों यादवों ने जयघोष करते हुए उसको कन्धे पर उठाकर बड़ी धूमधाम से शोभायात्रा भी निकाली।

जब गुरुदेव घोर-आंगिरस द्वारिका आये थे, तब चैतन्य की ऐसी ही लहर उठी थी द्वारिका में और हुई थी त्यागपूजा–विद्वत्पूजा। अर्जुन के आने पर भी द्वारिका में ऐसी ही लहर उठी थी–धनुर्योग की, श्रीजी की सदेह परछाई के दर्शनों की; और अब भीमसेन के आने से द्वारिका में लहर उठी है–स्वेद से सने मल्लयोग की, खनखनाते गदायोग की, बलराम भैया की सदेह छाया को देख पाने के अभूतपूर्व आनन्द की।

समस्त द्वारिका को अब जैसे मल्लविद्या के विराट् अखाड़े का और गदाविद्या की विशाल रणभूमि का रूप प्राप्त हो गया था। आसपास के आनर्त, सौराष्ट्र, सौवीर, भृगुकच्छ आदि गणराज्यों से द्वारिका में आये हुए विशालकाय मल्ल जहाँ-तहाँ दिखने लगे थे। भिन्न-भिन्न गठन की गदाएँ ढालनेवाले कुशल लोहकार भी द्वारिका चले आये थे। इन वीरों के आगमन से द्वारिका खिल उठी थी।

युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के पश्चात् पाण्डव-परिवार इन्द्रप्रस्थ में सुव्यवस्थित हो गया था। पाँचों पाण्डवों ने कुन्ती माता और द्रौपदी सहित एक गुप्त बैठक में परिवार की आचार-संहिता निश्चित कर दी थी। एक नियम के अनुसार द्रौपदी के अपने प्रत्येक पति के साथ एकान्त की कालावधि निर्धारित की गयी थी। उस समय अन्य चार पाण्डवों में से किसी का भी एकान्त-कक्ष में प्रवेश वर्जित था। ऐसे में एक दिन, जब युधिष्ठिर और द्रौपदी एकान्त में थे, कोई ब्राह्मण अपनी गायों के हरण किये जाने की शिकायत लेकर आया। उस ब्राह्मण की सहायता के लिए अर्जुन को

निरुपाय होकर एकान्त-कक्ष में रखे गाण्डीव धनुष को लेने के लिए वहाँ जाना पड़ा। नियम के अनुसार उसका एक वर्ष तीर्थयात्रा पर जाने का दण्ड भुगतना आवश्यक हो गया। अर्जुन के तीर्थयात्रा पर चले जाने का समाचार द्वारिका में पहुँचा। पहले तो श्रीजी कुछ गम्भीर हो गये, फिर अपनी मोहक मुस्कान बिखेरते हुए उन्होंने मुझसे कहा, "अब तो इसी वर्ष अर्जुन से भेंट होगी।"

भीमसेन को दोनों विद्याओं का अभ्यास कराने हेतु बड़े भैया व्यायामशाला में व्यस्त हो गये। यहाँ तक कि तात वसुदेव, बड़ी माँ और छोटी माँ से भी प्रभात-वन्दन और सच्चा-वन्दन के समय के अतिरिक्त उनकी भेंट ही नहीं हो पाती थी। इतना ही नहीं, रेवती दीदी से भी वे दिन में केवल दो बार–भोजन के समय ही मिल पाते थे। श्रीजी भी अब राजसभा में सेनापति सात्यकि और अनाधृष्टि के साथ व्यस्त रहने लगे थे। देवरजी से मुझे ज्ञात हुआ कि राजसभा में चर्चा का विषय होता था केवल मगधसम्राट् जरासन्ध!

विवाह के योग्य हुई बहन सुभद्रा की ओर दोनों भ्राताओं का ध्यान ही नहीं था। उनको वह अब भी अल्हड़ बालिका ही लग रही थी। किन्तु वह विवाह के योग्य हो गयी है, उसके लिए सुयोग्य वर खोजने का समय आ गया है, इस बात की ओर दोनों भ्राताओं का ध्यान आकर्षित करने का दायित्व अब मुझ पर ही आ गया था। सुभद्रा मुझे अपनी पुत्री चारुमती जैसी ही लगती थी। अत: इस कार्य के लिए मैंने मुहूर्त चुना गुरु-पूर्णिमा का! मैंने अनुरोधपूर्वक आचार्य सान्दीपनि को गुरुपत्नी और गुरुपुत्र सहित राजप्रासाद में आमन्त्रित किया। देवरजी द्वारा बलराम भैया और श्रीजी को भीमसेन सहित रनिवास के द्वीप पर भोजन के लिए बुलवाया गया।

उस दिन तात वसुदेव, बड़ी और छोटी माँ, रेवती दीदी और समस्त राजपरिवार एकत्र हो सके, ऐसा प्रबन्ध भी मैंने करवाया। बलराम भैया के ठहाके और श्रीजी के हास-परिहास के साथ सभी ने सुस्वादु भोजन का आस्वादन किया। अन्त में ताम्बूल-सेवन के समय मैंने चतुराई से आचार्यश्री को परिवार सहित मूल द्वारिका पहुँचाने हेतु दारुक को गरुड़ध्वज सज्जित करने को कहा। आचार्यश्री के साथ भीमसेन को और गुरुपत्नी के साथ सुभद्रा को भेज दिया। उसको अकेलापन प्रतीत न हो, इसलिए बहन कालिन्दी और जाम्बवती को भी उसके साथ भेज दिया।

ताम्बूल-सेवन का कक्ष अब मेरी योजना के अनुकूल हो गया। समस्त राजपरिवार के आगे मैंने सुभद्रा के विवाह का विषय छेड़ा। हमारे पूर्व नियोजन के अनुसार रेवती दीदी ने मेरा समर्थन किया। वैसे हमारे परिवार के सभी सदस्य एक साथ क्वचित् ही मिल पाते थे। आज वह अवसर मुझे मिल गया था। मैंने ठान लिया कि इसका पूरा लाभ उठा लूँ। मैंने कहा, "तात वसुदेव, दोनों राजमाताओं, युवराज और युवराज्ञी के होते मेरा बात करना आवश्यक तो नहीं हैं, फिर भी मुझसे रहा नहीं जाता है, इसलिए कह रही हूँ, आप सब मुझे क्षमा करें।

"आप सब ज्येष्ठ, ज्ञानी हैं। कामरूप देश की सहस्रों स्त्रियों का आपने द्वारिका में पुनर्वास कराया किन्तु अपने घर का क्या? हमारी सुभद्रा विवाह के योग्य हो गयी है। उसके स्वयंवर के विषय में आपने कुछ सोचा है क्या? क्या आप में से किसी के भी पास उसकी ओर ध्यान देने के लिए समय नहीं है?"

मेरी बातें सुनकर तात वसुदेव बोले, "रुक्मिणी का कहना उचित है। किन्तु हम तो वृद्ध हो गये हैं। इस कार्य का दायित्व अब हमारे ज्येष्ठ पुत्र बलराम पर है। सुभद्रा के लिए अब वही उचित वर चुने। इसमें कृष्ण उसकी सहायता करे। वह जो भी करेगा, सुभद्रा के लिए कल्याणकारी ही

होगा। हम उसे केवल आशीर्वाद देंगे।"

तात के शब्द सुनकर अब तक ठहाके लगानेवाले बलराम भैया गम्भीर हो गये। उन्होंने निश्चयपूर्वक कहा, "सुभद्रा हमारी अत्यन्त लाडली बहन है। तात उसके विवाह की तनिक भी चिन्ता न करें। मैंने उसके लिए सुयोग्य वर कभी का चुन रखा है। मुझे विश्वास है, रुक्मिणी को भी वह अच्छा लगेगा और रुक्मिणी की सम्मति के पश्चात् छोटे की सम्मति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। क्यों कृष्ण?"

सीधे-सादे स्वभाव के बलराम भैया ने वर का नाम बताये बिना ही भरी बैठक में प्रश्न करके श्रीजी के आगे समस्या ही खड़ी कर दी। परन्तु वे तो बड़े भैया के भी गुरु निकले! तनिक भी विचलित न होते हुए उन्होंने बड़े भैया से प्रतिप्रश्न किया। ऐसे गूढ़ प्रश्नों का उत्तर प्रतिप्रश्नों से ही देना तो उनकी आदत थी! उन्होंने बलराम भैया से पूछा, "वर का नाम बताये बिना ही आप सम्मति पूछ रहे हैं, दाऊ? दिन उगा ही नहीं और आप पूछ रहे हैं कि सूर्य कितना चढ़ आया है! इसका उत्तर क्या रेवती भाभी भी दे सकेंगी?"

अब अपना प्रिय अनुज ऐसे ही प्रश्नों की झड़ी लगाकर उलझन में डाल देगा यह बड़े भैया भलीभाँति जान गये। इसलिए उन्होंने शीघ्र ही कहा–मानो कोई पहेली बुझा रहे हों–"वर कुरुकुल से ही तो है, पराक्रमी है–तू ही कह दे छोटे, कौन होगा वह?" उन्होंने पुन: प्रश्न किया।

"कुरुकुल से? पराक्रमी? और कौन हो सकता है? पाण्डवों में से ही कोई होगा।" देवरजी ने बीच में ही कह डाला।

"उद्धव, मैं जानता हूँ कि तुम्हारे मुख से कृष्ण ही बोल रहा है। सुभद्रा के लिए मेरा चुना वह कुरुकुल से ही है, किन्तु पाण्डवों में से नहीं–कौरवों में से है। भविष्य में वह हस्तिनापुर का अभिषिक्त सम्राट् बननेवाला है। सुभद्रा के लिए जो वर मैंने चुना है, वह है हस्तिनापुराधीश महाराज धृतराष्ट्र का पुत्र युवराज दुर्योऽधन!"

बलराम भैया का यह चयन सुनकर बैठक स्तब्ध रह गयी। अप्रत्याशित नाम सुनकर सभी भौचक्के रह गये। भ्रान्त धारणा से वे बोलते ही रहे–"दुर्योधन गदायुद्ध की विद्या का मेरा शिष्य है। मिथिला में निष्ठापूर्वक मेरी सेवा करते हुए, अत्यन्त नम्रता से उसने मुझसे यह विद्या ग्रहण की है। यदि गदाविद्या का थोड़ा ज्ञान भी मुझे है तो उसके आधार पर मेरा कहना है कि इस विद्या में समस्त आर्यावर्त के अन्तर्गत दुर्योधन का कोई जोड़ नहीं है। यादवों के हस्तिनापुर के साथ रक्त-सम्बन्ध हो जाने से हमारा गणराज्य और भी प्रबल हो जाएगा। मुझे पूरा विश्वास है कि मेरा पट्टशिष्य दुर्योधन कभी भी मेरी अवज्ञा नहीं करेगा। इसीलिए मैंने प्रिय सुभद्रा के लिए दुर्योधन को चुना है। क्यों छोटे? इस विषय में तुम्हें जो भी कहना है, इसी बैठक में, सभी के समक्ष स्पष्ट कह दो। बाद में झमेला खड़ा करने की तुम्हारी आदत है, इसलिए पूछ रहा हूँ। लाल मिट्टी में खेलनेवाले हम मल्लवीर सीधे-सादे, खुले मन के होते हैं। तुम हो राजनीति के अखाड़ेबाज–धूर्त और मायावी!"

बलराम भैया के इस कठोर वचन से राजपरिवार की बैठक चौंककर स्तब्ध हो गयी। श्रीजी का उत्तर सुनने को उत्सुक होकर सभी उनकी ओर एकटक देखने लगे। अकेले श्रीजी ने अविचल रहकर हँसते हुए कहा, "दाऊ, हमारी सुभद्रा के लिए आपका 'वर-चयन' अनुचित कैसे हो सकता है? आप ज्येष्ठ हैं, युवराज हैं आपका चयन श्रेष्ठ ही होगा। आपकी अवज्ञा कैसे की जा सकती है?

युवराज दुर्योधन गदायुद्ध की विद्या में सर्वश्रेष्ठ है, उसका कोई जोड़ नहीं है, ऐसा मैंने भी सुना है। किन्तु स्वयंवर तो सुभद्रा का ही होगा–आपका अथवा मेरा नहीं। स्वयंवर का अभिप्राय ध्यान में रखकर, क्या सुभद्रा से पूछना उचित नहीं होगा कि वह किसका वरण करना चाहती है? यदि आपके कहने के अनुसार वह युवराज दुर्योधन ही हो, तब तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। कल ही धूमधाम से विवाह करा देंगे सुभद्रा का! क्यों दाऊ?"

श्रीजी के इस निरुत्तर कर देनेवाले सुझाव का जब सभी ने समर्थन किया कि–"श्रीकृष्ण का कहना उचित है," तब मैंने चैन की साँस ली। मैं इसलिए प्रसन्न थी कि आज भोजन के पश्चात् बड़ी कुशलता से मैंने भीमसेन और सुभद्रा को भोजन-कक्ष से बाहर भेज दिया था।

अत्यन्त सावधानी बरतने पर भी जाने कैसे सुभद्रा के विवाह का समाचार समस्त द्वारिका में फैल ही गया! द्वारिका के चौक-चौक में उत्सुक यादव दबे स्वर में सुभद्रा-दुर्योधन विवाह की चर्चा करने लगे। यह बात जैसे ही सुभद्रा तक पहुँची, वह दौड़ी-दौड़ी मेरे कक्ष में चली आयी। कक्ष में आते ही वह बरस पड़ी, "क्या सुन रही हूँ मैं सुश्रीजी आप सब मिलकर मुझे उस उद्धत, अहंकारी अन्धपुत्र के पल्ले बाँधना चाहते हैं? क्या आप सबके लिए मैं केवल बोझ बन गयी हूँ? मैंने ठान लिया है सुश्रीजी, आप मेरे दोनों भ्राताओं से मेरा निश्चय कह दीजिए, मैं कुरुओं की पुत्रवधू बनकर हस्तिनापुर कभी नहीं जाऊँगी। आवश्यकता पड़ने पर मैं पश्चिम सागर में जलसमाधि लेना स्वीकार करूँगी।" वह भी तो यादवकुल-कन्या थी–शीघ्र कोपी, हठी, अपने बड़े भैया से भी अधिक!

मैंने इन्द्रप्रस्थ में ही भाँप लिया था कि धनुर्धर अर्जुन पर उसका मन आ गया है। फिर भी अनजान बनने का बहाना बनाकर मैंने कहा, "पागल मत बन सुभद्रा! हस्तिनापुर की महाराज्ञी बनने का अभिप्राय जानती है तू? तुझे पता है कि कितने बड़े वैभव की, सत्ता-सम्पत्ति की स्वामिनी बनेगी तू?"

वैसे वह मुझसे आदर से ही बात किया करती थी। परन्तु जैसे ही मैंने उसको छेड़ा, उसके अन्दर की यादव-स्त्री जागृत हो उठी। मुझ पर आँखें गड़ाकर उसने कहा, "तो आपने क्यों नहीं स्वीकार किया चेदि देश की महाराज्ञी का स्थान? क्यों ग्रन्थिबन्धन एक ग्वाले के साथ?" भावावेश में वह कुछ-का-कुछ कह गयी, और जैसे ही उसको आभास हुआ कि, उसने अपने प्रिय भैया को 'ग्वाला' कहा है, तत्क्षण वह अपने हाथों में मुख छिपाकर सिसकने लगी।

मैंने बड़े प्रेम से उसको गले लगाया और थपथपाते हुए कहा, "चुप हो जा भद्रे, शान्त हो जा। जैसा तू चाहती है, वैसा ही होगा। किन्तु एक बात का अवश्य ध्यान रखना, यदि बड़े भैया ने तुझसे कुछ पूछ ही लिया, तो कह देना कि 'छोटे भैया जो कहेंगे–मैं वही करूँगी।' अब रोती मत रह। सदैव स्वामी के साथ रहा कर और जैसा वे कहें, वैसा ही करती जा। तेरी इच्छा अवश्य पूर्ण होगी। वह मुझसे और अधिक लिपट गयी तथा सिसकते-सिसकते बोली–"क्षमा...क्षमा कीजिए सुश्रीजी–मैं तो कुछ अनाप-शनाप ही कह गयी। किसी और को उद्धत कहते-कहते स्वयं मैं ही कैसे उद्धत हो गयी!" मेरे लिए उसके मन में अपार प्रेम, आदर था। अपनी भूल को समझकर वह खुलकर रो भी नहीं पा रही थी।

मैं भी बिना कुछ कहे, अपनी प्रिय चारु की भाँति उसको थपथपाते हुए प्रेमिल स्पर्शमात्र से ही सान्त्वना देती रही। कुछ समय पश्चात् जब उसका भावावेश कुछ कम हो गया तब मैंने केवल

इतना ही कहा, "भद्रे, मेरे प्रिय स्वामी इस आर्यावर्त के सर्वश्रेष्ठ ग्वाले ही हैं। उनके अद्वितीय विचारों की जो छिटपुट दुग्ध-धाराएँ मुझे प्राप्त हो गयी हैं, उनमें से ही कुछ मैंने तुझ तक पहुँचायी हैं। उस अलौकिक ग्वाले के पास विचार-दुग्ध-धाराओं से लबालब भरी कितनी मटकियाँ हैं, यह मुझे भी ज्ञात नहीं है। उनकी पत्नी होने के नाते मुझे जाग्रत ही नहीं, निद्रावस्था में भी उन पर गर्व होता है। तू तो उनकी सहोदरा बहन है, तुझे मैं क्या बताऊँ!"

अब तो सुभद्रा मेरे कन्धे पर सिर रखकर अविरल अश्रु बहाती रही। मैं उसकी रोहिणी माता की भाँति उसको थपथपाती ही रही।

द्वारिका में रूप-गुण-सम्पन्न यादवकन्या सुभद्रा के विवाह के नाट्य पर रंग चढ़ने लगा।

भीमसेन की शिक्षा शीघ्र ही पूर्ण हो गयी। उसकी विदा में यादवों ने सुधर्मा राजसभा में सत्कार-समारोह का आयोजन किया। खचाखच भरे सभागृह में श्रीजी ने स्वयं स्नायुबद्ध, प्रचण्डकाय भीमसेन की पुष्ट ग्रीवा में प्रफुल्लित, काषायवर्णी कमलों की लम्बी माला पहना दी। बलराम भैया ने अपनी ही गदा की भाँति ढलवायी गयी प्रचण्ड गदा को आचार्य सान्दीपनि और गर्ग मुनि से पहले ही अभिमन्त्रित करवा लिया था। सहस्रों यादवों की तालियों की अविरत गूँज के साथ बलराम भैया ने वह दमकती गदा भीमसेन के गजस्कन्ध पर रख, उसे कसकर आलिंगन में ले लिया। राजसभा में कभी कुछ न बोलनेवाले बलराम भैया से आज रहा नहीं गया। श्रीजी को संकेत करके वे उठ खड़े हो गये। उन्होंने अनुरोधपूर्वक कहा, "पाण्डुपुत्र भीमसेन आज से मेरा मल्ल और गदाविद्या का शिष्य बन गया है। वैसे मेरा प्रथम शिष्य है कुरुश्रेष्ठ धृतराष्ट्र-पुत्र युवराज दुर्योधन। इन विद्याओं में इन दोनों की निपुणता का कोई जोड़ नहीं है। फिर भी यह सत्य है कि प्रथम-शिष्य होने के कारण दुर्योधन मुझे तनिक अधिक प्रिय है। शीघ्र ही मैं यादवों का हस्तिनापुर से सम्बन्ध स्थापित करने जा रहा हूँ। मुझे विश्वास है, दुर्योधन और भीमसेन की सामर्थ्य द्वारिका गणराज्य के पीछे सदैव खड़ी रहेगी। इडादेवी को साक्षी रखकर, वीर भीमसेन को भावी जीवन के लिए मैं मनःपूर्वक आशीर्वाद देता हूँ। पाण्डुपुत्र भीमसेन शुभं भवतु शुभं जयतु!"

कुछ सोचकर ही स्वामी सभागृह में इस समय कुछ भी नहीं बोले–बोलनेवाले भी नहीं थे। परन्तु वहाँ एकत्रित सहस्रों यादवों की दृष्टि उन्हीं पर टिकी हुई थी। पहले कुछ खुसुर-फुसुर मच गयी। फिर स्पष्ट शब्दों में उन्होंने माँग की–"उठिए द्वारिकाधीश–बोलिए–हमारे प्रिय भीमसेन को शुभेच्छाएँ दीजिए।" मेरी ओर समीप ही बैठे देवरजी की ओर मुस्कराकर देखते हुए श्रीजी उठकर खड़े हो गये। उनके दाहिने आजानुबाहु की तर्जनी ऊपर उठाते ही समस्त सभागृह शान्त हो गया। उनके दाँत चमक उठे, गुलाबी होठ हँसे और मुखारविन्द से निकले नपे-तुले शब्दों की अर्थपूर्ण तारिकाएँ सुधर्मा राजसभा में बिखर गयीं, "प्रिय यादव बन्धुओं, मुझे नहीं लगता कि गदा और मल्लविद्या के एकछत्र स्वामी–हमारे प्रिय दाऊ के होते हुए द्वारिका गणराज्य को कभी भीमसेन की सहायता की आवश्यकता पड़ेगी। इसके विपरीत, हो सकता है कि नव-स्थापित इन्द्रप्रस्थ को ही दाऊ के सामर्थ्य की आवश्यकता पड़े। दाऊ के प्रथम शिष्य होने के नाते और उन्हीं की भाँति युवराज पद पर आसीन दुर्योधन के प्रति उनके प्रेम को मैं समझ सकता हूँ। इस समय मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि महाबली भीमसेन के अजेय सामर्थ्य की आवश्यकता सदैव ही रहेगी, किन्तु किसी भिन्न प्रयोजन से! अत: दूर की सोचकर मैं इन्द्रप्रस्थ से एक नया स्नेह-बन्धन स्थापित करना चाहता हूँ। भीमसेन तो अब भी हमारा सम्बन्धी है–हमारा फुफेरा भ्राता। शीघ्र ही वह इससे

भी अधिक समीपवर्ती सम्बन्धी बन जाएगा। इडादेवी को साक्षी रखकर मैं उसको अन्तःकरणपूर्वक शुभेच्छा देता हूँ—जय हो भीमसेन! शुभं भवतु!”

यादवों से विदा लेकर भीमसेन इन्द्रप्रस्थ चला गया।

सामर्थ्यशाली हस्तिनापुर राज्य से सम्बन्धों को दृढ़ बनाने का निर्णय बलराम भैया ने ले लिया था। ‘सुभद्रा की स्वीकृति भी पूछी जाए’ श्रीजी के द्वारा बार-बार प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से दिये गये इस सुझाव की उन्होंने उपेक्षा की। कुरु- युवराज दुर्योधन के साथ सुभद्रा का विवाह निश्चित कराने हेतु उन्होंने भ्राता गद और अमात्य विपृथु को हस्तिनापुर भेज भी दिया था। आखिर श्रीजी उनके अनुज थे और बलराम भैया अग्रज—युवराज थे। मेरे श्रीजी थे तो बुद्धिमान किन्तु इस पारिवारिक गुत्थी के कारण वे कुछ उलझन में पड़ गये थे। मुझे उनकी इस उलझन का शीघ्र ही आभास हो गया। अब शीघ्र ही किसी-न-किसी प्रकार सर्वप्रथम दुर्योधन-सुभद्रा-विवाह को रोकना आवश्यक हो गया, नहीं तो हमारी प्रिय सुलक्षण सुभद्रा दुर्योधन और उसके निन्यानबे भ्राताओं के बवण्डर में लता की भाँति टूट ही जाएगी।

सम्प्रति श्रीजी केवल मुझसे ही सुभद्रा के विषय को लेकर दबे स्वर में बात किया करते थे। अन्ततः यह बुद्धि का टकराव था। गदावीर युवराज की पत्नी होने के नाते रेवती दीदी स्वाभाविक रूप से बलराम भैया का ही साथ देनेवाली थीं। क्या करें? दुविधा में पड़े श्रीजी ने एक बार मुझसे कहा, “धनुर्धर धनंजय तीर्थयात्रा हेतु आर्यावर्त में कहाँ-कहाँ भटक रहा है, कुछ पता नहीं चलता। मेरे कुशल गुप्तचर उसकी खोज में असफल होकर चारों दिशाओं से लौट आये हैं।”

मेरे पास कहने को और कुछ तो था नहीं। अतः मैंने उनसे कहा, “श्रीजी तो मन की शान्ति के लिए नित्य प्रभास क्षेत्र चले जाते हैं। हो आइए एक बार! दान, तीर्थ-स्नान से मन शान्त हो जाएगा। फिर कुछ-न-कुछ उपाय सूझेगा ही!”

मेरा सुझाव सुनकर श्रीजी प्रसन्नता से मुस्कराये। उन्होंने कहा, “रुक्मिणी, तुम तो बड़ी अन्तर्दर्शी हो! मैं भी वही सोच रहा था।”

श्रीजी के आदेश से तीर्थक्षेत्र जाने की तैयारियाँ आरम्भ हो गयीं। बड़े भैया से मिलकर उन्होंने उनसे अनुरोध किया, “दाऊ, आप भी प्रभास चलें! हमारे कुल में कन्या का शुभविवाह होने जा रहा है—तीर्थक्षेत्र में कुछ दान-स्नान करें!”

बड़े प्रेम से श्रीजी के कन्धों को थपथपाते हुए बड़े भैया ने कहा, “मेरी ओर से तुम ही कर लेना सभी धर्मकृत्य। मेरा द्वारिका में ही रहना आवश्यक है। युवराज दुर्योधन वाग्दान विधि के लिए कभी भी द्वारिका आ सकता है।”

कुछ विशेष वीरों को साथ लेकर श्रीजी अकेले ही प्रभास क्षेत्र चले गये। मेरा अनुमान था कि अब पन्द्रह दिवस तक तो उनके दर्शन नहीं होंगे, किन्तु मेरी अपेक्षा के विपरीत वे एक प्रकार से उल्टे पाँव ही लौट आये—पूर्णतः शान्त मन से! लौटते ही अन्तःपुर में, एकान्त में मुझसे मिलकर उन्होंने कहा, “रुक्मिणी, प्रभास में मेरी पार्थ से भेंट हो गयी। सभी समस्याएँ अब सरल हो गयी हैं। उसने संन्यासी के काषाय वस्त्र धारण किये हुए हैं। बढ़ी हुई दाढ़ी के कारण वह पहचाना नहीं जा रहा है। मैंने उसको वेरावल के निकट सोमनाथ के शिवालय में शीघ्र आने को कह दिया है। अगले दिन उद्धव सोमनाथ जाएगा। आते समय वह द्वारिकावासियों को प्रसन्नता दिलानेवाला समाचार लाएगा कि हिमालय में तपस्या किये कोई महान शिवयोगी सोमनाथ के शिव-मन्दिर में पधारे हैं।

द्वारिकावासी उद्धव की बात पर पूरा विश्वास करेंगे। शिवयोगी के दर्शन के लिए सोमनाथ की ओर नर-नारियों का ताँता लग जाएगा। तुम भी एक बार सुभद्रा सहित उसका दर्शन करने चली जाना! क्यों?”

अब सुभद्रा के विवाह का नाटक प्रभास, सोमनाथ, द्वारिका और रैवतक के पूरे प्रदेश में रंग लानेवाला था। इस नाटक का प्रमुख रंगमंच था 'रैवतक पर्वत' और रैवतकों की कुलदेवी का मन्दिर।

रेवती दीदी के पिता ककुद्मिन रैवतक राज्य के प्रमुख थे। वे निर्भय और वीर थे। पुत्री-प्रेम के कारण उनका समर्थन बलराम भैया को ही प्राप्त होनेवाला था।

जीवन में पहले कभी अनुभव न किया हुआ, श्रीजी के एक अलग ही रूप का दुर्लभ दर्शन अब मुझे होने लगा। अन्यायी घमण्डियों को कठोर दण्ड दिलानेवाले श्रीजी वीरश्रेष्ठ तो थे ही। वे अपने निर्णय पर तत्काल कार्यवाही करनेवाले कुशल शासक थे। महान ऋषि-मुनियों के साथ तत्त्व-चर्चा करनेवाले बुद्धिमान दार्शनिक भी थे वे। छोटे-बड़े द्वारिकावासियों से मनःपूर्वक प्रेम करनेवाले वे प्रेमयोगी थे। वे क्या नहीं थे? वे शूर सेनापति, संगीत के मर्मज्ञ, गदा-खड्ग-धनुष धारण करनेवाले कुशल योद्धा थे। वे अपनी वक्तृता से सुधर्मा राजसभा के सभी श्रोताओं को अभिभूत कर देनेवाले, मन्त्रमुग्ध कर देनेवाले प्रभावशाली वक्ता थे। सुदर्शनधारी श्रीजी सभी कलाओं और विद्याओं के स्वामी थे। किन्तु सम्प्रति मुझे पग-पग पर प्रतीत होने लगा कि अपनी पारिवारिक, नाजुक समस्याओं के सन्दर्भ में वे अब किसी भी चतुर नाट्यकर्मी को भी मात देनेवाले कुशल अभिनेता बन गये हैं। उनके इस रूप ने तो मुझे बार-बार चकित कर दिया।

जब भी बड़े भैया हमसे मिलने हेतु हमारे कक्ष में आते थे, श्रीजी बड़ी प्रसन्नता बिखेरते हुए उनका स्वागत किया करते थे। उन्होंने अपने दाऊ से यह कभी भी नहीं कहा कि सुभद्रा का दुर्योधन से ग्रन्थिबन्धन करने का उनका निर्णय एक ऐसी भूल है, जिसे कभी सुधारा नहीं जा सकेगा। यदि वे ऐसा कहते तो बचपन से ही सम्मानित किये जानेवाले बड़े भैया की ज्येष्ठतावाली प्रतिमा को आघात पहुँचता। यह बात उन्हें तनिक भी स्वीकार नहीं थी। मन-ही-मन सुभद्रा धनुर्धर अर्जुन के साथ प्रेम के धागों से बँध गयी है, यह उन्होंने बहुत पहले ही जान लिया था। श्रीजी नहीं चाहते थे कि सुभद्रा के जीवन की खिलती कली कुचल दी जाए। उन्होंने मन-ही-मन ठान लिया था कि सुभद्रा के लिए सुयोग्य वर केवल अर्जुन ही हो सकता है।

श्रीजी के सूचना के अनुसार मैं सुभद्रा सहित सोमनाथ के शिव-मन्दिर चली गयी। मैंने शिवजी के दर्शन किये। सुभद्रा ने शिवजी के साथ शिवयोगी के भी दर्शन किये। वे दोनों खुलकर बातें कर सकें, इसलिए मैं मन्दिर के बाहर सागर-गर्जन का संगीत सुनती रही। उस समय मुझे वर्षों पहले श्रीजी को उद्विग्न मन से लिखे पत्र का स्मरण हो आया। उसी मोड़ पर आज सुभद्रा खड़ी थी। किन्तु मुझे पूरा विश्वास था कि सुभद्रा अर्जुन की ही पत्नी बनेगी।

उनका मार्ग निष्कण्टक बनाने की अपनी योजना श्रीजी ने उन दोनों को समझा दी थी। शिव-मन्दिर की इस भेंट में अर्जुन और सुभद्रा ने श्रीजी के समस्त निर्देशों का परस्पर आदान-प्रदान किया। शिवजी के सम्मुख उन दोनों को इस वास्तविकता की प्रतीति हुई कि जैसा स्वामी कहेंगे, वैसा ही होगा।

रेवती दीदी के आग्रह से और यादवों की प्रथा के अनुसार सुभद्रा को अब रैवतक पर्वत पर

जाना था। वहाँ वह पर्वतवासिनी देवी के चरणों में श्रीफल और वस्त्र अर्पित करके उससे भावी जीवन के लिए आशीर्वाद की याचना करनेवाली थी। और ठीक इसी समय पर अर्जुन उसका हरण करनेवाला था। इसमें सबसे बड़ी बाधा थे रैवतकराज ककुद्मिन। रैवतक पर्वत के दहाड़ते, विशालकाय सिंहों को अपने मृगया-दल के फैलाये जाल में जीवित पकड़ने के लिए वे विख्यात थे। उनके सैन्य-दलों को चकमा देना अर्जुन के लिए सम्भव नहीं था। यादवकन्या सुभद्रा के हरण के लिए आवश्यक, शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रथ तो अर्जुन के पास था ही नहीं। इस रोमांचकारी घटना में सहायक शस्त्रधारी संरक्षक दल भी उसके पास नहीं था। इसके अतिरिक्त रैवतक पर्वत से इन्द्रप्रस्थ तक की रथयात्रा भी लम्बी थी।

श्रीजी की एक विशेषता थी। किसी भी अभियान में कौन-कौन-सी प्रतिकूलताएँ, बाधाएँ उपस्थित होंगी, इसका विचार वे पहले ही कर लिया करते थे। अपनी दिव्य प्रतिभा से वे उनका उपाय भी खोज लिया करते थे। किसी भी समय उनकी गतिविधियों में पराकोटि की सावधानी और कुशलता हुआ करती थी। इसी से उन्होंने आज तक अपने यश को निष्कलंक बनाये रखा था।

सुभद्राहरण करना अर्जुन की सोच से परे था। वह श्रीजी का ही सुझाया हुआ था। अर्जुन की उठायी सभी शंकाओं का भी उन्होंने मुस्कराते हुए निवारण किया था।

सगाई की विधि के लिए द्वारिका आने के लिए युवराज दुर्योधन के हस्तिनापुर से प्रस्थान करने की सूचना आ गयी। उनके साथ कुरुओं की प्रचण्ड चतुरंग सेना के होने का समाचार गुप्तचरों ने नम्रतापूर्वक बलराम भैया और श्रीजी के समक्ष प्रस्तुत किया। तभी युवराज ने द्वारिका के चारों महाद्वारों को सजाने की आज्ञा दी। सात्यकि और अनाधृष्टि को तो बड़े भैया क्षण-भर का भी अवकाश नहीं दे रहे थे। श्रीजी उनकी आज्ञा के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण की ओर दोनों सेनापतियों का ध्यान आकर्षित कर रहे थे। सूचना दे-देकर शान्त हुए बलराम भैया सन्ध्या समय विश्राम करने हेतु जब आसन पर बैठ गये, तब अपने सागर-दर्शन की तैयारी का आदेश सेवकों को देते हुए श्रीजी ने अपने मन की एक बात धीरे-से आगे बढ़ायी, जो केवल सुनने में ही अच्छी नहीं थी, बल्कि अत्यन्त प्रभावशाली भी थी।

बड़े भैया के समक्ष आदरपूर्वक नतमस्तक होते हुए श्रीजी ने कहा, “दाऊ, कभी-कभी हमसे कुछ ऐसी बातें छूट जाती हैं, जो नितान्त सरल होती हैं। और अवसर चूक जाने पर हम पछताते रहते हैं।”

दिन-भर भाग-दौड़ करके शान्त हुए बड़े भैया ने हँसकर कहा, “पहेलियाँ मत बुझाओ छोटे! जो कुछ कहना है, स्पष्ट-स्पष्ट कह दो। युवराज दुर्योधन के स्वागत की हमारी तैयारी में तुम्हें कुछ त्रुटि तो नहीं लग रही?”

“दाऊ, मेरा आपसे एक नम्र अनुरोध है, यदि आप उचित समझें तो–वैसे युवराज दुर्योधन के स्वागत की तैयारियों में त्रुटि कुछ भी नहीं है, द्वारिका के युवराज के होते हुए किसी बात की त्रुटि हो भी कैसे सकती है! –फिर भी मुझे लगता है, सामर्थ्यशाली कुरु-युवराज दुर्योधन के स्वागत के लिए आपके श्वशुर–रैवतकों के प्रमुख, महाराज ककुद्मिन को ससैन्य द्वारिका आमन्त्रित किया जाए। हम दोनों के साथ उनको भी अपने स्वागत के लिए आया देख युवराज दुर्योधन परम प्रसन्न होंगे। मुझे तो लगता है सोने में सुगन्ध आ जाएगी।”

यह सुनते ही आसन पर बैठे शान्त, श्रान्त बड़े भैया उठ खड़े हुए। बड़े प्रेम से अपने 'छोटे' के कन्धे पर हाथ रखते हुए बोले, "उचित कहा तुमने। मेरे ध्यान में ही नहीं आतीं ऐसी बातें। आज ही भेज देता हूँ सात्यकि को सन्देश सहित रैवतक।"

मोहक मुस्कान के साथ श्रीजी ने कहा, "मेरी ओर से महाराज ककुद्मिन को साष्टांग प्रणाम कहला भेजिएगा, दाऊ!" श्रीजी समुद्र-दर्शन के लिए चले गये।

अगले ही दिन रैवतक-नरेश के लिए उपहार लेकर, युवराज के कक्ष से सात्यकि निकल चुका है, इसका विश्वास होते ही श्रीजी ने अपने विशेष दूत दो दिशाओं में भेज दिये। दूतों का एक दल रैवतक से इन्द्रप्रस्थ के अर्जुन-सुभद्रा के रथ-प्रवास के मार्ग में पड़नेवाले राज्यों की ओर चला गया। वह दल आनर्त, दशार्ण, मत्स्य आदि राज्यों के राजाओं से मिलकर द्वारिकाधीश की ओर से उपहार भेंट करके उनका सन्देश पहुँचानेवाला था। 'कपिध्वज धारण किये रथ से हमारे फुफेरे भ्राता पाण्डुपुत्र पार्थ हमारी बहन सुभद्रा सहित आपके राज्य से होकर इन्द्रप्रस्थ जा रहे हैं। उनको हर सम्भव सहायता पहुँचाकर द्वारिका राज्य से अपना स्नेह-सम्बन्ध बढ़ाएँ।

दूसरा दल था श्रीजी के सबसे अधिक विश्वस्त भ्राता–उद्धव जी का। यह दल सीधे सोमनाथ के शिव-मन्दिर जानेवाला था–एक अलंकृत, शस्त्र-सज्ज रथ सहित! उस रथ के ध्वजदण्ड पर भी अर्जुन का कपिध्वज फहरानेवाला था। रथ में राजकुमार अर्जुन के लिए शस्त्र और राजवेश का भी प्रबन्ध किया गया था।

सारी बातें आदि से अन्त तक श्रीजी ने मुझे बता दीं। मैंने सुभद्रा को अपने कक्ष में बुलवाकर सभी बातें समझा भी दीं। इस अन्तराल में सुभद्रा में अत्यधिक परिवर्तन हो गया था। निश्चय का तेज उसके मुखमण्डल पर मानो छलक रहा था। उसको देखते हुए क्षण-भर मुझे लगा, क्या श्रीजी के साथ रथ में बैठते हुए मेरा मुख भी ऐसा ही दीप्तिमान दिखाई दिया होगा? श्रीजी ने कुशलतापूर्वक पूरा प्रबन्ध कर तो लिया था, किन्तु एक अनामिक भय से क्षण-क्षण मेरी आशंका बढ़ती ही गयी। सारी बातें खुल जाने के बाद बड़े भैया सदैव के लिए श्रीजी से विमुख तो नहीं हो जाएँगे! एक बार सबको साक्षी रखकर श्रीजी के किरीट में लगाया गया भ्रातृभाव का मोरपंख पुन: टूटकर गिर तो नहीं जाएगा?

अब श्रीजी के इस अभियान में हर सम्भव सहायता–भले ही वह नाममात्र ही क्यों न हो–करना मेरा कर्तव्य ही था। अत: किसी-न-किसी निमित्त मैं रेवती दीदी के प्रासाद के चक्कर काटने लगी। यह ध्यान में आते ही उन्होंने मुझसे कहा भी–"रुक्मिणी, कितना प्रेम करती हो सुभद्रा से!"

आमन्त्रण के अनुसार महाराज ककुद्मिन ससैन्य द्वारिका में उपस्थित हो गये। उद्धव जी भी अपना शुभकार्य सम्पन्न करते हुए सोमनाथ से लौट आये।

अब नाटक का अन्तिम अध्याय आरम्भ हो गया। सुभद्रा अपनी सेविकाओं और रक्षकदल सहित रेवती दीदी के साथ रैवतक की ओर प्रस्थान कर गयी। सोमनाथ के शिव-मन्दिर के तपस्वी शिवयोगी ने भी भक्तगणों को आशीर्वाद देकर अपने काषाय वस्त्रों का त्याग कर दिया। अब उसकी तीर्थयात्रा की एक वर्ष की अवधि समाप्त हो गयी थी। इस अवधि में तीर्थयात्रा में होते हुए भी अर्जुन ने उत्तर दिशा में गंगा-तट पर नागकन्या उलूपी से गान्धर्व विवाह कर लिया था। नागराज कौरव्य की कन्या उलूपी बालविधवा थी। उसके श्वशुर ऐरावत ने भी इस विवाह को

सम्मति दी थी। मणिपुर के राजा चित्रवाहन की पुत्री चित्रांगदा से भी अर्जुन का विवाह हुआ था। विशेष बात यह थी कि ये सारी घटनाएँ अर्जुन ने देवरजी द्वारा मुझे सूचित करायी थीं। उसने मुझसे यह निवेदन भी किया था कि ये सारी बातें सुभद्रा को बताकर उसे यह पूछ लिया जाए कि यह विवाह उसे स्वीकार है या नहीं?

मैंने एकान्त में पूरा समाचार सुभद्रा को सुनाया था। कुछ क्षण के लिए वह सोच में पड़ गयी। तब मैंने उससे कहा कि, "सुभद्रे, आखिर अर्जुन तेरे भैया का फुफेरा भ्राता ही तो है! उससे भी अधिक वह उनका पट्टशिष्य है। वह अपने गुरु के चरण-चिह्नों पर ही चलेगा। यह तो तेरा सौभाग्य है कि तुझसे पहले उसकी केवल तीन ही पत्नियाँ हैं। मेरे जैसी..."

झुके सिर को ऊपर उठाकर और मौन तोड़ते हुए सुभद्रा ने कहा, "सुश्रीजी, मेरी योग्यता आप की चरणधूली जितनी भी नहीं है। मैंने तो जीवन-भर आपको ही आदर्श माना है। जो भी हो, मैं पाण्डुपुत्र से ही विवाह करूँगी।" उसने किसी भी प्रकार का सन्देह ही नहीं रहने दिया। अपना निश्चय स्पष्टता से बताकर वह रैवतक पर्वत की ओर चली गयी।

अब नाटक का अन्तिम चरण आ गया था। रैवतकों की देवी का मन्दिर रैवतक पर्वत की तलहटी में ही था। निश्चित किये मुहूर्त पर सुभद्रा रेवती दीदी और सेविकाओं तथा रक्षकदल सहित पर्वत की चोटी से उतरकर तलहटी में आ गयी। मन्दिर के प्रवेशद्वार में भी ऋषि-मुनि और ब्राह्मण पुरोहितों की भीड़ थी। रेवती दीदी के साथ सुभद्रा के मन्दिर में प्रवेश करते ही अर्जुन ने कपिध्वज लगाया हुआ अपना रथ मन्दिर के प्रांगण में लाकर खड़ा कर दिया था। देवी के दर्शन करके रेवती दीदी के साथ सुभद्रा जैसे ही लौटने लगी, श्रीजी की योजना के अनुसार ब्राह्मण पुरोहितों ने महाराज ककुद्मिन की जयकार करते हुए दक्षिणा प्राप्त करने हेतु रेवती दीदी को घेर लिया। इसी अवसर पर अर्जुन ने अपने रथ से, ग्रीवा ऊँची करते हुए शंखध्वनि की। शंखध्वनि का संकेत मिलते ही सुभद्रा कपिध्वज पर दृष्टि गड़ाकर शीघ्रता से रथ की ओर बढ़ने लगी। अर्जुन ने भी रथनीड़ से छलाँग लगायी और अपने हाथ का सहारा देकर अत्यन्त प्रेम और लाघव के साथ उसे रथ में उठा लिया और तनिक भी देर न करते हुए अश्वों को दौड़ने का संकेत किया। चारों शुभ्र-धवल अश्व पाण्डवों के धुनर्धर और द्वारिका की यादवकन्या को लेकर रैवतक की तलहटी से इन्द्रप्रस्थ की ओर चौकड़ियाँ भरने लगे।

श्रीजी की सुभद्राहरण की योजना निर्विघ्नता से पूरी हो गयी थी। इस अभियान की सफलता की सूचना द्वारिका पहुँचते ही मैंने चैन की साँस ली। किन्तु द्वारिका के यादवों में हाहाकार मच गया। इस स्थिति में भी केवल श्रीजी अपनी बहन के शुभविवाह के निमित्ति स्वर्णाभूषण और गोदान करने के लिए दान-वेदिका पर खड़े हो गये। द्वारिका आने के लिए हस्तिनापुर से निकलकर सौराष्ट्र तक पहुँचा हुआ दुर्योधन अत्यन्त क्रुद्ध हो गया। गुरु होने के नाते बड़े भैया को तो वह कुछ कठोर शब्द नहीं कह सकता था। अत: 'हम हस्तिनापुर लौट रहे हैं' केवल इतना ही सन्देश भिजवाकर वह छटपटाता हुआ लौट गया। द्वारिका आना और सुधर्मा सभा में यादवों के हाथों आदर-सम्मान पाना सम्प्रति उसके भाग्य में नहीं था, यादवकन्या सुभद्रा की तो बात ही दूर रही।

अत्यधिक क्रोध-सन्तप्त बलराम भैया सीधे दान-वेदिका के पास आ धमके। आँखें विस्फारित करके क्रोधतप्त शब्दों में वे गरज उठे, "यह सब क्या हो रहा है, छोटे? समझते क्या हो तुम अपने-

आप को?” क्रोध से कम्पित होने के कारण वे और कुछ कह नहीं पा रहे थे। श्रीजी ने नित्य की भाँति मोहक मुस्कान के साथ प्रथम महाराज ककुद्मिन और तत्पश्चात् बड़े भैया के चरणस्पर्श किये। सबको चौंका देनेवाली अपनी विशिष्ट परिणामकारी औषधि श्रीजी ने चटा ही दी। उन्होंने मुस्कराते हुए महाराज ककुद्मिन से कहा, “वन्दनीय महाराज, अब आप ही हमारे युवराज को समझाइए कि सुभद्रा ने अपनी इच्छा के अनुसार वर चुन लिया है। धनुर्धर धनंजय ने क्षत्रियोचित रीति से सुभद्रा का हरण किया है। इसमें मेरा कोई हाथ नहीं है, मेरा कोई दोष नहीं है। फिर भी युवराज होने के नाते दाऊ मुझे कोई दण्ड दें, इससे पहले ही मैं स्वयं ही द्वारिका को छोड़ देता हूँ–जैसे पहले कभी वे मुझे छोड़कर मिथिला चले गये थे! अब मैं उन्हें और द्वारिका को त्यागकर इन्द्रप्रस्थ चला जाऊँगा–सदा के लिए! तत्पश्चात् किसी भी समस्या पर दाऊ अपने श्वशुर के नाते आपसे ही परामर्श करते रहें।”

इस परिणामकारी औषधि से बलराम भैया का राजक्रोध झट से उतर गया। वे हक्का-बक्का हो गये। वृद्ध महाराज ककुद्मिन ने श्रीजी के कन्धे थपथपाते हुए कहा–“द्वारिकाधीश, अपने युवराज भ्राता को परामर्श देने का अधिकार पूर्णत: आपको ही है। सुभद्रा का चयन हमें स्वीकार है। मैं आज ही रैवतक लौट जाऊँगा। वहीं से नवदम्पती के लिए उपहार भेज दूँगा। मुझे विश्वास है, सभी के वन्दनीय आप दोनों भ्राताओं में पुन: मतभेद नहीं होंगे।” अपने भ्राता से किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए इसका अप्रत्यक्षत: आदर्श पाठ ही श्रीजी ने बलराम भैया को पढ़ाया। बिना कुछ कहे, सुभद्रा-हरण की घटना को मौन स्वीकृति देते हुए वे अपने कक्ष की ओर चले गये।

इन्द्रप्रस्थ की सीमा पर हमारी सुभद्रा का अब भव्य स्वागत होनेवाला था। मुझे पूरा विश्वास था, अपने अन्दर की सुप्त स्त्री-शक्ति से परिचित हुई सुभद्रा पाण्डवों में आदर का स्थान प्राप्त करेगी। अब वह पीछे मुड़कर देखनेवाली नहीं थी।

नारी को जब अपने अन्दर के सुप्त शक्तिकेन्द्र का आभास होता है, तो वह पीछे मुड़कर नहीं देखती–आगे ही बढ़ती जाती है।

दारुक

मैं हूँ दारुक–एक सारथि। स्वामी के गरुड़ध्वज रथ का एक सामान्य वाहक। आज मैं उनके विषय में कुछ कहने का साहस कर रहा हूँ, यह भी उन्हीं की कृपा है। मैं उनसे पहली बार मिला मथुरा में–कंस-वध के पश्चात्। आज भी वह क्षण मुझे ज्यों-का-त्यों याद है–जैसे कल ही की बात हो। स्वामी के सम्पर्क में आने से पहले मैं केवल एक आज्ञापालक, संकोची सेवक मात्र था। उनसे मिलने के बाद मुझमें मूलभूत परिवर्तन होने लगे–वह भी अनजाने में ही।

सच तो यह है कि मैं नाममात्र का सारथि था, सच्चे सारथि तो स्वामी ही थे। प्रत्येक मनुष्य के साथ एक रथ दौड़ता रहता है–विचारों का, नींद में भी! स्वामी ने जीवन-भर हजारों-लाखों यादवों के विचार-रथ का सारथ्य तो किया ही, बल्कि वे जहाँ कहीं भी गये, वहाँ के शत्रुपक्ष के भी लाखों जनों के विचार-रथ का सारथ्य उन्होंने किया। मेरा सौभाग्य यह है कि असंख्य मानवों का विचार-सारथ्य करनेवाले महापुरुष–युगन्धर–के रथ का सारथ्य मैंने किया, वह भी एक-दो दिन नहीं, बल्कि अपनी पहली भेंट से लेकर उनके अन्तिम क्षण तक!

मेरे स्वामी का जीवन-कार्य ऐसा अद्‌भुत था–मानो कोई कुशल चित्रकार सुन्दर रंगों के विविध संयोजन से एक आकर्षक चित्र बनाए और सारा विश्व भौंचक्का-सा आँखें फाड़-फाड़कर उसे देखता रहे। जिस प्रकार चित्र बनाते समय अनजाने में ही चित्रकार की तूलिका से रंग के कुछ छींटे इधर-उधर छिटक जाते हैं, उसी प्रकार स्वामी के जीवन-चित्र के दो-चार रंगीन छींटे मेरी अँजुली में आ पड़े हैं। भिन्न-भिन्न रोमांचकारी घटनाओं के समय उनके श्रीमुख से प्रवाहित गंगा-जल की कुछ बूँदें हैं ये!

स्वामी का जीवन-रथ उनके ‘गरुड़ध्वज’ रथ के समान ही था। गतिमानता उनको अत्यन्त प्रिय थी। उनका एक विचार तो बार-बार सुनने के कारण मुझे कण्ठस्थ हो गया है। गुलाबी होंठों के पीछे छिपी दन्तपंक्ति की कुन्द-कली खिलाते हुए वे मुस्कराकर कहा करते थे, “वृद्धि और विकास ही जीवन के चिह्न हैं, इस बात को सदैव स्मरण रखो।” मुझसे रहा नहीं गया और एक बार मैंने उनसे पूछा भी–“क्या वृद्धि का ही अर्थ विकास नहीं है स्वामी?” अपनी स्वाभाविक मोहक मुस्कान के साथ उन्होंने कहा था, “दारुक, वृद्धि का अर्थ है बाहरी शरीर की वृद्धि, विकास का अर्थ है संस्कारों से घटित मन की वृद्धि–आन्तरिक विकास।” उनके इस जीवन-दर्शन को मैंने पूर्णत: अनुभव किया। मुझे स्वयं आभास हो रहा है, उनके सम्पर्क में आने के बाद मुझमें आमूल परिवर्तन आया है।

आयु में तो मैं उनसे ज्येष्ठ हूँ, परन्तु ज्ञान में? मेरी ज्ञान-योग्यता को उनके गरुड़ध्वज रथ के चार दुग्ध-धवल अश्वों–शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक–की गुच्छेदार पूँछों पर पड़े

धूलिकणों के समान भी नहीं है। आज वही मैं आपसे कितनी समृद्ध भाषा में बातें कर रहा हूँ–एक पण्डित की भाँति। यह सब उनके अविस्मरणीय साहचर्य का–उनकी कृपा का प्रभाव ही तो है।

किसी घटना को भलीभाँति समझने के लिए उसकी जड़ तक पहुँच जाने की शिक्षा स्वामी ने बिना कुछ कहे ही दी है मुझे। यह खोज किस प्रकार निरपेक्ष भाव से, अलिप्त मन से की जा सकती है, यह भी उन्होंने ही मौन रहकर समझाया मुझे। इसलिए सारथ्य-कर्म हेतु यादवों के शूरसेन राज्य में आने से पूर्व हम सूतों का मूल स्थान कौन-सा था, मैंने इसकी यथासम्भव पड़ताल की है। इसके धागे मगध राज्य के गंगातटीय प्रदेश तक पहुँचते हैं। स्वामी ने मुझे जो अश्वगीता सुनायी, उसे तो मैं कभी नहीं भूल पाया। मैं जब कहता था–"अश्व सभी प्राणियों में सर्वाधिक गति से दौड़नेवाला प्राणी है।" तब मुस्कराकर मेरी भूल को सुधारते हुए स्वामी कहते थे, "बन्धु दारुक, अश्व से भी अधिक गतिमान होता है मनुष्य का मन! उसको अनुशासन में रखना ही सच्चा सारथ्य है। यह मत भूलो कि अश्वों का भी मन होता है। वे आँख, कान और पूँछों की सरसराहट से अपने मन की बातें कहते रहते हैं। उनको समझ लेना ही सच्चा सारथ्य है।"

मेरी पत्नी हयमती, मेरे पुत्रों–दारुकि, हयकेतु, हयग्रीव और दारुकाक्ष की माता, ने भी छाया बनकर जीवन-भर मेरा साथ दिया। मेरा ज्येष्ठ पुत्र दारुकि स्वामी के प्रथम पुत्र प्रद्युम्न से आयु में तनिक बड़ा था। वह प्रद्युम्न का सारथि बना। हमारी इकलौती दारुका स्वामी की पुत्री चारुमती की प्रिय सखी थी।

द्वारिका में अश्वों के पालन-पोषण के लिए हम सारथियों की एक अलग बस्ती थी। परन्तु स्वामी के अथवा सुधर्मा राजसभा के किसी भी यादव-मन्त्री के भवन में हम बिना रोक-टोक आ-जा सकते थे। आर्य द्वारिकाधीश ने देवी जाम्बवती को अपने रनिवास में बड़े सम्मान के साथ एक विशेष कक्ष की स्वामिनी बनाया था। सभी को कठोर आदेश था कि द्वारिका में कोई नर-नारी जन्म के या जन्म से प्राप्त कर्म के आधार पर छोटा-बड़ा नहीं माना जाए, बल्कि उसका बड़प्पन उसकी विचार-सरणि के अनुसार आँका जाए।

उनके ऐसे उदार विचारों और प्रेमल व्यवहार के कारण सभी उनकी ओर अनायास ही आकर्षित हो जाते थे। नवनिर्मित जनपद द्वारिका को सर्वत्र मान्यता प्राप्त हो, इसके लिए स्वामी ने अथक परिश्रम किया। इसी कारण उन्होंने सिन्धु-सौवीर से लेकर अंग-बंग तक और कश्मीर से लेकर पाण्ड्य तक सम्पूर्ण आर्यावर्त की चारों दिशाओं की यात्रा की। इस यात्रा में स्वामी के गरुड़ध्वज का सारथ्य करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ।

इसी दौरान मुझे द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण महाराज के उस स्वरूप के दर्शन हुए, जो अन्तर्बाह्य कितना निश्छल और निर्मल है। उनके इसी स्वरूप का दर्शन दूसरों को भी कराने का मैं यथामति प्रयास करूँगा। मैं जानता हूँ कि इस कार्य के लिए मेरे पास आवश्यक शब्द-भण्डार नहीं है। प्रतिदिन भ्रमण के लिए रथारूढ़ होकर समुद्र-तट पर विहार करने, दो महाजनपदीय राजनगरों के बीच की दूरी समान गति से तय करने और प्रत्यक्ष रणभूमि में शत्रु पर शस्त्राघात करते समय सारथ्य करने में जैसे अन्तर है, वैसे ही परिवार-वत्सल स्वामी, जनसमुदाय के प्रजावत्सल द्वारिकाधीश, रणभूमि के यादवश्रेष्ठ और ऋषि-मुनियों के साथ तत्त्वचिन्तन में लीन सान्दीपनि-शिष्य के रूप में स्वामी के जीवन-व्यक्तित्व की भिन्न-भिन्न छटाएँ हैं।

जिस प्रकार उल्टे कुम्भों से धप्-धप् करके सीधे गिरनेवाली मूसलाधार, वायु के झोंकों पर

लहराती हुई रिमझिम फुहारें, रुक-रुककर बरसनेवाली घटाएँ और धूप-छाँही खेल खेलनेवाली श्रावणी वर्षा की असंख्य छटाएँ होती हैं, उसी प्रकार मेरे स्वामी द्वारिकाधीश महाराज श्रीकृष्ण का जीवन बहुआयामी था।

कथन-शैली की सभी वल्गाएँ हाथ में थामे हुए मैं इस रथ को दौड़ाना चाहता हूँ! क्या मैं यह कर पाऊँगा? प्रयास तो करना ही होगा। मुझ जैसे सारथि की छोटी आँखों में उस युगपुरुष की मूर्ति कैसे समा पाएगी? कैसी विशाल व्योम-व्यापी मूर्ति है वह! मेरे सारथि-जीवन के गवाक्ष से जितना सम्भव होगा उतना उस आकाशव्यापी पुरुष के दर्शन करूँगा और उतना आपके समक्ष प्रस्तुत कर सकूँगा। परन्तु यह दर्शन केवल एक झाँकी है—परिपूर्ण द्वारिकाधीश स्वामी का दर्शन नहीं। स्वामी ने ही एक बार सुवर्णतुला के निमित्त अपनी प्रिय पत्नी देवी रुक्मिणी और देवी सत्यभामा को यह बोध कराया था कि 'भक्तिभाव से अर्पित किया गया तुलसीदल भी मुझे तौल सकता है।' मेरा यह कथन भी उस तुलसीदल के समान ही है।

द्वारिका गणराज्य द्वीपसमूह पर बसाया गया था। मूल द्वारिका में सुधर्मा सभा के आसपास मन्त्रिगणों के निवास-स्थान थे। सम्पूर्ण मूल द्वीप पर सूक्ष्म दृष्टि रखने हेतु दोनों सेनापतियों के निवास-स्थान ज्योति-स्तम्भ की भाँति ऊँचे थे। वहाँ से सेनापति सात्यकि और अनाधृष्टि बड़ी सतर्कता के साथ शुद्धाक्ष महाद्वार पर निरीक्षण के लिए रखे गये गवाक्ष से समुद्र पर दृष्टि रखते थे।

सेनापति के निवास-स्थान के दोनों ओर अन्य दल-प्रमुखों के भवन थे। सम्पूर्ण द्वीप पर सैनिकों के घर समुद्र-तट के आसपास फैले हुए थे। कामरूप से आयी स्त्रियों के उपनिवेश इस प्रकार बसाये गये थे कि वे दोनों सेनापतियों के दृष्टिपथ में रहें। मूल द्वीप से तीस-चालीस योजन की दूरी पर दूसरा द्वीप था—वह रनिवास-द्वीप के नाम से जाना जाता था। नगरजन उस द्वीप को 'देवी रुक्मिणी का द्वीप' भी कहते थे। स्वामी की आठ रानियाँ थीं। देवी रुक्मिणी जब मूल द्वीप पर निवास करती थीं तब सहज ही रनिवास का द्वीप देवी सत्यभामा के अधिकार में चला जाता था। अन्य सात रानियों की अपेक्षा देवी रुक्मिणी का स्वभाव और आचरण भिन्न था। उनके दर्शन होते ही मेरी आँखों के समक्ष स्वामी की मूर्ति खड़ी हो जाती थी। वे मानो स्वामी की छाया ही थीं! उनके जैसी तो केवल वही थीं! मेरी माता का देहान्त मेरी अबोधावस्था में ही हो गया था। आयु में मुझसे बहुत छोटी होते हुए भी देवी रुक्मिणी ने मुझे माता की कमी का आभास कभी नहीं होने दिया। मेरा उनको 'देवी...महारानी' कहना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। 'माँ...माता' कहने पर उनका मुखमण्डल मातृभाव से खिल उठता था। जैसे 'प्रेमयोग' स्वामी के जीवन का महामन्त्र था, वैसे ही स्वामी की अर्धांगिनी के नाते माता रुक्मिणीदेवी का भी जीवन-मन्त्र था—'प्रेमयोग'!

रनिवास का द्वीप अब स्वामी की पुत्र-पुत्रियों की किलकारियों से निनादित होने लगा था। उनकी आठों रानियाँ दस-दस पुत्रों की माता थीं। बाल यादवों की संख्या अस्सी को भी पार कर गयी थी। उनकी पुत्री चारुमती की कुछ सौतेली बहनें भी थीं।

मेरी समझ में आया था कि कुरुक्षेत्र पर सूर्यग्रहण के दिन पाण्डव और उनकी माता कुन्तीदेवी से प्रथम भेंट होने के पश्चात् स्वामी के व्यवहार में बड़ा परिवर्तन हुआ था। अठारह कुलों के अपने यादवों की अपेक्षा वे पाण्डवों का अधिक ध्यान रखने लगे थे। उनके ही एक महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए हम द्वारिका से उपप्लाव्य गये थे। वहाँ से गरुड़ध्वज रथ में स्वामी के साथ मैं और

सेनापति सात्यकि, इने-गिने यादव-योद्धाओं को लेकर हस्तिनापुर पहुँचे थे। कंस, नरकासुर, कालयवन, शृगाल, शतधन्वा जैसे दुर्जनों का नाश करनेवाले मेरे स्वामी का स्वागत सर्वत्र ही हर्षोल्लास के साथ हुआ था। परन्तु इस समय हस्तिनापुरवासियों ने हमारा जो स्वागत किया, उसे मैं कभी भूल नहीं पाऊँगा। स्वामी की यह हस्तिनापुर-भेंट अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। कौरव-पाण्डवों में राज्याधिकार के यक्षप्रश्न पर बने पराकोटि के तनाव को युद्ध की ओर खींचनेवाला यह क्षण था। स्वामी की यह हस्तिनापुर-भेंट सन्धिदौत्य के लिए थी। मैंने उनको कुरु-राजसभा तक जैसे-तैसे पहुँचाया था। चींटियों की तरह एकत्र हुए हस्तिनापुरवासियों ने उन्हें जैसे घेर लिया हो। केवल कुरु-यादवों का ही नहीं, बल्कि आर्यावर्त के समस्त महाजनपदों का, इस दौत्य से निकलनेवाले परिणाम की ओर उत्सुकतापूर्ण ध्यान लगा हुआ था।

स्वामी को कुरु-राजसभा के निकट पहुँचाकर, सेनापति सात्यकि और शस्त्र-सज्ज योद्धाओं के मण्डल को उन्हें सौंपकर मैं राजभवन के बाहर ही रुक गया था। सभागृह में क्या हुआ, यह तो मुझे ज्ञात नहीं हुआ; परन्तु घटिका-भर में ही पितामह भीष्म, महामन्त्री विदुर, मन्त्री संजय, महारथी कर्ण, अमात्य वृषवर्मा जैसे कुरुश्रेष्ठों के साथ सभागृह से बाहर आये मेरे स्वामी द्वारिकाधीश महाराज श्रीकृष्ण का मुखमण्डल कुछ अलग ही दिख रहा था। वह कुछ कठोर और कठिन निर्णय लेने से दृढ़तापूर्ण दिख रहा था। उनकी चाल सदैव धीर-समीर के झोंके की भाँति सहज होती थी, परन्तु आज वे मल्लयोद्धा भीमसेन की भाँति अपने सुदृढ़ शरीर का भान रखे हुए, प्रत्येक पग जैसे धरती में गड़ाकर चल रहे थे। मैं गरुड़ध्वज को उनके समीप ले गया। स्वामी ने सेनापति सात्यकि को पिछले रथ में बैठने का संकेत किया। सबको आश्चर्य में डालकर रथारूढ़ स्वामी ने अचानक अपना बायाँ हाथ अंगराज कर्ण की ओर बढ़ाया और उनसे कहा–"आओ महाबाहो, मुझे तुमसे बात करनी है।" महारथी कर्ण भी बिना आनाकानी किये गरुड़ध्वज पर आरूढ़ हो गये। स्वामी ने आदेश दिया–"चलो, दारुक, रथ हस्तिनापुर की सीमा की ओर ले चलो। अब कहीं भी मत रुको।"

मैंने अपने चारों अश्वमित्रों को उनके नाम से पुकारकर दौड़ने का संकेत किया। रथ ने गति पकड़ी। रथ की छत को सुशोभित करनेवाली छोटी-छोटी स्वर्णिम घण्टिकाएँ मधुर ध्वनि से छन-छन करने लगीं। हमारे पीछे-पीछे सेनापति सात्यकि और अन्य योद्धाओं के रथ चल पड़े। मैंने तभी ताड़ लिया था कि स्वामी को अंगराज कर्ण से कुछ विशेष बात करनी है, जिसके लिए उन्हें एकान्त स्थान की आवश्यकता है। यह क्षण मेरे जीवन का एक चिरस्मरणीय क्षण था। हम सूतपुत्रों में से ही एक, 'अंगराज' की पदवी प्राप्त, ब्रह्मास्त्रधारी, दानवीर महारथी को स्वामी के साथ वहन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। किन्तु मैं इस उलझन में था कि कुरुसभा के अन्य सभी को छोड़कर द्वारिकाधीश ने एक सूतपुत्र को ही इतने आदर से अपने साथ क्यों लिया है?

उन दोनों वीर पुरुषों को हस्तिनापुर की सीमा से बाहर एक घेरदार वट-वृक्ष के नीचे उतारकर मैं दूर एक ऊँचे खदिर-वृक्ष की छाया में गरुड़ध्वज के साथ ठहर गया।

कुछ समय पश्चात् दोनों वीर लौटे और गरुड़ध्वज के पास आये। स्वामी ने मुझे आदेश दिया, "दारुक, अंगराज को राजनगर में सभागृह तक पहुँचा दो!" अब स्वामी का हाथ अपने हाथ में लेकर किंचित् दबाते हुए उस दानवीर ने कहा, "इसकी कोई आवश्यकता नहीं माधव। मैं पैदल ही

चला जाऊँगा।" और मुड़कर वे जाने लगे। स्वामी ने अपने-आप से ही बुदबुदाते हुए कहा–"महायुद्ध का होना अब अटल है! चलो दारुक।"

स्वामी और अंगराज की भेंट के समय से मैं सोच रहा हूँ–कुरु, पाण्डव और यादवों के जीवन में कितने और कैसे-कैसे मोड़ आ गये हैं। स्वामी के साथ मेरे द्वारा अनेक बार पार किये गये गंगा-यमुना के विशाल पाटों में से होकर कितना पानी बह गया था।

इन सब मोड़ों में, स्वयं को सम्राट् कहलानेवाले मगधाधीश जरासन्ध का वध सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी।

जब पाण्डव इन्द्रप्रस्थ में सुस्थिर हो गये थे तब की बात है। ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर ने जब राजसूय यज्ञ करने का विचार किया था, तब यह घटित हुई थी। विधियुक्त राजसूय यज्ञ करने की अपनी कामना को ज्येष्ठ पाण्डव ने हमारे स्वामी के समक्ष प्रकट किया था। चारों पाण्डव आर्यावर्त की चारों दिशाओं पर दिग्विजय करके लौटे थे। वे अगणित सम्पत्ति–हाथी, घोड़े, ऊँट, दुधारू गायों के झुण्ड, बहुत सारे जनपदों से भेंटस्वरूप प्राप्त सेवक-सेविकाएँ, सैनिक आदि इन्द्रप्रस्थ में लाये थे। वीर भीमसेन और धनुर्धर धनंजय की दिग्विजय लोमहर्षक युद्धों के कारण विख्यात हो गयी थी। सभी पाण्डवों की विजय-गाथाएँ हमने स्वामी के साथ द्वारिका में सुनी थीं। इन्द्रप्रस्थ अब प्रजाजनों से भरा-पूरा समृद्ध राजनगर बन गया था। पाण्डवों की वंशवृद्धि की वार्त्ताओं से भी द्वारिका आनन्दविभोर हो उठी थी। महारानी देवी द्रौपदी को प्रत्येक पाण्डव से एक-एक वीर पुत्र प्राप्त हुआ था। युधिष्ठिर-पुत्र का नाम प्रतिविन्ध्य, भीमसेन-पुत्र का सुतसोम, अर्जुन-पुत्र का श्रुतकीर्ति, नकुल-पुत्र का शतानीक और सहदेव-पुत्र का नाम था श्रुतकर्मन। और कुछ दिन बाद जन्मे अर्जुन और सुभद्रा-पुत्र की वार्त्ता से द्वारिकापुरी अति आनन्द से खिल उठी थी। स्वामी के आदेश से प्रथम प्रसूति के लिए देवी सुभद्रा को मैं ही द्वारिका ले आया था। पाण्डव और यादवों के दृढ़ रक्त-सम्बन्ध का यह पहला ही अंकुर था। उसका मुखदर्शन करते हुए 'मामा' के रूप में बलराम भैया और हमारे स्वामी को अपार आनन्द का अनुभव हुआ था। मेरे स्वामी ने ही बड़े दुलार से उसका नाम रखा था–अभिमन्यु। पाँचों पाण्डव वीरों ने समस्त आर्यावर्त पर इन्द्रप्रस्थ की धाक जमा रखी थी। वे पाँचों वीर राजमाता कुन्तीदेवी के कहने के अनुसार सदैव द्वारिकाधीश के आज्ञापालन हेतु तत्पर रहा करते थे।

इन्द्रप्रस्थ से लौटने के पश्चात् मेरे स्वामी ने सुधर्मा राजसभा में जाना कम कर दिया था। वे उद्धव महाराज के साथ गरुड़ध्वज पर आरूढ़ होकर द्वारिका के पश्चिमी ऐन्द्र महाद्वार के पास चले जाते थे। वे वहाँ शिलामंच पर बैठे अपने भ्राता के साथ पाण्डवों के विषय में चर्चा किया करते थे। उन चर्चाओं में राजसूय यज्ञ और उसमें स्वयं को अजेय कहलानेवाले मगधसम्राट् जरासन्ध द्वारा डाली गयी बाधाओं के विषय में भी बातें होती थीं।

हाँ–हम सभी सूत और द्वारिकावासी नगरजन उद्धव जी को उद्धव महाराज ही कहा करते थे। वास्तव में द्वारिका के महाराज थे–महाराज वसुदेव, परन्तु किसी भी युद्ध में भाग न लेनेवाले, जीवन-सम्बन्धी बहुमूल्य विचारों को सीधे-सादे सरल शब्दों में लोगों तक पहुँचानेवाले ये स्वामीबन्धु–उद्धव जी–भी एक अलग ही अर्थ में 'महाराज' बन गये। महाराज वसुदेव, आचार्य सान्दीपनि, बलराम भैया के पश्चात् सर्वत्र इनका ही आदर किया जाता था। उन्होंने अपनी मधुर वाणी और आचरण से द्वारिकावासियों के मन जीत लिये थे। महाराज वसुदेव द्वारिका के

राजसिंहासन के स्वामी थे और उद्धव महाराज जन-मन के। यादव मन्त्रिमण्डल के एक मन्त्री–स्वयं उद्धव महाराज के पिता–देवभाग भी उनका आदर करते थे। इस बात से उद्धव महाराज को संकोच होता था। उनकी इसी विनम्रता के कारण सभी मन्त्रिगण उनका इतना आदर करते थे, जितना कि द्वारिकाधीश का! अपनी अंगभूत विनम्रता के कारण ही उन्होंने द्वारिका के मन्त्रिमण्डल में अधिकार का कोई भी स्थान ग्रहण नहीं किया था।

अपने अत्यन्त निकटवर्ती उद्धव जी से घण्टों चर्चा करने पर भी स्वामी को राजसूय यज्ञ में आनेवाले जरासन्ध के प्रतिरोध का कोई उपाय सूझ नहीं रहा था। वे अनमने-से हो गये थे। ऐसे ही एक दिन पश्चिम सागर से सूर्यदेव को सन्ध्या समय का अर्घ्य देकर स्वामी उद्धव महाराज के साथ सागर-तट से लौट रहे थे। मैं रथ में ही बैठा था। इतने में कहीं से एक वृद्ध ब्राह्मण उनके सामने आ गया और हाथ जोड़कर दोनों के समक्ष खड़ा हो गया। उसको क्या सान्ध्यदान दिया जाए, इस सोच में स्वामी पड़ गये। झट से उन्होंने गले की मौक्तिक-माला उतारी। उद्धव महाराज ने चरणों में लिपटनेवाले सागर-जल से अँजुली भरकर जल उस पर डाल दिया। ब्राह्मण ने बड़ी शीघ्रता से कहा, "मैं दान लेने के लिए नहीं आया हूँ द्वारिकाधीश!–केवल आपके दर्शन हेतु आया हूँ। आपके साथ उद्धव महाराज को पाकर मैं धन्य हो गया। निरपेक्ष और पराक्रमी क्षात्रतेज के दर्शन से प्राप्त होनेवाली कृतार्थता को केवल कोई ब्राह्मण ही जान सकता है।" कहकर उस कृतार्थ ब्राह्मण ने सागर के पुलिन में ही स्वामी और उद्धव महाराज को साष्टांग प्रणाम किया। दोनों ने बड़े प्रेम से उसको ऊपर उठाकर मार्गस्थ कराया। मैंने देखा, स्वामी किसी गहरी सोच में खो गये थे। कुछ क्षण पश्चात् बड़े स्नेह से अपने भ्राता के कन्धे थपथपाते हुए वे हलके-से बुदबुदाये–"भ्राता ऊधो, जरासन्ध की समस्या हल हो गयी समझो।" फिर वे दोनों बातें करते रहे और मैं रथ को दौड़ाता रहा।

दूसरे ही दिन स्वामी और उद्धव महाराज गरुड़ध्वज सहित एक विशाल नौका से द्वारिका की खाड़ी पार करके आनर्त में उतरे। मैं भी उनके साथ था। गिने-चुने यादव वीरों के सशस्त्र दल भी हमारे साथ थे। हम दशार्ण, मत्स्य आदि देशों में पड़ाव डालते-डालते पाण्डवों की राजनगरी इन्द्रप्रस्थ की सीमा पर आ गये। अग्रवार्त्ता मिलने के कारण पाँचों पाण्डव राजमाता कुन्तीदेवी, महाराज्ञी द्रौपदीदेवी, छोटे-छोटे पाण्डव-पुत्र, अमात्य और सेनापति सहित स्वामी के स्वागत के लिए इन्द्रप्रस्थ की सीमा पर उपस्थित थे। वाद्यों की तुमुल ध्वनि के साथ, पुष्पांजलि और गुलाल-अबीर की बौछारों में नहाते हुए, गरुड़ध्वज रथ में ही हमने इन्द्रप्रस्थ में प्रवेश किया। हम पाण्डवों के राजप्रासाद में आ गये। उनके राजपुरोहित धौम्य हमारे स्वामी से मिलने आये तो स्वामी ने उनके कान के पास धीरे-से कहा,–"मुनिवर, भीमसेन और अर्जुन को एक-दो दिन में ब्राह्मणों के सभी नित्यकर्म प्रत्यक्ष रूप से पूरे करवाकर भलीभाँति समझा दीजिए। उसमें तनिक भी त्रुटि नहीं रहनी चाहिए।" उनके साथ होते हुए भी मुझे अथवा अन्य किसी को उनकी योजना का कुछ भी पता नहीं चला।

इन्द्रप्रस्थ में पाण्डवों के राजप्रासाद में हमने एक सप्ताह तक वास किया। इस कालावधि में पाण्डव-अमात्य से हमें जो कुछ ज्ञात हुआ, वह हमारे तर्क से परे था। स्वामी की मगधसम्राट् जरासन्ध के विनाश हेतु बनायी परियोजना के पहले चरण में केवल हम चार सम्मिलित थे–महावीर भीमसेन, धनुर्धर अर्जुन, स्वयं द्वारिकाधीश और मैं–उन तीनों का सारथि।

यह सुनकर मैं तो चकित रह गया कि केवल हम चारों को जरासन्ध की सैन्य-सज्ज राजनगरी गिरिव्रज में प्रवेश करना है। यह तो स्वयं मृत्यु के मुख में प्रवेश करने जैसा था। जरासन्ध के शतराजशीर्ष यज्ञ में बलि चढ़ाने के लिए छियासी राजाओं को बलपूर्वक बन्दी बना लिया गया था। हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, द्वारिका के कुशल गुप्तचर मागधों का भेद पाने के लिए मगध राज्य में जाते अवश्य थे, परन्तु लौटकर नहीं आते थे। मगध का राजनगर गिरिव्रत तो सात पर्वत-पंक्तियों के घेरे में बसा हुआ था। पर्वत-पंक्तियों से घिरा गिरिव्रज मानो वज्र की भाँति अभेद्य शस्त्र था। वहाँ तक कोई पहुँच नहीं पाता था। जरासन्ध द्वारा बन्दी बनाये राजाओं को गिरिव्रज के ही कारागृह में रखा गया था।

जरासन्ध-अभियान की गुप्त योजना इन्द्रप्रस्थ में बनायी गयी। उसमें सभी पाण्डव, राजमाता कुन्तीदेवी, महाराज्ञी द्रौपदीदेवी, सेनापति, अमात्य और मैं–एक सामान्य सारथि–सम्मिलित थे। परन्तु वास्तव में योजना बनायी थी स्वामी ने। पाण्डवों में से केवल दो योद्धाओं को लेकर स्वामी गिरिव्रज जानेवाले थे। मेरा काम था इन तीनों योद्धाओं को एक साधारण रथ में ले जाकर मगध राज्य में गिरिव्रज तक पहुँचाना। यात्रा के प्रत्येक पड़ाव पर कुशल गुप्तचरों को उतारते हुए हम आगे जानेवाले थे। मगध की सीमा में प्रवेश करने से पहले तीनों योद्धा राजवेश त्यागकर ब्राह्मणवेश धारण करनेवाले थे। मगधसम्राट् जरासन्ध के आमन्त्रित काशी के अधिकृत पुरोहित के नाते वे गिरिव्रज में प्रवेश पानेवाले थे। मागध-सारथि के वेश में मैं उनको यथासम्भव मगधसम्राट् के राजभवन तक पहुँचानेवाला था। आज तक जो समाचार प्राप्त करने में गुप्तचर असफल रहे थे, उन्हें ये तीन योद्धा कुशलता से प्राप्त करनेवाले थे। मैं मागधों की अश्वशाला में निवास करनेवाला था। कार्य में सफलता पाते ही वे मुझे संकेत देंगे, तदनुसार तत्पश्चात् मुझे मागध-पुरोहित को सन्देश देना था कि, “काशी के आश्रम में एक विशेष धर्मकार्य का आयोजन किया गया है, अत: कुछ समय के लिए काशी के पुरोहितों को वापस भेजा जाए।” इस प्रकार तीनों योद्धा सरलता से गिरिव्रज को छोड़कर मगध की सीमा पार करनेवाले थे। उनके पश्चात् इन्द्रप्रस्थ, द्वारिका और उनके मित्र गणराज्य एकत्र होकर जरासन्ध द्वारा बन्दी बनाये राजाओं के पौरजनों का आवाहन कर, उनकी भी सहायता प्राप्त करनेवाले थे। उसके बाद सबको मिलकर मगध पर प्रबल प्रहार करना था। अभियान का यह दूसरा चरण था। इसका प्रमुख उद्देश्य था बन्दी बनाये गये छियासी राजाओं की मुक्ति। इसलिए जरासन्ध का विनाश आवश्यक था।

इन्द्रप्रस्थवासियों ने हम चारों को विदा दी। यमुना नदी पार करके हमने पांचाल राज्य में प्रवेश किया। महाराज्ञी द्रौपदी के काम्पिल्यनगर में पांचाल-जामाता अर्जुन का और उनके साथ-साथ हमारा प्रचण्ड स्वागत हुआ। एक सप्ताह-भर पांचालों का अतिथि-सत्कार स्वीकार कर, हम गंगा, गोमती, सरयू आदि नदियों को पार करते हुए मिथिला नगरी में आ गये। मगध की सीमा में प्रवेश करने से पूर्व यह हमारा अन्तिम पड़ाव था। यहाँ भी हमने पन्द्रह दिन निवास किया।

अयोध्यापति श्रीराम के श्वसुर जनकराज की यह नगरी थी। हमारे युवराज बलराम ने भी कुछ समय यहाँ निवास किया था। परन्तु इस समय राजा जनक का वंशज विदेह-नरेश जरासन्ध का बन्दी बना हुआ था। अपने राजा की प्रतीक्षा कर-कर के विदेह की प्रजा हताश हो गयी थी। बाल राजकुमार को सिंहासन पर बिठाकर विदेह के अमात्य और सेनापति शासन चला रहे थे।

अन्तत: हम मगध सीमा पर आ गये। पूर्व योजना के अनुसार मैंने मागध-सारथि का वेश

धारण किया। मैंने मटमैले रंग का, मरोड़दार मुँड़ासा सिर पर धारण किया था। बोलचाल की मागधी भाषा हमने मिथिला में ही सीख ली थी। मेरे स्वामी, पाण्डुपुत्र पार्थ और बलवान भीमसेन ने काशी देश के ब्राह्मण-पुरोहित के वेश धारण किये थे। तीनों वीर अब एकदम अलग ही दिखने लगे थे। इन्द्रप्रस्थ का कोई नगरजन यदि अर्जुन, भीमसेन को इस वेश में देखता तो पहचान ही नहीं पाता। इतना ही नहीं, कोई भी द्वारिकावासी इस वेश में मेरे स्वामी को देखता तो वह भी उन्हें पहचान नहीं पाता। दोनों को देखते हुए स्वयं मैं ही उलझन में पड़ जाता था। कभी-कभी मैं पहचान नहीं पाता, कि दोनों में से स्वामी कौन है और अर्जुन कौन है? इसलिए मैंने एक उपाय ढूँढ़ रखा था। मिथिलावासियों ने पाँच अश्वोंवाला एक रथ हमारी सेवा में प्रस्तुत किया था। रथ के पृष्ठभाग में भीमसेन की प्रचण्ड गदा, अर्जुन के गाण्डीव धनुष और तूणीर तथा स्वामी के अजितंजय और शार्ङ्ग धनुष, नन्दक खड्ग को एक मोटे से आस्तरण में छुपाकर रखना हम भूले नहीं थे। विशेष बात यह थी कि ब्राह्मणवेश में होते हुए भी स्वामी ने स्मरणपूर्वक गले में वैजयन्तीमाला धारण की थी। किसी को भी, कुछ भी शंका न हो, इसलिए उन्होंने अर्जुन को भी पुष्पमाला धारण करने को कहा था–परन्तु वह वैजयन्तीमाला नहीं थी। इस स्थिति में दोनों को कैसे पहचाना जाए? अत: सारथ्य करते समय मैं उन अश्वों को 'मेघपुष्प, बलाहक, शैव्य, और सुग्रीव' के नाम से पुकारकर रथ के पृष्ठभाग में दृष्टि डालता था। उन नामों को सुनकर मुख पर खिली मुस्कान से मैं अपने स्वामी को पहचान लेता था।

गिरिव्रज के मार्ग में आनेवाले मागध रक्षकदल की चौकियों को हमने कुशलता के साथ बड़े नाटकीय ढंग से पार किया। इस यात्रा में हमारे आचरण के नियम क्या होंगे, यह स्वामी ने इन्द्रप्रस्थ में ही निश्चित कर दिया था। हम तीनों को बिना कोई प्रश्न किये स्वामी की आज्ञा का पालन करना था। ऐसा करते हुए यदि प्राण संकट में आ जाएँ, तो भी पीछे नहीं हटना था। हम सबने प्राणों की बाजी लगाकर इस साहसी अभियान का आयोजन किया था।

अर्जुन अथवा भीमसेन के मन में यह प्रश्न आया होगा कि नहीं, यह तो मुझे ज्ञात नहीं; परन्तु मेरे मन में अवश्य यह आया था कि सुदर्शन चक्र के स्वामी द्वारिकाधीश ने इस साहसी अभियान का आयोजन क्यों किया होगा। क्या गिरिव्रज में वे दिव्य सुदर्शन का प्रयोग करनेवाले हैं? मुझे तो मन-ही-मन उसी का एक अज्ञात, दृढ़ भरोसा था। सुदर्शन के मन्त्रों का स्मरण करते हुए स्वामी के मुखमण्डल के भाव हठात् बदल जाते थे। मगध की सीमा पर राजवेश त्यागकर ब्राह्मणवेश धारण करते हुए उनका मुख वैसा ही दिखने लगा। आज तक क्या उन्होंने कम रूप धारण किये थे? परन्तु आज का उनका रूप पूर्णत: भिन्न था। पहले कभी मैंने अथवा किसी ने उनको ब्राह्मणवेश में नहीं देखा था। 'सचमुच स्वामी कौन हैं?' मन में यह प्रश्न उभरते ही मैं रोमांचित हो उठता था। हमारी पहली ही भेंट में मेरे दोनों हाथ अपनी ऊष्मापूर्ण अँजुली में लेकर उन्होंने कहा था–"दारुक, तुम मेरे सखा हो।" वास्तव में अपने शरीर के एक अंग की भाँति उन्होंने जीवन-भर मेरा ध्यान रखा था। मेरे मन में उभरे 'कौन हैं वे?' इस निरर्थक प्रश्न पर मुझे मन-ही-मन लज्जा आ गयी। क्या मैं दारुक–अर्थात् स्वयं स्वामी ही नहीं था?

गिरिव्रज सात पर्वत-पंक्तियों के प्राकृतिक प्राचीर में बसा मागधों का अजेय राजनगर था। ये सात पर्वत थे–वैभारगिरि, विपुलगिरि, रत्नगिरि, छटागिरि, शैलगिरि, उदयगिरि और सोनगिरि। इनमें से विपुलगिरि का ही दूसरा नाम था चीतागिरि। यहाँ दिन-दहाड़े चीते दहाड़ते हुए घूमा करते थे। यह मगध का पूर्व द्वार था। उत्तर में शैलगिरि और दक्षिण में उदयगिरि महाद्वार थे। पश्चिम में था

सोनगिरि महाद्वार। गिरिव्रज को घेरकर पानकण नदी बहती थी। सातों गिरि-प्राचीरों पर मागध-रक्षकदल नियुक्त किये हुए थे। पश्चिम की पर्वत-पंक्तियाँ पार करके हम गिरिव्रज के विशाल सोनगिरि महाद्वार में आ गये। द्वारिका के शुद्धाक्ष महाद्वार से यह द्वार पुरुष-भर अधिक ऊँचा था। उनका निचला आधा अंश नुकीले, कठिन लौह कीलों से व्याप्त था। सैकड़ों बलवान सैनिकों के लिए कीकर के मजबूत स्तम्भों के आघातों से भी उसे खोलना सम्भव नहीं था। प्रचण्ड हाथी भी उन लौह कीलों पर टक्कर नहीं दे सकते थे। महाद्वार के ऊपरी आधे अंश पर मागधों के शक्तिप्रेरक वनराज सिंह, वराह, वनमहिष की आक्रामक मुखाकृतियाँ अंकित थीं। महाद्वार खोलते ही दो भागों में विभाजित होने वाला मगधसम्राट् का वंशचिह्न भी उस पर अंकित था। उसमें भ्रान्त धारणा के कारण रुद्र के रूप में–विश्वभक्षण हेतु मुँह फैलाये, लटकती जिह्वावाले दैत्य का ही चित्र बनाया गया था। वास्तव में मागध आर्य ही थे, परन्तु उनके संस्कार वन्य और अमानवीय थे।

वह महाद्वार ही देखनेवालों के मन में भय निर्माण कर रहा था। उससे भी अधिक भयावह था वहाँ का राजा–जरासन्ध। मगध का महाद्वार पार करते ही हमने शीघ्रता की। तीनों वीर रथ से नीचे उतर गये। मैं रथ लेकर मगध की विशाल अश्वशाला की ओर चला गया। रथ को वहाँ छोड़कर अश्वों को चारा-पानी देकर मैं महाद्वार की ओर लौट आया। वहाँ विशाल आकार के नगाड़े रखे हुए थे। तीनों वीर महाद्वार के निकट का ऊँचा सोपान चढ़कर नगाड़ा-कक्ष में पहुँचे थे। तीनों वीरों के नगाड़ों पर अचानक किये आघातों की ध्वनि से पूरा गिरिव्रज गूँज उठा। उन नगाड़ों में से एक की ध्वनि सबसे अधिक ऊँची थी। वह गिरिव्रज को ही नहीं, बल्कि माथे पर फैले आकाश को भी गरज कर बता रही थी–‘मैं आया हूँ! मैं आया हूँ!!’ उस नगाड़े को वायुपुत्र भीमसेन पीट रहा था। गिरिव्रजवासियों ने नगाड़े की ऐसी अद्‌भुत और प्रलयंकारी ध्वनि पहले कभी नहीं सुनी थी। वह ध्वनि प्रलयकाल में उत्पन्न होनेवाले सप्त समुद्रों के सर्व-संहारक गर्जन जैसी भयभीत करनेवाली थी। नगरजन और कुतूहल से सिर उठा-उठाकर देखनेवाले सैनिक नगाड़ा-कक्ष के नीचे इकट्‌ठा होकर आपस में कोलाहल करने लगे। वे समझ नहीं पा रहे थे कि सोपान चढ़कर नगाड़ा-कक्ष तक कैसे पहुँचा जाए? क्योंकि पूर्व योजना के अनुसार बलवान भीमसेन ने एक प्रचण्ड पाषाण-खण्ड बीच में रखकर सोपान चढ़ने का मार्ग बन्द कर दिया था। सैनिकों में से किसी ने जरासन्ध के चारों दिशाओं के सेनापतियों को यह समाचार दिया। वे सब चौड़े फलवाले, मोटे नग्न खड्ग कन्धों पर लिये नगाड़ा-कक्ष के सोपान के पास दौड़े चले आये।

मगधसम्राट् जरासन्ध राजप्रासाद के अन्तःपुर में विशेष मागध मैरेय मद्यपान करते हुए, रक्तवर्ण नेत्रों से सुन्दर नर्तकियों की नृत्य-कला देखने में मग्न था। थर्रा देनेवाले नगाड़ा-घोष से उसके हाथ से चषक छूटकर गिर गया। उसने आँखें फाड़कर आदेश दिया–“कौन पीट रहा है इस प्रकार नगाड़ा? ले आओ उसको!” सम्राट् की आज्ञा का पालन करने के लिए सेनापति कटिबद्ध हो गये। सैनिकों को तैनात करके उन्होंने नगाड़ा-कक्ष तक पहुँचने में बाधा बने पाषाण-खण्ड को बड़े प्रयास से सोपान से हटाया।

जरासन्ध के चारों सेनापति समझ नहीं पा रहे थे कि शतराजशीर्ष यज्ञ के लिए आमन्त्रित काशी के ब्राह्मण पुरोहितों ने नगाड़ा-कक्ष में जाकर नगाड़े क्यों पीटे? मागध सेनापतियों ने धक्के दे-देकर तीनों ब्राह्मणों को सम्राट् के समक्ष खड़ा किया। दहला देनेवाली उस विलक्षण, अभूतपूर्व नगाड़ा-ध्वनि से सम्राट् हड़बड़ा गया था। उसका नशा उतरने लगा था। उसने महाकाय

वायुपुत्र पर आँखें गड़ाकर, धमकाते हुए पूछा, "कौन हो तुम? यहाँ क्यों आये हो?"

भीमसेन के बदले मेरे स्वामी ने ही कुछ ठिठकते हुए, डरते हुए उत्तर दिया, "सम्राट्, हम तीर्थक्षेत्र काशी से आये हैं–आपके शतराजशीर्ष यज्ञ का समाचार सुनकर। हम तीनों वेदों के और यज्ञविधियों के ज्ञाता हैं। महाराज कृपा करें तो हम महाराज का शतराजशीर्ष यज्ञ भलीभाँति सम्पन्न कराएँगे। और महाराज, जो भी दान-दक्षिणा दें, उसे सहर्ष स्वीकार कर, महाराज और उनके परिवार को आशीर्वाद देकर काशी लौट जाएँगे।"

"इसके लिए हमारे राजपुरोहित से मिलने के बदले नगाड़े क्यों पीटे तुमने?" सम्राट् गरज उठे।

"महाराज, हमने आपके नगाड़ों की कीर्ति काशी में सुनी थी," अर्जुन ने बीच में ही कहा।

"और मथुरा के कंस महाराज की धर्मविधियों को सम्पन्न कराने का सौभाग्य भी हमें प्राप्त हुआ है। औपचारिकताओं को पूरा करने में अधिक विलम्ब न हो, इस हेतु मेरे भ्राता ने नगाड़ा पीटकर हमारे आने की पूर्व सूचना सम्राट् के चरणों में निवेदित की है। भूल तो हमसे हो ही गयी है महाराज, लेकिन उदार मन से सम्राट् क्षमा करें। धर्मज्ञ होते हुए भी क्षमा-याचना करने का यह हमारा पहला ही अवसर है। स्वयं सम्राट् ही ब्राह्मणों को क्षमादान न दें तो रुद्र का प्रकोप हो सकता है।" स्वामी ने अपनी उलझनेवाली वेणुवाणी में हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर अजेय सम्राट् पर पहला जाल फैलाया।

"कुलदेवता...रुद्र...यज्ञ" इन शब्दों को सुनकर सम्राट् का रहा-सहा नशा भी उतर गया। अपने सेनापतियों को तुच्छता-भरी दृष्टि से देखते हुए ने सम्राट् कहा–"इन निर्दोष ब्राह्मणों को बन्दी बनाकर कौन-सा पराक्रम किया है तुमने? इसके बदले यज्ञबलि की संख्या पूरी करने के लिए किन्हीं तीन राजाओं को पकड़कर हमारे समक्ष प्रस्तुत करते तो हम तुम्हारा यथोचित सम्मान करते। ले जाओ इनको–ये बहुत दूर–काशी से आये हैं। इनका अतिथिशाला में उचित प्रबन्ध करो।"

सम्राट् के वे धन्योद्‌गार सुनकर वायुपुत्र ने जो लम्बी साँस छोड़ी वह अन्य सभी ने सुनी। परन्तु दूर राजसिंहासन पर आसीन जरासन्ध ने सुनी अथवा नहीं, इसका तो पता नहीं।

मेरे स्वामी द्वारिकाधीश, वायुपुत्र भीमसेन और धनुर्धर अर्जुन का आमन्त्रित पुरोहितों के नाते अतिथिशाला में उचित प्रबन्ध हो गया। हमारे अभियान का आरम्भ अब सुलभ हो गया। भीमसेन और अर्जुन यज्ञ के ही निमित्त मगध की चतुरंग सेना के दल-प्रमुखों से भेंट करके सेना-विषयक सूचनाओं को समेटने लगे। मेरे स्वामी अपनी मधुर वाणी से राज-सेवकों को मन्त्रमुग्ध करते हुए सम्राट् के राजप्रासाद में निर्विघ्न घूमने लगे। उनकी सर्वलक्षी आँखें मागधों की सामर्थ्य के बल-स्थानों का चुपचाप निरीक्षण करने लगीं। तीनों वीरों के द्वारा प्राप्त किये गये समाचार सारथियों की अतिथिशाला में मुझ तक पहुँचने लगे। मैं उन्हें मिथिला, काम्पिल्यनगर, भोजपुर के मार्ग से, गुप्तचरों द्वारा सेनापति सात्यकि, अनाधृष्टि के पास पहुँचाने लगा। एक सप्ताह बीत गया। अब तक स्वामी ने जरासन्ध-पुत्र सहदेव का निकट साहचर्य प्राप्त कर लिया था। मागध-मन्त्रिमण्डल के मन्त्रिगण उनके परिचित हो गये थे। बात-बात में धड़ाधड़ वेदों–उपनिषदों के दृष्टान्त देनेवाले स्वामी सबके आदरणीय बन चुके थे। हम सब दीर्घ उच्चारणवाली मागधी बोली भी अब तक सीख गये थे। सुबह अर्जुन से, दोपहर भोजन के पश्चात् भीमसेन से और सन्ध्या-वन्दन के समय स्वामी

से मेरी भेंट होती थी। तब हम दबी आवाज में 'सौराष्ट्री' में बातें किया करते।

एक मास बीत गया। हमारे गिरिव्रज के अनेक लोगों से घरेलू सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे। मागध-सेना में कितने महारथी, रथी, अर्धरथी हैं, गदाधर और धनुर्धरों की संख्या कितनी है, द्वैरथ-युद्ध में कुशल कितने योद्धा हैं, इसकी सम्पूर्ण जानकारी हमारे तीनों वीरों ने सावधानी से प्राप्त कर ली थी। मागध-सेना बीस अक्षौहिणी थी। मगध के शस्त्रागार में भरे पड़े भाँति-भाँति के प्राणघाती शस्त्र, उनके अश्वदल में शुद्ध वंश के अश्वों की संख्या, सामग्री ढोनेवाले ऊँटों की संख्या सभी प्रकार की जानकारी हमने प्राप्त की थी। इसमें एक विशेष समाचार भी था–किसी समय हस्तिनापुर के अंगराज कर्ण और सम्राट् जरासन्ध में निर्णायक द्वन्द्वयुद्ध हुआ था। और उस द्वन्द्व में अंगराज ने जरासन्ध को पराजित कर, उसे प्राणदान दिया था। अर्थात् जरासन्ध की अजेयता का चारों ओर जो डंका बज रहा था, उसमें तथ्य नहीं था।

एक दिन सुबह ही स्वामी ने निर्णय लिया–"अब यहाँ का कार्य पूर्ण हुआ है, शीघ्र ही गिरिव्रज को छोड़कर अभियान के दूसरे चरण का आरम्भ करना होगा। पहले भीमसेन और पार्थ गिरिव्रज से बाहर जाएँगे। यहाँ के रथदल-प्रमुख से कहकर मैंने उनके लिए रथ का प्रबन्ध कर दिया है। भीमसेन और अर्जुन के यहाँ से चले जाने के पश्चात्, मिथिला का जो रथ हम लाये हैं, उसी को लेकर मैं और दारुक भी गिरिव्रज की सीमा को पार करेंगे। यहाँ से निकलने का निश्चित समय मैं शीघ्र ही तुम तीनों को सूचित कर दूँगा। मिथिला में हम फिर से मिलेंगे।" बहुत दिनों के पश्चात् स्वामी के मुख पर उनकी स्वाभाविक, मधुर मुस्कराहट खिल उठी। उनका दाहिनी ओर का दाँत चमक उठा। इसका स्पष्ट अर्थ था कि हमारा अभियान निर्विघ्न सफल होनेवाला है।

इस गुप्त भेंट के पश्चात् मगध की अश्वशाला से हम भिन्न-भिन्न दिशाओं में फैल गये। पिछले कई दिनों से मेरे मन पर जो बड़ा भारी बोझ था, वह स्वामी की मुस्कान देखते ही हट गया। मैंने बड़े उत्साह से परिचित मागध पौरजनों से अल्पकालिक विदा भी ली। मैंने उनसे कहा, "हमारे काशी के आश्रम में गुरुदेव एक महायज्ञ करने जा रहे हैं, उसे सम्पन्न करते ही हम शीघ्र ही लौट आएँगे।"

परन्तु...परन्तु...जिसे मैं जीवन-भर नहीं भुला पाया, ऐसी सन्ध्या उस दिन गिरिव्रज की पर्वत-श्रेणियों पर उतर आयी थी। काशी से आये ब्राह्मण पुरोहित गुप्त रूप से दल-प्रमुखों से मिल रहे हैं, वे चतुरंगदल सेना में घूम रहे हैं, यह समाचार न जाने किस तरह सम्राट् तक पहुँच गया। वह शंकाग्रस्त हो गया। अमात्य और चारों सेनापतियों को लेकर दनादन पैर पटकता हुआ वह अतिथिशाला में आ पहुँचा। पहले कभी भी वह अतिथिशाला में नहीं आया था। केवल आदेश देकर अपना मनचाहा काम करवाना ही उसका सम्राट्-धर्म था।

अतिथिशाला के प्रवेशद्वार से अन्दर आते ही वह चिल्लाया–"कहाँ है वह मथुरा का भगोड़ा ग्वाला? गोमन्त पर्वत पर धोखा देनेवाला वह कपटी कहाँ है? किस यज्ञ के लिए आया है वह? उसी का सिर काटकर मैं शतशीर्षयज्ञ का आरम्भ करूँगा। उसका पीछा करने के लिए मैंने मथुरा, गोमन्त तक दौड़-धूप की थी। आज वह स्वयं चलकर मेरी मुट्ठी में आ गया है।...सेनापति, उसके साथियों सहित उसको मेरे समक्ष प्रस्तुत करो।" अत्यधिक क्रोध से मगधसम्राट् का शरीर थर-थर काँप रहा था। एक सेनापति अतिथिशाला के अन्दर जाकर तीनों काशीवासी पुरोहितों को ले आया।

सबसे पहले अर्जुन के समक्ष खड़े होकर सम्राट् गरज उठा, "सच कहो, कौन हो तुम? काशीवासी कि इन्द्रप्रस्थवासी?"

तनिक भी विचलित न होते हुए अर्जुन ने कहा, "सम्राट्, मैं काशीवासी हूँ। गुरु की आज्ञा से सम्राट् की यज्ञविधि में सम्मिलित होने आया हूँ।"

झटके में अर्जुन की दायीं भुजा पकड़ते हुए उसकी तर्जनी और अँगूठा देखकर सम्राट् चिल्लाया, "तेरे हाथ में ये घट्टे कैसे हैं? क्या ये यज्ञ में दर्भ की गड्डियाँ अर्पण करने से पड़े हैं? अरे झूठे, स्वयं को धनुर्धर कहलानेवाले इन्द्रप्रस्थ के युधिष्ठिर के तुच्छ अनुज अर्जुन हो तुम!" तिरस्कार से अर्जुन का हाथ झटककर उसके वक्ष पर शोभित यज्ञोपवीत को झँझोड़ते हुए जरासन्ध ने पूछा, "हे इन्द्रप्रस्थ के छोकरे धनुर्धर, क्या हमसे प्राणान्त द्वन्द्वयुद्ध करने को तुम तैयार हो? बोलो।"

"अवश्य–यदि गुरुदेव की आज्ञा हो तो!" धीरोदात्त अर्जुन ने मसले हुए यज्ञोपवीत को सीधा करते हुए शान्ति से उत्तर दिया।

सम्राट् अब भीमसेन के समीप आ गया। सदैव गदा उठाने से भीमसेन के अनावृत कन्धे पर पड़े हुए चिह्न पर अँगुली रखते हुए वह बरस पड़ा, "तुम्हारे कन्धे पर यह घाव कैसा है? क्या यह समिधा के टोकरे उठाने से पड़ा है? हे इन्द्रप्रस्थ के पेटू किसको धोखा दे रहे हो तुम? क्या तुम तैयार हो हमसे द्वन्द्वयुद्ध करने को?" भीमसेन के गले में लिपटे हुए उत्तरीय को झकझोरते हुए मगधसम्राट् ने पूछा।

क्रोधित भीमसेन ने जरासन्ध की ग्रीवा को दबोच लिया। जैसे भूख उसके वश में नहीं थी, वैसे ही क्रोध भी! मुस्कराकर भीमसेन को बरजते हुए द्वारिकाधीश ने सम्राट् से कहा, "स्वयं राजा होते हुए यज्ञ में बलि चढ़ाने हेतु छियासी राजाओं को बन्दी बनानेवाले महापराक्रमी वीर, आर्यावर्त में अपनी अजेयता का डंका बजवाने वाले अहंकारी, वास्तव में तुम्हारा अपराधी मैं हूँ–वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण। क्या मुझे द्वन्द्वयुद्ध की चुनौती नहीं दोगे तुम?"

स्वामी भलीभाँति जानते थे कि जरासन्ध का उत्तर क्या होगा! जब वह अर्जुन को चुनौती दे रहा था, तब स्वामी ने बड़ी शीघ्रता से भीमसेन के कान में कहा–"जब मैं वैजयन्तीमाला पर हाथ फिराने लगूँ, तो तुम इसे चुनौती दो, द्वन्द्वयुद्ध के लिए ललकारो।"

स्वामी का वध करने के लिए सत्रह बार मथुरा पर चढ़ाई करनेवाला वह घमण्डी सम्राट् उद्दण्डता से गरज उठा, "मेरे जामाता का वध करनेवाले नराधम ग्वाले, मैं तुम्हें छोड़ूँगा नहीं। केवल तुम ही नहीं, तुम तीनों अब गिरिव्रज से बाहर नहीं जा सकोगे। ग्वालों के कपटी, काले मुखिया, मैं तुम्हें निर्णायक द्वन्द्वयुद्ध की चुनौती दे रहा हूँ। तुम्हारा वध किये बिना मेरे पूर्वजों को मुक्ति नहीं मिलेगी।" उसने मेरे स्वामी के समक्ष जोर से भुजदण्ड ठोंके। अब संकट का वह अन्तिम क्षण हमारे सामने आ ही गया। फिर भी मुस्कराते हुए स्वामी ने कहा, "क्या सम्राट् एक ही समय हम तीनों से द्वन्द्वयुद्ध करेंगे? उनके लिए क्या यह इतना सरल होगा? द्वन्द्वयुद्ध का प्राथमिक नियम भी क्या सम्राट् को ज्ञात नहीं है?"

जरासन्ध तनिक चौंक गया। फिर गरजकर उसने पूछा, "कौन-सा नियम ग्वाले?"

"एक समय एक ही प्रतिद्वन्द्वी से प्राणान्तक द्वन्द्वयुद्ध किया जा सकता है। हाँ–तुमसे द्वन्द्वयुद्ध करने को मैं प्रस्तुत हूँ।" हँसते-हँसते स्वामी ने अपने कण्ठ की वैजयन्तीमाला पर हाथ

फिराया। अब तक फुंकारता हुआ इसी क्षण की प्रतीक्षा करनेवाला भीमसेन आगे बढ़ा और जोर से चिल्लाया–“कैसा अजेय मल्ल और कैसा सम्राट् है यह? तुम्हें भगोड़ा कहनेवाला यह स्वयं ही भगोड़ा है। गोमन्त पर्वत पर इसने क्या किया था? मैं कुन्तीपुत्र भीमसेन इसको निर्णायक द्वन्द्वयुद्ध की चुनौती देता हूँ। यदि यह सम्राट् हो और इसमें कुछ सामर्थ्य हो, तो यह मेरी चुनौती स्वीकार करे। यदि न हो तो, अपनी हार स्वीकार करे...जऽय...जऽय माता कुन्तीऽ–भवानीऽऽ!” दाँतों से होंठ भींचते हुए भीमसेन ने अपनी पुष्ट लौहभुजाएँ ठोंकी।

मगधसम्राट् जरासन्ध की आँख में आँख गड़ाकर समक्ष ललकारने का साहस आज तक किसी ने नहीं किया था। क्रोधावेश में नाक फुलाकर, भुजा ठोंकते हुए जरासन्ध ने प्रति-आह्वान किया, “ऐ इन्द्रप्रस्थ के भुक्खड़ पेटू, तुम्हारी चुनौती मैं स्वीकार करता हूँ।” भीमसेन ने कण्ठ में लिपटे उत्तरीय को खींचकर फेंक दिया और लाल किनारवाली अधोवस्त्र की काछ कसते हुए दृढ़ कछौटा बाँधकर मल्लयुद्ध के लिए तैयार हो गया। उसकी पुष्ट जंघाओं के स्नायु प्रस्फुरित होने लगे। दोनों मल्लयोद्धा पहली टक्कर से पूर्व पैंतरा लेने हेतु दो-चार पग पीछे हट गये। दोनों डकराते हुए साँड़ों की भाँति दिखने लगे थे।

स्वामी ने जरासन्ध पर अचूक जाल फेंका था। भीमसेन की द्वन्द्वयुद्ध के लिए उकसानेवाली चुनौती उसने स्वीकार कर ली थी। आगे क्या होगा, इसका अनुमान कोई भी नहीं कर सकता था। दोनों के भालप्रदेश पर स्वेदबिन्दु उभर आये थे। सम्भवत: वे दोनों मल्ल अब अतिथिशाला को ही अखाड़ा बनानेवाले थे। अपने आसपास के जग को वे भूल गये थे। जंघा और भुजाओं पर ताल ठोंकते हुए वे एक-दूसरे को अथक ललकारने लगे। कौन रोक सकता है उन्हें? मेरे स्वामी की परीक्षा का यही क्षण था। आज तक ऐसी कई कठिनाइयों का उन्होंने हँसते-हँसते सामना किया था।

झट से आगे बढ़कर दोनों के बीच सीधे पैर गड़ाकर द्वारिकाधीश ने मुस्कराते हुए उनसे कहा, “तुम दोनों निपुण मल्लयोद्धा हो। द्वन्द्वयुद्ध का अभिप्राय जानते हो। द्वन्द्व का अर्थ है योद्धा की सम्पूर्ण विजय अथवा मृत्यु! प्रतिदिन के अभ्यास की भाँति वह नहीं खेला जा सकता। इसके लिए गिरिव्रज के राजभवन के आगे मल्लयुद्ध के लिए विधिवत् अखाड़ा तैयार करना होगा। उसके चारों ओर मगध नर-नारी-दर्शकों के लिए बैठने का प्रबन्ध करना होगा। इस ऐतिहासिक द्वन्द्वयुद्ध का निष्पक्ष निर्णय करने के लिए अभिज्ञ पंचों को नियुक्त करना होगा। अत: कल प्रातःकाल तक तुम दोनों को प्रतीक्षा करनी होगी। तुम्हारी इच्छा-अनिच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता है, ये तो द्वन्द्वयुद्ध के अनिवार्य नियम हैं।”

वह उद्दण्ड मगधसम्राट् भी मेरे स्वामी की अकाट्य बातें सुनकर तनिक शान्त हो गया। भीमसेन तो उनका अनुगामी ही था। दोनों ने यह निर्णय चुपचाप स्वीकार कर लिया। किसी से भी बिना कुछ कहे, मुड़कर वे दोनों दो दिशाओं में चलने लगे। वायुपुत्र भीमसेन और मगधसम्राट् जरासन्ध के निर्णायक द्वन्द्वयुद्ध का समाचार वायुगति से केवल गिरिव्रज में ही नहीं, सम्पूर्ण मगध साम्राज्य में फैल गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल से ही मगधवासी नर-नारियों की भीड़ गिरिव्रज के राजप्रासाद के आगे जमा होने लगी। बहुत-सी भीड़ तो भीमसेन की कीर्ति सुनकर केवल उसको देखने के लिए ही जमा हुई थी। इस थर्रा देनेवाले मल्लयुद्ध के प्रमुख पंच थे मगध के राजपुरोहित। उनके सहायक

चार उपपंच थे।

दिन चढ़ने लगा। देखनेवालों की श्वासगति को भी रोक दे–ऐसे लोमहर्षक, ऐतिहासिक मल्लयुद्ध का प्रत्यक्षदर्शी बनने के लिए मगधवासियों का जनसागर गिरिव्रज में राजभवन के आगे लहराने लगा। सम्मिश्र ध्वनियों का प्रचण्ड कोलाहल होने लगा। लगभग सभी उपस्थित नगरजन अब जान गये थे कि मथुरा में इसी प्रकार राजभवन के आगे समस्त मथुरावासियों को साक्षी रखकर मगधसम्राट् के जामाता कंस का वध करनेवाले साक्षात् श्रीकृष्ण गिरिव्रज में उपस्थित हुए हैं। अखाड़े के समीप जिस आसन पर मेरे स्वामी अर्जुन के निकट बैठे थे, उस ओर अँगुलि-निर्देश करके कुछ नगरजन अन्यों को यादवराज श्रीकृष्ण को दिखा रहे थे। जैसे मथुरावासी कंस के अन्याय से ऊब गये थे, वैसे ही मगधवासी जरासन्ध के निर्दयी–निर्मम शासन से त्रस्त हो गये थे। अखाड़े के पास राजकक्ष में कंसपत्नी अस्ति और प्राप्तिदेवी अपनी विशेष सेविकाओं के साथ बैठी थीं। प्रभावशाली व्यक्तित्ववाला, पिता के अन्यायी शासन का निर्भयता से विरोध करनेवाला युवा राजपुत्र सहदेव भी वहाँ बैठा था। उसके विरोध के कारण ही पिता के शासन में वह उपेक्षित रहा था। जरासन्ध की विराट् सेना के दल-प्रमुख वहाँ एकत्रित प्रचण्ड जनसमूह में खड्ग, गदा, मुसल जैसे शस्त्र लेकर सर्वत्र घूम रहे थे। बड़ी संख्या में होते हुए भी वे जनसागर के कोलाहल को दबा नहीं पा रहे थे। पर्वतों से घिरे उस राजनगर के लिए आज का दिन चिरस्मरणीय होनेवाला था।

मगध मन्त्रिमण्डल के सम्मुख पश्चिम दिशा की ओर मुँह करके जरासन्ध खड़ा था। वह लाल रंग का जाँघिया कसकर बाँधे हुए था। उसकी पिण्डलियाँ, जंघा, भुजा और पुष्ट वक्ष के मरोड़दार स्नायु तैलमर्दन करने से चमक रहे थे, सर्प की कुण्डली की भाँति डौलदार ढंग से हिल रहे थे। जरासन्ध ने कुछ बैठकें लगाकर शरीर को गर्माया। पानी में पड़ा मिट्टी का ढेला जैसे फूलता है, वैसे ही उसके शरीर के स्नायु फूलने लगे। सम्राट् के अनावृत शरीर का दर्शन मगधवासियों ने कभी नहीं किया था, अत: उसका यह रूप सबके लिए दुर्लभ था। कुलदेवी का जयघोष करते हुए गुर्राता हुआ कुछ क्षण एक ही स्थान पर एक पाँव पर नाचता रहा। क्रोध से सुलगती उसकी बड़ी-बड़ी आँखें आग उगल रही थीं। उसका महाकाय, आक्रामक, कुलदेवी की जयकार करता, उग्र रूप अत्यन्त भयावह था।

मेरे आगे थोड़े ऊँचे काष्ठ-आसन पर द्वारिकाधीश बैठे थे। उनकी बायीं ओर धनुर्धर धनंजय थे। दोनों अभी तक ब्राह्मणवेश में ही थे। उस सामान्य वेश में भी दोनों के अपार आत्मविश्वास से पूर्ण तेज:पुंज मुखमण्डल लोगों का ध्यान आकर्षित कर रहे थे। मैं उन दोनों के पीछे खड़ा था। अब तक मैं मागध-सारथि के वेश में ही था। द्वन्द्व का निर्णय क्या होगा, यह जानने के लिए अन्यों की भाँति मैं भी अति उत्सुक था। केवल जाँघिया कसे महाकाय जरासन्ध को देखकर भीमसेन की चिन्ता से मेरी उत्सुकता भय में बदल गयी। मैंने अपनी सारथियों की कुलदेवी से मन-ही-मन प्रार्थना की–"हे माता, भीमसेन की सहायक बनें–उसकी रक्षा करें।"

भीमसेन सदैव हमारे समक्ष रहें, इस प्रकार हम अखाड़े की पश्चिमी ओर बैठे थे। हम पूर्वाभिमुख थे। हमने अपने मल्लयोद्धा भीमसेन को भी ऐसे कभी नहीं देखा था। पके नींबू की भाँति उसका पीतगौर वर्ण तैलमर्दन करने से ऐसा चमक रहा था कि उस पर आँख न टिक पाये। भीमसेन की पिण्डलियाँ, जंघा, भुजा और वक्ष के घुमावदार स्नायु उसके केवल खखारने से ही

आकुंचित होकर पुन: अलग हो रहे थे। उसने भी अपना लौहशरीर गरमाने के लिए कुछ बैठकें लगायीं। फिर रस्सी पर से बड़ी सरलता से छलाँग लगाकर महाकाय भीमसेन अखाड़े में उतरा। लोगों की अविरत तालियों से अखाड़ा गूँज उठा। दोनों हाथ ऊपर उठाकर, कूदते हुए, अखाड़े के चारों ओर चक्कर काटते हुए, वह मगधवासियों को नम्र अभिवादन करने लगा। उसकी नम्रता पर मगधवासियों ने तालियों की झड़ी लगा दी। सम्पूर्ण अखाड़े का चक्कर काटकर भीमसेन पुन: अपने स्थान पर खड़ा हो गया।

जरासन्ध भी अकड़ दिखाता हुआ दोनों हाथ ऊपर उठाये अखाड़े का चक्कर लगाकर अपने स्थान पर खड़ा हो गया।

भीमसेन ने "जय माता कुन्ती ऽ भवानी ऽ" का गगनभेदी घोष किया और तनिक झुककर जरासन्ध को ललकारते हुए अपनी लौहभुजा पर जोरदार ताल ठोंका। उस कड़कती ध्वनि से दर्शकों के शरीर के रोंगटे खड़े हो गये। जरासन्ध ने अपनी कुलदेवी का जयघोष किया। एक पाँव पर कूदते हुए भुजदण्ड ठोंककर उसने भी भीमसेन को चुनौती दी।

वह कार्तिक शुद्ध प्रतिपदा का दिन था। गिरिव्रज पर फैला घना कोहरा अब पूर्णत: छँट गया था। मेरे मन में रह-रहकर एक ही प्रश्न उठ रहा था कि भीमसेन का आह्वान स्वीकारने के पीछे जरासन्ध की कौन-सी राजनीतिक चाल होगी? उसने जानबूझकर द्वन्द्वयुद्ध के लिए अर्जुन अथवा मेरे स्वामी को नहीं चुना। उसका पूरा विश्वास था कि भीमसेन ही उन दोनों का संरक्षक कवच है। अपनी मल्लविद्या पर उसे पूरा विश्वास था। इसी विद्या के बल पर भीमसेन का संरक्षक कवच तोड़कर वह शेष दोनों को और मुझको बन्दी बनाना चाहता था। तत्पश्चात् वह इन्द्रप्रस्थ और द्वारिका में विशेष दूतों द्वारा यही सन्देश भिजवाएगा कि 'यदि तुम्हें अपना काला ग्वाला और उसका वैसा ही शिष्य जीवित चाहिए तो स्वयं राजा वसुदेव और युधिष्ठिर गिरिव्रज चले आएँ।' यह सन्देश मिलते ही महाराज वसुदेव और इन्द्रप्रस्थ के महाराज युधिष्ठिर को गिरिव्रज आना ही पड़ेगा। उनके आते ही यज्ञबलि की संख्या पूर्ति करने के लिए जरासन्ध उन दोनों को अन्य बन्दी राजाओं के साथ कारागृह में डाल देगा। उसके बाद अपने नाम का डंका पिटवाता हुआ वह अपनी प्रचण्ड सेना के साथ मगध से निकल पड़ेगा। उसके पराक्रम से भयभीत उत्तर आर्यावर्त के अनेक राजा उसके समक्ष आत्मसमर्पण कर देंगे। उनको भी बन्दी बनाकर वह अपने शतराजशीर्ष यज्ञ की बलि-संख्या की पूर्ति करेगा।...

परन्तु जैसे चढ़ते दिन के साथ ही कुहरा छँट जाता है, वैसे ही उसके सारे मनोरथ टूटनेवाले थे। उसका अहंकार इतना प्रचण्ड था कि मेरे स्वामी के सभी पराक्रम सुनकर भी वह 'ग्वाला' कहकर उनकी उपेक्षा करता आया था। उनको पहचानने की दृष्टि ही उसके पास नहीं थी। मगध आने के पश्चात् स्वामी ने जरासन्ध के निरंकुश अहंकार को हवा दे-देकर उसे उकसाया था और प्रत्यक्ष भिड़न्त का समय आते ही कुशलता से भीमसेन को आगे कर दिया था।

दिन अब माथे पर चढ़ आया। नगाड़ों की ध्वनि गूँज उठी। पंचों ने प्रथा के अनुसार द्वन्द्व के आरम्भ की मुट्ठी-भर मिट्टी दोनों योद्धाओं के हाथ में देकर दोनों के हाथ आपस में मिलाकर छोड़ दिये। चपलता से पंच दूर हट गये। दोनों ने भुजाओं और जंघाओं पर जोरदार ताल ठोंके। दोनों योद्धाओं के मस्तक आपस में भिड़ गये। प्रतिद्वन्द्वी के सामर्थ्य को जाँचने के लिए दोनों ने एक-दूसरे की पुष्ट गर्दन पर प्रबल प्रहार किये। स्वेद की कुछ बूँदें इधर-उधर उड़ीं। एक दृढ़ता के साथ

दहला देनेवाले, लोमहर्षक द्वन्द्वयुद्ध का प्रारम्भ हुआ। दर्शकों का कोलाहल सहसा शान्त हो गया। सबकी साँसें जैसे रुक गयी हों। आँखों में प्राण भरकर अनगिनत जीव उस घनघोर द्वन्द्वयुद्ध के साक्षी हो गये।

अब दहाड़ते वनराज सिंह की भाँति दोनों निपुण मल्लयोद्धाओं की रोमांचक मुठभेड़ आरम्भ हो गयी। बीच-बीच में ताल ठोंककर एक-दूसरे की पुष्ट ग्रीवा को हाथों का घेरा डालकर, झटके देते हुए वे लड़ने लगे। कुछ ही समय में अभिषेक जल की धाराओं से नहाते शिव-पिण्डी की भाँति दोनों योद्धा स्वेदधाराओं से भीग गये। उनके दाँव-पेंचों का निरीक्षण करनेवाले पंच बीच-बीच में स्थान-स्थान पर रखे कुम्भों में से यज्ञकुण्ड की राख लेकर दोनों के स्वेद से भीगे शरीर पर डालने लगे। इसके कारण दोनों के शरीर का गौरवर्ण एकदम मटमैला हो गया। दोनों भयावह दिखने लगे।

अभ्याकर्ष और अँकड़ी लगाने जैसे प्रारम्भिक दाँव-पेंचों में ही पहला दिन बीत गया। साँझ होने को आयी। विविध पंछियों के चहचहाते झुण्ड नीड़ों को लौटने लगे। थाल जैसा गोलाकर रक्तवर्ण सूर्य-बिम्ब गिरिव्रज के पश्चिमी पर्वत शिखर पर आ गया। प्रमुख पंचों ने आकाश की ओर सिर उठाकर एक बड़ा-सा शंख फूँका। वह दिन की समाप्ति का संकेत था। दो-तीन बार शंखनाद सुनने के बाद ही दोनों वीर आपे में आये और एक-दूसरे से अलग हुए। श्रान्त, स्वेद से भीगे, राख से सने, बिखरे केशों से दोनों वीर पहचाने न जाएँ, ऐसे भयंकर दिख रहे थे।

दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही नगाड़े रणसिंघा, भेरी, दुन्दुभियों की सम्मिश्र गड़गड़ाहट में मल्लयुद्ध पुन: आरम्भ हुआ। मगध राज्य में पहले दिन के द्वन्द्व का समाचार फैलने से आज दर्शकों की संख्या बढ़ गयी थी। उनका प्रचण्ड कोलाहल दोनों वीरों के मस्तक आपस में भिड़ते ही शान्त हो गया। अब तक दोनों को अपने-अपने प्रतिद्वन्द्वी के बल का भलीभाँति अनुमान हो चुका था, अत: बड़ी सावधानी से वे पहले दिन के दाँव-पेंचों को छोड़कर अवरोध और रजकपृष्ठ जैसे नये पेंचों का प्रयोग कर रहे थे। दाँत पीसते और दहाड़ते हुए वे आपस में टकरा रहे थे। अब दर्शकों में भीमसेन-समर्थक और जरासन्ध-समर्थक, ऐसे दो पक्ष अपने-आप ही बन गये थे। वे अपने-अपने योद्धाओं को प्रेरित-प्रोत्साहित करने हेतु आवाजें लगा रहे थे। वहाँ उपस्थित सभी की दृष्टि, सुधबुध खोकर आपस में टकराते वायुपुत्र भीमसेन और मगधसम्राट् जरासन्ध पर ही स्थिर हो गयी थी। आज दूसरे दिन भी अखाड़े पर साँझ उतर आयी, परन्तु मल्लयुद्ध का कुछ भी निर्णय नहीं हो पाया।

एक नहीं, दो नहीं–चौदह दिनों तक यह संघर्ष अथक रूप से चलता रहा। जैसे प्रचण्ड बाढ़ के समय शोण नद का जल क्षण-प्रतिक्षण बढ़ता जाता है, वैसे ही दिन-प्रतिदिन दर्शकों की संख्या में भी वृद्धि होती जा रही थी। इससे अखाड़े के आसपास का परिसर ही नहीं, राजप्रासाद का प्राकार भी दर्शकों से खचाखच भर गया। यही नहीं, कुछ सुनाई, दिखाई न देते हुए भी प्राकार के बाहर भी मगधवासियों की भीड़ जमा हो गयी। आज तो दोनों योद्धाओं ने जाँघिया कसते ही आह्वान-सूचक मिट्टी एक-दूसरे के हाथ में देकर जोरदार ताल ठोंके। प्रतिद्वन्द्वी को उकसाने के लिए गर्जनाएँ कीं। जैसे ही वे दोनों आपस में टकराये, प्रातःकाल से आरम्भ हुआ विविध वाद्यों का नाद अपने-आप ही बन्द हो गया। अखाड़े के पास एकत्र हुए लाखों दर्शकों की भिन्न-भिन्न आवाजों का उत्सुकतापूर्ण कोलाहल भी शान्त हो गया। लगातार तेरह दिन भीमसेन और जरासन्ध

प्राणपण से लड़ रहे थे। फिर भी वे तनिक भी थके हुए नहीं दिख रहे थे। प्रतिदिन उनके शरीर से इतनी स्वेदधाराएँ बहती थीं कि जिस मिट्टी में वे मल्लयुद्ध करते आये थे उस मठा और तैल-मिश्रित मिट्टी पर अपने-आप ही उनके स्वेद की एक परत चढ़ गयी थी। उनके स्वेद से भीगे शरीरों पर राख डाल-डालकर पंच अब थक चुके थे।

तेरहवाँ दिन भी, बिना किसी निर्णय के, गिरिव्रज के पर्वतों के पीछे डूब गया। राजनगर के घर-घर में—समूह-समूह में एक ही चर्चा हो रही थी—अनिर्णायक ढंग से चलते हुए मल्लयुद्ध में कौन जीतेगा? अतिथिशाला में प्रतिदिन रात्रि के समय मैं एक ऐसा दुर्लभ दृश्य देखता था, जिसे देखना अन्य किसी के भाग्य में नहीं था। दिन-भर चलते रहे मल्लयुद्ध में भीमसेन की जो भी त्रुटियाँ रह जाती थीं, द्वारिकाधीश उसे प्रत्यक्ष दिखाया करते थे। भीमसेन अपने विशाल नेत्रों को विस्फारित करते हुए कहता था, "श्रीकृष्ण, समझाने का तुम्हारा यह ढंग बिलकुल मेरे गुरुदेव 'बलराम' जैसा ही है। मैंने तो तुम्हें कभी मल्लयुद्ध करते नहीं देखा है। यह सब तुमने कहाँ से सीखा है?" मुस्कराकर स्वामी कहते थे, "यह जानने के लिए तुम्हें गोकुल जाकर मेरे काका केलिनन्द से मिलना होगा।" उस समय भीमसेन के पैरों के तलवों को तैलमर्दन करते हुए अर्जुन ध्यान से दोनों की बातें सुनता रहता था। इसके बाद, शरीर पर चढ़ी राख-मिट्टी की परतों को पाषाणी चिप्पी से खुरचकर एकाध घण्टे शीतल जल से स्नान कर लेने के बाद श्रान्त भीमसेन आँखें मूँदकर शैया पर खर्राटे भी भरने लगता था। और जब उसके एक ओर द्वारिकाधीश और दूसरी ओर मैं बैठकर बाहु, जंघा और वक्ष का तैलमर्दन करने लगते थे, उसके खर्राटों की गति बढ़ जाती थी। मध्यरात्रि के समय स्वामी उसे झँझोड़कर जगाने का प्रयत्न करते थे, परन्तु वह करवट बदलकर पुन: सो जाता था। स्वामी ने खूँटी से टँगे वस्त्र में बँधा पांचजन्य लाने को मुझसे कहा था। मेरी ओर देखते, आँखें झपकाकर मुस्कराते हुए वे आकाश की ओर ग्रीवा उठाकर जोर से पांचजन्य फूँकते थे। शंखनाद सुनते ही खर्राटे भरनेवाला भीमसेन झट से उठकर बैठ जाता था। अपने शरीर पर दृष्टि डालते ही यह जानकर कि स्वयं द्वारिकाधीश ने 'मेरे शरीर पर मर्दन किया है,' वह बालक की भाँति सकुचा जाता था। कहता था, "श्रीकृष्ण, यदि तुम आगे मेरा शरीर मर्दन करोगे, तो मैं यह द्वन्द्वयुद्ध नहीं लड़ूँगा, भले ही मुझे अपनी हार स्वीकार करनी पड़े।"

स्वामी भीमसेन से कहते थे, "यह तुम्हें स्वीकार होगा भ्राता भीमसेन, परन्तु मुझे नहीं। तुमसे बहुत-कुछ करवाना है मुझे। तुम पाँचों की प्रिय पत्नी द्रौपदी मेरी बहन है—सखी है। क्या उसको यह स्वीकार होगा?"

इस पर भीमसेन नकारात्मक सिर हिलाता था। मेरे स्वामी स्वयं अपने द्वारा बनायी शीतल, मधुर, पुष्टिकर औषधियों से युक्त दुग्ध की हाँडी उसके हाथों में रख देते थे। कण्ठ की हड्डी को ऊपर-नीचे हिलाता हुआ, भीमसेन उस हाँडी के दूध को गटागट पी जाता था। फिर सिर ऊपर उठाते हुए वह खिलखिलाकर हँसता था। उसका हँसना देखकर मैं और द्वारिकाधीश एक-दूसरे की ओर देखते हुए आँखें झपकाते थे। पहले वे पौष्टिक औषधियों से युक्त दुग्ध से भरी पूरी हाँडी भीमसेन को गटागट पीने देते थे, फिर हमेशा की तरह वे उसको चिढ़ाया करते थे, "तुमने अपने गुरुदेव से सिर ऊपर उठाकर खिलखिलाकर हँसने की अनूठी कला भी भलीभाँति सीख ली है भीमसेन!" गिरिव्रज के इस अभियान में, मुझे अपने स्वामी के कुछ और भी विशिष्ट गुणों के दर्शन हुए। कितना भी कठिन समय क्यों न हो, वे अपने निश्चय और सतेज विनोद-बुद्धि को कभी विचलित नहीं होने देते थे। कर्म करते रहना—वह भी निरपेक्ष भाव से, यही उनका स्वभाव था।

दिन-भर मल्लयुद्ध करके श्रान्त हुए भीमसेन का शरीर-मर्दन भी मेरे स्वामी बड़ी तन्मयता से किया करते थे।

मगध के साथ-साथ उत्तर आर्यावर्त में धूम मचा देनेवाले रोमांचक मल्लयुद्ध का चौदहवाँ दिन उदित हुआ। आज तो गिरिव्रज में लोगों की इतनी भीड़ लगी थी कि राज्य की चतुरंग सेना के लिए भी उनको नियन्त्रण में रखना कठिन हो रहा था। आज ब्राह्ममुहूर्त से ही राजनगर में विविध वाद्यों का घोष हो रहा था। राजप्रासाद के सामने अखाड़े के चारों ओर इतनी भीड़ जमा हो गयी थी कि तिल रखने की भी जगह नहीं थी।

उदित होते तेजस्वी सूर्य को साक्षी मानकर द्वन्द्वयुद्ध का आरम्भ हुआ। मदोन्मत्त जंगली हाथियों की भाँति भीमसेन और जरासन्ध आपस में टकरा गये। लक्षावधि दर्शकों की भीड़ के होते हुए भी सर्वत्र ही नीरवता छा गयी। आज वे दोनों पिछले तेरह दिनों में प्रयोग न किये गये विशेष दाँव-पेंचों का प्रयोग करने लगे। दोनों की शारीरिक शक्ति तो अद्वितीय ही थी। अब उनका बुद्धि-चापल्य भी देखने योग्य था।...

चढ़ते दिन के साथ दोनों योद्धाओं की ईर्ष्या भी बढ़ने लगी, तीव्रतर होने लगी। यज्ञकुण्ड की स्वेदशोषक राख से सने दोनों योद्धा अब भयावह दिखने लगे थे। अब दर्शकों की टोलियों में चर्चा होने लगी—"इस द्वन्द्व का अन्त कभी होनेवाला है कि नहीं?" माथे पर तपता सूर्य अब तीसरे पहर की ओर ढलने लगा था। दोनों योद्धाओं के शरीर पर राख डालते-डालते थके हुए पाँचों पंच अखाड़े में जहाँ-तहाँ उकडूँ बैठ गये थे। मागध-अमात्य युवराज सहदेव के कानों से लगकर सुझाव देने लगे, "अब हमारे विशेष, चुनिन्दा मल्लों को एक के बाद एक अखाड़े में लाया जाए। भीमसेन को घेरकर बन्दी बनाया जाए। अन्यथा मथुरा में कंस महाराज की जो अवस्था हुई, ऐसा ही कुछ विपरीत घटित होने की सम्भावना दीख पड़ती है।" मगध के मन्त्रिगणों ने भी उनका समर्थन किया, "अमात्य उचित कह रहे हैं। अब शीघ्र ही हमारे विशेष मल्लों को अखाड़े में उतरवाना होगा। डंके की विशिष्ट ध्वनि से उनको संकेत कर देना चाहिए।"

सूर्य अब ढलने को आया था। आसपास के अशोक, किंशुक, पुन्नाग, ताल, तमाल, अश्वत्थ-वृक्षों की लम्बी-लम्बी परछाइयाँ अखाड़े में फैलने लगीं। मेरे आगे बैठे स्वामी, द्वारिकाधीश ने मागध-मन्त्रिमण्डल की दुविधा को झट से भाँप लिया। कण्ठ में लपेटे उत्तरीय पर झूलती वैजयन्तीमाला को उन्होंने क्षणैक हलके से सहलाया। पिछले तेरह दिन द्वन्द्वयुद्ध के समय भीमसेन ने अन्य किसी की ओर देखा तक नहीं था, परन्तु अवसर मिलते ही वह केवल द्वारिकाधीश की ओर दृष्टिक्षेप अवश्य करता था। उनको वैजयन्तीमाला पर हाथ फिराते देखकर ही भीमसेन को संकेत मिल गया। अपनी सभी शारीरिक क्रियाएँ उसने अकस्मात् ऐसे स्थगित कर दीं, जैसे वज्राघात हुआ हो। जरासन्ध भ्रमित हो गया कि भीमसेन थक गया है—श्रान्त हुआ है। उसने अपनी विशाल पीठ भीमसेन के स्वेदसिक्त वक्ष से सटाकर कुलदेवी का जयघोष करते हुए रजकपृष्ठ दाँव चलाकर पीठ से भीमसेन के प्रचण्ड शरीर को निचोड़े वस्त्र की भाँति धड़ाम से अखाड़े की मिट्टी में पटक दिया। मैं तड़ाक् से उठ खड़ा हुआ। अखाड़े के पास जमा हुए प्रचण्ड जनसमुदाय पर तो जैसे तड़ित्पात हो गया हो। उनमें से कुछ तड़प उठे, तो कुछ हर्षोन्मत्त होकर हवा में पगड़ियाँ उछालते हुए गर्जना करने लगे—"अजेय मल्लयोद्धा—मगधसम्राट् महाराऽज जरासऽन्ध की जय हो ऽ...जय हो ऽऽ...जय हो ऽऽऽ...जयतु...जयतु...जयतु ऽऽ!" अर्जुन तो कब

का उठ खड़ा हुआ था। अपने प्राणप्रिय भ्राता को विपत्ति में देखकर वह अखाड़े में घुसने लगा। स्वामी ने उसकी भुजा पकड़कर बड़े प्रयत्न से उसे रोका। निश्चेष्ट पड़े भीमसेन के पैरों के पास खड़ा जरासन्ध उसके पैरों को विरुद्ध दिशाओं में खींचना चाह रहा था। अर्जुन के तो प्राण ही कण्ठ में आ गये। वह अत्यधिक क्रोध में चिल्लाया–"छोड़ दो मुझे श्रीकृष्ण। मेरे प्रिय भ्राता को चीर डालेगा यह दुष्ट!" अर्जुन पर आँखें गड़ाकर द्वारिकाधीश ने धीरे-से कहा, "शान्त हो जा धनंजय! देखता जा, क्या होता है! इस अविस्मरणीय द्वन्द्वयुद्ध का तू केवल साक्षी हो जा। मुझे भी वही करना है। भीमसेन जरासन्ध नहीं है जो हट जाएगा, हार जाएगा।"

अपनी सम्पूर्ण शक्ति दोनों जंघाओं में एकत्रित किये हुए भीमसेन के पैरों को जरासन्ध टस-से-मस नहीं कर सका। सम्भ्रमित जरासन्ध कपाल का स्वेद पोंछने के लिए क्षण-भर रुका और किंचित् असावधान हो गया। ठीक इसी क्षण भीमसेन ने मछली जैसी चपलता प्रदर्शित की। उसने जरासन्ध को दोनों पाँवों की कैंची में जकड़कर ऐसा झटका दिया कि खड़ा जरासन्ध औंधे मुँह अखाड़े की मिट्टी में धड़ाम से गिर पड़ा। इसी क्षण की प्रतीक्षा करनेवाले द्वारिकाधीश ने कटि के वस्त्र में बँधा पांचजन्य निकाला और आकाश की ओर गर्दन उठाते हुए उसे पूरे प्राणबल से फूँका। लाखों दर्शक वह शंखनाद सुनकर सुधबुध भूलते हुए थर्रा उठे। शंखनाद का संकेत पाकर भीमसेन ने औंधे पड़े जरासन्ध के कण्ठ में अपने निर्णायक बाहुकण्टक के पाश डाल दिये। अपनी लौह भुजाओं की शक्ति को क्षण-प्रतिक्षण चढ़ते क्रम से बाहुकण्टक में समेटते हुए आँखें मूँदकर भीमसेन अपना पाश अधिकाधिक कसने लगा। महाकाय जरासन्ध की आँखों के गोलक गरगर फिरने लगे। वह बिना कुछ बोले, अखाड़े की मिट्टी में एड़ियाँ रगड़ने लगा। इधर स्वामी का पांचजन्य पुन:-पुन: गूँजता ही रहा। वहाँ एकत्र हुए लाखों दर्शकों को पता भी नहीं चला कि अजेय मगधसम्राट् कब गतप्राण हो गया।

जरासन्ध के निष्प्राण कण्ठ पर कसे बाहुकण्टक पाश को खोलकर जैसे ही भीमसेन विद्युत्लता की भाँति झटके के साथ खड़ा हो गया, वैसे ही अखाड़े के चारों ओर से प्रचण्ड जयघोष उठे–"अजेय पाण्डुपुत्र–मल्लयोद्धा भीमसेनऽन की जय हो...जय हो!"

अखाड़े में भीमसेन एक ही पाँव पर थऽप-थऽप, नाचता हुआ गरज रहा था–"गुरुदेव बलराऽम जयतु! जयतु! माता कुन्ती भवानी...जय हो...देवी इडा की जय हो!" हम तीनों खिंचे-से भीमसेन की ओर दौड़ने लगे। गिरिव्रज के पर्वत-शिखरों में सूर्यदेव अस्त हो गये। वह दिन था कार्तिक शुद्ध चतुर्दशी!

जरासन्ध का अन्त होते ही मेरे स्वामी के मुखमण्डल पर एक अपूर्व आभा बिखर गयी। अब स्वामी का निर्णय क्या होगा, सबकी दृष्टि इसी ओर थी–मेरी भी। उनकी प्रत्येक कृति केवल उन्हीं को सूझती थी। जरासन्ध उनके मामा कंस के श्वसुर थे, अत: राजप्रथा का पालन करना आवश्यक था। विधिवत् उसका उत्तराधिकारी घोषित किये बिना उसके शव का दाह संस्कार करना सम्भव नहीं था। इसलिए स्वामी ने भयभीत जरासन्ध-पुत्र सहदेव को धैर्य बँधाकर, उसी के अमात्य द्वारा आमन्त्रित कराते हुए अखाड़े में ही उसको मागधों का उत्तराधिकारी घोषित किया। उसको हितोपदेश देते हुए स्वामी ने कहा, "सहदेव, मगध जनपद से हमारी तनिक भी शत्रुता नहीं है। शत्रुता तो है और रहेगी, किन्तु वह किसी की भी अन्यायी और अत्याचारी प्रवृत्ति से। तुम्हें गिरिव्रज का सिंहासन स्वीकार करते हुए सम्राट्पत्नी–अपनी माता और बहनों–अस्तिदेवी और

प्राप्तिदेवी–का भी प्रजा के साथ-साथ पालन करना है।

"शीघ्र ही मेरे फुफेरे भ्राता–इन्द्रप्रस्थ के पाण्डव राजसूय यज्ञ का आयोजन करेंगे। इसके लिए तुम्हें सेवक, उपयोगी पशु, सम्पत्ति और धन-धान्य का ऐसा उपहार हमारे साथ ही भेजना है, जो मगध साम्राज्य की गरिमा के अनुकूल हो। तुम्हें उस यज्ञ में आत्मीयता से उपस्थित भी रहना है। पाण्डवों के साथ तुम्हारे रक्त-सम्बन्ध स्थापित हों, यह भी सम्भव है। और भविष्य में तुम्हारे चतुरंग शक्ति-सामर्थ्य के साथ पाण्डवों की सहायता के लिए तत्पर रहने का अवसर भी आ सकता है।"

सहदेव ने सोचा था–पिता की भाँति उसको भी कठोर दण्ड दिया जाएगा। परन्तु इसके बदले पूर्ण अभयदान और जीवन में उपयोगी मार्गदर्शन पाकर, पिता की मृत्यु के दुःख को भूलकर वह भावुक हो उठा। स्वामी के चरण पकड़कर वह सम्मिश्र भावनाओं से सिसकने लगा। विशाल हृदय स्वामी ने हल्के से उसे उठाकर अपने आलिंगन में ले लिया। मुझे और अर्जुन को चलने का संकेत करके, सहदेव का हाथ अपने हाथ में लेकर ही स्वामी चलने लगे। वहाँ अखाड़े में हर्षोन्मत्त मगधवासी भीमसेन को कुंकुमवर्षा में नहलाते हुए, कन्धे पर उठाकर नाच रहे थे। स्वामी के हस्त-संकेत करते ही भीमसेन दर्शकों के प्रेम का घेरा तोड़कर उनके पास चला आया। एक मगध सेनापति ने उसकी प्रचण्ड गदा बड़े ही आदर से उसके पुष्ट स्कन्ध पर रखी। यह देखते ही अर्जुन ने अपने भ्राता को कसकर आलिंगन में बाँध लिया। मगध के अमात्य कुछ सेवकों की सहायता से जरासन्ध की निष्प्राण देह उठाकर ले गये। भीमसेन ने स्वामी के चरणों में गदा रख दी। आयु में स्वामी से ज्येष्ठ होते हुए भी वह प्रणाम करने के लिए स्वामी के चरणों में झुकने लगा, परन्तु स्वामी ने उसे बीच में ही रोककर बड़े सम्मान से दृढ़ आलिंगन में ले लिया। स्वामी की नील देह भीम के शरीर पर लगे कुंकुम से चर्चित हो गयी–और वह शरद् ऋतु के सन्ध्या समय के आरक्त नीलाकाश की भाँति दिखने लगी। वह दुर्लभ दृश्य देखकर हर्षोत्फुल्ल मगधवासियों ने जयघोष किया–"कुन्तीपुत्र भीमाऽर्जुन...जयतु...जयतु! देवकीपुत्र श्रीकृष्ण महाराऽऽज की जय हो–जय हो...! नन्द यशोदापुत्र श्रीकृष्णदेऽव की जय हो–जय हो।" मुझे तीव्रता से हार्दिक अनुभूति हुई कि यादवों की दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ 'वासुदेव' उपाधि पाये मेरे स्वामी को आज तक शत्रुता करनेवाले जनपद ने भी 'वासुदेव' के रूप में स्वीकार किया है।

दोनों पाण्डव, मागध सेनापति, मन्त्रिगण और उनके साथ खिंचे-से चलते कई भावमुग्ध मगधवासी इन सबके बीच द्वारिकाधीश जा रहे थे। मैं भी गर्वोन्नत उनके साथ चला–आर्यावर्त में पहली ही बार घटित होनेवाली एक ऐतिहासिक घटना का साक्षी बनकर!

कोलाहल करता हुआ हमारा समूह मगध के कड़े प्रबन्धवाले कारागृह के सामने आ गया। उसके द्वार पर बड़ा-सा काला ताला लटक रहा था और उसकी कुंजी के साथ भयभीत कारागृह-प्रमुख कहीं लुप्त हो गया था। स्वामी को तो कारागृह में बन्द किये सभी नरेशों से मिलना था। उनका धीरज बँधाकर मुक्त करना था। उनको अपने-अपने राज्य में लौटने के पश्चात् इन्द्रप्रस्थ और द्वारिका से स्नेह-सम्बन्ध बनाये रखने का प्रेमपूर्वक आग्रह के साथ आवाहन करता था। आज तक जिस किसी का स्वामी के साथ सम्बन्ध बना था, उसे उन्होंने अपने प्रेमसूत्र में सदैव के लिए गूँथ लिया था।

कारागृह के द्वार पर लटकता ताला देखकर सभी रुक गये। स्वामी ने गदावीर भीमसेन की

ओर देखा। उसका आशय भाँपकर भीमसेन ने आगे आकर 'वासुदेव द्वारिकाधीश...की जय' का घोष करके अपने स्कन्ध पर रखी प्रचण्ड गदा का प्रबल प्रहार उस ताले पर किया। वर्षों से कारागृह की शृंखलाओं में जकड़े अनेक नरेश मुक्त हो गये।

वे बन्धनमुक्त हो गये हैं, इस पर उन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा था। बन्दियों का वेश पहने हुए समस्त राजागण द्रुतगति से चले आते मुक्तिदाता की ओर देखते ही रहे। वे सभी कारागृह के चौक में एकत्र हुए। उनमें से कइयों ने डबडबायी कृतज्ञ आँखों से, मेरे स्वामी के विमल चरणों को स्पर्श करके उनकी चरणधूली माथे से लगायी। कुछ वृद्ध, ज्येष्ठ राजा भी उनके चरणस्पर्श के लिए झुक ही रहे थे, परन्तु स्वामी ने उनको झुकने से पहले ही उठाकर आदरपूर्वक आलिंगन में ले लिया। उनमें से कुछ वृद्ध राजा अत्यन्त आग्रह से स्वामी से प्रार्थना करने लगे, "हे द्वारिकाधीश वासुदेव, हमने आपकी सूर्यमण्डल को भेदनेवाली कीर्ति सुनी थी। आज आपके प्रत्यक्ष दर्शन हुए। हमारी आँखें धन्य हो गयीं। अब हमारे कानों को भी कृतार्थ करने की कृपा करें।" स्वामी के हाथ उठाकर संकेत करते ही सभी नरेश आज पहली बार एक पाषाणी वेदिका के सामने धरती पर ही आसन जमाकर बैठ गये। हम सब उनके आसपास घेरा डालकर खड़े हो गये। मेरे स्वामी धीमे पग उठाते हुए पाषाणी वेदिका पर चढ़ गये। उनकी प्रेमसागर-दृष्टि क्षण-भर सभी की ओर फिरी। उनका मुख क्षण में ही अत्यन्त तेजःपुंज दिखने लगा। उनके कण्ठ की अनुपम वेणुवाणी मगध के कारागृह की दीवारों के पाषाणों को भी रोमांचित करती हुई झरने लगी–

"आर्यावर्त के विविध जनपदों के स्वामी–हे प्रिय नरेशजनो! निरपराध बन्दी का जीवन कितना दुष्कर होता है, यह तो आपने अनुभव किया है। पराक्रम का बद्ध होना कितना असहनीय होता है, यह भी आपने भोगा है। सत्ता दुधारी शस्त्र की भाँति होती है। वह विधायक कार्य भी कर सकती है और विनाशक भी। स्वयं को निरंकुश सत्ताधारी मानकर मगधसम्राट् ने आप सबको बन्दी बनाया था। सौ राजाओं की संख्या पूर्ण होते ही वह शतशीर्षमेध यज्ञ करके उसकी वेदी पर आप सबकी निर्घृण बलि चढ़ानेवाला था।" आर्य द्वारिकाधीश के केवल उन उद्गारों से ही वहाँ एकत्रित नरेशों में एक बेचैन-सी खलबली मच गयी। उसे बढ़ने का अवसर न देते हुए स्वामी ने कहा, "यह कैसा यज्ञ? यदि वह वास्तव में सफल हो जाता तो? मैं जानता हूँ, आपमें से कोई भी मृत्यु से भयभीत नहीं है। परन्तु आपके पश्चात् आपके बिना, आपके प्रजाजनों का क्या होता? जहाँ-जहाँ जीवन अड़ जाता है, वहाँ-वहाँ सहायता के लिए दौड़ पड़ना मेरा कर्तव्य है। यही मेरा जीवन-कर्म है। आज से आप सब मुक्त हैं। इस पराक्रम का सम्पूर्ण श्रेय हमारे मल्लवीर भीमसेन को जाता है।"

किसी भी समस्या को परिपूर्ण रूप से सुलझाना ही तो मेरे स्वामी की विशेषता थी। निकट खड़े सहदेव की ओर देखकर स्वामी ने कहा, "मगधाधिप महाराज सहदेव, आप सबको धनधान्य और शस्त्रों से सुसज्जित एक-एक रथ और सारथि देंगे। भीमसेन के इन्द्रप्रस्थ राज्य के लिए तो आप उचित उपहार भेज ही देंगे। आप की स्वतन्त्रता के निमित्त इन्द्रप्रस्थ से जुड़े स्नेह को आप सदा स्मरण रखें और अवसर आने पर पाण्डवों की सहायता के लिए तत्पर रहें। मैं आपके भविष्यकालीन सुफल जीवन-यापन हेतु अपने द्वारिका राज्य की ओर से शुभेच्छाएँ देता हूँ। ओऽम् शिवं भवतु!"

हम सबकी इच्छा थी कि वे उसी तरह बोलते ही रहें, तभी वे रुके। मैं, दोनों पाण्डव और अन्य

सभी स्वामी के अमृतमय बोल सुनते-सुनते कब धरती पर बैठ गये थे–यह पता ही नहीं चला।

दूसरे ही दिन मगधराज सहदेव के साथ मगध की सीमा पर जाकर स्वामी ने भिन्न-भिन्न दिशाओं में जानेवाले रथारूढ़ राजाओं को सम्मानपूर्वक विदा किया। सभी छियासी नरेश अपने-अपने मार्ग पर चल पड़े हैं, इसका विश्वास होते ही स्वामी गिरिव्रज को लौटे। अब तक जरासन्ध-पुत्र सहदेव हमारे स्वामी के एक-एक निर्णय से और पग-पग पर सुने अलौकिक शब्दों से अभिभूत हो गया था। जिस प्रकार स्वामी ने बन्दी राजाओं की समस्या को सुलझाया, उससे तो वह अत्यधिक प्रभावित हुआ था। उसने गिरिव्रज में डंका पिटवाकर द्वारिका और इन्द्रप्रस्थ राज्यों से अपना दीर्घजीवी स्नेह घोषित किया था और इस तरह यादवों और मागधों में वर्षों से चले आये अखण्डित, घोर वैमनस्य का अन्त कर डाला था।

तीन दिन बाद मुझे और दोनों पाण्डवों को साथ लेकर स्वामी ने मगध के राजप्रासाद में प्रवेश किया। हमारे साथ सहदेव महाराज भी थे। उन्होंने रनिवास में राजमाता–जरासन्धपत्नी और राजकन्या–कंसपत्नी अस्तिदेवी और प्राप्तिदेवी को अग्रदूत भेजकर सन्देश दिया था कि "स्वयं द्वारिकाधीश आपसे मिलने आ रहे हैं।" सन्देश सुनकर वे राजस्त्रियाँ पहले तो तिरस्कार से क्रोधित हुई और फिर इस सम्भ्रम में पड़ गयीं कि भेंट में कैसा व्यवहार किया जाए। सहदेव महाराज के साथ प्रत्यक्ष द्वारिकाधीश को देखते ही वे चकित रह गयीं। आर्य ने प्रथम उन तीनों के समक्ष माथा झुकाकर नम्र अभिवादन किया। तब तो वे चकरा ही गयीं। उनको केवल उद्धत, अवमानकारक व्यवहार करनेवाले, आज्ञा देते रहनेवाले राजपुरुषों को देखने का अभ्यास था। स्त्री के समस्त नम्रभाव से प्रस्तुत होनेवाला राजपुरुष वे पहली बार देख रही थीं। स्वामी ने नम्रता से कहा, "मैं द्वारिकधीश महाराज वसुदेव का पुत्र श्रीकृष्ण–आप तीनों का अपराधी हूँ। आप मुझे अपने सहदेव महाराज के सामन ही मानें और निष्पक्ष भाव से यह विचार करें कि सहदेव महाराज गिरिव्रज के सिंहासन पर आसीन हुए तो क्या यह उचित नहीं हुआ? मथुरा में उग्रसेन महाराज राज्यभार सँभाल रहे हैं, क्या यह उचित नहीं है? मगधसम्राट् और उनके जामाता के बदले, लड़ते हुए मेरी मृत्यु होती तो क्या वे दोनों मेरी देवकी माता अथवा रुक्मिणी से मिलने जाते? मुझे लगता है–अधिकार सत्ता और उसके कारण निर्माण होनेवाले वैमनस्य से बढ़कर महत्त्वपूर्ण और श्रेष्ठ है तो केवल प्रेम! इस क्षण यदि आप मुझे शाप दें, तो उसे भी मैं प्रेमभाव से स्वीकार करूँगा।"

पूर्णत: अनपेक्षित विचार, शब्द सुनकर तीनों राजस्त्रियाँ चकित रह गयीं। उनके तिरस्कार और क्रोध की मात्रा बहुत-कुछ कम हो गयी। राजमाता ने तो प्रथा के अनुसार स्वामी के स्वागत के लिए सेविका को अन्तःकक्ष में भेजकर केसर-मिश्रित दुग्ध के चषक मँगवाये और कहा,"आसनस्थ होइए द्वारिकाधीश! हमारी दोनों पुत्रियों को आपने ही मथुरा से सुरक्षित गिरिव्रज पहुँचाने का प्रबन्ध किया था, यह हम आज भी भूले नहीं हैं। सहदेव ने द्वारिकाधीश की प्रेरणा से ही सन्धि का निर्णय किया है, यह भी हमें ज्ञात है।"

मेरे स्वामी का मगध-सम्बन्धी अभियान सफल हो गया। एक सप्ताह तक हम गिरिव्रज में रहे। मगध की सीमा पर सहदेव महाराज के साथ हमें विदा करने के लिए जमा हुए असंख्य मागध नगरजनों की उपस्थिति में मगध को छोड़ा। हमारे रथ के पीछे मगध के उपहारों से भरे वृषभ-रथों की पंक्ति थी। जब हम गिरिव्रज आये थे तब स्वामी और दोनों पाण्डव ब्राह्मणवेश में थे। अब उन्होंने जरी के राजवस्त्र धारण किये थे और मैं था द्वारिका के सारथिवेश में।

जरासन्ध के वध से द्वारिका और इन्द्रप्रस्थ की कीर्ति का आर्यावर्त में डंका बजने लगा। पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में आनेवाली बाधा दूर हो गयी। इन्द्रप्रस्थ में सप्ताह-भर पाण्डवों के स्वागत-सत्कार को स्वीकार करके स्वामी के साथ मैं द्वारिका लौट गया। मार्ग में आनेवाले सभी राज्यों में जरासन्ध-वध के कारण चैन की साँस लेते हुए राजाओं ने और प्रजाजनों ने प्रचण्ड जयघोष के साथ स्वामी का स्वागत किया। लेकिन द्वारिका में स्वामी का जो स्वागत हुआ, उसका कोई जोड़ नहीं था। कंस-वध की अपेक्षा जरासन्ध-वध का विक्रम अधिक महत्त्वपूर्ण था, श्रेष्ठ था। इसीलिए इस समय स्वामी के स्वागत के लिए स्वयं वसुदेव महाराज दोनों राजमाताओं के साथ शुद्धाक्ष महाद्वार पर उपस्थित थे। देवी रुक्मिणी के साथ स्वामी की सातों रानियाँ भी उपस्थित थीं। दोनों सेनापति और मन्त्रिगणों के आगे, रूपसम्पन्न युवा प्रद्युम्न मेरे पुत्र दारुकि के साथ अँजुली में पारिजात-पुष्प लिये खड़ा था। स्वामी की आठों पत्नियों के अस्सी पुत्र उनके पीछे खड़े थे। प्रमुख महाद्वार शुद्धाक्ष और पुष्पदन्त, ऐन्द्र, मल्लात इन चारों सुवर्णी महाद्वारों पर गरुड़-चिह्नांकित स्वर्णवर्णी किनारेवाली पताकाएँ फहरा रही थीं। स्थान-स्थान पर विविध पुष्पों से सुसज्जित कमानें खड़ी की गयी थीं। मूल्यवान वस्त्र पहने द्वारिकावासी स्त्री-पुरुष लगातार कोलाहल कर रहे थे। स्वर्ण धागे से मण्डित श्रीफल अँजुली में लिये युवराज बलराम स्वामी के सम्मुख खड़े हुए। सामने राजपरिवार को देखते ही स्वामी द्रुतगति से पग उठाते हुए आगे बढ़े। उन्होंने प्रथम महाराज वसुदेव, देवकी माता, रोहिणी माता, आचार्य सान्दीपनि, गुरुमाता आदि ज्येष्ठों की चरणधूलि माथे पर धारण की। उनकी आँखें चमक उठीं। बलराम भैया के हाथ का श्रीफल स्वीकार कर स्वामी उनके चरणों में झुकने लगे, परन्तु उनको रोककर, अत्यन्त स्नेह से वक्ष से लगाकर भैया बुदबुदाये, "धनुर्याग के समय कंस-वध के लिए तुम मुझे मथुरा ले गये थे, परन्तु इस बार तुमने मुझे भुला दिया छोटे, फिर भी विजय तो मेरी ही हुई। अन्तत: मेरे शिष्य भीमसेन ने ही जरासन्ध का वध किया न?"

बलराम भैया के दृढ़ आलिंगन से छूटकर स्वामी ने शरारत से हँसते हुए कहा, "भैया, जरासन्ध का वध करनेवाला भीमसेन तुम्हारा शिष्य है यह जितना सच है, उतना ही यह भी सच है कि वह हमारे सुभद्रापति अर्जुन का ज्येष्ठ भ्राता है।" इस अकाट्य उत्तर पर दोनों भ्राता खिलखिलाकर हँस पड़े और फिर एक-दूसरे के गले लगे। स्वामी और बड़े भैया के समीप ही होने से उन दोनों की खुसुर-फुसुर का मुझे तो पता हुआ, परन्तु अन्य कोई इस बात को न सुन सका न समझ सका।

रेवतीदेवी ने जितनी प्रसन्नता से स्वामी की आरती उतारी, उससे कई गुना अधिक प्रसन्न चमकती आँखों से रुक्मिणीदेवी ने उनकी आरती उतारी।

उस दिन भान रहित द्वारिकावासियों ने मेरे गरुड़ध्वज रथ की–जिस पर स्वामी और बलराम भैया आरूढ़ थे–जयघोष के साथ, कुंकुम और पुष्पों की वर्षा करते हुए हर्षोन्मत्त होकर, दिन-भर गौरव-यात्रा निकाली। मेरे प्रिय गरुड़ध्वज रथ के चारों अश्व लोगों की उस भीड़ में जैसे-तैसे एक-एक खुर उठाकर चल रहे थे। स्थान-स्थान पर द्वारिकावासी स्त्रियों ने स्वामी के चरण पखारने के लिए लाये जलकुम्भों को चारों अश्वों के खुरों पर ही उँड़ेल दिया।

द्वारिका के आनन्दविभोर स्त्री-पुरुष नगरजन अपनी सुधबुध भूलकर राजमार्ग के चौक-चौक में विविध क्रीड़ाओं में रँग गये। आज यादवों के राजनगर द्वारिका में एक ही जयघोष उठ रहा

था–समुद्र-पवन पर आरूढ़ होकर अनगिनत सागर-लहरों में विलीन हो रहा था। मानो वह समस्त आर्यावर्त में डोंडी पीट रहा था। यादव-वीर लगातार जयनाद कर रहे थे–"जरासन्ध-अन्तक–वसुदेव-पुत्र वासुदेव की जय हो...जय हो! बन्दी नरेशतारक द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण महाराज की जय हो..जय हो!"

लगातार सप्ताह-भर द्वारिका में यह विजयोल्लास चलता रहा। एक दिन पाण्डव-पुरोहित धौम्य ऋषि का एक प्रमुख शिष्य पाण्डव-अमात्य के साथ राजसूय यज्ञ का आमन्त्रण देने के लिए द्वारिका आया। यह यज्ञ था इन्द्रप्रस्थ में–इक्षुमती और यमुना के संगम-स्थल पर और उत्साह की लहरें उठ रही थीं यहाँ द्वारिका में–पश्चिम सागर के तट पर!

राजसूय यज्ञ के लिए द्वारिका से स्वामी और रुक्मिणीदेवी के साथ गिने-चुने स्त्री-पुरुष जानेवाले थे। इनमें बलराम भैया थे रेवतीदेवी के साथ। उद्धव महाराज, अमात्य विपृथु, मन्त्री अक्रूर, ब्रह्मगार्ग्य, स्वामीपुत्र साम्ब और मेरा पुत्र दारुकि भी इनमें सम्मिलित थे। आयोजन के अनुसार यज्ञ में पाण्डवों को दिये जानेवाले उपहार एक अलग अश्वदल के साथ भेजे गये। राजमाता कुन्तीदेवी, महाराज्ञी द्रौपदीदेवी और अन्य राजस्त्रियों को जो उपहार भेंट करने थे वे भी एक विशेष स्त्रीदल के साथ इन्द्रप्रस्थ भेजे गये। इन्द्रप्रस्थ के नगरजनों को भेंट करने के लिए विविध धान्यों के बोरे, जनोपयोगी पशु, वस्त्रों की गठरियाँ, औषधि, वनस्पतियाँ और अलंकारों से भरे वृषभ-रथ इन्द्रप्रस्थ की ओर चल पड़े।

अन्त में स्वामी और देवी रुक्मिणी का अलंकृत, सुसज्जित गरुड़ध्वज रथ लेकर मैं भी इन्द्रप्रस्थ की ओर चल पड़ा। हमें विदा करने के लिए सहस्रों नगरजन शुद्धाक्ष द्वार पर जमा हुए। इस समय हमने यात्रा के लिए मध्यदेश का मार्ग चुना। हमारा पहला पड़ाव आनर्त में पड़ा, दूसरा भृगुकच्छ में। लगभग एक मास बाद हमने अवन्ती राज्य में प्रवेश किया। यह राज्य देवी मित्रविन्दा का था। उनके भ्राता विन्द और अनुविन्द स्वामी की चारों दिशाओं में गूँजती कीर्ति को सुनकर कुछ सौम्य हो गये थे। उनकी अकड़ कुछ कम हो गयी थी। वे स्वामी के स्वागतार्थ अवन्ती की सीमा पर आये। इस यात्रा में स्वामी की राजनीति का एक नया ही अंग देखने को मिला। यात्रा में स्वामी ने अपने चुनिन्दा चतुरंग सैन्य को आगे भेज दिया था। हमारे साथ मात्र कुछ चुने हुए लड़ाकू दल थे। मार्ग में आनेवाले जनपदों के नरेश स्वामी पर आक्रमण करने का साहस नहीं करेंगे, उलटे वे उनका स्वागत ही करेंगे–इसका उन्हें पूर्ण विश्वास था। अवन्ती से चर्मण्वती नदी पार करके हम कुन्तिभोज राज्य में उतरे। बुआ कुन्तीदेवी ने बाल्यावस्था में यहीं निवास किया था। शीघ्रकोपी और सनकी मुनिवर दुर्वासा की उन्होंने जिस राजप्रासाद में किसी विशेष यज्ञ के लिए सेवा की थी, वहाँ हम आ गये। स्वयं स्वामी ने देवी रुक्मिणी को वह सम्पूर्ण भवन और मुनि दुर्वासा के यज्ञ के लिए बनाई गयी पर्णकुटी दिखायी। इस राज्य में दो दिन पड़ाव डालकर हम पांचालों के अहिच्छत्र नगर में आ गये। रक्षकदल की भोजन-सामग्री के लिए धान्य की बोरियाँ लेकर यमुना-तट पर यात्रा करते-करते हम इन्द्रप्रस्थ की पूर्व सीमा पर पहँच गये। नित्य की भाँति हम इन्द्रप्रस्थ की पश्चिम सीमा की ओर से नहीं आये थे।

महाराज युधिष्ठिर को द्वारिकाधीश और देवी रुक्मिणी के पूर्व सीमा पर आगमन की अग्रवार्त्ता मिलते ही पाँचों पाण्डव स्वागत के लिए सीमा पर पहुँच गये। उनके साथ राजमाता कुन्तीदेवी, महाराज्ञी द्रौपदीदेवी और हमारी सुभद्रादेवी समेत नागकन्या उलूपीदेवी तथा

मणिपुरकन्या चित्रांगदादेवी भी आयी थीं। नवागत अर्जुनपत्नियाँ मेरे स्वामी के दर्शन के लिए उत्सुक थीं। अर्जुन द्वारा की गयी मेरे स्वामी की स्तुति-प्रशंसा ही इसका कारण था।

सीमा पर किये गये स्वागत-समारोह की सभी बारीकियों का मैंने निरीक्षण किया। स्वामी के साहचर्य और सीख के कारण मुझे इसका पहले ही अभ्यास हो चुका था।

राजनगर इन्द्रप्रस्थ में हमारा अभूतपूर्व स्वागत किया गया। इन्द्रप्रस्थ के राजमार्ग और चौक विभिन्न स्थानों से आये हुए अतिथियों से खचाखच भरे हुए थे। सभी दिशाओं में किये दिग्विजय के कारण पाण्डव-भ्राताओं की कीर्ति का डंका सम्पूर्ण आर्यावर्त में गूँज रहा था। उनके पुरोहित धौम्य ऋषि ने तो हिमालय में जाकर वहाँ के आश्रमों में स्थान-स्थान पर बसे ऋषि-मुनियों को इन्द्रप्रस्थ में आमन्त्रित किया था। इक्षुमती और यमुना नदी के संगम पर राजसूय यज्ञ के लिए विशाल मण्डप की रचना की गयी थी। 'इन्द्रप्रस्थ' अपने नाम के अनुसार ही इन्द्र की स्वर्गीय नगरी को पीछे छोड़नेवाली नगरी दिख रही थी। स्थापत्य का चकाचौंध कर देनेवाला वैभव ही बड़े ठाठ से यहाँ खड़ा था।

महाराज युधिष्ठिर हमें राजप्रासाद में ले जाने से पहले सीधे यज्ञमण्डप में ही ले गये। यज्ञ का प्रारम्भ दूसरे ही दिन सन्ध्या समय शिवमुहूर्त में होनेवाला था। द्वारिकाधीश इन्द्रप्रस्थ में आ चुके हैं और वे यज्ञमण्डप की ओर जा रहे हैं–यह वार्त्ता कानोंकान सर्वत्र फैल गयी और इन्द्रप्रस्थवासी स्त्री-पुरुष नगरजनों के साथ-साथ आमन्त्रितों के समूह-के-समूह हमारे मार्ग पर स्वामी-दर्शन के लिए जमा हो गये। मार्ग के दोनों ओर पंक्तियों में खड़े नगरजनों ने अँजुलियाँ भर-भरकर हमारे गरुड़ध्वज रथ पर पुष्पवर्षा की। द्वारिकाधीश के दर्शन की एक झलक के लिए उत्सुक नगरजन प्रचण्ड भीड़ के कारण एक-दूसरे को थामते हुए हमारे रथ के मार्ग में न आएँ इसलिए सतर्क थे। वहाँ इन्द्रप्रस्थ के सशस्त्र सैनिक नहीं थे, वे पश्चिम द्वार की ओर चले गये थे। मार्ग में दोनों ओर खड़े स्त्री-पुरुष लगातार जयघोष कर रहे थे–"वासुदेव भगवाऽन श्रीकृष्ण–महाराजऽज की...जय हो...जय हो!" आज मुझे पहली बार प्रतीत हुआ कि महाराज वसुदेव की अपेक्षानुसार राजसूय यज्ञ के लिए जमा हुए सम्पूर्ण आर्यावर्त के राजाओं ने मेरे स्वामी की 'वासुदेव' उपाधि को स्वीकार किया था। इतना ही नहीं, सभी हृदय से 'भगवान' कहकर उनका जयघोष कर रहे थे। इसमें उनकी क्या भूल थी? क्या मेरे स्वामी को छोड़कर अन्य कोई इस उपाधि तक पहुँचा था? यह सोचकर मेरा वक्ष गर्व से फूल उठा और मैं अपने गरुड़-ध्वज के चारों श्वेतशुभ्र प्रिय अश्वों को उनके नाम से पुकार-पुकारकर हाँकने लगा। वे बुद्धिमान प्राणी मेरे संकेतों को समझकर, भूल से मार्ग में आनेवाले को चोट न पहुँचे, इसलिए रुक जाते थे, और पुन: दौड़ने लगते थे।

हम यज्ञमण्डप में आ गये। योजन-भर घेरे के इस प्रशस्त मण्डप की रचना अनेक स्तम्भों पर कुशलता से की गयी थी। मेरे स्वामी ने सूक्ष्म दृष्टि से सम्पूर्ण मण्डप को देखा। उन्होंने महाराज युधिष्ठिर से कहा, "हे पाण्डवश्रेष्ठ, तुम्हारा यज्ञ आर्यावर्त में अपूर्व सिद्ध होगा। तुम्हारे प्रबन्ध में तनिक भी त्रुटि नहीं है।"

"यह सब द्वारिकाधीश भगवान का कृपाप्रसाद है। हम सभी भ्राताओं पर भगवान की कृपा ऐसी ही बनी रहे।" इन्द्रप्रस्थनरेश बनने के पश्चात् ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर का मेरे स्वामी से बातचीत करने का ढंग बहुत-कुछ बदल गया था। वैसे मेरे स्वामी आयु में उनसे छोटे थे, परन्तु पाण्डवों के मन में–हृदयों में उनका जो स्थान था, वह सबसे ऊँचा, सर्वश्रेष्ठ था। यज्ञमण्डप में

नियुक्त किये सेवक मण्डप का रहा-सहा काम पूर्ण करने में लगे हैं, यह देखकर हम पाण्डवों के राजप्रासाद की ओर जाने को निकले। इस मार्ग पर तो स्वामी के स्वागत की भव्यता और भी अधिक बढ़ गयी थी। मार्ग के दोनों ओर इकट्ठा हुए स्वागतोत्सुक जनसमुदाय में, उनको रोकनेवाले पाण्डवों और यज्ञ के लिए आये नरेशों के सशस्त्र सैनिकों में और भी वृद्धि हो गयी थी।

हम राजप्रासाद के सम्मुख आ गये। यहाँ पहले एक खुला चौक था, जिसके मध्यस्थान में जलधाराओं का नर्तन करनेवाला केवल एक फुहारा था, वह अब कहीं दिख नहीं रहा था। उसके स्थान पर खड़ी थी नाना चमत्कृतियों से भरी, आँखों को चकाचौंध कर देनेवाली मयसभा! उसके मुख्य द्वार पर हाथ जोड़कर खड़े कल्पना-चतुर मयासुर ने स्वामी, रुक्मिणीदेवी, सभी पाण्डव और उनकी राजस्त्रियों तथा मुझे सभी को वहाँ निर्मित चमत्कृतियों की जानकारी देते हुए सभी ओर घूमकर सम्पूर्ण मयसभा दिखायी।

यमुना नदी स्वामी के मर्मस्थल की धरोहर थी। सन्ध्या समय वे नित्य का अर्घ्य देने के लिए एक सुघड़ घाट की सीढ़ियां उतरने लगे। मैं भी उनके साथ था। इसके अतिरिक्त उद्धव महाराज, धौम्य ऋषि, गर्ग मुनि जैसे कुछ इने-गिने लोग भी थे। स्वामी युमना के जल में उतरे। उन्होंने केवल कटि में पीतवस्त्र धारण किया था। अन्य राजवस्त्र उन्होंने उतार रखे थे। उनके पीछे-पीछे उद्धव महाराज भी यमुना-जल में उतरे। मैं घाट की एक ऊँची सीढ़ी पर बैठकर टकटकी बाँधे उन दोनों को देखता रहा था। स्वामी के नीलवर्ण के कारण उनका प्रतिबिम्ब यमुना के नीलजल में लय हो गया। जैसे वे दोनों जल और तेज के ही पुत्र थे।

दोनों ने आँखें मूँदकर सवितृ मन्त्र का पुरश्चरण करते हुए गोधूलि के सूर्यदेव को अर्घ्य दिये। यमुना-जल में उतरे ऋषि-मुनियों ने भी अर्घ्य दिये। सन्तुष्ट मन से सभी पात्र से बाहर आ रहे थे कि लम्बे पंखोंवाला एक मयूर उड़ता हुआ आया और घाट पर एक ओर कदम्ब-वृक्ष पर फड़फड़ाता हुआ बैठ गया। सभी का ध्यान उसकी केका से आकर्षित हुआ। स्वामी और उद्धव महाराज एक-दूसरे की ओर देखकर अति मधुर मुस्कराये। स्वामी सदैव अपने सुवर्णमुकुट में मोरपंख धारण करते आये थे, उसकी स्मृति से ही वे मुस्कराये होंगे–ऐसा मुझे लगा, वास्तविकता क्या थी यह तो उन दोनों को ही ज्ञात होगा!

दोनों भ्राता, जहाँ उनके राजवस्त्र रखे थे, वहाँ आ गये। उनके भीगे पदचिह्नों की पंक्ति घाट के पाषाणों पर अंकित हो रही थी। स्वामी को उनके राजवस्त्र धारण करने में सहायता करने के लिए मैं शीघ्रता से सीढ़ियाँ उतरकर उनके पास पहुँचा। सदैव की भाँति मधुर मुस्कराते हुए उन्होंने कहा, "दारुक, देवी कालिन्दी का नैहर यहाँ ही है। यहाँ से जाने से पहले एक बार उनसे मिलना है, यह ध्यान रखना!"

स्वामी सन्ध्या समय के अर्घ्यदान के लिए यमुना के घाट पर आये हैं, अब तक यह वार्त्ता लोगों में फैल गयी थी। वहाँ जमा हुए लोगों को स्वामी ने मुस्कराते हुए वस्त्र, अलंकार, सुवर्णमुद्राएँ दान में दीं। सन्ध्योपासन के लिए हम पाण्डवों के राजप्रासाद में लौट आये।

सन्ध्योपासन के पश्चात् स्वामी एक विशेष भेंट के लिए निकले–उनके साथ थे केवल उद्धव महाराज! बलराम भैया अपने शिष्य भीमसेन के साथ मण्डप में आमन्त्रित नरेशों की व्यवस्था में व्यस्त थे। दूर यमुना-तट पर खड़े किये गये विशेष पर्णकुटी-संकुल में महर्षि व्यास और उनके शिष्यगणों के आगमन की सूचना स्वामी को मिली थी। महाराज युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के

पश्चात् वर्षों बाद वे इन्द्रप्रस्थ आये थे। राजसूय यज्ञ के महत्त्व को जानकर पाण्डव-पुरोहित धौम्य ऋषि ने उनको अति आग्रह से सपत्नीक आमन्त्रित किया था। महर्षि के साथ उनकी पत्नी–माता घृताचीदेवी भी आयी थीं।

अब मैं स्वामी का केवल सारथि नहीं रहा था। उन्होंने मुझे अपना सखा माना था। यद्यपि मेरी इस धारणा का कोई विशेष अर्थ नहीं था, फिर भी मैं सोचता था कि स्वामी की सुरक्षा का दायित्व मुझ पर ही है। इसीलिए परछाई की भाँति मैं सदैव उनके पीछे-पीछे रहा करता था। जब यह बात ध्यान में आती, मेरे कन्धे थपथपाते हुए मुस्कराकर स्वामी सुझाते थे–"कितनी सेवा करोगे दारुक? थोड़ा घूम आओ, जहाँ तुम्हारा मन करे।" उनकी सुरक्षा का दायित्व मेरा ही है, यह मेरी धारणा कितनी भ्रान्त थी, यह मेरी समझ में आता था। उन्होंने वास्तव में मुझे सखा माना है, यह अनुभव करके उनके प्रेम से मैं अभिभूत हो जाता था। स्वामी ने मुझे सखा मान लिया है, यह कुछ अभिज्ञ जन जान चुके थे–महर्षि व्यास उन्हीं में से एक थे।

मैंने गरुड़ध्वज पर्णकुटी-संकुल के आगे लाकर खड़ा कर दिया। उस संकुल की सबसे ऊँची, मुख्य पर्णकुटी के द्वार पर स्वामी के स्वागत के लिए स्वयं महर्षि व्यास सपत्नीक खड़े थे। इस बात का तो मुझे तनिक भी आश्चर्य नहीं हुआ। आश्चर्य इस बात का हुआ कि बिना किसी अग्रवार्त्ता के उन्हें कैसे पता चला कि स्वामी आ रहे हैं–उन्हीं का रथ आ रहा है?

महर्षि दोनों भ्राताओं को उनके हाथ पकड़कर प्रेम से पर्णकुटी में ले गये। पर्णकुटी के बीच रखे कुश के उच्चासन पर महर्षि बैठ गये। उनके बायें हाथ की ओर धरती पर ही एक बैठक पर गुरुपत्नी बैठ गयीं। दोनों के समक्ष हाथ जोड़े, मूल्यवान राजवेश धारण किये, अनुपम सुन्दर दोनों यादवभ्राता नीचे कुशासन पर बैठ गये। महर्षि के शिष्यगण आसपास जहाँ भी स्थान मिला, हाथ जोड़कर खड़े हो गये। मैं भी उन्हीं में जा खड़ा हुआ।

सबसे पहले महर्षि ने स्वामी से महाराज वसुदेव और देवकी-रोहिणी माता का कुशल पूछा। तत्पश्चात् बहुत समय तक उन तीनों की राजधर्म, न्याय-अन्याय, सत्यासत्य, स्त्रीत्व का सम्मान–जैसे विविध विषयों पर मर्मस्पर्शी चर्चा चली। इस चर्चा में महर्षिपत्नी ने भी भाग लिया। भेंट का समापन करते समय महर्षि व्यास ने कहा, "हे यदुनन्दन श्रीकृष्ण, पाण्डवों का राजसूय यज्ञ कई दृष्टियों से स्मरणीय होगा। युधिष्ठिर ने मुझसे पूछा कि अग्रपूजा का सम्मान किसको दिया जाए? मेरी दृष्टि में तुम्हारे सिवा अन्य कोई इस सम्मान के योग्य नहीं है। मुझे विश्वास है कि तुम्हारी कृपा और अग्रपूजा से पाण्डवों का राजसूय यज्ञ निर्बाध और यथाविधि सम्पन्न होगा। यदि इसमें कोई बाधा आ गयी तो तुम उसका निवारण भी करोगे।" महर्षि व्यास मनःपूर्वक ऐसे मुस्कराये कि आचार्य सान्दीपनि का स्मरण हो आया।

हमने विदा ली और अन्त में मैंने महर्षि और महर्षिपत्नी का चरणस्पर्श करते हुए अपने मन का वह प्रश्न पूछ ही डाला, जो मेरे मन में बहुत समय से मँडरा रहा था, "गुरुदेव, मेरे स्वामी का ही रथ आ रहा है, यह आपने कैसे जाना?" मुख-भर हँसते हुए उन्होंने मेरे कन्धे पर हाथ रखा और बड़े स्नेह से कहा, "दारुक, तुम तो द्वारिकाधीश के सखा हो। तुम्हारे मन में यह प्रश्न उठना ही नहीं चाहिए था। तुम्हारे स्वामी का गरुड़ध्वज जब दौड़ता है, उसके छत में लगी सुवर्ण घण्टिकाएँ मन्द-मन्द खनकती हैं। वह नाद वायु-लहरों पर आरूढ़ होकर दूर तक फैल जाता है। हाँ, उसे सुनने के लिए, वैसे कान का होना आवश्यक है। तुम बड़े भाग्यशाली हो दारुक कि तुम्हें

श्रीकृष्ण की सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।”

राजसूय यज्ञ का दिन उदित हुआ। यमुना-तट के निकट फैला हुआ भव्य यज्ञमण्डप सूर्य-किरणों में चमक उठा। यमुना-तट के आसपास आमन्त्रित राजाओं के सैनिकों के पड़ाव थे। स्थान-स्थान पर दूर-दूर से आये ऋषि-मुनिवरों पर्णकुटी-संकुल खड़े हुए थे। हस्तिनापुर से आये कौरवों के सैन्य-शिविर में उनका ध्वज फहरा रहा था। हस्तिनापुर से युवराज दुर्योधन, उनके कुछ भ्राता, अंगराज कर्ण, कर्णबन्धु शोण, उसके अमात्य, सेनापति, मामा शकुनि और उसके इने-गिने भ्राता, राजसचिव कणक आये थे। पितामह भीष्म और महात्मा विदुर कुरु-अमात्य वृषवर्मा के साथ उपस्थित हुए थे। स्थान-स्थान पर आमन्त्रित राजाओं के शिविर खड़े हुए थे। उन शिविरों में पांचालनरेश द्रुपद और युवराज धृष्टद्युम्न, मत्स्य, वत्स, अयोध्या, कोसल, विदेह, अवन्ती, शूरसेन, सिन्धु, सौवीर, काम्बोज, काश्मीर, कौशिक, कामरूप, किरात, कुन्तीभोज, अश्मक, आनर्त जनपदों के नरेशों का ससैन्य निवास था। हिमालय से आये ऋषि-मुनियों की कुटियाँ इक्षुमती के तट से लगी थीं। इन्द्रप्रस्थ आमन्त्रितों और उत्सुक दर्शकजनों से खचाखच भर गया था।

मेरे स्वामी देवी रुक्मिणी समेत पाण्डवों के राजप्रासाद में ठहराये गये थे। आज उनकी अग्रपूजा होनी थी, इस बात का उन्हें पता था, इसलिए उन दोनों को शुचिभूर्त होकर निर्जल व्रत रखना था।

कुरु शिविर में प्रातःकाल के नित्यकर्मों को सम्पन्न करके पितामह भीष्म और महात्मा विदुर स्वामी से मिलने चले आये। पांचालराज द्रुपद और युवराज धृष्टद्युम्न भी उनसे भेंट कर चले गये। विशेष बात यह थी कि जरासन्ध-वध से जिनकी आँखें खुल गयी थीं, कौण्डिन्यपुर के युवराज रुक्मि अपने भ्राताओं सहित मिलने आये थे। सुदामापुरी से स्वामी के परमस्नेही सुदामा भी सपत्नीक आये थे।

पाण्डवों के राजप्रासाद के आगे मयासुर की बनायी मयसभा का समाचार शिविर में पहुँचने से राजप्रासाद के आसपास दर्शकों की प्रचण्ड भीड़ जमा हो रही थी। मयासुर निर्मित एक-से-एक बढ़कर दृष्टि और श्रुतिभ्रम की चमत्कारियाँ देखकर देखनेवाले आश्चर्यचकित हो रहे थे। सम्पूर्ण इन्द्रप्रस्थ में उषःकाल से विविध मंगल वाद्यों का अविरत घोष हो रहा था। यज्ञमण्डप में भी वाद्यों का तुमुल घोष हो रहा था। पाण्डव-पुरोहित धौम्य ऋषि यज्ञ-व्यवस्था के लिए दौड़धूप कर रहे थे। मण्डप में घूमते हुए वे सेवक, शिष्यगणों को भिन्न-भिन्न आदेश दे रहे थे। भव्य यज्ञकुण्ड के समीप समिधाओं की गड्डियों के ढेर, विविध धान्य, पुष्प, यज्ञ-विधि की सामग्री के मृत्तिका और स्वर्णथाल पंक्ति में रखे थे। घृत से भरे ताम्र, स्वर्ण, रौप्यकुम्भ क्रम से रखे गये थे। उनका हवन आसपास के क्षेत्र को विशुद्ध रखनेवाला था। राजसूय यज्ञ की पूरी तैयारियाँ हो गयी थीं।

दोपहर ढलते स्वामी के कक्ष में एक विशेष समाचार पहुँचा। वह यह था कि अंगराज कर्ण के साथ कुतूहल से मयसभा देखने राजप्रासाद आये हुए कुरु-युवराज दुर्योधन की स्थिति हास्यास्पद बन गयी थी। वह भ्रम से एक जलकुण्ड में गिरा था। कर्ण ने सहारा देकर उसे जलकुण्ड से बाहर निकाला। जब यह घटना हो रही थी तब सौध पर खड़ी द्रौपदीदेवी ने दुर्योधन से कुछ चुभनेवाली बात कही थी। वह सुनते ही दुर्योधन क्रोधित हो उठा था। जलकुण्ड में खोये मुकुट के कारण दुर्योधन को बिना मुकुट धारण किये ही यज्ञमण्डप में उपस्थित होना पड़ा। यह देखते ही दुर्योधन

के परममित्र अंगराज ने अपना मुकुट उसके मस्तक पर रख दिया था। इससे स्वयं अंगराज को ही मुकुटविहीन स्थिति में यज्ञमण्डप जाना पड़ा था। यह समाचार सुनकर मेरे स्वामी के मुख पर एक रहस्यमय हास्य झलका था। आज दिन-भर निराहार रहते हुए भी उनका मुख्य अपार तेजस्वी दिख रहा था। मैंने और उद्धव महाराज ने कौस्तुभ मणियुक्त मौक्तिक माला, स्वर्णवर्णी बेलबूटेदार बाहुभूषण, स्वर्णवर्णी किनारवाला केशरी उत्तरीय धारण करने में स्वामी की सहायता की। कटि में पहने हुए झलकते पीताम्बर पर नीलांशुक लपेटकर उसमें पांचजन्य खोंस दिया था। उद्धव महाराज ने उनके मस्तक पर मोरपंख लगा हुआ बेलबूटेदार स्वर्णकिरीट रख दिया। अन्तत: स्वामी ने वैजयन्तीमाला उठाकर कण्ठ में धारण की। राजसूय यज्ञवेत्ता के रूप में स्वामी सुसज्जित हो गये। यह यज्ञकार्य था और स्वामी यज्ञवेत्ता थे, इसलिए आज उन्होंने कोई भी शस्त्र धारण नहीं किया था। मुझे तो इससे उनके रूप में कोई त्रुटि प्रतीत नहीं हुई। उनके मुखमण्डल और आँखों से अतुल तेज छलक रहा था। वह क्या केवल क्षात्रतेज था? नहीं, उससे भी कुछ अधिक था उस तेज में! उनकी लम्बी अँगुलियोंवाले विमलचरणों में सुनहरे, बेलबूटेदार अर्धचन्द्राकार पदत्राण चढ़ाते हुए उद्धव महाराज ने कहा, “भैया, आज आपके रूप पर दृष्टि टिक ही नहीं रही है। पाण्डवों के राजसूय यज्ञ के यज्ञवेत्ता के स्थान पर आप ही शोभा दे रहे हैं। वास्तव में आपकी ही नजर उतारनी चाहिए।”

अन्तःपुर के कक्ष से हम बाहर आ गये। पाँचों पाण्डव प्रतीक्षा ही कर रहे थे। स्त्रियों के कक्ष से हलके केसरी रंग का वस्त्र धारण किये, सेविकाओं से वेष्टित देवी रुक्मिणी भी आ गयीं। वे भी अत्यन्त तेजस्वी दिख रही थीं। उनके पीछे कुन्तीदेवी, रेवतीदेवी, द्रौपदीदेवी और अन्य पाण्डव-स्त्रियाँ थीं। युधिष्ठिर को छोड़कर अन्य चार पाण्डव एक ही राजरथ पर आरूढ़ हो गये थे। उनके पीछे दूसरे रथ पर पाण्डव-स्त्रियाँ आरूढ़ हो गयीं। अग्रस्थान पर खड़े अपने गरुड़ध्वज के रथनीड़ पर मैं बैठ गया। रथ के पिछले घेरे में स्वामी, रुक्मिणीदेवी और परम सौजन्यमूर्ति भ्राता उद्धव महाराज आरूढ़ हो गये।

आगे सशस्त्र सैन्यदल और पीछे पाण्डवों को रखकर मेरे स्वामी का गरुड़ध्वज वाद्यघोषों के साथ यज्ञमण्डप की ओर निकला।

मण्डप यज्ञ के लिए पूर्णत: सुसज्जित था। अग्रभाग में महर्षि व्यास का भव्य आसन था। उनके पीछे उत्तर दिशा में आमन्त्रित नरेश, उनके अमात्य, मन्त्री, सेनापति एवं दल-प्रमुख बैठे थे। पूर्व दिशा में भिन्न-भिन्न आश्रमों से आये ऋषि और उनके शिष्यगणों के आसन थे। दक्षिण दिशा में स्त्री-पुरुष नगरजन और भिन्न-भिन्न स्थानों से आयी गिनी-चुनी विदुषियाँ बैठी थीं–जिनमें सबसे आगे उच्चासन पर बैठी थीं महर्षि व्यासपत्नी माता घृताचिदेवी। मण्डप खचाखच भरा हुआ था।

मैं गरुड़ध्वज रथ को यज्ञमण्डप की पूर्व दिशा के प्रमुख प्रवेशद्वार के पास ले आया। स्वर्णसूत्रों वाला ब्रह्मवस्त्र धारण किये धौम्य मुनि हँसते हुए स्वामी के स्वागत के लिए सम्मुख गये। उनके पीछे स्मितहास्य करते हुए महर्षि व्यास प्रत्यक्ष खड़े थे। धौम्य ऋषि का दाहिना हाथ स्नेह से अपने हाथ में थामकर, मन्द-मन्द मुस्कराते हुए स्वामी रथ से नीचे उतर गये। उन्होंने बड़ी नम्रता से दोनों की चरणधूलि मस्तक पर धारण की। जैसे ही वे शान्त, धीर-गम्भीर चाल से यज्ञमण्डप की ओर चलने लगे, मंगलवाद्यों का मधुर घोष होने लगा। अंजनी के नीलपुष्प की

भाँति उनका नीला शरीर अस्त होते सौम्य सूर्य-किरणों में चमक रहा था। उनके दाहिनी ओर युवराज बलराम भैया और उद्धव महाराज थे। बायीं ओर रुक्मिणीदेवी और रेवतीदेवी के साथ मैं भी था–उनका रक्षक बनकर। हमारे पीछे-पीछे शिष्यगणों के साथ मुनिवर धौम्य और महर्षि व्यास, चारों पाण्डव, यादव-सेनापति सात्यकि, ब्रह्मगार्ग्य, अक्रूर जी के साथ सुधर्मा सभा के सभी मन्त्रिगण, प्रद्युम्न, साम्ब, मेरा पुत्र दारुकि आदि प्रमुख यादव चलने लगे। आचार्य सान्दीपनि हमारे साथ नहीं आये थे। द्वारिका के सभी धर्मकृत्यों का दायित्व उन्हीं का था, इसलिए वे महाराज वसुदेव और दोनों राजमाताओं की सेवा में द्वारिका में ही रह रहे थे।

हमारे यज्ञमण्डप में प्रवेश करते ही "कितने दिनों बाद मिल रहे हो वासुदेव?" कहकर युधिष्ठिर समेत तत्परता से आगे आये पितामह भीष्म ने स्वामी को कसकर आलिंगन में बाँध लिया। पाण्डव सुहागिनों ने एक के बाद एक जलकुम्भ उँड़ेलकर मेरे स्वामी और रुक्मिणीदेवी के चरण-प्रक्षालन किये। राजमाता कुन्तीदेवी ने मुस्कराते हुए दोनों के विशाल भाल पर मंगल कुंकुमतिलक लगाये। द्रौपदीदेवी और अन्य पाण्डव-स्त्रियों ने दोनों की आरती उतारी। कुरुओं की ओर से विदुर और संजय ने दोनों को श्वेतकमलों की मालाएँ पहनायीं। दोनों ने झुककर राजमाता के चरणस्पर्श किये। मण्डप में उपस्थित सभी लोग उठ खड़े हुए। केवल दो ही व्यक्ति बैठे रहे–चेदिराज शिशुपाल और कौरवश्रेष्ठ दुर्योधन!

अंगराज कर्ण भी खड़े थे–वे स्वामी को ही टकटकी बाँधे निहार रहे थे। हमारे यज्ञवेदी के निकट पहुँचते ही महाराज युधिष्ठिर बड़े स्नेह से स्वामी का दाहिना हाथ थामे उनको रुक्मिणीदेवी के साथ भव्य स्वर्णवर्णी सिंहासन की ओर ले गये। पाण्डव-अमात्य ने युवराज बलराम और युवराज्ञी रेवतीदेवी को विशेष आसन पर बिठाया।

धनुर्धर धनंजय स्वामी की बायीं ओर कब खड़ा हो गया, मुझे पता ही नहीं चला। उसके पुष्ट बायें कन्धे पर अत्यन्त प्रेम से स्वामी ने अपना बायाँ हाथ रखा। दोनों एक-दूसरे की ओर देखकर मृदु मुस्कराये। उन दोनों के नीलवर्ण के कारण मैं कुछ सम्भ्रमित-सा हो गया कि कहीं स्वामी दर्पण में तो नहीं देख रहे? तभी मेरे ध्यान में आया, दोनों की चाल में एक सूक्ष्म-सा अन्तर था। मेरे स्वामी की चाल में सहजता थी, तो अर्जुन की चाल में एक भान था–योद्धा का!

महाराज युधिष्ठिर ने अत्यन्त आदर से यज्ञकुण्ड के समीप के भव्य स्वर्णवर्णी सिंहासन पर स्वामी और रुक्मिणीदेवी को आसनस्थ कराया। मैं दोनों के आसन के पीछे खड़ा हो गया। स्वामी के आसनस्थ होते ही मण्डप में उपस्थित सभी जन आसनस्थ हो गये। अकेले अंगराज कर्ण मुकुटविहीन होने के कारण आमन्त्रितों में कैसे बैठा जाये–इस संकोच से खड़े थे। अब ऋषि-मुनियों ने भी अपने-अपने व्याघ्रचर्म पर पद्मासन लगाया। सबसे आगे लेकिन थोड़ा अलग बने एक उच्चासन पर महर्षि व्यास विराजमान थे–जैसे वे सबमें होकर नहीं भी थे! स्वामी ने सम्पूर्ण मण्डप पर अपनी दिव्यदृष्टि घुमायी। दुर्योधन के समीप खड़े मुकुटविहीन अंगराज कर्ण को देखकर स्वामी ने किंचित् दाहिनी ओर ग्रीवा मोड़कर मुझे पुकारा, "दारुक!" मैं तत्परता से उनके निकट गया। उन्होंने कहा, "महात्मा विदुर से कहो कि अंगराज कर्ण को आसनस्थ कराएँ–उसके मस्तक पर मुकुट न हो तब भी!" मैंने तत्परता से महात्मा विदुर के पास जाकर स्वामी का सन्देश उन तक पहुँचाया। महात्मा विदुर के साथ मैं अंगराज के पास गया। विदुर ने मधुर वाणी में उनसे कहा, "अंगराज, अब यज्ञ-विधान आरम्भ होंगे। कृपया आसन ग्रहण

कीजिए।" वास्तव में महात्मा विदुर तक स्वामी का सन्देश पहुँचाने के पश्चात् मुझे लौट आना चाहिए था, परन्तु हम सूतों में से एक होते हुए भी इतना उच्च स्थान प्राप्त किये अंगराज के लिए मेरे मन में एक कुतूहल था। उनको निकट से आँख-भर देखने की बहुत दिनों से मेरी इच्छा थी। मात्र स्वामी के मन में उनके लिए इतना प्रेम क्यों है, इस प्रश्न में मैं उलझ गया था।

महात्मा विदुर की सूचना को नम्रता से अस्वीकार करते हुए अंगराज ने पूछा, "मैं यहीं खड़ा रहूँ यह उचित नहीं है क्या?"

मुस्कराते हुए महात्मा विदुर ने पुन: ऋजु, मधुर वाणी में कहा, "यह मेरी नहीं, भगवान श्रीकृष्ण की इच्छा है।"

मैंने देखा–निरुत्तर हुए अंगराज कर्ण के मुख पर कितने ही भावों-भावनाओं की छटाएँ स्पष्ट उभरीं, परन्तु उनका अभिप्राय मैं नहीं जान पाया।

विदुर के दिखाये आसन पर अंगराज आसीन हो गये। मैं लौटकर अपने स्थान पर खड़ा हो गया। सर्वत्र शान्ति छा गयी थी। दिन के चौथे प्रहर का समय होने से अस्त होते सूर्यदेव की लम्बी किरणें समूचे मण्डप पर बिखर गयी थीं।

महाराज युधिष्ठिर यज्ञकुण्ड के समीप खड़े रहकर बोलने लगे, "परमादरणीय महर्षि व्यासदेव, माता रुक्मिणीदेवी, भगवान वासुदेव श्रीकृष्ण, पूजनीय उद्धवदेव, वन्दनीय पितामह, यादव युवराज बलराम, मातृतुल्य देवी रेवती, गुरुदेव द्रोण और कृपाचार्य, कुरु-युवराज दुर्योधन और मामा शकुनि, अंगराज कर्ण, चेदिराज शिशुपाल, मद्रराज मामा शल्य, पूजनीय ऋषिगण, आमन्त्रित नरेश, और स्त्री-पुरुष नगरजनो! मैं अपने चारों भ्राताओं की ओर से आप सबका इन्द्रप्रस्थ में सानन्द, सहर्ष स्वागत करता हूँ। हमने इस राजसूय यज्ञ का आयोजन अपने राज्य की समृद्धि और शान्ति के लिए किया है। हमारे सौभाग्य से इस महत्त्वपूर्ण यज्ञ के लिए यज्ञवेत्ता का स्थान स्वीकार कर भगवान श्रीकृष्ण सपत्नीक यहाँ उपस्थित हैं। यज्ञ में किसी भी प्रकार का सहभाग प्रत्यक्ष न लेते हुए भी, हमें केवल आशीर्वाद देने के लिए महर्षि व्यासदेव यहाँ उपस्थित हैं। हम सबने दोनों का स्वागत किया ही है। इन्द्रप्रस्थ का अभिषिक्त राजा होने के नाते आज के शुभमुहूर्त पर यज्ञवेत्ता दम्पती की मैं अग्रपूजा करूँगा। यज्ञवेत्ता के शुभ हाथों यज्ञ की पहली पवित्र बिल्वसमिधा आप सबके समक्ष यज्ञकुण्ड में अर्पित होगी। मेरा विश्वास है कि आप सबके कृपाशीर्वाद से हमारे राज्य का अभ्युदय होगा।

"यदि किसी की सेवा में कुछ त्रुटि रही हो, तो मुझे और मेरे भ्राताओं को उदार हृदय से क्षमा करें।"

अग्निहोत्री ऋषियों ने प्रणव मन्त्र का घोष करते हुए प्रज्वलित अंगारों का पात्र यज्ञकुण्ड में उँड़ेल दिया।

महाराज युधिष्ठिर ने अपने अमात्य की ओर आँखों से संकेत किया। वे आर्यावर्त की विविध नदियों के मन्त्रजल से पूरित स्वर्णकुम्भ और स्वर्णथाल ले आये। महाराज युधिष्ठिर ने वह थाल स्वामी के चरणों के पास रखा और उनके चरण स्वयं उस थाल में रखे। बड़ी श्रद्धा से पाण्डवश्रेष्ठ उन चरणों पर स्वर्णकुम्भ से जलधारा उँड़ेलने लगे। वेदी पर बैठे ऋषि-मुनि मन्त्रघोष करने लगे। मण्डप में उपस्थित आमन्त्रित नरेश उत्सुकता से उस दुर्लभ दृश्य को देख रहे थे। यज्ञकुण्ड के समीप ब्रह्मवृन्द मन्द किन्तु एक लय में मन्त्रघोष कर ही रहे थे। यज्ञवेत्ता के चरण-प्रक्षालन

करके इन्द्रप्रस्थ नरेश युधिष्ठिर ने उस चरण-जल की चार बूँदें अपनी दायीं हथेली में ले लीं और अपने दीर्घाकार नेत्र मूँदकर बड़ी श्रद्धा से आचमन किया। अपने बहुमूल्य उत्तरीय से द्वारिकाधीश के गीले नीलचरण पोंछे। तत्पश्चात् देवी रुक्मिणी की भी चरण-पूजा की।

स्वामी आसन से उठकर शान्त चाल से यज्ञकुण्ड के समीप गये। देवी रुक्मिणी उनके पीछे थी। स्वामी ने अपनी भाव-स्निग्ध दृष्टि यज्ञमण्डप में सभी ओर घुमायी और झुककर मुस्कराते हुए बिल्ववृक्ष के काष्ठों की एक छोटी-सी गड्डी उठायी। अस्पष्ट-सा कुछ मन्त्रजाप करते हुए, झुककर वे यज्ञकुण्ड में समिधा अर्पित करने ही वाले थे कि आमन्त्रित राजाओं की पंक्ति में बैठा चेदिराज शिशुपाल अचानक तड़ाक् से अपने आसन से उठ खड़ा हुआ! वह स्वामी का फुफेरा बन्धु था। एक झटके में उसने अपनी प्रचण्ड गदा उठाकर कन्धे पर रखी। किसी पर आक्रमण करने के लिए उद्यत वह वृषभ की भाँति दिख रहा था। तीव्र विरोध के स्वर में वह चिल्लाया–"ठहर जा!" मेघ की गड़गड़ाहट की भाँति उसका स्वर था। उसने अपनी पुष्ट ग्रीवा मण्डप में चारों ओर घुमायी। अपनी दृष्टि महाराज युधिष्ठिर पर स्थिर कर, नासिकापुटों को फुलाता हुआ वह अतीव क्रोध से भड़क उठा, "श्रेष्ठ कुरुकुल में जन्म लेनेवाले युधिष्ठिर, एक तुच्छ ग्वाले के लड़के को इस महान यज्ञ का यज्ञवेत्ता तुमने कैसे बनाया?" मैं आँखें फाड़कर अत्यन्त क्रोध से उसकी ओर देखता रह गया। मेरे समीप ही बैठे उद्धवदेव सात्त्विक क्रोध से थरथराते हुए तड़ाक् से उठ खड़े हुए। उत्तेजना से शिशुपाल का वक्ष स्पन्दित हो रहा था। वह चिल्लाता ही रहा, "युधिष्ठिर, यहाँ आमन्त्रित आर्यावर्त के समस्त शूरवीर क्षत्रियों का क्या तुम उपहास करना चाहते हो?"

उसका मेरे स्वामी को 'एक तुच्छ ग्वाला' कहना मुझे तनिक भी नहीं भाया। भीमार्जुन, युवराज बलराम और सात्यकि तो अपने-अपने शस्त्र उठाकर आसन से उठ खड़े हुए थे।

उठायी हुई बिल्ववृक्ष के काष्ठों की गड्डी समिधाओं के ढेर में फेंककर स्वामी ने उन सबको हस्त-संकेत से ही रोका। आज्ञाकारी की भाँति भीमार्जुन पुन: आसन पर बैठ गये।

शिशुपाल अपना आसन छोड़कर तीव्रता से यज्ञवेदी के समीप ही आ गया। कन्धे पर रखी अपनी गदा को सँभालते हुए हाथ हिला-हिलाकर, आवेश के साथ वह ऊटपटाँग बकने लगा–"इस ग्वाले की अपेक्षा अनेक महाप्रतापी शूरवीर यहाँ उपस्थित हैं। क्या सोच-समझकर तुम उन सबका अपमान कर रहे हो? पितामह भीष्म, पांचालराज द्रुपद, महाराज शल्य, मत्स्यराज विराट, युवराज दुर्योधन, सिन्धुराज जयद्रथ जैसे वीरों के यहाँ होते हुए तुमने इस भगोड़े ग्वाले के पैर कैसे धोये?"

आपे से बाहर हुए उस अविवेकी शिशुपाल को रोकने के लिए पितामह भीष्म ने कहा, "चेदि युवराज, अब बहुत हो गया, चुप हो जाओ।"

स्वयं को सेनापति पद देनेवाले मगधसम्राट् जरासन्ध के वध का और देवी रुक्मिणी के साथ निश्चित हुए अपने विवाह के टूटने का शूल शिशुपाल के मन में चुभ रहा था। वह किसी की कोई भी बात सुनने की स्थिति में नहीं था। अपमानकारक शब्दों से उसने पितामह को ही चुप कराया। पगहे से छूटे साँड़ की भाँति वह निरंकुश हो गया। महाराज युधिष्ठिर और स्वामी की ओर देखते हुए वह फिर चिल्लाने लगा–"मण्डप में उपस्थित ब्रह्मतेज से दीप्तिमान दिखनेवाले ऋषिवर पैल, धौम्य, याज-उपयाज, द्रोण, कृप, विदुर और अश्वत्थामा जैसे पूजनीय विद्वान क्या तुम्हें दिखाई नहीं दिये? उनके बदले एक काले ग्वाले की अग्रपूजा करके क्या तुम कुरुओं की धवल कीर्ति में कलंक लगाना चाहते हो?"

उसको चुप कराने का प्रयास करनेवाले अंगराज को भी उसने यह कहकर अपमानित किया कि, "मैं कोई ग्वाला नहीं हूँ, जो तुम्हारे जैसे सूत की बात मानूँ..." वह अण्ट-सण्ट बड़बड़ाता ही रहा, "हे युधिष्ठिर, यज्ञमण्डप में उपस्थित सभी ज्येष्ठों और श्रेष्ठों को तुम कैसे भूल गये? गायों के पीछे अरण्य में भटकनेवाले एक क्षुद्र ग्वाले को तुमने इस महान यज्ञ का यज्ञवेत्ता कैसे बनाया? तुम अपने राज्य को गाय-गोष्ठ बनाना चाहते हो क्या?" उसका बड़बड़ाना अब मेरे लिए असहनीय हो गया। मेरे हाथ ने कटि में बँधे खड्ग की मूठ सहज ही पकड़ ली। क्रोध-सन्तप्त पितामह भीष्म, महात्मा विदुर, संजय, अंगराज, युवराज बलराम, सात्यकि, उद्धवदेव, भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेव, सभी अपने-अपने आसन छोड़कर उठ खड़े हुए थे। परन्तु स्वामी ने केवल दृष्टि-संकेत से ही हम सबको नीचे बैठाया। उनकी दृष्टि का सामर्थ्य आज पहली बार मुझे प्रतीत हुआ।

वहाँ होश खोया हुआ शिशुपाल मूढ़ की भाँति जो मुँह में आये, बके जा रहा था। मद्य की अपेक्षा प्रतिशोध का नशा अधिक प्रभावी होता है, यह बात यज्ञकुण्ड के आसपास चक्कर काटते हुए प्रलाप करनेवाले शिशुपाल को देखकर किसी को भी स्वीकार होती। देवी रुक्मिणी से अपना विवाह न हो पाने के कारण स्वामी का प्रतिद्वन्द्वी बने शिशुपाल को प्रतिशोध तो लेना ही था। इसीलिए वह जो मुँह में आये, बोलता जा रहा था।

उसका मानसिक सन्तुलन बिगड़ चुका था। अत्यन्त असभ्य, अभद्र शब्दों में वह स्वामी का ऐसा अपमान करने लगा जो पहले कभी किसी ने नहीं किया था। उसका प्रत्येक शब्द जलते दीप्ति-बाण जैसा था—"अपने मामा की हत्या करनेवाले कुलघाती, मगधसम्राट् जरासन्ध से डरकर मथुरा छोड़नेवाले भगोड़े! क्षत्रियों और ऋषि-मुनियों के इस पवित्र यज्ञ में यज्ञवेत्ता के पवित्र सिंहासन पर बैठकर एक उच्च कुलस्थ क्षत्रिय से अपने गन्दे पैर धुलवाते तुझे तनिक भी लज्जा नहीं आयी?" क्रोध से उसका शरीर इतना काँप रहा था कि उसके मुँह से शब्द भी ठीक से नहीं निकल रहे थे।

मेरे स्वामी की ग्रीवा भुजंग-फन की भाँति तन गयी। उन्होंने शान्त परन्तु निर्णायक शब्दों में कहा, "शिशुपाल, अब तक तेरे निन्यानवे अपराध मैंने सहे हैं। तेरी माता अर्थात् अपनी बुआ को मैंने वचन दिया है कि तेरे सौ अपराध मैं क्षमा करूँगा। सावधान हो जा शिशुपाल। अपनी सहनशीलता का संहारक सुदर्शन में रूपान्तर करने के लिए मुझे विवश मत कर।"

"झूठा तत्त्वज्ञान बकनेवाले कायर, यदि तू स्वयं को क्षत्रिय मानता है, तो सामने आ, मुझसे द्वन्द्व कर, नहीं तो चलता बन इस पवित्र मण्डप से।" हाथ की गदा दूर फेंककर शिशुपाल ने भुजाओं पर हथेली मार-मारकर चुनौती दी। सम्राट् कहलानेवाले जरासन्ध ने भी गिरिव्रज में इसी प्रकार भुजदण्ड ठोंके थे। यह भी तो उसी का सेनापति था! मुझे लगा कि उस असभ्य, गर्वोन्मत्त क्षत्रिय से चिल्ला-चिल्लाकर कह दूँ—"शिशुपाल, तुम समाप्त हो गये, मेरे स्वामी को तुमने जाना नहीं है।"

अचानक सहस्रों वाद्यों की अपरिचित ध्वनियों से यज्ञमण्डप जैसे डगमगाने लगा। न जाने कहाँ से आ रही थीं वे ध्वनियाँ। मेरी दृष्टि तो स्वामी के मुख-कमल पर स्थिर हो गयी थी। उन्होंने अपने सघन पलकोंवाले मत्स्यनेत्र मूँद लिये। उनके गुलाबी होंठ किसी दिव्यमन्त्र का उच्चारण करने लगे। वे मन्त्र बोल, जिन्हें मैंने पहले कभी नहीं सुना था, क्षण-क्षण विकसित होने लगे।

सम्पूर्ण मण्डप उनसे व्याप्त हो गया। उनका दाहिना हाथ धीरे-धीरे ऊपर उठा। देखते-ही-देखते उस हाथ की तर्जनी पर तेजवलय फेंकनेवाले सुदर्शन का तेजस्वी आलोक-चक्र दिखने लगा। अब कुछ अतर्क्य घटित होने के भय से सम्पूर्ण मण्डप उठ खड़ा हुआ था। आकाशवाणी की भाँति सभी के कानों में स्वामी के बोल गूँज गये—"शिशुपाल, तेरे सौ अपराध समाप्त हो गये। अब एक-सौ-एकवाँ अपराध करने का अवसर तुझे नहीं मिलेगा। साक्षात् विश्व-निर्माता ब्रह्मदेव भी अब तुझे जीवनदान देने में समर्थ नहीं हैं। सावधान हो जा और मृत्यु के सत्य का सामना कर।"

स्वामी के बन्द दीर्घ नेत्र खुल गये। एक क्षण के लिए शिशुपाल पर दृष्टिपात करते हुए उन्होंने उसके कण्ठ को लक्ष्य बनाकर प्रचण्ड गति से घूमता, तेज वलय फेंकनेवाला वह मन्त्रित सुदर्शन चक्र प्रक्षेपित कर दिया।

सम्पूर्ण यज्ञमण्डप को अब भान हुआ कि द्वारिकाधीश भगवान वासुदेव ने सुदर्शन चक्र का प्रक्षेपण किया है, जिसका उपयोग उन्होंने क्वचित् ही किया था। भयभीत हुए कई आमन्त्रित "भागो-भागो...बचाओ-बचाओ" चिल्लाते हुए इधर-उधर भागने लगे। कुछ तो एक-दूसरे से टकराकर वहीं गिर पड़े। आज तक मैं स्वामी के साथ गरुड़ध्वज पर आरूढ़ होकर समस्त आर्यावर्त-भर में घूम चुका था। उनका साथ मेरे लिए कोई नयी बात नहीं थी। परन्तु उनका यह रूप तो मेरे लिए अपरिचित था। जिस प्रकार आकाश में तपते सूर्यदेव के अपने साथ होने का हमें आभास होता है, परन्तु उसके तेजोवलय को देखकर स्पष्ट प्रतीति होती है कि वे हमसे कई योजन दूर हैं, उसी तरह उस क्षण स्वामी मुझे कोटि सूर्यसमप्रभ दिखाई दिये। उनके मुखमण्डल के तेज पर दृष्टि ठहर नहीं रही थी। मुझे लगा आकाश के स्वामी सूर्यदेव की भाँति मेरे स्वामी भी मुझसे बहुत दूर हैं। दूसरे ही क्षण मैंने धरती पर गिरकर उनको साष्टांग प्रणाम किया। मन-ही-मन कहा, "क्षमा कीजिए प्रभु। इस दास को अपनी शरण में ले लीजिए। आपका सखा होने की वास्तव में मेरी योग्यता नहीं है। रक्षा कीजिए वासुदेव।" मैंने मन-हृदय से उनसे प्रार्थना की। मुझे आभास हुआ, सदैव की भाँति मेरे कन्धे थपथपाकर स्वामी मुझे उठा रहे हैं। मैं उठकर खड़ा हो गया और सुदर्शन चक्र के कार्य का साक्षी बन गया।

बहुत देर से उन्मत्तता से स्वैर प्रलाप करनेवाला शिशुपाल अब थर-थर काँपने लगा। अब तक क्रोध से रक्तवर्ण दिखनेवाला उसका मुख अब प्राण-भय से स्याह पड़ गया था। सर्वत्र असहनीय तीव्र प्रकाश फैलकर यज्ञ-जल के स्वर्णकुम्भ पर से वह परावर्तित हो रहा था। कर्कश 'सूँ' करता हुआ वह तेजचक्र शिशुपाल की ओर बढ़ने लगा।

कुछ समय पहले मेरे स्वामी को भगोड़ा कहनेवाला चेदिराज शिशुपाल मृत्यु के भय से अब स्वयं भागने लगा। सुदर्शन के दाहक तेज से स्वयं को बचाने के लिए आमन्त्रित नरेश मण्डप छोड़कर भागने लगे। उनकी देखादेखी वहाँ उपस्थित नगरजनों ने भी मण्डप छोड़ दिया। पाप और पुण्य की वह भयंकर आँख-मिचौली मैं आँखें फाड़कर देखता ही रहा। नाग-सर्प को देखते ही फुर्तीला नेवला जिस तेजी से उसके पीछे पड़ता है, उसी प्रकार सुदर्शन चक्र शिशुपाल का पीछा करने लगा। कुछ क्षण पहले का शिशुपाल का दर्पोद्धत अभिनिवेश अब रत्ती-भर भी शेष नहीं रहा था।

इधर-उधर भागते हुए वह अपनी ही फेंकी हुई गदा में पाँव उलझ जाने के कारण धड़ाम से नीचे गिर गया। उसे सहारा देने के लिए न वहाँ चेदि का कोई सैनिक था, न सेनापति था, न

उसका स्वामी जरासन्ध था। उसका वध तो बहुत पहले भीमसेन कर चुके थे।

मृत्यु के भय से भ्रान्तचित्त हुआ शिशुपाल मण्डप में यहाँ-वहाँ भाग रहा था। भागते हुए आसनों के हत्थों में उलझ-उलझकर उसका अधोवस्त्र जहाँ-तहाँ फट गया था। उसका उत्तरीय मण्डप में किस-किसके पैरों तले कुचला गया, यह भी उसे पता नहीं था। अब तक आँखों को चौंधियाँ देनेवाला प्रकाश सर्वत्र फैल गया था। उसमें शिशुपाल का लम्बा-चौड़ा शरीर दावानल में एकाकी जलते विशाल पाटल-वृक्ष की भाँति भीषण दिखने लगा।

मण्डप में अब केवल अंगराज कर्ण अपने आसन पर बैठे हुए थे। शिशुपाल उनके आसन के पीछे छुपने का प्रयास करने लगा। मुझे लगा कि सुदर्शन अब शिशुपाल को छोड़कर कहीं अंगराज का ही पीछा न करने लगे। परन्तु हुआ कुछ अलग ही। आकाशवाणी की भाँति गूँजते शब्द मेरे स्वामी के मुख से निकले–"कर्ण, मेरे पास चले आओ;" और अंगराज ने जड़वत् उस आदेश का पालन किया।

असहाय होकर शिशुपाल मण्डप के पूर्व द्वार से भाग निकला। उठते-गिरते वह भाग रहा था। उसके भयभीत मुख का प्रत्येक भाव प्रकट हो रहा था कि मानव मृत्यु से कितना डरता है! मार्ग में दिखनेवाले किसी वृक्ष, किसी पाषाण-खण्ड के पीछे छिपने का असफल प्रयास वह कर रहा था, परन्तु सुदर्शन चक्र उसका पीछा नहीं छोड़ रहा था। उसकी कर्कश ध्वनि क्षण-क्षण बढ़ती जा रही थी। मण्डप से भागे कई राजा और नगरजन अब अपने-अपने शिविर में सुरक्षित जा पहुँचे थे। जो साहसी नरेश अथवा नगरजन अब रुक गये थे, वे स्तब्ध होकर, आँखों में प्राण लिये शिशुपाल और सुदर्शन के बीच जीवन-मृत्यु की आँख-मिचौली देख रहे थे। मैं तो अब तक यज्ञवेदी के पास खड़े स्वामी के मुखमण्डल को ही देख रहा था।

गलितगात्र शिशुपाल के सामने भागने के लिए अब एक ही मार्ग शेष था–वह इक्षुमती नदी की वारि-धारा में घुस गया। परन्तु इक्षुमती का जल कण्ठ तक आते ही निरुपाय होकर वह रुक गया। दृढ़ निश्चय के साथ उसने अपनी आँखें मूँद लीं। मृत्यु के अन्तिम सत्य को स्वीकार करने के लिए वह सन्नद्ध हो गया। क्षणार्द्ध में उसका कण्ठभेद करते हुए सुदर्शन इक्षुमती के जल में अदृश्य हो गया। शिशुपाल का जीवन समाप्त हो गया। पीछे रह गये केवल मेरे स्वामी के लिए उसके मुख से निकले, अक्षम्य, असभ्य उद्गार! मैंने मण्डप में राजमण्डल के आसन-कक्ष की ओर दृष्टि डाली। स्वामी के आसन के निकट ही मुझे दिखाई दीं उनकी प्रिय पत्नी देवी रुक्मिणी! इतना बड़ा रोमांचकारी नाट्य घटित हुआ, परन्तु वे अपने स्थान से तनिक भी डिगी नहीं थीं। मेरे मन में जिज्ञासा हुई–यह सम्पूर्ण भय-नाट्य घटित होते देख उनको क्या प्रतीत हुआ होगा? मुझे विश्वास हुआ–वे स्वामी की सुयोग्य पत्नी थीं, किसी भी चक्र को धारण न करते हुए सुदर्शन के स्वामी चक्रधर की प्रिया! कुरुओं की आसन-पंक्ति में पितामह भीष्म भी अकेले आसनस्थ थे–तनिक भी विचलित न होते हुए अब वे महात्मा विदुर से कुछ बातें कर रहे थे।

मैंने यज्ञवेदी की ओर देखा। वहाँ मेरे चिरपरिचित स्वामी खड़े थे–प्रफुल्लवदन। उनके मुख पर इस समय जो हास्य था, वह मैंने इसके पहले कभी नहीं देखा था। सुदर्शन के लुप्त होने का विश्वास होते ही मण्डप से भागे हुए नरेश त्वरित लौट आये और धड़ाधड़ स्वामी के चरणों पर लोटने लगे। यज्ञ-प्रमुख धौम्य ऋषि ने शिष्यगणों की सहायता से उनको नियन्त्रित किया। मुनिवर धौम्य चिन्तित हो गये थे कि इतने परिश्रमों से आयोजित किये राजसूय यज्ञ का अब क्या

होगा? स्वामी ने उनको निकट बुलाकर इस चिन्ता से मुक्त किया–"मुनिवर, अब नये सुमुहूर्त पर शीघ्र ही यज्ञ का संयोजन कीजिए।" अब तक पाँचों पाण्डवों ने उनके प्रिय मधुसूदन को घेर डाला था। स्वामी के प्रिय उद्धव महाराज उनकी दाहिनी ओर खड़े थे। मैं भी अनायास यज्ञवेदी के निकट स्वामी के समीप गया।

इतने सारे लोग स्वामी के आसपास इकट्ठे हुए थे, परन्तु किसी के मुख से शब्द भी नहीं निकल रहा था। सब अवाक् हो गये थे। उस निःशब्दता को चीरते हुए उद्धव महाराज ने कहा, "भाभीजी अब भी अपने आसन पर बैठी हुई हैं। उनको बुलाऊँ?"

स्वामी के मुख पर मोहक मुस्कान खिली। अपने भ्राता के कन्धे थपथपाते हुए उन्होंने कहा, "नहीं ऊधो, अपनी भाभी को लेकर पाण्डवों के साथ तुम भी राजप्रासाद जाओ। मैं दारुक को लेकर कहीं और जा रहा हूँ।"

"जैसी आपकी इच्छा।" उद्धव महाराज ने नम्रता से कहा। मैं कुछ समझ नहीं पाया कि स्वामी मुझे कहाँ ले जा रहे हैं? मेरे मन का प्रश्न जानकर स्वामी ने कहा, "चलो दारुक, गरुड़ध्वज की ओर।"

प्रश्न मन में ही रखकर मैंने केवल "जो आज्ञा आर्य!" इतना ही कहा। पाण्डवों के घेरे के साथ-साथ हम पूर्व द्वार से होकर मण्डप से बाहर आ गये। स्वामी अकेले ही रथारूढ़ हुए। मैंने रथनीड़ पर अपना स्थान ग्रहण किया। सबसे विदा होकर स्वामी और मैं वहाँ से निकले। मैं तो बहुत पहले ही मन में ठान चुका था कि जीवन-भर निःशंक होकर स्वामी की सेवा करता रहूँगा। बिना कुछ पूछे मैं रथ दौड़ाने लगा। यमुना-तट से कुछ दूर जाने के पश्चात् उन्होंने ही मुझसे पूछा, "दारुक, नित्य की भाँति तुमने पूछा नहीं, कहाँ जाना है?" मैं सकपका गया। वे हँसते हुए बोले, "अरे पगले, कहाँ जाना है, यह पूछने को भूलना नहीं!"

कठपुतली की भाँति अश्वों को नियन्त्रित करते हुए मैंने पूछा, "कहाँ जाना है स्वामी हमको?" रथ को रोककर मैंने उनकी ओर देखा। वे हँस रहे थे। वह हँसी मुझे अपने पुत्र दारुकि की शिशु हँसी जैसी ही निर्मल लगी। मैं तो पहले ही कुछ चकरा गया था। मुझे और दुविधा में डालते हुए, नटखटपन से उन्होंने कहा–"दारुक, प्रश्न पूछने के लिए रथ को रोकने की आवश्यकता थी क्या?" मैं पुन: असमंजस में पड़ गया। वे सत्य ही तो कह रहे थे!

"चलो दारुक, हम कालिन्दीदेवी के मायके जा रहे हैं। कुशल समाचार देने के लिए!" स्वामी ने मुस्कराते हुए कहा।

मैं तो चकित रह गया। कुछ समय पहले सुदर्शन धारण करनेवाले मेरे स्वामी देवी कालिन्दी के माता-पिता को उनके दौहित्रों का कुशल समाचार पहुँचाने के लिए स्वयं निकले थे अकेले ही–आकाश बनकर!

स्वामी के आदेश के अनुसार दूसरे शुभमुहूर्त पर पाण्डवों का राजसूय यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न हो गया। इस यज्ञ के और शिशुपाल-वध के कारण आमन्त्रित नरेशों के मुख से पाण्डवों और इन्द्रप्रस्थ की कीर्ति सर्वत्र और भी फैल गयी। शिशुपाल-वध के पश्चात् तो मेरे स्वामी के दर्शनों के लिए इन्द्रप्रस्थ में जमा हुए नरेश, उनके अमात्य, सेनापति आदि का ताँता ही लग गया था। हमारी

द्वारिका आर्यावर्त में अन्य जनपदों के अग्रस्थान पर पहुँच गयी।

इन्द्रप्रस्थ में कुछ दिन पाण्डवों का प्रेमपूर्ण आतिथ्य स्वीकार कर स्वामी सभी यादवों के साथ द्वारिका लौट आये। द्वारिका पहुँचते ही बहुत बड़ा आघात पहुँचालेवाला एक समाचार उन्हें मिला। हमारे राजसूय यज्ञ के लिए इन्द्रप्रस्थ चले जाने के पश्चात् मार्तिकावत के राजा शाल्व ने द्वारिका पर ससैन्य आक्रमण किया था। वीर प्रद्युम्न ने सत्ताईस दिन तक उसका कड़ा प्रतिकार करके उसको भगाया था। द्वारिका के निर्माण से लेकर आज तक उस पर आक्रमण होने का यह पहला ही अवसर था। इस घटना से स्वामी को गहरी चोट पहुँची, परन्तु वे अपने नित्यकर्म में किसी को इसका आभास नहीं होने देते थे।

द्वारिकाधीश ने यादवों के कुशल वास्तुकार गर्ग को अपने कक्ष में आमन्त्रित किया। अपनी योजना उनको सभी सूक्ष्मताओं के साथ समझाते हुए स्वामी ने कहा, “मुनिवर गर्ग, मेरे कक्ष की ओर जानेवाले मेरे प्रिय सोपान की सरणियों में वृद्धि करनी है। मुख्यत: मेरी बुआ कुन्तीदेवी, प्रिय सखी द्रौपदी और पाँचों पाण्डवों के नाम से नयी सीढ़ियों का निर्माण कीजिए और ठीक उन्हीं के नीचे एक सीढ़ी होगी–मेरे अनन्य सेवक और प्रिय सखा दारुक के नाम की!”

यह वार्ता जब मैंने उद्धव महाराज से सुनी, तो मेरा मन स्वामी के लिए कृतज्ञता से भर आया। उनके मन में मेरा क्या स्थान है, यह उन्होंने ही मथुरा में एक बार मुझसे कहा था। अब तो उस कथन पर श्रीकृष्ण मुद्रा लगी! यह वृत्तान्त सुनने के पश्चात् मुझमें और स्वामी में जैसे कुछ अन्तर ही नहीं रहा। बात करते-करते कभी-कभी अनजाने में मेरे मुख से उनके लिए ‘तुम’ सम्बोधन निकलने लगा, परन्तु इसमें मैं कुछ भूल कर रहा हूँ, यह आभास मुझे कभी नहीं हुआ।

मूल द्वारिका स्थित स्वामी के भवन में उनके विश्राम-कक्ष की ओर जानेवाला श्रीसोपान अब और भी भव्य दिखने लगा। स्वर्णिम सीढ़ियों से शोभित होने के कारण वह सभी का ध्यान आकर्षित करने लगा। इस सोपान की ऊपर से नीचे आनेवाली जो पहली सीढ़ियाँ थीं। वे स्वामी अटूट भावबन्ध से बँधे यादवकुल के प्रमुख व्यक्तियों के नाम की थीं। सबसे पहली सीढ़ी थी राजमाता देवकीदेवी के नाम की। दूसरी थी महाराज वसुदेव की। तीसरी थी गोकुल में रह गयी यशोदा माता की और चौथी नन्दबाबा की। ककेरे भ्राता होते हुए भी पाँचवीं क्रम था उद्धव महाराज का। छठी सीढ़ी थी श्रीसखी राधा के नाम की। तत्पश्चात् रोहिणी माता, युवराज बलराम, युवराज्ञी रेवतीदेवी का क्रम था।

कई यादवों को पीछे हटाकर अब पाण्डव स्वामी के बहुत ही निकट आये थे। प्रधान यादवों के पश्चात् इन सीढ़ियों में बुआ कुन्तीदेवी और महारानी द्रौपदी के साथ पाँचों पाँण्डवों का क्रम था, परन्तु इनमें कौन किस स्थान पर है, यह तो केवल स्वामी ही जानते थे। इस श्रीसोपान में मुझे भी स्थान प्रदान किया गया, यह मेरा परम भाग्य था।

कभी-कभी स्वामी इस सोपान के विषय में बात किया करते थे–अकेले उद्धव महाराज से–वह भी सरसरी तौर पर! उद्धव महाराज तो मूलत: बुद्धिमान थे और अनुमान से सीढ़ियों का क्रम जान लेते थे। परन्तु इस विषय में वे स्वामी के मन को पूर्णत: जानते थे, यह नहीं कहा जा सकता। मुझे भी उद्धव महाराज के मुख से इस सोपान के विषय में अधूरा-अधूरा-सा ही कुछ सुनने को मिलता था।

शाल्व के द्वारिका पर ससैन्य आक्रमण की उपेक्षा करना उचित नहीं था। इस आक्रमण में

जिस सैन्यबल का और शस्त्र-सामग्री का उपयोग किया था, उसकी यथातथ्य जानकारी प्राप्त करना आवश्यक था। इसलिए स्वामी ने यादवों के युवा अग्रणी प्रद्युम्न को बुलाकर उनसे प्रश्न-उपप्रश्न पूछकर शाल्व के सामर्थ्य की अधिक-से-अधिक जानकारी प्राप्त की। उससे एक ही निष्कर्ष निकल रहा था–शाल्व की समूची शक्ति थी उसके 'सौभ' विमान में। यन्त्रवाहन के बल पर वह समस्त आर्यावर्त में कहीं भी भ्रमण कर सकता था। कुछ वर्ष पूर्व इस यन्त्र की सहायता से ही वह विदेशी कालयवन को ले आया था। शाल्व को दण्डित करना हो तो पहले 'सौभ' को नष्ट करना अवश्यम्भावी था। वह तो मरुस्थली में अर्बुद पर्वत पर उसके राजनगर मार्तिकावत में ससैन्य सुरक्षित था।

अमात्य विपृथु से कहकर द्वारिकाधीश ने सुधर्मा राजसभा को आमन्त्रित किया। इस सभा में मन्त्रिगण, अमात्य आदि सभी सभासद उपस्थित थे। द्वारिका में हो अथवा अन्यत्र कहीं–जहाँ भी मेरे स्वामी होते थे, आसपास का वातावरण अभिमन्त्रित हो जाता था। इस समय सुधर्मा सभा में अमात्य ने सभा को आमन्त्रित करने का केवल प्रयोजन बताया–पहला था सौभपति शाल्व के निवारण के विषय में विचार-विमर्श और दूसरा था कुरुओं के आमन्त्रण के अनुसार विष्णुयाग यज्ञ के लिए उपहारों के साथ किस-किस को हस्तिनापुर भेजना है, यह निश्चित करना। सभा का प्रयोजन बताकर अमात्य ने प्रथा के अनुसार उनके हाथ के राजदण्ड का भूमि पर आघात किया।

सभा में उपस्थित सभी सभासदों की आँखें केवल स्वामी पर ही गड़ी हुई थीं। अब तक तो सब जान चुके थे कि मेरे स्वामी को किसी साधारण तराजू में तोलना सम्भव नहीं है। कंस, शृगाल, शतधन्वा, नरकासुर, जरासन्ध, शिशुपाल जैसे एक से बढ़कर एक अहंकारियों को कठोर दण्ड देनेवाले मेरे स्वामी ने अपनी स्वाभाविक नम्रता और ऋजुता का त्याग नहीं किया था। मेरे जैसे अपने कई भक्तों को उनका यही अलौकिक गुणविशेष स्पर्श कर गया था। अपने छोटे से भी कर्म को बढ़ा-चढ़ाकर कहनेवाले सहस्रों यादव द्वारिका में हैं। परन्तु स्थान-स्थान पर आनेवाली रुकावटें और बाधाओं से मानव-जीवन को मुक्त करनेवाले एकमात्र मेरे स्वामी हैं!

वे अपने जीवन-कार्य के स्पष्ट चरणचिह्न अंकित किये जा रहे थे–जिन पर आनेवाली पीढ़ियाँ चल पाएँ। अपने पराक्रम को वे बिना डींग हाँके प्रमाणित किये जा रहे थे।

इस सभा में स्वामी शान्त बैठे रहे। उनके बायें रुक्मिणीदेवी और दायें उद्धव महाराज बैठे थे। ये तीनों आसन सुधर्मा सभा में अपना अलग ही प्रभाव डालते थे। स्वामी की दायीं ओर बैठने का अधिकार और सम्मान उद्धव महाराज ने अपनी योग्यता से प्राप्त किया था। जैसे रुक्मिणीदेवी पत्नी के नाते स्वामी से एकरूप हो गयीं थी, वैसे ही उद्धव महाराज भी एक निराले भावबन्ध से स्वामी से एकरूप हुए थे। पाण्डवश्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुन, कुरुमन्त्री महात्मा विदुर, बचपन के मित्र सुदामा और मैं–हमसे स्वामी को जो सख्य भाव था उसमें और स्वामी-उद्धव महाराज के सख्य-भाव में कुछ अन्तर था। वे स्वामी के मन के सभी भावों को जाननेवाले उनके भाव-सखा थे। उनका स्थान हम सबसे ऊपर था। वह उचित भी था, क्योंकि एक बार उद्धव महाराज ने ही मुझे द्वारिकाधीश, पितामह भीष्म, और अंगराज कर्ण के बीच के गूढ़ सम्बन्धों को खोलकर बताया था। राजसूय यज्ञ के पश्चात् हम द्वारिका लौट रहे थे। मार्ग में आनेवाली यमुना, चर्मण्वती आदि नदियों में से अन्तिम नदी को पार करते समय उन्होंने यह बात मुझसे कही थी। तब उनकी आँखों में जो चमक थी, उसी से मैंने जान लिया कि उद्धव महाराज स्वामी के केवल सखा नहीं, भाव-

सखा हैं।

मेरे स्वामी, पितामह भीष्म और अंगराज कर्ण के बीच सुप्त भावबन्धों को स्पष्ट करते हुए उद्धव महाराज ने मधुर वाणी में कहा था, “दारुक, जो मैं तुम्हें बता रहा हूँ वह तुम अन्य किसी को न बताना! तुम्हारे स्वामी, कुरु पितामह और अंगराज कर्ण जलतत्त्व के पुरुष हैं। ये तीनों पंचमहाभूतों में से ‘जल’ तत्त्व के साथ जन्म से ही बँधे हुए हैं। मेरे भैया तो अपने जन्म के ही दिन प्रचण्ड बाढ़ में उफनती यमुना से ही गोकुल में नन्दबाबा के घर पहुँचे थे। पितामह भीष्म तो साक्षात् गंगामाता के ही पुत्र हैं। और अंगराज कर्ण की जीवन-यात्रा भी अश्व नदी पर आरम्भ हुई।

“ये तीनों जलपुरुष अन्तःकरण से एक-दूसरे को भलीभाँति जानते हैं। अवसर आने पर वे एक-दूसरे के लिए अन्यों को उलझन में डालनेवाली हार भी मान लेंगे।”

उद्धव महाराज के इस कथन के कारण हस्तिनापुर का विषय मेरे मन में मँडराता रहता था। स्वामी के आदेश से बीच-बीच में मैं हस्तिनापुर चला जाता था। वहाँ सूतश्रेष्ठ मन्त्री संजय के घर मेरा निवास होता था। द्वारिकाधीश का सारथि होने से वे मेरा स्नेहभाव से स्वागत किया करते थे। कुरु राजसभा की कुछ बातें मुझे उनसे ज्ञात होती थीं।

इन्द्रप्रस्थ में पाण्डवों का उत्कर्ष होते देख दुर्योधन सर्वाधिक क्षुब्ध हो गया था। इन दिनों दुर्योधन शकुनी, दुःशासन, कणक, वृषवर्मा और अंगराज के साथ कुछ-न-कुछ मन्त्रणा में लगा रहता था।

कुरुओं द्वारा किये जानेवाले पाण्डवों के राजसूय यज्ञ से भी श्रेष्ठ विष्णुयाग की चर्चा हस्तिनापुर के नगरजनों में हो रही थी। उस यज्ञ के लिए इन्द्रप्रस्थ के पाण्डवों को और द्वारिका से यादवों को भी आमन्त्रित किया जानेवाला था। यह सम्पूर्ण वृत्तान्त हस्तिनापुर से लौटते ही मैंने स्वामी के समक्ष रख दिया।

सौभपति शाल्व का निवारण और कुरुओं के विष्णुयाग का आमन्त्रण ये दोनों विषय राजसभा के समक्ष रखकर अमात्य पुन: आसनस्थ हो गये। परन्तु इस बार उतावले यादवों में तनिक भी खुसुर-फुसुर नहीं हुई। सब सभासद बड़ी अपेक्षा से स्वामी पर ही दृष्टि लगाये हुए थे। वह शान्ति असहनीय होने लगी, तब उद्धव महाराज ने स्वामी से कहा, “भैया, कठोर मत होइए। अब उठिए और सबको आश्वस्त कीजिए।” उनकी ओर देखकर स्वामी आत्मीयता से मुस्कराये। उनके गुलाबी होंठों के पीछे छिपे दाँत चमक उठे। रुक्मिणीदेवी पर एक दृष्टिक्षेप करके स्वामी आसन से उठ खड़े हो गये। खिले हुए पुष्पोंवाली वैजयन्तीमाला के साथ वक्ष पर झूलते स्वर्णिम किनारवाले नीले उत्तरीय के दोनों छोर अपनी मुट्ठियों में थामकर उन्होंने विनम्रता से उपस्थित यादव सभासदों से कहा, “आपकी आज्ञा हो तो मैं स्वयं ही चला जाऊँगा सौभपति शाल्व से मिलने। तब तो विष्णुयाग यज्ञ के लिए मेरा हस्तिनापुर जाना सम्भव नहीं होगा। अमात्य और सेनापति चुनिन्दा योद्धाओं को लेकर हस्तिनापुर जाएँ। जाने से पहले एकान्त में मुझसे मिलें।”

सभा में प्राय: प्रदीर्घ कथन करनेवाले मेरे अद्भुत पराक्रमी स्वामी जब और कुछ कहे बिना हाथ जोड़कर नम्रता से, राजसभा से ‘शाल्व अभियान’ के लिए ‘आज्ञा’ माँगने लगे, तब सम्पूर्ण सुधर्मा राजसभा द्रवित हो गयी। सबकी दृष्टि स्वामी के स्वर्णकिरीट में लगे मोरपंख पर केन्द्रित हुई। अभिभूत हुए सभी यादव-योद्धाओं ने एक होकर कहा, “आज्ञा तो आप कीजिए द्वारिकाधीश हम सबको!”

लाखों यादवों की चतुरंगदल सेना एक सप्ताह में ही खड़ी हो गयी। आरम्भ हुआ 'सौभपति शाल्व अभियान!' एक ही समय में राजमाता देवकीदेवी, रोहिणीदेवी और माता रुक्मिणीदेवी के हाथों स्वामी ने दधि ग्रहण किया। उनको इस प्रकार दधि खाते देख तीव्रता से प्रतीत हुआ कि इस समय दधि का स्वाद चखते हुए गोकुल का, यशोदा माता का और दधि के लिए उन्होंने जिन-जिन गोपियों के घर छींके पर रखे मटके तोड़े थे, क्या स्वामी को उनका स्मरण हुआ होगा? उनको स्मरण हुआ कि नहीं, मुझे ज्ञात नहीं, परन्तु मुझे अवश्य हुआ। यद्यपि मैं उनका भाव-सखा नहीं था, लेकिन सखा तो था!

द्वारिका का युद्ध सम्मुख चतुरंग सेनादल प्रचण्ड नौकाओं से खाड़ी पार करते हुए तट पर उतरा। इस अभियान में स्वामी ने युवराज बलराम, सात्यकि, कृतवर्मन्, उद्धव महाराज, शिनी, अवगाह आदि यादव-वीरों को अपने साथ ले लिया था। विशेष बात यह थी कि इस समय इन्द्रप्रस्थ में उपस्थित मायावी, कुशल वास्तुशास्त्रज्ञ मयासुर को भी आमन्त्रित करके उन्होंने अपने साथ ले लिया था। द्वारिका से अर्बुद पर्वत तक निष्णात गुप्तचरों को बिखेरकर उनके द्वारा चारों दिशाओं में यह समाचार फैलाने का प्रबन्ध किया गया था कि द्वारिकाधीश चुनिन्दा यादव-योद्धाओं के साथ कामरूप नरेश के आमन्त्रण पर उनसे भेंट करने के लिए प्राग्ज्योतिषपुर चले गये हैं। द्वारिका के संरक्षण का दायित्व प्रद्युम्न को सौंपा गया है और उसके भानु, साम्ब, वीर, संग्रामजित, प्रघोष, श्रुत, वृक आदि बन्धु उसका साथ दे रहे हैं।

कोई भी युद्ध आरम्भ करने से पहले स्वामी उस रणभूमि का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया करते थे, जिसके फलस्वरूप प्रत्यक्ष युद्ध में हमारी सेना की न्यूनतम हानि ही होती थी और निर्विवाद सम्पूर्ण यश प्राप्त होता था। शाल्व अभियान में वे अपनी रणनीति को चकित कर देनेवाली चतुर चाल चले थे। अपने विशेष योद्धाओं समेत ससैन्य प्राग्ज्योतिषपुर चले जाने की वार्त्ता फैलाकर उन्होंने शाल्व को चकमा दिया था। इसी दृष्टि से उन्होंने अपने विशेष गुप्तचरों द्वारा कामरूपाधीश भगदत्त को अपनी गतिविधियों के विषय में पूर्वसूचनाएँ दी थीं, ताकि वह कामरूप में द्वारिकाधीश के स्वागत की तैयारियों का आभास दे सके और अपने आसपास के मणिपुर, त्रिपुरा, अंग, बंग, उत्कल, विदेह और मगध आदि राज्यों में स्वामी के आगमन का समाचार भी वह फैला सके।

वास्तव में स्वामी की दृष्टि के समक्ष था–आर्यावर्त की पश्चिम दिशा में अर्बुद पर्वत पर मार्तिकावत नगरी में जा बसा शाल्व! लेकिन वहाँ पहुँचना अत्यन्त दुष्कर था। क्या वास्तव में वहाँ स्वामी ससैन्य जानेवाले थे? नहीं। वे मध्य देश के अवन्ती और कुन्तिभोज जनपदों का कुशलता से उपयोग करनेवाले थे। अवन्ती में मित्रविन्दादेवी के आप्तों को और भोजपुर में बुआ कुन्तीदेवी के आप्तों को उन्होंने अपने आगमन की वार्त्ता गुप्त रखने की सूचना दी थी। हमारे सैन्य का अन्तिम पड़ाव मध्य देश में–भोजपुर में था। यहाँ तक मयासुर हमारे साथ ही था। स्वामी ने विशेष रूप से उसको अपने कक्ष में बुला लिया। मयासुर ने ही मार्तिकावत नगरी में अपनी मेधा से शाल्व के सौभ विमान का निर्माण किया था। सौभ की गति कैसी है, उसकी घरघराहट कितनी दूर से सुनाई देती है, वह धरती पर कैसे उतरता है, यह सम्पूर्ण जानकारी स्वामी ने मयासुर से प्राप्त की।

चाल ठीक पड़ी। मार्तिकावत में शाल्व के गुप्तचरों ने अपने स्वामी को सूचना दी कि–"द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण ससैन्य और चुनिन्दा योद्धाओं के साथ कामरूप गया है। उत्कल, बंग,

त्रिपुरा आदि राज्यों ने उसके स्वागत की भव्य तैयारियाँ की हैं। द्वारिका में वृद्ध वसुदेव के साथ केवल प्रद्युम्न हैं। साम्ब और उसके इने-गिने बन्धु और कुछ-एक यादव-सैनिक उसकी सहायता के लिए उपस्थित हैं। बार-बार सिर उठानेवाले द्वारिका जनपद पर आक्रमण करके यादवों का अहंकार तोड़ने के लिए यही उचित अवसर है। हमारे पहले आक्रमण के सत्ताईस दिन के आघातों से द्वारिका क्षीण हो ही चुकी है। हमारे कुछ सैनिक सौवीर देश से समुद्रमार्ग से भी द्वारिका में उतारे जा सकते हैं।"

मेरे स्वामी की योजना के अनुसार ही सब-कुछ हो रहा था। उनकी रणनीति तो हमारी समझ से बाहर थी। भोजपुर में भोजों का आतिथ्य-सत्कार स्वीकार करते हम ससैन्य पड़ाव डाले हुए थे। हमारे उद्धव महाराज कभी युद्ध में प्रत्यक्ष भाग नहीं लेते थे। वह उनका स्वभाव ही नहीं था। फिर भी वे परछाई की भाँति कई अभियानों में स्वामी के साथ रहे थे, और इस समय भी वे स्वामी के साथ थे।

शाल्व सेनापति क्षेमधूर्ती के साथ घने वनों से आच्छादित अर्बुद पर्वत से उतरकर ससैन्य द्वारिका की ओर चल पड़ा। यह सूचना मिलते ही भोजपुर छोड़कर हमारी चतुरंग सेना भी निकल पड़ी। युवराज बलराम, सात्यकि, कृतवर्मन्, शिनी, अवगाह आदि ने शीघ्रता से बीच का दशार्ण राज्य पार करके अर्बुद पर्वत पर घेरा डाल दिया। इस तरह मार्तिकावत नगर को लौटने के शाल्व के मार्ग बन्द हो गये। स्वामी ने उद्धव महाराज और कुछ योद्धाओं के साथ सौवीर जनपद में पड़ाव डाला। मैं भी वहाँ था। यह अर्बुद पर्वत का पश्चिमी छोर था। स्वामी ने जैसे समुद्र में 'क्रोष्टु' नाम का दीपस्तम्भ खड़ा करवाकर द्वारिका को सविहित पत्तन का रूप दिया था, वैसे ही सौवीरों ने भी अपनी पश्चिम सीमा पर एक पत्तन का निर्माण किया था और वहाँ एक दीपस्तम्भ भी बनवाया था। मैं स्वामी और उद्धव महाराज को बैठाये उस पत्तन की ओर रथ हाँकने लगा। पीछे से सशस्त्र यादव अश्वसाद दौड़ने लगे। अब स्वामी न द्वारिका में थे, न प्राग्ज्योतिषपुर में, न अर्बुद पर्वत पर डाले गये यादव घेरे में थे। किसी को पता नहीं चल रहा था कि द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण महाराज हैं भी तो कहाँ? सौवीरों के पत्तन पर पहुँचते ही स्वामी ने सावधानी से एक चाल चली। यहाँ से समुद्री मार्ग से द्वीप-द्वारिका समीप था। स्वामी ने सौवीरों में से ही कुछ धीवरों को चुनकर, उनके द्वारा द्वारिका में घुसने का प्रयास करनेवाले शाल्व के पास उसकी नींद उड़ा देनेवाली सूचना पहुँचाने का प्रबन्ध करवाया। शाल्व के शुद्धाक्ष महाद्वार लाँघने के पहले ही यह सूचना उसे देनी थी। सूचना यह थी कि मार्तिकावत नगरी को ध्वस्त करने के लिए प्रचण्ड यादव-सेना ने घेरा डाल दिया है।

यह सूचना सुनते ही द्वारिका तक पहुँचे शाल्व ने अपनी राजनगरी की रक्षा के लिए अतिशीघ्र लौटने का कार्यक्रम बनाया। वह अपने चतुरंगदल सैन्य को भूमार्ग से भेजना चाहता था और स्वयं सौभ विमान से ही सौवीरों के पत्तन में उतरनेवाला था। यादव-सेना के घेरे की, उसके सामर्थ्य की जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् उसे अपने सैन्य की व्यूह-रचना करनी थी। स्वामी की दूरदर्शिता के अनुसार ही सब-कुछ घटित होनेवाला था। मैं, उद्धव महाराज और चुने हुए सशस्त्र अश्वसाद सौवीरों के पत्तन पर स्वामी के पीछे दक्षिण दिशा में द्वारिका के सम्मुख खड़े होकर प्रतीक्षा कर रहे थे। सूर्य अब पश्चिम सागर की ओर ढलने लगा था। बीच-बीच में स्वामी अपनी भौंहों पर बायीं हथेली की छाया करके, पश्चिम सागर में दक्षिण की ओर दूर तक टकटकी बाँधे देख रहे थे। धीवरों की ऊँचे पालोंवाली नौकाएँ अब लौट रही थीं। स्वामी समुद्र की ओर दूर

तक देखते हुए विचलित से होकर गीले पुलिन पर निरन्तर चक्कर काटते रहे। मैं भी उद्धव महाराज समेत उनके साथ चक्कर काट रहा था। आज स्वामी अत्यन्त गम्भीर थे। पहले कभी मैंने उनको इस स्थिति में नहीं देखा था। वक्ष पर झूलते नीले उत्तरीय को दोनों हाथों से कसकर पकड़े वे अपने-आप से ही कुछ अस्पष्ट-से बोल रहे थे–"कुछ विलक्षण-अशुभ घटित हो रहा है...विमान की घरघराहट तो नहीं, कुछ और ही सुनाई दे रहा है... 'हे माधव–हे मिलिन्द–हे मधुसूदन' की व्याकुल पुकार भी सुनाई दे रही है...किसकी है यह पुकार?"...

अब साँझ होने को आयी थी। लम्बे पंखों और पुच्छोंवाले समुद्र-पक्षियों के झुण्ड चहचहाते हुए लौटते दिख रहे थे। इतने में कुछ घरघराहट-सी सुनाई दी। यह ध्वनि पहले कभी हमने नहीं सुनी थी। वह क्षण-क्षण बढ़ने ही लगी। दूर आकाश में पश्चिम सागर के दक्षिणी ओर से गरुड़ पक्षी जैसी दिखनेवाली एक आकृति धीरे-धीरे हमारी ही ओर आ रही थी। जैसे-जैसे वह निकट आने लगी, हम सब अवाक् होकर एकटक उस आकृति की ओर देखते ही रहे। हम सबका कुछ क्षणों के लिए स्वामी पर से ध्यान हट गया। वह आकृति कैसी है, यह पूछने के लिए मैंने अपने सर्वज्ञ स्वामी की ओर देखा–और देखता ही रह गया। उद्धव महाराज और हमारे सैनिकों की स्थिति भी मुझ जैसी ही थी। स्वामी हम सबमें होकर भी हममें नहीं थे। अपने मत्स्यनेत्र बन्द किये, ध्यानस्थ वह कुछ अस्पष्ट बोल रहे थे। कुछ क्षण पूर्व सुनी भयावह घरघराहट से कहीं अधिक भयभीत कर देनेवाले अनेकानेक रणवाद्यों का घोष सुनाई देने लगा। स्वामी का मुखमण्डल कोकम-फल की भाँति रक्तवर्ण हो गया। मूलत: नीलवर्ण, साँवले–कृष्णवर्ण दिखनेवाले स्वामी अब रक्तिम–सुवर्ण वर्ण के और अत्यन्त तेज:पुंज दिख रहे थे। उनके मूलत: गुलाबी परन्तु अब रक्तिम हुए होंठों में से अस्पष्ट-से मन्त्रबोल फूटने लगे। स्वामी का दायाँ आजानुबाहु ऊपर उठा। क्षण-भर में ही उसकी दायीं तर्जनी पर तेज के वलय-ही-वलय फेंकनेवाला, प्रचण्ड गतिमान, सुदर्शन प्रकट हुआ। उसके तेज से हमारी आँखें चौंधियाँ गयीं। पश्चिम सागर उस तेज से प्रदीप्त हो उठा। तेजचक्र के साथ उठनेवाली कर्कश, तीव्र ध्वनि से सागर का गर्जन और कुछ समय पूर्व सुनाई देनेवाली विचित्र-सी घरघर प्रभावहीन हो गयी। पश्चिम सागर के तट पर केवल उस चक्र के तेज का और अनगिनत रणवाद्यों के आपस में घुल गये नाद का साम्राज्य फैल गया। स्वामी का ऊपर उठा हाथ तनिक आगे हुआ। चक्र सुदर्शन का प्रक्षेपण हो चुका था। कर्कश ध्वनि के साथ बड़े वेग से सुदर्शन चक्र आकाश में दिखनेवाली उस गरुड़ाकृति पर झपट पड़ा, उससे जा टकराया। कान के पर्दों को चीरनेवाला प्रचण्ड विस्फोट हुआ। दूसरे ही क्षण देह और पंखों के टुकड़े-टुकड़े हुआ वह गरुड़ पक्षी पश्चिम सागर की फेनिल लहरों में गिर पड़ा। वह सौभ विमान था। उसमें था सौभपति शाल्व! हम सब तो भौंचक होकर समुद्र-पुलिन पर बैठ ही गये थे। कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। सुदर्शन के तेज और ध्वनि से हम संज्ञाशून्य हो गये थे। धुँधला-सा कुछ दिखाई दिया–'सौभ' को ध्वस्त कर सुदर्शन पीछे लौट आया है। परन्तु वह स्वामी की तर्जनी पर स्थिर नहीं हुआ। स्वामी ने तर्जनी निर्देश से जो दिशा दिखायी थी, सुदर्शन कर्कश ध्वनि करता हुआ उसी दिशा में चला गया।–और उस दिशा में था हस्तिनापुर! पश्चिम सागर से सटा हुआ थाल के आकार का तेजस्वी सूर्यगोल जल में डूब गया। पश्चिम सागर की लहरों पर झोंके खानेवाले सौभ विमान के भग्नावशेष बहते-बहते द्वारिका की खाड़ी में जाकर उषःकाल के समय द्वारिकावासियों को और वीर प्रद्युम्न को शुभ समाचार देनेवाले थे कि "शिशुपाल और जरासन्ध से मिलकर विदेशी कालयवन को आर्यावर्त में आमन्त्रित करनेवाला कृतघ्न, राष्ट्रद्रोही शाल्व समाप्त हो गया है। उसकी सेवा करनेवाला, दर्शकों

को भयभीत करनेवाला आर्यावर्त का दूसरा तेजयन्त्र–सौभ विमान भी नष्ट हो चुका है।" मैंने अत्यन्त आदर से अपने स्वामी की ओर देखा और चकित रह गया। सुदर्शन का प्रक्षेपण करके शाल्व सहित सौभ विमान की धज्जियाँ उड़ानेवाले स्वामी कुछ विचित्र ही दिख रहे थे। उनका नीला उत्तरीय भी वायु की तरंगों पर लहराता हुआ सुदर्शन के पीछे-पीछे जा रहा था–हस्तिनापुर की दिशा में।

गौरवशाली 'वासुदेव' उपाधि हमारे स्वामी बहुत पहले ही प्राप्त कर चुके थे। स्वयं पितामह भीष्म ने अन्त:प्रेरणा से उनको 'वासुदेव' कहा था। शिशुपाल और शाल्व के वध के पश्चात् आर्यावर्त के अनेक जनपदों के राजा स्वामी को 'भगवान' कहने-मानने लगे थे। मैं भी उन्हीं में से एक था। द्वारिका के सभी यादव, इन्द्रप्रस्थ में कुन्तीदेवी सहित सभी पाण्डव और उनके पौरजन भी द्वारिकाधीश को भगवान ही मानते थे। पाण्डवों की वंश-लता भी अब विस्तारित हो गयी थी। प्रत्येक पाण्डव को देवी द्रौपदी के अतिरिक्त, किसी को एक, किसी को दो तो किसी को तीन जीवन-संगिनियाँ प्राप्त हुई थीं। महाराज युधिष्ठिर की दूसरी पत्नी थीं देवी पौरवी और उनके पुत्र का नाम था देवक। देवी द्रौपदी और महाराज युधिष्ठिर के पुत्र का नाम था प्रतिविन्ध्य। पाण्डवों की दूसरी पीढ़ी का वह ज्येष्ठ पुत्र था–इन्द्रप्रस्थ का भावी युवराज था।

द्वितीय पाण्डवश्रेष्ठ मल्ल और गदावीर भीमसेन और देवी द्रौपदी के पुत्र का नाम था सुतसोम। उसके शरीर की गठन पिता के समान सुदृढ़ थी। हमारे स्वामी ने जैसे आदिवासी राजा की पुत्री देवी जाम्बवती से विवाह किया था, वैसे ही भीमसेन ने भी राक्षसकन्या हिडिम्बा से विवाह किया था। परन्तु देवी हिडिम्बा अपने मायके हिडिम्बवन में–अपने पुत्र घटोत्कच के साथ रहती थीं। सभी भीमसेन-पुत्रों में घटोत्कच अत्यन्त बलवान था। उसको जन्मत: कुछ दुर्लभ युद्धगुण प्राप्त हुए थे। स्वामी की इच्छा थी कि शिशुपाल-वध के पश्चात् भी इन्द्रप्रस्थ के चेदि राज्य से सम्बन्ध बने रहें। चेदि राज्य इन्द्रप्रस्थ और द्वारिका के विरोध में रहे, यह स्वामी को उचित नहीं लगता था। इसलिए उन्होंने भीमसेन का शिशुपाल-भगिनी देवी काली से विवाह करवाया था। देवी काली अपने पुत्र सर्वगत के साथ अपने मायके में–शुक्तिमती नगरी में ही रहती थीं।

स्वामी के सर्वाधिक प्रिय पाण्डव थे धनुर्धर अर्जुन। मुझे और उद्धव महाराज की भाँति स्वामी अर्जुन को भी 'सखा' कहते थे। जब भी उन दोनों की भेंट होती थी, स्वामी अर्जुन के साथ कभी गरुड़ध्वज पर आरूढ़ होकर तो कभी अर्जुन के 'नन्दिघोष' पर आरूढ़ होकर भ्रमण के लिए अवश्य निकलते थे। कहीं दूर–शान्त स्थान पर, विशेषत: नदी-तट अथवा समुद्र-तट पर वे दोनों घण्टों बातें करते रहते थे। इसमें भी अधिकतर स्वामी बोलते रहते थे और अर्जुन सुनते रहते थे। मैं भी उनकी बातों में बाधा न डालते हुए दूर रथ के पास कुछ छोटा-मोटा काम करते हुए अथवा अश्वों को खरहराते, दाना-पानी खिलाते हुए जैसे कुछ काम करता रहता था। स्वामी के प्रिय पराक्रमी पार्थ की देवी द्रौपदी और देवी सुभद्रा के अतिरिक्त और दो पत्नियाँ थीं–एक नागकन्या देवी 'उलूपी' और मणिपुर की राजकुमारी देवी 'चित्रांगदा'। पाण्डवों का नागों से जुड़ा हुआ यह रक्त-सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण था। भविष्य में यदि कोई कठिन अवसर आ जाता तो नागों का सैन्य-सामर्थ्य पाण्डवों के समर्थन में अवश्य खड़ा हो जाता। देवी उलूपी का पुत्र था इरावान और देवी चित्रांगदा का बभ्रुवाहन।

चौथे पाण्डव नकुल की दूसरी पत्नी थी शिशुपाल की कन्या करेणुमती। यह सम्बन्ध भी

स्वामी ने ही करवाया था। देवी करेणुमती से विवाह करने के लिए स्वामी ने नकुल से ऐसी विनम्र और मधुर वाणी में प्रार्थना की थी कि उसे सुनकर अप्रतिम रूपसुन्दर नकुल का मुख लज्जा से आरक्त हो गया था। इस दम्पती के पुत्र का नाम था निरमित्र। शिशुपाल की भगिनी भीमसेन से ब्याही गयी और कन्या नकुल से। इससे वे दोनों भ्राता एक-दूसरे के श्वशुर और जामाता बन गये थे। यह सब चमत्कार मेरे स्वामी के अप्रतिम बुद्धि-वैभव का ही था।

अन्तिम पाण्डव सहदेव निष्णात अश्वविद् थे। वे अश्व की भाँति प्रभावशाली, खुले मन के थे। स्वामी के अलावा मुझसे अश्व, रथ, अश्वों की व्यवस्था इन विषयों पर सूक्ष्मता से केवल वे ही घण्टों बातचीत किया करते थे। पाँचों में से दो पाण्डवों से मैं अधिक आत्मीयता से बँध गया था। पहले थे उद्धव महाराज की भाँति स्वामी के प्रिय अर्जुन और दूसरे थे सहदेव। अश्व जितने मुझे प्रिय थे उतने ही सहदेव को भी थे। मैं था केवल एक सारथी, वे थे समर्थ पाण्डव। फिर भी हमारी चर्चा में यह अन्तर कभी प्रतीत नहीं होता था। पाँचवें पाण्डव सहदेव की देवी द्रौपदी के अतिरिक्त दूसरी पत्नी थी उनके मामा मद्रराज शल्य की कन्या देवी विजया।–उनके पुत्र का नाम था सुहोत्र। सहदेव की तीसरी पत्नी का नाम था देवी भानुमती। वे यादवकुल से ही थीं। इस विवाह से पाण्डव और यादवों के सम्बन्ध अधिक दृढ़ हुए थे। इस दम्पती को अब तक तो सन्तान प्राप्त नहीं हुई थी।

जैसे द्वारिका में स्वामी और युवराज बलराम के वंश का विस्तार हुआ था, वैसे ही इन्द्रप्रस्थ में पाण्डवों का भी। ये दोनों राजशक्ति के केन्द्र आपस में स्थापित हुए नातों से अधिक दृढ़ता से निकट आये थे। बाहर की शत्रु-शक्तियाँ कितना भी प्रयास करें, यह भावसख्य अब टूटनेवाला नहीं था।

जिसके लिए मेरे स्वामी ने जीवन-भर घनघोर परिश्रम किया, वह जनपद द्वारिका अब स्थिर हो चुका था। पूरा आर्यावर्त द्वारिका को 'श्रीकृष्ण की द्वारिका' के नाम से जानने लगा था। लाखों यादव-वीरों के निवास से भरी-पूरी, भगवान वासुदेव की द्वारिका को अब कौन ललकार सकता था?

परन्तु मेरा और अनगिनत यादवों का यह भ्रम उस दिन टूट गया जब आर्यावर्त के पूर्व देश से एक दूत द्वारिका में आया। वह द्वारिका के लिए कोई उपहार नहीं लाया था, लाया था एक उद्धत सन्देश–अवमानकारक आह्वान देनेवाला–द्वारिका को और द्वारिका के प्रमुख द्वारिकाधीश को सीधे ललकारनेवाला। पुण्ड्र राज्य से आया था वह राजदूत! उसने भरी राजसभा में अपने स्वामी पौण्ड्रक का सन्देश मेरे स्वामी को दे दिया। राजप्रथा के अनुसार न उसने महाराज वसुदेव को प्रणाम किया, न युवराज बलराम को, न मेरे स्वामी को। अत्यन्त उद्धत शब्दों में–उसे जो कहने को कहा गया था, उसने वही कहा, "मेरे स्वामी–पुण्ड्राधिपति–आर्यावर्त के एकमात्र वासुदेव पौण्ड्रक महाराज का सन्देश है..."

द्वारिका की सुधर्मा सभा में आज तक किसी राजदूत ने इस प्रकार का व्यवहार नहीं किया था। उसकी इस करतूत से अवाक् हुए राजसभा के सभी सदस्य कान खड़े करके केवल सुनते ही रहे।

"सन्देश है कि 'मुझ जैसा राजवेश पहनने से, मेरी ही भाँति कण्ठ में वैजयन्तीमाला धारण करने से, मुकुट में मोरपंख लगाने से, जिसके शरीर से अब भी गाय के मलमूत्र की दुर्गन्ध आती हो, ऐसा कोई भी ग्वाला कभी वासुदेव नहीं बन सकता। मेरा स्वाँग भरकर वासुदेव कहलानेवाले

को मुझसे–अर्थात् आद्य वासुदेव से निर्णायक युद्ध करना होगा। यदि इतना साहस न हो तो वह मेरा धारण किया हुआ वेश-अलंकार और मुकुट में लगाया मोरपंख, वैजयन्तीमाला और मेरे शस्त्र–सुदर्शन चक्र–उतारकर अपने हाथों से पश्चिमी सागर के खारे पानी में फेंक दे। द्वारिकाधीश और वासुदेव कहलानेवाले यादवों के उस मायावी को मेरा यह खुला आह्वान है।”

राजदूत अपने स्वामी से एकनिष्ठ और निर्भय था। इसीलिए उसने अपने स्वामी का सन्देश शब्दश: सुधर्मा सभा को सुनाया। दूसरे ही क्षण प्रचण्ड कोलाहल उठा–‘भगा दो उसे–उसे बन्दी बनाओ’। गदा, खड्ग, मूसल जैसे शस्त्र उठाकर क्रुद्ध यादव उस दूत को अपना लक्ष्य बनाने को उद्यत हो गये। प्रक्षुब्ध सेनापति सात्यकि आसन से उठकर छलाँग भरते हुए उसी की ओर झपटे। चिल्लानेवाले अनगिनत यादवों की आँखों से चिनगारियाँ-ही-चिनगारियाँ बरसने लगीं।

सुधर्मा सभा के निर्माण से आज तक कभी न हुई ऐसी अनर्थकारी घटना अब घटनेवाली थी। यादवों की सुधर्मा राजसभा में सहस्रों यादवों के और ज्येष्ठों के समक्ष भगवान वासुदेव से आज तक किसी ने इस प्रकार निर्भर्त्सना करनेवाले, उद्धत शब्दों में बात नहीं की थी। बोलनेवाले की अब इतनी धज्जियाँ उड़नेवाली थीं कि जिन्हें गिनना भी सम्भव नहीं होगा। राजदूत को किसने मारा है, इसका निश्चित ज्ञान होना भी कठिन था। यादवों के सामूहिक क्रोध को निर्मम अमानवीयता से व्यक्त करने का यही ढंग था।

स्वामी सदा धीरे-से खड़े हो जाते थे, परन्तु इस समय तुरन्त खड़े हो गये–राजदूत के अपमानजनक उद्धत कथन के कारण नहीं, बल्कि कुछ यादवों को स्वयं रोकने के लिए। अपने आजानुबाहु उठाकर वे गरज उठे, “ठहरो! शस्त्र नीचे रखो और अपने-अपने आसन पर शान्ति से बैठ जाओ।” उनकी गर्जना में एक अपूर्व धाक थी। इस प्रकार स्वामी के मुख से डाँट-डपट मैंने कभी नहीं सुनी थी। उनका प्रत्येक शब्द प्रेम का मधु-कन्द ही हुआ करता था। उसमें इस समय कड़वाहट कैसे आ गयी? स्वामी के आसन के समीप उद्धव महाराज के पास बैठने का सम्मान स्वामी ने ही मुझे दिया था। स्वामी के पीछे-पीछे मैं भी आसन से उठ खड़ा हुआ–अब अवश्य कुछ अनिष्ट घटित होगा, इस भय से! स्वामी अब सुदर्शन चक्र चलाकर उद्धत राजदूत का शिरच्छेद करेंगे, हमारी राजसभा पहली ही बार रक्तलांछित होगी, इस कल्पना से भयभीत होकर मैं स्वामी की ओर केवल देखता ही रहा। परन्तु...

स्वामी के शब्दों ने राजसभा को स्तम्भित कर दिया–“यादववीरो, यह राजदूत निर्दोष है। मेरे दारुक की भाँति अथवा तुममें से किसी भी यादव की भाँति यह अपने स्वामी का एकनिष्ठ सेवक है। शान्त हो जाओ। तनिक विचार करो। शान्त होकर समझने का प्रयास करो। जो आज तक किसी ने नहीं किया है और न भविष्य में कोई कर पाएगा, ऐसा कर्म आज उसने किया है। एक यादव के नाते तुम सबकी ओर से मैं उसका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।” स्वामी के इस कथन में सूक्ष्म माधुर्य था। कड़वाहट तो उसमें किंचित् भी नहीं थी।

“तुम सबको मेरे मित्र राजदूत से यह एक कभी न भूलनेवाला पाठ सीखना है–स्वामिनिष्ठ होने का।”

दूसरे ही क्षण स्वामी ने अमात्य को सबको चकित कर देनेवाली आज्ञा दी–“विपृथु, इस राजदूत के हाथों पुण्ड्राधिपति–आद्य वासुदेव महाराज के लिए उपहार भेजा जाए। उपहार में मेरा सम्पूर्ण परिधान होगा–एक अच्छे-से सुदर्शनीय मोरपंख सहित!”

"जो आज्ञा"–कहकर अमात्य निकले ही थे कि उनके कानों पर और एक आज्ञा पड़ी, "पुण्ड्र देश के इस राजनिष्ठ दूत का भी मूल्यवान मानवस्त्र देकर सम्मान किया जाए। अपने प्राणों की भी चिन्ता न करते हुए उसने अपने स्वामी की आज्ञा का शब्दश: पालन किया है। मैं उसके स्वामी से अवश्य मिलूँगा।"

कुछ ही समय में बेलबूटेदार वस्त्रों से आच्छादित दो थाल राजसभा में महाराज वसुदेव और महाराज्ञी देवकीदेवी के समक्ष प्रस्तुत किये गये। दोनों ने प्रथा के अनुसार उन थालों को स्पर्श किया, उनके पश्चात् युवराज बलराम और स्वामी ने भी उस उपहार का स्पर्श किया।

शिरच्छेद के बदले, सबके समक्ष मेरे स्वामी जैसी महान विभूति के हाथों अपना सम्मान किया जा रहा है, यह देखकर राजदूत लज्जित हो गया। पूरी राजसभा को साक्षी रखकर राजनिष्ठा के नाम पर उसने मेरे स्वामी के विषय में जो अनर्गल प्रलाप किये थे, उस भूल की प्रतीति से उसकी आँखों से आत्मरस झरने लगा!...

पौण्ड्रक-वासुदेव-अभियान के लिए राजनगरी द्वारिका सज्ज हो गयी। सब अपने-अपने कामों में जुट गये थे। शाल्व का वध करके स्वामी ने आर्यावर्त के पश्चिमी भाग को पहले ही भयमुक्त कर दिया था। अब उन्होंने अपनी दृष्टि पूर्व आर्यावर्त की ओर घुमायी स्वयं को वासुदेव कहलानेवाले पौण्ड्रक का पुण्ड्र देश पूर्व सागर के समीप, कौशिकी और गंगा के तट पर था। करुष और बंग देश उसके राज्य से सटे हुए थे। स्वामी के फुफेरे भ्राता दन्तवक्र करुष देश के अधिपति थे। उनका भ्राता विदूरथ भी पराक्रमी था। ये दोनों भ्राता महाराज वृद्धशर्मन् और स्वामी की बुआ श्रुतदेवी के पुत्र थे। वे सदैव एक ही साथ रहा करते थे। स्वामी ने उन दोनों को पहले कभी देखा भी नहीं था। पौण्ड्रक ने बहुत सोच-विचारकर बड़ी दूरदर्शिता से अपना दूत द्वारिका भेजा था। वह दिखाना चाहता था कि वह अकेला ही 'वासुदेव' के अधिकार से द्वारिकाधीश को, उकसानेवाला आह्वान कर रहा है। वास्तव में उसने करुष देश के दन्तवक्र, विदूरथ और बंग नरेश से गुप्त राजनीतिक मन्त्रणा की थी। इस मिथ्याभाषी प्रतिवासुदेव का आह्वान अकेले उसका अथवा उसके छोटे-से पुण्ड्र देश का आह्वान नहीं था। वह तीन राज्यों के प्रबल संगठन का आह्वान था। उसे इस बात का ज्ञान नहीं था कि अपनी बुद्धि-सामर्थ्य से किसी के अस्तित्व को जड़मूल से उखाड़ने में समर्थ द्वारिकाधीश से उसका पाला पड़ा है।

नरकासुर-वध के पश्चात् पूर्व आर्यावर्त का यह महान अभियान था। इस अभियान के यश से स्वामी के एक नये ही अंग के दर्शन आर्यावर्त को होने लगे थे।

स्थान-स्थान पर पड़ाव डालते हुए पुण्ड्र पहुँचने से पहले स्वामी के निष्णात गुप्तचर प्राग्ज्योतिषपुर पहुँचे थे। उनके द्वारा पुण्ड्र, करुष, बंग देश से प्राप्त किये छोटे-मोटे समाचार द्वारिका में पहुँचने लगे। स्वयं को वासुदेव कहलानेवाले पौण्ड्रक को स्वामी का विरोधी मान लेने में कोई आपत्ति नहीं थी, परन्तु उनके फुफेरे भ्राता शत्रुता के कँटीले वन में क्यों घुस रहे थे?–यह मेरी समझ में नहीं आ रहा था। वे पौण्ड्रक के आश्रय में क्यों चले गये थे, यह भी मैं समझ नहीं पा रहा था। लेकिन जो हम सबकी समझ से परे था, उसे स्वामी बड़ी सरलता से ग्रहण कर लेते थे। किसी भी विपत्ति को अपनी इच्छा के अनुसार मोड़ देने का अद्भुत सामर्थ्य उनमें था।

प्रतिवासुदेव के इस अभियान में आर्यश्रेष्ठ ने संकल्पपूर्वक दोनों सेनापतियों को सम्मिलित नहीं किया था। स्वामी ने नयी पीढ़ी के सभी युवा यादववीरों को अपने साथ ले लिया था। प्रद्युम्न

उनमें अग्रस्थान पर था। उसके साथ भानु, वीर, संग्रामजित, प्रघोष, श्रुत और वृक–ये प्रमुख पराक्रमोत्सुक पुत्र थे। उनके चारुदेष्ण, सुदेष्ण, सुभानु, प्रभानु, चन्द्रभानु आदि अन्य भ्राता भी उनका साथ दे रहे थे। इस अभियान की सम्पूर्ण योजना स्वामी ने दूसरी पीढ़ी की वीरता को साकार करने के लिए ही बनायी थी।

स्वामी के इस अभियान की पृष्ठभूमि कुछ जटिल-सी थी। करुष देश के दन्तवक्र और विदूरथ स्वामी के फुफेरे भ्राता थे। उनमें से ज्येष्ठ दन्तवक्र करुष देश का अधिपति था। देश से बाहर सैन्य की गतिविधियों पर विदूरथ नियन्त्रण रखता था। देवी रुक्मिणी के असफल हुए पहले स्वयंवर के कारण स्वामी पर क्रोधित होकर जो नरेश लौटे थे, उनमें से वह भी एक था। जरासन्ध, शाल्व और शिशुपाल द्वारा स्वामी को जड़मूल से उखाड़ने के लिए रचे षड्यन्त्र में इसका भी हाथ था। पहले ही वह उसके मौसेरे भ्राता शिशुपाल के कहने से जरासन्ध से जा मिला था। जरासन्ध ने कुशलता से मथुरा पर किये गये आक्रमण में सीमित मात्रा में इसका उपयोग भी कर लिया था। स्वयं यादववंशी होते हुए भी जरासन्ध के मित्र के नाते वह मथुरा के वृद्ध महाराज उग्रसेन को आज भी पीड़ित कर ही रहा था। बीच-बीच में वह मथुरा पर आक्रमण भी करता था। जरासन्ध-वध के पश्चात् दन्तवक्र स्वामी पर अत्यन्त क्रोधित हुआ था। हम जब शाल्व अभियान में फँसे हुए थे तब अवसर पाकर उसने एक बार द्वारिका पर आक्रमण किया था।

अपने 'वासुदेवत्व' का डंका बजवानेवाले पौण्ड्रक, दन्तवक्र और विदूरथ आपस में मिल गये थे। वे तीनों मन-ही-मन मेरे स्वामी से विरोध की पक्की गाँठ बाँध चुके थे। इस गाँठ में वे तीनों मायावी द्वारिकाधीश को जकड़कर उनका अन्त करने का दिवास्वप्न देख रहे थे। आर्यावर्त के अनेक दैत्य, असुर, दानव, यवन और उद्धत नरेशों को पाठ पढ़ानेवाले द्वारिकाधीश को समझने में तीनों भूल कर रहे थे। किसी भी जटिल राजनीतिक गाँठ को ढीला करके उसे सरलता से खोलने की कला मेरे स्वामी को भलीभाँति ज्ञात थी।

शस्त्र-सज्ज युवा पुत्र, युवराज बलराम और उद्धव महाराज के साथ स्वामी ने द्वारिका की खाड़ी पार की। हमारी चतुरंगदल सेना पहले ही पूर्व दिशा में प्रस्थान कर चुकी थी। द्वारिका के निष्णात और कुशल गुप्तचर पुण्ड्र जनपद के आसपास के उत्कल, मगध, अंग, कामरूप, मणिपुर आदि राज्यों में फैल गये थे। उनमें से प्रबल मगध राज्य जरासन्ध-पुत्र सहदेव के कारण और कामरूप राज्य भगदत्त के कारण हमारे मित्र राज्य बन चुके थे। मणिपुर का राज्य भी अर्जुनपत्नी चित्रांगदा देवी का नैहर होने के कारण हमारा मित्र राज्य था। यह अभियान सफल होने तक उत्कल गणराज्य से मित्रता स्थापित करना आवश्यक था। इसलिए स्वामी ने पहले ही अमात्य विपृथु के हाथों कलिंग और उत्कल गणराज्यों में मानवस्त्र और उपहार भिजवाये थे।

हमने भृगुकच्छ को पार करके पहला पड़ाव आनर्त में नर्मदा-तट पर डाला। जिस मार्ग से हम जानेवाले थे, उस पर दूर-दूर तक फैले घने वनों से आच्छादित परियात्र पर्वत था। दण्डकारण्य के पश्चिम ओर का आधे से अधिक भाग इस पर्वत से ही घिरा हुआ था। विदर्भ में देवी रुक्मिणी के नैहर के राजनगर कौण्डिन्यपुर जाने के लिए स्वामी ने परियात्र पर्वत के दक्षिण पथ का कई बार उपयोग किया था। इस मार्ग का उनको पूरा ज्ञान था। इसलिए उनके कहने के अनुसार हम परियात्र पर्वत का मार्ग छोड़कर नर्मदा के तट पर पड़ाव डालते-डालते पूर्व दिशा में यात्रा करने लगे। कुछ दिन बाद हम विन्ध्य पर्वत पर माहिष्मती नगर पहुँच गये। वहाँ के नगरजनों ने युवराज

बलराम, स्वामी और उद्धव महाराज का बड़े आनन्द से स्वागत किया। उस सुन्दर नगरी में हमारे विशेष पथक ने एक सप्ताह तक विश्राम किया। दक्षिण कोसल की शोण नदी पार करके हम मगध राज्य में दामोदर नदी के पास आ गये। मगधनरेश सहदेव ने युवराज बलराम, स्वामी और उद्धव महाराज का अत्यन्त आत्मीयता से स्वागत किया। प्रद्युम्न के साथ-साथ अन्य सभी स्वामी-पुत्रों में से किसी को सुवर्ण मूठवाला खड्ग, किसी को स्वर्णिम बूटेदार शर-चाप, किसी को गदा तो किसी को चमकदार मूसल–भाँति-भाँति के उपहार भेंट किये। हमारी जो सेना आगे चली गयी थी, उसे सहदेव ने धान्य की गोनियाँ, पशुओं के लिए चारा, औषधि-वनस्पतियाँ दे ही दी थीं। उसने विशाल दामोदर नदी पार करने के लिए हमें सुसज्ज और प्रशस्त नौकाएँ भी दीं। उनकी सहायता से हमारे विशेष पथक ने रथ और हाथियों सहित दामोदर नदी पार की। मागधों की प्रशस्त नौकाएँ हमने खींचकर नदी के पाट से बाहर निकालीं। उनको हाथियों की पीठ पर लादकर उत्कल और अंग देश के बीच से हम गंगा-तट पर आ गये। गंगा–गम्-गा का अर्थ निरन्तर बहनेवाली आर्यावर्त की सर्वाधिक विशाल और पावन–मंगल नदी। बंग देश के पास पूर्व सागर से मिलते समय वह बहुमुखी हो गयी थी। बंग देश से बहता गंगा का पाट सागर जैसा विशाल दिख रहा था। गंगा के इस दर्शन से स्वामी को द्वारिका के निरन्तर गरजते पश्चिम सागर का तीव्र स्मरण हो आया। यहाँ भी हमने कुछ पड़ाव डाले। प्रतिदिन सूर्योदय से पहले मेरे स्वामी ज्येष्ठ भ्राता बलराम भैया और उद्धव महाराज के साथ शिविर से निकलते थे। उनके पीछे प्रद्युम्न और अन्य स्वामी-पुत्र एक साथ हुआ करते थे। गर्ग मुनि भी अपने शिष्यगणों को लेकर स्वामी के साथ हो जाते थे। गंगा के विशाल पाट में पीताम्बरधारी नीलवर्ण द्वारिकाधीश और उनके दोनों ओर गौरवर्ण बलराम भैया और उद्धव महाराज भक्ति-भाव से सूर्यदेव को गंगाजल का अर्घ्य अर्पण किया करते थे। उन तीनों को इस प्रकार आँख भरकर देखना एक अनुपम अनुभव था। मेरे रथ के चारों अश्वों को गंगा-तट पर लाकर उनको खरहरने का दिखावा करते-करते मैं उन तीनों को आँख-भर देखता ही रहता था।

अर्घ्यदान के पश्चात् वे तीनों गंगा में मनमुक्त जलक्रीड़ा किया करते थे। द्वारिकाधीश और उनके भ्राताओं के आगमन की वार्ता न जाने कैसे बंगवासियों को ज्ञात हो गयी! स्वामी और उनके भ्राताओं के दर्शन करने के लिए गंगा-तट पर बंगवासियों की भीड़ लगने लगी थी। तीनों भ्राता गंगास्नान से पावन होकर बंगवासियों को विविध वस्तुओं का मुक्त हस्त से दान देते थे। अपनी पुष्ट ग्रीवा आकाश की ओर उठाकर, अपनी गुलाबी अँजुली में गंगाजल लेकर सूर्य को अर्घ्य दान करते समय स्वामी उच्च स्वर से कहते "गंगा: पुनातु माम्"! उनके मत्स्यनेत्र अपने-आप मुँद जाते। गंगा में खड़े मानव-सूर्य से आकाश के सूर्यदेव को अविरत अर्घ्य दिया जाता। अन्य सभी उनका अनुसरण करते थे। उनके "गंगा: पुनातु माम्" के घोष से गंगा-तट गूँज उठता था।

अन्तत: हम पुण्ड्र देश की सीमा पर अपनी प्रचण्ड सेना से जा मिले। पुण्ड्र के राजदूत ने द्वारिका का सम्पूर्ण वृत्तान्त अपने स्वामी के समक्ष रख दिया था। उससे पुण्ड्र नरेश की कुछ भ्रान्त धारणा हो गयी थी। अपने गुप्तचरों से प्राप्त सूचनाओं से वह समझने लगा था कि द्वारिका का स्वयं को वासुदेव कहलानेवाला ग्वाला अब उसके चरणों में आ गया है। परन्तु सीमा पर एकत्र द्वारिका की प्रचण्ड सेना को देखकर पौण्ड्रक की तो नींद ही उड़ गयी। उसकी सहायता करने के लिए आये दन्तवक्र, विदूरथ उनके अपने करुष देश की रक्षा के लिए जाते ही वह हड़बड़ा गया। फिर भी साहस जुटाकर उसने अपने अमात्य के हाथों सन्देश भिजवाया–"सिर पर धारण किया

किरीट उतारकर ही आद्य वासुदेव के समक्ष उपस्थित हो जाओ। आद्य वासुदेव के शरणागत को मोरपंख से सुशोभित किरीट धारण करने का अधिकार नहीं है। विलम्ब तो हुआ है, परन्तु प्रथा के अनुसार उपहार भिजवाये जाएँ।"

युवराज बलराम की सहनशक्ति अब समाप्त हो गयी। उन्होंने कड़ककर पौण्ड्र के अमात्य को फटकारा, "कह दे अपने वासुदेव से, भेंटस्वरूप स्वयं हम दोनों उपस्थित हो रहे हैं।"

कौशिकी नदी के तट पर युद्धभूमि पर ही स्वामी और पौण्ड्रक की भेंट हो गयी। विशेष बात यह थी कि हाथी पर अम्बारी में बैठे पौण्ड्रक वासुदेव ने पूर्णतया हमारे स्वामी के जैसा ही वेश धारण किया हुआ था। अम्बारी से उतरकर उसने द्वारिकाधीश का खड्गयुद्ध के लिए आह्वान किया। उसके सेनापति ने युवराज बलराम को चुनौती दी। नन्दक खड्ग धारण किये, कुलदेवी इडा का जयघोष करनेवाले स्वामी, पूर्णत: उन्हीं के जैसा वेश धारण किये हुए पौण्ड्रक से लड़ते समय बड़े विस्मयकारी दिख रहे थे। उनको युद्ध करते देखना एक अलग ही अनुभव था। पौण्ड्रक का खड्ग स्वामी के नन्दक खड्ग के प्रहार झेलते हुए भग्न हो गया। मुट्ठी में रह गये खड्ग के भग्नावशेष को उसने तिरस्कार से देखा और फिर फेंक दिया। तत्पश्चात् उसने एक प्रचण्ड गदा उठायी। बड़ी चपलता से मैंने गरुड़ध्वज के पृष्ठ भाग में रखी पौण्ड्रक की गदा से भी प्रचण्ड स्वामी की कौमोदकी गदा उनके हाथ में दी। दोनों गदाओं की ठन-ठन ध्वनि कौशिकी की जल-लहरों में विलीन होने लगी। कौशिकी नदी को एक देव-दुर्लभ दृश्य देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था! हथेली जैसे आकार के दो मोरपंख क्षण-भर में एक-दूसरे के निकट आ जाते थे और दूसरे ही क्षण आवेश से एक-दूसरे से दूर हो जाते थे। पूर्व देश के पुण्ड्र राज्य की सीमा पर सूर्यदेव अब अस्त होने को आये। उनको साक्षी मानकर स्वामी ने प्रतिवासुदेव बनकर उनको ललकारनेवाले पौण्ड्रक का वक्ष विदीर्ण कर दिया। कौशिकी नदी के तट पर उसका निष्प्राण शरीर धड़ाम् से गिर पड़ा। वहाँ युवराज बलराम ने भी पौण्ड्रक के सेनापति को सदा के लिए सुला दिया था। स्वामी शान्ति से पाँव उठाते हुए प्रतिवासुदेव के समीप गये। झुककर उन्होंने पौण्ड्रक के पास ही पड़े मोरपंख को हलके से उठा लिया। उस पर पड़े पौण्ड्रक के रक्त की बूँदों को स्वामी ने अपने कटिवस्त्र के छोर से हलके से पोंछ डाला और मेरी हथेली पर रखकर कहा, "इसको कौशिकी की धारा में विसर्जित कर दो दारुक। जो भी हो, मेरे वासुदेव पद के पीछे 'प्रति' शब्द जोड़कर मुझे अपने वासुदेव पद का अविरत स्मरण दिलानेवाल वीर था वह! इस भारतवर्ष में, मेरे पश्चात् स्वर्णकिरीट में मोरपंख लगानेवाला वह एकमात्र नरेश था।"

"जो आज्ञा"–कहकर स्वामी के जिस नये रूप के आज मुझे दर्शन हुए थे, उस पर विचार करते हुए मैं कौशिकी की ओर चलने लगा। जब लौटा, तब पश्चिम में सूर्य आधा डूब चुका था और जो आधा ऊपर था, वह वस्त्र से ढँका होने के कारण गतप्राण प्रतिवासुदेव के दर्शन नहीं कर पाया। कौशिकी के पाट में बलराम भैया और उद्धव महाराज के साथ सन्ध्या समय का अर्घ्य देनेवाले, जीवन-सत्यों का प्राणपण से रक्षण करनेवाले और असत्य का कठोर निर्दलन करनेवाले वासुदेव के दर्शन करके ही सूर्यदेव कृतार्थ हो गये। वे उस दिन सन्तुष्ट होकर ही अस्त हुए।

अब बारी थी जरासन्ध के पक्षधर दन्तवक्र की! विदेशी कालयवन को आमन्त्रित करने के शाल्व के षड्यन्त्र में सम्मिलित विदूरथ की! उसने तो मगधसम्राट् जरासन्ध का सेनापति पद भी

स्वीकार किया था। मथुरा के पूर्व महाद्वार पर बार-बार आक्रमण करके उसने वृद्ध महाराज उग्रसेन की नाक में दम कर रखा था। जब भी दन्तवक्र और विदूरथ मथुरा पर ससैन्य टूट पड़ते थे, वे डंका पिटवाते थे कि "यह राज्य कंस महाराज का है और वे हमारे स्वामी महाराज जरासन्ध के जामाता थे। उग्रसेन और बलराम-कृष्ण के आतंक से हम मथुरा को मुक्त करने आये हैं। बलराम-कृष्ण को सम्बन्धी मानना तो दूर की बात है, हम उनको योद्धा भी नहीं मानते।

"साहस हो तो द्वारिका का वह भगोड़ा, जिसे वह अपनी कहता है, उस मथुरा की रक्षा करके दिखाए। स्वयं को वसुदेव के पुत्र कहलानेवाले कृष्ण-बलराम दिवाभीत हैं। इसीलिए वे पश्चिम सागर के जलदुर्ग में मुख छिपाये बैठे हैं। वह भगोड़ा अपने-आप को वासुदेव कहलाता है क्या? सच्चे वासुदेव तो हमारे पौण्ड्रक महाराज ही हैं।"

यह घरेलू गुत्थी थी—फुफेरे भ्राताओं की। स्वामी को नरेशोत्तम मानने की बात तो दूर रही, वे उनको योद्धा मानने को भी तैयार नहीं थे। स्वामी ने सोच-विचारकर ही अब तक किसी भी राजसिंहासन पर अपना अधिकार स्थापित नहीं किया था। विदूरथ और दन्तवक्र पूरे पूर्व देश में उनके इस विचारपूर्ण निर्णय की खिल्ली उड़ाते फिरते थे।

करुष देश के आसपास के पुण्ड्र, कामरूप, किरात, अंग-बंग, उत्कल से लेकर मगध, विदेह तक जिस किसी राज्य में कारणवश वे जाते थे, बिना सोचे-समझे कहा करते थे, "कृष्ण किसी भी राजसिंहासन पर आरूढ़ होने के योग्य नहीं है। वह यादव नहीं—गोकुल के नन्द-यशोदा का पुत्र—ग्वाला है। उसका हमारे महाराज वृद्धशर्मन् और माता श्रुतदेवी से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे बंग देश में कुछ पुरवासी टोना-टोटका करते हैं, वैसे ही कृष्ण भी उसके किसी तेजयन्त्र का इन्द्रजाल फैलाता हुआ पूरे आर्यावर्त में घूमता रहता है।"

दन्तवक्र और विदूरथ का सबसे बड़ा और अक्षम्य अपराध यह था कि उन्होंने मगधसम्राट् जरासन्ध के शतराजशीर्ष यज्ञ में बलि चढ़ाने के लिए कई राजाओं को बन्दी बनाकर गिरिव्रज भेज दिया था। शिशुपाल ने तो सौ ही अपराध किये थे। इन्होंने तो उससे भी अधिक किये थे—वह भी अलग रहकर!

विजयी यादव-सेना द्वारिकाधीश और युवराज बलराम का जयघोष करती हुई करुष देश की सीमा में घुस गयी। दन्तवक्र की अपेक्षा थी कि काशिराज उसकी सहायता के लिए दौड़ पड़ेगा। वैसे दोनों में मित्रता अवश्य थी—परन्तु कब तक? जब तक पूर्व देश के ही अन्य नरेशों से भिड़ने का अवसर आता था तब तक! काशी राज्य में अब दण्डपाणि सिंहासनाधीश था। स्वामी ने पौण्ड्रक अभियान के लिए प्रस्थान रखने से पहले ही एक विशेष दूत भेजकर उसको दन्तवक्र से अलग करके काशी राज्य में ही दबा रखा था। स्वामी ने उसे सन्देश भिजवाया था कि, "द्वारिका के एक मन्त्री अक्रूर का पीछा करते-करते द्वारिकाधीश जब काशी राज्य में आये थे, तब आपके राज्य की क्या दशा हुई थी, इस बात को स्मरण करते हुए, इस समय सोच-विचारकर व्यवहार करें। उस समय द्वारिकाधीश अकेले आये थे। इस समय उनके साथ युवराज बलराम और दोनों सेनापति भी हैं—वह भी शस्त्र-सज्ज चतुरंग सेना समेत! द्वारिकाधीश परम शिव-भक्त हैं। शीघ्र ही वे शिव-दर्शन के लिए वाराणसी पहुँच जाएँगे।" राजदूत के इस सन्देश का सारांश समझकर, दन्तवक्र, विदूरथ का परममित्र कहलानेवाला और सर्वदा उनसे गले लगकर मिलनेवाला दण्डपाणि, दूर की सोचकर इस समय अपने राज्य में ही रुक गया था।

करुष की सीमा पर से स्वामी ने दन्तवक्र को सन्देश भिजवाया–"गोकुल के नन्द-यशोदा के पुत्र बलराम-श्रीकृष्ण करुष के महाराज और उनके बन्धु विदूरथ से भेंट करने के लिए आये हैं। मगध के वर्तमान महाराज सहदेव द्वारिकाधीश के परममित्र हैं, इस कारण वे तो अब करुष नहीं आएँगे। सम्भव है, गान्धार देश के कालयवन का पुत्र आपकी सहायता के लिए चला आए–अब उसको अवश्य आमन्त्रित करें!"

सन्देश का स्पष्ट अभिप्राय था–द्वारिका के ग्वालों से लड़ने को तत्पर हो जाना। दन्तवक्र उसे समझ गया। अपनी शस्त्र-सज्ज सेना लेकर, भ्राता विदूरथ के साथ रणवाद्यों का घोष करता हुआ वह सीमा पर आ गया।

स्वामी के जीवन में यह पहला अवसर था–प्रत्यक्ष फुफेरे भ्राताओं से युद्धभूमि पर भेंट करने का! गरुड़ध्वज में मेरे पीछे पैर गड़ाकर खड़े स्वामी ने दुकूल में बँधे पांचजन्य को निकालकर अपनी गुलाबी हथेली से पकड़ा और नीलवर्ण ग्रीवा आकाश की ओर उठाकर उसे प्राणपण से फूँका। आर्यावर्त के पूर्व देश में नरकासुर-वध के पश्चात् पहली बार पांचजन्य का परम पावन नाद गूँज रहा था। उस प्रेरक घोष से प्रेरित होकर सहस्रों यादव-वीर आकाश को भी चीरनेवाले रणघोष 'जयतु इडामाता' करते हुए करुषों पर टूट पड़े। लम्बे समय तक यह संग्राम चलता रहा। सन्ध्या समय स्वामी ने शार्ङ्ग धनुष से एक के पीछे एक पाँच बाण चलाकर पहले दन्तवक्र का वक्षभेद किया।

करुष सेनापति और अनेक वीरों को युवराज बलराम ने सौनन्द मूसल और संवर्तक हल के प्रहारों से यमसदन भेज दिया।

अपने भ्राता–करुपराज दन्तवक्र के पतन का समाचार सुनकर विदूरथ क्रुद्ध हो गया। "कहाँ है वह मायावी ग्वाला?" चिल्लाकर, रथ दौड़ाता वह स्वामी के गरुड़ध्वज के समक्ष आ गया। इस युद्ध में स्वामी का अमोघ शर-कौशल मैंने और अनेक यादव-योद्धाओं ने आँख-भर देखा। वे केवल मल्लयुद्ध के निर्णायक दाँव 'वाहुकण्टक' के अधिकारी ज्ञाता या दर्शकों को सम्भ्रम में डालनेवाले केवल सुदर्शन चक्र के अधिकारी नहीं थे। वे एक निष्णात धनुर्धर भी थे–इन्द्रप्रस्थ के अर्जुन के समान, हस्तिनापुर के अंगराज कर्ण के समान। शार्ङ्ग, अजितंजय जैसे अनेक धनुषों को वे खिलौने की भाँति पलक झपकते बदल लेते थे। पीठ पर लटके, बाणों से ठसाठस भरे तूणीर से अँगुली के स्पर्श मात्र से पहचानकर चुने हुए बाण वे विदूरथ पर चला रहे थे। पहले उन्होंने रथारूढ़ विदूरथ को बाणों के पिंजरे में ऐसे जकड़ा कि वह तनिक भी हिल न पाए। फिर क्षणार्द्ध में ही बाणों के पिंजरे सहित विदूरथ को रथविहीन करते हुए धरती पर गिराया। वह अपने नाम के अनुसार विख्यात रथी था, परन्तु अब विरथ हो गया था। उसे क्षण-भर का भी अवसर न देते हुए, स्वामी ने एक चन्द्रमुख बाण से उसका मस्तक धड़ से अलग कर दिया।

अपने राजा और उसके भ्राता का युद्धभूमि पर पतन होते देख, करुष के भयभीत सैनिक तेजी से राजनगर की ओर भागने लगे। दन्तवक्र और विदूरथ के अन्त के साथ अब पूर्व देश भी मुक्त हो गया था। नरकासुर से कामरूप, जरासन्ध से मगध, पौण्ड्रक वासुदेव से पुण्ड्र देश और दन्तवक्र, विदूरथ से करुष मुक्त हो गये थे। जहाँ-जहाँ जीवन रुक जाएगा, जम जाएगा, वहाँ-वहाँ उसको प्रवाहित करना यही मेरे स्वामी का जीवन उद्देश्य है–इस बात को अब तक सम्पूर्ण आर्यावर्त जान चुका था। स्वामी सर्वदा कहा करते थे–"वृद्धि और विकास ही जीवन के लक्षण हैं।"

यह तो सार्वकालिक सत्य था।

उस दिन करुष की सीमा पर ही हमने पड़ाव डाला। दूसरे दिन स्नानादि नित्यकर्म और दानविधि से निवृत्त होकर स्वामी ने युवराज बलराम और उद्धव महाराज के साथ करुषों के राजनगर में प्रवेश किया। उन्होंने अग्रदूत भेजकर फूफाजी वृद्धशर्मन् और बुआ श्रुतदेवी से भेंट करने की प्रार्थना की थी। सब सोच रहे थे कि वे वृद्ध माता-पिता भेंट की अनुमति नहीं देंगे। परन्तु हुआ विपरीत ही! उनका सन्देश आया–"निःसंकोच आ जाएँ। बहुत-सी बातें करनी हैं।"

युवराज बलराम, उद्धव महाराज, मैं और कुछ वीरों को साथ लेकर स्वामी उनके दर्शन के लिए निकले।

रास्ते में बुआ श्रुतदेवी को देखते ही स्वामी ने तेजी से आगे जाकर फूफाजी और बुआ के चरणों पर अपना माथा रख दिया। वृद्ध श्रुतदेवी ने काँपते हाथों से पहली ही बार मिलनेवाले अपने भानजे को ऊपर उठाया। उनके नेत्रों से झरते आँसुओं को अपनी अँगुलियों से पोंछते हुए स्वामी ने भावभीनी वेणुवाणी में कहा, "बुआ, मैं और दाऊ तुम्हारे पुत्र ही हैं! कंस के कारागृह में मेरी माता ने भी बहुत-से आघात सहे हैं, परन्तु उसका कहना है कि 'किसी भी यादव स्त्री-पुरुष को विपत्ति के समय भी आँसू नहीं बहाने चाहिए'।" यह सुनकर अब तक मौन रहे वृद्धशर्मन् ने काँपते परन्तु नुकीले शब्दों में कहा, "ये सब कहने की बातें हैं। इस युद्ध में तुम दोनों ही मारे गये होते, तो क्या तुम्हारे माता-पिता को इन शब्दों से सान्त्वना मिलती?"

"नहीं! मैं आप दोनों को सान्त्वना देने के लिए नहीं आया हूँ। आप एक बात समझ लीजिए, मेरा झगड़ा केवल शासन चलानेवाले निष्ठुर राज्यकर्ताओं से है, उनके एकांगी दृष्टिकोण से है, उनके माता-पिता अथवा पुत्र-पुत्रियों से नहीं। अन्याय कोई भी करे, किसी पर भी और किसी कारण से करे, अनुचित ही है और पूर्वजों के रक्त से सींच-सींचकर स्थापित किये राजसिंहासन के स्वामी का किया अन्याय तो सबसे अधिक अनुचित है। मैंने अपने फुफेरे भ्राताओं का वध करके कोई भी अपराध नहीं किया है। फिर भी आशीर्वाद के बदले आप मुझे शाप देना चाहते हों तो अवश्य दीजिए। उसे भी मैं मनःपूर्वक स्वीकार करूँगा, इसीलिए तो मैं आया हूँ।"

हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर आगे खड़े द्वारिकाधीश के विचार सुनकर उस वृद्ध दाम्पत्य का हृदय द्रवित हो उठा। महाराज वृद्धशर्मन् ने स्वामी की भुजाएँ कसकर पकड़ीं, क्षण-भर उनकी आँखों में देखा। न जाने उन्होंने स्वामी की आँखों में क्या देखा–उस वृद्ध करुषश्रेष्ठ ने कहा, "हे वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण, हस्तिनापुर के पितामह भीष्म ने 'वासुदेव' कहकर तुम्हारा जो सम्मान किया है, वह उचित ही है। अपने पुत्रों की मृत्यु पर हमें शोक अवश्य है, परन्तु मुझे विश्वास हुआ है कि किसी भी व्यक्तिगत स्वार्थ के अथवा अवमान के प्रतिशोध के लिए तुमने यह कर्म नहीं किया है। हमारा दुर्भाग्य है कि हमारे पुत्रों ने द्वारिकाधीश से सम्बन्ध स्थापित करने के बदले मगध से ही सम्बन्ध स्थापित किये।"

बुआ श्रुतदेवी ने उनकी पुष्टि करते हुए कहा–"द्वारिका आने का हमारा भी बहुत मन था। तुम्हारे दर्शन करने की, द्वारिका का वैभव आँख-भर देखने की और वसुदेव भैया, देवकी और रोहिणी भाभी से मिलने की इच्छा भी थी। परन्तु तुम्हारी द्वारिका तो थी दूर–पश्चिमी सागर तट पर–और हम यहाँ सुदूर पूर्व देश में..." उनकी आँखें भर आयीं।

महाराज वृद्धशर्मन् ने कहा, "वासुदेव, अच्छा हुआ, तुमने स्वयं आकर हमारी इच्छा पूरी की।

महाराज वसुदेव और दोनों महारानियों तक हमारे प्रणाम अवश्य पहुँचा देना।"

इस दृश्य को समक्ष देखते हुए मैं स्वामी के विषय में परस्पर विरुद्ध विचारों के जाल में फँस गया। बहुत सोचने पर भी मैं समझ नहीं पा रहा था, वस्तुत: कौन हैं मेरे स्वामी? उस रात करुषों के राजप्रासाद में भोजन के पश्चात् विश्राम करते हुए भी मैं स्वामी के ही विचारों से छटपटाता रहा। प्रयास करने पर भी मैं सो नहीं पाया।

अगले दिन करुषों से विदा लेकर हमारी यादव-सेना उत्कल गणराज्य की ओर मार्गक्रमण करने लगी। अग्रस्थान पर गरुड़ध्वज के चारों श्वेत अश्वों की वल्गाएँ हाथ में लेकर मैंने स्वामी की ओर देखा–पूछा, "चलना है स्वामी?" उनके मुख पर निर्मल हँसी झलकी। रक्तिम होंठों के पीछे छुपा उनका दुहरा दाँत चमक उठा। नीले कपोलों पर भँवर खिल उठे। उन्हें देखकर मुझे लगा, कल रात करुषों के राजप्रासाद में वे शान्तिपूर्ण निद्रा के अधीन हुए हों। मेरी ओर देखकर अत्यन्त स्नेह से उन्होंने कहा, "दारुक, तुम पीछे आ जाओ। लगता है तुम रात-भर सो नहीं पाये हो। अब हमारे पहले पड़ाव पर ही आँखों में शीतल गोरस की बूँदे, डाल लें। तब भलीभाँति सो पाओगे तुम। तुम पीछे आ जाओ, मैं रथनीड़ पर आता हूँ।"

स्वामी की इच्छा मेरे लिए आज्ञा ही थी। मैं चुपचाप रथ के पार्श्वभाग में आ गया। स्वामी ने उनके चारों अश्वमित्रों–मेघपुष्प, बलाहक, शैव्य और सुग्रीव–की वल्गाएँ हाथ में ले लीं। रथ के पार्श्वभाग में मैं उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति के विषय में ही सोचता रहा। मेरी आँखों के हल्के से लाल छोरों पर दृष्टि पड़ते ही वे पहचान गये थे कि मैं रात-भर सो नहीं पाया था। अन्तत: मैंने सोचना ही छोड़ दिया। अपनी जंघा पर चुटकी काटते हुए मैंने अपने-आप से कहा, "दारुक, तुम स्वामी के सारथि हो। तुम्हारी आँखों में ग्लानि नहीं आनी चाहिए–आ गयी तो निद्रा के प्राकृतिक धर्म पर स्वामी का उपदेश सुनना पड़ेगा। इसलिए जागते रहो।"

दन्तवक्र-विदूरथ के वध की वार्त्ता उत्कल राज्य में पहुँच गयी थी। वहाँ के पौरजनों ने तीनों विजयी भ्राताओं का सहर्ष स्वागत किया। परन्तु स्वामी को अब उत्कल की किसी भी नगरी में रुकना स्वीकार नहीं था। उनका मन आर्यावर्त के पूर्व सागर की ओर खिंचा जा रहा था। द्वारिका में पश्चिम सागर का गर्जन तो उन्होंने नित्य ही सुना था, उद्धव महाराज के साथ पश्चिम सागर के जल में कई बार स्नान भी किया था।

विजयी यादव-सेना के स्वागत के लिए आये उत्कलराज और उनके सेनापति, सेना के साथ स्वामी पूर्व सागर के तट पर आ गये। यहाँ एक छोटी-सी बस्ती थी। यादव और उत्कलों के संयुक्त सैन्य का विशाल पड़ाव पूर्व सागर के तट पर पड़ा। स्वामी का यह सागर-स्नेह एक भिन्न अर्थ से मेरे ध्यान में आ गया। द्वारिका के पश्चिम सागर से होनेवाले सूर्य-दर्शन और यहाँ के सूर्य-दर्शन में बहुत अन्तर था। यहाँ के सूर्यदेव दर्शक को अत्यन्त समीपवर्ती प्रतीत हो रहे थे। कभी-कभी तो कन्धे पर हाथ रखनेवाले स्वामी की भाँति, वे सखा ही प्रतीत हो रहे थे। उनके दर्शन का स्वामी का अनिवारणीय आकर्षण यहाँ आने के पश्चात् ही मेरे ध्यान में आया। द्वारिकाधीश के ज्येष्ठ भ्राता बलभद्र और उद्धवदेव के साथ उत्कल जनपद में आगमन का समाचार पूर्व सागर से आनेवाली वायु की भाँति सर्वत्र फैल गया। तीनों भ्राताओं के दर्शन के लिए उत्कलवासियों की भीड़ लगने लगी।

पूर्व सागर के तट पर हमारी सेना का पड़ाव पन्द्रह दिन तक रहा। स्वामी प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त

में चारणगणों के द्वारा बजाये गये रुद्रवीणा के संगीत से जग जाते। पहले वे अपने गुलाबी करतल के दर्शन करते, फिर भूमि पर पाँव रखने से पहले 'पादस्पर्शं क्षमस्व मे' कहते। मुख-प्रक्षालन कर प्रथम बलराम भैया को वन्दन करके उनके दर्शन करते। उद्धव महाराज और मैं उन दोनों के दर्शन किया करते थे।

स्वामी के आदेशानुसार एक दिन प्रातःकाल ही, गरुड़ध्वज के पार्श्वभाग में आरूढ़ अपने स्वामी, उनके ज्येष्ठ वन्दनीय भ्राता युवराज बलराम और उद्धव महाराज—यादवों के इस त्रिदल बिल्वपत्र को लेकर मैं पूर्व सागर के तट पर आ गया। वहाँ उत्कलराज के पुरोहित ने सागर-पूजा की सम्पूर्ण सिद्धता की थी। तीनों भ्राताओं ने प्रथम कुंकुम, गन्ध, पुष्पांजलि अर्पित करके सागर की पूजा की। तत्पश्चात् उन्होंने सागर को मानवस्त्र और श्रीफल अर्पित किये। इस समय तक पूर्व सागर का तट उत्कलवासी स्त्री-पुरुषों के कोलाहल से गूँज उठा था। सशस्त्र उत्कल और यादव सैनिकों ने उस भीड़ को सुनियन्त्रित कर लिया। कटि तक जल में खड़े रहे तीनों भ्राताओं को तट पर जमा हुई भीड़ के कोलाहल का तनिक भी भान नहीं था। बन्द आँखों से ही पूर्व क्षितिज के ऊपर अति तेज बिम्ब को सागर-जल से अर्घ्य देते हुए वे स्पष्ट शब्दों में गायत्री छन्द में रचित सवितृ मन्त्र का जाप करने लगे—"ओम् भूर्भुवः स्वः, तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।" सागर-पूजा की यह विधि घटिका-भर चलती रही। उसके पश्चात् दान-सत्र आरम्भ हुआ। तीनों भ्राताओं के दर्शन के लिए उत्सुक उत्कलवासियों ने दान में क्या प्राप्त हो रहा है, यह देखा ही नहीं। आँख-भर कर उन्होंने तीनों के दर्शन किये। इस त्रिदल की चरणधूलि माथे से लगाकर उत्कलवासी धन्य हो गये।

पूर्व सागर का तट छोड़कर जब हम दण्डपाणि के काशी राज्य की ओर जाने के लिए निकले, तब द्वारिकाधीश को विदा करने के लिए प्रचण्ड भीड़ जमा हुई थी। उत्कल राज्य में जल-सागर के तट पर जन-सागर के होने का यह पहला ही समय था। चरणों में झुकनेवाले उत्कलराज की भुजाओं को पकड़कर स्वामी ने उनको ऊपर उठाया। स्वामी के दर्शन से अभिभूत उस नरेश ने किंचित् सिर झुकाकर नम्रता से कहा, "द्वारिकाधीश, युवराज बलभद्र, उद्धवदेव, यहाँ आपके पवित्र निवास का स्मरण यह छोटी-सी बस्ती अवश्य रखेगी। यह अनाम बस्ती आज से आपके स्मरण के लिए जगन्नाथपुरी कहलाएगी। वास्तव में आप जगन्नायक हैं। प्रतिवर्ष इसी दिन आपके स्मरण के लिए रथयात्रा निकलेगी।" यह सुनकर सदैव की तरह मुस्कराकर स्वामी ने कहा, "उत्कलराज, मेरे बलदाऊ का स्मरण आप सदैव रखिए—मैं उनसे भिन्न नहीं हूँ। इसलिए मेरा अलग से स्मरण करना आवश्यक नहीं है।"

भावाभिभूत उत्कलों से हमने विदा ली। अग्रस्थान पर खड़े मेरे गरुड़ध्वज में स्वामी आरूढ़ हो गये। हमारे पीछे युवराज बलराम और उद्धव महाराज के रथ थे। उनके पीछे प्रद्युम्न, साम्ब, प्रघोष आदि स्वामी-पुत्र और सेनापति का रथ-दल था। स्वामी के दर्शन से अभिभूत, धन्य हो गये उत्कल और यादवों के संयुक्त सैन्य ने प्रचण्ड, गगनभेदी जयघोष किया—"जगन्नाथ द्वारिकाधीशऽ जयतु ऽ जय हो! जगन्नाथ बन्धु बलभद्र महाराऽऽज जयतु...जय हो।"

स्वामी की जयकार सुनकर मेरे कान सन्तुष्ट हुए। रथ की वल्गाएँ हाथ में ले, पीछे मुड़कर मैंने स्वामी से पूछा, "अब चलना है, स्वामी?" उन्होंने मुस्कराकर कहा, "दारुक, अब तो निकलना ही होगा।" उसी क्षण मुझे तीव्र अनुभूति हुई कि स्वामी की एक समय की मुस्कराहट

किसी अन्य समय जैसी नहीं होती। वह प्रत्येक समय भिन्न-भिन्न होती है। यही नहीं, मधुर वाणी में उनका मुझे पुकारना भी प्रत्येक समय अलग ही होता है। वह प्रत्येक समय मेरे उनसे सख्यत्व को अधिक दृढ़ करता है। वास्तव में, उनके सन्निध रहते हुए भी मैं जान नहीं पाया था कि मेरे स्वामी कौन हैं?

हम काशी राज्य की सीमा पर आ गये। काशिराज दण्डपाणि हमारे स्वागत के लिए ससैन्य उपस्थित थे। उनको साथ लेकर, बीच में कहीं भी न रुकते हुए स्वामी सीधे गंगा-तट पर स्थित काशी विश्वेश्वर के सुघड़ मन्दिर में आ गये–शिव-दर्शन के लिए। अपने भ्राता के साथ। मन्दिर में प्रवेश करनेवाले स्वामी की चाल में मुझे वही आकर्षण अनुभव हुआ जो पूर्व सागर की ओर जाते समय था।

मन्दिर के गर्भगृह में प्रशस्त स्वर्णिम अभिषेक-पात्र से झरती अविरत गंगाजल की धाराओं में नहाता हुआ वज्रलिप्त शिवलिंग था। उसके दर्शन होते ही स्वामी और युवराज एक-दूसरे की ओर देखकर मुस्कराये। आगे उन्होंने जो कुछ कहा उसका अभिप्राय कोई भी नहीं जान पाया–जानना सम्भव भी नहीं था। स्वामी ने कहा, "दाऊ! चलो, कूड़ा-करकट हटाकर मृदु बालुका एकत्र करते हैं। मित्रो, तुममें से कोई एक अरण्य में जाकर श्वेत पुष्प और बिल्वदल ले आए। कोई एक लोटा लेकर जाए और गंगाजल से भर लाए। कोई गाय के स्तनों को दुहकर लोटे में धारोष्ण दूध ले आए–जाओ–दौड़ो–शीघ्रता करो..."

अपने भ्राता की ओर देखते हुए युवराज बलराम ने कहा, "छोटे, तुम्हारे मन में क्या है, कभी-कभी समझ में नहीं आता।" फिर दोनों भ्राता, ऐसे मन्द-मन्द मुस्कराये, जिसका अभिप्राय उनको ही ज्ञात था।

स्वामी ने उद्धव महाराज की ओर मुड़कर कहा, "प्रिय बन्धु ऊधो, चाहने पर भी यहाँ काशी में तुम्हें ब्रह्मकमल कहीं नहीं मिलेंगे।" उन्होंने भी तत्परता से कहा, "अब उनकी आवश्यकता भी नहीं है भैया। मैं जान चुका हूँ, तुम स्वयं ही एक ब्रह्मकमल हो–नित्यनूतन युगन्धर विचारों की सुगन्ध दिशाओं में फैलानेवाले!"

विश्वेश्वर मन्दिर में काशिराज दण्डपाणि के पुरोहितों ने षोड्शोपचार सहित शिव-पूजन की पूर्ण तैयारी करायी। तीनों भ्राता पूजा के लिए शिवलिंग के आगे जलहरी के समीप आसन पर बैठ गये। इस समय वे रणवेशधारी योद्धा नहीं, साधारण वेश धारण किये केवल शिव-भक्त थे। मेरे स्वामी ने पीतवर्ण अधरीय और सुवर्ण किनारवाला नीलवर्ण उत्तरीय धारण किया था। युवराज बलराम के शरीर पर नीलवर्ण अधरीय और पीतवर्ण उत्तरीय था और उद्धव महाराज काषायवर्ण अधरीय और किनार रहित श्वेत उत्तरीय पहने हुए थे।

काशीवासी पुरोहितों के मन्त्रघोष के साथ विधिपूर्वक शिव-पूजा सम्पन्न हुई। तीनों भ्राताओं ने एक-एक करके बिल्वपत्र अर्पण करते हुए शिव-पिण्डी को आच्छादित कर दिया। अब उन बिल्वपत्रों पर ही जलाभिषेक होने लगा।

तीनों भ्राताओं ने आँखें मूँदकर शिव-स्तवन आरम्भ किया–

शिवाकान्त शम्भो शशांकार्धमौले,
महेशान शूलिन् जटाजूटधारिन्,

त्वमेको जगद्व्यापको विश्वरूप,
प्रसीद प्रसीद प्रभो पूर्णरूप।...

हमारा पूर्व देश का अभियान शब्दश: सफल और 'शिवमय' हो गया। काशिराज दण्डपाणि से विदा लेकर हम द्वारिका लौट आये।

द्वारिका में स्वामी का प्रचण्ड स्वागत हुआ, फिर भी उसमें कुछ तो त्रुटि थी। स्वामी ने भी उसे अनुभव किया। जिस बात की उनको अनुभूति हुई, उसी की उद्धव महाराज को और मुझे भी हुई। उस बात को केवल युवराज बलराम ने अनुभव नहीं किया, उनका वह स्वभाव ही नहीं था।

क्या त्रुटि थी आज के स्वागत में? हमारे वृद्ध परन्तु सुदृढ़ शरीर-यष्टिवाले, घनी दाढ़ीवाले, प्रसन्नवदन महाराज वसुदेव आज स्वामी के स्वागत के लिए शुद्धाक्ष महाद्वार पर उपस्थित नहीं थे। वे नहीं थे, इसलिए राजमाता देवकीदेवी और रोहिणीदेवी भी नहीं थीं। उनकी अनुपस्थिति तुरन्त स्वामी के ध्यान में आयी। अमात्य विपृथु को सबसे अलग, एक ओर ले जाते हुए स्वामी ने धीमे स्वर में पूछा, "महाराज दिखाई नहीं दे रहे हैं? उनका स्वास्थ्य तो ठीक है ना?"

अमात्य ने अविलम्ब कहा, "वैसे महाराज का स्वास्थ्य तो ठीक है... परन्तु..."

"परन्तु क्या?" स्वामी के सूर्यपुष्प जैसे गोल, नीलवर्ण मुखमण्डल पर चिन्ता की छाया कभी नहीं दिखती थी। उनके गन्धचर्चित भव्य भाल पर कभी सलवटें नहीं पड़ती थीं–आज पड़ गयीं। उसे देखकर मैं चिन्तित हो गया। उद्धव महाराज भी अस्वस्थ हो गये।

"द्वारिकाधीश थोड़ा विश्राम करें। तत्पश्चात् पूरा वृत्तान्त स्वामी के चरणों में निवेदित होगा।" अमात्य ने तत्परता से कहा।

भोजन और विश्राम के पश्चात् अमात्य विपृथु को बुलाने के लिए स्वामी ने मुझे ही भेजा। आज्ञा के अनुसार मैं अमात्य को स्वामी के विश्राम-कक्ष में ले आया। उनको निश्चय ही अमात्य से कुछ विशेष गुप्त मन्त्रणा करनी है, इस विचार से स्वामी को आदरपूर्वक वन्दन करके मैंने कहा, "मैं विदा लेता हूँ स्वामी।"

मेरे समीप आकर मेरे कन्धे पर हाथ रखते हुए मुस्कराकर स्वामी ने कहा, "दारुक, जितना तुम मुझे जानते हो, अन्य कोई नहीं जानता। इसलिए मैं तुम्हें सखा मानता हूँ। मेरे शरीर का ही नहीं, मेरे मन का भी एक अंग हो तुम। तुम्हें यहाँ से जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम्हारा यहाँ होना ही आवश्यक हो सकता है।" वे इस प्रकार मुस्कराये कि मुझे लगा मैं ही मुस्करा रहा हूँ। मैं उनको नहीं, बल्कि दर्पण को ही देख रहा हूँ।

स्वामी के कुछ पूछने से पहले ही अमात्य विपृथु हस्तिनापुर में घटित, हममें से कोई जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था ऐसी, मानव-स्वभाव के अतर्क्य नाट्य की परतें अत्यन्त संयम से स्वामी के समक्ष खोलने लगे। उन्होंने कहा, "द्वारिकाधीश, जो नहीं होना चाहिए था, वह हस्तिनापुर में घटित हुआ। कैसे कहूँ, इस दुविधा में हूँ। आप और अठारह कुलों के हम यादव रणभूमि में होनेवाले सहस्रों वीरों के पतन से क्षण-भर भावाभिभूत होकर पुन: सँभल जाते हैं। उस आघात को सह पाते हैं। परन्तु जब कोई गणराज्य समूल उखाड़ा जाता है, तब बुद्धि भ्रमित हो जाती है–किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाती है।"

यह सुनकर अमात्य के निकट जाकर उनके भी कन्धे थपथपाते हुए स्वामी ने शान्त भाव से

कहा, “अमात्य विपृथु, आप अनुभवी हैं, वृद्ध हैं। हस्तिनापुर के पितामह भीष्म को आपने कई बार प्रत्यक्ष देखा है। उन्होंने कई बार बड़े धैर्य से हस्तिनापुर राज्य को डूबने से बचाया है। द्वारिकावासियों के लिए आप भी उन्हीं के समान हैं। जब हम मथुरा में थे, तबसे आप मेरे शरीर का एक अभिन्न अंग ही बन गये हैं। कहिए, निःसंकोच कहिए, क्या हुआ हस्तिनापुर में?”

स्वामी के अभय-वचन से आश्वस्त हुए अमात्य विष्णु द्वारिकाधीश के आगे हाथ जोड़कर नम्रता से, एक से बढ़कर एक अतर्क्य घटनाओं के बारे में बताने लगे। अब भी वे कुछ हिचकिचा रहे थे। उन्होंने कहा, “कुरु महाराज धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को विष्णुयाग यज्ञ के लिए हस्तिनापुर आने का आमन्त्रण दिया था।

‘यज्ञ’ शब्द सुनते ही कुछ दिन पहले राजसूय यज्ञ के समय इन्द्रप्रस्थ में घटित हुई अकल्पनीय घटनाएँ मेरी आँखों के सामने खड़ी हुईं। कान खड़े करके मैं सुनने लगा। अमात्य कहने लगे, “आमन्त्रण के अनुसार महाराज युधिष्ठिर अपने भ्राता भीमार्जुन और नकुल-सहदेव सहित कुछ इने-गिने सैनिकों के साथ हस्तिनापुर गये। महाराज्ञी द्रौपदीदेवी और राजमाता कुन्तीदेवी भी उनके साथ थीं। परन्तु...परन्तु...कुरुओं का आमन्त्रण केवल विष्णुयाग यज्ञ के लिए नहीं था। इसके पीछे युवराज दुर्योधन, उसके अहंकार को हवा देनेवाले शकुनि मामा और मन्त्री कणक का कुटिल षड्यन्त्र था। इस षड्यन्त्र में अंगराज कर्ण को सम्मिलित करने का उन्होंने भरसक प्रयास किया।”

“कैसा षड्यन्त्र अमात्य? क्या वह सफल हो गया? दुर्योधन का परम मित्र अंगराज कर्ण इस षड्यन्त्र का भागी कैसे नहीं बना? बिना किसी संकोच के, जो कुछ हुआ, ज्यों-का-त्यों कहिए विपृथु।” स्वामी ने अमात्य को धीरज बँधाया।

सँभले हुए अनुभवी अमात्य अब धड़ाधड़ बोलने लगे। जब हम शाल्व, शृगाल, दन्तवक्र के अभियान में व्यस्त थे, तब कितनी अप्रिय, अतर्क्य घटनाओं का पानी गंगा-यमुना के पाटों से बह गया था!

अमात्य कहने लगे, “युवराज दुर्योधन ने महाराज युधिष्ठिर को यज्ञविधि के आरम्भ होने से पहले ही आह्वानपूर्वक द्यूतक्रीड़ा के लिए आमन्त्रित किया। उनको द्यूतक्रीड़ा प्राणप्रिय है, यह जानकर ही यह कुटिल आमन्त्रण दिया गया था। पाण्डवों के और आर्यावर्त के दुर्भाग्य से ज्येष्ठ पाण्डव ने उसे स्वीकार किया। स्वास्थ्य का अथवा अन्य कोई कारण बताकर उन्हें इस आमन्त्रण को टालना चाहिए था।”

“मैं ज्येष्ठ पाण्डव को सदैव ही उसकी द्यूतक्रीड़ा की आदत के लिए संकेतमय चेतावनी देता आया हूँ। मैं उसे समझाता आया हूँ कि तुम्हारा भानरहित होकर द्यूत खेलना कभी तुम्हें विनाश की ओर ले जाएगा। परन्तु उसने सदैव ही हँसते हुए मेरी चेतावनी की उपेक्षा की है–यही कहते हुए कि ‘द्यूत राजाओं को शोभा देनेवाला गौरवशाली क्रीड़ा-प्रकार है। वह सुरापान जैसा व्यसन थोड़े ही है, जो विनाश की ओर ले जाए?’ “स्वामी ने कहा। वे सदैव ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर को एकवचन में ही सम्बोधित किया करते थे। उसका कारण भी उनका ज्येष्ठ पाण्डव होना ही था। लेकिन मेरे स्वामी द्वारा आदरसूचक शब्दों में सम्बोधित किया जाना उनको अच्छा नहीं लगता था। आयु में स्वामी से ज्येष्ठ भीमसेन को भी वह नहीं भाता था। अर्जुन और अन्य पाण्डव तो आयु में स्वामी से छोटे ही थे।

अमात्य पर दृष्टि जमाते हुए स्वामी ने कहा, "अमात्य, निश्चय ही युधिष्ठिर ने हस्तिनापुर में द्यूत खेला होगा। यह राजवंशियों में खेला जानेवाला खेल है, यही सोचकर वह कौरवों के साथ तो राजईर्ष्या के साथ खेला होगा। और उधर निष्णात द्यूतपटु पाण्डवद्वेष्टा शकुनि ने उसके राज-अहंकार को हवा भी दी होगी। शकुनि को मनुष्य-स्वभाव का अच्छा ज्ञान है। वह कुटिल दाँव-पेंच लड़ानेवाला अवश्य है, परन्तु राजनीति-कुशल नहीं है, जैसा कि दुर्योधन और उसके निन्यानवे भ्राता, कणक और अन्य कुरु उसे मानते हैं। यदि अंगराज कर्ण उनके दाँव-पेंचों से अलिप्त रहा हो, तो मुझे आश्चर्य नहीं होगा। उसकी बात ही अलग है।" किसी समय उद्धव महाराज के बताये–अंगराज, पितामह भीष्म और द्वारिकाधीश के बीच के जलत्रिकोण की बात मेरे ध्यान में आ गयी। तुरन्त ही यह भी समझ में आया कि स्वामी कौरवों के मामा शकुनि को कुटिल अवश्य मानते थे, राजनीतिज्ञ नहीं।

"अन्ततः क्या निर्णय हुआ इस द्यूत-स्पर्धा का, अमात्य? युधिष्ठिर ने ऐसा क्या लाभ उठाया इस द्यूत से?" उत्सुक स्वामी अमात्य को फिर से मूल विषय की ओर ले गये।

"लाभ? नहीं स्वामी–लाभ नहीं, प्रचण्ड हानि ही हो गयी–जो किसी भी क्षत्रिय के लिए मृत्यु से भी अधिक-घोर अवमानकारी होगी। युधिष्ठिर द्यूत के व्यसन में इतने फँस गये कि उन्हें किसी भी बात का भान नहीं रहा। पहले राजकोष का पूरा धन, फिर सेनादल के हाथी, घोड़े, ऊँट जैसे प्राणियों को वह हार गये। अगला पासा मनचाहा पड़ेगा और जो कुछ गँवा चुके हैं–उसकी पूर्ति होगी, इस खोखली आशा में वे आपे से बाहर होकर खेलते ही रहे। प्राणियों का दाँव हारते ही उन्होंने दल-प्रमुखों सहित चतुरंगदल सेना को क्रमशः दाँव पर लगाया और वह दाँव भी हार गये। तत्पश्चात् उन्होंने उस सम्पूर्ण इन्द्रप्रस्थ गणराज्य को दाँव पर लगा दिया, जिसका निर्माण उनके और हमारी द्वारिका के प्रजाजनों ने किया था।"

"क्या? इन्द्रप्रस्थ राज्य?" अब मुझसे रहा नहीं गया–मैं पूछ बैठा। पीठ पर हाथ बाँधे चक्कर लगाते हुए उद्विग्न स्वामी किसी विचार में खो गये। फिर रुककर उन्होंने अमात्य से पूछा–"इन्द्रप्रस्थ राज्य को गँवाने के पश्चात् ही वह शान्त हुआ होगा?" स्वामी की बढ़ी हुई उद्विग्नता स्पष्ट दिखाई पड़ रही थी।

"नहीं ऽ!" सम्पूर्ण कटु समाचार स्वामी को सुनाने का कर्तव्य कैसे निभाया जाए, इस विचार से अमात्य भयभीत हो गये–हड़बड़ा गये।

"कहिए अमात्य, राज्य को हारने के पश्चात् दाँव पर लगाने के लिए क्या बचा था युधिष्ठिर के पास? क्या किया उसने?" स्वामी ने पूछा।

"युधिष्ठिर हठ पर अड़ गये। उन्होंने हार नहीं मानी। नकुल-सहदेव सहित भीम, अर्जुन–सभी भ्राताओं को एक-एक करके उन्होंने दाँव पर लगाया।" अमात्य ने कहा।

"क्या ऽ? मेरे प्राणप्रिय सखा अर्जुन को भी?" चिन्तित-मन चक्कर लगाते हुए स्वामी सहसा रुक गये। फिर अवाक् होकर वे अमात्य की ओर देखते ही रहे।

'हाँ द्वारिकाधीश! यह सब देखना मेरे लिए भी असहनीय था, परन्तु यह कटु सत्य घटित हुआ है। ये सारे दाँव भी युधिष्ठिर हार गये।

"किसी को कुछ सूझ नहीं रहा था। द्यूतपट के पास भयंकर तनावपूर्ण वातावरण बन गया था। एक भी पासा युधिष्ठिर की बोली के अनुकूल क्यों नहीं पड़ रहा है, यह किसी भी पाण्डव की

समझ में नहीं आ रहा था। सभी-के-सभी पासे उनके विपरीत कैसे पड़ रहे थे? भूलकर भी, एक भी दाँव उनके अनुकूल नहीं पड़ रहा था। यह कैसा इन्द्रजाल था? इसका रहस्य यह था कि शकुनि और दुर्योधन की कुटिल जोड़ी ने गुप्त रूप से गिरिव्रज से मृत जरासन्ध की अस्थियाँ प्राप्त की थीं और उन्हीं अस्थियों से द्यूत के पासे बनवाये थे। परन्तु उन दोनों के अतिरिक्त द्यूतगृह में कोई भी यह बात नहीं जानता था। इसीलिए द्यूत पूरा होने तक उन दोनों ने बड़ी कुशलता से कर्ण को द्यूतसभा से बाहर रखा था। यदि कर्ण उस समय द्यूत-कक्ष में होता तो प्रत्येक पासा कौरवों की बोली के विपरीत ही पड़ता। किसी समय कर्ण ने द्वन्द्वयुद्ध में जरासन्ध को अभय और प्राणदान दिया था। जरासन्ध की अस्थियों पर कर्ण के नाम का प्रचण्ड भयप्रद प्रभाव था। प्रत्येक पासा पाण्डवों के प्रतिकूल पड़ने का कारण था भीमसेन का चिल्लाना। भीम की आवाज से ही जरासन्ध की अस्थियों के वे पासे थरथराते थे और पाण्डवों की बोली के विपरीत दाँव पड़ता था। वे पाँचों भ्राता हताश होकर, आँखें फाड़-फाड़कर जरासन्ध की अस्थियों से बनाये उन पासों को देखते रहते थे। क्षण-प्रति-क्षण सामर्थ्यशाली भीमसेन के लिए यह सब असहनीय हो रहा था।" अमात्य कह रहे थे और मेरी आँखों के समक्ष कौरवों की द्यूतसभा का चित्र स्पष्ट खड़ा हो गया।

"प्रत्येक दाँव दुर्योधन के अनुकूल पड़ते देख सुबलराज शकुनि, अंगारों पर फूलते लाजाओं की भाँति खिल उठता था। महाराज धृतराष्ट्र, देवी गान्धारी, पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, विदुर, संजय जैसे ज्येष्ठ वहाँ उपस्थित थे। परन्तु इस बात का तनिक भी भान शकुनि और दुर्योधन एवं दु:शासन को नहीं था। उस समय युधिष्ठिर यह भी भूल गये थे कि आर्यावर्त के सभी प्रमुख गणराज्यों के नरेशों की उपस्थिति में उनका राज्याभिषेक हुआ था। अभिषिक्त राजा पर प्रजाजनों का अधिकार होता है, यह सत्य भी उन्हें स्मरण नहीं रहा। उन्होंने अपने-आप को दाँव पर लगाया।" सिर झुकाते हुए अमात्य ने कहा।

"क्या ऽ? द्यूत में स्वयं को ही दाँव पर लगाया उन्होंने? वह भी पाण्डवश्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर ने?" मुझसे चुप नहीं रहा गया। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, सम्पूर्ण आर्यावर्त में आज तक किसी ने द्यूत में अपने-आप को दाँव पर नहीं लगाया था।

"हाँ ऽ। पाण्डवश्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर ने द्यूतमद में अपने-आप को ही दाँव पर लगाया और दुर्भाग्य से वह दाँव भी वे हार गये।"

उस कटु, कठोर सत्य को सुनते हुए मैं सिर से पाँव तक थर्रा उठा। मेरे स्वामी द्वारिकाधीश शान्त ही थे। इस स्थिति में भी उन्हें शान्त देखकर आश्चर्य हुआ। शान्त, धीमी चाल से वे अमात्य के समीप गये। उन्हें पूर्णत: शान्त देखकर अमात्य भी चकरा गये थे। उनकी भयभीत आँखों में आँखें गड़ाकर स्वामी ने धीरे-से पूछा–"आगे क्या हुआ अमात्य? नि:संकोच कहिए। उगते सूर्य की भाँति सत्य को सदैव स्वीकार करना चाहिए! बताइए..."

अमात्य निर्निमेष ऐसे देखते रहे, जैसे कोई थर्रा देनेवाला युद्ध देख रहे हों। मैं और स्वामी उनके पास हैं, यह भी वे भूल गये!...द्यूतसभा में घटित घटनाओं का दृश्य चित्रवत् हमारे सामने खड़ा करते हुए उन्होंने कहा–"युधिष्ठिर दाँव में स्वयं को भी हार गये। और एक क्षण का भी विलम्ब न करके हर्ष से उछलता हुआ शकुनि सबसे पहले चिल्लाया–'पाण्डवों का राजा भ्राताओं सहित आज कौरवों का दास हो गया। कहो दास, अब भी द्यूत खेलोगे?'

"उसके 'दास' कहते ही असहनीय लज्जा से सिर झुकाये ज्येष्ठ पाण्डव ने कहा, 'अवश्य

खेलता। परन्तु दाँव पर लगाने के लिए मेरे पास अब बचा ही क्या है?"

"बड़े आनन्द से खड़ा होते हुए दुर्योधन कड़क उठा 'मामा, द्यूतपट समेटने को कहिए उस दास से। अपने भ्राताओं सहित स्वयं को भी द्यूत में हार चुका है वह। दास हो गया है वह कौरवों का–अपने भ्राताओं सहित। अब बचा ही क्या है उसके पास?'

"सभी संकेतों को ताक पर रखते हुए शकुनि ने दुर्योधन के पास जाकर कुछ कानाफूसी की। हर्षोन्माद से आँखें फाड़कर दुर्योधन ने कहा–'दास युधिष्ठिर, एक वस्तु है तुम्हारे पास–लगाते हो उसे दाँव पर?'

"सिर उठाकर ज्येष्ठ पाण्डव ने पूछा, 'कौन-सी वस्तु?'

"सभी दर्शकों के कानों पर जैसे दहकते अंगारे टकराये हों–'तुम्हारी पत्नी–इन्द्रप्रस्थ की महारानी द्रौपदी!' उन शब्दों को सुनते ही 'नहीं ऽ' चिल्लाता हुआ भीमसेन प्रचण्ड क्रोध से उबल पड़ा। भ्राता सहदेव की ओर देखकर उसने कहा, 'निश्चय ही यह द्रौपदी को दाँव पर लगाएगा। मैं और नहीं सह सकता–जाओ सहदेव, थोड़ा अग्नि ले आओ। बड़े भैया के द्यूत खेलनेवाले इन हाथों को मैं अभी जला डालता हूँ!' कन्धे पर रखी गदा उठाकर भीमसेन दुर्योधन के बदले युधिष्ठिर की ओर लपका। अर्जुन ने बड़े प्रयास से उसे सँभाला।

" 'इस दाँव में हम हार गये तो अब तक जीता हुआ सब-कुछ तुम्हें लौटा देंगे। मैं अपने भ्राताओं सहित तुम्हारा दास बन जाऊँगा। तुम्हारी आज्ञा का पालन करूँगा।' यह कहते हुए शकुनि की सहायता से दुर्योधन ने ज्येष्ठ पाण्डव के द्यूतोन्माद को और उकसाया।

"ऐसे शब्द सुनने के अभ्यस्त न होने के कारण द्यूतसभा में उपस्थित सभी जन उठ खड़े हुए। बैठे थे केवल अन्धे महाराज धृतराष्ट्र और उनके अन्धत्व को स्वीकारनेवाली महाराज्ञी गान्धारीदेवी। द्यूतसभा में मचे कोलाहल के कारण वे दोनों समझ नहीं पा रहे थे कि सभा में क्या हो रहा है।"

देवी द्रौपदी का नाम सुनते ही मैं अवाक् हो गया। स्वामी अब भी शान्त ही दिख रहे थे। उन्होंने कहा, "विपृथु, आप यादव-अमात्य हैं। केवल शासन चलानेवाले अमात्य ही नहीं, बल्कि अवसर आने पर रणभूमि में उतरनेवाले ज्येष्ठ योद्धा भी हैं आप। कौरवों के द्यूतगृह में घटित होती घटनाओं को देखते हुए आप जैसे डगमगा गये, वैसे डगमगाए नहीं। कहिए, द्यूत में स्वयं को हारने के पश्चात्, पत्नी पर अधिकार न होते हुए भी उसने द्रौपदी को दाँव पर क्यों लगाया। मेरी बहन–प्रिय सखी को भी वह गँवा बैठा! आगे क्या हुआ?"

"जो आज्ञा स्वामी!" कहकर अमात्य पुन: बोलने लगे–"पाण्डवश्रेष्ठ ने अन्तिम दाँव लगाया। शकुनि ने पासे फेंके–उसी समय सम्पूर्ण द्यूतसभा का ध्यान आकर्षित करते हुए अंगराज कर्ण ने द्यूतगृह में प्रवेश किया। ज्येष्ठ पाण्डव के अन्तिम दाँव हारते ही आनन्द से भान रहित हुआ दुर्योधन गरज उठा, 'दासीऽऽ, पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी, कौरवों की दासी हो गयी। दासी! सुगन्धी दासी!!' वह उबलता घोष सुनकर उन्मत्त हुए दुर्योधन के भ्राताओं ने कोलाहल मचाया–'दासी ऽऽ दासी ऽऽऽ'"

स्वामी की प्रतिक्रिया जानने के लिए मैं उत्सुकता से उनकी ओर देखने लगा। अब भी वे शान्त ही थे और छत की ओर एकटक देख रहे थे–जैसे हमारा अस्तित्व ही भूल गये हों। वे सुन रहे हैं अथवा नहीं, इसका अमात्य को ध्यान ही नहीं रहा, वे इस प्रकार बोलते रहे, जैसे इस समय

भी वे कौरवों की द्यूतसभा में ही उपस्थित हैं।

"उसके बाद का प्रत्येक क्षण रोंगटे खड़े कर देनेवाला था। दुर्योधन-शकुनि ने सम्पूर्ण द्यूतगृह पर अपना अधिकार जमा लिया। अब वह देवी द्रौपदी का स्वामी बन गया है, इस भ्रान्ति में पागल बने दुर्योधन ने अपने सेवक–द्यूतगृह के व्यवस्थापक प्रतिकामी को आज्ञा दी, 'जाओ प्रतिकामी, कौरवों की उस दासी को सेवा के लिए उपस्थित करो–शीघ्रातिशीघ्र।' प्रतिकामी चला गया। हकबकायी हुई सम्पूर्ण द्यूतसभा उस दिशा में केवल देखती रह गयी। क्या वास्तव में वह इन्द्रप्रस्थ की महारानी को दासी के रूप में प्रस्तुत करेगा, इस शंका से भ्रमित हो गयी।"

"तो क्या वह सचमुच ले आया देवी द्रौपदी को दासी बनाकर?" मैं चुप न रह सका। मैंने पूछ ही लिया। स्वामी अब भी शान्त ही थे।

"नहीं–सेवक प्रतिकामी अकेला ही लौट आया। सिर झुकाकर उसने अपने स्वामी दुर्योधन से कहा, 'स्वामी...वे द्यूतगृह में आ नहीं सकतीं। वे एकवस्त्रा हैं–रजस्वला हैं!'

"सेवक की कठोर निर्भर्त्सना करते हुए दुर्योधन ने अपने भ्राता दु:शासन से कहा, 'यह काम सेवकों के बस का नहीं है। प्रिय बन्धु, वीर दुःशासन, तुम ही अन्तःपुर में जाकर उस दासी को जिस अवस्था में हो, द्यूतसभा में ले जाओ। यदि वह आनाकानी करे, विरोध करे, तो बलात् खींचते हुए ले आओ उसे!'

" 'जो आज्ञा बड़े भैया'–कहता हुआ विशालकाय दुःशासन अन्तःपुर में चला गया। कुछ ही क्षणों में सम्पूर्ण द्यूतगृह को दहला देनेवाला आक्रोश अन्तःपुर की ओर से सुनाई देने लगा–'छोड़ मुझे ऽ–नी ऽ च छोड़ दे ऽ। अपनी माता-बहन का स्मरण कर!' पाण्डवों की आक्रोश करती, चिल्लाती कुलस्त्री को दुःशासन घसीटता हुआ द्यूतगृह में ले आया। फिर आगे क्या होगा, इस भय से तड़ाक् से खड़ी हुई द्यूतसभा दु:शासन की ओर देखने लगी।"

क्या हुआ होगा, इस विचार से मैं भी अमात्य की ओर देखता रह गया। मेरी मति सुन्न हो गयी थी। ऐसा मैंने पहले कभी नहीं सुना था। अपनी प्रिय सखी के घोर अपमान से स्वामी अत्यन्त क्रोधित हुए होंगे, यह सोचकर मैंने उनकी ओर देखा और मुझे धक्का ही लगा। मैं भौचक्का-सा रह गया। वे शान्ति से आँखें मूँदकर खड़े थे। वास्तव में मैं समझ नहीं पा रहा था, मेरे स्वामी बन्द आँखों से क्या देख रहे हैं। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था।

अमात्य कहते ही जा रहे थे–"देवी द्रौपदी को द्यूतसभा में घसीटते हुए लाया गया।

"बिखरे केशोंवाली, चीत्कार करती पाण्डवपत्नी द्रौपदीदेवी ने महाराज धृतराष्ट्र के आगे हाथ फैलाकर न्याय की याचना की–'महारा ऽज, आप कुरुकुल श्रेष्ठ हैं, मेरे वन्दनीय श्वसुर हैं। कहिए इन द्यूतोन्मत्तों से कि जब मेरे पति स्वयं को ही द्यूत में हार चुके हैं, तो क्या अधिकार है उनको मुझे पत्नी के रूप में दाँव पर लगाने का? जब वे स्वयं दास बन गये तब क्या उनका पतित्व का अधिकार समाप्त नहीं हुआ?' कौरव महाराज धृतराष्ट्र निरुत्तर हो, आसन पर बैठे-बैठे तिलमिलाये। दृष्टिहीन आँखों को अन्दर-ही-अन्दर फिराने से अपनी आँखों के छोर से टपकता पानी उन्होंने अपने उत्तरीय से पोंछा। वे अश्रु नहीं थे।

"राजसूय यज्ञ के समय मयसभा में हुए अपमान को स्मरण करके दुर्योधन ने दु:शासन को आज्ञा दी–'दु:शासन, कौरवों की इस दासी को भरे सभागृह में निर्वस्त्र करो। उसे भी पता चले कि अन्ध पिता के पुत्र अन्ध ही नहीं होते! जिसे देखने का साहस इस जगत् में कोई भी नहीं कर

सकता, उसे देखने की वे इच्छा रखते हैं–देख सकते हैं। दु:शासन, उसको निर्वस्त्र करके मेरी जंघा पर बिठा दो।' दुर्योधन ने जंघा पर से अधरीय हटाकर अपनी खुली जंघा थपथपायी। यह देखते ही भीमसेन की सहनशक्ति का बाँध टूट गया। उसने गर्जना की–'दुर्योधन, उन्मत्त होकर जो जंघा तूने भरी सभा में खोलकर दिखायी है, उसे मैं गदा के एक ही प्रहार से चकनाचूर कर दूँगा! कठपुतली की भाँति तेरी आज्ञा का पालन करते हुए मेरी प्रिय पत्नी के शरीर को स्पर्श करनेवाले इस नीच दु:शासन का हाथ अवसर आते ही मैं जड़ से उखाड़कर आकाश में फेंक दूँगा!' भीमसेन केवल गरजा ही नहीं, बल्कि कन्धे पर रखी गदा को उठाते हुए वह उन दोनों की ओर लपका भी। परन्तु 'रुक जाओ भीम' ज्येष्ठ भ्राता की यह आज्ञा सुनते ही क्रोधावेश से फुसफुसाता हुआ वह वहीं का वहीं रुक गया।

"दुर्योधन के मुख से जो शब्द निकले थे, वे प्रतिशोध की भावना से सुलगते, कुरु-युवराज और क्षत्रिय कहलानेवाले वीर कुरु के शब्द मात्र नहीं थे। वे थे धधकते शब्दांगार, जो एक प्रतिशोध की भावना से द्यूतसभा के सभी सदस्यों पर उद्दण्डता से फेंके गये थे।

"भभकती सर्वग्रासी दावाग्नि की भाँति दु:शासन देवी द्रौपदी की ओर झपटा। जैसे ही उसने देवी के वस्त्र की चुनट पर हाथ लगाया, बौखलायी देवी ने नागिन की तरह पलटकर उसके हाथ को जोर से काट खाया। दु:शासन की पकड़ से छूटकर, आकाश में चमकती विद्युत् की भाँति कड़कती हुई वे पूरे द्यूतगृह में दौड़ने लगीं। दु:शासन उनको वस्त्रहीन करने के लिए उनके पीछे दौड़ने लगा। मुक्तकेश, वक्ष पीटते, आक्रोश करते द्रौपदीदेवी ने द्यूतगृह में सब-के-सब प्रमुख योद्धाओं के सम्मुख हाथ फैलाकर याचना की। कौन नहीं था उनमें? महाराज धृतराष्ट्र, महारानी गान्धारीदेवी, पितामह भीष्म, गुरुवर्य द्रोण, कृपाचार्य, विदुर, संजय–सभी–सभी थे। हाथ फैलाकर विह्वल कर देनेवाले शब्दों में वे सबसे याचना कर रही थीं–चिल्ला रही थीं–महाराऽज–पितामह...महारानी ऽ गुरुदे ऽ व, मेरी रक्षा कीजिए ऽ। मैं दासी बनकर कौरवों की द्यूतसभा झाड़ने, राजवस्त्र धोने, सेवा करने को तैयार हूँ, परन्तु मेरी दुर्दशा मत कीजिए!'

"देवी ने ऊर्णनाभ, चित्रचाप, दृढ़वर्मन, निषंगिन्, महाबाहु, विशालाक्ष, चित्रवर्मन, सोमकीर्ति, पद्मनाभन्–सबके सम्मुख हाथ फैलाकर अपनी लज्जा-रक्षा की याचना की, परन्तु उनकी सहायता करने में सब असमर्थ रहे। जैसे ही वे अंगराज कर्ण के आसन के सम्मुख पहुँचकर खड़ी हुई, अंगराज भी तड़ाक् से उठकर खड़े हो गये। पता नहीं, देवी ने अंगराज से याचना क्यों नहीं की! पूरे सभागृह को और अपने पतियों को रो-रोकर दोषी ठहराते हुए देवी द्रौपदी द्यूतगृह में चक्कर लगाने लगीं! वे आर्त आक्रन्दन करने लगीं, 'कहो, कौरवों की इस प्राचीन सभा में आज कोई वीर पुरुष शेष है? महाराज ययाति, यदु, पुरु, हस्ति, अजमीढ, संवरण, जह्नु! आप सब कुरु के वंशज हैं, इसका क्या आपमें से किसी को स्मरण है? जिस सभा में वृद्ध न हों, वह सभा नहीं, और जिन वृद्धों में न्याय की आस्था और अन्याय के प्रति घृणा नहीं, वे वृद्ध नहीं!...

" 'नारी-प्रताड़ना करनेवाला समाज, राज्य क्या विनाश के गर्त में नहीं जाएगा? आपमें से प्रत्येक का जन्म एक नारी की कोख से ही हुआ है, क्या इसका आज आपको भान नहीं है?'

"द्यूतसभा में क्षण-भर गहन नीरवता फैल गयी। भरी सभा में से केवल एक ही कुरु-वीर निश्चय के साथ हाथ ऊँचा उठाकर खड़ा हो गया। विकर्ण ने ज्येष्ठ भ्राता दु:शासन से अधिकारपूर्व कठोर स्वर में कहा, 'दु:शासन, पांचाली के शरीर को स्पर्श भी मत कर। सभासदो, स्मरण

रखिए, इस सभा को महारानी तपती से लेकर देवी सत्यवती तक मातृवत् राजस्त्रियों ने विभूषित किया है। यहाँ स्त्री पर अत्याचार करना, मन्दिर में देवता की मूर्ति का अपमान करना है। मैं धृतराष्ट्र-पुत्र विकर्ण आपसे कह रहा हूँ, पतिव्रता का आक्रोश और अश्रु अनर्थकारी सिद्ध होंगे। पतिव्रता पर अन्याय का अर्थ है पवित्रता पर अन्याय! उसकी विडम्बना का अर्थ है, पुरुषार्थ का अन्त।'

"उन शब्दों से सभासदों में कानाफूसी होने लगी। अब तक उन्मत्त आवेग से कुलस्त्री के वस्त्र से छीनाझपटी करनेवाला विमूढ़ दु:शासन भी डगमगा गया।

"उसी क्षण अंगराज कर्ण उठकर खड़े हो गये। उन्होंने कहा, 'विकर्ण, मूर्ख है तू। सभागृह में उपस्थित महाराज, पितामह जैसे ज्येष्ठ चुप हैं, तू क्यों कण्ठ की धमनियाँ तान रहा है?

" 'पतिव्रता? तू बार-बार उच्च स्वर में जिसको पतिव्रता कह रहा है, वह क्या पतिव्रता है? एक ही देह से पाँच पतियों से रमण करनेवाली वह तो केवल एक विलासिनी है–कलंकिनी है,–वारांगना है, कुलटा है!! ऐसी स्त्री को पाँचों की अपेक्षा एक सौ पाँच पति ही प्रिय होते हैं। दासी लज्जाशील, विनयशील हो सकती है,–कुलटा नहीं। वह सभा में सवस्त्रा आए या विवस्त्रा, क्या अन्तर पड़ता है?

" 'विकर्ण, जिस बात का तुझे ज्ञान नहीं है, उसमें मुँह मत चला। बैठ जा। दुःशासन, द्यूत के दाँव पर हारी गयी इस दासी का वस्त्र छीन ले–विवस्त्र कर इसको।'

"एक दिग्विजयी दानवीर के वे कठोर शब्द सुनते हुए द्यूतसभा में उपस्थित सभी जन जड़वत् हो गये। असमंजस में पड़ा दु:शासन धैर्य के साथ आगे बढ़ा। ज्यों ही उसने झपटकर देवी द्रौपदी के वस्त्र का आँचल खींचा, देवी ने वक्ष पर हाथ धरते हुए, हृदय की गहराइयों से सबको दहला देनेवाला आक्रोश किया–'हे मिलिन्द, माऽधव, मधुसूदन दौड़ो ऽ! हे गोपाल, हे घनश्याम, अच्युऽत, हे केशव, श्रीकृष्ण ऽऽ दोड़ो ऽ! धरती बनकर इस अभागिन पांचाली को उदरस्थ कर लो। हे दुर्जनों के दमनकर्ता, कुरुकुल के निविड़ वन में छिपे इन विषैले भुजंगों का अन्त कर दो। हे चक्रधारी, अपने सर्वसंहारक सुदर्शन से इस सभा में बैठे पौरुषहीन नपुंसकों का शिरच्छेद कर दो। हे देवकीनन्दन, क्या आज तुम्हें माता यशोदा-देवकी के मातृत्व के प्रति आस्था रही है? हे वासुदेव, क्या आज तुम्हें सुभद्रा के सम्मान की चिन्ता है? तो दौड़ोऽ दसों दिशाओं से दौड़ो और इस अनाथ कृष्णा की लाज रखो ऽ...हे वासुदे ऽ व...'

"और–और कौरवों की द्यूतसभा की छत से वाद्यों ऐसा कोलाहल और मन्त्रघोष सुनाई देने लगा, जो पहले कभी नहीं सुना गया था। उसके पीछे-पीछे तेज के असहनीय वलयों से द्यूतसभा व्याप्त हो गयी। अगले ही क्षण वहाँ आँखों को चौंधिया देनेवाला घूमता वलय दिखाई देने लगा। मैंने देखा, उसमें से आपके उत्तरीय सदृश वस्त्र निकलकर देवी द्रौपदी के वस्त्र में समा गये। दूसरे ही क्षण आँखें चौंधिया देनेवाले उस तेज से मुझे मूर्च्छा-सी आ गयी। और आँखें मूँदकर मैं आसन पर गिर गया। आगे क्या हुआ, मुझे कुछ पता नहीं।" यह कहते हुए अमात्य ने जैसे मुख पर आते तेजस्रोत का निवारण करने के लिए अँजुली से मुख ढँक लिया। समीप आते हुए स्वामी ने उनकी पीठ थपथपायी और मुख पर से उनके हाथ हटाये। तनिक मुस्कराते हुए स्वामी ने कहा, "अमात्य विपृथु, शान्त हो जाइए। आगे कुछ मत कहिए। जो जानना था, मैं जान गया।" उनकी यह मुस्कान कुछ अलग ही थी–पहले कभी भी न देखी हुई।

एक विशेष बात मेरे ध्यान में आयी। हस्तिनापुर में कौरवों की द्यूतसभा में हुई द्यूत की घटना के पश्चात् स्वामी केवल हस्तिनापुर के ही विषय में सोचने लगे। वे सदैव उदास-उदास दिखने लगे। उद्धव महाराज को लेकर वे बारम्बार द्वारिका के पश्चिमी ऐन्द्र महाद्वार की ओर जाने लगे। वहाँ पाषाणी आसन पर बैठकर उभरती लहरों का निरन्तर गर्जन वे सुनते रहते थे। वे किसी गहरे विचार में खोये-से दिखने लगे। कभी-कभार वे एकाध वाक्य उद्धव महाराज से बोलते थे। केवल मैं ही उन दोनों के साथ रहा करता था। अब मैं स्वामी के इतने निकट पहुँच चुका था कि उनके गरजते पश्चिम सागर समान हृदय को जानने का अवसर मुझे मिला। स्वामी से बिना कुछ बोले, उस सागर से उठनेवाली अनगिनत विचार-तरंगों को मैं अनुभव करने लगा। उद्धव महाराज के बारे में भी मेरा यही अनुभव था।

हस्तिनापुर में खेले गये द्यूत की घटना से विचारशील, ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर कुछ भी सीख नहीं पाये। दुर्योधन के दूसरे द्यूत-निमन्त्रण को भी उन्होंने स्वीकार किया था। पहले द्यूत के केवल आठ दिन पश्चात् उन्होंने हस्तिनापुर में ही दुर्योधन-शकुनि के साथ अनुद्यूत खेला था।

इस द्यूत में भी वे हार गये। और पाण्डव तथा यादवों द्वारा मिलकर बसाया इन्द्रप्रस्थ राज्य वे गँवा बैठे। अनुद्यूत के अनुसार दाँव हारनेवाले को बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास भुगतना था। यह दाँव भी युधिष्ठिर हार गये।

अन्य पाण्डव और द्रौपदीदेवी के साथ युधिष्ठिर काम्यकवन चले गये–वनवास के लिए। यह सूचना द्वारिका में आ धमकी।

मेरे स्वामी से मिले बिना, उनसे परामर्श किये बिना ही पाण्डव वनवास को चले गये, इससे मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। इसके उत्तरदायी भी ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर ही थे। अनुद्यूत में हारने के पश्चात् वे स्वामी को मुँह दिखाने से कतरा रहे थे। द्वारिका आकर स्वामी से मिलने का अर्जुन ने बार-बार आग्रह किया, परन्तु युधिष्ठिर ने एक ही अचूक बाण चलाकर उसे विफल कर दिया। उन्होंने कहा–"मैं द्वारिका नहीं जाऊँगा, तुम चारों चाहते हो तो द्रौपदी के साथ जा सकते हो।" इस निर्णय से सब चुप हो गये। इन्द्रप्रस्थ के स्वामी कौरवों के हस्तिनापुर से ही वनवास के लिए चल पड़े। उनके दिग्विजयी पिता पाण्डु का अब भी आदर करनेवाले कई हस्तिनापुरवासी नर-नारी पाण्डवों को विदा करने के लिए हस्तिनापुर की सीमा तक आये थे। पाँचों पाण्डवों ने राजवेश त्यागकर सीधे-सादे श्वेत वस्त्र धारण किये थे। देवी द्रौपदी ने भी सादे वस्त्र धारण किये थे। उनके भ्राता धृष्टद्युम्न भी उनको विदा करने हेतु आये थे। वे सभी पाण्डवपुत्रों को–अपने भानजों को अपने साथ पांचाल ले जानेवाले थे। केवल देवी सुभद्रा और अभिमन्यु पीछे रह गये। इन्द्रप्रस्थ को द्यूत में हारने के कारण द्वारिकाधीश की बुआ कुन्तीदेवी हस्तिनापुर में महामन्त्री विदुर के यहाँ रहनेवाली थीं।

इतना सब होने के पश्चात् भी युधिष्ठिर पुन: द्यूत खेले थे, इससे स्वामी के मन को चोट पहुँची थी। इससे भी अधिक अन्य पाण्डवों और प्रिय भगिनी सुभद्रा सहित, बिना कुछ बताये ही युधिष्ठिर काम्यकवन चले गये, इस बात से स्वामी अत्यन्त व्यथित हो गये। परन्तु अपने कर्तव्य से वे कभी चूके नहीं, चूकनेवाले भी नहीं थे। मुझे और उद्धव महाराज को साथ में लेकर स्वामी इन्द्रप्रस्थ चले आये। जो संकट आ पड़ा है, उसका धैर्य से किस प्रकार सामना करना चाहिए, यह स्वामी ने अत्यन्त प्रेम से, अपनत्व से देवी सुभद्रा को समझाया। छोटे अभिमन्यु सहित भगिनी सुभद्रादेवी

को लेकर वे द्वारिका लौट आये। इस बार इन्द्रप्रस्थ में मुझे तीव्रता से अनुभव हुआ कि पहले इन्द्रप्रस्थ के चौक-चौक पर पाण्डवों का–इन्द्रप्रस्थ का गणवेश धारण किये हुए सशस्त्र सैनिक दिख पड़ते थे। परन्तु इस समय सर्वत्र हस्तिनापुर राज्य का गणवेश धारण किये हुए शस्त्र-सज्ज सैनिक दिख रहे थे। इसका स्पष्ट अभिप्राय था कि शकुनि और दुर्योधन ने महाराज धृतराष्ट्र के द्वारा बड़ी उदारता से पाण्डवों को दिये गये खाण्डववन के राज्य पर, जो अब सुरचित इन्द्रप्रस्थ राज्य में परिवर्तित हो चुका था, अधिकार जमा लिया था।

वैभवशाली इन्द्रप्रस्थ का विघटन हो चुका था। पाण्डवों का राजपरिवार चारों दिशाओं में बिखर गया था। काम्यकवन में पत्नी द्रौपदी सहित पाँचों पाण्डव, पाण्डव-माता कुन्तीदेवी हस्तिनापुर में, देवी सुभद्रा और अभिमन्यु द्वारिका में, अन्य द्रौपदी-पुत्र पांचाल देश में, अर्जुनपत्नी चित्रांगदादेवी अपने पुत्र बभ्रुवाहन सहित मणिपुर में, देवी उलूपी अपने पुत्र इरावान के साथ गंगा-तट पर अपने नैहर में और भीमसेनपत्नी हिडिम्बादेवी पुत्र घटोत्कच के साथ हिडिम्बवन में–इस प्रकार पूर्ण पाण्डवकुल तितर-बितर हो गया।

सम्राट् पाण्डु के पुत्रों के साथ यह कितना बड़ा अन्याय था। क्या कभी उनको न्याय मिलनेवाला था? मुझे तो इसकी तनिक भी सम्भावना नहीं दिख रही थी। माता के साथ हस्तिनापुर आये पिताविहीन पाण्डव अब माताविहीन होकर फिर वन चले गये थे।

पाण्डवों को साधन मानकर मेरे स्वामी के देखे सभी स्वप्न भंग हो गये थे। अब सबसे पहले आवश्यक था काम्यक वन जाकर पाण्डवों का खोया धैर्य लौटाना और देवी द्रौपदी को सान्त्वना देना। स्वामी की आज्ञा के अनुसार काम्यकवन जाने के लिए मैंने गरुड़ध्वज सज्ज किया। स्वामी के साथ बलराम भैया और सेनापति सात्यकि भी थे। वहाँ मैं रथ और अश्वों की देखभाल में लगा रहा। अत: इस भेंट में स्वामी की पाण्डवों से क्या चर्चा हुई, मुझे कुछ भी पता नहीं चला। दो दिन पाण्डवों के साथ रहकर हम द्वारिका लौट आये।

आजकल स्वामी ने सुधर्मा राजसभा में और अन्त:पुर के द्वीप पर जाना छोड़ ही दिया था। उद्धव महाराज के साथ वे पश्चिम सागर के तट पर घण्टों बैठा करते अथवा मेरे रथ में बैठकर उनके साथ द्वीप खाड़ी पार करके सोमनाथ के शिवालय में जाया करते थे। कभी-कभी हमारे साथ अत्यन्त वृद्ध हुए आचार्य सान्दीपनि भी हुआ करते थे। कभी हमारे साथ गर्ग मुनि और इस समय द्वारिका में ही आ बसे पाण्डव-पुरोहित धौम्य ऋषि रहते थे। प्रतिदिन केवल प्रभात और सन्ध्या-वन्दन के लिए ही स्वामी महाराज वसुदेव, देवकी और रोहिणी माता तथा बलराम भैया और रेवतीदेवी से मिलते थे। सेनापति सात्यकि, अनाधृष्टि और अन्य दल-प्रमुख जब प्रचण्ड यादव-सेना की समस्याओं को लेकर आते थे, तब स्वामी उनका कहना केवल सुन लेते थे और बिना कुछ बोले केवल हस्त-संकेत से ही मुझे उनको बलराम भैया के पास ले जाने को कहते थे।

यदि उनका मन होता था तो केवल अपने आमन्त्रित किये पुत्रों से वे खुलकर बातें करते थे। उनमें प्रद्युम्न, साम्ब, प्रघोष आदि समवयस्क पुत्र हुआ करते थे। स्वामी के कुछ पुत्र अत्यन्त बुद्धिमान थे। वे प्रश्न पूछ-पूछकर स्वामी से अपनी शंकाओं का निरसन कर लेते थे। कुछ पुत्र वीर, योद्धा थे–वे सूक्ष्मता से युद्धतन्त्र की जानकारी प्राप्त कर लेते थे। कुछ स्वभावत: ही विनयशील और मितभाषी थे, जो केवल श्रवण करते थे। परन्तु अपने पुत्रों के समुदाय में स्वामी प्रसन्न दिखाई देते थे। कभी-कभी स्वामी प्रिय कन्या चारुमती–चारु के साथ रथारूढ़ होकर द्वारिका के

उत्तरी महाद्वार भल्लात की ओर जाया करते थे। तब मैं भी उनके साथ नहीं रहता था। वे स्वयं ही सारथ्य किया करते थे। कभी-कभी चारुमति भी सारथ्य किया करती थी–स्वामी ने ही उसको सारथ्य करना सिखाया था।

एक बार तो स्वामी ने उद्धव महाराज को नन्दबाबा के यहाँ गोकुल भेज दिया। और उनके द्वारा नन्दबाबा, यशोदा माता, काका, काकी, ककेरे भाई-बहन, गोप-गोपी सभी का कुशल समाचार जान लिया। इस समय उन्होंने उद्धव महाराज को विशेष रूप से सूचना दी थी–"प्रिय सखी राधिका से मिले बिना मत लौटना उद्धव। उसके द्वारा भेंट किये गये दोनों उपहारों को–वैजयन्तीमाला और मोरपंख को मैं प्रेम से नित्य धारण किया करता हूँ, यह उसे बताना मत भूलना।" यह सुनकर उद्धव महाराज ने तुरन्त प्रश्न किया–"भैया, यदि उन्होंने पूछा, हमारा कन्हैया, हमारा गोपाल कहाँ है? वह क्यों नहीं आया? तो क्या उत्तर दूँ मैं उनको?" कुछ सोचकर स्वामी मोहक भंगिमा से मुस्करा दिये। उन्होंने कहा कि "उनसे यह कह देना कि, 'कन्हैया का सन्देश है–मुझको ही श्रीकृष्ण मान लो'।" पाण्डव वन चले गये, इस बात को अब छह महीने हो गये थे। कई द्वारिकावासी अब उनको भूल भी गये थे। मैं, स्वामी, बलराम भैया, उद्धव महाराज, और महाराज वसुदेव उनको कभी भूल नहीं सकते थे। आजकल स्वामी आचार्य सान्दीपनि से लगातार किसी चर्चा में व्यस्त रहते थे। ऋषिवर धौम्य कबके काम्यकवन चले गये थे। स्वामी के मुखमण्डल पर दिन-प्रतिदिन आनेवाला परिवर्तन मुझे तीव्रता से अनुभव होने लगा था। द्वारिकाधीश के नाते राज्य के प्रशासन में उनका मन नहीं लगता था। किसी भी बात में विशुद्ध प्रेमयोग की भावना से भाग लेनेवाले स्वामी आजकल विशेष रूप से मौन वियोग-योग की ओर झुकने लगे थे। आचार्य सान्दीपनि और स्वामी की चर्चा में 'क्षेत्र प्रयाग, घोर-आंगरिस, आश्रम' ये शब्द बार-बार सुनाई पड़ते थे।

अन्ततः वह दिन आ गया। उस दिन महाद्वार ऐन्द्र से हम सागर-तट पर गये। सबने सन्ध्या समय का अर्घ्यदान दिया। लौटते समय स्वामी ने मुझे उद्धव महाराज के साथ रथ के पार्श्वभाग में बैठने का कहा और गरुड़ध्वज की वल्गाओं को स्वयं हाथ में ले लिया। सन्ध्या समय होने से पश्चिम सागर के आकाश में यहाँ से वहाँ तक केसरिया, गुलाबी रंग के मेघों की किनारी अंकित हो गयी थी। मन्द समुद्री पवन स्वामी के उत्तरीय को टिकने नहीं दे रहा था। उसको सँवारते हुए, अश्वों को दौड़ाते-दौड़ाते वे गम्भीरता से बोले, "बन्धु दारुक, उद्धव, राजप्रासाद पहुँचते ही मुझे तुमसे कुछ बातें करनी हैं। ध्यान में रखो, केवल तुमसे ही बातें करनी हैं। वहाँ अन्य कोई न हो।"

राजप्रासाद में आते ही उन्होंने अपना निश्चित निर्णय हमको सुनाया। अत्यन्त शान्ति से, परन्तु निश्चयपूर्वक उन्होंने कहा, "प्रिय बन्धु उद्धव-दारुक, बहुत विचार करने के बाद मैंने एक निर्णय किया है। बहुत पहले मैंने मथुरा छोड़ी थी, अब द्वारिका को छोड़ दूँगा–सदा के लिए। मैं उत्तर की ओर एक आश्रम में जा रहा हूँ–परमेश्वरचिन्तन के लिए। तुम्हें क्या करना है, इसका निर्णय तुम्हें ही करना है। दाऊ और मैं गोकुल से लेकर यहाँ तक एक साथ रहे हैं। परन्तु इस समय मैं उनको भी अपने साथ नहीं लूँगा। किसी समय उन्होंने मुझे त्यागा था–क्रोध से। इस समय मैं उनको त्याग दूँगा, परन्तु मन में उनकी ज्येष्ठता का आदर करते हुए प्रेमभाव रखकर ही–निरुपाय होकर! वे युवराज हैं, इसलिए उन पर मेरी अपेक्षा द्वारिका राज्य का अधिकार है। द्वारिका की सेवा और रक्षा के लिए वे यहाँ ही रहेंगे। तुम भी यहीं रह जाओगे, तब भी सखा के नाते तुम्हारे लिए मन में जो प्रेम है, वह रत्ती-भर भी कम नहीं होगा।"

हम दोनों उनकी ओर देखते ही रह गये। क्षण-भर हम समझ ही नहीं पाये कि वे क्या कह रहे हैं! हम अप्रतिभ, किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये। हमारा निःशब्द होकर देखते ही रहना उन्होंने अनुभव किया। एक शिशु की भाँति निर्मल हँसते हुए उन्होंने कहा, "प्रिय सखाओ, इतना-सा निर्णय क्या तुम नहीं कर सकते? तनिक सोचो जीवन-भर कठिन-से-कठिन निर्णय मैंने कैसे किये होंगे? फिर से कहता हूँ, तुम्हारा जो भी निर्णय हो, मुझे सानन्द स्वीकार होगा।"

"भैया, आपको छोड़कर तो रहने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। क्या देह को छोड़कर प्राण कभी रहा है? क्या मेरी यही पहचान की है आपने? मैं आपके साथ ही रहूँगा–आप मुझे सखा मानें अथवा न मानें–फिर भी!" उद्धव महाराज ने बिना कोई विकल्प रखे तत्काल निश्चयपूर्वक कहा।

"मैं तो आपकी छाया हूँ स्वामी। वह कैसे दूर रह सकती है? जहाँ द्वारिकाधीश, वहाँ दारुक!" मैंने भी निःसन्दिग्ध शब्दों में अपना निश्चय स्वामी के सम्मुख प्रकट किया। अब उनको ही निर्णय करना था, मुझे अपने साथ लेना है कि नहीं?

हम दोनों का स्पष्ट निर्णय सुनने के पश्चात् उन्होंने हमारी आँखों की गहराइयों में झाँका। समीप आकर उन्होंने हमारे कन्धों पर हाथ रखे और हल्के से थपथपाते हुए मुस्कराकर बोले, "स्मरण रहे, हम कहाँ जा रहे हैं इसका किसी को भी पता नहीं चले। उद्धव के बारे में तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। वह अविवाहित है। परन्तु दारुक, तुम्हारी पत्नी को भी इसमें से एक शब्द भी पता नहीं चलना चाहिए। यदि ऐसा हुआ, तो तुम दोनों को यहीं छोड़कर मैं अकेला ही कहीं और चला जाऊँगा। कदाचित् जिस अमरनाथ के हम दर्शन कर चुके हैं, ऐसे अनेक पवित्र स्थलों को अपने शरीर पर धारण करनेवाले हिमालय की ओर भी चला जाऊँगा।"

"उद्धव महाराज पर तो आपने अपना भरोसा स्पष्ट प्रकट किया ही है स्वामी! मैं पत्नी की–और उससे भी अधिक आपकी शपथ लेकर कहता हूँ स्वामी कि मैं अपनी पत्नी को भी कुछ नहीं बताऊँगा।"

"तो चलो, तैयारियाँ करो।" स्वामी ने हम दोनों को विदा किया।

उनके कक्ष से निकलते हुए मैंने उद्धव महाराज से कहा, "अब मेरी समझ में आ रहा है कि स्वामी कभी किसी राजसिंहासन पर आसीन क्यों नहीं हुए!"

मेरी ओर देखकर बिलकुल स्वामी की भाँति ही हँसते हुए उद्धव महाराज ने कहा, "दारुक, इसमें कोई विशेष बात नहीं है। उन्होंने अभी तुमसे कहा कि अपनी पत्नी से भी कुछ मत कहो। क्या इससे स्पष्ट नहीं हो रहा कि स्वयं वे भी रुक्मिणीदेवी सहित अपनी सातों पत्नियों को कुछ बतानेवाले नहीं हैं? वे अपने-आप को कैसे मुक्त कर लेंगे, यह तो मुझे पता नहीं। परन्तु रुक्मिणी भाभी को बिना कुछ बताये मैं कैसे जा पाऊँगा, यही प्रश्न है? फिर भी मैं जाऊँगा अवश्य–जैसे उन्होंने कहा है–किसी को भी बिना कुछ बताये।"

हम तीनों की द्वारिका से चले जाने की तैयारियाँ पूरी हो गयीं। हम नित्य की भाँति गरुड़ध्वज साथ लेनेवाले थे। हमने रथ के पृष्ठभाग में यात्रा के लिए आवश्यक अन्न-सामग्री, भोजन पकाने के बरतन, कुछ वस्त्र आदि थोड़ी-सी सामग्री रख ली। स्वामी ने हमें कोई भी शस्त्र साथ में न लेने की कड़ी आज्ञा की थी।

मेरे स्वामी औरों के मन की बात अचूक रूप से जाननेवाले अलौकिक पुरुष थे। राजनीति तो

उनके बायें हाथ का खेल थी। मन्त्रिमण्डल के सदस्य, राजपरिवार के अन्य आप्तगण, अन्तःपुर में रहनेवाली स्वामी की सभी पत्नियाँ, दोनों सेनापति, मुनिवर गर्ग, सभी दल-प्रमुख और द्वारिकावासी नगरजन–कोई भी स्वामी को सदा के लिए अपने से दूर जाने देगा–यह सम्भव नहीं था। सगे-सम्बन्धियों की इस गुत्थी को मेरे स्वामी के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं सुलझा सकता था। आज तक उनकी राजनीतिक कुशलता के कई प्रकटरूप हमने देखे थे। इस समय का रूप बिलकुल ही भिन्न था।

हमारे निकलने के एक सप्ताह पहले ही स्वामी ने आचार्य सान्दीपनि के द्वारा सबके मन को इसके लिए तैयार कर लिया था। उन्होंने कहलवाया था कि, “मेरा प्रिय शिष्य द्वारिकाधीश एक दुर्लभ विद्या की प्राप्ति के लिए, मेरे ही कहने के अनुसार दूर दक्षिण देश जा रहा है। यदि आवश्यक होगा, तो वह एक-दो यादवों को भी अपने साथ ले जाएगा। उसके नये गुरु की आज्ञा है कि एकाध को छोड़कर कृष्ण यहाँ अकेला ही आए, इसलिए युवराज बलराम भी उसके साथ नहीं जाएँगे। उसके गमन के लिए गर्ग मुनि की सहायता से मैं शुभ मुहूर्त ढूँढ रहा हूँ।”

सारी तैयारियाँ होते ही स्वामी द्वारिका छोड़कर निकले–केवल हम दोनों सखाओं सहित! उन्हें विदा देने के लिए महाद्वार शुद्धाक्ष पर जमा हुए लोगों में से केवल दो लोगों को हस्त-संकेत से नौका पर बुला लिया। वे भाग्यशाली पुरुष थे अमात्य विपृथु और आचार्य सान्दीपनि। गरुड़ध्वज रथ को पहले ही नौका में चढ़ाया गया था।

खाड़ी पार करके हम सौराष्ट्र के तट पर आ गये। पहले अमात्य से विदा लेते हुए स्वामी ने उनसे कहा, “अमात्य, मैं कह नहीं सकता कि मैं जहाँ जा रहा हूँ, वहाँ से कब लौट पाऊँगा। सबमें से अकेले आपको ही मैं यहाँ तक इसलिए ले आया हूँ कि मेरा यह सन्देश मेरी सभी पत्नियों, पुत्र, तात वसुदेव, दोनों माता, दाऊ और रेवती भाभी, उनके पुत्र, सुभद्रा, अभिमन्यु और सभी पौरजनों तक आपको ही पहुँचाना है–उनको आघात न पहुँचे इस प्रकार! आज नहीं–पन्द्रह दिन बाद। पहले कभी न देखे दक्षिण देश के कृष्णा-कावेरी नदियों के तट पर किसी आश्रम में हम जाएँगे। वहाँ हमें ढूँढ़ने का प्रयास मत कीजिए, उसमें आपको सफलता प्राप्त नहीं होगी।” आज पहली बार स्वामी ने अमात्य विपृथु को वक्ष से वक्ष लगाकर आलिंगन दिया। अमात्य चकरा गये। स्वामी ने आचार्य सान्दीपनि के चरणों पर मस्तक रख दिया। अत्यन्त प्रेम से ऊपर उठाकर आचार्य ने उनको आलिंगन में लिया। स्वामी आचार्य से कितने ऊँचे दिख रहे थे! हाथ जोड़कर बड़ी नम्रता से स्वामी ने गुरुदेव से कहा, “अंकपाद आश्रम में आपके द्वारा बताये गये गुरुदेव के चरणों के पास ही मैं जा रहा हूँ। आचार्य, आपकी शिक्षा के अनुसार ही, जितना हो पाया, मैं करता आया। मुझसे कुछ भूल हुई हो तो उदार हृदय से क्षमा कीजिए।” और इस प्रकार स्वामी ने आचार्य से भी विदा ली।

मैं गरुड़ध्वज के रथनीड़ पर चढ़ा। उसके पार्श्वभाग में थे मेरे दो परम आदरणीय यादवश्रेष्ठ–द्वारिकाधीश और उद्धव महाराज। जैसे सदा हुआ करता था वैसे इस समय हमारे साथ सैन्य का आडम्बर नहीं था। थे केवल हम तीनों, माथे पर नीला आकाश और रथचक्र के नीचे पीछे पड़ती जा रही पवित्र आर्यभूमि। यह कोई सैनिकी अभियान नहीं था। जीवन के सर्वश्रेष्ठ अभियान के लिए गरुड़ध्वज दौड़ने लगा।

हमने पहला ही पड़ाव नागेश्वर के शिवतीर्थ क्षेत्र के पास डाला। यहाँ तक की यात्रा में एक बात विशेष रूप से हमारे ध्यान में आयी थी कि स्वामी और उद्धव महाराज का राजवेश, मेरा

सारथिवेश और सुशोभित गरुड़ध्वज के कारण मार्ग में मिलनेवाले नर-नारी हमें पहचान रहे हैं। रथ को रोकने के लिए हाथ फैलाकर रथ के पीछे दौड़ रहे हैं। इसे रोकना आवश्यक था। नागेश्वर का तीर्थक्षेत्र आर्यावर्त के बारह ज्योतिर्लिंगों में से एक था। यहाँ के शिवालय में आते ही स्वामी ने अपनी योजना मुझे सुनायी–"दारुक, यहाँ हमें राजवेश त्यागकर आश्रमवासियों के सादे वेश धारण करने होंगे। शिवालय के पुजारी के हाथों किरीटों सहित राजवेश दाऊ के पास द्वारिका भेज देने होंगे। सुसज्जित गरुड़ध्वज को साधारण रथ के रूप में परिवर्तित करना होगा। नहीं तो हमारी यात्रा शीघ्र पूरी नहीं होगी और हम किस मार्ग से कहाँ जा रहे हैं, इसका सम्पूर्ण समाचार द्वारिका में पहुँचता जाएगा।"

नागेश्वर के शिवालय में हमने मूलवेश त्यागकर आश्रमवासियों के वस्त्र धारण किये। गरुड़ध्वज के सारे राजचिह्न उतार दिये। रथ की विख्यात गरुडांकित ध्वजा को उतारकर काषाय वर्ण की पताका चढ़ायी। चारों अश्वों पर चढ़ायी गयी बहुमूल्य झूलें भी उतार दीं। सुवर्णकिनारी वाली वल्गाएँ बदल डाली गयीं और सभी सामग्री पुजारी के हाथों सौंप दी। स्वामी ने उनको सभी आवश्यक सूचनाएँ दीं। अश्वों के माथे पर हमने मुट्ठी भर-भरकर कुंकुम डाला। अब रथ की और हमारी भी सम्पूर्ण कायापलट हो गयी।

शिवालय के आगे–चौक में स्वामी, उद्धव महाराज और मैं–हम तीनों ने मिलकर समान आकार के पाषाण-खण्ड लगाकर भोजन पकाने के लिए चूल्हा बनाया। काषाय वस्त्रधारी उद्धव महाराज ने चूल्हे में ईंधन की लकड़ियाँ डाल दीं। स्वामी ने स्वयं शिव-मन्दिर के यज्ञकुण्ड से अग्नि लाकर ईंधन को जलाया। मैंने ओदन का पात्र चूल्हे पर चढ़ाया। चूल्हे के सम्मुख झुककर, अपने काषाय वस्त्र पर चिनगारियाँ न उड़ें, इसकी सावधानी रखते हुए आँखें मूँदकर स्वामी चूल्हा फूँकने लगे। उससे उठे धुएँ में स्वामी का नीलवर्ण मुखमण्डल धुँधला हो गया। फिर भी चूल्हा भलीभाँति जलाने के लिए स्वामी फूँक मारते ही रहे। उस फूँक से उठे धुएँ से स्वामी को ठसका लगा। वे खाँसने लगे, तभी चूल्हे में अग्नि प्रदीप्त हो गयी। हम तीनों खिलखिलाकर हँस पड़े।

नागेश्वर के शिव-मन्दिर में ही हमें पता चला कि यदि हम इसी तरह यात्रा करते रहे तो उत्तर देश के अपने अपेक्षित प्रयाग क्षेत्र तक निर्विघ्न पहुँच जाएँगे। वहाँ से निकलते समय हमने फिर से मन्दिर के गर्भगृह में शिव-पिण्डी पर भक्तिपूर्वक श्वेत पुष्प और बिल्वपत्र समर्पित किये। हाथ जोड़कर हम तीनों ने आँखें बन्द कर लीं। अपने-आप ही हमारे मन में शिव-स्तवन स्फुरित होने लगा–

"शिवाकान्त शम्भो शशांकार्धमौले।
महेशान शुलिन् जटाजूट धारिन्।
त्वमेको जगद्व्यापको विश्वरूप।
प्रसीद प्रसीद प्रभो पूर्णरूप।।"

अब हमारी पूरी यात्रा में विश्व का सम्पूर्ण 'शिव' हमारा साथ देनेवाला है।

स्तवतीर्थ, माही नदी पार करके, मालव राज्य से निकलकर हम अवन्ती आ गये। यह राज्य स्वामी के फुफेरे भ्राता विन्द-अनुविन्द का था। इस यात्रा में हमें अपने आने की भनक तक किसी के कानों में नहीं पड़ने देनी थी। अत: हमने यात्रा के मार्ग में आनेवाले राज्यों की सीमा पर ही विष्णु-मन्दिर अथवा शिवालय की धर्मशाला में ठहरने का निर्णय किया। इसी कारण

अवन्तीवासियों को पता भी नहीं चला कि द्वारिकाधीश अपने भ्राता उद्धव सहित उनके राज्य से होकर आगे की यात्रा पर चले गये हैं। इस यात्रा में मुझे देखने को मिला कि स्वामी और उद्धव महाराज अपने कटिवस्त्र की काछ कसकर मेरे वन से लाये कँटीले वनबेलों से चारों शुभ्र-धवल अश्वों का मर्दन किस प्रकार करते हैं और यह काम करते समय कैसे स्वयं को भूल जाते हैं! इस समय वे भिन्न-भिन्न विषयों पर चर्चा भी किया करते थे। वैसे इन्द्रप्रस्थ में राजसूय यज्ञ के समय आमन्त्रितों के जूठे पात्र उठाते हुए मैंने दोनों को देखा ही था। अब मैं उनको चारों अश्वों को चारा-पानी देते हुए, इतना ही नहीं आवश्यकता पड़ने पर उनकी लीद उठाते हुए भी प्रत्यक्ष देख रहा था। जब हम वनों से, पर्वतों से यात्रा करते थे, तब दोनों भ्राता जीवन के विविध अंगों पर चर्चा किया करते थे। परन्तु जब किसी नगर से गुजरने लगते थे और वहाँ के पौरजन दिखने लगते थे, तो दोनों भ्राता हेतुपूर्वक मौनव्रत धारण करते थे। फिर लोगों से बातें करने तथा अगली यात्रा के लिए आवश्यक जानकारी प्राप्त करने का दायित्व मुझ पर आता था। मैं भी यह काम अत्यन्त सावधानी से करता था।

निषादों के राज्य के विदिशा, दशार्णों के राज्य के पद्मावती, पुलिन्दों के राज्य के सागर आदि नगरों को पार करते हुए हमने कर्णवती नदी को पार किया। अंगराज कर्ण के कारण इस नदी को यह नाम मिला था। हमारा एक पड़ाव श्रीराम, लक्ष्मण और सीतादेवी के निवास किये गये चित्रकूट पर्वत की तलहटी में भी पड़ा। अन्तत: पम्पापुर को पार करके हम श्रीक्षेत्र प्रयाग आ गये।

यह आर्यावर्त की तीन महानदियों का पवित्र संगम था। कौरवों के हस्तिनापुर से बहती 'गंगा', पाण्डवों के इन्द्रप्रस्थ राज्य से बहती आयी और मेरे स्वामी की रमणीय बाल-क्रीड़ाओं की साक्षी 'यमुना' और तीसरी अदृश्य 'सरस्वती'।

हम तीर्थक्षेत्र प्रयाग के विख्यात संगम-घाट पर आ गये। पूरा घाट श्रद्धालु नर-नारियों से खचाखच भरा हुआ था। सभी जन त्रिवेणी संगम में स्नान करना, अर्घ्यदान देना, प्रतिदिन का मन्त्रजाप, याचकों को दान देना आदि कर्मों में मग्न थे। कोई कारण नहीं था कि उनमें से किसी को भी, आज इस प्राचीन घाट पर कौन-कौन आया है, इसका ज्ञान हो।

घाट के ऊपर की ओर एक घने आम्र-वृक्ष के नीचे मैंने रथ खड़ा कर दिया। अश्वों को चारा-पानी दिया। संगम-घाट की एक-एक सीढ़ी हम उतरने लगे। मुझे तीव्रता से द्वारिका के श्रीसोपान का स्मरण हो आया। अब वह इसी तरह विस्तृत हो गया था।

हम तीनों अपने सूखे वस्त्र संगम-तट की एक सीढ़ी पर रखकर त्रिवेणी सगंम में उतर गये। सबसे पहले केवल कटिवस्त्र पहने नीलवर्ण स्वामी ने अपनी धारदार नाक मुट्ठी में पकड़कर 'हर गंगेऽऽ' कहते हुए पानी में एक डुबकी लगायी। उनके पीछे मैंने और उद्धव महाराज ने भी डुबकी लगायी। गंगा-यमुना के जल से भीगे, सूर्य-किरणों में दीप्तिमान् दिखते, सम्मुख खड़े स्वामी को मैं आँख भरकर देखता ही रह गया। इतनी लम्बी यात्रा के पश्चात् थकान की धुँधली-सी रेखा भी उनके तेजस्वी मुखमण्डल पर दिखाई नहीं दे रही थी। सोमनाथ के शिवालय के गर्भगृह में अभिषेक-जल में नहाते शिव-पिण्डी की भाँति उनका मुखमण्डल सतेज दिख रहा था।

स्वामी ने अर्घ्यदान के लिए त्रिवेणी-जल से भरी अँजुली उठायी। हमने भी उठायी। स्वामी के मुख से स्पष्ट बोल निकले—"ॐ भूर्भुवः स्व: तत्सवितुर्वरेण्यं ऽ...गंगा-यमुना पुनातु माम्।" हम दोनों ने उनका अनुसरण किया। मेरे मन में एक ही विचार उठा—स्वामी का गोकुल में यमुना-तट

पर बीता जीवन कैसा रहा होगा? पता नहीं उद्धव महाराज किस विचार में खो गये थे! इतने में स्वामी ने एक सर्वथा अनपेक्षित बात की–'जय इडादेवी ऽ' का घोष करते हुए वे त्रिवेणी-जल में कूद पड़े। हम दोनों खड़े-खड़े आश्चर्य से उनकी ओर देखते ही रह गये।

झपाके से हाथ मारते हुए द्वारिकाधीश त्रिवेणी की धारा में दूर-दूर चले गये। केवल उनके भृंगवर्ण, कुरल केशपाश का एक बिन्दु हमें दूर दिखाई दे रहा था। उनके भ्राता उद्धव महाराज आँखें मूँदकर बुदबुदा रहे थे–"जायते यस्मात् लीयते यस्मिन्–इति जल:।" मैंने कुतूहल से उनसे पूछा, "यह कौन-सा मन्त्रजाप है महाराज?" उन्होंने हँसते हुए कहा, "अरे पगले, यह कोई मन्त्र नहीं है। मुझे आचार्य सान्दीपनि का स्मरण हुआ। यह मैंने हम तीनों की ओर से उनको प्रणाम किया है।"

संगम में एक घटिका-भर यथेच्छा जलक्रीड़ा करके स्वामी तट पर आ गये। आदरपूर्वक सूखे वस्त्र लेकर मैं उनके सम्मुख गया। एक मनोरंजक विचार से मैं अपने-आप ही मुस्कराया। यदि नित्य की भाँति स्वामी मुकुट सहित राजवेश में होते तो? आश्रमवासी बनकर स्वामी आश्रम में राजवेश ही धारण करें, तो क्या बिगड़ जाएगा! वे तो मुझे जीवन-भर संन्यासी ही लगे हैं।

हम आश्रमवासियों के काषाय वस्त्र धारण करके एक-एक सीढ़ी चढ़ने लगे। इतने में न जाने कहाँ से रंगबिरंगी आँखों से सुशोभित, लम्बे-लम्बे पंखोंवाले अनगिनत मयूरों का एक झुण्ड संगम-तट के विशाल आम्र-वृक्ष पर आ उतरा। कुछ समय अपने सम्मिश्र केकारव से उसने पूरे संगम-घाट को प्रतिध्वनित कर डाला। वे विविध रंगों से समृद्ध पक्षी फिर एकाएक शान्त हो गये। मुझे स्वामी के द्वारिका में छोड़ आये बेलबूटेदार मोरपंखयुक्त भव्य मुकुट का स्मरण हो आया।

संगम-घाट से निकट ही आचार्य घोर-आंगिरस के आश्रम के पूर्वद्वार के आगे मैं गरुड़ध्वज को ले आया। रथ के पृष्ठभाग से उतरते हुए उद्धव महाराज ने मुझे सूचना दी–"दारुक, आश्रम में जाकर आचार्य को हमारे आने का समाचार दो।"

"जो आज्ञा महाराज" कहते हुए मैं आश्रम की ओर चल पड़ा। इसके पहले अवन्ती राज्य में स्वामी के आचार्य सान्दीपनि के अंकपाद आश्रम को भेंट देने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ था। आंगिरस आश्रम की रचना बिलकुल उस आश्रम जैसी ही थी। दो योजन तक आश्रम का विस्तार था। इस आश्रम को भी चारों ओर से बाड़ लगायी गयी थी, परन्तु वह पक्की नहीं, लकड़ी की थी। एक विशेष प्रकार के पौधों से बनायी गयी थी। जनों से भरे इस तीर्थक्षेत्र पर वन्य, हिंस्र पशुओं का कोई भय नहीं था। पौधों की बाड़ प्रयाग में आनेवाले भक्तजनों के लिए सीमारेखा दर्शाती थी। कि वे किसी भी समय–जब चाहें तब–आश्रम में प्रवेश न करें। यहाँ भी बाड़ से सटकर ही पर्णकुटियों की पंक्ति थी। यहाँ भी आश्रम की लम्बी-लम्बी गोशालाएँ थीं। आश्रम के लिए नित्यावश्यक धान्य, वस्त्र, आसन आदि सामग्री के भण्डार थे। सभी पर्णकुटियों के केन्द्रस्थान पर आचार्य घोर-आंगिरस की सबसे ऊँची, प्रशस्त आचार्य-कुटी थी। अंकपाद आश्रम की अपेक्षा, विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करनेवाली एक अलग बात यहाँ थी–आचार्य-कुटी के आगे रात-दिन जलता चौकोना प्रशस्त यज्ञकुण्ड। अखण्ड अग्नि-पूजा ही अंगिरस ऋषिकुल का सैकड़ों वर्षों से चलता आया व्रत था।–वर्षा में भी इस यज्ञकुण्ड के चारों ओर घास की झाँपे लगाकर और छत बनवाकर इसको प्रज्वलित रखा जाता था।

अपने प्रमुख शिष्यों सहित, दोनों हाथ फैलाये हुए आचार्य घोर-आंगिरस मेरे साथ स्वामी और

उद्धव महाराज के स्वागत के लिए आश्रम के पूर्व द्वार के पास आ गए। एक बात झट से मेरे मन में आयी कि सभी शिष्यगणों ने काषाय वस्त्र पहने थे, परन्तु अकेले आचार्य ने दुग्धधवल वस्त्र धारण कर रखा था। केवल आचार्य ने ही श्वेत वस्त्र की पट्टी से होठ ढँक लिये थे–वह पट्टी दो बन्धों से कानों के पीछे बाँध दी थी। उस वस्त्र-पट्टी से आचार्य का मुख और घनी शुभ्र दाढ़ी ढँक गयी थी। उन सबके माथे पर पिछली ओर पाँच-पाँच शिखाएँ–एक बीच में और उसको घेरकर और चार–स्पष्ट दिख रही थीं। ये पाँच शिखाएँ और अग्निकुण्ड अंगिरस आश्रम की प्राचीन विशेषता थी। मानव-देह पंचमहाभूतों के अगम्य मिश्रण से बनता है–इसका प्रतीक जानकर ही आचार्य आंगिरस के सभी शिष्यगण पाँच शिखाएँ धारण किया करते थे। सम्पूर्ण आर्यावर्त में वे अपने अग्निप्रेम और पाँच शिखाओं से पहचाने जाते थे। अग्नि के सान्निध्य में रहने से उनमें से बहुतों का वर्ण झुलसा हुआ-सा, परन्तु गौर और सतेज था। भृगुशिष्यों की भाँति इनकी भी आँखों में निर्भयता की चमकती झलक दिखा करती थी।

आचार्य को सम्मुख खड़ा देखकर दोनों भ्राताओं ने झट से भूमि पर घुटने टेक दिये। दाहिनी ओर से मेरे स्वामी और बायीं ओर से उद्धव महाराज आचार्य के चरणों में नतमस्तक हो गये। आँखें मूँदकर आचार्य कुछ बुदबुदाये, लेकिन कोई उसे ठीक से सुन नहीं पाया। आचार्य ने शीघ्रतापूर्वक दोनों भ्राताओं को हलके से ऊपर उठाकर एक साथ ही हृदय से लगाया। उनके साथ आये शिष्यों में हलकी सी कानाफूसी होने लगी–"कौन होंगे ये–मस्तक पर गोलाकार चिह्न दिख रहे हैं–किसी मुकुटधारी की भाँति? पूर्वायु में ये कहीं–कोई राजकुमार तो नहीं होंगे! मध्यम वय के दिखाई दे रहे हैं..." शिष्यगणों में से किसी ने अब तक अतिथियों को पहचाना नहीं था। आचार्य ने अतिथियों को सीधे आलिंगन में ले लिया, यह देखकर शिष्यगणों की आँखों में उभरा कुतूहल स्पष्ट दिखाई दे रहा था।

"यात्रा में कुछ कष्ट तो नहीं हुआ? बिना पूर्व सूचना के ही तुम अचानक आ गये, मुझे तो विश्वास ही नहीं होता।" आचार्य ने ठनठनाती स्पष्ट आवाज में कहा।

मैंने वहाँ पहुँचते ही उनके दर्शन किये और आशीर्वाद लिया था। देखते ही उन्होंने मुझे पहचाना था। वे जब द्वारिका आये थे, मुझे रथ सहित उनकी सेवा में उपस्थित रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। जैसे ही मैंने स्वामी और उद्धव महाराज के आगमन का समाचार उन्हें दिया, वे तुरन्त ही अपना अध्यापन बीच में ही रोककर शिष्यगणों से भरी कुटी से बाहर निकल आये।

मैंने सुना था–आचार्य घोर-आंगिरस बहुत पहले मथुरा के एक यादवश्रेष्ठ थे। वहाँ उनका विवाह भी निश्चित हो चुका था, परन्तु विवाह होने से पहले ही वे विरक्त होकर सीधे हिमालय चले गये थे। अंगिरस ऋषिकुल के तत्कालीन प्रमुख आचार्य से वे मिले थे। अंगिरस कुल के आद्यपुरुष ने प्राचीनकाल में ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं का अन्तःप्रेरणा से उच्चारण किया था। अथर्ववेद के पाँचों कल्पों में से एक कल्प तो उनके नाम से अंगिरस कल्प–के नाम से ही जाना जाता था। तब से अंगिरस ऋषिकुल ऋषिकुलों में 'वज्रकुल' माना गया था। यद्यपि उनका प्रमुख आश्रम हिमालय में था, किन्तु प्रयाग-आश्रम जैसी समस्त आर्यावर्त में उनकी कई आश्रम-शाखाएँ थीं। स्वामी के विख्यात पूर्वज महाराज ययाति का अंगिरस कुल से सम्पर्क हुआ था। उन्होंने भी कुछ ऋचाएँ कही थीं।

यादवकुल और आचार्य अंगिरस के वज्रकुल की यह भेंट एक प्रदीर्घकाल बाद हो रही थी।

मूल यादववंश के आचार्य घोर-आंगिरस ने अंगिरस ऋषि से दीक्षा ली थी। घोर तपस्या और साधना करके उन्होंने अपने गुरु की कृपा प्राप्त की थी। गुरु ने ही उनकी घोर तपस्या से प्रसन्न होकर उनको घोर-आंगिरस नाम दिया था। अपने पश्चात् आंगिरसों का प्रमुख आचार्य पद दिया था। दूर हिमालय में रहकर अंगिरस कुल का प्रसार करना सम्भव नहीं है, यह ध्यान में आने के बाद आचार्य घोर-आंगिरस ने स्वयं प्रयाग के त्रिवेणी संगम पर आश्रम की स्थापना की थी। अब भी हिमालय स्थित प्रमुख आश्रम की अपेक्षा भव्य आश्रम कैलास पर्वत के समीप स्थापित करने की उनकी तीव्र इच्छा थी।

प्रयाग के घोर-आंगिरस आश्रम में आने के पश्चात् हमारी एक अलग ही दिनचर्या आरम्भ हुई। मेरे स्वामी और उद्धव महाराज गुरुदेव सान्दीपनि के आश्रम में आश्रम-जीवन के अभ्यस्त हुए थे। यद्यपि मेरे लिए यह सब नया था, मुझे इससे भय नहीं लग रहा था। क्योंकि मुझसे यदि कोई भूल हो भी जाए तो पहाड़ जैसे दोनों बन्धु उसे सुधारने में समर्थ थे।

हमारा आश्रम-जीवन आरम्भ हो गया। प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त पर उठना, करतल दर्शन करना, प्रातःकाल के नित्यकर्मों से निवृत्त होकर सूर्यदेव और इडादेवी का स्मरण करना, प्रतिदिन का मन्त्रजाप करना और नियत समय पर शिष्यों को संकेत करनेवाले शंखनाद के पश्चात् काँख में दर्भासन दबाकर ज्ञानग्रहण करने हेतु आचार्य कुटी में चले जाना।

पहले ही दिन हमें यथाविधि दीक्षा देने के बाद आचार्य ने वहाँ बड़ी संख्या में उपस्थित, भिन्न-भिन्न गणराज्यों से आये शिष्यों से हमारा परिचय करवाया। अत्यन्त नपे-तुले शब्दों में उन्होंने कहा, "यह है द्वारिका के महाराज वसुदेव का पुत्र श्रीकृष्ण और यह उसका भ्राता उद्धव है, और यह सखा दारुक।"

उनका परिचय देना समाप्त हुआ भी नहीं था कि शिष्यगणों में प्रचण्ड कोलाहल मच गया–उनके आश्चर्योद्गार स्पष्ट हमारे कानों पर पड़ने लगे–"क्या ऽ श्रीकृष्ण? कंस, शृगाल, कालयवन, नरकासुर, शतधन्वा, शिशुपाल, शाल्व, पौण्ड्रक, दन्तवक्र, विदूरथ जैसे दुर्जनों का अन्तक? तेजयन्त्र सुदर्शन का धारक? आचार्य सान्दीपनि-शिष्य, स्वर्ण द्वारिका का अधिपति? उसका भ्राता–महान साधक उद्धव? उसका सखा दारुक? यहाँ? इतनी दूर–इस आश्रम में? हम कोई स्वप्न तो नहीं देख रहे हैं?" कोलाहल क्षण-क्षण बढ़ता ही चला गया। मुझे तो लगा, अब सभी शिष्य अपने-अपने दर्भासन से उठकर स्वामी के चरणों में लोटने तो नहीं लगेंगे! उद्धव महाराज का मुखचन्द्र आश्चर्य और आनन्द की मिश्रित भावनाओं से खिल उठा। वे चारों ओर देखने लगे। मन-ही-मन स्वामी को संरक्षण देने का निश्चय करके मैं आसन से उठ ही रहा था कि आचार्य ने दोनों हाथ ऊपर उठाकर स्पष्ट एवं दृढ़ शब्दों में आदेश दिया–"शान्ति...शान्ति रखो।" मैं पुन: आसन पर बैठ गया। पर्णकुटी में शान्ति ही शान्ति फैल गयी।

अपने शिष्यगणों की उत्तेजना को शान्त करते हुए आचार्य ने कहा, "शिष्यगण, अब वह द्वारिका का श्रीकृष्ण नहीं है! आज से वह तुम्हारा आश्रमबन्धु हो गया है। तुमने आज तक योग की जो शिक्षा ली है, उससे अलग एक नये ही योग–प्रेमयोग का उसने आर्यावर्त में आरम्भ किया है। तुम्हें इसकी प्रतीति होती ही रहेगी। पहले हम यह जान लें कि वह यहाँ क्यों आया है? तुम्हारी ही भाँति मैं भी यह जानने के लिए उत्सुक हूँ। क्योंकि–क्योंकि तुम्हारी भाँति वह ब्रह्मचर्याश्रम के साधक के रूप में नहीं आया है। वह पुत्र, पति, परिवार-वत्सल पिता, भ्राता आदि अनेक मार्गदर्शक

जैसे विविध सम्बन्धों से बँधा हुआ है। फिर भी मैंने उसको शिष्यत्व की दीक्षा दी है। उसकी ही इच्छा से उसके दोनों सखाओं को भी दी है। इसलिए कि बहुत पहले मैंने उसको वचन दिया था कि समय आने पर मैं उसका गुरुपद स्वीकार करूँगा। मेरी दृष्टि में उसके आगमन के साथ-साथ वह समय भी आया है। तुम सबको साक्षी रखकर मैं उससे पूछता हूँ–"हे श्रीकृष्ण, तुम्हारे प्रिय आचार्य सान्दीपनि तुम्हारे समीप होते हुए भी, तुम इस आयु में, इतनी दूर, मेरे पास क्यों आये? क्या कारण है इसका? गोकुल के वंशी बजैया, गोप-गोपियों का दही-दूध चोरी-चोरी खा जानेवाले, पूर्णिमा के चन्द्र को साक्षी रखकर गोप-गोपियों के साथ मनमुक्त रास रचानेवाले, यमुना-जल में यथेच्छ जलक्रीड़ा करनेवाले तुम–जीवन का सभी प्रकार से उपभोग करनेवाले तुम ऐसे विरक्त कैसे हो गये?"

मैं अभिभूत होकर आचार्य की ओर देखता ही रह गया। यहाँ आने तक मेरे मन में बार-बार जो भी प्रश्न उठे थे, वे आचार्यजी ने स्वयं प्रत्यक्ष रूप में द्वारिकाधीश से पूछे थे। मैंने स्वामी को दूसरों को सम्भ्रम में डालते हुए कई बार देखा था। यादव, कौरव, कामरूपवासी, मागधों के प्रचण्ड जनसमूह को मन्त्रमुग्ध कर देनेवाले उनके प्रभावशाली, प्रगल्भ वक्तव्य सुने थे। इसीलिए मेरी उत्सुकता पराकाष्ठा तक पहुँच गयी कि आचार्य के प्रश्नों के उत्तर में स्वामी क्या कहेंगे!

मेरे स्वामी दर्भासन से उठने लगे। उनकी विनयशीलता अब भी पूर्ववत् थी, परन्तु आचार्य ने हस्त-संकेत से ही उनको रोकते हुए कहा–"बैठे-बैठे ही कहो अच्युत!" अत्यन्त भावपूर्ण, प्रेमल दृष्टि से आचार्य की ओर देखते हुए स्वामी मुस्कराये। उनके गुलाबी होंठों के पीछे छिपा, कुन्द-कलिका जैसा दुहरा दाँत चमक उठा। उनके नीलवर्ण भरे हुए गालों पर वही नटखट भँवर खिल उठा। मुझे प्रतीत हुआ कि स्वामी को हँसते हुए तो मैंने कई बार देखा है। परन्तु यह हास्य कुछ अलग ही–अतुलनीय था। इस अनुभूति से मेरे मन में स्वामी के प्रति आदर और भी बढ़ गया। मैं स्वयं को भूलकर उनकी ओर अपलक देखते हुए, उनके अमृत की मिठास से स्पर्धा करनेवाले श्रीबोल तन्मयता से सुनने लगा। कुटी में उपस्थित सभी शिष्यगणों की यही स्थिति थी। प्रश्न करनेवाले स्वयं आचार्य भी अपनी ज्येष्ठता को भूलकर सुनने लगे। मानो कुछ ही दूरी पर बहती गंगा-यमुना की मन्थर लहरों का मधुर कल-कल नाद सुनाई दे रहा हो, उसी तरह स्वामी के बोल झरने लगे–

"वन्दनीय आचार्य और समस्त आश्रमबन्धुओ, आप सबके समक्ष प्रश्न खड़ा है कि मैं यहाँ क्यों आया हूँ! मेरे प्रिय भ्राता उद्धव और सखा दारुक का भी यह प्रश्न होगा। मुझे जाननेवाले विविध राज्यों के नरेश और उनके प्रजाजनों के मन में भी यही प्रश्न उठेगा। अत: सम्पूर्ण आर्यावर्त के ब्रह्मविद्या के महान अधिकारी आचार्य को साक्षी मानकर मैं नम्र निवेदन करना चाहता हूँ कि..." कहते-कहते स्वामी उठ खड़े हुए और हाथ जोड़कर, तनिक सिर झुकाकर, मुस्कराते हुए वे बोलने लगे–"किसी एक स्थान पर रुकना मेरा स्वभाव नहीं है। मैं गोकुल से मथुरा और मथुरा से द्वारिका आया। द्वारिका से मैंने सम्पूर्ण आर्यावर्त में भ्रमण किया। जो और जितना सम्भव है, मैंने किया। हस्तिनापुर के कुरुकुल के अधिकारी पाण्डवों को मैंने इन्द्रप्रस्थ में स्थापित किया। शब्दश: हजारों-लाखों नर-नारी मुझसे मिले। जितना सम्भव हुआ, मैं उनके प्रेमभाव से समरस हुआ।

"स्वर्णवर्णी, वैभवशाली द्वारिका की अपेक्षा मैंने इन्द्रप्रस्थ को बसाने में अधिक ध्यान दिया।

वहाँ जो भी लोग मुझे मिले, उनमें से मैंने पाँचों पाण्डव-भ्राताओं को चुना, केवल इसलिए नहीं कि वे मेरे फुफेरे भ्राता हैं, बल्कि इसलिए कि वे दुर्लभ गुणों से युक्त विवेकशील पुरुष हैं।

"परन्तु...परन्तु...एक ही बात से मैं उदास हूँ। गरजते सागर की पीठ पर भी स्वर्ण नगरी बसायी जा सकती है। घने अरण्य में भी प्रशस्त राजनगर खड़ा किया जा सकता है। मानव-जीवन में बाधा डालनेवाले अन्याय के केन्द्र निश्चयपूर्वक उखाड़े जा सकते हैं। किन्तु यदि हम अत्यन्त निकटवर्ती मनुष्य के मन को भी नहीं जान सकते, चाहे कितना भी प्रयास करें–हम उसे गढ़ नहीं सकते, तो यह सब करने में क्या अर्थ है? इसी से मैं अत्यन्त उदास हो गया हूँ।

"पराक्रम का सुनहरा अवसर सम्मुख होते हुए भी, युधिष्ठिर जैसे व्यक्ति परिस्थिति की असहनीय आँच से जलें और सत्यप्रिय, सत्शील ज्येष्ठ पाण्डव का मन भटक जाए, तो प्रश्न उठता है–यह क्यों? और कैसे? शून्य में से भी सब-कुछ खड़ा किया जा सकता है। परन्तु मूलत: शून्याकार मन को संस्कारशील कैसे बनाया जाए? इतना ही नहीं, 'मैं निर्माण करता हूँ'–यह अहंकार भी कितना व्यर्थ होता है?

"पाण्डवों के दुर्लभ गुणों को ध्यान में रखते हुए मैंने समस्त आर्यावर्त का एक चित्र अपनी आँखों के सम्मुख खड़ा किया था। द्वारिका की अपेक्षा इन्द्रप्रस्थ की ओर से मेरे मन में आकाश जितनी ऊँची आकांक्षाएँ थीं।...

"युधिष्ठिर जैसा अभिषिक्त, प्रजा के प्रति कर्तव्यों से बँधा राजा द्यूत के व्यसन में भटक सकता है। राज्य और भ्राताओं सहित, सप्तपदी विधि से स्वीकृत अपनी पत्नी को द्यूत में दाँव पर लगा सकता है। हस्तिनापुर राजकुल के वंशज प्रतिशोध की अग्नि से प्रज्वलित होकर रजस्वला कुलस्त्री को घसीटते हुए द्यूतसभा में ले जा सकते हैं। वन्दनीय श्रेष्ठ और ज्येष्ठ पुरुषों के समक्ष उसको विवस्त्र करने की चेष्टा कर सकते हैं। जिस अनन्य सूर्यभक्त को उस समय अपना कवच उतारकर ओढ़ाते हुए उसकी लज्जा-रक्षा करनी चाहिए थी, वही महारथी सबके समक्ष उस कुलस्त्री को निर्वस्त्र करने की भी आज्ञा दे सकता है! आश्चर्य है कि किसी की भी पकड़ में न आनेवाले, मानव-मन के ये कितने रूप हैं।...

"मेरे प्रिय भ्राताओं में से ज्येष्ठ पाण्डव–अभिषिक्त राजा, एक बार हारकर भी फिर से उसी स्थान पर, वही अनर्थकारी द्यूत खेल सकता है! जीवन का सभी श्रेयत् गँवा सकता है। वनवास और अज्ञातवास स्वीकार करता है। मुझ जैसे प्रिय आप्त से मिले बिना ही वन चला जा सकता है–वह भी मेरे प्राणप्रिय सर्वश्रेष्ठ, गुणसम्पन्न सखा अर्जुन सहित। उसके मन में भी यह असमंजस उत्पन्न नहीं हुआ कि अपने ज्येष्ठ भ्राता की मूर्खता का समर्थन कैसे किया जाए? और वह मुझसे मिले बिना ही वन चला जाता है! जिसके कारण यह सब अशोभनीय, अतर्क्य, लज्जाजनक काण्ड घटित हुआ, वह मेरी प्रिय भगिनी–प्रिय सखी–पाण्डवपत्नी द्रौपदी भी मुझसे मिले बिना चली जाती है। जिसमें मैंने सदैव अपनी माता के दर्शन किये हैं, वह मेरी बुआ कुन्तीदेवी–'कृष्ण, जैसा तुम कहोगे वैसा ही होगा। मेरे पुत्र तुम्हारे कहने के अनुसार ही आचरण करेंगे'–कहनेवाली सहनशीला राजस्त्री भी मुझे भूल सकती है!...

"मनुष्य के विविध विभ्रमों से ही यह सब घटित होता है। जब मन सुसंस्कारित होता है, तभी मनुष्य 'मनुष्य' बनता है। जीवन का यह कठोर अनुभव मुझे यहाँ ले आया है। कोई स्वप्न देखना व्यर्थ है–मनुष्य के मन को संस्कारित करना असम्भव है।

"मैंने आचार्य सान्दीपनि के आश्रम में ध्यान-योग, सांख्ययोग, ज्ञानयोग जैसे अनेक योगों की निष्ठा के साथ साधना की है। प्रेमयोग को तो मैंने अपने जीवन का सर्वस्व माना है। आज लगता है कि सब व्यर्थ है। इस विषाद से मेरा मन अत्यन्त खिन्न है। इसलिए सबकी ओर पीठ फेरकर मैं यहाँ आचार्य के श्रीचरणों में आया हूँ–मन की सम्पूर्ण शान्ति के लिए। अब वे ही मुझे यथोचित योग समझाएँ।"

सम्पूर्ण पर्णकुटी में अत्यन्त तीखी-सी नीरवता फैल गयी। अब सबकी आँखें उच्चासन पर आँखें मूँदकर बैठे हुए आचार्य घोर-आंगिरस पर लगी हुई थीं।

"बैठो श्रीकृष्ण, बैठ जाओ।" बन्द आँखों से ही आचार्य से हस्त-संकेत से आज्ञा दी। मेरे स्वामी भी उस आज्ञा को शिरोधार्य मानकर, तनिक सिर झुकाकर, "जो आज्ञा" कहते हुए आसनस्थ हो गये।

क्षण-भर भी विलम्ब न करते हुए आचार्यश्री ने कहा, "इसी को विषाद-योग कहते हैं। जैसे आकाश से परे कभी भी न दिखाई देनेवाला, अनन्त, कृष्णवर्ण अवकाश है, वैसे ही मन का यह विषाद-योग है–जिसकी कभी थाह नहीं पायी जा सकती। विषाद-योग अर्थात् पूरा ब्रह्माण्ड नहीं–वह सम्पूर्ण प्रकाश भी नहीं है। हे श्रीकृष्ण, मुझे पूर्णत: ज्ञात है कि विषाद-योग का अभिप्राय तुम भलीभाँति जानते हो। स्वयं तुम तो उससे परे हो। पर मैं बताऊँगा कि, तुम यहाँ क्यों आये हो!"

शिष्यगणों सहित हमने भी सुन्न, चकित होकर अपने कान खड़े किये। "अपने आसपास के सभी लोगों को और आनेवाले युग की पीढ़ियों को स्वयं अपने दृष्टान्त से यह बताने के लिए तुम यहाँ आये हो कि मन का विषाद क्या होता है! रात्रि का अनुभव करने के पश्चात् ही दिन का मूल्य समझ में आता है। अँधेरे का अनुभव करने के पश्चात् प्रकाश का मूल्य ज्ञात होता है। विषाद क्या होता है, विभ्रम क्या होता है, सब-कुछ तुम भलीभाँति जानते हो। हे मधुसूदन, स्वयं पितामह भीष्म ने तुम्हें 'वासुदेव' कहा है। जीवात्मा जिसकी खोज में रहती है, वह प्रकाश स्वयं तुम ही हो, भगवान वासुदेव।" उसके बाद आचार्य 'अर्पणमस्तु' बुदबुदाते हुए ध्यानमग्न हो गये–हमसे अलिप्त हो गये। आंगिरस आश्रम के निवास का हमारा पहला दिन समाप्त हो गया था।

पहले ही दिन मेरे स्वामी ने प्रयाग-क्षेत्र के घोर-आंगिरस आश्रम को अपना-सा कर लिया था। आचार्य और स्वामी ने एक-दूसरे को पूर्णत: जान लिया है, यह हमें और सभी शिष्यों को ज्ञात हो चुका था। उन दोनों के बीच कुछ बोलने का साहस केवल अकेले उद्धव महाराज में था। कदाचित् ही कोई आश्रमबन्धु प्रश्न पूछने का साहस करता था। कभी-कभी मैं भी मुँह खोलता था। उद्धव महाराज के अतिरिक्त, इन दिनों हम सभी ने केवल अपने कान, मन और बुद्धि को पूर्णत: जाग्रत रखा था।

आचार्य, स्वामी और उद्धव महाराज की जीवन की थाह लेनेवाली चर्चा सुनना एक अद्भुत अनुभूति और परमानन्द की बात थी। इस दृष्टि से हम अत्यन्त भाग्यशाली थे।

हम तीनों एक ही पर्णकुटी में रहने लगे। प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त में सबसे पहले स्वामी ही उठते थे। उनके प्रात:कालीन नित्यकर्मों की आहट से हम जाग जाते थे। लेकिन पहले ही दिन प्रात:काल सबसे पहले जाग उठे स्वामी ने हिला-हिलाकर हमको जगा दिया। एक अपरिचित सूक्ष्म-सी ध्वनि सुनाई दे रही थी। स्वामी ने हम दोनों से कहा, "ऊधो, दारुक,–सुन रहे हो तुम!" हम ध्यान देकर सुनने लगे। मोटे-से वस्त्र को चीरते समय होनेवाली ध्वनि के समान थी वह

ध्वनि। परन्तु उस ध्वनि को हम पहचान नहीं पा रहे थे। हम एकाग्र होकर उसे पहचानने की चेष्टा करने लगे। हमारा सम्भ्रम देखकर स्वामी के मुख पर नटखट हँसी झलक उठी। उन्होंने कहा, "मैं समझ सकता हूँ, गरुड़ध्वज के चक्रों की घरघराहट और उसके अश्वों की हिनहिनाहट के अतिरिक्त इस दारुक की समझ में कुछ भी नहीं आएगा! परन्तु ऊधो, क्या यह स्वर तुम्हारे लिए अपरिचित है?"

उद्धव महाराज हड़बड़ा गये। किसी को भी–विशेषत: अपने निकटवर्ती आप्तों को हड़बड़ाते हुए देखना, तो मेरे स्वामी का प्रिय खेल था।

"ओ बावले, यह तो हमारे आचार्य सान्दीपनि के अंकपाद आश्रम में, आश्रम-जीवन के पहले दिन के प्रातःकाल सुनी वनकाक की काँव-काँव है! ध्यान देकर सुनो। पल-भर में ही दूसरे वनकाक पक्षी की काँव-काँव उसका अनुसरण करेगी। धीरे-धीरे ये ध्वनियाँ बढ़ती जाएँगी। पहले काक पक्षियों की सृष्टि जागेगी। फिर वे अपनी काँव-काँव से समस्त जीव-सृष्टि को जगाएँगे।"

आश्चर्यचकित होकर अपने सभी अर्थों में ज्येष्ठ भ्राता की ओर अत्यन्त आदर से देखते हुए उद्धव महाराज ने कहा, "भैया, भिन्न-भिन्न अभियानों की यात्राओं में, स्वागत और विदा के समय वाद्यों के घोष के, अलग-अलग रणक्षेत्रों पर भाँति-भाँति के शस्त्रों के–कितने ही गगनस्पर्शी स्वर सुने हैं तुमने! परन्तु काक पक्षी की सामान्य काँय-काँय को भी तुमने ध्यान में रखा! सचमुच कभी-कभी मैं समझ नहीं पाता कि वास्तव में तुम कौन हो!"

दो भ्राताओं का वह प्रेमल सम्भाषण सुनकर मैं खिंचा-सा आगे बढ़ा और मौन रहकर ही मैंने उन दोनों की चरणधूलि मस्तक पर धारण की।

प्रयाग आश्रम में हमारे दिन अधिकाधिक संस्मरणीय होने लगे। हम तीनों को प्रतिदिन हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ और विशेषत: द्वारिका का स्मरण हो आता था। परन्तु निश्चयपूर्वक हममें से कोई भी बातचीत में इसका उल्लेख नहीं किया करता था। आश्रम संगम से थोड़ी दूर गंगा-तट पर ही था। दूसरी ओर से आकर यमुना संगम में गंगा से मिल गयी थी। वैसे वह कुछ दूर ही थी। फिर भी स्नान के लिए दोनों भ्राताओं के पाँव अपने-आप यमुना की ओर चल पड़ते थे। मैं भी उनके पीछे-पीछे यमुना पर जाता था। एक बार धैर्य के साथ मैंने स्वामी से कहा, "स्वामी, कभी-कभी गंगा को भी अपने सुदर्शन का अवसर प्रदान करें तो...?" मेरी ओर देखकर मुस्कराते हुए द्वारिकाधीश ने उत्तर दिया।–"दारुक, तुम्हारे मुख से ही तुम्हारी यह इच्छा प्रकट हो, इसलिए मैं उद्धव के साथ स्नान के लिए जाता था। तुम्हारे पूर्वज गंगा-तट के वासी थे। कभी-न-कभी तुम स्नान के लिए गंगा पर जाना चाहोगे, यह मैं जानता था। कल से हम स्नान के लिए बिना भूले त्रिवेणी संगम पर जाएँगे। वहाँ गंगा या यमुना का प्रश्न ही नहीं उठेगा। प्रयास करोगे तो तुम्हें वहाँ की अदृश्य सरस्वती के भी दर्शन होंगे।"

अब हमारे मस्तक की पाँचों शिखाएँ लम्बी-लम्बी हो गयी थीं। प्रत्येक शिखा के अग्रभाग में पक्की गाँठें लगायी जाती थीं। पहले ही दिन आश्रम-प्रमुख के कहने से पहले ही स्वामी ने अपने ही हाथों से, कुशलतापूर्वक शिखाओं में गाँठें लगायी थीं। उनकी देखादेखी उद्धव महाराज भी शीघ्र ही अपनी शिखाओं में गाँठें लगाना सीख गये थे। परन्तु गरुड़ध्वज के चारों अश्वों की वल्गाओं को कुशलता से सँभालनेवाला मैं–शिखाओं में केवल गाँठें लगाते हुए हड़बड़ा जाता था। प्रयास करने पर भी मैं सभी शिखाओं में समान आकार की, समान स्थानों पर गाँठें लगाने में सफल

नहीं हो पा रहा था। पहले दिन तो मुझे असमंजस में पड़ा देखकर स्वामी ही मेरी सहायता करने को चले आये। मेरी शिखाओं में उन्होंने ही हलके से गाँठें लगायीं। एक बार किसी को अपनाने के पश्चात् संकट के समय उसकी सहायता के लिए दौड़े चले आना उनका सहज स्वभाव था।

हम तीनों ने मुण्डन करवाया था। मस्तक के पिछले अंश में गोलाकार में चारों ओर एक-एक और उनके बीच में एक लम्बी शिखा और पाँचों शिखाओं के अग्र में लगायी गाँठें–इस प्रकार हमारे मस्तक सुशोभित थे। पहले दिन तो हम तीनों एक-दूसरे की ओर देखकर खिलखिलाकर हँस पड़े थे। हमारा कोलाहल सुनकर कुटी में आये आश्रम-प्रमुख को देखकर हम चुप हो गये थे। जो भी हो, अब हम आचार्य घोर-आंगिरस की घोर परीक्षा से बँधे दीक्षित शिष्य थे। आगे चलकर इन पंच शिखाओं से हम भलीभाँति अभ्यस्त हो गये।

आश्रमवासी सभी शिष्यगणों से हमारा दृढ़ परिचय हो गया। हमारे यहाँ के निवास में विविधरंगी आँखोंवाले मोरपंख फूटने लगे। मैं तो जीवन में पहले कभी न सुने शब्दों और चर्चाओं को सुनकर धन्य हो गया।

प्रमुख आचार्यकुटी का प्रवचन-कक्ष अलग-अलग देशों से आये शिष्यगणों से खचाखच भर जाता था। तत्पश्चात् अपने दोनों ओर दो आश्रम-प्रमुखों को लिये अन्तःकक्ष से आचार्य प्रवेश किया करते थे। खुसुर-फुसुर करनेवाले सभी शिष्य तुरन्त चुप हो जाते थे। वे झट से उठकर आदर से आचार्य को प्रणाम करते थे। जहाँ से सम्पूर्ण प्रवचन-कक्ष पर दृष्टि डाली जा सके, ऐसे स्थान पर, दर्भ के उच्चासन पर आचार्य खड़े हो जाते। और दोनों आश्रम-प्रमुख भी झट से उनकी दोनों ओर खड़े हो जाते। आश्रम के शंख विभाग का प्रमुख, प्रार्थना का संकेत करनेवाला दीर्घ शंखनाद करता था। तभी सभी शिष्य हाथ जोड़कर आँखें मूँद लेते थे। शंख विभाग-प्रमुख भी हाथ जोड़ते। आचार्य और आश्रम-प्रमुख भी हाथ जोड़कर आँखें मूँद लेते थे। फिर सभी का सामूहिक ईश-स्वतन आरम्भ हो जाता था–

"ॐ ईशावास्यमिदं सर्वम्
यत्किंचिज्जगत्यान् जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः।
मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥"

इस लय में तनिक अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् एक स्वर में गुरुवन्दना का आरम्भ हुआ करता था–

"ॐ गरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥"

हम सबकी मुँदी हुई जाग्रत आँखों के समक्ष हमारे महान ब्रह्मज्ञानी आचार्य घोर-आंगिरस की मूर्ति खड़ी हो जाती थी। सम्भवतः स्वयं आचार्य की बन्द आँखों के सम्मुख उनके अंगिरस कुल परम्परा के गुरु की मूर्ति खड़ी होती होगी।

आचार्य के आसनस्थ होने के पश्चात् सभी शिष्य अपने-अपने दर्भासन पर बैठा करते थे। यहाँ भी आचार्य ने हमको शिष्यों के अग्रस्थान पर बैठने को कहा था। सभी शिष्यों पर आचार्य अपनी कृपाशीर्वाद भरी दृष्टि घुमाया करते। फिर कुछ क्षण आँखें मूँद लेते।

प्रवचन का विषय मन-ही-मन निश्चित करके ही आचार्य आँखें खोल देते। प्रवचन का विषय सुनने के लिए शिष्य भी उत्सुक हुए होते थे। आचार्य पुन: एक बार चारों ओर दृष्टि घुमाकर हँसते हुए प्रवचन का विषय स्पष्ट कर देते–'सांख्ययोग'। कुछ शिष्य उसी शब्द का पुनरुच्चारण करते हुए एक-दूसरे की ओर देखते और फिर कान खड़े करके प्रवचन में तल्लीन हो जाते।

आचार्यवाणी सुहृद् शिष्यों को सम्बोधित करती हुई गंगा की धारा की भाँति प्रवाहित होने लगती और हमारी श्रवण-समाधि लग जाती। "जीवन के सुख-दुःख देह और मन से सम्बद्ध होते हैं–आत्मा उससे परे है। जिसको आत्मा के अस्तित्व का भान होता है वह कभी भी किसी बात का दुःख नहीं करता–विषाद नहीं करता। वैसे ही देह अथवा मन के आनन्द से वह आनन्दित भी नहीं होता। वह केवल आत्मानन्द में ही तल्लीन रहता है।"

सभी शिष्य अब सचेत होकर सुनने लगे। किसी मुलायम वस्त्र का थान जिस तरह हलके से खुलता जाता है, उसी तरह गुरुवाणी एक-एक जीवन-सत्य को खोलने लगी। चंचल बुद्धि का वर्णन करते हुए आचार्य ने अचल बुद्धि का महत्त्व और आवश्यकता समझायी, "पहले तो आत्मानुभूति होना कठिन होता है। और यह अनुभूति होने के पश्चात् उसे जान लेना तो और भी कठिन होता है। सुख-दुःख समान माननेवाला स्थितप्रज्ञ ही उसे जान सकता है।" आचार्य ने 'स्थितप्रज्ञ' शब्द का केवल प्रयोग ही नहीं किया, बल्कि प्रतिदिन के व्यवहार के दृष्टान्तों से उसके लक्षणों का विवरण भी दिया।

सांख्ययोग इतना महत्त्वपूर्ण था कि आचार्य कई दिन इसी विषय की व्याख्या करते रहे। शिष्यों ने बीच-बीच में प्रश्न पूछकर अपनी शंकाओं का समाधान भी करा लिया। कर्मयोग की व्याख्या करते हुए आचार्य की वाणी वास्तव में तन्मयता के रंग में रँग गयी। कर्म क्या होता है? उसका रूप क्या होता है? कर्म से जीव कभी मुक्त नहीं हो सकता–निद्रा में भी, यह सब उन्होंने सुचारु रूप से स्पष्ट किया।

मुझे तीव्रता से प्रतीत हुआ कि कर्मयोग पर चर्चा करते समय स्वामी ने आचार्यश्री से अनेक प्रश्न पूछे। उद्धव महाराज ने भी इस चर्चा में बार-बार भाग लिया। तीनों की चर्चाओं में कर्म, अकर्म, विकर्म आदि शब्दों का, उनकी परिभाषाओं का अत्यन्त सूक्ष्मता से विचार किया गया। प्रबल प्रकृति मनुष्य से विविध कर्म करवाती है। इस प्रकृति को इन्द्रियनिग्रह द्वारा अधीन रखना पड़ता है। मनुष्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध पाप करने को काम विवश करता है। संयम से उसको वश में रखा जाए तो वही काम-देव बनता है। सबसे अधिक रँग गयी कर्मयोग की चर्चा का सारांश था–निष्काम कर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। उससे भी अधिक, स्वधर्म की रक्षा के लिए निष्काम कर्म करते हुए मृत्यु भी आ जाए तो सोने में सुगन्ध के समान है।

स्वधर्म के लिए निष्काम कर्म करनेवाले के लोक-संग्रह में अपने-आप वृद्धि हो जाती है। वह अपने जीवनकाल में ही विभूति बन जाता है। और भावी पीढ़ियों के लिए भविष्यकाल में वह युगन्धर मार्गदर्शक के रूप में एक दीपस्तम्भ के समान प्रमाणित हो जाता है। जिस दिन कर्मयोग की चर्चा की समाप्ति हुई, आचार्य ने दीपस्तम्भ के निर्देश के सम्बन्ध में स्वामी से पूछा, "श्रीकृष्ण, तुम्हारा क्या विचार है इस विषय में?" स्वामी ने इस प्रश्न का केवल "सम्भव है।" इतना उत्तर दिया।

आचार्य का प्रबोधन अब और भी गहरा होता चला गया और दूसरी ओर हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ

और द्वारिका के सम्बन्ध में हमारा स्मरण अब धुँधला होने लगा। आचार्य का उपदेश ही इसका कारण था। हमारे हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ और द्वारिका अब इस आश्रम में ही समा गये थे। हिमालय के ज्ञानी ऋषिगण जब इस तीर्थक्षेत्र प्रयाग के आश्रम में आते, तब आचार्यश्री उनके अधिकार का, उनकी ज्ञान-साधना का, और उनके गुरुकुल का सविस्तार परिचय देते थे। अतिथि ऋषिवर को सम्मान देने के लिए आचार्य उनसे ज्ञान-विज्ञान-योग, संन्यास-योग, ध्यान-योग जैसे विविध एवं महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन करने का अनुरोध करते। स्वयं लघुता स्वीकार करके उनसे छोटे-मोटे प्रश्न पूछते। वे पूछते, "संन्यास श्रेष्ठ है अथवा कर्मयोग?" उनकी चर्चा में उद्धव महाराज भी भाग लेते थे। उनका दृढ़ प्रतिपादन होता था कि संन्यास-योग ही श्रेष्ठ है। जब अतिथि उनके कथन का अनुमोदन करते थे तब आचार्य जानबूझकर कर्मयोग को श्रेष्ठ बताकर चर्चा में चैतन्य का रंग भर देते थे। परन्तु इससे शिष्यगण सम्भ्रमित हो जाते थे। वे निर्णय नहीं कर पाते थे कि संन्यासयोग श्रेष्ठ है अथवा कर्मयोग! नटखटपन से मुस्कराते हुए स्वामी इस चर्चा को केवल सुनते रहते। अन्तत: आचार्य घोर-आंगिरस ही उनसे पूछते, "श्रीकृष्ण, तुम कुछ कहते नहीं? तुम किसे श्रेष्ठ मानते हो?" स्वामी मुस्कराते हुए ही उत्तर देते, "संन्यास का केवल संकल्प करने से ही कर्मयोगी संन्यासी बन जाता है। और बिना कर्म के संन्यास भी प्रमाणित नहीं होता। अत: तत्त्वत: दोनों एक ही हैं।"

यह उत्तर सुनकर घटिका-भर चली चर्चा उचित निर्णय से समाप्त हुई। शिष्यगणों को इसका सन्तोष मिलता था। आचार्य घोर-आंगिरस भी उसमें सहभागी होते थे।

ईंधन के लिए लकड़ी इकट्ठा करने और समिधा तथा फल लाने जैसे नित्यकर्मों के लिए स्वामी, उद्धव महाराज और मैं मिलकर ही अरण्य में जाते थे। द्वारिका की सुधर्मा राजसभा में स्वर्णिम आसन पर बैठनेवाले मेरे स्वामी कन्धे पर रखा लकड़ियों का गट्ठर भूमि पर उतारते हुए, स्वेद से भीगा भाल पोंछते, पाषाण-खण्ड पर बैठ जाते। पीताम्बर के बदले उनकी देह पर काषाय वस्त्र होता था। कभी-कभी मुझे अपनी प्रिय पत्नी हयमती, पुत्रों और द्वारिका के अपने घर का तीव्र स्मरण हो आता था। परन्तु मैं कुछ कहता नहीं था। क्योंकि स्वयं स्वामी अपनी आठ रानियों, अस्सी पुत्रों, और लाड़ली कन्या चारु में से किसी का भी समरण नहीं किया करते थे। उद्धव महाराज की तो बात ही अलग थी। वे अविवाहित थे। परन्तु अपने भैया इस सम्बन्ध में कोई बात नहीं करते, इसलिए वे भी अपने माता-पिता अथवा भ्राता का स्मरण नहीं किया करते थे। जिस विषय का वे उच्चारण भी नहीं करते उसका उल्लेख मैं कैसे करूँ, इस विचार से मैं चुप रहा करता था। द्वारिका में अश्वों के शरीर-मर्दन के लिए आवश्यक कँटीली बेलें और रथचक्र बनाने के लिए आवश्यक कीकर-वृक्ष की टिकाऊ लकड़ी लाने के लिए मैं खाड़ी पार करके आनर्त के अरण्य में जाता था। अत: यहाँ जब भी हम अरण्य में जाते थे, मुझे रथ और अश्वों का स्मरण हो आता था। हम जब गुरुदेव से दीक्षा लेकर आश्रमवासी हो गये, तभी हमारा गरुड़ध्वज रथ और चारों श्वेत अश्व आश्रम के भण्डार में जमा किये गये थे।

पाषाण-खण्ड पर बैठे-बैठे हम पके हुए जामुन, आम्रफल और बिटिक-बम्बुल जैसे कन्दों का आस्वाद लिया करते थे। विश्राम हेतु पाषाण-खण्ड पर बैठे-बिठाये हम अलग-अलग योग, हिमालय और उसके भिन्न-भिन्न तीर्थक्षेत्रों पर चर्चा करते थे।

हमें उपदेश देते हुए स्वयं आचार्य ही तल्लीन होने लगे। ध्यान-योग के महत्त्वपूर्ण विषय पर

बोलते हुए उन्होंने एक अत्यन्त सुन्दर विचार व्यक्त किया–"मनुष्य को अपना उद्धार स्वयं ही करना चाहिए। स्वयं को कभी हताश नहीं होने देना चाहिए। क्योंकि सच्चे अर्थ में हम ही अपने बन्धु अथवा शत्रु होते हैं।" विभूति-योग को स्पष्ट करते हुए भी वे तन्मय हो गये। उन्होंने अत्यन्त सरल शब्दों में कहा, "अपने आसपास के जग को जानना मनुष्य के लिए जितना आवश्यक है, उससे अधिक आवश्यक है उसका 'स्वयं' को जान लेना। जब मनुष्य अपने-आप को जान पाता है, तब जीवन सरल, सुलभ हो जाता है।" बोलते-बोलते बीच में ही आचार्य ने मेरे स्वामी से पूछा, "श्रीकृष्ण, क्या तुम्हें ज्ञात हुआ है कि तुम कौन हो?"

क्षण का भी विलम्ब न करते, मुस्कराते हुए स्वामी ने कहा–"वासुदे ऽ व! सभी तो ऐसा कहते हैं और मानते हैं–इसलिए!" मेरे नटखट स्वामी आचार्य के भी चंगुल में फँसे बिना, अलिप्त ही रह गये।

हमारे आश्रम-जीवन का रंग प्रतिदिन निखरने लगा। कब गुरुदेव के प्रवचन-समय का सूचक शंखनाद सुनाई दे और कब हम उनकी अमृतवाणी सुनने के लिए गुरुकुटी की ओर चल पड़ें, सभी शिष्य इसके लिए कितने अधीर हो जाते थे! हमें यहाँ आये अब एक मास हो गया था। आचार्य का ब्रह्मविद्या प्रबोधन दिन-प्रतिदिन विस्तृत और अधिकाधिक गहरा होता जा रहा था। भक्तियोग का विवरण करते हुए आचार्य अपने-आप को भूल जाते थे। उनके मुख से अमृत झरने लगता–"परमेश्वर के निस्सीम भक्त के मन में प्रश्न उठता है कि सगुण उपासना श्रेष्ठ है अथवा निर्गुण? दोनों ही श्रेष्ठ हैं, यही इसका उत्तर है। निर्गुण उपासना सुलभता से मनुष्य को ईश्वर के समीप ले जाती है। निष्काम बुद्धि से की गयी सगुण उपासना भी निर्गुण उपासना की ऊँचाई तक पहुँच जाती है। वह भी मनुष्य को ईश्वर के समीप ले जाती है।" अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए आचार्य को दोपहर के भोजन का भी स्मरण नहीं रहता था। और गुरुदेव से पाये अमूल्य विचारधन से शिष्यगणों की भूख मिट गयी होती थी।

हमें आश्रम में आये हुए अब डेढ़ मास बीत गया था। हमारे मस्तक की पंच शिखाएँ अब लम्बी-लम्बी हो गयी थीं। और उनके मूल में स्थित हमारी बुद्धि में भी वृद्धि हो गयी थी। हम आश्रम से पूर्णत: एकरूप हो गये थे। पूरा शिष्यगण, ब्रह्मविद्या की सुर सरिता में हमें स्नान करानेवाले वन्दनीय आचार्य, उनके मार्गदर्शन में विविध विषयों के सभी अंगों का ज्ञान-दान देनेवाले उप-आचार्य, आश्रम के विविध भण्डारों के प्रमुख, गायें, अश्व, श्वान आदि पशुओं का मिलकर मानो एक परिवार ही बन गया था।

पुरुषोत्तम-योग पर भाष्य करते हुए आचार्य ने कहा, "केवल अपने घर-परिवार के सदस्यों के साथ प्रतिदिन का व्यवहार करना ही संसार का अर्थ नहीं है। संसार शब्द का अर्थ है सम्पूर्ण जगत्–समस्त दृश्य सृष्टि। जैसे संसार वृक्ष होता है वैसे ही ब्रह्मवृक्ष भी होता है। परन्तु उसकी शाखाएँ नीचे और जड़ें ऊपर होती हैं। अत: वह समझ में नहीं आता है। जो उसे जान पाया, वही पुरुषोत्तम है। अपनी पत्नी-पुत्र, परिवार से परे जो अपना जीवन-कार्य पूरा करने में सफल हो गया, वही पुरुषोत्तम है।" आचार्य ने हँसते-हँसते उद्धव महाराज से पूछा, "क्यों उद्धव, तुमने देखा है ऐसे पुरुषोत्तम को?" उद्धव महाराज ने झट से उत्तर दिया, "जी–आचार्य। परन्तु उसका नाम निर्देश मैं कर नहीं सकता। आपका ही कहना है, सत्य को केवल जाना जाता है, अनुभव किया जाता है, उस पर भाष्य अथवा चर्चा नहीं की जाती।" उद्धव महाराज भी आचार्य के चंगुल में नहीं

फँसे।

ज्ञान और विज्ञान-योग पर भाष्य करते हुए आचार्य घोर-आंगिरस का दाढ़ीधारी मुखमण्डल दमक उठा। आँखों से ही उसका तेज प्रकट हो रहा था। आचार्य समझाने लगे, "ज्ञान का अर्थ है जानना, अज्ञान का अर्थ है ज्ञान का अभाव और विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान–किसी विषय को विशेष रूप से जान लेना। तुम यहाँ ब्रह्मविद्या का जो ज्ञान ग्रहण कर रहे हो, वह किस प्रकार का है?" आचार्य ने शिष्यों से पूछा। लगभग सभी शिष्यों ने उत्तर दिया, "वह विज्ञान है गुरुदेव!" मेरा भी वही उत्तर था।

अन्त में आचार्य ने मेरे स्वामी की ओर देखते हुए पूछा, "श्रीकृष्ण, यहाँ जो ज्ञान तुमने ग्रहण किया, वह केवल ज्ञान है कि विज्ञान? क्या मत है तुम्हारा?" अब तक अपने नाम के अनुकूल सभी को अपनी ओर आकर्षित करके, सबके प्रिय बने मेरे स्वामी मुस्कराते हुए बोले, "इसका अचूक उत्तर मेरा प्रिय सखा–भ्राता उद्धव ही देगा, गुरुदेव। वह जो उत्तर देगा वही मेरा भी उत्तर है, आचार्य।" बुद्धि के किसी भी चतुर चक्रव्यूह से वे चकित कर देनेवाली चतुराई से सदा ही छूटते आये थे। उनके इस अतुलनीय बुद्धि-वैभव के कारण ही मैं उनके चरणों का दास हो गया था।

अपने प्रिय भैया की आज्ञा को शिरोधार्य करके उद्धव महाराज ने नम्र भाव से आचार्य के प्रश्न का उत्तर दिया, "पिछले दो मास आपने हम शिष्यों को जो ज्ञान दिया है, वह केवल ज्ञान नहीं, विशेष ज्ञान अर्थात् विज्ञान भी नहीं है, वह है प्रज्ञान!!"

अपने उत्तर को और स्पष्ट करते हुए स्वामी ने कहा, "प्रज्ञान का अभिप्राय है, विशेष से भी अधिक विशेष ज्ञान। गहराई से भी बढ़कर गहरा ज्ञान। जिसकी किसी से भी तुलना नहीं हो सकती, ऐसा अतुलनीय विशुद्ध ज्ञान!

"ब्रह्मविद्या का जो प्रज्ञान आपने अँजुली भर-भरकर हमें दिया है, उससे हम धन्य हो गये हैं। एक बार मैंने आपसे, अपना शिष्यत्व प्रदान करने की प्रार्थना की थी,–वह आपने कृपापूर्वक स्वीकार की और शिष्य बना लिया। अमूल्य ब्रह्मविद्या की दीक्षा भी दी। अब एक ही इच्छा शेष है। प्रार्थना है कि मुझे मेरे प्रिय सखा उद्धव और दारुक सहित अपने चरणों में आश्रय दीजिए, गुरुदेव। अब और कहीं भी जाने की इच्छा नहीं है।"

उस दिन सारा आश्रम जैसे गद्गद हो उठा। आचार्य घोर-आंगिरस भी पुलकित हो उठे। "सोचेंगे" इतना ही कहकर वे अपने प्रिय शिष्य को देखते ही रह गये। हम सभी उस दिन एक अलग ही मनःस्थिति में गुरुकुटी से बाहर निकले। स्वामी ने निश्चयपूर्वक जीवन-भार आश्रम में ही वास्तव्य करने का विचार स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया था। हम उसी विचार में डूब गये। निश्चय ही आचार्य भविष्यकाल में किसी समय आश्रम के सूत्र मेरे स्वामी को सौंप, हिमालय चले जाएँगे। आचार्य के रूप में एक यादव ब्रह्मविद्या का महान अधिकारी बन ही चुका था। अब दूसरे यादव–मेरे स्वामी–आठ रानियों, पुत्र-पुत्रियों, लाखों सैनिकों और सेवकों की पकड़ से निकलकर संन्यासी होनेवाले थे। उनके ज्येष्ठ आप्त–आचार्य ने घोर-आंगिरस पद प्राप्त किया था। मेरे स्वामी अपने बुद्धिबल से ही, बड़ी सरलता से 'अतिघोर-आंगिरस' पद प्राप्त करनेवाले थे। हम दोनों–उद्धव महाराज और मैं उनके चरणचिह्नों पर चलते हुए परछाई की भाँति उनके साथ रहनेवाले थे। सम्भव था कि आगे चलकर हमारे उद्धव महाराज ही स्वामी के उत्तराधिकारी बन जाते और मुझे उन दोनों की सेवा करने का अवसर प्राप्त हो जाता। परन्तु इस समय एक बार भी क्यों न हो, द्वारिका होकर

हयमती और पुत्रों से मिल लेना चाहिए। पूरा दिन मैं इन्हीं विचारों मे खोया-डूबा रहा।

हमें आश्रमवासी हुए अब तिरसठ दिन पूर्ण हो गये थे। आज चौंसठवाँ दिन था। मैंने स्वामी और उद्धव महाराज की आपसी बातचीत में कई बार सुना था कि ये दोनों भ्राता अवन्ती के अरण्य में आचार्य सान्दीपनि के अंकपाद आश्रम में इतने ही दिन–अर्थात् चौंसठ दिन ही रहे थे। मेरे स्वामी को कई लोग 'चक्रवर्ती' कहा करते थे। सच्चे अर्थों में वे चक्रवर्ती ही थे। एक ही स्थान से चिपके रहना उनका जीवन-धर्म नहीं था। निःसन्देह वे जलपुरुष ही थे–नित्य प्रवाही।

यदि वे आश्रम में रहे तो आश्रम से चिपके नहीं रहेंगे। स्थान-स्थान पर आश्रम शाखाओं की स्थापना करते हुए समस्त आर्यावर्त में भ्रमण करते रहेंगे। उनकी 'चक्रवर्ती' उपाधि कभी उनसे अलग नहीं हो पाएगी। वे आगे भी चक्रवर्ती ही रहेंगे, परन्तु वह चक्र होगा आकाश से तोड़ लाये तारिकाओं जैसे विचारों का–समुद्र-तल से निकाले गये मोतियों जैसे विचारों का।

स्वामी का भविष्यकालीन आश्रम-जीवन कैसा होगा, मैं इस विचार में मग्न हो गया। हमारे प्रयाग-क्षेत्र के गंगातटीय आश्रम पर शान्त सन्ध्या उतर आयी। विशालकाय चीत्कार करते हुए गरुड़ पक्षी पश्चिम दिशा के मैनाक पर्वत की ओर लौटने लगे। मैं अभी-अभी अस्त होते सूर्य को गंगा-जल से सन्ध्या समय का अर्घ्य देकर स्वामी के साथ अपनी कुटी में लौट आया था। हम अपने-अपने दर्भासन बिछाकर सन्ध्या-वन्दन करने के लिए तैयार हो रहे थे। तभी आश्रम के पश्चिम द्वार में मचा कोलाहल सुनाई देने लगा। अस्पष्ट-से शब्द सुनाई दे रहे थे–"क्या? श्रीकृष्णदेव के भ्राता? गदावीर बलराम?...और द्वारिका के अमात्य?" यह सुनते ही मैं तड़ाक् से आसन से उठ खड़ा हुआ। मैं आश्रम के पश्चिमी द्वार की ओर दौड़ता ही चला गया। उस द्वार में खड़ा था साक्षात् बन्धुप्रेम! रथ से उतरे, बहुमूल्य राजवेश धारण किये, महाकाय युवराज बलराम अमात्य विपृथु के साथ वहाँ खड़े थे। उनके कन्धे पर धारण की हुई विशाल गदा सन्ध्या समय की सूर्य-किरणों से चमक रही थी। मुझे देखते ही वे जोर से चिल्लाये–"दारुक, यदि तुम पाताल में छिप जाते, तब भी ढूँढ ही लेता तुम्हें द्वारिका का यह युवराज! कहाँ है मेरा वह छोटा? कन्हैया?" ग्रीवा पीछे झुकाते हुए वे ठहाका मारकर हँस पड़े। उनके कन्धे पर रखी गदा ऊपर-नीचे दोलित हो गयी। अन्ततः अपने दोनों भ्राताओं को ढूँढ़ ही लिया उन्होंने, इस असीम आनन्द को वे रोक नहीं पाये। उनका दर्शन सदैव ही उत्साहवर्धक रहता था। आज तो मुझे विशेष रूप से वह प्रतीत हुआ। आगे आकर मैंने उनकी चरणधूलि माथे से लगायी। प्रिय भ्राता को देखने के लिए उतावले हुए गदावीर बलराम ने मुझे ही भ्राता मानकर दृढ़ आलिंगन में ले लिया। और कहा, "चल, ले चल मुझे छोटे के पास। उसको द्वारिका ले जाने के लिए ही आया हूँ मैं।...चलिए अमात्य!"

मैं युवराज और अमात्य को लेकर अपनी कुटी में आया। कुटी में आते ही स्वामी और उद्धव महाराज अपने भ्राता से गले मिल गये। लम्बी यात्रा से श्रान्त हुए युवराज बलराम और अमात्य के आगे मैंने सुबह ही अरण्य से लाये गये फल रख दिये। उनका स्वाद लेकर, उत्साहित हुए बलराम भैया ने स्वामी से कहा, "तुम्हें द्वारिका ले जाने के लिए ही आया हूँ मैं छोटे। हमको बताये बिना, हमें छोड़कर, ऐसे क्यों चले आये तुम उद्धव को साथ लेकर? तुम्हारे पीछे दीन-असहाय रुक्मिणी कैसे तड़प रही है, जानते हो? तात और दोनों माता तो रात-दिन तुम्हारे नाम की माला जप रहे हैं। अब उद्धव को लेकर चुपचाप लौट चलो मेरे साथ।" आसन पर बैठे-बैठे बलराम भैया ने अपने अचानक आने का प्रयोजन स्पष्ट किया। हाथ जोड़कर समीप ही अमात्य व्यथित होकर बोले,

"आपके सभी पुत्र, महाराज और युवराज को प्रभात और सन्ध्या-वन्दन करते समय आपको न पाकर सम्भ्रमित हो जाते हैं। फिर व्यथित मन से आपके रिक्त आसन को ही एक-एक करके प्रणाम करते हैं। आपकी पुत्री देवी चारुमती तो अपनी माता से निरन्तर आपके ही विषय में पूछती रहती है। अब और परीक्षा न लें स्वामी! उद्धवदेव सहित द्वारिका चलें।"

द्वारिका के वीर युवराज और अमात्य आँखों में प्राण रोककर स्वामी की ओर देखने लगे। परन्तु स्वामी शान्त ही थे। वे निश्चयपूर्वक बोले, "दाऊ, अब यह सम्भव नहीं है। बहुत सोचकर मैं यहाँ आया हूँ–अब यहीं रहूँगा। यदि उद्धव और दारुक आपके साथ जाना चाहें, तो उन्हें अवश्य ले जाइए।"

दुविधा के कुछ क्षण बीत गये। फिर उद्धव महाराज झट से बोले, "बली भैया, जहाँ मेरे भैया होंगे, वहीं मैं भी रहूँगा। आप दारुक को ले जाइए। आचार्य सान्दीपनि के अवन्ती आश्रम में हम तीनों एकत्र ही रहे थे। मैं तो आपसे भी कहता कि हमारे साथ आप भी यहाँ रह जाइए। परन्तु आप युवराज हैं, द्वारिका का दायित्व आपका है..."

दोनों भ्राता बलराम भैया के प्रचण्ड गदा-प्रहार के आगे मेरी बलि चढ़ाना चाह रहे थे, परन्तु मैं थोड़े ही चुप रहनेवाला था। मैंने भी शीघ्र ही कहा, "मैं तो स्वामी की परछाई हूँ युवराज! उनको छोड़कर मैं कैसे रह सकता हूँ कहीं और?"

वैसे बुद्धि का खेल और राजनीति बलराम भैया का क्षेत्र नहीं था। फिर भी वे विचारमग्न हो गये। क्षण-भर में ही उन्होंने निर्णय किया, "ऐसा करते हैं, इस विषय में हम आचार्य घोर-आंगिरस का अभिप्राय पूछ लेते हैं। क्यों, तुम्हें स्वीकार है छोटे?" बलराम भैया ने अपनी बात को पक्का किया।

"अवश्य! लेकिन उनका अभिप्राय पूछने की क्या आवश्यकता है दाऊ? वह तो मैं जानता हूँ। केवल हमें ही उनसे प्रेम है, ऐसी बात नहीं है। वे भी हमसे उतना ही प्रेम करते हैं। वे क्या कहेंगे, यह मैं अभी से जानता हूँ। हम उनके शिष्य हैं। उनकी आज्ञा हमारे लिए शिरोधार्य होगी।" स्वामी ने अपने दाऊ से कहा।

भोजन और थोड़ा विश्राम करने के पश्चात् युवराज बलराम हम तीनों को लेकर अमात्य के साथ गुरुकुटी की ओर चल पड़े। कुटी के आगे दिन-रात प्रज्वलित रहनेवाले अग्निकुण्ड में समिधा अर्पण करते हुए आचार्य बैठे थे। हम वहीं चले गये। सभी ने आदरपूर्वक उनको वन्दन किया। उन्होंने सर्वप्रथम युवराज से महाराज वसुदेव और दोनों माताओं का कुशल समाचार पूछा। फिर प्रेम से पूछा, "अचानक आना हुआ युवराज? दोनों भ्राताओं का वियोग सहन नहीं कर सके क्या?" गुरुदेव मुस्करा दिये।

"आप सर्वज्ञ हैं। मेरे आगमन का प्रयोजन शब्दों में बताने की क्या आवश्यकता है आचार्य?" युवराज जब से आये हैं, मैं तभी से उनके एक अलग ही रूप का अनुभव कर रहा था। अपने प्रिय भ्राता को वापस ले जाने के दृढ़ निश्चय से ही वे आये थे। उन्होंने अमात्य की ओर केवल दृष्टिपात किया।

"द्वारिकाधीश के बिना द्वारिका, वैसी ही है जैसे सूर्य के बिना आकाश, गुरुदेव! जबसे हम आये हैं, द्वारिकाधीश को वापस ले जाने के लिए युवराज तिलमिला रहे हैं। लौट चलने के लिए उनसे आग्रह कर रहे हैं। परन्तु द्वारिकाधीश ने उनके आग्रह को अस्वीकार करके, यहीं पर रहने

का दृढ़ निश्चय घोषित किया है। और उनका निर्णय पत्थर की लकीर की तरह होता है, यह तो आप जानते ही हैं गुरुदेव!' अमात्य ने व्याकुल होकर कहा।

"यह सत्य है यादव-अमात्य। मेरे प्रिय शिष्य श्रीकृष्ण का ही दूसरा नाम है निश्चय। ऐसा न होता तो समृद्ध द्वारिका को त्यागकर वह यहाँ क्यों आ जाता? उसकी इच्छा के आगे किसी की कुछ नहीं चलती।" गुरुदेव ने अपने शिष्यों को सराहा।

कुछ क्षण दुविधा में ही बीत गये। हम सब केवल युवराज की ओर देखते रह गये कि उनका अगला चरण क्या होगा?

युवराज बलराम ने अपना जो रूप दिखाया, उसे मैं जीवन-भर भूल नहीं पाया।

अपने माथे का स्वर्णिम मुकुट अपने ही हाथों से उतारकर युवराज ने उसे धरती पर गुरुचरणों में रख दिया। आचार्य के आगे सिर झुकाकर हाथ जोड़कर वे बोले, "गुरुदेव, अग्रज के नाते दोनों अनुजों का ध्यान रखना मेरा जन्मजात कर्तव्य है। द्वारिका लौट आना इन दोनों को स्वीकार न हो तो आप मुझे भी दीक्षा दें, अपना शिष्य स्वीकार करें और यादवों के युवराज पद के अभिषेक के साथ मेरे मस्तक पर रखा गया यह मुकुट अमात्य के हाथों द्वारिका लौटा दें। मुझे पूरा विश्वास है, द्वारिका के महाराज, तात वसुदेव और दोनों राजमाता–देवकीदेवी और रोहिणीदेवी आपके निर्णय को सानन्द स्वीकार करेंगी।"

अंगिरस कुल के प्रतीक यज्ञकुण्ड में समिधा अर्पण करने की आचार्य की गति बढ़ गयी। कुछ निर्णय करते हुए उनके अन्तरंग का यज्ञकुण्ड प्रज्वलित हो उठा। यज्ञाग्नि धधक उठी। कुछ क्षण निस्तब्धता में ही बीत गये। जैसे अति प्राचीन समय में वेदों का निर्माण करनेवाले प्रज्ञावन्त ऋषियों ने जिस उत्स्फूर्ति से एक-एक ऋचा का उच्चारण किया होगा, वैसे ही वे एक-एक शब्द का उच्चारण करने लगे, "युवराज बलभद्र, मैं तुम्हें शिष्य स्वीकार नहीं कर सकता। तुम एक गणराज्य के अभिषिक्त युवराज हो। यदि अपने भ्राताओं के लिए यहीं पर ठहर जाने का निर्णय तुम करोगे, तो दो बातों का होना निश्चित है।"

"कौन-सी बातें गुरुदेव?" हाथ जोड़कर ही युवराज बलराम ने नम्रता से पूछा। अत्यन्त उत्सुकता से हम आचार्य की ओर देखने लगे।

यज्ञकुण्ड के अन्तर्गत आरोही संख्या में समिधा अर्पण करते हुए आचार्य ने कहा, "जैसे ही तुम्हारे यहाँ के निवास का पता चलेगा, तुम्हारे पिता–द्वारिका के वृद्ध महाराज वसुदेव दोनों राजमाताओं सहित यहाँ आ जाएँगे। एक नूतन गणराज्य द्वारिका नरेशहीन हो जाएगा। इन सब बातों का उत्तरदायी होने से मुझे ही इस आश्रम का त्याग करना होगा। और यह नया आश्रम भी आचार्यहीन होगा। इस स्थिति में श्रीकृष्ण को उद्धव और दारुक सहित द्वारिका लौट जाने का आदेश देना, मेरे लिए अनिवार्य है। जिस ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए श्रीकृष्ण यहाँ आया है, वह उसे देने का कर्तव्य मेरा पूरा हो चुका है। मेरी दी गयी आत्मविद्या को भविष्य में जीवन-विद्या बनाना उसका कर्तव्य है। मुझे विश्वास है श्रीकृष्ण को इस बात का पूरा ज्ञान है और अपने कर्तव्य को पूरा करने की सामर्थ्य भी उसमें है।

"आंगिरसों के वज्रकुल के प्रतीक यज्ञकुण्ड की अग्नि को साक्षी रखकर मैं आज्ञा करता हूँ कि द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण अपने भ्राता उद्धव और सखा दारुक सहित द्वारिका लौट जाएँ। मेरे प्रिय शिष्यो, शिवास्ते सन्तु पन्थान:।"

"आज्ञा" शब्द सुनते ही हम तीनों ने आचार्य के आगे सिर झुकाया और नम्रभाव से तीनों ने एक-साथ कहा, "जैसी गुरुदेव की इच्छा।"

यह सुनते ही आचार्य परम सन्तुष्ट हो गये। धरती पर रखा द्वारिका के युवराज का मुकुट उठाकर वे बलराम भैया के समीप गये। युवराज के मस्तक पर मुकुट चढ़ाते हुए उन्होंने आशीर्वाद दिया–"शुभं भवतु!"

आचार्य के कृपाशीर्वाद पाकर हमने सभी गुरुबन्धुओं से विदा ली। मस्तक पर धारित पंच-शिखाओं का हमने मुण्डन करवाया। आश्रम के वस्त्रों को पुन: आश्रम के भण्डार में जमा कर दिया। युवराज के लाये वस्त्र और अलंकार धारण किये गये। न जाने कैसे, युवराज द्वारिका के अलंकार-कोष से स्वामी का मोरपंखभूषित मुकुट लाना भूल गये थे। सम्भवत: उन्होंने मुकुटविहीन स्वामी की कल्पना ही न की हो, इससे यह भूल हुई हो अथवा प्रयाग आने की शीघ्रता में उनके उतावले स्वभाव के कारण ऐसा हुआ हो, परन्तु इससे हमारी वापसी की यात्रा सरल हो गयी। हमने अश्वों सहित गरुड़ध्वज रथ को पुन: सजाया, परन्तु उसके पताकादण्ड पर गरुड़ध्वज के स्थान पर काषाय ध्वजा लगायी गयी। यह सूचना स्वामी की ही थी। राजवेश धारण किये परन्तु मुकुटविहीन स्वामी और रथ पर लहराती काषाय ध्वजा को देखकर, मार्ग में मिलनेवाले स्वामी के कई भक्तजन दूर से ही प्रणाम किया करते थे। वे हाथ उठा-उठाकर आपस में कुछ चर्चा करते हुए दिखाई देते थे। स्वामी के अनुमान के अनुसार सब मनुष्य-स्वभाव के अनुकूल घटित हो रहा था। जाते-जाते कुछ अस्पष्ट-से शब्द सुनाई पड़े थे–"वह द्वारिका का रथ नहीं है–उस पर गरुड़ध्वज नहीं है।" कोई कहता था, "मैं शपथपूर्वक कह सकता हूँ कि वे द्वारिकाधीश नहीं हैं–उनके मस्तक पर मोरपंख लगा मुकुट नहीं है।" लोग हमें पहचान नहीं पा रहे थे। अत: युवराज के साथ आये इने-गिने सैनिकों सहित हमारी वापसी की यात्रा सरल हो गयी।

तीन सप्ताह पश्चात् हम द्वारिका की खाड़ी के समीप आ गये थे। युवराज द्वारा द्वारिका भेजी गयी सूचना के कारण मुझे एक अभूतपूर्व दृश्य देखने को मिला। प्राणप्रिय द्वारिकाधीश के लौटने का समाचार सुनते ही द्वारिकावासी नर-नारी जो भी जलयान उनके हाथ लगा–डोंगी, बेड़ा, नौका, उसे सागर में डाल रहे थे। स्वामी-दर्शन के अनिवार्य आकर्षण के कारण वे आज शुद्धाक्ष महाद्वार पर रुकने को तैयार नहीं थे। अपने जीवन को प्रवाही बनानेवाले जलपुरुष के दर्शन हेतु, वे बड़ी संख्या में गरुड़ध्वज की ओर खाड़ी पार करते हुए चले आ रहे थे। पश्चिम सागर के दर्शन होते ही स्वामी ने मुझे गरुड़चिह्न अंकित ध्वज को रथ के पताकादण्ड पर चढ़ाकर फहराने की आज्ञा दी थी।

जैसे पुष्पों से लदे पारिजात-वृक्ष के नीचे ताजा पुष्पों की वृष्टि हो जाती है, वैसे ही कोलाहल करते, अति आनन्दित द्वारिकावासी नर-नारी आनन-फानन में ही गरुड़ध्वज के चारों ओर जमा हो गये। वे आँसू-भरी आँखों से और अवरुद्ध कण्ठ से द्वारिकाधीश के चरणों पर लोटने लगे। "फिर कभी हमें छोड़कर मत जाना द्वारिकाधीश। आपके बिना द्वारिका में रहना सम्भव नहीं है। फिर हमें मत त्यागिए स्वामी।" उनका विनम्र अनुरोध समुद्र-गर्जन में विलीन होने लगा।

स्वामी झुककर एक के बाद एक द्वारिकावासी को ऊपर उठाने लगे। उन्हें थपथपाते हुए कहने लगे, "नहीं जाऊँगा–कभी नहीं जाऊँगा! इस बार आपसे मिले बिना चला गया, इसलिए क्षमा कीजिए।"

द्वारिकावासी और उनके प्रिय द्वारिकाधीश के बीच यह भावोत्सव सागर-तट पर देर तक चलता रहा। स्वामी ने सबको सान्त्वना दी। उनको द्वारिका लौट जाने को कहा। मैंने गरुड़ध्वज को राजनौका पर चढ़ाया। नौका में द्वारिका गणराज्य के दस मन्त्री, दोनों सेनापति, सभी दल-प्रमुख थे। सबके मुख अति आनन्द से प्रफुल्लित हो गये थे। द्वारिका का राजनाविक हमारी नौका को द्वीप के समीप खे लाया।

दिन का समय होते हुए भी शुद्धाक्ष महाद्वार आज सुरभित तैल की दीपिकाओं से आलोकित हो उठा था। द्वारिका के स्वर्णिम आकार का सागर-लहरों में पड़ा प्रतिबिम्ब हिल रहा था। स्वामी, युवराज बलराम और उद्धव महाराज नौका से उतरकर पैदल ही शुद्धाक्ष की ओर चल पड़े। मैं भी उनके पीछे-पीछे हो लिया। हमारे पीछे दोनों सेनापति और प्रमुख मन्त्रिगणों के समूह चलने लगे। आम्रपर्ण और पुष्पतोरणों से सजे शुद्धाक्ष महाद्वार में स्वामी का समस्त भावविह्वल परिवार आँखों में प्राण समेटकर वहाँ उपस्थित था। कौन नहीं था उसमें? सभी थे। सम्पूर्ण भावाकुल द्वारिका मेरे स्वामी के स्वागत के लिए शुद्धाक्ष महाद्वार पर जमा हो गयी थी!

अपने वृद्ध पिता तात वसुदेव को देखते ही पितृ-प्रेम से विह्वल हुए मेरे संस्कार-सम्पन्न स्वामी झट से, हमारे पास से निकलकर, चपल गति से आगे बढ़े। उन्होंने अपने वृद्ध पिता के आगे धरती पर घुटने टेककर, अपना सुन्दर नीलवर्ण, विशाल भाल उनके चरणों में रख दिया। सर्वत्र नि:शब्द शान्ति फैल गयी। पिता-पुत्र के उस अपूर्व मिलन को वहाँ एकत्रित जनसमूह भावपूर्ण आँखों से देखता ही रह गया। उस दृश्य को देखते हुए तीव्रता से एक विचार मुझे स्पर्श कर गया–क्या, तात वसुदेव को इस क्षण स्वामी के जन्म की रात महाप्लावन में पार की गयी यमुना का स्मरण हुआ होगा?

अनासक्ति से संसार से विमुख हुए अपने चक्रवर्ती, दिग्विजयी, सुदर्शनधारी प्रिय पुत्र को वृद्ध पिता ने ऊपर उठाकर आवेग से दृढ़ आलिंगन में ले लिया। उपस्थित समूह में से किसी भावाकुल यादव ने कण्ठ की धमनियाँ फैलाते हुए हर्षघोष किया, “घोर आंगिरस शिष्य, वसुदेव-पुत्र भगवान वासुदेऽव श्री ऽ कृष्ण ऽऽ–” फिर उसको उत्स्फूर्ति साथ मिल गयी–“जयतु ऽ जयतु ऽऽ!”

मेरे स्वामी के द्वारिका में पुनरागमन से हर्षित हुए द्वारिकावासियों ने उस दिन तीनों भ्राताओं को गरुड़ध्वज में बिठाकर प्रचण्ड गौरव-यात्रा निकाली। वाद्यों के प्रचण्ड घोष और विविध घोषणाओं की बौछार के साथ मन्थर गति से वह यात्रा दिन-भर चलती रही।

दूसरे ही दिन सुधर्मा राजसभा का जो आयोजन हुआ वह अविस्मरणीय ही था। उस दिन आचार्य घोर-आंगिरस के शिष्य–मेरे गुरुबन्धुओं के जो दर्शन मुझे हुए वे मेरे अन्तरंग में शिल्प की भाँति अंकित हैं।

अमात्य विपृथु ने रत्नजड़ित स्वर्णिम राजदण्ड उठाकर खचाखच भरी राजसभा में सभा का प्रयोजन घोषित किया:

“जिन्होंने विशाल स्वर्णनगरी द्वारिका का अपने बुद्धिवैभव से, परिश्रम से निर्माण किया, उन्होंने ही किसी को बताये बिना, किसी से भी मिले बिना क्षण-भर में उसको त्याग दिया। दूर प्रयागाश्रम में ऋषिवर घोर-आंगिरस के पास वे चले गये। हमारे योद्धाओं ने, कुशल गुप्तचरों ने उनको खोजने के हर सम्भव प्रयास किये। परन्तु उनका कहीं भी–कुछ भी पता नहीं चला। हम सब हताश हो गये थे। क्या करें, किसी को कुछ सूझ नहीं रहा था।

“अन्तत: युवराज बलराम ने उनका पता लगा ही लिया, परन्तु कैसे, यह आज भी हमें विदित नहीं है। युवराज से प्रार्थना है कि वे ही आज सभागृह को इस बात से अवगत कराएँ।

“आंगिरस-शिष्य, वसुदेव-पुत्र भगवान वासुदेव का मैं सभी द्वारिकावासियों की ओर से अन्तःकरणपूर्वक सहर्ष स्वागत करता हूँ।

“यह पहला ही अवसर है कि देवी रुक्मिणी, उद्धवदेव और दारुक सहित राजसभा में उपस्थित द्वारिकाधीश मुकुटविहीन हैं। आश्रम-दीक्षा लेने के कारण उनका मुकुट निराधार हो गया था। आज उसे पुन: अभिमन्त्रित किया गया है। मैं युवराज बलराम से प्रार्थना करता हूँ कि, वे महाराज वसुदेव और समस्त राजसभा की ओर से मुकुट पुन: द्वारिकाधीश को गौरव सहित अर्पित करें।”

अमात्य ने प्रथा के अनुसार धरती पर राजदण्ड का आघात किया।

विशालकाय युवराज बलराम अपने आसन से उठकर खड़े हो गये। अपने प्रिय भ्राता को द्वारिका वापस लाने की सफलता का आनन्द, उनके पुष्ट गोलाकार गौरवपूर्ण मुखमण्डल से मानो छलक रहा था। स्वामी का मोरपंख से शोभित मुकुट लिये सेवक सहित युवराज स्वामी के आसन के समीप आ गये। बड़े प्रेम से उन्होंने थाल में रखा मुकुट उठाकर मेरे स्वामी के मस्तक पर ठीक से रख दिया। समस्त आनन्दविभोर सभासदों के करतल ध्वनि की कड़कड़ाहट से राजसभा गूँज उठी। मुझे वह दिन स्मरण हो आया जब युवराज ने अपने हाथों से उस मुकुट में मोरपंख लगाया था। आज भी वह वैसा ही था। जिनको इस बात का आभास हुआ, उन्हें विश्वास हुआ कि आज भी ये दोनों भ्राता वैसे ही हैं–एक-दूसरे पर प्राण न्यौछावर करनेवाले।

बलराम भैया ने आज सुधर्मा सभा को प्रचण्ड धक्का दिया। युवराज होते हुए भी वे आज तक राजसभा में बहुत कम बोला करते थे। परन्तु आज वे बोले–अचानक, अप्रत्याशित, अत्यन्त सुन्दर और चिरस्मरणीय! हाथ ऊपर उठाकर उन्होंने कहा, “सुधर्मा राजसभा के सभासदो, यादव बान्धवो, महाराज वसुदेव को साक्षी मानकर मैं कहता हूँ, कि मेरे परमप्रिय भ्राता श्रीकृष्ण और मैं बचपन से एकत्र ही खेले, बढ़े। हम अपने तात और माताओं की दो आँखें ही हैं। कोई भी चित्र दोनों आँखों से ही देखा जाता है। श्रीकृष्ण विहीन द्वारिका के गणराज्य और सुधर्मा सभा की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। यद्यपि तात वसुदेव द्वारिका के महाराज हैं और मैं युवराज हूँ, लेकिन द्वारिकाधीश तो श्रीकृष्ण ही है–वह कल था, आज है और कल भी रहेगा। महाराज और युवराज आएँगे, जाएँगे, द्वारिकाधीश एक ही है–जो कल था, आज है और सदा रहेगा।

“उसके प्रयाग-क्षेत्र–आंगिरस-आश्रम में होने का समाचार आचार्य सान्दीपनि से मिलते ही मैं अविलम्ब प्रयाग चला गया। इस उतावली में द्वारिकाधीश का मुकुट साथ ले जाने का मुझे स्मरण हीं नहीं रहा।

“एक बार स्यमन्तक मणि के विषय में भ्रान्त धारणा के कारण मैं उससे विमुख हो गया था। अब एक बार वह मुझसे विमुख होकर फिर लौट आया है। उस समय मैंने उसके मुकुट में सबके समक्ष मोरपंख लगाया था। आज सबको साक्षी रखकर उसी मोरपंख से शोभित मुकुट मैंने उसके सिर पर रखा है।

“आयु में वह मुझसे छोटा है। मैं सदैव ही उसको ‘छोटे’ कहकर बुलाता भी हूँ। आयु में बड़ा होते हुए भी, सबके समक्ष मैं उससे कहता हूँ कि अपनी अविद्यमान लघुता छोड़कर उदार हृदय से

वह यादवों के इस युवराज को क्षमा करे। जितनी गहराई से तात वसुदेव और दोनों माता उसको पुत्र रूप में देखते हैं, जितनी गहराई से उद्धव, दारुक, पितामह भीष्म, विदुर, संजय, अर्जुन, राधा और द्रौपदी उसको भ्राता के रूप में देखते हैं, उतनी ही गहराई से मैं भी उसको भ्राता के रूप में देखता हूँ। वह यह सब भलीभाँति जानता भी है।

“वह केवल द्वारिकाधीश नहीं है। अन्य कई अर्थों में भी वह ईश है। इसलिए मैंने उससे क्षमा-याचना की है।

“यदि उसका पता नहीं चलता और वह लौटकर द्वारिका नहीं आता तो?–तो मैं भी द्वारिका को त्याग देता। उसी के जैसे काषाय वस्त्र धारण कर भारतवर्ष के आश्रम-आश्रम में घूमता रहता। कभी न कभी तो वह मुझे इस यात्रा में मिल ही जाता। वह मुझे और आप सबसे मिला, इसका श्रेय आचार्य सान्दीपनि को जाता है। मेरी उनसे प्रार्थना है कि अन्दर की सारी बातें वे ही सभा के सम्मुख प्रकट करें।”

बलराम भैया के निवेदन से सारी सुधर्मा सभा गद्‌गद हो उठी।

काष्ठ पृष्ठवाले आसन से आचार्य सान्दीपनि उठ खड़े हुए। राजसभा में वे प्राय नहीं बोला करते थे–परन्तु आज वे बोले। श्वेत उत्तरीय पर उनकी शुभ्र दाढ़ी क्षण-भर थरथरायी। सभागृह में सर्वत्र नीरवता छा गयी। आचार्य कहने लगे–

“सभी इस भ्रान्त धारणा में हैं कि मेरा प्रिय शिष्य श्रीकृष्ण किसी को भी बिना बताये प्रयाग चला गया। परन्तु ऐसा नहीं है। मैंने ही उसका ब्रह्मविद्या के अध्ययन के लिए घोर-आंगिरस के पास चले जाने का परामर्श दिया था। जाते हुए उसने मुझसे निवेदन किया था कि किसी अधिकारी व्यक्ति के पूछताछ किये बिना, मैं कहाँ गया हूँ यह आप किसी को भी मत बताइए।

“मैंने उसके निवेदन को आज्ञा ही माना। किसी से कुछ भी नहीं कहा। सेनापति की गुप्तचरों द्वारा होनेवाली भागदौड़ मैं देख रहा था। महाराज वसुदेव और दोनों राजमाताओं की हृदय-विदारक चिन्ता-वेदना का मुझे आभास था। तभी तो समय-समय पर उनके कक्ष में जाकर विश्वासपूर्वक मैं उनसे कहता था, धैर्य रखिए–चिन्ता मत कीजिए।

“इस सम्बन्ध में जब मैं अपनी पत्नी के उद्‌गार सुनता, तब सर्वाधिक परेशानी का अनुभव होता। वह सदैव कहती रहती थी–‘कहाँ गया होगा? फिर कभी इसके दर्शन होंगे कि नहीं?’ कभी-कभी लगता था कि गुरु के अधिकार से इस रहस्य को प्रकट कर दूँ। बड़े प्रयास से मैं इस मोह का संवरण कर पाता था। किसी से कुछ न कहने की उनकी शर्त सुनने में तो सरल लगी थी, परन्तु वास्तव में वह तो गुरु की भी परीक्षा लेनेवाली निकली, यह अनुभव तो नया ही था।

“मेरी दुविधा से श्रीकृष्णपत्नी देवी रुक्मिणी ने मुझे मुक्त कर दिया। अनपेक्षित ढंग से एक दिन जाम्बवतीदेवी के साथ वे मेरी पर्णकुटी में आ गयीं। वास्तव में ज्येष्ठ श्रीकृष्णपत्नी हैं और द्वारिका की एक प्रमुख व्यक्ति भी। उन्होंने मुझसे कोई प्रश्न नहीं किया। सीधे, स्पष्ट शब्दों में उन्होंने जो कहा उसे सुनकर मैं चकित रह गया और मेरे मन में उनके लिए दुगुना आदर हो गया था। जो किसी के भी ध्यान में नहीं आया था, उस तथ्य को उन्होंने अचूक भाँप लिया था। उन्होंने कहा, ‘मेरे स्वामी, गुरु की आज्ञा और उनके दर्शन तथा आशीर्वाद लिये बिना कभी कहीं चले जाएँ, यह सम्भव नहीं है। कृपालु होकर आप ही बताइए, कहा गये हैं वे?’

“अन्तत: श्रीकृष्ण की शर्त का पालन करते हुए ही मैंने उसका ठिकाना देवी रुक्मिणी को

बता दिया। उन्होंने वह युवराज से कह दिया। और युवराज की तत्परता के कारण ही द्वारिका के जीवन में यह सुनहरा दिन उदित हुआ है।

"सचमुच वह न लौट आए तो? इस विचार से स्वयं मैं ही पीड़ित हो जाता था। यह व्यग्रता जब असहनीय हो जाती थी, तो मुझे तीव्रता से लगता था, कि सीधे प्रयागाश्रम चला जाऊँ! परन्तु मैं ऐसा नहीं कर सकता था, क्योंकि महाराज वसुदेव और दोनों राजमाताओं के व्याकुल मुखमण्डल मेरी आँखों के सामने साकार होने लगते।"

सम्पूर्ण सुधर्मा राजसभा की आँखें केवल रुक्मिणीदेवी पर लगी हुई थीं। वे शान्त भाव से अपने पति के समीप बैठी थीं। मेरे मन में विचार आया, द्वारिकाधीश की पत्नी होना कितना कठिन है? रुक्मिणीदेवी वास्तव में हमारी 'देवी' थीं। मन की उस तीव्र वेदना की अवस्था में यदि वे स्वामी का समाचार प्राप्त करने हेतु आचार्य के पास न जातीं तो?

सम्पूर्ण सुधर्मा सभा केवल मेरे स्वामी के यहाँ होने से ही मन्त्रमुग्ध-सी हो गयी थी। यहाँ तक कि अमात्य विपृथु को इस बात का भी भान नहीं रहा कि वे प्रथा के अनुसार, द्वारिकावासियों को कुछ सन्देश देने के लिए स्वामी से प्रार्थना करें। वे स्वामी की ओर केवल देखते ही रह गये।

दूर मानसरोवर पर, ठीक सूर्योदय के क्षण जिस प्रकार ब्रह्मकमल की कली खिल उठती है, उसी प्रकार किसी के निवेदन किये बिना ही, हमारे स्वामी आसन से उठ खड़े हुए। इस समय वे बहुत ही कम बोले, परन्तु जो कुछ बोले, वह अविस्मरणीय था।

हाथ जोड़कर उन्होंने सबको प्रणाम किया। और मुक्त मन की प्रासादिक प्रसन्नता उनकी मन्द मुस्कान में खिल उठी, उनके निर्मल गुलाबी होठों के पीछे छिपे हुए कुन्दकलिका जैसे दाँत क्षण-भर चमक उठे। बड़े-बड़ों को जिसमें जीवन का आधार ढूँढ़ने की इच्छा हो, ऐसा उनके कपोलों पर खिलनेवाला भँवर क्षण-भर खिलकर फिर विलीन हो गया। उनके नील पद्म जैसे सुन्दरवर्णी मुखमण्डल पर कभी-कभार ही दिखनेवाली सुनहरी हास्य-छटा बिखर गयी। अपनी मधुर वेणुवाणी में उन्होंने कहा, "द्वारिका के मेरे प्रिय बन्धु-भगिनी!" केवल इस सम्बोधन से ही अभिभूत हुए सुधर्मा सभा के नर-नारी सदस्यों ने जोरदार तालियों की वर्षा की। बड़ी देर तक वे अविरत तालियाँ पीटते रहे। पश्चिम सागर के ज्वार की भाँति प्रत्येक के मन में दो बातों का असीम आनन्द लहरा रहा था–एक था द्वारिकाधीश के लौट आने का और दूसरा था, उनके सभी नर-नारियों को 'प्रिय बन्धु-भगिनी' सम्बोधित करने का!

तालियों की वर्षा मन्द होते ही स्वामी बोलने लगे–गिने-चुने शब्दों में–"मेरा आदरणीय गुरुदेव घोर-आंगिरस के पास चले जाना–चुपचाप, चोरी-चोरी चले जाना नहीं था। मुझसे मिले बिना ही पाण्डवों के वनवास चले जाने के कृत्य से व्यथित होकर भी मैं नहीं चला गया था। कभी-कभी घोर विषाद मानव-मन को घेर लेता है। इस विषाद के मूल में क्या होता है और उसका निवारण कैसे किया जाए, इसका उचित पथदर्शन गुरुमुख से प्राप्त करने हेतु अर्थात् आत्मविद्या–ब्रह्मविद्या के यथार्थ अभ्यास के लिए मैं चला गया था। हो सकता है, भविष्य में समस्त आर्यावर्त को इसकी आवश्यकता प्रतीत होगी। मेरा उद्देश्य जो भी हो, कितना भी श्रेष्ठ हो, उससे आपको जो कष्ट पहुँचा है, उसके लिए मैं आप सबका मनःपूर्वक क्षमाप्रार्थी हूँ।

"मैं निश्चयपूर्वक और प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि पुन: कभी भी मैं इस प्रकार अपनी द्वारिका का त्याग नहीं करूँगा। ऐसा अवसर यदि आ ही गया तो लौटकर भी कभी नहीं आऊँगा। अत: इस

समय आप सब उदार हृदय से मुझे क्षमा करें।" स्वामी के द्वारा नतशीश होकर, हाथ जोड़ते हुए सबसे क्षमा-याचना करते ही, खचाखच भरी समस्त सुधर्मा राजसभा थर्रा उठी।

उस दिन सन्ध्याकालीन अर्घ्यदान के लिए मैं स्वामी को गरुड़ध्वज में बैठाकर पश्चिमी सागर के तट पर ऐन्द्र महाद्वार पर ले आया। साथ में उद्धव महाराज भी थे। उन दोनों को आँखें मूँदकर सागर-जल में डूबते सूर्यदेव को अर्घ्य देते हुए देखना एक अनुपम, अतुलनीय अनुभव था।

थाल के आकार के डूबते रक्तवर्ण तेजस्वी सूर्य-बिम्ब को आँख-भर देखते हुए एक ही विचार मेरे मन में चक्कर काट रहा था–आखिर हमारे ये स्वामी हैं कौन? वास्तव में कौन हैं वे? प्रयास करने पर भी समझ में नहीं आता।

द्रौपदी

मैं द्रौपदी! पांचालराज द्रुपद की पुत्री। पांचाल, पाण्डव, कुरु, यदुवंश की स्त्रियों के बार-बार उल्लेख होते रहे हैं—कभी-कभी तो आवश्यकता की सीमा से भी बाहर! किन्तु मुझे गढ़नेवाली मेरी माता—सौत्रामणि का उल्लेख कभी किसी ने नहीं किया। मुझे सब याज्ञसेनी भी कहा करते थे। वह उचित भी था। मेरे पिता द्रुपद के ऋषिवर याज और उपयाज द्वारा करवाये पुत्रकामेष्टि यज्ञ के कुण्ड से हम दोनों—मेरा और भ्राता धृष्टद्युम्न—का जन्म हुआ।

इस यज्ञ के कारण ही सबने मेरी माता की घोर उपेक्षा की थी। क्या केवल जन्म देनेवाली ही माता होती है? जो पालन-पोषण करती है, संस्कार सम्पन्न बनाती है, क्या उसका कोई स्थान नहीं होता? यदि नहीं है, तो मेरा कहना है—वह होना चाहिए। पिता द्रुपद के कारण मैं द्रौपदी बन गयी। किन्तु यज्ञकुण्ड में धधकती अग्नि के समान मैं दाहक, मनस्विनी, मानिनी बनी माता सौत्रामणि के संस्कारों से। उसके स्मरण मात्र से ही मेरी आँखों के समक्ष खड़ा हो जाता है हम पांचालों का राजनगर—काम्पिल्यनगर और हमारा भव्य राजप्रासाद। और हाँ, उसके स्मरण के साथ-साथ मेरी आँखों के आगे आता है भ्राता शिखण्डी, जो मेरे और धृष्टद्युम्न के पहले जन्मा था। कहा जाता था कि किसी शाप के कारण वह पुरुषत्वहीन बन गया था। तभी तो तात द्रुपद ने पुत्रकामेष्टि यज्ञ करवाया था। मेरे और धृष्टद्युम्न के पश्चात् हमारे माता-पिता को और आठ पुत्र प्राप्त हुए थे—सुमित्र, प्रियदर्शन, चित्रकेतु, सुकेतु, ध्वजकेतु, वीरकेतु, सुरथ और शत्रुंजय। अर्थात् मैं दस भ्राताओं की इकलौती बहन थी। इकलौती होने के कारण उन सबसे मुझे खूब हार्दिक भ्रातृप्रेम प्राप्त हुआ।

इन अलग-अलग स्वभावों के भ्राताओं के साथ सुख से बीते मेरे बाल्यकाल की स्मृतियाँ यदि मैं कहने बैठ जाऊँ, तो वह कभी समाप्त न होनेवाली कथा ही बन जाएगी।

यद्यपि मेरे दस भ्राता थे, किन्तु द्वारिका के श्रीकृष्ण ने मेरे लिए एकमात्र सर्वश्रेष्ठ भ्राता का स्थान प्राप्त किया। इस विषय में तो इतना-कुछ कहने को है कि बात कभी समाप्त ही नहीं होगी लेकिन मैं कुछ भी न कहूँ, यह भी तो सम्भव नहीं है। यादवों के इस अद्वितीय, अतुलनीय नायक को उसके आप्तगणों सहित अन्य सभी ‘श्रीकृष्ण’ कहा करते थे। उसे प्रेम से केवल ‘कृष्ण’ कहनेवाले मेरे जैसे कुछ इने-गिने व्यक्ति ही थे। उसको भी यह सम्बोधन मन से अच्छा लगता था। उन इने-गिने लोगों में मेरी सासुजी—पाण्डव-माता कुन्तीदेवी, पितामह भीष्म, विदुर, संजय, अर्जुन जैसे कुछ और व्यक्ति भी थे।

किसी भी व्यक्ति का अचूक मूल्यांकन कैसे किया जाता है? इसके लिए दो प्रश्न पूछना आवश्यक होता है—यदि उस व्यक्ति का जन्म ही न हुआ होता तो? पूछनेवाले की जीवन-यात्रा में

यदि वह व्यक्ति उससे मिलता ही नहीं तो? सचमुच, मेरा कृष्ण न होता तो? मेरे जीवन में कभी वह मुझसे मिलता ही नहीं तो? कल्पना ही नहीं की जा सकती कि कैसे-कैसे मोड़ लेता जाता मेरा–एक याज्ञसेनी का दाहक जीवन!

द्रौपदी, याज्ञसेनी इन नामों के साथ-साथ मुझे पांचाली, कृष्णा, श्यामा आदि नामों से भी सम्बोधित किया जाता था। वह उचित भी था। मेरा वर्ण साँवला ही था, अत: सब मुझे श्यामा कहते थे। सबसे पहले कृष्ण ने ही मुझे 'कृष्णा' नाम से सम्बोधित किया था। अनजाने में औरों ने भी उसका अनुसरण किया। द्रौपदी के साथ-साथ मैं श्यामा बन गयी, कृष्णा बन गयी। मेरे भृंगवर्ण, विपुल केशों में नीली छटा थी। वे मेरी एड़ियों तक पहुँचते थे। अत: मुझे सुकेशा भी कहा जाता था। लेकिन पहले मेरे भ्राता और फिर सखा बने नीलवर्ण कृष्ण से मेरा साँवला नाम–कृष्णा मिलता था, इसीलिए वह मुझे प्रिय था। कृष्ण मेरा सबसे प्रिय भ्राता था। उससे भी अधिक वह मेरा सखा था। मैं जब सोचने लगती हूँ कि उससे मेरा सख्य कब स्थापित हुआ, तब अपने स्वयंवर की घटना मेरी आँखों के आगे खड़ी हो जाती है!

मेरे स्वयंवर में तात द्रुपद और भ्राता धृष्टद्युम्न का रखा मत्स्यनेत्र-भेद का प्रण किसी को पूरा करना कठिन ही था। कई विख्यात धनुर्धर, नरेश उसमें हार गये थे। वहाँ उपस्थित वीरों के पराक्रम की भैया ने जो निर्भर्त्सना की, उससे स्वयंवर-मण्डप में बड़ा तनाव हो गया था। मेरे मन में बहुत से प्रश्न उठे थे उस समय! यदि कोई भी इस प्रण को पूरा नहीं कर पाया तो? क्या मुझे पांचालों के राजप्रासाद में कुँवारी ही रहना होगा? दस भ्राताओं की उस अभागिनी अविवाहिता बहन का जीवन कैसा होगा? क्यों रखी है तात और भैया ने इतनी कठिन परीक्षा?...

अचूक रूप में उसी क्षण मेरा यह सखा अपने आसन से उठ खड़ा हुआ। स्वयंवर-मण्डप में अस्पष्ट-सी फुसफुसाहट फैली–'द्वारिकाधीश...सुदर्शनधारी...कंसान्तक' वह सुनते हुए मैं रोमांचित हो उठी। अब तक मैं हाथों में वरमाला लिये नार्युचित लज्जा से सिर झुकाये खड़ी थी। किन्तु अब मैंने सिर उठाया द्वारिकाधीश को आँख-भर देखने के लिए। वास्तव में वह सुदर्शन था। विचारों के असंख्य धवल राजहंस पक्षी मेरे मन के सरोवर से नीलाकाश में उड़ान भरने लगे। पहला ही विचार मेरे मन में झाँका–यदि शिव-धनुष को हटाकर इसने ही अपने शार्ङ्ग धनुष से मत्स्यभेद कर दिया तो...द्वारिकाधीश की पत्नी के नाते कैसा होगा मेरा जीवन? उसकी प्रथम पत्नी रुक्मिणीदेवी के विषय में मैंने बहुत-कुछ सुना था। क्या वह मुझे स्वीकार करेगी? कैसा व्यवहार करेगी वह मुझसे?

किन्तु हुआ वही, जो होना था। ब्राह्मणवेशधारी धनुर्धर अर्जुन ने प्रण को पूरा किया। तालियों की गड़गड़ाहट में ही मैंने उसके वीरकण्ठ में वरमाला डाल दी–फिर कुछ क्षण पूर्व किये सु-दर्शन की ओर देखा। वहाँ अब मेरी प्राप्ति की अभिलाषा का लवलेश भी नहीं था। वहाँ भी स्वच्छ स्फटिक-समान भ्रातृभाव से कुछ भिन्न ही छटा! उसे समझ लेने का मैंने बहुत प्रयास किया, किन्तु असफल ही रही।

स्वयंवर के बाद वह कुम्भकार के घर अपने ज्येष्ठ भ्राता बलराम, उद्धव, सात्यकि और अन्य यादव साथियों सहित मुझसे और अर्जुन से मिलने आया। ऐसा गूढ़ हास्य जिसे मैंने पहले कभी नहीं देखा था, अपने नीलवर्ण मुख पर बिखेरते हुए उसने कहा, "कृष्णे, यह मेरा प्रिय फुफेरा भ्राता है–धनुर्धर अर्जुन! उसके साथ सुख से अपना संसार बसाओ।" 'कृष्णे' सम्बोधन सुनते ही

मुझे प्रतीत हुआ—यह तो मेरा सखा है—प्राणसखा!

अपने प्रिय सखा की प्रिय पत्नी रुक्मिणीदेवी को मैं कभी भूल नहीं पाऊँगी। जैसे-जैसे वह मेरे निकट होती गयी, अपने-आप ही मैं उसको 'देवी' के बदले 'भाभी' कहती गयी। पहली ही भेंट में कृष्ण मुझे अपना सखा प्रतीत हुआ था। तब उसकी पत्नी 'भाभी' बन गयी? वह तो सखी होनी चाहिए थी, किन्तु ऐसा नहीं हुआ था। सखा ने कहा था, उसकी दूसरी सखी थी गोकुल की राधा—राधिका। किन्तु वास्तव में पहली सखी तो मैं ही थी।

मेरे सखा की प्रिय पत्नी—मेरी भाभी ने पहली ही भेंट में राजसूय यज्ञ के समय, इन्द्रप्रस्थ में मुझसे एक अनमोल बात कही थी—"हे याज्ञसेनी, नारी का जीवन सृजन की प्रचण्ड शक्ति का सुप्त केन्द्र होता है। जब उसे इस बात का ज्ञान होता है, वह कभी पीछे मुड़कर नहीं देखती, आगे-आगे ही चलती रहती है।" उसके इस अमोल मन्त्र पर सोचते हुए एक बात तीव्रता से प्रतीत हुई थी। मैंने निश्चय किया था, जब भी वह मुझसे मिलेगी, मैं उससे कहूँगी, "नारी को केवल स्वयं में विद्यमान सुप्त सृजन-केन्द्र का ज्ञान होना पर्याप्त नहीं है। उसको अपने जीवन में आनेवाले अन्य सभी के मुझ जैसी के जीवन में तो, एक से अधिक पतियों में विद्यमान जीवन-केन्द्रों का अचूक ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। रुक्मिणी भाभी के विषय में तो, उसके पति—मेरे कृष्ण सखा में छिपे एक से अधिक जीवन-केन्द्रों का ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है—सचमुच बहुत ही कठिन है।"

जब-जब मैं अपने पाँचों पतियों के विषय में सोचने लगती हूँ, मेरा कृष्ण सखा मेरी आँखों के आगे आ जाता है। उसने कुछ भी न छिपाते हुए मेरे पाँचों पतियों का मुझे पूर्ण परिचय कराया था। ऐसा न हुआ होता तो इन पाँचों भ्राताओं के साथ मेरा पल-भर भी निर्वाह होना असम्भव हुआ होता।

कैसे थे मेरे पाँचों पति? कैसे थे सबके प्रिय पाण्डव?

पाँचों भ्राताओं में युधिष्ठिर ज्येष्ठ था। अपने सभी पतियों का उल्लेख मैं एक वचन में ही करनेवाली हूँ। जहाँ सबके आदरणीय द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण को मैंने 'कृष्ण' नाम से सम्बोधित किया, वहाँ उसका अपने ज्येष्ठ भ्राता से भी अधिक सम्मान करनेवाले अपने पतियों को मेरा एकवचन में सम्बोधित करना कोई भूल नहीं होगी। उलटे मैं बहुवचन में उनका उल्लेख करूँगी तो वह विपरीत प्रतीत होगा।

यधिष्ठिर मेरा ज्येष्ठ पति था—इन्द्रप्रस्थ का अभिषिक्त राजा। वह सदैव धर्म के अनुकूल व्यवहार करता था, अत: उसे 'धर्मराज' भी कहा जाता था। मेरा यह प्रथम पति सत्यवचनी था। उसके सत्यवचन की तुलना में तो मेरे प्रिय सखा—कृष्ण को 'झूठा' ही कहना पड़ेगा। किन्तु वह ऐसा नहीं था, यह तो मर्म की बात है। जीवन के कठोर अनुभवों से मुझे ज्ञात हुआ है कि देखनेवाले की दृष्टि के अनुसार सत्य दिखाई देता है।

काम्पिल्यनगर में स्वयंवर के पश्चात् जब हम कुम्भकार के घर पहुँचे, तब माता कुन्तीदेवी ने मुझे देखे बिना ही कहा, "भिक्षा विपुल हो तो पाँचों में बाँट लो।" किन्तु मुझे देखने के पश्चात् वे बहुत पछतायीं—बार-बार कहने लगीं, "कुलस्त्री भिक्षा कैसे हो सकती है? उसे कैसे बाँटा जा सकता है? यह क्या मूर्खता हो गयी मुझसे? मैं अपने शब्द वापस लेती हूँ।"

तब उस सत्यवचनी, धर्मपरायण पाण्डुपुत्र ने अपनी ज्येष्ठता निभाते हुए यह नहीं कहा कि "माते, आप ठीक कह रही हैं। अपने धनुर्विद्या के कौशल्य से अकेले अर्जुन ने ही कठिन प्रण पूरा करके इसे जीता है। इस पर हमारा कुछ भी अधिकार नहीं है।" इसी अपेक्षा से मैं उसकी ओर

देखती रही। किन्तु समझदारी की झलक भी उसकी आँखों में नहीं दिखाई दी—वहाँ थी केवल खुली अभिलाषा। अपने ज्येष्ठ पति की वे आँखें मैं जीवन-भर भूल नहीं पायी। इसीलिए मैं उसे कभी क्षमा भी नहीं कर पायी।

पहली ही भेंट में अपनी अभिलाषा के कारण उसने मुझ पर घोर अन्याय किया था। तब मेरे प्रिय सखा कृष्ण का मुझे समझाना मेरे लिए तारक प्रमाणित हुआ। कृष्ण के सख्यत्व की मुझे पहली प्रतीति उसी समय हुई। उस समय वह मुझसे न मिलता तो? तो मैं अपने जन्मजात स्वभाव के अनुसार इस प्रकार अपने विभाजन का कड़ा विरोध करती। किन्तु अत्यन्त अपनत्व से मुस्कराते हुए उसने कहा था, "हे श्यामले—कृष्णे, तू इतनी सुन्दर है कि इसी सौन्दर्य के कारण तुझ पर पुरुष-वासना के आघात होंगे! अत: तुझे भीमार्जुन के सम्मिलित संरक्षण की आवश्यकता है। तू मेरी कुन्ती बुआ की आज्ञा को शिरोधार्य कर ले।" उसका वह मुस्कराना केवल उसी को सुहाता था। मैंने उसके निर्मल, स्वर्गीय हास्य पर विश्वास करके पाँच पतियों को स्वीकार किया। उसका और मेरा सख्यत्व एक पग आगे बढ़ गया उस दिन।

पाण्डवों का यह ज्येष्ठ भ्राता मेरे जीवन का विच्छेदन करके ही रुक नहीं गया था, बल्कि किसी भी क्षत्रिय को पूरे प्राणपण से जिस तरह अपनी पत्नी की रक्षा करनी चाहिए, उस स्वपत्नी की लज्जा की उसने धज्जियाँ उड़ायीं—वह भी कौरवों की भरी द्यूतसभा में। स्वयं को हारने के पश्चात् उसने द्यूत में मुझे दाँव पर लगाया। तब भी मेरे सखा कृष्ण ने ही मेरी लज्जा की रक्षा की। हमारा सख्यत्व और घना हो गया। द्यूत की घटना से मेरा कृष्ण सखा कहीं भी हो, वह सदैव मेरे हृदय में ही है—इसकी निर्विवाद प्रतीति मुझे हुई, मुझे पूरा विश्वास हुआ।

मेरे पाँचों पतियों में से प्रत्येक एकान्त में मुझे अलग-अलग नाम से सम्बोधित किया करता था। महाराज युधिष्ठिर एकान्त में मुझे 'हे सुगन्धे' कहा करता था। मेरे शरीर में से चन्दन के उबटन-सी जैसी नीलकमल के परागों से आती है, वैसी ही मन्द सुगन्ध आती थी। अभिषिक्त महाराज युधिष्ठिर को यह गन्ध ही अत्यन्त प्रिय थी। उसमें भी मुझे उसकी सूक्ष्म राज-अभिलाषा का आभास हुआ करता था। मेरे अन्य गुणों की उसने कभी सराहना नहीं की। अपने भ्राताओं पर वह अपनी ज्येष्ठता का अधिकार चलाया करता था। उसके पाँव के अँगूठे के संकेत पर उसके भ्राता चुप हो जाया करते थे। प्रत्यक्ष मेरा भीमसेन भी! इसके लिए उसने राजमाता कुन्तीदेवी से सम्मति प्राप्त की थी।

युधिष्ठिर के पास कछुए का मन था। कभी वह अपनी ज्येष्ठता के कवच के पीछे छिपता था तो कभी अपने राजपद के कवच के पीछे। पराक्रम में वह अपने छोटे भ्राताओं की समानता नहीं कर सकता था। इस हीनता को वह अपनी दार्शनिकता से पूरा करता था।

इन्द्रप्रस्थ की महाराज्ञी होने के कारण ही मुझे इस ज्येष्ठ पाण्डव के स्थूल दोषों का ज्ञान हुआ। किन्तु उसकी मितभाषिता के कारण उसके कुछ गुण अप्रकट रहते थे। उसका पहला गुण यह था कि वह अपनी आदरणीया माता के परामर्श के बिना कोई भी काम नहीं किया करता था। जिस प्रकार ज्येष्ठ होने के नाते वह अपने अनुजों पर अधिकार चलाता था, उसी प्रकार वह अपने से ज्येष्ठ व्यक्तियों के अधिकार का आदर भी करता था। द्यूत के समय यदि राजमाता वहाँ उपस्थित होतीं, तो उनके एक संकेत पर ही मेरा यह ज्येष्ठ पति अपने हाथ के पाँसे फेंककर वहाँ से चल दिया होता, इस पर मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है। इन्द्रप्रस्थ की महाराज्ञी के नाते

पौरजनों के समक्ष वह मेरा उचित आदर भी करता था। खाण्डववन में जब इन्द्रप्रस्थ का निर्माण किया जा रहा था, तब महाराज्ञी के नाते मुझे किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए इसकी कभी न भूलनेवाली सीख कृष्ण ने मुझे दी थी। इन्द्रप्रस्थ के स्वामी बनने पर पाण्डवों के स्वभाव में किस प्रकार परिवर्तन आएगा, यह भी उसने मुझे समझाया था। इन पाँचों भ्राताओं के अन्तरंग को कृष्ण ने जितना पहचान लिया था, उतना अन्य किसी ने नहीं। राजमाता को वह देवकी माता के समान ही मानता था। राजमाता मुझसे कैसा व्यवहार करेंगी, यह भी उसने मुझे समझाया था।

मैं काम्पिल्यनगर से हस्तिनापुर, और हस्तिनापुर से इन्द्रप्रस्थ आयी। वहाँ से मैं कभी अपने मायके नहीं जा पायी। मेरी माता सौत्रामणि, पिता द्रुपद, सभी भ्राता और प्रमुख पांचालों का समाचार इन्द्रप्रस्थ में मुझे मिल रहा था। इन्द्रप्रस्थ का राजनगर खड़ा करने में कृष्ण ने सभी प्रकार की, सबसे अधिक सहायता की थी। मेरे भ्राता धृष्टद्युम्न ने भी तत्परता से उसका साथ दिया था। बीच-बीच में पांचालों के सेनादल सहित आकर नगर-निर्माण के कार्य में वह स्वयं ध्यान देता था। मेरा कुशल-क्षेम पूछकर पांचाल लौट जाता था।

खाण्डववन आने के पश्चात् मेरे पाँचों पतियों ने मेरे साथ जीवन-क्रम की एक आचार-संहिता निश्चित की थी। बहुधा उसे कोई भी भंग नहीं किया करता था। उनकी ज्येष्ठता के अनुसार मेरे साथ उनके सहवास-काल का क्रम था। इन्द्रप्रस्थ में मुझे युधिष्ठिर से एक पुत्र प्राप्त हुआ। राजमाता ने उसका नाम प्रतिविन्ध्य रखा। पाण्डवों की तीसरी पीढ़ी का ज्येष्ठ अंकुर होने के कारण वह इन्द्रप्रस्थ का भावी युवराज था। बड़ी सावधानी से सब उसकी सँभाल करते थे। उसकी ग्रीवा अपने पिता के सदृश लम्बी थी। विन्ध्य पर्वत की चोटी की भाँति वह सुदृढ़ हो, इस इच्छा से उसका नाम प्रतिविन्ध्य रखा गया था। उसे यौधिष्ठिरी भी कहा जाता था। उसके सभी काका उससे बहुत प्रेम करते थे। अपने पिता के अतिरिक्त अन्य चार पाण्डवों के साथ उसका दो प्रकार का नाता रहनेवाला था—एक काका का और दूसरा सापत्न पिता का। परन्तु मैंने उसे आस्थापूर्वक सिखाया था कि वह सभी को 'तात' कहे। पाँच पतियों के कारण अपने जीवन की आचार-संहिता स्वयं मुझे ही निश्चित करनी थी। राजमाता और सखा कृष्ण के मार्गदर्शन के अनुसार मैं वह कर रही थी। जीवन की आकस्मिक वास्तविकताओं के कारण अनजाने में ही हम तीनों एक-दूसरे के समीप आते गये। राजमाता भी कृष्ण को सखा मानने लगीं। हम तीनों का यह भाव-त्रिकोण केवल हमें ही ज्ञात था। हम तीनों को वह अत्यन्त प्रिय भी था।

मेरा दूसरा पति था बलशाली भीमसेन। मैं भलीभाँति जानती थी कि भीमसेन ही अन्य पाण्डवों का संरक्षक कवच है। विशालकाय भीमसेन अद्वितीय शक्तिशाली था—सखा कृष्ण के भ्राता बलराम के समान। वह बलराम का गदा और मल्ल-विद्या का शिष्य ही था—उन्हीं के जैसा खुले मनवाला, कन्धे पर गदा डालकर सिर ऊपर उठा, खिलखिलाकर हँसनेवाला! कितना अन्तर था युधिष्ठिर और भीमसेन में। एक उत्तर ध्रुव तो दूसरा दक्षिण ध्रुव! भीम का तीन बातों पर वश नहीं था—भूख, निद्रा और क्रोध पर। कन्धे पर रखी प्रचण्ड गदा की भाँति क्रोध भी उसका दूसरा शस्त्र ही था। अपनी गदा को गोलाकार घुमाते हुए जब वह शत्रु को चुनौती देता था तो शत्रु अधमरा हो ही जाता था, देखनेवाला भी हड़बड़ा जाता था। भीमसेन अधपके तोरंजन फल के सदृश सतेज गौरवर्णी था। उसके ढाल जैसे गोल मुख को घनी मूँछें शोभा देती थीं। इतना बलिष्ठ, योद्धा भीमसेन तीन ज्येष्ठ व्यक्तियों की आज्ञा का नम्रतापूर्वक पालन किया करता था—पहला ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर, दूसरी कुन्ती माता और तीसरा मेरा सखा कृष्ण। आयु में भीमसेन कृष्ण से

तनिक ज्येष्ठ होने के कारण जब भी कृष्ण उसके पाँव छूने हेतु झुकने लगता था, भीमसेन उसे ऐसा करने से रोकता था। भीमसेन के दो प्रमुख शस्त्र थे–गदा और मूसल। इन्द्रप्रस्थ की राजसभा में वह अधिकतर कुछ बोलता ही नहीं था। सभा में बोलना उसका स्वभाव ही नहीं था। रणभूमि में शत्रु को चुनौती देते हुए, उसे उकसाते हुए भीम की वाणी में पैनी धार आती थी।

मेरे वीर पति भीमसेन का अतुलनीय शरीर-सामर्थ्य कई बातों के लिए संरक्षक कवच था। यह उसके अन्य भ्राताओं के पराक्रम का कवच था और मेरे मोहक, कमनीय सौन्दर्य का भी कवच था। इसके अतिरिक्त उसका बल इन्द्रप्रस्थ के सामान्य नगरजनों के न्यायोचित अधिकारों का भी कवच था। अत: भीमसेन इन्द्रप्रस्थ के नगरजनों में अन्य भ्राताओं से अधिक प्रिय था। मेरे कृष्ण ने ही सबसे पहले उसको 'भीमसेन' कहा। अन्यों में से किसी को उसने धर्मसेन, अर्जुनसेन, नकुलसेन अथवा सहदेवसेन नहीं कहा। कृष्ण का उसे 'भीमसेन' कहना कितना सार्थक था! वह कभी अकेला लगता ही नहीं था। उसके आने से लगता था, सैकड़ों हाथियों की सेना चली आ रही है। 'भय' शब्द उसे पता ही नहीं था। तभी तो उसे देखते ही नगरजन उन्मत्त होकर जयघोष करने लगते थे–'वी ऽ र भी ऽ म से ऽ न की जय...की जय!'

मेरे सभी पति मुझसे अत्यन्त प्रेम करते थे। परन्तु स्त्री होने के नाते यदि कोई मुझसे पूछे कि तुम्हारा प्रथम क्रमांक का पति कौन है? तो मैं भीमसेन का ही नाम लूँगी–उसके पश्चात् अर्जुन का और अन्तिम क्रमांक होगा युधिष्ठिर का।

इन्द्रप्रस्थ की महाराज्ञी के नाते यही प्रश्न कोई मुझसे पूछे तो मेरा उत्तर होगा–युधिष्ठिर। उसके उस लज्जाजनक द्यूत खेलने के पश्चात् भी मैं ऐसा क्यों कह रही हूँ? इन्द्रप्रस्थ की महाराज्ञी बनने के पश्चात् मुझमें भी आमूल परिवर्तन हुआ था–वह भी कृष्ण के कारण। महाराज्ञी के उत्तरदायित्व की सीख उसी ने मुझे दी थी। जब वह किसी को अपना मानता था, उसके साहचर्य में व्यक्ति अन्तर्बाह्य बदल जाता था।

किसी के भी वश में न आनेवाला भीमसेन मेरे कृष्ण का कहना चुपके से मान लेता था। भीमसेन के मुझे सर्वाधिक प्रिय होने के जो कारण हैं, उनमें यह प्रमुख कारण है।

मुझसे भीमसेन के अतुलनीय प्रेम की प्रतीति दिलानेवाली कई घटनाएँ हमारे काम्यकवन के वनवासी जीवन में घटित हुईं। सम्पन्नता के दिनों में आज्ञापालन के लिए सेवक-सेविकाओं के होते, कोई भी पति अपनी पत्नी की इच्छा की सरलता से पूर्ति कर सकता है। पाण्डवों से मैंने इस बात को कई बार अनुभव किया था। किन्तु उनमें कोई विशेषता नहीं थी। वनवासी जीवन की असुविधाओं में अपनी पत्नी की इच्छापूर्ति करने के लिए पति के मन में अतीव प्रेम होना चाहिए। काम्यकवन में एक बार भ्रमण करते हुए मैं अपने पाँचों पतियों सहित एक सरोवर के तट पर आ गयी। उस सरोवर के मध्य सुन्दर, काषाय वर्ण के कमल-पुष्प खिले हुए थे। उस नील जलाशय पर वे और भी शोभायमान हो रहे थे। उन्हें देखकर मैंने चीत्कार किया–"कितने सुन्दर हैं ये कमल-पुष्प!" यह सुनकर ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर ने कहा, "उनसे अधिक सुन्दर हैं तेरे ये एड़ियों तक लहराते विपुल कृष्ण-नीलवर्ण केश। ये पुष्प तेरे केशों में विराजित होने पर और भी सुन्दर दिखेंगे। पर्णकुटी पहुँचते ही किसी वनवासी सेवक को भिजवाकर मँगवा लेंगे इन्हें।"

यह सुनकर मैंने श्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुन की ओर इस दृष्टि से देखा कि अब वह क्या करेगा? उसने मुझे अपेक्षित ही उत्तर दिया–"हे श्यामले, इस समय मेरे पास गाण्डीव नहीं है, होता तो

मत्स्यभेद करनेवाले अपने धनुर्वेद का कौशल्य मैं तुझे अभी दिखा देता। मेरे हाथ में गाण्डीव आते ही, दूसरे ही क्षण ये कमल-पुष्प तेरे चरणों में लोटते दिखाई देते।”

नकुल-सहदेव ने क्या कहा था, वह अब मुझे स्मरण नहीं है। अन्त में मैंने भीमसेन की ओर देखा। उसने आँखों से ही मेरे प्रश्न को भाँप लिया। अपने श्वेत अधरीय की काछ कसते हुए उसने कहा, “तनिक रुक जा। अभी आया मैं तेरे मनभाये पुष्प लेकर!” अन्य भ्राताओं के देखते-देखते उसने सरोवर में छलाँग लगायी। गौरवर्ण, स्नायुबद्ध भुजाओं को छप-छप चलाता, पानी को चीरता हुआ वह उन कमल-पुष्पों तक पहुँच गया। चुनकर कुछ अर्धविकसित और कुछ पूर्णविकसित कमल-पुष्पों को उसने खोंट लिया। उनका गुच्छा एक काँख में दबाकर, दूसरे हाथ से पानी को चीरता हुआ वह लौट आया। कमल-पुष्पों का वह गुच्छा उसने अपने भ्राताओं के आगे डाल दिया। वक्ष फुलाकर, सिर ऊपर उठाकर अट्टहास करते हुए उसने कहा, “अर्जुन, पहना दो ये पुष्प उसके केशों में!” जल में भीगे, गौरवर्ण, निश्छल हँसनेवाले उस भीमसेन को मैं कभी भूल नहीं पायी।

किसी भी स्त्री को अपने पति की सच्ची पहचान एकान्त सहवास में ही मिलती है। मेरे तो पाँच पति थे। एकान्त सहवास में उनके स्वभाव पाँच प्रकार के थे। अब सारा जीवन-पट ही खोलकर दिखाना है, अत: निःसंकोच होकर ही मुझे सब कहना होगा। सच कहती हूँ, युधिष्ठिर के पश्चात् जब भीमसेन के साथ मेरे सहवास की बारी आयी तब मैं बहुत भयभीत हुई थी। किन्तु उस रात मुझे ज्ञात हुआ कि मेघों की भाँति गरजनेवाले, क्रोध से दहाड़नेवाले मेरे वीर पति भीमसेन में कमल-पुष्प की पंखुड़ियों जैसा एक संवेदनशील मृदु मन विद्यमान है। एकान्त में उसने कभी मुझसे उच्छृंखल आचरण नहीं किया। इसीलिए मुझे वह सर्वाधिक आदर्श पति प्रतीत हुआ। प्रण में मुझे जीतनेवाले अर्जुन से भी अधिक!

भीमसेन से मेरे जो पुत्र हुआ, उसका कृष्णाग्रज बलराम ने ‘सुतसोम’ नाम रखा। वह अपने पिता जैसा ही था—सशक्त और नटखट।

भीमसेन के पश्चात् मेरे तीसरे पतिदेव—धनुर्धर धनंजय का—पराक्रमी पार्थ का, पहले ही बाण से अचूक लक्ष्यभेद करके स्वयंवर में मुझे जीतनेवाले नरोत्तम अर्जुन का क्रम था। उसकी एक बात को मैं कभी स्वीकार नहीं कर सकी—वह भी मेरे पत्नीत्व विभाजन के समय किसी भी वीर पुरुष के लिए अशोभनीय उसका मौन रह जाना। अपनी माता की आज्ञा और ज्येष्ठ भ्राता की इच्छा का उसने पालन किया—यह स्पष्टीकरण एकान्त में कई बार उसने मुझे दिया, किन्तु मुझे वह कभी भी स्वीकार नहीं हुआ। उसके दोनों ज्येष्ठों का आदर करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं थी। किसी को भी नहीं हो सकती। किन्तु उसी क्षण मैं जान गयी कि ऐन समय पर यह अपने क्रोध का गाण्डीव उतारकर फेंक सकता है।

स्वयंवर के पश्चात् कई बार मैंने सोचा कि यदि मेरे विभाजन के समय मेरे पति के—अर्जुन के स्थान पर कृष्ण होता तो? क्या करता वह? उसने भी जीवन-भर अपने ज्येष्ठों का आदर किया था। क्या ऐसे समय पर वह चुप रहता? कदापि नहीं। उसी क्षण वह ज्येष्ठता की झूल ओढ़े अपने भ्राता को उसके दोष स्पष्टत: सुनाता और माता का वचन भी रखता। इसीलिए अर्जुन का उस समय का मौन मुझे सदैव अक्षम्य लगता आया है। वह ऐन समय पर साहस खो देनेवाला व्यक्ति है, यह मैंने तभी ताड़ लिया था। ऐसे अवसर पर उसे कठोर शब्द सुनाकर उचित मार्ग पर लाने की सामर्थ्य केवल कृष्ण में ही थी।

पाँच पतियों को स्वीकार करना—वह भी प्रसन्नतापूर्वक—किस प्रकार आवश्यक है, यह कृष्ण ने ही मुझे समझाया था। स्त्री होते हुए भी अपने पतियों के विषय में उससे बातें करते हुए मुझे कभी, किसी प्रकार का संकोच प्रतीत नहीं हुआ। उससे हुए मेरे सख्यत्व का यह भी एक प्रमाण था।

सभी को लगता था कि अर्जुन ही मेरा प्रिय पति है—इन्द्रप्रस्थवासियों को भी वही लगता था। जब-जब मैंने पार्थ को पुरुषोत्तम वासुदेव के साथ देखा तब-तब मुझे भी ऐसा ही लगा। दोनों के वर्ण नील थे, ऊँचाई भी लगभग समान ही थी। वे आकृति और छाया की भाँति दिखते थे। बिम्ब-प्रतिबिम्ब जैसे लगते थे। इन सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि पाँचों पाण्डवों में मेरे सखा कृष्ण ने केवल अर्जुन को ही सखा माना था। अन्य किसी पाण्डव को वह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था।

अन्तिम दो पाण्डव, नकुल और सहदेव—पति की अपेक्षा मुझे मित्र ही लगते आये थे। एकान्त में उन दोनों के संकोची स्वभाव में मुझे ही परिवर्तन लाना पड़ा था। उनका एक वैशिष्ट्य था, जो अन्य किसी को मालूम नहीं था। वह यह था कि ज्येष्ठ तीन पाण्डवों के विषय में जो मुझे प्रतीत होता था, वही इन दोनों को भी होता था। वे दोनों आयु में अपने भ्राताओं से ही नहीं, मुझसे भी छोटे थे। किन्तु मैंने उन्हें इस बात का कभी आभास नहीं होने दिया। राजमाता कुन्तीदेवी ने भी उन्हें कभी आभास नहीं होने दिया था कि वे उनके सौतेले पुत्र हैं, मैंने भी वही किया।

मेरे पाँचों पतियों से मुझे पाँच पुत्र प्राप्त हुए। अर्जुन से हुए मेरे पुत्र का नाम था श्रुतकीर्ति। कृष्ण ने ही वह रखा था। 'श्रुतकीर्ति' का अर्थ था विख्यात। नकुल-सहदेव से हुए मेरे पुत्रों के नाम थे शतानीक और श्रुतसेन। शतानीक अपने पिता नकुल के समान अप्रतिम सुन्दर था।

पाण्डवों के पाँचों पुत्रों का पालन मैंने कैसे किया, यह मैं ही जानती हूँ। मैंने पाँचों पुत्रों को सभी पाण्डवों को 'तात' कहना सिखाया। वे अपने पिता के अतिरिक्त मेरे अन्य पतियों को यदि किसी के सिखाने पर 'काका' कहते, तो भविष्य में उनके आगे कई यक्ष प्रश्न खड़े हो जाते। मेरे पुत्र गुणवान, समझदार थे। इसके अतिरिक्त अनुभवी राजमाता मेरे साथ थीं। मेरे पाँचों पुत्र मेरी इच्छा के अनुरूप पाण्डव-पुत्र ही कहे जाते थे।

क्या पाण्डव, क्या कौरव और क्या यादव, इन सभी का एक प्रमुख वैशिष्ट्य था—बहुपत्नीत्व! 'क्षत्रियों के लिए यह आवश्यक है' कहकर वे उसका समर्थन करते थे। लगभग सभी की एक से अधिक पत्नियाँ थीं। उद्धवदेव जैसा एकाध ही कोई इसका अपवाद था—तभी तो वे सर्वत्र वन्दनीय थे। बहुपत्नीत्व की प्रथा के कारण प्रत्येक योद्धा की प्रथम पत्नी को अपनी अन्य सपत्नियों का ध्यान रखना पड़ता था। इस विषय में रुक्मिणी भाभी मेरा आदर्श थी। जब कभी उससे भेंट होती थी, 'वीर पति को प्रेमपाश में किस प्रकार बाँधे रखना चाहिए' इसकी सीख मुझे वह अवश्य देती थी। सौभाग्य की बात यह थी कि मेरा और रुक्मिणी भाभी का सख्यत्व, कृष्ण और अर्जुन के सख्य की भाँति किसी की आँख में खटकता नहीं था। कृष्ण से मेरे सख्यत्व में और रुक्मिणी भाभी से मेरे सख्यत्व में अन्तर था। पाण्डवों की महाराज्ञी के नाते मैंने रुक्मिणी भाभी को आदर्श माना था, किन्तु कृष्ण को? उसको तो मैंने सम्पूर्ण जीवन का आदर्श माना था।

मेरे पाँचों पतियों की मेरे अतिरिक्त और भी अन्य पत्नियाँ थीं। मेरे बाद युधिष्ठिर ने पौरवी नामक स्त्री से विवाह किया था। उन दोनों के पुत्र का नाम था 'देवक'।

भीमसेन की मुझसे पहले ही हिडिम्बा नामक आदिवासी पत्नी थी। उनके पुत्र का नाम था घटोत्कच। पाण्डवों की अगली पीढ़ी का वह प्रथम अंकुर था। हिडिम्बा कभी हस्तिनापुर अथवा इन्द्रप्रस्थ नहीं आयी। वह गंगा के उस पार अरण्य में ही रह रही थी। यह मुझे स्वयंवर के पश्चात् ज्ञात हुआ। इस विषय में भी कृष्ण ने मेरा मार्गदर्शन किया। इन्द्रप्रस्थ में जब हमारी भेंट हुई, तब उसने पूछा था, "हे कृष्णे, पाँचों पतियों के साथ तुम सुखी तो हो? किसी से कोई झगड़ा तो नहीं है न?" मैंने हिडिम्बा का विषय छेड़कर पूछा, "यदि पहले पाण्डव-पुत्र के नाते घटोत्कच ही हमारे आगे आ खड़ा हुआ तो?" तब नित्य की भाँति नटखट मुस्कराते हुए उसने कहा था, "चिन्ता मत कर श्यामले। समय आने पर घटोत्कच ही पाण्डवों को संकट से उबारेगा। आखिर वह भीमसेन का प्रथम पुत्र है। हे कृष्णे, मेरी भी एक प्रिय पत्नी जाम्बवती–हिडिम्बा जैसी ही है!" उसने मुझे निरुत्तर किया। उसकी यही विशेषता थी कि कौन-सा सन्दर्भ कब और कैसे प्रस्तुत किया जाए, यह वही जानता था। इसका कोई अन्य अनुमान नहीं कर सकता था। मेरे सभी आप्त पुरुषों में वह अद्वितीय बुद्धिमान था। उससे वाद-प्रतिवाद करने में मुझे भी बड़ा आनन्द आता था। ऐसे अवसर पर अन्ततः वह कहा करता था, "पांचाली, वास्तव में तू बुद्धिमती है। मेरी प्रिय पत्नी रुक्मिणी से भी अधिक! इसीलिए मेरी प्रिय सखी है तू। किन्तु एक बात का ध्यान रख, मेरा यह मत उससे कभी मत कहना!"

भीमसेन की तीसरी पत्नी का नाम था बलन्धरा। वह काशिराज-पुत्री थी। उसके पुत्र का नाम था शर्वत्रात। भीमसेन की चौथी पत्नी का नाम काली था। वह कृष्ण की बुआ श्रुतश्रवा और दमघोष की पुत्री थी। कृष्ण से जीवन-भर द्वेष करनेवाले शिशुपाल की वह सहोदरा थी। यह विवाह भी कृष्ण ने ही करवाया था। उसके विचारों को आत्मसात करना सरल नहीं था। वह जीवन के विकास में सहायक था और उसमें बाधा डालनेवाली अन्यायी और शोषक शक्तियों का दमन करना था।

भीमसेन एकान्त में मुझे 'सुचारु, सुभगे' कहता था। मुझे भी वह सम्बोधन प्रिय लगता था।

मेरा तीसरा पति अर्जुन! हम सबके लिए निश्चित आचार-संहिता एक बार उससे भंग हुई थी। अत: वह एक वर्ष की तीर्थयात्रा पर चला गया था। इन्द्रप्रस्थ लौटने से पहले उसने तीन विवाह किये थे। पहली थी नागकन्या उलूपी। वह कौरव्य नाग की पुत्री थी। बाल्यावस्था में ही वह विधवा हो गयी थी। अर्जुन ने गंगा-तट पर उससे गान्धर्व विवाह किया था। उसके पुत्र का नाम नागों ने इरावान रखा था। वह अपने मायके में ही रहती थी।

अर्जुन ने दूसरा विवाह मणिपुर के राजा चित्रवाहन की पुत्री चित्रांगदा से किया था। उसके पुत्र का नाम बभ्रुवाहन रखा गया था। हमारे राजसूय यज्ञ के समय चित्रांगदा अपने पुत्र सहित इन्द्रप्रस्थ आयी थी।

मेरा तीसरा पति अर्जुन कृष्ण को अतीव प्रिय होने के कारण मुझे भी उतना ही प्रिय था। हम तीनों का भाव-त्रिकोण औरों के लिए दुर्बोध था–अर्जुन ने उसे चतुष्कोण बनाया–सुभद्रा का हरण कर! सुभद्रा उसकी चौथी पत्नी बनी। मैंने अपनी सभी सपत्नियों से प्रेमपूर्वक व्यवहार किया–सुभद्रा से तो अधिक ही! वह कृष्ण की बहन जो थी! न मैंने उसकी गोकुल की राधिका को देखा था, न मैं उसकी गोकुल की बहन एकानंगा से मिली थी। उसके भाव-जीवन की कोई भी स्त्री मेरे जीवन में नहीं आयी थी, केवल सुभद्रा आयी–सपत्नी बनकर! मैंने उसे स्वीकार किया बहन के

रूप में! 'दीदी' कहकर मुझसे लिपटते हुए उसने मेरे कानों में कहा, "भैया ने मुझसे कहा है, वहाँ तू द्रौपदी के प्रेम के सहारे ही निर्वाह कर पाएगी।" मैं समझ गयी कि वह कृष्ण का सुभद्रा को दिया केवल परामर्श नहीं था–वह मेरे लिए आदेश भी था। कृष्ण के आदेश की द्रौपदी कैसे अवज्ञा कर सकती थी? मेरी इस प्रिय बहन सुभद्रा को भी एक पुत्र प्राप्त हुआ। कृष्ण ने उसका नाम अभिमन्यु रखा। मुझे भी वह भा गया। अर्जुन-पुत्र श्रुतकीर्ति को मैं 'कीर्ति' कहा करती थी, वैसे ही अभिमन्यु को मैं 'अभि' कहने लगी। इसलिए नहीं कि वह कृष्ण का भानजा था, बल्कि अपने रूप, आचरण और पराक्रम के कारण वह सबका प्रिय हो गया। कृष्ण की बहन होने के कारण सुभद्रा के लिए मेरे मन में जो प्रेम था, वह 'अभि' की माता के लिए और भी बढ़ गया। अर्जुन के अतिरिक्त अन्य पाण्डव भी मनःपूर्वक अभि का लाड़-दुलार करते थे। वह था भी ऐसा ही–जो सभी को प्रिय लगे। एक बात मेरे ध्यान में आयी थी, अनजाने में ही सभी पाण्डव-पुत्रों में 'अभि' की ओर अर्जुन का तनिक अधिक झुकाव था। वह 'अभि' के कारण था कि कृष्ण के कारण? यह मैं समझ नहीं पायी। अर्जुन एकान्त में मुझे 'सुरेखा-श्यामा' कहता था। मैं, कृष्ण और अर्जुन–हम तीनों श्यामवर्ण थे।

मेरा चौथा पति नकुल अत्यन्त सुन्दर था। मैंने मदन को देखा नहीं था–देखने की इच्छा भी नहीं थी। किन्तु नकुल को सब मदन समान ही मानते थे। कृष्ण के प्रथम पुत्र प्रद्युम्न को भी सभी यादव मदन का अवतार ही मानते थे। उद्धवदेव का वर्ण उन दोनों से मिलता था। तीनों को एक-साथ दूर से देखने पर पहचाना नहीं जाता था कि कौन नकुल है, कौन प्रद्युम्न और कौन उद्धवदेव! नकुल सुरंग और अश्व-विशेषज्ञ था। शिशुपाल-वध के पश्चात् उसकी पुत्री करेणुमती नकुल से ब्याही गयी थी। इस राजनीति में और सम्बन्ध जोड़ने में मुख्यत: कृष्ण का ही हाथ था। करेणुमती पाण्डवों के मौसेरे भ्राता की पुत्री–अर्थात् उनकी भतीजी थी। किन्तु कृष्ण के आदेश पर वह नकुल की पत्नी बन गयी। उसे जो पुत्र हुआ, उसका नाम निरमित्र रखा गया।

नकुल एकान्त में मुझे 'याज्ञसेनी' कहा करता था।

मेरा पाँचवाँ–अन्तिम क्रमांक का पति था सहदेव। उसे ज्योतिष-विद्या में अत्यन्त रुचि थी। कभी-कभी मेरी बायीं हथेली देखकर वह मेरा भविष्य भी बताया करता था। तब मुस्कराते हुए मैं उससे कहती थी, "एक बार कृष्ण की दोनों हथेलियाँ देखकर उसका भविष्य बताने में क्या आपत्ति है?" तब अपने भाल पर सिकुड़ने डालते हुए वह उठकर चुपके से कक्ष से चला जाता था। वह गौ और अश्व-विशेषज्ञ भी था। मेरे अतिरिक्त उसकी और भी तीन पत्नियाँ थीं। उनमें से एक थी पाण्डवों के मामा मद्रराज शल्य की पुत्री विजया। उसके पुत्र का नाम था सुहोत्र।

सुभद्रा के अतिरिक्त एक और यादवकन्या हमारे परिवार में आयी–वह थी भानु राजा की पुत्री भानुमती। उसकी कोई सन्तान नहीं थी।

सहदेव की चौथी पत्नी थी मगधसम्राट् जरासन्ध की पुत्री–जरासन्ध-पुत्र सहदेव की बहन। अर्थात् इस मगधकन्या के पति और भ्राता का नाम एक ही था–सहदेव!

सहदेव एकान्त में मुझे 'पांचाली' कहता था। सम्भवत: मेरे पतियों में उसका पाँचवाँ क्रमांक होना ही इसका कारण हो।

मेरे प्रथम पति ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर की ज्येष्ठता का अन्य चारों भ्राता मनःपूर्वक आदर किया करते थे–उसके आज्ञाकारी थे। ज्येष्ठ पुत्र पर परिवार का पूरा दायित्व होता है। उसके बोझ

के नीचे वह दबा-दबा-सा रहता है। साहस के किसी भी कार्य में वह आगे नहीं रहता, अपने अनुजों की योग्यता के अनुरूप उन्हें कार्य-प्रवृत्त करता है। प्रत्येक परिवार को अपने जीवन-संग्राम में एक सेनापति की आवश्यकता होती है। युधिष्ठिर हमारे परिवार का सेनापति था। परिवार के किसी भी व्यक्ति के कारण जब भी कोई समस्या खड़ी हुई, युधिष्ठिर ने सबको प्रोत्साहित किया, प्रेरित किया। इस काम में मेरी सासु माँ–कुन्तीदेवी ने उसकी बड़ी सहायता की। परिवार की विभिन्न समस्याओं के बारे में ये माता-पुत्र अनुकूल-प्रतिकूल चर्चा किया करते थे और जब निर्णय हो जाता था तो अन्य परिवारवालों को उससे अवगत कराया जाता था। किन्तु बिना कुछ पूछे ही उसे स्वीकार करने का बन्धन नहीं रहता था। किसी को भी अपनी शंका प्रस्तुत करने का अधिकार रहता था। उन माता-पुत्र से उस शंका का तर्कसंगत उत्तर मिलता था।

सचमुच युधिष्ठिर ज्येष्ठ भ्राता था। अपने प्रत्येक भ्राता की योग्यता का उसे अचूक ज्ञान था। सभी पाण्डव ज्येष्ठ भ्राता के नाते युधिष्ठिर का आदर करते थे और युधिष्ठिर अपनी माता के वचन को अन्तिम मानता था।

एकान्त सहवास में ही मैं ज्येष्ठ पाण्डव के अन्तरंग की गहराई तक जा पायी। भ्राताओं में अपनी ज्येष्ठता, इन्द्रप्रस्थ का राजवैभव, मुझसे पति का नाता, युद्ध आदि बातों से जीवन के पूर्णत्व की ओर उसका अधिक झुकाव था। ऋषि-मुनि और ब्रह्मवृन्द में उसका अधिक मन लगता था। महात्मा विदुर, उद्धव, कभी-कभी इन्द्रप्रस्थ आनेवाले मुनिवर व्यास, याज-उपयाज जैसे ऋषि-मुनियों के साथ किसी-न-किसी विषय पर उसकी देर तक चर्चा हुआ करती थी। ऐसी चर्चाओं के पश्चात् माता के प्रत्येक वचन को ब्रह्मवाक्य माननेवाला युधिष्ठिर उनको भी कुछ जीवन-सिद्धान्त समझाया करता था। तब उसका मुखमण्डल उद्धवदेव, महात्मा विदुर के सदृश दिखता था। कभी-कभी वह कृष्ण जैसा भी लगता था। इस ज्येष्ठ पाण्डव की वाणी अत्यन्त मधुर और सुसंस्कृत थी। वह कभी क्रोधित नहीं होता था। मानो उसने अपना सारा क्रोध भीमसेन को दे दिया था। हस्तिनापुर के कौरवश्रेष्ठ दुर्योधन में और पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर में यही अन्तर था। दुर्योधन अपने सभी भ्राताओं का क्रोध स्वयं अपने में ही लिया करता था। लगता था, विकर्ण और दो-चार कौरवों को छोड़कर अन्य सभी कौरव दुर्योधन के ही मुख से बात कर रहे हैं। मेरे पाँचों पतियों की बात अलग थी। प्रत्येक का अपना-अपना विशेष व्यक्तित्व था। अन्य भ्राताओं के सभी गुण अकेले युधिष्ठिर में ही समाये हुए थे। पाण्डवों का प्रमुख और इन्द्रप्रस्थ का राजा होने के लिए वही सर्वथा योग्य था।

मेरे प्रथम पति को करुणा की अद्वितीय देन प्राप्त थी। यह करुणा कई विपत्तियों को झेल चुके, परिवार के ज्येष्ठ पुत्र की थी–इन्द्रप्रस्थ के अभिषिक्त राजा की थी। स्वभावत: पूर्णत्व की ओर झुकाव होने के कारण करुणा उसके प्राणों में बसी हुई थी। इस प्रकार प्राणों में बसी करुणा ही 'धर्म' होती है। युधिष्ठिर ऐसी ही करुणा का स्वामी था। इसीलिए इन्द्रप्रस्थवासी उसे 'धर्मराज' कहा करते थे। मुझे भी वह वैसा ही लगता था।

मेरा द्वितीय पति भीमसेन असीम सामर्थ्यशाली था और विनयशील भी। माता और ज्येष्ठ भ्राता के आगे ही उसकी विनम्रता के दर्शन होते थे। और भी दो व्यक्ति थे–मेरा सखा कृष्ण और उसके ज्येष्ठ भ्राता बलराम भैया, जिनके आगे वह विनम्र होता था। बहुतों की भ्रान्त धारणा थी कि वह केवल शक्तिमान है, बुद्धिमान नहीं। किन्तु ऐसा नहीं था। द्यूत के समय उसने सहदेव से कहा

था, "सहदेव, थोड़ी अग्नि ले आ, द्यूत खेलनेवाले इन हाथों को मैं जला डालता हूँ।" क्या ये उद्‌गार उसकी सूझबूझ, उसकी बुद्धिमानी के प्रमाण नहीं हैं, उसने आदेश भी दिया था तो अपने सबसे छोटे भ्राता को। क्रोध में होते हुए भी उसने यह नहीं कहा कि, 'द्यूत खेलनेवाले इस युधिष्ठिर को ही जला डालता हूँ।'

बकासुर से, 'पहले अन्न भक्षण करता हूँ, बाद में तुझे देखता हूँ' कहनेवाला भीमसेन क्या संयमी, बुद्धिमान नहीं था? उसकी प्रचण्ड सामर्थ्य हमारे परिवार का अभेद्य कवच थी। किन्तु भूलकर भी कभी उसने इस बात की बड़ाई नहीं की। क्या यह उसका विनय नहीं था? शक्तिशाली पुरुषों के प्राकृतिक आवेग अन्यों को चकित कर देते हैं। भीमसेन की निद्रा और भूख वैसी ही थी। स्वयं को प्रिय भाँति-भाँति के फल वह सुतसोम सहित अन्य पुत्रों को भी खिलाया करता था। ऊँची सुदृढ़ काया-काठीवाले भीमसेन को अपनी कृशकाय माता से बातें करते देखना एक सुखद अनुभव था।

एकान्त में मेरे सहवास के समय भीमसेन सर्वाधिक आदर्श पति था। उससे सम्भाषणों में उसके संगीत और सौन्दर्य के गहरे ज्ञान की प्रतीति हुआ करती थी। मेरा मन तनिक भी न दुखे, इसकी वह पूरी सावधानी बरतता था। उसके साहचर्य में मुझे लगता था कि मैं हिमालय के भव्य, सुदृढ़ और उच्च शिखर के आश्रय में हूँ।

भीमसेन को अपने भ्राताओं से अत्यन्त निरपेक्ष प्रेम था। अपने श्वसुर महाराज पाण्डु को तो मैंने देखा नहीं था। वे दिग्विजयी सम्राट् थे। परिवार में उनकी त्रुटि को भीमसेन ने बिना कुछ बोले पूर्ण किया था। 'वह न होता तो?' इसी प्रश्न में उसके अस्तित्व की महत्ता छिपी हुई थी। अपनी प्रचण्ड गदा की गतिमान हलचल से वह अपने वायु-पुत्रत्व को प्रमाणित करता था। पवन ही की भाँति वह जीवन को प्रफुल्लित कर देता था।

मेरे तीसरे पति अर्जुन को पार्थ और धनंजय भी कहा जाता था। कृष्ण उसे गुडाकेश भी कहता था—गुडाकेश अर्थात् निद्रा जिसके नियन्त्रण में है। मेरा यह पति कुन्तीदेवी का अन्तिम पुत्र था—इसीलिए उसे जन्मत: ही कुछ विशेष गुण प्राप्त हुए थे। वह अष्टावधानी था। वह प्रतिस्मृति विद्या का ज्ञाता था। उसके शस्त्रास्त्र-विद्या के दो गुरु थे—आचार्य द्रोण और कृप। उसके लौकिक जीवन के भी दो गुरु थे—ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर और मेरा सखा कृष्ण। इन दोनों के साहचर्य में, अपने छोटेपन को भूले बिना ही वह बहुत कुछ सीख गया था। कृष्ण की बहन सुभद्रा अर्जुन की अन्तिम पत्नी थी। अर्जुन अपने माता-पिता की अन्तिम सन्तान था और सुभद्रा भी अपने माता-पिता की अन्तिम सन्तान थी। इन दोनों अन्तिम सन्तानों का विवाह एक अद्वितीय मिलन था। मुझे चिढ़ाने हेतु कृष्ण नटखटपन से कहा करता था, "कृष्णे, वास्तव में अर्जुन सुभद्रा से ही प्रेम करता है। सखी, वीरों के मन घास के गट्ठे जैसे होते हैं। उसे कितना ही कसकर बाँधो, जब उसे दूसरे बन्ध से बाँधा जाता है, पहला बन्ध अपने आप ही ढीला पड़ जाता है।" उसके व्यंग्य को मुस्कराकर लौटाते हुए मैं कहती थी, "तुझे किसने कहा कि वीरों के मन घास के गट्ठे जैसे होते हैं? वे तो यमुना के पाट के समान होते हैं।" वह भी कुछ कम नहीं था। शरारत से मुस्कराते हुए वह मेरी चुटकी लेता था, "वही कह रहा हूँ मैं—वीरों के मन यमुना के पाट समान—अर्थात् बन्धनहीन हुआ करते हैं।" उसका कहना काटते हुए मैं कहती थी, "यमुना के पाट समान अर्थात् अपने दोनों तटों को एक समान खिलाते हुए बहनेवाले!"

सुभद्रा के आगमन से मेरे पति अर्जुन के प्रेम में कमी आएगी, लोगों की यह सोच असत्य ही प्रमाणित हुई। मेरे श्रुतकीर्ति को और सुभद्रा के 'अभि' को दोनों भुजाओं पर उठाकर वह जैसे मेरे कक्ष में आता था, वैसे ही सुभद्रा के कक्ष में भी जाता था। बड़ी तन्मयता से एक ही समय उन दोनों को धनुर्विद्या के विविध कठिन अंग सिखाता था।

जब कभी कृष्ण का इन्द्रप्रस्थ में आगमन होता था, अभिमन्यु और श्रुतकीर्ति की प्रसन्नता उमड़ पड़ती थी। वे दोनों 'मामा-मामा' कहते हुए उसके आसपास मँडराते रहते थे। कृष्ण भी तल्लीन होकर घटिका-घटिका-भर उनसे बातें करता रहता था। मेरे अन्य पुत्र प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, शतानीक और श्रुतसेन भी वहीं हुआ करते थे। कृष्ण से सर्वाधिक प्रश्न करके उसे तंग करता था हमारा अभि।

इन्द्रप्रस्थ के नगरजनों में अन्य पाण्डव-पुत्रों की अपेक्षा अभि अधिक प्रिय था–उसके गुण ही ऐसे थे। नगरजनों का कृष्णार्जुन के प्रति प्रेम भी उसका एक कारण था।

कभी-कभी मुझे लगता था कि मैं अपने पाँचों पतियों को अनेक अन्य विवाहों के विषय में टटोलूँ। सम्भवत: अपनी सपत्नियों को जान लेने की स्त्रियोचित इच्छा इसके मूल में हो। इन्द्रप्रस्थ के महाराज–ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर से मैंने एक टेढ़ा प्रश्न किया था–"तुम सब पाण्डव कृष्ण का बहुत आदर करते हो, उसको मार्गदर्शक मानते हो। उसने एक नहीं, दो नहीं, सोलह सहस्र नारियों को द्वारिका में पुनर्वसित किया–ऐसा कुछ तुम क्यों नहीं करते?"

मेरे इस प्रश्न से हड़बड़ाकर युधिष्ठिर ने कहा था, "क्या अभिप्राय है तुम्हारा महाराज्ञी? जो कृष्ण करता है, वह करना हममें से किसी के भी लिए सम्भव नहीं है।" मैंने अपने प्रश्न को मोड़कर उससे पूछा, "सहस्रों की बात छोड़ दो। किन्तु तुम पाँचों भ्राताओं की मेरे अतिरिक्त अन्य भी पत्नियाँ हैं। किंवदन्ती है कि मेरे भय से वे इन्द्रप्रस्थ नहीं आती हैं। पहले पौरवी को इन्द्रप्रस्थ लाने में क्या आपत्ति है?"

मेरे उस तिरछे प्रश्न से युधिष्ठिर नि:शब्द हो गया था। वैसे वह नि:शब्द ही रहता था। अत: वह निरुत्तर कब हुआ है, यह किसी की समझ में नहीं आता था। किन्तु मैं वह अचूक रूप से जान लेती थी। पौरवी के विषय में मेरे अन्य प्रश्नों को वह हाँ या ना में उत्तर देता था। इस पूछताछ में मैं अपनी सपत्नी की–जो कभी इन्द्रप्रस्थ आनेवाली नहीं थी–पूरी जानकारी प्राप्त कर लेती थी। जाने कब उसकी आवश्यकता पड़े! यह सब कृष्ण की ही सीख थी।

भीमसेन को भी मैंने उसकी अन्य पत्नियों के विषय में टटोला था। मैंने उससे पूछा था, "हिडिम्बा से मिलने गंगा-तट के अरण्य में, बलन्धरा से मिलने काशी में और काली से मिलने चेदि जाने के बदले उनको ही यहाँ लाया गया तो?" तब मस्तक ऊपर उठाकर अट्टहास करते हुए स्वच्छ मन से भीमसेन ने कहा था, "हिडिम्बा को लाना हो तो इन्द्रप्रस्थ को पुन: खाण्डववन बनाना पड़ेगा। वह तो तेरे सखा कृष्ण के लिए भी अब सम्भव नहीं है। बलन्धरा और काली भी काशी तथा चेदि को छोड़कर यहाँ आनेवाली नहीं हैं। तू आड़ से बाण चलाना छोड़ दे। यहाँ–इन्द्रप्रस्थ में तेरी दो ही सपत्नियाँ रहेंगी–वह भी यादववंशीय-सुभद्रा और भानुमती! वे द्वारिका की होने से क्या तुझे सपत्नी से अधिक बहनें ही नहीं लगतीं?" भीमसेन ने अपने चातुर्य की प्रतीति दिलायी थी।

इसी प्रकार मैंने अर्जुन को भी उसकी अन्य पत्नियों के विषय में छेड़ा था। उलूपी और

चित्रांगदा को इन्द्रप्रस्थ लिवा लाने की बात मैंने उससे की थी। वह भी कुछ कम नहीं था। उसने कहा था, "उन दोनों के देश बहुत दूर हैं। जैसे सत्यभामादेवी वासुदेव का सारथ्य करते हुए प्राग्ज्योतिषपुर गयी थी, वैसे तू भी चल–लेती आ उन दोनों को इन्द्रप्रस्थ! अवश्य आएँगी वे, किन्तु उनकी एक शर्त होगी–" मैंने कुतूहल से पूछा, "कौन-सी शर्त?"

वह मुस्कराया। उसे मुस्कराते देख मुझे भ्रम हुआ, कहीं मैं कृष्ण को तो नहीं देख रही? उसने अपने गुरु कृष्ण जैसी ही तिरछी बात कही, "उनकी शर्त होगी सुभद्रा को द्वारिका वापस भिजवाने की!" वह सुनकर मैं हड़बड़ा गयी–'ऐसा हुआ तो कृष्ण क्या कहेगा?' मुझे चुप होते देख, मुझे उकसाने के अवसर को व्यर्थ न जाने देते हुए अर्जुन ने अचूक शर-सन्धान किया–"उसके भी पहले उनकी शर्त होगी तेरे विषय में। तू मेरी प्रथम पत्नी है, महाराज्ञी है। यही नहीं, तू तो हमारी वन्दनीया रुक्मिणीदेवी जैसी अत्यन्त बुद्धिमती भी है। तूने तो भाँप ही लिया होगा कि उनकी शर्त क्या होगी!"

मैं पुन: निरुत्तर हो गयी थी। क्योंकि मैंने ताड़ लिया था–मुझे काम्पिल्यनगर भिजवाने की ही उनकी शर्त होगी। मैंने तभी निश्चय किया कि अर्जुन को इस प्रकार फिर कभी नहीं छेड़ूँगी।

इस अनुभव से मैंने निर्णय लिया कि अन्तिम दो पतियों से मैं कुछ नहीं पूछूँगी।

पाँचों पतियों को मिलाकर मेरी जो सपत्नियाँ थीं, उनमें से केवल दो ही इन्द्रप्रस्थ आयी थीं–सुभद्रा और भानुमती। इन्द्रप्रस्थ की महाराज्ञी द्रौपदी के पाँच पति हैं, यह अर्धसत्य ही सभी को ज्ञात था। किन्तु उसकी दस सपत्नियाँ भी हैं, यह बहुधा किसी को ज्ञात नहीं था। इसका कारण था कि दो को छोड़ अन्य सभी इन्द्रप्रस्थ के बाहर थीं। और जो इन्द्रप्रस्थ में थीं, कृष्ण के वंश की होने के कारण सपत्नी से अधिक मेरी बहनें ही बन गयी थीं।

कभी-कभी मैं सोचती थी, यदि मेरी आठों सपत्नियाँ अपना अधिकार जताते हुए इन्द्रप्रस्थ उपस्थित हो गयीं तो? कैसा होगा मेरा जीवन? बहुपतित्व के साथ-साथ बहुपत्नीत्व का निर्वाह करते-करते मुझमें विद्यमान पांचालों की याज्ञसेनी बह तो नहीं जाएगी? मैं स्वयं से ही कहती थी, ऐसा कभी नहीं होगा। क्योंकि मैं द्वारिकाधीश की बहन हूँ, कृष्ण की सखी हूँ।

इन्द्रप्रस्थ में मैं अपनी सासुजी–राजमाता कुन्तीदेवी और बहन सुभद्रा के नितान्त निकट थी। सुभद्रा से मिलने पर मुझे रुक्मिणीदेवी से मिलने का आनन्द मिलता था। राजमाता कुन्तीदेवी पहले तो अपनी सासुजी ही लगीं। पाँच वीर पुत्रों की माता होने के कारण वे वैसी थीं भी। सभी इन्द्रप्रस्थवासी राजमाता का आदर किया करते थे। उनकी वाणी से शिव-मन्दिर में गूँजते, मधुर घण्टानाद का आभास होता था। उसमें 'शिव' तो होता ही था, परिस्थितियों के आघात सहते-सहते मन के गर्भगृह से आया प्रौढ़ माधुर्य भी होता था। उनको प्रतीत हुए अपने पाँचों पुत्रों के दोषों का उच्चारण वे कभी मेरे आगे नहीं करती थीं, केवल उनके गुणों की सराहना करती रहती थीं। अपने पुत्रों के दोष मुझे बताने का काम उन्होंने कृष्ण को सौंपा था। वह अपना यह काम बड़ी कुशलता से निभाता था। मेरी सासुजी राजमाता-पद के सर्वथा योग्य थीं। जिस प्रकार कृष्ण ने आर्यावर्त में अपने द्वारिका जनपद को प्रतिष्ठा दिलायी थी, उसी प्रकार राजमाता कुन्तीदेवी को भी अपने नवनिर्मित इन्द्रप्रस्थ गणराज्य को प्रतिष्ठा दिलानी थी। अपनी उत्तराधिकारिणी के नाते उन्होंने सभी कसौटियों पर मुझे परख लिया था।

बाल्यकाल में मेरे भीतर जो संस्कार बने थे, वे माता सौत्रामणि के थे। किन्तु इन्द्रप्रस्थ में

मुझे महाराज्ञी बनाया था राजमाता कुन्तीदेवी के संस्कारों ने।

सब संस्कारों में कठिन और जटिल संस्कार था पाँच पतियों के साथ मेरे एकान्त सहवास का। इसके लिए हम सबने मिलकर एक आचार-संहिता तैयार की थी। राजमाता की सूचनाओं के अनुसार बड़ी सूक्ष्मता से वह तैयार की गयी थी। जब मेरा पाँचों भ्राताओं की पत्नी बनना निश्चित हुआ तभी राजमाता ने अपने पुत्रों को एक बड़ी सूचना दी थी। पाँचों पुत्रों को एकत्र कर उन्होंने कहा था, "पांचाल कन्या द्रौपदी तुम सबकी पत्नी बन गयी है, यह जितना सत्य है, उतना ही यह भी सत्य है कि अब यह मेरी पुत्री हो गयी है। इसके भवितव्य का उत्तरदायित्व मुझे दो नातों से पूरा करना है—सास और माता के नाते से। भिक्षा बाँट लेने के मेरे आदेश का तुम सबने पालन किया। अब मैं दूसरा आदेश दे रही हूँ। पत्नी के नाते तुममें से प्रत्येक के साथ उसके एकान्त के नियम मैं निश्चित करूँगी—हाँ, यह सब तुम्हारी और उसकी सहमति से ही होगा। किन्तु जब तक सम्राट् पाण्डु के पुत्रों के नाते तुम अपना राज्य खड़ा नहीं करते और उसे आर्यावर्त में प्रतिष्ठा नहीं दिला देते, तब तक तुम्हारी पत्नी मेरी पुत्री बनकर मेरे पास रहेगी।"

अपने पाँचों पतियों का मुझे जो गुण सबसे अच्छा लगा था, वह था उनकी पारदर्शक मातृभक्ति। उनकी मातृभक्ति अद्वितीय थी। उसमें तनिक भी न्यूनाधिक्य नहीं था। अपनी माता के एक शब्द के लिए अपने प्राण देने में भी वे हिचकिचानेवाले नहीं थे। उनके स्वभाव, पराक्रम, क्रोध-मोह में अन्तर था, किन्तु मातृभक्ति में कोई अन्तर नहीं था। युधिष्ठिर ज्येष्ठ था और सहदेव सबसे छोटा था, अत: उसे माता से कम प्रेम था, ऐसी कोई बात नहीं थी। नकुल-सहदेव के माद्रीपुत्र होने के कारण उनके मातृप्रेम में कुछ कमी थी, ऐसा भी नहीं था। ये पाँचों भ्राता पाँच अँगुलियों की बँधी सशक्त मुट्ठी थे। इस मुट्ठी की कुंजी थी उनकी माता—राजमाता कुन्तीदेवी—मेरी सासुजी।

कुछ ही दिनों में नातों के दृढ़ धागे मेरी समझ में आ गये थे। राजमाता ने जब से पुत्री मानकर मुझे अपना लिया था, मेरे जीवन में माता सौत्रामणि की कमी भी पूरी हो गयी थी।

युधिष्ठिर के और मेरे राज्याभिषेक के समय अपने पतियों के साथ मेरे एकान्त सहवास की संहिता निश्चित की गयी। तब तक मैं कुन्ती माता के पास उनकी पुत्री बनकर रह रही थी। इससे मेरा एक लाभ हुआ—मेरी सासुजी कितनी दृढ़चित्त नारी हैं, इसके दर्शन मुझे हुए।

पाँचों पतियों के साथ मेरे एकान्त की बनायी गयी संहिता अत्यन्त गुप्त थी। इसमें राजमाता की भूमिका मेरी मार्गदर्शिका की थी। उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर मैंने पाँच पतियों को स्वीकार किया था, इससे उनके मन में मेरे प्रति अतीव प्रेमभाव का निर्माण हुआ था। मुझे पुत्री मानकर उन्होंने अपनी पुत्री की त्रुटि को पूर्ण किया था। मैं भी उनको आदर सहित राजमाता कहा करती थी।

हमारी आचार-संहिता में सबसे जटिल भाग था मेरे ऋतुमती होने के अन्तराल का। पाँच भ्राताओं में विभाजित होने के कारण प्रत्येक पति के साथ मेरा एकान्त एक वर्ष में लगभग दो महीने और बारह दिन का हुआ करता था। मेरे साथ एकान्त में रहनेवाले पति को मेरी ऋतु-प्राप्ति का ज्ञान होना आवश्यक था। एकान्त में मेरे साथ कौन-सा पति है, इसका ज्ञान मेरे अन्य पतियों को होना भी आवश्यक था।

मेरे एकान्त कक्ष के दर्शनी भाग में एक स्तम्भ खड़ा किया गया था। क्रम के अनुसार मेरे

उस पति का प्रतीक-शस्त्र उस स्तम्भ पर टाँगा जाता था। युधिष्ठिर के एकान्त समय उस स्तम्भ पर पाण्डवों के राजदण्ड की प्रतिकृति लटकायी जाती थी। भीम के समय उसकी प्रिय गदा की, अर्जुन के समय धनुष की, नकुल के समय खड्ग की और सहदेव के समय मूसल की प्रतिकृति उस पर लटकायी जाती थी।

मेरे ऋतु-प्राप्ति को स्पष्ट करने के लिए तब-तब उस पति का चिह्न स्तम्भ पर उलटा टाँगा जाता था। समय-समय पर स्तम्भ सेवक और मेरी सेविकाओं को बदल दिया जाता था। सेवक-सेविकाओं को एक ही बार सेवा का अवसर दिया जाता था।

इतनी सावधानी बरतने पर भी भीमसेन कुछ गड़बड़ कर ही देता था। कालगणना का उसे ध्यान ही नहीं रहता था। वह उसका स्वभाव ही नहीं था। कभी-कभी वह समय से पहले ही मेरे कक्ष में आ पहुँचता था। मेरी सेविका मेरी आज्ञा के अनुसार, बिना कुछ बोले ही, केवल स्तम्भ पर टँगे चिह्न की ओर अँगुली-निर्देश किया करती थी। तब मस्तक ऊपर उठाकर, ठहाका लगाकर हँसते हुए वह लौट जाता था।

एकान्त का अपना समय पूर्ण हुआ है, यह तो भीमसेन के कभी ध्यान में ही नहीं आता था। उसका समय समाप्त होने पर भी वह अपने और भ्राताओं के बाल्यकाल के वनवासी जीवन की स्मृतियाँ मुझे सुनाने में तल्लीन रहता था। उसे स्मरण दिलाने के लिए मुझे ही कहना पड़ता था—“धनुष के विषय में तुम कुछ क्यों नहीं कहते?”

वह समझ जाता था और कहता था, “बड़ी चतुर है तू द्रौपदी!” कन्धे पर गदा उठाकर, ठहाका मारकर हँसते-हँसते जाता हुआ भीमसेन मुझे दिखाई देता था। उसी समय सेवक स्तम्भ से गदा उतारकर धनुष को लटका देता था।

मेरे पाँचों पतियों के साथ वे प्रेममय दिन स्वर्गीय थे। उस अन्तराल में पाँचों पतियों की एक विशेषता मुझे प्रतीत हुई। किसी ने भी दूसरे के एकान्त के विषय में कभी भी मुझसे एक शब्द भी नहीं पूछा। एक बार आचार-संहिता को स्वीकार करने के पश्चात् उसका आचरण करने में किसी ने कभी भूल नहीं की। यहाँ भी मुझे उनकी अभिन्नता की प्रतीति हुई। प्रत्येक को विश्वास था कि जिस प्रकार निश्चित की गयी आचार-संहिता का वह पालन करता है, उसी प्रकार अन्य सभी भी करते हैं। केवल एक बार ही गड़बड़ हो गयी। किसी ब्राह्मण की गायों को चोर चुरा ले गये थे। उन्हें वापस लाने के लिए अर्जुन को उसके शस्त्रों की आवश्यकता पड़ी और आचार-संहिता को भंग कर उसे असमय मेरे एकान्त कक्ष में आना पड़ा। उस समय उसकी सारी गतिविधियाँ अत्यन्त नम्र, संकोचयुक्त थीं। उससे तो अर्जुन के प्रति मेरा प्रेम और बढ़ गया।

इन्द्रप्रस्थ का गणराज्य दिन-प्रतिदिन समृद्ध, वैभवशाली होता गया। द्वारिका और पांचाल इन्द्रप्रस्थ के मुख्य मित्र गणराज्य थे। जरासन्ध के पश्चात् मगध का आतंक लगभग समाप्त ही हो गया। द्वारिका का डंका तो पूरे आर्यावर्त में गूँज रहा था। द्वारिका अब सुव्यवस्थित पत्तन के रूप में पहचानी जा रही थी। देश-विदेश की भव्य नौकाएँ अपनी ध्वजाएँ फहराती हुई उस पत्तन पर आया करती थीं। कृष्ण के नाम पर ‘श्रीकृष्ण’ का मूल्य प्राप्त हुआ था। वह श्रीकृष्ण अब ‘वासुदेव’ और ‘भगवान’ के रूप में सर्वत्र सम्मानित हो चुका था। फिर भी आन्तरिक सख्यत्व के कारण मैं उसको कृष्ण की कहती थी और आगे भी कहती रही। मुझे तो उसमें कुछ दोष दिखाई नहीं दे रहा था।

इन्द्रप्रस्थ की रचना द्वारिका नगरी जैसी ही थी। सभी पाण्डवों ने मिलकर कृष्ण के स्मरण हेतु इन्द्रप्रस्थ की राजसभा का नाम रखा था 'श्रीकृपा'। हमारी राजसभा की अन्तरिक रचना द्वारिका की 'सुधर्मा' राजसभा के समान थी। इसमें सर्वोच्च स्थान पर दो स्वर्णिम राज-आसन थे–युधिष्ठिर का और मेरा। दोनों आसन पूर्वाभिमुख थे। उनके पीछे कुरुवंश का मानचिह्न–पूर्णचन्द्र की रुपहली प्रतिमा थी। शिल्पियों ने उसे इस प्रकार बनाया था कि उससे किरणें फूटने का आभास हो रहा था। लगता था कि उनको फैलने के लिए आकाश भी कम पड़ रहा है। अत: वे उससे भी सुदूर फैली हुई हैं। हमारे महाराज और महाराज्ञी के आसनों की दाहिनी ओर चारों भ्राताओं के स्वर्णिम आसन थे। हमारे आसनों के सम्मुख धौम्य मुनि का सीसम से बना हुआ सादा-सा काष्ठासन था, उस पर मृगचर्म बिछा होता था। उस आसन के आगे बारह मन्त्रिगणों का मन्त्री-कक्ष था। उस कक्ष से थोड़ा-सा ऊपर बीचोंबीच अमात्य का आसन था। मन्त्री-कक्ष के नीचे दोनों ओर दल-प्रमुखों के आसन थे। राजसभा के बीच का प्रांगण पौरजनों के लिए था। राजसिंहासन के समानान्तर दाहिनी ओर राजस्त्रियों का कक्ष था। उसमें सबसे बड़ा आसन राजमाता कुन्तीदेवी का था। अन्य राजस्त्रियों के आसन तुलना में तनिक छोटे थे। इन्द्रप्रस्थ को घेरा डालकर कृष्ण की प्रिय यमुना नदी बहती थी। हमारी राजसभा की रचना यमुना के पाट के समानान्तर की गयी थी। अत: यमुना से आती शीतल पवन हमारी 'श्रीकृपा' राजसभा तक पहुँचती थी। उसके स्पर्श से अन्यों को क्या लगता था–पता नहीं, किन्तु मुझे तो आभास होता था, कृष्ण ही अपने प्रेमल हाथों से मेरी पीठ थपथपा रहा है।

इन्द्रप्रस्थ की महाराज्ञी के नाते पाँचों पतियों को प्रसन्न रखना, उनके पुत्रों का पालन-पोषण करना, राजसभा में उपस्थित रहना, अपने पतियों के दिग्विजय के समय उनको विदा करना, उनका स्वागत करना, आदि बातों में मैं सदा उलझी रहती थी। मेरे प्रिय सखा कृष्ण ने कई बार मुझसे द्वारिका आने का आग्रह किया था। मैंने 'हाँ' भी की थी। किन्तु इच्छा होते हुए भी मैं कभी द्वारिका नहीं जा पायी।

अपने राज्याभिषेक के समय मैंने पहली बार रुक्मिणी भाभी को देखा। उसके प्रथम दर्शन में ही मेरी आँखें चौंधिया गयीं। वास्तव में वह अप्रतिम सुन्दरी थी। उसकी काया बड़ी सुगढ़ थी। मैंने कृष्ण को मुरली बजाते कभी देखा-सुना नहीं था। किन्तु पांचाल के वाद्यवृन्द की मुरली मैंने सुनी थी। रुक्मिणी भाभी का कण्ठ-स्वर मुझे मुरली की मधुर ध्वनि जैसा ही लगा। वह मेरे जैसी साँवली नहीं थी–आरक्त गौर थी। पहली ही भेंट में उसने मुझे अपने देवर–उद्धव जी के विषय में बहुत-कुछ बताया था। कृष्ण और उद्धवदेव के भ्रातृभाव के विषय में अत्यन्त उत्साह से उसने बहुत-सारी बातें मुझसे बतायीं। बलराम भैया की भी बहुत-सी बातें उसने मुझसे कीं। उद्धवदेव को देखने की, उनसे बात करने की प्रबल उर्मि मेरे मन में उठी। बलराम भैया की बातें सुनते समय मैं हँस क्यों रही हूँ, यह बात रुक्मिणी भाभी की समझ में नहीं आयी। अन्तत: उससे रहा नहीं गया। उसने मुझसे पूछा, "द्रौपदी, तुम यह तो नहीं सोच रही हो कि बड़े भैया की खिल्ली उड़ा रही हूँ?" मैंने झट से कहा, "नहीं भाभीश्री। बलराम भैया की ही एक प्रतिकृति हमारे यहाँ है–उनका शिष्य ही है वह!" फिर हम दोनों खिलखिलाकर हँस पड़ीं।

पहली ही भेंट में रुक्मिणी भाभी से बातें करते हुए मुझे तीव्रता से प्रतीत हुआ कि एक बार क्यों न हो, मुझे द्वारिका जाना ही चाहिए। वहाँ तात वसुदेव, देवकी और रोहिणी माता, रेवती दीदी, कृष्ण की अन्य पत्नियाँ, आचार्य सान्दीपनि, गुरुपत्नी–सबसे मिलना चाहिए। रुक्मिणी भाभी ने

एक और स्त्री के विषय में बात की थी, वह थी गोकुल की राधा–कृष्ण की सखी। उसे भी मैंने कभी देखा नहीं था। कैसी होगी वह? कैसा होगा उसका गोकुल?

जब भी कृष्ण से भेंट होती थी, मैं उससे राधिका के विषय में कुछ-न-कुछ पूछा करती थी। वह भी कितना चतुर था। हँसता हुआ वह कहता था, "मेरी सखी राधिका के विषय में यदि जानना है, तो तू स्वयं ही क्यों नहीं चली जाती गोकुल? उससे प्रत्यक्ष मिलकर ही जान ले, जो जानना है।" वह मुझे निरुत्तर कर देता था। वह भलीभाँति जानता था कि मैं कभी गोकल नहीं जाऊँगी। उसके जाने के बाद मैं मन-ही-मन राधा का चित्रांकन करने का प्रयास किया करती थी। किन्तु मैं उसमें कभी सफल नहीं हुई।

मेरे जीवन के तीन मोड़ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। पहला था–मेरा स्वयंवर। उससे मुझे पाँच पति प्राप्त हुए–और एक राजमाता भी। बाद में अर्जुन से ही मुझे पता चला कि स्वयंवर के ही कारण उसे अपने सबसे बड़े शत्रु से टकराना पड़ा था–वह था स्वयंवर में मेरे द्वारा अस्वीकार किया गया अंगराज कर्ण। स्वयंवर के बाद मण्डप में ही छिड़ गये युद्ध में उसका सुदामन् नामक पुत्र मारा गया था–अर्जुन के ही बाण से।

उससे सन्तप्त हुए कर्ण ने अर्जुन-वध की प्रतिज्ञा की थी। उस प्रतिज्ञा के महत्त्व को अर्जुन जानता अवश्य था, किन्तु वह भयभीत नहीं था। खाण्डववन में इन्द्रप्रस्थ के निर्माण के समय कृष्ण कई बार खाण्डववन आया था। जब भी वह आता था, मेरे पाँचों पतियों में अर्जुन से ही वह सर्वाधिक बातें किया करता था। गरुड़ध्वज रथ पर आरूढ़ होकर वे दोनों दूर यमुना-तट पर भ्रमण करने जाया करते थे। दारुक उनके साथ ही होता था। कृष्ण से प्रत्येक भेंट के बाद मेरा पति अर्जुन मुझे और भी अधिक दृढ़-निश्चयी, तेजस्वी दिखाई देता था। जब वह कृष्ण के साथ जाता था, उसका मन इन्द्रप्रस्थ के और कर्ण की प्रतिज्ञा के विचार से बोझिल रहता था। किन्तु जब वह लौट आता था, उत्साह से भरा हुआ दिखाई देता था।

मेरे जीवन का दूसरा विशिष्ट मोड़ था युधिष्ठिर का और मेरा राज्याभिषेक। राज्याभिषेक के लिए दूर-दूर के महाजनपदों के नरेश और उनकी महारानियाँ इन्द्रप्रस्थ आयी थीं। कृष्ण तो रुक्मिणी भाभी, सुभद्रा, अपने भ्राता और प्रमुख यादवों सहित उपस्थित हुआ था। बड़ी धूमधाम के साथ हमारा राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ। सुदूर आश्रमों से आये कितने ऋषि-मुनियों ने और उनके शिष्यगणों ने पाण्डवों को मन्त्रघोष सहित आशीर्वाद दिये, इसकी तो कोई गिनती ही नहीं थी। राज्याभिषेक के पूर्व एक महीना और राज्याभिषेक के पश्चात् एक महीना आमन्त्रितों के कोलाहल से इन्द्रप्रस्थ गूँज उठा था। पाण्डवों के नवनिर्मित राज्य के लिए उपहार-स्वरूप आयी नाना प्रकार की वस्तुओं के ढेर-के-ढेर लगे थे। उनमें गान्धार देश के अश्व, उष्ट्र, कामरूप राज्य के हाथी, ब्रह्मावर्त की घाटी की पुष्ट गायें, साँड़, अर्बुदगिरि के चपल श्वान आदि विविध प्राणी सम्मिलित थे। हिमालय की विविध वनौषधियाँ, पंचनद के पुराने मद्यार्क के कुम्भ, मगध का मधु, प्रतिष्ठान के महीन चिकने वस्त्र, देश-विदेश से आये स्वर्ण-रौप्य आभूषण, भाँति-भाँति के खड्ग, गदा, शर-चाप, मूसल, चक्र, अग्निकंकण, शतघ्नी, भुशुण्डी आदि शस्त्र भी उन उपहारों में सम्मिलित थे। खाण्डववन में पाण्डवों का मंगलधाम इन्द्रप्रस्थ के रूप में शब्दश: खड़ा हुआ था। उसका सम्पूर्ण श्रेय मेरे सखा कृष्ण, उसके असंख्य परिश्रमी यादव, मेरे प्रिय भ्राता धृष्टद्युम्न और सहस्रों पांचालों को जाता था। हम पाण्डवों के इन्द्रप्रस्थ के पीछे वे पर्वत के समान अडिग खड़े थे।

अब आर्यावर्त में तीन प्रबल शक्ति-केन्द्र हो गये थे–पहला द्वारिका, दूसरा हस्तिनापुर और तीसरा इन्द्रप्रस्थ।

आमन्त्रितों में से अनेक प्रमुख नर-नारी महाराज्ञी के नाते मुझसे आकर मिले। किन्तु स्वयं मैं कुछ ही व्यक्तियों से मिली, जिनमें महर्षि व्यास, कृष्ण, उद्धवदेव, आचार्य सान्दीपनि, बलराम भैया, रुक्मिणी भाभी, रेवती दीदी, सुभद्रा और पितामह भीष्म, महात्मा विदुर, मन्त्री संजय आदि व्यक्ति थे। महाराज धृतराष्ट्र और महाराज्ञी गान्धारीदेवी राज्याभिषेक के लिए इन्द्रप्रस्थ नहीं आये थे। युवराज दुर्योधन, दुःशासन आदि अपने इने-गिने भ्राताओं और अंगराज कर्ण, शकुनी मामा और उसके भ्राता तथा मन्त्री कणक और अमात्य वृषवर्मा सहित उपस्थित हुआ था। मैं उनमें से किसी से नहीं मिली।

राज्याभिषेक में उपस्थित लगभग सभी ऋषि-मुनियों से मैं अपने पतियों सहित मिली और उनसे आशीर्वाद प्राप्त किये। अपने मन के एक प्रश्न को हल करने हेतु मैं महर्षि व्यास के पास गयी। मैंने उनसे कहा, “मैंने पाँच पतियों का वरण किया है। उनमें से ज्येष्ठ अभिषिक्त राजा बन गया है, और मैं महाराज्ञी। अन्य चार पतियों से मैं किस प्रकार व्यवहार करूँ, कृपा कर इस विषय में मार्गदर्शन करें।” शान्ति से मनःपूर्वक मुस्कराते हुए उन्होंने कहा, “द्रौपदी, तुम्हारे आचरण में किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। तुम यज्ञकन्या हो। केवल तुम ही पाँच पतियों का वरण कर आर्यावर्त की महाराज्ञी बन सकती हो। तुम्हारे महाराज्ञी बनने पर तुम्हारे अन्य चार पति आप-ही-आप महाराज पद को प्राप्त हो गये हैं। तुम सदैव प्रातःस्मरणीय रहोगी। तुम हस्तिनापुर की भी पुत्रवधू हो, इस बात को कभी मत भूलना।”

मेरे जीवन में तीसरा मोड़ था हमारा राजसूय यज्ञ। राज्याभिषेक से राजसूय यज्ञ तक के अन्तराल में अनेक घटनाओं का पानी यमुना के पाट में से बह गया था। इसी अन्तराल में मैं पुत्रवती हो गयी थी। भीमसेन-हिडिम्बा का विवाह छोड़कर पाण्डवों के अन्य विवाह भी इसी अन्तराल में हुए थे।

अर्जुन को पत्नी के नाते सुभद्रा जैसी प्रिय थी, वैसी ही बहन के नाते मुझे भी वह प्रिय थी। वह कृष्ण-भगिनी थी, यह बात मेरे लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी। वह थी भी गुणवती। अर्जुन से वह निस्सीम प्रेम करती थी। उसके लिए वह कुछ भी करने के लिए तैयार थी। पहली ही भेंट में उसने ‘दीदी’ कहकर मुझे जीत लिया था। मुझसे वह खुले मन से बातें किया करती थी। किन्तु भानुमती मुझसे दबी-दबी-सी रहती थी। उसका संकोच कम करने के लिए मैं ही उससे कुछ-न-कुछ पूछा करती थी। अनदेखी द्वारिका को उसके ही मुख से मैंने कुछ-कुछ जान लिया था।

महर्षि व्यास ने राज्याभिषेक के समय दूरदर्शिता से मुझे कहा था, “तुम हस्तिनापुर की भी पुत्रवधू हो, इस बात को कभी भूलना नहीं।” मैं उसे भूल गयी। भूलने का–ध्यान में न रखने का कोई समर्थन नहीं किया जा सकता। अनजाने में होने पर भी भूल भूल ही होती है। राजसूय यज्ञ के समय मयसभा के कक्ष में मुझसे वह अक्षम्य भूल हो गयी–अपने मुख से निकले उद्‌गारों की।

हस्तिनापुर से आया युवराज दुर्योधन अंगराज कर्ण सहित मयसभा में आया था। स्वयंवर के पश्चात् अंगराज को मैं पहली बार देख रही थी। उनको देखकर तीव्रता से एक विचार मेरे मन में उफन आया, जिसे मैंने हिरण्यमयी नामक अपनी सेविका के कान में कह दिया, “हिरण्यमयी, इन कवच-कुण्डलों का पत्नीत्व यदि मुझे प्राप्त हुआ होता, तो कितने पुष्प खिल उठते मेरे जीवन-

उद्यान में! यदि अंगराज मेरे पति हुए होते तो पाँच पतियों के सहवास में असमानता से बँटा वर्ष क्या दो-दो महीनों के सम-सहवास में विभाजित नहीं हुआ होता?" इतने में बेलबूटेदार कालीन समझकर दुर्योधन का रखा पैर मायावी रंगावली के जलपृष्ठ पर पड़ा और वह धड़ाम से जलाशय में जा गिरा। उस कुरु-युवराज को जल में डुबकी खाते देख मैं अपनी हँसी को नहीं रोक पायी। मैंने हँसते हुए सेविकाओं से कहा, "अन्धे पिता के पुत्र भी अन्धे ही होते हैं क्या?" उस पर मेरी सेविकाएँ भी खिलखिलायीं। उनका खिलखिलाना सुनकर भीगा हुआ युवराज दुर्योधन क्रोध से लाल हो गया। मुकुट और गदा जलाशय में ही छोड़कर आग उगलते नेत्रों से मेरी ओर देखते हुए, कुछ बुदबुदाता और पैर पटकता हुआ वह मयसभा से चला गया।

मैं उसकी आकृति को पीठ की ओर देखती ही रही। अपनी भूल का मुझे शीघ्र ही आभास हुआ, किन्तु अब उसका कोई लाभ नहीं था। अन्य किसी को तो क्षमा माँगकर समझाया जा सकता था, किन्तु दुर्योधन को? कदापि नहीं। अपने हाथ से अकस्मात् हुई अनपेक्षित, अक्षम्य भूल संस्कारशील मन को निरन्तर कचोटती रहती है। मेरा भी वही हुआ। दुर्योधन की तो बात ही छोड़िए, स्वयं मैंने भी अपने उन मूर्ख, अविचारी उद्‌गारों के लिए अपने-आप को कभी क्षमा नहीं किया।

राजसूय यज्ञ में जब मैंने कृष्ण को शिशुपाल पर सुदर्शनचक्र चलाते देखा, तब मुझे प्रतीत हुआ कि वह केवल मेरा भ्राता या सखा ही नहीं है। नेत्रों को चौंधिया देनेवाला उसका वह तेजस्वी रूप भविष्य में मैं कभी भूल नहीं पायी। जग मुझे यज्ञकुण्ड से जन्मी अग्निकन्या मानता आया है। मेरे द्वारा जीवन-भर देखी गयी यज्ञकुण्ड की अग्नि और अग्निकन्या के रूप में जीवन-भर अनुभव की गयी विचारों की अग्नि, उस तेजस्वी रूप के आगे कुछ भी नहीं थी। तभी मैं जान गयी थी कि वह मेरे सखा से भी बहुत-कुछ अलग, शब्दों से परे तथा अतर्क्य है। उसको जान लेने की अपेक्षा उसे अनुभव करना ही सम्भव है। भविष्य में मैंने वही किया।

शिशुपाल-वध के अशौच के कारण उस दिन का राजसूय यज्ञ स्थगित किया गया किन्तु बाद में शीघ्र ही योग्य मुहूर्त पर उसी मण्डप में राजसूय यज्ञ सम्पन्न किया गया। उस यज्ञकुण्ड में समिधा अर्पित करनेवाला कृष्ण कुछ अलग ही दिख रहा था। आमन्त्रित ऋषि-मुनियों को नमस्कार करता हुआ कितनी सरलता से मुस्करा रहा था वह! उसको देखते हुए मैं कुछ सोच रही थी, तभी एक घटना घटित हुई। महाराज युधिष्ठिर से विदा लेने हेतु कुरुओं के गुरु द्रोणाचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामा सहित हमारे आसन के समीप आये। महाराज युधिष्ठिर ने आदरपूर्वक उनकी चरण-वन्दना की। उन्होंने मनःपूर्वक महाराज को आशीर्वाद दिये। मैं भी उनकी चरण-वन्दना करने हेतु झुक गयी। किन्तु उठते समय मेरा त्रिकोणी मुकुट उनके अधरीय में फँसकर उनके चरणों में गिर गया। मैं कुछ घबरा गयी। झट से नीचे झुककर गुरुदेव द्रोण ने अपने वस्त्र के छोर से पोंछकर उसे मेरे हाथ में दिया। मुकुट मस्तक पर धारण करने से पहले मैंने आचार्य-पुत्र अश्वत्थामा की ओर देखा। वह अपने माथे पर एक वस्त्र-पट्टी बाँधा करता था। उस समय अपने कोषबद्ध खड्ग को सँभालकर, माथे पर बँधी वस्त्र-पट्टी की गाँठ को कसते हुए उसने कहा, "हे पाण्डव-महाराज्ञी, राजसूय यज्ञ यथाविधि सम्पन्न हुआ है और आमन्त्रित प्रसन्न हुए हैं। पाण्डवों को यज्ञ का अच्छा फल अवश्य प्राप्त होगा।"

अश्वत्थामा अपने माथे पर वस्त्र-पट्टी क्यों बाँधता है, यह मुझे तब ज्ञात नहीं हुआ। एक बार

मैंने इस विषय में कृष्ण से पूछा। उसने एक आश्चर्यजनक बात बतायी–"द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा को एक जन्मजात मांसल मणि प्राप्त है। उसे ढँकने के लिए ही वह माथे पर वस्त्र-पट्टी बाँधता है।"

हमारी दृष्टि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राजसूय यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। निर्विघ्न ही कहना चाहिए। क्योंकि यज्ञ में कृष्ण की निर्भर्त्सना करने में शिशुपाल का अन्तस्थ उद्देश्य कुछ भिन्न ही था। मेरे स्वयंवर के पश्चात् जिस प्रकार मण्डप में युद्ध छिड़ गया था, उसी प्रकार इस यज्ञमण्डप में वह युद्ध की ज्वाला को भड़काना चाहता था। किसी भी प्रकार वह पाण्डवों के यज्ञ को पूर्ण नहीं होने देना चाहता था। हमारा राजसूय यज्ञ उद्ध्वस्त हुआ होता तो पाण्डवों की सर्वत्र अपकीर्ति हो जाती। कृष्ण के द्वारिका गणराज्य से पाण्डवों के इन्द्रप्रस्थ के जुड़ते सम्बन्धों में बाधा आ जाती। और शिशुपाल को अपने परम मित्र जरासन्ध के वध का प्रतिशोध लेने का समाधान मिलता। अपनी वाग्दत्ता वधू रुक्मिणीदेवी को हर ले जानेवाले काले ग्वाले को उचित दण्ड देने का अत्यधिक आनन्द उसे प्राप्त होता। वास्तव में शिशुपाल का यह उद्देश्य सफल हो जाता तो? मैं सोच भी नहीं सकती कि पाण्डवों के, और उनके साथ-साथ मेरे जीवन में कौन-सा मोड़ आ जाता! इसीलिए मैं अत्यन्त प्रसन्न थी कि राजसूय यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न हुआ। शिशुपाल-वध के कारण तो कृष्ण और पाण्डवों की कीर्तिध्वजा और भी ऊँची हो गयी थी।

इन्द्रप्रस्थ के राजप्रासाद के मेरे कक्ष में एक भव्य दर्पण के सम्मुख मेरे विपुल, घने केशों का सँवारना एक पूरी कार्यविधि ही हुआ करती थी। मेरी नियुक्त की गयी कुशल सेविकाएँ एक घटिका तक उस कार्य में लगी रहती थीं। दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देखते, सेविकाओं से वार्त्तालाप करती हुई मैं अपने विचारों की लय में तल्लीन हो जाया करती थी। उस तन्द्रा में मैं अपने पाँचों पतियों की भिन्न-भिन्न स्मृतियों को एक-दूसरे से मिलाती रहती थी। एक भी दिन, एक भी क्षण ऐसा नहीं बीता होगा जब मेरे मन में कृष्ण का कोई विचार न रहा हो। मनःचक्षुओं से उसको आँख-भर दर्शन करते रहना ही मेरी जीवन-साधना थी! उसके कितने भी दर्शन करूँ, वह पर्याप्त नहीं होता था। कृष्ण-रूप के प्रतिदिन के दर्शन अलग-अलग ही हुआ करते थे। क्या आकाश में स्थित तारिकाओं को कभी कोई गिन पाया है? वैसे ही थे ये कृष्ण-रूप।

कभी-कभी बड़ी रोचक बातें आती थीं मन में। इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर और द्वारिका में रहनेवाले स्त्री-पुरुषों में किस-किस को कौन-सी दैवी देन प्राप्त है, मैं इस विषय में सोचने लगती थी। उनमें मुख्यत: मेरी आँखों के आगे सर्वप्रथम आ जाते थे कृष्ण और अर्जुन। दोनों नीलवर्ण थे। कृष्ण के कथन के अनुसार, यह नीलवर्ण दहकते हुए लौह-पट्ट पर जल छिड़कने पर जो आभा उभरती है, उसके सदृश था। वे दोनों आकृति और छाया की भाँति दिखते थे। दोनों जब एक साथ हुआ करते थे, तब कृष्ण मुकुट में लगे मोरपंख और वक्ष पर विराजित वैजयन्तीमाला से और अर्जुन कन्धे पर धारण किये हुए गाण्डीव धनुष से पहचाना जाता था।

कृष्ण के अतिरिक्त द्वारिका में केवल सात्यकि को ही आजानुबाहुओं की स्वर्गीय देन प्राप्त थी। वह अत्यन्त पराक्रमी और बुद्धिमान था। कृष्ण से उसका प्रेम अतुलनीय था। उसका स्वभाव कुछ-कुछ बलराम भैया जैसा ही था।

हस्तिनापुर में दो पुरुषों को जन्मजात दैवी देन प्राप्त थी। सूर्यभक्त अंगराज कर्ण को जन्मजात अभेद्य कवच-कुण्डल प्राप्त थे और गुरुपुत्र अश्वत्थामा को मांसल मणि प्राप्त थी।

भीमसेन की प्रथम पत्नी हिडिम्बा को मैंने कभी देखा नहीं था, किन्तु मैंने सुना था कि

उसके पुत्र घटोत्कच को जन्म से ही कुछ मायावी शक्तियाँ प्राप्त थीं। तीनों राज्यों की राजस्त्रियों में केवल मैं ही यज्ञजा, सुकेशा और सुगन्धित थी।

मैंने बहुतों से सुना था कि मेरी सासुजी–राजमाता कुन्तीदेवी को बहुत वर्ष पूर्व मुनिवर दुर्वासा से देवहुति नामक दिव्य मन्त्र प्राप्त हुआ था। पाँचों पाण्डवों पर उस मन्त्रशक्ति का प्रभाव था–युधिष्ठिर पर पृथ्वी-तत्त्व का, भीमसेन पर वायु-तत्त्व का, अर्जुन पर जल-तत्त्व का और नकुल-सहदेव पर प्रकाश-तत्त्व का। जैसे उषा और निशा अस्पष्ट-सी प्रकाश-रेखा से एक-दूसरे से जुड़ी होती हैं वैसे ही ये जुड़वा भ्राता थे। देवहुति मन्त्र की गहराई में मैं कभी नहीं गयी। मुझे उसकी आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई। मेरे तथा भ्राता धृष्टद्युम्न के यज्ञकुण्ड से हुए जन्म के विषय की गहराई में भी कोई नहीं गया। किसी ने उसकी आवश्यकता ही अनुभव नहीं की।

हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ और द्वारिका–तीनों शक्ति-केन्द्रों में सुदर्शन जैसे अलौकिक तेजयन्त्र का एकमात्र अधिकारी था मेरा सखा कृष्ण। समस्त आर्यावर्त में कोई भी उसकी तेजस्वी बुद्धिमत्ता की समानता नहीं कर सकता था।

बहुतों के मन में बार-बार एक ही प्रश्न उभरता था–अपने सुदर्शन चक्र का प्रयोग वह हर बार क्यों नहीं करता? राजसूय यज्ञ के मण्डप में मैंने उसको सुदर्शन चक्र से शिशुपाल का वध करते देखा था। तब से मेरे मन में भी यह प्रश्न कई बार उठा था। उसका उत्तर प्राप्त किये बिना मन को शान्ति मिलनेवाली नहीं थी। अत: एक बार मैंने उससे सीधे पूछा, “हे कृष्ण, प्रत्येक समय तुम अपने अलौकिक सुदर्शन चक्र का प्रयोग क्यों नहीं करते हो? क्या इसका प्रयोग करने का कोई विशेष नियम है?”

तब मुस्कराकर उसने कहा, “मैं जानता था, कभी-न-कभी यह प्रश्न तू जरूर पूछेगी। सखि, यह अलौकिक चक्र मुझे भगवान परशुराम से प्राप्त हुआ है। उनके आदेश के बिना मैं इस शस्त्र का प्रयोग नहीं कर सकता।”

उसका यह उत्तर सुनकर मेरा कौतूहल जाग्रत हुआ। मैंने उससे पूछा, “क्या इसका अभिप्राय यह है कि जब तू इस शस्त्र का प्रयोग करता है, तब अन्तर्मन से तुझे इसका आदेश प्राप्त हुआ होता है?”

“द्रौपदी, वास्तव में तू बड़ी बुद्धिमती है। इस तेजयन्त्र के रहस्य को तूने अचूक रूप से ताड़ लिया है। उद्धव को भी वह ज्ञात है। जब भी मैं हठपूर्वक असमय इस तेजचक्र का प्रयोग करना चाहता हूँ, मुझे अद्भुत अनुभूति होती है। सुदर्शन के निकट आनेवाले, प्रिय लगनेवाले, मानस-सरोवर के शुभ्र-धवल हंस पक्षियों जैसे मन्त्रबोल विस्मृत हो जाते हैं। मृग नक्षत्र में कौंधती विद्युत् की कड़कड़ाहट से जिस प्रकार वे राजहंस पक्षी, इधर-उधर बिखर जाते हैं, उसी प्रकार वे ‘मन्त्रबोल’ कहीं दूर उड़ जाते हैं। तत्पश्चात् मुझे अत्यधिक शारीरिक थकान की अनुभूति होती है। तब लगता है कि गोकुल के गोपालों का किशन, यादवों का और तेरा कृष्ण तथा आचार्य गर्ग, धौम्य ऋषि, महर्षि व्यास का श्रीकृष्ण उस थकान में बहता जा रहा है। मैं कम्पित हो जाता हूँ और जिस प्रकार गोकुल की गोपियाँ शरद् पूर्णिमा को यमुना में दीप-द्रोण छोड़ती हैं, उस प्रकार मैं सुदर्शन प्रक्षेपण का विचार छोड़ देता हूँ। वस्तुत: कृष्णे, तुझे तो पता होना चाहिए कि किसी भी कर्म में उलझकर रह जाना मुझे स्वीकार नहीं है।”

जब वह इस प्रकार बात करता था तब मुझे तीव्रता से प्रतीति होती थी कि वह मुझे ‘सखी’

क्यों कहता है! मेरा उससे प्रेम और भी दृढ़ होता था।

जहाँ स्वयं कृष्ण अपनी दैवी शक्ति–सुदर्शन चक्र का प्रयोग करने के लिए स्वतन्त्र नहीं था, वहाँ औरों की क्या बात? इन्द्रप्रस्थ, द्वारिका और हस्तिनापुर–तीनों शक्ति-केन्द्रों के दैवी देन से लाभान्वित स्त्री-पुरुष उनका लाभ उठाने के लिए स्वतन्त्र नहीं थे, मैं भी नहीं थी। स्वयं को प्राप्त अद्वितीय सौन्दर्य के कारण मुझमें भी एक अहंकार का निर्माण हुआ है, इस बात का मुझे पूरा आभास था–कृष्ण ने ही वह कराया था। उसने हँसते-हँसते कहा था, "नम्रता से सौन्दर्य और भी बढ़ जाता है कृष्णे! अतुलनीय सुन्दरी यदि विनम्र हो, तो स्वर्ण में पारिजातक पुष्प की सुगन्ध आती है।"

मेरे सभी पुत्रों के साथ वह मामा के नाते अत्यधिक घुल-मिल गया था। सुभद्रापुत्र अभिमन्यु उसका सर्वाधिक प्रिय था। मेरे पुत्रों में वह सबसे अधिक श्रुतकीर्ति से बोलता था। वह भी कृष्ण को ऐसे प्रश्न पूछ-पूछकर सताता रहता था, जिन्हें अन्य कोई कभी पूछ नहीं पाएगा–"मामाश्री, सब कहते हैं, आपके अस्सी पुत्र हैं। उन सबको आप कैसे पहचान लेते हैं।"

कृष्ण नटखटपन में कुछ कम थोड़े ही था! अपने भानजे का समाधान करते-करते वह हेतुत: उसका कौतूहल भी बढ़ाता था, "पुत्र कीर्ति, मेरे अस्सी पुत्रों की क्या बात है! हस्तिनापुर जाकर देख, वहाँ कुरु-परिवार में सौ कौरव हैं। देख ले एक बार कि उनके माता-पिता अन्धे होते हुए भी अपने पुत्रों को किस प्रकार पहचान लेते हैं। तू तो चकित रह जाएगा। वे अपने पुत्रों को केवल बाहर से ही नहीं, अन्दर से भी भलीभाँति पहचानते हैं।"

छोटा हो या बड़ा, कृष्ण बातों में किसी को इधर-उधर नहीं होने देता था। अपनी अतुलनीय बुद्धिमत्ता के बल पर ही वह यादवों का 'वासुदेव' हुआ था–सम्पूर्ण आर्यावर्त का भगवान हुआ था। किन्तु मेरे लिए तो पहली भेंट से ही वह सदैव सखा ही बन गया था। अन्य जनों की भाँति मैंने कभी उससे किसी चमत्कार की अपेक्षा नहीं की।

अपने राज्याभिषेक के समय रुक्मिणी भाभी से हुई भेंट के कारण उसके विषय में मन में जो प्रश्न उठे थे, उनका निवारण हो चुका था। उसने ही बड़ी आत्मीयता के साथ अत्यन्त सरलता से वह किया था। जैसे-जैसे हम दोनों में बातचीत का क्रम बढ़ता गया, मेरी सासुजी कुन्तीदेवी और यादव-महाराज्ञी के बीच की समानता मुझे स्पर्श करती गयी। दोनों दृढ़निश्चयी थीं। एक बार विचारपूर्वक किसी मार्ग को चुनने पर वे उससे पीछे हटनेवाली नहीं थीं। दोनों ने कभी मुड़कर अपने मायके की ओर नहीं देखा। दोनों अनुपम सुन्दरी थीं–देह से और मन से भी। जो आदर-सम्मान द्वारिका में रुक्मिणीदेवी को प्राप्त था, वही इन्द्रप्रस्थ में राजमाता को प्राप्त था।

कृष्ण के प्रिय सखाओं में अग्रक्रम था उसके भ्राता उद्धवदेव का। उनके पश्चात् मेरे अर्जुन का क्रम था। और अर्जुन के पश्चात् महात्मा विदुर, संजय, सुदामा, दारुक, सात्यकि आदि कई थे। उसके कितने सखा थे, यह तो वही जानता था।

कृष्ण के सर्वाधिक प्रिय सखा उद्धवदेव हैं। मेरे अर्जुन का क्रम उनके पश्चात् आता है। इस सत्य को स्वीकार करने को मेरा मन तैयार ही नहीं था। जब मैं इस विषय में अर्जुन से कुछ पूछती थी, वह हँसते हुए कहते थे, "उद्धवदेव क्या हैं यह केवल कृष्ण और मैं ही जानता हूँ। तुम इस विषय में कुछ मत सोचा करो।"

इन्द्रप्रस्थ की महाराज्ञी के नाते मेरा जीवन आनन्दपूर्वक व्यतीत हो रहा था। अपने छह पुत्रों

के पालन-पोषण में और उनको सुसंस्कृत बनाने में मैं मग्न थी। हाँ—सुभद्रा के अभिमन्यु को भी मैंने अपना ही पुत्र माना था। वह भी मुझे 'माता' ही कहा करता था। मेरे पाँचों पति अत्यन्त पराक्रमी थे। उन्होंने आर्यावर्त की चारों दिशाओं की दिग्विजय की थी। उससे इन्द्रप्रस्थ में धन-धान्य, वस्त्र, सेवक-सेविका, पालित पशु आदि अपार सम्पत्ति जमा हो गयी थी। हमारे राज्याभिषेक से तो उसमें अकल्पनीय वृद्धि हो गयी थी। इस वैभवशाली इन्द्रप्रस्थ की, अर्थात् यहाँ के सुशील नगरजनों की मैं आदरणीया महाराज्ञी थी, पराक्रमी पाण्डवों की प्रिय पत्नी थी। छह आज्ञाकारी पुत्रों की मैं माता और राजमाता कुन्तीदेवी की सर्वाधिक प्रियवधू थी। सबसे बढ़कर मैं थी द्वारिकाधीश कृष्ण की प्रिय सखी। क्या कमी थी मेरे जीवन में? किसी की भी दृष्टि लग जाए, क्या ऐसा ही यह जीवन-वैभव नहीं था?

मेरे मार्गदर्शक सखा ने मुझसे कहा था, "मानव नियति के हाथ की कठपुतली होता है। उसे कभी यह नहीं समझना चाहिए कि मैंने सब-कुछ पा लिया है, मैं कृतार्थ हुआ हूँ।" किन्तु कभी-कभी मेरे अन्दर बसी आत्माभिमानी क्षत्राणी जाग्रत हो जाती थी। और कृष्ण की सीख को अनजाने में मैं भूल जाती थी।

पाण्डवों का अनुपम वैभव, आर्यावर्त में फैली उनकी कीर्ति और द्वारिकाधीश कृष्ण से पाण्डवों के बढ़ते स्नेह का सर्वत्र बजता डंका युवराज दुर्योधन को सहन नहीं हो रहा था। वस्तुत: वह कुरु-युवराज नहीं था। किन्तु हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थ विभाजित होने से पहले ही उसने स्वयं को हस्तिनापुर का युवराज घोषित किया था और पाण्डवों के हस्तिनापुर छोड़ते ही वह वहाँ का युवराज बन गया था। अन्धे पिता धृतराष्ट्र को वह अपनी अँगुलियों पर नचाता था। सिंहासन पर आरूढ़ हुए बिना ही वह सर्वसत्ताधीश राजा बन गया था।

इन्द्रप्रस्थ दुर्योधन की आँखों में गड़ने लगा था। राजसूय यज्ञ में शिशुपाल की थर्रा देनेवाली घटना को प्रत्यक्ष देखकर भी उसे समझ नहीं आयी थी। तीव्र द्वेषाग्नि से जलता हुआ वह कुरु-युवराज मेरे प्रिय सखा को 'गायों के मलमूत्र से सना हुआ ग्वाला' कहता था!

मनुष्य के जन्मजात स्वभाव में कभी परिवर्तन नहीं आता है। अहंकारी मनुष्य अहंकार को कभी नहीं छोड़ता। हाथ में सत्ता आने पर तो उसका अहंकार और भी प्रबल हो जाता है। दुर्योधन के हाथ में तो दो प्रकार की सत्ता थी—राजसत्ता और भावसत्ता। बाल्यकाल से ही वह अपने निन्यानवे भ्राताओं पर केवल दृष्टि से ही धाक जमाने का अभ्यस्त हुआ था। हमारे इन्द्रप्रस्थ चले आते ही वह स्वयं को हस्तिनापुर का अघोषित राजा ही मानने लगा था। सम्पत्ति, सैनिक-सामर्थ्य, देश-विदेशों से दीर्घकालीन आप्त-सम्बन्धों के कारण हस्तिनापुर एक प्रबल गणराज्य था। स्वयं को उसका उत्तराधिकारी माननेवाले दुर्योधन की आँखों में वैभवशाली इन्द्रप्रस्थ काँटे की भाँति गड़ने लगा था। अपने राजकीय परामर्शदाताओं की बैठकें बुलाकर वह इन्द्रप्रस्थ को परास्त करने की अद्‌भुत योजनाएँ बनाने लगा। इन्द्रप्रस्थ के गणराज्य पर कृष्ण के वरदहस्त को वह भलीभाँति जान नहीं पाया था। उसकी कुटिल मण्डली में शकुनि मामा और उसके भ्राता, राजनीतिज्ञ कहलानेवाला कणक, दु:शासन सहित उसके अन्य प्रमुख भ्राता और आज्ञाकारी कुरु-अमात्य वृषवर्मा सम्मिलित थे।

गुप्तचरों से प्राप्त होनेवाली सूचनाओं से हमें ज्ञात हुआ था कि दुर्योधन-शकुनि अपनी चौकड़ी में अंगराज कर्ण को सम्मिलित कर चौकड़ी की पंचकड़ी बनाने का भरसक प्रयास कर रहे हैं,

किन्तु उनको सफलता प्राप्त नहीं हो रही है। यह सुनकर मैं तनिक चिन्तित हो गयी। अंगराज कर्ण उनके राजनीतिक दाँव-पेचों के विरुद्ध था। उसका एक ही कहना था—पाण्डवों को सीधे युद्ध के लिए ललकारा जाए—उनसे आमने-सामने युद्ध लड़ा जाए। उसके इस आग्रह से मैं भी चिन्तित थी। यह सत्य है कि किसी समय मेरे मन में उसके प्रति एक अनाकलनीय आकर्षण निर्मित हुआ था। किन्तु उसमें शरीर-वासना का भाव नहीं था। आज मुझे लगता है, निष्ठावान सूर्यभक्त के प्रति जन्मजात अग्निकन्या का वह तेजाकर्षण स्वाभाविक था। अंगराज कर्ण के अभेद्य कवच-कुण्डलों से मुझे भय लगता था।

मेरे श्वसुर सम्राट् पाण्डु का हस्तिनापुर का राज्य हमसे छीन लेने का अन्याय दुर्योधन ने किया था। फिर भी मेरे पतियों ने खाण्डववन को स्वीकार करके वहाँ अपने अविराम परिश्रमों से हस्तिनापुर को भी लजानेवाले इन्द्रप्रस्थ राज्य को स्थापित किया था। मैं इस नवनिर्मित गणराज्य की अभिषिक्त महाराज्ञी थी।

इन्द्रप्रस्थ पर कोई संकट आए, यह मुझे स्वीकार नहीं था। स्वयंवर में मेरे उद्गारों से अपमानित हुए कवच-कुण्डलधारी कर्ण का उपयोग दुर्योधन बड़ी कुशलता से करना चाह रहा था। किन्तु मेरे साथ कृष्ण जैसे सखा होने के कारण मुझे किसी से भयभीत होने की क्या आवश्यकता थी! मुझे उसके सख्यत्व पर नितान्त श्रद्धा थी।

एक दिन कुरु-अमात्य वृषवर्मा कुरुओं की ओर से एक आमन्त्रण लेकर इन्द्रप्रस्थ आ धमके। हमारी 'श्रीकृपा' राजसभा में आमन्त्रण का भूर्जपत्र मेरे और महाराज युधिष्ठिर के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा, "पितामह भीष्म और महाराज धृष्टराष्ट्र ने आप सबको आग्रहपूर्वक विष्णुयाग के लिए आमन्त्रित किया है। द्वारिका से यादवों को भी आमन्त्रित किया गया है। वहाँ से यादवश्रेष्ठ श्रीकृष्ण युवराज बलराम सहित अवश्य हस्तिनापुर पधारेंगे। आप सब भी अवश्य पधारें। अपने कुल के मूल स्थान के इस धार्मिक कार्यक्रम में उपस्थित रहने को कृपया न भूलें।"

अमात्य वृषवर्मा का यह अत्यन्त नम्र आमन्त्रण सुनते हुए जाने क्यों मेरी दाहिनी आँख फड़क उठी। मेरे मन में शंका की टिटिहरी कर्कश स्वर में चीखी। मैं झट से कह गयी, "यह आमन्त्रण तो यज्ञ का है। वहाँ दम्पतियों के आने की तो कोई आवश्यकता नहीं है। यदि हो भी तो सुभद्रा और भानुमती अपने-अपने पतियों के साथ आएँगी। राजमाता भी अवश्य आएँगी।"

तब उस अनुभवी अमात्य ने कहा, "यह कैसे हो सकता है? इस यज्ञ में पाण्डवों के महाराज और महाराज्ञी तो विशेष रूप से आमन्त्रित हैं। यह आमन्त्रण केवल हस्तिनापुर के महाराज और महाराज्ञी की ओर से नहीं है, वरन् पितामह भीष्म, महात्मा विदुर और हस्तिनापुर के समस्त नगरजनों की ओर से है।"

अब इन्द्रप्रस्थ में हस्तिनापुर जाने की तैयारियाँ आरम्भ हुईं। मैंने एक विशेष दूत द्वारा कृष्ण को सन्देश भिजवाया, "अन्य कोई आए या न आए—तुम अवश्य हस्तिनापुर आओ। हमें विष्णुयाग के लिए हस्तिनापुर जाना ही होगा।"

मेरे अनुरोध के अनुसार वह यथासमय हस्तिनापुर आ ही गया, परन्तु कितने अलग रूप में—भिन्न अर्थ से! वह आया वस्त्ररूप में, जिसे मुझ जैसी कुलस्त्री कभी भूल नहीं पाएगी।

बीच के अन्तराल में हस्तिनापुर में जो कुछ घटित हुआ, उसे स्मरण करना ही असहनीय है,

फिर वह सब बताना–वह भी अपने मुख से, नितान्त असम्भव है।

अपने पाँचों पतियों के प्रति मेरे मन में अत्यन्त आदर था। किन्तु हस्तिनापुर में उस समय जो कुछ घटित हुआ, उसका उत्तरदायी था ज्येष्ठ पाण्डव–इन्द्रप्रस्थ का राजा युधिष्ठिर। वैसे युधिष्ठिर के व्यक्तित्व में अनेक दुर्लभ गुण थे। अपने चारों भ्राताओं का नेतृत्व करने के, इन्द्रप्रस्थ का राज्य सँभालने के वह योग्य था। किन्तु पता नहीं हस्तिनापुर आते ही उसे क्या हो गया! कुछ-कुछ घटनाएँ ही ऐसी होती हैं कि चाहे जितना प्रयास करे, उनके कारण परम्परा का पता ही नहीं चलता। मेरा धर्माचरणी और पापभीरु, गुणवान ज्येष्ठ पति भ्रमित हो गया! वह इस प्रकार व्यसनाधीन और बुद्धिभ्रष्ट हो गया, जिसका समर्थन कदापि नहीं किया जा सकता। अल्पकाल में ही कीर्ति के शिखर पर पहुँचे इन्द्रप्रस्थ गणराज्य को उसके द्यूत-व्यसन ने क्षणार्द्ध में विनाश के गहरे गर्त में धकेल दिया। शकुनि-दुर्योधन, दुःशासन ने युधिष्ठिर को द्यूत की चुनौती दी। विचारशील-धर्मशील युधिष्ठिर ने उस चुनौती को स्वीकार किया। उसके बाद जिस प्रकार बुँदकीदार फनवाले भुजंग को लाल पूँछवाली चींटियाँ काट खाते हुए समाप्त कर डालती हैं, उसी प्रकार कौरवों ने युधिष्ठिर को उसके भ्राताओं और मेरे सहित आमूल समाप्त कर डाला।...

पाण्डवों का यह सौभाग्य ही मानना होगा कि विजयोन्माद और परपीड़न के आनन्द से उछलते हुए कौरवों में से किसी को यह बुद्धि नहीं सूझी कि युधिष्ठिर को उसकी वृद्ध, विधवा, अपार दुःख सहती आयी माता को दाँव पर लगाने के लिए ललकारे। यदि ऐसा हुआ होता तो? मुझे पूरा विश्वास है कि वह अपनी जन्मदात्री माता को भी दाँव पर लगा देता!...

मैं यह भावना के वशीभूत होकर नहीं कह रही हूँ। उस दिन भान रहित होकर चीत्कारते हुए प्रोत्साहन देनेवाले कौरवों के उकसाने पर निर्लज्ज, नीच दु:शासन ने मेरे लज्जावरण पर हाथ डाला था। द्यूत खेलते हुए युधिष्ठिर जितना भान रहित नहीं हुआ था, उससे भी अधिक मेरा वस्त्र खींचते हुए दु:शासन विवेकहीन हो गया था।

कुरुओं के उस प्राचीन द्यूतगृह में वक्ष पींटते हुए, चीखते हुए अपनी लज्जारक्षा के लिए मैंने प्रत्येक वीर पुरुष के आगे हाथ फैलाया था। विकर्ण के अतिरिक्त कोई भी वीरपुत्र मेरे समर्थन में उठकर खड़ा नहीं हुआ। अंगराज कर्ण ने उसे भी धमकाकर बैठा दिया। कर्ण की भी बुद्धि भ्रष्ट हुई थी। बुँदकीदार फनवाली, स्वर्णवर्णी नागिन को कौरव रूपी लाल चींटियों ने घेर लिया। विमूढ़ हुए दु:शासन ने मेरे वस्त्र की चुन्नट में हाथ लगाया।

मैं बौखला उठी। मैं क्या कह रही हूँ, कहाँ हूँ, किसी भी बात का मुझे भान नहीं रहा। आँसुओं से डबडबाये मेरे नेत्रों के आगे घूमता रहा केवल नील, बैंजनी, हरे, स्वर्णिम रंगच्छटाओंवाला मोरपंख!

जब मेरी चेतना लौट आयी, मुझे केवल दूर-दूर जाती अस्पष्ट-सी मुरली की एक अपरिचित धुन सुनाई दी। जब पितामह मुझे वस्त्रों के ढेर से उठाकर सँभालते हुए द्यूतगृह से बाहर ले जा रहे थे, तब अस्पष्ट होती जा रही मुरली की वह धुन पूर्णत: बन्द हो गयी थी।

मेरी लज्जा की रक्षा की गयी थी। वह किसने की थी, यह भी मैं स्पष्टत: जान गयी थी। वह केवल मेरा सखा ही नहीं, उससे भी अधिक शब्दों में व्यक्त न होनेवाला युगन्धर सत्य का अधिकारी था वह!

जब मैं अन्त:पुर में लौट आयी, कुन्तीमाता को सामने देखकर मेरा अन्तःकरण उमड़ पड़ा। मैं

दौड़कर उनसे लिपट गयी और सिसक-सिसककर रोने लगी। वे अत्यन्त ममता से मेरी पीठ पर हाथ फेरती हुई केवल, 'शान्त हो जा मेरी पुत्री–शान्त हो जा' इतना ही कहती रहीं। उस स्पर्श को मैं जीवन-भर कभी भूल नहीं पायी। उनके 'मेरी पुत्री' ये शब्द मेरे अन्तर्मन पर सदैव अंकित रहे। उनका वह स्पर्श था मोरपंख जैसा और शब्द थे मुरली की उस धुन जैसे, जो मैंने अभी-अभी सुनी थी। मुझे तीव्रता से अनुभूति हुई कि कुन्तीदेवी मेरी सासुजी नहीं हैं, पाण्डव-माता नहीं हैं मेरी ही माता हैं वे। सौत्रामणि माता तो मुझसे छूट ही गयी थी। उस रिक्त स्थान को इस दृढ़चेता, अपार सहनशील कुलस्त्री ने भर दिया था। जग की कुन्ती माता मेरी सौत्रामणि माता बन गयी थीं।

द्यूत की उस 'न भूतो न भविष्यति' घृणास्पद घटना के पश्चात् क्या मेरा ज्येष्ठ पति युधिष्ठिर सँभल गया?–नहीं। शकुनि, दुर्योधन के ललकारने पर उसने पुन: द्यूत खेला–अनुद्यूत! उसे भी वह हार गया। पहले द्यूत में उसने सैन्य, धन, राज्य की लौकिक सम्पत्ति हारी थी। अनुद्यूत में वह 'काल' नामक अलौकिक सम्पत्ति हार गया। सूक्ष्म अर्थ में देखा जाए तो पहले द्यूत में जिन वस्तुओं को वह हारा था, उन पर उनका अधिकार था, किन्तु अनुद्यूत में 'काल' नामक जिस सम्पत्ति को वह हारा था, क्या उस पर उसका अधिकार था? क्या कभी किसी का हो सकता है? यदि हुआ–तो केवल किसी युगन्धर-युगपुरुष का ही हो सकता है।

मेरा ज्येष्ठ पति अनुद्यूत में जिस दाँव को हार गया था, वह था–पाँचों पाण्डवों के पत्नी सहित–अर्थात् मेरे सहित–बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास के कालखण्ड का!

हमारे वनवास का समाचार सर्वत्र फैल गया। किस मुँह से हम इन्द्रप्रस्थ जा सकते थे? अत: इन्द्रप्रस्थ के पौरजनों से मिले बिना ही हम वन जाने की तैयारी में लग गये। वीर अर्जुन ने ज्येष्ठ भ्राता से अनुरोध किया, "पहले हम द्वारिका चलेंगे।" भीमसेन ने भी उसका समर्थन किया। मेरी लज्जा रखनेवाले कृष्ण से मिलने को मेरा भी मन कर रहा था। वन ही जाना है तो द्वारिका के मार्ग में आनेवाले वन में ही क्यों न जाया जाए। किन्तु नहीं–मैं कुछ भी नहीं कह पायी। क्योंकि ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर एक ही रट लगाये हुए था–"मैं वहाँ नहीं जाऊँगा। तुम सब जाना चाहते हो तो जा सकते हो–यदि दुर्योधन अनुमति दे दें तो!"

पाण्डवों को खाण्डववन देने में दुर्योधन-शकुनि का यही उद्देश्य था कि वे वन्य-जातियों के आक्रमण का आखेट बन जाएँ, हिंस्र पशु उनको निगल जाएँ। अब तो एक-दो दिन का नहीं, पूरे बारह वर्ष का वनवास हम सबके सम्मुख खड़ा था।

वन-जीवन के अयोग्य बहुमूल्य राजवस्त्रों का त्याग करके हमने साधारण-से श्वेत वस्त्र धारण किये। वन में निराहार रहने की बाध्यता भी आ सकती थी। अत: इस स्थिति का सामना करने हेतु हमने निराहार रहने का अभ्यास शुरू किया। उससे दो ही दिन में हम सबके मुख कुम्हला गये। राजमाता कुन्तीदेवी से विदा लेते हुए तो हमारे मुख पूर्णत: कान्तिहीन हो गये थे। हमारे लौट आने तक उनको हस्तिनापुर में ही महात्मा विदुर के यहाँ रहना था। वे बार-बार कह रही थीं, "मैं वन की अभ्यस्त हूँ। मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगी।"

उनका यह आग्रह जब द्यूतपटु शकुनि को सुनाया गया, तो पाण्डवों को यन्त्रणा देने का कोई भी अवसर न चूकनेवाले उस महापुरुष ने व्यंग्यपूर्वक कहा, "उनको तो दाँव पर नहीं लगाया गया था। वे कैसे वन जा सकती हैं? वे तो राजमाता हैं–बिना किसी राज्य की! हम सब हस्तिनापुरवासियों के मन में उनके प्रति नितान्त आदर है। हस्तिनापुरवासियों के मन पर राज्य

करनेवाली राजमाता हैं वे। महामन्त्री विदुर के घर वे सुखपूर्वक रहें।"

शकुनि के इस कथन से सबसे अधिक तिलमिलाकर रह गया मेरा भीमसेन। किन्तु वह कुछ कर नहीं सकता था। कभी-कभी समय मच्छरों को भी अद्भुत शक्ति देता है!

सम्राट् पाण्डु के प्रति कृतज्ञता, आदर रखनेवाले हस्तिनापुरवासी स्त्री-पुरुष हमें विदा देने के लिए हस्तिनापुर की सीमा तक आये थे। उनमें पितामह भीष्म, महात्मा विदुर, मन्त्री संजय, गुरु द्रोण, कृपाचार्य आदि सम्मिलित थे। एक-दूसरे के सुख-दुःख से बँधे हम छह जीवों ने निश्चयपूर्वक उनकी ओर पीठ फेर ली। भविष्य में आनेवाली विपत्तियों का सामना करने के लिए बारह वर्षों के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास का यज्ञ यथाविधि पूरा करने को हम तैयार थे। कई वर्ष पूर्व राजमाता कुन्तीदेवी अपने पाँचों पुत्रों सहित हस्तिनापुर आयी थीं। आज मैं–उनकी पत्नी उनके साथ पुन: वनवास के लिए निकल पड़ी थी। राजमाता बड़ी अपेक्षाओं के साथ अपने पुत्रों को यहाँ ले आयी थीं। न मैं राजमाता थी, न उनकी योग्यता मुझमें थी। एक ही बात थी मेरे पास–द्वारिकाधीश कृष्ण से मेरी सख्यता। मेरी सासुजी उसकी बुआ थीं–निस्सीम भक्त थी। सम्भवत: उनकी भक्ति और मेरी सख्यता से ही भविष्य में पाण्डवों को न्याय प्राप्त होने की सम्भावना थी।

इस समय तो हमारे आगे था केवल घना अन्धकार–वनों का हरा अन्धकार। हम हस्तिनापुर की पश्चिम दिशा में अग्रसर हो रहे थे। हमारे मार्ग में पहली नदी पड़ी भागीरथी। उसके तट पर खड़े एक विशाल वट-वृक्ष के नीचे हमने पड़ाव डाला। झुलसाती धूप को माथे पर झेलते हुए पथिकों को शीतल छाया प्रदान करना ही उस वृक्ष का व्रत था। क्या उसके आशीर्वाद से भविष्य में हमारा जीवन सफल होगा? इस पहले पड़ाव पर खाने के लिए हमारे पास अन्न का एक भी कण नहीं था। अत: भागीरथी के स्फटिक-धवल जल को पीकर ही हम सो गये।

ब्राह्ममुहूर्त में ही उठकर आह्निकों से निवृत्त होकर हम आगे निकल पड़े–नंगे पाँव ही! सबसे आगे था निर्भय भीमसेन। मार्ग में आनेवाले झाड़-झंखाड़ों की शाखाओं और कँटीली लताओं को काटने के लिए उसके हाथ में था केवल एक धारदार परशु। सन्ध्या समय हम सरोवरों से घिरे कुरुक्षेत्र पर पहुँच गये। भीमसेन के स्थान पर अब अर्जुन हमारा अगुआ बन गया। हम उसके पीछे-पीछे चलने लगे। चलते-चलते उसने युधिष्ठिर से कहा, "तीर्थयात्रा के समय कुरुक्षेत्र पर मैं एक महीना रहा था। प्रतिदिन सूर्यकुण्ड पर मैं स्नान के लिए जाया करता था। कई सरोवरों से सम्पन्न होने के कारण इस कुण्ड पर नित्य भक्तजन आया करते हैं। विविध धार्मिक विधियाँ सम्पन्न करते हैं। अत: इसे धर्मक्षेत्र भी कहा जाता है।"

"एक बात तुम भूल गये हो पार्थ–सूर्यग्रहण के दिन..." युधिष्ठिर कहने लगे।

"हाँ–सूर्यग्रहण के ही दिन हमारी यहाँ श्रीकृष्ण से–मेरे प्रिय सखा से–पहली भेंट हुई थी।" अर्जुन ने युधिष्ठिर के कथन को पूरा किया।

"कुछ दिन हम यहाँ पड़ाव डालेंगे। सरोवर के जल में द्रौपदी अपने विपुल विमुक्त केशों को भलीभाँति धो सकेगी।" भीमसेन मेरी ओर देखकर हँसते हुए बोला।

अब तक बिना किसी के कहे ही नकुल-सहदेव ने ईंधन के लिए सूखी लकड़ी इकट्ठी की थी। भीमसेन ने अपने अधरीय की काछ कसकर तीन पाषाण-खण्ड ढूँढ़ लिये और सुघड़ चूल्हा बनाया। अर्जुन और युधिष्ठिर उस धर्मक्षेत्र की धर्मशालाओं से सत्तू, ओदन आदि भोजन की कच्ची सामग्री ले आये। वह भिक्षान्न था। आते हुए वे भोजन पकाने हेतु ताम्रपात्र भी ले आये थे। ओदन

को सरोवर के जल में स्वच्छ धोकर भीमसेन ने वह ताम्रपात्र चूल्हे पर चढ़ाया। अरणि से अग्नि उत्पन्न कर उसने चूल्हा जलाया। फूँक-फूँककर उसने अग्नि को सुलगाया। और फिर कुरुक्षेत्र की धर्मभूमि पर सम्राट् पाण्डु के दिग्विजयी पुत्रों की उदरपूर्ति करनेवाला ओदन पकने लगा।

कुरुक्षेत्र की दृशद्वती, सरस्वती आदि नादियों का और ब्रह्मकुण्ड, ज्योतिकुण्ड आदि सरोवरों का जल पीते हुए प्रसन्न मन हम पश्चिम दिशा में एक के बाद एक वन पार करके अन्तत: काम्यकवन पहुँच गये। एक निर्मल निर्झर के समीप नकुल ने हमारी पर्णकुटी के लिए एक विशाल, खुले भूखण्ड को चुना। वह भूविशेषज्ञ था। पाँचों भ्राताओं ने मिलकर सन्ध्याकाल तक पूर्वाभिमुख प्रवेशद्वारवाली सुघड़, सुन्दर पर्णकुटी खड़ी की। उसमें मेरे लिए स्वतन्त्र कक्ष, स्नानगृह, पाकगृह आदि की व्यवस्था की गयी थी। खान से लायी चिकनी मिट्टी को भीमसेन ने पैरों से रगड़ा। उस मिट्टी से उसने छोटे-बड़े आकार से सुन्दर घड़े बनाये। लोटे के आकार के सात-आठ मृत्तिका-पात्र बनाये गये। दर्भासन पर बैठा युधिष्ठिर भीमसेन के बनाये छोटे-बड़े आकार के थालों को देर तक एकटक देखता रहा। भीमसेन द्वारा बनाये गये पात्र–घड़े, थाल आदि बड़े सुन्दर थे। अनजाने में ही सबसे बड़ा थाल मैंने उसके आगे सरकाया। ग्रीवा ऊपर उठाकर खिलखिलाता हुआ वह बोला, “जो कुन्ती माता ने किया होता, वही तूने किया। अपने भोजन को ध्यान में रखते हुए ही मैंने यह थाल बनाया है। अन्य थाल भी इन सबके योग्य बनाये गये हैं।”

अर्जुन ने पर्णकुटी के आगे–आँगन में चीमड़ लकड़ियों से पाँच सुन्दर धनुष बनाये। रामेटा की चीमड़ छाल से बनायी गयीं, सरलता से लगायी और निकाली जा सकनेवाली प्रत्यंचाएँ भी उन पर चढ़ा दी गयीं। एक वन्य अश्व को सहदेव पकड़ लाया था। दूर एक खुले भूखण्ड पर उसे फिराने के काम में लगा था वह। अश्व की पीठ पर अपनी पकड़ जमाकर वह उसे वृत्ताकार रूप में घूमने का अभ्यास करा रहा था। नकुल ने बाँस के सुन्दर बाण बनवाये थे। युधिष्ठिर ने वन में घूम-घूमकर जमा किये विविध रंग के पुष्प और बेलपत्र एक मृत्तिका-थाल में सजाकर अपनी बैठक के पास रखे थे। पर्णकुटी को स्वच्छ पोतकर एक कोने में मैंने लकड़ी और मिट्टी से एक छोटा-सा देवघर बनाया था। उसका मुख मैंने द्वारिका की ओर रखा था। मिट्टी की जलहरी पर शिव-पिण्डी स्थापित की थी। और उसे थाल के आकार की चन्द्र-प्रतिमा से एकरूप करके लीपा था। जलहरी के आगे मिट्टी का ही एक छोटा-सा, बैठा, सुडौल नन्दी भी था। पिण्डी के पीछे चन्द्रथाल से सटाकर बाँस की एक रंग-बिरंगी मुरली भी मैंने रखी थी। शिव-पिण्डी पर अर्पित बिल्वपत्र के निकट शुभ्र पुष्पों सहित एक प्रफुल्ल मोरपंख भी मैंने रखा था।

पर्णकुटी की छत पर ऊपर से पतले तिनकोंवाली चिकनी वन्य घास दो तहों में बिछाने के कारण पर्णकुटी समशीतोष्ण बन गयी थी। वर्षा और शीतकाल में उसमें शीत नहीं लगती थी और ग्रीष्मकाल में वह सुखद शीतल हुआ करती थी।

ऊपर नील गगन और आगे कलकल करता हुआ दिन-रात बहता शुभ्र-धवल निर्झर। पर्णकुटी की चतुर्दिक् बनायी गयी समतल भूमि को छोड़कर सर्वत्र सघन अरण्य। ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से लिपटी, आपस में उलझी हुई वन-लताएँ और उन वृक्षों पर उषःकाल से चहचहाते भाँति-भाँति के, भिन्न-भिन्न कण्ठध्वनिवाले, भिन्न-भिन्न रंगों के पक्षी–ऐसी थी हमारी काम्यकवन में बसी रमणीय पाण्डव-बस्ती। इन्द्रप्रस्थ के राजप्रासाद में जितने सुखपूर्वक ये पाँचों भ्राता मेरे साथ रहते थे, उतने ही सुख से वे यहाँ भी रहने लगे।

प्रतिदिन सूर्योदय के पश्चात् अपने प्रातराह्निकों से निवृत्त होकर युधिष्ठिर शिव-पिण्डी का पूजन करता था।

पहले उस पर एक-एक बिल्वपत्र अर्पित कर वह उसे सुशोभित किया करता था। तत्पश्चात् वह शिवप्रिय शुभ्र पुष्पों की अँजुली अर्पित किया करता था। उसके बाद भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और अन्त में मैं शिव को बिल्वपत्र और श्वेत वनपुष्प अर्पित करके युधिष्ठिर के पीछे-पीछे शिव-स्तवन आरम्भ करते थे–

‘शिवाकान्त शम्भो शशांकार्धमौले

महेशान शूलिन् जटाजूटधारिन्

त्वमेको जगद्व्यापको विश्वरूप

प्रसीद प्रसीद प्रभो पूर्णरूप।।’

पहले ही दिन आँखें मूँदने पर अन्तःप्रेरणा से मेरे होठों से कृष्ण-स्तवन निकला था–

‘ॐ दामोदराय विद्महे

केशवाय धीमहि

ॐ तन्नः कृष्ण: प्रचोदयात्!!’

मेरे कहे बिना ही मेरे पाँचों पतियों ने एक स्वर में उस स्तवन का अनुसरण किया। काम्यकवन के हमारे निवास-काल में एक अलिखित नियम ही बन गया–प्रथम सूर्योदय के साथ युधिष्ठिर की भारी वाणी में शिव-स्तवन और उसके पीछे-पीछे मेरी स्त्री-सुलभ मधुर वाणी में कृष्ण-स्तवन का।

काम्यकवन में हमारा जीवन आपस में बँटकर दैनिक कार्यों को करते हुए सुख-शान्तिपूर्वक व्यतीत हो रहा था। प्रतिदिन मेरे पाँच पतियों में से एक मेरे साथ मेरी रक्षा हेतु पर्णकुटी में रहता था और अन्य चार वन में मृगया, पूजन का साहित्य, ईंधन की लकड़ी और हमारी पालित वनगायों के लिए चारा इकट्ठा करने आदि कार्यों में लग जाते थे।

जनम-जनम के धागों से हमसे बँधे धौम्य ऋषि बिना किसी प्रकार का द्यूत खेले, एक दिन अपने शिष्यगणों सहित काम्यकवन आ गये। उन्होंने हमारी बस्ती के निकट ही अपनी पर्णकुटियाँ खड़ी कीं। हमारी पर्णकुटियों की छतों से निकलकर आकाश में चढ़ती अग्निकुण्ड-धूम की लपटों के साथ-साथ धौम्य ऋषि और उनके शिष्यगणों के ठनठनाते स्वरों में मधुर वेदमन्त्र भी आकाश में गूँजने लगे। पाण्डव-बस्ती काम्यकवन को एक नया अर्थ प्रदान करते हुए निर्भय और भावसम्पन्न हो गयी।

भोजन बनाने का काम मैं ही करती थी। फूँक मार-मारकर चूल्हे में अग्नि सुलगाते-सुलगाते मैं स्वेद से लथपथ हो जाती थी। श्यामवर्ण होते हुए भी मेरा मुख उस समय आरक्त होता होगा। युधिष्ठिर ने ही मुझसे यह बात कही थी। मुझे चूल्हा फूँकते देख इन्द्रप्रस्थ का वह भूतपूर्व राजा निःशब्द हो जाता था। पर्णकुटी से निकलकर निर्झर के तट पर पीपल-वृक्ष के नीचे पाषाण-वेदिका पर वह अकेला ही देर तक बैठा रहता था। वह ध्यानस्थ होकर आराधना में लीन हो जाता था।

पर्णकुटी में धान बीनते हुए मुझे अवश्य कृष्ण का स्मरण हो आता था। वह मुझे ‘कृष्णे,

श्यामले, द्रौपदी, पांचाली, याज्ञसेनी' आदि कई नामों से सम्बोधित किया करता था। अब मेरी समझ में आ रहा है, उसके प्रत्येक सम्बोधन में अलग-अलग गहरा अभिप्राय हुआ करता था। तात द्रुपद और भ्राता धृष्टद्युम्न के सन्दर्भ में बात करते हुए वह मुझे 'पांचाली' अथवा 'द्रौपदी' कहता था। मुझसे कुछ भूल होने पर मेरे जन्म का स्मरण दिलाने हेतु वह मुझे 'याज्ञसेनी' नाम से सम्बोधित करता था। जब उसको मुझसे कुछ आत्मीय, स्मरणीय बात करनी होती थी, तब वह मुझे 'कृष्णे' कहा करता था। जब उसे मुझे अपने 'श्यामवर्ण' को आभास कराना होता था, वह मुझे 'श्यामा' अथवा 'श्यामले' नाम से बुलाता था। मुझे स्मरण नहीं हो रहा कि कभी उसने मुझे 'महाराज्ञी' कहा हो! उसने मुझे कभी 'बहन' भी नहीं कहा। कभी-कभार ही वह मुझे 'सखी' कहता था।

कितने थे उसके रूप! कितनी स्मृतियाँ! मुझसे और मेरे पतियों से संलग्न–राजमाता कुन्तीदेवी से जुड़ी हुई!

एक बात तो मुझे स्पष्ट कहनी होगी कि वनवास में मुझे कृष्ण का स्मरण जितना हुआ, उतना अन्य किसी का नहीं। यहाँ आने पर पहले-पहल मुझे तात द्रुपद, सौत्रामणि माता, भ्राता धृष्टद्युम्न और उसके साथ काम्पिल्यनगर गये हुए मेरे पुत्रों का तीव्रता से स्मरण होता था। सन्तोष केवल इतना था कि वे अपने प्रेमल नाना-नानी और मामा-मामी की छाया में हैं। मेरे सभी पुत्र गुणवान थे। अपने-अपने पिता के गुणधर्म उनमें जन्मजात ही थे। निरीक्षण और अनुसरण से उन्होंने अपने सापत्न पिताओं के ही गुण प्राप्त किये थे। वे पाँचों पाण्डवों से भी अधिक पराक्रमी होंगे, इसकी मेरे मन में तनिक भी शंका नहीं थी। तेरह वर्ष बाद जब वे हमसे मिलेंगे तब कितने बड़े हुए होंगे, कैसे दिखाई देंगे, इन्हीं विचारों में मैं दिन-भर खोयी रहती थी।

अपने पतियों के अन्य पुत्रों को तो मैंने देखा नहीं था, किन्तु इन्द्रप्रस्थ में ही होने के कारण अभिमन्यु मुझे अत्यन्त प्रिय था। इसका मुख्य कारण यह था कि बोलते हुए अपनी मधुर वाणी से वह अपने मामा कृष्ण का अवश्य स्मरण दिलाता था। राजमाता कुन्तीदेवी का भी मुझे सदैव स्मरण होता रहता था।

किन्तु तत्पश्चात् केवल कृष्ण और कृष्ण ही मेरे बाह्य और अन्तर्मन में व्याप्त था। एक कटु सत्य की प्रतीति से मेरा मन व्याकुल हो रहा था। वनवास आरम्भ करने से पहले एक बार उससे मिलने के कर्तव्य को हम पूरा नहीं कर पाये थे। क्या समझा होगा उसने! कितना स्वार्थी ठहराया होगा उसने मुझे? इस विचार से मैं बहुत अनमनी हो जाती थी। कभी-कभी ऐसे ही उदास विचारों से खिन्न होकर मैं पर्णकुटी के द्वार में बैठती थी। कृष्ण के तीव्र स्मरण से मेरी आँखों से अश्रु झरते रहते थे। तब अपने पुष्ट कन्धे पर लकड़ी का गट्ठर लादकर वन से लौटा हुआ भीमसेन पर्णकुटी की टटिया के पास गट्ठर फेंककर मेरे समीप आ बैठता था। अपने उत्तरीय से मेरी आँखें पोंछता हुआ वह कहता था, "धैर्य धर पांचाली, विश्वास रख–तुझसे मिलने के लिए स्वयं कृष्ण ही आएगा इस वन में। मेरा मन कह रहा है।" उसके केवल मेरे समीप बैठने से ही मुझे बड़ा धैर्य मिलता था।

मेरी तपस्या को दीर्घकाल प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। एक दिन मेरा भीमसेन हाथ ऊपर उठाकर चिल्लाता हुआ ही पर्णकुटी के पास आया। वह पूरे काम्यकवन को सुनाई देनेवाले ऊँचे स्वर में गरज रहा था–"वह आ गया! वह आ गया! द्वारिकाधीश आ गया।" मेरे समीप आकर

हाँफता हुआ वह बोला, "कृष्णे, कृष्ण आया है। मैंने उसके रथ की स्वर्णसूत्रजड़ित काषाय ध्वजा को पहचान लिया है। उसके रथ के साथ और भी दो रथ हैं।"

पर्णकुटी के चतुर्दिक् बनायी गयी लकड़ी की बाड़ में, चारों दिशाओं में भीमसेन जितनी ऊँची चार पाषाणी-वेदिकाएँ थीं। आवश्यकता पड़ने पर अरण्य में इधर-उधर चले गये अपने भ्राताओं को बुलाने के लिए वह उन वेदिकाओं पर चढ़कर चिल्लाकर उनको बुलाया करता था। फिर थोड़ी ही देर में उसके चारों भ्राता एक के बाद एक पर्णकुटी में उपस्थित हो जाया करते थे। आज तो कृष्ण के आगमन से हर्षोन्मत्त हुआ भीमसेन इतने ऊँचे स्वर में चिल्लाया कि हमारे गोधन पर झपट पड़ने के लिए घात में बैठे व्याघ्र, लकड़बग्घे जैसे श्वापद भी भयभीत होकर भाग खड़े हुए। एक-एक कर चारों पाण्डव बाड़ के पूर्व द्वार से पर्णकुटी में प्रविष्ट हुए। उनके पीछे-पीछे तीन-चार रथ हमारी पर्णकुटी के आगे आकर खड़े हुए। आँखों में प्राण समेटकर, पर्णकुटी के किवाड़ से ही मैं देखने लगी। चार शुभ्र-धवल अश्वोंवाले गरुड़ध्वज रथ से मेरा प्राणप्रिय सखा–साँवला कृष्ण उतरा। उसके पीछे-पीछे सारथि दारुक और उद्धवदेव भी उतरे। पिछले रथ से मेरा भ्राता धृष्टद्युम्न उतरा। उसके पीछे पांचाल-सेनापति और अमात्य थे। सबसे पिछले रथ से केवल सारथि उतरा। वह रथ केवल घर-गृहस्थी के लिए उपयुक्त सामग्री से खचाखच भरा हुआ था।

पाँचों भ्राताओं में सबको पीछे छोड़कर केवल अर्जुन झपाके से चलता हुआ कृष्ण के समीप गया। झुककर वह उसके चरण छूने ही वाला था कि कृष्ण ने उसे ऊपर उठाकर अपने दृढ़ आलिंगन में ले लिया। वह श्रेष्ठ-अजेय धनुर्धर उस ममता-भरे स्पर्श से पिघल गया। कृष्ण के खुले, पुष्ट कन्धे पर अपना हताश सिर रखकर वह सिसकने लगा। थपकियाँ दे-देकर कृष्ण ने उसे शान्त किया। पीछे-पीछे चारों भ्राताओं ने कृष्ण की चरणधूलि माथे से लगायी। मैं किवाड़ से ही देख रही थी। पाण्डवों से बातें करते-करते उसके दीर्घ मत्स्यनेत्र बार-बार किवाड़ की ओर घूम रहे थे। मेरे लिए वहाँ खड़ा रहना भी असम्भव हुआ। मैं कुटी के अन्तःकक्ष में चली गयी। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि उससे क्या और कैसे कहूँ!

अपने पाँचों पाण्डव-भ्राताओं सहित वह पर्णकुटी में आया। तब भी मैं अन्तःकक्ष से बाहर नहीं आयी। नाना प्रकार की सम्मिश्र भावनाओं से मेरा वक्ष भर आया था। सभी ऋषि-मुनि, ज्येष्ठ नरेश और कई गणराज्यों के निवासी उसको सर्वज्ञ समझते थे। तब मेरी दुर्गति–मेरा असहनीय अपमान उसे ज्ञात कैसे नहीं हुआ? मैं उस पर क्रुद्ध तो हुई, किन्तु अगले ही क्षण वह मुझसे मिलने आया है, इस आनन्द से मेरा मन लबालब भर आया है। समझ में नहीं आ रहा था कि क्या कहूँ!

"कृष्णे ऽ! तेरी मनःस्थिति को मैं जानता हूँ। जब तू स्थिरचित्त हो जाएगी, मैं शान्ति से तुझसे बात करूँगा–सँभल जा–शान्त हो जा।" उसने कहा।

मुझे लगा था वह सीधा अन्दर चला आएगा। किन्तु वह नहीं आया। मुझे और अन्य जनों को चकरा देनेवाली यही विशेषता थी उसकी। वह भावनाओं को पहचानता था, किन्तु भावुक नहीं था। वह सबसे समरस होता था, किन्तु किसी की भावना के साथ बह नहीं जाता था। समय-समय पर प्रकट किये उसके विचारों को स्मरण कर मैंने निश्चयपूर्वक स्वयं को सँभाला।

दोपहर का भोजन हुआ। सबने कुछ समय विश्राम कर लिया। दिन के ढलते पर्णकुटी के आँगन में बैठक के लिए हम सब जमा हो गये। दर्भासन बिछाये गये। उस बैठक में मेरे लिए भी एक आसन बिछाया गया। स्वयं कृष्ण के उद्धवदेव सहित उपस्थित होने के कारण कोई भी कुछ नहीं

बोल रहा था। कौरवों के विष्णुयाग के लिए इन्द्रप्रस्थ छोड़ने के पश्चात् घटी हुई घटनाओं और मेरे घोर अप्रतिष्ठा-अपमान से उत्पन्न हुआ वह आत्मक्षोभ अब मुखर होने लगा। कृष्ण पर ही आँखें गड़ाकर मैंने कहा, "ऋषि, मुनि और योगी तुझे क्षमा और सत्य मानते हैं। कहते हैं, गोचर सृष्टि के पहले तू ही था। चराचर सृष्टि का–सजीव-निर्जीवों का निर्माता भी तू ही है। सब कहते हैं, तीनों लोक, सभी नक्षत्र, दसों दिशाएँ, आकाश, सूर्य, चन्द्र–दृष्टि को दिखाई देनेवाला समस्त ब्रह्माण्ड तू ही है। क्या ये मेरे मुक्त केश तेरे ब्रह्माण्ड में समाहित नहीं हैं? प्रत्येक केश के मूल से एक-एक वेदना लिपटी हुई है। क्या तुझे वह दिखाई नहीं दे रही?

"हे पुरुषोत्तम, मुझे बता–मैं कौन हूँ? क्या पराक्रमी कहलानेवाले इन पाँच पतियों की मैं सचमुच प्रिय पत्नी हूँ? कह दे, तेरी प्रिय रुक्मिणीदेवी पर ऐसी ही भयंकर विपत्ति आती तो?"

मेरे पाँचों पति सिर झुकाकर चुपचाप सुनते रहे। मैंने कृष्ण की ओर देखा। नित्य की भाँति वह मन्द-मन्द मुस्करा रहा था। मैं उबल पड़ी, "इन पाँचों की पत्नी, तेरी सखी और भ्राता धृष्टद्युम्न की बहन होते हुए भी नीच कौरव मुझे 'दासी' कहकर, मेरे केशों को पकड़कर घसीटते हुए भरी सभा में ले गये। क्या वह उचित था? हे कृष्ण, मैं रजस्वला थी–एकवस्त्रा थी। ऐसी स्थिति में आनन्द से अट्टहास करते कौरवों ने सबको साक्षी रख मेरा उपहास किया–क्या वह शोभादायक था? पितामह भीष्म, महाराज धृतराष्ट्र और महाराज्ञी गान्धारीदेवी की मैं पुत्रवधू थी कि दासी? गुरुद्रोण, कृपाचार्य, पितामह भीष्म, महात्मा विदुर और संजय–सब 'अर्थ' के दास बनकर चुप्पी साधे बैठे थे। हे कृष्ण, क्या 'अर्थ' इतना 'अनर्थकारी' होता है? सम्पत्ति इतनी शक्तिशाली होती है?" मुझे आभास हुआ कि मेरे एक भी प्रश्न का उत्तर उसके पास नहीं है। फिर भी मन की सारी जलन व्यक्त किये बिना मुझसे रहा नहीं गया। आज तक रोके रखा मेरा क्रोध तप्त ज्वालामुखी बनकर फूट पड़ा, "अन्याय करनेवाला जितना दोषी होता है, उतना ही प्रतिकार किये बिना अन्याय को सहनेवाला भी दोषी होता है। मैं कौरवों को क्यों दोष दूँ? मेरे ये पाँचों पति महाबलवान, श्रेष्ठ योद्धा होते हुए भी, निर्लज्जता से अपनी पत्नी की की जा रही दुर्गति, अप्रतिष्ठा और उस पर होते अन्याय को चुपचाप देखते रहे। मेरे ये पति शरणागत की कभी उपेक्षा नहीं करते। मैं उनकी शरण में गयी थी, फिर भी वे चुप कैसे रहे? इनमें से प्रत्येक से मुझे एक-एक तेजस्वी पुत्र प्राप्त हुआ है। 'अपने पुत्रों की माता की लज्जारक्षा हम नहीं कर पाये' इस बात को अगली पीढ़ियों के समक्ष ये किस मुख से उचित बताएँगे?

"कपट से पाँसे बनवाकर कौरवों ने कपट द्यूत खेला। उन्होंने अन्याय से इनका राज्य छीन लिया। इनको दास बनाया। इनकी एकवस्त्रा–रजस्वला पत्नी की कुरुओं के प्राचीन द्यूतगृह में सभी ज्येष्ठ व्यक्तियों के समक्ष घृणास्पद अप्रतिष्ठा की गयी। मेरे इन पाँचों पतियों का पराक्रम ऐसे घोर समय पर काम आनेवाला न हो तो उसे क्या चूल्हे में झोंकना है? व्यर्थ है वह! व्यर्थ है अर्जुन का गाण्डीव और भीमसेन की गदा! धिक्कार–धिक्कार है भीमसेन की सामर्थ्य पर और अर्जुन के शौर्य पर। उनके होते हुए दुर्योधन-दुःशासन जैसे नीच क्षण-भर भी जीवित कैसे रह सकते हैं? अर्जुन के द्वारा स्वयंवर में जीती गयी मैं सासुजी की आज्ञा से और ज्येष्ठ पाण्डुपुत्र की इच्छा से पाँचों की पत्नी बन गयी। 'तू पाँचों की हो अथवा एक सौ पाँच की–एक ही बात है,' कहकर भरी सभा में निर्लज्जता से दाँत निकालकर अट्टहास करते हुए कौरवों ने मेरा उपहास किया।

"सम्भवत: पहले द्यूत में कम हानि हुई थी, अत: यह कुलदीपक ज्येष्ठ पाण्डव पुन: अनुद्यूत खेला। क्यों? हारी हुई सम्पत्ति को पुन: प्राप्त करने की अभिलाषा से। हे कृष्ण, इसके जीवन पर छायी वह मूढ़, विनाशकारी अभिलाषा क्या तुझे कभी भी प्रतीत नहीं हुई?"

मेरे एक भी प्रश्न का उत्तर वह सर्वज्ञ द्वारिकाधीश नहीं दे रहा था। वह चुपचाप बैठा रहा। उसका वह मौन जब मुझे पूर्णत: असह्य हो गया तो मैंने झुँझलाकर कहा, "ये पाँचों मेरे पति कहलाने योग्य नहीं हैं। न मेरे पति हैं, न मैं किसी की पत्नी हूँ। मैं न किसी की पुत्री हूँ, न पुत्रवधू, न किसी की माता हूँ। और हाँ, हे द्वारिकाधीश कृष्ण, तू भी मेरा बन्धु नहीं है, सखा नहीं है। तू मेरा कुछ भी नहीं लगता। मैं अकेली हूँ–अकेली!" असहनीय मनःसन्ताप के कारण अपनी हथेलियों में मुख छिपाकर मैं सिसकने लगी। मुझे कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। मुझसे सिर ऊपर नहीं उठाया जा रहा था और कुछ सूझ भी नहीं रहा था।

सिसकते हुए मैंने जैसे-तैसे कहा, "ये पति मेरे नहीं हैं, पुत्र भी मेरे नहीं हैं। न पांचालनरेश मेरे पिता हैं, न धृष्टद्युम्न मेरा भ्राता है। सबसे अधिक पीड़ादायक बात यह है कृष्ण, कि तू भी मेरा कोई नहीं है। इसलिए वे निर्लज्ज कौरव मुझ पर इतना अत्याचार कर सके। इन्द्रप्रस्थ की महाराज्ञी होते हुए भी मैं वनवासी हो गयी। इस बात की तुम सबको तनिक भी व्यथा नहीं है। तुम सब मेरी घोर उपेक्षा कर रहे हो। हे कृष्ण, मुझे 'वेश्या' कहकर कर्ण ने सभी ज्येष्ठों के आगे अट्टहास किया–उससे मेरे अन्तःकरण में दहकती अग्नि क्षण-भर भी शान्त नहीं हो रही है।

"तू मुझे सखी मानता है। मैं भी तुझ पर नितान्त श्रद्धा रखती हूँ। तुझमें प्रचण्ड, अजेय सामर्थ्य है। इसलिए द्यूतगृह में जब मैं अपमानित की जा रही थी, आक्रन्दन करती मैं तेरी ही शरण में आयी थी। अन्तःकरणपूर्वक मैंने तुझे ही पुकारा था। आज भी पुकार रही हूँ, कल भी पुकारूँगी। मेरे स्त्रीत्व को अपमानित करनेवाले पापियों को तू दण्ड देगा कि नहीं? मेरी रक्षा करेगा कि नहीं?"

उद्धवदेव और भ्राता धृष्टद्युम्न के समक्ष ही मैंने कृष्ण को खरी-खरी सुनायी। मुझे न उसका कोई तत्त्वज्ञान सुनना था, न उसकी चिकनी-चुपड़ी राजनीति। मुझे चाहिए था मेरे प्राणप्रिय सखा से अभय का स्पष्ट आश्वासन।

अग्निज्वालाओं जैसे मेरे उन शब्दों से पूरी बैठक थर्रा उठी। सब चुप हो गये। केवल कृष्ण ने ही दृढ़ शब्दों में कहा, "प्रिय सखि, कृष्णे, जिन पर तू क्रुद्ध हुई है, जिन्होंने भरी द्यूतसभा में ज्येष्ठों के समक्ष तेरा अशोभनीय अपमान किया, वे सब अर्जुन के बाणों से और भीम की गदा से मारे जाएँगे। यह सब मेरे समक्ष ही घटित होगा। तेरे और पाण्डवों के लिए जो भी करना होगा मैं करूँगा। तेरी ही भाँति केश खुले छोड़कर कौरवों की स्त्रियाँ अपने-अपने पतियों के शवों पर ढाढ़ें मारकर रोएँगी। जीवन-भर मैंने कभी कोई प्रतिज्ञा नहीं की, किन्तु आज मैं वह कर रहा हूँ, केवल तेरे लिए। रो मत कृष्णे, विश्वास रख। तेरे सखा के ये शब्द कभी असत्य नहीं होंगे। पाण्डव पुन: राजा होंगे–तू उनकी महाराज्ञी बनेगी।"

कृष्ण के शब्दों से उत्साहित हुए अर्जुन ने कहा, "ऐसा ही होगा द्रौपदी।"

भ्राता धृष्टद्युम्न ने भी धैर्यपूर्वक कहा, "हे भगिनी, हमारे पिता को अपमानित करनेवाले, गुरु होते हुए भी अर्थ का दास बनकर, हताश होकर चुपके से तेरी अप्रतिष्ठा देखनेवाले द्रोण का वध मैं करूँगा। उचित समय पर हमारा शिखण्डी भीष्म को धराशायी कर देगा। और यह महाबली

भीमसेन अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार दुर्योधन की जँघाओं को तोड़ डालेगा। धनुर्धर धनंजय तुझे वेश्या कहनेवाले सूतपुत्र कर्ण का कण्ठनाल चीर डालेगा। भगवान वासुदेव श्रीकृष्ण की सहायता से हम अजेय बन जाएँगे। धृतराष्ट्र के उन अविवेकी पुत्रों की क्या दशा होगी तू देखना!"

भ्राता धृष्टद्युम्न और अपने पति अर्जुन के उद्‌गार सुनकर मैं शान्त हो गयी। तब कृष्ण ने कहा, "कृष्णे, मैं द्वारिका में होता तो विष्णुयाग के लिए अवश्य हस्तिनापुर में आता। वह विनाशकारी द्यूत मैं नहीं होने देता। दुःशासन क्या कर रहा है, इसका चित्र महाराज धृतराष्ट्र के आगे खड़ा करके मैं उनको अपने अन्तःचक्षु खोलने पर विवश कर देता। ऐसा न होता तो महाराज्ञी गान्धारीदेवी को उनके स्त्रीत्व का भान दिलाकर मैं उनको भी जीवन में पहली बार अपनी आँखों पर बँधी पट्टी अपने हाथों से खोलने पर विवश करता। उसमें भी यदि मैं असफल हो जाता तो जिस प्रकार तूने मुझे स्मरण किया था, उसी प्रकार मैं सुदर्शन के दिव्य मन्त्रों को स्मरण करता। और तेरे वस्त्रों पर हाथ डालनेवालों और 'वेश्या' कहकर तेरा उपहास करनेवालों का मैं द्यूतगृह में ही वध कर देता।

"किन्तु हे याज्ञसेनी, उस समय मैं शाल्व के साथ युद्ध में उलझा हुआ था–पश्चिमी सागर-तट पर। द्वारिका लौटते ही अमात्य विपृथु ने मुझे पूरी सूचना दी। वह सुनते ही मैं यहाँ चला आया हूँ। भ्राता युधिष्ठिर, आप मुझसे मिले बिना ही वन चले गये, इस विषय में अब मेरे मन में कोई विकल्प नहीं है। लौकिक व्यवहारों को मैं तुम सबकी अपेक्षा अधिक महत्त्व नहीं देता। जीवन-भर मैं दुष्टों को दण्ड देता आया हूँ। अब मेरे जीवन का एक ही लक्ष्य रहेगा–तुम्हें न्याय दिलाना।"

मैं और मेरे पति अब कुछ सँभल गये थे। किसी बात का अचानक स्मरण हो आने पर युधिष्ठिर ने कहा, "मैं अभी आया।"–और वह बैठक से उठकर पर्णकुटी में चला गया। एक ताम्रथाल लेकर वह बाहर आया। कृष्ण के हाथ में वह देते हुए उसने कहा, "चूल्हा फूँकते-फूँकते द्रौपदी स्वेद से भीग जाती है। अत: मैंने कठोर सूर्याराधना की। साधना-स्थल पर एक तेजस्वी योगी ने यह थाल मुझे दिया और कहा, 'जब तुम्हारी पत्नी को पाक-सिद्धि करनी हो, यह थाल काम आएगा। किन्तु उस समय इस थाल को सूर्य-किरणों में रखकर सूर्याराधना करनी होगी।'

"उसको प्रणाम करते हुए मैंने क्षण-भर आँखें मूँद लीं। मैंने जब आँखें खोलीं, तब वह दूर चला भी गया था। वह कौन होगा, यह सोचते हुए मैं जिस मार्ग से गया था, उस ओर देखता रहा। वह जिस स्थान पर खड़ा था, वहाँ की घास जलकर काली पड़ गयी थी।"

कृष्ण ने उस ताम्रथाल का निरीक्षण किया। वह अपने-आप से मुस्कराया। आँखें मूँदकर कुछ बुदबुदाया। पुन: वह थाल युधिष्ठिर के हाथ में देते हुए उसने कहा, "बड़ा ही अद्‌भुत है यह थाल। यह तुम्हें कभी अन्न की कमी नहीं होने देगा।"

कृष्ण सहित अन्य सभी काम्यकवन में कुछ दिन हमारे साथ रहे। एक बार उद्धवदेव ने मुझसे कहा, "द्रौपदीदेवी, आप और आपके पति बड़े भाग्यशाली हैं। इस समय आप वनवासी हो गये हैं इसका खेद मत कीजिए। मुझे दृढ़ विश्वास है, भैया ने जैसा कहा है, वैसा ही होगा। वे सब-कुछ करवाएँगे। मेरी अपेक्षा आप उन्हें भलीभाँति जानती हैं।"

मैं सावधान हो गयी। झट से मैंने उनसे कहा, "यह सत्य है कि मैं उसे भलीभाँति जानती हूँ, किन्तु देव, आपकी अपेक्षा तो नहीं जानती!" यह सुनकर उद्धवदेव सात्त्विक रूप से मुस्कराये। उनको मुस्कराते देख मुझे प्रत्येक समय अलग ही प्रतीति दिलानेवाले कृष्ण के हास्य का तीव्र

स्मरण हुआ। उद्धवदेव से मैं पहली बार ही मिल रही थी। अब मेरे ध्यान में आया, उनका दर्शन दर्पण में कृष्ण के प्रतिबिम्ब के दर्शन का आनन्द दिलानेवाला था।

भ्राता धृष्टद्युम्न के लाये–अर्जुन का गाण्डीव धनुष, भीमसेन की गदा, नकुल का खड्ग, सहदेव का मूसल आदि शस्त्र और अन्य जीवनोपयोगी वस्तुएँ हमने पर्णकुटी में सेवकों द्वारा क्रम से रखवा लीं। सौत्रामणि माता की भिजवायी गयी कंघी और नेत्रांजन देखकर मुझे उसका बड़ी तीव्रता से स्मरण हुआ।

हमसे विदा लेकर वे सब अपनी यात्रा पर निकले। जीवन के दिखाये मार्ग पर प्रत्येक को चलना ही पड़ता है। यह जानते हुए भी कृष्ण को जाते देख मेरा मन भर आया। हममें से किसी को भी वह अपने चरण छूने हेतु झुकने नहीं देता था। हममें से कुछ तो आयु में उससे ज्येष्ठ थे, कुछ छोटे थे। हम सबके हाथों को वह अपने हाथों में इतने प्रेम से पकड़ लेता था कि उसकी ऊष्मा से सभी को वह अपने से ज्येष्ठ लगता था। मैंने उससे कहा, "अगली बार आते हुए रुक्मिणी भाभी और भामा भाभी सहित अन्य भाभियों को भी लेते आना। सुभद्रा से कह देना कि उसके धनुर्धर की देखभाल मैं भलीभाँति कर रही हूँ। प्रिय अभिमन्यु सहित वह एक बार हमसे मिलने आ जाए।"

मन्द-मन्द मुस्कराता हुआ कृष्ण 'कहूँगा–कहूँगा' कहते हुए मेरे सारे सन्देश केवल सुन रहा था। मुझे विश्वास था कि वह और भ्राता धृष्टद्युम्न मेरे सन्देश सभी के पास पहुँचाएँगे। द्वारिका और काम्पिल्यनगर से शीघ्र ही कोई यहाँ नहीं आ सकता, यह मैं जानती थी। मैं समझ गयी थी कि उसके हास्य में यही संकेत है। किन्तु मैं जो कह रही थी, वह केवल कहने के लिए नहीं था। मैं चाहती थी कि इस निमित्त कृष्ण सबको स्मरण करे। मुझे वह सदैव ही स्मरण किया करता था। मैं चाहती थी कि यह सौभाग्य औरों को भी प्राप्त हो। मेरे इस मनोभाव को अचूक रूप से जानकर ही वह मन्द-मन्द मुस्करा रहा था।

उद्धवदेव, दारुक और भ्राता धृष्टद्युम्न सहित मेरा सखा काम्यकवन को छोड़कर चला गया। जाने से पहले वह क्या करनेवाला है, यह स्पष्ट शब्दों में बताकर उसने मुझे बड़ी मन:शान्ति दिलायी थी। जन्म के साथ ही निर्मित हुए और अन्तःकरणपूर्वक सँजोये गये सख्यत्व का पालन करना ही तो प्राणप्रिय सखा का उत्तरदायित्व होता है। उसके दिये अभिवचन से अब हमारा वनवासी जीवन भी नि:शंक और आनन्दमय हो गया था। वनवास का यह अन्तराल कुछ कम नहीं था–पूरे बारह वर्षों का था!

अपने सत्त्व की परीक्षा के इन बारह वर्षों में हमने तीन वनों में निवास किया था–काम्यकवन, द्वैतवन और गन्धमादन। उनमें से पहले छह महीने हमने काम्यकवन में बिताये। वहाँ हमारा निर्वाह मेरे पतियों के द्वारा लाये गये कन्दमूल, फल और मृगया पर हुआ करता था। मृगया के लिए वे बारी-बारी से जाया करते थे। कभी-कभी अकेला भीमसेन ही वनवासियों की सहायता से मृगया में मिले दो-दो वराह और तीन-चार मृगों को ले आता था। उस वन में और भी कुछ आश्रम थे। उनमें निवास करनेवाले तपस्वियों के नित्यकर्मों में मृगया के कोलाहल के कारण बाधा आने लगी। इस बारे में उन्होंने युधिष्ठिर से शिकायत की।

हमने काम्यकवन को छोड़ने का निर्णय किया। हम द्वैतवन आ गये। यहाँ एक दिन अचानक महर्षि व्यास हमसे मिलने आये। वे दो दिन हमारे पास रहे। इन दो दिनों में पाँचों पतियों सहित मैं उनकी सेवा में लगी रही। इस अन्तराल में पाण्डवों में से कोई भी वन में नहीं गया। इस कठिन

वनवास को हम किस प्रकार व्यतीत करें, इस विषय में महर्षि ने हमारा सूक्ष्म मार्गदर्शन किया। इस वन में भी हम छह महीनों अर्थात् मार्गशीर्ष के महीने तक रहे।

वनवास के दूसरे चरण में हम द्वैतवन से पुन: काम्यकवन आ गये।

पतियों के साथ अपने एकान्त के जो नियम इन्द्रप्रस्थ में हमने बनाये थे, यहाँ भी उनका पालन किया जा रहा था। किन्तु यहाँ–वन में उनका पालन केवल रात्रि के समय ही किया जा सकता था। दिन-भर मेरे चार पति मृगया, फल और मधु इकट्ठा करने, चारे और ईंधन के लिए लकड़ी जमा करने, धौम्य ऋषि के होम-हवन के लिए समिधा इकट्ठी करने आदि कामों के लिए वन में ही घूमते रहते थे। यहाँ भी भीमसेन कुछ-न-कुछ भूल कर दी देता था। और फिर सदैव की भाँति सिर ऊपर उठाकर खिलखिलाता हुआ अपनी भूल स्वीकार करके उसे सौम्य भी कर देता था। वन में भी इन्द्रप्रस्थ की भाँति हमारा जीवन आनन्दमय बनाने में भीमसेन का बड़ा हाथ था। उसका निर्मल, निष्कपट स्वभाव ही इसका कारण था।

कुरुओं की द्यूतसभा में दुर्योधन, दु:शासन और कर्ण ने मेरा जो घृणास्पद अपमान किया था, वह उनके राजप्रतिशोध का दर्शक था। वे मेरा शील तो लूटनेवाले नहीं थे, किन्तु जाने-अनजाने में मुझसे हुए अपने अपमान का प्रतिशोध लेने की उनकी भावना अवश्य प्रबल थी। उनमें से किसी के भी मन में मेरी तनिक भी अभिलाषा नहीं थी। किन्तु काम्यकवन में मेरे शील पर ही घोर विपत्ति आ पड़ी।

यह विपत्ति सिन्धु-सौवीर देश के अधिपति जयद्रथ द्वारा लायी गयी थी। वह अपने सिन्धु देश से शाल्व के मार्तिकावती नगरी की ओर जा रहा था। उसके साथ शिबिराज सुरथ का पुत्र कोटिक था। हमारे आश्रम के पास ही उनकी एकत्रित सेना ने पड़ाव डाला। धौम्य ऋषि के निवास के कारण पाण्डव-बस्ती को भी अब आश्रम ही कहा जा रहा था।

मैं पर्णकुटी में अकेली थी और गुरुकुटी में मुनिवर धौम्य और उनके कुछ शिष्य थे। ग्रीष्म के दिन थे। शिबि राजकुमार कोटिक मेरी पर्णकुटी में आया। भाल पर जमा हुए स्वेद बिन्दुओं को अपने उत्तरीय से पोंछते हुए उसने पीने के लिए जल माँगा। मिट्टी के लोटे में जल भरकर मैंने वह उसे दे दिया। एड़ियों तक उतरे मेरे घने केशपाश और मेरी श्यामल, कमनीय देह को अनिमिष नेत्रों से देखते हुए उसने जल ग्रहण किया। लोटा मेरे हाथ में देते हुए, मेरी आँखों में आँखें डालते हुए उसने पूछा, “क्या आपकी कुटी में खिले हुए नीलकमल हैं? उनकी सुगन्ध आ रही है, इसलिए पूछ रहा हूँ मैं!”

“नहीं। पर्णकुटी में कमल-पुष्प नहीं हैं। वह गन्ध मेरी ही है।” मैंने निश्छल मुस्कराते हुए उत्तर दिया। वह भी मुझे धन्यवाद देकर हँसता हुआ चला गया।

नित्य की भाँति मैं भोजन बनाने के काम में जुट गयी। मेरी रक्षा के लिए आज नकुल कुटी में मेरे पास था, किन्तु किसी कारणवश वह भी बाहर चला गया था। अत: कुटी में मैं अकेली ही थी। अर्द्ध घटिका में ही मेरी कुटी की ओर आता सैनिकों का कोलाहल सुनाई देने लगा। पीछे-पीछे एक हृष्ट-पुष्ट सशस्त्र पुरुष यह कहता हुआ कि ‘कहाँ है पाण्डवों की द्रौपदी–कौरवों की वह सुगन्धित दासी?’ हमारी कुटी में घुस आया। उसकी आँखों में कामाग्नि धधक रही थी–वे आँखें दुर्योधन-दु:शासन की आँखों से एकदम अलग थीं।

बिना कुछ सोचे उसने मेरी कटि में अपना बाहुपाश डाल दिया। मेरा–एक विवाहिता स्त्री का–

पाँच पतियों की पत्नी का दिनदहाड़े बलात् हरण करके वह उसे ले जा रहा था। मैं भयभीत होकर कोलाहल करने लगी, "दौड़िएऽ मुनिवर बचाइएऽ बचाइएऽऽ" धौम्य ऋषि अपने शिष्यों सहित दौड़ पड़े। किन्तु मुझे रथ में डालकर जयद्रथ ने सारथि को रथ दौड़ाने का आदेश दिया। रथ दौड़ने लगा, उसके साथ-साथ मेरा स्त्रीत्व भी घसीटा जाने लगा। 'द्रौपदी' नाम की यह देह किस-किस कामान्ध की आँखों की बलि चढ़नेवाली थी?

जयद्रथ ने बलिष्ठ मुट्ठी में मेरी कलाई कसकर पकड़ रखी थी। उसका सारथि अपना रथ इस प्रकार दौड़ा रहा था, मानो व्याघ्रों का झुण्ड उसके पीछे पड़ा हो। मैं असहाय होकर आक्रन्दन कर रही थी, "हे अच्युऽत, हे माध ऽ व, हे मिलिन्ऽद ऽ दौड़ो ऽऽ" जयद्रथ ने तिरस्कार से अट्टहास करते हुए कहा, "वह ग्वाला द्वारिका में ही छूट गया है। अपने पाँचों पतियों को लकड़ियाँ इकट्ठी करते हुए यहीं रहने दे।...चल मैं तुझे सिन्धु-सौवीर की महारानी बनाता हूँ। तेरे जैसा सुन्दर रत्न सिन्धुनरेश के किरीट में ही शोभा देता है। वन में घासफूस जमा करने के लिए तेरा जन्म नहीं हुआ है। तेरी सुगन्ध की कीर्ति सुनकर ही मैं तुझे ढूँढ़ता हुआ यहाँ आया हूँ।" रथ दौड़ता जा रहा था। उसके शब्द मुझसे सुने नहीं जा रहे थे।

इधर सबसे पहले भीमसेन आश्रम में लौटा। धौम्य ऋषि से मेरे हरण की सूचना मिलते ही उसने क्षण-भर भी विलम्ब नहीं किया। आश्रम की बाड़ के पश्चिमी छोर की पाषाणी वेदिका पर चढ़कर उसने अकेले अर्जुन को दौड़े चले आने के लिए पुकारा। अगले ही क्षण नकुल द्वारा प्रशिक्षित किये गये एक हट्टे-कट्टे अश्व पर भीम आरूढ़ होकर धौम्य ऋषि के बताये गये मार्ग पर दौड़ने लगा। दौड़ते-दौड़ते वह यह युक्ति करता जा रहा था कि मार्ग में बाधा उत्पन्न करनेवाली वृक्ष की शाखाओं को तोड़-तोड़कर फेंकता जा रहा था। जिस प्रकार हाथी किस मार्ग से गया है इस बात का पता मार्ग में गिर पड़े वृक्षों से ज्ञात होता है, उसी प्रकार पीछे से आ रहे अर्जुन के लिए यह एक संकेत था।

मेरे प्रति आत्यन्तिक प्रेम से उत्पन्न व्याकुलता के कारण निकलते समय वह अपनी गदा लेना भी भूल गया था। कुछ अन्तर पार करने के बाद ही यह बात उसके ध्यान में आयी। किन्तु वहाँ से लौटना सम्भव नहीं था। उसने अपना विशिष्ट शस्त्र निकाला–उस वायुपुत्र का आक्रोशयुक्त ऊँचा स्वर किसी को भी भयभीत कर देनेवाला था। युद्ध में तो वह अपने प्रतिस्पर्धी को अपनी विकराल चिल्लाहट से ही अधमरा कर देता था। कण्ठ की धमनियाँ फुलाकर वह चिल्लाने लगा–"अरे नीऽच जयद्र ऽ थ–रुक जा ऽ। तुझे क्या लगता है, मेरे होते हुए पाण्डवों के सुगन्धित कमल को तू खोंट ले जा सकेगा? ठहर जा पापी ऽ!"...

मार्ग में एक नदी के आड़े आने से निरुपाय होकर जयद्रथ का रथ रुक गया। उसका सारथि नदी पार करने के लिए नौका और नाविक की खोज में इधर-उधर भटक रहा था। तभी मुझे भीमसेन की धैर्य दिलानेवाली प्रबल ललकार सुनाई पड़ी। मैं निर्भय हो गयी। जयद्रथ ने भी वह ललकार सुनी। मेरी कलाई कसकर पकड़े हुए वह मुझे दूर दिखाई देती एक नौका की ओर घसीटकर ले जाने लगा। उसका सशस्त्र सारथि भीमसेन को रोकने हेतु चला गया। भीमसेन तो शस्त्रहीन था–वह हाथ आये पत्थरों को सारथि पर फेंकता हुआ चिल्लाने लगा–"हे जयद्रऽ थ नीऽ च रुक जा ऽ। यदि तू सच्चा सिन्धुनरेश है तो मुझसे द्वन्द्वयुद्ध कर।"

अब तो भीमसेन के पीछे-पीछे आते गाण्डीवधारी अर्जुन की ललकार भी सुनाई देने लगी।

भीमसेन ने केवल पत्थरों से ही सारथि का वध किया और उसका खड्ग अपने हाथ में ले लिया।

अब हमारी ओर सनसनाते हुए बाण आने लगे। उनकी ध्वनि से ही मैंने पहचान लिया–मेरा धनुर्धर आ गया है। कुछ ही क्षणों में दूर भीमसेन के पास अर्जुन भी दिखाई देने लगा। अब तक घसीटी जाने के कारण और अविरत क्रन्दन करते रहने के कारण मैं अर्धमृत-सी हो गयी थी।

दोनों कुन्तीपुत्रों को एक साथ अपने पीछे आते देख जयद्रथ हड़बड़ा गया। मेरी कलाई पर उसका कसाव ढीला पड़ गया। स्वयं को सिन्धुनरेश कहलानेवाला वह क्षत्रिय वीर आनन-फानन में ही काम्यकवन की घनी झाड़ियों में भाग खड़ा हुआ।

मैं तो मूर्च्छित ही हो गयी थी। मूर्च्छित होने से पहले मेरे होठों पर एक ही शब्द था–"हे ऽ कृष्ण–मेरे कृष्ण!"

मेरे पति भीम-अर्जुन की तत्परता से और कृष्ण की कृपा से दूसरी बार मेरी लज्जा-रक्षा हुई थी। द्यूतसभा में मुझ पर आयी विपत्ति के समय मेरे पराक्रमी पति पुरुषार्थहीन होकर चुप बैठे थे। अत: मन-ही-मन मैं उन पर क्रुद्ध थी। सबसे अधिक मैं युधिष्ठिर पर क्रोधित थी। जयद्रथ की इस घटना के कारण भीम और अर्जुन पर मेरा क्रोध कम हुआ। अपनी लज्जा-रक्षा का जितना आनन्द मुझे हुआ, उससे अधिक आनन्द मुझे भीम-अर्जुन के पराक्रम की एक तीव्र झलक देखने से प्राप्त हुआ। किन्तु युधिष्ठिर को क्षमा करने को मैं अब भी तैयार नहीं थी। उसी ने मेरा पाँच पतियों में विभाजन किया था। निर्लज्ज, मूढ़ पुरुष की भाँति मुझे दाँव पर लगाकर द्यूत भी उसी ने खेला था। उसी की करनी के कारण दु:शासन ने मेरे वस्त्रों पर हाथ डालने का नीच कर्म किया था।

बहुत सोच-विचार के पश्चात् मैंने निश्चिय किया कि पाँच पतियों में से दोनों का पराक्रम तो जागृत हो उठा है, अब शेष पतियों के पराक्रम को भी जागृत करना आवश्यक है। अन्यथा वे वन में ही पाषाण-खण्ड पर पड़े अंगारों की भाँति बुझ जाएँगे। हम सबने बैठकर निर्णय किया कि भविष्य में हमारे पास दिव्यास्त्र का होना आवश्यक है। अत: पाशुपतास्त्र प्राप्त करने के लिए अर्जुन हिमालय पर चला जाए और घोर तपस्या करके उस अस्त्र को शिव से प्राप्त करे।

हम सबके निर्णय के अनुसार अर्जुन हमसे विदा लेकर हिमालय की ओर चला गया। पर्णकुटी में अपने अकेलेपन में जितना ही मैं कृष्ण का स्मरण करती गयी, मुझे अपने में छिपी एक सुप्त द्रौपदी ज्ञात होती गयी। मैं समझ चुकी थी कि वनवास के इस दीर्घ अन्तराल में अपने पतियों की केवल पत्नी बने रहने से मेरा निर्वाह नहीं होगा। अवसर आने पर मुझे इन सबके कान उमेठनेवाली और मन-ही-मन उनसे प्रेम करनेवाली माता भी बनना होगा। उनसे बहन, पुत्री, भाभी, मामी, बुआ, काकी आदि–स्त्रियों के सभी नाते मुझे ही निभाने होंगे। वनवास के इस जीवन में कृष्ण की ही कृपा से मैं जान गयी थी कि अवसर आने पर मुझे पुरुष जैसा भी बनना पड़ेगा–अपने कृष्ण जैसा ही!

हमारे इन्द्रप्रस्थ राज्य को अब कौरव निगल गये थे। हस्तिनापुर की ही राजकीय व्यवस्था उन्होंने इन्द्रप्रस्थ पर लाद दी थी। हमारी चतुरंग सेना के दल-प्रमुखों को निकालकर वहाँ हस्तिनापुर के उद्धत दल-प्रमुखों को नियुक्त किया गया था। केवल मैं और पाण्डव ही वनवास में नहीं थे, इन्द्रप्रस्थ में हमारे आधिपत्य में सुख से रहते प्रजाजन भी अब वनवास ही भुगत रहे थे। महात्मा विदुर और मन्त्री संजय से ये सब सूचनाएँ हमें प्राप्त हो रही थीं।

मेरे सखा कृष्ण ने मेरे ही समक्ष पाण्डवों को न्याय दिलाने की प्रतिज्ञा की थी। किन्तु उसने

जो कुछ कहा था, उसे प्रत्यक्ष व्यवहार में लाना सरल नहीं था। उनमें से एक भी उद्देश्य को साकार करने के लिए वनवासी पाण्डवों को दूसरा जन्म ही लेना पड़ता। कृष्ण से उसकी प्रतिज्ञा पूरी कराने का दायित्व मुझ पर भी था। पाण्डवपत्नी के नाते नहीं, इन्द्रप्रस्थ की महाराज्ञी के नाते भी नहीं, बल्कि सखा कृष्ण की प्रिय सखी के नाते मेरा वह कर्तव्य था। जयद्रथ के आक्रमण के पश्चात् मैंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया था कि इसके आगे अबला नारी बनकर मैं कभी रोऊँगी नहीं। अपने पाँचों पतियों की अस्मिता को निरन्तर जागृत रखूँगी। जो मार्गदर्शन मुझे कुन्ती माता और कृष्ण से प्राप्त हुआ, वह मैं पाण्डवों को दूँगी।

हमें काम्यकवन में आये हुए अब छह वर्ष बीत गये थे। किरात रूपधारी शिव से पाशुपतास्त्र प्राप्त कर अर्जुन भी लौट आया था। इस अन्तराल में द्वारिका से कभी अमात्य विपृथु, कभी सेनापति सात्यकि, अनाधृष्टि तो कभी अप्रतिम रूपवान कृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न आकर हमसे मिलकर गये थे। प्रद्युम्न जब हमसे मिलने आया था, एक-दो बार वह धौम्य ऋषि के होम-हवन के लिए समिधा लाने हेतु नकुल के साथ वन में भी गया था। उन दोनों को एक साथ देखना बड़ा रोचक एवं प्रीतिकर अनुभव था। शुभ्र वस्त्रधारी नकुल और राज वस्त्रधारी प्रद्युम्न एक जैसे ही दिखते थे।

कभी-कभी रेवती भाभी और गद-सारण भ्राताओं सहित बलराम भैया भी आते थे। जब भीमसेन से उनकी भेंट होती थी, विदा लेने के समय तक वे दोनों साथ-साथ ही रहते थे। कभी-कभी हमारी पर्णकुटी के आँगन को ही अखाड़ा बनाकर वे दोनों गुरु-शिष्य तब तक गदायुद्ध का अभ्यास किया करते थे, जब तक स्वेदसिक्त न हो जाएँ। दोनों निद्रा में खर्राटे भरनेवाले होने के कारण उनकी दर्भशैयाएँ आँगन में ही बिछायी जाती थीं। विशेष बात यह थी कि ब्राह्ममुहूर्त में उठकर वे झरने पर स्नान करके लौटते थे। कभी-कभी सान्ध्य-वन्दना के पश्चात् भीमसेन अपने गुरु के तलवों में तैल-मर्दन भी किया करता था।

बलराम भैया के आने पर मैं मन ही में उनकी कृष्ण से तुलना करती थी, लेकिन अब मेरी समझ में आया था कि बलराम भैया की तुलना तो भीमसेन से ही की जा सकती है!

काम्यकवन के हमारे वनवासी जीवन में मेरे पाँचों पतियों ने धौम्य ऋषि को ही अपना आचार्य और गुरु माना था। वनवास के कारण ही वे हमारे अधिक निकट हुए थे। धौम्य ऋषि के काम्यकवन आने का समाचार मिलते ही आर्यावर्त-भर में फैले उनके शिष्यों के झुण्ड-के-झुण्ड काम्यकवन में आने लगे। उनके भोजन का प्रबन्ध करने में मुनिवर की बड़ी साँसत हो जाती थी। वह देखकर युधिष्ठिर मुझसे कहता था, "द्रौपदी, कृष्ण द्वारा अभिमन्त्रित की गयी अपनी वह ताम्रथाली मुनिवर के पास भेज दे।"

तत्पश्चात् देर तक वह ताम्रथाली धौम्य ऋषि की पर्णकुटी के आँगन में सूर्य की किरणों में दमकती रहती थी। उसमें पकाया अन्न अतिथियों को कभी कम नहीं पड़ता था। शिष्यगणों को आग्रहपूर्वक खाना खिलाते हुए युधिष्ठिर को देख-देखकर उसके प्रति मेरा क्रोध धीरे-धीरे कम होने लगा।

यद्यपि मैं वनवासी थी किन्तु मैं पाँच पतियों की पत्नी—इन्द्रप्रस्थ की महाराज्ञी थी, इस बात को मैं कभी भूल नहीं पाती थी। कभी-कभी मैं पाण्डवों को वन से भाँति-भाँति के फल लाने को कहती थी। उनमें से कुछ टिकाऊ, चुने फल टोकरी में भरकर किसी धौम्य-शिष्य के हाथों में उन्हें कृष्ण के पास—द्वारिका भिजवाया करती थी। जिस शिष्य को यह अवसर प्राप्त होता था, वह स्वयं

को धन्य समझता था। जब वह द्वारिका से लौटता था, पखवाड़ा-भर मैं उससे द्वारिका के यादवों का कुशल-क्षेम पूछती रहती थी।

भ्राता धृष्टद्युम्न की ओर से कोई-न-कोई आता रहता था। उससे मुझे पांचालों के विषय में कई सूचनाएँ मिलती थीं। उनमें से एक मेरी दृष्टि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। जरासन्ध के वध के पश्चात् मेरे पिता द्रुपदराज के मन में द्वारिका से आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता का अनुभव दृढ़ता से किया था। पांचाल और यादव संख्या में अधिक थे। दोनों गणराज्यों की एकत्रित शक्ति भविष्य में बड़ी सामर्थ्यशाली प्रमाणित होनेवाली थी। इसके लिए मेरे पिता और द्वारिका के बीच की प्रबल कड़ी थे आचार्य सान्दीपनि। आचार्य सान्दीपनि का कश्यप कुल मूलत: पांचाल राज्य का ही था। मैं धृष्टद्युम्न भैया और मुझसे मिलने आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति द्वारा पिता द्रुपदराज को एक ही सन्देश भिजवाया करती थी–"आप द्वारिका से सम्बन्ध बनाये रखें। रुक्मिणीदेवी के कृष्ण से विवाह के कारण उनसे दूर हुए पिता भीष्मक और भ्राता रुक्मि को कृष्ण के निकट लाने का प्रयास करें। यद्यपि रुक्मि ने अपनी पुत्री प्रद्युम्न को दी है, किन्तु स्वभावत: वह अक्खड़ ही है। अत: अत्यन्त कुशलतापूर्वक आप कृष्ण और महाराज भीष्मक के सम्बन्धों में सुधार लाएँ।"

जब से कृष्ण मुझसे मिलकर गया था, मेरे विचारों में विशेष अन्तर आया था। मुझमें विद्यमान क्षत्राणी को उसने बिना कुछ कहे मौन रहकर ही फूँक-फूँककर जाग्रत रखा। अन्यथा मेरे जीवन का दहकता अंगार परिस्थितियों के पाषाण-खण्ड पर पड़कर कब का बुझ गया होता। एक बार कुछ सोचकर अपनी पर्णकुटी के आँगन में मैंने अपने पतियों की एक बैठक की। वनवास के इस अन्तराल में जब भी अवसर मिला, मैंने युधिष्ठिर से कटुवचन कहे थे, अत: किसी भी बात में पहल करना वह टालने लगा था। इस बैठक में मैंने जानबूझकर धौम्य ऋषि को आमन्त्रित नहीं किया था। युधिष्ठिर से लेकर सहदेव तक पाँचों पतियों पर दृष्टि डालते हुए मैंने कहा, "तुम सब क्षत्रिय हो। जैसे जल कभी एक स्थान पर जमकर नहीं रहता, वैसे ही क्षत्रिय को अपने पराक्रम की गंगा को बहती रखना पड़ता है। छह वर्ष से तुम इस काम्यकवन में निवास कर रहे हो। कोई भी संन्यासी दो दिन से अधिक एक स्थान पर नहीं रह सकता, क्योंकि उस स्थान के प्रति उसके मन में मोह निर्माण हो सकता है। उसी प्रकार क्षत्रियों को भी प्रतिवर्ष सीमोल्लंघन करना पड़ता है, अन्यथा उनके पराक्रम में मल की परत चढ़ जाती है। यहाँ तुमने एक-दो नहीं–छह वर्ष व्यतीत किये हैं, लेकिन तुममें से कोई भी यहाँ से निकलने का नाम नहीं ले रहा है। मुझे भय लग रहा है कि तुम इन्द्रप्रस्थ को भूल जाओगे, अपने क्षत्रियत्व को भी भूल जाओगे। कृष्ण की प्रतिज्ञा को पूरी करने का दायित्व तुम पर भी है। अब हमें काम्यकवन छोड़ना चाहिए। भूमि-विशेषज्ञ सहदेव अब किसी अन्य उचित वन का चयन करें। हम सब वहीं चलेंगे।"

काम्यकवन पर निरन्तर बौछार करती हुई वर्षा ऋतु समाप्त हो गयी। अपनी मर्यादाओं को तोड़कर बहती नदियाँ पुन: मर्यादा में लौट आयीं। शरद ऋतु की तीव्र शीत का आभास दिलानेवाला कोहरा वन पर छाने लगा। अब शीघ्र ही काम्यकवन छोड़ना आवश्यक था। कृष्ण ने दारुक द्वारा हमें इसी आशय की सूचना भी दी थी। उसके सन्देश के अनुसार बड़ी खोजबीन के पश्चात् सहदेव ने अपनी सजग, अनुभवी दृष्टि से एक वन का चयन किया। वहाँ जाने के लिए हमारी तैयारियाँ आरम्भ हो गयीं। भीम-अर्जुन ने अपने भ्राताओं की सहायता से दो सुविधाजनक सुन्दर डोंगियाँ बनायीं। पाँचों भ्राता बारी-बारी उन्हें कन्धों पर उठानेवाले थे। गृहस्थी की कोई भी

सामग्री बिना साथ लिये, केवल शरीर पर धारण किये वस्त्रों सहित ही हम इस वन को छोड़नेवाले थे। जहाँ जाएँगे वहाँ नयी पर्णकुटी, नया संसार बसाने का मन था। संकल्पित दिन हमने धौम्य ऋषि के दर्शन करके उनसे आशीर्वाद लिया। हमारे पीछे-पीछे वे भी अपने शिष्यगणों सहित आनेवाले थे।

सहदेव का अनुसरण करते हुए कुछ नदियों को पार करके हम काम्यकवन से द्वैतवन आ गये। यहाँ भी भीम और अर्जुन ने एक विशाल पर्णकुटी खड़ी की। पहली पर्णकुटी से भी यह आकार में बड़ी थी। मेरे पतियों ने उसके चतुर्दिक् लकड़ी की एक सुदृढ़ संरक्षक बाड़ बनायी। समीप ही ऋषिवर धौम्य और उनके शिष्यगणों के लिए छोटी-बड़ी पर्णकुटियों का संकुल ही बनाया गया। हमारे गोधन और पशुधन को ऋषिवर धौम्य अपने साथ ले आनेवाले थे। दो महीनों में हमारी बस्ती भलीभाँति बस गयी। तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने नकुल को भेजकर धौम्य ऋषि को बुलवा लिया। पहले अनेक शिष्यों के झुण्ड हमारे पशुधन सहित आ गये। अन्तिम जत्थे के साथ ऋषिवर धौम्य भी आ गये।

अब द्वैतवन में हमारी बस्ती पूर्णत: बस गयी थी। संकुल के केन्द्र में स्थित ऋषिवर की पर्णकुटी से प्रातःकाल से ही मन्त्रघोष सुनाई देने लगे। कुटियों से उठते धुएँ की लपटों में वे मिल जाने लगे। धौम्य ऋषि की आचार्यकुटी के आगे विशाल यज्ञकुण्ड दहकने लगा। उनके शिष्यगणों की आश्वासक सत्त्वशील ईश-स्तवन गूँजने लगी–

“ॐ ईशावास्यमिदं सर्वम्
यत्किंच जगत्यां जगत्
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः
मा गृध: कस्यस्विद्धनम्।।”

‘यह समस्त विश्व ही परमेश्वर का निवास-स्थान है’ यह सुनते ही मुझे कृष्ण स्मरण हो आता था। मुझे आभास होता था कि वह कहीं दूर पश्चिम सागर-तट पर नहीं बल्कि यहीं–द्वैतवन में हमारे निकट ही है। मैं देखना चाहती थी कि क्या कृष्ण के प्रति जो मेरा भाव है, वही मेरे पतियों का भी है अथवा नहीं! उन सबके समवेत होते यदि मैं यह प्रश्न पूछती तो ज्येष्ठ के उत्तर के अनुकूल ही अन्य सभी उत्तर दे देते। इससे उनका सत्य अभिप्राय मैं जान ही नहीं पाती।

अत: एक-एक करके मैंने अपने सभी पतियों को टटोला। ऋषिवर के ईश-स्तवन का आरम्भ–‘ॐ ईशावा स्यम् इदं सर्वम्’ सुनते हुए मैंने अर्जुन से पूछा, “यह ईश-स्तवन सुनते हुए तुम्हें क्या अनुभव होता है, धनंजय?”

उसने अचूक उत्तर देते हुए कहा, “यह प्रार्थना तो मैं मन-ही-मन रात-दिन करता ही रहता हूँ। मुझे लगता है, वह परमेश्वर मेरे हृदय में ही बसा है।” यह उत्तर सुनकर मुझे परमानन्द हुआ था। फिर भी उसके कृष्ण-प्रेम का पक्का अनुमान करने हेतु मैंने पूछा था, “यदि कृष्ण इस समय तुम्हारे सम्मुख हो, तब भी तुम इस स्तवन का गान करोगे?”

जिस प्रकार वह अचूक लक्ष्यभेद करनेवाला कुशल धनुर्धर था, उसी प्रकार वह बुद्धिमान कृष्णसखा भी था। मेरे प्रश्न का अभिप्राय वह तत्काल समझ गया। उसने कहा, “उसके समक्ष होते प्रार्थना की क्या आवश्यकता होगी? स्वयं अपना ही स्तवन कभी कोई सुनता है क्या? कृष्णे,

सखा कृष्ण के होते अर्जुन कभी अर्जुन रहा है क्या?" उसके इस समुचित उत्तर से मैं निरुत्तर हो गयी।

कुछ दिन पश्चात् यही प्रश्न मैंने ज्येष्ठ युधिष्ठिर से पूछा।

अपने स्वभाव के अनुकूल और अपनी ज्येष्ठता के अनुकूल ही उसने उत्तर दिया, "द्रौपदी, तेरे इस सीधे से प्रश्न का अर्जुन ने क्या उत्तर दिया? मान ले, मेरा भी वही उत्तर है।" उसके इस उत्तर में उसका खोया हुआ राजत्व, उसकी ज्येष्ठता और उसका कृष्ण-प्रेम भी था। उससे पहले मैंने यह प्रश्न अर्जुन से पूछा होगा, यह उसने ठीक-ठीक ताड़ लिया था। अर्जुन के उत्तर को जाने बिना ही उसने अर्जुन से सहमति दर्शायी थी। इसमें उसका कृष्ण-प्रेम और अर्जुन-प्रेम भी व्यक्त हुआ था।

कुछ दिन बाद यही प्रश्न मैंने भीमसेन से पूछा। उसने कहा, "सब मुझे भूख और सामर्थ्य का प्रतिरूप मानते हैं। इनके बिना जग का व्यवहार नहीं चल सकता, यह सत्य है। मैं कृष्ण को ही भूख और सामर्थ्य मानता हूँ।" उसका उत्तर भी उसके स्वभाव के अनुकूल था।

नकुल से जब मैंने पूछा, तब उसने कहा, "कृष्ण का वास सर्वत्र है। सुन्दरता में तो वह प्रत्यक्ष दिखाई देता है।" नकुल का उत्तर भी उसके गुण-स्वभावानुसार ही था।

अन्त में मैंने सहदेव से पूछा, "यह ईश-स्तवन सुनकर तुम्हें क्या लगता है, सहदेव?"'

सहदेव का उत्तर उसके स्वभाव विशेष के अनुकूल ही था। उसने कहा, "हे श्यामले, विश्व में सर्वत्र कण-कणवासी कृष्ण मुझे अश्व-रूप में दिखाई देता है। वह अश्व ही की भाँति नित्य सावधान, गतिमान और निद्रा को नियन्त्रण में रखता है।" उसके उत्तर से मैं प्रसन्न हुई।

प्रत्येक पाण्डव के उत्तर में निःसन्देह कृष्ण के प्रति उनका अद्वितीय प्रेम ही प्रकट हुआ था।

सहदेव का उत्तर सुनकर मैं आत्मलीन हो गयी। अब सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न क्या यह नहीं था कि कृष्ण के प्रति मेरा प्रेम कैसा है? मैंने अपने-आप से ही पूछा, "तुझे कैसा लगता है कृष्ण?" मेरे मन ने कहा–"बहुत-कुछ अर्जुन जैसा। क्या वह युधिष्ठिर के समान है? अथवा भीम के? नहीं–तो क्या वह नकुल-सहदेव जैसा है? नहीं...नहीं..." मेरे प्रश्न का उचित उत्तर मुझे नहीं मिल रहा था। मैं व्याकुल हो गयी। मेरे मन की गहराई से एक विचार उभर आया–'वह कैसा है, इसकी जाँच बुद्धि से करने की अपेक्षा यदि इस समय उसके प्रत्यक्ष दर्शन हो जाएँ तो! इसी क्षण! इस द्वैतवन में!!'

सहदेव के उत्तर से व्याकुल हुई मैं उसकी ओर देख रही थी, तभी वह हमारी बातचीत को अधूरा ही छोड़कर 'अश्वपुरुष...अश्वपुरुष...' चिल्लाता हुआ पर्णकुटी से निकलकर बाड़ के प्रवेशद्वार की ओर दौड़ने लगा।

सचमुच–मुझसे मिलने हेतु मेरा प्रिय सखा–स्वयं द्वारिकाधीश कृष्ण ही द्वैतवन आया था! शुभ्र-धवल चार अश्वोंवाला उसका सुशोभित तेजस्वी गरुड़ध्वज रथ दारुक ने हमारी पर्णकुटी के प्रवेशद्वार पर लाकर खड़ा कर दिया। उसमें से पहले मेरा कृष्ण उतरा। उसके बाद धीरे-से भामा भाभी को भी रथ से उतारते देख मैं भी दौड़ पड़ी।

मेरे अन्तर्मन से स्मरण करते ही मेरा प्राणप्रिय सखा भामा भाभी और उद्धवदेव सहित मेरे सम्मुख आ खड़ा हुआ था!

उन सबको प्रत्यक्ष देखकर क्षण-भर मुझे लगा कि मेरी अनदेखी स्वर्णनगरी द्वारिका ही

द्वैतवन में अवतरित हुई है! दूसरी बार हमसे मिलने कृष्ण वन में चला आया था। इस भेंट के समय मुझे तीव्रता से प्रतीत हुआ कि द्वारिका का यह वैभवशाली अधिपति बिना किसी आडम्बर के, कुछ इने-गिने लोगों सहित ही अत्यन्त सादगी से हमसे मिलने आता था। जीवन में कोई भी बात उसने बिना उद्देश्य के नहीं की थी। उसकी सजग निद्रा भी जागृत जग के हित के चिन्तन के लिए हुआ करती थी। सादगी से हमसे मिलने आने में उसका एक ही उद्देश्य था–हमारे वनवासी मन और क्षत्रिय अस्मिता को चोट न पहुँचने देने का! आर्यावर्त में कहीं भी वह जिस ठाट-बाट, वैभव के साथ जाया करता था, उसी प्रकार वह हमसे मिलने आता तो? मेरे पतियों को अपनी दरिद्रता की तीव्र अनुभूति हुई होती। अपमान से पीड़ित हुए उनके लज्जित मन पूर्णत: कुम्हला जाते। मुझे कृष्ण की सबसे बड़ी यही विशेषता प्रतीत हुई थी कि अपने आसपास के जीवन को वह निरन्तर खिलाता आया था, हँसाता आया था तथा उन्नत करता आया था। प्रेमपूर्वक सबके मन का वह ध्यान रखता आया था।

युधिष्ठिर सहित हम सब आदरपूर्वक कृष्ण, सत्यभामा और उद्धवदेव इन तीनों यादवों के आगे पंक्तिबद्ध खड़े हो गये। बहुत दिन बाद दिखनेवाले उनके चरणों पर मस्तक रखे बिना हमें शान्ति मिलनेवाली नहीं थी। हमारे मन के विचारों को उसने तत्काल ताड़ लिया। हमारे प्रणामों का विरोध किये बिना ही वह मुस्कराता हुआ शान्त खड़ा रहा। एक-एक करके हम सबने उसके चरणस्पर्श किये। उसने हमारा प्रणाम स्वीकार किया, अत: भामा भाभी और उद्धवदेव ने भी हमारा प्रणाम स्वीकार किया। कृष्ण की इस भेंट में पहले ही क्षण मुझे प्रतीत हुआ कि उसका व्यवहार कभी निर्जीव नियमबद्धता से संचालित नहीं होता था और न ही औरों का इस प्रकार का व्यवहार उसे अच्छा लगता था। दूसरों को आनन्दित करनेवाला व्यवहार करने से वह कभी चूकता नहीं था। इस व्यवहार के उसके कोई निश्चित नियम नहीं थे। यही उसकी सबसे बड़ी और सबसे अलग विशेषता थी।

कृष्ण के आगमन से द्वैतवन की हमारी पर्णकुटी प्रसन्नता से खिल उठी। आते ही बिना कुछ खाये-पिये वह धौम्य ऋषि से मिलने चला गया। वस्तुत: तपःसाधना के समय वे स्वयं को भूल जाते थे। किन्तु अब ऋषिवर के सम्मुख कृष्ण के उपस्थित होते ही, बिना किसी से कुछ सूचना मिले भी उन्होंने मुस्कराते हुए अपने-आप आँखें खोल लीं और कृष्ण को आगे देखकर वे तड़ाक् से उठ खड़े हुए। कृष्ण ने झट से अग्रसर होते हुए, घुटने टेककर अपना मोरपंख से शोभित मुकुट धारण किया हुआ मस्तक आदर सहित उनके चरणों में रखा। ऋषिवर ने मुस्कराते हुए मुख-भर आशीर्वाद दिया–"शुभं भवतु द्वारिकाधीश, उठिए।" भामा भाभी और उद्धवदेव ने भी उनके चरणस्पर्श किये।

प्रसन्न हँसते ऋषिवर धौम्य अपने आसन पर बैठ गये। अपनी दोनों ओर भामा भाभी और उद्धवदेव को लिये कृष्ण भी उनके सम्मुख दर्भासन पर बैठ गया। उसे घेरकर दाहिनी ओर भीम-अर्जुन, बायीं ओर नकुल-सहदेव और सीधे उनके चरणों के समीप युधिष्ठिर बैठ गया। झिझकता हुआ दारुक पर्णकुटी के द्वार पर ही खड़ा था। उसकी ओर ध्यान जाते ही कृष्ण ने कहा, "तुम दूर क्यों खड़े हो दारुक? मेरे पास आ जाओ, यहाँ युधिष्ठिर के पास बैठ जाओ।" कुलबुलाता हुआ वह वहीं रुक गया। उसको अन्दर आने का संकेत कर कृष्ण मुस्कराया।

"जो आज्ञा स्वामी" कहकर दारुक हमारे पाण्डव और यादव-मण्डल में आ बैठा। धौम्य ऋषि

ने पहले तात वसुदेव, देवकी और रोहिणी माता, बलराम भैया, रेवती भाभी आदि राजपरिवार का कुशल पूछा। अचानक उन्होंने एक अप्रत्याशित प्रश्न कृष्ण से पूछा, "द्वारिकाधीश, मेरी ही भाँति औरों के भी मन में एक प्रश्न है। आपके ही मुख से उसका उत्तर सुनने की प्रतीक्षा मैं कई दिनों से कर रहा हूँ। भगवान परशुराम से आपको सुदर्शन चक्र प्राप्त हुआ है। कभी आप उसका प्रक्षेपण करते हैं, कभी नहीं, ऐसा क्यों?"

हमारे साथ हाथ जोड़कर बैठा कृष्ण ऐसे मुसकराया, मानो चम्पक-पुष्प खिल गया हो। उसके गुलाबी होठों के पीछे छिपे दाँत क्षण-भर चमक उठे। नित्य की अपेक्षा नितान्त भिन्न, मधुर वाणी में उसने कहा, "उस तेजयन्त्र के दाता हैं स्वयं भगवान परशुराम और उसके विषय में प्रश्न पूछनेवाले हैं आप–पाण्डव-गुरु। इसीलिए मैं इस प्रश्न का उत्तर दे रहा हूँ।" वह तनिक रुक गया। उसका आज का वह हास्य और उसकी वह वाणी मुझे नित्य की अपेक्षा नितान्त भिन्न लगी। उसने कहा, "मुनिवर, आप सुदर्शन को ही कृष्ण मत मानिए। न मेरे वक्ष पर झूलती यह वैजयन्तीमाला कृष्ण है, न मेरे मस्तक पर विराजित मोरपंख से शोभित यह स्वर्णकिरीट कृष्ण है।

"आप सभी के साथ मैं ही विचरण कर रहा हूँ, इसका सीधा अभिप्राय है कि मैं आप में से एक हूँ। मुझे भी कभी-कभी विस्मरण होता है–सुदर्शन के दिव्य मन्त्र स्मरण नहीं आते। अत: आपके प्रश्न का मेरे पास एक ही उत्तर है–केवल सुदर्शन ही कृष्ण नहीं है।"

वह पुन: मुस्कराया अत्यन्त मधुर, बालक-सदृश! उसका वह हास्य पारिजातक के खिले छोटे से पुष्प जैसा था।

तत्पश्चात् देर तक हमने भिन्न-भिन्न विषयों पर वार्त्तालाप किया। जब पाशुपत अस्त्र का प्रसंग निकला, तब उसने अर्जुन से पूछा–"मित्रवर, पाशुपतास्त्र प्राप्त कर तू लौट आया है, इसका मुझे परमानन्द है। मुझे तुझ पर गर्व भी है, इसलिए कि जिसे प्रसन्न करना बहुत कठिन कार्य है, उस शिव को भी तूने प्रसन्न किया। एक बात बता दे, पाशुपतास्त्र प्राप्ति के पूर्व का अर्जुन और उसके बाद का अर्जुन–इनमें तुझे क्या अन्तर लगता है?"

अर्जुन कुछ हड़बड़ाया। उसने ऐसा कुछ सोचा ही नहीं था। फिर भी बड़ी चतुराई से उसने कहा, "तू तो सर्वज्ञ है। सब-कुछ जानता है। फिर इन सबके बीच मेरी परीक्षा क्यों ले रहा है?"

कृष्ण ने उसे इधर से उधर नहीं होने दिया। पूछा, "पाशुपतास्त्र में शिव-स्मृति के मन्त्र अधिक महत्त्वपूर्ण हैं कि प्रक्षेपण के मन्त्र?"

अर्जुन ने कुशल योद्धा की भाँति उत्तर दिया–"दोनों।"

"और भी एक महत्त्वपूर्ण बात है, वह कौन-सी?" कृष्ण ने पुन: पूछा।

अब अर्जुन सचमुच चकरा गया। उसने कहा, "पाशुपतास्त्र से भी पहले? मुझे कुछ समझ नहीं आ रहा।" तब कृष्ण ने हँसते हुए उद्धवदेव से कहा, "भ्राता ऊधो, तू ही बता दे इस धनुर्धर को, पाशुपतास्त्र में सबसे महत्त्वपूर्ण क्या है!"

"जी, भैया" कहकर मुस्कराते हुए उद्धवदेव ने उत्तर दिया–"शं करोति इति शंकर:–यह जिसकी योग्यता है–अर्थात् जो कल्याणकारी है, वह शंकर अधिक महत्त्वपूर्ण है। पाशुपतास्त्र के मन्त्रों के उच्चारण के पूर्व पशुपति को स्मरण करना महत्त्वपूर्ण है।"

अत्यन्त आदर से सभी उद्धवदेव की ओर देखने लगे। धनुर्धर धनंजय को आभास हुआ कि

इन दोनों भ्राताओं के आगे वह कितना अधूरा है! वह सहम गया। यह भी उचित नहीं था। अत: कृष्ण ने शीघ्र कहा, “भ्राता अर्जुन, ऊधो और तू–दोनों मेरे सखा हैं; एक पाशुपतास्त्र का स्वामी और दूसरा शिव-भक्त।”

एक दिन प्रातःकाल के आह्निकों से निवृत्त हो, मैं और सत्यभामा भाभी वन में एक सरोवर के तट पर आ गयीं। धौम्य ऋषि की यज्ञविधि में, कृष्ण का स्मरण करके मेरी ओर से अर्पित की जानेवाली समिधाएँ मुझे लानी थीं। यह काम मैं किसी और को नहीं सौंप सकती थी। आते समय एक वृत्ताकार सरोवर से मैं नित्य पूजा के लिए काषायवर्णी कमल-पुष्प भी लाया करती थी। आज मेरे साथ यादवों की कुलस्त्री थी। समिधाओं को एकत्र कर हम दोनों सरोवर-तट पर आ बैठीं। हमने सहज ही सरोवर के नील जल में अपने पाँव डाले। आज पहली बार मुझे तीव्रता से प्रतीत हुआ कि मैं कितनी श्यामल वर्णी हूँ। भामा भाभी के पाँव कितने आरक्त, सुन्दर दिख रहे थे। मेरे पाँवों का श्यामल वर्ण नील जल से एकरूप हो गया था। उसके पाँवों के रक्तिम वर्ण ने सरोवर के जल के नील वर्ण को निष्प्रभ कर डाला था। भामा भाभी ने अचानक मुझसे पूछा, “सखि द्रौपदी, बहुत दिनों से एक प्रश्न मेरे मन में मँडरा रहा है। कब से मैं सोच रही थी कि तुमसे मिलकर उसका समाधान कर लूँ!”

“कौन-सा प्रश्न?” मेरा कुतूहल उमड़ पड़ा।

“कैसे पूछूँ? संकोच हो रहा है”, उसने कहा।

“तुम मेरी भाभी बाद में हो, पहले मेरी सखी हो–मेरे प्रिय कृष्ण की पत्नी और मुझसे ज्येष्ठ भी हो। निःसंकोच होकर पूछो जो पूछना है।”

“प्रिय सखि द्रौपदी, जब से मैं यहाँ आयी हूँ, ध्यानपूर्वक देख रही हूँ, तुम्हारे पाँचों पति रात-दिन तुम्हारे अनुकूल व्यवहार करते हैं। तुम्हारे वचनों का उल्लंघन करने की बात कोई सोचता भी नहीं है। बातों-बातों में तुमने ही कहा था कि तुम्हारी इच्छा पूरी करने हेतु भीमसेन ने काम्यकवन में एक बार सरोवर से कमल-पुष्प लाकर तुम्हें दिये थे। हे प्रिय कृष्णे, अपने पाँचों पतियों को वश में रखने के लिए तुम जो उपाय करती हो, मुझे भी तो बता दो।”

उसका यह अप्रत्याशित प्रश्न सुनकर क्षण-भर मैं चकरा ही गयी। जीवन में पहली बार मुझे ज्ञात हुआ कि पुरुष तो सोचते ही होंगे, किन्तु किसी स्त्री के मन में भी पाण्डवों के साथ मेरे सम्बन्धों के विषय में यह विचार आ सकता है। आज वह स्वयं भामा भाभी के मन में आया था।

मैं हड़बड़ा गयी कि इस प्रश्न का क्या उत्तर दूँ! मैंने उससे कहा, “यह तुम क्या कह रही हो भाभी? पति को प्रसन्न रखने का भी कोई वशीकरण मन्त्र हो सकता है भला?”

वह थी भामा भाभी, रुक्मिणी नहीं। उसने कहा, “अपना प्रश्न अब स्पष्टत: ही बताती हूँ तुम्हें। मेरे द्वारिकधीश जैसे पराक्रमी, देवता समान तुम्हारे ये पाँचों पति रात-दिन तुम्हारे अधीन कैसे रहते हैं? क्या इसके लिए तुम कोई व्रत करती हो? क्या कामशास्त्र में बताया कोई विशेष उपाय करती हो? इसके लिए तुमने कोई प्रभावकारी औषधि तो नहीं बनायी है? अपने पतियों को वश में रखने हेतु कौन-से अंजन का प्रयोग करती हो तुम?”

अब तो मेरे आश्चर्य की सीमा ही नहीं रही। अपने स्वभाव के अनुसार मैंने उससे पूछा, “प्रिय भाभी, यह ऊटपटाँग विचार तेरे मन में आया कैसे?” यह सुनकर वह कुछ उदास हो गयी। कुछ क्षण वह स्तब्ध रह गयी। फिर कुछ सोचकर कहने लगी, “क्या कहूँ सखि द्रौपदी! मेरे पिता

सत्राजित ने भरी यादवसभा में मुझे द्वारिकाधीश को अर्पित किया, इस घटना को कई वर्ष हो गये हैं। कभी-कभी मेरे पतिदेव मुझसे इतना प्रेमपूर्ण आचरण करते हैं कि लगता है इस जग में उनको कोई भी मुझसे अधिक प्रिय नहीं है। किन्तु अगले ही क्षण वे कहीं दूर ऐसे खो जाते हैं, जैसे वे मेरे कुछ भी न हों। अत: मैं सोच रही थी, तुमसे कोई वशीकरण मन्त्र प्राप्त कर लूँ–तुम्हें गुरु बनाकर, जिससे द्वारिकाधीश को अपने वश में कर लूँ।"

उसका यह विचार सुनकर पहले तो मुझे स्त्रियोचित क्रोध ही आया। मैंने उससे कहा, "तुम तो मुझसे असाध्वी स्त्रियों के उपाय पूछ रही हो। ऐसे उपाय अपने पति से निष्ठा न रखनेवाली स्त्रियाँ ही जानना चाहती हैं। भला वे मुझे कैसे ज्ञात होंगे?" मेरा उत्तर सुनकर वह निरुत्तर हो गयी। फिर भी साहस करके उसने पूछ ही लिया, "क्या, इनमें से कोई भी उपाय तुम नहीं करती हो?"

"नहीं!" मैंने शान्तिपूर्वक कहा।

"तब भी तुम अपने पतियों को अपने अधीन रख पायी हो? क्या रहस्य है इसका?"

"पति से मनःपूर्वक पूर्णत: एकरूप होने का अर्थ उसे अपने वश में रखना नहीं है। अपने पति से मन से एकरूप होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है–वह भी एक नहीं, पाँच पतियों से! यह सत्य है।"

अब उस यादव-कुलस्त्री का अभिमान चूर-चूर हो गया। इतनी गर्वीली मेरी सत्यभामा भाभी सीधे मेरे आगे हाथ जोड़कर बोली, "कृष्णे, आज से मैं तुम्हारी शिष्या बन गयी। अनुग्रह करके तुम अपने पतियों के प्रति जिस पत्नीधर्म का पालन करती हो, उसे मुझे भी समझा दो।"

बड़े प्रेम से उसके हाथ अपनी हथेली में लेते हुए मैंने कहा, "सखि सत्यभामा, अहंकार और क्रोध को त्यागकर मैं अपने पतियों की सेवा करती हूँ। तुमने मुझसे अभी जो पूछा, उससे मेरे मन में एक विचार आया है। कुरुसभा में मुझ पर जो घोर अपमानकारक विपत्ति आयी, वही विपत्ति यदि यादवसभा में तुम पर आती तो! तो अपने क्रोध और अहंकार के कारण तुम फिर कभी अपने पतियों का मुख न देखती।"

मेरे इस कथन से वह आत्मलीन हो गयी–मौन हो गयी। अपनी कनिष्ठता को भूलकर मैंने उसे अपने निकट लेकर थपथपाते हुए कहा, "भामे, अहंकार सदा ही चोरी-चोरी मन में घुसता है। कुलस्त्री को सदैव जागृत रहकर अपने ही नहीं औरों के भी मन से उसे भगाना पड़ता है, अन्यथा वह सर्वस्व लूट लेता है। क्रोध अहंकार की ही अगली सीढ़ी है।"

अपनी ज्येष्ठता को भूलकर वह तन्मयता से सुनती रही। अपनी कनिष्ठता को भूलकर मैं कहती ही रही–"प्रतिदिन निद्रा से जागते ही कर-दर्शन कर प्रथम मैं पांचालों के और पाण्डवों के कुलदेवता का स्मरण करती हूँ। तत्पश्चात् एकाग्र होकर मैं सखा कृष्ण का स्मरण करती हूँ। मैं अपने पतियों से कभी दुर्वचन नहीं कहती। जनसाधारण में मैं कभी उन्हें किसी प्रकार का नेत्र-संकेत नहीं करती और जिससे उनके पौरुष का अपमान हो, इस प्रकार असभ्य आचरण मैं कभी नहीं करती। पति ही क्यों, जब तक सेवक भी भोजन नहीं कर चुके होते, मैं भोजन को स्पर्श नहीं करती। जब मेरे वीर पति रणक्षेत्र से या ग्रामान्तर से लौट आते हैं, मैं अत्यन्त आत्मीयता से–स्मितमुख से उनका स्वागत करती हूँ। घर की छोटी-बड़ी प्रत्येक वस्तु को मैं स्वच्छ और उचित ढंग से रखती हूँ। तभी तो इस वन में भी मैं निभा पा रही हूँ।" अब तक सरोवर के जल में अपने गौरवर्ण पाँवों को हिलाती रही मेरी वह सखी पाँव और मन–दोनों को स्थिर करके सुनने लगी।

उसकी कृष्णवर्ण, बड़ी-बड़ी तेजस्वी आँखों में एकटक देखते हुए मैं कहने लगी, "प्रिय भामे, मेरे पति सर्वदा सन्तुष्ट रहें, इस हेतु मैं उनके प्रिय, स्वादिष्ट व्यंजन बनाती हूँ। उन पाँचों के मनचाहे व्यंजन बनाने के लिए मुझे बहुत दौड़धूप करनी पड़ती है, जिससे मैं थक भी जाती हूँ। कभी-कभी मुझसे कुछ भूल भी हो जाती है। भोजन के पदार्थों में लवण-मिर्च न्यूनाधिक हो जाता है, किन्तु मेरे पाँचों पति इतने समझदार हैं कि मुझसे बिना कुछ कहे, आपस में नेत्र-संकेत से ही उन पदार्थों की प्रशंसा नित्य की अपेक्षा कुछ अधिक ही करते हैं। जब मेरे पाँचों पतियों में से कोई भी यात्रा पर चला जाता है, उसकी कुशलता के लिए मैं व्रत करती हूँ। गृहस्थी के जो भी कर्तव्य मेरी सासुजी ने मुझे समझाये हैं, ध्यानपूर्वक मैं उनका पालन करती हूँ। मैंने उनकी कभी अवज्ञा नहीं की है। राजमाता की अपेक्षा वे मुझे माता ही अधिक लगती हैं।

"अपनी ससुराल के कोषागार में जितने भी मूल्यवान अलंकार हैं, वे सब मुझे पता हैं। उनका मैंने सदैव बड़ी सावधानी से ध्यान रखा है। सेवक अपना-अपना कार्य समय पर और उचित ढंग से करते हैं कि नहीं, इस पर मैं पूरा ध्यान देती हूँ। इन सबसे अलग कोई भी वशीकरण मन्त्र मुझे ज्ञात नहीं है।"

द्वारिका की वह स्वामिनी अब मन-ही-मन लज्जित हो गयी। उसके स्वभाव की एक झलक मुझे मिली। अत्यन्त मृदुता के साथ उसने कहा, "सखि, क्षमा करना मुझे। तुम यादवश्रेष्ठ को अपनी सब स्त्रियों से भी अधिक प्रिय हो–राधिका जैसी। उन्हीं के मुख से मैंने यह सुना है। अत: मैंने तुमसे कुछ प्रश्न किये। मुझे क्षमा कर दो सखि।"

उसमें आये परिवर्तन की मुझे प्रतीति हुई। मेरे प्रिय कृष्ण की पत्नी मुझसे क्षमा माँगे, यह मुझे अच्छा नहीं लगा। अत्यन्त प्रेम से उसकी छोटी-सी सुन्दर ठुड्डी को तर्जनी से ऊपर उठाकर उसकी आँखों की गहराई में डुबकी लगाते हुए मैंने कहा, "हे यादव-महाराज्ञी, यदि कृष्ण को वश में करना हो, तो तुम्हारा आचरण सदैव विनम्र होना चाहिए। तुम्हें सबसे निश्छल प्रेम का व्यवहार करना चाहिए।

"तुम्हें सूक्ष्म अहंकार था कि केवल तुम ही उसकी प्रिय पत्नी हो। कुछ समय पूर्व तुम्हारे मन में जो प्रश्न उभरा था, वह उसी अहंकार के कारण उभरा था।

"प्रिय सखि, द्वारिका को घेरकर अविरत गरजते पश्चिम सागर के गर्जन में उस अहंकार को डुबा दो। केवल कृष्ण ही की बनकर रहो। निरपेक्ष होकर अपना जीवन उसके चरणों में अर्पित कर दो। अपने व्यक्तित्व को उस महान व्यक्तित्व से अभिन्न कर दो। फिर देखो, तुम्हें कभी-भी प्रतीत नहीं होगा कि वह तुमसे दूर है। सखि, जो व्यक्ति पूर्णत: उसके बन जाते हैं, वह उनका दास बन जाता है। यह अवश्य ध्यान में रखो कि उसका एक प्रिय योग है–प्रेमयोग!"

कृष्ण के द्वारिका चले जाने के विचार से मेरा मन अत्यन्त उदास हो गया। द्वैतवन में भी हमारे वनवास के छह वर्ष समाप्त होने को आये थे। अब एक वर्ष हमें अज्ञातवास में जाना था। अब पुन: कृष्ण से भेंट होगी कि नहीं? यदि होगी भी तो किन परिस्थितियों में? इन विचारों से मैं उदास हो गयी थी। हमारी पर्णकुटी के बैठक-कक्ष में निर्णायक बैठक का आयोजन किया गया। भीम के पूर्वाभिमुख रखे तनिक ऊँचे दर्भासन पर कृष्ण बैठ गया। उसने अपना नित्य का राजवेश धारण किया था–मस्तक पर विविध रंगी, मोटे मोरपंख से सुशोभित स्वर्णमुकुट, भाल पर गोपीचन्दन का तिलक, वक्ष पर विराजित कौस्तुभ मणियुक्त बड़ी-बड़ी मौक्तिक-मालाएँ, घुटने तक आयी

शुभ्र-धवल पुष्पों की सतेज वैजयन्तीमाला, कलाई और भुजाओं में स्वर्णिम बाहुभूषण, कानों में तेजवलय फेंकनेवाले कुण्डल, स्कन्ध पर नीचे उतरा स्वर्णसूत्र मण्डित किनारीवाला केसरी उत्तरीय, कटि में झिलमिलाता पीताम्बर और उस पर कसा हुआ नील दुकूल, दुकूल में लटकता बड़ा शुभ्र वर्ण पांचजन्य शंख और उन सबसे बढ़कर थे उसके शतकोटिसूर्यसमप्रभ मत्स्यनेत्र!

हम सब कृष्ण के सम्मुख बैठ गये। उसकी दाहिनी ओर था ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर। युधिष्ठिर की दाहिनी ओर थे भीम-अर्जुन और बायीं ओर थे नकुल-सहदेव। कृष्ण की बायीं ओर मैं और भामा भाभी बैठ गयीं। सबके बीचोंबीच कृष्ण के सम्मुख उद्धवदेव बैठ गये। हाथ में प्रतोद लिये दारुक कुटी के द्वार पर खड़ा रहा। वह धौम्य ऋषि के शिष्यगणों को अथवा सेवकों को कुटी में आने से रोकनेवाला था। द्वैतवन में यादव-पाण्डवों की यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बैठक थी–गुप्त और सावधानी से आयोजित की गयी। उसका उद्गाता, प्रवक्ता सब-कुछ कृष्ण ही था। अगला अभियान था अज्ञातवास का–पाँचों पतियों के साथ मेरे एक वर्ष के कठोर अज्ञातवास का। इस वर्ष हममें से किसी से भी यदि कोई भूल हो जाती तो हमें पुन: वनवास-अज्ञातवास का दण्ड भुगतना पड़ता। इसीलिए कृष्ण ने हमें सभी आवश्यक पूर्व सूचनाएँ देने हेतु इस बैठक का आयोजन किया था।

मैंने उसके वाक्कौशल के विषय में बहुत-कुछ सुना था, किन्तु उसका वह वाक्कौशल सुनने का सौभाग्य हमें कभी प्राप्त नहीं हुआ था। सौभाग्य से वह अवसर आज आया था।

उच्चासन पर बैठते ही उसका मुखमण्डल एकदम अलग–तेजस्वी दिखने लगा। मैंने उसे सुदर्शन चक्र का प्रक्षेपण करते हुए एक ही बार–राजसूय यज्ञ में देखा था। द्यूतसभा में उस तेज के अस्पष्ट दर्शन करके मैं मूर्च्छित ही हुई थी।

बैठे-बैठे आँखें मूँदकर वह कुछ बुदबुदाने लगा। प्रत्येक शब्द के उच्चारण के साथ उसका मुखमण्डल अधिकाधिक तेजस्वी होता गया। मानो उसके मुख पर सैकड़ों सुदर्शन उतर आये हों। लम्बे समय के बाद धीरे-धीरे उसने अपने मत्स्यनेत्र खोले। मैं उसका सूक्ष्म निरीक्षण कर रही थी। वह नित्य की भाँति दिखाई नहीं दे रहा था। हममें होते हुए भी वह हमसे दूर, पूर्णत: अपरिचित, अगम्य, अचिन्त्य दिखने लगा। हमसे मिलने आने पर सम्प्रति उसने कभी पांचजन्य की ध्वनि नहीं की थी। आज उसने दुकूल में लटकता वह पांचजन्य अपनी मुट्ठी में ले लिया। आँखें मूँदकर अपनी पुष्ट ग्रीवा पर्णकुटी की छत की ओर उठाते हुए उसने प्राणपण से पांचजन्य को फूँका। उसका मुख अब उदय होते सूर्य के समान रक्तवर्णी दिखने लगा।

उसके शंखनाद से आकर्षित हुए धौम्य-शिष्यों को दारुक ने पीछे लौटाया।

प्रिय सखा कृष्ण अपनी स्वर्गीय वेणुवाणी में बोलने लगा। यह वाणी मेरे लिए पूर्णत: अपरिचित थी। उसने अपने मत्स्यनेत्र क्षण-भर मूँदकर पुन: खोले। उसकी घनी दीर्घ पलकें फड़फडायीं। दृष्टि केवल अर्जुन पर गड़ी रही। वह कहने लगा, "मेरे वीर बन्धुओ, तुम्हारे जीवन के, सत्त्व परीक्षा लेनेवाले एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सत्र का–अज्ञातवास का–आरम्भ होने जा रहा है। इसकी अवधि पूरे एक वर्ष की है। इस वर्ष तुम सबको यह बात भूलनी होगी कि तुम पाँच भ्राता हो–पाण्डव हो, कौन्तेय हो, माद्रेय हो। वन में होते हुए भी अब तक द्रौपदी तुम्हारी राज्ञी है। अब वर्ष-भर तुम्हें और उसे भी अपना पूर्ण जीवन भुलाना होगा। द्रौपदी को सेविका की भूमिका स्वीकार करनी होगी। तुम सबको अलग-अलग सेवकों की भूमिकाएँ निभानी पड़ेंगी। अज्ञातवास के इस वर्ष में तुम पाँचों भ्राता कौन-कौन-सी भूमिका निभाओगे, इस पर मैंने सर्वांगीण गहरा

विचार किया है। जो भूमिकाएँ मैं तुम्हें दे रहा हूँ, वे तुम्हारे स्वभाव विशेषों को ध्यान में रखकर ही मैंने निश्चित की हैं।

"तुम सोच रहे होगे कि इस अन्तराल को सुदूर किसी वन में जाकर गुप्त रूप में पूरा करोगे, लेकिन यह सम्भव नहीं है। तुम्हारे अज्ञातवास के आरम्भ होने से पहले ही दुर्योधन के कुशल गुप्तचर आर्यावर्त के भिन्न-भिन्न अरण्यों में घुस जाएँगे। प्रत्येक वन के आदिवासी राजा से सम्बन्ध स्थापित करके वे वन का चप्पा-चप्पा छान डालेंगे। उसके इस दाँव को ध्यान में रखते हुए मैंने निश्चय किया है कि द्वैतवन का वनवास तुम्हारा अन्तिम वनवास होगा। हमें ऐसी युक्ति लड़ानी होगी कि दुर्योधन और उसके गुप्तचर तुम सबको वनों में ही ढूँढ़ते रहें। अत: कुछ वनों में तुम्हारे जैसे दिखनेवाले पाँच यादव-पुरुष और द्रौपदी सदृश दिखनेवाली स्त्री भिजवाये जाएँगे।"

हम सब अभिमन्त्रित हुए-से उसकी ओर देखते रहे। वह कहता गया–"किन्तु यह युक्ति अधिक दिन तक टिक नहीं पाएगी। जैसे ही कृत्रिम पाण्डव पहचाने जाएँगे, उन्हें हटाना होगा। पहले हमें यह आभासित करना होगा कि तुम सब अलग-अलग स्थान पर रह रहे हो।

"इसके लिए मुझे तीन महीने का अन्तराल अपेक्षित है। तत्पश्चात् हमें दूसरा उपाय करना होगा। तुममें से दोनों को पूरा आर्यावर्त स्पष्टत: पहचानता है–भीमसेन को गदावीर के रूप में और अर्जुन को धनुर्धर के रूप में। अन्य तीनों को उनके शस्त्र की अपेक्षा उनके स्वभाव विशेषों से लोग अधिक जानते हैं।

"मेरी योजना का दूसरा चरण यह होगा कि एक-एक वन में एक-एक पाण्डव के प्रकट होने की किंवदन्ती फैलायी जाएगी। सबसे पहले एक वन में महापराक्रमी गदावीर भीमसेन प्रकट होगा, किन्तु वस्तुत: वह कृत्रिम भीमसेन ही होगा। उसके पराक्रम की सूचनाएँ अपने-आप हस्तिनापुर में दुर्योधन और शकुनि के पास पहुँच जाएँगी। उसका विनाश करने हेतु हस्तिनापुर के गदावीर और मल्लों का एक दल निकल पड़ेगा। वे भीम को ढूँढने के प्रयास में जुट जाएँगे। भीमसेन की सभी आदतों से कौरव भलीभाँति परिचित हैं। इससे पहले कि वे कृत्रिम भीम को ढूँढ़ पाएँ, उसे अदृश्य होना होगा।

"तत्पश्चात् इसी प्रकार उस वन की विरुद्ध दिशा के वन में एक अजेय धनुर्धर का जन्म होगा। उसकी भी सूचना हस्तिनापुर को मिलेगी। चौकन्ना हुए शकुनि-दुर्योधन उसकी खोज में लग जाएँगे। उस धनुर्धर को भी उचित समय पर वहाँ से हटाना होगा। तब तक छह महीने का समय पूरा हो जाएगा।

"इसके बाद के छह महीने में युधिष्ठिर, नकुल-सहदेव की भूमिका निभानेवाले राजनिष्ठ यादव भिन्न-भिन्न वनों में प्रकट होंगे। वे वनवासी जनों में अपने ही विषय में खुलकर अतिशयोक्तिपूर्ण बातें करते रहेंगे। कोई अपनी ज्योतिष विद्या की बड़ाई करेगा, कोई स्वयं को विख्यात अश्व-विशेषज्ञ कहलाएगा, तो कोई अपने भूमि-विशेषज्ञ होने का डंका बजाएगा। किन्तु तीन अलग-अलग वनों में प्रकट हुए ये यादव-वीर वहाँ के आदिवासी राजाओं के हाथ नहीं आएँगे। भूछत्रक की भाँति वे अचानक अदृश्य होंगे। किन्तु उनके वन में होने के भ्रम में हस्तिनापुर के सैनिक उन्हें ढूँढ़ते रहेंगे। तब तक अज्ञातवास के छह महीनों का दूसरा अन्तराल समाप्त हुआ होगा।

"अज्ञातवास का तुम्हारा यह अभियान दोहरा होगा। हस्तिनापुर को यह आभास कराना होगा

कि इस वर्ष तुम आर्यावर्त के पूर्व भाग के अरण्यों में भ्रमण कर रहे हो। इसके लिए हमें कामरूप के राजा भगदत्त और मगध के राजा सहदेव की गुप्त रूप से सहायता प्राप्त करनी होगी। हस्तिनापुर को आभास होना चाहिए कि तुम अपना अज्ञातवास वनों में ही कहीं व्यतीत कर रहे हो। तुम्हारे अज्ञातवास की सफलता इसी भुलावे पर अधिकत: निर्भर करती है। तुम आर्यावर्त के पूर्व भाग के वनों में ही अपना अज्ञातवास पूरा कर रहे हो, यह आभास हस्तिनापुर को कराने के कठिन कार्य में द्वारिका का मेरा गुप्तचर विभाग अवश्य यश प्राप्त करेगा। इस विषय में तुम नि:शंक हो जाओ।

"इस वर्ष तुम वन में नहीं, किसी विख्यात राजनगरी में रहोगे–वह भी पश्चिम दिशा में! इस कालावधि में तुम छिपकर नहीं प्रकट रूप में विचरण करोगे। मैं जानता हूँ कि इसमें एक भय अवश्य है। किन्तु मानव-जीवन में कभी-कभी ऐसा भी अवसर आता है कि प्राणों की होड़ लगाकर अपने सर्वस्व के साथ लुकाछिपी खेलनी पड़ती है। तुममें से प्रत्येक के पराक्रम पर मुझे पूरा विश्वास है। उतना ही विश्वास मुझे तुम्हारी आज्ञाकारिता और अटूट संयम पर है। अब मेरा प्रत्येक शब्द ध्यानपूर्वक सुन लो–पूरे वर्ष-भर मेरी सूचनाओं का सावधानी से पालन करना होगा।"

हम सोच रहे थे कि अज्ञातवास का वर्ष हमें किसी अज्ञात निविड़ अरण्य में ही बिताना पड़ेगा। हमारा अनुमान था कि सम्भवत: मेरे पाँचों पतियों को एक ही अरण्य में किन्तु अलग-अलग स्थान पर रहना पड़ेगा, इसलिए मैंने अपने मन को कठोर कर लिया था। किन्तु मेरे इस सखा ने हमें चकरा देनेवाली बात कही थी कि–'अज्ञातवास को स्वीकार करके तुम किसी राजनगर में रहो, प्रकट रूप में–सैकड़ों, सहस्रों लोगों के समक्ष!' उसकी आदत ही थी दूसरों को चकमा देने की। राजनीति में केवल सामनेवाले को ही नहीं, अप्रत्यक्षत: सम्बद्ध व्यक्तियों को भी हड़बड़ा देनेवाली उसकी प्रतिभा थी। हम सबका दृढ़ निश्चय था कि वह जो कहेगा, वही हम करेंगे–प्राणों को दाँव पर लगाकर भी! क्योंकि हम भलीभाँति जानते थे कि हमारे ये प्राण भी उसी के हैं। उसका कहना सुनने के लिए हमने अपने कान खड़े कर लिये थे।

वह बोलता ही रहा और हम चौकन्ना होकर एकाग्रता से सुनते रहे।

"अज्ञातवास में तुम्हें पश्चिम आर्यावर्त में ही रहना है–मत्स्यदेश के राजनगर में! पाण्डव बनकर नहीं–राजा विराट के सेवक बनकर! इस कठिन परिस्थिति में तुम सबका संयमपूर्वक एक-दूसरे से सम्पर्क में रहना अति आवश्यक है। द्रौपदी को तुमसे दूर नहीं रहना चाहिए। उस पर कभी भी कोई भी विपत्ति आ सकती है। यह तुम पहले भी अनुभव कर चुके हो। मनुष्य की अभिज्ञता अनुभवों के थपेड़ों से ही साकार होती है।"

अपनी पारदर्शी, आश्वासक दृष्टि मेरे ज्येष्ठ पति–प्रथम पाण्डव युधिष्ठिर पर गड़ाते हुए उसने कहा, "हे अग्रज, अज्ञातवास में सबसे अधिक दायित्व तुम पर ही है! अपनी भूमिका सफलता से निभाते हुए तुम्हें अन्य पाँचों का भी ध्यान रखना होगा। तुम पूर्वी महाद्वार से विराटनगर में प्रवेश करोगे। वेद, पुराण, उपनिषद् आरण्यक, ब्राह्मण आदि के ज्ञाता 'कंक' नामक ब्राह्मण बनकर तुम वहाँ जाओगे। तुम सबकी अन्तर्गत सुविधा के लिए तुम्हारा अन्य सांकेतिक नाम होगा 'जय'! अपनी पूरी शक्ति के साथ तुम पाँचों भ्राताओं को इस अभियान में 'जय' प्राप्त करनी है। तुम्हें कुशलतापूर्वक यह आभास कराना होगा कि ज्योतिष विद्या का तुम्हें गहरा ज्ञान है। पहले तुम्हें मत्स्यनरेश विराट का मन जीतना होगा। अत: मैं तुम्हें विराट राजपरिवार से परिचित कराता हूँ। विराट की महाराज्ञी हैं सुदेष्णादेवी–अत्यन्त प्रेमल, धार्मिक स्वभाव की, सत्त्वशीला हैं वे। इस

राजदम्पती के दो पुत्र और एक पुत्री है। ज्येष्ठ पुत्र है भूमिंजय, इसका दूसरा नाम 'उत्तर' है। क्षत्रियकुलोत्पन्न होते हुए भी वह अत्यन्त भीरु है। दूसरा पुत्र श्वेत अभी छोटा है। उनकी बहन है उत्तरा। वह अप्रतिम सुन्दरी, प्रेमल, बुद्धिमती और सभी को अपनत्व प्रदान करनेवाली–गुणवती है। मत्स्यदेश का सेनापति है कीचक! वह अतिबलाढ्य, महासामर्थ्यवान अत: निर्भय भी है। महाराज विराट के वृद्ध और राजपुत्र उत्तर के प्रभावहीन होने के कारण कीचक का विराट पर बड़ा दबदबा है। मत्स्यदेश अर्बुद पर्वत में है। यह पर्वत अति ऊष्ण मरुभूमि से घिरा हुआ है, अत: वहाँ के प्रजाजन अत्यन्त श्रमिक, सहनशील और विश्वसनीय हैं। असहनीय ऊष्णता में संगीत उनके मनोरंजन का साधन है।

"महाराज विराट का मन जीतने के बाद तुम्हें बड़ी कुशलता से उनके राज्य की एक-एक त्रुटि धीरे-धीरे उनके सम्मुख रखनी होगी। सबसे पहले जो त्रुटि तुम उनके समक्ष रखोगे वह होगी ऋतुओं के अनुकूल स्वादिष्ट भोजन बनानेवाले कुशल पाकशास्त्री की!"

अब अपनी दृष्टि भीमसेन के गोलाकार, पुष्ट मुख की ओर घुमाकर द्वारिकाधीश ने उससे कहा, "भीमसेन, तुम विराट के पाककुशल रसोइया बनोगे। तुम्हारा नाम होगा 'बल्लव'। इस भूमिका के लिए पहले तुम्हें अपनी घनी मूँछों को मुँड़ाना पड़ेगा। कन्धे पर गदा धारण करनेवाले तुम कन्धे पर कलछा लेकर विराटनगर के पश्चिमी द्वार से नगर में प्रवेश करोगे। केवल कटिवस्त्र पहने तुम्हारे उस विचित्र रूप को देखकर सम्भवत: नगरवासी बालक तुम्हारी हँसी भी उड़ाएँगे– तुम्हारी सुरक्षा के लिए वह उचित ही होगा। अपनी विशाल काया का उपयोग तुम्हें विनोदी दिखने के लिए करना है, पराक्रमी दिखने के लिए नहीं। युधिष्ठिर की अनुमति से राज-पाकशास्त्री बनने के कारण तुम्हारी प्रचण्ड भूख की समस्या का हल भी अपने-आप हो जाएगा। अपने प्रिय व्यंजन बनाकर राजपरिवार को उनका भोग लगाकर तुम यथेच्छ मात्रा में अपनी पेट-पूजा कर पाओगे। तुम्हारे परिवार का एकमात्र आधार–तुम्हारी शक्ति का इस कालावधि में क्षय नहीं होगा–उसमें वृद्धि ही होगी। एक बात के लिए तुम्हें सतर्क रहना होगा। कोई विशेष समस्या न हो तो तुम भूलकर भी सेनापति कीचक के आगे मत जाना। मत्स्यदेश का वह कुशल सेनापति तत्काल तुम्हें पहचान लेगा। तुम्हारा सांकेतिक नाम 'जयेश' होगा।"

हमारी उत्सुकता अब चरमसीमा पर पहुँच गयी। उसका प्रत्येक शब्द हमें चकित कर रहा था। वह हमें मन की एक नयी भूमिका पर ही ले जा रहा था। भीमसेन पर से अपनी दृष्टि हटाकर वह अर्जुन की आँखों में आँखें गड़ाते हुए यादवों का वह युद्धकुशल सेनापति–मेरा सखा कृष्ण उससे कहने लगा, "प्रिय अर्जुन, अज्ञातवास में सबसे कठिन भूमिका तुझे निभानी है। विराटनगर के मुख्य महाद्वार से तू नगर में प्रवेश करेगा–स्त्रीवेश में! समस्त आर्यावर्त तुझे सर्वश्रेष्ठ, अजेय धनुर्धर के रूप में पहचानता है, तुझे पुरुषश्रेष्ठ मानता है; किन्तु किसी की भी आँखों को बरबस आकर्षित करनेवाले अपने इस पुरुष-सौन्दर्य में तुझे आमूल परिवर्तन करना होगा। तभी तू अज्ञात रह सकेगा। तुझे विराटकन्या उत्तरा को नृत्य और संगीत सिखानेवाली 'बृहन्नला' बनना होगा। 'जयेन्द्र' तेरा सांकेतिक नाम होगा। गाण्डीव को त्यागकर तुझे स्त्रीवेश धारण करना होगा। तेरी हर गतिविधि में स्त्री की भंगिमा आवश्यक है। तेरे लिए यह अत्यन्त कठिन कार्य है, अत: इसके लिए तुझे पांचाली को अपना गुरु बनाना होगा। आज तक तू उसका पति था, अब तुझे उसका शिष्य होना पड़ेगा। पुरुषश्रेष्ठ तो तू है ही, गुणवती स्त्री होने के लिए तू द्रौपदी से स्त्रीत्व को भलीभाँति जान ले।"

वह हमें केवल विस्मित ही नहीं, दिङ्मूढ़ भी कर रहा था। अर्जुन जैसा मेरा पति स्त्रीवेश धारण करना कैसे स्वीकार करेगा? उसकी अपेक्षा तो वह दुर्योधन के आगे प्रकट होना स्वीकार करेगा। उसके मन की शंका को अचूक भाँपकर कृष्ण ने उससे कहा, "यह तुझे केवल अपने लिए नहीं–अपने सभी प्रिय भाइयों, पत्नी और इन्द्रप्रस्थ के नगरजनों के लिए कर्तव्य समझकर करना है।" अर्जुन को तनिक भी इधर-उधर होने का अवसर न देते हुए कृष्ण ने उसे अपने क्षत्रियत्व का भान दिलाया।

"जो आज्ञा, अच्युत! मैं जानता हूँ, जैसा तू चाहेगा, वैसा ही होगा।" अर्जुन का उत्तर सुनकर कृष्ण खुले मन से मुस्कराया। उसके गालों पर भँवर खिल उठे। उसका दुहरा दाँत चमक उठा। उसका यह हास्य पूर्णत: भिन्न था। अर्जुन के विश्वास से हुई प्रसन्नता की झलक उसमें थी।

दर्भासन से उठकर वह अर्जुन के निकट आया। अर्जुन के कन्धे पर हाथ रखते हुए उसने बड़े प्रेम से कहा, "हे धनंजय, तेरा यह स्त्री-रूप भी अमर होगा। तेरे पौरुष-पर्व का आरम्भ इसी स्त्री-पर्व से होनेवाला है। प्रत्यक्ष तेरी पत्नी द्रौपदी भी तुझे पहचान न पाए, इस प्रकार अपनी भूमिका का निर्वाह कर। बिना दीक्षा दिये ही मैंने आज से तुझे अपना शिष्य माना है।"

उससे कृतार्थ हुए अर्जुन ने उसकी चरणधूलि अपने माथे पर लगायी और कहा, "हे अच्युत, ऐसा ही होगा!"

हमारी उस वन-बैठक को कृष्ण ने पूर्णत: अभिमन्त्रित ही कर डाला था। वह पुन: अपने दर्भासन पर जा बैठा। भविष्य का अचूक लक्ष्यभेद करनेवाली अपनी तीक्ष्ण दृष्टि को नकुल पर गड़ाते हुए उसने कहा, "हे नकुल, तुम 'ग्रन्थिक' नाम से, दक्षिण द्वार से विराटनगर में प्रवेश करोगे। तुम्हारा सांकेतिक नाम होगा 'जयत्सेन'। अश्व-विशेषज्ञ होने के कारण विराट की अश्वशाला पर एक महीने में ही तुम कुशलता से अपना अधिकार जमा लोगे। लेकिन एक बात ध्यान में रखो नकुल, किसी राज्य की अश्वशाला पर अधिकार जमाना उस राज्य की आधे से भी अधिक शक्ति पर अधिकार कर लेने जैसा है।"

"जैसी आपकी इच्छा मधुसूदन! मुझे सौंपे कार्य को मैं सफलतापूर्वक पूरा करूँगा।" सुन्दर नकुल ने मोहक हँसी के साथ कहा।

अन्तिम भ्राता सहदेव पर अपनी तेजस्वी दृष्टि स्थिर करते हुए कृष्ण ने उससे कहा, "सहदेव, तुम 'तन्तिपाल' नाम से उत्तर द्वार से विराटनगर में प्रविष्ट होगे। तुम्हारा सांकेतिक नाम 'जयद्बल' होगा। अनुभवी गोपाल के नाते तुम्हें विराट के गोधन पर अधिकार स्थापित करना है और उन्हें गोपालन और गोरक्षा का कौशल्य सिखाना है। ध्यान में रखो सहदेव, तुम्हारे इस ज्ञान का विराट को भविष्य में शीघ्र ही उपयोग करना होगा।"

"जो आज्ञा गोपाल! सब-कुछ आपकी इच्छा के अनुसार ही होगा।" सहदेव ने उसको अनुकूल उत्तर दिया।

अब तक मौन रहकर सब-कुछ सुनते रहे उद्धवदेव ने अपनी शंका उद्घाटित की–"भैया, अर्जुन को आप स्त्रीवेश धारण करने को कह रहे हैं। अब रह गयीं केवल द्रौपदीदेवी! क्या उनको आप पुरुषवेश धारण करने को कहेंगे? आपकी बातें मेरी कुछ भी समझ में नहीं आ रही हैं, इसलिए पूछ रहा हूँ।"

"भ्राता ऊधो, तनिक रुक जाओ। मेरी बात तो पूरी सुन लो। द्रौपदी के लिए मैंने जो भूमिका

सोच रखी है, वह उसके लिए उचित ही है। वह महाराज्ञी सुदेष्णा और राजकन्या उत्तरा के कक्ष में सैरन्ध्री बनकर रहेगी। सैरन्ध्री अर्थात् शृंगार-सेविका! सबकी सुविधा के लिए उसका सांकेतिक नाम होगा 'मालिनी'।" कृष्ण ने अपने प्रिय भ्राता से दृष्टि हटाकर मेरी ओर घुमायी। मेरे दूरदर्शी सखा ने मुझे सूचना दी, "द्रौपदी, तू सैरन्ध्री बनकर महाराज्ञी सुदेष्णादेवी और राजकन्या उत्तरा के साथ सदैव अन्तःपुर में रहेगी।

"प्रिय पाण्डव बन्धुओ, प्रतिदिन दो बार–भोजन के समय विराट की पाकशाला में तुम एक-दूसरे से मिल सकते हो। किसी-न-किसी कारणवश, किसी भी समय द्रौपदी पाकगृह में जा सकती है। कुशलतापूर्वक तुम्हारे सांकेतिक नामों का उपयोग करते हुए हे सखि द्रौपदी, तू पाँचों भ्राताओं की बँधी-सुदृढ़ मुट्ठी को सदा ही अबाध रख सकती है।...अरे हाँ द्रौपदी ऽ –भूल हो गयी–सैरन्ध्री ऽ–अरे नहीं–मालिनी, एक बात को गाँठ में बाँध लेना कि भूलकर भी कभी सेनापति कीचक के आगे मत चली जाना। यदि ऐसा हुआ तो तुझ पर घोर विपत्ति आने की सम्भावना है। उस समय अकेला भीमसेन ही तेरी रक्षा कर सकता है। मैं तो वहाँ रहूँगा नहीं।"

मुझे लक्ष्य करके बोलते समय भूल कर बैठने का नाटक उसने हेतुत: किया था। वह मुझे कीचक के विषय में सावधान करना चाह रहा था। उसे मेरे मन पर 'मालिनी' नाम की पक्की छाप छोड़नी थी। मालिनी अर्थात् फूलवाली। मुझे दिया यह नाम सांकेतिक ही था। स्त्री का शील फूल जैसा ही होता है। मुझे उसे कुम्हला नहीं देना था। वह यही संकेत करना चाहता था कि अज्ञातवास के काल में 'मालिनी' नाम का मुझे सदैव स्मरण रहे।

उसने अन्य किसी से तो नहीं पूछा था, किन्तु मुझसे पूछा–"इस विषय में तुझे कोई शंका है द्रौपदी?" उसका हेतु समझकर मैंने पूछा, "अपनी इस देहगन्ध का मैं क्या करूँ?" उद्धवदेव सहित मेरे पाँचों पति भी आँखें विस्फारित करते हुए देखते रहे।

मेरा सखा कृष्ण सबसे अलग था। अज्ञातवास में 'मालिनी' की मेरी भूमिका मानो वही निभानेवाला है, इस अनुभूति के साथ उसने कहा, "अपने घुँघराले केशों में केतकी का पुष्प पहनकर तू अपनी देहगन्ध को तो छुपा सकती है, किन्तु अपने मुक्त, विपुल केशों को तुझे सँवारकर रखना होगा। विराटनगर में तो तू ही सेविका बनकर रहेगी, अत: वहाँ तेरी सेवा में कोई नहीं होगा। प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त में ही उठकर तुझे ही वह सब करना होगा।"

कृष्ण के नेतृत्व में हमारे अज्ञातवास के अभियान की पूरी योजना बन गयी। हम शस्त्रों सहित मत्स्यदेश में नहीं जा सकते थे। सबने अपने-अपने शस्त्र भीमसेन को सौंप दिये। मत्स्यदेश में प्रवेश करने से पहले वह उन्हें किसी सुरक्षित, गुप्त स्थान पर छिपानेवाला था। इडादेवी का स्मरण और स्तवन कर हमारी वह बैठक विसर्जित हुई।

हमसे विदा लेकर कृष्ण भामा भाभी और उद्धवदेव सहित द्वारिका चला गया। कुछ ही दिनों में हमारा वनवास काल समाप्त हुआ। कृष्ण की योजना के अनुसार हम अज्ञातवास के लिए तैयार हो गये। द्वैतवन से निकलने से पहले युधिष्ठिर के मार्गदर्शन में हम सबने अपने लिए बनाये गये अज्ञातवास के नियमों की आवृत्ति की। अज्ञातवास के जीवन के विषय में अब हमारे मन में कोई शंका नहीं रही थी।

योजना के अनुसार सबसे पहले अकेले युधिष्ठिर ने मत्स्यों की विराटनगरी में पाँव रखा। धीरे-धीरे उसने राजा विराट की सेवा में भी प्रवेश पा लिया। उसके संकेत के अनुसार एक-एक

करके भीम-अर्जुन आदि हम सब विराटनगरी में प्रवेश कर गये। बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे हम अपनी भूमिकाएँ निभाने लगे। युधिष्ठिर ने बड़े प्रयास से हमारे विराटनगर सुरक्षित पहुँचने की सूचना कृष्ण को भिजवाने का प्रबन्ध किया। द्वारिका और कृष्ण से वह हमारा अन्तिम सम्पर्क था। अब द्वारिका से कोई भी सन्देश अथवा दूत विराटनगर आनेवाला नहीं था। हमें द्वारिका की सूचना अब केवल विराट के अमात्य द्वारा ही मिल सकती थी–वह भी कभी-कभार ही! इस प्रकार हमारे प्रकट अज्ञातवास के कठोर जीवन-संघर्ष का आरम्भ हुआ।

शृंगार-सेविका बनकर काम करते हुए पहले-पहल मुझसे ऐसी कुछ भूलें हुईं जो नितान्त सरलता से किसी के भी ध्यान में आ सकती थीं। तब मैंने जैसे-तैसे उन्हें दबाया था। बाद में मेरे ध्यान में आया था कि जब भी मैंने भूल की थी, उसे सुधारने से पहले अनजाने में ही मुझसे कृष्ण-स्मरण हो जाया करता था। जब भी मुझे अवकाश मिलता था, मुझे तीव्रता से लगता था कि हमारा यह वनवास-अज्ञातवास, सब-कुछ उसकी इच्छा के अनुसार ही घटित हो रहा है। वह हमारे परिवार से इतना एकात्म हुआ था कि जीवन में उसने जो भी अनुभव किया था, वही अनुभव वह हमें भी करा रहा था। स्वयं उसने जन्मत: ही अज्ञातवास स्वीकार किया था। गुरु से जीवन का सर्वांगीण ज्ञान प्राप्त करने हेतु वह अवन्ती के अरण्य में आचार्य सान्दीपनि के आश्रम में रहा था। बाल्यावस्था में गोवर्धन पर्वत में गायों को चराते हुए उसने वन-जीवन को अनुभव किया था। मेरे पतियों ने राजप्रासाद के वैभव में आचार्य द्रोण से शिक्षा प्राप्त की थी और अज्ञातवास का अनुभव तो वे अब कर रहे थे। सम्प्रति इन विचारों ने मुझे घेर लिया था–वे मुझे कृष्ण के अधिकाधिक निकट ले जाते थे। इस अज्ञातवास में मेरे पतियों को अनुभव हुआ कि नहीं, मुझे पता नहीं, किन्तु मुझे अवश्य अनुभव हुआ कि स्वयं कृष्ण हमारे साथ राजा विराट का सेवक बनकर रह रहा है।

कुरुओं की द्यूतसभा में अपने वस्त्र-हरण की विडम्बना के समय मैंने यह अनुभव किया था। द्यूतसभा में कृष्ण सभी को वस्त्ररूप में दिखाई दिया था। जब मैंने उसे आर्त भाव से, हृदय से पुकारा था, वह दौड़ा चला आया था। प्राण बनकर ही मेरे प्राणों में समा गया था। इसी कारण विराटनगर में अज्ञातवास काटते हुए किसी भी बात से मुझे भय नहीं लगता था।

वास्तव में मेरे पाँचों पति गुणवान थे। युधिष्ठिर के ज्येष्ठत्व में उन्होंने इन्द्रप्रस्थ के राजवैभव का उपभोग किया था। सशस्त्र चतुरंगदल सेना को लेकर उन्होंने एक-एक दिशा की दिग्विजय भी की थी। किन्तु अब वे परिस्थिति का लादा गया अज्ञातवास भी निष्ठापूर्वक काट रहे थे। पाँचों में से कोई भी खिन्न दिखाई नहीं दे रहा था। सभी उत्साही और हँसमुख थे। मुझे स्पष्ट आभास हो रहा था कि उनमें से प्रत्येक पहले से अधिक सजग हुआ है। इसके पीछे भी उनका अतुलनीय कृष्ण-प्रेम ही था। मेरी ही भाँति वे दिन-रात अपने ममेरे भ्राता-कृष्ण का स्मरण कर रहे थे।

हमारे अज्ञातवास के छह महीने की कालावधि निर्विघ्नता से व्यतीत हुई। तत्पश्चात् एक दिन द्वारिका की पहली सूचना विराटनगर पहुँच गयी–जाम्बवती भाभी के पुत्र साम्ब के साथ हमारे विनाशकर्ता दुर्योधन की पुत्री लक्ष्मणा से विवाह की! इस विवाह के कर्ता-धर्ता थे बलराम भैया। विराट की पाकशाला में एक से दूसरे को, इस प्रकार यह समाचार हम सबको मिल गया। मैं तो उसे सुनकर सिटपिटा गयी। मेरे मन में कई विचारों की बाढ़ आ गयी। साम्ब–मेरे कृष्ण और जाम्बवती भाभी का पुत्र–मेरा भतीजा। हम पाण्डवों के सखा कृष्ण ने मेरी विडम्बना करनेवाले दुर्योधन की पुत्री लक्ष्मणा को पुत्रवधू के रूप में स्वीकार कैसे किया? जैसे वह हमारा सखा है,

वैसे ही इस विवाह के कारण क्या वह दुर्योधन का भी सखा बन गया है? यदि ऐसा हुआ तो हमारा क्या होगा? अब हमारे अज्ञातवास का त्राता कौन होगा?

अकेली मैं ही नहीं, मेरे पाँचों पति भी यह सूचना पाकर हड़बड़ा गये—पूर्णत: डगमगा गये। हम प्रकट रूप में एक-दूसरे से मिल नहीं सकते थे। पाकगृह में होनेवाली उड़ती भेंट में हम इस महत्त्वपूर्ण सूचना पर सविस्तार चर्चा भी नहीं कर सकते थे। हमारे ऊपर बड़ा भारी मानसिक तनाव छा गया।

शीघ्र ही कृष्ण ने हमारे तनाव को दूर कर दिया। हमारा अज्ञातवास आरम्भ होने के बाद पहली बार उसका दूत विराटनगर आकर विराट के जातक-विशेषज्ञ कंक से मिला। उसके दिये समाचार ने हमारे मन के तनाव को क्षण-भर में तितर-बितर कर डाला। कृष्ण की यही विशेषता थी कि वह घटित होनेवाली घटना के सुदूर होते परिणाम को भी भाँप लेता था और उस पर अचूक उपाय भी करता था।

साम्ब-लक्ष्मणा विवाह का जो समाचार हमें प्राप्त हुआ, वह इस प्रकार था—साम्ब ने हस्तिनापुर जाकर दुर्योधन-पुत्री लक्ष्मणा का हरण किया था। उसे वह अत्यन्त भा गयी थी। वस्तुत: इस निमित्त कृष्ण से जो सम्बन्ध जुड़ रहा था, दुर्योधन को दूरदर्शिता से उसे स्वीकार करना चाहिए था, जिस प्रकार रुक्मिणी भाभी के भ्राता रुक्मि ने अपनी पुत्री रुक्मवती कृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न को विवाह में देकर किया था। अब भी दुर्योधन कृष्ण को ग्वाला ही मानता था। क्या वह राजनीतिज्ञ था? नहीं। यदि होता तो वह अवश्य साम्ब को जामाता के रूप में स्वीकार करता। किन्तु हुआ कुछ विपरीत ही। दुर्योधन ने पीछा करके साम्ब-लक्ष्मणा को पकड़ लिया। उसने साम्ब को हस्तिनापुर के कारागृह में और लक्ष्मणा को राजप्रासाद में भेज दिया। इस घटना से द्वारिका में उथल-पुथल मच गयी। संवर्तक हल को कन्धे पर धारण कर बलराम भैया ने ससैन्य हस्तिनापुर पर आक्रमण किया। दुर्योधन की सेना से घोर युद्ध करके उन्होंने समस्त हस्तिनापुर को दहला डाला। अपने शिष्य को पराजित करते हुए उन्होंने अपने भतीजे साम्ब को कारागृह से मुक्त किया। लक्ष्मणा सहित साम्ब को द्वारिका लाकर उन्होंने बड़ी धूमधाम से उन दोनों का विवाह कराया। इस पूरी घटना में कृष्ण शान्त ही रहा। क्यों? मुझे आश्चर्य हो रहा था। बहुत सोचने पर मेरी समझ में आया, इसका कारण भी हम ही थे। हमारे अज्ञातवास में होते, अपने ज्येष्ठ भ्राता को आघात पहुँचाना उसे उचित नहीं लगा। उसके भेजे दूत के पास मेरे लिए एक विशेष सन्देश था—“कृष्णे, दुर्योधन से मेरा किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। तुम सब मन में कोई शंका भी मत रखना। तुम्हारा अज्ञातवास पूरा होते ही तुम्हारे पतियों से मुझे बहुत बड़ा कार्य करवाना है। उन्हें भी तू समझा दे कि वे नि:शंक रहें।”

उसका यह सन्देश सुनते ही मुझे उसके एक ऐसे अलग रूप का अनुभव हुआ जो आज तक अज्ञात था। राजनीतिज्ञ तो वह था ही, उससे भी अधिक बहुत-कुछ और भी था वह। आसपास घटित होती घटनाओं का सदा ही वह दूरदर्शिता से विचार करता आया था। सम्प्रति मुझे स्पष्टत: प्रतीत हो रहा था कि मेरा उससे सखा के रूप में प्रेम कब का भक्ति में परिवर्तित हो चुका था, जिसकी कोई परिभाषा नहीं की जा सकती। यह चमत्कार उसी का था। वास्तव में वह चन्द्रवंशी नरेश था। दूर गगन में रहकर धरती के सरोवर के कमल-पुष्प खिलानेवाले चन्द्र के समान ही था वह। निकटस्थ कृष्ण की अपेक्षा दूरस्थ कृष्ण की प्रतीति होना एक भाग्यशाली अनुभव था। केवल मैं

ही उसके विषय में यह अनुभव कर सकती थी।

कांपिल्यनगर में हुई कृष्ण से मेरी पहली ही भेंट में उसकी एक विशेषता मेरे ध्यान में आयी थी। मुझसे बातें करते समय वह बार-बार भविष्य में घटित होनेवाली घटनाओं का अर्थगर्भित संकेत भी करता आया था। मेरा पाँच पतियों को स्वीकार करना किस प्रकार उचित है, यह भविष्य का विचार करते हुए उसी ने राजमाता को समझाया था—वह भी मेरे समक्ष, मेरी ओर देखते हुए। अज्ञातवास के जीवन में विराट राजकन्या उत्तरा के विपुल कृष्णकेश सँवारते हुए मैं अपने-आप में तल्लीन हो जाती थी। कभी-कभी मेरी भूल से रुष्ट होकर विराटकन्या कठोरता से कहती थी, "सैरन्ध्री, कहाँ देख रही है तू? क्या कर रही है? क्या तुझे केशों को सँवारने का अभ्यास नहीं है? मेरे घने कृष्णकेशों से यदि तू उद्विग्न हो रही है, तो मैं दूसरी सैरन्ध्री को अपनी सेवा में रखती हूँ। तू चली जा यहाँ से!" मुझे चुप रहकर सब सुनना पड़ता था।

तब उसका रोष कम करने हेतु मैं उसे द्वारिका के कृष्ण की, इन्द्रप्रस्थ के अर्जुन-द्रौपदी, सुभद्रा और उसके पुत्र की कथा सुनी-सुनायी कथा की भाँति सुनाने लगती थी। वह भी उन कथाओं को मनःपूर्वक सुनती थी। मैंने अपने सजग स्वभाव के अनुसार बड़ी सूक्ष्मता से देखा था कि सबसे अधिक वह अर्जुन की कथाएँ ध्यानपूर्वक सुना करती थी। बीच-बीच में जो प्रश्न किया करती थी, वे भी अर्जुन के विषय में ही हुआ करते थे।

नित्य ही मैं किसी-न-किसी कारण से राज-नृत्यशाला में और पाकशाला में जाया करती थी। नृत्यशाला में मुझे मत्स्य शैली का वस्त्र पहनी बृहन्नला दिखती थी। 'ता थै ऽ तक थै ऽ' के नृत्यबोलों के साथ उसके पैरों में बँधे घुँघरुओं की ध्वनि सुनते हुए मैं विकल हो जाती थी। कभी-कभी नृत्यशाला में महारानी सुदेष्णादेवी राजपरिवार की स्त्रियों सहित बैठी दिखाई देती थी। बृहन्नला के मार्गदर्शन में उत्तरा का अपनी सखियों सहित नृत्याभ्यास होता रहता था। मेरे पाँचों पतियों में अर्जुन पुरुषश्रेष्ठ था। दुर्लभ गुणों का अधिकारी था वह। सम्भवत: इसी से अन्य पाण्डवों की अपेक्षा सर्वाधिक कठिन परीक्षा उसे देनी पड़ रही थी—एक स्त्री-सेविका के रूप में रहने की!

उत्तरा से नृत्याभ्यास कराते हुए विराटनगर की ऊमस के कारण बृहन्नला पसीने से लथपथ हो जाती थी। ललाट पर उभरे स्वेद-बिन्दुओं को आँचल से पोंछते हुए पानी पिलाने के लिए वह मेरी ओर देखती थी। उसकी उस दृष्टि को मैं जीवन में कभी भूल नहीं पायी। पुरुषश्रेष्ठ होते हुए भी उस क्षण वह मुझे बालक श्रुतिकीर्ति जैसा ही लगता था।

पाकशाला में मिलने पर धीमे स्वर में बल्लव अपने चारों भ्राताओं का कुशल मुझे बताता था। पाकशाला में अपने बनाये विशेष व्यंजनों का पात्र मेरे हाथों में थमाते हुए वह मुझे अपना स्वास्थ्य सँभालने का निर्देश देता था। वस्तुत: यह सब उसके लिए मुझे करना चाहिए था। उसे केवल कटिवस्त्र पहने, स्वेदसिक्त होते हुए पाकशाला में राजपरिवार के भोजन के लिए साग काटते, धान चुनते देख मैं सुन्न रह जाती थी।

सबसे कम मैं कंक से मिल पाती थी। वह नित्य महाराज विराट के साथ हुआ करता था। राजकन्या उत्तरा के अन्तःपुर की सैरन्ध्री अचानक उनके समक्ष कैसे जा सकती थी? युधिष्ठिर से मिलने के लिए, उसके आदेश उसके भ्राताओं तक चुपचाप पहुँचाने के लिए मुझे कई युक्तियाँ लड़ानी पड़ती थीं। इसलिए मुझे राजकन्या उत्तरा के लिए कुछ कृत्रिम बाधाएँ तैयार करनी पड़ती थीं। उनका निवारण करने हेतु राजकन्या उत्तरा के साथ मैं महाराज के पास जा सकती थी। जब

तक वह अपने पिता से वार्त्तालाप करती थी, मैं युधिष्ठिर से उसकी कुशलता पूछकर उससे सूचनाएँ प्राप्त करती थी।

ग्रन्थिक और तन्तिपाल अर्थात् नकुल-सहदेव से अश्वशाला-गोशाला में मिलना अधिक सरल था। राजकुमारी के लिए इन्नर बनाने के लिए नवब्यायी गाय का दूध लाने के निमित्त मैं गोशाला जाया करती थी।

यद्यपि हम विराटनगर में राजपरिवार के सेवक बनकर रह रहे थे, तो भी इन्द्रप्रस्थ की भाँति ही हम आनन्दपूर्वक थे। इसका एकमात्र कारण था हममें से प्रत्येक के मन में कृष्ण का होना। कृष्ण स्वयं ही आनन्द था। उसका केवल स्मरण होना भी आनन्द का कन्द था।

हमारे अज्ञातवास की कालावधि पूर्ण होने में अब केवल एक सप्ताह शेष था। उसके बाद वनपखेरू की भाँति हम अज्ञातवास से मुक्त होनेवाले थे। हमारा कठिन अज्ञातवास निर्विघ्न व्यतीत हो रहा था इसलिए मुझे अविरत ही कृष्ण का स्मरण होता रहता था। किन्तु...किन्तु कोई भी कार्य सरलता से सम्पन्न हो जाय, यह हम पाण्डवों के भाग्य में नहीं था। नित्य की भाँति कंक से–युधिष्ठिर से मिलने हेतु राजकुमारी उत्तरा के साथ मैं महाराज विराट के कक्ष में गयी। वहाँ महाराज विराट से सेनापति कीचक कुछ गम्भीर गुप्तचर मन्त्रणा कर रहा था। हमें देखते ही महाराज विराट ने अपनी पुत्री से कहा, "आओ उत्तरे, सुना तुमने, हमारे सेनापति क्या कह रहे हैं? उन्हें सूचना मिली है कि द्यूत में हारे हुए पाण्डव गुप्त रूप से हमारे विराटनगर में ही रह रहे हैं। हस्तिनापुर के युवराज दुर्योधन ने बड़ी सावधानी से उनकी खोज करने की विनती की है। उनके मिलते ही उन्हें बन्दी बनाने का आदेश उसने भिजवाया है। हमारे सेनापति उनकी खोज में हैं।" महाराज के वे उद्‌गार सुनकर मैं सहम गयी। क्या अब अन्तिम चरण में हमारा रहस्य खुल जाएगा? कोई हमें पहचान ले तो हम बन्दी बन जाएँगे! पुन: वनवास–पुन: अज्ञातवास! मेरा माथा चक्कर खाने लगा। मैं मुँह बाये महाराज विराट की ओर देखती ही रही। अब तक मेरे ध्यान में ही नहीं आया था कि जब से मैं यहाँ आयी, सेनापति कीचक अनिमिष नेत्रों से मेरी ही ओर देख रहा था। उसने उत्तरा से पूछा, "क्या यह राजकुमारी की सैरन्ध्री है? नाम क्या है इसका?"

"मालिनी।" उत्तरा ने कहा।

क्षण-भर भी वहाँ खड़ा रहना मेरे लिए कठिन हो गया था। इस उन्मत्त कीचक से मन्त्रिमण्डल सहित मत्स्यदेश की समस्त प्रजा भी त्रस्त थी। अब एक क्षण भी गँवाये बिना आनेवाले संकट के लिए मुझे अपने पतियों को सतर्क करना आवश्यक था।

पहले मैं कंक से उसके कक्ष में मिली। "हम मत्स्यदेश में हैं, इसका दुर्योधन को पता चला है। वह हमारी खोज करवा रहा है।" ये शब्द सुनते ही उसका मुख विवर्ण हो गया। कुछ समय वह स्तब्ध ही रह गया। फिर उसने एक ही वाक्य कहा, "तत्काल भीम-अर्जुन से भेंट करो। जैसा वे कहेंगे वैसा ही करना होगा।"

उसके कहने के अनुसार मैंने तत्काल भीम-अर्जुन से मिलकर उन्हें आनेवाले संकट की सूचना दी। नकुल-सहदेव को भी सावधान किया। दिन-भर दौड़धूप कर कुशलतापूर्वक अपना यह काम पूरा करके मैं अपने कक्ष में आ गयी। आँचल के छोर से ललाट पर उभरा स्वेद पोंछते हुए मैं एक विशाल दर्पण के आगे आसन पर बैठ गयी। बँधे केशों को मैंने मुक्त किया। दर्पण में देखते-देखते अपने लम्बे, घने केशपाश में अपनी लम्बी-लम्बी उँगलियाँ फिराने में मुझे बड़ा आनन्द

आता था। किन्तु इस समय अपने लम्बे केशों में उँगलियाँ फिराने को मन नहीं कर रहा था। मेरे इन नील घटावाले घने केशों का कोई रक्षक है कि नहीं? कुरुओं की द्यूतसभा में इन्हीं केशों को पकड़कर दु:शासन ने मुझे घसीटा था। हमारा गुप्त रूप यदि प्रकट हो जाए तो? क्या यहाँ भी वही होगा? यहाँ भी दु:शासन कहीं छिपा हुआ हो तो? केवल इस विचार से ही मेरे रोंगटे खड़े हो गये–मेरा मन आक्रन्दन करने लगा–'हे अच्युत माधऽव मिलिन्द दौड़ो!'–तभी दासी मधुलिका दौड़ी-दौड़ी मेरे कक्ष में घुसी। हाँफते हुए, भयभीत आँखों से उसने कहा, "मालिनी दीदी, सेनापति तुमसे मिलने आ रहे हैं।

पहले अपने मुक्त केशों को सँवारना चाहिए, इसका भी मुझे भान नहीं रहा। कृष्ण की एक ही बात मेरे कानों में गूँजती रही–'द्रौपदी, भूलकर भी कभी विराट के सेनापति कीचक के आगे मत जाना।' उन शब्दों के स्मरण-मात्र से ही मैं दहल उठी। आकाश में उड़ जाऊँ कि धरती में मुख छिपाऊँ–कहाँ छिप जाऊँ–मुझे कुछ भी सूझ नहीं रहा था।

दिङ्मूढ़ होकर मैं मूर्तिवत् दर्पण के आगे खड़ी थी। मत्स्यों का वह विशालकाय सेनापति कीचक कन्धे पर प्रचण्ड गदा लिये दनादन पदाघात करता हुआ मेरे सम्मुख आ धमका। मुझे क्षण-भर लगा मानो सारा ब्रह्माण्ड ही भ्रमण कर रहा हो। आँखें विस्फारित करके बड़ी विचित्र दृष्टि से वह मेरी एड़ियों को छूती हुई विपुल केशराशि को देखता रहा। धूर्तता से हँसते हुए उसने कहा, "मालिनी तो तू है ही, सुन्दर पुष्पों की लड़ी सुकेशा भी है–इन्द्रप्रस्थ की द्रौपदी जैसी!"

क्या कहूँ कुछ सूझ नहीं रहा था। मैं ऐसी सुन्न खड़ी थी मानो विद्यूत्पात हुआ हो। वह बड़बड़ा रहा था, "तुझ जैसी सौन्दर्यवती सैरन्ध्री को राजकुमारी की सेवा में रहने की अपेक्षा सेनापति पर अपने सौन्दर्य का अधिकार स्थापित करना चाहिए। महाराज से कहकर मैं ऐसा प्रबन्ध करवाऊँगा। तब मैं तेरे केशों के सघन वन में पुष्प-द्रुमों को रोपित करूँगा!"

उसका एक शब्द भी मुझे सुनाई नहीं दे रहा था। केवल मुरली की ध्वनि मेरे कानों में गूँज रही थी–"अकेला भीमसेन ही तेरी रक्षा कर सकेगा।" अचानक मेरा भय नष्ट हो गया। मेरे मन ने कुछ निश्चय कर लिया। मैंने हाव-भाव दिखाते हुए बायें हाथ से लपेटकर अपने विपुल केश-सम्भार को वक्ष पर ले लिया, फिर अपनी लटों से खेलते हुए स्वयं को लजानेवाली निर्लज्ज मधुर वाणी में मैंने कहा, "इस दासी को सेनापति की सेवा का अवसर मिले, इससे अधिक सौभाग्य की बात क्या होगी? जब भी आज्ञा होगी, मालिनी सेनापति की सेवा में उपस्थित होगी।"

मेरी वह उत्साही, प्रेरक प्रतिक्रिया सुनकर मत्स्यों का वह विशालकाय गदाधारी मेरे समीप आया। वक्ष पर लिये मेरे केशों को पुन: पीछे डालते हुए धीमे स्वर में बोला, "सैरन्ध्री–मालिनी, उत्कृष्ट शृंगार करके तैयार रहना। रात्रि में मैं यहीं आऊँगा–तेरे सुगन्धित सान्निध्य में रात्रि व्यतीत करने!"

मेरे मुख से शब्द निकले–मानो किसी ने कहलवाये हों–"जो आज्ञा–दासी सेवा के लिए तत्पर है।" यह सुनकर अपने-आप से ही प्रसन्न हुए कीचक ने वक्ष फुलाकर अट्टहास किया। जैसा आया था, वैसा ही झंझावात की भाँति वह चला भी गया। उसकी जाती हुई विशाल देहाकृति को देखते हुए मैं काँप उठी। सबसे पहले मुझे कृष्ण का स्मरण हुआ–मानो वह दसों दिशाओं से मुझे कह रहा था 'क्षण भी न गँवाते हुए भीमसेन के पास चली जा।' मैं खिंची-सी पाकशाला की ओर दौड़ पड़ी। मुझे देखते ही भीमसेन ने ताड़ लिया कि मैं किसी प्राणघाती संकट में फँस गयी हूँ। मैंने

झट से धीमे स्वर में सारी बातें उसे बतायी। क्षण-भर वह सोच में पड़ गया, फिर बोला–"यह तो मत्स्यों का जयद्रथ दिखाई पड़ता है। घबरा मत। मैं हूँ न! देख लेता हूँ उसे। तेरी केशराशि के वन में पुष्प-द्रुमों का रोपण करनेवाला है वह! देखना, उसके शरीर के मांसल, गँठीले वृक्ष को चीर ही डालूँगा मैं–तेरे समक्ष। चिन्ता मत कर। जैसा तूने उसे आश्वासन दिया है, वैसा ही शृंगार करके अपने शयन-कक्ष में पर्यंक पर बैठी रहना।"

विराटनगर पर वह रात्रि उतर आयी। भीमसेन ने अपने सभी भ्राताओं से मिलकर पूरी रात मेरे शयन-गृह के आसपास रहने की सूचना दी। बुद्धि-कौशल्य की कोई योजना बनाते हुए भीमसेन को मैंने पहले कभी नहीं देखा था। किन्तु उस रात भीमसेन को एक सूक्ष्म गुण विशेष मुझे तीव्रता से प्रतीत हुआ। जब भी मेरी कोई बात होती थी, कोई भी काम वह विचारपूर्वक ही करता था। उसी में उसका मेरे प्रति मौन, प्रगाढ़ प्रेम व्यक्त होता था। अपने सारे भ्राताओं को उसने अपने शयन-कक्ष के बाहर सावधानी से पहरा देने के काम में लगा दिया। उसने पूरा प्रबन्ध किया था कि यदि आग भी लग जाए तब भी विराट का एक भी सैनिक मेरे शयन-कक्ष में प्रवेश न कर पाए।

भीमसेन की आज्ञा के अनुसार विशेष शृंगार करके विमुक्तकेशा मैं शयन-कक्ष में पर्यंक पर बैठ गयी। इस निमित्त मुझे भी अपने अन्दर छिपी एक शक्ति का ज्ञान हुआ। मैं पाँच पाण्डवों की पत्नी थी, इन्द्रप्रस्थवासियों की महाराज्ञी थी; लेकिन मैं एक अभिनय-कुशल अभिनेत्री भी थी। सलज्ज, अधोवदन होकर मैं पर्यंक पर बैठी थी–अत्यन्त उत्कण्ठा से अपने प्रियतम की प्रतीक्षा करनेवाली प्रियतमा की भाँति!

रात्रि का दूसरा प्रहर ढलने को था। अभी तक कीचक आया नहीं था। मेरे मन में शंकाओं की मधुमक्खियाँ भिनभिनाने लगीं। कीचक को कहीं हमारे वास्तव रूप का पता तो नहीं चला? वह हमें बन्दी बनाने की तैयारी तो नहीं कर रहा है? उसके बदले उसके सशस्त्र सैनिक ही कक्ष में घुस आये तो? मेरी अस्वस्थता क्षण-क्षण बढ़ती जा रही थी, तभी मत्स्यों के मद्योन्मत्त सेनापति ने मेरे शयन-कक्ष में प्रवेश किया। न उसके मस्तक पर किरीट था, न कन्धे पर गदा। उसके बिखरे केशोंवाले कलिंगक जैसे गोलाकार मुख पर जड़ी आँखें वासना से छलक रही थीं।

धड़कते हृदय से मैं पर्यंक पर बैठी थी–अधोवदन। उसको उत्तेजक लगूँ इसलिए सलज्ज-सी! मैंने अपने विपुल, लम्बे, मुक्त केश हेतुत: नागिन की भाँति पर्यंक से नीचे झूलते रखे थे। वे नीचे धरती पर लहरा रहे थे।

वासना से उन्मत्त हुआ कीचक लड़खडाते शब्दों में "मालिनी...प्रिये" कहता हुआ आकर मेरे निकट बैठा। द्यूतगृह में अपने वस्त्र पर हाथ डालनेवाले, प्रतिशोध की भावना से जलते दु:शासन की आँखें मैंने देखी थीं। इसकी आँखें उससे एकदम अलग थीं। उनमें लवमात्र प्रतिशोध की अग्नि नहीं थी, थी केवल खुली वासना की भड़की हुई दावाग्नि! उस क्षण मुझे तीव्रता से प्रतीत हुआ कि व्यक्ति अपनी आँखों में से ही व्यक्त होता है। अपने प्रिय सखा कृष्ण जैसी आँखें मैंने अब तक तो किसी की देखी नहीं थीं।

उतावला कीचक मुझे आलिंगन में लेने हेतु "लजा क्यों रही है, सैरन्ध्री–मालिनी" कहता हुआ मेरे और निकट सरक आया। मैं काँप उठी। उसी क्षण भूमि पर बिखरे मेरे केशों को नीचे से एक बलशाली झटका लगा, उसकी वेदना मेरे मस्तिष्क तक पहुँची। मैं चौकन्ना हो गयी–निर्भय भी। मैंने अपनी अँगुली की पन्नाजटित नागफन के आकार की अँगूठी नीचे गिरा दी। जैसे ही

उसके गिरने की ध्वनि हुई—"कहाँ गयी अँगूठी?" कहती हुई मैं नीचे उतर गयी और जिस प्रकार नागिन तीव्रता से बाँबी में घुस जाती है, उस प्रकार मैं पर्यंक के नीचे अदृश्य हो गयी।

अपने आगे दिखती मधुर-मधुर बोलती सैरन्ध्री आँखों से ओझल हुई—यह देखकर कामातुर कीचक का धैर्य छूट गया। वह "सैरन्ध्री...मालिनी" बड़बड़ाता हुआ पर्यंक के नीचे झुककर मुझे ढूँढ़ने लगा। अपनी रोएँदार पुष्ट भुजा पर्यंक के नीचे डालकर "आ जा प्रिये—आ जा" कहते हुए उसने अपनी मुट्ठी में समाहित केशों सहित अपने हाथ को बाहर खींचा।

उसने जिसे केश पकड़कर बाहर खींचा था, वह था मेरा महाबली पति भीमसेन! नागिन के बदले निगल लेनेवाले अजगर को आगे देखकर उसका नशा छूमन्तर हो गया। लड़खड़ाते हुए उसने पूछा, "बल्लव'—तू यहाँ क्या कर रहा है?" भीमसेन कुछ भी सुनने की मनःस्थिति में नहीं था। सुननेवाले को थरथरा देनेवाले तीव्र स्वर में वह चिल्लाया, "नीऽच, स्त्री को क्या तू ककड़ी समझता है? अरे पापी, यह सैरन्ध्री नहीं है?" उसने एक प्रबल प्रहार कीचक की ग्रीवा पर किया। वह एक ओर लुढ़क गया। मैं चपलता के साथ पर्यंक के नीचे से बाहर आयी और भित्ति से सटकर खड़ी हो गयी। आँखें विस्फारित करके मैं देखती रही। भीमसेन के मल्लयुद्ध की कुशलता के विषय में मैंने केवल सुना था, देखा नहीं था।

"अरे पापी ऽ वह मालिनी भी नहीं है।" श्येन पक्षी की भाँति, छलाँग लगाते हुए भीमसेन उस विशालकाय कीचक से भिड़ गया। "वह है हमारी—इन्द्रप्रस्थ के पाँच पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी!" भीमसेन ने दूसरी ओर से एक और प्रहार उसकी ग्रीवा पर किया। कीचक फिर दूसरी ओर लुढ़क गया।

भीमसेन का यह रूप मैंने पहले कभी नहीं देखा था। आकाश में दमकते सूर्य-चन्द्र की भाँति उसकी आँखें अत्यन्त तेजस्वी दीख रही थीं। मृगशिरा के मेघों की गड़गड़ाहट की भाँति कानों के पर्दे फाड़नेवाली तीव्र ध्वनि के साथ अपनी लौह भुजाएँ ठोंकते हुए भीमसेन ने कीचक को ललकारा—"हे विराट के सेनापति, मल्लवीर पाण्डव भीमसेन से निर्णायक द्वन्द्व करने को तैयार हो जा!"

अब कीचक भी सँभल गया। दोनों ने भुजाओं पर दनादन ताल ठोंके। भीमसेन की 'नी ऽऽ च...अधम...पापी ऽ ऽ' के साथ छूटती चीखों से और गर्जनाओं से मेरा शयन-कक्ष गूँज उठा। कक्ष के बाहर अर्जुन अपने भाइयों—युधिष्ठिर, नकुल-सहदेव के सहित खड़ा था। "हम पाण्डव हैं। हम मृत्यु से भी नहीं डरते तो तुझसे क्या डरेंगे?" भीमसेन का चिल्लाना कक्ष के बाहर स्पष्ट सुनाई दे रहा था। विराट के सैनिक अब समझ चुके थे कि कक्ष के अन्दर भीम है और बाहर अन्य पाण्डव।

दो प्रचण्ड मत्त वनगज एक-दूसरे से टकराते हैं, उस प्रकार मेरे समक्ष वे दोनों एक-दूसरे से भिड़ने लगे। दोनों के शरीर से स्वेद-धाराएँ बहने लगीं। भीमसेन अब नियन्त्रण से बाहर हो गया था। जिस प्रकार यमुना के घाट पर रजक कपड़ों को पछाड़ता है, उस प्रकार भीमसेन मल्लविद्या के भिन्न-भिन्न दाँव-पेंच लड़ाकर कीचक को धमाधम पछाड़ रहा था। एक प्रहर बीत गया। कीचक अब अर्धमृत-सा हो गया था। जैसे झंझावात हर क्षण बढ़ता जाता है, वैसे ही हर क्षण भीमसेन अधिकाधिक आक्रमक हो रहा था। इस द्वन्द्वयुद्ध की दर्शक-साक्षी अकेली केवल मैं ही हूँ, इसका उसे पूरा भान था। बीच-बीच में मेरी ओर देखकर वह कह रहा था, "देख द्रौपदी, तेरे केशों

को इसने हाथ लगाया है, राजा विराट का बल्लव जितनी सरलता से लौकी को काट डालेगा, उतनी ही सरलता से इसकी उस भुजा को मैं मरोड़ डालता हूँ।" जैसा वह कह रहा था, वैसा कर भी रहा था। मुझे लगा, पता नहीं इस समय स्वयं कृष्ण भी इसको नियन्त्रित कर पाएगा कि नहीं! क्षण-भर मुझे लगा–भीमसेन नहीं, स्वेद से लथपथ कृष्ण ही मल्लयुद्ध कर रहा है। स्वयं को भूलकर मैं एकटक केवल देखती रही।

"देख मालिनी, तेरा बल्लव किस प्रकार इसका कचूमर निकाल रहा है!" कीचक के पेट पर बैठकर, चिल्लाता हुआ विकराल भीमसेन उसके रोएँदार वक्ष पर अपनी वज्रमुष्टि से प्रबल प्रहार करने लगा। प्रत्येक प्रहार के साथ असहनीय वेदना से आँखें मूँदता हुआ कीचक छटपटाने लगा। मुझे तो लगा–कहीं कृष्ण ही तो कंस के वक्ष पर अपनी वज्रमुष्टि के प्रहार नहीं कर रहा है!

अन्तत: "प्रिय द्रौपदी, तुझ पर वासनामय दृष्टि डालनेवाली इसकी पापी आँखें तेरे समक्ष कृष्ण और इडादेवी को स्मरण कर ऐसे बुझा डालता हूँ" कहते हुए हमारे अजेय मल्लवीर ने क्षणार्द्ध में कीचक के कण्ठ में बाहुकण्टक का पाश कस दिया। होठ काटते हुए, आँखें विस्फारित कर मेरा वीर पति उस पाश को अधिकाधिक कसने लगा। साँस उखड़ते ही एड़ियाँ रगड़ते हुए कीचक असहनीय छटपटाया।

किन्तु वह बाहुकण्टक का पाश था। अन्तत: भीमसेन ने उसे गतप्राण कर डाला। भीमसेन को कीचक के वक्ष पर मुष्टि-प्रहार करते देख मुझे तीव्रता से कृष्ण का स्मरण हुआ। कंस-वध की कथा मैंने राजमाता से सुनी थी। क्या वह कृष्ण इस भीमसेन जैसा ही दिखाई दिया होगा? या कि यह भीमसेन ही कृष्ण के समान दिख रहा है? नहीं, वह तो छोटा था–किशोर आयु का! यह कितना विशालकाय है! फिर भी दोनों मुझे एक समान क्यों लगे?

कीचक-वध का समाचार आनन-फानन में ही सर्वत्र फैल गया। मत्स्यदेश के वासियों को पाण्डव अपने ही राज्य में हैं, विराटनगर में राजप्रासाद में सेवक बनकर रह रहे हैं,–इस तथ्य का उद्‌घाटन हो गया। उनके झुण्ड-के-झुण्ड राजप्रासाद की ओर दौड़ने लगे। उनको नियन्त्रण में रखना सशस्त्र विराट-सैनिकों के लिए कठिन होने लगा।

सेनापति कीचक के वध का समाचार सुनकर महाराज विराट पहले तो भयभीत हुए, किन्तु वह भीमसेन ने किया है यह जानकर वे सँभल गये। हमारे लिए राजवस्त्रों का उपहार लेकर वे पाकशाला में आये। उनके साथ महाराज्ञी सुदेष्णादेवी, पुत्र उत्तर और श्वेत, कन्या उत्तरा तथा उनके अमात्य भी थे। प्रत्यक्ष दिग्विजयी पाण्डवों को अपने राज्य में सेवक बनाकर ओछे काम करने पड़े, इस बात पर उन्होंने खेद व्यक्त किया।

महाराज विराट की इच्छा के अनुसार हमने राजवेश धारण किये। उस दिन युधिष्ठिर का एक गुण विशेष मुझे तीव्रता से प्रतीत हुआ। वह वनवास के बारह वर्ष और अज्ञातवास का एक वर्ष–पूरे तेरह वर्ष बुझे मन से, सत्त्वहीन, दयनीय अवस्था में रहा था; किन्तु राजवेश धारण करते ही उसका राजत्व, क्षत्रियत्व जाग्रत हो उठा। उसने ज्येष्ठ पाण्डव का स्थान ग्रहण किया। हमारा नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। मेरे मन में उसके प्रति एक शंका ने घर कर लिया था। क्या अपने स्वभाव के अनुसार यह पुन: द्यूत जैसी समस्या खड़ी करेगा? कहाँ ले जाएगा यह हमें? किन्तु मेरी शंका व्यर्थ थी। उसने महाराज विराट को जो सूचनाएँ दीं, वे उसमें आये परिवर्तन की सूचक थीं। उसने महाराज विराट से कहा, "प्रथम आप एक विशेष दूत द्वारिका भेजें। द्वारिकाधीश

श्रीकृष्ण को शीघ्र सन्देश भेजें कि हम पाण्डव अज्ञातवास से प्रकट हो रहे हैं। आपके आशीर्वाद के प्रार्थी हैं। एक गुप्तचर हस्तिनापुर–हमारी माता कुन्तीदेवी के पास भी भेजिए। उदार हृदय से आप हमें क्षमा करें, क्योंकि आपको देने योग्य उपहार इस समय हमारे पास नहीं हैं।”

मुझे इस बात की प्रसन्नता हुई कि युधिष्ठिर को सर्वप्रथम कृष्ण का स्मरण हुआ था। हमारे कारण राजा विराट पर विपत्ति आएगी, यह स्पष्ट ही था। शीघ्र ही इस नगर को छोड़ना हमारे लिए आवश्यक था। अपनी विशेष रात्रि-बैठक में हम सबने मिलकर निर्णय किया कि पहले हमें मत्स्यदेश और इन्द्रप्रस्थ की सीमा पर किसी गाँव में जाकर रहना होगा। उस गाँव का चयन महाराज विराट की सम्मति से किया जाए। अनुद्यूत की शर्तों के अनुसार अज्ञातवास पूर्ण होने पर इन्द्रप्रस्थ हमें लौटाने को कौरव बाध्य थे।

इन्द्रप्रस्थ में हमें किसी प्रकार प्रवेश करना है, इस पर हमने सर्वांगीण विचार किया। कई दिन बाद उस रात्रि हमें सुख-निद्रा प्राप्त हुई। वनवास और अज्ञातवास स्वीकार किये अपने वीर पतियों का यश अब दृष्टिपथ में था...

दूसरे ही दिन द्वारिका से आये विशेष कृष्ण-दूत ने मेरे सहित मेरे पतियों की नींद ही उड़ा दी। उसने सन्देश दिया–“हस्तिनापुर की सेना अपने छँटे हुए योद्धाओं सहित गोहरण करने हेतु विराट पर आक्रमण कर रही है। कीचक-वध की घटना से दुर्योधन ने अचूक रूप से ताड़ लिया है कि तुम सब विराटनगर में ही हो। उसका अनुमान है कि विराट के गोधन की रक्षा के लिए तुम अवश्य प्रकट हो जाओगे। कुरुसेना के साथ पितामह भीष्म, गुरु द्रोण, कृपाचार्य, अंगराज कर्ण और उसका बन्धु शोण, अश्वत्थामा, अपने भ्राताओं सहित स्वयं दुर्योधन और शकुनि आ रहे हैं। विजयादशमी के दिन राजा विराट की सेना के साथ तुम प्रकट हो जाओ। तुम्हारा नेतृत्व अर्जुन करेगा।”

इस समाचार से पूरा विराटनगर हिल उठा। आश्विन शुद्ध दशमी–विजयादशमी का दिन उदित हुआ। मरुस्थली के निकट के इस मत्स्यदेश में पर्जन्य की मात्रा पहले ही कम थी और अब पर्जन्यकाल समाप्त भी हुआ था। विराटनगर पर फैला भूरे रंग के कोहरे का पटल चढ़ते दिन के साथ हटने लगा। नगरजन अपने-अपने कामों में लग गये। गोपाल अपनी-अपनी गोशालाओं से श्वेत, चितकबरी, कत्थई रंग की गायों के झुण्ड हाँकते हुए चराने हेतु अर्बुद पर्वत की ढलान पर ले गये। नगर की गोशालाओं में अब अकेले ठाँठ, वृद्ध गायें और बछड़े ही रह गये थे। दिन चढ़ आया और अर्बुद पर्वत की ढलान की ओर से प्रचण्ड कुहराम सुनाई देने लगा। तभी हाँफते हुए विराटराज नये सेनापति सहित हमारे पास आये। मैं और रणवेश धारण किये मेरे पाँचों पति अर्जुन के नेतृत्व में एकत्र हुए थे। कृष्ण के सन्देश के कारण मेरे पति युद्ध के लिए तत्पर तो थे ही, किन्तु उनके पास शस्त्र नहीं थे। महाराज विराट ने हाथ जोड़कर उनसे विनती की, “कुरुसेना हमारे गोधन को हरण करके ले जा रही है। आप वीर हैं। गोधन को छुड़ाने के लिए आप हमारी सहायता करें।”

उनका आह्वान सुनकर वीरश्रेष्ठ पाण्डव एक-दूसरे की ओर देखने लगे। भीमसेन ने कहा, “हमारे पास अपने शस्त्र नहीं हैं। कैसे करेंगे हम आपकी सहायता?”

महाराज विराट ने तत्परता से कहा, “अपनी इच्छा के अनुसार शस्त्रागार से शस्त्र चुन लें और शीघ्रता करें।”

अपने वीर पतियों के अभिमन्त्रित शस्त्रों के बारे में मैंने उन्हें बताया—"आपके नगर की सीमा पर एक शमी-वृक्ष के कोटर में इन्होंने अपने शस्त्र रखे हैं। उनकी आवश्यकता पड़ेगी।"

"हम तत्पर हैं। आप युवराज उत्तर को रथ तैयार करवाने को कहें। मेरी सूचना के अनुसार सारथ्य करने की आज्ञा दें। आगे हम देख लेंगे।" पूरे एक वर्ष पश्चात् अपने प्राणप्रिय गाण्डीव को धारण करने का अवसर पाकर अर्जुन का मुखमण्डल तेजोमय दिखने लगा।

हम राजा विराट के राजप्रासाद में आये। महाराज्ञी सुदेष्णा देवी, राजकन्या उत्तरा और राजपरिवार की अन्य स्त्रियों के समक्ष मैंने अपने रणोत्सुक पतियों की आरती उतारी। राजपरिवार की स्त्रियों ने भी उनकी आरती उतारी। हमसे विदा होकर अर्जुन के नेतृत्व में राजा विराट का रथदल गोधन की रक्षा के लिए चौकड़ियाँ भरने लगा। उनके पीछे-पीछे राजा विराट की विराट् सेना भी चल पड़ी। विजयादशमी के उस दिन मैं अधीर होकर दिन-भर इधर-उधर चक्कर काटती हुई केवल कृष्ण का स्मरण कर रही थी। मन-ही-मन उससे कह रही थी, "आज तक पाण्डवों की लज्जा तूने ही रखी है। आज भी उनकी रक्षा कर!...मेरे अजेय धनुर्धर को सफलता प्राप्त हो!"

उस दिन मैंने अन्न ग्रहण नहीं किया, जल भी नहीं लिया। मेरे मन की कठफोड़वी पक्षिणी परिस्थिति के वट-वृक्ष पर अपनी चोंच का आघात करती हुई कह रही थी—आज अज्ञातवास से मेरे पति प्रकट हो रहे हैं। रणभूमि पर प्रकट होने का अवसर उन्हें प्राप्त हुआ है। राजा विराट के गोधन की रक्षा करने में उन्हें सफलता मिले। हे कृष्ण, इसके विपरीत तूने मुझे कुछ दिया तो जीवन-भर मैं तेरा मुख नहीं देखूँगी। पुन: अज्ञातवास स्वीकार करूँगी—जीवन-भर के लिए!

विराटनगर पर विजयादशमी की सन्ध्या उतरने लगी। अर्बुद पर्वत की ओर से पक्षियों के झुण्ड नगर की ओर लौटने लगे। समयपालों ने समय-सूचक थाल पर सन्ध्या का समय दर्शाने वाले ठोंके भी लगाये। उष्ट्रशाला के सेवक चराने ले गये ऊँटों को और उनके बछड़ों को हाँकते हुए लौट आये। तब तो मैं निराश हो गयी, मन-ही-मन आहत हो गयी। मन में अशुभ विचार मँडराने लगे—'ऐसा तो नहीं है कि मेरे पतियों को उनके शस्त्र मिले ही न हों! शमी के कोटर से पहले ही कोई उन्हें चुरा ले गया हो तो? उन शस्त्रों के अभाव में साधारण शस्त्रों से लड़ते हुए युद्ध में वे असफल तो नहीं हुए होंगे? वक्ष में घुसे बाण से आहत होकर उत्तर के रथ पर पड़ा मेरा प्राणप्रिय धनुर्धर मेरी आँखों के आगे दिखने लगा। शत्रुओं के गदा-प्रहारों से रक्त-स्नात होकर रणभूमि में पड़ा भीम मुझे दिखने लगा। मेरी आँखें अश्रुओं से भर आयीं। उन अश्रुओं की धारा में बह जाता सुदर्शन का स्वामी, मोरमुकुटधारी कृष्ण मुझे दिखने लगा। मैं सिहर उठी।—इतनी तो मैं कुरुओं की द्यूतसभा में भी नहीं सिहर उठी थी!

दूर से आती सैकड़ों गायों का रम्भन सुनाई देने लगा—मैं चौकन्ना हो गयी। पीछे-पीछे विराट महाराज की जयकार भी सुनाई देने लगी। मेरे मुख पर आभा छा गयी। मैंने अपने कान खड़े किये। अब स्पष्टत: एक ही जयघोष सुनाई देने लगा—"अजेय धनुर्धर अर्जुन की जय हो!...गोरक्षक पार्थ गाण्डीवधारी धनंजय की जय हो ऽ! जय हो ऽऽ!" मेरे मुख पर सहस्रों दीप जल उठे।

कौरव-सेना को बुरी तरह पराजित करके मेरे विजयी पति लौट आये थे। उन्होंने क्षत्रियोचित शूरता से राजा विराट के गोधन को मुक्त किया था। वर्ष-भर हमें आसरा देनेवाले राजा विराट की अनमोल सहायता की अल्प-सी पूर्ति थी वह। दमकते विजयी मुख से मेरे पति मुझसे मिलने आये।

उन्होंने जो समाचार सुनाया, वह बड़ा रोमहर्षक था और भविष्य में हमारी अपेक्षाओं की पूर्ति करनेवाला था।

सहस्रों अश्वारोहियों सहित कौरव-सेना ने अर्बुद पर्वत की ढलान पर राजा विराट के गोधन को घेर लिया था। वे विराट के गोधन को हरने–चुराकर ले जाने आये थे। कौन-कौन था उनमें? भगवान परशुराम से प्रस्वाप अस्त्र प्राप्त किये हुए अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालनकर्ता गंगापुत्र भीष्म, कौरव-पाण्डवों के धनुर्विद्या के गुरु आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, अपने पिता से ब्रह्मास्त्र प्राप्त करनेवाला अश्वत्थामा, दिग्विजयी अंगराज कर्ण और उसका भ्राता शोण, कई कौरव-बन्धु, शकुनि और उसके बन्धु उनमें सम्मिलित थे। उन सबका नेतृत्व कर रहे थे–भरी सभा में मुझे खुली जंघा दिखानेवाले दुर्योधन और बनावटी पाँसों से कपटद्यूत खेलनेवाले शकुनि।

मेरे पति प्रथम उस शमी-वृक्ष के पास गये थे। भीमसेन ने उस वृक्ष को वन्दन कर, ऊपर चढ़कर पाण्डवों के सभी शस्त्र नीचे उतरवा लिये। युधिष्ठिर के हाथों वन-पुष्प अर्पित करके उनका पूजन करवाया। उन शस्त्रों को पुन: अभिमन्त्रित किया। पाँचों पाण्डवों ने उन पर पुष्प अर्पित किये और उनका वन्दन किया। सभी ने अपने-अपने शस्त्र उठाये। अब उनके मुखमण्डल पर स्पष्ट परिवर्तन दिखाई दे रहा था। सबकी आँखों में तेज उतर आया था। यद्यपि उनके शरीर अलग थे, किन्तु मन से वे एक ही थे। पहले उन्होंने कुलदेवी इडा का जयघोष किया। पीछे-पीछे उन्होंने एक ही स्वर में द्वारिकाधीश की जयकार की–'द्वारिकाधीश भगवान वासुदेव... की जय हो!–जय हो!' तत्पश्चात् वे अपने-अपने रथों पर आरूढ़ हुए।

राजा विराट के गोधन को भगाकर ले जाते हुए कौरवों का पीछा करके वे उनसे भिड़ गये। सबने अपने-अपने शंख फूँके और अपने शस्त्र उठाये। अर्बुद पर्वत को साक्षी रखकर राजा विराट के गोधन की प्राप्ति के लिए कौरव-पाण्डवों में घनघोर युद्ध छिड़ गया। आज अर्जुन के रोम-रोम में मानो रणदेवता ने प्रवेश किया था। तेरह वर्ष दबकर रहा उसका पराक्रम आज उफन उठा। सन्ध्या होने तक उसने पितामह भीष्म, गुरु द्रोण-कृप, अंगराज कर्ण–सबको करारी मात दी। अर्जुन के अमोघ बाणों में से मर्मस्थल में घुसने से कर्ण के बन्धु शोण का रणभूमि में पतन आ। उसके निष्प्राण शरीर पर गिरकर सिसकते हुए कर्ण ने प्रतिज्ञा की–अर्जुन-वध की!

शस्त्रहीन किये सभी कौरव-योद्धाओं पर अर्जुन ने सम्मोहन अस्त्र का प्रयोग किया। यह अस्त्र उसने हिमालय में पाशुपतास्त्र-प्राप्ति के समय ही प्राप्त कर लिया था। उस अस्त्र के प्रभाव से लड़कर श्रान्त हुए कौरव-योद्धा एक-एक करके पहले सम्मोहित और फिर मूर्च्छित हो गये।

सखा कृष्ण का गगनभेदी जयघोष करते हुए अर्जुन ने युवराज उत्तर को आज्ञा दी–"जाओ मूर्च्छित कौरवों के शरीरों से उनके उत्तरीय छीनकर ले आओ। वे वस्त्र ही तुम्हारे पिता को बताएँगे कि आज के युद्ध का अन्त क्या हुआ!" वह भी आज्ञाकारी की भाँति रथ से उतरा और रणभूमि पर अस्त-व्यस्त पड़े प्रमुख योद्धाओं के वस्त्र ले आया।

"उनमें से ये कुछ वस्त्र तेरे लिए मैं उपहार में लाया हूँ।" युद्ध का पूरा वृत्तान्त सुनाने के पश्चात् अर्जुन ने भीमसेन की ओर देखा। वह मुस्कराता हुआ अग्रसर हुआ। एक नीलवर्ण उत्तरीय मेरे हाथ में थमाते हुए उसने कहा, "यह उत्तरीय स्वयं को अंगराज कहलानेवाले–तुझे 'वेश्या' कहकर दाँत निपोरनेवाले दुर्योधन के मित्र–उस सूतपुत्र का है।"

मैंने उस उत्तरीय को एकटक देखा। मेरे कृष्ण के उत्तरीय के समान वह नीलवर्ण अवश्य था,

किन्तु दोनों में एक स्पष्ट अन्तर था। कृष्ण के उत्तरीय में मोरपंख सदृश मृदुता थी। कर्ण के उत्तरीय में सम्भवत: उसमें जड़ित स्वर्णसूत्रों के कारण एक प्रकार का खुरदरापन था। द्यूतगृह में उसके द्वारा व्यक्त किये गये उद्‌गार–'वेश्या...पाँचों की हो अथवा एक सौ पाँच की'–मेरे कानों और मन में गूँज उठे। मन-ही-मन पीताम्बरधारी कृष्ण का स्मरण करते हुए मैंने कहा–'क्या तेरे उत्तरीय की ऊष्मापूर्ण मृदुता को आज रणभूमि में मूर्च्छित हुओं में कोई कभी जान पाएगा?'

इसी सोच में मैं थी, तभी अर्जुन ने एक रक्तवर्ण उत्तरीय मेरे आगे बढ़ाया। चमकती आँखों से, वक्ष फुलाते हुए उसने कहा, "यह उत्तरीय अश्वत्थामा का है!" मैं उस उत्तरीय को देखती रही। बहुत सोचने पर भी मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि जीवन में पहली बार ब्राह्मण के लिए निन्द्य गोहरण जैसे कर्म में इन पिता-पुत्रों ने साथ कैसे दिया! नित्य दार्शनिक ज्ञान की बातें करनेवाले गुरुपुत्र अश्वत्थामा ने रक्तवर्ण उत्तरीय धारण कैसे किया? यदि इस प्रश्न का उत्तर मुझे कभी मिल पाएगा तो केवल कृष्ण से। कृष्ण का स्मरण होते ही मैं अपने अन्य पतियों से उनके पराक्रम के विषय में पूछना भी भूल गयी। विराट नगरवासियों ने पाण्डवों की विजय का जयघोष करते हुए नगर-भर उनकी शोभायात्रा निकाली।

कौरवों को पराजित करने के कारण महाराज विराट गोरक्षण हेतु अर्जुन और मेरे अन्य पतियों से अत्यन्त प्रसन्न हुए थे। अपनी नृत्य-शिक्षिका बृहन्नला नारी न होकर वह पराक्रमी अर्जुन है, यह समझते ही राजकन्या उत्तरा की भी दृष्टि बदल गयी थी। अर्जुन को पतिरूप में प्राप्त करने की इच्छा उसने अपने पिता के सम्मुख व्यक्त की थी। छोटी-सी तो थी वह! मेरी कोई पुत्री होती तो उसकी आयु भी उत्तरा जितनी ही होती। कुमारी-सुलभ पराक्रम-पूजा की भावना से वह मेरे पति–धनुर्धर अर्जुन की ओर आकर्षित हुई थी।

उसकी आयु को शोभा न देनेवाली उसकी यह विचित्र आकांक्षा मेरे सुनने में आयी। मैं तो हड़बड़ा गयी। वह राजकन्या थी। उसके पिता को उससे अत्यधिक प्रेम था। सम्भवत: वे उसका हठ स्वीकार भी करते। अर्जुन को तो मैं भलीभाँति जानती थी। वह तीर्थयात्रा पर चला गया था और दो विवाह करके लौटा था। कहीं-न-कहीं तो यह रोकना आवश्यक था, अन्यथा ग्यारहवीं सौत मेरे सिर पर बैठ जाती! जब-जब मैं किसी मानसिक समस्या में फँसी थी, तब-तब मैंने श्रीकृष्ण के अतिरिक्त किसी को भी स्मरण नहीं किया था।

"हम प्रकट हुए हैं। विराट पर आक्रमण करनेवाले कौरवों को हमने पराजित किया है। अब अगले मार्गदर्शन के लिए हम आपकी प्रतीक्षा में हैं। कृपया शीघ्र चले आएँ।"–युधिष्ठिर का यह सन्देश लेकर द्वारिका जानेवाले राजदूत को मैंने बुलवा लिया। दास-दासियों को कक्ष से हटाकर गुप्त रूप से मैंने उसे सन्देश दिया–"कृष्ण से कहना शीघ्र चला आए अन्यथा पुत्रीवत् उत्तरा से अर्जुन का विवाह हुआ ही समझो!"

पाण्डवों के अज्ञातवास से प्रकट हो जाने का समाचार पाकर मत्स्यदेश के निकट के जनपदों के राजा, उनके सेनापति, अमात्य आदि विराटनगर आने लगे। उनमें दशार्ण, भोजदेश, पंचनद आदि के राजा थे। सबसे पहले ससैन्य आ धमका मेरा भ्राता धृष्टद्युम्न। मेरे नकुल-सहदेव के मामा होने से मद्रराज शल्य भी आये। राजा विराट का एक दूत हस्तिनापुर–राजमाता कुन्तीदेवी और महात्मा विदुर के पास भेजा गया।

द्यूत के 'बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास' की शर्त को हमने अचूक रूप में पूरा

किया था। जिस प्रकार मेरे पतियों को कृष्ण की मध्यस्थता से पहले खाण्डववन प्राप्त हुआ, उसी प्रकार अब भी उनको इन्द्रप्रस्थ का राज्य मिलने में कोई कठिनाई नहीं दिखाई दे रही थी। मैं अपने पतियों के साथ ससम्मान इन्द्रप्रस्थ में प्रवेश करने के स्वप्न देख रही थी। यदि अर्जुन राजा विराट का जामाता बन जाता, तो सम्भवत: वह विराटनगर में ही उलझ जाता। उनके विवाह की चर्चा सुनने में आ रही थी, फिर भी इस विषय में मैंने अर्जुन से कुछ भी नहीं पूछा। मैं जानती थी कि उससे कोई लाभ होनेवाला नहीं था।

सम्पूर्ण विराटनगर पुष्पमालाओं के बन्दनवारों और आम्रपर्णों की कमानों से सुशोभित हो गया। नगर की चारों दिशाओं के महाद्वारों पर जलते दीपों की पंक्तियाँ जगमगाने लगीं। पूरा मत्स्यदेश अत्यन्त उत्साह से विराटनगर में एकत्र हुआ। कृष्ण के दर्शन करने सब आतुर हुए थे। कुछ ही दिनों में उसका सालंकृत विजयी गरुड़ध्वज रथ विराटनगर के दक्षिण महाद्वार पर आ धमका, जिसका सारथ्य दारुक कर रहा था। चार शुभ्र-धवल अश्वोंवाले उस सुशोभित ऊँचे रथ से मेरा प्राणप्रिय सखा कृष्ण उद्धवदेव और बलराम भैया सहित नीचे उतरा। अपने पतियों सहित मैं, महाराज विराट, महाराज्ञी सुदेष्णादेवी, राजकन्या उत्तरा, युवराज उत्तर, श्वेत–मत्स्यों के नये सेनापति–हम सब उसके स्वागत के लिए खड़े थे। मत्स्यदेश की धरती को उसके चरणस्पर्श होते ही उसके दर्शन के लिए जमा हुई मत्स्यवासियों की भीड़ ने उसके सदापावन नाम की गगनभेदी हर्षध्वनि की–"पाण्डवतारक, वसुदेवपुत्र वासुदेव, भगवान श्रीकृष्ण महाराज की जय हो! जय हो ऽऽ!"

हाथ जोड़कर वहाँ जमा हुए स्त्री-पुरुषों को हँसते-हँसते नम्र अभिवादन करते हुए उसके तेज:पुंज मुखमण्डल की ओर मैं देखती ही रही। उसके दर्शन होते ही क्षण-भर में ही मैंने जीवन की अविस्मरणीय अनुभूति प्राप्त की। बारह वर्ष के वनवास और एक वर्ष के अज्ञातवास के मेरे सभी तनाव एकदम समाप्त हो गये। एक वर्ष के बाद मुझे वह प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा था, किन्तु मुझे लग रहा था कि कल ही मैंने उसे देखा है। उसके स्वर्णमुकुट में लगा रंगबिरंगी मोरपंख चमचमा रहा था। उसके स्नायुबद्ध वक्ष पर विराजित, घुटनों के नीचे पहुँची प्रफुल्लित वैजयन्तीमाला की कृष्णगन्ध का मुझे तीव्र आभास हुआ। उसने मेरे विख्यात स्त्रीगन्ध को कहीं दूर उड़ा दिया। अपने पीताम्बर की सिकुड़नों को झलकाता हुआ वह झपाके के साथ मेरे सम्मुख आया। महाराज विराट और पाण्डवों के कुशल प्रश्नों के उत्तर देते हुए उसने केवल मुझे ही सुनाई देनेवाले अस्फुट शब्दों में कहा, "तेरा सन्देश मुझे मिल गया है कृष्णे! चिन्ता मत कर! कैसी है तू?" क्षण में ही विराट महाराज और सुदेष्णादेवी को अभिवादन करता हुआ वह पाण्डवों में सम्मिलित हो गया।

रात्रि में विराट, यादव, और पाण्डवों की बैठक का आयोजन हुआ। बैठक के पूर्व कृष्ण ने अकेले अर्जुन से एकान्त में विशेष चर्चा की थी। बैठक में कृष्ण के साथ बलराम भैया, उद्धवदेव, हिमालय से आये पाण्डव-पुरोहित धौम्य, कुछ गिने-चुने यादव और पाण्डव सम्मिलित थे। पाण्डव-स्त्रियों में से केवल मैं ही वहाँ थी। महाराज विराट, सुदेष्णादेवी, विराट-पुरोहित, सेनापति, अमात्य, राजपुत्र उत्तर और श्वेत उस बैठक में उपस्थित थे। सबका कुशल पूछने के पश्चात् महाराज विराट ने अपने मन की बात सबके सम्मुख प्रस्तुत की। उन्होंने कहा, "पाण्डवों ने–विशेषत: धनुर्धर अर्जुन ने अपने पराक्रम की पराकाष्ठा करते हुए हमारे गोधन और प्रतिष्ठा की रक्षा की है। अत: महाराज्ञी की सहमति से मैंने अपनी नृत्य-संगीत निपुण, सौन्दर्यवती इकलौती पुत्री उत्तरा को

पराक्रमी अर्जुन को अर्पण करने का निर्णय किया है! बैठक में उपस्थित सुजनों को साक्षी रखकर अर्जुन उसको स्वीकार करें। इस दम्पती को भावी जीवन-यात्रा के लिए वासुदेव श्रीकृष्ण अपने अनमोल आशीर्वाद प्रदान करें–युवराज बलराम और उद्धवदेव भी!"

बैठक में उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति अब कृष्ण की ओर देखने लगा। इस प्रस्ताव का उसके मुख पर कोई विशेष प्रभाव दिखाई नहीं दे रहा था। हँसते हुए उसने कहा, "महाराज, बात अर्जुन के विवाह की है, जो कहना है उसे ही कहने दें।"

सबकी दृष्टि अब अर्जुन की ओर घूम गयी। बिना समय गँवाये उसने तत्परता से कहा, "जो आज्ञा अच्युत वासुदेव की। महाराज की पुत्री उत्तरा नृत्य और संगीत इन कलाओं में मेरी शिष्या है। मैं उसका गुरु हूँ। इस पवित्र नाते में विवाह धर्मबाह्य है। गुरु अपनी शिष्या की ओर पिता की दृष्टि से ही देखता है, अन्य दृष्टि से नहीं। महाराज विराट ने अज्ञातवास में हमसे जो आत्मीयतापूर्ण व्यवहार किया है, उसे हम भुला नहीं सकते। अत: महाराज की आज्ञा और श्रीकृष्ण के कृपाशीर्वाद को मैं शिरोधार्य करता हूँ। महाराज की पुत्री अवश्य पाण्डुकुल में प्रविष्ट होगी, किन्तु मेरी पत्नी बनकर नहीं–पुत्रवधू बनकर। मेरा पुत्र अभिमन्यु नवयुवक है, सुन्दर है। महाराज और अन्य विराटों का जामाता बनने के योग्य है। उसके लिए मैं विराटकन्या का हाथ माँगता हूँ।"

अर्जुन ने बड़ी सावधानी से अपने ऊपर चलाये गये बाण को उचित दिशा में मोड़ दिया था। आखिर वह धनुर्धर था! कृष्ण की सूचना का उसने पालन किया था। अर्जुन का निर्णय सुनकर मैंने मुक्ति की साँस ली। मेरे अन्त:करण में सखा कृष्ण का स्थान और भी ऊँचा हो गया।

अभिमन्यु-उत्तरा विवाह को विराटनगर में ही सम्पन्न करने का निर्णय हुआ।

कृष्ण के स्वागत हेतु पहले ही सजे विराटनगर को अब और भी सजाया गया। दोनों ओर के पुरोहितों ने विवाह का शिवमुहूर्त निकाला। पहले द्वारिका के बाराती आये। उनमें रुक्मिणीदेवी सहित सत्यभामा, जाम्बवती, भद्रा, कालिन्दी, लक्ष्मणा आदि कृष्णपत्नियाँ थीं। सुभद्रा अभिमन्यु सहित रेवती भाभी को लेकर आयी थी। द्वारिका का मन्त्रिमण्डल, दोनों सेनापति, सभी दल-प्रमुख उपस्थित हुए। पाण्डवों की तीसरी पीढ़ी में यह पहला ही विवाह समारोह था। आने की इच्छा होते हुए भी यात्रा लम्बी होने के कारण वृद्ध वसुदेव महाराज और दोनों माताएँ आने में असमर्थ थीं, अत: उन्होंने द्वारिका को छोड़ने से पहले ही अभिमन्यु को आशीर्वाद दिये थे।

हस्तिनापुर से हमारी राजमाता कुन्तीदेवी महात्मा विदुर के भेजे गये सैनिकों के साथ आयीं। और कोई आनेवाला नहीं था। महाराज विराट ने अन्य किसी को आमन्त्रित किया भी नहीं था।

निश्चित किये मुहूर्त पर कृष्ण, बलराम भैया और उद्धवदेव के समक्ष उनके भानजे अभिमन्यु का विवाह धूमधाम से सम्पन्न हुआ। नीलवर्ण को छोड़ अपने मामा के सदृश दिखते तरुण, सुन्दर मुकुटधारी अभिमन्यु को उसके मामा कृष्ण ने 'कीर्तिमान भव' का आशीर्वाद देते हुए प्रेमपूर्वक अपने वक्ष से लगाया।

काम्पिल्यनगर से आये मेरे पाँचों पुत्र अपने भ्राता अभिमन्यु से गले मिले। नवविवाहित अभिमन्यु और उत्तरा के मुखमण्डल पर एक अलग ही तेज छलक रहा था। मैंने विवाह-मण्डप में उपस्थित कृष्ण की ओर देखा। वह अर्जुन से कुछ कह रहा था, किन्तु कोलाहल के कारण कुछ सुनाई नहीं दे रहा था।

विवाह के दूसरे ही दिन विराट-राजसभा आयोजित की गयी। इस सभा में महाराज्ञी

सुदेष्णादेवी के समीप मैं आठों कृष्णपत्नियों सहित बैठी थी। विवाह के निमित्त विराट, यादव, पांचाल, और पाण्डवों को एक-साथ देखकर कृष्ण ने जो कुछ कहा, वह अविस्मरणीय था। न्याय का साथ देने के लिए जीवन-भर उसने जो परिश्रम किये थे, उनकी तड़प उसमें थी। हम पाण्डवों के प्रति उसका विशुद्ध प्रेम लबालब भरा हुआ था। भविष्य में होनेवाली घटनाओं का भान उसमें था। अपनी दानेदार, प्रभावी, खनखनाती वीरवाणी में उसने कहा–

"महाराज विराट, प्रिय पाण्डव, यादव, पांचाल और मत्स्यदेश के ज्येष्ठ योद्धाओ! पाँचों पाण्डव बारह वर्षों का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास पूरा कर अब प्रकट हुए हैं।

"सर्वप्रथम सबके समक्ष भावी जीवन-यात्रा के लिए मैं उनको हार्दिक आशीर्वाद देता हूँ और उनका अभिनन्दन भी करता हूँ। क्षत्रियत्व का अर्थ केवल रणभूमि पर प्राणों की चिन्ता किये बिना पराक्रम करना ही नहीं है। सम्पूर्ण मानव-जीवन ही एक रणभूमि है। इन पाँचों वीरों ने वनवास और अज्ञातवास में भी अपने कर्तव्यों का अचूक निर्वाह करके उसे प्रमाणित किया है।

"आप में से प्रत्येक में एक प्रबल, अपराजेय क्षत्रिय वास कर रहा है। मैं उसी का आह्वान कर रहा हूँ–आप में से प्रत्येक व्यक्ति केवल कल्पना करे कि पाण्डवों जैसी विपत्ति उस पर आयी है। इस सत्त्व-परीक्षा में वह कितना टिक पाता है, इसका निर्विवाद उत्तर उसे अपने-आप ही मिल जाएगा। अत: मैं जो कह रहा हूँ उसे आप ध्यानपूर्वक सुनें और स्वयं आप ही अपना निर्णय करें। आपकी निर्दोष आत्मशक्ति पर मुझे पूरा विश्वास है। मत्स्यों की इस राजवेदी पर से हस्तिनापुर के कुरुओं से मैं स्पष्ट पूछ रहा हूँ–क्या वे अब पाण्डवों को न्याय देंगे?" सभी उपस्थित कान खड़े करके सुनने लगे।

अपनी नील आकाशवाणी में वह प्रकट सत्य का सबको देदीप्यमान सूर्य जैसा दर्शन कराने लगा–

"बाल्यावस्था से ही कौरवों ने–दुर्योधन और उसके भ्राता, शकुनि और साथियों ने पाण्डवों को घोर यन्त्रणाएँ दी हैं। क्यों? क्या उन्होंने पाण्डवों को अनाथ समझा है? मैं यहाँ से उन्हें स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि पाण्डव मेरे प्रिय, सबसे गुणवान फुफेरे भ्राता हैं। निःसंशय वे कल के आर्यावर्त के नेता हैं।

"मैं जीवन-भर कठोरता से अन्याय का निर्दलन करता आया हूँ। किसी भी राजसिंहासन का मैंने कभी लोभ नहीं किया। जहाँ-जहाँ और जब-जब जीवन रुक गया है, तब-तब निश्चयपूर्वक मैंने उसमें हस्तक्षेप किया है। मुझमें जो 'मैं' है, वह श्रीकृष्ण वासुदेव यादव नामक केवल कोई व्यक्ति नहीं बल्कि एक विचार है, इस बात को शीघ्र ही सब जान जाएँगे। उस विचार का एक सिरा आप में से प्रत्येक के जीवन के साथ संश्लिष्ट है, यह समझ लीजिए।

"मैं हर सम्भव प्रयास करूँगा, किन्तु जहाँ तक मैं दुर्योधन-शकुनि को जानता हूँ, मुझे पूरा विश्वास है कि वे सरलता से पाण्डवों को न्याय नहीं देंगे। पाण्डवों को अपने न्यायोचित अधिकार के लिए पूरी शक्ति के साथ रणभूमि में उतरना पड़ेगा। और वहीं पर उन्हें न्याय को प्राप्त करना होगा। मैं महाराज विराट का आह्वान करता हूँ कि समय आने पर वे पाण्डवों के पीछे ससैन्य, दृढ़ता के साथ खड़े रहें। विराट महाराज आज ही अपने किसी प्रौढ़, अनुभवी, बुद्धिमान राजदूत को कुरु महाराज धृतराष्ट्र से मिलने हस्तिनापुर भेज दें। उसके हाथों यह सन्देश भी भिजवा दें कि पाण्डवों का इन्द्रप्रस्थ राज्य अब कौरव उन्हें गौरव सहित लौटा दें। यदि वे माननेवाले न हों तो दूत

उन्हें इस बात का स्पष्ट आभास करा दे कि सम्बन्धी होने के नाते विराट और पांचालों का समर्थन पाण्डवों को प्राप्त होगा।

"मेरा द्वारिका गणराज्य और स्वयं मैं–हम पहले से ही पाण्डवों के हैं। हम सदैव उनके समर्थक रहेंगे। जीवन के अनुभवों के आधार पर मैं एक बात कहना चाहता हूँ कि रणभूमि पर लड़े गये संहारक युद्ध से जीवन की समस्याएँ हल नहीं होतीं, बल्कि बढ़ जाती हैं–और भी कठिन हो जाती हैं। मानव-जीवन को सुखकर, सुसहनीय बनाने का एक ही मार्ग है–वह है प्रेम! उस प्रेम के लिए पाण्डवों की ओर से, इस सभा में उपस्थित विराट, पांचाल और यादव गणराज्यों की ओर से आज मैं हस्तिनापुर को स्पष्टत: बता देना चाहता हूँ कि इन्द्रप्रस्थ के प्रश्न को वे सद्भाव के साथ प्रेम से हल करें।

"अपनी जीवन-यात्रा में इस प्रकार न्याय-अन्याय की समस्याओं को सुलझाने के लिए यदि मैंने कुछ किया हो, तो उस तुलसीपत्र जितने पुण्य-संचय के आधार पर मैं आज कौरवों का आह्वान करता हूँ कि पाण्डवों को न्याय प्रदान करें।"

शरद् ऋतु में ओस की बूँदों से भीगा सूर्यकमल जैसे दिखता है, वैसे ही उसका स्वेद बिन्दुओं से भीगा हुआ मुखकमल दिख रहा था। वह मुझे पाण्डवों का ममेरा भ्राता, बलराम भैया का अनुज, उद्धवदेव का भैया, गोपालों का गोपाल, आचार्य सान्दीपनि और घोर-आंगिरस का शिष्य, वसुदेव महाराज और देवकी-रोहिणी माता का पुत्र, यही नहीं मेरा अपना परिचित सखा भी नहीं लगा। उन सबसे अलग ही कोई दिखाई दिया।

राजसभा को छोड़ते समय एक ही विचार ने मुझे घेर लिया था–नित्य हम पाण्डवों-यादवों में, विराट-पांचालों में रहनेवाला यह कृष्ण आखिर कौन है? जिस प्रकार उसे समझना कठिन था, उसी प्रकार उसकी गतिविधियों को जानना भी कठिन था। वह नित्य आगे की सोचकर व्यवहार करता था। तभी तो वह कंस जैसे बलाढ्य शत्रु और सम्राट जरासन्ध जैसे कई अत्याचारियों का अन्त कर पाया था।

नवदम्पती उत्तरा-अभिमन्यु को विशिष्ट आप्तगणों सहित द्वारिका भिजवाने का उसने निर्णय किया। उनको विदा करके महाराज विराट के राजप्रासाद में लौटने पर बहुत दिनों से मन में मँडराता एक प्रश्न मैंने कृष्ण के समक्ष प्रस्तुत किया, "हे द्वारिकाधीश, मैंने सुना है, अपने जीवन में आये स्मरणीय व्यक्तियों के लिए तूने द्वारिका में स्वर्णिम सीढ़ियोंवाला एक भव्य सोपान बनाया है। अनेक लोगों के मुख से मैंने उस श्रीसोपान की ख्याति सुनी है। सुना है, बढ़ती सीढ़ियों के कारण वह बहुत ऊँचा हो गया है। हे कृष्ण, तूने कभी कहा नहीं, अत: मैं ही पूछ रही हूँ–क्या तेरे उस स्वर्णिम श्रीसोपान में इस वनवासी, अपमानित सखी के नाम कोई सीढ़ी है?" मेरा यह प्रश्न उसके लिए पूर्णत: अनपेक्षित था। पहले वह मेरी ओर विचित्र रूप से देखता ही रहा। फिर उसके पीछे पड़े मेरे प्रश्न के अश्व को उसने नित्य की भाँति कुशलता से दूसरे ही मार्ग पर घुमा दिया। उसका उत्तर मेरे लिए अनपेक्षित होते हुए भी मुझे वह अनुचित नहीं लगा।

मोहक मुस्कराकर उसने कहा, "कृष्णे, तुझे किसने कहा कि वह एक ही सोपान है! तू तो सखी है, सोच ले, क्या अन्य भी कोई श्रीसोपान हो सकता है? यदि हो तो तेरे नाम की रत्नजटित सीढ़ी किस क्रमांक पर होगी?"

उसका वह हास्य अपूर्व मोहक था। उसके उस उत्तर से मैं चकरा गयी। सोचने लगी–दूसरा

सोपान? कहाँ होगा वह?

"समझ में नहीं आ रहा है? तू बावली है श्यामले। दूसरा सोपान है तेरे इस सखा के अन्तःकरण में! उसमें अपनी सीढ़ी का क्रम तुझे ही निश्चित करना है–अन्य किसी को नहीं, मुझे भी नहीं!" मुस्कराता हुआ वह मेरे सामने से चला गया–यमुना-तट के शरद् ऋतु के गन्ध-भरे पवन के झोंके जैसा!

अब हमारा इन्द्रप्रस्थ जाना निश्चित था। इसलिए कृष्ण ने महाराज विराट के आगे एक प्रस्ताव रखा–मत्स्यदेश की सीमा पर इन्द्रप्रस्थ के समीप उपप्लाव्य नामक गाँव में हमारे रहने का प्रबन्ध करने का। महाराज विराट का राजदूत पहले ही हस्तिनापुर चला गया था। जहाँ हमने वेश बदलकर अपने अज्ञातवास का–कठोर सत्त्व-परीक्षा का–पूरा एक वर्ष व्यतीत किया था, उस स्थान से–विराटनगर से–विदा लेने का समय आ गया। मैंने एक-एक करके सैरन्ध्री का काम करनेवाली सभी सेविकाओं से भेंट की। उनमें से कुछ आयु में मुझसे बड़ी थीं, कुछ छोटी थीं और कुछ मेरी समवयस्का थीं। उन्होंने वर्ष-भर मुझे कन्या, सखी, ज्येष्ठ बहन के समान सँभाला था। उनसे विदा लेते समय वे गद्गद हो उठीं। उनमें से कुछ तो सिसकने लगीं। उनका निर्मल प्रेम देखकर मेरी भी वही स्थिति हुई।

भीमसेन को विदा देते हुए पाकशाला के उसके अन्य साथियों ने उसके प्रिय व्यंजन बनाकर उसे खिला दिये। युधिष्ठिर और नकुल-सहदेव को भी उनके साथियों से यही अनुभव प्राप्त हुआ। इस निमित्त मेरे पतियों को इस जीवन-सत्य का ज्ञान हुआ कि किसी के भी जीवन में बिना आवश्यकता के कोई व्यक्ति नहीं आता। जब वह व्यक्ति हमसे विमुख होता है, तभी हम उसके महत्त्व को समझ पाते हैं।

राजा विराट के राजप्रासाद में सबसे विदा लेकर हम कृष्ण सहित उपप्लाव्य आ गये। महाराज विराट के आदेश से यहाँ हमारे लिए सभी सुविधाओं से युक्त शिविर लगवाये गये थे। तत्पर सेवक भी हमारी सेवा में थे। कृष्ण के साथ उसके सात्यकि आदि विशिष्ट यादव-योद्धा थे। बलराम भैया, उद्धवदेव और यादव राजपरिवार की स्त्रियाँ नवदम्पती अभिमन्यु और उत्तरा सहित द्वारिका लौट गयी थीं। शिविर में हमारे स्थिर होते ही कृष्ण ने हमारी एक बैठक आयोजित की। वस्तुत: ऐसी बैठकों में भी वह हँसमुख ही हुआ करता था। किन्तु इस समय वह अत्यन्त गम्भीर दिखाई दे रहा था। मैंने उसे इतना गम्भीर होते पहले कभी नहीं देखा था। उसने इतना ही कहा, "महाराज विराट के दूत को भेजने पर भी हस्तिनापुर के कुरुओं ने अपनी कोई भी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की है। वे चुप्पी साधे बैठे हैं। अब मुझे ही उनको बोलने के लिए प्रवृत्त करना पड़ेगा। मेरे प्रिय भ्राता, तुम्हारे लिए जो भी मेरे वश में होगा, मैं करूँगा। अन्तत: तुममें और कौरवों में भाव-सन्धि हो, इस हेतु दौत्य करने मैं हस्तिनापुर भी जाऊँगा। अपनी सारी बौद्धिक चतुरता और वाक्चातुर्य मैं दाँव पर लगाऊँगा। जीवन-भर मैंने न्याय का पक्ष लिया है। तुम्हें सद्भाव के साथ न्याय मिले, इस हेतु अन्तिम सीमा तक मैं प्रयास करूँगा।" हमारे भवितव्य की पतवार जिसके हाथ में थी, उस युधिष्ठिर ने कहा–"हे वासुदेव, मैं चाहता हूँ कि सद्भाव से ही हम में सन्धि हो। युद्ध के कारण हममें सदा के लिए शत्रुता उत्पन्न होगी। द्यूत की सभी शर्तें पूरी करने के पश्चात् वे हमें इन्द्रप्रस्थ लौटा दें। यही हमारा आग्रहपूर्वक अनुरोध है। इसके लिए युद्ध करना और जिनका हमसे कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसे अनेक निरपराध जनों की उसमें आहुति देना उचित नहीं है। अत: हे वासुदेव,

आप अधिकाधिक सद्भावना की ही बातें करें। आवश्यकता हो तो मेरे इन भ्राताओं से उनका विचार भी जान लें।"

बिना माँगे अनुमति मिलते ही भीमसेन ने मुझे चकरा डालनेवाली बात कही–"उनसे कहो, केवल हमारा इन्द्रप्रस्थ लौटा दें!"

अनपेक्षित रूप से उसका समर्थन करते हुए अर्जुन ने कहा, "मुझे लगता है, युद्ध में अपने ही स्वजनों का संहार करने की अपेक्षा सन्धि करना ही उचित होगा।"

जिन पर मुझे पूर्ण विश्वास था, उनकी यह बुद्धि-भ्रष्टता देखकर मैं खौल उठी, "हे कृष्ण, लगता है कुरुओं की भरी द्यूतसभा में सभी ज्येष्ठों के आगे हुए मेरे लज्जास्पद अपमान को मेरे ये पति भूल गये हैं। मेरे मुक्त केश और अपनी प्रतिज्ञाओं को भी ये भूल गये हैं। ये भूल गये होंगे, किन्तु अपने स्त्रीत्व के अपमान को मैं कदापि नहीं भूल सकती। तू भी उसे भूल जाए, यह मुझे स्वीकार नहीं होगा। यदि तू भी उसे भूल जाएगा तो मेरे पिता द्रुपद और भ्राता धृष्टद्युम्न मेरे अपमान का प्रतिशोध लेंगे, और वे भी मेरे अपमान का प्रतिशोध न लें तो अभिमन्यु सहित मेरे सभी वीर पुत्र वह अवश्य लेंगे।"

मेरी बात सुनकर भी उसने शान्तिपूर्वक कहा, "हे कृष्णे, मैं तेरा मनोभाव जानता हूँ। पहले मेरी बात शान्ति से सुन ले। दौत्य के मेरे सद्भाव को सफलता ही प्राप्त होगी, यह नहीं कहा जा सकता। मनुष्य को नित्य प्रयत्नशील रहना चाहिए। किन्तु प्रयत्नों के परिणामस्वरूप सफलता ही प्राप्त हो, यह हठ नहीं करना चाहिए। मन-ही-मन असफलता को स्वीकार करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। दौत्य में मुझे सफलता प्राप्त हुई तो तुम पुन: इन्द्रप्रस्थ के स्वामी बन जाओगे। यदि मैं असफल हुआ तो तेरे पतियों को शमी-वृक्ष से उतारे गये अभिमन्त्रित शस्त्रों को एक विराट् युद्ध के लिए तैयार रखना होगा। युधिष्ठिर ने जिस द्यूत को खेला था, वह प्रकट द्यूत था, मेरा भी यह द्यूत ही है–अप्रकट रूप में–जगन्मान्य युद्धद्यूत!" वह गम्भीर क्यों हुआ था, उसके चिह्न अब प्रकट होने लगे थे।

मैंने उसके बोलने के ढंग से और उसके गम्भीर होने से भाँप लिया कि वह दौत्य से परे किसी बात पर सोच रहा है। क्या होगी वह बात? कुछ समझ में नहीं आ रहा था। उसने अपने विश्वासिक दूत द्वारा महाराज धृतराष्ट्र के पास सन्देश भिजवाया था, "मैं हस्तिनापुर आ रहा हूँ।" हमारी आँखें उस दूत के आने के मार्ग पर लगी थीं। कुछ ही दिनों में वह लौट आया। वह किसी सन्देश के साथ नहीं बल्कि कुरु-मन्त्री संजय के साथ लौटा था। संजय परम कृष्णभक्त था। उसके द्वारा सन्देश भिजवाने में कौरवों का राजनीतिक दाँव था। पाण्डवों को इन्द्रप्रस्थ लौटाना स्पष्टत: अस्वीकार न करके दुर्योधन-शकुनि ने महाराज धृतराष्ट्र की आड़ से एक कपट-सन्देश भिजवाया था–

"पाण्डव यदि युद्ध करना चाहते हों तो वे अवश्य इस बात पर सोचें कि क्या युद्ध से कभी किसी का भला हुआ है? युद्ध में अनगिनत वीर योद्धा और सैनिक मारे जाते हैं। राज्य का विनाश हो जाता है। युधिष्ठिर जैसे तत्त्वज्ञानी और स्थिरचित्त पुरुष को सोचना चाहिए कि आप्तजनों का विनाश करनेवाला युद्ध लड़ने की अपेक्षा क्या कुरुक्षेत्र जैसे पवित्र स्थान पर धार्मिक यात्रियों से प्राप्त होनेवाले भिक्षान्न पर जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर नहीं होगा? अपने 'धर्मराज' नाम को स्मरण रखकर वह और उसके भ्राता धर्म का उचित आचरण करें। युद्ध के झंझट में न पड़ें।"

कुरु-मन्त्री के नाते संजय ने अपने स्वामी का सन्देश हम सबको सुनाया। उसे सुनकर मैं तो सुन्न हो गयी। कौरव पाण्डवों को भिक्षा माँगने के लिए ही कह रहे थे। पाण्डवों में खलबली मच गयी। केवल कृष्ण ही शान्त रहा। अपने आसन से उठकर संजय के निकट जाते हुए उसने उसके कन्धे पर अपना दाहिना हाथ रखा। क्षण-भर उसे थपथपाते हुए कृष्ण ने अत्यन्त शान्त स्वर में कहा, "सखा संजय, मेरा भ्राता युधिष्ठिर धर्मराज ही है। वह अपने नाम के अनुसार ही आचरण करेगा और वह जो कहेगा, उसके भ्राता वही करेंगे। उनमें कभी भी अन्तर नहीं आएगा।

"महाराज धृतराष्ट्र और पितामह भीष्म से कहो कि कृष्ण आपसे मिलने, आपके दर्शन करने और आपसे आशीर्वाद प्राप्त करने हस्तिनापुर आ रहा है।" उसके उत्तर में छिपा अभिप्राय जानकर संजय क्षण-भर उसके हाथ अपने हाथों में लिये वह उसके कृष्णवर्ण मत्स्यनेत्रों की ओर देखता रहा। फिर बुदबुदाया, "यह कैसा प्रसंग आ पड़ा है मुझ पर!" उस कुरु-मन्त्री ने कृष्ण के मृदु नील चरणों पर मस्तक रखते हुए साष्टांग प्रणाम किया।

"उठो, बन्धु संजय, यह क्या कर रहे हो!" कहते हुए कृष्ण ने धीरे-से उसे ऊपर उठाया और अपने वक्ष से लगा लिया। उसकी आत्मा को भी अपने आलिंगन में लेते हुए मेरे सखा कृष्ण ने धीरे-से उससे पूछा, "मित्र, मेरी भाभी कैसी है? तुम्हारा परिवार कुशल से तो है?"

उस प्रश्न से कुरु-मन्त्री संजय की आँखें डबडबा आयीं। यही तो कृष्ण की विशेषता थी। जिसे एक बार अपना मान लेता था, राजनीति से भी परे रहकर उससे अपनत्व बनाये रखता था।

एक दिन हमारे शिविर में रहकर संजय हस्तिनापुर चला गया।

महाराज विराट की सहायता से उपप्लाव्य में शान्तिदूत बनकर जानेवाले कृष्ण के हस्तिनापुर-यात्रा की तैयारियाँ आरम्भ हो गयीं। उसके साथ सात्यकि और कुछ विशेष योद्धा ही जानेवाले थे। नित्य की भाँति दारुक ही सारथ्य करनेवाला था। महाराज विराट ने स्वयं ध्यान देकर उसके भव्य गरुड़ध्वज रथ को सुशोभित करवा दिया। रथ के ध्वजदण्ड पर फहराती, पंख फैलाकर उड़ान भरते गरुड़ के चिह्न से अंकित स्वर्णवर्णी ध्वजा पवन को थपेड़े देने लगी। महाराज विराट ने अपने अश्वों की बैंजन वर्णी, स्वर्ण किनारीवाली झिलमिलाती झूलें आज गरुड़ध्वज के चारों शुभ्र-धवल अश्वों की पीठ पर डलवायी थीं। दारुक ने अपने प्रिय अश्वों के धवल माथे पर कुंकुमांजलियाँ बिखेर दीं। मेघपुष्प, सुग्रीव, शैव्य और बलाहक–चारों कृष्णप्रिय अश्व आज अलग ही उत्साह से अपने खुरों से मिट्टी कुरेद रहे थे। जिन पुष्पों से कृष्ण की वैजयन्तीमाला पिरोयी जाती थी, उन्हीं पुष्पों से बनी मालाएँ आज चारों अश्वों के गले में पहनायी गयी थीं। दारुक ने भी अपना विशेष सारथि-वेश धारण किया था।

गरुड़ध्वज रथ के पीछे लगभग दस सुशोभित रथों की पंक्ति खड़ी थी। उनके पीछे सुसज्ज अश्वारोही और पदातियों की पंक्तियाँ थीं। महाराज विराट और मेरे पाँचों पतियों सहित कृष्ण हमारे भव्य शिविर से बाहर निकला। मैं भी उनके साथ थी। सेविका के हाथ की थाली से पके ओदन की मुट्ठियाँ भरकर मैंने सखा कृष्ण और गरुड़ध्वज के अश्वों पर से उतारकर दूर फेंक दी। पाण्डवों के भवितव्य से सम्बद्ध कार्य के लिए अपने सखा को ले जानेवाले उन अश्वों से मैंने मन-ही-मन कहा, "हे अश्वो, हमारे तारक द्वारिकाधीश को ले जा रहे हो। उसे सँभलकर ले जाओ और शुभ समाचार सहित लौट आओ।" जलते नीराजनों से मैंने सात्यकि और कृष्ण की आरती उतारी। जलपात्र में अँगुलियाँ डुबोकर कृष्ण के दीर्घ मत्स्यनेत्रों को उन अँगुलियों से स्पर्श करते हुए मैंने

उसके नेत्रों की गहराई में झाँककर देखा। महासागर की भाँति वे नितान्त शान्त थे। उनकी थाह नहीं लग रही थी। पहले सात्यकि रथ पर चढ़ा। दारुक कब का रथनीड़ पर चढ़कर हाथ में प्रतोद लिये तैयार था। उसकी आँखें भी अपने स्वामी जैसी अत्यन्त शान्त थीं। अन्य योद्धा भी अपने-अपने रथ पर आरूढ़ हो गये। अश्वारोहियों ने अपना-अपना भाला सँभाले अश्व पर अपना आसन जमाया। पदाति भी अपने धारदार खड्गों सहित सुसज्जित थे।

महाराज विराट के अनुरोध पर एक ही छलाँग में कृष्ण रथारूढ़ हो गया। उसका झिलमिलाता पीताम्बर सूर्य-किरणों में और भी चमक उठा। अपने पीछे की रथपंक्ति, अश्वारोही और पदातियों पर उसने अपनी गरुड़-दृष्टि डाली। महाराज विराट और पंक्तिबद्ध खड़े मेरे पतियों की ओर उसने क्रमश: देखा। मैं रथ के समीप ही खड़ी थी। मेरी आँखों की गहराइयों में झाँकते हुए मानो वह कह रहा था, 'चिन्ता मत कर कृष्णे! सब-कुछ ठीक ही होगा। पाण्डवों की महाराज्ञी बनकर पुन: तू इन्द्रप्रस्थ के सिंहासन पर आसीन हो जाएगी।' दुकूल में खोंसे पांचजन्य को हाथ में लेकर उसने उसे प्राणपण से बजाया। दाहिना हाथ ऊपर उठाकर उसने दारुक को हस्तिनापुर की दिशा में प्रस्थान करने का संकेत किया।

उपप्लाव्य से कृष्ण हस्तिनापुर चला गया। वह कार्तिक महीना था। वह समय था रेवती नक्षत्र के प्रातःकाल में 'मैत्र' नामक मुहूर्त का। फिर राजा विराट के गुप्तचरों द्वारा कृष्ण के मार्गक्रमण की सूचनाएँ मिलती रहीं। मार्ग में आती यमुना और इक्षुमती नदियों को उसने नौकाओं द्वारा ससैन्य पार किया। यमुना को पार करने से पहले उसने सबके साथ यमुना में यथेच्छ डुबकियाँ लगाते हुए स्नान किया। सात्यकि सहित यमुना-जल से अर्घ्यदान करते हुए बिना भूले उसने घोष किया। 'यमुना: पुनातु माम्'।

सात्यकि से भी उसने वही घोष करवाया।...

कृष्ण का दौत्य सफल नहीं हुआ। केवल पाण्डवों को इन्द्रप्रस्थ लौटाना ही दुर्योधन ने अस्वीकार नहीं किया, बल्कि पाण्डवों के माँगे अविस्थल, वृकस्थल, माकन्द, वारणावत और शालीभवन–इन पाँच ग्रामों को देना भी उसने अस्वीकार कर दिया। यही नहीं, उसने पुन: उन्हीं ज्येष्ठों के आगे उद्दण्ड उत्तर दिया–'सुई की नोंक पर थरथराते हुए समानेवाला नगण्य धूलिकण भी पाण्डवों को युद्ध के बिना प्राप्त नहीं होगा।'

मेरे लिए सबसे अधिक मर्मभेदी थी उसकी अविचारी बकबक। भरी राजसभा में उसने इन शब्दों में कृष्ण को अपमानित किया था–"इतना ही नहीं मेरे अस्वीकार के चीथड़े ओढ़कर जानेवाले तेरे पैरों में लगे पवित्र कुरुभूमि के धूलिकणों को भी मैं अपने सेवकों द्वारा पुँछवा लेता, किन्तु मैं नहीं चाहता कि इस निमित्त भी मेरे सेवकों के हाथ गायों के मल-मूत्र से सने तेरे पैरों से लगें। यहाँ से चुपचाप चला जा अन्यथा हे गोकुल के मत्त साँड़, रस्सियों से बाँधकर तुझे कारागृह में ही डाल दूँगा।"

यह सुनकर अत्यधिक क्रोधित यादव-सेनापति सात्यकि अपना खड्ग उठाकर दुर्योधन की ओर दौड़ा। कृष्ण ने ही हस्त-संकेत से उसे रोका।

वह अभद्र वृत्तान्त सुनकर क्रोध से मेरे शरीर के रोएँ खड़े हो गये।

हस्तिनापुर से लौटा कृष्ण पहला कृष्ण नहीं रहा। उसके मुखमण्डल पर सहज खिलती, उसके गालों पर भँवर खिलाती वह नटखट, मोहक हँसी कहीं दूर यमुनापार चली गयी थी। वह अब कम बोलने लगा था। अधिकत: विचारों में मग्न रहता था। मेरे जीवन में स्वयंवर, स्वयंवर के बाद छिड़ा युद्ध, कौरवों की द्यूतसभा में हुआ मेरा क्रूर घोर अपमान, तत्पश्चात् बारह वर्षों का वनवास और हमारी सत्त्व-परीक्षा लेनेवाला कठोर अज्ञातवास, इस कालखण्ड में जयद्रथ और कीचक के द्वारा मुझ पर डाली गयी पापदृष्टि–इन सबसे अधिक मेरी कठोर परीक्षा लेनेवाला उसका इस समय का यह असहनीय मौन था।

कृष्ण-दौत्य असफल होने के पश्चात् हम सबकी ओर से कृष्ण ने निर्णय लिया–निर्णायक युद्ध का। यह युद्ध अब केवल कौरवों-पाण्डवों के बीच नहीं रहा, वह सम्पूर्ण आर्यावर्त का युद्ध बन गया था। अन्याय के विरुद्ध न्याय का! दमन के विरुद्ध दया-क्षमा का! आसुरी शक्ति के विरुद्ध मानवी शक्ति का! असत्य के विरुद्ध सत्य का!

हस्तिनापुर से लौटा कृष्ण पाण्डवों से 'युद्ध की तैयारी में जुट जाओ' कहकर द्वारिका चला गया। वह स्वयं यादव-सेना को युद्ध के लिए तैयार करने के कार्य में जुट गया। जबसे उसने हस्तिनापुर की सीमा पार की, एक उमड़ता-उफनता तूफान उसके चरणों के साथ-साथ सर्वत्र भ्रमण करने लगा।–वह तूफान था महायुद्ध का! द्वारिका की चतुरंग सेना को युद्ध के लिए तैयार होने का उसने आदेश दिया। हस्तिनापुर के कुरु भी युद्ध के लिए कटिबद्ध हो गये।

उपप्लाव्य में रहते मैं अपने पाण्डव परिवार की दुर्दशा का विचार करने लगी। मैं अपने पतियों सहित उपप्लाव्य में थी। राजमाता हस्तिनापुर में, सुभद्रा अपने नवविवाहित पुत्र और पुत्रवधू सहित द्वारिका में और मेरे पुत्र अपने मामा के पास काम्पिल्यनगर में–इस प्रकार हम बिखर गये थे। हम एक-दूसरे को कोई सन्देश देना चाहते तो लगभग एक महीने बाद ही वह मिल पाता। युद्ध का निर्णय निश्चित होने के बाद मेरे पति जैसे पहले दिग्विजय हेतु चतुर्दिक् चले गये थे, वैसे ही अब वे युद्ध में सैन्य की सहायता प्राप्त करने हेतु चारों दिशाओं में फैल गये। अब उनके द्वारा भेजी गयी सूचनाओं की केवल प्रतीक्षा करना ही मेरे हाथ में था। उपप्लाव्य में महाराज विराट भलीभाँति मेरी देखभाल कर रहे थे। सम्पूर्ण जीवन में पहली बार ही व्यथित कर देनेवाला एकाकीपन मैं अनुभव कर रही थी। इस स्थिति में कृष्ण के एक अलग ही रूप की मुझे अनुभूति हुई। उसका केवल स्मरण करने से ही मेरा एकाकीपन नष्ट हो जाता था। मुझे लगता था, वह उपप्लाव्य में ही है, मुझसे बातें कर रहा है, मेरा मार्गदर्शन कर रहा है।

इन्द्रप्रस्थ की सीमा मत्स्यदेश से लगी हुई थी। इन्द्रप्रस्थ अब दुर्योधन-शकुनि के आधिपत्य में था। हमारे उपप्लाव्य में होने की सूचना हस्तिनापुर पहुँच चुकी थी। कौरव-सेना के सशस्त्र दल उपप्लाव्य के आसपास मँडराने लगे थे। इतनी भयंकर और एकाकी स्थिति में भी मुझे किसी भी बात से भय नहीं लगता था। उसका कारण था–कृष्ण-स्मरण।

कई दिन केवल विचार करने में और विचार करके थक जाने के बाद कृष्ण-स्मरण करने में व्यतीत हुए। लगभग एक महीने बाद चारों दिशाओं में फैले हुए मेरे पति एक-एक कर उपप्लाव्य लौटने लगे। सबसे पहले युधिष्ठिर लौट आया। वह आर्यावर्त के मध्यदेश के नरेशों से मिलकर आया था। उसके बाद लौटा अर्जुन। वह पूर्व देश के मगध, कामरूप, कलिंग, बंग, त्रिपुरा, किरात आदि देशों के नरेशों से मिला था। उसके बाद पश्चिम देश के पंचनद, काम्बोज, गान्धार, बाह्लीक

आदि गणराज्यों से होकर भीमसेन उपप्लाव्य लौट आया। नकुल-सहदेव मध्यदेश के चेदि, अवन्ती, भोजपुर और दक्षिण देश के अश्मक, पद्मावत, क्रौंचपुर, आन्ध्र, चोल, पाण्ड्य आदि राज्यों के नरेशों से मिलकर लौट आये।

अब विविध राज्यों के राजाओं, अमात्यों, सेनापति, राजदूतों का उपप्लाव्य में आवागमन बढ़ गया। मत्स्यराज विराट ने पुष्कर तीर्थ से सिद्धपुर, रैवतनगर, सुदामापुरी से द्वारिका तक का नया मार्ग बनवाया। यह मार्ग अर्बुद पर्वत पाद से पर्णाशा, शुभ्रमती नदियों को पार करता हुआ जाता था। इस मार्ग में हरिताश्रम, वसिष्ठाश्रम आदि विश्रामस्थल थे।

जिस प्रकार मेरे पति और श्रीकृष्ण ने सैन्य-सहायता प्राप्त करने हेतु गतिविधियाँ आरम्भ की थीं, उसी प्रकार दुर्योधन-शकुनि ने भी की थीं। दुर्योधन के दस-दस भ्राता शकुनि के एक-एक भ्राता को साथ लिये दसों दिशाओं में फैल गये थे। कुरुओं के प्राचीन आप्त-सम्बन्धों को पुनर्नवा करने हेतु दुर्योधन शकुनि मामा सहित पंचनद, गान्धार, बाह्लीक, काम्बोज आदि राज्यों के राजाओं को अमूल्य उपहार भेंट करके, उनसे मिलकर लौट आया था। द्वारिका से पहला कृष्ण-दूत युद्ध की तिथि और युद्धस्थल निश्चित होने की सूचना लेकर आया। उसने गर्ग मुनि द्वारा पाण्डव-प्रमुख युधिष्ठिर को सूचना भिजवायी थी–'कौरवों को युद्ध की तिथि–मार्गशीर्ष वद्य द्वितीया की सूचना दी जाए। यदि वे अन्य कोई तिथि सूचित करें तो उसे स्वीकार न करें। शीघ्र ही यादव-सेनापति सात्यकि उपप्लाव्य आ जाएगा। हस्तिनापुर जाकर वह युद्ध-नियमों को निश्चित कर लेगा। इस महायुद्ध का स्थल होगा धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र!' कुछ ही दिनों में हस्तिनापुर से युद्ध की तिथि और स्थल स्वीकार होने का सन्देश आ गया।

आर्यावर्त के सभी जनपदों के इस युद्ध में अपनी रुचि दर्शाने के कारण युद्ध की व्याप्ति बढ़ गयी। वह केवल युद्ध नहीं रहा, महायुद्ध बन गया। उसके चक्र आर्यावर्त की चारों दिशाओं में भ्रमण करने लगे। सूचनाएँ मिलने लगीं कि कुछ राज्यों के सेनादल हस्तिनापुर की दिशा में बढ़ने लगे हैं। पाण्डवों को धक्का देनेवाली एक सूचना उपप्लाव्य आ धमकी। हस्तिनापुर से दुर्योधन शकुनि मामा के साथ, कुछ गिने-चुने कौरव-योद्धाओं सहित द्वारिका की ओर चल पड़ा है। युद्ध में यादवों से सैनिक-सहायता प्राप्त करने हेतु सुधर्मा राजसभा में वह आग्रह करनेवाला है। शिष्य के नाते वह युवराज बलराम भैया से भेंट करनेवाला है। कृष्ण से मिलकर सम्बन्धी होने के नाते वह युद्ध-सहायता का आमन्त्रण करनेवाला है।

यह सूचना पाकर तो हम सब सिटपिटा ही गये। हम तो यह मानकर चले थे कि बलराम भैया और कृष्ण सहित समस्त द्वारिका का समर्थन हमें ही प्राप्त है। इस विषय में तत्काल निर्णय करने हेतु हमने शीघ्र अपनी बैठक आयोजित की। बैठक में युधिष्ठिर ने कहा, "पाण्डवों की ओर से अर्जुन शीघ्र ही द्वारिका चला जाए। कृष्ण को वह राजमाता के और हमारे आत्मीय सम्बन्धों का तीव्रता से भान कराए। कृष्ण से अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों का स्मरण दिलाए। अर्जुन को इसलिए सावधान रहना होगा कि यादवों की प्रचण्ड शक्ति कौरवों के पक्ष में न चली जाए, वह हमें ही प्राप्त हो।"

दुर्योधन कृष्ण से मिलने जा रहा है, इस सूचना से अर्जुन तो सुन्न-किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। बैठक में वह कुछ बोल नहीं रहा था, केवल हाँ में हाँ मिलाता जा रहा था। अन्तत: उसकी यह विमूढ़ता मेरे लिए असहनीय हो गयी। बैठक उठने से पहले, पाण्डवों की महाराज्ञी के नाते मैंने

अपना विचार स्पष्टत: व्यक्त किया। अर्जुन पर दृष्टि गड़ाकर मैंने कहा, "हे धनुर्धर धनंजय, समस्त संसार और उसके समर्थन से वंचित हो जाने पर भी कोई हानि नहीं होगी। किन्तु कृष्ण के समर्थन से कभी वंचित मत होना। किसी भी स्थिति में उसे पाण्डवों से दूर मत जाने देना। उससे निर्विवाद आशीर्वाद प्राप्त किये बिना द्वारिका से लौटना नहीं है।"

अब तक किंकर्तव्यविमूढ़ होकर हड़बड़ाये हुए अर्जुन का मुखमण्डल अब निखर उठा। सीधे कृष्ण ही की भाँति उसने कहा, "चिन्ता मत कर कृष्णे! जैसा तू कहेगी वैसा ही होगा।"

आज तक इसी एक जीवन-सत्य को मैंने अनुभव किया था–हम कोई योजना बनाते थे और घटित कुछ और ही होता था, वह भी मेरी और मेरे पतियों की परीक्षा लेनेवाला!

अर्जुन एक विचित्र-सी वास्तविकता को लिये द्वारिका से लौटा।

एक प्रातःकाल अर्जुन और दुर्योधन एक ही समय कृष्ण से उसके विश्राम-कक्ष में मिले। कृष्ण सीसम के पर्यंक पर सुख-निद्रा में लीन था। उसका निद्राभंग न हो, इस हेतु, कक्ष में पहले पहुँचा दुर्योधन उसके सिरहाने एक आसन पर बैठ गया। अर्जुन उसके बाद कृष्ण के कक्ष में पहुँचा। दुर्योधन को देखते ही चौंककर वह लौटने ही वाला था कि उसे मेरे शब्द स्मरण हो आये 'कृष्ण से आशीर्वाद प्राप्त किये बिना लौटना नहीं है', तब कुछ सोचकर वह पुन: उस कक्ष में प्रविष्ट हुआ। पर्यंक पर धीरे-से कृष्ण के चरणों में बैठ गया। कृष्ण को देखते-देखते अपने द्वारिका आने का उद्देश्य भी वह भूल गया। स्वयं को भूलकर उसके निद्राधीन मुख की ओर वह एकटक देखता रहा। उसकी निद्रा भंग न हो जाए, इस सावधानी के साथ वह अपने हाथों से धीरे-धीरे उसकी चरण-सेवा करने का योग साधने लगा। उसके चरणों का स्पर्श होते ही गुडाकेश अर्जुन ने पहचान लिया कि वह निद्राधीन नहीं है। आँखें मूँदकर केवल वह लेटा है। इतनी देर तक वह सो कैसे रहा है? इस शंका का निरसन होने से अर्जुन के मुख पर हास्य की एक सूक्ष्म लहर उठी।

कुछ देर बाद कृष्ण 'जाग' गया! उसके विशाल मत्स्यनेत्र खुल गये। चरणों में बैठे अर्जुन को देखते ही वह मन्द-मन्द मुस्कराया। उसने पूछा, "तू कब आया पार्थ?" तभी "प्रणाम द्वारिकाधीश! आपसे मिलने ही आया हूँ मैं। सब कुशल तो हैं?" बीच में ही मुस्कराकर बोलते हुए दुर्योधन ने उसका ध्यान अपनी ओर खींच लिया।

कृष्ण अँगड़ाई लेता हुआ अपने पर्यंक पर उठ बैठा। मानो वह अभी-अभी निद्रा से जाग रहा हो। अर्जुन को कुछ बोलने का अवसर न देते हुए दुर्योधन कहने लगा, "द्वारिकाधीश, आपके विश्राम-कक्ष में पहले मैं आया हूँ–कौरव-सभा में अज्ञान से मैंने आपको 'ग्वाला' कहा, इसलिए क्षमा माँगने! उदार हृदय से आप मुझे क्षमा करें और मेरा कहना सुनें।"

दुर्योधन का प्रत्येक शब्द राजनीति के ढोंग से लबालब भरा हुआ था। यह समझकर अर्जुन की ओर आँख झपकाते हुए कृष्ण ने मुस्कराकर दुर्योधन से कहा, "हे युवराज, हस्तिनापुर की राजसभा को छोड़ते हुए ही मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया था। किन्तु आज के प्रातःकाल में मैंने पहले अर्जुन को देखा है। आयु में भी वह तुमसे छोटा है। अत: पहले मुझे उसकी बात सुननी होगी। 'ग्वाले' वाली बात को भूलकर तुम भी उसका कहना सुन लो। कहो अर्जुन, कैसे आना हुआ?" कृष्ण ने दुर्योधन को उलाहना देने का अवसर ही नहीं दिया। अर्जुन की ओर वह ऐसे देखने लगा

मानो वह उसे पहली ही बार देख रहा हो। छटपटाते दुर्योधन को निरुपाय होकर उसका अनुकरण करना पड़ा।

पर्यंक से उठकर अर्जुन ने विनम्रता से कृष्ण के आगे हाथ जोड़कर सिर झुकाते हुए कहा, "तुम्हारी सखी द्रौपदी ने प्रेमपूर्वक तेरे चरणों में प्रणाम निवेदित किया है। हम सब पाण्डवों के मस्तक सदैव ही तुम्हारे चरणों में नत हैं। तुम्हारी कुन्ती बुआ ने तुम्हें आशीर्वाद भेजा है, हे हृषीकेश, अब कौरव-पाण्डवों में युद्ध अनिवार्य हो गया है। तुम्हारे आशीर्वाद से ही इन्द्रप्रस्थ का राज्य-निर्माण हुआ। तुम्हें स्मरण किये बिना हम अन्न ग्रहण ही नहीं करते। इस युद्ध में तुम्हारा, बलराम भैया, उद्धवदेव, वसुदेव महाराज और राजमाता सहित सभी ज्येष्ठ यादवों का आशीर्वाद हमें प्राप्त हो, इस उद्देश्य से मैं यहाँ आया हूँ।"

कृष्ण मुस्कराया। अपने विशिष्ट स्वर में उसने कहा, "हे अर्जुन, तुम पाण्डवों को मैं केवल अपने आशीर्वाद ही दे सकता हूँ। कल ही हमारी राजसभा में कौरव-पाण्डवों के प्रश्न पर दाऊ के साथ मेरा बहुत तीव्रता से झगड़ा हुआ। उनका कहना है कि इस युद्ध में स्वयं वे, मैं और सभी यादव-योद्धा तटस्थ ही रहें। मैंने सुधर्मा सभा से कहा है–कौरव-पाण्डव युद्ध में हमारे ज्येष्ठ योद्धा कौन-सा पक्ष लें, यह उनकी इच्छा पर छोड़ दिया जाए। यादव-सेना को किस पक्ष में जाना है, यह युवराज बलराम भैया के आदेश पर निर्भर होगा। किन्तु इस युद्ध में मैं सशस्त्र सम्मिलित नहीं होऊँगा। आवश्यकता पड़ने पर योद्धाओं के शस्त्रों की पूर्ति करना, आहतों की सेवा करना, किसी का सारथ्य करना इतना ही मैं कर पाऊँगा।

"पाण्डव-प्रतिनिधि बनकर आये मेरे प्रिय सखा अर्जुन, पहले तेरी बारी है। अब नि:सन्दिग्ध शब्दों में बता दे, तुझे क्या चाहिए? नि:शस्त्र, सुख-दुःख की–युक्ति की बातें कहनेवाला केवल मैं या कि यादवों की सशस्त्र, चतुरंग सेना? क्या चाहिए तुझे–मैं या कि यादव-सेना? यदि सेना चाहिए तो तुझे दाऊ से मिलना होगा। दाऊ का तो स्पष्ट कहना है कि इस युद्ध में हम किसी का भी पक्ष न लें।"

आगे-पीछे का तनिक भी विचार किये बिना और मन में किंचित् भी शंका किये बिना ही मेरा अर्जुन झट से झुक गया। चादर से ढँके हुए कृष्ण के चरणों पर अपना मस्तक रखते हुए उसने विनम्रता से कहा, "हे अच्युत, हर स्थिति में मुझे केवल तुम्हारा और मात्र तुम्हारा ही आशीर्वाद चाहिए।"

"तथाऽस्तु!" उसके मस्तक के किरीट पर हाथ रखकर कृष्ण ने हँसते-हँसते कहा। फिर दुर्योधन की ओर मुड़कर, युधिष्ठिर की तरह, उसने कहा, "सुयोधन तुम्हारे पास अब यादव-सेना को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प ही नहीं रहा। क्या है तुम्हारा निर्णय?"

दुर्योधन ने भी ढोंगी नम्रता से तनिक झुककर, हाथ जोड़कर मन में उठते आनन्द के उबाल को छिपाते हुए कहा, "जैसी यादवश्रेष्ठ की इच्छा। कौरवों को यादवों की सशस्त्र सेना स्वीकार है। कल ही मैंने बलराम भैया से सम्मति ली है। उसे बदलने की सामर्थ्य द्वारिकाधीश की वाणी में है, यह मैं जानता हूँ। अत: आपकी भी सम्मति लेने आया था। आपने वह दी, मैं कृतार्थ हो गया। एक ही नम्र प्रार्थना है..."

स्वयं दुर्योधन के मुख से अपनी वाणी का गौरव सुनते हुए कृष्ण सांकेतिक रूप में मुस्कराया। उसकी प्रार्थना क्या होगी यह भाँपकर उसने कहा, "हे कौरव, घबराओ मत। मैं शस्त्र

धारण नहीं करूँगा, यह मेरी प्रतिज्ञा है। मैं केवल प्रतोद धारण करूँगा–अश्वों को हाँकने हेतु। इस बात को ध्यान में रखते हुए यह माना जा सकता है कि इस युद्ध में मेरा होना और न होना समान है।"

दुर्योधन कुछ कम नहीं था। द्वारिकाधीश कृष्ण को वह भलीभाँति जानता था। उसने कहा, "मैं शस्त्र की नहीं, मौन की बात कर रहा हूँ।"

अब अपनी शैया से उठकर दुर्योधन के कन्धे थपथपाते हुए मेरे कृष्ण ने कहा, "सारथि के मौन रहने की तुम्हारी अपेक्षा बड़ी विचित्र है सुयोधन! तुम तो अपने सैनिकों को प्रेरित करने हेतु अवश्य चिल्लाओगे, और सारथि अपने अश्वों को प्रोत्साहित करने के लिए मुख न खोले, क्या यह अन्याय नहीं होगा? मैंने तुमसे कभी न्याय की माँग नहीं की हैं, लेकिन आज माँगता हूँ–उन निष्पाप जीवों को उत्तेजित करने के लिए मुझे यथेच्छ बोलने दो। मौन की शर्त मत रखो, सुयोधन।"

"तथाऽस्तु!" अपनी ज्येष्ठता को ध्यान में रखते हुए दुर्योधन ने आशीर्वाद देने के लिए अपना दाहिना हाथ उठाया।

कृष्ण मुस्कराया। उसकी वैसी मुस्कान अर्जुन ने पहले कभी नहीं देखी थी। उसकी ओर पीठ होने से दुर्योधन उस मुस्कान को देख नहीं पाया। मैं, केवल मैं ही उस मुस्कान की मन-ही-मन कल्पना कर सकती थी। उसमें कितना ब्रह्माण्ड छिपा है, यह समझ सकती थी। इन घटनाओं से एक विचित्र सत्य साकार हुआ। कौरवों के पक्षधर बलराम भैया को कृष्ण का निर्णय स्वीकार नहीं था, इसलिए वे सबको छोड़कर हिमालय की ओर चले गये। उनके पीछे-पीछे युद्ध को अस्वीकार करते हुए उद्धवदेव भी उस दिशा में चले गये। जाने से पहले वे अपने प्रिय बन्धु कृष्ण से मिले थे। किन्तु बलराम भैया उससे मिले बिना ही चले गये थे। यह उनके स्वभाव-धर्म के अनुकूल ही था।

भीमसेन ने कृष्ण के द्वारा भेजे गये गर्ग मुनि, मय, विश्वकर्मा, त्वष्टा, कमलाक्ष, विद्युन्माली आदि की सहायता से कुरुक्षेत्र में दृशद्वती के तट पर पाण्डवों का शिविर-संकुल खड़ा कर दिया था। उसमें पाण्डव-स्त्रियों के लिए अलग शिविर थे। त्रिशूल, तोमर, धनुष, बाण, चक्र आदि शस्त्रों के अलग-अलग भण्डार थे। महाराज विराट ने चेदि, मद्र, मणिपुर, गिरिव्रज आदि स्थानों पर विशेष दूत भिजवाकर बिखरी हुई पाण्डव-स्त्रियों को उपप्लाव्य बुलवा लिया था। द्वारिका से सुभद्रा और उत्तरा सशस्त्र सैनिकों के साथ उपप्लाव्य आ गयीं। हिडिम्बा को छोड़कर अन्य सभी पाण्डव-स्त्रियाँ उपप्लाव्य में एकत्र हो गयी थीं। छोटे-से उपप्लाव्य ग्राम का अब राजनगर में रूपान्तरण हो गया था। महाराज विराट ने पाण्डवों के लिए वहाँ आनेवाले सभी स्त्री-पुरुषों का अच्छा प्रबन्ध किया था। वह अपने नाम के अनुसार शरीर से तो विराट् थे ही, अब हमारे लिए वे मन से भी विराट बन गये थे।

द्वारिका की यादव-सेना के कुरुक्षेत्र की ओर चल पड़ने की सूचना मिल चुकी थी। हस्तिनापुर का चतुरंगदल सैन्य कब का कुरुक्षेत्र में पहुँच चुका था। कौरवों की सेना महाप्लावन में तटों को तोड़कर क्षण-क्षण उफनती गंगा की भाँति फैलने लगी थी। द्वारिका से अन्तिम आदेश आया–"सभी योद्धा अब अपने स्त्री-परिवार सहित उपप्लाव्य को छोड़कर कुरुक्षेत्र चले जाएँ और दृशद्वती के तट पर खड़े किये गये पाण्डव-सेना के शिविर-संकुल की ओर प्रस्थान करें।"

कृष्ण के आदेश के अनुसार मैं सुभद्रा और गर्भवती उत्तरा और अपनी सपत्नियों सहित

कुरुक्षेत्र के पाण्डव-शिविर में आ गयी। प्रमुख पाण्डव-योद्धाओं की स्त्रियाँ भी हमारे साथ थीं। स्वत: ही इस स्त्री-परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति करने का उत्तरदायित्व मुझ पर आ गया।

काम्पिल्यनगर से मेरा भ्राता धृष्टद्युम्न शिखण्डी और अन्य भ्राताओं सहित चार अक्षौहिणी सशस्त्र पांचाल-सेना लिये कुरुक्षेत्र में उपस्थित हुआ। उसके आने से कुरुक्षेत्र भर गया। पाण्डवों के सैनिक-शिविर में प्रतिदिन वृद्धि होने लगी। केकयराज बृहत्क्षत्र भी अपनी सेना सहित आ गये। काशीराज सुबाहु शैब्य सहित आ गये। उनके रथदल में तीस सहस्र रथ थे। चेदि देश के राजनगर शक्तिमती से शिशुपाल-पुत्र धृष्टकेतु अपने पुत्र वीतहोत्र को लेकर एक अक्षौहिणी सेना सहित आ गया। शिशुपाल के पश्चात् मेरे सखा कृष्ण ने ही उसे चेदि के सिंहासन पर बैठाया था। वत्सराज भी ससैन्य आ गये। विशेष बात यह थी कि द्वारिका का सेनापति सात्यकि अपने सैन्य सहित पाण्डव-शिविर में आ गया। अनाधृष्टि और कृतवर्मन् के कौरवपक्ष में सम्मिलित होने के आमन्त्रण और आदेश को उसने अस्वीकार किया था। 'जहाँ कृष्ण वहाँ मैं' कहकर वह सीधे हमारे पास आया था। यादवों का दूसरा शूर योद्धा कौरवों के पक्ष में चला गया था। उनके कुछ दल-प्रमुखों ने बलराम भैया की इच्छा के अनुसार इस युद्ध में तटस्थ रहना ही स्वीकार किया था। पाण्डव-सेना अब सात अक्षौहिणी हो गयी थी। स्त्रियों के शिविर में आकर भ्राता धृष्टद्युप्न प्रतिदिन मुझे और राजमाता को सैन्य की पूरी जानकारी दे जाता था। चकई की भाँति वह सात अक्षौहिणी पाण्डव-सेना के योद्धाओं के शिविरों में घूम रहा था। उसकी अचूक जानकारी के अनुसार हमारे शिविरों में गजदल, अश्वदल, उष्ट्रदल, रथदल, पदाति मिलकर साढ़े तेरह लाख सैन्य इकट्ठा हुआ था। भीमसेन, धृष्टद्युप्न भैया, विराट महाराज, धृष्टकेतु आदि उनके निवास, भोजन आदि के प्रबन्ध में व्यस्त थे।

अब चारों पतियों सहित मैं, भ्राता धृष्टद्युप्न, विराट महाराज, सात्यकि, धृष्टकेतु—हम सब प्रतीक्षा कर रहे थे केवल कृष्ण की! वही तो हम सबका सारथि था। अर्जुन उसी से मिलने तो द्वारिका गया था।

मार्गशीर्ष का शुक्ल पक्ष समाप्त होने को आया। तेरह योजन की परिधि के धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र को घेरनेवाला शरद् ऋतु का घना कोहरा अब छँटने लगा। हमारी विरुद्ध दिशा में खड़ी कौरव-सेना के संकुलों में पूरे ग्यारह अक्षौहिणी सैन्य जमा हुए थे। अर्थात् वह हमारी पाण्डव-सेना से डेढ़ गुना था। उस सेना में संशप्तक भी थे। वे प्रतिज्ञापूर्वक किसी का वध करने में निष्णात थे। कौरव-सेना में यवन, शक, गबल, बर्बर, किरात, कैकेय, वातधान आदि का समावेश था। शकुनि के गान्धार देश से घातकी युद्ध में प्रवीण सेनादल कुरुक्षेत्र में उपस्थित था। कपिश, काम्बोज, बाह्लीक, गान्धार आदि पश्चिम दिशा के यवन-शक कुलों का एक विशाल दल था। वे सब-के-सब कौरवपक्ष में सम्मिलित हुए थे। यह शकुनि की कुशलता थी। पाण्डवों के मामा शल्य अपने पुत्र ऋतायन सहित पाण्डवपक्ष में सम्मिलित होने हेतु मद्रदेश के शाकलनगर से निकले थे। मार्ग में ही दुर्योधन ने उन्हें बहुमूल्य उपहारों से सन्तुष्ट करके कौरवों के पक्ष में कर लिया था। अश्मक देश का राजा भी कौरव-शिविर में उपस्थित हुआ था। कौरवों की विराट् सेना अब उनकी भी गिनती से बाहर—ग्यारह अक्षौहिणी हो गयी थी। गजदल, अश्वदल, उष्ट्रदल, रथदल, पदाति मिलकर कौरव-सेना अब साढ़े इक्कीस लक्ष हो गयी थी।

लगभग चालीस लक्ष पराक्रमोत्सुक योद्धाओं से खचाखच भरे धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र की भूमि पर

सबके बाद आया कृष्ण का गरुड़ध्वज रथ। द्वारिका से आते हुए वह सर्वप्रथम नागेश्वर के शिव-मन्दिर में गया था। और वहाँ अर्जुन और दारुक सहित नागेश्वर के शिवलिंग पर अभिषेक करके बिल्वपत्र और शुभ्र पुष्प अर्पित करके, बन्द मत्स्यनेत्रों से उसने मन की सम्पूर्ण एकाग्रता के साथ शिव-स्तवन किया।

अपनी बुद्धि-सामर्थ्य से मानवी महायज्ञ का प्रलय-ताण्डव आरम्भ करने से पहले विलय-देवता शिव से एकरूप होकर ही वह आया था।

युद्ध की तिथि और युद्धस्थल तय होने के बाद दोनों पक्षों के हट्टेकट्टे लकड़हारों ने कुल्हाड़ों से, जिस भूमि पर युद्ध होनेवाला था–उस चार योजन लम्बी-चौड़ी भूमि पर खड़े, आकाश से स्पर्धा करनेवाले विविध वृक्षों को काट-काटकर युद्धभूमि तैयार की थी। कल से आरम्भ होनेवाले महायुद्ध में विविध शस्त्रधारी वीरशिरोमणि इसी प्रकार कट-कटकर धराशायी होनेवाले थे!

कृष्ण के गरुड़ध्वज रथ ने कौरवों के सेना-शिविरों के संकुल की ओर से कुरुक्षेत्र में प्रवेश किया। बहुतों ने उसे पहचान लिया। अब तक सब जान चुके थे कि वह पाण्डवों का पक्षधर है। फिर भी, दूर से ही क्यों न हो, उसके दर्शन करने हेतु उन विजयोत्सुक योद्धाओं ने शिविरों के द्वार-द्वार पर भीड़ लगा दी। 'वह आ गया–वह आ गया' कहते हुए वे सभी को नम्र अभिवादन करते मोरमुकुटधारी कृष्ण की ओर अँगुलि-निर्देश करने लगे।

उसके कुरुक्षेत्र में आगमन का समाचार वायु पर आरूढ़ होकर मेरे शिविर में पहुँचा। मैं समझ नहीं पा रही थी कि क्या करूँ! मैं उससे बहुत ही कुपित हुई थी। पहले तो उसने बलराम भैया और उद्धवदेव को द्वारिका से जाने दिया था। हमें पूरा विश्वास था कि यादव-सेना सहित कृष्ण हमारा है। किन्तु उसने प्रमाणित कर दिया था कि उसके विषय में किसी निश्चय पर पहुँचना असम्भव है। यादव-सेना खण्डित हो गयी थी। सब उससे मिलने गये, किन्तु मैं नहीं गयी। सबसे मिलकर वही मेरे शिविर में आ गया। मैं क्यों कुपित हूँ, यह वह कब का भाँप चुका था। उसकी ओर पीठ करके मुझे बैठी देखकर वह समझाने लगा–"कृष्णे, तेरे क्रोध को मैं समझ सकता हूँ। तनिक धैर्य धर। जो होगा उसे केवल देखती जा। युद्ध का यश सैन्य-संख्या पर निर्भर नहीं करता। मेरी सभी प्रतिज्ञाएँ और तेरी सभी इच्छाएँ पूरी होंगी। तूने अर्जुन को जो सूचना दी थी, वह उसने मुझे बतायी है। पाण्डवों ने नि:शस्त्र होते हुए भी मुझे ही स्वीकार किया, इसका मुझे परमानन्द है। मैं तेरे विश्वास को टूटने नहीं दूँगा। विश्वास रख, विजय तेरी ही होगी! अब तेरी अनुमति हो तो मैं चलूँ?"

उसके अन्तिम शब्दों ने तो मेरे मर्म पर ही आघात किया। सभी अर्थों में उससे कनिष्ठ होते हुए भी वह मेरी अनुमति माँग रहा था। उससे कुपित होनेवाली मैं कितनी मूर्ख थी! मैं झटके से उसकी ओर मुड़ गयी। झुककर पहले मैंने उसकी चरणधूलि माथे से लगायी। ऊपर उठकर उसकी ओर देखा। वह मुस्करा रहा था। उसका मुखमण्डल मुझे अपूर्व तेजस्वी दिखाई दिया। वर्षों तक स्मरण दिलाते रहनेवाले महायुद्ध को आरम्भ करने से पहले उसने मुझसे कहा, "कृष्णे, तेरे क्रोध को शान्त करना मैं भलीभाँति जानता हूँ। तेरे इस प्रणाम को ही तेरी अनुमति मानकर मैं तुझसे विदा लेता हूँ।" फिर मुड़कर वह चला भी गया। मैं सोच में पड़ गयी, मेरा सखा कृष्ण वास्तव में कौन है?

अन्तत: मार्गशीर्ष बदी द्वितीया का वह ऐतिहासिक दिन उदित हुआ। ब्राह्ममुहूर्त में ही दोनों पक्षों के सेनापतियों ने अपने-अपने सैन्य की व्यूह-रचना की थी। कृष्ण के हाथों सेनापति पद पर

अभिषिक्त हुआ हमारी सेना का सेनापति था मेरा भ्राता धृष्टद्युम्न। उसके पीछे सात अक्षौहिणी युद्धोत्सुक पाण्डव-सेना खड़ी थी। कौरवों के सेनापति थे पितामह भीष्म। उनके पीछे ग्यारह अक्षौहिणी कौरव-सेना खड़ी थी। मैं दूर अपने शिविर में थी। मेरे साथ पौरवी, उलूपी और चित्रांगदा, कुरेणुमती, विजया आदि सपत्नियाँ और उनकी सेविकाएँ थीं। भानुमती और सुभद्रा का शिविर अलग था। उस शिविर में अभिमन्यु की गर्भवती पत्नी उत्तरा भी थी। हमें रणभूमि दिखाई नहीं दे रही थी। दूर से हाथियों की चिंघाड़, अश्वों की हिनहिनाहट और उन्हीं में मिली सैनिकों के कोलाहल की केवल सम्मिश्र ध्वनि सुनाई दे रही थी।

धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र के पूर्व क्षितिज पर आकाशमणि सूर्य का तेजोबिम्ब धीरे-धीरे गगनमण्डल में चढ़ आया। अब प्रचण्ड कोलाहल सुनाई देगा इस विचार से, अतीव उत्सुकता से हमने कान खड़े किये। हम इतनी स्त्रियाँ वहाँ उपस्थिति थीं, किन्तु किसी के भी मुख से कोई शब्द नहीं निकल रहा था।

प्रत्येक स्त्री का मन रणभूमि पर पहुँच चुका था। सबसे पहले मुझे सखा कृष्ण के पांचजन्य शंख की परिचित ध्वनि सुनाई दी–उसके पीछे-पीछे धृष्टद्युम्न भैया के शंख की। सम्भवत: उसे प्रत्युत्तर देने हेतु पितामह भीष्म ने शंख फूँका होगा। उसके बाद मेरे पाँचों पतियों के शंखों की परिचित ध्वनियाँ सुनाई दीं। उसके पीछे-पीछे शरीर का रोम-रोम खड़ा कर देनेवाली शंखध्वनियों की तुमुल सम्मिश्र ध्वनि सुनाई पड़ी। दोनों ओर के गजदलों के हाथियों की चिंघाड़ सुनाई दी। अश्वों की सम्मिश्र हिनहिनाहट सुनाई दी और पता नहीं अचानक क्या हुआ! वे सभी ध्वनियाँ धीरे-धीरे कम होती गयीं और बन्द हो गयीं। हम सबको सम्भ्रम में डालनेवाली शान्ति छा गयी। मैं तो व्याकुल होकर उस स्त्री-परिवार से उठकर शिविर-द्वार में गयी। बावली जैसी मैं आँखों से बहुत दूर स्थित उस रणभूमि की ओर ही देखती रही! क्या हुआ? कुछ समझ में नहीं आ रहा था। युद्ध रुक तो नहीं गया? ऐसा हुआ तो मेरी प्रतिज्ञाओं का क्या होगा? मेरे इस विमुक्त केशपाश का क्या होगा? अनिश्चय की स्थिति में अपने-आप से बुदबुदाते, किसी से बातें किये बिना ही मैं शिविर में अनमनी-सी चक्कर काटने लगी। मेरे अन्दर की पाण्डव-महाराज्ञी शत-शत शरों से चुभोयी गयी-सी व्याकुल-विह्वला हो गयी। द्यूतसभा में अपमानित की जा रही थी तब भी मैं जितनी लज्जित नहीं हुई थी, उतनी मैं युद्ध के रुक जाने की कल्पना से ही लज्जित और व्यथित हो गयी। यदि किसी भी कारण युद्ध नहीं हुआ, रोका गया, तो मेरा वस्त्रहरण करनेवाले नीचों को और चुप रहकर वह सब देखनेवाले निर्लज्ज निर्बलों को दण्डित नहीं किया गया तो–तो महाराज्ञी द्रौपदी की कीर्ति निरर्थक हो जाएगी–कलंकित हो जाएगी! इतनी आत्मीय सखियाँ मेरे साथ थीं, किन्तु मेरे मन:क्षोभ को उनमें से कोई भी समझ नहीं सकती थी। किसी से बात करने को मेरा मन नहीं कर रहा था।

काट खानेवाली प्राणघाती शान्ति में लगभग एक घटिका बीत गयी। फिर अचानक जाने क्या हुआ, सैकड़ों शंखों की ध्वनियाँ, गज, अश्व और उष्ट्रों के विचित्र स्वर तथा भिन्न-भिन्न शस्त्रों की ध्वनियाँ और 'आरूऽढ़...आ ऽ रो ऽ ह...आऽक्रमणऽ' के उत्तेजक आह्वानों के सम्मिश्र नाद से समस्त कुरुक्षेत्र गूँज उठा।

कौरव-पाण्डवों के 'न भूतों न भविष्यति' रोमहर्षक महायुद्ध का आरम्भ हुआ था।

मैंने सुख की साँस ली। मेरे मन पर पड़ा हुआ हिमालय जैसा बोझा उतर गया। मैं पुन: अपने

स्त्री-परिवार से बातें करने लगी।

हम क्षत्राणियों पर रणभूमि पर घटित होनेवाली, थर्रा देनेवाली घटनाओं का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। निसर्गत: ही हमें ज्ञात होता है कि यह जीवन ही एक संग्राम है।

प्रतिदिन सुनाई देनेवाले एक-से-एक रोमहर्षक युद्ध-वृत्तान्त हम सब शान्तिपूर्वक सुनने लगीं। हममें से कोई स्त्री जब उसका कोई स्वजन युद्ध में वीरगति को प्राप्त हो जाता था, व्याकुल हो जाती थी, तब मैं उसे अपनी गोद में लेकर थपथपाते हुए शान्त किया करती थी। वे सब अब 'महाराज्ञी' के बदले मुझे 'दीदी' कहने लगी थीं। संयोग से सुभद्रा इस समय मेरे बहुत निकट हो गयी थी। वह भी अन्त:प्रेरणा से दुखिता स्त्रियों को सान्त्वना दिलाती थी।

युद्ध के तेरहवें दिन की सन्ध्या हमारे शिविर पर उतर आयी। आज तक समाचार देनेवाले दूतों ने जो समाचार दिये थे, युद्ध के निर्णय की दृष्टि से पाण्डवों के लिए वे आशादायक थे। अब तक पाण्डवों के किसी भी महान योद्धा का रणभूमि पर पतन नहीं हुआ था।

किन्तु आज गुरु द्रोणाचार्य के रचे चक्रव्यूह में व्यूह के केन्द्र-स्थान पर दुर्योधन-पुत्र लक्ष्मण और हमारे अभिमन्यु के बीच तुमुल युद्ध हुआ था। मूर्च्छित अभिमन्यु पर गदा-प्रहार करके लक्ष्मण ने उसका वध किया था।

जयद्रथ ने 'कहाँ है तेरी गदा?' कहते हुए उन्मत्त होकर मृत अभि की निष्प्राण देह पर लत्ताप्रहार किया था। जिस धरती की कीर्ति की रक्षा करने हेतु अभि ने वीरगति प्राप्त की थी, उसी धरती में उसका मुख गड़ा रहा और धड़ उलटा हो गया था!

उस वृत्तान्त को सुनते हुए मैं आगबबूला हो गयी। अपने शोकावेग को नियन्त्रित कर मैं वक्ष पीटकर 'अभि ऽ मेरा अभि ऽ' चिल्लाती हुई, आक्रन्दन करती सुभद्रा को सान्त्वना देने लगी। तभी सुभद्रा को सान्त्वना देने हेतु मेरा सखा कृष्ण और अर्जुन हमारे शिविर में आये। नित्य उन्नतग्रीव अर्जुन को आज नतग्रीव देखकर मेरा हृदय व्यथित हुआ। स्वयं को सँभालते हुए मैंने अर्जुन की भुजाएँ पकड़ीं और उसे झकझोरते हुए जोर से कहा, "मैं जयद्रथ का कटा मस्तक देखना चाहती हूँ। हे धनुर्धर, क्या मेरी इस इच्छा को तुम पूरा करोगे?"

स्वयं को नियन्त्रित करते हुए दु:खमग्न अर्जुन ने कहा–"हे कृष्णे, रणभूमि पर ही मैंने प्रतिज्ञा की है–कल सूर्यास्त से पहले मैं जयद्रथ का वध करूँगा, अन्यथा स्वयं जलती चिता पर चढ़ जाऊँगा। शान्त हो जा।"

मेरे कन्धे थपथपाते हुए कृष्ण ने भी कहा, "तेरी इच्छा पूरी होगी। अर्जुन की प्रतिज्ञा भी पूरी होगी। चिन्ता मत कर।"

मुझे और सुभद्रा को सान्त्वना देकर कृष्ण और अर्जुन अपने शिविर की ओर चले गये। पुत्र-शोक से सिसकती सुभद्रा की पीठ पर हाथ फिराती मैं कहती रही–"चुप हो जा...सँभल जा...शान्त हो जा सुभद्रे!" अपने इकलौते पुत्र को वह खो चुकी थी। उसके दु:ख की मैं कल्पना ही नहीं कर सकती थी। कृष्ण के किसी समय निकाले उद्‌गार मुझे स्पर्श कर गये–'याज्ञसेने, युद्ध अर्थात् महायज्ञ! उसमें किस-किस को किस-किस प्रकार की समिधा अर्पित करनी पड़ेगी, यह कहा नहीं जा सकता।' मेरी समझ में नहीं आ रहा था, यह महायज्ञ और किस-किस की और कितनी समिधाओं की माँग करनेवाला था!

अर्जुन

मैं–अर्जुन! विख्यात पाँच पाण्डव-भ्राताओं में से एक। कुन्ती माता का तीसरा पुत्र? चौथा? या छठा? मेरा मन निरन्तर अपने निश्चित क्रमांक को ढूँढ़ता रहा, किन्तु वह मुझे कभी मिला ही नहीं। यद्यपि श्रीकृष्ण के इने-गिने सखाओं में प्रथम क्रमांक मेरा ही था। इस बात पर मैंने आजीवन वक्ष फुलाकर गर्व भी किया।

कुन्ती माता क्वचित् ही मेरा निर्देश 'छुटके' के नाम से किया करती थी। थोड़ी आयु बढ़ने पर मुझे एक जीवन-सत्य ज्ञात हुआ कि 'छुटकी' सन्तान में स्वभावत: ही अनेक दुर्लभ गुण भी संगठित हो जाते हैं। मुझे केवल इतना ही कहना है कि जीवन में मैंने दो ही नातों को श्रेष्ठ माना है–उनमें पहला है कुन्ती माता की छुटकी सन्तान होना और उससे भी अधिक है–श्रीकृष्ण का प्रथम श्रेणी का सखा होने का! इन दो नातों ने जीवन में मुझे बहुत-कुछ दिया। मुझे जो भी कीर्ति प्राप्त हुई, वह इन्हीं के कारण।

मैंने जीवन में केवल श्रीकृष्ण को ही सर्वश्रेष्ठ माना। प्रत्येक मनुष्य को अपने 'स्व' पर गर्व होता है। मुझे इस बात पर गर्व था कि मैंने अपने 'स्व' को श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित कर दिया है।

पहले-पहल तो अन्य सभी की भाँति मैं भी उसको 'श्रीकृष्ण' कहकर सम्बोधित किया करता था। उसकी 'श्री' उपाधि की अनेक प्रकार की झाँकियाँ यादवों के पुरोहित मुनिवर गर्ग ने मुझे कई बार समझायी थीं। जीवन के कई प्रसंगों में मुझे भी उनकी तीव्रता से प्रतीति हुई थी। 'श्रीकृष्ण' से बातें करते समय मुझे प्रतीत होती थी उसकी आकाश-सदृश ऊँचाई। वह मुझे आकाश ही की भाँति व्यापक और असीम लगता था।...किन्तु स्वयंवर के पश्चात् जब द्रौपदी मेरे जीवन में आयी, तब से उसको 'कृष्ण' कहकर सम्बोधित करना ही उचित है, यह मुझे धीरे-धीरे ज्ञात होता गया। द्रौपदी के इस मत का कुन्ती माता ने भी कई बार समर्थन किया, जो मुझे भी ठीक जँचा। उसको 'कृष्ण' कहते समय कभी-कभी आभास होता था कि वह मेरे मुट्ठी-भर हृदय में समा गया है, तो कभी-कभी यह प्रतीत होता था कि उसके आकाश जैसे विशाल हृदय में मैं ही अपने अस्तित्व के कण-कण के साथ समा गया हूँ।

आगे चलकर तो जब कभी मुझे उसको प्रतीति दिलानी होती थी कि वह मुझसे कितना महान है, तब अपने-आप ही मेरे मुख से सम्बोधन निकलता था–'हे श्रीकृष्ण!' और जब कभी मुझे उसको यह आभास दिलाना होता था कि मुझसे कुछ भूल हो गयी है, मैं उससे कितना न्यून हूँ, तब-तब मैं सहज ही कह जाता था–'हे कृष्ण!' मैं इसका अभ्यस्त हो गया था।

यह 'श्रीकृष्ण' और 'कृष्ण' मेरे सम्पूर्ण जीवन को परिवेष्टित करके भी दशांगुल शेष ही रह

गया था। मेरे भ्राता, अन्य पाण्डव-योद्धा, तथा उनसे सम्बन्धित नारियाँ आदि मुझे भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित किया करती थीं–वही बात यादवों की भी थी। यादवों में मुझसे बात करने का केवल तीन व्यक्तियों का ढंग अन्य जनों से अलग था–वे थे कृष्ण, रुक्मिणी भाभी और ऊधो भैया।

प्राय: मेरे सभी भ्राता और यादव मुझे पार्थ, धनंजय, फाल्गुनी, भारत, अर्जुन आदि नामों से सम्बोधित करते थे। मेरे 'अर्जुन' नाम का स्पष्ट अर्थ मुझे कृष्ण ने ही समझाया था। कुरुक्षेत्र में सूर्यकुण्ड के तट पर, हमारी पहली ही भेंट में, मेरी आँखों में गहराई तक झाँकते हुए उसने कहा था, "अर्जुन नाम केवल तुझे ही शोभा देता है, अन्य कोई उसके आसपास भी नहीं फटक सकता। अपने नाम का अभिप्राय भलीभाँति जान ले और सदैव ध्यान में रख। अर्जन करने का अर्थ है प्राप्त करना। इस जग में कीर्ति दिलानेवाला जो भी ज्ञान है, उसको अर्जित करने में ही तेरे जीवन की सफलता है।" तब से वह मुझे 'अर्जुन' कहता आया है। कभी-कभी बड़े प्रेम से वह मुझे सखा भी कहा करता था। मुझे अनुभव हुआ था कि जिस दिन वह मुझे 'सखा' कहता था, वह पूरा दिन अपरिमित आनन्द में व्यतीत होता था। उस दिन मेरे हाथों से कोई-न-कोई पुण्यकर्म हो ही जाता था। अत: भीतर से सदैव मेरी यही इच्छा रहती थी कि वह मुझे सदा 'सखा' ही कहा करे। जब भी वह मुझे प्रेम से 'सखा' कहता था, मेरा मुख अनजाने में ही प्रफुल्लित हो उठता था। यह बात भी मुझे ऊधो भैया और द्रौपदी के कहने पर ही ज्ञात हुई थी।

मुझे यह सूक्ष्म आभास हो गया था कि कुछ ही इने-गिने व्यक्तियों को वह सखा मानता था, सखा कहता था। उनमें थे उसके सारथि दारुक, मित्र सुदामा, महात्मा विदुर, हस्तिनापुर के मन्त्री संजय और सबसे महत्त्वपूर्ण थे उद्धव भैया।

उसको केवल द्रौपदी को ही 'सखी' सम्बोधित करते हुए मैंने सुना था। कभी कुन्ती माता से तो कभी बलराम भैया से मैंने सुना था कि बचपन में गोकुल में उसने राधिका को सखी कहा और माना था। स्वयं कृष्ण ने ही मुझे बताया था कि राधिका की स्मृति में ही वह नित्य प्रफुल्लित शुभ्र-धवल पुष्पों की वैजयन्तीमाला को अपने वक्ष पर धारण किये रहता है।

इसीलिए राधिका की एक काल्पनिक मूर्ति मेरी आँखों के समक्ष आ जाती थी। कृष्ण की दोनों सखियों–राधिका और द्रौपदी के विचारों में जब मैं उलझ जाता था, तो मुझे रुक्मिणी भाभी का स्मरण अवश्य हो आता था। वे कृष्ण की सर्वाधिक प्रिय पत्नी थीं। कुन्ती माता के बाद वे मेरे लिए वन्दनीय थीं। कृष्ण की अन्य सात पत्नियों को भी मैं भाभी ही कहा करता था। वे भिन्न-भिन्न स्वभाव की थीं। कृष्ण के द्वारा द्वारिका में पुनर्वास करवायी गयीं कामरूप की सहस्रों नारियों का ध्यान जब मन में आता था, तो उसी के शब्दों में कहने को जी करता था–'किसी भी वीर योद्धा की योग्यता तेरे आसपास भी फटकनेवाली नहीं है।' वास्तव में नारीत्व का जो अर्थ उसे प्रतीत हुआ, वह हम पाण्डव, कुरु, यादव, विराट, पांचाल आदि क्षत्रिय-समूहों में से किसी को भी प्रतीत नहीं हुआ था। मैं उसको 'श्री' मानता था, इसका यह भी एक प्रमुख कारण था। उसके 'श्री' रूप की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करते हुए कुन्ती माता ने कहा था, "अर्जुन, मेरा कृष्ण अपने सम्पर्क में आनेवाली किसी भी नारी के साथ किस प्रकार का आचरण करता है, इस बात को तू सूक्ष्मता से समझ। उसका यह आचरण ही संस्कार है।"

नियम-भंग होने से जब मुझे तीर्थयात्रा पर जाना पड़ा था, उस भ्रमण में मैंने माता के इन संस्कारों के कारण ही, नागकन्या उलूपी से विवाह किया था। तब श्रीकृष्ण द्वारा जाम्बवतीदेवी से

किये गये विवाह का आदर्श ही मेरे सम्मुख था। हिडिम्बा से विवाह करते समय भीम भैया के समक्ष भी यही आदर्श था। अपने इन दोनों सुहृदों को स्मरण करते हुए ही मैंने बालविधवा नागकन्या उलूपी को स्वीकार किया था।

इस प्रकार जब मैं विगत जीवन का सिंहावलोकन करने लगता हूँ, तो मुझे गन्धमादन पर्वत का धुँधला-सा स्मरण हो आता है। हम पाँचों भ्राताओं का जन्म गन्धमादन पर्वत पर ही हुआ था। राज्य-भाग के रूप में हमें खाण्डववन देते समय शकुनि ने कृष्ण के समक्ष ही व्यंग्योक्ति की थी–'पाण्डव वनों के अभ्यस्त हैं।' उसने भले ही राजनीतिक व्यंग्य का प्रयोग किया हो, हमारे लिए तो वह अनुभव किया हुआ जीवन-सत्य ही था। हमारा जन्म हुआ गन्धमादन पर्वत-श्रेणि के शतशृंग शिखर पर। भविष्य में वनवास के समय मुझे तो नौ वर्ष तक गन्धमादन पर्वत-श्रेणियों में ही रहना पड़ा। हमने राज्य खड़ा किया–वह भी खाण्डववन में। वनवास स्वीकार करने के पश्चात् हमारा वास रहा काम्यक और द्वैतवन में। कुरुक्षेत्र के 'न भूतो न भविष्यति' महायुद्ध के पश्चात् कुछ वर्ष इन्द्रप्रस्थ पर शासन करके अन्तिम महाप्रस्थान के लिए हम हिमालय चले गये–हिमवन में! पाण्डव और वन मिलकर जन्म से अन्त तक द्वन्द्व-समास था। वनों से निरन्तर सम्पर्क में रहने से ही सम्भवत:, विपरीत स्थितियों में भी हमारा मन निर्मल, निश्छल रहा। मैंने और कुन्ती माता ने इसे सखा कृष्ण की कृपा मान लिया। श्रीकृष्ण ने ही हमें सिखाया था–'मन में मंगल हो तो वन में भी मंगल हो जाता है।'

हम पाँचों भ्राता ऊपर से तो जग को अलग-अलग दिखाई देते थे। यह भी सत्य है कि हमारे स्वभाव भी मूलत: अलग-अलग ही थे। किन्तु हम पाँचों का अस्तित्व किसी बलिष्ठ मुष्टि की भाँति अभिन्न और अभेद्य था। उसे इस प्रकार बनाने में सबसे अधिक श्रेय था कुन्ती माता का और उसे पुत्रवधू के रूप में प्राप्त द्रौपदी का भी! हम पाँचों भ्राता भलीभाँति जानते थे कि हमें गढ़ने में हमारे प्रिय सखा श्रीकृष्ण की जो भूमिका है, उसे किसी भी तुला पर नहीं तौला जा सकता।

हमारे जीवन में आमूल परिवर्तन उत्पन्न करनेवाली कुछ अविस्मरणीय घटनाएँ घटीं। पहली ही घटना थी लाक्षागृह की। दूसरी थी द्रौपदी-स्वयंवर की। तत्पश्चात् खाण्डववन-दाह, इन्द्रप्रस्थ का निर्माण, जरासन्ध-वध, राजसूय यज्ञ, शिशुपाल-वध, युधिष्ठिर का द्यूत-सम्भ्रम, द्रौपदी की विडम्बना–ऐसी कई घटनाएँ थीं। इनमें से किसी भी प्रसंग के निमित्त हमारी एकता भंग होने की प्रबल सम्भावना थी। किन्तु ऐसा हुआ नहीं। इसका कारण था, जीवन के पहले चरण में हमें प्राप्त कुन्ती माता का प्रेरणादायी मार्गदर्शन और दूसरे चरण में प्राप्त श्रीकृष्ण का अमोल कृपाप्रसाद।

व्यक्तिश: मैं तो उसका परमसखा था। इसीलिए भारतीय महायुद्ध में हताश और किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाने पर मुझे उसने हितोपदेश दिया था।

उस अमर हितोपदेश के लिए उसने केवल मुझे ही क्यों चुना होगा? इस युद्ध में पाण्डवों का सेनापति था पांचाल योद्धा धृष्टद्युम्न। मुझे किंकर्तव्यविमूढ़ हुआ देखकर वह मुझे नन्दिघोष रथ पर ही छोड़कर सेनापति धृष्टद्युम्न के पास जा सकता था। मेरी सेना को धृष्टद्युम्न के हाथों सौंपकर वह युद्ध लड़ सकता था। किन्तु उसने ऐसा नहीं किया। उसका मुझसे विशुद्ध प्रेम ही इसका कारण था।

गीता का अजर-अमर तत्त्वज्ञान सुनाने हेतु उसने मन-ही-मन मेरे ज्येष्ठ भ्राताओं–युधिष्ठिर और भीमसेन को भी अवश्य परखा होगा। उसकी इस सत्त्व-परीक्षा में युधिष्ठिर खरा क्यों नहीं

उतरा होगा? युधिष्ठिर ने प्रमाणित ही कर दिया था कि वह अपनी मनुष्यता को भी भुला देनेवाले द्यूतकर्म जैसे व्यसन के वशीभूत हो सकता है, मुझे लगता है, यही उसका कारण होगा। अपने त्यागोन्मुख स्वभाव को छोड़कर, स्वयंवर में मेरे द्वारा जीती गयी द्रौपदी की युधिष्ठिर ने अभिलाषा व्यक्त की थी, इस बात को कृष्ण भूला नहीं था। कृष्ण ने गीता का जो तत्त्वज्ञान मुझे कह सुनाया था, उस प्रकार के तत्त्वज्ञान की बातें युधिष्ठिर तो सदा ही कहता आया था। किन्तु उसकी बातों का हम चारों भ्राताओं पर कुछ विशेष प्रभाव नहीं पड़ा—भीमसेन पर तो तनिक भी नहीं। ऐसा क्यों होता था? इसलिए कि युधिष्ठिर जीवन-भर जो कहता आया था, सत्त्व-परीक्षा के समय उसकी करनी वैसी नहीं होती थी। वास्तव में ज्येष्ठ होने के नाते पराक्रम का सर्वाधिक दायित्व उस पर ही था। ज्येष्ठत्व के अधिकार से वह इन्द्रप्रस्थ के सिंहासन पर आसीन हो गया था, परन्तु जिस श्रीकृष्ण की अमोल सहायता से इन्द्रप्रस्थ का निर्माण हो पाया था, उसकी द्वारिका नगरी के दर्शन करने की इच्छा भी उसने कभी व्यक्त नहीं की थी और न ही कभी वह वहाँ गया। इसीलिए किसी विशेष अवसर पर मैं श्रीकृष्ण को 'भैया' भी कहता था, किन्तु युधिष्ठिर को युधिष्ठिर अथवा महाराज ही कहा करता था।

कभी-कभी मेरे मन में विचार आता था, यदि मैं अथवा भीमसेन ज्येष्ठ होते तो? हम दोनों में से कोई इन्द्रप्रस्थनरेश बन जाता तो? किन्तु अपना यह विचार मैंने कभी व्यक्त नहीं किया। क्या मौन रहना मेरी दुर्बलता थी? नहीं। कुन्ती माता और श्रीकृष्ण के वचनों को मैंने जीवन-भर शिरोधार्य किया था—मनःपूर्वक। उनके चरणों में निरपेक्ष भक्ति ही मेरे जीवन की शक्ति थी, बल्कि यही मेरे जीवन का सार था। कुन्ती माता ने सदैव ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा में रहने को मुझसे कहा था। कृष्ण ने कई बार, कई उदाहरणों से मुझे यह समझाया था। इसीलिए महाराज युधिष्ठिर के पाँव के अँगूठे के संकेत पर हम सब अनुज अपने मुँह की बात भी अधूरी छोड़कर चुप हो जाते थे। द्रौपदी की विडम्बना के समय अकेला भीमसेन ही आपे से बाहर हो गया था।

अपने भ्राता अपने पूरे वश में हैं, इस बात का युधिष्ठिर को एक अनजान-सा सूक्ष्म अहंकार था। कृष्ण को इसका पूरा ज्ञान था। यदि गीता के कालजयी जीवन-तत्त्वज्ञान का उपदेश उसने उसको दिया होता तो भान रहित होकर द्यूत खेलनेवाले युधिष्ठिर ने उस ज्ञान के सहारे घटिया प्रवचन देते हुए मन्दिर-मन्दिर भ्रमण किया होता!

तब गीता का उपदेश देने के लिए श्रीकृष्ण ने महाबली, सामर्थ्यशाली भीमसेन को क्यों नहीं चुना? भीमसेन महासामर्थ्यशाली है, इतना ही सब जानते थे। जब उसकी सामर्थ्य में ज्वार आता था, वह अनियन्त्रित हो जाता था। उसको प्रोत्साहित करना बहुत सरल था, किन्तु नियन्त्रण में लाना उतना ही कठिन! श्रीकृष्ण स्वयं एक समर्थ मल्लयोद्धा था। सबकी धारणा थी कि जरासन्ध से मल्लयुद्ध के समय उसने भीमसेन को आगे किया था। मेरी ऐसी धारणा नहीं थी। गिरिव्रज में कई दिन चले उस मल्लयुद्ध के समय भीमसेन आपे से बाहर हो जाता तो? तो अपराजेय जरासन्ध अवश्य ही उसका लाभ उठाता। भीमसेन का बाहुकण्टक दाँव उलटकर यदि जरासन्ध भीमसेन के कण्ठ में ही बाहुकण्टक कस देता तो? तो श्रीकृष्ण आगे आ जाता। निःसंकोच वह भीमसेन को अँगूठा उठाकर अभय माँगने का संकेत करता और उसी अखाड़े में वह जरासन्ध को ललकारता। मैं भलीभाँति जानता था कि इसी दाँव पर उसने कंस जैसे अजेय मल्ल का वध किया था।

द्वन्द्व हो, रणभूमि हो अथवा दैनन्दिन जीवन हो, श्रीकृष्ण हिमशैल की भाँति था, जिसका

अल्पांश ही ऊपर दिखाई देता है और बृहदांश सदैव जल की सतह के नीचे ही रहता है।

भीमसेन की दूसरी दुर्बलता थी उसका आहार और निद्रा। अत: उसने भीम को भी नहीं चुना था।

गीतोपदेश देने के लिए श्रीकृष्ण ने मुझे ही क्यों चुना था? सच कहूँ तो यह प्रश्न मेरे मन में कभी नहीं उठा। क्योंकि मैं 'मैं' था ही नहीं–मैं था श्रीकृष्ण का श्वास। उसके बिना मेरा जीवन पूर्ण हो ही नहीं सकता था। दूसरे अर्थ में मेरा उसके विषय में कुछ कहना, अपने ही विषय में कुछ कहने जैसा होगा।

पहले-पहल कोई भी कार्य करने के पूर्व मैं उससे पूछा करता था कि यह कार्य क्यों करना है? कैसे करना है और इसका परिणाम क्या होगा? यदि यह कार्य नहीं किया जाए तो क्या होगा? हर समय उसने मेरे प्रश्नों को इस प्रकार सुलझाया था कि मैं जान गया–जिस प्रकार जल के प्रचण्ड प्रवाह को दो दुर्बल हाथों से रोका नहीं जा सकता, उसी प्रकार कृष्ण के विचार-प्रवाह को भी नहीं रोका जा सकता! किसी-किसी समय तो मुझे स्पष्टत: प्रतीत हो गया था कि पितामह भीष्म और श्रीकृष्ण जलपुरुष हैं, फिर भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। और भी एक जलपुरुष का अन्तःकरण से मुझे आभास हो रहा था। किन्तु वह कौन है, यह स्पष्ट नहीं हो रहा था।

जब मैं श्रीकृष्ण के विषय में सोचने लगता हूँ, घटनाओं के मृग-झुण्ड मेरे मन में तीव्र गति से चौकड़ियाँ भरने लगते हैं। उनमें से किसी एक पर दृष्टि जमाना कठिन हो जाता है। अत: जैसे-जैसे मुझे बातें स्मरण में आ रही हैं, उन्हें मैं इस कृष्णार्जुन-गाथा में कह रहा हूँ। मैं जानता हूँ, मुझे गाण्डीव धनुष के साथ प्राप्त अक्षय तूणीर की ही भाँति उसका जीवन है–घटनाओं से खचाखच भरा हुआ!

जैसे-जैसे मैं उसके साथ अपने सान्निध्य का अभिप्राय जानने का प्रयास करता हूँ, घने अरण्य में भटके बालक की भाँति मेरी स्थिति हो जाती है। उसको नापने के लिए मेरा कोई भी माप पूरा नहीं पड़ता। किसी भी ओर से उसको देखने पर तीव्रता से यही प्रतीत होता है कि वह अथाह है, असीम है–सुनील आकाश की भाँति! पर्णकुटी की छत में से दिखाई देनेवाले आकाश-खण्ड और पर्णकुटी के बाहर सुदूर दृष्टि डालने पर सर्वत्र दिखनेवाली आकाश की व्याप्ति से जो अनुभूति होती है, वही श्रीकृष्ण-दर्शन से होती है। इस अनुभूति की मुझे प्रतीत हुई झाँकियाँ ही मैं खोलकर दिखा रहा हूँ। मेरा तनिक भी हठ नहीं है कि वे क्रमबद्ध ही हों।

सम्प्रति मुझे बार-बार स्मरण हो आती है श्रीकृष्ण से हुई हमारी प्रथम भेंट–जो कुरुक्षेत्र के सूर्यकुण्ड के तट पर, वह भी सूर्यग्रहण के दिन हो गयी थी। आज समझ में आ रहा है कि यद्यपि उस दिन सूर्यग्रहण था, मेरे जीवन का तो उसी दिन से सूर्योदय आरम्भ हो गया था। मेरे मन में कई बार यह जिज्ञासा हुई कि उसकी हमसे प्रथम भेंट इसी स्थान पर क्यों हुई होगी? इस प्रश्न का उचित उत्तर मुझे कभी नहीं मिला। मैंने किसी-न-किसी निमित्त आर्यावर्त-भर भ्रमण किया–कभी तीर्थयात्रा के निमित्त तो कभी दिग्विजय के निमित्त। मेरे जीवन में जब कभी विश्राम का समय आया, मुझे कुरुक्षेत्र जाने की तीव्र इच्छा हुई। इस स्थान पर अनेक जलसम्पन्न सरोवर थे। भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों से आये कई साधनालीन तपस्वियों से यहाँ भेंट हो जाती थी। प्रज्ञावान ऋषि-मुनि यहाँ मिलते थे। अलग-अलग राज्यों से आये वीर योद्धाओं से भी यहाँ भेंट हो जाती थी। मेरी जीवन-गंगा में कुरुक्षेत्र एक प्रशस्त घाट की भाँति था। लगभग तेरह योजन का

यह परिसर अनेकानेक वृक्ष, पशु-पक्षियों से परिपूर्ण था। यह कहना आवश्यक है कि कुरुक्षेत्र न तो हमारे इन्द्रप्रस्थ गणराज्य की सीमा में था, न कुरुओं के हस्तिनापुर की सीमा में। दोनों गणराज्यों से त्रिकोण बिन्दु पर स्थित था वह।

कुरुक्षेत्र में हुई श्रीकृष्ण से पहली ही भेंट में मुझे लगा कि वीरासन पर बैठकर उसके चरणों में प्रणाम निवेदित करूँ। मुझे ऐसा क्यों लगा, प्रथम ही भेंट में मुझे और क्या-क्या प्रतीत हुआ–इसे खोजने का, जानने का मैंने जीवन-भर प्रयास किया। इसका उचित कारण मैं कभी ढूँढ़ नहीं पाया। इसका ज्ञान मुझे तभी हुआ, जब विराट् महायुद्ध के आरम्भ में श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र पर ही मुझे गीतोपदेश दिया। जो मुझे ज्ञात हुआ, उसी में मेरे जीवन का सार निहित था, वह था–श्रीकृष्ण आर्यावर्त की समूची मानव-जाति के साध्य पर ध्यान देनेवाले द्रष्टा हैं, और मैं उस साध्य का एक साधनमात्र हूँ।

वह दूसरी बार हमें मिला द्रौपदी-स्वयंवर के समय–काम्पिल्यनगर में। बहुतों की धारणा है कि इसी समय वह हमसे पहली बार मिला। कुन्ती माता सहित हम पाण्डव बचपन में ही गन्धमादन पर्वत से हस्तिनापुर चले आये। कुछ ही दिनों में द्वारिका में श्रीकृष्ण को इसकी सूचना मिल गयी। वसुदेव मामा के कहने पर वह हमारी पूर्ण जानकारी प्राप्त कर रहा था। ठीक सूर्यग्रहण के मुहूर्त के समय वह उद्धव देव के साथ पहली बार कुरुक्षेत्र में हमसे मिला था।

दूसरी बार काम्पिल्यनगर में, द्रौपदी-स्वयंवर के समय हमारी भेंट हुई। मुझे पता ही नहीं था कि वह भी स्वयंवर के लिए आया है। उस स्वयंवर की तीन प्रमुख घटनाएँ मेरे अन्तःकरण पर छापे की भाँति अंकित हो गयी हैं। पहली घटना थी–सूतपुत्र कर्ण का सीना ताने हुए आकर स्वयंवर का धनुष उठाना। उसी क्षण उसकी कायिक चेष्टाओं को देखते हुए मुझे तीव्रता से आभास हुआ था कि श्रीकृष्ण और पितामह भीष्म की भाँति कर्ण भी जलपुरुष ही है। लेकिन दूसरे ही क्षण मैंने उस विचार को झटक दिया। एक सूतपुत्र की पितामह से और कृष्ण से समानता हो ही नहीं सकती। बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि मेरे ही बाण से कर्णपुत्र सुदामन् की मृत्यु हो गयी थी। उससे क्रोधित होकर कर्ण ने मेरे वध की प्रतिज्ञा की थी। दूसरी घटना थी स्वयंवर-मण्डप में द्रौपदी के मुख से निकले उद्‌गार! साधारणत: अपने ही स्वयंवर में कोई क्षत्राणी स्वयं कुछ कहे, यह सम्भव ही नहीं था। किन्तु द्रौपदी ने स्पष्ट, कठोर शब्दों में कहा था, "मैं किसी सूत की पत्नी अथवा पुत्रवधू नहीं बनूँगी।" तीसरी घटना थी–काम्पिल्यनगर में जिस कुम्भकार के घर हम ठहरे थे, वहाँ आकर कृष्ण, बलराम भैया और उद्धवदेव का हमसे मिलना। सचमुच, उस दिन कृष्ण हमसे न मिलता तो? द्रौपदी ने उस दिन मुझ पर जिस प्रकार दृष्टिक्षेप किया था, उसे ध्यान में रखते हुए, सम्भव है, मैंने उसके विभाजन का तीव्र विरोध किया होता। मेरे मन में ऐसा प्रबल विचार आ भी गया था। किन्तु उसी दिन श्रीकृष्ण और कुन्ती माता की एक अमिट मुद्रा मेरे मन पर अंकित हो गयी कि इन दोनों की अवज्ञा करना कभी भी उचित नहीं होगा।

द्रौपदी का हम पाँचों भ्राताओं की पत्नी बनना किस प्रकार उचित है, यह श्रीकृष्ण ने हमें समझाया था। द्रौपदी को भी उसने उसके स्थान का ज्ञान कराया था। कुन्ती माता ने उसके कथन का समर्थन किया था। उसी दिन मुझे इस सत्य का वास्तविक ज्ञान हुआ था कि अनेक संकटों से धैर्य के साथ जूझनेवाली मेरी विधवा माता के पीछे हिमालय की भाँति कोई खड़ा है, तो वह है एकमात्र श्रीकृष्ण।

द्रौपदी-स्वयंवर की घटना के ही पश्चात् मेरे और कृष्ण के दृढ़ भावबन्ध का आरम्भ हो गया। मेरे स्थान पर कोई अन्य क्षत्रिय होता तो, स्वयंवर में जीती गयी अपनी पत्नी का विभाजन करवाने में सम्मति देनेवाले कृष्ण के लिए उसके मन में भ्रान्त धारणा के कारण शत्रुता की भावना घर बना लेती। मेरे मन में उसके प्रति ऐसी भावना कभी नहीं बनी। आगे चलकर द्रौपदी उसकी प्रिय सखी बन गयी, यह बात मुझे तनिक भी नहीं अखरी। इसके विपरीत जैसे-जैसे घटनाएँ घटती गयीं, कृष्ण के ही माध्यम से मुझे अपनी पत्नी द्रौपदी का अधिकाधिक परिचय होता गया। यही नहीं, मेरी कुन्ती माता की भी 'माता' के रूप में अन्य भ्राताओं की अपेक्षा अधिक पहचान होती गयी। मैं केवल माता को ही नहीं, समस्त सजीव जगत् के–अखण्ड जीवन-धारा के सभी अंगों को मैं जानने लगा।

हम पाँचों भ्राताओं के लिए द्रौपदी के साथ एकान्त के नियम श्रीकृष्ण और कुन्ती माता ने निश्चित किये थे। हमारा द्रौपदी के साथ किस प्रकार का व्यवहार होना चाहिए, यह कृष्ण ने हमें समझाया था। कुलवधू के नाते द्रौपदी का आचरण किस प्रकार होना चाहिए, यह हमारी अनुभवी कुन्ती माता ने निश्चित किया था। श्रीकृष्ण अपनी अपेक्षा औरों के लिए कितनी सूक्ष्मता से सोचता है, यह हम इस समय जान गये थे।

पतियों के साथ के एकान्त, गर्भधारण और प्रसूति तथा उसके पश्चात् के नियम और शिशु-पालन आदि के बारे में कुन्ती माता द्रौपदी का पूर्ण मार्गदर्शन किया करती थीं। इस प्रबन्ध के कारण हम भ्राताओं में कभी विक्षेप-निर्माण नहीं हुआ।

शिशु जब बोलने लग जाता था, द्रौपदी उसे हम सबको तात कहना सिखाती थी। किन्तु उसमें एक सूक्ष्म-सा अन्तर होता था। अपने जन्मदाता के अतिरिक्त अन्य साभी को वह उनके नाम के आगे 'तात' जोड़कर 'अर्जुनतात–भीमतात' कहा करता था। द्रौपदी के पाँचों पुत्र–प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकीर्ति, शतानीक श्रुतसेन–हम सब भ्राताओं को अपने ही पुत्र लगते थे।

खाण्डववन-दहन के निमित्त मेरा श्रीकृष्ण के साथ स्नेहबन्ध अधिकाधिक प्रगाढ़ होता गया। कुरुओं के उदार नेता दुर्योधन और शकुनि ने राज्य-भाग के रूप में हम पाण्डवों को खाण्डववन का घना अरण्य दे दिया था। मुझे ज्ञात दुर्योधन का वास्तविक रूप यहीं स्पष्ट कर देना आवश्यक है। उसके नाम के अनुसार उसको युद्ध में जीतना कठिन था। युद्ध-काल के अतिरिक्त अन्य समय, जीवन में भी उसे जान लेना कठिन था। हस्तिनापुर के प्रजाजनों के समक्ष वह अपने निन्यानवे भ्राताओं से असीम प्रेम का दिखावा करता था। किन्तु निजी जीवन में अपने कुछ इने-गिने भ्राताओं के अतिरिक्त किसी के प्रति उसके मन में तनिक भी प्रेम, आत्मीयता नहीं थी। वह न्यायोचित अधिकार से अथवा ज्येष्ठता के क्रम में कुरु-सिंहासन का युवराज नहीं है, इस बात को वह स्वयं भलीभाँति जानता था। उस पद पर हमारे ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर का अधिकार है, यह भी वह पूर्णत: जानता था। एक सूक्ष्म-सा अहंकार और द्यूतक्रीड़ा का व्यसन छोड़कर युधिष्ठिर का हम भ्राताओं से व्यवहार प्रेमपूर्ण था। हस्तिनापुर के नगरजनों में वह अत्यन्त प्रिय था। वे उसको अपना युवराज ही मानते थे। उसके युवराजपद को पितामह भीष्म का भी समर्थन प्राप्त था।

हम सब कौरव-पाण्डवों के बीच, गान्धारनरेश सुबल का पुत्र शकुनि कीकर-वृक्ष के काँटे की भाँति घुस गया था। अन्धे महाराज धृतराष्ट्र और उनके लिए अन्धत्व को स्वीकार करनेवाली महाराज्ञी गान्धारीदेवी को अपने सौ पुत्रों सहित वह अँगुलियों पर नचा रहा था। शकुनि के ग्यारह

भ्राता उसके तत्पर अनुचरों की भाँति हस्तिनापुर में विचर रहे थे। इन सबको कणक नामक कुटिल राजनीतिज्ञ का साथ मिल गया था। दुर्योधन ने अपने से छोटे भ्राता दु:शासन को अपनी परछाई ही बना लिया था। यह चौकड़ी प्रयत्नशील थी कि अंगराज पद देकर दुर्योधन द्वारा वश में किये अंगराज कर्ण को अपने कुटिल दाँव-पेंचों में सम्मिलित कर लें। पता नहीं क्यों, कर्ण एक ही रट लगाये था–'पाण्डवों को युद्ध के लिए सीधा ललकारा जाए। सीधे रणभूमि पर ही उनसे टक्कर ली जाए।'

लाक्षागृह की घटना हम पाण्डवों की पहली सत्त्व-परीक्षा थी। महात्मा विदुर की सतर्कता-संकेत के कारण हम उस संकट से अपने-आप को बचा पाये। उस विपत्ति के समय हमारे लिए अनुकूल एक घटना घटित हुई। हिडिम्बा के कारण हमारे भीमसेन का राक्षस जाति से रक्त-सम्बन्ध स्थापित हुआ। हिडिम्बा-पुत्र घटोत्कच वन में ही पल रहा था। खाण्डववन-दाह हमारे जीवन की दूसरी सत्त्व-परीक्षा थी। आज मैं समझ रहा हूँ कि हस्तिनापुर की राजसभा में हमारी ओर से उन्होंने खाण्डववन को क्यों स्वीकार किया था। वह ऐसा न करता तो हमारा उससे इतना दृढ़ आत्मीय स्नेहबन्ध निर्माण ही न होता। यह सच है कि हम उसके फुफेरे भ्राता थे। उसके हमारे जैसे अन्य भी फुफेरे भ्राता थे। किन्तु वह ऐसे मिथ्या रक्त-सम्बन्धों के जाल में उलझनेवाला नहीं था, यह उसने अपने दुष्ट, अन्यायी मामा कंस का वध करके प्रमाणित कर दिया था। जरासन्ध की सहायता करनेवाले फुफेरे भ्राता शिशुपाल को दण्ड देने में वह नहीं हिचकिचाया। अपने फुफेरे भ्राताओं–विदूरथ और दन्तवक्र–को भी उसने कठोर दण्ड दिया था।

श्रीकृष्ण ने हमसे बार-बार मिलकर हमारा मार्गदर्शन किया। उसका मार्गदर्शन ऐसा था कि भविष्य में कभी मार्गदर्शन के लिए हमें अन्य किसी के पास नहीं जाना पड़ा। इन सबका एक ही कारण था–वह हमसे अत्यधिक प्रेम करता था। अपनी अन्य बुआओं से अधिक वह हमारी कुन्ती माता से अमित आदरयुक्त प्रेम करता था। अपनी जीवन-यात्रा में उसको अपनी अन्य बुआओं को इतना महत्त्व देते हुए हमने कभी नहीं देखा।

श्रीकृष्ण आप्तजनों में और सम्बन्धियों में आत्मीयता के साथ रहनेवाला पुरुष था। सभी सम्बन्धी स्त्री-पुरुषों को लगता था कि वह उनसे ही अधिक प्रेम करता है। यही तो उसकी विशेषता थी। बलराम भैया और उद्धवदेव–इन अपने भ्राताओं को वह अपना ही लगता था। किन्तु उसके मन में दोनों के प्रति जो प्रेमभाव था, उसमें पर्याप्त अन्तर था। जिस प्रकार उन दोनों को वह अपना लगता था, उसी प्रकार हम फुफेरे, मौसेरे और ककेरे भ्राताओं को भी वह अपना ही लगता था। यही नहीं, द्वारिका के सभी यादवों को वह अपना ही भाई लगता था। जिस उत्साह से हस्तिनापुर के कुरु उसका स्वागत करते थे, उसे देखते हुए लगता था कि उनको भी श्रीकृष्ण अपना भाई ही लगता था। मेरे और उद्धवदेव की प्रत्येक भेंट में श्रीकृष्ण की चर्चा होती ही रहती थी। मेरे जीवन का वह सुखद अनुभव था। उन चर्चाओं में कृष्ण के विषय में जो अमूल्य सत्य हमारे हाथ आया, उसे हम दोनों कभी भूल नहीं पाये। किसी भी बात के दो छोर होते हैं–एक ऊपरी और दूसरा निचला। एक आरम्भ का और दूसरा अन्त का। इस विविध-रूपा वसुन्धरा के भी दो सिरे हैं–उत्तरी और दक्षिणी। हम दोनों को एक ही सत्य स्पर्श कर गया कि हमारा श्रीकृष्ण इन दोनों छोरों को जीवन-भर बड़ी सरलता से जोड़ता आया है।

उसके दो पिता थे–जन्मदाता वसुदेव महाराज और पालनकर्ता नन्दबाबा। उसकी माताएँ भी

दो थीं–जन्मदात्री देवकी माता और आँखों में तैल डालकर लालन-पालन तथा बचपन से उनका सुसंस्कार करनेवाली यशोदा माता।

जिस प्रकार उसके माता-पिता दो थे, उस प्रकार उसके गुरु भी दो थे–आचार्य सान्दीपनि और आचार्य घोर-आंगिरस। आचार्य सान्दीपनि ने उसको शस्त्रास्त्रों सहित चौदह विद्या और चौंसठ कलाओं का मूलभूत ज्ञान दिया था तो घोर-आंगिरस ने उसको सांगोपांग ब्रह्मज्ञान की दीक्षा दी थी।

उसके सम्पर्क में आने के बाद मेरे अतिरिक्त अन्य किसी भी भ्राता के ध्यान में यह नहीं आया कि हमें शस्त्रास्त्रविद्या का ज्ञान तो गुरु द्रोण और आचार्य कृप ने दिया, किन्तु ब्रह्मविद्या का ज्ञान देनेवाले गुरु तो हमें मिले ही नहीं। हम कौरव-पाण्डव कभी किसी आश्रम में नहीं गये। आश्रम-जीवन संस्कार देनेवाला कितना सामर्थ्यशाली केन्द्र होता है, इसका अनुभव हमने किया ही नहीं। लेकिन मेरे मन में बार-बार यह प्रश्न उभरता रहा कि हम कौरव-पाण्डवों में जो दरार पड़ती गयी, इसका एक सबल कारण कहीं हमारा आश्रम-जीवन से वंचित रहना तो नहीं है?

मेरे भ्राताओं को यह प्रतीत हुआ कि नहीं, यह तो मुझे ज्ञात नहीं, किन्तु श्रीकृष्ण से बातें करते समय मुझे सदैव प्रतीत होता आया कि वही मेरा 'गुरूणां गुरु' है।

खाण्डववन का दाह करने के पश्चात् वहाँ इन्द्रप्रस्थ का निर्माण करते समय मेरा श्रीकृष्ण से सम्बन्ध अधिक आत्मीयतापूर्ण होता गया। उस घने अरण्य को जब हम जला रहे थे, तब उसने जो कहा उसे मैं कभी भूल नहीं पाया। उसने कहा, "हे अर्जुन, प्रकृति की कई वर्षों की तपस्या से निर्मित इस सुन्दर वन-सम्पत्ति को जलाते हुए मन में तीव्र वेदना होती है। निर्माण करनेवाले को वह किस प्रकार विचलित कर देती है, इसका मैंने गोमन्त पर्वत पर अनुभव किया है। अपने जीवन की इन दोनों घटनाओं को मैं कभी भूल नहीं पाऊँगा। इसीलिए गोमन्त का वन जलाने के लिए मुझे विवश करनेवाले जरासन्ध को मैं कभी क्षमा नहीं कर पाया। इन्द्रप्रस्थ को बसाने के निमित्त तुम्हें खाण्डववन नष्ट करने के लिए विवश करनेवाले दुर्योधन-शकुनि को भी मैं कभी क्षमा नहीं करूँगा। यह ध्यान में रख अर्जुन कि जिस प्रकार आँखों को दिखाई देनेवाले घने वन जलाकर नष्ट करने पड़ते हैं, उसी प्रकार मानवी जीवन में उन्मत्त आचरण करनेवाले अन्यायियों एवं उद्धतों के वन को भी नष्ट करना पड़ता है! अन्यथा जीवन का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। नूतन राजनगर में भी योजनाबद्ध वनों का निर्माण आवश्यक होता है।"

खाण्डववन में ही मुझे वरुणराज से कपिध्वज फहराता हुआ चार शुभ्र-धवल अश्वोंवाला नन्दिघोष रथ और अक्षय तूणीर सहित अत्यन्त सुलक्षण गाण्डीव धनुष प्राप्त हुआ था। इनके प्राप्त करने पर श्रीकृष्ण को जो मुझसे भी अधिक आनन्द हुआ था, उसे मैं कभी भूल नहीं पाया। कैसी दिख रही थी उसकी वह हर्षित मुद्रा? अब मेरी समझ में आ रहा है कि उस राजसूय यज्ञ में सबके समक्ष शिशुपाल पर सुदर्शन चक्र प्रक्षेपित करते समय उसकी मुद्रा जैसी दिखाई दी थी, वैसी ही दिख रही थी।

हमारे आपसी वार्त्तालाप के समय वह प्राय: मुझे गाण्डीव धनुष का महत्त्व समझाता था। उस समय उसकी वाणी अत्यन्त उत्साही हो जाती थी। वह जहाँ भी जाता था, गाण्डीव धनुष के महत्त्व को बताना नहीं भूलता था। विशेष बात यह थी कि वह अपने सुदर्शन के विषय में किसी से कुछ नहीं कहता था। गाण्डीव धनुष के महत्त्व का वर्णन करते हुए उसकी वाणी और भी प्रभावशाली हो

जाती थी। विविध प्रकार के दृष्टान्त उसकी वाणी से प्रकट हुआ करते थे। एक बार तो उसने मुझसे कहा था, "एकान्त में जिस प्रकार तू द्रौपदी का ध्यान रखता है, उसी प्रकार आँखों में तैल डालकर अपने इस दुर्लभ गाण्डीव धनुष का ध्यान रखा कर।" तत्पश्चात् बड़ी देर तक उसके दिव्य सुदर्शन का ही विचार मेरे मन में मँडराता रहा। कभी-कभी मैं इसी विचार में खो जाता था कि श्रीकृष्ण के दिव्य सुदर्शन चक्र का और जिसकी प्रत्यंचा की टंकार से रोमांचित कर देनेवाली ध्वनि सुदूर तक सुनाई देती है, ऐसे मेरे गाण्डीव धनुष का परस्पर सम्बन्ध क्या होगा? मेरे शरीर का वर्ण कृष्ण की ही भाँति नील क्यों है? यह मूलभूत प्रश्न मन में उभरते ही मैं उसकी ओर बड़ी देर तक देखता रह जाता था। तब मुझे लगता था, मैं दर्पण में तो नहीं देख रहा हूँ! अन्ततः मैं उससे पूछ ही लेता था, 'हे हृषीकेश, वस्तुतः तू कौन है? सच कह दे, मेरा तुझसे क्या नाता है? केवल फुफेरे भ्राता का?"

वह मोहक मुस्कान बिखेरकर कहता था, "नहीं पार्थ, तू मेरा प्रिय सखा है। तेरी ही भाँति मेरा एक और सखा भी है।"

उसकी आँखों की गहराइयों में झाँकते हुए मैं शीघ्र ही कह देता था?–"उद्धवदेव!"

एक अलग ही छटा में हँसता हुआ वह कहता था, "बिलकुल ठीक कहा तूने। मेरे मन में क्या है, यह तू अचूक रूप में पहचान लेता है। इसीलिए तो तू मेरा प्रिय सखा है।"

सुभद्रा-हरण के समय मैं उसी के संकेत पर द्वारिका के समीप सोमनाथ के शिव मन्दिर में जा बैठा था। संन्यासी के काषाय वस्त्रों में था मैं उस समय–दाढ़ी बढ़ाये हुए। सुभद्रा-हरण के अभियान में मैंने श्रीकृष्ण के सभी संकेतों का अक्षरशः पालन किया था। एक ही बात मैंने अपनी अन्तःप्रेरणा से की थी–सोमनाथ के शिव-मन्दिर से निकलकर, नौका से खाड़ी पार करके मैं द्वारिका चला गया था–सुभद्रा-हरण करने के पूर्व एक बार श्रीसोपान के आँखें भरकर दर्शन करने हेतु। काषाय वस्त्र और बढ़ी हुई दाढ़ी के कारण कोई भी द्वारिकावासी मुझे पहचान नहीं पाया था। कहीं भी प्रवेश करने में मुझे कोई बाधा नहीं आयी। सभी सुरक्षा चौकियों को पार करता हुआ मैं श्रीसोपान के निकट पहुँच गया था। कितना झिलमिलाता और भव्य दिख रहा था वह! उस भव्य, ऊँचे सोपान की सबसे निचली सीढ़ी के निकट मैं गया। अनेक सम्मिश्र भावनाओं से मेरा मन भर आया था। मैंने उस श्रीसोपान की अन्तिम सीढ़ी पर मस्तक टेकते हुए मनःपूर्वक उसकी वन्दना की। कुछ समय तक मैं अपना मस्तक उस सीढ़ी पर टिकाये रहा।...

मेरी कल्पना में भी नहीं था और ऐसी कोई आशा भी नहीं थी। कृष्ण के ध्यान में डूबे मन से जब मैंने मस्तक ऊपर उठाया और देखा तो देखता ही रह गया। उस ऊँचे सोपान की ऊपरी प्रथम सीढ़ी पर वह खड़ा था–प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण! कितना ऊँचा! एक-एक सीढ़ी उतरता हुआ वह मेरे समीप आ गया। अब तक तो किसी ने मुझे पहचाना नहीं था, किन्तु पहले ही दृष्टिपात में उसने मुझे पहचान लिया। सामान्यतः वह किसी तपस्वी के कन्धे पर हाथ नहीं रखा करता था, किन्तु मेरी आँखों में झाँकते हुए उसने मेरे कन्धे पर हाथ रखा। आसपास के सेवक कुछ समझ न पाएँ, इस प्रकार वह मेरे कान में फुसफुसाया–"योगीराज, मैं आपको जानता हूँ। सम्प्रति आप जैसे तपस्वियों की रैवतकों को नितान्त आवश्यकता है। आप शीघ्र ही वहाँ चले जाइए। कल ही मेरी बहन सुभद्रा कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन से विवाह के पूर्व कुलदेवी के दर्शनों के लिए रैवतक जाएगी। मैंने उससे आपके दर्शन करने के लिए कहा है। उसको उचित आशीर्वाद तो आप देंगे ही–दीजिए

अवश्य!" उसके मुख से मुझे मनचाहा संकेत प्राप्त हो गया था। मेरे लिए वही आशीर्वाद था। उस क्षण से वह श्रीसोपान मेरे हृदय की धरोहर बन गया–जैसे भविष्य में सुभद्रा बन गयी।

श्रीकृष्ण के मेरे प्रिय सखा के रूप में ऐसी कितनी ही बातें मेरे मन पर अंकित हो गयी हैं। हम पाँचों भ्राताओं के पुत्रों के नामकरण-संस्कार के अवसर पर वह बिना भूले द्वारिका से इन्द्रप्रस्थ आया करता था। युधिष्ठिर के पुत्र का नाम कुन्ती माता ने 'प्रतिविन्ध्य' रखा–प्रतिविन्ध्य अर्थात् विन्ध्य पर्वत की भाँति दृढ़, अचल। कृष्ण के साथ आये बलराम भैया को भी वह अच्छा लगा–हम सबको भी वह अच्छा लगा था। भीमसेन के पुत्र के नामकरण के लिए श्रीकृष्ण अपने बलराम भैया, प्रिय पुत्र प्रद्युम्न और अन्य चार पुत्रों सहित इन्द्रप्रस्थ आया था। भीमसेन के इस हृष्टपुष्ट, सशक्त पुत्र का नाम 'सुतसोम' रखा गया। "भीम मेरा शिष्य है। उसके पुत्र का नामकरण मैं ही करूँगा।" कहते हुए बलराम भैया ने ही भीमसेन-पुत्र का नाम रखा था। 'सुतसोम' नाम की बड़ी ही मनोरंजक और जँचनेवाली व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा था–"हम यादवों को सोम सदैव प्रिय रहा है। उस सोम का ही यह पुत्र है–इसीलिए यह सुतसोम है।" यह सुनकर सबने ठहाका लगाया था और हँसते हुए ही कृष्ण ने कहा, "दाऊ, सोम अर्थात् चन्द्र। यह चान्द्रवंशीय पाण्डवों का पुत्र है, यही आप कहना चाहते हैं न?"

मेरे पुत्र के नामकरण-संस्कार के समय कृष्ण उद्धवदेव, रुक्मिणी भाभी, भामा भाभी और बलराम भैया सहित आया था। मेरे पुत्र का नाम उसने 'श्रुतकीर्ति' रखा था। उसकी व्याख्या उसने इस तरह से दी थी–"इसके पिता को–हमारे अर्जुन को कीर्ति प्राप्त करने हेतु दिन-रात परिश्रम करना पड़ा। दिग्विजय के लिए समस्त आर्यावर्त-भर भ्रमण करना पड़ा। किन्तु उसके पुत्र को वह जन्मत: ही प्राप्त होनेवाली है। यह 'श्रुतकीति' के अतिरिक्त अन्य कोई हो ही नहीं सकता।"

मेरे दोनों अनुज नकुल-सहदेव के पुत्रों के नामकरण-संस्कार के लिए भी वह आया था। किन्तु उन दोनों का नामकरण किया उद्धवदेव ने–वह भी श्रीकृष्ण की इच्छा से। उन्होंने नकुल के पुत्र का नाम 'शतानीक' और सहदेव के पुत्र का नाम 'श्रुतसेन' रखा। दोनों नाम सार्थक थे। नकुल का पुत्र सौ युद्धों में पराक्रम करे, इस इच्छा से उद्धवदेव ने उसका नाम शतानीक रखा। सहदेव-पुत्र का नाम 'श्रुतसेन' 'श्रुतकीर्ति' नाम के सदृश ही था। कहीं श्रीकृष्ण यह न पूछे कि "दोनों का नामकरण करते समय मुझे कैसे भूल गये, उद्धव?" इसलिए उद्धवदेव ने सहदेव-पुत्र का नाम 'श्रुतसेन' रखा। श्रुतसेन अर्थात् जिसकी चतुरंगदल सेना विख्यात है।

हम पाँचों भ्राता द्रौपदी के पाँचों पुत्रों से अत्यधिक प्रेम किया करते थे। इसका कारण था हमारा द्रौपदी से प्रेम। लेकिन साथ ही हमारा बचपन से पितृ-प्रेम से वंचित रहना भी इसका एक कारण था। हमें तो पिता का प्रेम प्राप्त नहीं हो पाया था। हमारे जीवन के इस अभाव का पुत्रों को कभी अभास न हो, यही हम सबकी इच्छा थी। पितृ-प्रेम का विषय आते ही दो व्यक्तियों के प्रति मेरा मन प्रगाढ़ आदर से भर आता था। उनमें पहली थी हमारी कुन्ती माता। चाहे वन में हों अथवा इन्द्रप्रस्थ के राजप्रासाद में, उन्होंने हमें किसी भी बात की कमी प्रतीत नहीं होने दी। दूसरा व्यक्ति था श्रीकृष्ण। वह हमारा मार्गदर्शक गुरु था–हमारा जीवनादर्श था। मेरे अन्य भ्राताओं को यह प्रतीत हुआ कि नहीं–पता नहीं, किन्तु मुझे तो अनेक बार यह तीव्रता से प्रतीत हुआ है कि वह हमारा स्नेहशील पिता ही था।

कृष्ण को मुझसे जो प्रेम था, उसके कई आयाम थे। प्रयत्न करने पर भी मैं उन सबको समझ

नहीं पाया।

मेरे हित के प्रति उसकी सावधानी से मुझे उसके पितृ-प्रेम की अनुभूति हो जाती थी। ऐसा कई बार हुआ था। जरासन्धवाले अभियान में इस बात की मुझ पर गहरी छाप पड़ी थी। मगध की उस अतिथिशाला में उसने भीमसेन को और स्वयं अपने-आप को जरासन्ध के आगे खड़ा किया था–मुझे नहीं।

जरासन्ध से द्वन्द्व करने की बात मुझ पर आ ही जाती तो? किन्तु श्रीकृष्ण ने अपनी बौद्धिक कुशलता से वह स्थिति आने ही नहीं दी।

द्रौपदी-स्वयंवर में वह बड़ी सरलता से प्रण पूरा कर सकता था, किन्तु उसने ऐसा नहीं किया। मुझे पहचानकर उसने शान्त दर्शक की भूमिका को ही अपनाया। उसका यह व्यवहार एक पिता की भूमिका को ही सुशोभित करता था। उसने बिना कुछ कहे मुझसे पुत्रवत् प्रेम किया है। कई बार उसका व्यवहार ऐसा था जिसे केवल मैं ही जान सकता था। उसके इस पितृ-प्रेम के प्रति मेरी प्रतिक्रिया भी संयमयुक्त, आदरपूर्ण थी। मैंने उसको कृष्ण, श्रीकृष्ण, अच्युत, वासुदेव आदि नामों से कई बार सम्बोधित किया, किन्तु भूलकर भी कभी 'तात' अथवा 'ज्येष्ठ' नहीं कहा।

उसके ज्येष्ठ भ्राता–बलराम भैया हम सबको भी बड़े भैया ही लगते थे। मैं भी उनको बड़े भैया ही कहा करता था। मैंने बड़ी सूक्ष्मता से देखा था, कृष्ण उनको 'दाऊ' कहा करता था–वह भी भिन्न-भिन्न ढंगों से–अपनी मुस्कराहट की भाँति ही। बड़े भैया को जब उनकी किसी भूल का आभास कराना होता था, कृष्ण कुछ अधिक ही नम्र हो जाता था। अवसर आने पर वह बड़े भैया के विरोध में भी खड़ा हो जाता था किन्तु उस विरोध में भी कभी निरादर नहीं हुआ करता था। वैसे यादवों का यह अंगभूत गुण था कि विरोध करते समय उनकी भाषा भी खुरदरी हो जाती थी। श्रीकृष्ण इस बात का सुखद अपवाद था।

श्रीकृष्ण की प्रिय पत्नी रुक्मिणीदेवी मेरी प्रिय भाभी थीं। कई बार मुझे लगता था, श्रीकृष्ण की लोगों के मन को लुभानेवाली भाषा रुक्मिणीदेवी के कारण ही बन गयी होगी। जब मैंने उससे इस सम्बन्ध में स्पष्टत: पूछा, तो वह केवल मुस्कराया। इस विषय में मैंने रुक्मिणी भाभी की थाह भी लेनी चाही, तो वे श्रीकृष्ण की हँसी का प्रतिरूप ही लगनेवाली हँसी अपने सात्त्विक, गोलाकार मुखमण्डल पर बिखेरते हुए बोलीं, "अर्जुन, क्या किसी के लिए भी यह सम्भव है? क्या लोटा-भर जल उँड़ेलकर कोई समुद्र में ज्वार ला सकता है?"

रुक्मिणी भाभी और द्रौपदी जब आपस में बातें किया करती थीं, तब मैं मूक श्रोता बन जाया करता था। द्रौपदी बड़ी मुखर थी और उसकी बातों में दृढ़ता होती थी। उसके उत्साह में विक्षेप न आ पाए, इस हेतु रुक्मिणी भाभी बीच-बीच में उससे कुछ पूछा करती थीं। तब तो द्रौपदी की बातों का वृषभ-रथ चौकड़ियाँ भरने लगता था। बड़ी रुचिकर बात यह थी कि उनकी बातें मैं भी सुन रहा हूँ, यह वे दोनों भूल जाती थीं। उस समय कृष्ण के आते ही जैसे चमत्कार हो जाता था। दोनों अपनी बातचीत करना भूलकर कृष्ण ही की ओर देखती रह जाती थीं। कृष्ण भी उन दोनों को देर तक मेरी उपेक्षा करने का आभास दिलाता था। किसी सामयिक समस्या की गहन चर्चा करते हुए वह मुझसे कहता था, "हमारे अभिमन्यु ने चक्रव्यूह-भेदन का ज्ञान मुझसे ही प्राप्त किया है। किन्तु चक्रव्यूह के केन्द्र-स्थान से उसके पहले घेरे तक लौट आना वह नहीं जानता। उसको द्वारिका ले आना, मैं उसे इसका प्रत्यक्ष ज्ञान करा दूँगा।"

सभी पाण्डव-पुत्रों में अभिमन्यु अलग ही था। नये-नये शस्त्र और अस्त्रों की विद्या का उसको तीव्र आकर्षण था। बड़ा ही विनम्र था वह। वह श्रीकृष्ण का अत्यन्त लाड़ला भानजा था। वह भी अपने मामा से अत्यधिक प्रेम करता था। कभी उसकी अवज्ञा नहीं करता था।

कुरुक्षेत्र पर कृष्ण से पहली बार भेंट होने के पश्चात् मैंने एक सत्य को अनुभव किया था। उसका जीवन एक सहस्रदल कमल था–प्रतिदिन अलग ही दिखनेवाला–अलग ही लगनेवाला–आकर्षक–प्रतिदिन कण-कण रूप में खिलते जानेवाला। अपने और अपने भाइयों के जीवन में घटित होनेवाली प्रत्येक घटना के साथ मुझे उसके इस सहस्रदल कमल के धुँधले-से दर्शन होते आये थे। प्रत्येक घटना में उसके स्वभाव की कुछ ही झाँकियाँ मैं जान पाया था, कुछ ही पंखुड़ियाँ मैं देख पाया था।

प्राय: मैं सोचता हूँ कि बड़े भैया के रोष को भी सहन करते हुए उसने मेरे और सुभद्रा के विवाह में इतना रस क्यों लिया? उसका मुझसे निरपेक्ष प्रेम तो उसके मूल में था ही, किन्तु अपनी बहन से असीम प्रेम भी इसका कारण था। मुझसे बिना कुछ पूछे ही उसने हम दोनों के परस्पर प्रेम को कैसे जान लिया, यह आश्चर्य की बात थी। बाद में मैंने इस विषय में सुभद्रा से खोद-खोदकर पूछा भी था। उसने मुझसे जो कहा, वह पूर्णत: अप्रत्याशित था। उसने कहा था, "आप जब मुझे हरण कर ले गये, उसके पहले प्रत्येक भेंट में छोटे भैया आपके बारे में कुछ-न-कुछ ऊटपटाँग कहते रहते थे–पाण्डव अर्जुन बड़ा ही घुन्ना है। उसकी अपेक्षा कवच-कुण्डलों से युक्त अंगराज कर्ण और हिरण्यधनु-पुत्र एकलव्य श्रेष्ठ धनुर्धर हैं।...अन्य भ्राताओं की अपेक्षा यह धनंजय स्त्री-लम्पट है। जहाँ भी जाता है, विवाह करके स्त्री ले आता है।"...सुभद्रा का कथन सुनते हुए मैं मुस्कराता रहा था। जब उसका कथन पूर्ण हुआ था, तब मैंने कहा था, "तुम तो बावली हो सुभद्रा! मुझसे तुम्हारे प्रेम की दृढ़ता को परखने का यह ढंग है उसका। तुम्हारे छोटे भैया की प्रत्येक कृति और शब्द को सारा जग यों ही 'कृष्णलीला' नहीं कहता!"

सुभद्रा-हरण के निमित्त उसके स्वभाव का जो दर्शन मुझे हुआ, उसे मैं कभी भूल नहीं पाया। सुभद्रा-हरण के सभी अंगों पर उसने अत्यन्त सूक्ष्मता से सोचा था। उसके अनुमान के अनुसार उस योजना में एक भी त्रुटि नहीं रह गयी थी। किसी कुशल अभिनेता की भाँति वह मेरी और सुभद्रा की भेंट में एक विशिष्ट भूमिका निभाता था। बलराम भैया और रेवती भाभी से मिलते समय उसकी भूमिका अलग होती थी और तात वसुदेव तथा दोनों माताओं की भेंट में उसकी भूमिका कुछ और ही होती थी। वस्तुत: वह एक कुशल अभिनेता था। उसके नाटक का नाम था 'प्रेमयोग'। गोकुल की गोप-गोपियों के लिए हो अथवा मथुरा के यादवों के लिए–आचार्य सान्दीपनि के आश्रम के आश्रमकुमारों के लिए हो अथवा द्वारिका-इन्द्रप्रस्थ निर्माण के समय यादव-पाण्डवों के लिए हो, या स्थान-स्थान के अन्यायी राजाओं के निर्दलन के लिए आर्यावर्त में अथक भ्रमण करते हुए हो–हर समय उसकी आराधना और साधना होती थी प्रेमयोग की ही!

मुझसे सुभद्रा-हरण कराकर पाण्डव और यादवों के सम्बन्धों को प्रगाढ़ बनाने में श्रीकृष्ण की दूरदर्शिता थी। सुभद्रा से विवाह के पश्चात् अन्य भ्राताओं की अपेक्षा मेरा द्वारिका आना-जाना सकारण, अधिक ही होने लगा। मेरा श्रीकृष्ण से मिलना भी बार-बार होने लगा। प्रत्येक भेंट में हम दोनों में कुछ-न-कुछ विचार-विमर्श होता ही रहा। प्रत्येक भेंट में मुझे उससे मानव-जीवन का कुछ-न-कुछ तत्त्व-सत्य प्राप्त होता रहा। अपने हृदय की बहुत-सी बातें उसने अपनी अमोघ एवं

प्रभावशाली वाणी से मेरे हृदय में उतार दीं। उसकी बातों से मुझे कभी पूर्ण तृप्ति नहीं हुई। मुझे लगता था, कहने जैसा बहुत-कुछ अभी उसके पास शेष है। जीवन-बोध करानेवाले उसके ही वचन जाने-अनजाने मेरे मुख से निकल पड़ते। ज्यों-ज्यों वह मुझसे मिलता रहा, बातें करता रहा, मुझमें विद्यमान मानव अर्जुन के दोष धीरे-धीरे कम होते गये।

द्वारिका में एक बार एक बड़ी मनोरंजक घटना घटित हुई। मेरे द्वारिका में निवास के समय वहाँ हस्तिनापुर से गुरुपुत्र अश्वत्थामा का आगमन हो गया। आते ही उसने कृष्ण, बड़े भैया, भाभी सबसे भेंट की। सन्ध्या समय श्रीकृष्ण और गुरुपुत्र अश्वत्थामा गरुड़ध्वज रथ में बैठकर भ्रमण के लिए समुद्र पुलिन पर चले गये। साथ में दारुक था ही। वह रथ और अश्वों के पास रह गया। कृष्ण और अश्वत्थामा बातें करते पुलिन पर बैठ गये। सन्ध्या का थाल के आकार का सूर्य-बिम्ब डूबने को था। उसको आँख भरकर देखते हुए अचानक अश्वत्थामा को जाने क्या लगा, उसने कृष्ण से कहा, "हे यादवश्रेष्ठ द्वारिकाधीश, इस सूर्य-बिम्ब के सदृश जो तेजयन्त्र सुदर्शन आपके पास है, उसी के विचार मेरे मन में मँडराते रहते हैं। उसी के लिए समय निकालकर लम्बी यात्रा करके मैं इतना सुदूर आपसे मिलने आया हूँ। हे यादवश्रेष्ठ, अभी—इसी पुलिन पर क्या आप सुदर्शन सहित मुझे अपने दर्शन कराएँगे? क्या अभी इसी समय वह सम्भव है?"

यह विचित्र प्रश्न सुनकर भी कृष्ण उसकी ओर देखकर मुस्कराया। बैठे-बैठे उस गोलाकार सूर्य-बिम्ब की ओर उसने क्षण-भर एकटक देखा और आँखें बन्द कर लीं। उस तेजयन्त्र के दिव्य मन्त्रों का स्मरण किया। उसका मुखमण्डल अत्यन्त तेजस्वी दिखने लगा। क्षणार्ध में ही समुद्र-गर्जन से एकरूप होकर कहीं दूर से आता हुआ-सा विविध वाद्यों का घोष उन दोनों को सुनाई देने लगा।

गुरुपुत्र अश्वत्थामा आँखें विस्फारित करके, सुधबुध खोकर देखता ही रह गया। कृष्ण के ऊपर उठे हुए दाहिने हाथ की तर्जनी पर तीव्र गति से घूमता तेजयन्त्र उसको दिखने लगा। उसका प्रकाश और कृष्ण के मुखमण्डल का तेज, इनमें कोई अन्तर नहीं था। वह तेज जब असहनीय होने लगा तो अश्वत्थामा ने झट से आँखें बन्द कर लीं। वाद्यों का घोष अब मन्द होते-होते लुप्त हो गया। तर्जनी से उतरा हुआ वह चक्र श्रीकृष्ण ने अपनी दाहिनी ओर रख दिया। अब अश्वत्थामा भी कुछ सँभल गया था। आँखें विस्फारित करते हुए वह उस साकार सुदर्शन की ओर देखता ही रह गया था। स्वयं वह ब्रह्मास्त्र और नारायणास्त्र जैसे दिव्य अस्त्रों का अधिकारी था। सुदर्शन पर गड़ायी दृष्टि उसी पर स्थिर रखते हुए उसने श्रीकृष्ण से पूछा, "हे द्वारिकाधीश, यदि आप मुझे इसके योग्य मानते हैं, तो अपना यह दिव्य चक्र आप मुझे समन्त्र दे दीजिए। हमारे सम्मुख फैले हुए इस पश्चिम सागर की भाँति यदि आपका हृदय विशाल हो, तो यह सुदर्शन चक्र इस सागर को ही साक्षी रखकर—इस गुरुपुत्र अश्वत्थामा को प्रदान कीजिए।"

वे दोनों जिस पुलिन पर बैठे थे, वह द्वारिका के पश्चिमी—ऐन्द्र नामक महाद्वार के पास थी। उस स्वर्णिम महाद्वार का अस्त होते सूर्य की किरणों में झिलमिलाता प्रतिबिम्ब सागर की लहरों पर हिल रहा था। दूर गरुड़ध्वज के रथनीड़ पर दारुक बैठा हुआ था।

पहले कभी, किसी ने भी श्रीकृष्ण की इस प्रकार सत्त्व-परीक्षा नहीं ली थी, जिस प्रकार इस समय गुरुपुत्र अश्वत्थामा ले रहा था। फिर भी श्रीकृष्ण शान्तचित्त ही था। वह धीरे-से उठा, चलते हुए समुद्र तक गया। उसके विविध शुभ लक्षणों से युक्त गुलाबी तलवों के चिह्न पश्चिम सागर-तट

की भीगी रेती पर पंक्तिबद्ध रूप में अंकित होते गये। उनमें एक भी पदचिह्न टेढ़ा-मेढ़ा, अस्त-व्यस्त नहीं था। मानो प्रत्येक पदचिह्न अस्त होते सूर्य का रूप लेकर ही अंकित हो गया था।

कृष्ण ने झुककर अँजुली में सागर-जल ले लिया। उसके कण्ठ में सुशोभित वैजयन्तीमाला और कौस्तुभमणियुक्त मौक्तिकमालाएँ झूल रही थीं। मस्तक पर धारण किये स्वर्णमुकुट में शोभित मोरपंख स्पन्दित हो रहा था। अँजुली-भर सागर-जल लेकर वह सुदर्शन चक्र के पास आया। आँखें बन्द करके मन्त्र बुदबुदाते हुए उसने उस जल की धारा सुदर्शन चक्र पर अर्पित की और सूर्यदेव तथा सागरदेव को साक्षी रखकर अपना प्राणप्रिय सुदर्शन अश्वत्थामा को प्रदान किया। अब कृष्ण का मुखमण्डल पूर्ववत् दिखने लगा। नित्य की भाँति मुस्कराते हुए उसने गुरुपुत्र से कहा, "हे गुरुपुत्र अश्वत्थामा, यदि इस चक्र का भार उठाकर इसे ले जा सकते हो, तो अपने साथ ले जाओ। यह आज से तुम्हारा हो गया है।"

अश्वत्थामा पहले ही साकार सुदर्शन पर दृष्टि गड़ाये हुए था, अब बड़े उत्साह से सुदर्शन के समीप आ गया। झुककर उसने उस साकार सुदर्शन पर अपना हाथ रखा और अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य लगाकर वह उसे उठाने का प्रयत्न करने लगा। श्रीकृष्ण का वह चक्र तनिक भी नहीं हिल पा रहा था। अश्वत्थामा के मुख पर कुछ विचित्र भाव उभर आये। क्षण-भर रुककर, पीछे हटकर उसने अपने अधोवस्त्र की काछ को कड़ाई से कसकर बाँध लिया। निश्चयपूर्वक अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर वह सुदर्शन को उठाने में लग गया। सुदर्शन तनिक भी नहीं हिल रहा था। वह महारथी नाना प्रकार से सुदर्शन को उठाने का प्रयत्न कर-करके स्वेदसिक्त हो गया। थककर, रेती में ही घुटने टेककर वह बैठ गया था। वह अत्यन्त लज्जित और किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। पश्चिम में सूर्य-बिम्ब डूब चुका था। श्रीकृष्ण ने प्रेमपूर्वक अश्वत्थामा की स्वेदसिक्त पीठ पर हाथ रखा। उसकी पीठ थपथपाते हुए श्रीकृष्ण ने धीरे-से कहा, "चलो। चलें!"

बिना कुछ कहे, आज्ञाकारी की भाँति अश्वत्थामा उठ खड़ा हुआ। उसने श्रीकृष्ण के पैर ही पकड़ लिये और कहा, "हे द्वारिकाधीश, सुदर्शन को आप अपने पास ही रखिए। आपके अतिरिक्त कोई और इसे नहीं सँभाल पाएगा। कृपा कीजिए और इसे वापस ले लीजिए।"

प्रेम से अश्वत्थामा को ऊपर उठाकर उसके कन्धे थपथपाते हुए कृष्ण मुस्कराया। आँखें बन्द करके मन्त्र बुदबुदाते हुए उसने कहा, "ले लिया।" दोनों गरुड़ध्वज की ओर चलने लगे। कृष्ण ने पीछे मुड़कर देखा। सन्ध्या के धुँधले प्रकाश में पुलिन की रेत पर रखा साकार सुदर्शन निराकार हो गया था। कहीं वह अस्त हुए सूर्य-बिम्ब से मिलने तो नहीं चला गया?

स्वयं श्रीकृष्ण ने जब यह घटना मुझे बतायी, उसके सहस्रदल कमल जैसे व्यक्तित्व की केवल एक पंखुड़ी मुझे दिखाई दी। यह बात उसने अन्य किसी से नहीं कही, यह भी उसने मुझे ही बताया। तब मुझे अपने-आप में निहित एक अज्ञात अर्जुन का ज्ञान हुआ। श्रीकृष्ण का मुझसे अति निकट साहचर्य था। राजसूय यज्ञ में मैंने उसको सुदर्शन प्रक्षेपित करते हुए प्रत्यक्ष देखा था। अक्षय तूणीर सहित सुलक्षण गाण्डीव धनुष मेरे पास था। मैं ब्रह्मास्त्र, नारायणास्त्र और पाशुपतास्त्र का भी अधिकारी था। फिर भी श्रीकृष्ण के सुदर्शन का लालच मुझे कभी नहीं हुआ। इस प्रकार का विचार भूलकर भी कभी मेरे मन में नहीं आया था—न आ सकता था। इसके विपरीत अपना धनुष एवं अपने समस्त अस्त्र, अवसर आने पर मैंने नि:शंक रूप से उसके चरणों में अर्पित कर दिये होते।

जब भी मैं अश्वत्थामा से मिलता था, बातें करता था, मुझे उसके पिता गुरु द्रोणाचार्य का स्मरण हो आता था। गुरु द्रोण मूर्तिमान धनुर्वेद थे। उनका शस्त्रास्त्रों का ज्ञान सागर की भाँति अथाह था। उनका हम शिष्यों–कौरव-पाण्डवों से प्रेम भी एक गुरु की गरिमा को शोभा देनेवाला था। उनके अन्त:करण के दो ही स्थान दुर्गम थे–एक उनका पुत्रप्रेम और दूसरा उनकी प्रतिशोध की भावना। अश्वत्थामा उनका इकलौता पुत्र था–उनको प्राणों से भी प्रिय। सभी शिष्यों में से केवल हम दोनों को–मुझे और अश्वत्थामा को ही उन्होंने सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मास्त्र का ज्ञान प्रदान किया। अन्य किसी को भी उन्होंने इस अस्त्र का ज्ञान देने के लिए योग्य नहीं समझा। अश्वत्थामा को उन्होंने छिपे-छिपे ब्रह्मास्त्र का ज्ञान दिया। इसलिए उन्होंने एक युक्ति की थी–हम शिष्यों को वे जल लाने के लिए गंगा नदी पर भेज देते थे, तब अश्वत्थामा को वे चौड़े मुँहवाला जलपात्र देते थे और मुझे सँकरे मुँहवाला। अत: अश्वत्थामा जल लेकर मुझसे पहले लौटता था। मुझे थोड़ा विलम्ब हो जाता था। इस अवधि में वे अश्वत्थामा को ब्रह्मास्त्र के मन्त्र सिखाया करते थे। यह बात जब मेरे ध्यान में आ गयी, तब मैंने हठपूर्वक उनसे ब्रह्मास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

गुरु द्रोण की प्रतिशोध की भावना इतनी तीव्र थी कि आश्रम-जीवन के उनके मित्र पांचालनरेश द्रुपद ने अपनी राजसभा में जब उनको मित्र मानना अस्वीकार कर दिया, तब गुरु द्रोण ने इस अवमानना का प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा की। जब हमारी कौरव-पाण्डवों की शस्त्रास्त्र शिक्षा पूर्ण हो गयी, तब गुरुदेव द्रोण ने गुरु-दक्षिणा के रूप में पांचालराज द्रुपद को बन्दी बनाकर अपने सम्मुख प्रस्तुत करने की माँग की। इस माँग को पूरा करने के लिए मुझे ही पहल करनी पड़ी। पांचाल राज को बन्दी बनाकर गुरु-दक्षिणा के रूप में मैंने गुरुदेव के सम्मुख प्रस्तुत किया। भविष्य में पांचालनरेश द्रुपद–द्रौपदी के पिता–मेरे श्वशुर बन गये। मुझे लगा था कि मैंने उनको बन्दी बनाया था, अत: मेरे लिए उनके मन में गाँठ पड़ गयी होगी। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। इसका कारण बहुत दिनों तक मुझे ज्ञात नहीं हुआ था। आगे चलकर किसी समय द्रौपदी से ही मुझे ज्ञात हुआ कि अतीत में घटित हुई घटनाओं के कारण पांचालनरेश के मन में मेरे प्रति तीव्र रोष था। उस रोष का हम सब भ्राताओं से प्रेम में रूपान्तरण कैसे हो गया? यह सब कृष्णलीला का चमत्कार था।

द्रौपदी हम पाँचों की पत्नी बने, यह बात महाराज द्रुपद को स्वीकार नहीं थी। अपने पिता का यह निषेध धृष्टद्युम्न ने बता भी दिया था। फिर भी हम पाँचों भ्राताओं के साथ प्रतिदिन एक का–द्रौपदी से विवाह काम्पिल्यनगर में ही सम्पन्न हो गया। यह कार्य महाराज द्रुपद ने ही सम्पन्न कराया। यह चमत्कार भी श्रीकृष्ण का ही किया हुआ था।

इसलिए कृष्ण ने धृष्टद्युम्न को माध्यम बनाया था। श्रीकृष्ण स्वयं बलराम भैया और उद्धवदेव सहित कई बार पांचाल राज्य गया था। किसी-न-किसी कारण उसने द्रौपदी के भ्राता धृष्टद्युम्न को द्वारिका आमन्त्रित किया था। सुधर्मा राजसभा में मूल्यवान वस्त्र और चुने हुए शस्त्र उपहार में देकर उसने धृष्टद्युम्न का सम्मान किया था। श्रीकृष्ण बार-बार उससे रहस्यमय ढंग से कहता रहा–"युवराज, अभी तुम्हारी वीरता का उचित गौरव हुआ ही नहीं है। लाखों पांचालों का युवा नेता होते हुए भी तुम्हारा जो उचित सम्मान नहीं हुआ है,–वह मैं तुम्हें दिलाऊँगा। उससे तुम अजर-अमर हो जाओगे।" ये बातें मुझे कभी द्रौपदी से तो कभी धृष्टद्युम्न से ज्ञात हो गयी थीं।

द्रौपदी के सन्दर्भ में इन्द्रप्रस्थ में घटित हुई एक घटना बड़ी भावपूर्ण थी। वह भी कृष्ण ने ही

मुझसे बतायी थी। तब वह रुक्मिणी भाभी के साथ इन्द्रप्रस्थ आया हुआ था। हमारे 'अभि' से उसे अत्यधिक प्रेम था। एक दिन वह 'अभि' को गरुड़ध्वज रथ में बिठाकर सम्पूर्ण राजनगर की सैर करा लाया। हमारा इन्द्रप्रस्थ अभी-अभी ही बसा था। हमारे अमात्य अतिथियों को राजप्रासाद के भिन्न-भिन्न कक्ष उसकी रचना की सूक्ष्मताएँ बताते हुए दिखाया करते थे। इसी प्रकार वे कृष्ण को भी हमारा प्रासाद दिखा रहे थे। कृष्ण के साथ रुक्मिणी भाभी भी थीं और वे थीं इसलिए द्रौपदी और सुभद्रा भी उनके साथ थीं। इन सबके साथ कृष्ण हमारी राजसभा–श्रीकृपा–में आ गया। हमने राजसभा का नाम 'श्रीकृपा' क्यों रखा, यह अमात्य ने उसको बताया। उसे सुनकर मुस्कराते हुए वह बोला–"मैं जानता हूँ पाण्डवों को मुझसे कितना प्रेम है! पाण्डव कुरुवंशीय हैं–कुरुवंश ही सोमवंश है–चन्द्रवंश है। अत: इस राजसभा का नाम 'कुरुकृपा' रखना ही उचित होता। तुम्हारी यह राजसभा 'श्रीकृपा'–'श्री' का एक अर्थ 'चन्द्र' भी है–अत: 'श्रीकृपा' को मैं 'चन्द्रकृपा' मानता हूँ।"

राजप्रासाद के पश्चात् अमात्य उसको कोषागार, वस्त्रागार, धान्यागार दिखाते गये। श्रीकृष्ण के साथ चलता हुआ अभिमन्यु अपने मामा से नाना प्रकार के प्रश्न पूछ रहा था। उससे यथेष्ट उत्तर पाकर वह अपने कुतूहल को शमित करता था। अन्त में वे शस्त्रागार में पहुँचे। वहाँ हमारे शस्त्र पंक्तिबद्ध रखे हुए थे। मेरे शस्त्र-विभाग में कई धनुष क्रम से रखे हुए थे और उनके पास बाणों से भरे तूणीर भी थे। अत्यन्त उत्साह से विविध बाणों की जानकारी अपने भानजे को देते हुए कृष्ण चल रहे थे। अन्त में वे बस्तिक बाणों के तूणीर के पास आ गये। इस बाण की विशेषता थी कि उसका धारदार फल लक्ष्य में फँसा रहता था। इस बाण की पूँछ में लगी मरोड़दार कल घुमाते ही वह ढीली होकर बाण की पूँछ अलग हो जाती थी। युद्ध के समय इन बाणों के अग्रभाग को विषैले द्रव में डुबोया जाता था। उस द्रव की काष्ठनलिका रथ में तूणीर के समीप ही रखी जाती थी। यह सब जानकारी अभिमन्यु को देते हुए बस्तिक बाण का अग्रभाग लक्ष्य में किस प्रकार फँस जाता है, यह दिखाने के लिए कृष्ण ने एक बाण उठाया।

बहुत दिन पड़ा रहने के कारण उस बाण की लौहकल अटक गयी थी और वह निकल ही नहीं रही थी। कृष्ण ने वह बाण अभिमन्यु के हाथ में देकर उससे कल घुमाने को कहा। 'अभि' ने भी बहुत प्रयास किया, किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। मण्डूर लग जाने के कारण वह कल जम गयी थी। अभि के हाथों से बाण लेकर अमात्य ने भी पर्याप्त प्रयास किया, किन्तु वे भी कल को नहीं खोल सके। मुस्कराते हुए कृष्ण ने पुन: वह बाण अपने हाथ में ले लिया। अधरोष्ठ को दाँतो-तले दबाते हुए वह भी मण्डूर लगे उस लौहकल को खोलने का प्रयास करने लगा।

कल खुल तो गयी, किन्तु–किन्तु बाण के धारदार फल का अग्रभाग कृष्ण की गुलाबी, लम्बी तर्जनी में घुस गया। उसकी तर्जनी से रक्त की धारा बहने लगी। द्रौपदी, सुभद्रा और रुक्मिणी भाभी–तीनों 'च्च्च्' करती हुई उनकी ओर दौड़ पड़ीं। अमात्य भी हड़बड़ा गये। अपने मामा की ओर देख अभिमन्यु कराह उठा। किसी को कुछ सूझ नहीं रहा था। सुभद्रा ने रुक्मिणी भाभी से कहा, "सुश्रीजी, अँगुली को दबाये रखिए। रक्त को बहने मत दीजिए। मैं वस्त्र-पट्टी लेकर अभी आती हूँ।" वह दौड़ती हुई अपने कक्ष की ओर चली गयी। रुक्मिणी भाभी ने अँगूठे से रक्तधारा को रोकने के लिए कृष्ण की तर्जनी को दबाये रखा।

द्रौपदी ने तनिक भी विचलित न होते हुए, पहने हुए स्वर्णसूत्र-अंकित मूल्यवान वस्त्र के

अंचल को चर्रऽऽ से चीर डाला। अपने प्रिय सखा को लगे घाव से रुक्मिणी भाभी के अँगूठे को हटाकर उसने उस वस्त्र-पट्टी से घाव को कसकर रक्तधारा रोक दी।

श्रीकृष्ण–जो अपनी इसी तर्जनी पर बारह आरोंवाला, वज्रनाभ सुदर्शन धारण किया करता था, मुस्कराते हुए उस वस्त्र-पट्टी को देखने लगा। तभी वस्त्र-पट्टी लेकर सुभद्रा लौट आयी। श्रीकृष्ण ने मुस्कराकर शान्त भाव से तीनों पर दृष्टि डाली। द्रौपदी की ओर देखते हुए उसने कहा, "द्रौपदी, तू जानती है कि वस्त्र की अपेक्षा रक्त का मोल अधिक होता है। वस्त्र के लिए रक्त भी बहाना पड़ता है, यह भी तू उचित समय पर जान जाएगी।"

मुझे स्मरण है, जब श्रीकृष्ण ने मेरे मन को पूर्णत: व्याप्त कर लिया था, वह क्षण था–शिशुपाल-वध का! तब मैंने उसको सुदर्शन धारण किये दिव्य रूप में प्रत्यक्षत: देखा था। तत्पश्चात् मैंने उसके पहले देखे रूपों की उसके सुदर्शनधारी रूप से तुलना की। इस रूप के आगे वे सारे रूप मुझे नाटे ही लगे। मल्लयुद्ध में मामा कंस का वध करनेवाले कृष्ण के बारे में मैंने सुना था। नरकासुर से घोर युद्ध किये श्रीकृष्ण की कीर्ति भी मैंने सुनी थी। सोलह सहस्र नारियों को पुनर्वसित करनेवाले श्रीकृष्ण के प्रति मेरे मन में अपार आदर था। पश्चिम सागर के निर्जन द्वीप पर स्वर्णनगरी द्वारिका का निर्माण करनेवाले अद्वितीय निर्माता के रूप में वे मेरे वन्दनीय थे। खाण्डववन के घने अरण्य में इन्द्रप्रस्थ के निर्माण में सहयोगी के नाते वे मेरे आदरणीय थे। बाल्यावस्था में गोकुल में गोपालों के साथ क्रीड़ा करते समय उसने वंशी हाथ में ली थी। यादवों का नेतृत्व करते समय उसने कभी नन्दक खड्ग, कभी सौनन्द मूसल तो कभी शार्ङ्ग और अजितंजय धनुष को धारण किया था। आर्यावर्त की चारों दिशाओं में उसने ऐसे भ्रमण किया था, मानो उसके चरणों में चक्र लगे हों। वह जहाँ भी गया, पौरजनों ने हर्षोल्लास से उसका जयघोष किया। गिरिव्रज में जरासन्ध-वध के समय मैंने उसके अनेक दुर्लभ गुणों के दर्शन किये। उसके चरणों में सर्वस्व अर्पित करके उसका अनुगामी बनने की तीव्र इच्छा मेरे मन में निर्मित हुई थी,–वह क्षण था शिशुपाल-वध का।

उसकी जो निर्भर्त्सना शिशुपाल ने की, वह मैंने या अन्य किसी ने पहले कभी न सुनी। वह अक्षम्य थी। उस समय श्रीकृष्ण के एक और दुर्लभ गुण की प्रतीति मुझे हुई–वह गुण था संयम का। शिशुपाल को बार-बार सावधान करके श्रीकृष्ण ने उसके सौ अपराधों को सह लिया। जीवन-भर उसने कंस, जरासन्ध जैसे राजाओं के मुख से तुच्छतापूर्ण सम्बोधन 'ग्वाला' सुन लिया था और शान्ति से मुस्कराते हुए उसे झेल भी लिया था।

जब कभी वह किसी बात का निश्चय कर लेता था, उसका मुखमण्डल शतकोटि सूर्यों के समान दीप्तिमान हो उठता था। इसको मैंने शिशुपाल-वध के समय अनुभव किया था। उसका वह बन्द किये हुए मत्स्यनेत्रोंवाला, सुदर्शनधारी, अपार तेजस्वी रूप उस क्षण मेरे मन पर अमिट छाप छोड़ गया। अत्यन्त विचारपूर्वक मैंने उसी क्षण अपने जीवन का नीलकमल उसके चरणों में अर्पित कर दिया।

शिशुपाल-वध के पहलेवाला अर्जुन और उसके बादवाला अर्जुन स्वयं मुझे ही अलग-अलग दिखाई देने लगे। उस समय का एक चित्र निरन्तर मेरी आँखों के आगे घूमता रहा।

जब मृत्यु बनकर अपने पीछे पड़े सुदर्शन से भयभीत शिशुपाल उससे बचने के लिए बड़ी आशा लेकर अभेद्य कवचधारी सूतपुत्र की शरण में गया था, तब सुदर्शन की गति रुक क्यों गयी

है, यह देखने के लिए श्रीकृष्ण ने क्षण-भर आँखें खोलीं और अंगराज कर्ण को आज्ञा दी–"कर्ण, वेदी के पास आ जाओ।" कर्ण भी आज्ञाकारी की भाँति वेदी के पास चला गया। उस सूतपुत्र के पाँवों को देखकर हमारा ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर कहा करता था, "अर्जुन, समझ में नहीं आता है क्यों, अंगराज कर्ण के पाँव हमारी कुन्ती माता के पाँवों की भाँति शंखाकार दिखते हैं?"

मुझे श्रीकृष्ण के अधिक निकट लानेवाली घटना थी सुभद्रा-हरण और उससे मेरे विवाह की। उस समय, हमारे निश्चित किये गये नियमों का भंग होने के कारण मुझे तीर्थयात्रा पर जाना पड़ा था। मैं उत्तर दिशा में यात्रा कर रहा हूँ, यह सूचना मिलते ही, श्रीकृष्ण ने वहाँ के राजाओं को मुझे सहयोग देने का सन्देश भिजवाया था। उस यात्रा में ही चित्रांगदा और उलूपी के साथ भी मेरे विवाह हुए थे। इन विवाहों के पूर्व, दूतों द्वारा श्रीकृष्ण की सम्मति प्राप्त करना मैं नहीं भूला था। सम्भवत: इसी से जब सुभद्रा के साथ दुर्योधन के विवाह की बात चल रही थी, श्रीकृष्ण ने मुझे द्वारिका बुलवा लिया था। मेरा संन्यासी वेष में आनर्त देश में प्रवेश करना, भालका तीर्थ के समीप सागर-तट पर सोमनाथ के शिव-मन्दिर में योगी के रूप में निवास करना–सब-कुछ उसकी योजना के अनुसार था।

सुभद्रा का हरण करके मैं इन्द्रप्रस्थ लौट आया। मुझे सर्वाधिक चिन्ता थी द्रौपदी की–उस मानिनी, आग्रही सम्राज्ञी की प्रतिक्रिया क्या होगी! उसके ठेठ, स्पष्टवादी स्वभाव के कारण वह मुझसे कठोर व्यवहार करेगी, यह स्पष्ट ही था। उसके सम्भाव्य रोष को सहने के लिए मैंने अपने मन को तैयार किया था। उसके प्रश्नों पर किस प्रकार प्रतिक्रिया व्यक्त की जाए, यह भी मैंने मन-ही-मन निश्चित कर लिया था। परन्तु यह सब तैयारी निष्फल ही रह गयी। श्रीकृष्ण की बहन के नाते उसने सुभद्रा का मनःपूर्वक स्वागत ही किया। नारी के मन की थाह पाना सम्भव नहीं है, यह बात मुझे तभी ज्ञात हुई। द्रौपदी ने सुभद्रा का जो स्वागत किया, उसका प्रमुख कारण बलराम भैया, श्रीकृष्ण और सुभद्रा के बाल्यकाल की क्रीड़ाओं की स्मृतियों को उसके ही मुख से सुनना था।

सुभद्रा के विवाह के पश्चात् जामाता के नाते दीपावली के त्यौहार के लिए उसके साथ मैं द्वारिका आया था। कितना आदर-सत्कार किया था यादवों ने मेरा! जिस प्रकार शिशुपाल-वध मुझे सदैव स्मरण रहा, उसी प्रकार ही यह द्वारिका-भेंट थी।

वह शरत्पूर्णिमा का दिन था। जामाता के नाते श्रीकृष्ण ने सन्ध्या समय अमात्य विपृथु द्वारा मुझे अपने कक्ष में आमन्त्रित किया। दुग्धपान और फलाहार के पश्चात् उसने यादवों की एक प्रथा मुझे समझायी। उसने कहा, "जमाई राजा, यादवों के आदर-सत्कार से अति प्रसन्न होने की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार पानी में गिरने के पश्चात् तैरना आ ही जाता है, उसी प्रकार यादवों के जामाता बनने के पश्चात् रासक्रीड़ा में प्रवीण होना भी आवश्यक है। आज रात द्वारिका के मुख्य उद्यान में सरोवर-तट पर तुझे दाऊ, उद्धव और मेरे साथ रास खेलना होगा। यादवों के नृत्य-शिक्षक से रासनृत्य की सामान्य जानकारी प्राप्त कर लेना। यह मत भूलना कि रणभूमि में गाण्डीव धनुष चलाने के लिए जिस कुशलता की आवश्यकता होती है, वही रासनृत्य में भी होती है।"

जब थाल के आकार का शरत्पूर्णिमा का सुन्दर चन्द्र द्वारिका के गगनमण्डल में उदित हुआ, द्वारिकावासी सभी नर-नारी नगर के केन्द्र में स्थित विशाल उद्यान में सरोवर-तट पर एकत्र हो

गये। कुछ यादवों ने आठ हाथ गहरे गड्ढ़े खोदे थे। उनको अन्दर से चिकनी मिट्टी और चूने से लीपा गया था। पकाये वृषभचर्म को उन गड्ढों के मुख पर चारों ओर से तानकर बिठाया गया था। युद्ध में प्रयुक्त की जानेवाली दुन्दुभी की भाँति ये प्रचण्ड भू-नगाड़े बनाये गये थे। उनको घेरा डालकर केवल अधोवस्त्र पहने, स्नायुबद्ध शरीरवाले आठ-आठ नगाड़ावादक बैठे थे। उनके दोनों ओर झाँझ, डफली, तुरही, सींग आदि वाद्य लिये वादक बैठे थे। सम्पूर्ण उद्यान जलती दीपिकाओं से प्रकाशित हो उठा था। बड़े-बड़े चूल्हों पर रखे कड़ाहों में शुभ्र-धवल गोरस उफन-उफनकर शान्त हो गया था। उस पर गाढ़ा दुग्धफेन जमने लगा था। समुद्री पवन के कारण उस केसर-मिश्रित दुग्धफेन पर सिकुड़नें पड़ने लगीं और वह अधिकाधिक गाढ़ा होता गया। द्वारिका की सुधर्मा राजसभा के समीपस्थ राजप्रासाद के भिन्न-भिन्न कक्षों से स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका निकल रहे थे। उन्होंने विशिष्ट और मूल्यवान वस्त्र धारण किये हुए थे। आज सन्ध्या समय ही अन्तःपुर के कक्षों से मेरी सातों भाभियाँ अपने पुत्रों सहित महाराज्ञी रुक्मिणी भाभी के कक्ष में जमा हो गयी थीं। उनकी अनुमति मिलते ही एक-एक करके वे अपने पुत्रों सहित अलग-अलग रथों में बैठकर प्रमुख उद्यान की ओर प्रयाण करने लगीं। उद्यान की पूर्व दिशा के द्वार में अमात्य विपृथु यादव राजपरिवार के स्वागत के लिए आस्थापूर्वक खड़े थे। महाराज वसुदेव के राज्याभिषेक समारोह पर धारण किये गये विशिष्ट वस्त्र उन्होंने धारण किये थे। उनके दाहिने हाथ में यादवों का रत्नजटित, स्वर्णिम, बेलबूटेदार राजदण्ड था।

मध्यरात्रि आसन्न थी। वह विशाल उद्यान खचाखच भरा हुआ था। यादव स्त्री-पुरुष और बालकों के कोलाहल में समुद्र का गर्जन भी लुप्तप्राय हो गया था। राजसभा के सभी मन्त्रिगण सपत्नीक आये हुए थे। आचार्य सान्दीपनि और गर्ग मुनि भी सपत्नीक आ गये थे। सभी दल-प्रमुख वहाँ उपस्थित थे। अब वृद्ध हुए सेनापति अनाधृष्टि को लेकर दूसरे सेनापति सात्यकि भी आ गये थे।

रास के लिए एकत्र हुआ, उत्साह से कोलाहल करता समूह अब दो रथों की प्रतीक्षा में था। सत्तू के आटे की भाँति धवल ज्योत्स्ना बिखेरनेवाला चन्द्रमणि भी अब अधीर हो चुका था–चान्द्रवंशीय कृष्णचन्द्र और रुक्मिणी भाभी के मुखमण्डल के दर्शन करने के लिए! हमारे आगे, आज के रास के प्रमुख सम्माननीय व्यक्ति–वसुदेव महाराज का रथ था। उनके सुशोभन राजरथ में स्वयं वे, दोनों महाराज्ञियाँ और उद्धवदेव बैठे हुए थे। वृद्ध महाराज की शुभ्र दाढ़ी समुद्री पवन से फरफरा रही थी।

उनके पीछे गरुड़ध्वज में हम थे–श्रीकृष्ण, रुक्मिणी भाभी, सुभद्रा और मैं। हाथ में प्रतोद लिये हुए दारुक रथनीड़ पर बैठा था। गरुड़ध्वज के चारों शुभ्र-धवल अश्वों को वह मन्द-मन्द हाँक रहा था।

हम रास के उद्यान में आ गये। अमात्य विपृथु ने हमारा स्वागत किया। आज के रास के विशेष सम्माननीय अभ्यागत हम थे–मैं और सुभद्रा। वसुदेव महाराज और दोनों महाराज्ञियाँ, श्रीकृष्ण और रुक्मिणी भाभी, उद्धवदेव–इनके पीछे-पीछे हम दोनों चल रहे थे। हम दुग्ध के कड़ाहे के पास आ गये। श्रीकृष्ण ने लकड़ी की एक कलछी और एक कटोरा उठाया। इडादेवी का जयघोष करके उसने कलछी कड़ाहे में डुबोयी और गाढ़े दुग्धफेन को कटोरे में डाल दिया और कलश में से उस पर दुग्ध भी उँड़ेल दिया। रास के प्रसाद का वह कटोरा उसने सम्माननीय अभ्यागत-जामाता के

नाते मेरे हाथ में सौंपा। वैसा ही कटोरा रुक्मिणी भाभी ने सुभद्रा के हाथ में दिया। हमने उस अत्यन्त रुचिकर, सुवासित, गाढ़े दुग्धफेन का आस्वादन किया। आकण्ठ गोरस-पान से हम तृप्त हो गये। हमारे पश्चात् राजपरिवार के सभी स्त्री-पुरुषों को वह प्रसाद बाँटा गया। प्रसाद का राजपरिवार में वितरण होते ही, इडादेवी का जयघोष करते हुए यादवों के झुण्ड-के-झुण्ड, बड़े-बड़े चूल्हों पर रखे गोरस के कड़ाहों पर टूट पड़े।

शुभ्र दाढ़ीधारी वसुदेव महाराज पुष्पमालाओं से सजे रासमण्डल में उतर आये। ज्येष्ठ, सम्माननीय सदस्य के नाते, इडादेवी की जयकार करते हुए उन्होंने कुंकुम की अँजुली गगनमण्डल में बिखेर दी। नाना वाद्यों का घोष गूँज उठा। रासमण्डल में पहले कुछ इने-गिने ही नर-नारी थे। वे सब राजपरिवार के थे। कुछ समय के लिए तात वसुदेव, वृद्ध किन्तु उत्साही देवकी और रोहिणी माता भी वहाँ थीं। श्रीकृष्ण के चतुर्दिक् रुक्मिणी भाभी सहित सत्यभामा, जाम्बवती, सत्या, मित्रविन्दा, लक्ष्मणा, कालिन्दी, भद्रा आदि सभी भाभियाँ थीं। विशेष रूप से कामरूप से आयी स्त्रियों की प्रतिनिधि कशेरू भी वहाँ उपस्थित थी। रास में भाग लेने का मेरा यह पहला ही अवसर था। मुझसे कुछ भूल न हो, इसलिए श्रीकृष्ण की चरण-वन्दना हेतु सुभद्रा और उद्धवदेव सहित मैं उसके पास गया। शरत्पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की शुभ्र-धवल ज्योत्स्ना में वह नरोत्तम कृष्णचन्द्र मुझे नित्य की अपेक्षा कुछ अलग ही दिखाई दिया। उसका यह रूप मैंने पहले कभी नहीं देखा था। आज तक वह मुझे जगमगाती सूर्य-किरणों में नहाये शिलारस के पाषाण की भाँति दिखाई दिया था। आज शिलारस का वही पाषाण मुझे समुद्र-जल में नहाया-सा–चन्द्र की शीतल किरणों में निखरा-सा लगा।

उसके चरणस्पर्श करते ही उसने धीरे-से मुझे ऊपर उठाया। आज उसके मस्तक पर नित्य का स्वर्णमुकुट नहीं था। उसके मस्तक पर वनलता का मुकुट दृढ़तापूर्वक कसा हुआ था। उसमें लगा मोरपंख चन्द्र-किरणों में चमक रहा था। मैंने उसके मत्स्यनेत्रों में एकटक देखा। नित्य सूर्य-किरणों को बिखेरनेवाले उसके नेत्र इस समय शान्त-शीतल चान्द्ररस बरसा रहे थे। मेरे मन की गहराई से एक प्रश्न सरसराता हुआ आया–अमोघ बाण की भाँति। सदेह दिखनेवाला यह शान्त कृष्णसखा वास्तव में कौन है?

मुझे मौन देखकर वह मुस्कराया। आज भी उसने उलझन में डालनेवाला प्रश्न मुझसे पूछ ही लिया–"सखा अर्जुन, क्या तू जानता है, आज–इस समय यहाँ सखी द्रौपदी होती तो मैं क्या करता?" मैं चकरा गया। मेरी बायीं ओर रासमण्डल में उसकी अपनी बहन सुभद्रा के होते हुए उसको स्मरण हुआ था द्रौपदी का!

"कुछ समझ में नहीं आता मित्र–तब तूने क्या किया होता! जब तेरी बातें ही समझ पाना कभी-कभी कठिन होता है, तो तेरी कृति को जान पाना कैसे सम्भव है?" मैंने कहा।

शरत्पूर्णिमा की प्रसन्न ज्योत्स्ना में वह प्रसन्न मुस्कराया। उसके गुलाबी होंठों के पीछे से उसका दोहरा दाँत चमक उठा। बिना कुछ कहे उसने वक्ष पर झूलती, प्रफुल्लित सतेज वैजयन्तीमाला उतारकर मेरे कण्ठ में डाल दी। उसने धीरे-से कहा, "द्रौपदी के–मेरी प्रिय सखी के प्रतिनिधि के रूप में, आज के दिन के सम्माननीय अतिथि के रूप में अपनी अत्यन्त प्रिय वैजयन्तीमाला मैंने तेरे कण्ठ में सजा दी है। जानता है, यह मुझे किसने दी है?"

"नहींऽ" मैं पुन: चकरा गया।

“राधिका ने–मेरी प्रिय सखी ने!” वह पुन: मुस्कराया। रासनृत्य की लय पकड़ने के लिए उसने वाद्यवृन्द को संकेत किया। मैं–तीसरा पाण्डव–यादवों का जामाता–जैसा बन सका, रास खेलने लगा–सुभद्रा के साथ! कृष्ण बड़ी निपुणता से रास खेलने लगा–सभी नर-नारियों के साथ क्षण में यहाँ, तो क्षण में वहाँ। सम्पूर्ण रासमण्डल में वह–केवल वही दिखने लगा। आकाश में जैसे-जैसे चन्द्र चढ़ता गया, उस अविस्मरणीय रास की रंगत भी बढ़ती चली गयी।

दीपावली का समारोह मनाकर इन्द्रप्रस्थ लौटते ही मैं कुन्ती माता से मिला। द्वारिका का सम्पूर्ण वृत्तान्त बताते हुए मैंने रास खेलने की बात भी उनको बतायी। रास में पहले कभी कृष्ण ने किसी के कण्ठ में अपनी वैजयन्तीमाला नहीं पहनायी थी, केवल मुझी को वह पहना दी थी, यह बात बताना भी मैं नहीं भूला था। मेरी बातें सुनकर वे मन्द-मन्द मुस्करायीं। मुझे आज पहली बार आभास हुआ कि उनके हास्य में श्रीकृष्ण के हास्य की झाँकी है। वसुदेव महाराज और देवकी तथा रोहिणी माता का कुशल पूछकर वे बोलीं, “उसने तेरे कण्ठ में अपनी वैजयन्तीमाला पहनायी, यह घटना बड़ी ही अर्थपूर्ण है, अर्जुन! वह केवल रासमण्डल में ही रास खेलता है, ऐसा समझने की भूल कभी मत करना! वह जीवन-भर रास खेलता आया है और आगे भी यही खेल खेलता रहेगा। सभी यादवों को साक्षी रखकर उसने तेरे ही कण्ठ में वैजयन्तीमाला पहनायी, इसका अभिप्राय जानता है तू?”

“अर्थात्?” मैंने पूछा।

“अर्जुन, भविष्य में वह कोई महान रास रचाने जा रहा है। उसमें प्रमुख भूमिका निभाने का दायित्व तुझ पर आनेवाला है। ध्यान में रख अर्जुन, किसी क्षत्रिय को सेनापति पद देते समय, उसके कण्ठ में माला पहनायी जाती है। बिना किसी विधि के, भविष्य में तुझे सेनापतियों का भी सेनापति बनाने की उसने मौन घोषणा ही की है–वह भी रासमण्डल में!”

कुन्ती माता के इस प्रकार के वचनों को मैं बचपन से सुनता आया था। उनकी यह बात सुनकर मैं सोच में पड़ गया। जो भी मैं था, उन्हीं के संस्कारों के कारण!

बचपन में जब हमारा निवास गन्धमादन पर्वत पर था, एक रात्रि हमारी पर्णकुटी में, इंगुदी के तैल से जलनेवाला मिट्टी का दीपक पवन के झोंके से बुझ गया। हम पाँचों भ्राता भोजन करने बैठे थे। हमारे आगे, कदलीपर्णों पर परोसे, कुन्ती माता के पकाये हुए सुस्वादु व्यंजन थे। मेरे चारों भ्राता चूल्हे की अग्नि से दीपक जलाकर प्रकाश किये जाने तक रुके रहे। मैं उस अँधेरे में भी भोजन करता रहा। जब तक माता जलता दीपक लाकर रखे, मेरा आधे से अधिक भोजन समाप्त हो भी गया था। वह देखकर भूख को कभी संवरण न कर पानेवाले भीमसेन ने पूछा, “धना, तुम अँधेरे में भी भोजन कैसे कर पाये?” मैं तो विचारों में खोया हुआ उस कदलीपर्ण को देखता रह गया था। भीमसेन से क्या कहूँ, मेरी समझ में नहीं आ रहा था।

मेरा समर्थन करते हुए कुन्ती माता ने कहा, “पुत्रो सभी कार्य अभ्यास से साध्य हो जाते हैं। भोजन करते समय प्रकाश हो या अँधेरा, हाथ का कौर तो मुख में ही जाता है, इस बात से वह अभ्यस्त हो गया है। एक बार जिस बात को वह जान जाता है, कभी भूलता नहीं। तुम सब भी इस बात को जाँच लो।” माता ने जलाया हुआ दीपक बुझा दिया और कहा, “अब भोजन आरम्भ करो–नित्य की भाँति।” अँधेरे में ही हमने सरलता से भोजन कर लिया। कुछ समय पश्चात् माता ने दीपक पुन: जलाया। उनके मुख पर एक अपूर्व प्रभा झलक रही थी।

कुन्ती माता की भाँति आचार्य द्रोण ने भी हमें जीवनावश्यक गहरे संस्कारों से सम्पन्न बनाया था। उन्होंने एक बार वृक्ष पर टँगे कृत्रिम पक्षी की आँख एक ही बाण से बेधने की आज्ञा हम शिष्यों को दे दी थी।

प्रत्येक शिष्य द्वारा अपनी प्रत्यंचा पर बाण चढ़ाकर प्रक्षेपण का पैंतरा लेते ही गुरुदेव पूछते थे–"क्या दिख रहा है तुम्हें?" प्रश्न का अभिप्राय ठीक से न समझने से किसी ने कहा था, "वृक्ष की टहनियाँ दिखती हैं–पर्ण दिखते हैं।" तो किसी ने कहा था "बहुत सारे पक्षी दिख रहे हैं।"

मैंने कहा था, "उस पक्षी की आँख में मेरे बाण का अग्रभाग घुसा हुआ दिख रहा है।" यह सुनकर गुरुदेव मुझसे प्रसन्न हो गये थे। अत्यन्त परिश्रमपूर्वक उन्होंने मुझे शब्दभेद की विद्या सिखायी थी। मेरे अतिरिक्त केवल दो शब्दभेद पारंगत धनुर्धर मुझे ज्ञात थे–एकलव्य और सूतपुत्र कर्ण!

सम्प्रति कुरुकुल से सम्बद्ध और द्वारिका के–श्रीकृष्ण के यादववंश की अठारह शाखाओं के–प्रमुख व्यक्ति ही मेरे मन में भ्रमण करते रहते थे। काम्पिल्यनगर के प्रमुख पांचालों का भी मुझे बार-बार स्मरण हो आता था। वारणावत जाने के लिए माता सहित जब हमने हस्तिनापुर छोड़ा था, तब से हम स्थान-स्थान पर ऐसे भ्रमण कर रहे थे, जैसे हमारे पैरों में चक्र लगे हों। हस्तिनापुर में किशोर आयु के वे संस्कारशील दिन हम कभी भूल नहीं पाये। प्रकृति का एक नियम है–कुतूहल के कारण प्रत्येक व्यक्ति के मन में इस विश्व के विषय में भाँति-भाँति के प्रश्न उभरते रहते हैं। इन प्रश्नों को सुलझाते-सुलझाते वह पूर्णत्व की ओर अग्रसर होता रहता है। अब तक उसके शरीर की बहत्तर सहस्र धमनियों में से रक्त के सहस्रों चक्कर पूरे हुए होते हैं। पुरुष के शरीर में वीर्यशक्ति का निर्माण हुआ होता है। स्त्री का स्त्रीत्व साकार हुआ होता है। प्रत्येक के जीवन में, परिश्रमपूर्वक संस्कार-सम्पन्न होने का यह काल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। मनुष्य को जो भी प्राप्त करना होता है, उसे प्राप्त करने का यही समय होता है। हमारे जीवन का वह काल कुरुओं के सम्पन्न राजनगर हस्तिनापुर में बीता। हमारे दिग्विजयी पिता सम्राट् पाण्डु के विषय में नगरजनों के मन में अत्यन्त आदर की भावना थी। नगरजनों से हमें भी वही आदर–वही प्रेम अँजुलियाँ भर-भरकर के प्राप्त हुआ था।

महाराज कुरु द्वारा वर्षों पूर्व बनवाये गये राजप्रासाद में कुरुवंश के परिवार के हम सब सदस्य निवास करते थे। महाराज हस्ति, कुरु, अजमीढ़ जैसे पराक्रमी, प्रजाहित-दक्ष, सत्शील पूर्वजों की महान परम्परा कुरुवंश को प्राप्त थी। किसी-न-किसी कारण से विनाश की ओर चले इस कुल को पितामह भीष्म ने समय-समय पर प्राणपण से बचाया था।

पितामह भीष्म जीवन्त धनुर्वेद थे। अपने पिता शान्तनु महाराज की इच्छा-पूर्ति के लिए उन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया था। पराक्रम में तो प्रत्यक्ष अपने गुरु परशुराम को पराजित करके वे पुरुषार्थ के हिमालय के शिखर पर पहुँच चुके थे। कुरुओं के वैभवशाली राजप्रासाद में रहते हुए भी उन्होंने स्थिरचित्त राजयोगी की उपाधि प्राप्त कर ली थी। हस्तिनापुर में भी उनकी दिनचर्या हिमालय में रहनेवाले ऋषि-मुनियों की भाँति थी। इस आयु में भी वे ब्राह्ममुहूर्त में उठकर गंगा-स्नान करके प्रातःकर्मों से निवृत हो जाते थे। ईश्वर-स्मरण करके भिन्न-भिन्न पुरश्चरण किया करते थे। तत्पश्चात् दानवेदिका पर खड़े रहकर देश-विदेश से आये याचकों को वस्त्र, आभूषण, गायें आदि दान में देते थे। उसके बाद वे हमारी–कौरव-पाण्डवों की शस्त्रशाला में

आते थे। तब उनके साथ कभी महात्मा विदुर, कभी राजसारथि संजय तो कभी किसी अन्य देश से आये राजा या सेनापति हुआ करते थे। कभी-कभी उनके साथ उन्हीं के जैसे शुभ्र दाढ़ीधारी, तपस्या से तेजस्वी बने ऋषि-मुनि भी हुआ करते थे। उनके शस्त्रशाला में आते ही गुरुदेव द्रोण और आचार्य कृप मुस्कराते हुए आदर सहित उनका स्वागत करते थे। तब शस्त्रशाला भरी-भरी-सी दिखने लगती थी। हम एक सौ पाँच राजकुमारों की प्रगति के सम्बन्ध में वे क्रमश: पूछताछ किया करते थे। हमारे साथ कृपाचार्य से शिक्षा पानेवाले, तेजस्वी दिखनेवाले सूतपुत्र कर्ण की भी वे पूछताछ किया करते थे। द्रोणपुत्र अश्वत्थामा तो उनको प्रिय था ही।

उस किशोर आयु में हमारे सबसे बड़े आदर्श थे गंगापुत्र पितामह भीष्म। उनके रथ को शस्त्रशाला में प्रवेश करते देख, मैं दौड़ा-दौड़ा उनके पास चला जाता था। उनका चरणस्पर्श करते ही मुझे झट से ऊपर उठाकर सबसे पहले मेरे केशों पर अपनी लम्बी-लम्बी अँगुलियोंवाला दाहिना हाथ रखते हुए वे कहते थे—"विजयी भव पाण्डुपुत्र।" वे कदाचित् ही हँसते थे, किन्तु जब हँसते थे, शुभ्र-धवल घनी दाढ़ी और धवल दन्तपंक्ति के कारण आभास होता था कि हिमालय का ऊँचा शिखर सूर्य-किरणों में झलमला रहा है। उनके शब्द-रूपी प्रत्येक मोती को मैं मनःपूर्वक अपने कानों की सीपियों में भर लेता था। हमारी माता को वे अत्यन्त आदर और गौरव से सम्बोधित किया करते थे। उनके दबदबे के कारण हम सब द्रोण-शिष्यों की शस्त्रास्त्र-शिक्षा में तनिक भी त्रुटि नहीं रही थी। पितामह की विशेषता यह थी कि वे निर्मत्सर थे, अत: अजातशत्रु भी थे। उनके विषय में किसी के भी मुख से निरादर का कोई शब्द मैंने कभी सुना नहीं था। वास्तव में पितामह भीष्म कुरुवंश का पीढ़ियों से चलता आया पुण्यसंचय थे। रात्रि में गगनमण्डल से अदृश्य हुआ सूर्य कल पुन: पूर्व-क्षितिज पर उदित होगा—यह बात जितनी आश्वासक थी, उतना ही आश्वासक था पितामह का हमारे साथ सशरीर विचरण करना। केवल हस्तिनापुर में ही नहीं, सुदूर गान्धार से लेकर सम्पूर्ण आर्यावर्त में वे 'पितामह' के नाम से ही विख्यात थे। मेरे सुप्त मन पर उनका बहुत बड़ा प्रभाव था।

सम्भवत: इसी से, सदैव मेरे आदर्श के रूप में विद्यमान श्रीकृष्ण को सर्वप्रथम उन्होंने ही 'वासुदेव' के नाम से सम्बोधित किया था, इस बात को मैं कभी भूल नहीं पाया था।

हस्तिनापुर के महाराज धृतराष्ट्र को मैंने कभी 'काका' नहीं कहा। वे भी मन से चाहते थे कि सब उनको 'महाराज' ही कहें—स्वयं पितामह भी! महाराज धृतराष्ट्र अच्छे-अच्छों की भी समझ में न आनेवाला 'महाग्रन्थ' थे। कथनी और करनी की दृष्टि से मेरे देखे राजपरिवारों में पितामह भीष्म और श्रीकृष्ण इन दोनों व्यक्तियों का जीवन विविध घटनाओं से सम्पन्न था। उनके जीवन भी 'महाग्रन्थ' ही थे। मैं उनका एक-एक पन्ना पढ़ और समझ पाया था। किन्तु महाराज धृतराष्ट्र एकमात्र ऐसे 'महाग्रन्थ' थे, जिसके पहले ही अध्याय— राज्यलोभ और पुत्रमोह—में ही मैं जीवन-भर उलझा रहा। इस उलझन से बहुत वर्ष पश्चात् श्रीकृष्ण ने मुझे उबार लिया।

क्या महाराज धृतराष्ट्र अन्धे थे? लम्बे अनुभव के पश्चात्, आज मुझे लग रहा है कि वे अन्धे नहीं थे। अनन्त मन:चक्षुओं से उन्होंने एक ही स्वप्न भिन्न-भिन्न प्रकारों से देखा था। वह स्वप्न था—अपने ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन को हस्तिनापुर के अभिषिक्त सम्राट् के रूप में देखना। मुझे विश्वास है, यदि ऐसा होता तो अगले ही दिन वे हस्तिनापुर को त्यागकर वानप्रस्थ चले जाते। मुझे लगता था कि अपनी अन्धी, आर्द्र आँखों को झपकाते हुए वे निरन्तर आक्रोश कर रहे हैं, "हे अर्जुन, तुम

तो शब्दभेद करने में निष्णात हो। मेरे हृदय का आक्रोश तुम्हें सुनाई कैसे नहीं दे रहा? मेरी एकमात्र इच्छा है, मेरे पश्चात् मेरा प्रिय पुत्र दुर्योधन ही हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर आसीन हो। उसके मार्ग में बाधा बननेवाले पाण्डव जैसे अचानक यहाँ आ टपके वैसे ही अचानक यहाँ से वन लौट जाएँ।" मनुष्य स्वार्थ के लिए अन्धा बन जाता है। कुरुराज धृतराष्ट्र के अन्त:चक्षु राज्यलोभ के कारण दिन-रात खुले रहे।

पहले-पहल मुझे आश्चर्य होता था–कोई भी व्यक्ति जब उनके कक्ष में आता था, उसके बिना कुछ बोले ही वे उसको पहचान लेते थे। यह कैसे हो पाता था? प्रत्येक व्यक्ति की सामान्यत: पाँच इन्द्रियाँ होती हैं, किन्तु बाह्यत: सौजन्यपूर्ण बोल बोलनेवाले हस्तिनापुर के महाराज के पास एक छठी इन्द्रिय भी थी–किसी को कभी दिखाई न देनेवाली, उसका नाम था–'राज्यलोभ!'

महाराज धृतराष्ट्र को मैंने भूलकर भी कभी 'काका' नहीं कहा और महाराज्ञी गान्धारी को 'काकी' कहने को मैं कभी भूला नहीं। जिस प्रकार हम पाँचों भ्राताओं को कुन्ती माता से आदरयुक्त प्रेम था, उसी प्रकार हमें इस काकी से भी प्रेम था। उन्होंने भी हमसे विशुद्ध प्रेम ही किया। जैसे श्रीकृष्ण का सबसे प्रिय योग था प्रेमयोग, वैसे ही गान्धारी माता को भी प्रेमयोग ही प्रिय था। कभी-कभी मेरे मन में विचार आता था कि गान्धारी माता श्रीकृष्ण के यादवकुल में जन्मी होतीं तो! जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, ऐसे महान पद पर पहुँच जातीं। हर नारी की भाँति जीवन-भर उन्होंने एक ही स्वप्न देखा–अपने ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन को सद्बुद्धि सूझे। उनका वह स्वप्न कभी साकार नहीं हुआ,–होनेवाला भी नहीं था।

जब भी मैं दुर्योधन के विषय में सोचने लगता था, एक विचित्र विचार मुझे पीड़ित कर देता था। मुझे तीव्रता से प्रतीत हुआ था कि उसके विषय में सोचना भी एक यन्त्रणा ही थी। कभी मेरे मन में विचार आता था, यदि दुर्योधन सौवाँ कौरव बनकर जन्म लेता तो? कभी, मैं सोचता था, यदि वह छठा पाण्डव बनकर जन्म लेता तो? किन्तु उसके लिए 'ऐसा होता तो?' का कोई अर्थ ही नहीं था। किसी उन्मत्त, एकाकी वनशूकर की भाँति उसका मन और जीवन था। मन में विचार आने पर अथवा शकुनि मामा के उकसाने पर वह एक ही बात जानता था–पाण्डवों को सीधे टक्कर देना! इस प्रकार टक्कर देते समय वह कुछ भी नहीं सोचा करता था।

हमारे कुरुकुल के कीर्तिचन्द्र को सर्वग्रासी ग्रहण की भाँति एक ही व्यक्ति ने ग्रस लिया था–मामा शकुनि! वह नखशिख रूप से कुटिल था। महाराज धृतराष्ट्र की छठी इन्द्रिय थी 'राज्यलोभ' और शकुनि मामा की छठी इन्द्रिय थी–'कुटिलता!' प्रथम श्रेणी की कुटिलता! उसकी कुटिलता का वर्णन एक ही प्रकार से किया जा सकता है–बिच्छू का कालकूट विष केवल उसके वक्र काँटे में भरा होता है। किन्तु गान्धार देश के इस बिच्छू की नस-नस में कुटिलता का हलाहल भरा हुआ था। वह इतना विषैला था कि जगत्-कल्याण के लिए समुद्र-मन्थन से निकला विषप्राशन करनेवाले नीलकण्ठ शिवशंकर कभी उससे मिलते तो! आँखें झपकाते हुए वह उनसे भी कहता, "हे प्रभु, कण्ठ को छोड़कर आपका गौर रूप कैसा सुन्दर दिखता है! केवल कण्ठ ही आपके सुन्दर मुखमण्डल को कलंकित कर रहा है। चिकित्सा-शास्त्र के मेरे गान्धारवासी गुरु ने मुझे एक दिव्य औषधि दी है। उसका लेप करने से क्षण-भर में आपका वर्ण पार्वतीदेवी के वर्ण की भाँति पुष्पगौर हो जाएगा। किन्तु यह औषधि कृष्णवर्णी है, कृपया भोलेनाथ इसकी ओर ध्यान न दें!" गान्धार देश के इस वैद्यराज की दी हुई औषधि बिखरे, घने रोएँवाले काले नाग के संचित विष की

भाँति ही होती, और उसे स्वयं शिव भी पचा पाते कि नहीं–शिव ही जानें?

शकुनि अपने मार्ग की बाधाओं को जड़मूल से उखाड़ने में निष्णात था। इस पहेली को मैं कभी सुलझा नहीं पाया कि गान्धारी माता जैसी सत्त्वशीला बहन का यह भ्राता इतना कुटिल कैसे था? उन दोनों को क्वचित् ही एक साथ देखते समय मुझे तीव्रता से प्रतीत होता था कि मनुष्य का अपने जन्म पर वश नहीं चलता।

हस्तिनापुर में मेरे भ्राताओं का और श्रीकृष्ण का एकमात्र विश्रामस्थल थे महात्मा विदुर और हस्तिनापुर की सीमा के समीप उनका सादा, स्वच्छ, शान्तिमय, सुन्दर आवास! उनके आवास के समान उनका मन भी था–सादा और निर्मल। उनकी पत्नी पारशवीदेवी भी उन्हीं के समान थीं। महामन्त्री विदुर अत्यन्त विद्वान, तपस्वी तो थे ही, बल्कि व्यवहार-कुशल भी थे। उनकी विद्वत्ता की प्रभा उनके मुख पर फैली स्पष्ट दिखती थी। उनका दर्शन मुझे सदैव द्वारिकावासी उद्धवदेव का स्मरण दिलाता था। हम सब पाण्डव आदरपूर्वक उनको विदुर काका कहा करते थे।

विदुर काका कुरुओं के महामन्त्री न होते तो? तो वे अवश्य श्रीकृष्ण के गुरु सान्दीपनि और घोर-आंगिरस की भाँति ऊँचे पद को प्राप्त होते। उनकी इस योग्यता को जानकर ही पितामह ने उन्हें हिमालय जाने से रोका था। वे दोनों निरन्तर हस्तिनापुर, काम्पिल्यनगर और द्वारिका के त्रिकोण के विषय में सोचते रहते थे। उनके वार्त्तालापों में श्रीकृष्ण का नाम बार-बार आता था। हस्तिनापुर के जिन इने-गिने व्यक्तियों को श्रीकृष्ण के वास्तविक रूप का ज्ञान हो चुका था, उनमें थे पितामह भीष्म और विदुर काका।

जब-जब मैं एक क्षत्रिय योद्धा के और एक शिष्य के नाते गुरुदेव द्रोण के विषय में सोचने लगता हूँ, तब-तब कदम्ब के गुमटीदार वृक्ष के निकट का विशाल यमुनादह-बिम्ब मेरी आँखों के आगे आ जाता है। यह दह भी अथाह है, जिसका जल सूर्य-किरणों में झलमला उठता है। उनके जीवन की तीन घटनाओं को मैं कभी समझ नहीं पाया। पहली घटना थी उनके अश्वत्थामा और मुझमें किये पुत्र और शिष्य के विभाजन की! मैं उनका परमप्रिय शिष्य–अर्थात् पुत्र के समान ही था। अपनी क्षमता और परिश्रम के कारण उनके पुत्र से कुछ बढ़कर ही था मैं। मेरी क्षमता को भाँपकर ही उन्होंने छिपे-छिपे ही ब्रह्मास्त्र का ज्ञान दिया था उसे। इसे मैं कभी भूल नहीं पाया।

दूसरी थी द्यूत की वह घृणास्पद घटना। उस समय द्रौपदी दोनों हाथ फैलाकर रोते-बिलखते उनके समक्ष गिड़गिड़ायी थी। उसके शब्द स्मरण आते ही आज भी शरीर के रोम-रोम खड़े हो जाते हैं। उस समय उसने आक्रोश किया था–"आचार्य, आप इन सबके आचार्य हैं। अपने गुरुपद की शपथ दिलाकर दुर्योधन-दु:शासन को रोकिए! द्यूत खेलने की मूर्खता करनेवाले मेरे पति को सावधान कीजिए। कुरुवंश की यह पुत्रवधू–आपकी पुत्री–दोनों हाथ फैलाकर आपसे लज्जा-रक्षा की भिक्षा माँगती है। अपनी शस्त्र-विद्या की शपथ दिलाकर रोक लीजिए इनको।" किन्तु गुरु द्रोण उस समय पितामह भीष्म की ओर मात्र देखते रह गये थे। उनकी आँखों में 'इस सभागृह के सदस्य अर्थ के दास हैं' की विवशता को देखकर उसने जो आक्रोश किया था, उसे भूलना सम्भव नहीं है।

तीसरी घटना थी–गुरुदेव द्रोण द्वारा जन्म पर आधारित जाति के कारण कर्ण और एकलव्य जैसे ज्ञानोत्सुक, परिश्रमशील, प्रतिभाशाली युवा शिष्यों को प्रदान की गयी घृणास्पद अवहेलना। गुरुदेव से किसी भी प्रकार के मार्गदर्शन से वंचित रहते हुए भी उन दोनों ने भविष्य में अपनी

अलौकिक योग्यता प्रमाणित की भी। एकलव्य ने तो गुरु द्रोण की मृत्तिका-मूर्ति बनाकर, उसी को साक्षी रखकर धनुर्विद्या की कठोर साधना की थी। ध्वनि का लक्ष्यभेद करने में भी वह मेरी ही भाँति प्रवीण हो गया था। एक दिन मृगया के निमित्त गुरुदेव के समक्ष हम सब भ्राताओं को उसके धनुर्विद्या-कौशल्य का दर्शन हुआ। भूँकते हुए एक श्वान के मुख में उसने इस कुशलता से बाण मारे थे कि उसका मुँह भी बन्द हो गया था और उसकी जिह्वा तथा उपजिह्वा को तनिक भी क्षति नहीं पहुँची थी। उसका यह अमोघ शर-कौशल्य अद्वितीय था। मुझे तो लगा था, कन्धे का धनुष उतारकर एकलव्य के चरणों में रख दूँ!

गुरु द्रोण ने किसी भी प्रकार की दीक्षा दिये बिना ही उस अद्भुत शिष्यश्रेष्ठ से उसी समय गुरु-दक्षिणा माँग ली। मुझे तब भी वह बड़ा विचित्र लगा था और आगे भी लगता रहा। गुरु द्रोण ने उस वनवासी शिष्य से गुरु-दक्षिणा के रूप में उसके दाहिने हाथ का अगूँठा माँग लिया। उसने भी तत्काल हमारे समक्ष अँगूठा काटकर चरणों में रख दिया। इसके पूर्व आर्यावर्त में ऐसा कभी घटित नहीं हुआ था और आगे कभी होने की सम्भावना भी प्रतीत नहीं हो रही थी। वह अद्वितीय गुरु-दक्षिणा गुरु-चरणों में रखते हुए जिस आत्मतेज से एकलव्य की आँखें चमक उठी थीं, वह तेज मुझे सदैव स्मरण रहा।

भविष्य में गुरु द्रोण से ही मुझे ज्ञात हुआ कि वह अघटित घटना मेरे कारण और मेरे ही लिए घटित हो गयी थी। कोई धनुर्धर मुझसे श्रेष्ठ प्रमाणित न हो, इस हेतु उन्होंने एकलव्य से वह अद्भुत गुरु-दक्षिणा माँगी थी।

उस दिन दो बड़े विचित्र विचार मेरे मन में आये। मैं सुन रहा था कि कर्ण भी मेरी ही भाँति ध्वनि के लक्ष्यभेद में प्रावीण्य प्राप्त कर रहा है। वह द्रोण-शिष्य नहीं था, कृपाचार्य का शिष्य था। गुरु द्रोण के दबाव के कारण यदि कृपाचार्य गुरु-दक्षिणा के रूप में कर्ण से उसके जन्मजात अभेद्य कवच की माँग करते तो? जाने क्यों, मुझे पूरा विश्वास था, यदि ऐसा होता तो कर्ण भी अपने कवच को उतारकर गुरु-चरणों में रख देता। दूसरा विचार था श्रीकृष्ण के विषय में! आचार्य सान्दीपनि के बदले आचार्य द्रोण उनके गुरु होते तो! ऐसी ही विचित्र गुरु-दक्षिणा वे श्रीकृष्ण से माँगते तो! एक निस्सीम, आज्ञाकारी शिष्य के नाते वे अपने गुरु से क्या कहते! मुझे पूरा विश्वास है, नित्य की भाँति नटखट मुस्कराते हुए वे कहते, "मेरे अल्पज्ञान के अनुसार रक्तलांछित गुरु-दक्षिणा गुरु कभी स्वीकार नहीं करते। मैं तो अपना अँगूठा गुरु-चरणों में समर्पित करना चाहता हूँ। किन्तु बायें हाथ से मैं उसे काट नहीं सकता। गुरु-चरणों को मैं अपने रक्त से लांछित करना नहीं चाहता। अत: कृपालु होकर आप ही मेरा अँगूठा काट लें और गुरु-दक्षिणा के ऋण से मुक्त करके जीवन-साफल्य का आशीर्वाद प्रदान करें।"

गुरु द्रोणाचार्य के दो स्वजन अलग-अलग रूपों में मेरे मन पर अंकित हो गये थे। एक थे उनके श्यालक–कृपाचार्य। वे हमारे गुरु ही नहीं, कुरुकुल के पुरोहित भी थे। सम्भवत: इसीलिए उनका राजकुल की धार्मिक विधियों की ओर अधिक झुकाव था। वे अनावश्यक बातें नहीं करते थे, किन्तु मन्त्रपाठ अविराम गति से किया करते थे। गुरुपुत्र अश्वत्थामा इसका दूसरा छोर था। अन्य किसी के भी लिए अप्राप्य एक जन्मजात देन उसको प्राप्त थी। उसके मस्तक पर ब्रह्मरन्ध्र के स्थान पर एक फीके लाल रंग की मांसल मणि थी। वह किसी को दिखाई न दे सके, इस हेतु वह अपने मस्तक पर एक वस्त्र-पट्टी बाँध लिया करता था। वह अधिकतर कर्ण के सान्निध्य में रहा

करता था। जब कभी उद्धवदेव हस्तिनापुर आते थे, अश्वत्थामा का अधिकांश समय उनके साथ बीतता था। अश्वत्थामा अन्य सभी से भिन्न लगता था। किन्तु वह भिन्नता क्या है, यह सोचकर भी मैं जान नहीं पाया। अत: एक बार मैंने श्रीकृष्ण से पूछा भी था, "हे माधव, गुरुपुत्र अश्वत्थामा तुझे कैसा लगता है? उसके विषय में तेरे क्या विचार हैं?" इस पर नित्य की भाँति न वह मुस्कराया, न उसने कोई उत्तर ही दिया। उसके मुख पर गम्भीरता छा गयी। उसने कहा, "न वह गुरुपुत्र है, न अश्वत्थामा ही। वह है चन्द्र-बिम्ब के शाश्वत कलंक की भाँति।" मैं उसके कथन को तनिक भी नहीं समझ पाया। मैंने धनुर्धर की मूलभूत दृढ़ता के साथ पूछा, "हे केशव, तूने जो कुछ भी कहा, उसमें से एक भी शब्द का अभिप्राय मैं नहीं जान पाया।" तब सदैव की भाँति नटखटपन से मुस्कराते हुए उसने कहा, "धनंजय, सभी बातों को जान लेना आवश्यक भी नहीं होता। कभी-कभी अज्ञानी रहने में ही सुख होता है।" उसके इस कथन ने भी मुझे सोचने पर विवश किया।

इन्द्रप्रस्थ में हमारे ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर के राज्याभिषेक होने के पश्चात् कुछ वर्ष स्वर्ग-सुख में व्यतीत हुए। श्रीकृष्ण के मार्गदर्शन में हमारा नवनिर्मित गणराज्य प्रगति-पथ पर सावधानी से अग्रसर होने लगा था। छह वर्षों में ही द्रौपदी को हम पाँचों भ्राताओं से पाँच तेजस्वी पुत्र प्राप्त हो गये। उनकी चैतन्यमय बाल-लीलाओं से इन्द्रप्रस्थ का राजप्रासाद निनादित हो उठा। इस कालावधि में हम भ्राताओं ने द्रौपदी के साथ एकान्त के कुछ नियम बनाये थे। एक बार मेरे हाथों नियम भंग होने से मुझे एक वर्ष के लिए इन्द्रप्रस्थ का त्याग करना पड़ा। उस समय मैंने आर्यावर्त की पूर्व दिशा की यात्रा की। इस यात्रा में मैंने अक्षयवट, वसिष्ठ पर्व और तुंगनाथ के तीर्थक्षेत्रों में विधिपूर्वक पाप-क्षालन किया था। हिरण्यबिन्दु तीर्थ में स्नान करके मैंने पूर्व दिशा की यात्रा समाप्त की। पूर्व दिशा के एक-एक तीर्थक्षेत्र के दर्शन करते-करते मैं नैमिषारण्य आ पहुँचा। वहाँ की उत्पालिनी, नन्दा, अपरनन्दा, कौशिकी, महानदी और गायत्री नदियों में मंगलस्नान किया। अन्त में समस्त भारतवर्ष की पवित्र गंगा नदी में मैं स्नान करने हेतु उतरा।

'गंगा: पुनातु माम्' कहते हुए गंगा के उष्ण जल में डुबकी लगाते समय मुझे हस्तिनापुर के दिन स्मरण हो आये। वहाँ इसी नदी में, बचपन में हम सब भ्राताओं ने यथेच्छ जल-क्रीड़ाएँ की थीं। एक समय था कि जब मैं और अश्वत्थामा–केवल हम दोनों ही आपस में बातें करते-करते गंगा-तट पर जाया करते थे। तब हम दोनों के कन्धों पर भिन्न-भिन्न आकार के जल-पात्र हुआ करते थे। मैं इन विचारों में ऐसे खोया था कि एक और पत्नी का दायित्व मेरे कन्धों पर आ पड़ेगा, इसकी मुझे तनिक भी कल्पना नहीं थी। मुझे स्नान करते देख, जल-भरण हेतु गंगा के घाट पर आयी नागकन्या उलूपी कटि पर जलकलश लिये ही मेरे सम्मुख आ गयी। अत्यन्त नम्र, मधुर शब्दों में उसने कहा, "मैंने आपको पहचान लिया है। इस दासी पर कृपा करके आप नागराज्य पधारें। हम नागों का आतिथ्य स्वीकार करके ही आगे की तीर्थयात्रा के लिए प्रयाण करें।" सचमुच ही वह अप्रतिम सुन्दरी थी। उसके अनुरोध को अस्वीकार करना सम्भव नहीं था।

मुझसे मिलते ही उसके पिता कौरव्य नाग ने उससे विवाह करने का प्रस्ताव मेरे समक्ष रख दिया। वहाँ जमा हुए सभी नाग अब तक जान चुके थे कि मैं कुन्तीपुत्र धनंजय हूँ। उन्होंने कोलाहल करते हुए उस प्रस्ताव को स्वीकार करने का मुझसे नम्रतापूर्वक अनुरोध किया। उनके आग्रह को मैं टाल नहीं पाया। अन्तत: उलूपी से विवाह के लिए मैंने अपनी सहमति दे दी। मैं नागों का जामाता बन गया। उलूपी का बचपन में ऐरावत नामक नाग से विवाह हो चुका था, किन्तु अल्पावधि में ही ऐरावत की मृत्यु होने से वह बाल-विधवा हो चुकी थी। अब वह मेरी धर्मपत्नी बन

गयी। कुछ समय वहाँ बिताने के पश्चात् मैंने वहाँ से प्रस्थान किया।

अन्त में मैं श्रीकृष्ण को सुदर्शन प्रदान करनेवाले भगवान परशुराम के निवास से पुनीत हुए महेन्द्र पर्वत पर आ गया। पर्वत शिखर का और उस पर स्थित भृगु आश्रम का दर्शन करके मैं मणिपुर राज्य में आया। इस राज्य के राजा थे चित्रवाहन। उनकी पुत्री चित्रांगदा मेरी तीसरी पत्नी बनी। नृत्यकला उसको अत्यन्त प्रिय थी। नृत्यशाला में मुझे एक आसन पर बिठाकर वह घण्टों आँखें चुँधियाँ देनेवाले अपने नृत्य-कौशल्य का प्रदर्शन किया करती थी। उसका वर्ण रक्तगौर था। नृत्य समाप्त करके अपने भालप्रदेश और कण्ठ पर जमे हुए स्वेद-बिन्दुओं को आँचल से पोंछती हुई वह मेरे निकट आ बैठती थी। निष्कपट, अल्हड़ बालिका की भाँति वह पूछती थी–"कैसी लगी आपको मेरी नृत्यकला? मैं कुछ भूल तो नहीं कर रही? हम मणिपुरवासियों में पुरुष भी स्त्रियों के साथ नृत्य करते हैं। यह हमारी प्रथा ही है। क्या आप भी मेरे साथ नृत्य करेंगे?"

मैं हँसकर कहता था, "नृत्य देखना मुझे अच्छा लगता है। उससे भी अधिक अच्छा लगता है अपने बाणों के ताल पर शत्रुओं को नचाना!" मेरा उत्तर सुनकर वह निराश हो जाती थी। उसके गोलाकार मणिपुरी मुख पर निराशा की छटा दिखाई देती थी।

एक दिन अत्यन्त उत्साह से वह द्वारिका के एक दूत को अपने साथ लेकर मेरे पास आ गयी। मेरे तीर्थयात्रा के आरम्भ से ही मेरा परमसखा श्रीकृष्ण दूतों द्वारा मेरे सम्पर्क में रहा था। चील आकाश में कितनी भी ऊँचाई पर उड़ती रहे, उसका ध्यान तो घोंसले में रहे अपने बच्चों पर ही रहता है। श्रीकृष्ण को तो अपने बच्चों से भी अधिक प्रेम मुझसे था, यह मैं जानता था।

साथ लाये द्वारिका के दूत को मेरे समक्ष उपस्थित करते हुए चित्रांगदा ने कहा, "सुनिए धनुर्धर, यह क्या कह रहा है! सम्भवत: आपके परमसखा आपके कान उमेठना चाहते हैं। यह आपके लिए द्वारिकाधीश का सन्देश लाया है–'जब तक तुम मणिपुर में हो, चित्रांगदा के साथ नृत्य का अभ्यास करते रहो। नृत्य शरीर-स्वास्थ्य को बनाये रखनेवाली कला है। किसी भी कला की आराधना कभी निष्फल नहीं होती'।"

श्रीकृष्ण का वह सन्देश मेरे लिए आदेश ही था। अब उलटा ही होने लगा–नृत्यशाला में जाते ही मैं चित्रांगदा से कहने लगा–"चलिए गुरुदेव! आपकी विजय हो गयी और मेरी पराजय! मैं भलीभाँति जान गया हूँ, नृत्य के विषय में मेरे मत को आपने ही द्वारिका तक पहुँचाया है। नहीं तो वहाँ से इस प्रकार सन्देश आता ही क्यों? अब लय-ताल पर नृत्य करना सिखा दीजिए मुझे!"

मणिपुरवासियों को अब एक अद्‌भुत दृश्य दिखाई देने लगा। इन्द्रप्रस्थ का धनुर्धर अर्जुन पत्नी चित्रांगदा के साथ 'ता थै...ताथै...तक थै' के ताल पर एक के बाद एक नृत्य के पदन्यास सीख रहा है। मणिपुर में मेरे द्वारा किये नृत्याभ्यास का भविष्य में, अज्ञातवास में, विराटनगरी के निवासकाल में राजकन्या उत्तरा को नृत्य-शिक्षा देते समय बहुत ही उपयोग हुआ। 'किसी भी कला की आराधना कभी निष्फल नहीं होती' इस कृष्ण-वचन का प्रत्यय भी मुझे हुआ। चित्रांगदा से हुए अपने पुत्र का नाम भी श्रीकृष्ण के परामर्श से मैंने 'बभ्रुवाहन' रखा। उसके केश भूरे रंग के थे। युवा होने पर, अश्व की भाँति जिस वाहन का वह उपयोग करने लगा, वह भी भूरे रंग का था, जिसे मणिपुरवासी 'याक' कहते थे।

मेरे जीवन की छोटी-मोटी कोई भी घटना ऐसी नहीं थी, जो मधुसूदन तक नहीं पहुँच पाती थी। पूर्व देश की तीर्थयात्रा का समय हो अथवा तत्पश्चात् किये गये दिग्विजय का समय हो, मैंने

लगभग समस्त आर्यावर्त में भ्रमण किया था। कई नगर, तीर्थक्षेत्र देखे। नदियाँ पार कीं, पर्वतों को लाँघा। किन्तु एक भी दिन ऐसा नहीं बीता, जिस दिन मुझे द्वारिका का और श्रीकृष्ण का स्मरण न हुआ हो। इस सुदूर भ्रमण में द्वारिका का स्मरण ही मेरा विश्राम था।

द्वारिका! वहाँ के सर्वेसर्वा–अपने प्रिय सखा श्रीकृष्ण के विषय में जो भी कहना है, मैं अन्त में कहूँगा। आरम्भ में झाँकी के रूप में इतना ही कहता हूँ कि मैं उसको समय के अनुरूप सम्बोधित करता आया हूँ। जब-जब मुझे उसके संयम की प्रतीति हुई, तब-तब मैंने उसको 'हृषीकेश' के नाम से–इन्द्रियों को वश में रखनेवाले के नाम से सम्बोधित किया। जब भी वह मुझसे गोकुल के गोप-जीवन के विषय में बातें करता था, मैं उसको गोपाल, मुरलीधर, दामोदर, नन्दनन्दन, मोहन, गोविन्द–इन नामों से सम्बोधित किया करता था। जब वह द्वारिका के असंख्य यादवों की चर्चा करता था, तब मैं उसको द्वारिकाधीश, वासुदेव, यादवश्रेष्ठ कहा करता था। यह सब मुझसे अपने-आप ही हुआ करता था। सम्भवत: यह उसकी ही इच्छा थी। कहीं से भी मैं अपने जीवन की ओर देखने लगता हूँ, तो मुझे सर्वत्र केवल श्रीकृष्ण और कृष्ण ही दिखाई देता है!

उसके स्मरण के साथ ही उसके जन्मदाता–मेरे मामा–वसुदेव महाराज का मुख मेरी आँखों के सामने आ जाता था। वे अब बहुत ही वृद्ध हो गये थे। हमारे पितामह भीष्म और महाराज धृतराष्ट्र भी वृद्ध थे। कभी-कभार, किसी महत्त्वपूर्ण घटना के ही समय हमसे मिलनेवाले महर्षि व्यास भी वृद्ध ही थे। किन्तु इन सब वृद्धों में मूलत: अन्तर था। बचपन में हम कौरव-पाण्डवों पर ध्यान देकर अच्छे संस्कार देने का अवसर पितामह भीष्म और महाराज धृतराष्ट्र को प्राप्त हुआ था, किन्तु बलराम भैया और श्रीकृष्ण को संस्कारों से परिष्कृत करने का अवसर तात वसुदेव को नहीं मिला था। वह अवसर मिला था नन्दबाबा और यशोदा माता को। इसीलिए वसुदेव महाराज मथुरा के समीप गोकुलवासी नन्दबाबा और यशोदा माता को द्वारिका आने के लिए अपने राजदूतों के माध्यम से आग्रहपूर्वक निरन्तर आमन्त्रित करते रहे थे। किन्तु उस वृद्ध दम्पती को अपनी भावनाओं से जुड़े गोकुल का त्याग करना स्वीकार नहीं था। श्रीकृष्ण ने कई बार मुझसे कहा था, "मेरा अब गोकुल जाना एक भूल होगी। नन्दबाबा और यशोदा माता के हृदय में बसे भोले-भाले गोपालकृष्ण की प्रतिमा को मिटाने का मुझे कोई अधिकार नहीं है।"

मेरे अनुभव और ज्ञान के अनुसार श्रीकृष्ण का सबसे बड़ा गुण विशेष यह था कि वह इस बात को कभी नहीं भूल सका कि उसके बचपन में जन्मदाता माता-पिता को कारागृह में दिन बिताने पड़े। इसलिए वह इस बात के लिए बहुत सावधान रहता था कि माता-पिता की उत्तरकालीन आयु में उन्हें किसी प्रकार का दु:ख नहीं पहुँचे। तात वसुदेव और देवकी तथा रोहिणी माता को भी श्रीकृष्ण की इस भावना की पूरी जानकारी थी। रोहिणी माता तो बलराम भैया से भी अधिक कृष्ण को भलीभाँति पहचानती थीं। द्वारिका में इन तीनों का एक-दूसरे से एकात्मरूप जीवन एक त्रिकोण की भाँति था, जिसके प्रति द्वारिकावासियों के मन में अत्यन्त आदर था। हम पाँचों भ्राता, द्रौपदी, कुन्ती माता और इन्द्रप्रस्थवासियों के मन में भी उन तीनों के प्रति वही भावना थी।

द्वारिका के अन्तर्गत जिनका व्यक्तित्व समझने में थोड़ा कठिन था, वह थे बलराम भैया। मेरे और सुभद्रा के विवाह के समय उनका जो व्यवहार था, उससे तो मुझे उनसे अप्रसन्न होना चाहिए था, किन्तु ऐसा हुआ नहीं। इसका कारण था श्रीकृष्ण की बौद्धिक चतुरता। जब भी बलराम भैया का उल्लेख किया जाता तो बातों-बातों में कृष्ण यह कहने से नहीं चूकता था कि, "हमारे दाऊ

शीघ्रकोपी अवश्य हैं, किन्तु वे शीघ्र ही शान्त भी हो जाते हैं। वे शीघ्र भावुक हो जाते हैं और भावुकता से किये कार्य को शीघ्र भूल भी जाते हैं। हम यादव इस बात को अन्यथा नहीं लेते हैं, अन्य किसी को भी इसे अन्यथा नहीं लेना चाहिए।"

बलराम भैया भी एक महाग्रन्थ ही थे। किन्तु यह महाग्रन्थ प्रकृति के अपने हाथों से उद्‌घाटित किये अरावली पर्वत-श्रेणी जैसा था! उनके प्रति श्रीकृष्ण के मन में जो आदर था, वही मेरे मन में भी था,–जो सुभद्रा से विवाह के पश्चात् भी बना रहा।

यादवों के दो सेनापति थे–अनाधृष्टि और सात्यकि। अनाधृष्टि अब वृद्ध हो गये थे, फिर भी सेनापति पद के दायित्व का निर्वाह कर रहे थे। यादव-सेना का वास्तविक मार्गदर्शक तो था अनुभवी और श्रीकृष्ण के साथ आर्यावर्त-भर भ्रमण किया हुआ महारथी सात्यकि। उसका स्वभाव कुछ बलराम भैया जैसा ही था। उसने धनुर्विद्या मुझसे ही सीखी थी। श्रीकृष्ण में और उसमें एक सादृश्य था–वे दोनों आजानुबाहु थे। दोनों को यह समान प्राकृतिक देन प्राप्त होते हुए भी वे पृथ्वी के दो छोरों की भाँति थे–उत्तर और दक्षिण। श्रीकृष्ण की सौ पहलुओंवाली बुद्धि के आसपास भी वह नहीं फटक सकता था। आयु में मुझसे ज्येष्ठ होते हुए भी सात्यकि ने धनुर्विद्या का ज्ञान पाने के लिए मुझे अपना गुरु मान लिया था। वह मेरा अत्यन्त आदर करता था। श्रीकृष्ण के साहचर्य में वह अत्यन्त उत्साही और तेजस्वी लगता था और उससे दूर रहने पर वह निष्प्रभ हो जाता था। उसके समान मैं भी श्रीकृष्ण का सखा था–तब हम दोनों में अन्तर क्या था? वह सखा था पर-प्रकाशित, मैं था पूर्ण समर्पित।

मेरे समर्पण की कोई सीमा नहीं थी। श्रीकृष्ण ने भी कई बार मेरे समर्पण-भाव की परीक्षा ली थी। मुझे पूरा आभास था कि उसकी दृष्टि में, उसके अधिकार में कृतवर्मा, प्रद्युम्न और लाखों यादव-योद्धाओं के होते हुए भी उसने मुझे ही चुना था। हम पाँच भ्राताओं में भी उसने मुझे ही परमसखा माना था। मेरे अन्य भ्राताओं को उसने कभी सखा नहीं कहा था। इसीलिए उसकी बहन सुभद्रा के मेरी पत्नी बनने के पश्चात् मेरे मन में उसके अतिरिक्त अन्य प्रमुख यादवों के विचार भी आते रहते थे।

यादवों की स्त्रियों और कौरव-पाण्डवों की स्त्रियों में बड़ा अन्तर था। कौरवों की स्त्रियों में गान्धारीदेवी को छोड़कर अन्य सभी स्त्रियों को अपने वैभव पर एक अज्ञात-सा गर्व था। कभी-कभी वह गर्व दूसरी स्त्री का अपमान करने से पीछे नहीं हटता था। उनमें दुर्योधनपत्नी भानुमती और बहन दु:शला भी थी। परिस्थितियों से निरन्तर संघर्ष करने के कारण पाण्डव-स्त्रियों में अपने-आप सहनशीलता आ गयी थी। कुन्ती माता तो इस बात का वन्दनीय आदर्श थीं। द्रौपदी भी उनके अनुरूप पुत्रवधू थी। कभी-कभी मेरे मन में एक विचित्र-सा विचार आता था–कौरवों की द्यूतसभा में जो घोर अपमानात्मक विपत्ति द्रौपदी पर आयी थी, वही विपत्ति दुर्योधनपत्नी भानुमती अथवा कर्णपत्नी वृषाली पर आती तो? उस द्यूतसभा में उपस्थित किसी भी सभासद की पत्नी पर ऐसी विपत्ति आ जाती तो? इसीलिए द्यूतसभा में द्रौपदी के घोरतम अपमान होने के पश्चात् मेरे मन में उसका स्थान और भी ऊँचा हो गया था। भीमसेन ने प्रकट रूप में प्रतिज्ञाएँ की थीं। मेरा स्वभाव उससे भिन्न था। मैंने तत्क्षण मन-ही-मन उसके स्त्रीत्व की अवमानना का प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा की थी। द्रौपदी श्रीकृष्ण की प्रिय सखी थी। राधिका को छोड़कर उसने द्रौपदी के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री को सखी नहीं कहा था। वह कृष्ण की प्रिय सखी थी और मैं परमसखा। अन्य

पत्नियों की अपेक्षा द्रौपदी मेरे अधिक निकट थी। हम दोनों के मन में एक ही विचार हुआ करता था–द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण का! हमारे प्रिय सखा कृष्ण का!

द्वारिका के यादव राजपरिवार की स्त्रियों के बारे में जब मैं सोचने लगता था, तो मन में यह भी विचार आता था कि द्रौपदी के उनके बारे में क्या विचार होंगे? द्वारिका की यादव-स्त्रियों में प्रमुख थीं देवकी और रोहिणी माता। श्रीकृष्ण ने सोचकर ही द्वारिका के सिंहासन पर स्वयं आसीन न होकर वह सम्मान तात वसुदेव को दिया था। कृष्ण के इस निर्णय और व्यवस्था से रुक्मिणी भाभी को किसी भी प्रकार का विरोध नहीं था। यह उनके त्याग की ही शक्ति थी कि बिना किसी प्रयास के वे अपनी सातों सपत्नियों पर प्रेम का सहज अधिकार स्थापित कर पायी थीं। वस्तुत: गान्धारी और कुन्ती माता, द्रौपदी और रुक्मिणीदेवी एक ही विचारधारा के भिन्न-भिन्न रूप थे। श्रीकृष्ण के कारण ही मनुष्य को पहचानने की मेरी सूझबूझ उन्नत हो गयी थी।

रुक्मिणी भाभी के अतिरिक्त श्रीकृष्ण की अन्य सात पत्नियाँ पूर्णत: भिन्न-भिन्न स्वभाव की थीं–भिन्न-भिन्न सुगन्धोंवाले सात पुष्पों की भाँति। स्वयं धागा बनकर उन सबको एक ही माला में गूँथने का दुष्कर, अद्वितीय कार्य किया था रुक्मिणी भाभी ने! तभी तो मैं और द्रौपदी उनका असीम आदर करते थे।

द्वारिका में रेवती भाभी, गुरुपत्नी, गर्ग मुनि की पत्नी, दोनों सेनापतियों की पत्नियाँ, अमात्य विपृथु, मन्त्रिगण और सभी दल-प्रमुखों की स्त्रियाँ, कृष्ण की पुनर्वसित की गयी कामरूप की सोलह सहस्र नारियाँ और उनकी प्रमुख कशेरू–इन सभी स्त्रियों पर रुक्मिणी भाभी का बहुत बड़ा प्रभाव था। रुक्मिणी भाभी सहित द्वारिकावासी सभी स्त्रियाँ देवकी और रोहिणी माता का अत्यन्त आदर करती थीं। इन्द्रप्रस्थ, द्वारिका और हस्तिनापुर की त्रिस्थली मेरे जीवन से दृढ़ भावधागों से जुड़ी हुई थीं। अत: द्रौपदी-स्वयंवर में मेरे वध के लिए कर्ण द्वारा की गयी प्रतिज्ञा को मैं भूल नहीं सकता था। इसके पूर्व कभी किसी ने मेरे विषय में ऐसी घोर प्रतिज्ञा नहीं की थी। उसके जन्मजात अभेद्य कवच-कुण्डलों के बारे में मैंने सुना था। ध्वनि का लक्ष्यभेद करनेवाली उसकी धनुर्विद्या का हस्तिनापुर की वासन्तिक प्रतियोगिता में हमने प्रत्यय किया था। उसी दिन सन्ध्या समय हम भ्राताओं की बैठक में युधिष्ठिर ने कर्ण के विषय में चिन्ता व्यक्त की थी। मैंने उससे कहा भी था कि वह उस सूतपुत्र की चिन्ता न करें। किन्तु मेरे मन को तो उसकी घोर प्रतिज्ञा का सतत आभास होता रहता था। श्रीकृष्ण से भेंट के समय मैं इस बात का अवश्य उल्लेख करता था। सामान्यत: श्रीकृष्ण कभी गम्भीर नहीं हुआ करता था, किन्तु जब कभी कर्ण की बात आती थी, वह कुछ क्षण मौन हो जाता था। कुछ समय पश्चात् सदैव की भाँति प्रसन्न मुस्कराते हुए कहता था–"तुम पाँचों अपनी अभेद्य एकजुटता अक्षुण्ण रखो, फिर तुम्हें उससे अभेद्य कवच-कुण्डलों की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रहेगी।"

इन्द्रप्रस्थ, द्वारिका और हस्तिनापुर की प्रमुख त्रिस्थली के पश्चात् मेरे जीवन में अनन्य महत्त्व था–मेरी ससुराल पांचाल राज्य का और पुत्र अभिमन्यु की ससुराल विराटनगर का। पांचालों के काम्पिल्यनगर पर धृष्टद्युम्न का बड़ा प्रभाव था–वह था भी बड़ा पराक्रमी। उसका वर्ण तप्त स्वर्ण जैसा था और बातें ज्वलन्त! उसके बोल ऐसे धधकते हुए होते थे कि कई बार पांचालों के सेनापति, अमात्य उसके आगे चुप हो जाते थे। पांचालों की संख्या बड़ी थी। पांचालनरेश–मेरे श्वशुर द्रुपद महाराज धृतराष्ट्र की पीढ़ी के थे। वे अब वृद्ध हो गये थे। विशाल पांचाल पर युवराज

धृष्टद्युम्न का ही आधिपत्य था। वहाँ धृष्टद्युम्न के शब्दों को अन्तिम रूप में मान लिया जाता था। मेरा यह श्यालक मेरा बहुत सम्मान करता था—इसलिए नहीं कि मैं उसका बहनोई था, बल्कि इसलिए कि उसकी दृष्टि में मैं अजेय धनुर्धर था—पाण्डव था। इससे भी अधिक, जब भी हमारी भेंट होती थी, मुझे प्रतीत होता था कि मैं श्रीकृष्ण का परमसखा हूँ, इसी का वह अधिक सम्मान करता है।

अपनी सासु माँ से मेरी भेंट कदाचित् ही हुआ करती थी। लेकिन जब भी होती, वे अपनी प्रिय पुत्री द्रौपदी की हर प्रकार से पूछताछ किया करती थीं कि क्या द्रौपदी श्रीकृष्ण से मिलने द्वारिका जाती है? मैं जब कहता था कि श्रीकृष्ण ही इन्द्रप्रस्थ आकर उससे मिलता है, उसके सभी प्रश्नों के उत्तर देता है, तब वे सन्तुष्ट हो जाती थीं।

मैंने कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि हमें पूरे एक वर्ष मत्स्यों की विराटनगरी में रहना पड़ेगा। श्रीकृष्ण सदैव कहा करता था कि मनुष्य को जीवन में कौन-कौन मिल जाएगा और उसे कहाँ-कहाँ जाना पड़ेगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। उसका जीवन भी इसी वास्तविकता से भरा हुआ था। उसका जन्म हुआ था मथुरा में—कंस के कारागृह में। जन्म होते ही उसे गोकुल जाना पड़ा। गोकुल से वह मथुरा आया और मथुरा से द्वारिका। तत्पश्चात् एक चक्रवर्ती की भाँति उसने सम्पूर्ण आर्यावर्त-भर का भ्रमण किया। वह स्वयं नहीं बता सकेगा कि उसने कहाँ-कहाँ भ्रमण किया! वनवास के बारह वर्षों में मुझे भी तो कहाँ-कहाँ घूमना पड़ा था।

वनवास के आरम्भ के कुछ दिन हम सब भ्राताओं ने द्रौपदी सहित काम्यकवन में बिताये। वनवासकाल में हमारी श्रीकृष्ण से पहली भेंट यहीं हुई। उससे मिले बिना ही द्यूत की शर्त के अनुसार हम हस्तिनापुर से ही सीधे काम्यकवन आ गये थे। काम्यकवन की हमारी पहली भेंट में ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर का निरादर न हो, इस हेतु हममें से किसी ने भी श्रीकृष्ण से द्यूत के विषय में कुछ भी नहीं कहा। किन्तु द्रौपदी ने उसे बहुत-कुछ सुनाया। उसने भी वह शान्ति से सुन लिया। बारह वर्षों का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास हमें कितने संयम से, एकजुट रहकर पूरा करना चाहिए, इसका सूक्ष्म मार्गदर्शन भी उसने किया। काम्यकवन में दो दिन हमारे साथ बिताकर वह द्वारिका लौट गया और हम द्वैतवन चले गये। वहाँ हमारे छह महीनों के निवास के पश्चात् अचानक प्रत्यक्ष महर्षि व्यास हमसे मिलने द्वैतवन आ गये। यहाँ कुछ अन्य ऋषियों के भी आश्रम थे। सम्भवत: हमारी नित्य मृगया के कारण उन्हें पीड़ा पहुँची हो। मृगया के समय भीमसेन बड़े जोर-शोर से हँकवा करता था। वह अपने परिचित हुए आदिवासी मित्रों को पुकारा करता था। मृगया में मारे गये शूकर, मृग आदि प्राणियों को बाँस के पक्के डण्डों से बाँधकर, अपने आदिवासी मित्रों के कन्धों पर लादकर वह हमारी कुटी की ओर भेजा करता था। सम्भव है, इससे आश्रम में वास करनेवाले तपस्वियों के नित्यकर्मों में बाधा आने लगी हो, उन्होंने महर्षि को उलाहना दिया हो। महर्षि के आदेश पर हम द्वैतवन से पुन: काम्यकवन चले गये।

हम सबकी बैठक में, मेरा अकेले ही हिमालय पर चले जाना निश्चित हो गया। श्रीकृष्ण का कहना था कि आगे की सोचकर हमें दिव्य अस्त्र प्राप्त कर लेने चाहिए। उसके कहने के अनुसार इस कार्य के लिए मैं ही योग्य था। पाशुपतास्त्र की प्राप्ति के लिए मुझे अपने भ्राता और द्रौपदी को छोड़ हिमालय पर जाना आवश्यक था। इसलिए बहुत सोच-विचार करके मैंने अपने मन को दृढ़ कर लिया। जाने से पहले ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर और भीमसेन को वन्दन किया। नकुल-सहदेव

को स्नेहपूर्वक वक्ष से लगाया। विदा लेने के लिए मैं द्रौपदी के पास आ गया। मेरा कण्ठ ही नहीं, पूरी पर्णकुटी ही रुँधी-सी लग रही थी, ऐसा अनुभव मुझे पहले कभी नहीं हुआ था। द्रौपदी ने धैर्यपूर्वक कहा, "अस्त्र प्राप्त किये बिना न लौटिएगा धनुर्धर! जब-जब मेरा स्मरण आए, आप कृष्ण को स्मरण कीजिएगा। किसी भी परिस्थिति में वह आपको अकेला नहीं छोड़ेगा।" कभी-कभी एकवचन में बात करनेवाली वह आज बहुत ही आदरपूर्वक बात कर रही है, यह मुझे बड़ी तीव्रता से प्रतीत हुआ। मैंने उसकी अपेक्षित प्रतिक्रिया व्यक्त की–"मेरा सब-कुछ उसी से तो है। मेरी चिन्ता मत कर। चलता हूँ मैं।"

उसी क्षण से मेरा वनवासी जीवन चक्र की भाँति घूमने लगा। सबसे विदा लेकर मैंने उत्तर दिशा की ओर यात्रा आरम्भ की–अकेले ही! देखनेवालों की दृष्टि में मैं अकेला ही था–किन्तु कुछ ही दिन पूर्व सुने कृष्ण के बोल मानो साकार होकर अनेक रूपों में मेरे साथ चल रहे थे। अन्तःकरणपूर्वक किया गया उसका स्मरण मुझे दिव्य अनुभूति देता आया था। उसने मुझे कभी भी, कहीं भी अकेला नहीं छोड़ा था–न छोड़नेवाला था। वह मुझे अकेला छोड़ ही नहीं सकता था।

मैं हिमालय पर्वत-श्रेणियों में गन्धमादन पर्वत पर आ गया। कैसी आवाहक, प्रफुल्ल प्रकृति से भरा हुआ था गन्धमादन! कुन्ती माता ने कहा था कि यहाँ के शतशृंग शिखर पर हम सब भ्राताओं का जन्म हुआ था। आज पहली बार केवल मुझे ही अपनी जन्मभूमि पुन: देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सर्वप्रथम मैंने शतशृंग शिखर पर पहुँचकर, बचपन में कुन्ती माता के कई बार बताये चिह्नों को खोज-खोजकर अपनी जन्मस्थली को ढूँढ़ लिया।

विशुद्ध प्रेम के–सत्य के उस दर्शन से मेरा हृदय भर आया। उस शान्त-शीतल पर्वत-शिखर पर मेरे सम्मुख आ खड़ा हुआ एक आदिवासी मुखिया! कुन्ती माता की सामान्यत: स्थूल शरीराकृति और उनके गौरवर्ण का संकेत करते हुए मैंने उनकी पर्णकुटी के बारे में पूछताछ की। अपने साथियों से वह कुछ फुसफुसाया। उसकी भाषा तो मेरी समझ में नहीं आयी, कुछ अस्पष्ट-से शब्द सुनाई दिये–"हमारी...मैया...पाँच...पुत्तर..." मुखिया ने सतर्कता से–अटकते हुए–हाथों के हाव-भाव से मुझसे पूछा–"तू...कौन...?" मैंने भी दाहिने हाथ की तीन अँगुलियाँ उठाकर हाथों के हाव-भाव से ही कहा–"पुत्तर कुन्ती मैया...तीसरा..." मुखिया का साँवला मुख विभिन्न भाव-भावनाओं से निखर उठा। तीर्थयात्री का वेश धारण करनेवाले मुझे उसने अपने आलिंगन में कस लिया। उसने और उसके साथियों ने उत्साहपूर्ण कोलाहल किया–"कुन्ती मैया...तीसरा पुत्तर...अर्जुन..." वहाँ एकत्र हुए आदिवासियों में से तीन-चार हृष्टपुष्ट वन-बन्धुओं ने अनपेक्षित ही मुझे कन्धे पर उठा लिया। अपनी भाषा में गगनभेदी घोषणा देते हुए, कन्धे पर बिठाकर ही वे मुझे अपनी पर्णकुटियों के ठीक मध्य पर स्थित एक विशाल पर्णकुटी में ले आये। वह पर्णकुटी स्वच्छ लिपी-पुती थी। उसके मध्य काठ के खम्भे से टिकाकर एक ऊँची-सी शिला रखी हुई थी। वह उनकी कुन्ती मैया का प्रतीक था। उसकी दाहिनी ओर तीन और बायीं ओर दो गोलाकार पाषाण रखे हुए थे। वह उनकी कुन्ती मैया के पाँच पुत्तरों का यानी हमारा प्रतीक था।

हस्तिनापुर की वासन्तिक प्रतियोगिता में गुरुदेव द्रोण ने अजेय धनुर्धर के रूप में मेरा प्रकट गौरव किया था। काम्पिल्यनगर में द्रौपदी के पति के नाते पांचालों ने मेरा सम्मान किया था। इन्द्रप्रस्थ में युधिष्ठिर के भ्राता के नाते पौरजन मेरा आदर करते थे। राजसूय यज्ञ के पूर्व मेरे किये दिग्विजय में देश-देश के राजाओं ने अपने-अपने नगर की सीमा पर मेरा स्वागत किया था। कृष्ण

और सुभद्रा के कारण जब-जब मैं द्वारिका गया, मेरे नन्दिघोष के चारों ओर घेरा डालकर द्वारिकावासियों ने वैभवशाली द्वारिका में मेरी शोभाशाली गौरव-यात्रा निकाली थी। समस्त आर्यावर्त–भारतवर्ष मुझे दिग्विजयी, अजेय धनुर्धर के नाम से पहचानाता था।

किन्तु आज इस शतशृंग पर आदिवासी बन्धुओं ने मेरा जो स्वागत किया, वह अतुलनीय था। प्रत्येक भेंट में कृष्ण मुझे अलग ही लगता आया था। समय-समय पर सदैव उसकी प्रतीति होती रही थी। किन्तु आज कुन्ती माता की आँखों को चौंधिया देनेवाले स्त्रीत्व के दर्शन मुझे हुए। इन वन-मानवों ने मेरी माता को अपने मन-मन्दिर में पूजा था–विशुद्ध, निरपेक्ष भाव से। वे उन्हें भूले नहीं थे, हम पाँच भ्राताओं को भी! हमारी पर्णकुटी को उन्होंने स्मृति-चिह्न की भाँति सँभाल रखा था। उसमें कोई भी रहता नहीं था।

अपनी उस जन्मस्थली–उस पर्णकुटी में मैंने दो ही दिन निवास किया। किन्तु उन दो दिनों में ही मैंने बहुत-कुछ अनुभव किया। मुझे धुँधला-सा स्मरण होनेवाला अपना और भ्राताओं का बचपन इन दो दिनों में मेरे चतुर्दिक् घूमता रहा। कई वृद्ध आदिवासी स्त्रियों ने 'कुन्ती मैया…अर्जुन…भीम' कहते हुए मेरे गालों पर हाथ फिराकर अपने कानों पर उँगलियाँ चटकाते हुए बड़े प्रेम से मेरी बलैयाँ उतारीं। दो दिन उनके प्रेम से दिये फल और गाय तथा बकरी के दूध का आहार मैंने ग्रहण किया। मुखिया के साथ जाकर मैंने बचपन में भीम के छलाँग लगाने से टूटी हुई शिला को देखा। दो दिन बाद उन निष्पाप, प्रेमिल वन्य-जनों से विदा लेकर मैं गन्धमादन की अधित्यका पर आ गया। मेरे पास अपना दो अक्षय तूणीर और गाण्डीव धनुष था। खड्ग जैसे सरलता से उपयोग में लाये जानेवाले शस्त्र भी थे। गन्धमादन की उस खुली हवावाली अधित्यका पर मैंने अकेले ही एक छोटी-सी पर्णकुटी बनायी।

हस्तिनापुर में गुरुद्रोण के पास शस्त्रविद्या की शिक्षा लेते समय मेरा दिन-क्रम अलग था और इन्द्रप्रस्थ में पाण्डुपुत्र अर्जुन के नाते वैभवशाली जीवन जीते समय मेरा दिन-क्रम अलग था। अब गन्धमादन पर्वत पर अकेले रहते समय मेरे दिन-क्रम में पूर्णत: परिवर्तन आ गया। यहाँ मैं अकेले ही पूरे पाँच वर्ष रहा।

कई बार दण्डकारण्य पार किये अनुभवी कृष्ण ने वन-जीवन को सुरक्षित बनाने की दीक्षा भी मुझे दी थी। उसमें दो बातें मुख्य थीं। पहली थी–बाघ, भेड़ियों, लकड़बग्घों जैसे हिंस्र पशुओं से रात्रि के समय स्वयं को सुरक्षित रखना। इसलिए मैंने पर्णकुटी के चतुर्दिक् पाँच हाथ चौड़ी, पुरुष-भर गहरी खाई खोद रखी थी। पर्णकुटी के ईंधन कक्ष में मैंने वर्ष-भर के लिए पर्याप्त होनेवाली सूखी लकड़ियाँ एकत्र रखी थीं। प्रतिदिन रात के समय खाई में लकड़ियाँ जलाकर पर्णकुटी को सुरक्षित कर देता था। दूसरी महत्त्व की बात थी–वर्षा ऋतु के लिए धान्य, सूखे फल संग्रहीत कर रखना। मधु के लिए मैंने छींके पर दो-तीन मटके भी टाँग रखे थे।

वर्षा और शरद् ऋतु में खाई में जलती अग्नि के कारण पर्णकुटी में ऊष्णता बनी रहती थी। ग्रीष्म ऋतु के आने तक मैंने खाई के चारों ओर काठ की पक्की, ऊँची बाड़ बना ली थी। इससे ग्रीष्म ऋतु में जलती खाई की आवश्यकता ही नहीं रही।

मैं यहाँ भगवान शिव से पाशुपतास्त्र प्राप्त करने हेतु आया था। प्रसन्न होकर शिव का दर्शन देना तो देव-दुर्लभ था और उनसे अस्त्र प्राप्त करना तो उससे भी अधिक कठिन था।

प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त में उठकर नदी में स्नान करके मैं पर्णकुटी में लौट आता था। थोड़ा

फलाहार करने के पश्चात् मैं पुरश्चरण करने और ध्यान लगाने बैठ जाता था। सर्वप्रथम मैं स्मरण करता था अपने प्रिय सखा कृष्ण का। उसका मोरपंख से शोभित स्वर्णमुकुट धारण किया हुआ मुखमण्डल मेरी बन्द की गयी जाग्रत आँखों के समक्ष प्रकट हो जाता था। वक्ष पर झूलती प्रफुल्ल वैजयन्तीमाला तथा कौस्तुभ मणि से जगमगाती मौक्तिक-मालाएँ और आजानुबाहुओं में गदा-चक्र धारण की हुई उसकी पीताम्बर-धारी नीलवर्ण मूर्ति मेरी आँखों के समक्ष साकार हो जाती थी।

मैं अपनी सुधबुध खो जाता था। मन-ही-मन श्रीस्तवन आरम्भ हो जाता था। ध्यानावस्था में ही मैं उसके चरणकमलों पर अपना मस्तक रख देता था। मेरा अस्तित्व, मेरी आत्मा सम्पूर्ण समर्पित होकर, आर्त भाव से उससे प्रार्थना करती थी–'रक्ष रक्ष प्रभो वासुदेव!'

उससे एकात्मरूप होकर जब मेरी भाव-प्रार्थना आरम्भ हो जाती थी, उसके विमल होठों से निकले स्पष्ट शब्द मुझे सुनाई देने लगते थे। अनजाने में ही मैं उसका अनुसरण करने लग जाता था–'शिवाकान्त शम्भो शशांकार्धमौले...' अपने-आप ही मैं शिव-स्तवन करने लगता था। मेरी बन्द-जाग्रत आँखों के समक्ष मोरमुकुटधारी श्रीकृष्ण ही शिवशंकर के रूप में प्रकट हो जाते थे। जटाजूट में गंगा और अर्धचन्द्र धारण किये, नीले काठ में भुजंगमाला पहने, डमरूधारी, हिमालय के कैलास शिखर पर ध्यानस्थित शिव मुझे दिखने लगते थे। मैं अन्तःकरणपूर्वक उनसे प्रार्थना करता था–'रक्ष रक्ष प्रभो शिवशंकर।'

गन्धमादन पर मैं चार वर्ष तपस्या करता रहा। अब शरद् ऋतु समाप्त होकर ग्रीष्म ऋतु का आरम्भ हो गया।

माघ बदी त्रयोदशी का दिन था। नित्य की भाँति गाण्डीव धनुष और दोनों अक्षय तूणीर लेकर मैं मृगया हेतु निकल पड़ा। देर तक मुझे कहीं कोई मृग दिखाई नहीं दिया। उसकी खोज में मैं गन्धमादन के घने अरण्य में घुस गया। मुझे एक विशाल तृणभूमि मिल गयी। वहाँ बहुत सारे मृग चर रहे थे। मैंने उनको अपनी आहट नहीं होने दी। एक ऊँचे, चौड़े सींगोंवाले नर-मृग को लक्ष्य बनाकर मैंने बाण छोड़ा। वह चूकनेवाला नहीं था। मृग उछल पड़ा। जैसे-तैसे पाँच-दस पग दौड़ा और गिर पड़ा। अन्य सभी मृग अब तक भाग खड़े हुए थे। अपने लक्ष्यभेद से प्रसन्न होकर मैं मृत मृग के समीप गया। मैं उसे हाथ लगाने ही वाला था कि एक घने झुरमुट के पीछे से धमकानेवाले शब्द सुनाई दिये–"हे नर, इस नर कृष्णमृग का आखेट मैंने किया है। उसके वक्ष में घुसा बाण मेरा है। यह आखेट मेरा है, इसे हाथ मत लगाना।" मैंने उन शब्दों की दिशा में देखा। ऐसे शब्द सुनने का मुझे अभ्यास नहीं था। वह एक किरात था। सम्भवत: वह मुखिया हो। वह लम्बा-सा, स्नायुबद्ध शरीरवाला, दाढ़ीधारी, विपुल केशों में पक्षियों के पंख खोंसे हुए, बुँदकीदार व्याघ्रचर्म लपेटे हुए था। धैर्यवान होते हुए भी उसको देखकर मैं चौंक गया। लक्ष्यभेद की अपनी अचूकता पर मुझे पूर्ण विश्वास था। मैंने कहा, "मृग के मर्मस्थल में लगा बाण मेरा है। यह आखेट मेरा है।"

'तेरा-मेरा, मेरा-तेरा' के हमारे वाक्युद्ध में उसने मुझे चुनौती दी–"मैं किरातराज हूँ। इस गन्धमादन का सर्वाधिकारी–हिमालय का भी! कन्धे पर धनुही लटकानेवाले क्षुद्र नर, मुझसे युद्ध करने को तैयार हो जा।"

उसका आह्वान सुनकर मेरा शरीर तप्त हो गया। मैंने कहा, "मैं धनुर्धर अर्जुन हूँ। श्रीकृष्ण का परमसखा धनंजय हूँ। मैं अपना अपमान सह सकता हूँ, किन्तु अपने गाण्डीव धनुष का नहीं–कदापि नहीं। हे किरात, तैयार हो जा। मैं तेरी चुनौती स्वीकार करता हूँ।"

हम दोनों ने धनुष उठाये। एक घोर धनुर्युद्ध का आरम्भ हो गया। देर तक हमने एक-दूसरे पर बाण फेंके। हमारे युद्ध का कोई निर्णय नहीं हो रहा था। आज तक जितने योद्धा मुझे मिले, यह उनसे अलग ही था–अधिक कुशल था। उसके प्रत्येक बाण का प्रत्युत्तर देने से पहले, श्रीकृष्ण का स्मरण करने से मैं चूकता नहीं था। घण्टों बीत गये–सन्ध्या होने को आयी। हमारे आसपास बाणों का ढेर लग गया था। बीच में पड़े आखेट के शरीर पर अब मक्खियाँ भिनभिनाने लगी थीं। अचानक सामने से होनेवाली बाणवर्षा रुक गयी। धनुष को अपने कन्धे पर लटकाकर वह मेरी ओर आने लगा। मेरे सम्मुख आकर वह खड़ा हो गया। वह मुझसे भी बहुत अधिक ऊँचा, साँवला, तेजस्वी था–श्रीकृष्ण ही का स्मरण दिलानेवाला। अपनी मधुर डमरू जैसी घनघनाती वाणी में उसने कहा, "हे कृष्णभक्त कौन्तेय, तुमने अपने-आप को जान लिया, परमसखा श्रीकृष्ण को पहचान लिया–मुझे पहचानने से कैसे चूक गये?"

मैं भौंचक्का-सा उसकी ओर देखता ही रह गया। शतशृंग की घाटियों में निनादित हुए संक्षिप्त से शिवबोल मुझे सुनाई दिये–"मैं कैलासपति..शंऽकऽर!"

'शं करोति इति शंकर:' जिनके केवल नाम-स्मरण में ही यह शक्ति है, वे प्रत्यक्ष कैलासपति शिवशंकर मेरे सम्मुख खड़े थे। मैं खिंचा हुआ-सा उनके निकट जा पहुँचा। मैंने उनके चरणों में दण्डवत् प्रणाम किया। मेरे मुख से शब्द ही नहीं निकल पा रहा था। मेरा अंग-प्रत्यंग रोमांचित हो उठा था।

जिस प्रकार श्रीकृष्ण मुझे धीरे-से ऊपर उठाता था, उसी प्रकार भगवान शिव ने भी मुझे ऊपर उठाया और कृष्ण ही की भाँति मुझे अपने दृढ़ आलिंगन में ले लिया। 'शिव' यह शब्द भी जिसके आगे छोटा प्रतीत हो, ऐसा था वह शिवस्पर्श–जिसे मैं कभी भूल सकनेवाला नहीं था। कुछ समय पश्चात् मेरी भुजाओं को पकड़कर मुझे अपने सम्मुख करते हुए, मेरी आँखों में अपनी शिवदृष्टि गड़ाकर उन्होंने कहा, "तुम्हारे शर-सन्धान की कुशलता से मैं प्रसन्न हुआ हूँ अर्जुन। जिसके लिए तुम निश्चयपूर्वक यहाँ आये हो, वह पाशुपतास्त्र आज मैं तुम्हें समन्त्र प्रदान करता हूँ। समस्त मानव-जाति के लिए तुम्हें एक कल्याणकारी कार्य करना है। तुमने एक नरश्रेष्ठ के रूप में जन्म लिया है। श्रीकृष्ण–स्वयं नारायण तुम्हें सखा के रूप में प्राप्त हुए हैं। जहाँ वे होंगे वहीं धर्म होगा और जहाँ धर्म होगा वहीं विजय होगी। तुम सफल होगे, मैं तुम्हें आशीर्वाद दे रहा हूँ। पाशुपतास्त्र के मन्त्र ग्रहण कर लो..."

शिव ने अपने नेत्र बन्द किये। हिमशिखर से गिरती गंगा की जलधारा की भाँति उनकी डमरू-वाणी से मन्त्रबोल उच्चरित होने लगे। मेरी भी आँखें बन्द हो गयीं। मेरे मुख से अपने-आप उन मन्त्रों का पुनरुच्चारण होने लगा। अन्त में उस तेज के मुख से 'तथास्तु' का अस्पष्ट-सा आशीर्वाद सुनाई दिया।

मैंने आँखें खोलीं। वहाँ किरातराज नहीं थे। जैसे आये वैसे ही वे चले भी गये थे।

उस रात्रि कुटी में मैं ऐसी गहरी नींद सोया, जैसी पहले कभी नहीं सोया था। अगले ही दिन से मुझे प्रतीत होने लगा कि मेरी चित्तवृत्ति में बड़ा परिवर्तन हो गया है। अकेला होने से और प्रिय पत्नी द्रौपदी, भ्राता और प्रिय सखा श्रीकृष्ण से दूर होने के कारण मन में जो वियोग के भाव आते थे, वे बन्द हो गये। पूरा गन्धमादन पर्वत मुझे शिवमय प्रतीत होने लगा।

शीघ्र ही मुझे शिवकृपा का प्रत्यय भी हुआ। द्रौपदी सहित मेरे चारों भ्राता मुझसे मिलने

गन्धमादन पर्वत पर आ गये। पाँच वर्ष पश्चात् उनसे मिलकर मुझे अवर्णनीय आनन्द हुआ। मेरे प्रिय भीमसेन ने तो मुझे ऐसे कसकर आलिंगन में बाँध लिया कि लगा कहीं वह मेरे शरीर को चूर-चूर तो नहीं कर देगा! मेरा पाशुपतास्त्र प्राप्ति की सूचना पाकर उन सबके मुखमुण्डल सूर्य-पुष्प की भाँति खिल उठे। वहाँ लगभग सप्ताह-भर हम सब आपस में अथक बातें ही करते रहे। हम सबके मुख में निरन्तर विषय था–केवल श्रीकृष्ण का।

अपने लिए बनायी उस छोटी-सी कुटी को हमने गिरा दिया। उसकी खाई को भी मिट्टी से भरकर, काठ की बाड़ को भी हटा दिया। अब अपने निवास के लिए हमने सुदूर दिखनेवाले कुबेर शिखर को चुन लिया। वहाँ प्रशस्त भूमिखण्ड पर हमने इन्द्रप्रस्थ के राजप्रासाद की भाँति अलग-अलग कक्षोंवाली पर्णकुटियों का संकुल ही खड़ा कर दिया था। सब पर्णकुटियों के ठीक मध्य द्रौपदी के लिए एक ऊँची-सी शयन-कुटी बनायी गयी। उसके निर्देशों के अनुसार उसमें कक्ष बनाये गये। हमारे पर्णकुटी-संकुल के समीप ही धौम्य ऋषि और उनके आश्रमकुमारों के लिए आश्रम-संकुल खड़ा किया गया था। हमारे वनवास के छह वर्ष बीत गये थे। अब तीन-चार वर्ष गन्धमादन के कुबेर शिखर पर ही निवास करने का हम सबने निर्णय लिया। द्रौपदी और मेरे चार भ्राताओं ने पाँच वर्ष काम्यकवन में ही निवास किया था। वह हस्तिनापुर के समीप ही था। अब हम जहाँ रहनेवाले थे, वह गन्धमादन पर्वत हस्तिनापुर से बहुत दूर था। हमें वन भेजनेवाले दुर्योधन और शकुनि को अब हमारी गतिविधियों का पता नहीं लग सकता था।

गन्धमादन पर्वत के कुबेर शिखर पर हमने चार वर्ष निवास किया। हस्तिनापुर छोड़े दस वर्ष हो गये थे। ग्यारहवें वर्ष के आरम्भ में ही हमने गन्धमादन छोड़कर चले जाने का निर्णय किया। हमारी यह जन्मस्थली हमारा मर्मस्थान बन गयी थी। हमारे कारण द्रौपदी को भी वह वैसी ही प्रतीत होने लगी थी। शतशृंग शिखर पर स्थित अपनी जन्मस्थली के हम सबने दर्शन कर लिये थे। अब हमें दक्षिण की ओर लौटना था। हमने यात्रा के आरम्भ का दिन निश्चित किया। दो दिन पहले हम भ्राताओं ने अलकनन्दा नदी के पाट में यथेच्छ जलक्रीड़ा की थी। गन्धमादन को छोड़ने के विचार से हमारा मन भर गया था। इस पर्वत को हम दूसरी बार छोड़ रहे थे। पहली बार हमने इसको छोड़ा था बचपन में–कुन्ती माता के साथ। किन्तु इस समय वे हमारे साथ नहीं थीं, वे अकेली थीं हस्तिनापुर में–विदुर काका के घर! उनके दर्शन के लिए हम सब आतुर हो गये थे। घुटने टेककर, भूमि पर मस्तक रखकर हमने उस घने पर्वतदेव को प्रणाम किया। जाने पुन: कब इन पर्वत-श्रेणियों के दर्शन होंगे!

इस यात्रा में बदरी-केदार पर हम पड़ाव डालनेवाले थे। गंगा-तट पर स्थित इस तीर्थक्षेत्र में एक शिव-मन्दिर की धर्मशाला में हमने पड़ाव डाला। नकुल-सहदेव तीन पाषाणों का चूल्हा लगाने में मग्न हो गये। भीमसेन ईंधन के लिए लकड़ियाँ लाने गया। द्रौपदी भोजन बनाने की तैयारी में जुट गयी। ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर एक बैठक पर बैठे, पाषाण की भित्ति से पीठ टिकाकर सबकी देखरेख करने लगे। मैं एक मृत्तिका कुम्भ लेकर जल लेने गंगा-घाट पर गया। कुम्भ भरकर मैंने पाषाण की एक सीढ़ी पर रख दिया और गंगा के स्वच्छ, शुभ्र-धवल जल में उतर गया। स्नान कर, जलकुम्भ कन्धे पर उठाकर मैं घाट की सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। आनेवाला अज्ञातवास का वर्ष कहाँ और कैसे बिताया जाए, इस विचार में मैं मग्न था। घाट की कुछ ही सीढ़ियाँ शेष थीं कि, किसी ने मुझे आवाज दी–“धनंजऽय...तुम?” वह आवाज मुझे मधु के कुम्भ में डुबोयी जैसी मधुर लगी। आवाज मेरी पूर्ण परिचित थी। मेरे सामनेवाली सीढ़ी पर एक तेजस्वी

पुरुषश्रेष्ठ खड़ा था। उसके शरीर पर सामान्य शुभ्र वस्त्र थे। घने, घुँघराले मुक्त केश उसके कन्धे पर लहरा रहे थे। मुझे वह आवाज और वह मुखाकृति बहुत ही जानी-पहचानी-सी लगी। मैंने सूक्ष्म दृष्टि से उस पुरुषश्रेष्ठ की ओर देखा।

यह तो हमारे उद्धवदेव हैं।

मुझे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि वह उद्धवदेव हैं। उनके शरीर पर यादव राजवेश का एक भी आभूषण नहीं था। उनका मुखमण्डल पूर्णिमा के चन्द्र की भाँति शान्त-शीतल दिख रहा था।

"उद्धवदेव–आप?" कहते हुए मैंने कन्धे से उतारकर जलकुम्भ नीचे रख दिया और उनके चरणस्पर्श किये। उन्होंने मुझे ऊपर उठाकर अपने प्रगाढ़ आलिंगन में कस लिया। मैंने त्वरित उनसे पूछा, "आप यहाँ कैसे आ गये? वह भी इस वेश में?" उन्होंने मुस्कराकर कहा, "तुम्हें आश्चर्य हो रहा है अर्जुन? सब-कुछ बताता हूँ। किन्तु तुम्हारे भ्राता कहाँ हैं? द्रौपदीदेवी कहाँ हैं? कैसे हो तुम सब?"

उनका एक-एक शब्द सुनते हुए कई वर्षों बाद हमसे कोई प्राणाधिक प्रेम करनेवाला मिल गया है, इस भावना से मेरा मन खिल उठा।

"देव, मेरे साथ चलिए। हम सब शिव-मन्दिर की धर्मशाला में ठहरे हैं।" मैंने नीचे रखा जलकुम्भ उठाया और चलने लगा। मेरे पीछे-पीछे उद्धवदेव चलने लगे। हम धर्मशाला में आ गये। जैसा मैंने सोचा था, वैसा ही हुआ। पहले किसी ने भी उन्हें नहीं पहचाना। कुछ ही क्षणों में द्रौपदी चूल्हे से उठकर हमारे पास आ गयी। उसने सूक्ष्म दृष्टि से उद्धवदेव को निहारा और वह आनन्द से चीत्कार कर उठी, "यह तो हमारे उद्धवदेव हैं! यहाँ कैसे आ गये?" उसने नतमस्तक होकर उद्धवदेव को प्रणाम किया और पूछा, "कृष्ण कैसा है? कहाँ है? हमसे मिलने कब आएगा वह?" उसके प्रश्नों की बौछार से मेरे सभी भ्राता जान गये कि कौन आया है! उन्होंने भी उद्धवदेव के चरणस्पर्श किये। युधिष्ठिर ने आदरपूर्वक उनका हाथ थामकर उन्हें बैठक पर बिठाया। उसने भी पूछा, "आप यहाँ कैसे आ गये देव?"

उद्धवदेव ने मुस्कराकर कहा, "कहता हूँ सब-कुछ–धीरे-धीरे–किन्तु इस वनवास काल में तुम सब तो कृश हो गये हो। पहले अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखो। मैं भैया के कहने से ही यहाँ–बदरी-केदार आया हूँ। आते हुए गंगामाता के प्रथम दर्शन में ही मैंने अपना राजवेश उनको समर्पित कर दिया है। कई वर्षों से–जब हम आचार्य सान्दीपनि के आश्रम में थे–तभी से मानव-जीवन के प्रयोजन की खोज करने का विचार मेरे मन में घर कर गया है। मुझे लगा, शस्त्र धारण कर, वैभवशाली द्वारिका में रहकर इस प्रश्न का उत्तर पाना सम्भव नहीं है। अत: मैंने यह निर्णय कर लिया है।

"सम्भवत: बदरी-केदार के विषय में भैया के मन में कुछ विशेष संकल्प हो। इस परिवेश का निरीक्षण करने हेतु उन्होंने मुझे यहाँ भेज दिया है। तुम्हारे वनवास के वर्षों की उन्होंने पूरी गिनती कर रखी है। तुम गन्धमादन पर थे, इस बात का उन्हें पता है। तुम यहाँ से सीधे काम्यकवन चले जाओ। भैया, तुम्हें वहीं मिलेंगे और भविष्य के लिए अपनी योजना बताएँगे।"

उद्धवदेव से मिलकर हमें बहुत अच्छा लगा। वे दो दिन हमारे साथ धर्मशाला में ही रहे। उनसे विदा लेकर हम काम्यकवन जाने के लिए निकले। वहाँ हम तीसरी बार जा रहे थे। वहाँ पहुँचते ही भीमसेन हमारे निवास के लिए योग्य स्थान ढूँढ़ने में लग गया। तृणबिन्दु सरोवर के तट का रम्य

परिसर उसने चुन लिया था। हमारे वनवास का यह अन्तिम पड़ाव था। वनवास का यह बारहवाँ वर्ष था। यहाँ भी हमने पर्णकुटियों का विशाल संकुल खड़ा कर लिया।

वनवास-जीवन का हमारा दिन-क्रम आरम्भ हो गया। तृणबिन्दु सरोवर के तट पर दो प्रमुख घटनाएँ घटीं। पहली थी–द्रौपदी की सत्त्व-परीक्षा लेने मुनिवर दुर्वासा के अपने प्रचण्ड शिष्यसमूह सहित काम्यकवन आने की। इतने सारे अतिथियों को द्रौपदी कैसे भोजन खिलानेवाली थी? उसके गृहिणी रूप की प्रतिष्ठा धूल में मिल जानेवाली थी और अतिथि का अपमान करने का निमित्त बनाकर शीघ्रकोपी दूर्वासा उसको शाप देनेवाले थे।

किन्तु दुर्योधन और शकुनि की यह वक्र चाल सफल नहीं हो सकी। तपस्या से युधिष्ठिर को प्राप्त 'सूर्यस्थाली' से द्रौपदी के गृहिणी पद की प्रतिष्ठा सुरक्षित रह गयी।

इसी समय श्रीकृष्ण के भेजे दूत ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूचना दी। हस्तिनापुर में अंगराज कर्ण द्वारा दान-सत्र आरम्भ करने के विषय में थी वह! उसने याचक बनकर आये एक ब्राह्मण को, उसके माँगने पर, अपने अभेद्य कवच-कुण्डल दान में दे दिये थे। वह याचक कोई ब्राह्मण नहीं था, ब्राह्मण बनकर आया देवराज इन्द्र था। देवजाति और उनके राजा इन्द्र के लिए मेरे मन में असीम आदर था। हमारे श्रीकृष्ण की भाँति देव सदैव न्याय के लिए लड़ते आये थे। उनकी इसी धारणा के कारण मैं उनका आदर करता था। जाने क्यों, इन्द्र का याचक बनकर कर्ण के कवच-कुण्डल छीनना मुझे मन-ही-मन अच्छा नहीं लगा था, यद्यपि द्यूतसभा में द्रौपदी का धृणास्पद अपमान करनेवाला कर्ण मेरा प्रथम शत्रु था।

दूसरी घटना थी कौरवों के घोषयात्रा की। इस घोषयात्रा के समय भी चित्रसेन द्वारा बन्दी बनाये गये दुर्योधन-दु:शासनादि प्रमुख कौरवों को मैंने और भीमसेन ने ही अपने पराक्रम से छुड़वाया था और प्राणदान देकर हस्तिनापुर भेज दिया था।

काम्यकवन में घटित हुई सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी–वनवास काल में हमारी श्रीकृष्ण के साथ हुई अन्तिम भेंट। तृणबिन्दु सरोवर के तट पर जब वह अपने विशिष्ट यादव-प्रमुखों सहित हमसे मिला, तब द्रौपदी सहित हम सबकी वनवास की थकान मिट ही गयी। हमारे मन पर जो असहनीय तनाव था, वह भी दूर हो गया। मुझे आलिंगन में लेकर उसने मेरी पीठ थपथपायी। उस थपथपाने में पाशुपतास्त्र की प्राप्ति, जयद्रथ को पढ़ाया गया पाठ और घोषयात्रा के समय दुर्योधन सहित कौरवों को प्राणदान–इन सत्कृत्यों की सराहना समाविष्ट थी।

उसका मनःपूर्वक स्वागत करने के पश्चात् उसके नेतृत्व में द्रौपदी सहित हम पाण्डवों की जो बैठक हुई, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। कोई हमें पहचान न पाए इसलिए अज्ञातवास का सम्पूर्ण वर्ष हम कहाँ और कैसे बिताएँ, इसकी पूरी योजना उसने हमारे समक्ष चित्रवत् खड़ी की। आखिर वह शून्य में से द्वारिका निर्माण करनेवाला सर्जक-संयोजक जो था! उसकी योजना में थोड़ी-सी भी त्रुटि रह जाए, यह सम्भव नहीं था।

अज्ञातवास में हम किस प्रकार व्यवहार करें, यह सभी सूक्ष्मताओं सहित बार-बार समझाकर श्रीकृष्ण द्वारिका चला गया। अब एक वर्ष तक उसका नख भी देख पाना सम्भव नहीं था। हम भी अज्ञातवास की यात्रा पर निकले।

श्रीकृष्ण के मार्गदर्शन के अनुसार हम लोग अज्ञातवास के लिए विराटनगर की ओर चल पड़े। जीवन की जिन-जिन घटनाओं को हम कभी भूल नहीं पाये, उनमें से एक घटना थी

विराटनगर में बिताया गया एक वर्ष का अज्ञातवास।

अज्ञातवास के लिए मुझे अपना पुरुषवेश और शस्त्र त्यागकर नृत्य-शिक्षिका का स्त्रीवेश धारण करना पड़ा था। जिस वक्ष पर मैं लौहत्राण धारण किया करता था, उसी पर मुझे कंचुकी धारण करनी पड़ी। सबसे अधिक कष्ट मुझे तब हुआ जब मैंने अपना प्राणप्रिय गाण्डीव धनुष शमी के वृक्ष पर छिपाने के लिए भीमसेन के हाथों थमा दिया। उससे भी अधिक वेदना मुझे इस बात से हुई कि हमारी ही सुरक्षा के लिए पूरे वर्ष तक मेरा परमप्रिय सखा श्रीकृष्ण हमसे एक बार भी नहीं मिला।

कुरुओं की द्यूतसभा में अपनी प्रिय पत्नी का वस्त्र खींचनेवाले दु:शासन पर मैं अत्यधिक क्रुद्ध हो गया था। फिर भी मैं चुप ही रहा था,—और श्रीकृष्ण की सीख ही उसका कारण थी। भविष्य में जब कभी इस घटना की मुझे याद आती थी, मेरे मन में एक ही प्रश्न आता था—घोर अपमान का यह संकट किसी अन्य राजस्त्री पर आ जाता तो?

द्यूतसभा में दु:शासन ने द्रौपदी का वस्त्र खींचा, तब उसे जो तीव्र पीड़ा हुई होगी, वही पीड़ा मुझे हुई—जब एक योद्धा होते हुए, पाशुपतास्त्र का अधिकारी होते हुए मुझे स्त्रीवेश धारण करना पड़ा। ऐसा संकट न कभी मेरे किसी भ्राता पर आया न श्रीकृष्ण पर! इन्द्रप्रस्थ आते-जाते समय श्रीकृष्ण ने विराटनगर के मत्स्यों से दृढ़ सम्बन्ध बना रखे थे। बातचीत में कई बार उसने मत्स्यों के विराटनगर की चर्चा की थी। इसी से अज्ञातवास के समय हम उनको समझ सके और अज्ञातवास का एक वर्ष उनके यहाँ काट सके।

मत्स्यराज विराट, महाराज्ञी सुदेष्णा, भविष्य में मेरी पुत्रवधू बनी राजकुमारी उत्तरा और उसका भ्राता उत्तर—सभी मेरी भावकक्षा में प्रविष्ट हो गये। श्रीकृष्ण की पुत्री चारुमती मुझे पुत्री जैसी प्रिय थी—वैसी ही उत्तरा भी।

हमारा अज्ञातवास समाप्त होने के पश्चात् घटनाचक्र अत्यन्त गतिमान हो गया—श्रीकृष्ण के कभी-कभार ही प्रकट होनेवाले सुदर्शन चक्र की भाँति।

हम कौरव-पाण्डवों के मध्य कई प्रश्न ऐसे थे, जिनका समाधान युद्ध के बिना हो नहीं सकता, यह प्रमाणित हो गया। मैं श्रीकृष्ण से मिलने द्वारिका हो आया था। 'तुझे यादवों की सशस्त्र सेना चाहिए कि नि:शस्त्र मैं?' किसी को भी जटिल प्रतीत होनेवाले उसके इस प्रश्न का मैंने झट से नि:सन्दिग्ध उत्तर दिया था—"तू जैसा भी हो—सशस्त्र अथवा नि:शस्त्र—मैं तूझे ही चाहता हूँ। कुन्ती माता और द्रौपदी सहित मेरे भ्राताओं को चाहिए केवल तेरा आशीर्वाद!"

यादव-सेना में कितने रथी-महारथी हैं, कितने द्वैरथ योद्धा हैं, कितने पदाति हैं, कितने अश्वारोही हैं, इसकी पूरी जानकारी उसने दुर्योधन को दी थी। उसका पूर्ण समाधान करते हुए प्रसन्न मुख से उसको विदा देकर हस्तिनापुर वापस भेज दिया था। केवल यादव सेनापति सात्यकि और कुछ चुनिन्दा योद्धाओं को लेकर उसने मेरे साथ द्वारिका छोड़ी थी। वहाँ से हम उपप्लाव्य आ गये। द्वारिका से उपप्लाव्य आते-आते उसने मुझे जो कुछ कहा, उसका सार एक ही था—क्षत्रिय को रणभूमि से दूर नहीं रहना चाहिए, संग्राम ही उसका जीवन है।

उपप्लाव्य आते ही उसने अपने बौद्धिक चातुर्य से कई घटनाचक्र घुमाये। हम कौरव-पाण्डवों का विनाशक युद्ध टालने का उसने हर-सम्भव प्रयास किया। मेरे श्वसुर महाराज द्रुपद से परामर्श करके उसने सन्धि करने हेतु पांचाल पुरोहित को महाराज धृतराष्ट्र और पितामह भीष्म के पास

हस्तिनापुर भिजवाया। किन्तु वे असफल होकर ही लौट आये।

कौरव-मन्त्री संजय का श्रीकृष्ण से सखाभाव जानकर दुर्योधन, शकुनि और मन्त्री कणक ने सन्धि करने हेतु उनको उपप्लाव्य–हमारे शिविर में भेजा। कौरवों का सन्देश, जो स्वयं संजय को भी स्वीकार नहीं था, मन्त्री संजय ने मेरे समक्ष ही श्रीकृष्ण से कह सुनाया। वह सन्धि का प्रस्ताव था ही नहीं, वह थी कौरवों की तिरछी, कुटिल चाल! संजय ने द्वारिकाधीश से कहा, "महाराज धृतराष्ट्र का पाण्डवों के लिए सन्देश है कि लाखों पराक्रमी योद्धाओं को महायुद्ध में अपने प्राणों की आहुति देने पर विवश करने की अपेक्षा अच्छा होगा यदि युधिष्ठिर और उसके भ्राता, अपने बचपन से प्रिय खाण्डववन जैसे किसी वन में जा बसें! सम्बन्धियों के सहयोग से वे उस वन में भी इन्द्रप्रस्थ जैसे राज्य का निर्माण कर सकते हैं। यह सम्भव न हो तो धार्मिक स्वभाव के युधिष्ठिर का अपने भ्राताओं सहित भिक्षा माँगकर जीविका चलाना भी शास्त्रसम्मत होगा।"

वह कटु सन्देश कृष्ण को सुनाने का कर्तव्य करते हुए विविध भावनाओं से संजय का कण्ठ भर आया। उन्होंने झुककर श्रीकृष्ण के पाँव पकड़ लिये। श्रीकृष्ण ने मुस्कराकर उन्हें ऊपर उठाया। अत्यन्त प्रेम से उन्हें अपने हृदय से लगाते हुए हमारे त्राता ने कहा, "शान्त हो जाओ संजय! तुमने तो अपना कर्तव्य निभाया है। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। इससे तुम्हारे प्रति मेरे प्रेम में तनिक भी अन्तर नहीं आएगा। मन्त्री के नाते अपने महाराज का सन्देश तो तुमने मुझे दे दिया। अब मेरा भी एक सन्देश उन तक पहुँचा दो। पाण्डवों ने अब तक बहुत सह लिया है। पाण्डवों के पिता सम्राट् पाण्डु का विश्वस्त होने के नाते सँभाला हुआ राज्य अब वे पाण्डवों को लौटा दें। द्यूत की शर्तों का पाण्डवों ने पूर्णत: पालन किया है। अत: कम-से-कम इन्द्रप्रस्थ का राज्य वे पाण्डवों को लौटा दें। इसलिए आवश्यक दौत्य करने हेतु मैं हस्तिनापुर आ रहा हूँ, यह भी उनसे कह देना।"

संजय हस्तिनापुर लौट गये। द्वारिकाधीश का सन्देश उन्होंने शब्दश: महाराज धृतराष्ट्र को कह सुनाया। हस्तिनापुर की प्रतिक्रिया की हमने प्रतीक्षा की। किन्तु उनकी ओर से कोई उत्तर नहीं आया। इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण और द्रौपदी सहित हम भ्राताओं की उपप्लाव्य में अन्तिम बैठक हो गयी। उसमें श्रीकृष्ण का हम कौरव-पाण्डव भ्राताओं के राज्य के विवाद में मध्यस्थता करने हस्तिनापुर जाना निश्चित हुआ। द्रौपदी ने भी बहुत-सी बातों का उन्हें बार-बार स्मरण दिलाया।

कार्तिक के महीने में, चन्द्र के रेवती नक्षत्र में रहते ही मैत्र मुहूर्त में हम सबसे विदा लेकर श्रीकृष्ण ने सात्यकि और कुछ विशिष्ट योद्धाओं सहित दौत्य के लिए उपप्लाव्य को छोड़कर हस्तिनापुर की ओर प्रयाण किया। उनके गरुड़ध्वज रथ का सारथ्य दारुक कर रहा था।

कुछ दिनों की यात्रा के पश्चात् एक दिन सन्ध्या समय वे हस्तिनापुर के समीप वृकस्थल पहुँच गये। वहाँ उन्होंने एक रात्रि के लिए पड़ाव डाला। अगले दिन प्रातःकाल ही सभी आह्निक सन्ध्या, दानादि से निवृत्त होकर वे सात्यकि सहित हस्तिनापुर की सीमा पर पहुँच गये। संजय के द्वारा अग्रिम सूचना देने से श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए आतुर हस्तिनापुरवासी नर-नारियों के झुण्ड-के-झुण्ड सीमा पर जमा होने लगे।

हस्तिनापुर पहुँचने के पश्चात् श्रीकृष्ण ने प्रथम पितामह भीष्म, धृतराष्ट्र आदि ज्येष्ठों से औपचारिक कुशल-समाचार पूछा। उसके स्वागत के लिए सीमा पर आये महात्मा विदुर भी साथ

थे। उसके अनुरोध पर श्रीकृष्ण ने हस्तिनापुर की दूसरी सीमा पर स्थित उनके आवास पर दोपहर का भोजन किया। वहीं थोड़ा विश्राम करके तीसरे प्रहर वह कुन्ती माता से मिला। उसने पिता वसुदेव और दोनों राजमाताओं सहित द्वारिका के अन्य जनों का कुशल-क्षेम माता को बताया। उनके पुत्रों की ओर से ही शान्ति का प्रस्ताव लेकर वह हस्तिनापुर आया है, यह भी उसने माता को बताया।

सन्ध्या समय वह दुर्योधन से मिलने निकला। दारुक को उसने अपना गरुड़ध्वज कुरुओं के राजप्रासाद में, दुर्योधन के कक्ष के आगे खड़ा करने की सूचना दी। श्रीकृष्ण मिलने आएगा, इसका दुर्योधन और शकुनि को तनिक भी अनुमान नहीं था। पहले तो वे दोनों हड़बड़ा गये। श्रीकृष्ण की यही विशेषता थी कि वह कब क्या कर बैठेगा, इसका कोई भी व्यक्ति अनुमान नहीं कर पाता था। दुर्योधन और शकुनि ने झेंपती हँसी के साथ उसका स्वागत किया। उसके स्वागत के लिए हस्तिनापुर की सीमा पर उपस्थित न रहने की भूल को सुधारने के लिए दुर्योधन ने बार-बार हाथ जोड़कर श्रीकृष्ण से रात्रि-भोजन उसके यहाँ करने का अनुरोध किया। कुरुओं का अहंकारी युवराज हाथ जोड़कर एक ग्वाले से विनती कर रहा है, यह दृश्य बड़ा ही मनोरंजक था। दुर्योधन ही की भाँति बार-बार हाथ जोड़कर श्रीकृष्ण ने उसके आमन्त्रण को अस्वीकार किया। रात्रि का भोजन भी उसने विदुर काका के यहाँ ही किया। भोजन के पश्चात् दीर्घकाल तक उन दोनों की चर्चा चलती रही। इस चर्चा में श्रीकृष्ण ने महात्मा विदुर से धृतराष्ट्र, दुर्योधन, शकुनि, अमात्य वृषवर्मा की मानसिकता को जान लिया। धृतराष्ट्र और दुर्योधन के समक्ष पितामह भीष्म हताश हो गये हैं, यह बात उसको छू गयी।

अगले ही दिन सन्धिवार्त्ता आरम्भ होनेवाली थी। गरुड़ध्वज रथ पर सात्यकि सहित आरूढ़ होकर श्रीकृष्ण विदुर-निवास से कुरु राजसभा की ओर निकला। अपने कार्य में वह सफल होकर ही लौटेगा, इसमें हमें तनिक भी आशंका नहीं थी। उसके हस्तिनापुर में आगमन का हस्तिनापुरवासियों को पहले ही पता चल चुका था। उसके प्रेम में पागल नगरजनों ने अपने-अपने घर के आगे जल का छिड़काव करके रंगवल्लियाँ बनाकर नगर को सजाया था। सुवासित पुष्पों की कमानें खड़ी कर नगर को सुशोभित किया था। उसको विदुर-निवास से कुरु राजसभा तक पहुँचने में ही दो घण्टे लग गये। नगरवासी महिलाएँ आदरपूर्वक उसके रथ के अश्वों के खुरों पर जलकुम्भ उँड़ेल रही थीं। उसके मस्तक पर शुभ कुंकुम-तिलक लगाकर भरी आँखों से उसकी आरती उतार रही थीं। जगह-जगह गवाक्षों से उस पर पुष्पांजलियों की वर्षा हो रही थी। वाद्यों के सम्मिश्र कोलाहल से सम्पूर्ण हस्तिनापुर रोमांचित हो उठा था। उसके किरीट में लगा मोरपंख, वक्ष पर झूलती वैजयन्तीमाला और उसका झलमलाता पीताम्बर कुंकुम-वर्षा में नहलाया गया था।

पितामह भीष्म, महामन्त्री विदुर और अमात्य वृषवर्मा ने कुरुओं के प्राचीन सभागृह के द्वार में आदर सहित श्रीकृष्ण का स्वागत किया। उस वैभवशाली सभागृह में विशेष रूप में उसके लिए रखे गये उच्चासन पर उसको आसीन करवाया गया। उसके पीछे सात्यकि और विशिष्ट सशस्त्र यादव-पाण्डव-योद्धा खड़े हो गये। दारुक बाहर रथ में ही बैठा रहा।

कुरुओं के सभासदों से भरे उस प्राचीन सभागृह में श्रीकृष्ण ने हमारा प्रतिनिधित्व किया। उसका वह अद्वितीय वक्तृत्व सुनने का सौभाग्य हममें से केवल सात्यकि को प्राप्त हुआ। उसे सुनने से वंचित रहने के कारण मेरे कान सदा तृषार्त रहे, मेरा मन तिलमिलाता रहा!

बाद में सात्यकि से मुझे ज्ञात हुआ कि उस सभा में श्रीकृष्ण ने अपना समस्त बुद्धि-चातुर्य दाँव पर लगाकर राजसभा के सभी सदस्यों को स्तम्भित कर दिया था।

किन्तु उस वक्तृता का महाराज धृतराष्ट्र, दुर्योधन, शकुनि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने श्रीकृष्ण के सन्धि-प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। दुर्योधन मूढ़ की भाँति बड़बड़ाया—“सुई की नोंक पर समा सके इतना धूलिकण भी पाण्डवों को बिना युद्ध के नहीं मिलेगा।” इतना ही नहीं यह भी कि “सम्पूर्ण विवाद की जड़—इस ग्वाले को ही मैं बन्दी बनाता हूँ। इससे सभी प्रश्न हल हो जाएँगे।” अहंकार के अत्युच्च शिखर पर विराजमान वह विमूढ़ आत्मा शिशुपाल की ही भाँति बोला।

अपने भिन्न-भिन्न दल-प्रमुखों को उसने आदेश भी दिये। तब जो दृश्य शिशुपाल ने देखा था, वही दृश्य दुर्योधन और कुरु सभासदों को देखना पड़ा। श्रीकृष्ण ने आँखें बन्द कर सुदर्शन के दिव्य मन्त्रों का आह्वान किया था। उसके एक-एक मन्त्रबोलों के साथ समस्त सभागृह को दहलाते हुए कुरुओं के लिए अपूर्व वाद्यघोष का प्रादुर्भाव होने लगा। वह इतना भेदक था कि सम्पूर्ण सभागृह भयभीत होकर खड़ा हो गया। केवल तीन व्यक्ति बैठे रहे—पितामह भीष्म और दृष्टिहीन महाराज धृतराष्ट्र तथा महाराज्ञी गान्धारी।

श्रीकृष्ण के ऊपर उठाये दाहिने हाथ की तर्जनी पर प्रचण्ड गतिमान, बारह आरोंवाला, वज्रनाभ सुदर्शन चक्र प्रकट हो गया था। उसके शक्तिशाली प्रकाशवलयों से वह सभा चौंधिया गयी थी। उस तीव्र तेज को सहने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं थी। धीरे-धीरे महाराज धृतराष्ट्र और महाराज्ञी गान्धारी आसन से उठ खड़े हो गये। महाराज सिटपिटाकर यहाँ-वहाँ सिर घुमाते हुए गिड़गिड़ाने लगे—“क्षमा करें द्वारिकाधीश, मेरा पुत्र मूढ़ है—मूढ़ है!”

आसन पर बैठे अकेले पितामह हाथ जोड़कर, आँखें मूँदकर कुछ बुदबुदा रहे थे।

यह दिव्य दर्शन उसने कुछ ही क्षण कुरुओं को दिया। नपे-तुले शब्दों में उसने दुर्योधन से कहा, “दुर्योधऽन, तुझमें सामर्थ्य हो तो अपने राज्य में जितनी भी रस्सियाँ और जितनी भी लौह-शृंखलाएँ हैं, उन्हें इकट्ठा कर ले, तथा बुला ले अपने सैनिकों को, बना दे मुझे बन्दी!” तत्पश्चात् निश्चयपूर्वक दृढ़ता से पैर उठाते हुए वह सभागृह से निकला। सात्यकि सहित वह जब सभागृह से बाहर चला आया, दुर्योधन हतबुद्धि-सा अपने आसन पर गिर पड़ा था।

सभागृह के द्वार पर गरुड़ध्वज सहित रुके दारुक को वह सदैव की भाँति सहज ही दिखाई दिया। किन्तु इस समय उसके पग दृढ़ निश्चय से भूमि को रौंदते हुए पड़ रहे थे।

श्रीकृष्ण के दूरदर्शी सन्धि-प्रस्ताव को दुर्योधन ने ठुकरा दिया था। अब महायुद्ध अनिवार्य हो गया था। उसे रोकना अब किसी के हाथ नहीं रहा था। मुझे पूर्ण विश्वास था, युद्ध किस प्रकार लड़ा जाए यह अब केवल कृष्ण पर ही निर्भर है। वह जब उपप्लाव्य लौट आया, उसमें अन्तर्बाह्य परिवर्तन हो चुका था। उसके केवल निकट जाने से ही मन में आनेवाले परिवार के, लौकिक जीवन के विचार लुप्त हो जाते थे। श्रीकृष्ण से मिलने के पश्चात् सबका एक ही विचार दृढ़ हो रहा था—निर्णायक महासंग्राम का! न्याय-अन्याय का अन्तिम निर्णय करनेवाला महासंग्राम—न भूतो न भविष्यति! सामान्यत: दार्शनिक, धार्मिक बातें करनेवाले अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर को मैंने बार-बार, खोद-खोदकर पूछा, “बड़े भैया, आपका क्या निर्णय है?” उसने अपनी शंखाकार ग्रीवा सीधी तानकर उत्तर दिया—“महासंग्राम!”

श्रीकृष्ण के आदेश के अनुसार हम पाण्डव रथी, महारथी, द्वैरथी, अतिरथी और सात अक्षौहिणी सेना की व्यूह-रचना का निर्णय करने लगे।

हम सब कुरुक्षेत्र की रणभूमि पर शिविर में थे और श्रीकृष्ण उपप्लाव्य में। उसने पाण्डव-पुरोहित धौम्य ऋषि, यादव-पुरोहित गर्ग मुनि और पांचालों की ओर से ऋषिवर याज-उपयाज के साथ परामर्श करते हुए महायुद्ध की तिथि निश्चित की–वह थी मार्गशीर्ष बदी द्वितीया की! युद्ध जैसे सत्य का सामना करने के पूर्व अपने ज्येष्ठों के आशीर्वाद पाना आवश्यक होता है। मेरे सभी वन्दनीय तो हस्तिनापुर में थे। अत: दो दिन पहले ही मैं भीमसेन और अन्य भ्राताओं सहित हस्तिनापुर आ गया। सर्वप्रथम मैंने कुन्ती माता और महात्मा विदुर के दर्शन किये। जब मैंने कुन्ती माता के चरणों पर मस्तक रखा, तो मेरा मन पूर्णत: निर्भय हो गया। उन्होंने भी मुझे ऊपर उठाकर हृदय से लगाया और वृद्ध होते हुए भी क्षत्राणी को शोभा देनेवाले शब्दों में उन्होंने मुझसे कहा, "कुरुकुल को शोभा दे, ऐसा ही युद्ध करना है तुझे। कृष्ण के आदेश का शब्दश: पालन करना। ध्यान में रखो, वह सारथि मात्र नहीं है। प्रतिदिन रणभूमि पर उपस्थित होने के पहले उससे आशीर्वाद प्राप्त करना न भूलना। हम सबका सर्वाधिक भरोसा तेरे ऊपर ही है। जा पुत्र, आयुष्मान भव–विजयी भव–कीर्तिमान भव!" उनकी पानीदार आँखों में मुझे निश्चय का अपूर्व क्षात्रतेज स्पष्ट दिखाई दिया।

हम सबने महात्मा विदुर से आशीर्वाद प्राप्त किये। तत्पश्चात् हम पितामह से मिलने गये। उनके चरणों पर रखा मस्तक उठाने को जी नहीं कर रहा था। यह ध्यान में आते ही उन्होंने तत्परता से मुझे ऊपर उठाया। कुरुकुल का वह अत्युच्च देवदारु-वृक्ष थरथराया। भाव-भीने शब्दों में पितामह ने कहा, "पुत्र अर्जुन, जैसा कृष्ण कहेगा, वैसा ही करो। आयुष्मान भव! विजयी भव! यह अन्तिम कुरु नयी पीढ़ी के सर्वाधिक गुणी वंशज को मन:पूर्वक आशीर्वाद दे रहा है!"

हम सबने गुरु द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, महाराज धृतराष्ट्र और गान्धारी माता से आशीर्वाद ग्रहण किये। हम जब हस्तिनापुर से कुरुक्षेत्र लौट रहे थे, तब मेरा मन दृढ़ता से संग्रामोत्सुक हो चुका था। यह युद्ध अब गृहयुद्ध अथवा राज्याधिकार का युद्ध नहीं रह गया था। सत्य-असत्य के बीच का यह महासंग्राम कई पीढ़ियों को स्मरण रहनेवाला था। उसका सबसे बड़ा दायित्व मुझ पर था। इसमें मेरी भूमिका ही अद्वितीय थी।

हम पाँचों भ्राताओं के सुशोभित रथ हस्तिनापुर छोड़कर कुरुक्षेत्र की ओर बढ़ने लगे। हम अपने-अपने विचारों में खो गये थे। किन्तु किसी के भी मन में यह विचार नहीं आया कि यह युद्ध कितने दिन चलेगा? इसका आरम्भ तो वद्य पक्ष में होगा, किन्तु समाप्ति किस तिथि पर होगी? किस मुहूर्त में होगी?

अन्तत: लाखों सैनिकों को जिसकी प्रतीक्षा थी, वह मार्गशीर्ष बदी द्वितीया का महान दिवस उदित हुआ। उस दिन ब्राह्ममुहूर्त में उठकर स्नान-सन्ध्यादि नित्यकर्मों से निवृत्त होकर हम सब भ्राता अपने शिविर-संकुल में सबसे ऊँचे, गोलाकार, प्रशस्त कृष्ण-शिविर में आये। हमारी दाहिनी कलाइयों में शुभ्र-धवल मोगरे के पुष्पों की अविरल मालाएँ बँधी थीं। हमने वक्ष पर अभेद्य लौहत्राण धारण किये हुए थे। कन्धों पर अपने-अपने अभिमन्त्रित धनुष लटकाये थे। बाणों से ठसाठस भरे तूणीर पीठ पर कसे थे और कटिबन्ध में खड्ग लटकाये थे। हमारे गदा, चक्र, मूसल, शतघ्नी, भुशुण्डी, अग्निकंकण आदि शस्त्र रथ के पार्श्वभाग में पंक्तिबद्ध रखे हुए थे।

शिविर में पूर्वाभिमुख रखे एक छोटे, आकर्षक स्वर्णिम सिंहासन पर श्रीकृष्ण बैठा था। हमने उससे अनुरोध किया कि वह हमारी पूजा को स्वीकार करे और हमें आशीर्वाद दे। युधिष्ठिर ने उसका चरण-प्रक्षालन कर उसकी विधिवत् पूजा की। हमने क्रमश: उसके कुंकुममण्डित चरणों पर माथा रखकर उससे आशीर्वाद लिये। युधिष्ठिर से उसने कहा, "विजयी भव–अभिषिक्त भव!" भीमसेन को उसने आशीर्वाद दिया, "विजयी भव–कीर्तिमान भव!" मैं जब उसके सम्मुख आया, बिना कुछ कहे उसने झट से मुझे हृदय से लगाया। मुझे आशीर्वाद मिल गया।

नकुल-सहदेव को भी उसने "विजयी भव–कीर्तिमान भव!" का आशीर्वाद दिया था।

हमारे साथ धृष्टद्युम्न भी था। श्रीकृष्ण ही के परामर्श से उसको हमारा सेनापति पद दे दिया गया था और इस पद पर कल ही उसका अभिषेक किया गया था। सेनापति होने के कारण उसके कण्ठ में श्वेत पुष्पों की माला पहनायी गयी थी। उससे भी लम्बी वैयजन्तीमाला श्रीकृष्ण के वक्ष पर झूल रही थी।

श्रीकृष्ण को आगे रखकर, धृष्टधुम्न के पीछे-पीछे हम सब शिविर से बाहर आ गये। सभी अपने-अपने रथ पर आरूढ़ हो गये। मैं भी अपने सुशोभित, नन्दिघोष रथ पर आरूढ़ हो गया। सभी प्रकार के शस्त्रों से नन्दिघोष का पार्श्वभाग सुसज्जित था। ध्वजदण्ड पर लगाया गया कपिध्वज दृषद्वती नदी की ओर से आती हुई वायु-लहरों से फड़फड़ा रहा था। उस पर अंकित कपि अज्ञात के वक्ष पर धड़ाधड़ छलाँगें लगा रहा था! हमारे पीछे पत्ती, सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चमू, अनाकिनी–आदि विभागों में सुरचित सात अक्षौहिणी सेना का समुद्र फैला हुआ था।

हमारे आगे उसी रचना में ग्यारह अक्षौहिणी सशस्त्र कौरव-सेना का प्रचण्ड महासागर लहरा रहा था। उस महासागर के मुख पर कौरव-सेनापति के पद पर अभिषिक्त पितामह भीष्म का गंगौघ रथ स्पष्ट दिखाई दे रहा था। उनके दाहिने हाथ, रथदल के अग्रस्थान पर रथारूढ़, शुभ्र दाढ़ीधारी गुरुदेव द्रोण दिख रहे थे। गुरुदेव की दाहिनी ओर आचार्य कृप थे। पितामह की बायीं ओर गुरुपुत्र अश्वत्थामा, भूरिश्रवा, विकर्ण दिख रहे थे।

अभी तक श्रीकृष्ण मेरे नन्दिघोष के रथनीड़ पर आरूढ़ नहीं हुआ था। उसने प्रथम रथ के सभी चक्रों को आगे-पीछे हिलाकर, वे ठीक बैठ गये हैं, कार्यक्षम हैं, इसकी परीक्षा की। अश्वों के समीप जाते हुए उसने किसी की पीठ थपथपायी तो किसी की अयाल को तनिक झँझोड़ दिया। अकेले उसको ज्ञात अश्वगीता में उसने प्रत्येक अश्व से बातें कीं। तत्पश्चात् एक ही छलाँग में वह रथनीड़ पर आरूढ़ हो गया। अश्वों को नियन्त्रण में रखनेवाली, मोड़ देनेवाली, उत्तेजना देनेवाली चारों अश्वों की वल्गाओं को उसने सँभाल लिया। फिर उसने कटि के नीले दुकूल में खोंसे पांचजन्य को टटोला। मुझ पर एक दृष्टि डालकर वह मुस्कराया। उसके निश्चयपूर्ण मुखमण्डल पर यह रणहास्य मैंने पहले कभी नहीं देखा था। वह कैसा था, यह केवल मैं ही जान सकता था; किन्तु उसका वर्णन करना सम्भव नहीं था।

अचानक उसे कुछ स्मरण हो आया। उसने कहा, "तनिक ठहर जा धनंजय। मैं अभी आता हूँ।" उसने वल्गाओं को नीचे रखा। रथनीड़ के पास रखी एक काष्ठनलिका लेकर एक ही छलाँग में वह रथनीड़ से नीचे उतर गया। रथ के अग्रभाग के पहले ऊँचे चक्र के पास झुककर, एक लचीले काष्ठ से बँधे वस्त्र से वह रथचक्र की धुरी में ओंगन पोतने लगा। नीचे झुकते ही उसके कण्ठ में पहनी वैजयन्तीमाला और कौस्तुभ मणियुक्त मौक्तिक-मालाएँ झूलने लगती थीं और ऊपर उठते

ही उसके वक्ष से लिपट जाती थीं। मस्तक पर धारण किये मुकुट में शोभित मोरपंख पवन-झकोरों से फड़फड़ा रहा था। उसको झुककर रथचक्र में ओंगन लगाते देख एक अद्भुत विचार से मैं रोमांचित हो उठा। वास्तव में वह सारथि था–आर्यावर्त के मानव-जीवन की रथयात्रा जब-जब किसी समस्या में उलझकर ठहर-सी गयी थी, तब-तब उसने अपने दिव्य विचारों के ओंगन से क्या उसे पुन: गतिमान नहीं किया था?

जिस गति से वह नीचे उतरा था, उसी गति से नन्दिघोष के सभी रथचक्रों में ओंगन लगाकर वह रथनीड़ पर आरूढ़ हो गया। कटि के दुकूल में खोंसा अपना बड़ा पांचजन्य उसने हथेलियों में ले लिया। ग्रीवा को गगन की ओर उठाकर कण्ठ की धमनियों को फुलाते हुए उसने पूरी प्राणशक्ति से पांचजन्य को फूँका। उसे सुनते ही मैं सिहर उठा। तभी पितामह ने भी उसी प्रकार अपने गंगनाभ शंख को फूँका। उनके पीछे-पीछे आचार्य द्रोण, कृपाचार्य ने भी अपने-अपने शंख फूँके। कुरु सेना में रणवाद्यों का प्रचण्ड कोलाहल हुआ।

मेरे मन में उलट-पुलट विचारों के असंख्य शंख गूँजने लगे। शुभ्र-धवल दाढ़ीधारी वृद्ध पितामह को देखकर मैं पुन: एक बार सिहर उठा। जिनकी गोद में मैं खेला-पला, क्या उन्हीं पितामह को मैं अपने बाणों का लक्ष्य बनाऊँ? जिनके चरण छूकर आया हूँ, उन्हीं का वध करूँ? जिन आचार्य द्रोण, आचार्य कृप ने शिष्य के नाते मुझसे अपार प्रेम किया, उनके प्राण ले लूँ? यह सब किसलिए? केवल राज्य की प्राप्ति के लिए? उसकी अपेक्षा संजय के सुनाये सन्देश के अनुसार भिक्षा माँगकर उदर-निर्वाह करने में क्या बुराई है? गुरुहत्या–ज्येष्ठ पिता की हत्या? राज्य? हस्तिनापुर का या इन्द्रप्रस्थ का? भिक्षा–तीर्थक्षेत्र में माँगी हुई? राज्य या कि भिक्षा? युद्ध या कि शान्ति? लाखों की बलि लेने की अपेक्षा क्या लाखों प्राणों को बचानेवाला वनवास अच्छा नहीं है?...

मेरी आँखों के आगे मेरे ही बाणों से गतप्राण हुए पितामह, गुरु द्रोण, आचार्य कृप दिखने लगे। जग में मैं–केवल मैं ही घोर पापी हो जाऊँगा!

मेरी आँखों के आगे अँधेरा-सा छा गया। मेरा कण्ठ शुष्क हो गया। घेरे में फँसे प्राणी की भाँति मेरा शरीर थरथराने लगा। मेरी देह स्वेद से सराबोर हो गयी। असंख्य भालों के अग्रभाग मेरी आत्मा को पीड़ित करने लगे। मेरी आँखें आँसुओं से भर आयीं। मेरे ही बाणों से गतप्राण हुए योद्धाओं के शव-ही-शव अपने ही रक्त से लथपथ मुझे दिखाई देने लगे। मेरे हाथ-पाँव फूल गये।

जीवन में पहली बार गाण्डीव मेरे हाथ से छूटकर कब नीचे गिर गया, मुझे पता ही नहीं चला। “नहींऽ नहींऽऽ हृषीकेश! मैं युद्ध नहीं करूँगा–कदापि नहींऽ।” जैसे-तैसे इतना ही कहकर मैं रथ के पार्श्वभाग में धड़ाम से बैठ गया।

आँखों से आत्मरस की धारा बहने लगी, जिसे मैं रोक नहीं पा रहा था। मेरा कभी भी न झुका मस्तक, डण्ठल टूटे नीलकमल की भाँति झुक गया।

मेरे आगे रथनीड़ पर खड़ा हृषीकेश कुछ क्षण स्तब्ध ही हो गया होगा। अगले ही क्षण छलाँग लगाते हुए वह रथ से नीचे उतर गया। वह नन्दिघोष के पार्श्वभाग में मेरे निकट आ गया। अपना प्रेमिल हाथ मेरे कन्धे पर रखकर मुझे थपथपाते हुए उसने पूछा, “क्या हुआ अर्जुन? इस प्रकार हतप्रभ होकर बैठ क्यों गया तू? तेरा गाण्डीव तेरे हाथ से गिर क्यों पड़ा?”

मैं अपनी ग्रीवा को ऊपर नहीं उठा सका। अवरुद्ध कण्ठ से मैंने उत्तर दिया–“हे मधुसूदन,

अपने पूजनीय और वन्दनीय पितामह, आचार्य द्रोण, आचार्य कृप का वध मैं कैसे कर पाऊँगा? जिनके चरणस्पर्श करने में ही जीवन की सार्थकता है, उन्हीं पर मैं बाण कैसे चला सकता हूँ? इन महात्माओं को मारने की अपेक्षा भिक्षा माँगकर उदर-निर्वाह करना ही अच्छा होगा।"

मेरी इन शंकाओं का जो समाधान उसने किया, जो उपदेश मुझे दिया, उसे सदैव ध्यान में रखना मेरे ही नहीं, किसी भी पुरुष के हित में होगा। क्या यह उपदेश उसने मुझे घण्टों तक दिया था? क्या युद्धभूमि पर वह सम्भव था? इन प्रश्नों का उत्तर है–'नहीं–कदापि नहीं।'

उसने मुझसे जो कुछ कहा, सन्तुलित और अचूक शब्दों में कहा। जीवन का सार ही उसमें समाया था। जैसे लोगों ने बरसों से मेरी और उसकी जीवन-गाथा को अपने मनचाहे वस्त्र पहनाये, अपने-अपने साँचे में ढाला, वैसे ही इस हितोपदेश को भी! किन्तु उन सब आवरणों को हटाकर केवल उसके सार पर ध्यान देना ही मैं उचित समझता हूँ।

उसने जब मुझसे पूछा–"तू चुप क्यों हो गया? बोलता क्यों नहीं?" तब मैंने उससे कहा, "जिनको मारकर जीने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है, वे मेरे वन्दनीय गुरु, मेरे ज्येष्ठ और भ्राता युद्धभूमि पर मेरे आगे खड़े हैं। उनको देख मेरी स्वाभाविक क्षात्रवृत्ति नष्ट हो गयी है। इस क्षण मैं क्या उचित और क्या अनुचित, क्या धर्म है और क्या अधर्म?–के भ्रम में फँस गया हूँ। अत: निश्चयपूर्वक सत्य क्या है, यह मुझे बता दे। हे माधव, मैं तेरा परमसखा हूँ, शिष्य हूँ। मुझे उचित बोध करा दे। मेरी इन्द्रियों का शोषण करनेवाला मेरे मन का यह क्षोभ, शोक जिससे दूर हो, ऐसा कुछ भी मुझे दिखाई नहीं दे रहा है।" इस पर अत्यन्त प्रेम से मुझे थपथपाते हुए श्रीकृष्ण ने कहा, "हे अर्जुन, जिसका शोक नहीं करना चाहिए, उसका तू व्यर्थ ही शोक कर रहा है। बड़े दिव्य ज्ञान की बातें कर रहा है तू! किन्तु हे पार्थ, किसी के प्राण रहें अथवा चले जाएँ, ज्ञानी पुरुष कभी उसका शोक नहीं करते। तू, मैं अथवा ये सभी योद्धा पहले कभी नहीं थे, ऐसा नहीं है। भविष्य में भी हम नहीं होंगे, ऐसा भी नहीं है। जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, वह मूल आत्मतत्त्व अविनाशी है, अमर है। इस तत्त्व का नाश करने में कोई समर्थ नहीं है।

"हे कौन्तेय, इस आत्मतत्त्व को मारनेवाला मैं हूँ, ऐसा जो समझता है अथवा उसे मारा जा सकता है, ऐसा जो सोचता है, वे दोनों अज्ञानी होते हैं। हे भारत, यह आत्मा न किसी को मारती है, न स्वयं किसी के हाथों मारी जाती है। वह न कभी जन्म लेती है, न कभी मरती है। यह एक बार होकर पुन: नहीं होगी, ऐसा भी नहीं है। यह अजन्मा, अविनाशी, नित्य, शाश्वत और पुरातन है।" उसने पुन: मेरे कन्धे धीरे-से थपथपाये।

भरी आँखों से, किंकर्तव्यविमूढ़ मन से मैं उसकी ओर देखता रह गया था। मुझे समझाते हुए उसने कहा, "जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र त्यागकर नये पहन लेता है, उसी प्रकार आत्मा पुराना शरीर त्यागकर नया शरीर धारण करती है।"

उसकी वाणी में आज एक अनसुनी धार चढ़ी थी। हिमालय से धुआँधार गिरते गंगा-प्रवाह की भाँति उसकी सत्त्वशील रणवाणी प्रवाहित हो रही थी। वह बोलता रहा और मैं सुनता रहा–"हे धनंजय, इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती। न इसको जल भिगो सकता है, न वायु सुखा सकती है। यह न टूटनेवाली है, न जलनेवाली, न भीगनेवाली, न सूखनेवाली है। यह स्थिर, शाश्वत, अचल, सनातन तथा चिरन्तन है।"

उसका प्रत्येक शब्द मुझे अन्तर्मुख कर अपने-आप में ही झाँकने को विवश कर रहा था। वह

कहता गया–“हे पराक्रमी पार्थ, आत्मा अव्यक्त है। मानवी इन्द्रियों को वह सरलता से दिखाई नहीं देती। उसे केवल मन से, बुद्धि से जाना जा सकता है।

“हे महाबाहु पार्थ, यदि तू समझता है कि आत्मा जन्म लेती है, मरती है, तब भी शोक करना उचित नहीं है। क्योंकि जिसने जन्म लिया, उसकी मृत्यु निश्चित है और जिसकी मृत्यु हो गयी, उसका जन्म भी निश्चित है। अत: जिस बात पर तेरा वश नहीं है, उसके लिए शोक करना क्या उचित है?

“हे संयमी गुडाकेश, तू क्षत्रिय है, और क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध से श्रेयस्कर कुछ भी नहीं है। इस समय धीरज खोकर तू रणभूमि छोड़ देगा तो पीढ़ियों तक भगोड़े भीरु के नाम से तेरी दुष्कीर्ति होती रहेगी। अर्जुन, किसी भी सज्जन को दुष्कीर्ति मृत्यु से भी अधिक दाहक प्रतीत होती है। तेरे विरुद्ध खड़े हुए सभी महारथी यही समझेंगे कि भयभीत होकर तू इस धर्मभूमि से भाग खड़ा हुआ। तेरे सामर्थ्य की वे असहनीय हँसी उड़ाएँगे। तेरे शत्रु तेरे विषय में अकथनीय बातें करेंगे। यदि इस युद्ध में तू मारा गया, तो क्षत्रियोचित स्वर्ग को प्राप्त हो जाएगा। यदि जीत गया, तो सम्मानपूर्वक पृथ्वी का राज्य भोगेगा। अत: हे अजेय अर्जुन, उठ–युद्ध का निश्चय कर। सुख-दुःख, हानि-लाभ और जय-पराजय, सबको समान मानकर युद्ध करने के लिए तत्पर हो जा। ऐसा करने से तुझे कोई पाप नहीं लगेगा।

“हे सव्यसाचिन्, जैसे सर्वत्र बाढ़ आने पर कूप का कोई मूल्य नहीं रहता, वैसे ही ज्ञान की प्राप्ति होने पर कर्मकाण्ड का कोई मूल्य नहीं रह जाता।

“हे बीभत्सु, एक बात जीवन-भर ध्यान रखना, केवल कर्म पर तेरा अधिकार है, उसके फल पर नहीं। अत: फल की आशा रखकर कर्म मत कर और कर्म न करने का, निष्क्रिय रहने का हठ भी मत कर। निद्रित अवस्था में भी प्राणी के लिए कर्म अटल है। अटल कर्म करने की कुशलता को ही कर्मयोग कहते हैं। सन्तुलित बुद्धि से, स्थितप्रज्ञ होकर उसकी साधना करनी पड़ती है। हे गुडाकेश, तेरे भ्रमित स्थिति के विषाद-योग पर एकमात्र उपाय ज्ञानी पुरुषों द्वारा बताया गया सांख्ययोग ही है–अन्य कोई नहीं।”

अब मैं कुछ सँभल गया था। मेरा मन:क्षोभ कुछ कम हो गया था। श्रीकृष्ण के विमल मुख से आनेवाला प्रत्येक शब्द सुनने को मेरा मन उत्सुक था। यह वही क्षण था, जब मुझे श्रीकृष्ण के मुख से अनेक पहलुओंवाले जीवन-सत्य का ज्ञान प्राप्त होनेवाला था। स्वयं को सँभालते हुए मैंने नम्रता से उससे पूछा, “हे केशव, हे हृषीकेश, मुझे बता दे, स्थितप्रज्ञ किसे कहते हैं? उसका बोलना, बैठना, आचरण कैसा होता है?” अब सिर उठाकर मैंने उसकी ओर देखा। वह अत्यन्त मधुर मुस्कराया। उसके कपोलों पर समस्त विश्व को समा लेने की क्षमता रखनेवाला भँवर पड़ गया। मस्तक पर धारण किये किरीट में शोभित विविधरंगी मोरपंख जगमगा उठा। वक्ष पर झूलती प्रफुल्लित वैजयन्तीमाला पर हाथ फेरते हुए उसने कहा, “हे जिष्णु, तू जिन्हें जानना चाहता है, वे स्थितप्रज्ञ के चिह्न शान्ति से सुन। मन की काम-भावना से अर्थात् वासनाओं से अलिप्त होकर जो अपने-आप में ही सन्तुष्ट रहता है, उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

“हे फाल्गुनी, जो दुःख से व्यथित नहीं होता, जिसे सुख की आसक्ति नहीं होती, जो प्रीति, भय, क्रोध आदि भावनाओं से परे होता है, उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

“हे किरीटिन्, जिस प्रकार कछुआ सभी ओर से अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार जो

अपनी इन्द्रियों को विषयों से लिप्त नहीं होने देता, उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

"हे जयिष्णु पाण्डव, जो अच्छा अथवा बुरा घटित होने से आनन्दित अथवा क्रुद्ध नहीं होता, जिसकी प्रज्ञा स्थिर हो गयी है, उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

"निराहार पुरुष की विषय-वासनाएँ तो छूट जाती हैं, किन्तु उनके प्रति रुचि नहीं छूटती। जिसने परब्रह्म की प्रतीति की और जो इन दोनों से मुक्त हो गया, उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

"हे धनुर्धर धनंजय, इन्द्रिय-दमन का प्रयत्न करनेवाले विद्वान पुरुष के चित्त को भी प्रबल इन्द्रियाँ बलात् अनुचित मार्ग पर खींच ले जाती हैं। अत: इन्द्रियों को संयमित करके अपने अधीन करते हुए जो अपनी बुद्धि को स्थिर रखता है, उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

"हे गुडाकेश, विषयों का चिन्तन करनेवाले पुरुष का विषयों के साथ सम्बन्ध बढ़ता जाता है। उससे विषय-प्राप्ति की वासना उत्पन्न हो जाती है। और जब वासना-तृप्ति में बाधा होती है, तब काम से ही क्रोध का उद्भव हो जाता है।

"हे सखा, क्रोध से ही सम्मोह उपजता है, सम्मोह से स्मृति-भ्रम होता है, स्मृति-भ्रम से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से सर्वस्व का विनाश होता है।

"जब क्रोध और द्वेष नष्ट हो जाते हैं, सभी इन्द्रियाँ मनुष्य के अधीन हो जाती हैं और विषयों के बीच रहते हुए भी वह प्रसन्नचित्त रहता है।

"हे सव्यसाची धनुर्धर, जब चित्त प्रसन्न हो जाता है, तब सभी दुखों का विनाश होता है। अत: जो प्रसन्नचित्त है, उसी को स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

"हे दिग्विजयी कौन्तेय, जो पुरुष योग से युक्त नहीं होता, उसके पास दृढ़ बुद्धि और निष्ठा की भावना नहीं होती। जिसके पास भावना नहीं है, उसको शान्ति कैसे प्राप्त होगी? जिसको शान्ति प्राप्त नहीं है, उसको सुख कैसे मिलेगा?

"हे महारथी अर्जुन, जिस प्रकार प्रबल पवन के कारण नौका जल में खिंच जाती है, उसी प्रकार विषय-सुखों में विहार करनेवाले पुरुषों का मन भी इन्द्रियों के पीछे-पीछे चला जाता है।

"हे महाबाहु, इन्द्रियजन्य सुखों से जो अपनी इन्द्रियों को लिप्त नहीं होने देता, उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं।

"हे गुडाकेश, संसारियों के लिए जब रात्रि होती है तब संयमी स्थितप्रज्ञ जाग्रत रहता है, और जब संसार के लोग जाग्रत अवस्था में होते हैं तब योगी सो जाता है।

"हे किरीटिन्, जिस प्रकार चारों ओर से जल के आते रहने से भी समुद्र कभी विचलित नहीं होता, उसी प्रकार जिस पुरुष में शान्तिभंग न करते हुए विषय प्रविष्ट हो जाते हैं, उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। विषयों की इच्छा करनेवाले को शान्ति प्राप्त हो, यह सम्भव नहीं है। जीवन में पुरुष जब निर्मोह, निरहंकार, अनासक्त, नि:स्पृह हो जाता है, तभी उसको शान्ति प्राप्त हो जाती है।

"हे धनंजय, यही स्थितप्रज्ञ की ब्रह्मत्व को प्राप्त होने की स्थिति होती है। अन्त समय भी वह अविचल रहकर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।"

इस तरह वह स्थितप्रज्ञ के चिह्नों के विषय में मुझे मनोयोग से समझाता रहा। मुझे सूक्ष्मता से, तीव्रता से प्रतीत हुआ कि वह स्वयं जीवन-भर स्थितप्रज्ञ की ही भाँति आचरण करता आया है।

मैंने अपनी स्मरण-शक्ति पर जोर डाला कि, क्या उसकी जीवन-गंगा में कोई क्षण ऐसा है, जब उसने कर्म के फल की अपेक्षा की हो! तेजस्वी, सहस्त्ररश्मि सूर्य के आगमन के साथ आकाश में जमा हुए काले बादल छँट जाते हैं, वैसे ही मेरे मन पर छाये शंकाओं के बादल छँटने लगे। उस पर जमे गहरे सम्भ्रम की पहली पर्त हट गयी। अब तक धुँधला-सा रहा श्रीकृष्ण के अन्दर का 'श्री' उसके प्रत्येक शब्द के साथ धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा। सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि मेरे अन्दर का 'मैं' धीरे-धीरे मुझे प्रतीत होता चला गया। एक सामान्य नर के नाते मुझे अपनी मर्यादाएँ स्पष्ट होने लगीं। मैं एक सम्भ्रमित नर हूँ, यह आधा ही सत्य मैं जान गया, किन्तु शेष आधा सत्य–श्रीकृष्ण कौन है, यह मैं अब तक समझ नहीं पाया।

मुझमें स्थित एक चतुर, सजग शिष्य अब सावधान हो गया था। अपने विषय में बोलने के लिए उसको प्रवृत्त करने का यही समय था। हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक मैंने उससे पूछा–"हे जनार्दन, यदि तेरा कहना है कि कर्म से समतोल बुद्धि ही श्रेष्ठ होती है, तो युद्ध के घोर कर्म के लिए तू मुझे क्यों प्रवृत्त कर रहा है? हे अच्युत, द्व्यर्थक वचनों से तू मेरी बुद्धि को भ्रम में क्यों डाल रहा है? हे माधव! कृपा करके मेरे लिए क्या श्रेयस्कर, क्या कल्याणकर होगा, यह बता दो!"

मेरा सम्भ्रमित, दीन मुख देखकर वह पुन: मोहक मुस्कराया। उस मुस्कान को देखकर मैं जान गया कि ज्ञानी की तरह बातें न करते हुए, गोकुल के निरीह नर-नारियों को कैसे उसने अपने चतुर्दिक् नचाया होगा। कोई भी प्राण न्योछावर कर दे, ऐसी ही वह अद्वितीय मोहक मुस्कान थी। मेरी आँखों की गहराइयों में झाँककर अपनी अमर वाणी में उसने कहा, "हे निष्पाप अर्जुन, किसी भी कार्य को आरम्भ ही न करने का यह अर्थ नहीं है कि उससे छुटकारा मिल गया। कर्म का त्याग करने से सिद्धि प्राप्त नहीं होती। कोई भी मनुष्य क्षण-भर भी कर्म किये बिना रह नहीं सकता। प्रकृति प्रत्येक प्राणी को हर क्षण कोई-न-कोई कर्म करते रहने को विवश कर देती है। जो ऊपर से पंचेन्द्रियों को समेटकर मन-ही-मन विषय-सुखों का चिन्तन करता रहता है, उसको ढोंगी कहते हैं, दाम्भिक कहते हैं। हे अर्जुन, जो पंचेन्द्रियों के कार्य का ज्ञान प्राप्त करके अनासक्त बुद्धि से उनको निरन्तर कार्यरत रखता है, उसकी योग्यता विशेष होती है। हे निद्राजयी पार्थ, जो दिन-रात अपनी आत्मा में ही तल्लीन, आत्मा ही के प्रति सन्तुष्ट होता है, उसका अपना और कुछ शेष नहीं रह जाता।

"प्रयागाश्रम के मेरे ब्रह्मज्ञानी गुरु घोर-आंगिरस ने एक बार मुझसे कहा था–'प्रिय केशव, यद्यपि, अब त्रिभुवन में मेरा कोई कार्य शेष नहीं रहा है। कुछ भी प्राप्त करना अब शेष नहीं रहा है। तब भी मैं कर्म क्यों करता रहता हूँ?' तब से मैं जान गया हूँ, आलस को छोड़कर यदि मैं कर्म करता नहीं रहूँगा, तो सभी लोग मेरा ही अनुसरण करेंगे, निष्क्रिय, आलसी हो जाएँगे।"

उसकी वाणी की लीला अब खिलने लगी। अँगुली पकड़कर वह मुझे किसी गहरी गुफा में ले जाने लगा–"हे पार्थ, सत्त्व, रज, तम इन त्रिगुणों से घिरी प्रकृति दिन-रात अपना कार्य करती रहती है। किन्तु मूढ़, अहंकारी मनुष्य समझता है, मैंने यह किया–मैंने वह किया। अत: जिस मनुष्य ने अहंकार को जान लिया, जीत लिया, वह श्रेष्ठ है।

"हे जिष्णु, दूर के ढोल सुहावने होते हैं, वैसे ही सभी परकीय धर्म अच्छे दिखाई देते हैं। किन्तु स्वधर्म का आचरण करते हुए यदि मृत्यु भी आ जाए, तो वह श्रेयस्कर है। कितना भी अच्छा लगे, परधर्म भयावह होता है।"

अब बहुत दिनों से मन में मँडरा रहे प्रश्न उससे पूछे बिना मुझसे रहा नहीं गया। मैंने पूछा, “वृष्णि और अन्धक कुलों के त्राता–हे कृष्ण, इच्छा न होते हुए भी, कभी-कभी मनुष्य जो बलात् पाप कर ही बैठता है, वह किसकी प्रेरणा से?”

वह क्वचित् ही गम्भीर हुआ करता था, मेरे इस प्रश्न से वह गम्भीर हो गया। उसने कहा, “हे धनंजय, यह जान लो कि इस सन्दर्भ में काम और क्रोध यही प्रबल शत्रु हैं। जिस प्रकार धुएँ से अग्नि, धूलि से दर्पण और आँचल से गर्भ ढँका रहता है, उसी प्रकार ये दोनों सत्य को उलझाये रखते हैं। इन्द्रियों के दुर्ग में बैठकर काम ज्ञान को, भले-बुरे की पहचान करानेवाली बुद्धि को धुँधला कर देता है। अत: हे किरीटिन्, ‘काम’ जैसे दुर्दमनीय शत्रु को तू पहले मार डाल।”

मेरा मन अब स्थिर होने लगा था। श्रीकृष्ण ने मुझे कर्मयोग की अज्ञात गुफा का दर्शन कराया था। मुझे आभास हो रहा था कि मैं उसका परमसखा हूँ, उसको सबसे अधिक प्रिय हूँ। अपने मन की शंका को मिटाने के लिए मैंने उससे पूछा, “हे केशव, तेरा जन्म तो कुछ वर्ष पूर्व ही हुआ है, तेरे पूर्व कई योगी पुरुष हो गये हैं, किन्तु तू कह रहा है यह–‘योग’–जीवनसत्य तूने ही पहली बार कहा है। मैं इसे कैसे मान लूँ?”

नित्य की भाँति नटखट मुस्कान के साथ वह कहने लगा, “हे कौन्तेय, इसके पूर्व मेरे और तेरे कई जन्म हो चुके हैं। यह बात मैं जानता हूँ, किन्तु हे परन्तप, तू नहीं जानता। मैं तुझे अपने स्तर पर उठाना चाहता हूँ। तू यह जान ले कि मैं समस्त भूतों का स्वामी हूँ–अजन्मा हूँ।

“हे भारत, जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म प्रबल हो जाता है, तब-तब मैं जन्म लेता हूँ। सज्जनों की रक्षा और दुष्टों के विनाश हेतु, प्रत्येक युग में धर्म को स्थापित करने के लिए मैं जन्म लेता हूँ–अवतार लेता हूँ।

“इनमें धर्म और अवतार इन शब्दों को उनकी गहराइयों सहित समझ लो।

“धृ-धारयति इति धर्म: – किसी भी प्राणी के निर्दोष विकास के लिए जिस संस्कार-प्रणाली का उपयोग किया जाता है, वही धर्म है। शुष्क कर्मकाण्ड का अर्थ धर्म नहीं है।

“‘अव’ का अर्थ है नीचे–मनुष्यों को तारने के लिए मैं धरती पर अवतरित होता हूँ। इस भ्रम में न रहना कि मैं अनन्त हस्तों, नेत्रों और मुखों सहित सदेह अवतार धारण करता हूँ। अन्याय का प्रतिकार करनेवाले किसी भी मनुष्य के रूप में अंशमात्र से मैं ही अवतरित होता हूँ।

“हे अर्जुन, तेरे रूप में भी मैंने ही अवतार लिया है।

“हे बीभत्सु, तू यह समझ ले कि ‘ज्ञ’ का अर्थ है जानना, किन्तु जाना हुआ सब-कुछ ध्यान में रखने योग्य नहीं होता। अत: जीवन के लिए जो आवश्यक ज्ञान ध्यान में रखा जाता है, वही सच्चा ज्ञान है। इन तीनों लोकों में ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है। जो श्रद्धावान पुरुष अपनी प्रमाथी इन्द्रियों का दमन करके, ज्ञान-प्राप्ति के लिए उसके पीछे ही पड़ जाता है, उसी को ज्ञान प्राप्त होता है। हे पार्थ, विशुद्ध ज्ञान-प्राप्ति से जो शान्ति मिलती है, वह अन्य किसी से नहीं मिलती। विनय से ही विद्या की शोभा होती है। ज्ञानी मनुष्य ब्राह्मण, गाय, हाथी, श्वान और चाण्डाल–सभी को समान दृष्टि से देखता है।”

उसी अवधि में हमारे आगे खड़ी कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना और हमारी सात अक्षौहिणी सेना में–अर्थात् दोनों ओर के लगभग चालीस लक्ष सशस्त्र योद्धाओं के बीच

फुसफुसाहट होने लगी। वह अब स्पष्ट सुनाई भी देने लगी। किन्तु उसकी उपेक्षा करते हुए श्रीकृष्ण मुझे संन्यास योग की महत्ता बताने लगे–"हे गुडाकेश, मानव शरीर नौ द्वारोंवाला नगर है। आत्मा उसमें प्रसन्नतापूर्वक विराजमान है। इन्द्रिय, बुद्धि और मन को संयमित करके जो योगी निश्चयपूर्वक आत्मा तक पहुँच जाता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है।"

उसके अर्थपूर्ण वचनों के साथ मेरी बुद्धि पर पड़े अज्ञान के पटल हटते गये। मेरी गलितगात्र स्थिति दूर होने लगी। मेरे मन में उठते प्रश्न भी कम होते गये। उसके वचनों को मैं ध्यानपूर्वक सुनने लगा। उसकी स्वर्गीय वाणी प्रवाहित होती रही–"मनुष्य को कभी निराश नहीं होना चाहिए। हमें ही स्वयं अपना उद्धार करना चाहिए। इसलिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि हम ही अपनी सहायता करनेवाले भ्राता-मित्र होते हैं अथवा स्वयं को हानि पहुँचानेवाले शत्रु भी हम ही होते हैं। यह जानने के लिए ध्यान-योग के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं है। ध्यान-योग की साधना करने के लिए प्रत्येक को कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है। हे अर्जुन, अति खानेवाला अथवा तनिक भी न खानेवाला ध्यान-योग की साधना कर नहीं पाता। अत्यन्त निद्रालु अथवा रात-रात न सोनेवाला भी ध्यान-योग की साधना नहीं कर सकता। जिसका खाना-पीना सन्तुलित है, जिसका सोना और जाग्रत रहना परिमित है तथा जो आवश्यकतानुसार ही कर्म करता है, उसी को ध्यान-योग की प्राप्ति होती है। यह योग निष्ठावान शिष्य के लिए दुःखनाशक और सुखकारक होता है।

"ध्यान-योग का अवलम्बन करनेवाला पुरुषश्रेष्ठ मुझे चराचर जगत् में सर्वत्र देख पाता है। वह सबको मुझमें और मुझे सबमें देखता है। ऐसा पुरुषश्रेष्ठ कभी भी मुझसे अलग नहीं हो सकता, न मैं उसे अपने से अलग होने देता हूँ।"

धैर्य देनेवाले उसके वचनों के कारण मेरी जिज्ञासा ने पुन: सिर उठाया। मैंने उससे पूछा, "हे योगयोगेश्वर, मुझे नहीं लगता कि तेरा बताया कर्मयोग मन की चंचलता के आगे टिक पाएगा। इस चंचल और प्रबल मन को मोड़ देना कठिन है। जिस प्रकार पवन को रोकना कठिन है, उसी प्रकार मन का दमन करना भी कठिन है।"

सम्भवत: मुझे इधर-उधर न होने देने का उसने निश्चय कर लिया हो। उसने कहा, "हे महाबाहो, चंचल मन को संयमित करना कठिन है, इसमें कोई शंका नहीं। किन्तु हे कौन्तेय, अभ्यास और वैराग्य से उसको भी अपने अधीन रखा जा सकता है। अभ्यास का अर्थ है कोई बात बार-बार करना। अभ्यास से उस बात की त्रुटियाँ धीरे-धीरे कम हो जाती हैं–मन दृढ़ होता जाता है।"

अब वह अधिक गहरे ज्ञान-विज्ञान-योग की ओर मुड़ गया। अपने गुरु आचार्य सान्दीपनि का सन्दर्भ देते हुए उसने कहा, "हे जिष्णु, इस विषय में गुरुदेव 'सान्दीपनि ने मुझसे कहा था–यन्त्र का अर्थ है अपनी ही रचना से गतिमान होनेवाला आकार! मेरा सुदर्शन चक्र, गरुड़ध्वज रथ और तेरा नन्दिघोष–ये सब यन्त्र ही हैं। कौरव-सेना और पाण्डव-सेना में लाखों की संख्या में रथ हैं, किन्तु सत्य इन यन्त्रों से परे है।

"हे भरतश्रेष्ठ, चार प्रकार के पुण्यवान लोग मेरा स्मरण, मेरी भक्ति करते हैं–आर्त अर्थात् कष्टों से पीड़ित, जिज्ञासु अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले, अर्थार्थी अर्थात् धन-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले और ज्ञानी अर्थात् परमात्मा का ज्ञान होने से कृतार्थ होकर निष्काम बुद्धि से

भक्ति करनेवाले।

"मानव-देह बहत्तर सहस्र धमनियों पर चलनेवाला एक यन्त्र ही है। उस यन्त्र को चलानेवाले वाहक को जिसने जान लिया, समझ लो, उसको समग्र जीवन का ज्ञान प्राप्त हो गया।

"जो भक्त उस वाहक को जानने के लिए जिस प्रकार की श्रद्धा से उसकी उपसना करता है, मैं उसकी उसी श्रद्धा को स्थिर कर देता हूँ।

"श्रद्धा का अर्थ है अटल विश्वास। वह कभी आँखोंवाली अथवा अन्धी नहीं हो सकती। वह बस, होती है। तृषित मनुष्य को पानी पीने से जो समाधान मिलता है, उसे केवल वही अनुभव कर पाता है। किसी अन्य के कहने से उसकी प्रतीति नहीं होती। 'मैं श्रद्धा पर विश्वास नहीं करता' कहनेवाले की वास्तव में, बुद्धि-प्रामाण्य पर श्रद्धा ही होती है। अत: नास्तिक मनुष्य को हम समझ सकते हैं, श्रद्धाहीन को नहीं। श्रद्धा में परिवर्तन सम्भव है। स्वयं को श्रद्धाहीन कहलानेवाले का अहंकार बड़ा होता है। मैं बहुत भ्रमण कर चुका हूँ, इस समय तुझे उपदेश दे रहा हूँ, किन्तु इस समय यदि आचार्य सान्दीपनि अथवा आचार्य घोर-आंगिरस मेरे सम्मुख आकर खड़े हो गये तो? तो क्षण-भर का भी विलम्ब न करते हुए मैं तेरे नन्दिघोष से नीचे उतर जाऊँगा। मुझे जीवन का अर्थ समझानेवाले उन महापुरुषों के चरणों में मैं श्रद्धापूर्वक नतमस्तक हो जाऊँगा। अश्रद्ध होने से अहंकारी एवं वृथा ज्ञानी होने की अपेक्षा मैं सश्रद्ध अज्ञानी होना स्वीकार करूँगा।

"हे प्रिय पाण्डुपुत्र, काम का अर्थ है वासना और राग का अर्थ है विषयासक्ति। इन दोनों को छोड़कर बलवान व्यक्ति का जो बल है, वह मैं ही हूँ। धर्म के अर्थात् प्राणी के निर्दोष विकास के योग्य, जो संस्कारशील प्रणाली के विरुद्ध न हो, वह सभी प्राणियों में स्थित काम मैं ही हूँ। मेरी विविध गुणों से युक्त दिव्य माया को पार करना कठिन है। अत: जो मेरी ही शरण में आते हैं, वे माया के पार हो जाते हैं।

"हे धैर्यशील धनंजय, अनेकानेक जन्मों के पश्चात् अनुभव होता है कि विश्व में जो भी कुछ है, वह वासुदेव ही है। यह अनुभव करनेवाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है।

"हे जयिष्णु, ज्ञानपिपासु कौन्तेय, भूतकाल में हो चुके, वर्तमान में हुए और भविष्य में होनेवाले सभी प्राणियों को मैं जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता।"

अब वह तत्त्वज्ञान के अधिकाधिक गूढ़ अरण्य में प्रविष्ट हुआ। कहने लगा–"मुझे अक्षर ब्रह्मयोग का ज्ञान देनेवाले आचार्य घोर-आंगिरस को स्मरण कर, मैं तुझे जो बता रहा हूँ, उसे ध्यानपूर्वक सुन ले। जो अक्षर अर्थात् अविनाशी तत्त्व है, वही ब्रह्म है। ब्रह्म के सभी अंगों को जो जानता है, उसको ब्राह्मण कहते हैं। इसके लिए किसी भी कुल, जाति अथवा वर्ण की शर्त नहीं होती। अक्षर ब्रह्म को जानने की विद्या को ही अध्यात्म कहते हैं।

"यह सब जानकर, अन्त समय मेरा स्मरण करते हुए जो देहत्याग करता है, वह मुझसे एकरूप हो जाता है। इसी का अर्थ है कि जीवन-भर मेरे ही स्मरण में तल्लीन रहनेवाला अन्त समय में मेरे ही स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।"

आरम्भ और अन्त, इन शब्दों के कारण मेरे मन में कुछ प्रश्न उभर आये। मैंने उससे पूछा, "तू यह तो कहना नहीं चाहता न कि दिवस का अर्थ है आरम्भ और रात्रि का अर्थ है अन्त।" मेरा अज्ञान देखकर वह मुस्कराया और कहने लगा–"प्रथम दिवस और रात्रि का अर्थ क्या है, यह जान ले। तेरे दिवस और रात्रि के नाप से काल को नहीं नापा जा सकता। इसके लिए ब्रह्मदेव का

एक दिवस क्या होता है, प्रथम यह जानना होगा। कृत, त्रेता, द्वापर और कलि–इन चारों युगों से एक महायुग होता है। अब कलियुग आरम्भ होनेवाला है। ऐसे सहस्र महायुगों से ब्रह्मदेव का एक दिवस बनता है और ऐसे ही सहस्र महायुगों की एक रात्रि होती है। ब्रह्मदेव के दिवस का आरम्भ होने पर अव्यक्त से व्यक्त पदार्थों का निर्माण होता है और रात्रि आरम्भ होने पर वे पूर्ववत् अव्यक्त में लय हो जाते हैं। प्राणियों के उद्गम और विलय का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है।

"जगत् की शुक्ल और वद्य, प्रकाशमय और अन्धकारमय, इस प्रकार दो शाश्वत गतियाँ मानी गयी हैं। जिस मार्ग से हम जाते हैं, उसी मार्ग से लौट नहीं पाते। यह समस्त विश्व गोलाकार है, अत: एक मार्ग से जाने पर दूसरे मार्ग से लौटना पड़ता है।

"हे गुडाकेश, दोनों मार्गों को भलीभाँति जाननेवाला कर्मयोगी कभी मोह को प्राप्त नहीं होता। अत: हे अर्जुन, तू सर्वकाल अनासक्त योगी बन जा।

"ऐसा होने के लिए प्रत्येक प्राणी को अपने-आप से 'कोऽहं? मैं कौन हूँ' यह मूलभूत प्रश्न पूछना पड़ता है। इस प्रश्न का उत्तर भी मुझमें ही लय हो जाता है। महारथी अर्जुन, मैं देख रहा हूँ कि मेरे वचनों से तेरा समाधान हो रहा है। इसलिए तेरे हित में मैं तुझे पुन: एक उत्तम बात बता रहा हूँ, उसे सुन ले।" अब वह प्राणी को पग-पग पर उसका स्मरण करने पर विवश करानेवाले सबसे अधिक विलोभनीय, दिव्य विभूतियोग की ओर मुड़ गया। वह कौन है, भिन्न-भिन्न प्रकारों से मुझे समझाने लगा। सचमुच मैं परम भाग्यवान था जो मुझे उसी के मुख से यह सब सुनने को मिल रहा था। वह भाँति-भाँति से मुझे समझाने लगा कि वह कौन हैं, और आश्चर्य की बात है कि क्षण-क्षण से, कण-कण से मैं जानने लगा कि मैं कौन हूँ। मुझमें स्थित मुट्ठी-भर अर्जुन उसकी कृपा से उसी के समान आकाश जैसा विशाल होता चला गया। मैं जान गया कि किस प्रकार मैं पूर्ण रूप से उसमें विलीन हो गया हूँ। जल में घुलनेवाली शर्करा की भाँति मैं उसमें घुलने लगा। लवण की मछली सागर की थाह लेने हेतु सागर में डुबकी लगाए और ऊपर आने के बदले सागर में ही लय हो जाए, वही स्थिति मेरे आत्मभान की हो गयी। वह कहता गया और मुझे प्रतीत होता गया कि वह कौन है और मैं कौन बन गया हूँ!

वह था प्रत्यक्ष नारायण–किसी भी बात में न उलझनेवाला चराचर विश्व का मूल कारण। मैं था नर–उसकी कार्यपूर्ति का एक साधन!

उसकी योगवाणी मृग नक्षत्र में होनेवाले मेघगर्जन को सुनकर अपने-आप खिल उठनेवाले, चमकते मोरपंख की भाँति खिल उठी। मैं उसके मुकुट में लगे मोरपंख की ओर देखता रहा। वह बोलता रहा और मैं सुनता रहा–"बुद्धि, ज्ञान, सम्मोह-असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम-शम, सुख-दुःख, भाव-अभाव, भय-अभय, अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान, यश-अपयश आदि प्राणी मात्र के भाव-विभाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं।"

यह सुनकर मैं पुन: भ्रमचित्त होने लगा। बैठे-बैठे, दोनों हाथ जोड़कर नम्र शब्दों में मैंने कहा, "हे वासुदेव, तू ही परब्रह्म है। दिव्य और शाश्वत सर्वव्यापी तत्त्व भी तू ही है। देवर्षि नारद, असित-देवल और महर्षि व्यास भी यही कहते हैं। और अब स्वयं तू भी मुझसे यही कह रहा है। हे केशव, तू मुझसे जो कह रहा है, उसे मैं सत्य मानता हूँ। सभी भूतों का निर्माण करनेवाले हे भूतेश, हे जगत्पते, हे देवाधिदेव, हे पुरुषोत्तम, तू ही स्वयं अपने-आप को पूर्णत: जानता है। हे नारायण, जिन दिव्य विभूतियों से तीनों लोकों को व्याप्त करके तू दशांगुल शेष रहा है, उन विभूतियों को

स्पष्ट करके मुझे समझा दे हे नारायण, मैं अज्ञानी नर हूँ। सामान्य जीवन में मैं तुझे किस-किस रूप में देखूँ और तेरी आराधना करूँ, यह मुझे समझा दे।"

उसका मुखमण्डल 'शतकोटिसूर्य समप्रभ' तेजस्वी दिखने लगा। मेरे सम्मुख रथ में खड़ा होते हुए भी वह मुझे बहुत दूर, आकाश के उस पार पहुँचा दिखाई देने लगा। अगले ही क्षण उसके मेरे हृदय में समा जाने की अनुभूति होने लगी। घनी पलकों से युक्त उसके मत्स्यनेत्र फड़क उठे। धनुषाकार दीर्घ होठ स्फुरित हो गये। अत्यन्त प्रेम से मेरे कन्धे थपथपाते हुए, गोकुल के गोपालों को सुनायी गयी मधु-मधुर वाणी में उसने कहा, "हे गुडाकेश, सभी भूतों के अन्तर में स्थिर आत्मा मैं ही हूँ। उसका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ। बारह आदित्यों में विष्णु मैं हूँ।

"इस समय नन्दिघोष पर और तेरे मस्तक पर तपता किरणमाली सूर्य मैं हूँ। मरुतों में मरीचि, नक्षत्रों में चन्द्र और वेदों में संगीत के प्रति समर्पित सामवेद मैं ही हूँ। देवों में मैं इन्द्र हूँ। सभी भूतों के भीतर स्थित चेतना मैं ही हूँ। इन्द्रियों में मन मैं हूँ।"

मन को एकाग्र कर मानसरोवर का राजहंस जैसे बिसतन्तु–कमल-केसर उठाता है, वैसे ही मैं उसका प्रत्येक शब्द ग्रहण करने लगा।...

उसने कहा, "हे प्रिय सखा, सभी पाण्डवों में मुझे प्रिय तू–धनंजय–भी मैं ही हूँ। अठारह कुलों के समस्त यादवों में वासुदेव मैं ही हूँ।

"हे पार्थ, तू यह जान ले कि जो भी पदार्थ वैभव और तेज से युक्त है, वह मेरे अंश से ही निर्मित हुआ है।

"अन्ततः मैं तुझसे एक ही बात कहता हूँ, मेरे विराट् रूप का विस्तार जानकर तुझे क्या करना है? इतना ही जान ले कि मेरा केवल एक अंश ही इस जगत् में व्याप्त है।"

चराचर विश्व में वही व्याप्त है–उसका यह वचन सुनकर मैं स्तम्भित हो गया। उसकी बतायी प्रत्येक बात की खोज में मेरी दृष्टि उसकी ऊँची देह पर स्थिर हो गयी। उनकी वर्णित सभी वस्तुएँ मुझे उनकी मानव-देह में दिखने लगीं। उस विराट् दर्शन से मैं हक्का-बक्का रह गया। मेरा कण्ठ पुनः शुष्क हो गया।

उसके मुख से शब्द निकले–"हे अर्जुन, मैं प्रत्यक्ष–स्वयं काल ही हूँ।"

मैंने जैसे-तैसे पूछा, "जो तू कह रहा है–उस बात को मैं ठीक समझ नहीं पा रहा हूँ। अतः हे वासुदेव, क्या तू इसे स्पष्ट कर मुझे बताएगा?"

अपने दीर्घ नेत्रों को बन्द ही रख वह कहने लगा, "हे पार्थ, कीड़े-मकोड़ों से मनुष्य तक सभी प्राणी तीन मितियों में जीते हैं। लम्बाई, चौड़ाई और गहराई–यही वे तीन मितियाँ हैं। प्रत्येक मिति का आरम्भ और अन्त होता है। इससे अलग चौथी मिति है काल–जिसका न आरम्भ होता है–न अन्त! वह अखण्ड है। वही–इस युद्धभूमि पर उपस्थित लाखों योद्धाओं का अन्त करने को उद्यत–प्रत्यक्ष 'काल' मैं ही हूँ। शस्त्र धारण किये बिना ही मैं यह कार्य करनेवाला हूँ। इसके लिए शस्त्र धारण कर तुझे निमित्त-मात्र बनना है। इन योद्धाओं का वध करने से तेरे हाथों कोई पाप नहीं होगा, तुझे कोई दोष नहीं लगेगा। जिस प्रकार निरन्तर जल में रहते हुए भी कमल का पत्ता कभी भीगता नहीं है, उसी प्रकार तू भी सभी दोषों से मुक्त रहेगा। अतः हे किरीटिन्, नीचे रखे गाण्डीव को उठाकर युद्ध करने को तत्पर हो जा!...

"मेरे प्रेमभाव से किये उपदेश का जो निष्ठापूर्वक पालन करते हैं, वे श्रद्धावान भक्त मेरे अत्यन्त प्रिय हो जाते हैं। हे फाल्गुनी, मानव-देह किसी खेत की भाँति होती है और जाग्रत आत्मा उस खेत का ध्यान रखनेवाले कृषक की भाँति होती है। जिसने यह जान लिया, समझ ले–उसे जीवन का ज्ञान हो गया।

"हे पुरुषोत्तम पार्थ, जिस प्रकार भिन्न-भिन्न ऋतु खेत की उपज पर प्रभाव डालते हैं, उसी प्रकार तीन प्रमुख गुण आत्मा को प्रभावित करते हैं–सत्त्व, रज और तम। इन गुणों से प्रभावित व्यक्तियों को अपने-अपने गुण के अनुकूल आहार अच्छा लगता है। सात्त्विक व्यक्ति को दधि-दूध युक्त मधुर आहार, राजस व्यक्ति को लवण-मिर्च युक्त मसालेदार पौष्टिक आहार और तामस व्यक्ति को बासी आहार अच्छा लगता है। आहार के अनुकूल प्रत्येक व्यक्ति को फल प्राप्त होता है। सात्त्विक को पुण्यकर्मों का निर्मल फल मिलता है। राजस व्यक्ति को राजस कर्मों का सुख-दुःखयुक्त फल प्राप्त होता है, तो तामस व्यक्ति को अपने तामस कर्मों का फल अज्ञान से पूर्ण दुःख के रूप में मिलता है। जिस प्रकार कर्तव्यदक्ष, कुशल कृषक अपने खेत की अच्छी देखभाल करता है, उसी प्रकार सात्त्विक आत्मा जीवन के क्षेत्र को निर्दोष-निर्मल रखती है।

"सभी योगों का ज्ञान प्राप्त करके जो परमात्मा के सर्वव्यापकत्व को जान लेता है, वह पुरुषोत्तम होता है।

"हे गुडाकेश, जग में दो प्रवृत्तियों के लोग होते हैं–दैवी और आसुरी। दैवी गुणों से युक्त पुरुष छब्बीस दुर्लभ गुणों के–तेजस्विता, क्षमा, शुचिर्भूतता, धृति, औदार्य, तप, शुद्ध-सात्त्विक वृत्ति आदि गुणों के स्वामी होते हैं। आसुरी वृत्ति के लोगों में दम्भ, दर्प, क्रोध, निष्ठुरता, अज्ञान आदि दुर्गुण होते हैं। दैवी गुणसम्पत्ति का परिणाम मोक्षप्रद होता है, तो आसुरी दुर्गुणों का परिणाम संसार के बन्धनों से युक्त होता है।"

वह विविध दृष्टान्तों से मेरी बुद्धि पर पड़े अज्ञान के पटल को हटाने का बार-बार प्रयत्न कर रहा था और मेरी सम्भ्रमित मानसिकता बार-बार धुँधला जाती थी। दीर्घसूत्री व्यक्ति की भाँति मैं प्रश्न-पर-प्रश्न किये जा रहा था। इतने लम्बे हितोपदेश के बाद भी मैंने उससे पूछा, "हे हृषीकेश, संन्यास और त्याग के तत्त्वों को मैं जानना चाहता हूँ।"

दोनों का अन्तर बताकर मुझे और कुछ पूछने का अवसर दिये बिना ही उसने निश्चयपूर्वक कहा, "जीवन का अर्थ जानकर तुझे क्या करना है? क्या करना है तुझे सत्य और असत्य में अन्तर जानकर? तू अपने मन को मेरे चरणों में स्थिर कर दे। मेरा भक्त होकर मेरी ही वन्दना कर। सब कुछ छोड़कर मेरी ही शरण में आ जा। मैं तुझे सभी पापों से मुक्त करूँगा।" उसके नेत्र विस्फारित हो गये। उनके मुख से कठोर, आज्ञा देनेवाले शब्द निकले, "उठो कौन्तेय, गाण्डीव उठाकर अपना देवदत्त शंख फूँको। युद्ध का निश्चय करते हुए पाण्डव-सेना को प्रेरित करो। अब मैं तुम्हारी कुछ भी नहीं सुनूँगा।"

उसने मेरे भीतर के क्षत्रिय को झँझोड़ दिया। कठपुतली की भाँति मैं तड़ाक् से उठ खड़ा हुआ। अपने-आप गाण्डीव मेरे हाथ आ गया। उसे कन्धे पर लटकाकर, कटि के दुकूल में खोंसे हुए देवदत्त शंख को निकालकर मैंने हाथ में ले लिया। मैंने बड़ी अपेक्षा से श्रीकृष्ण की ओर देखा। उसके हाथ में उसका विख्यात, शुभ्र-धवल पांचजन्य शंख था। उसके शंख फूँके बिना महायुद्ध का यह महायज्ञ प्रज्वलित हो ही नहीं सकता था।

अपनी अशरण ग्रीवा को, कुरुक्षेत्र के निरभ्र गगनमण्डल की ओर उन्नत करते हुए अपने दीर्घ मत्स्यनेत्रों को बन्द करके श्रीकृष्ण ने पूरी प्राणशक्ति से उस सुलक्षण, शुभ्र-धवल पांचजन्य शंख को फूँका।

उस शंखनाद को सुनते ही कौरव-सेना के अग्रस्थान पर स्थित पितामह भीष्म ने कौरव-सेनापति के नाते उसी प्रकार अपने 'गंगनाभ' शंख को फूँका। उसे सुनकर वीरश्री से मेरा रोम-रोम फूल उठा। रथनीड़ से पीछे मुड़कर देखनेवाले श्रीकृष्ण की ओर मैंने देखा। किसी ने भी पहले कभी न देखा हो, ऐसा अत्यन्त अर्थपूर्ण रणहास्य उसके मुख पर खिल उठा। मानो वह मुझे आज्ञा दे रहा था–फूँको शंख अर्जुन, महायुद्ध के आरम्भ का!

मैंने नेत्र बन्द किये, उसका और कुन्ती माता का स्मरण किया और पूरी प्राणशक्ति के साथ अपने देवदत्त शंख को फूँका। तत्पश्चात् पाण्डव-सेना के सेनापति धृष्टद्युम्न के 'यज्ञघोष' शंख का नाद गुंजित हो उठा। उसके पीछे-पीछे भीमसेन के–कण्ठ की धमनियों को तानकर फुलाते हुए फूँके पौण्ड्र नामक शंख की ध्वनि गूँज उठी। मेरा मेरुदण्ड वीरश्री की भावना से तन गया। भीमसेन के पश्चात् कौरव पक्ष के–गुरु द्रोण, कृपाचार्य, दुर्योधन, अश्वत्थामा आदि के शंखनाद सुनाई दिये। उनको आह्वान देते हुए युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव के दीर्घपरिचित शंखों के रोमहर्षक नाद भी गूँज उठे।

दोनों ओर से लाखों वीरों के कण्ठों से रणोत्तेजना देनेवाली घोषणाओं का प्रचण्ड कोलाहल हुआ–"आरूऽढ़...आऽक्रमऽण! आरोऽह!"

धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र पर भारतीय महायुद्ध का यज्ञकुण्ड धड़धड़ाता हुआ प्रदीप्त हो गया। कौरव और पाण्डव-सेना के लाखों सैनिक शस्त्रों को खनखनाते हुए आपस में ऐसे टकरा गये, जैसे ज्वार के समय के दो समुद्र आपस में टकरा जाएँ।

तेरह दिन तक युद्ध का गर्जन अधिकाधिक भयंकर होता गया। युद्ध के तेरहवें और चौदहवें दिवसों को मैं जीवन में कभी भूल नहीं पाया। उसका कारण ही ऐसा था। मेरा अपना ही अस्तित्व और जीवन दाँव पर लगा हुआ था। तेरहवें दिन नियम के अनुसार सूर्यास्त के साथ युद्ध रुक गया था। गुरु द्रोणाचार्य द्वारा आज रचे गये सेना के चक्रव्यूह के कारण पाण्डव-सेना में हाहाकार मचा था। पूरा दिवस संशप्तकों से युद्ध करते हुए मैं श्रान्त हो गया था। प्रतिदिन सन्ध्या समय शिविर लौटते हुए मेरा सारथि-सखा सम्पूर्ण दिवस में घटित घटनाओं की चर्चा किया करता था। उसको कभी श्रान्त होते हुए मैंने नहीं देखा था। किन्तु आज वह चुप-चुप था। मुझे इसकी तीव्रता से प्रतीति हुई। मैं उससे कुछ पूछने ही वाला था कि वह रथ को रणभूमि के मध्य ले आया। वहाँ, युद्ध आरम्भ होने के पश्चात् आज पहली बार भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, सेनापति धृष्टद्युम्न, सात्यकि आदि प्रमुख पाण्डव-योद्धा इकट्ठे हो गये थे। निश्चय ही आज किसी विशेष पाण्डव वीर का पतन हो गया था। बिना कुछ बोले श्रीकृष्ण ने मेरे नन्दिघोष रथ को योद्धाओं के उस समूह के पास ला खड़ा किया। वह रथनीड़ से रणभूमि पर कूद पड़ा। योद्धाओं के उस वर्तुल को भेदता हुआ उसके मध्य गया। मैं भी खिंचा-सा उसके पीछे-पीछे गया।

एक वीर योद्धा का गतप्राण धड़ वहाँ पड़ा था। उसका औंधा मुख धरती में धँसा हुआ था। मिट्टी से सना होने के कारण वह पहचाना नहीं जा रहा था।

श्रीकृष्ण उस अचेतन धड़ के पास वीरासन में बैठ गया। कुरुक्षेत्र की गोद में छिपा वह मुख

उसने सीधा किया और उसे धड़ से जोड़ दिया।

मुझ पर वज्राघात हो गया। वह मेरा सबसे प्रिय पुत्र अभिमन्यु था। सुभद्रा का लाडला पुत्रोत्तम, उत्तरा का पति और कृष्ण का प्रिय भानजा 'अभि' था!

आँखों में कभी अश्रु न लानेवाले श्रीकृष्ण की आँखें भी अभिमन्यु को इस तरह देखकर छलछला आयीं। उसने अपने प्रिय अभि के विच्छिन्न मुख पर अपनी कटि का नीला दुकूल उढ़ा दिया। किसी के द्वारा थमायी गयी गौरवमाला सेनापति धृष्टद्युम्न ने अभि के शरीर पर अर्पित की।

कृष्ण सुन्न हो गया था और मैं स्तब्ध! सेनापति धृष्टद्युम्न ने शोकावेग को रोकते हुए संक्षिप्त वृत्तान्त सुनाया था–"सन्ध्या होने को आयी, तब भी अभिमन्यु पीछे नहीं हट रहा था। सन्ध्या समय तक वह रणभूमि पर डटा रहा। लेकिन हतबल कौरवों ने 'धर्मयुद्ध' के नाम पर पहली बार घोर कालिमा पोत दी। सेनापति द्रोण, कृप, कृतवर्मा, अश्वत्थामा, बृहद्बल और कर्ण–ये छह महारथी मिलकर अकेले सुभद्रा-पुत्र पर टूट पड़े। वास्तव में नियम के अनुसार द्वैरथ युद्ध भी दो योद्धाओं के बीच होना चाहिए था। किन्तु कौरवों ने उस नियम को ताक पर रख दिया।"

"क्यों–क्या किया उन छह योद्धाओं ने?" कृष्ण ने शान्तिपूर्वक सेनापति धृष्टद्युम्न से पूछा। अभिमन्यु के पराक्रम के अभिमान से फूले हुए वक्षवाले धृष्टद्युम्न ने कहा, "अभिमन्यु उन छह महायोद्धाओं से भी नहीं हारा। उसने एक के बाद एक उन सबको भगा दिया। अन्त में दुर्योधन-पुत्र लक्ष्मण और अभिमन्यु का घनघोर गदायुद्ध छिड़ गया। एक ही समय एक-दूसरे पर मर्मभेदक प्रहार करते हुए दोनों मूर्च्छित हो गये।

"अभिमन्यु औंधा पड़ा था। दुर्योधन-पुत्र सावधान हो गया। बिना कुछ सोचे उसने औंधे पड़े मूर्च्छित अभिमन्यु के मस्तक पर अपनी गदा का क्रूर प्राणघाती प्रहार किया। यह करके उसने बचे-खुचे युद्ध-नियमों को भी पैरों-तले रौंद डाला।

"मृत्यु के पूर्व अर्धचेतन अभिमन्यु के मुख से चेतना का अस्फुट स्वर फूट पड़ा 'काऽकाऽ...भीऽम काऽकाऽ'। छहों कौरव-योद्धा वहाँ जमा हो गये थे। उनके कठोर मन भी अभि की अन्तिम आर्त पुकार सुनकर कम्पित हो उठे।"

मैं सुन्न-स्तब्ध होकर कृष्ण के नीले दुकूल की ओर एकटक देख रहा था। मेरी आँखों से प्राणरस की अविरल धारा बह रही थी। मेरे प्राण तिलमिलाकर आक्रन्दन कर रहे थे–"अभिमन्यु! ...प्रिऽय अभिऽऽ..."

सेनापति धृष्टद्युम्न का अन्तिम वृत्तान्त मेरे कानों में घुस गया–"उस समय अकेला जयद्रथ दैत्य की भाँति आगे आ गया। वह देखना चाहता था कि अभिमन्यु सचमुच मृत हो गया है अथवा नहीं! अभिमन्यु के औंधे पड़े शरीर को उलटा करने हेतु जयद्रथ ने उसके शरीर पर लत्ता-प्रहार किया। लक्ष्मण के प्रबल गदा-प्रहार से अभि का मस्तक कुचलकर धरती में धँस गया था। जयद्रथ के लत्ता-प्रहार से उसका विच्छिन्न मस्तक धरती में ही धँसा रहा, केवल धड़ उलटा हो गया। सम्भवत: वह पराक्रमी वीर कौरवों के काले मुखों को देखना भी न चाहता हो!"

हमारे धैर्यशील सेनापति धृष्टद्युम्न ने अपने उत्तरीय का छोर भरी आँखों से लगाया। उसका प्रत्येक शब्द अंगारों की भाँति मुझ पर बरस रहा था। प्रचण्ड क्रोध से मेरा सारा शरीर क्षण-भर थरथराया। आँखें विस्फारित हो गयीं। अभिमन्यु की मृत देह के पास से मैं तड़ाक् से उठ खड़ा हुआ। गाण्डीव को आकाश में ऊँचे उठाते हुए मैंने घोर प्रतिज्ञा की–"मेरे पुत्र के शव पर लत्ता-प्रहार

करनेवाले उन्मत्त जयद्रथ का मैं कल सूर्यास्त के पूर्व वध करूँगा, अन्यथा चिता पर चढ़कर स्वर्ग में अपने पुत्र के माथे पर अपना पितृछत्र धरूँगा।"

मेरे कान की लौ तप्त हो गयी थी। मुझे कुछ सूझ नहीं रहा था। स्वेद से लथपथ मेरी पीठ थपथपाते हुए श्रीकृष्ण कह रहा था–"हे अर्जुन, तेरी प्रतिज्ञा का पूर्वार्द्ध उचित ही है, किन्तु उत्तरार्द्ध कठिन है।" तब मैं उसका अभिप्राय समझ नहीं पाया। ऐसा पहले भी कई बार हो चुका था। उसके सभी वचनों को हम समझ ही पाते थे, ऐसा नहीं था।

पिछले तेरह दिनों में जो नहीं हुआ था, वह आज रात्रि हो गया। श्रीकृष्ण ने एक सेवक द्वारा मुझे अपने भव्य शिविर में बुलवा लिया। उसके आसन के सम्मुख एक राजज्योतिषी पंचांग के भूर्जपत्र क्रमश: रखे हुए बैठे थे। दोनों धीमी वाणी में कुछ बातें कर रहे थे। श्रीकृष्ण अँगुलियाँ गिनते हुए होठों में कुछ बुदबुदा रहा था। मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था।

अभिमन्यु के वध से विदीर्ण हुए मेरे मन को उसकी स्मृतियों के बिच्छू डंक मार रहे थे। निद्रा नहीं आ रही थी। मैं श्रान्त मन से, आँखें बन्द किये शैया पर लेटा हुआ था। श्रीकृष्ण के आदेश से आज मैं उसके शिविर में रहनेवाला था।

मध्यरात्रि के समय ज्योतिषी के कुछ अस्पष्ट शब्द सुनकर मैं जाग उठा। उनके शब्द तो मुझे सन्दर्भहीन लगे। वे कह रहे थे–"हाँ यादवराज! कल–अमावस्या को खग्रास सूर्यग्रहण है–तीसरे प्रहर पश्चात्!" ...कृष्ण की उपहार-स्वरूप दी मौक्तिक-माला स्वीकार कर उसके आदेश के अनुसार ज्योतिषी कहीं चले गये।

युद्ध का वह अविस्मरणीय चौदहवाँ दिन उदित हुआ। विविध रणवाद्यों के सम्मिश्र नाद से कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि दनदना उठी। युद्ध के आरम्भ से आज तक प्रतिदिन रणभूमि बदली गयी थी। प्रतिदिन रणभूमि पर गिरनेवाले शव, टूटे शस्त्र, रथ, आहत अश्व, हाथी, ऊँट आदि के निस्तारण के लिए यह आवश्यक था। युद्ध-नियमों के अनुसार एक ही रणभूमि पर दो दिन युद्ध नहीं लड़ा जा सकता था।

आज तीसरे प्रहर तक श्रीकृष्ण मेरे नन्दिघोष रथ को कौरव-सेना के चारों ओर घुमा लाया, किन्तु जयद्रथ हमें कहीं दिखाई नहीं दिया। वह दिखनेवाला भी नहीं था। दुर्योधन-शकुनि ने आज उसको युद्धभूमि में न लाने का निर्णय किया था। सहस्रों योद्धाओं से संरक्षित एक अभेद्य शिविर में वह विश्राम कर रहा था। जयद्रथ को ढूँढ़ न पाने से, क्रोध से मेरा शरीर जलने लगा। क्रोध से विवश मैं नियुतायु, मित्रदेव, दण्डधार जैसे योद्धाओं को मार गिराते हुए, पथक के बाद पथक को नष्ट करता चला गया।

"कहाँ है जयद्रथ?"–मेरी इस चुनौती-भरी गर्जना के साथ श्रीकृष्ण ने नन्दिघोष को सम्पूर्ण युद्धभूमि पर दौड़ाया।...हताश होकर जब मैं उससे रथ रोकने को कह देता, आज्ञाकारी की भाँति वह रथ को रोक देता था, किन्तु कह कुछ भी नहीं रहा था। केवल अपने पांचजन्य को प्राणशक्ति के साथ फूँक रहा था। उसके दिव्य नाद से मेरी थकान मिट जाती थी।

दोनों ओर के योद्धा और सैनिक अपने-आप को भूलकर युद्धमग्न हो गये थे। तीसरे प्रहर के पश्चात् अचानक आकाश धुँधला गया। क्या हो रहा है, किसी की समझ में नहीं आया। कुछ ही क्षणों में सूर्य सम्पूर्ण ग्रसित हो गया। सर्वत्र अँधेरा छा गया। इस समय हम रणभूमि के पश्चिम की ओर आ गये थे। अँधेरा होने से पक्षियों के झुण्ड चहचहाते हुए नीड़ों की ओर लौटने लगे। झींगुरों

की कर्कश किर्रऽ किर्रऽ सुनाई देने लगी। सेवकों ने सैकड़ों पलीते जलाकर युद्धभूमि के परिसर को प्रकाशित कर डाला। सबको लगा कि दिन ढल गया है, कौरव-सैनिक, यह सोचकर कि मेरी प्रतिज्ञा भंग हो गयी है, मेरे लिए चिता रचने लगे। सभी को वह स्पष्ट दिखाई दे, इसलिए श्रीकृष्ण ने उसे दोनों सेनाओं के मध्य रचवाया था।

मैं भ्रान्तचित्त और लज्जित हो गया था। विराटनगर में बृहन्नला बनकर, स्त्रीवेश धारण करते हुए भी मुझे इतनी लज्जा नहीं आयी थी, जितनी इस समय अपने-आप पर आ रही थी। मुझे लगा–स्वर्गद्वार पर खड़ा क्रोधित अभिमन्यु मुझे वापस लौट जाने को कह रहा है! श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर-भीमसेन सहित मेरे सभी भ्राता, द्रौपदी और विशेषत: सुभद्रा–मेरे विषय में क्या सोचेंगे? इस विचार से मैं सुन्न हो गया। अश्रु-भरी आँखों से मैंने युधिष्ठिर, भीमसेन को वन्दन किया। दुःखावेग से नकुल-सहदेव को प्रगाढ़ आलिंगन में कस लिया। मुझे अन्तिम विदा देने के लिए सहस्रों योद्धा विह्वल होकर जमा हो गये। मैंने भुजा ऊँची उठाकर उनको नम्र अभिवादन किया।

अन्त में मैं जीवन का अमोल हितोपदेश देनेवाले अपने प्रिय कृष्ण के सम्मुख आ गया। अनेक सम्मिश्र भाव-भावनाओं से मेरा मन भर आया। अब मुझे सखा श्रीकृष्ण से अलग होना होगा–सदा के लिए! कैसे सम्भव होगा? प्रतिज्ञा तो मैं कर बैठा था। अब सबसे दूर–सबको छोड़कर जाना ही होगा। मैंने अपने मन को कठोर कर लिया। आज निष्प्रभ हुए अपने गाण्डीव को कन्धे से उतारकर श्रीकृष्ण के चरणों में रख दिया। उसने तत्परता से, गम्भीरतापूर्वक कहा, "हे वीर अर्जुन, क्षत्रियों को स्वर्ग में भी शस्त्र के बिना प्रवेश वर्जित है। तेरे बिना और कौन इस दिव्य गाण्डीव को धारण कर सकता है? मेरे लिए भी वह सम्भव नहीं है।" उसने बलात् वह धनुष पुन: मेरे कन्धे पर लटका दिया। तूणीर को पीठ पर डालकर उसके बन्ध मेरे वक्ष पर कस दिये। अगले ही क्षण उसने मुझे अपने दृढ़ आलिंगन में ले लिया और मेरे कान में वह फुसफुसाया–"गाण्डीव का अभूतपूर्व प्रयोग तुझे अभी करना है। मेरी तर्जनी पर पूरा ध्यान दो।" उसने मेरे कन्धे थपथपाये।

आठ हाथ ऊँची भव्य चिता पर मैं उससे लगे सोपान द्वारा चढ़ गया–नतमस्तक, अपमानित-सा–अग्निप्रवेश करने के लिए! श्रीकृष्ण के चरणों में दृष्टि गड़ाकर, हाथ जोड़कर मैंने आँखें बन्द कर लीं। भगवान सवितृ का धैर्य देनेवाला मन्त्र मेरे होठों से निकलने लगा–'ॐ भूर्भुवः स्व: तत्सवितुर्वरेण्यम्ऽऽ'

मैं–कुन्ती माता का तृतीय पुत्र–श्रीकृष्ण का सबसे प्रिय सखा–गाण्डीव का स्वामी–दिग्विजयी धनुर्धर अर्जुन मृत्यु से मिलने के लिए सन्नद्ध हो गया।

एक सेवक ने थरथराते हाथों से जलता पलीता चिता में लगाया। मैं अब भी जयद्रथ को आसपास ढूँढ़ रहा था। स्त्रियों की भाँति उत्तरीय का छोर मुख पर लपेटकर वह दुर्योधन के पीछे चुपचाप खड़ा था। अपने सर्वप्रथम शत्रु अर्जुन को चिता में जलते देख अपनी क्रूर आँखों में धधकती शत्रुता की अग्नि को शान्त करने हेतु आया था वह। उसको दूर ही से देख मेरा शरीर क्रोध से जलने लगा।

अचानक सूर्य अपने ग्रहण से मुक्त हो गया। आकाश के घट से किरणों की एक-एक धारा झरने लगी। समरभूमि पर क्षीणतेज हुए पलीतों पर हँसता हुआ सूर्य पश्चिम क्षितिज पर पुन: प्रकट हो गया।

मेरे शरीर को रोमांचित करनेवाला, पांचजन्य को भी लजाता हुआ परिचित कण्ठ-स्वर सुनाई

दिया–"हे सव्यसाचिन् वह देखो सूर्य–और यह है नीच जयद्रथ! चलाओ बाण और कर लो लक्ष्यभेद!" दोनों हाथों की तर्जनियों से दो भिन्न दिशाओं का संकेत करते हुए कृष्ण तनकर खड़ा था–हिमालय के कैलास शिखर की भाँति। उसके दाहिने हाथ की तर्जनी सूर्य की ओर और बायें हाथ की तर्जनी जयद्रथ की ओर थी। उसके बायें हाथ का संकेत पाते ही मैंने क्षणार्द्ध में गाण्डीव पर बाण चढ़ाकर 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' कहते हुए उसे जयद्रथ के कण्ठ के लक्ष्य पर प्रक्षेपित किया। वह चन्द्रमुख बाण था–कण्ठभेद करनेवाला। वह अचूक रूप से जयद्रथ का कण्ठभेद कर गया। क्या और कैसे हुआ, यह सब मैं स्वयं भी नहीं जान पाया।

कौरवों द्वारा मेरे लिए रचित उस भव्य चिता पर पाण्डव-सैनिकों ने जयद्रथ का शव रखा। सूर्यग्रहण का चकमा देकर और जयद्रथ की जलती चिता को देखते हुए चौदहवाँ दिन ढल गया।

श्रीकृष्ण ने अपने उपदेश में मुझसे निश्चयपूर्वक कहा था–मुझमें ही अपना मन एकाग्र कर, मेरा भक्त बन जा। मुझे ही प्रणाम कर। मैं तुझे सभी पापों से मुक्त करूँगा। भयभीत मत हो! मैंने भी निश्चयपूर्वक उससे कहा था–तुझे दिये हुए वचन का पालन करूँगा–जो तू कहेगा, वही मैं करूँगा।

मैं जान चुका था–मैं एक सामान्य नर हूँ और वह–वह है साक्षात् नारायण!

सात्यकि

मैं सात्यकि! यादवों के अठारह कुलों में विख्यात वृष्णि कुल का वंशज। वृष्णिकुलोत्पन्न शिनि का प्रपौत्र–सत्यक का पुत्र। मेरे पिता सत्यक द्वारिकाधीश की सुधर्मा राजसभा के दस मन्त्रियों में से एक मन्त्री थे। मेरे पितामह शिनि वसुदेव महाराज के मित्र थे।

मथुरा में कंस के कारागृह में जन्मे, गोकुल में कृष्ण के नाम से पले, भविष्य में श्रीकृष्ण, अच्युत, वासुदेव, भगवान जैसी उपाधियाँ प्राप्त करते हुए अन्तत: नारायण पद तक पहुँचे, यादवश्रेष्ठ द्वारिकाधीश की जीवन-भर सेवा करने का दुर्लभ सुयोग मुझे प्राप्त हुआ।

द्वारिका के लाखों यादवों के हम दो सेनापति थे–अनाधृष्टि और मैं। अनाधृष्टि मुझसे ज्येष्ठ थे। अब वृद्ध हो चुके थे। किसी सैनिकी अभियान में भाग नहीं ले सकते थे। द्वारिका में ही रहकर सुधर्मा राजसभा के ज्येष्ठ मन्त्री के नाते वे यादवों को परामर्श दिया करते थे। श्रीकृष्ण महाराज उनके प्रत्येक अनुभवी बोल का आदर करते थे। वे कहा करते थे, "ज्येष्ठों के बोल सदैव औषधि-वनस्पति के समान हुआ करते हैं," और ऐसा व्यवहार भी वे किया करते थे। सैनिकी अनुशासन में बँधे होने के कारण अथवा उनके प्रति आदर होने के कारण, हम दोनों सेनापति श्रीकृष्ण महाराज को 'द्वारिकाधीश, यादवश्रेष्ठ, कृष्णदेव' और कभी-कभार 'महाराज' कहा करते थे। वे भी हमें अधिकतर 'सेनापति' ही सम्बोधित किया करते थे। कभी-कभी व्यक्तिवाचक एकवचन के रूप में भी वे हमें नाम से 'सात्यकि, अनाधृष्टि' भी कहा करते थे। हमें कभी ऐसा नहीं लगा कि द्वारिका के सर्वेसर्वा होने के कारण वे हमसे एकवचन में बातें कर रहे हैं। सदैव उनका अत्यन्त हार्दिक प्रेमभाव ही हमें प्रतीत हुआ। केवल वसुदेव महाराज, आचार्य सान्दीपनि, मुनिवर गर्ग, पाण्डव-पुरोहित धौम्य, महर्षि व्यास को छोड़कर, किसी को भी वे एकवचन में सम्बोधित किया करते थे। विशेष बात यह थी कि सुननेवाले को भी वह कभी अखरता नहीं था, बल्कि उसमें आत्मीयता और निकटता ही प्रतीत होती थी।

यादवश्रेष्ठ के जीवन के पूर्वार्द्ध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटित हुईं। उनमें कंस-वध, मथुरा-त्याग, रुक्मिणीदेवी का हरण, स्यमन्तक मणि का अध्याय, नरकासुर-वध आदि कई रोमहर्षक घटनाएँ थीं। उनमें से बहुत-सी घटनाओं में मैं और अनाधृष्टि–दोनों ही द्वारिकाधीश के साथ थे। द्रौपदीदेवी के स्वयंवर के पश्चात् जब पाण्डवों का यादवश्रेष्ठ के जीवन में प्रवेश हुआ, बढ़ती आयु के कारण अनाधृष्टि पीछे छूट गये, तत्पश्चात् सेनापति पद का दायित्व अकेले मुझ पर ही आ पड़ा। द्वारिकाधीश के साथ अपने दायित्व का निर्वाह करना मेरी दृष्टि में केवल कर्तव्य नहीं था–एक सफल कर्मयोग था। मुझे उसमें असीम जीवनानन्द प्राप्त हुआ।

मेरा स्वभाव सत्यप्रिय था। अपने इसी गुण के कारण मैं श्रीकृष्ण महाराज का निकटवर्ती बन

गया था। उनके प्रिय सखाओं में से मैं भी एक था–उसमें मेरा स्थान अन्तिम ही क्यों न हो! इस बात के अभिमान से मेरी छाती हमेशा फूली रहती थी।

जैसे मैं सत्यप्रतिज्ञ था, वैसे ही निर्भय भी था। मेरी यह निर्भयता यादवश्रेष्ठ के सान्निध्य के कारण ही निर्माण हुई और बढ़ती भी गयी, इसका आभास मुझे आज हो रहा है। उनके सान्निध्य के कारण पाण्डवश्रेष्ठ धनुर्धर अर्जुन निर्भयता के अत्युच्च शिखर पर जा पहुँचा था। यह मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ। कभी-कभी मेरे मन में आता था, महाभारतीय युद्ध के आरम्भ होने से पहले किंकर्तव्यविमूढ़ होकर अपने दिव्य गाण्डीव धनुष को त्यागनेवाला अर्जुन पुन: युद्ध-तत्पर न हुआ होता तो? अपने प्रचण्ड पराक्रम से भविष्य में वह जिस प्रकार विख्यात हुआ, उसी प्रकार अथवा उससे भी अधिक वह कुख्यात ही हुआ होता।

यादवश्रेष्ठ ने मेरे जिस तीसरे गुणधर्म को परखा था–वह था मेरा शत्रुमर्दन। द्वारिकाधीश के साथ कई युद्धों में मैं सहभागी हुआ था। किसी भी युद्ध में मैं पराजित होकर नहीं लौटा था। आज मुझे यह स्पष्ट कहना होगा कि जिस प्रकार प्रत्येक युद्ध में मेरी सफलता का कारण मेरा बाहुबल था, उसी प्रकार उस युद्ध में द्वारिकाधीश का उपस्थित होना ही इसका मुख्य कारण था। साधारणत: वे मुझे 'सेनापति' कहा करते थे, किन्तु रणभूमि पर अनेक कठिन प्रसंगों में वे मुझे 'सात्यकि' ही सम्बोधित किया करते थे। तब उनके शब्दों में जो अधिकार व्यक्त होता था, वह सेनानायक की अपेक्षा कुछ अलग प्रकार का ही होता था–यह बात मुझे स्पष्ट प्रतीत होती थी।

मैं स्वभावत: ही स्पष्टवादी था। यह गुणधर्म हममें से अनेक यादवों में था। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण थे हमारे बलराम भैया! मेरा स्वभाव बहुत-कुछ उन्हीं के समान था–शीघ्रकोपी और शीघ्र शान्त होनेवाला। हम दोनों में एक ही अन्तर था, सम्भवत: उनकी ज्येष्ठता के कारण से हो अथवा उनके युवराज पद के कारण से, वे किसी भी समय शीघ्र क्रुद्ध हुआ करते थे और शीघ्र शान्त भी हुआ करते थे। मेरा क्रोध केवल रणभूमि में ही उफन आता था! शत्रु को पूर्णत: पराजित किये बिना वह शान्त नहीं होता था।

सम्भवत: मेरी इन्हीं विशेषताओं के कारण मेरे जीवन में एक रोचक घटना घटित हुई। यह घटना खाण्डववन में पाण्डवों के लिए इन्द्रप्रस्थ का निर्माण करते समय घटित हुई थी। तब मुझे द्वारिकाधीश के साथ रथों के और शिल्पियों के दल को लेकर द्वारिका से बार-बार खाण्डववन जाना पड़ता था। इसी अन्तराल में धनुर्धर अर्जुन के कई गुण मुझे स्पर्श कर गये। इसी से एक दिन अर्जुन से आयु में ज्येष्ठ होते हुए भी मैंने हाथ जोड़कर उससे अनुरोध किया, "हे पराक्रमी पार्थ, यद्यपि आप मुझसे छोटे हैं, कृपया युद्धविद्या और धनुर्विद्या में आप मुझे अपना नम्र शिष्य स्वीकार करें!" मेरे इस अनुरोध पर उसे विश्वास ही नहीं हुआ। उसने मुझसे कहा, "हे आजानुबाहु, महाबली यादव-सेनापति, आप मुझसे हँसी-ठट्ठा तो नहीं कर रहे हैं? मैं भलीभाँति जानता हूँ कि यादव, पाण्डव और कौरवों में केवल दो ही वीर आजानुबाहु हैं–एक हमारे कृष्ण और दूसरे स्वयं आप। हे महास्कन्ध, महारथी, मैं तो नौसिखिया हूँ, आपको क्या सिखाऊँगा?"

उसने यह अपनी स्वभावोचित विनम्रता से ही कहा था, किन्तु उसी से युद्धविद्या और धनुर्विद्या का ज्ञान पाने की मेरी आन्तरिक लगन थी। उसका भी एक कारण यह था जिसे कोई समझ नहीं सकता था। अर्जुन की युद्धविद्या और धनुर्विद्या के सूत्रधार थे द्वारिकाधीश! मैंने मन-ही-मन वह जान लिया था–काम्पिल्यनगर में द्रौपदी-स्वयंवर के समय। जलकुण्ड के तट पर पांचालों का

शिवधनुष उठाकर ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन ने जो आकर्षक वीरासन लगाया था उसे सर्वप्रथम द्वारिकाधीश ने ही पहचाना था। वे बलराम भैया के कान में फुसफुसाये थे, "दाऊ, उस वीरासन को देखिए। मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ, वह अर्जुन ही है, कोई और नहीं।" मैं उन दोनों के समीप ही था। वे शब्द अब भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं, मानो वे कल ही सुने हों।

अपनी ज्येष्ठता को भूलकर विद्या-प्राप्ति हेतु मैंने नम्रतापूर्वक अर्जुन से अनुरोध किया। उसने भी मेरे अनुरोध का सम्मान किया। मैं अर्जुन का शिष्य बन गया। दिव्य गाण्डीव को धारण करनेवाले अर्जुन का शर-कौशल्य मुझे सहज ही प्राप्त हुआ। फिर भी यादवों का सेनापति होने के नाते मैं जानता था कि आर्यावर्त के केवल पाँच वीर ही सभी ऋचाओं सहित धनुर्वेद के ज्ञाता थे। पहले थे पितामह भीष्म, दूसरे आचार्य द्रोण, तीसरा अंगराज कर्ण, चौथा अर्जुन, और पाँचवें स्वयं द्वारिकाधीश! पाँचवें कि पहले? लक्ष्मणादेवी के स्वयंवर में मत्स्यभेद कर उन्होंने धनुर्विद्या पर अपने प्रभुत्व को प्रमाणित कर दिया था। सचमुच, शस्त्र-धनुष धारण करके वे यदि कुरुक्षेत्र के महायुद्ध में उतरते तो?

अब मैं अर्जुन का शिष्य हुआ। अस्त्र-विद्या में तो मैं द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण का शिष्य पहले से ही था। अर्थात् गुरु-शिष्य कृष्णार्जुन का समस्त आर्यावर्त में मैं एकमात्र शिष्य था। मुझसे छोटा होने के कारण अर्जुन मुझे आदरार्थी बहुवचन में बातें करता था। कृष्णदेव मुझे 'सात्यकि' कहकर सम्बोधित किया करते थे। अर्थात् गुरु-शिष्य के नाते हम तीनों एक भाव-त्रिकोण थे। मेरा आग्रह है कि इस भाव-त्रिकोण की दृष्टि से ही हम तीनों के जीवन को देखना उचित होगा। तब हम तीनों ने औरों को जिस दृष्टि से देखा है, क्या इसे ध्यान में रखना उचित नहीं होगा?

द्वारिकाधीश के भाव-जीवन का सर्वाधिक गहरा दर्शन केवल उद्धवदेव को हुआ। उनके सम्पूर्ण जीवन का दर्शन उनके प्राणसखा अर्जुन को हुआ। मैंने क्या देखा? पराक्रमी सेनापति के नाते मैंने देखा उनकी रणनीतिक कुशलता, उनकी अद्वितीय वीरता और अतुल क्षात्रतेज। इस दृष्टि से उनकी सबसे बड़ी विशेषता, जो मुझे प्रतीत हुई थी–कि उनके द्वारा लड़ा गया प्रत्येक युद्ध मानव-जाति के कल्याण हेतु ही लड़ा गया था। उसमें उनकी अद्वितीय, वीर सेनानायक के रूप में कीर्ति अर्जित करने की लालसा तनिक भी नहीं थी। यदि होती तो बिना शस्त्र धारण किये वे भारतीय महायुद्ध में क्यों उतरते? जीवन-भर कभी किसी राजसिंहासन पर उन्होंने अपना अधिकार स्थापित नहीं किया। तब अपने अधिकार के लिए संघर्ष करनेवाले कौरव-पाण्डवों के पक्षधर अनेक राजाओं को उन्होंने आपस में लड़ने के लिए क्यों प्रवृत्त किया था?

जब मेरे मन में इस प्रकार के प्रश्न उभरते हैं, कि कुरुक्षेत्र में मार्गशीर्ष बदा प्रतिपदा की रात को हम सब पाण्डव योद्धाओं के समक्ष उन्होंने जो विचार व्यक्त किये थे, उनका मुझे तीव्रता से स्मरण हो आता है।

उस रात पाण्डव-शिविर में सेनापति धृष्टद्युम्न, पाँचों पाण्डव, मैं, द्रुपद, विराट, अभिमन्यु, घटोत्कच, धृष्टकेतु, चेकितान, इरावान आदि दो-तीन पीढ़ियों के योद्धा उपस्थिति थे। उस समय द्वारिकाधीश ने हम सबको सम्बोधित करते हुए जो वक्तव्य दिया था, उसका एक-एक शब्द मुझे जीवन-भर याद रहा। भभकते पलीतों के प्रकाश में, अपने विशाल शिविर में आमन्त्रित पराक्रमी योद्धाओं पर अपनी कृष्णदृष्टि घुमाते हुए उन्होंने अपनी धीर-गम्भीर समरवाणी में कहा था, "मैं जानता हूँ, युद्ध कभी जीवन का अन्तिम सत्य नहीं हो सकता। युद्ध से कभी समस्याएँ नहीं

सुलझतीं, प्रश्न हल नहीं होते। युद्ध के विराट् विध्वंस से मानव-जाति के पीढ़ियों से हृदय में सँजोये स्वप्न भंग हो सकते हैं। जीवन के मूल अर्थ को खोजते हुए सम्भ्रम के काले-काले पुट उसकी बुद्धि को घेर सकते हैं। फिर भी कल से मैं कौरव-पाण्डवों के बीच महायुद्ध का विस्फोट क्यों करा रहा हूँ? लाखों-लाखों योद्धाओं की बलि चढ़ानेवाले मृत्यु के महायज्ञ का आरम्भ मैं क्यों करा रहा हूँ? मानव-मन में प्रच्छन्न रूप से उपस्थित क्रूरता का मुक्त विस्फोट करानेवाला यह रोमहर्षक खेल मैं क्यों आरम्भ कर रहा हूँ? कण-कण में स्थित जिस चैतन्य के कारण विश्व का संचालन होता है, उन तेजस्वी कणों का लोमहर्षक संघर्ष मैं क्यों सुलगा रहा हूँ? किसलिए?

"क्या मैं केवल एक पाषाण-हृदय वधिक हूँ, इसलिए? जगत् में किसी का भी जीवित रहना मुझे स्वीकार नहीं है, इसलिए? आर्यावर्त पर क्रूरता, अश्रद्धा, अराजकता, विवशता का साम्राज्य स्थापित हो, इसलिए? नहीं—कदापि नहीं!

"फिर क्यों कर रहा हूँ मैं यह सब? किसलिए? केवल द्रौपदी के निष्कलंक शील की घोर अवमानना करनेवाले दुर्योधन, दु:शासन, कर्ण को दण्डित करने के लिए? शकुनि मामा की कपटी राजनीति को आमूल नष्ट करने के लिए? भीष्म-द्रोण की मौन विवशता और असमर्थनीय तटस्थता को मुखरित करने के लिए? धृतराष्ट्र की स्वार्थी, अन्धी आँखों में निरुपाय होकर सत्य का चर्राता अंजन डालने के लिए? कर्ण के पथभ्रष्ट और सम्भ्रमित जीवन को स्वर्ग का सुयोग्य मार्ग दिखाने के लिए? नहीं!

"केवल इतना ही मेरा उद्देश्य होता तो वह नितान्त सरल हुआ होता। इनमें से प्रत्येक का निर्दलन करना क्या मेरे लिए असम्भव था? क्या यह, केवल कौरव-पाण्डवों के राजसिंहासन के अधिकार का प्रश्न है? तो क्यों आरम्भ कर रहा हूँ मैं इस लोमहर्षक महायज्ञ को?

"मेरे आगे जो प्रश्न खड़ा है, वह है समस्त मानव-जाति का! यह प्रश्न है अन्तिम, चिरन्तन सत्य का। यह प्रश्न है भिन्न-भिन्न शरीरों के, भिन्न-भिन्न प्रकार के अनगिनत कुम्भ धारण करनेवाले अमर आत्मतत्त्व का! शाश्वत तेज का! विकासोन्मुख भार रहित ऊर्जा का!

"जगत् का अन्तिम और अपरिवर्तनीय शाश्वत सत्य है प्रकाशमय अमर चैतन्य! अपने वैभवशाली राजप्रासाद में रहकर कोई भी, कभी भी उसको अनुभव नहीं कर सकता! जिस प्रकार जल में मगरमच्छ हाथी को पकड़े रखता है, उसी प्रकार जीने की निर्लज्ज आसक्ति को पकड़े रहने से कोई उसको अनुभव नहीं कर सकता।

"इसलिए जैसे दिन के बाद रात्रि होती है, वैसे ही जीवन के बाद मृत्यु होती है, इस बात का शुद्ध परिचय होना आवश्यक होता है। मन, शरीर और बुद्धि का स्वस्थ आत्मनिर्भर होना आवश्यक होता है। तब सत्य को किसी दूसरे से जानने की आवश्यकता नहीं रहती। अपने-आप ही वह शरीर-शरीर से प्रकट होने लगता है। मुक्ति अथवा सर्वश्रेष्ठ आत्मानुभव माँगने से मिलनेवाली वस्तु नहीं है।

"दूसरे के भोजन करने से अपनी भूख नहीं मिटती। दूसरे के जल-पान करने से अपनी तृष्णा तृप्त नहीं होती। उसी प्रकार किसी के उपदेश से किसी का उद्धार नहीं होता—होगा भी नहीं। जहाँ-जहाँ जीवन होता है, वहाँ-वहाँ प्रकटन की भी अनिवारणीय इच्छा होती है। मुक्ति की लगन होती है। बाहर से वह दिखाई नहीं देती, किन्तु अन्दर से उसका कार्य चलता रहता है। जीवन अर्थात् प्रकटन! कभी-कभी इस प्रकटन के प्रलयकारी दृश्य का मानव-जाति के आगे प्रत्यक्ष होना

आवश्यक होता है। क्योंकि ग्रन्थ, उपदेश, नीतितत्त्व से परे वह आसक्ति में डूबी हुई होती है। विश्रामवादी सुख-लोलुप हुई होती है। व्यक्तिगत स्वार्थ से अन्धी हुई होती है। दृश्य जगत् से परे एक सूक्ष्म जगत् भी है, यह देखने के लिए उसके पास अवकाश नहीं होता। तब कहीं-न-कहीं उसे रोकना पड़ता है और उसके लिए युद्ध के अतिरिक्त कोई अन्य प्रभावशाली उपाय नहीं होता। कल प्रज्वलित होनेवाला महायुद्ध इसके लिए है—केवल इसीलिए!—इस युद्ध का उद्देश्य समझकर आप में से प्रत्येक योद्धा कल अपने वीरत्व की कार्य-रूप में अभिव्यक्ति करे।"

उनका वह रोमांचक वक्तव्य सुनकर उस रात सभी पाण्डव निर्भयतापूर्वक सुख की नींद सोये। किसी को किसी बात का भय नहीं रहा।

उस रात 'द्वारिकाधीश से मेरी पहली भेंट कब हुई?' यह अनिवारणीय प्रश्न मेरे मन में उभर आया। मैं इस प्रश्न के पीछे पड़ गया और जैसे-जैसे उनके चरित्र का चित्र स्पष्ट होता गया, मैं चकित होता गया।

सर्वप्रथम मैंने उन्हें कंस-वध के समय मथुरा में देखा था। तब एक उभरते यादव युवक के नाते मैं सेनापति अनाधृष्टि के पास बैठा था। उस समय उन्होंने और बलराम भैया ने मिलकर अपनी किशोर आयु में ही कुवलयापीड जैसे बलाढ्य हाथी का जिस प्रकार निःपात किया, उसने मुझे विस्मित कर डाला था। उनके उस किशोर रूप को सूर्य-बिम्ब की भाँति क्रमश: बढ़ते हुए मैंने देखा है।

उनके प्राणी-जीवन के गहरे अध्ययन ने मुझे प्रभावित किया। युद्ध में गज, अश्व और उष्ट्र—तीनों प्राणियों का मुख्यत: उपयोग किया जाता है। जब वे आचार्य सान्दीपनि के आश्रम से लौटकर आये, इन तीनों प्राणियों के विषय में उनका अध्ययनपूर्ण विवेचन मैंने सुना था।...

कंस-वध के पश्चात् एक दिन सेनापति अनाधृष्टि से आज्ञा लेकर मैं स्वयं ही कृष्णदेव के समक्ष आकर खड़ा हुआ। मुझ पर पड़ा उनके सैनिकी नेतृत्व का प्रचण्ड प्रभाव ही उसका कारण था। पहली ही भेंट में प्रेम से मेरे कन्धे थपथपाते हुए उन्होंने कहा, "सात्यकि, तुम महास्कन्ध हो। अपने इन कन्धों पर यादवकुल की रक्षा का भार उठा पाओगे? तैयार हो इसके लिए?" मैंने बिना कुछ कहे उनकी भृंगवर्ण, पानीदार आँखों में झाँका और झुककर उनके चरणस्पर्श किये। अस्फुट शब्दों में मैंने कहा, "आज्ञा करें देव!" मुझे प्रेमपूर्वक ऊपर उठाकर वक्ष से लगाते हुए उन्होंने कहा, "विशाल-वक्ष भी हो तुम! मेरे ही जैसे आजानुबाहु तुम्हें भी प्राप्त हैं। तुम ही यादवों के सेनापति हो!" तब से मैं सेनापति बन गया।

दूसरे के कण-भर गुण का मन-भर गौरवगान करनेवाले कृष्णदेव से मैंने तभी कहा था, "आपके समान आजानुबाहु होते हुए भी आपके चरणों के रजकण के समान भी मेरी योग्यता नहीं है। अपनी मर्यादाओं को मैं भलीभाँति जानता हूँ। हममें से बहुतों के पास अनेक अस्त्र हैं, किन्तु बुद्धि का जो स्वर्गीय अस्त्र आपके पास है उसकी समानता लाखों यादवों में से कोई भी नहीं कर सकता।"

भविष्य में जीवन-भर मैं उनके इस दिव्य बुद्धि-अस्त्र की धार को उत्तरोत्तर चढ़ते क्रम से अनुभव करता गया।

अब भी वे दिन मुझे स्पष्ट स्मरण हैं—मथुरा पर जरासन्ध के आक्रमण के! अनाधृष्टि के सह-सेनापति पद पर मेरी नियुक्ति होने के पश्चात् सर्वप्रथम मुझे युद्ध के सत्य का ही सामना करना

पड़ा–वह भी एक-दो बार नहीं, सत्रह बार। उस कालावधि में कृष्णदेव ने मथुरा के पश्चिम महाद्वार के संरक्षण का उत्तरदायित्व मुझे सौंपा था–पश्चिम द्वार का ही क्यों? उसका कारण था–मथुरा सम्राट् जरासन्ध के गिरिव्रज के सीधे पश्चिम दिशा में थी। तब उसका कोई भी आक्रमण पहले मथुरा के पूर्व महाद्वार पर होना चाहिए था। किन्तु ऐसा हो नहीं सकता था। उसका भौगोलिक कारण था। यमुना नदी ने मथुरा को चन्द्राकार रूप से घेर रखा था। शत्रु की नौकाओं को मथुरा के पूर्वद्वार की ओर लंगर डालने के लिए यमुना के पाट में कोई उचित स्थान था ही नहीं। वे पश्चिम द्वार की ओर ही उतर सकते थे। अत: जरासन्ध के मथुरा पर आक्रमण मुख्यत: पश्चिम महाद्वार से ही हो सकते थे। इसीलिए सेनापति होने के नाते इस मुख्य महाद्वार के संरक्षण का दायित्व लम्बे समय तक मुझको ही सौंपा गया था।

मथुरा के संरक्षण के लिए मुझे पश्चिम द्वार से पूर्व द्वार तक अर्धचन्द्राकार यमुना-पात्र में नौका-भ्रमण करना पड़ता था। इस भ्रमण में कभी-कभी कृष्णदेव भी मेरे साथ हुआ करते थे। तब वे मुझे युद्धनीति की बारीकियाँ समझाया करते थे–“रणभूमि पर शत्रु जब पराजित होता है, तब उसे सरलता से छोड़ना नहीं चाहिए। युद्धप्रेमी वीर का मन कभी पराजित नहीं होता। निश्चयपूर्वक वह पुन: युद्ध-प्रवृत्त हो सकता है। अत: उसको पराजित करने के पश्चात् भी उसका पीछा करना चाहिए।” इस सूत्र को ध्यान में रखते हुए जरासन्ध के अन्तिम आक्रमण के समय मैंने पाँच योजन तक उसका पीछा किया था। यमुना में नौका-भ्रमण करते समय मुझे तीव्रता से प्रतीत होता था कि यमुना नदी से उन्हें अत्यधिक लगाव है। उस समय वे अत्यन्त प्रसन्नचित्त होते थे। यमुना के विषय में और पंचमहाभूतों में से मुख्यत: ‘जल’ के विषय में वे बड़े भावविभोर होकर बोलते थे। कहते थे, “गोकुल में इसी यमुना के पाट में मैंने और दाऊ ने यथेच्छ डुबकियाँ लगायीं हैं। इसके जीवनदायी जल से यादवों की पीढ़ियाँ पलें-पोसें और सतेज हों, इस हेतु मैंने और दाऊ ने हाथ में फावड़ा लेकर यमुना के प्रवाह को अपने कृषिक्षेत्र की ओर मोड़ा है। सात्यकि, एक बात को स्मरण रखो, जीव जिससे जन्म लेता है और जिसमें लय होता है, वह महाभूत है जल”। उनकी इस प्रकार की अर्थगर्भित बातों को सुनकर मुझे प्रतीत होने लगा कि वे स्वयं ही एक जलपुरुष हैं। जन्मत: ही उन्होंने जलयात्रा की थी। गोकुल-मथुरा में वे यमुना के तट पर, जल के सान्निध्य में रहे थे। उनकी द्वारिकानगरी जल से ही घिरी हुई थी। जल की कृपा सदैव यादवों पर रहे, यह उनकी दूरदर्शिता थी। इसीलिए द्वारिका को उन्होंने सुनियोजित पत्तन के रूप में विकसित करवाया था। महासागर में दूर–पश्चिम दिशा में ‘क्रोष्टु’ नामक दीपस्तम्भ खड़ा करवाया था।

उनके अन्दर के इस जलपुरुष की प्रतीति मुझे जरासन्ध के सत्रहवें और अन्तिम प्रचण्ड आक्रमण के समय हुई। तब उन्होंने जरासन्ध के दो बलाढ्य सेनापतियों–हंस और डिम्भक के विनाश के लिए यमुना के जल की ही सहायता ली थी।

जरासन्ध सचमुच बड़ा अहंकारी था। यदि वह बुद्धिमान और दूरदर्शी होता तो हंस और डिम्भक के अन्त के पश्चात् जलपुरुष कृष्णदेव को ठीक से पहचान लेता।

यादवश्रेष्ठ मुझसे कहा करते थे, “सात्यकि, जलपुरुष के रूप में तुमने मुझे तो पहचान लिया है। कौरवों के हस्तिनापुर में भी मेरे जैसे दो जलपुरुष हैं–उन्हें तुम पहचान सकते हो?”

गंगापुत्र होने के नाते पितामह भीष्म का नाम तो झट से मेरी आँखों के आगे आता था। जिन्होंने कृष्णदेव को सुदर्शन चक्र प्रदान किया था, उन्हीं भगवान परशुराम के शिष्य थे

पितामह। उन्होंने ही पितामह को प्रस्वाप नामक अभिमन्त्रित अस्त्र प्रदान किया था। मैं कह गया था, “पहले तो पितामह भीष्म हैं, दूसरा कौन?–समझ में नहीं आ रहा।” जिज्ञासु आँखें फाड़कर जब मैं उनकी ओर देखता था, शरारती मुस्कराहट के साथ वे कहते थे, “समझ जाओगे–उचित समय पर समझ जाओगे।” वह उचित समय मेरे जीवन में बहुत देर से आया।

द्वारिका में जब किसी विषय पर गुप्त मन्त्रणा करनी होती थी, सुधर्मा सभा के मन्त्रिगणों सहित पश्चिम सागर में नौका-भ्रमण करते हुए वे एकान्त में गुप्त मन्त्रणा किया करते थे। बहुधा सारी बैठकों में मैं उपस्थित हुआ ही करता था। कभी बलराम भैया, कभी अमात्य विपृथु तो कभी उद्धवदेव भी हुआ करते थे। अत्यन्त आदरपूर्वक उन्होंने अपने पिता वसुदेव महाराज को द्वारिका के राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया था। किन्तु उनके वृद्धत्व का विचार करते हुए उन पर राज्यशासन का बोझ न पड़े, इसकी सावधानी भी कृष्णदेव ने बरती थी। द्वारिका का एक पत्ता भी उनकी इच्छा के बिना नहीं हिलता था। इसीलिए केवल द्वारिकावासी ही नहीं आर्यावर्त के सभी नरेश उन्हें द्वारिकाधीश ही कहते और मानते थे। उनके एक-एक पहलू के दर्शन मुझे कारणवश होते गये। जिस प्रकार उन्हें यमुना से और जल से लगाव था, उसी प्रकार उन्हें वृक्ष-लताओं से एवं वनों से भी लगाव था। अरण्यों के विषय में उनके निःसन्दिग्ध विचार, उनके ही साथ दण्डकारण्य को पार करते समय मुझे सुनने को मिले। उन्होंने सभी दृष्टियों से अरण्य के विषय में सोचा था। दण्डकारण्य को पार करते समय अपने पड़ाव के चारों ओर खाइयाँ खोदी जाएँ, रात्रि के समय उनमें आग जलायी जाए, उन पर बारी-बारी से रक्षक नियुक्त किये जाएँ, पड़ाव को छोड़ते समय आग को पूर्णत: बुझाया जाए, ये सब जानकारियाँ उन्हीं से मुझे मिली थीं। जरासन्ध के घेरे से सुरक्षित निकलने के लिए गोमन्त के वैभवशाली अरण्य को अग्नि का भक्ष्य बनाना पड़ा, इसका उन्हें अत्यधिक खेद था। इसी प्रकार पाण्डवों के लिए इन्द्रप्रस्थ का निर्माण करते समय खाण्डववन के रमणीय अरण्य को दग्ध करना पड़ा, इसका शूल भी उन्हें जीवन-भर सालता रहा।

उनके चरणों में चक्र के चिह्न अंकित थे। सभी अर्थों में वे चक्रवर्ती थे। समस्त भारतवर्ष-भर में उन्होंने भ्रमण किया। अपने इस निरन्तर भ्रमण को उन्होंने कुशलतापूर्वक एक ढाँचे में ढाल दिया था। वे ‘संन्यासी’ नहीं–योगयोगेश्वर थे। उनके समान आदर्श ‘योगी’ और ‘गृहस्थ’ दुर्लभ ही था। अपने अथक भ्रमण में कोई बाधा न आए, इसलिए संन्यासी-जीवन का एक तत्त्व वे बताया करते थे–“संन्यासी को और समझदार योगी को एक ही स्थान पर दो दिन से अधिक नहीं रहना चाहिए। इससे उनके जीवन के नियम भंग होते हैं।” अपने अखण्ड भ्रमण के बीच सर्वत्र बहुत-कुछ देखने के बाद उन्हें यह अनुभव हुआ था। एक तरह से बिना किसी इन्द्रजाल के ही सर्वत्र उनका वास था।

यादवों के सेनापति के नाते उनके साथ सम्पूर्ण भारतवर्ष का भ्रमण करते समय मुझे उनके अनेक गुणों का आभास हुआ। उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी उनका निर्मोही स्वभाव। द्वारिका के राजसिंहासन का भी उन्होंने मोह नहीं किया था। अन्यायी और घमण्डी शासन-कर्ताओं की निरंकुश सत्ता से प्रजा को मुक्त करना उनका जीवन-व्रत था। उस व्रत का निर्वाह करते हुए पराजित किये राजाओं के राज्यों को वे नितान्त सरलता से हड़प सकते थे। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया।

आरम्भ में ही उन्होंने करवीर के अन्यायी, निरंकुश राजा शृगाल का नाश किया था। उस

समय उन्होंने सुदर्शन का पहली ही बार प्रक्षेपण किया था। किन्तु करवीर के राजसिंहासन पर उन्होंने अपना अधिकार नहीं जमाया। शृगाल के स्थान पर उन्होंने उसके पुत्र शक्रदेव को बिठा दिया। मुझे उसी समय उनकी इस विशेषता की तीव्रता से प्रतीति हुई। इसी से उन्होंने करवीर के सहस्रावधि प्रजाजनों के मन भी जीत लिये थे।

महान द्रष्टा-ज्ञानी पुरुष सदा ही एक विषय में भूल करते हैं। पुराने, निरुपयोगी विचारों को वे खण्डित अवश्य कर देते हैं, किन्तु नये जीवनदायी विचार देने में वे चूक जाते हैं। जिस प्रकार कृष्णदेव ने नयी पीढ़ी का यादव होने के नाते मुझे अपना सहयोगी बनाया था, उसी प्रकार करवीर के शृगाल-पुत्र शक्रदेव को भी उसका अधिकार दिलाकर आश्वस्त किया था। निकृष्ट पुराने तत्त्वों को निश्चयपूर्वक नष्ट करना उनके जीवन का उद्देश्य था। मेरे मन पर उनके जिस वैशिष्ट्य की छाप पड़ी थी, वह था उनका सदैव युवा पीढ़ी को प्रेरित और प्रोत्साहित करना।

करवीर के युद्ध में तो मैं उनके साथ था ही। भविष्य में भी कई प्रसंगों में काल के कन्धे पर हाथ रखनेवाला उनका अद्वितीय नेतृत्व मुझे स्पर्श करता गया।

कामरूप राज्य के मदोन्मत्त नरकासुर पर हमारे स्वामी कृष्णदेव ने जब ससैन्य आक्रमण किया, तब भी मैं उनके साथ था। पश्चिम सागर-तट पर बसी हमारी द्वारिका से सीधे पूर्व देश के प्राग्ज्योतिषपुर से जा भिड़नेवाला वह प्रचण्ड महत्त्वाकांक्षी अभियान था। प्रदीर्घ काल तक चलनेवाले उस सैनिकी अभियान में मुझे उनके कई गुणों ने चकित कर डाला था। कामरूप के अन्यायी, उन्मत्त नरकासुर का वध कर वह राज्य उन्होंने उसके पुत्र भगदत्त को सौंप दिया था। उस समय स्त्रीत्व के प्रति उनकी विशुद्ध आदर-भावना को देखकर हम सब यादव-योद्धा विस्मित हो गये थे। उन्होंने सोलह सहस्र पीड़ित, बन्दी कामरूपी नारियों को उद्धवदेव के हाथों अपने नाम के मंगलसूत्र प्रदान किये। उन सब निष्पाप जीवों का उन्होंने द्वारिका में सम्मानपूर्वक पुनर्वास करवाया। इस प्राचीन आर्यावर्त में इस प्रकार का महान कार्य करनेवाले वे पहले ही द्रष्टा पुरुषोत्तम थे। उसी समय मैंने अपने खरे सैनिक-जीवन का वन-पुष्प सदा के लिए उनके चरणों में अर्पित किया।

उद्धवदेव और कृष्णदेव में मूलत: ही अन्तर था। उद्धवदेव ने कभी भी शस्त्र उठाकर किसी रणभूमि पर पाँव नहीं रखा। कृष्णदेव कई युद्धों में लड़ चुके थे–बल्कि यह कहना सही होगा कि वे जीवन-भर लड़ते ही रहे थे। किन्तु इस विषय में उन्हें उद्धवदेव से कुछ कहते न मैंने कभी देखा, न सुना। इसके विपरीत बलराम भैया रणभूमि पर सुधबुध खोकर कभी-कभी पराक्रम का अधिक ही प्रदर्शन किया करते थे। इस अतिरेक के लिए बलराम भैया को उलाहना देते हुए भी मैंने कृष्णदेव को कभी देखा नहीं था। सम्भवत: इसीलिए, उद्धवदेव और बलराम भैया के मन में उनके प्रति नितान्त आदर था। उन दोनों भ्राताओं को एक ही द्वारिकाधीश अलग-अलग कारणों से आदर्श पुरुष लगते थे। उन दोनों की ही नहीं, द्वारिका के अनेक यादव नर-नारियों की यही स्थिति थी। जिस प्रकार प्रफुल्लित पारिजातक पुष्प पर चमकती ओस की बूँद किसी को मोती जैसी, तो किसी को हीरे जैसी दिखती है; ऐसी ही स्थिति द्वारिकाधीश के विषय में भी थी। मध्याह्न की सूर्य-किरणों में शत पहलुओंवाला पुखराज जैसे नानाविध किरणशलाकाएँ विकीर्ण करता रहता है, वैसा ही द्वारिकाधीश का जीवन था–तेजस्वी, विशुद्ध–दूसरों को सदैव आह्लाद और आनन्द देनेवाला।

द्वारिका में कृष्णदेव के गृहस्थ-जीवन के सभी पहलू मैंने देखे। दोनों द्वीप–अन्त:पुर का द्वीप और राजसभा का द्वीप–उन्हीं की कुशलता से एकरूप हो गये। अन्त:पुर के द्वीप पर से अलंकृत गरुड़ध्वज रथ में उद्धवदेव और बलराम भैया सहित उनके आने पर सेनापति के नाते राजसभा के द्वार पर उनका स्वागत करना मेरे लिए एक अविस्मरणीय अनुभव होता था। जब मैं उनका स्वागत करता था, वे प्रेमपूर्वक मेरे दोनों हाथ अपनी हथेली में ले लेते थे। उनकी हथेली के उस ऊष्मापूर्ण, आश्वासक स्पर्श को मैं जीवन-भर कभी भूल नहीं पाया। कभी-कभी अपने हाथ में मेरा हाथ थामकर ही वे राजवेदी की ओर चलने लगते थे। राजसभा-सदस्यों के बरसाये पुष्पों में से कुछ पुष्प उनके साथ मेरे भी मस्तक पर पड़ते थे। कभी-कभी चलते-चलते वे अत्यन्त प्रेम से, अपनी हृदयस्पर्शी ध्वनि में बुलाते थे–"सात्यकि–बन्धु,...!" उस दिन सुधर्मा सभा का कामकाज समाप्त होने पर भी मेरे मन में उनकी वही आवाज गूँजती रही थी–'सात्यकि–बन्धु...।' कभी-कभी अपने ही विचारों में मग्न वे बिना कुछ बोले–केवल मुस्कराते हुए, राजसभा-सदस्यों के प्रणाम स्वीकार करते सहज ढंग से अपने आसन की ओर चले जाते थे। आसनस्थ होने से पहले दोनों हाथ जोड़कर, तनिक नतमस्तक होकर तात वसुदेव, दोनों राजमाताओं और आचार्य सान्दीपनि को प्रणाम करने से वे कभी चूकते नहीं थे। आसनस्थ होते-होते बायीं ओर खड़ी रुक्मिणीदेवी पर एक मुस्कराता दृष्टिक्षेप करना भी वे नहीं भूलते थे।

मुझे भलीभाँति स्मरण है, एक दिन मुझसे कुछ बात किये बिना ही वे राजसभा में प्रविष्ट हुए थे। उसी दिन भविष्य में उनके श्वसुर बने सत्राजित ने उन पर स्यमन्तक मणि के चौर्य का आरोप लगाया था। उस दिन सुधर्मा सभा को दिये वचन के अनुसार अथक प्रयास करके उन्होंने स्यमन्तक मणि लाकर भरी राजसभा में सत्राजित को सौंप दी थी।

वह स्यमन्तक मणि सभी यादवों को बड़ी अपूर्व लगी थी। परन्तु मुझे तो उस निमित्त द्वारिका में आया एक स्त्री-रत्न अत्यन्त अपूर्व लगा। वह रत्न था–हमारी जाम्बवतीदेवी! मेरे कृष्णदेव ने ऋक्षवान पर्वत की अरण्यवासी–एक आदिवासी स्त्री-रत्न को द्वारिका के राज्ञीपद पर बिठाया था। उसी दिन मैं जान गया था कि आर्यावर्त में यह पुरुषोत्तम सबसे अलग है। कृष्णदेव और जाम्बवतीदेवी के विवाह को आदर्श मानकर ही भविष्य में भीमसेन ने हिडिम्बा से और अर्जुन ने बाल-विधवा उलूपी से विवाह किया।

सभी कौरव–विशेषत: दुर्योधन अपने अधिकार और संख्या के बल पर पाण्डवों को हस्तिनापुर से निष्कासित करने को उत्सुक था। हस्तिनापुर की विख्यात राजसभा में उसने राज्यभाग के रूप में खाण्डववन का दुर्गम प्रदेश पाण्डवों के गले मढ़ दिया था–वह भी कृष्णदेव को साक्षी रखकर! उन्होंने भी दूरदर्शिता से उसे स्वीकार किया था। यादव सेनापति के नाते मैंने आर्यावर्त-भर भ्रमण किया। इस यात्रा में भिन्न-भिन्न आचार्यों से मैंने विविध अस्त्र प्राप्त किये, अनेक वीर शिरोमणियों को देखा। उनमें से किसी के भी पास द्वारिकाधीश के अद्वितीय बुद्धि-अस्त्र के समान अस्त्र नहीं था। उनके इस अजेय अस्त्र को मैंने कई बार अनुभव किया था। आगे जाकर तो मेरी हालत ऐसी हो गयी कि जब तक वे कोई अद्भुत कर्म नहीं करते थे, मैं खोया-खोया-सा रहता था। सोचने पर भी उनकी गतिविधियों में मुझे तनिक भी त्रुटि दिखाई नहीं देती थी। जरासन्ध के अभियान के लिए उन्होंने भीमार्जुन का चयन किया था। उनके जाने के बाद मैं सोचता रहा कि द्वारिकाधीश मुझे अपने साथ क्यों नहीं ले गये? कौन-सी त्रुटि है मुझमें? इन दोनों प्रश्नों के उत्तर मुझे नहीं मिले थे। अन्तत: धैर्यपूर्वक मैंने एक बार कृष्णदेव से ही पूछा, "गिरिव्रज

के अभियान में आपने मुझे साथ क्यों नहीं लिया था?" मुस्कराते हुए क्षण-भर वे मेरी आँखों में एकटक देखते रहे। फिर उन्होंने मुझसे ही एक कूट प्रश्न किया, "समझ गये बन्धु–सात्यकि, तब मैं तुम्हें साथ क्यों नहीं ले गया?"

मैं हड़बड़ा गया। वास्तव में मैं कुछ भी नहीं समझ पाया था। केवल उनके देखने से मैं क्या समझ सकता था? मैंने कहा, "मैं कुछ भी नहीं समझा। यादवश्रेष्ठ, स्पष्ट कहने की कृपा करें।"

ममता से मेरे कन्धे थपथपाकर हँसते हुए उन्होंने कहा, "हे यादव सेनापति, मैं तीसरा पाण्डव बनकर गिरिव्रज गया था–पाण्डवों की ओर से! क्या तुम्हारे लिए पाण्डव बनना कभी सम्भव है? तुम्हारी आँखों में बसा अभिमानी यादव मुझे ही क्यों, देखने पर किसी को भी नितान्त सरलता से दिखाई देगा। तुम...तुम कभी भी पहला अथवा तीसरा पाण्डव नहीं बन सकते। तुम हो और अन्त तक रहोगे पहला और अन्तिम यादव!"

उनका बताया कारण मुझे शब्दश: स्वीकार था। अत: मैं चुप रहा। चकित होकर उनकी आँखों में देखने लगा। वहाँ मुझे पाण्डव, पांचाल, यादव, कौरव, विराट, सब-के-सब दिखाई दिये।

पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में शिशुपाल-वध के समय मैंने उनके एक अलग ही गुण को देखा। संयम तो उनका अभिन्न गुण था। शिशुपाल के सौ अपराध उन्होंने अत्यन्त संयम से सहन किये थे। किन्तु उसके एक-सौ-एकवें अपराध को उन्होंने क्षमा नहीं किया। सुदर्शन का प्रक्षेपण कर उन्होंने शिशुपाल की अवाच्य प्रलाप करती जिह्वा को मस्तक सहित काट डाला–सबके समक्ष भरे यज्ञमण्डप में। उनके उस दिव्य रूप से मण्डप में उपस्थित सभी आमन्त्रित चौंधिया गये थे–दिङ्मूढ़ हो गये थे।

किन्तु मैं चौंधिया गया यज्ञ के पश्चात् हुए उनके दर्शन से। उस दिन इन्द्रप्रस्थ में यमुना-तट पर पाण्डवों के दिये गये भोज की पंक्ति पर पंक्तियाँ चलती रहीं। उन पंक्तियों की जूठी पत्तलें कुछ समय पूर्व राजसूय यज्ञ में अग्रपूजा का सम्मान प्राप्त किये स्वयं सुदर्शनधारी, द्वारिकाधीश–यादवश्रेष्ठ कृष्णदेव ने उठायी थीं। गरुड़ध्वज रथ के चक्रों में काष्ठनलिका से ओंगन लगाने के लिए झुके कृष्णदेव को तो हमने कई बार देखा था, किन्तु राजसूय यज्ञ के मण्डप में झिलमिलाता पीताम्बर और वक्ष पर कौस्तुभमणियुक्त मौक्तिक-मालाएँ धारण किये यादवश्रेष्ठ को आमन्त्रितों की जूठी पत्तलें उठाते देख मैं तो विस्मित रह गया! वास्तव में पाण्डव बड़े भाग्यवान थे। कृष्णदेव के इस रूप के दर्शन द्वारिकावासियों के भाग्य में नहीं थे। इस विचार से मन-ही-मन लजाकर मैं भी उनके पीछे-पीछे पत्तलें उठाने लगा।...

श्रावण के महीने में कभी मेघों के पीछे छिपनेवाले और कभी पूर्ण रूप में प्रकट होकर समस्त वैभवशाली सृष्टि को आलोकित कर देनेवाले सूर्यदेव के समान ही उनका प्रत्येक दर्शन था। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी योग्यता के अनुसार वह होता गया था। आखिर मैं भी उनकी कितनी झाँकियाँ बता सकता हूँ? सेनापति के नाते उनके विक्रमी, गतिमान चक्रवर्ती जीवन में मुझे समीपवर्ती स्थान मिला, यह मेरा सौभाग्य था। सेनापति होने के नाते उनका जो-जो पहलू मेरी दृष्टि में आया, उसे मैं अपने स्मरण के अनुसार बता रहा हूँ–क्रमश: नहीं। उसकी आवश्यकता भी नहीं है। जिस रूप में वे स्मरण आएँगे उसी रूप में उन्हें देखने में भी अतुलनीय आनन्द है।

पहले मथुरा में रहनेवाले और बाद में द्वारिका में नया गणराज्य खड़ा करनेवाले हम यादवों के अठारह कुल थे–वृष्णि, अन्धक, भोज, भजमान, सात्वत, कुकुर, यदु, तुर्वसु, महाभोज, शूर,

आभीर, क्रथकैशिक, द्विमीढ़, दारिकेय, शैनेय, दाशार्ह, मधु, और चेदि। इन सभी कुलों में महाविक्रमी रथी-अतिरथी पुरुष थे। मगध के सामर्थ्यशाली सम्राट् जरासन्ध के सत्रह आक्रमणों का उन्हें सामना करना पड़ा था। इस जीवन-संघर्ष का सामना करते हुए सभी यादव अन्दर से एकरूप हो गये थे। समय आने पर ये अठारह कुल आपस में लड़े भी थे, किन्तु बाहरी आक्रमण होते ही वे एकजुट होकर उसका सामना भी करते थे। इन अठारह कुलों में अकेले कृष्णदेव ही ऐसे थे, जिन्होंने कभी अपना-पराया नहीं देखा। आह्वान देनेवाले अविचारी और उन्मत्त स्वजनों का भी उन्होंने निर्दलन किया। उनमें सबसे पहले था उनका मामा कंस। एक-दो नहीं उनके तीन फुफेरे भ्राता भी उन व्यक्तियों में थे। चेदि-युवराज होते हुए भी सम्राट् जरासन्ध के अधीन हुआ शिशुपाल, करुष देश के राजा वृद्धशर्मन और बुआ श्रुतदेवी के पुत्र दन्तवक्र और विदूरथ–तीनों को दण्डित करने में वे तनिक भी नहीं हिचकिचाये। जरासन्ध भी कंस का श्वसुर होने के नाते उनका दूर का स्वजन ही था। अठारह कुलों में से किसी अन्य यादव के पास इतने निश्चित दृढ़ विचार नहीं थे। मैं अन्त तक निष्ठापूर्वक कृष्णदेव के साथ रहा, इसका यही कारण था।

यह आवश्यक नहीं है कि वीर पुरुष क्षमाशील भी हों। आज जब मैं तटस्थता से देखता हूँ तो मुझे प्रतीत होता है कि मैं भी वैसा नहीं था। किन्तु यादवराज श्रीकृष्ण अवश्य क्षमाशील थे। द्वारिका छोड़कर चले गये मन्त्री अक्रूर को उन्होंने सुधर्मा राजसभा की मन्त्रिपरिषद् में पुन: स्थान दिया था। स्यमन्तक मणि के निमित्त अक्रूर के हाथों हुए अक्षम्य अपराध को उन्होंने विशाल हृदय से क्षमा कर दिया था। तभी मुझे प्रतीत हुआ था कि राजनीति को सांगोपांग रूप से चला लेनेवाले कृष्णदेव सच्चे अर्थों में राजनीतिज्ञ थे।

वे भलीभाँति जानते थे कि आपसी झगड़े में किसी बाहरी व्यक्ति को हस्तक्षेप करने का अवसर देना मूर्खता है। कालयवन को आर्यावर्त में आमन्त्रित करनेवाले शाल्व को कालयवन सहित उन्होंने अच्छा पाठ पढ़ाया था।

उनके विशिष्ट राजनीतिक लक्ष्य के तीन प्रमुख भाग थे। उसमें पहला भाग था हस्तिनापुर का कुरु साम्राज्य। जरासन्ध के मगध राज्य के पश्चात् हस्तिनापुर का राज्य सर्वाधिक सामर्थ्यशाली था। उसकी नींव में भीष्म का हिमालय जैसा उत्तुंग त्यागी पराक्रम था। हस्तिनापुर के लिए भीष्म ने क्या-क्या नहीं त्यागा था। अत: हस्तिनापुर का दूसरा नाम ही था भीष्म!

ऐसा नहीं था कि कृष्णदेव बार-बार हस्तिनापुर जाते थे। तीन या चार बार ही वे हस्तिनापुर गये होंगे। उनकी कुशल राजनीति की यही विशेषता थी कि द्वारिका में रहते हुए ही उन्होंने हस्तिनापुर के कौरवों की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जानकारी प्राप्त की थी। पितामह भीष्म से लेकर अमात्य वृषवर्मा तक सभी के स्वभाव-विशेषों और उनकी गतिविधियों को वे जानते थे। सम्पूर्ण आर्यावर्त में हमारे गुप्तचर विभाग जैसा निष्णात गुप्तचर विभाग अन्य किसी भी राज्य का नहीं था। गुप्तचर विभाग के दलप्रमुख द्वारिकाधीश को कहीं भी और किसी भी क्षण निर्विघ्न रूप से मिल सकते थे। अन्त:पुर द्वीप में उनकी आठों रानियों के एकान्त कक्ष भी इसके अपवाद नहीं थे। जब कोई गुप्तचर उनके साथ बलराम भैया को देखकर दुविधा में पड़ जाता था, तब उसकी इस मन:स्थिति को भाँपकर द्वारिकाधीश उसकी उलझन को दूर करते हुए कहते थे, “अरे, ये तो हमारे ही दाऊ हैं–कहो निस्संकोच।” इसमें उनका दुहरा उद्देश्य होता था–एक तो उस गुप्तचर की दुविधा को मिटाना और दूसरे बलराम भैया को यह प्रतीति करा देना कि राजनीति से भी परे उनका अनुज

उनसे कितना प्रेम करता है।

यादव-सेनापति होते हुए भी हस्तिनापुर के विषय में कुछ बातें मुझे पता नहीं थीं। ऐसी बातों को बताकर कृष्णदेव मुझे चकित कर देते थे। हस्तिनापुर के राजकुल के सभी मुख्य स्त्री-पुरुषों का यथार्थ मूल्यांकन उनके पास तैयार था। उनकी दृष्टि में हस्तिनापुर राज्य में सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे पितामह भीष्म। उनके बाद सर्वाधिक महत्त्व देते थे अंगराज कर्ण को! कभी-कभी मुझे उनका यह मूल्यांकन उचित नहीं लगता था। मैं कहता था, "वह सूतपुत्र अभेद्य कवच-कुण्डलों से युक्त है, दिग्विजयी है, दानवीर है, क्या इसलिए द्वारिकाधीश उसको इतना महत्त्व देते हैं?" तब अपने मोहक हास्य को बिखेरते हुए वे मेरे पास आते थे। मेरा दाहिना आजानुबाहु अपनी दोनों आजानुबाहुओं में लेते हुए वे मेरे लिए पूर्णत: अपूर्व वाणी की लय में कहते थे, "सेनापति, तुम्हारे इन आजानुबाहुओं की योग्यता मैं जानता हूँ। मेरी भुजाएँ भी वैसी ही हैं। फिर भी द्वारिकावासी तुम्हें मेरे समान नहीं मानते। क्यों? मैं तो मानता हूँ। क्यों मानता हूँ, यह बताना क्या आवश्यक है?" अपने शब्दजाल में वे मुझे ऐसे मुग्ध कर देते थे कि मैं केवल अपनी ग्रीवा डुलाता रह जाता।

वे पुन: मोहक मुस्कराहट के साथ कहते थे, "यही बात हस्तिनापुर की है। पितामह के बाद जो वीर विचारणीय है, वह है अंगराज कर्ण–जिसे तुम सूतपुत्र कह रहे हो। इसलिए नहीं कि वह कवच-कुण्डलधारी है, दिग्विजयी दानवीर है; बल्कि इसलिए कि मुझे हृदय से कुछ प्रतीत हो रहा है!"

फिर वे हस्तिनापुर के एक-एक पुरुषश्रेष्ठ के विषय में नपे-तुले, अचूक शब्दों में कहते थे, "हस्तिनापुर में सत्य का ज्ञान और सत्य की चिन्ता जिन्हें है, वे हैं अकेले पितामह भीष्म। किन्तु वृद्धत्व के कारण वे हताश हो गये हैं। हस्तिनापुर में किसी के भी ध्यान में यह नहीं आ रहा है कि राख से ढँका हुआ होने पर भी अंगार बुझा हुआ नहीं होता! आज भी पितामह भीष्म अतुलनीय पराक्रमी हैं।

"सबसे कठिन और जटिल मानसिकता है महाराज धृतराष्ट्र की। उनके अन्दर दो भिन्न-भिन्न धृतराष्ट्र वास कर रहे हैं। एक है, अन्ध होते हुए भी पुत्रप्रेम के कारण दुर्योधन के राज्याभिषेक के स्वप्न देखनेवाला लालची पिता; और दूसरा है, ऊपर-ऊपर राजशिष्टाचार का ढोंग रचानेवाला कपटी राजा। कौरवों की द्यूतसभा में एक और अन्त:पुर में दूसरा–इस प्रकार धृतराष्ट्र के दो रूप हैं। राजसभा के अन्तर्गत उसके व्यवहार पर शकुनि पूर्णत: छाया हुआ है। अन्त:पुर के उसके जीवन को महत्त्वाकांक्षी दुर्योधन ने घेर लिया है। हस्तिनापुर के वैभवशाली राज्य के स्वामी धृतराष्ट्र की दो कठपुतलियाँ बन गयी हैं–एक है शकुनि के हाथ में और दूसरी है दुर्योधन के।

"दुर्योधन-शकुनि की कुटिल राजनीति की धार कुरु-मन्त्री कणक की बुद्धिमत्ता के कारण और भी पैनी हो गयी है। इस त्रिकूट की साँठ-गाँठ में निश्चित हुई राजनीति को क्रियाशील करने के लिए दु:शासन और उसके दस भ्राता तत्पर हैं। साथ ही गान्धार देश से आये, हस्तिनापुर में ही बसे शकुनि के दस भ्राता भी उनकी सहायता कर रहे हैं।

"वे सब अंगराज कर्ण को अपने कर्मजाल में फाँसना चाहते हैं। उसको अपनी सामर्थ्य पर पूरा विश्वास है। कौरव द्यूतसभा में द्रौपदी-चीरहरण की विपत्ति के समय इन सबके मनोभाव पूर्णत: उद्घाटित हो चुके हैं।

"कौरवों के परिवार में सारी पुण्याई केवल राजमाता गान्धारीदेवी में ही सिमटकर रह गयी है। आज तक उन्होंने ही अपने कठोर वचनों से महत्त्वाकांक्षी दुर्योधन को जैसे-तैसे रोक रखा है। महात्मा विदुर और संजय मेरे भक्त ही हैं। वे दोनों हस्तिनापुर में ही हैं और महत्त्वपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित हैं। पाण्डवों को न्याय दिलाने के लिए वे ही आशा की किरणें हैं। सोचकर देखो,–यदि वे दोनों नहीं हों, तब तुम्हें उनके होने का महत्त्व ज्ञात होगा।"

जब कृष्णदेव अपनी बहुआयामी बुद्धि का जाल बिछाने लगते थे, मैं तो सुनता ही रह जाता था। राजमाता कुन्तीदेवी उनकी बुआ थीं। पाण्डव उनके फुफेरे भ्राता थे। मेरा तो पाण्डवों से कोई नाता नहीं था, फिर भी अवसर आने पर कृष्णदेव के सान्निध्य और पाण्डवों के समर्थन में अपनी पूरी शक्ति के साथ खड़े रहने का निर्णय मैं कब का कर चुका था।

कौरवों की भाँति ही पाण्डवों के बारे में भी पूरी जानकारी द्वारिकाधीश रखते थे। राजमाता कुन्तीदेवी उनके लिए परम आदरणीया थीं। दूर गोकुल में पीछे छूट गयी यशोदा माता का स्थान ही उन्होंने कुन्तीदेवी को दे दिया था। कुन्तीदेवी की धैर्यशीलता के विषय में वे बड़ी भावुकता से बातें करते थे। कहते थे–"सभी प्रतिकूलताओं में भी हमारी इस बुआ ने अपने पाँचों पुत्रों के जीवनकमल खिलाये हैं। पाँचों पाण्डव अलग-अलग गुणों के अधिकारी हैं। उन सबके सामर्थ्य को समवेत रखने की कुशलता द्रौपदी के पास है। पाण्डव आज ही नहीं कल भी आदर्श रहेंगे। जब-जब कोई प्रसंग आएगा, हमें अपनी पूरी सामर्थ्य के साथ उनके समर्थन में खड़ा होना होगा।" जब मैं उनके इस प्रकार के वचन सुनता था, तब मुझे एक कुशल राजनीतिज्ञ और चक्रवर्ती योद्धा से भिन्न एक विशेष कृष्णदेव के दर्शन होते थे। जब कभी वे मुझे 'सखा सात्यकि बन्धु सात्यकि' कहते थे, तब उनकी विशेषता का मुझे तीव्रता से आभास होता था। उनके वास्तविक रूप को जानने के लिए मन हठ पकड़ने लगता था। किन्तु उनका वास्तविक रूप विचारों की पकड़ में कभी आता नहीं था। अन्ततः विचार करते-करते थककर मैं अपना ठेठ सैनिक मनोभाव उनके चरणों में अर्पित कर देता था। तब कहीं मेरे मन को शान्ति मिलती थी।

द्वारिका में एक भी यादव ऐसा नहीं था, जिसे कृष्णदेव उसके नाम से नहीं पहचान सकते थे। तभी तो उनके सामने किसी की, कोई भी बौद्धिक चालाकी कभी नहीं चली। किसी समय द्वारिकाधीश के क्रोध के भय से द्वारिका को छोड़कर काशी चले गये अक्रूर अब पुनः पूर्णतः द्वारिका के हो गये थे। वे द्वारिकाधीश के प्रिय, विश्वासू सेवक बन गये थे। अपनी हथेली की रेखाओं की भाँति द्वारिका का कोना-कोना द्वारिकाधीश की अँगुलियों पर था। किसी समय मथुरा के कारागृह में कंस द्वारा शिला पर पटककर मारे गये अपने छह नवजात पुत्रों की मृत्यु के जीवघाती दुःख को वसुदेव महाराज और देवकी माता अब कुछ-कुछ भूल पाये थे। मृत्यु को प्राप्त हुए छह पुत्र जीवित रहकर जो सुख उन्हें दे सकते थे उससे कहीं अधिक, हिमालय के समान उच्च श्रेयस् कृष्णदेव ने उनके चरणों में अर्पित किया था।

तात वसुदेव और देवकी माता अब वृद्ध हो गये थे। उनका अधिक समय आचार्य सान्दीपनि और पुरोहित गर्ग के साथ द्वारिका में आये ऋषि-मुनियों के सान्निध्य में और धार्मिक कार्यों में व्यतीत होता था। कृष्णदेव की निष्कलंक, गूँजती कीर्ति से वे कृतार्थ हो गये थे।

कीर्ति के वैभवशाली शिखर पर पहुँची द्वारिका का सच्चा वैभव एक ही स्त्री में समाया हुआ था। रुक्मिणीदेवी ही अब समृद्ध द्वारिका की महालक्ष्मी के समान शोभित हो रही थीं। सीधे मार्ग

पर आये अपने रुक्मि भैया और अन्य भ्राताओं के बारम्बार आमन्त्रित करने पर भी वे कभी कौण्डिन्यपुर नहीं गयी थीं। बीच-बीच में अपनी माता शुद्धमतीदेवी को वे अपने कुशल-समाचार के पत्र भिजवाती थीं। उपहार भी भिजवाती थीं। उनकी ओर से भी उपहार आते रहते थे। गारुड़-विद्या में पारंगत अपने आकृति काका को उन्होंने कई बार आग्रहपूर्वक द्वारिका बुलवा लिया था। कृष्णदेव से उनकी घण्टों-घण्टों भेंट करायी थी। छोटा हो अथवा बड़ा, उसके पास जिस प्रकार की भी कला-कुशलता हो, उसे प्राप्त करना कृष्णदेव का स्वभाव था। उन्होंने आकृति काका से गारुड़-विद्या भी सीख ली थी। सर्पदंश के कारण मरणोन्मुख हुए किसी यादव को जब उनके समक्ष लाया जाता था, तब कृष्णदेव उसकी ओर जीवनदायी, आश्वासक दृष्टि से देखकर प्रेमल मुस्कराते हुए उसके शरीर के दंशित भाग पर ऐसे ममतापूर्वक हाथ फिराते थे कि सर्पदंश से पीड़ित वह व्यक्ति झट से खड़ा हो जाता था—मानो कोई चमत्कार हुआ हो। कृष्णदेव को प्रणाम करते हुए वासुदे ऽ व वासुदे ऽ व' कहता हुआ वह अपने घर चला जाता था।

रुक्मिणीदेवी ने अपनी सातों बहनों की सन्तानों को अपना ही माना था। उनकी कुशल देखरेख में कृष्णदेव का अन्त:पुर गुणवान पुत्र-पुत्रियों से लहलहा उठा था। प्रद्युम्न, साम्ब, भानु, वीर, संग्रामजित, वृक, प्रघोष, चारुदेष्ण, सुभानु अब हृष्टपुष्ट, निष्णात योद्धा बन गये थे। जिस कुशलता से रुक्मिणीदेवी ने सत्यभामादेवी और उनके पुत्रों के साथ व्यवहार किया था उससे सत्यभामादेवी के स्वभाव में बड़ा परिवर्तन आया था। रुक्मिणी भाभी की भाँति वे भी अब द्वारिकावासियों को प्रिय हो गयी थीं। जाम्बवतीदेवी भद्रादेवी, लक्ष्मणादेवी, कालिन्दीदेवी, सत्यादेवी, मित्रविन्दादेवी ये भी अब जनप्रिय हो गयी थीं। उन्होंने अपने-अपने पुत्र-पुत्रियों को द्वारिका में आनेवाले विविध गणराज्यों के नरेश, युवराज, ऋषि-मुनि, तपस्वी, कलाकारों के साहचर्य से गुणवान और संस्कार-सम्पन्न बनाया था। कृष्णदेव के वंश का वट-वृक्ष अब चारों ओर से पूर्णत: लहलहा उठा था।

बलराम भैया अब बहुत ही विशालकाय दिखते थे। उनके बन्धु गद, सारण, रोहिताश्व सदा उनकी सेवा में रहते थे। वे भी अब विवाहित होकर गृहस्थ बन गये थे। उन्हें भी सन्तान-प्राप्ति हुई थीं। बलराम भैया के पुत्र निशठ और उल्मुक कृष्ण-पुत्रों के साथ इतने हिलमिल गये थे कि कहने से भी विश्वास नहीं होता था कि वे ककेरे भ्राता हैं। वे सब सहोदर ही लगते थे। रेवतीदेवी ने रैवतक पर्वत से अपना आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध बनाये रखा था। नैहर समीप होने के कारण वे नित्य किसी-न-किसी धार्मिक विधि के लिए रैवतक पर्वत पर आती-जाती रहती थीं। अपने पिता ककुद्मिन महाराज की सूचना के अनुसार वे किसी आश्रम के निर्माण-कार्य में जुट गयी थीं। रैवतकवासियों में चर्चा थी कि प्रयाग के मुनिवर घोर-आंगिरस वहाँ आकर रहनेवाले हैं। बलराम भैया की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे एकपत्नी-व्रतधारी थे। इसी से अकेले उद्धवदेव को छोड़कर अन्य सभी यादव उनसे दबते थे—कभी-कभी कृष्णदेव भी!

हम यादवों के दूसरे सेनापति, मेरे सहयोगी अनाधृष्टि और अमात्य विपृथु अब अत्यन्त वृद्ध हो गये थे। फिर भी दोनों के शरीर अब तक सुदृढ़ थे। उनसे जितनी बन सकती थी, वे द्वारिका और द्वारिकाधीश की सेवा किया करते थे। सुधर्मा सभा के दस मन्त्रियों में से कुछ मन्त्रियों का स्वर्गवास हो चुका था। द्वारिकाधीश ने उनके ज्येष्ठ पुत्रों को सम्मानपूर्वक आमन्त्रित कर मन्त्रिपरिषद् में स्थान दिया था।

कृष्णदेव के परममित्र सुदामा का घर-संसार अब पुत्र-पुत्रियों से भरा-पूरा था। वह भी कभी-कभी द्वारिका आता था। किसी से कुछ पूछे बिना ही वह सीधे द्वारिकाधीश और रुक्मिणीदेवी के कक्ष में चला जाता था। वह और उसकी सुदामापुरी अब वैभव-सम्पन्न हो गयी थी। किन्तु एक प्रथा का निर्वाह वह ध्यानपूर्वक किया करता था। सामान्य वेश धारण करके और कन्धे पर झोली लटकाकर ही वह द्वारिका आया करता था। उसकी झोली में केवल पुराने चन्दनी खड़ाऊँ होते थे। वे किसके हैं, यह वह कभी किसी को नहीं बताता था। उन खड़ाउओं को अत्यन्त भक्तिभाव से माथे से लगाकर, उत्तरीय से उन्हें हलके से पोंछकर वह पुन: झोली में रख लेता था। द्वारिका में वह कहीं भी बिना रोक-टोक आ-जा सकता था। किन्तु सुदामा केवल आचार्य सान्दीपनि, महाराज वसुदेव, दोनों राजमाताओं, बलराम भैया, रेवती भाभी और उद्धवदेव के ही दर्शन करता था। अन्त:पुर में सभी देवियों से, कृष्ण के पुत्र-पुत्रियों से वह अवश्य ही भेंट करता था। फिर जितने दिन वह द्वारिका में रहता था, द्वारिका के पश्चिमी ऐन्द्र महाद्वार के निकट इडादेवी के मन्दिर में कोई अनुष्ठान किया करता था–जाने किसके लिए?

कृष्णदेव के बाद उद्धवदेव ने सभी द्वारिकावासियों के हृदय में आदर का स्थान पाया था। वह उन्होंने अपनी सात्त्विकता से प्राप्त किया था। वे सभी यादवों से स्वभावत: ही अलग थे। वे सबसे अलग दिखते थे, बोलते थे और अलग व्यवहार भी करते थे। यादवों की राजनगरी द्वारिका आर्यावर्त की भूमि से दूर, सागर-जल में स्थित एक द्वीप था। उद्धवदेव उस द्वीप पर रहनेवाले लाखों यादवों से अलग थे। वे संन्यासी वृत्ति के, अविवाहित और ब्रह्मचारी थे। इसीलिए उनके पिता देवभाग ने अपना वंश चलाने के लिए अपने अन्य दो पुत्रों–चित्रकेतु और बृहद्बल के विवाह कराये थे। उनकी गृहस्थ-लताएँ भी सन्तानों से फूली-फली थीं। द्वारिका में केवल उद्धवदेव ही ऐसे यादवश्रेष्ठ थे जो कृष्णदेव सहित सबको अपने-से लगते थे। थोड़ा सोचने पर ध्यान में आता था कि वे अपने ही नहीं, किसी के भी नहीं हैं। मुझे तीव्रता से आभास होता था कि वे कृष्णदेव की छाया के समान हैं। श्यामवर्ण कृष्णदेव की आरक्तगौर छाया!

उद्धवदेव और रुक्मिणीदेवी का भ्राता-भगिनी भाव से परे भावनामय नाता अत्यन्त मनोहर था। उद्धवदेव ने भलीभाँति जान लिया था कि रुक्मिणीदेवी अपने भ्राताओं, अपने नैहर के भाव-बन्धनों से कटकर ही द्वारिका आयी हैं। वे लौटकर कभी कौण्डिन्यपुर नहीं जाएँगी। 'मैं आपके बन्धु समान हूँ। द्वारिका को आप कौण्डिन्यपुर ही समझिए।' इस प्रकार की कोई भी बनावटी बात किये बिना ही उन्होंने रुक्मिणीदेवी को भर-भरकर भ्रातृ-प्रेम और आदर दिया था। उद्धवदेव के इन दुर्लभ गुणों से मैं अत्यन्त प्रभावित था। उनके मुख से, 'जहाँ-जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण और धनुर्धर पार्थ होंगे वहाँ-वहाँ धर्म और विजय होगी।' ऐसे वचन सुनकर मैं और भी प्रभावित हो जाता था। रुक्मिणीदेवी भी उनका अत्यन्त आदर करती थीं। कभी-कभार पांचाल-युवराज धृष्टद्युम्न द्वारिका आया करते थे। जब मैं उनको उद्धवदेव से बातें करते देखता था, उन दोनों के वर्ण मुझे एक जैसे ही दिखते थे–आरक्तगौर। किन्तु उन दोनों के स्वभाव में मुझे आकाश और धरती का अन्तर प्रतीत होता था। उद्धवदेव सदैव आकाश के समान ही लगते थे।

बलराम भैया की तो बात ही और थी। उनके पराक्रम की एक धाक थी। अपने खुले, स्पष्टवक्ता, भोले स्वभाव के कारण वे कब किस पर बरस पड़ेंगे, यह कहना कठिन था। कृष्णदेव ने तो समझ-बूझकर उनके स्वभाव की इस धाक को द्वारिकावासियों में कुशलतापूर्वक बो दिया था। अब तो उसकी फसल लहलहायी थी। उनकी ज्येष्ठता का आदर करने हेतु स्वयं कृष्णदेव

अपने सेना-प्रमुखों के आगे "दाऊ से ऽ? ना बाबा–मैं कैसे उनसे कुछ कह सकता हूँ।" कहते हुए बालक की भाँति जिह्वा निकालकर कानों की लौ को हाथ लगाते थे। इस तरह स्वयं द्वारिकाधीश कृष्णदेव को अपने ज्येष्ठ भ्राता का आदर करते और उनकी धाक स्वीकार करते देखने के बाद अन्य कोई उसे अस्वीकार करे, यह सम्भव ही नहीं था। कभी-कभी दोनों भ्राताओं के बीच मूलभूत मतभेद के कठिन प्रसंग भी आते थे। इसका स्पष्ट उदाहरण था सुभद्रादेवी और अर्जुन का विवाह। सुभद्रादेवी द्वारिका के लिए एक सुन्दर स्वप्न जैसी ही थी। यह सुन्दर स्वप्न इन्द्रप्रस्थ में सत्य के रूप में साकार हुआ–पाण्डव-स्त्री के नाते। उस विवाह के समय ये दोनों भ्राता एक-दूसरे से आँख बचाकर ही राजभवन में विचरण करते थे। उन दोनों में आये दुराव को दूर करने का प्रयत्न वसुदेव महाराज और दोनों राजमाताएँ किया करती थीं। हर समय उन्हें सफलता मिलती ही थी, ऐसा नहीं था। उसका कारण भी बलराम भैया ही थे। उनका क्रोधी स्वभाव किसी भी प्रकार के समझौते को ठुकरा देनेवाला था। उनमें दूरदर्शिता का तनिक अभाव ही था।

ऐसे प्रत्येक कठिन समय पर उन दो भ्राताओं में भावसेतु बनने का कार्य हमारे उद्धवदेव ने किया। रुक्मिणीदेवी ने भी चतुराई से उन्हें सहयोग दिया। एक बड़ी रोचक बात मेरे समझ में आयी थी। यद्यपि अन्य किसी की बात बलराम भैया सुनते नहीं थे, रुक्मिणीदेवी का कहना वे शान्ति से सुन लेते थे। कभी-कभी द्वारिकाधीश ही उनका विरोध करते थे–वह भी ऊपरी बनावटी। जिस प्रकाश दोनों राजमाताएँ उद्धवदेव से व्यवहार करती थीं, उसे देखकर उद्धवदेव मुझे कृष्णदेव और बलराम भैया के सहोदर ही लगते थे। महाशिवरात्रि के दिन तीनों भ्राता द्वारिका के शिवालय में पूजन पर बैठते थे। और आँखें बन्द करके एक ही सुर में शिव-स्तुति किया करते थे–'शिवाकान्त शम्भो...' उस समय उन तीनों को देखकर मुझे तीव्रता से लगता था कि सम्पूर्ण यादववंश ने उन तीनों के रूप में एक बिल्वपत्र ही शिव-पिण्डी पर अर्पित किया है!–उसका मँझला ऊँचा दल है, हमारे कृष्णदेव, दाहिनी ओर का दल है सात्त्विक उद्धवदेव का और बायीं ओर का हमारे विक्रमी बलराम भैया का। ये तीनों यादवश्रेष्ठ ही द्वारिका के वास्तविक वैभव थे।

कृष्णदेव के साथ इन्द्रप्रस्थ जाने का अवसर मुझे कई बार प्राप्त हुआ। कभी उनके साथ मैं हुआ करता था, कभी उद्धवदेव। कभी-कभी हम दोनों उनके साथ हुआ करते थे। सारथ्य-कर्म के लिए दारुक तो होता ही था। इन्द्रप्रस्थ की प्रत्येक भेंट में मुझे पाण्डव-भ्राताओं की अधिकाधिक पहचान होती गयी। वे पाँचों भ्राता स्वभावत: अलग-अलग थे। उन सबमें एक ही समानता थी। उन सबकी कृष्णदेव के प्रति अटूट भक्ति थी। उस भक्तिभाव की नींव थी उनकी माता कुन्तीदेवी के संस्कार। पाँचों पाण्डव बचपन में ही अपनी माता के साथ गन्धमादन से कौरवों के वैभवशाली हस्तिनापुर में आये थे। अरण्यों में जन्मे और पले होने के कारण वे स्वस्थ मन के थे। सम्राट् धृतराष्ट्र की चहल-पहल से भरे हस्तिनापुर में पहले-पहल तो वे कुछ दबे-दबे-से रहे। आगे-आगे तो अपने राज्य के भागीदार समझकर दुर्योधन-शकुनि ने उनको अधिकाधिक दबाने का प्रयास किया। जैसे-जैसे वे इसमें असफल होते गये, उनका पाण्डव-द्वेष बढ़ता गया। बलराम भैया, कृष्णदेव और उद्धवदेव जिस प्रकार एकरूप, एकप्राण हुए थे, उसी प्रकार सौ कौरव और पाँच पाण्डव कभी एकरूप नहीं हो पाये।

ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर कई भले-बुरे गुणों का एक जटिल मिश्रण था। वह वीर था, किन्तु जिसे सराहा जाए, ऐसा कोई पराक्रम उसने नहीं किया था। वह त्यागी भी था और अभिलाषी भी। वह जन्म से ज्येष्ठ था किन्तु कर्मों से भी वह ज्येष्ठ था, ऐसा कहा नहीं जा सकता। उसके ज्ञानी

होने के कारण वह युधिष्ठिर से 'धर्मराज' बन गया। किन्तु धर्म के अभिप्राय को जानकर उसने धर्मानुकूल आचरण किया, यह भी नहीं कहा जा सकता। तब क्या उसने अधर्माचरण किया? नहीं–उसने किया अक्षम्य अविचार–द्यूत खेलने का। कृष्णदेव ने इस विषय में एक बार उसको फटकार भी सुनायी थी, किन्तु उसकी ज्येष्ठता का भान रखकर बार-बार उसे छेड़ा नहीं था; बल्कि उसके अपराध को क्षमा किया था। यदि कृष्णदेव उसे बार-बार फटकारते तो? तो पाण्डवों की एकजुटता भंग हो जाती। जब मैंने इन्द्रप्रस्थ में युधिष्ठिर को देखा था तो मेरे मन में विचार आया था कि यदि युधिष्ठिर का द्यूत का व्यसन न होता तो क्या वह कृष्णदेव बन जाता? इसका उत्तर था–'कदापि नहीं।' इस उत्तर में ही मुझे युधिष्ठिर में क्या त्रुटि है और कृष्णदेव में क्या गुण हैं, इसका उत्तर अपने-आप मिल गया था। युधिष्ठिर समझौतावादी था और बलराम भैया ठेठ स्वभाव के थे। यदि बलराम भैया युधिष्ठिर की भाँति समझौतावादी दृष्टिकोण अपना लेते तो? तो क्या वे यादवों के युधिष्ठिर बनते? कदापि नहीं। युधिष्ठिर यदि बलराम भैया की भाँति ठेठ हठीली वृत्ति अपना लेता, तो क्या वह पाण्डवों का बलराम भैया बन जाता? कदापि नहीं। कभी-कभी एक बड़ा रुचिकर विचार मेरे मन में आता था–कौरवों से द्यूत खेलने की विपत्ति यदि कृष्णदेव पर आती तो?–तो वे भाँति-भाँति के तर्क-वितर्क करके उसे टाल देते। और उन्हें द्यूत खेलना ही पड़ता तो? तो मुझे विश्वास है कि वे कभी हारते नहीं। युधिष्ठिर का सबसे अधिक अमूल्य गुण था उसकी अविचल मातृभक्ति।

इन्द्रप्रस्थ में कभी-कभी मुझे तीव्रता से लगता था कि इन्द्रप्रस्थ के राजसिंहासन पर युधिष्ठिर के बदले भीमसेन अधिष्ठित होता तो? अर्जुन होता तो? तो कैसा होता इन्द्रप्रस्थ का राज्य और वहाँ के नगरजनों का जीवन? सभी पाण्डवों का जीवन?

द्वितीय पाण्डव भीमसेन हमारे बलराम भैया के समान था, किन्तु उन दोनों में मूलभूत अन्तर भी था। जरासन्ध-वध के समय भीमसेन का पराक्रम आँखों को चौंधियाँ देनेवाला था। समय-समय पर अनेक लोगों ने उसके पराक्रम को स्वीकार भी किया था। किन्तु उसकी छटपटाहट, उसकी आकुलता का जितना आभास होना चाहिए था, उतना किसी को हुआ नहीं। वह मौन ही रह गयी। उसकी वह छटपटाहट मुझे वस्त्र-हरण के समय आक्रोश करती द्रौपदीदेवी के विलाप के समान ही लगी थी। भीमसेन केवल महापराक्रमी ही नहीं था। वह विचारक और बुद्धिमान भी था। हुआ इतना ही कि समय-समय पर उसने जिस प्रकार अपने शरीर-सामर्थ्य को उद्घाटित किया, उसी प्रकार बुद्धि-सामर्थ्य को नहीं किया। यदि भीमसेन अपने सम्पूर्ण बुद्धि-सामर्थ्य को प्रकट करता तो क्या वह कृष्णदेव बन जाता? कदापि नहीं। कृष्णदेव के एकमात्र और अतुलनीय श्रेष्ठत्व की ओर कभी 'नेति-नेति' तो कभी 'अस्ति-अस्ति' के मार्ग से ही जाना पड़ता था। उस श्रेष्ठता का पूरा ज्ञान किसी को हो भी नहीं पाया था–वह दशांगुल शेष ही रहा था। लाक्षागृह में, वनवास में भीमसेन ने कुन्तीमाता से जो-जो कहा था, वह उसकी बुद्धिमत्ता की प्रतीति दिलानेवाला ही तो था। पाण्डवों की सम्पूर्ण जीवन-यात्रा में उन्हें प्राप्त भीमसेन के पराक्रम का दृढ़ कवच वास्तव में एक अत्यन्त अमूल्य वस्तु थी। भीमसेन के पराक्रम के बिना पाण्डव कई बार प्राणघाती विपत्ति में फँस गये होते। भीमसेन के न होने की कल्पना करके देखें तो पाण्डव किन-किन संकटों में फँस गये होते? मुझे तो यह कई बार स्पष्ट हुआ था। भीमसेन की जो विशेषता मुझे प्रतीत हुई, वह यह थी कि उसने स्वयं कभी भी नहीं कहा था कि वह अपने परिवार का कवच है। उसने कई बार महाबलियों को चुनौतियाँ दी थीं, किन्तु उसने अपने-आप–अपने मुँह से अपने सामर्थ्य की बड़ाई कभी नहीं की

थी। प्रसंग आने पर बलराम भैया आवश्यकता से अधिक स्पष्ट बोलते थे, भीमसेन कभी इस प्रकार नहीं बोलता था। द्रौपदी को सदैव भीमसेन पर ही भरोसा रहा था। भीमसेन की इस गुणवत्ता को ध्यान में रखते हुए मैंने एक बार कृष्णदेव से पूछा, "अवसर आने पर भविष्य में पाण्डवों के सेनापति पद के लिए क्या आप भीमसेन को योग्य मानते हैं?"

मेरे इस अप्रत्याशित प्रश्न से तनिक भी न हिचकिचाते हुए उन्होंने हँसते हुए सरलता से उत्तर दिया था, "किसी भी सेना का सेनापति बनने के लिए भीमसेन पूर्णत: योग्य है। किन्तु अवसर आने पर भी मैं ऐसा नहीं करूँगा। क्योंकि भीमसेन के पराक्रम को उत्तेजित करना जितना कठिन है, उससे भी अधिक कठिन है उत्तेजित हुए भीमसेन को नियन्त्रण में लाना। सेनापति को अपने साथ सेना का भी ध्यान रखना पड़ता है। केवल अधिक-से-अधिक सैनिकों का वध करना ही पराक्रम नहीं है। भीमसेन का पराक्रम रणभूमि में अत्यन्त प्रबल निरंकुश हो जाता है। इसका एक कारण है। उसको पाण्डवों के न्यायोचित अधिकार, पत्नी द्रौपदी और माता कुन्तीदेवी के विषय में जो कुछ प्रतीत होता है, वह उसके सुप्त मन में दमित अवस्था में रह जाता है। उसका यह दमित मनोभाव ही विकराल रूप धारण करके रणभूमि पर पराक्रम के रूप में प्रकट होता है। भीमसेन बाहर से हिमनग की भाँति दिखाई देता है। जितना वह दिखाई देता है उससे भी अधिक वह अदृश्य रहता है।"

"तो क्या, उसे नियन्त्रण में लाने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं है?" मैंने कृष्णदेव से पूछा। उन्होंने कहा, "नहीं–ऐसा नहीं है। भीमसेन का सबसे बड़ा गुण है उसकी मातृभक्ति। किन्तु उसकी और युधिष्ठिर की मातृभक्ति में भी अन्तर है। ज्येष्ठ होने के कारण युधिष्ठिर की मातृभक्ति में आज्ञाकारिता की सूक्ष्म झाँकी है। भीम का मातृप्रेम सहज, असीम है। कुन्तीमाता के 'रुक जा' कहने पर वह कभी आगे नहीं बढ़ेगा। उसको रोकनेवाला दूसरा केवल मैं हूँ। सच तो यह है सेनापति, भीमसेन पाण्डवों का सेनापति बने, उसका पराक्रम और अधिक प्रदीप्त हो उठे, यही मेरी इच्छा है। दायित्व के कारण सेनापति का पराक्रम सीमित हो जाता है। भीमसेन का भ्रातृप्रेम और पत्नीप्रेम भी निरपेक्ष है, अद्वितीय है।"

उनके मन में मेरा क्या स्थान है, यह जाँचने के लिए मैंने उनसे रणनीति-विषयक प्रश्न किया था कि "तब तो इन्द्रप्रस्थ की पाण्डव-सेना का सेनापति बनने के लिए केवल अर्जुन ही शेष रह जाता है। उसके विषय में आपका क्या कहना है?" मेरा प्रश्न सुनकर वे निर्मल मन से मुस्कराये थे। लम्बी-लम्बी अँगुलियोंवाला अपना हाथ मेरे कन्धे पर रखकर उन्होंने कहा था, "सात्यकि, इस प्रश्न के पीछे और दो प्रश्न छिपे हैं। मेरे मन में अर्जुन और उद्धव के पश्चात् तुम्हारा स्थान क्या है, यह तुम जानना चाहते हो; और दूसरा प्रश्न है कि यह ऐसा क्यों है, यह तुम समझना चाहते हो।" मेरे प्रश्न का उद्देश्य उन्होंने अचूक रूप से पहचान लिया है, यह ध्यान में आते ही मैं लज्जित हुआ था–हड़बड़ा गया था। मुझे सँभलने का अवसर ही न देते हुए उन्होंने कहा था, "अर्जुन और उद्धव दोनों मेरे परमप्रिय सखा हैं। एक रचनात्मक कार्य में–रणभूमि में मेरा सखा है। दूसरा मेरे भावविश्व का सखा है। दोनों में कोई भी श्रेष्ठ या कनिष्ठ नहीं है।" उनकी बातें सुनकर मैं और भी विचारमग्न हुआ था। मैं यह भी भूल गया कि कृष्णदेव के मन में मेरा स्थान क्या है, यह जानने की इच्छा के कारण ही प्रश्नों के इस झंझट में मैं पड़ा। मैं अर्जुन के ही विषय में सोचने लगा था। यादव-सेनापति होने के कारण मैं गाण्डीवधारी धनुर्धर अर्जुन के विषय में ही अधिक सोचता था।

मैं अर्जुन के विषय में ही सोच रहा हूँ, यह जानकर वे मुझसे उसी की बातें करते रहते थे। उनके मुख से जो अर्जुन मुझे ज्ञात हुआ, वह स्वयं अर्जुन को भी हुआ था कि नहीं, भगवान ही जानें!' कृष्णदेव जब अर्जुन के विषय में कुछ कहने लगते थे, सुनते ही रहने को जी चाहता था। निष्णात चित्रकार जिस प्रकार तूलिका की कुछ ही रेखाओं से अपने मन की कल्पना को साकार कर देता है, उसी प्रकार कृष्णदेव के वचन होते थे–ममता में भीगे हुए। वे कहते थे, "अर्जुन मुझे सबसे अधिक प्रिय है। इसके कई कारण हैं। अर्जुन को छोड़कर पाण्डवों का–इन्द्रप्रस्थ का–यही नहीं, उसके बिना द्वारिका सहित समस्त जग का भी मैं विचार ही नहीं कर सकता। वह अपने नाम के अनुकूल 'सव्यसाची' अर्थात् दोनों हाथों से कुशलतापर्वूक शस्त्र चलानेवाला योद्धा ही नहीं है, बल्कि बुद्धि का सर्वश्रेष्ठ शस्त्र चलानेवाला सदैव सावधान और नम्र शिष्य भी है। उसका यह कभी समाप्त न होनेवाला शिष्यभाव मुझे मनःपूर्वक प्रिय है। इसीलिए मुझे जो सबसे कहना होता है, वह मैं अर्जुन को ही सबका प्रतिनिधि मानकर उसी से कह देता हूँ। उसे जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे वह स्वार्थपरता से अपने ही पास नहीं रख लेता। देने से ज्ञान बढ़ता है, यह समझनेवाला वह नरोत्तम है। वह अत्यन्त नम्र और विनयशील भी है। तभी तो आयु में तुमसे छोटा होते हुए भी तुम्हारी इच्छा को स्वीकार करते हुए उसने धनुर्विद्या में तुम्हें अपना शिष्य बना लिया।" वह सुनकर मैं समझ पाया कि अर्जुन के द्वारा मुझे शिष्य स्वीकार करने के पीछे भी कृष्णदेव का आदेश था। अर्जुन की महत्ता बताते समय उन्होंने स्वयं को 'नारायण' कहलाना टाल दिया था और वही मुझे तीव्रता से स्पर्श कर गया था। मुझे प्रतीत होता था कि अर्जुन भी कृष्णदेव की छाया ही था। उद्धवदेव उनकी आरक्तगौर छाया थे तो अर्जुन नील-श्यामल!

मैंने अर्जुन के विषय में कृष्णदेव से कई प्रश्न पूछे थे और मुझे भी यह स्वीकार करना पड़ा था कि जैसे देवताओं का सेनापत्य स्कन्द ही कर सकता था, वैसे ही यादव, पाण्डव और कौरवों का भी दोष रहित सेनापत्य केवल धनुर्धर अर्जुन ही कर सकेगा। एक पूर्ण नारायण ने–कृष्णदेव ने अर्जुन को सर्वोत्तम नर माना था।

शेष दो पाण्डव-भ्राताओं के विषय में भी मैं कृष्णदेव से ही जानना चाहता था। अत: मैंने उनसे पूछा–"माद्रीपुत्र–नकुल-सहदेव के विषय में आपका क्या विचार है?" अनजाने में मुझसे छूट गयी एक बात को सुधारते हुए उन्होंने कहा, "सात्यकि, वे केवल माद्रेय ही नहीं, कौन्तेय भी हैं। दोनों जुड़वा भ्राता हैं। दोनों अश्व-चिकित्सक हैं। उनमें से नकुल हमारे प्रद्युम्न जैसा अप्रतिम सुन्दर है। इन दोनों भ्राताओं के बारे में एक साथ ही विचार करना आवश्यक है, क्योंकि उनका जन्म ही एक साथ हुआ है। जिस प्रकार उन दोनों का संयुक्त अस्तित्व है, उसी प्रकार उनका शेष तीन पाण्डवों के साथ भी संयुक्त अस्तित्व है। औरों की दृष्टि से उनका यह दूसरा संयुक्त अस्तित्व छूट जाता है। फिर वे नकुल-सहदेव को पाण्डवों से अलग करने हेतु अनजाने में ही उन्हें 'माद्रेय' कहते हैं। ध्यान से सोचने पर ही समझ में आएगा कि कुन्ती बुआ ने पहले ही इसी बात को भाँपकर पाँचों भ्राताओं पर 'पाण्डव' होने के संस्कार किये हैं–कौन्तेय अथवा माद्रेय होने के नहीं।"

जब कुन्ती माता का विषय आता था तब द्वारिकाधीश बिना कुछ पूछे ही बड़ी भाव विह्लता के साथ बोलने लगते थे। उनके कथनों में उनके द्वारा कभी न देखे पिता–सम्राट् पाण्डु महाराज के प्रति नितान्त आदर हुआ करता था। विशेष बात यह थी कि कभी न देखे गये महाराज पाण्डु का चित्र भी वे हमारे समक्ष साक्षात् खड़ा कर देते थे। समस्त जग जानता था कि कृष्णदेव की दो

माताएँ हैं–उनकी जन्मदात्री देवकीदेवी और पालनकर्त्री यशोदादेवी। बहुत थोड़े लोग ऐसे थे, जिन्हें आभास हुआ था कि कुन्तीदेवी उनकी तीसरी माता ही थीं–भावमाता। द्रौपदीदेवी के स्वयंवर के पश्चात् वे कृष्णदेव के जीवन में अधिक निकट आयी थीं। आर्यावर्त में सदा भ्रमण करते रहे कृष्णदेव ने कुन्ती माता में ही अपनी दोनों माताओं के दर्शन किये थे। जग की दृष्टि में वे कुन्तीदेवी के केवल भतीजे थे। कृष्णदेव उनके भतीजे तो थे ही, किन्तु वे स्वयं कृष्णदेव की निरपेक्ष भक्त थीं। वे उनसे कहती थीं, “हे कृष्ण, मुझे कभी संकटमुक्त मत रखना। जब मैं संकट में होती हूँ, निरन्तर तुम्हें स्मरण करती रहती हूँ। सदैव सुख में रहने से ही तुम्हारी अन्य बुआएँ तुम्हें भूल गयी हैं–यह मैं भूल नहीं सकती। उनमें से किसी-किसी के पुत्र तो तुम्हारे विरोधी बन गये। सारा जग हमारे विरुद्ध हो जाए तो भी मुझे कोई चिन्ता नहीं है। किन्तु मुझ पर और मेरे पुत्रों पर तुम्हारी कृपा बनी रहनी चाहिए।” यह कहने से कछ ही क्षण पहले प्रथा के अनुसार अपने चरण छूनेवाले भतीजे को–कृष्णदेव को वे आशीर्वाद दे चुकी होती थीं।

कौरव-पाण्डव दोनों कुलों के श्रेयस की पुण्याई का दूसरा नाम ही था कुन्तीदेवी! कृष्णदेव की तीसरी अप्रकट भावमाता का नाम था कुन्तीदेवी! युधिष्ठिर से सहदेव तक पाँचों पुत्रों को पहले पाण्डव और फिर कौन्तेय बनानेवाली दूरदर्शी राजमाता का नाम था कुन्तीदेवी!

ऐसे विचार जब मन में मँडराने लगते थे, तब मुझे लगता था–मैं भी यदि कुन्ती माता का छठा पुत्र होता तो? छठा पुत्र? यह कैसे सम्भव है?

कृष्णदेव की तीन माताओं की भाँति तीन बहनें भी थीं। गोकुल के नन्दबाबा और यशोदा माता की पुत्री एकानंगा उनकी पहली बहन थी। सुभद्रा देवी तो बलराम भैया और कृष्णदेव इन दो ज्येष्ठ यादवों की प्रिय बहन होने के कारण विख्यात ही थी। भविष्य में स्वयं धनुर्धर अर्जुन के उसका हरण करने से उसके जीवन के स्वर्ण को पारिजात-पुष्पों की सुगन्ध प्राप्त हो गयी थी। गोकुल की एकानंगादेवी का भी विवाह हो चुका था। उनकी संसार-लता भी अब सन्तानों से लहलहा उठी थी। उस नाते कृष्णदेव ‘गोपमामा’ बन गये थे। उनकी तीसरी बहन थी द्रौपदीदेवी। पहली दो बहनों से वह अधिक भाग्यवती थी। वह कृष्णदेव की केवल बहन ही नहीं, परमप्रिय सखी भी थी। जो सौभाग्य अन्य किसी स्त्री को प्राप्त नहीं हुआ था, वह उनको प्राप्त हुआ था–पाँच नरश्रेष्ठों की पत्नी और एक नारायण की प्रिय सखी-बहन होने का। उनके इसी भाग्य के कारण मेरे मन में उनके लिए उतना ही आदर था जितना कुन्ती माता के लिए। मेरी ही भाँति लाखों यादव नर-नारी भी उनका आदर करते थे। इन्द्रप्रस्थवासियों की तो वे महाराज्ञी ही थीं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं था कि उनके जीवित रहते ही हस्तिनापुर के कुछ नर-नारी नगरजन और इन्द्रप्रस्थ तथा द्वारिका के भी नगरजन उनको प्रातःस्मरणीय पंच-पतिव्रताओं में से एक मानकर उनका स्मरण करने लगे थे। पाँच पतियों की पत्नी, कौरवों की द्यूतसभा में हुआ घोर अपमान, बारह वर्षों का वनवास, जयद्रथ-कीचक द्वारा किया गया घोर अपमान–सब-कुछ सहकर द्रौपदीदेवी अपने गुणों के बल पर इस पद पर पहुँची थीं। उन पर जो-जो विपदाएँ आयी थीं, उनमें क्या कोई अन्य नारी टिक पाती? कृष्णदेव की मन की तुला पर तुलकर क्या अन्य किसी नारी को उनकी प्रिय सखी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ होता?

जब मैं पाण्डव, कौरव, यादव और उनकी स्त्रियों के विषय में सोचने लगता था, कृष्णदेव के एक-से-एक विलोभनीय पहलू स्पष्ट होने लगते थे। वे ही इन सबके केन्द्र में थे। उनके वक्ष पर

झूलती मौक्तिक-माला में जड़े, विविध छटाओं को बिखेरनेवाले कौस्तुभ मणि की भाँति उनका जीवन था। वे जिसे मस्तक पर धारण करते थे, उस मोरपंख की विविध रंगच्छटाओं की भाँति ही उनका जीवन था।

हस्तिनापुर, द्वारिका और इन्द्रप्रस्थ इन तीनों शक्ति-केन्द्रों में विचरण करनेवाले भिन्न-भिन्न नर-नारियों को द्वारिकाधीश के जीवन में कुछ विशेष स्थान प्राप्त हुआ था। उसी तरह द्वारिका के राजप्रासाद की एक वास्तु को भी उनके जीवन में विशेष स्थान प्राप्त हुआ था। वह वास्तु मानो अब एक जीवित व्यक्ति ही बन गयी थी। वह वास्तु थी–द्वारिकाधीश के राजप्रासाद में बनाया गया 'श्रीसोपान'! द्वारिकाधीश द्वारिका से जितना प्रेम करते थे उतना ही इस श्रीसोपान से भी करते थे। द्वारिका के निर्माण में उन्होंने जितना ध्यान दिया था, उतना ही ध्यान उन्होंने इस श्रीसोपान को बनाने में भी दिया था। उसकी प्रशस्त, स्वर्णिम सीढ़ियाँ अब और भी बढ़ गयी थीं। विस्तृत तलकोष्ठ से ऊपर के विश्राम-कक्ष तक वह बहुत ही ऊँचा और भव्य हो गया था। चौड़ी, चमकती स्वर्णिम सीढ़ियोंवाला वह प्रशस्त सोपान सभी यादवों के लिए आदरणीय कुलपुरुष के समान वन्दनीय बन गया था!...

सेनापति दल-प्रमुख और मन्त्रिगणों के भवनों का एक अलग संकुल ही था। प्रतिदिन एक बार ही क्यों न हो, राजप्रासाद में आकर इस श्रीसोपान के दर्शन किये बिना मुझे शान्ति नहीं मिलती थी। मेरे ही जैसी अनेकों लोगों की स्थिति थी। कुछ लोग तो गन्ध-पुष्प अर्पित कर इस सोपान की पूजा ही किया करते थे।

सोपान की निचली सीढ़ी के पास से उसके ऊँचे, भव्य रूप का दर्शन करते हुए मैं अपने-आप को भूल जाता था। कृष्णदेव को रुक्मिणीदेवी के साथ इस सोपान पर चढ़ते-उतरते देखना स्वर्गीय आनन्द की बात थी। कभी-कभी उनके साथ हमारे गौरवर्णी, चन्द्रमुख, सत्त्वसतेज उद्धवदेव हुआ करते थे। कभी-कभी आपस में बातें करते-करते वे एक ही सीढ़ी पर रुके रहते थे। प्रत्येक वर्ष भाद्रपद कृष्ण अष्टमी को सवेरे-सवेरे सुगन्धित यमुना-जल से इस सोपान को धोया जाता था। इसके लिए पहले ही मथुरा से कलश भर-भरकर यमुना-जल लाकर रखा जाता था। उस दिन सूर्यास्त होते ही सोपान की प्रत्येक स्वर्णिम सीढ़ी पर तैल के जलते स्वर्णदीप रखे जाते थे। ऐसे अनगिनत जलते दीपों से वह सोपान झिलमिला उठता था और अत्यन्त सुन्दर दिखता था। वह दिन कृष्णदेव का जन्मदिन होता था।

उस रात आकाश में केवल चन्द्ररेखा के होते हुए प्रमुख उद्यान में अठारह कुलों के यादव आनन्दविभोर होकर रासक्रीड़ा करते थे। पूर्णिमा के अतिरिक्त केवल इसी दिन रास खेला जाता था। उस दिन सभी यादव केसर-मिश्रित मधुर गोरस का आकण्ठ प्राशन किया करते थे। देहभान भूलकर द्वारिकाधीश और उद्धवदेव सहित वे मुक्त रासक्रीड़ा करते थे। कृष्णदेव के जन्मदिन पर रासक्रीड़ा में स्वयं को भूलकर उद्धवदेव ही सबसे अधिक तल्लीन हो जाते थे। मैंने देखा था कि इस दिन के रास के अतिरिक्त अन्य किसी भी दिन के रास में उनकी यह स्थिति नहीं होती थी।

उद्धवदेव का स्मरण होते ही दो बातें मेरी आँखों के आगे आती थीं–पहली श्रीसोपान और दूसरी जन्माष्टमी का रास!

भारतवर्ष के गणराज्यों में से पांचालों का पांचाल, विराटों का मत्स्य, दक्षिण के क्रौंचपुर, पद्मावत, करवीर, हरित आदि यादव-राज्य और जिन राज्यों के अन्यायी राजाओं को मारकर

कृष्णदेव ने उन राजाओं के उत्तराधिकारियों को ही राजसिंहासन पर बिठाया था; ऐसे मगध, कामरूप, चेदि आदि राज्यों का उल्लेख कृष्णदेव की बातों में आने लगा था। सुदूर पश्चिम के गान्धार, काम्बोज, कपिश आदि राज्यों का निर्देश भी उनकी बातों में होने लगा था। उनके निकट रहने और दीर्घकाल का साथ होने के कारण उनके मन में क्या चल रहा है, इसका अनुमान मुझे होने लगा था। आजकल वे द्वारिका के पश्चिमी ऐन्द्र महाद्वार के पास पाषाणी आसन पर घण्टों-घण्टों बैठा करते थे। अधिकतर उनके साथ उद्धवदेव और दारुक हुआ करते थे। अमात्य विपृथु, शिनि, अवगाह, कृतवर्मन् आदि योद्धा भी उनके साथ होते थे। कभी-कभी अनाधृष्टि, अक्रूर, विकद्रू आदि सहस्र चन्द्रदर्शन किये वृद्ध यादव भी होते थे। मैं तो हर समय उनके साथ होता ही था।

पश्चिम सागर के ज्वार की फेनिल लहरों की ओर एकटक देखते हुए वे मुझसे कहते थे, "सेनापति सात्यकि, मानव-जीवन इस सागर के समान ही होता है। जिस प्रकार यह सागर क्षण-भर भी स्थिर नहीं रह सकता, उसी प्रकार जीवन भी होता है। हर क्षण परिवर्तन ही जीवन का गुणधर्म है।" बिना कुछ बोले तन्मय होकर मैं उनकी बातों को केवल सुनता रहता था। मनःपूर्वक सुनने जैसी ही उनकी बातें होती थीं। कितना भी सुनने पर मन भरता नहीं था। आर्यावर्त के किसी भी गणराज्य का केवल नाम लेते ही वे उस गणराज्य का पूरा चित्र ही मेरे समक्ष खड़ा कर देते थे। उस राज्य का राजा, उसका स्वभाव, वहाँ की प्रजा, वहाँ की राजनगरी, प्रमुख योद्धा, रणभूमि में लड़ने का उनका विशिष्ट ढंग, वहाँ की बोली-भाषा, पर्वत, सरिता-सरोवर आदि की सारी जानकारी वे चित्रवत् मेरे समक्ष खड़ी कर देते थे। बीच में ही रुककर, एकाध शब्द उच्चारित करके वे मुझे ही बोलने को प्रवृत्त करते थे। अब तक मैं भलीभाँति जान चुका था कि उन योगयोगेश्वर के दूरदर्शी राजनीतिक मन में प्रचण्ड हलचल मची हुई है।

एक बार सेनापति होने के नाते उन्होंने मुझसे पूछा, "सेनापति, तुम्हारी दृष्टि में कवच-कुण्डल दान करनेवाले दिग्विजयी महारथी कर्ण का कौरव-सेना में क्या स्थान होगा?"

"कवच-कुण्डल दान के पश्चात् सूतपुत्र कर्ण ने महेन्द्र पर्वत पर भगवान परशुराम से दिव्य ब्रह्मास्त्र प्राप्त कर लिया था। किन्तु महेन्द्र पर्वत पर ही मृगया के समक्ष उसके हाथों अनजाने में शुभदा नामक सुलक्षणी गाय मारी गयी है और उस गाय के पालक ब्राह्मण ने उस दानवीर को मर्मभेदी शाप दिया है–'जिस प्रकार इस गाय को मारकर तूने मेरे आश्रम को निगल डाला है, उसी प्रकार युद्ध के समय धरती माता तेरे रथचक्र को निगल लेगी।' उसके गुरुदेव परशुराम ने भी उसे शाप दे दिया था कि युद्ध के समय उसे ब्रह्मास्त्र का स्मरण नहीं होगा। अस्त्र-प्राप्ति के लिए कर्ण के असत्य बोलने से ही उसे यह शाप मिला है। कवच-कुण्डलहीन, शापदग्ध कर्ण दन्त-नखहीन वनराज सिंह के समान है। मेरी दृष्टि में कौरवों के सेनाबल में उसका अधिक महत्त्व नहीं है।" कर्ण की जो जानकारी मुझे ज्ञात थी, वह मैंने उनके सम्मुख प्रस्तुत की।

एक बार पश्चिम सागर की ओर और एक बार मेरी ओर देखकर हँसते हुए उन्होंने कहा, "सेनापति सात्यकि, तुम भूल कर रहे हो। ज्वार-भाटे की सीमाओं में बँधे सागर को क्या कभी सामर्थ्यहीन माना जा सकता है? वैसा ही कौरव-सेना में कर्ण है। यदि कौरवों ने उसे ही अपना सेनापति बनाया तो? तो पाण्डवों को वह बहुत भारी पड़ेगा। अत: पाण्डवों को उनके सभी न्यायोचित अधिकार शान्तिपूर्ण मार्ग से मिलें, इस हेतु मैं पूरा प्रयास करूँगा। इसके लिए

शान्तिदूत बनकर मुझे हस्तिनापुर जाना पड़ेगा। सात्यकि, उस समय तुम्हें अपने 'बलिदानी' दल सहित मेरा विश्वासपात्र रक्षक बनकर मेरे साथ आना होगा। मैं जानता हूँ, मेरे शान्ति-प्रस्ताव को दुर्योधन कभी स्वीकार नहीं करेगा। सम्भवत: वह मुझे बन्दी बनाने पर अथवा मेरी हत्या करने पर भी उतर आएगा। इसलिए तुम्हारे रक्षक दल का कवच धारण करना मुझे आवश्यक प्रतीत होता है। अत: कड़ी परीक्षा में उत्तीर्ण खड्गवीरों और गदावीरों को शीघ्र चुन लो और मेरे पास भेज दो। अब तक मैंने जिन बलशाली मदान्धों का निर्दलन किया है, वे सब दुर्योधन के आगे फीके पड़ जाएँगे। अब सामना दुर्योधन से है, समय आने पर घटनाएँ किस रूप में बदल जाएँगी, यह अभी नहीं बताया जा सकता।"

उनके मन में क्या-क्या चल रहा है, इसका धुँधल-सा अनुमान मुझे अब होने लगा था।

एक विशेष राजदूत उपप्लाव्य से युधिष्ठिर का सन्देश लेकर द्वारिका आ धमका। पश्चिम सागर के अविरत गर्जन को साक्षी रखकर अब कालचक्र गतिमान होने लगे। उन्हें कैसे, कहाँ, किसके हाथों घुमाया जाए, इसका निर्णय केवल कृष्णदेव के हाथ में था। उन्होंने पहले अमात्य, विपृथु को बुलाकर दक्षिण के चारों यादव राजाओं को ससैन्य द्वारिका आने के लिए सन्देश भिजवाने का प्रबन्ध किया।

अज्ञातवास से प्रकट हुए ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर के आमन्त्रण पर द्वारिकाधीश उपप्लाव्य जाने के लिए निकले। जैसे कि पहले निश्चित हो चुका था, मैं भी अपने बलिदानी योद्धा दल सहित उनके साथ था। गरुड़ध्वज का सारथ्य दारुक ही कर रहा था। शिशिर ऋतु के शीत के दिन थे। उपप्लाव्य इन्द्रप्रस्थ के दक्षिण और हस्तिनापुर के पश्चिम सीमा के समीप मत्स्यराज्य का एक ग्राम था। कृष्णदेव के साथ हमारा विशेष यादव-सैनिकों का दल भी उपप्लाव्य पहुँच गया। यहाँ आते ही द्वारिकाधीश ने प्रथम पाण्डव-पुरोहित धौम्य और हमारे गर्ग मुनि को हस्तिनापुर भिजवा दिया। वहाँ वे महाराज धृतराष्ट्र से मिलनेवाले थे और हस्तिनापुर के नगरजनों को द्वारिकाधीश के आगमन की सूचना देनेवाले थे। वे अपना काम करके उपप्लाव्य लौट आये थे। उनके पीछे-पीछे हस्तिनापुर के मन्त्री संजय भी उपप्लाव्य आ धमके। युधिष्ठिर को समझाने-बुझाने हेतु महाराज धृतराष्ट्र का सन्देश लाये थे वे। उपप्लाव्य की बैठक में मन्त्री संजय ने पाँचों पाण्डव, द्रौपदीदेवी, कुन्ती माता के समक्ष वह सन्देश कृष्णदेव को सुनाया। उदारहृदयी महाराज धृतराष्ट्र ने बारह वर्षों का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास काटकर आये हुए अपने भतीजों के लिए राजकीय, मृदु भाषा में निर्दय, निर्मम सन्देश दिया था–"पाण्डव वन-जीवन के अभ्यस्त हो चुके हैं। भिक्षा माँगने का उन्हें अभ्यास है। शेष जीवन भी वे भिक्षा माँगकर, परमेश्वर-चिन्तन करते हुए वनों में ही व्यतीत करें। व्यर्थ ही हस्तिनापुर आने का श्रम न करें!"

उस ढोंगी और अपमानजनक सन्देश को सुनकर द्रौपदीदेवी उबल पड़ीं–"हम भिक्षा माँगें अथवा भिक्षा माँगने पर किसी को विवश करें, कौरवों को इसका निर्णय करने का क्या अधिकार है?"

कृष्णभक्त संजय के प्रति कुन्ती माता के मन में आदर था। अत: अपनी पुत्रवधू के कड़ुए उत्तर को थोड़ा सौम्य करते हुए उन्होंने कहा, "हे संजय, हम कौरवों से भिक्षा नहीं माँग रहे, न्याय माँग रहे हैं। हम हस्तिनापुर का राज्य माँगें तो भी विश्वस्त के नाते सँभाला हुआ वह राज्य हमें लौटाना महाराज धृतराष्ट्र का कर्तव्य है। सभी शर्तों को पूरा करते हुए मेरे पुत्रों ने बारह वर्षों का वनवास

और एक वर्ष का अज्ञातवास काटा है। अब शर्त के अनुसार वे सम्मानपूर्वक मेरे पुत्रों का अधिकार लौटा दें। इसी से उनके राज्य की और मेरे पुत्रों की अस्मिता सुरक्षित रहेगी।"

कृष्णदेव ने संजय के हाथों महाराज धृतराष्ट्र को सन्देश भिजवाया था–"भिक्षा ही माँगनी है तो उसका आरम्भ हम हस्तिनापुर से ही करेंगे।–हे कुरु-मन्त्री संजय, शान्ति प्रस्ताव लेकर मैं ही हस्तिनापुर आ रहा हूँ, यह बात तुम कुरुश्रेष्ठ को बता देना।"

उपप्लाव्य से कुरु-मन्त्री संजय चले गये। कार्तिक शुद्ध चतुर्दशी को कृष्णदेव ने पाण्डवों की आपत्तिकालीन बैठक आयोजित की। उसमें उन्होंने सभी पाण्डवों से कहा, "प्रिय भ्राताओ, तुम्हारी ओर से तुम्हारे न्यायोचित अधिकार की माँग मैं कुरु राजसभा से करने जा रहा हूँ। मैं जो भी बोलूँगा, तुम्हारे हित में ही होगा। मैं तुमसे स्पष्ट पूछना चाहता हूँ कि क्या दौत्य के लिए मेरा वहाँ जाना तुम्हें अपनी पत्नी और माता सहित सबको बिना किसी आपत्ति के स्वीकार है? क्या मेरे प्रत्येक शब्द से तुम सब सहमत रहोगे?"

वह सुनकर सब पाण्डव आपस में कुछ फुसफुसाये। धीमे स्वर में उन्होंने कुन्तीदेवी और द्रौपदीदेवी से भी बात की। उन्होंने सर्वसम्मति से निर्णय किया और युधिष्ठिर तथा कुन्ती माता द्वारा वह कृष्णदेव को सुना दिया गया। पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर ने कहा, "हे श्रीकृष्ण, तुम जो कहोगे, वह हम सबको स्वीकार है।"

अपने आज्ञाकारी ज्येष्ठ पुत्र के कथन से सहमति दर्शाते हुए कुन्ती माता ने कहा, "हे कृष्ण, मुझे पूर्ण विश्वास है, जहाँ तुम होगे वहीं धर्म और विजय होगी। तुम जो करोगे वह सदैव उचित ही होगा। मेरे पुत्र, पुत्रवधू और मैं–तुम्हें कौरवों की राजसभा में अपनी ओर से तुम्हें जो भी उचित लगेगा, वह बोलने का पूर्ण अधिकार दे रहे हैं।

कार्तिक पूर्णिमा का दिन कोहरे का पटल चीरते हुए उदित हुआ। हस्तिनापुर के पश्चिम महाद्वार से मैं, कृष्णदेव और दारुक अपने बलिदानी दल सहित कौरवों के राजनगर में प्रविष्ट हुए। हस्तिनापुरवासी कृष्णदेव से कितना प्रेम करते हैं, इस की स्थान-स्थान पर प्रतीति होने लगी। उन्होंने अपने-अपने आवासों पर आम्र और अशोक-वृक्षों की पर्णशाखाओं से तोरण बनाये थे। सुगन्धित जल से सींचकर अपने-अपने आँगन सम्मार्जित किये थे। स्थान-स्थान पर सुदर्शन के और मोरपंखों के आकार की रंगावलियाँ बनायी गयी थीं। पुष्पमालाओं से सजाकर ऊँची-ऊँची ध्वजा-पताकाएँ खड़ी की गयी थीं। एक श्रद्धालु कृष्णभक्त ने तो अपनी स्त्री से रंगावली में शिशुपाल-वध की घटना चित्रित करायी थी। उसकी देखा-देखी किसी और ने कंस का–किशोर कृष्णदेव के द्वारा कंस के वक्ष पर मुष्टिप्रहार करते हुए चित्र बनाया था। प्रत्येक आवास की देहली पर गंगाजल से भरे चमकते कलश रखे हुए थे। नगर के चौक-चौक में धूपपात्रों में से सुगन्धित धूम्रवलय ऊपर उठ रहे थे। महामन्त्री विदुर ने कौरवों का राजध्वज राजप्रासाद के ऊँचे कलश पर फहराया था।

बहुत दिनों बाद हस्तिनापुरवासियों को कृष्णदेव के दर्शन होनेवाले थे। सारा नगर उत्साह से–चैतन्य से उमड़ पड़ा था। किन्तु हम सीधे कौरवों की राजसभा में जानेवाले नहीं थे। गंगा-तट पर हस्तिनापुर के वृकस्थल नामक ग्राम में हमने पड़ाव डाला। वहाँ कृष्णदेव का एक भक्त रहता था। वह महात्मा विदुर का भी मित्र था। उसके आवास पर हमने रात्रि-भोजन किया। हमारे सैन्यदल का प्रबन्ध महामन्त्री विदुर ने किया था।

कार्तिक बदी प्रतिपदा का दिन उदित हुआ। हमारे वृकस्थल आने की अग्रिम सूचना राजनगर पहुँच चुकी थी। द्वारिकाधीश के स्वागत के लिए पितामह, महामन्त्री विदुर, संजय, अमात्य वृषवर्मा और आचार्य द्रोण वृकस्थल आ गये। उनके साथ अंगराज कर्ण और गुरुपुत्र अश्वत्थामा भी थे।

दोनों भुजाएँ फैलाकर शुभ्र दाढ़ीधारी पितामह ने 'हे वासुदेव' कहते हुए कृष्णदेव को दृढ़ आलिंगन में बाँध लिया था। अन्य तीनों ने उनसे कुशल पूछा। 'प्रणाम यादवराज' कहते हुए कर्ण ने कृष्णदेव के सीधे चरणस्पर्श किये। कृष्णदेव को धीरे से 'जयतु कर्ण' कहते मैंने स्पष्ट सुना था।

हम चारों–कृष्णदेव, मैं, ब्रह्मगार्ग्य और दारुक गरुड़ध्वज पर आरूढ़ हो गये। कृष्णदेव ने अकेले पितामह भीष्म को अपने रथ पर बैठाया था। दारुक ने हमारा रथ दौड़ाया। पीछे-पीछे रथों और सशस्त्र सैन्यदलों की पंक्ति चल पड़ी। हस्तिनापुर में कृष्णदेव की शान्ति-यात्रा आरम्भ हुई। हस्तिनापुर के नगरजन वाद्यघोष के साथ कृष्णदेव का जयघोष करते हुए उन पर कुंकुम और सुगन्धित पुष्पों की अविरत वर्षा करने लगे। वृकस्थल से राजनगर तक का परिसर 'वसुदेवपुत्र वासुदेऽव श्री ऽ कृष्ण ऽ की जय हो ऽऽ!' के जयनाद से गूँज उठा।

मेरे जीवन का यह परमोच्च आनन्द का क्षण था। मैं उस गरुड़ध्वज रथ पर आरूढ़ था जिस पर साक्षात् पितामह भीष्म और कृष्णदेव–दोनों आरूढ़ थे।

श्यामवर्ण, लम्बी अँगुलियोंवाले, पुष्कराज जटित मुद्रिकाओं से शोभित दोनों हाथ जोड़कर कृष्णदेव सुहास्यवदन से हस्तिनापुरवासियों के प्रेम को स्वीकारने लगे। सारथि दारुक के वस्त्र भी कुंकुम से सराबोर हो गये थे। गरुड़ध्वज को हाँकना भी उसके लिए कठिन होने लगा, क्योंकि अश्वों की आँखें भी कुंकुम से भर गयी थीं। गरुड़ध्वज के शुभ्र-धवल अश्व कुंकुम से लिप्त होने के कारण अब रक्तवर्णी दिखने लगे थे। उनको पहचानना कठिन हो गया। सैकड़ों हस्तिनापुरवासी कृष्णदेव के चरणों पर माथा रखने हेतु अश्वों के पैरों में ही लोटने लगे। आधे घण्टे की अवधि में हमारा रथ कुछ पग ही आगे बढ़ पाया था। चारों अश्वों के खुरों पर सुहागिनों के उँड़ेले जलकुम्भों के जल से उन्हीं की बनायी रंगावलियाँ धुलने लगीं। जैसे-जैसे सूर्यदेव आकाश में चढ़ने लगे, चान्द्रवंशी कृष्णदेव के जयघोष में अधिक ही ज्वार आने लगा। राजमार्ग के दोनों ओर खड़े अशोक, चम्पक, वट, पिप्पल आदि वृक्षों के पर्ण हवा में हिलते हुए मानो तालियाँ बजा रहे थे!...अब तक कृष्णदेव के पीताम्बर पर कुंकुम की इतनी परतें चढ़ गयी थीं कि स्वयं वे भी अपने पीताम्बर के मूल वर्ण को नहीं पहचान पाये। उनका सतेज नीलवर्ण शरीर भी कुंकुममय हो गया था। हस्तिनापुर के राजमार्ग पर पुष्प-ही-पुष्प बिखरे हुए थे।

मेरे स्वामी के स्वागत और दर्शन के लिए मात्र दुर्योधन नहीं आया था। वह नहीं आया था इसलिए शकुनि भी नहीं आया था। न उन दोनों के भ्राता आये थे। यह उनका दुर्भाग्य था।...

दोपहर की चिलचिलाती धूप में दारुक ने गरुड़ध्वज को हस्तिनापुर के प्राचीन राजप्रासाद के आगे लाकर खड़ा कर दिया। अपने शरीर पर जमे कुंकुम को झटककर उत्तरीय को सँभालते हुए हास्यवदन कृष्णदेव शान्तिपूर्वक रथ से नीचे उतरे। कौरवों की राजस्त्रियाँ आरतियाँ लेकर आगे आ गयीं। उनमें अग्रस्थान पर राजमाता गान्धारीदेवी और दुर्योधनपत्नी भानुमतीदेवी, कर्णपत्नी वृषालीदेवी, विदुरपत्नी पारसवीदेवी, दुर्योधन-भगिनी दु:शलादेवी, गुरुपत्नी कृपीदेवी

आदि प्रमुख स्त्रियाँ थीं।

राजप्रासाद के कलश पर फहराते कौरवों के त्रिकोणी काषाय राजध्वज की ओर देखकर कुछ बुदबुदाते हुए कृष्णदेव ने महाद्वार की देहरी लाँघी। किसी ने दबे स्वर में कहा, "राजप्रासाद आज पावन हो गया।" मैंने दृष्टि उस ओर घुमायी–वे थे महात्मा विदुर।

सबके साथ कृष्णदेव कुरुश्रेष्ठ धृतराष्ट्र के कक्ष में आये। द्वार तक आगे बढ़े धृतराष्ट्र ने कृत्रिम वाणी में कहा–आइए द्वारिकाधीश, हस्तिनापुर में आपका स्वागत है।"

अपने स्वाभाविक संस्कारों से संचालित श्रीकृष्ण ने, विनयपूर्वक नतमस्तक होकर उनको प्रणाम किया। उनके दोनों हाथ अपनी हथेली में लेते हुए द्वारिकाधीश ने कहा, "हे महाराज, मैं कहीं और नहीं जाना चाहता। हम सीधे राजसभा में ही चलेंगे।"

"आइए यादवराज।" उन्होंने अनुमति दी। हम सभी राजसभा की ओर चलने लगे। कौरवों के भव्य राजप्रासाद की सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते वे रुक गये। मैं उनके पीछे ही था। अनजाने में ही एक-एक सीढ़ी गिनता हुआ चल रहा था। तभी मुझे द्वारिका के अपने 'श्रीसोपान' का स्मरण हुआ। यहाँ हम जिस सीढ़ी पर खड़े थे वह एक सौ पाँचवीं सीढ़ी थी। क्षण-भर उस पर रुककर कृष्णदेव ने मुस्कराते हुए पितामह भीष्म के निकट उपस्थित अंगराज कर्ण पर दृष्टि डाली और एक सौ छठी अन्तिम सीढ़ी पर पाँव रखा।

कौरवों की राजसभा में प्रवेश करते ही कृष्णदेव ने नतमस्तक होकर उस प्राचीन, विख्यात सिंहासन को प्रणाम किया। कौरवों के मानचिह्न चन्द्रदेव की रजतप्रतिमा को उन्होंने एकटक देखा। अमात्य वृषवर्मा के दर्शाये गये आसन पर वे शान्ति से विराजित हुए। उनके पीछे-पीछे अन्य सब आसनस्थ हो गये। महाराज धृतराष्ट्र और महाराज्ञी गान्धारीदेवी राजसिंहासन पर आसीन हो गये। सम्भवत: यह अन्तिम सभा थी। द्वारिकाधीश के दर्शन के लिए जमा हुए योद्धाओं से सभागृह खचाखच भर गया था।

कुरु-अमात्य वृषवर्मा ने राजदण्ड उठाकर राजसभा का प्रयोजन बताया। अपनी मधुर वाणी में कृष्णदेव का स्वागत करते हुए उन्होंने कहा, "अब यादवराज श्रीकृष्ण अपने आगमन का प्रयोजन बताएँगे। सब कौरव शान्ति से उस पर विचार करें। समय कठिन है–आपातिक है।" कृष्णदेव की ओर देखकर, आदरपूर्वक आँखें और ग्रीवा तनिक झुकाकर प्रथा के अनुसार राजदण्ड से धरती पर आघात करके अमात्य खड़े हो गये।

उत्तरीय सँभालते हुए कृष्णदेव शान्तिपूर्वक अपने आसन से उठे। उन्होंने अपने मर्मभेदक मत्स्यनेत्र सम्पूर्ण राजसभा पर घुमाये। हम यादवों का वह श्रेयस तीक्ष्ण, भेदक स्वर में बोलने लगा, "हे पितामह भीष्म, महाराज धृतराष्ट्र, महाराज्ञी गान्धारीदेवी, आचार्य द्रोण, कृप, महात्मा विदुर, गुरुपुत्र अश्वत्थामा, मामा शकुनि, अमात्य वृषवर्मा, राजनीतिकुशल कणक, अंगराज कर्ण, दुर्योधन, दु:शासन, यहाँ उपस्थित सभी कुरुयोद्धा और हस्तिनापुरवासियो, मैं आज यहाँ द्वारिकाधीश अथवा पाण्डवों के ममेरे भ्राता के नाते नहीं आया हूँ। मैं आज इस प्राचीन सिंहासन के पास न्याय माँगने आया हूँ, क्योंकि यह राजसिंहासन समस्त आर्यावर्त में न्यायदान के लिए विख्यात है।

"आज तक पाण्डवों की सहनशीलता की आपने मर्यादा से अधिक कठोर परीक्षा ली है। क्या युवराज दुर्योधन मुझे बता सकेंगे कि कुन्तीदेवी सहित पाण्डवों को लाक्षागृह में जलाने की

राजनीति उन्हें किसने सिखायी? पाण्डवों को हिंस्त्र पशुओं से भरे घने खाण्डववन का लोकविलक्षण राज्य दिलानेवाले शकुनि मामा को यदि मैं दण्डकारण्य का राज्य दूँ तो क्या वे वहाँ जाकर अपना नगर बसाएँगे? द्वारिका राज्य को दाँव पर लगाकर यदि मैं उनके साथ द्यूत खेलने बैठूँ तो क्या अपना गान्धार का राज्य दाँव पर लगाकर वे मुझसे द्यूत खेलेंगे? अपनी पत्नी को दाँव पर लगाएँगे? उनकी रजस्वला पत्नी को घसीटकर भरी द्यूतसभा में लाने की क्या वे मुझे सम्मति देंगे? यदि मेरा सेनानायक सात्यकि उसके वस्त्र पर हाथ डाले, तो शकुनि मामा सह पाएँगे? तो क्या वे तेरह वर्षों का कठोर वनवास और अज्ञातवास स्वीकार करेंगे? अपनी अन्तरात्मा को साक्षी रखकर बताइए, आज तक पाण्डवों को आपने कौन-सा न्याय दिया है? न्याय का अर्थ भी जानते हैं आप?

"फिर भी कौरव और पाण्डवों को मैं एक ही मानता हूँ। एक ही राजमुद्रा के दो पहलू मानता हूँ। आप सबको मैं कुरु मानता हूँ, चान्द्रवंशी मानता हूँ। अत: भूतकाल की सभी बातों पर पानी फेरते हुए मैं आपसे कह रहा हूँ, हे महाराज धृतराष्ट्र, पाण्डवों को उनका न्यायोचित राज्यभाग देकर भविष्य में भड़कनेवाली विध्वंश की विराट् अग्नि को बुझा दीजिए। वस्तुत: सम्राट् पाण्डु के विश्वस्त के नाते आपको सौंपा गया राज्य अब आप पाण्डुपुत्रों को लौटा दें। क्या आपको यह स्वीकार है?" प्रतोद-प्रहार जैसे उनके कठोर शब्दों से सभागृह में भयानक शान्ति छा गयी। महाराज धृतराष्ट्र उनके प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ दिख रहे थे। सभा में बैठे सभी दिग्गज चुप हो गये। उस शान्ति को भेदते हुए पुन: कृष्णवाणी गरज उठी, "कहिए–आपमें से कोई भी बताए कि आपका अन्तिम निर्णय क्या है?" उन्होंने सभागृह पर अपनी दृष्टि दौड़ायी।

उनके वक्तव्य के धारदार शब्दों से और निरुत्तर कर देनेवाले कठोर यथार्थ से सभागृह–सदस्य थर्रा उठे थे। सभागृह में शान्ति-ही-शान्ति व्याप्त हो गयी थी। "मैं बताता हूँ। तुम्हारे लम्बे-चौड़े वक्तव्य से स्तम्भित हुए कौरवों का अन्तिम निर्णय आज मैं तुम्हें स्पष्ट शब्दों में बता देता हूँ। पाण्डवों को आधा राज्य भी नहीं मिलेगा।" तड़ाक् से उठकर भौंहें तानता हुआ दुर्योधन बोला।

"क्यों?" कृष्णदेव ने अपने नेत्र केवल दुर्योधन पर गड़ाये।

"उनका इस राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे पाण्डुपुत्र हों, तब भी नहीं। राज्य का आज का विभाजन कल उसके सौ टुकड़े कर देगा और परसों सहस्र।" दुर्योधन अपने हठ पर अड़ गया था। उसकी आरक्त आँखें सभागृह में बैठे उसके अपने भ्राताओं की ओर घूम गयीं।

मैं चौकन्ना हो गया। सभागृह में झड़ते प्रश्नोत्तर कौरव-पाण्डवों के बीच की कभी न भरनेवाली खाई की भाँति बढ़ने लगे। अब क्या होगा? इस समय मुझे क्या करना चाहिए? कुछ समझ में नहीं आ रहा था। मैं बारी-बारी से दोनों की ओर देखता रहा।

"आधा राज्य न सही। अनुद्यूत की शर्त के अनुसार क्या तुम उनका बसाया इन्द्रप्रस्थ का राज्य लौटाओगे? जो सत्य है, न्यायोचित है, उसे हठपूर्वक मत ठुकराओ दुर्योधन!" कृष्णदेव ने अत्यन्त ऋजुतापूर्ण स्वर में कहा।

उनकी ऋजुता को उद्दण्डता से ठुकराते हुए दुर्योधन ने कहा, "नहीं ऽ ऽ, उसे वे द्यूत में हार चुके हैं। शर्त के अनुसार उन्होंने अज्ञातवास पूर्ण नहीं किया है। अज्ञातवास पूर्ण होने से दो दिन पहले ही वे प्रकट हुए हैं!"

"नहीं ऽ! अज्ञातवास का समय पूर्ण हुआ है। कालगणना में तुम चूक गये हो। अधिक मास को

तुमने गिना ही नहीं। पाण्डवों को उनका इन्द्रप्रस्थ लौटा दो दुर्योधन!" कृष्णदेव उसे आज इधर-उधर हिलने नहीं दे रहे थे।

"नहीं ऽ।" मूलत: हठी स्वभाव का वह धृतराष्ट्र-पुत्र आज अपने हठ पर अड़ गया था।

"क्यों?" यादवश्रेष्ठ ने उसी की भाँति एक ही शब्द में पूछा।

"वे हमारे महाराज पाण्डु के पुत्र नहीं हैं। वे कौन्तेय और माद्रेय होंगे, किन्तु पाण्डव कदापि नहीं हैं।"

दुर्योधन के इन मर्मभेदक, कुत्सित उद्गारों से कुरुओं की उस प्राचीन राजसभा में कोलाहल मच गया। दुर्योधन बिना कुछ सोचे-विचारे पाण्डव माता कुन्तीदेवी के वन्दनीय चरित्र को चिथड़े-चिथड़े करके समस्त हस्तिनापुरवासियों के आगे रखना चाह रहा था।

उसी समय पितामह भीष्म तपाक से उठ खड़े हुए। अपने उत्तरीय को मुट्ठी में कसते हुए वे गरज उठे, "चुप रहो दुर्योधन! मैं समझ गया हूँ, तुम क्या कहना चाहते हो। राज्यशास्त्र और नीतिशास्त्र का एक अक्षर भी तुम नहीं जानते। किंदम ऋषि के शाप के कारण सम्राट् पाण्डु पुत्र उत्पन्न नहीं कर सकते थे। सम्राट् के लिए निःसन्तान अवस्था में मृत्यु को प्राप्त होना लज्जाजनक था। पाण्डु ने अपनी यह व्यथा पत्नी कुन्तीदेवी से कही। उसको 'पुं' नामक नरक से बचाने हेतु पतिपरायणा कुन्ती ने नियोग पद्धति से पुत्र-प्राप्ति की अनुमति ली। इसके लिए उन दोनों ने महर्षि व्यास द्वारा सन्देश भिजवाकर हमसे अनुमति माँगी थी। महाराज धृतराष्ट्र, विदुर और मैं–हम तीनों ने निर्णय लेकर नियोग के लिए उनको सम्मति दी। ये सब पाण्डव सम्राट् पाण्डु के धर्मसम्मत नियोग-पुत्र हैं। कुरु हैं। इस राज्य के उत्तराधिकारी हैं।"

कृष्णदेव के दौत्य की इस सभा में पितामह आक्रामक होंगे, अपने मार्ग में कोई-न-कोई बाधा अवश्य खड़ी कर देंगे, यह दुर्योधन को पहले से ही ज्ञात था। अपने वक्ष में उबलते द्वेष को वह सबके समक्ष उगलना चाहता था। अपनी छोटी-छोटी किन्तु पुष्ट अँगुलियों को हवा में फड़काते हुए उसने कहा, "तब मैं और मेरे भ्राताओं का हस्तिनापुर में क्या स्थान है, कुरु होने के नाते हमारे अधिकार क्या हैं, यह पितामह एक बार सभा को स्पष्ट कर दें।" सभागृह में बढ़ती हुई खुसर-फुसर को बढ़ने देना उचित नहीं था। वृद्ध पितामह पुन: खड़े हो गये। अपनी तपःपूत वाणी में निश्चयपूर्ण, स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा, "दुर्योधन, घोर अज्ञानी हो तुम। तुममें से–कौरव-पाण्डवों में से कोई भी कुरु कुलोत्पन्न नहीं है!!" कुरु राजसभा को आश्चर्य का यह दूसरा तीव्र धक्का लगा था। कौरवों के कक्ष में बैठे दुर्योधन, दु:शासन, शकुनि, कर्ण आदि में कानाफूसी आरम्भ हुई। दबे स्वर में उन्होंने कुछ निर्णय कर लिया। उनका समर्थन पाकर शकुनि उठकर बोलने लगा–"महाराज के पुत्र दुर्योधन और उसके भ्राता कुरु नहीं है, नियोग पद्धति से उत्पन्न युधिष्ठिर और उसके भ्राता भी कुरु नहीं हैं, तब वास्तव में कुरु हैं कौन? यह राज्य किसका है?" उसके व्यंग्यपूर्ण बोल सभासदों के हृदयों को छीलने लगे।

अब तनकर खड़े हुए पितामह ने दृढ़ शब्दों में कहा, "वह अन्तिम कुरु मैं हूँ–शान्तनु-पुत्र गांगेय भीष्म! कुरुवंश नष्ट न हो, इस हेतु माता सत्यवतीदेवी की अनुमति से कुरुवंश ने कई वर्ष पूर्व नियोग पद्धति को स्वीकार किया है। महाराज धृतराष्ट्र, सम्राट् पाण्डु और विदुर धर्मसम्मत नियोग पद्धति से उत्पन्न हुए व्यास-पुत्र हैं। अन्तिम कुरु एकमात्र मैं हूँ। मैं हाथ जोड़कर कौरव-पाण्डवों से प्रार्थना करता हूँ कि वासुदेव श्रीकृष्ण का कहा मानें। उसकी बात को टालना इस

समय बड़ी भारी भूल होगी। तुम सब भलीभाँति समझ लो कि अवसर पाकर भी–सम्भव होते हुए भी श्रीकृष्ण ने कभी किसी राजसिंहासन पर अधिकार स्थापित नहीं किया है। तुम भाग्यशाली हो कि तुम कौरव-पाण्डवों में शान्ति स्थापित करने हेतु आज वह इस सभागृह में सशरीर उपस्थित है। मैं तो यही मानता हूँ कि तुम्हें उनके एक भी शब्द का अनादर नहीं करना चाहिए।"

सभागृह में गहरी शान्ति छा गयी। भीष्म के द्वारा निर्माण की गयी परिस्थिति का लाभ उठाते हुए कृष्णदेव ने कहा, "हे दुर्योधन, यदि तुम हस्तिनापुर या इन्द्रप्रस्थ का राज्य भी लौटाने को तैयार नहीं हुए तो तुम्हारे भ्राता कहाँ जाएँगे? क्या तुम उनको इस राज्य के अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत आदि केवल पाँच ग्राम देने को तैयार हो?" उस ऋजु आवाहन को सुनते हुए उपस्थित सभासद योद्धाओं के हृदय द्रवित हो उठे।

सभा में कानाफूसी आरम्भ हुई। उसे बढ़ने देने को दुर्योधन तैयार नहीं था। उसके शरीर में आज मानो साक्षात् कलिकाल ने प्रवेश किया था। कृष्णदेव के ऋजुतापूर्ण प्रस्ताव को उद्दण्डता से झिड़कते हुए उसने तड़ाक् से कहा, "नहीं! नहीं! नहीं! कदापि नहीं। इस राज्य के उत्तराधिकारी न हम हैं, न वे हैं। क्योंकि हम दोनों में से कोई भी कुरु नहीं है। केवल पितामह ही एकमात्र कुरुवंशी हैं। किन्तु वे तो प्रतिज्ञाबद्ध हैं। तब क्या कुरुवंश के इस प्राचीन सिंहासन को निराश्रय ही छोड़ा जाए? अब इसके उत्तराधिकार का निर्णय रणभूमि में ही होगा–सामर्थ्य के आधार पर! पाँच ग्राम ही क्यों, इस राज्य की भूमि का सुई की नोक के बराबर धूलिकण भी पाण्डवों को युद्ध के बिना नहीं मिलेगा।"

क्रोध से थरथराते हुए दुर्योधन ने अपनी क्रुद्ध, आग उगलनेवाली आँखें कृष्णदेव पर गड़ायीं। उन्मत्तता से उनके वासुदेवत्व को दुतकारते हुए वह बड़बड़ाया, "भगवान और वासुदेव कहलानेवाले ढोंगी ग्वाले, अपने सन्धि-प्रस्ताव के फटे चिथड़े समेटकर हस्तिनापुर की सीमा से बाहर चलते बनो। अन्यथा..."

"दुर्यो ऽ ध ऽ न!" कृष्णदेव के होठ सात्त्विक सन्ताप से थरथराने लगे। उनके मत्स्यनेत्र आरक्त हो गये।

मैं तो तपाक से ऐसे खड़ा हुआ मानो मुझ पर वज्रपात हुआ हो। मेरा अंग-अंग क्रोध से काँप रहा था। मुझे पता नहीं चला कब मेरा हाथ कटि में कसे खड्ग पर चला गया। 'उन्मत्त नीऽच' गरजते हुए मैंने खड्ग को बाहर खींच लिया। दुर्योधन के निन्यानवे भ्राता और शकुनि के सभी भ्राता भी उठकर खड़े हो गये थे। दुर्योधन उन्माद से गरजा, "सारे झगड़े की जड़–इस ग्वाले को आज मैं बन्दी बनाकर हस्तिनापुर के कारागृह में डाल दूँगा। वही इसका उचित स्थान है।"

–तो कौरवों का यह मदोन्मत्त युवराज अपने अन्धे माता-पिता को साक्षी रखकर हमारे कृष्णदेव को बन्दी बनानेवाला था। विचार की बिजली मेरे मन में अचानक कौंध उठी। इस अभियान में मेरे बलिदानी दल को साथ लेने का निर्देश उन्होंने क्यों दिया था, वह मुझे अब ज्ञात हुआ।

खड्ग पर मुट्ठी कसकर मैं अपनी बलिदानी दल को संकेत करने हेतु सभागृह से बाहर दौड़ पड़ा। अचानक राजसूय यज्ञ के समय सुने गये विविध वाद्यों की सम्मिश्र ध्वनि सुनाई देने लगी। पीछे-पीछे द्वारिकाधीश के अस्पष्ट-से शब्द भी सुनाई दिये–"अंगराज, उससे कहो, साहस हो तो उसके राज्य में जितनी भी लौह-शृंखलाएँ हैं उन्हें एकत्र करके मुझे बन्दी बनाए।"

दूसरे ही क्षण अपने बलिदानी, सशस्त्र दल सहित कृष्णदेव का जयघोष करते हुए मैं सभागृह में घुस आया। "द्वारिकाधीश वासुदेव श्रीकृष्ण की जय हो ऽ! इडामाता की जय हो!" महाप्लावन में यमुना की लहरें किसी द्वीप को घेर लेती हैं, उसी प्रकार मेरे सशस्त्र सैनिकों ने कृष्णदेव को घेर लिया। सौभाग्य से आज सुदर्शन का प्रक्षेपण नहीं हुआ था। यह भाग्य किसका था? यह केवल कृष्णदेव ही जान सकते थे। मेरी इतनी योग्यता नहीं थी। हाथ में नग्न खड्ग उठाये, चकई की भाँति उनके चतुर्दिक् घूमते हुए, अपने बलिदानी सैनिकों से घिरे कृष्णदेव को मैं सुरक्षित सभागृह के बाहर ले आया।

पदत्राण की सुनहली पट्टियाँ कसे हुए अपने चक्रवर्ती चरण कुरुभूमि में गड़ाते हुए वे चलने लगे। देखते-देखते उस सँकरे मार्ग को पार कर वे दारुक के लाये गये गरुड़ध्वज पर कब आरूढ़ हो गये, किसी को पता नहीं चला। वहाँ तक उनके साथ खिंचे चले आये कुछ लोग थे–उनमें पितामह भीष्म, महात्मा विदुर, अंगराज कर्ण, संजय आदि विशेष व्यक्ति थे। कृष्णदेव ने उन सबका अभिवादन स्वीकार किया। उन्होंने अपना बायाँ आजानुबाहु बढ़ाकर 'चलो अंगराज, तुमसे कुछ बातें करनी हैं' कहते हुए केवल अंगराज का हाथ थामकर मुस्कराते हुए उसे अपने रथ में ले लिया। दारुक ने रथ दौड़ाया। हम भी अपने-अपने रथ पर आरूढ़ हो गये। गरुड़ध्वज के पीछे-पीछे रथों की पंक्ति हस्तिनापुर की सीमा की ओर दौड़ने लगी। कृष्णदेव का दौत्य अब समाप्त हो गया था।

उस दिन हस्तिनापुर की सीमा पर एक विशाल वट-वृक्ष के नीचे अंगराज कर्ण और कृष्णदेव में कुछ उत्तेजनापूर्ण गुप्त बातें हुईं। किन्तु वे बातें केवल उन दोनों में ही सीमित रहीं। उनकी चर्चा समाप्त होने तक मैं अपने दल सहित दारुक के गरुड़ध्वज के पास एक वृक्ष के नीचे खड़ा था। कुछ समय बाद दोनों महावीर लौट आये। आदरपूर्वक नतमस्तक होकर, "चलता हूँ मैं" कहते हुए अंगराज कर्ण ने कृष्णदेव से विदा ली। उन्होंने उस दानवीर सूतपुत्र को वक्ष से लगाकर अपने दृढ़ आलिंगन में ले लिया था। कृष्णदेव रथारूढ़ हुए। दारुक ने रथ हाँका। हमारे रथ भी उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। मैंने कुतूहल से पीछे मुड़कर देखा। कर्ण की लम्बी आकृति धुँधली होती हुई हस्तिनापुर की ओर लौट रही थी। अकेली–एकाकी! मेरे आगे गरुड़ध्वज में रथ का खम्बा थामे कृष्णदेव खड़े थे–कितने ऊँचे–आकाश जितने–भुजपाश में न सामनेवाले!

हम उपप्लाव्य लौट आये। दूसरे ही दिन अमात्य वृषवर्मा का दूत उपप्लाव्य आ गया। धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र पर विशेष बैठक आयोजित की गयी थी। अब अनिवार्य हुए कौरव-पाण्डवों के युद्ध की तिथि और युद्ध-नियमों को निश्चित करने हेतु यह बैठक बुलायी गयी थी। इस बैठक में कौरवों की ओर से पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, दुर्योधन, कर्ण आदि और पाण्डवों की ओर से कृष्णदेव, मैं, मत्स्यराज विराट, द्रुपदराज और उनका पुत्र धृष्टद्युम्न उपस्थित रहनेवाले थे।

निश्चित किये गये दिन हमने कुरुक्षेत्र की ओर प्रस्थान किया। कौरवों के प्रतिनिधि सीधे कुरुक्षेत्र पर आ गये। अत्यन्त गम्भीर वातावरण में बैठक आरम्भ हो गयी। इस बैठक के सूत्र कौरवों की ओर से पितामह भीष्म के हाथों में और पाण्डवों की ओर से कृष्णदेव के हाथों में थे। अमात्य वृषवर्मा ने बैठक का प्रयोजन बताकर बैठक का आरम्भ किया।

पितामह ने पहला युद्ध-नियम बताया–"प्रतिदिन ठीक सूर्योदय के साथ युद्ध आरम्भ होगा।"

कृष्णदेव ने उस नियम का दूसरा भाग बताया–"सूर्यास्त के साथ उस दिन के युद्ध की

समाप्ति भी होगी।”

“सम्पूर्ण युद्ध का स्वरूप द्वन्द्वयुद्ध का रहेगा” पितामह कहने लगे, “द्वन्द्वयुद्ध अर्थात् अश्वारोही के साथ अश्वारोही, गजारोही के साथ गजारोही। और पदाति के साथ पदाति युद्ध करेगा। रथी के साथ रथी लड़ेगा–वह द्वैरथ युद्ध होगा।

“भूमि पर लड़नेवाले दो योद्धाओं के हाथ में एक ही प्रकार का शस्त्र होगा। अर्थात् खड्गधारी के साथ खड्गधारी, गदाधारी के साथ गदाधारी, चक्रधारी के साथ चक्रधारी और मूसलधारी के साथ मूसलधारी युद्ध करेगा।” उसी समय अपनी राय देते हुए कृष्णदेव ने कहा, “नि:शस्त्र योद्धा पर अथवा सारथि पर कोई शस्त्र अथवा अस्त्र नहीं चलाएगा।” कृष्णदेव का बताया गया यह नियम सुनकर अपनी शुभ्र दाढ़ी में ही हँसते हुए पितामह कुछ कहनेवाले थे, तभी आचार्य द्रोण ने कहा, “संकुल युद्ध की परिभाषा भी हमें निश्चित करनी होगी।” मैंने कहा, “जहाँ एक ही प्रकार का युद्ध कई योद्धा कर रहे होंगे, उस युद्ध को उस शस्त्र-प्रकार का संकुल युद्ध माना जाएगा। यदि एक पक्ष के रथी दूसरे पक्ष के रथियों से युद्ध कर रहे होंगे तो वह रथियों का संकुल युद्ध होगा। अनेक अश्वारोही यदि अश्वारोहियों से लड़ रहे होंगे तो वह अश्वारोहियों का संकुल युद्ध होगा। इसी प्रकार गदा, खड्ग, अग्निकंकण, मूसल आदि शस्त्रों के संकुल युद्ध होंगे।”

बैठक अब युद्ध के छोटे-मोटे नियमों की छानबीन करने में व्यस्त हो गयी–

“एक योद्धा को प्रतिपक्ष के अनेक योद्धाओं का घेरना निषिद्ध होगा। वह अधर्मयुद्ध माना जाएगा।” पितामह भीष्म ने कहा।

“इस महायुद्ध की रणभूमि धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र होगी। इस रणभूमि पर किसी भी प्रकार के अधर्म की अपेक्षा नहीं है। रणभूमि सदैव पवित्र होनी चाहिए। अत: दोनों पक्षों को प्रतिदिन नयी रणभूमि पर व्यूह-रचना करनी पड़ेगी। कुरुक्षेत्र में अदृश्य सरस्वती सहित पाँच नदियाँ हैं। उनके तट के आधार पर प्रतिदिन रणभूमि में परिवर्तन किया जाएगा।”

कृष्णदेव ने मुस्कराते हुए कहा, “इस युद्ध में शस्त्रों के साथ अस्त्रों का भी प्रयोग किया जाएगा। अत: ‘नि:शस्त्र’ की परिभाषा निश्चित करनी होगी। मुझे लगता है, यह बात उस समय की परिस्थिति पर सौंपी जाए।”

मैंने बैठक से पूछा, “कौरव-पाण्डवों के इस महायुद्ध में रणभूमि पर नारी नहीं आएगी। यदि आ ही गयी तो?”

“वीर योद्धाओं के इस युद्ध में नारी का आना अपेक्षित नहीं है। यदि कोई आ ही जाए, तो उसे अवध्य माना जाए।” पितामह भीष्म ने कहा।

“समरभूमि पर दान-धर्म, पूजा-पाठ आदि धर्मकृत्यों की अनुमति होगी अथवा नहीं?” दानवीर कर्ण ने पांचालराज द्रुपद और कृष्णदेव की ओर देखकर पूछा।

“अवश्य होगी। किन्तु युद्ध आरम्भ होने से पहले और समाप्त होने के बाद।” कृष्णदेव ने स्पष्ट किया।

“विरथ और आहत वीर को रणभूमि से निवृत्त होने की अनुज्ञा हो।” आचार्य द्रोण ने कृष्णदेव की ओर देखा।

“अवश्य होगी आचार्य। किन्तु सच्चा वीर निद्रा में भी रणभूमि से विरत नहीं होता।”

द्वारिकधीश ने हँसते-हँसते कहा।

"यह कार्तिक महीना है–कड़ी शीत की ऋतु! अत: उचित युद्धतिथि इसी बैठक में निश्चित की जाए।" अनुभवी द्रुपद ने पितामह की ओर देखते हुए कहा। "काल और कालमापन का पूरा ज्ञान वासुदेव श्रीकृष्ण को है। महायुद्ध की तिथि वही निश्चित करें।" पितामह ने बैठक की समाप्ति की ओर मुड़ते हुए कहा।

"उपप्लाव्य जाने के पश्चात् सांगोपांग रूप से विचार करके मैं उचित तिथि निश्चित करूँगा और आप सबको सूचित कर दूँगा। किन्तु रणभूमि तो यह पवित्र धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र ही रहेगी। क्या इसमें किसी का मतभेद है?" कृष्णदेव ने नित्य की भाँति मृदु मुस्कराते हुए पूछा। उनके विमल गुलाबी होंठों के बीच से दाँत चमक उठे। "नहीं ऽ किसी का भी मतभेद नहीं है।" सर्वसम्मति प्रतिक्रिया व्यक्त हुई और कुरुक्षेत्र की वह विशेष बैठक समाप्त हो गयी।

दूसरे ही दिन पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य, दुर्योधन और कृष्णदेव, मैं, धृष्टद्युम्न आदि गिने-चुने योद्धाओं ने कुरुक्षेत्र का लगभग तेरह योजन का परिसर घूमकर देखा। वहाँ स्थान-स्थान पर विविध प्रकार के घने वृक्ष थे। उन्हें काटकर युद्धभूमि को समतल बनाने का निर्णय किया गया। इस भूमि पर निसर्गत: कई सरोवर होने के कारण भोजन, स्नानादि के जल की कोई समस्या नहीं थी। सरोवर के तट पर जमा हुई पटेर को स्वच्छ करने के आदेश दिये गये।

पितामह से विदा लेकर यादवराज के साथ हम उपप्लाव्य लौट आये। कृष्णदेव ने राजा विराट के निष्णात ज्योतिर्विद् को बुलवाकर उससे सांगोपांग विचार-विमर्श किया। वे उससे खोद-खोदकर एक ही प्रश्न पूछ रहे थे। उसे सुनकर मैं कुछ उलझन में पड़ गया। वे पूछ रहे थे, "सूर्यग्रहण की तिथि कौन-सी है? वह खण्डग्रास है कि खग्रास?" बहुत ऊहापोह करके दोनों ने मिलकर युद्धारम्भ की तिथि निश्चित की। हस्तिनापुर, पांचाल, मध्य प्रदेश, पूर्व और पश्चिम देश–सर्वत्र ही उसकी सूचना भिजवायी गयी। अन्तत: द्वारिकाधीश वासुदेव श्रीकृष्ण ने कौरव-पाण्डवों के बीच होनेवाले महायुद्ध की तिथि घोषित की–"मार्गशीर्ष बदी द्वितीया'।

अब हमें अपने ज्येष्ठों के आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु द्वारिका लौटना आवश्यक था। मेरी और द्वारिकाधीश की लौटने की तैयारी आरम्भ हो गयी। महाराज विराट और द्रुपद को एक साथ बुलवाकर द्वारिकाधीश ने उनको अन्तिम महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दीं। चेदि, मगध, कामरूप, पाण्ड्य आदि राज्यों में उपहार और भूर्जपत्र पर निमन्त्रण सहित राजदूत भिजवाकर उन राजाओं को भावी युद्ध में पाण्डवों के समर्थन में कुरुक्षेत्र में ससैन्य उपस्थित होने का आह्वान किया था। पाण्डवों की सैनिकी क्षमता का भार मुख्यत: विराट और पांचालों पर था। उसमें भी पांचालों की सैन्य-संख्या प्रचण्ड–चार अक्षौहिणी–होने से पाण्डवों का सबसे बड़ा दल वही था। पांचालों को भिन्न-भिन्न आकार के रथ बनवाने, धनुष, बाण, गदा, शतघ्नी, चक्र, खड्ग, अग्निकंकण, मूसल आदि शस्त्र विपुल संख्या में तैयार करने की सूचनाएँ दी गयीं। धृष्टद्युम्न अपने भ्राता शिखण्डी, सुमित्र, प्रियदर्शन, चित्रकेतु, सुकेतु, ध्वजकेतु, वीरकेतु, सुरथ, शत्रुंजय आदि की सहायता से महायुद्ध की प्रचण्ड तैयारी में जुट गया।

विराट का मत्स्य राज्य पांचाल की अपेक्षा कुरुक्षेत्र के अधिक निकट था। अत: पाण्डव-सेना के लिए आवश्यक खाद्य-सामग्री की पूर्ति करना मत्स्यों के लिए अधिक सुलभ था। वह दायित्व उनको सौंपा गया। इन्द्रप्रस्थ कुरुक्षेत्र के सबसे अधिक समीप था, किन्तु अब वह कौरवों के

अधिकार में था। अत: आवश्यक सैन्य-सामग्री की पूर्ति के लिए कौरवों को ही उसका अधिक लाभ होनेवाला था। यह विचित्र स्थिति थी। अपार परिश्रम करके पाण्डवों द्वारा खाण्डववन में बसाये वैभवशाली इन्द्रप्रस्थ का लाभ कौरवों को मिलनेवाला था। इन्द्रप्रस्थ कुरुक्षेत्र और विराटनगर के बीच स्थित था। दुर्योधन जैसा प्रतिस्पर्धी उसका लाभ उठाने से चूकनेवाला नहीं था। यदि वह अपने सैन्यदल द्वारा सीमाओं को बन्द कर देता तो कुरुक्षेत्र में पाण्डव-सेना के लिए आवश्यक सामग्री की पूर्ति होना असम्भव था। उसके लिए इन्द्रप्रस्थ का चक्कर लगाकर मत्तमयूर राज्य में जाना पड़ता। वहाँ के राजा से सम्पर्क बनाये रखने पर ही पाण्डवों को खाद्य-सामग्री पहुँचायी जा सकती थी। इसलिए द्वारिकाधीश ने शीघ्रता करते हुए विराट के अमात्य को राजदूत सहित मत्तमयूर के राजा के पास भेज दिया।

इस महायुद्ध में पाण्डव पक्ष के सभी सूत्र सर्वाधिकारी के नाते द्वारिकाधीश ने अपने हाथ में ले लिये। मैं उनके साथ द्वारिका लौट आया। कौरव-पाण्डवों के बीच होनेवाले इस महायुद्ध का समाचार अब तक द्वारिका पहुँच चुका था। आते ही कृष्णदेव को एक अत्यन्त कठिन प्रसंग का सामना करना पड़ा।

हस्तिनापुर, उपप्लाव्य, विराटनगर और काम्पिल्यनगर में घटित हुई घटनाओं से बलराम भैया अत्यन्त बिगड़ गये थे। कृष्णदेव उनसे मिलने जाएँ, इससे पहले वे ही दनादन पैर पटकते हुए अपने 'छोटे' के कक्ष में आये। तीव्र शब्दों में उन्होंने अपने भ्राता से कहा, "कृष्ण, यह क्या कर रहे हो तुम? कौरव और पाण्डव दोनों हमारे निकट के सम्बन्धी हैं। उन दोनों में मेल स्थापित करने हेतु तुम गये थे और तुम तो उन दोनों के बीच महायुद्ध का निर्णय कर आये हो। तुम्हारी इस राजनीति से मैं उकता गया हूँ। उन दोनों में सन्धि नहीं हो रही है, यह समझते ही तुम्हें चुपचाप द्वारिका लौट आना चाहिए था। इसके विपरीत उनके इस पुराने झगड़े में तुमने द्वारिका के यादवों को खींचा है। हमारे राज्य में ही अब कृतवर्मा और सात्यकि के दो पक्ष बन गये हैं। क्यों कर रहे हो तुम यह सब?"

बलराम भैया के वे प्रश्न ऊपर-ऊपर तो उचित प्रतीत हो रहे थे, किन्तु क्या वास्तव में वैसे थे? कदापि नहीं। यह युद्ध अब हस्तिनापुर राज्य के स्वामित्व के लिए केवल कौरव-पाण्डवों के बीच नहीं रहा था। लगभग समस्त आर्यावर्त और कपिश, काम्बोज तक का प्रदेश इसमें फँस गया था। इसमें स्वयं को अलिप्त रखकर वास्तव में क्या द्वारिका भविष्य में सुरक्षित रह पाती? पाण्डवों को पराजित करने के पश्चात् युद्ध के अन्त के साथ-साथ क्या दुर्योधन पूर्व, मध्य, उत्तर–सभी ओर से आर्यावर्त को निगल नहीं जाता? ऐसा होने पर हम अपने द्वारिका राज्य को कितने समय तक सुरक्षित रख पाते? शत्रु घर में आने से पहले आँगन में आ चुका है, इसे समझ लेना क्या आवश्यक नहीं था? बलराम भैया इस बात को समझ नहीं रहे थे। प्रिय शिष्य होने के नाते वे दुर्योधन को अपना मित्र ही समझ रहे थे। उनके क्रोधी स्वभाव होने के कारण कोई उन्हें यह बात समझा नहीं पा रहा था।

इसमें मध्यस्थता करने के लिए एक ही व्यक्ति कृष्णदेव की आँखों के आगे था–उद्धवदेव। उन्होंने उद्धवदेव को बुलवा लिया। कुरुक्षेत्र जाने के लिए द्वारिका छोड़ने से पहले यादवों की अन्तिम निर्णायक सभा आयोजित करने का निर्णय किया गया। इसके दूसरे ही दिन कृष्णदेव से सैन्य-सहायता की माँग करने हेतु दुर्योधन और अर्जुन एक के बाद एक द्वारिका आये। दुर्योधन

पहले बलराम भैया से मिला। उसके बाद वह और अर्जुन कृष्णदेव के शयन-कक्ष में एकान्त में उनसे मिले। कृष्णदेव ने उन दोनों के प्रस्तावों को किस प्रकार स्वीकार किया, यह किसी को भी ज्ञात नहीं हुआ।

कच्छ, सौराष्ट्र, आनर्त, अवन्ती आदि समीप के राज्यों में डौंडी पिटवायी गयी–सम्पूर्ण आर्यावर्त का भवितव्य निश्चित करनेवाले इस महायुद्ध के महायज्ञ में उतरने से पहले द्वारिकाधीश वासुदेव श्रीकृष्ण अति भव्य दान-सत्र का आयोजन कर रहे हैं। राजनगर द्वारिका के केन्द्रस्थान में स्थित विशाल उद्यान के महाद्वार में एक भव्य दान-वेदिका खड़ी की गयी है। उपप्लाव्य से आये धौम्य ऋषि, आचार्य सान्दीपनि और गर्ग मुनि इस काम में जुट गये। द्वारिका के आसपास के राज्यों से योगी, तपस्वी, मुनि, चौंसठ कलाओं के प्रवीण कलाकार, तपःसम्पन्न ब्राह्मण, वनवासी, अनाथ आदि कृष्णभक्तों का द्वारिका की ओर ताँता बँध गया। नौकाओं से खाड़ी पार करके आये इन अतिथियों की भीड़ द्वारिका की पूर्व दिशा के स्वर्णिम ऐन्द्र महाद्वार से द्वारिका में इकट्ठी होने लगी। इस समय भगवान वासुदेव की स्वर्णद्वारिका वैभव के शिखर पर पहुँच चुकी थी। अभूतपूर्व जनसमूह द्वारिका में एकत्र हो गया था। राजनगर द्वारिका का प्रत्येक चौक नर-नारियों के कोलाहल से गूँज उठा था। नगर के चारों महाद्वारों के समीप के मन्दिर विष्णुस्तवन और कृष्णस्तुति से निनादित हो रहे थे। पूरे नगर में झाँझ, मृदंग, सींग आदि वाद्यों की सम्मिश्र ध्वनि व्याप्त थी। यह वाद्यघोष इतना अन्तःकरणपूर्वक और उत्साहपूर्ण था कि उसने पश्चिम सागर के गर्जन को भी धुँधला कर दिया था।

निश्चित किये गये मुहूर्त पर द्वारिकाधीश दान-सत्र हेतु दान-वेदिका पर खड़े हुए। उनकी बायीं ओर रुक्मिणीदेवी सहित उनकी अन्य सात रानियाँ खड़ी थीं। उनकी दाहिनी ओर आचार्य सान्दीपनि, धौम्य ऋषि, मुनिवर ब्रह्मगार्ग्य और दूर-दूर से आये अनेक तेजस्वी मुखमण्डलवाले ऋषिवर खड़े थे। सम्पूर्ण वेदिका स्वर्णमुद्राओं, अलंकारों, बहुमूल्य-वस्त्रों, मौक्तिकों और श्रीफलों के थालों से खचाखच भरी हुई थी। वेदिका के पीछे उद्यान के लम्बे मार्ग में विविध शस्त्र, धान्य की थैलियाँ, एक ओर सावत्स दुधारू गायें और दूसरी ओर महीन झूले डाले हुए चपल अश्व, पैरों में शृंखला पहने–अम्मारियों से सुसज्जित गज आदि की व्यवस्था की गयी थी। सबसे पीछे श्वानरक्षकों से नियन्त्रित किये गये छोटी कटिवाले, लम्बोतरे आकार के काले, सफेद, चितकबरे, भूरे और कत्थई वर्ण के श्वानों के झुण्ड थे।

वृद्धत्व के कारण महाराज वसुदेव और दोनों राजमाताएँ राजप्रासाद में ही रुक गयी थीं। दान-वेदिका के आसपास कहीं बलराम भैया दिखाई नहीं दे रहे थे। वे नहीं थे, अत: रेवतीदेवी भी नहीं थीं। दानवस्तु अपने भ्राता के हाथ में देने हेतु उद्धवदेव वेदिका पर खड़े हुए थे। उनके पीछे सभी बलराम-बन्धु और बलराम-पुत्र उपस्थित थे। प्रद्युम्न सहित सभी कृष्ण-पुत्र और पुत्रियाँ वहाँ उपस्थित थीं। दान-सत्र आरम्भ के ठीक मुहूर्त पर द्वारिकाधीश ने कटि में लटकते सुलक्षण पांचजन्य शंख को हाथ में ले लिया। उन्होंने अपनी प्रसन्न दृष्टि सर्वत्र घुमायी। गर्दन उठाकर उन्होंने रोमहर्षक शंखनाद किया।

तुमुल वाद्यघोष के साथ द्वारिका के अति भव्य दान-सत्र समारोह का शुभारम्भ हुआ। नीलवर्ण के पीताम्बरधारी कृष्णदेव अपने राजवेश में आज पराकोटि के सुन्दर और प्रसन्न दिख रहे थे। उनके स्वर्णिम राजकिरीट में लगा सप्तरंगी मोरपंख पश्चिम सागर से आते पवन के झोंकों पर

अत्यानन्द से फर-फर नाच रहा था। द्वारिका के निर्माण से लेकर आज तक द्वारिकावासी यादवों ने इतना भव्य दान-सत्र समारोह कभी नहीं देखा था। जीवन-भर समस्त आर्यावर्त में भ्रमण करते हुए स्वामी वासुदेव ने जो विपुल सम्पदा द्वारिका में जमा की थी, उसे आज वे उतने ही निरपेक्ष भाव से दान करने जा रहे थे।

लम्बे समय तक यह दान-सत्र अखण्ड रूप में चलता रहा। सम्पूर्ण द्वारिका में एक ही नाद गूँज रहा था–'द्वारिकाधीश की जय हो ऽ ऽ जय हो ऽ ऽ!...कृष्णदेव की जय हो ऽ जय हो...।' द्वारिका के प्रत्येक वृक्ष का पर्ण-पर्ण, भूमि का कण-कण और सागर की फेनिल लहरों की प्रत्येक बूँद मानो हर्षोन्माद से गरज रही थी–'कृष्ण...कृष्ण...भगवान कृष्ण!'

वाद्यघोष और मन्त्रघोष के साथ दान-सत्र देर तक चलता रहा। राजसभा का समय अब निकट था। सुधर्मा सभा के समयपाल ने समय-दर्शक थाल पर हथौड़े से आघात करना आरम्भ किया। वेदिका के समीप जमा हुआ कृष्णभक्तों और यादवों का समूह राजसभा की ओर चल पड़ा।

दोनों राजमाताओं सहित वसुदेव महाराज आसनस्थ हो चुके थे। द्वारिका की आज की राजसभा अभूतपूर्व थी। इस सभा में सभी यादव तो उपस्थित थे ही। यही नहीं, दान-सत्र के लिए आये कई अपरिचित नर-नारी भी वहाँ उपस्थित थे।

अमात्य विपृथु ने प्रथम यादवों का रत्नजटित राजदण्ड उठाकर सभा का प्रयोजन निवेदित किया, "द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण शीघ्र ही कुरुक्षेत्र की पवित्र धर्मभूमि पर एक महायज्ञ प्रज्वलित करने जा रहे हैं। केवल कौरव-पाण्डवों के ही नहीं, बल्कि समस्त आर्यावर्त के, समूची मानवजाति के प्रति न्याय-अन्याय के निर्णय हेतु वह एक 'न भूतो न भविष्यति' वाला महायज्ञ होगा। इस उद्देश्य के लिए सबके आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु ही आज के दान-सत्र का आयोजन किया गया है।

"कौरव दुर्योधन और पाण्डव अर्जुन द्वारिका से सैन्य-सहायता प्राप्त करने हेतु द्वारिकाधीश से मिल चुके हैं। इस भेंट में ज्येष्ठ कौरव दुर्योधन ने यादवों की चतुरंग सेना की सहायता स्वीकार की है। पाण्डव अर्जुन ने अपना सारथ्य करने हेतु केवल श्रीकृष्ण को ही चुना है। वे निःशस्त्र रहकर अर्जुन का सारथ्य करेंगे। आवश्यकता पड़ने पर पाण्डवों को परामर्श देंगे। अर्जुन के नन्दिघोष रथ के चार शुभ्र-धवल अश्वों को हाँकने हेतु उनके हाथ में केवल प्रतोद होगा। अब समय ही निर्णय करेगा कि इस प्रतोद और चतुरंगदल यादव-सेना में विजयी कौन हुआ है!

"द्वारिकाधीश ने इस महायुद्ध में जिसको जो उचित लगे, वह पक्ष चुनने की अनुमति यादव-वीरों को दी है। महावीर सात्यकि अपने विशेष दल सहित पाण्डव पक्ष में सम्मिलित होना चाहते हैं और महारथी कृतवर्मा एक अक्षौहिणी यादव-सेना सहित कौरव पक्ष का साथ देंगे। शेष सेना के साथ कृष्णदेव के सभी पुत्र द्वारिका के रक्षणार्थ द्वारिका में ही रहेंगे। उनका नेतृत्व प्रद्युम्न करेंगे। युवराज बलराम के पुत्र और भ्राता द्वारिका में ही रहकर उनकी सहायता करेंगे।

"युवराज बलराम और उद्धवदेव ने इस महायुद्ध के विषय में अपने विचार प्रकट नहीं किये हैं। अत: उनसे प्रार्थना है कि वे अपना मनोगत निवेदित करें।

"इस सभा में स्वयं द्वारिकाधीश वासुदेव कोई वक्तव्य नहीं देंगे–करेंगे केवल एक रणघोष! उनका कहना है, बातें बहुत हुईं, अब आवश्यकता है कर्म की–वह भी कुरुक्षेत्र की धर्मभूमि पर! अत: हाथ जोड़कर वे सबसे केवल आशीर्वाद लेंगे।" प्रथा के अनुसार अमात्य ने ऊपर उठाये राजदण्ड का धरती पर आघात किया।

खचाखच भरी राजसभा से अपनी बात कहने के लिए बलराम भैया आसन से उठे। सुधर्मा सभा में मन खोलकर कुछ कहने का उनका यह पहला ही अवसर था। बोलने के लिए उचित शब्दों को खोजते हुए वे तनिक रुके। फिर भर्रायी आवाज में वे बोलने लगे–"राजनीति मेरा विषय नहीं है। मैं केवल एक सीधा-सादा, ठेठ सैनिक हूँ। मेरे सभी बन्धुओं को युद्ध के विषय में मेरा मत ज्ञात हो, इस हेतु मैं निवेदन कर रहा हूँ। मुझे लगता है, कौरव-पाण्डवों के झगड़े में हम यादव न पड़ें। दोनों पक्ष हमारे निकट के सम्बन्धी हैं। अपने राज्य का टंटा वे स्वयं ही सुलझाएँ। अन्य कोई-विशेषत: हम यादव उसमें भाग न लें। यदि लेंगे ही तो उससे कुछ भी भला नहीं होगा। अत: मैं द्वारिका को छोड़कर हिमालय पर जा रहा हूँ। जब इच्छा होगी, लौट आऊँगा, न हुई तो नहीं भी आऊँगा। इसीलिए इसी समय मैं सबका हार्दिक अभिवादन करता हूँ। मेरे स्वभाव के कारण यदि मेरे हाथों कभी किसी का अवमान हुआ हो, तो उदार हृदय से वे मुझे क्षमा करें।" बलराम भैया ने नतमस्तक होकर सभागृह से प्रार्थना की। इसी सभागृह में किसी समय कृष्णदेव से हुए उनके भावपूर्ण मनोमिलन को स्मरण करके उपस्थित जन-मन मसोसकर रह गये।

बलराम भैया का स्पष्ट निर्णय सुनकर सभागृह में एक नीरवता छा गयी। आचार्य सान्दीपनि और ब्रह्मगार्ग्य के समीप के चन्दनी आसन से उद्धवदेव उठ खड़े हुए। उनका सतेज, सत्त्वशील, गोलाकार चन्द्रमुख अत्यन्त शान्त था। उनके मुख पर, आँखों में तनिक भी चल-विचल नहीं थी। सभागृह पर अपनी प्रेमल शान्त दृष्टि घुमाकर कुछ कहने से पहले उन्होंने अपने उत्तरीय को मुट्ठी में थाम लिया। उनके शरीर पर योद्धा का राजवेश नहीं था। बहुत दिन पहले उन्होंने उसको त्यागा था। अब वे तापस वेश धारण करने लगे थे। मैंने द्वारिका में कृष्णदेव को कभी मुरली बजाते न देखा था और न सुना था। किन्तु वसुदेव महाराज और दोनों राजमाताओं को यह कहते सुना था कि उद्धवदेव की वाणी कृष्णदेव की मुरली के स्वर-समान है। अपनी उसी नाद-मधुर वाणी में उद्धवदेव बोलने लगे, "समस्त यादव बन्धुओ, बलराम भैया की भाँति मैं भी हिमालय जानेवाला हूँ। किन्तु उनके जाने में और मेरे जाने में एक अन्तर है। हम दोनों की आपस में बात हो चुकी है। हम एक साथ ही द्वारिका से निकल पड़ेंगे। बलराम भैया हिमालय क्यों जा रहे हैं, यह तो वे ही जानें। इस विषय में न उन्होंने मुझसे कुछ कहा है, न मैंने उनसे कुछ पूछा है।

"गंगा-तट के बदरी-केदार तीर्थ तक हम एक साथ रहेंगे। मैं वहीं रुक जाऊँगा और बलराम भैया को आगे जहाँ जाना है, वे वहाँ जाएँगे।

"मैं द्वारिकाधीश की इच्छा और आदेश के अनुसार ही बदरी-केदार जा रहा हूँ। उस पवित्र क्षेत्र में आचार्य सान्दीपनि के आश्रम की तरह एक आश्रम का निर्माण करने की उनकी इच्छा है। उसके पूर्व-आयोजन के लिए उन्होंने मुझे चुना है। इसलिए मैं स्वयं को परम भाग्यवान मानता हूँ। तात वसुदेव, दोनों राजमाताओं और आचार्य सान्दीपनि को साक्षी रखकर मैं इस राजसभा को अभिवचन देता हूँ कि मैं द्वारिका की कीर्ति को सुशोभित करने जैसा ही इस श्रीकृष्ण आश्रम का पूर्व-नियोजन करूँगा। दोनों भैया और मैं–हम तीनों के गुरुदेव आचार्य सान्दीपनि और सभी यादवश्रेष्ठ कृपया इस कार्य के लिए मुझे आशीर्वाद दें।

"आप सबने जीवन-भर मुझे अत्यधिक, निश्छल प्रेम ही दिया है। अत: मैं आप सबका ऋणी हूँ। किसी भी यादव नर-नारी, बालक का अनजाने में भी यदि मेरे हाथों अनादर, अवमान हुआ हो तो वे सब उदार हृदय से मुझे क्षमा करें।

"महायुद्ध के जिस महायज्ञ को प्रज्वलित करने हेतु भ्राता कृष्ण कुरुक्षेत्र जा रहे हैं, उसमें वे अवश्य सफल होंगे। पिछले कई दिनों तक इस महायज्ञ के विषय में उनके सभी विचार मैंने मनःपूर्वक सुने हैं। इस महायुद्ध में वे केवल अर्जुन के निःशस्त्र सारथि के रूप में भाग ले रहे हैं। तब भी मुझे पूरा विश्वास है कि धनुर्धर अर्जुन की सहायता से वे जो भी करेंगे, वह आर्यावर्त की भावी पीढ़ियों के लिए मार्गदर्शक ही प्रमाणित होगा। मुझे पूरा विश्वास है कि जहाँ धनुर्धर अर्जुन और सुदर्शन के स्वामी श्रीकृष्ण होंगे, वहीं धर्म और विजय होगी। आप सब ज्येष्ठ यादव मेरे परमप्रिय भैया को इसके लिए अन्तःपूर्वक शुभाशीर्वाद दें। इस क्षण मैं इडादेवी से प्रार्थना करता हूँ कि उसके कृपाशीर्वाद से मेरे भैया की अँजुली सदा भरी रहे। इति श्रीकृष्णार्पणमस्तु!"

निरन्तर गूँजती तालियों में उनके अन्तिम शब्द किसी को भी सुनाई नहीं दिये। सभागृह में उपस्थित सभी यादव उद्धवदेव के शब्दों का अनुमोदन करते हुए, कृष्णदेव की ओर देखकर अत्यन्त प्रेम और भक्तिपूर्ण घोषणा करने लगे, "जय हो द्वारिकाधीश की जय हो!"

अब सम्पूर्ण राजसभा की आँखें केवल कृष्णदेव पर ही टिकी रहीं। यह वही राजसभा थी जहाँ मैंने कृष्णदेव के सम्बन्ध में घटित कई घटनाएँ देखी थीं। इसी सभागृह में मन्त्री सत्राजित ने उन पर स्यमन्तक मणि के चौर्य का आरोप लगाया था। प्रतिज्ञापूर्वक कृष्णदेव ने वह मणि सत्राजित को इसी राजसभा में लौटायी थी। मणि सहित पलायित हुए अक्रूर को क्षमा कर कृष्णदेव ने इसी राजसभा में गौरवपूर्वक बुलवा लिया था और मन्त्रिपरिषद् में रिक्त रखा उनका स्थान उनको पुनः प्रदान किया था। इसी सभागृह में बलराम भैया को कृष्णदेव के स्वर्णकिरीट में अपने हाथों मोरपंख लगाकर अश्रुपूर्ण आँखों से उनको दृढ़ आलिंगन में लेते देखा था। कंस मामा के कारागृह में यन्त्रणा सहे अपने माता-पिता को द्वारिका के राजसिंहासन पर बिठाकर स्वयं सामान्य आसन स्वीकार करनेवाले सुपुत्र को इस राजसभा ने आँख-भर देखा है।

अन्ततः कृष्णदेव अपने आसन से उठे। उन्होंने तनिक झुककर महाराज वसुदेव, राजमाता देवकीदेवी और उनके पीछे बैठी रोहिणीदेवी को और बलराम भैया-रेवती भाभी को अभिवादन किया। अपनी दृष्टि घुमाकर आचार्य सान्दीपनि को भी उन्होंने प्रणाम किया। अपनी बायीं ओर बैठी रुक्मिणीदेवी पर उन्होंने मुस्कराता दृष्टिक्षेप किया। हाथ जोड़कर मण्डलाकार घूमते हुए उन्होंने घनी पलकों से आच्छादित अपने मत्स्यनेत्र पूरी सभा पर घुमाये। फिर उस श्रीमुख से दो ही शब्द निकले। उन दो शब्दों में इतनी प्रचण्ड सामर्थ्य थी कि सुननेवालों के शरीर के रोएँ खड़े हो गये। पल-भर में ही मृगवर्षा की भाँति अविरत गड़गड़ाती तालियों से सुधर्मा राजसभा गूँज उठी। वे मन्त्रसदृश बोले थे—"जय इडादेवी ऽ।" सम्पूर्ण राजसभा ने पुनः वही जयघोष किया—"जै ऽ जै ऽ इडादेवी!"

दूसरे ही दिन वसुदेव महाराज और दोनों राजमाताओं को प्रणाम करके कृतवर्मा ने कुरुक्षेत्र जाने हेतु द्वारिका छोड़ी। उनके साथ एक अक्षौहिणी सशस्त्र सेना थी। उस सेना में इक्कीस सहस्र आठ सौ सत्तर रथ थे, उतने ही हाथी थे। अश्व और उष्ट्रों की समवेत संख्या थी पैंसठ सहस्र छह सौ दस। ये तीनों दल प्रचण्ड नौकाओं से द्वारिका की खाड़ी पार कर पश्चिम सागर के तट पर उतरे। उनके पीछे-पीछे भाला, खड्ग धारण किये लगभग एक लक्ष नौ सहस्र तीन सौ पचास रणोत्सुक पदाति कोलाहल करते हुए नौकाओं से खाड़ी पार कर उस सेना से जा मिले। अब उस सेना की संख्या दो लक्ष अठारह सहस्र सात सौ हो गयी। उस सेना सहित कृतवर्मा कुरुक्षेत्र की

ओर चले गये। शेष सेना द्वारिका के संरक्षण हेतु प्रद्युम्न और उसके भ्राताओं के साथ द्वारिका में रही। राजसभा में की गयी घोषणा के अनुसार बलराम भैया उद्धवदेव के साथ कुछ गिने-चुने यादवों को लेकर हिमालय की ओर प्रस्थान कर गये। तत्पश्चात् सभी ज्येष्ठों के आशीर्वाद प्राप्त करते हुए, अन्तःपुर में अपनी सभी रानियों से और पुत्र-पुत्रियों से मिलकर कृष्णदेव ने द्वारिका छोड़ी। मैं, दारुक और कुछ विशिष्ट वीर उनके साथ थे। खाड़ी पार कर हम सब पश्चिम सागर के तट पर आ गये। दारुक ने कृष्णदेव का सालंकृत गरुड़ध्वज रथ तैयार रखा था। उस पर लगी गरुड़चिह्नांकित सुनहली काषाय ध्वजा पश्चिम सागर से आती वायु-लहरों से फहरा रही थी। कृष्णदेव की इच्छा के अनुसार यादव-पुरोहित ब्रह्मगार्ग्य आचार्य सान्दीपनि के साथ आगे सोमनाथ के शिव-मन्दिर में गये थे। दान-सत्र के लिए आये कुछ शिव-भक्त ऋषि-मुनि अब तक उस मन्दिर में पड़ाव डाले हुए थे। महारुद्राभिषेक हेतु सोममाथ के मन्दिर में द्वारिकाधीश के आने का समाचार पाकर वे बहुत उत्साहित हुए। सबने मिलकर महारुद्राभिषेक की पूरी तैयारी कर रखी थी। दारुक हमारे रथ को सोमनाथ ले आया। पूरी यात्रा में छाया की भाँति कृष्णदेव के साथ रहने का दायित्व अब मेरा था। हम शिव-मन्दिर के गर्भगृह के आगे के प्रांगण में आ गये। कृष्णदेव ने मोरपंख से शोभित किरीट धारण किया–अपना मस्तक ऊपर उठाकर छत से टँगा घण्टा बजाया। उसका नाद शिवालय में गूँजकर सागर-गर्जन में विलीन हो गया। कृष्णदेव पैरों के पास ही स्थित कछुए की चिकनी पाषाण-मूर्ति के पास रुक गये। अपना आजानुबाहु मेरे कन्धे पर रखकर उन्होंने कहा, "सात्यकि, मनुष्य को सदैव इस कछुए का आदर्श अपने समक्ष रखना चाहिए। जिस प्रकार अपने पैरों को अपने शरीर के भीतर समेटकर स्थितप्रज्ञ भाव से वह शिव-चरणों में बैठा है, उसी प्रकार अपने काम-क्रोधादि षड्रिपुओं को समेटकर, स्थितप्रज्ञ होकर, विशुद्ध मन से ताण्डव करनेवाले शिव के दर्शन करने जाना चाहिए।" गर्भगृह के मुख पर खड़े ब्रह्मगार्ग्य, आचार्य सान्दीपनि आदि ऋषि-मुनि कृष्णदेव को देखकर आदर सहित आगे आये। तनिक झुककर कृष्णदेव सबके साथ गर्भगृह में गये। स्वर्ण विलेपित अभिषेक पात्र से झरती जलधारा के नीचे वज्रलेप की हुई चिकनी शिव-पिण्डी चमक रही थी। दोनों हाथों से पीताम्बर को सँवारते हुए द्वारिकधीश पिण्डी के आगे चौकोर आसन पर बैठ गये। ब्रह्मगार्ग्य, आचार्य सान्दीपनि आदि ऋषि-मुनियों ने वेद-वर्णित शिव-स्तवन आरम्भ किया। कृष्णदेव ने अपनी देह की बहत्तर सहस्र धमनियों को नियन्त्रित करके शिव-ध्यान किया। मैं और दारुक गर्भगृह के एक कोने में हाथ जोड़कर आँखें मूँदकर खड़े हो गये। रोमांचित कर देनेवाले शिव-स्तवन से गर्भगृह गूँजने लगा–

"पशूनां पतिं पापनाशं परेशं गजेन्द्रस्य कृतिं वसानं वरेण्यम्
गिरीशं गणेशं गले नीलवर्णं गवेन्द्रादिरूढं गुणातीत रूपम्–
शिवाकान्त शम्भो शशांकार्धमौले,
महेशान शूलिन् जटाजूट धारिन्–
त्वमेको जगद् व्यापको विश्वरूप
प्रसीद प्रसीद प्रभो पूर्ण रूप..."

वहाँ उपस्थित सभी शिव-भक्तों में महारुद्राभिषेक का प्रसाद बाँटा गया। मन्दिर के बाहर उपस्थित दर्शनार्थियों को दान दिये गये। वहाँ से हम आनर्त के नागेश्वर शिव-मन्दिर में आये। वहाँ

भी महारुद्राभिषेक कर उपस्थितों को प्रसाद और दान दिये गये। इन दोनों पूजाओं के पश्चात् कृष्णदेव का सात्त्विक मुखमण्डल कुछ अलग ही दिखने लगा। अभिषेक की जलधारा के नीचे नहाये शिव-पिण्डी के समान वह सतेज दिखने लगा। ध्यान से देखने पर मुझे स्पष्ट प्रतीत हुआ कि उनका मूलत: नीलवर्णी कण्ठ और भी अधिक ही नीलवर्णी दिखने लगा है।

वैसे हमारा यह दल बहुत बड़ा नहीं था। मार्ग में आनेवाले राज्यों के प्रजाजनों को जाने कैसे कृष्णदेव के आने की भनक मिलती थी। मार्ग में आते अवन्ती, भोजपुर, दशार्ण आदि राज्यों के नगरवासियों के झुण्ड-के-झुण्ड उनके दर्शनार्थ आया करते थे। हमारा पहला पड़ाव भोजपुर में पड़ा। अवन्ती राज्य में हमने जानबूझकर ही पड़ाव नहीं डाला था। अवन्ती के विन्द-अनुविन्द मित्रविन्दादेवी के सहोदर और कृष्णदेव के फुफेरे भ्राता थे। किन्तु इस युद्ध में वे कौरवों की ओर से भाग ले रहे थे। एक अक्षौहिणी सशस्त्र सेना सहित वे कब के कुरुक्षेत्र की ओर चले गये थे।

हमारा दूसरा पड़ाव दशार्णों के राज्य में पड़ा। दशार्ण पाण्डव पक्ष की ओर से युद्ध में उतरनेवाले थे। वे भी कुरुक्षेत्र चले गये थे। मत्स्यराज विराट भी अपने पुत्र श्वेत, उत्तर, शतानीक, वसुदान के साथ ससैन्य कुरुक्षेत्र पहुँच गये थे।

वह मार्गशीर्ष के शुक्ल पक्ष का अन्तिम सप्ताह था। वातावरण में अब भी थोड़ा शैत्य था। कार्तिक महीने के समाप्त होते-होते हमारे विशेष रथदल ने कृष्णदेव के साथ कुरुक्षेत्र में प्रवेश किया। हम जहाँ से आये उस दिशा में कौरवों का भव्य, संयुक्त सैन्य शिविर था। उसी मार्ग से रथ हाँकने के लिए हम विवश थे। कृष्णदेव के आने का समाचार कानों-कान समस्त कौरव सेना में फैल गया। यह दृश्य बड़ा दुर्लभ था कि शीघ्र ही सारथि बनकर एक प्रमुख वीर के रथ पर आरूढ़ होनेवाले एक नि:शस्त्र व्यक्ति के दर्शन करने हेतु कौरव-सेना के सहस्रों योद्धा हमारे रथों के दोनों ओर भीड़ लगा रहे थे, जिसके कारण हमारे रथ बहुत ही धीमी गति से पाण्डव-शिविर की ओर जा पा रहे थे। जाते-जाते दूर-दूर तक फैली कौरव-सेना पर केवल दृष्टि डालकर ही कृष्णदेव ने अनुमान लगाया था। उन्होंने मुझसे कहा, "सात्यकि, निश्चय ही यह कौरव-सेना दस अक्षौहिणी से अधिक है। सुसंगठित दिख रही है। उसका प्रतिदिन का व्यायाम भी प्रचलित हुआ दिख रहा है। पाण्डवों के लिए यह युद्ध जीतना जितना सरल लगता है, उतना सरल होगा नहीं!"

उनके संकेत से चिन्तित होकर मैं भी कौरव-शिविर का निरीक्षण सूक्ष्म दृष्टि से करने लगा। हमारे सारथि दारुक को एक भव्य शिविर के आगे गरुड़ध्वज को रोकना ही पड़ा। वह शिविर था कौरव-सेनापति बने पितामह भीष्म का। वे अपने विशिष्ट सेवकों सहित मार्ग में ही खड़े थे। कवच और रणवेशधारी पितामह को देखते ही कृष्णदेव शीघ्रता से रथ से नीचे उतरे। उनकी चरणधूलि लेने हेतु वे झुकने लगे। किन्तु ऐसा करने से उन्हें रोकते हुए पितामह ने झट से आलिंगन में ले लिया। वे बुदबुदाये, "हे वासुदे ऽ व! अब कुरुक्षेत्र पर यदि मेरा देहपतन हो जाए—तब भी कोई चिन्ता नहीं है। सर्वप्रथम तेरे दर्शन हो गये! कौरवों ने मुझे सेनापति पद पर अभिषिक्त किया है। आज मैं रथी-महारथियों की नियुक्ति करने जा रहा हूँ।"

पितामह से विदा लेकर हम अपने पाण्डव-शिविर में आ गये। यहाँ भी कृष्णदेव के आगमन का समाचार सर्वत्र फैल गया। जिस किसी ने कृष्णदेव के आने की सूचना सुनी, वह अच्युत-दर्शन करने हेतु गरुड़ध्वज के पास दौड़ा चला आया। कवच और शिरस्त्राण धारण किये सशस्त्र पाण्डव-सैनिक गरुड़ध्वज के चारों अश्वों के पैरों में धड़ाधड़ लोटने लगे। अन्त में तो सैनिकों के नियन्त्रण

से बाहर हुई भीड़ के कारण दारुक के लिए रथ हाँकना ही असम्भव हुआ। उसने अपना रथ रोक दिया। कृष्णदेव रथ से नीचे–कुरुक्षेत्र की भूमि पर उतरे। उनके मुख पर शतकोटि सूर्यों की दीप्ति बिखरी थी। उस पर दृष्टि ठहर ही नहीं रही थी। उनके दर्शनमात्र से उमड़ पड़े यादव-पाण्डव-सैनिक एक-दूसरे से ठेलमठेल करते हुए उनके चरणों में लोटने लगे। उन उत्साही सैनिकों की इतनी भीड़ थी कि कृष्णदेव के स्वागत के लिए आये पाँचों पाण्डव, धृष्टद्युम्न उन तक पहुँच नहीं पा रहे थे। वे सभी महायोद्धा भीड़ के कारण एक कोने में अवरुद्ध-से हो गये थे। मैं और मेरे साथी अपने-अपने खड्ग इस प्रकार निकालते हुए मानो हम युद्ध में ही उतर रहे हैं, अपने ही सैनिकों को नियन्त्रित करने लगे। अपने चरणों में लोटनेवाले यादव-पाण्डव-सैनिकों को मुस्कराकर, उनके नामों से सम्बोधित करते हुए, थपथपाते हुए कृष्णदेव एक-एक पग ही आगे रख सकते थे।

जैसे-तैसे वे पाण्डवों तक पहुँचे। ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर को देखकर वे उनको प्रणाम करने हेतु झुकने लगे, किन्तु युधिष्ठिर ने ऐसा करने से उन्हें रोककर अपने दृढ़ आलिंगन में ले लिया। उनके दर्शनमात्र से ही नागफनी के रक्तपुष्प जैसे खिले मुखवाले महाकाय भीमसेन को भी कृष्णदेव ने आलिंगन में लिया। अब तक धनुर्धर अर्जुन और धृष्टद्युम्न सहित अन्य पाण्डवों ने और अनेक योद्धाओं ने कृष्णदेव की चरणधूलि मस्तक पर धारण की थी। अन्तत: सभी योद्धाओं के साथ पाण्डव-सेना के केन्द्र में स्थित, कृष्णदेव के लिए बनाये गये सबसे ऊँचे, भव्य शिविर में आ गये। वहाँ महाराज विराट और द्रुपद उपस्थित थे। कृष्णदेव ने नम्रतापूर्वक उनको प्रणाम किया।

हमने तनिक विश्राम और फलाहार किया। मार्गशीर्ष वद्य प्रतिपदा की सन्ध्या कुरुक्षेत्र पर उतर आयी। कृष्णदेव के भव्य शिविर में इडादेवी की पूर्वाभिमुख मूर्ति खड़ी की गयी थी। अब जितने भी दिन यह युद्ध चलनेवाला था, पाण्डव पक्ष के सभी सूत्रों का संचालन इसी शिविर से होनेवाला था। इसी शिविर में चुनिन्दा रथी, महारथी, अतिथियों की उपस्थिति में इडादेवी को रक्तवर्णी पुष्प अर्पित कर पाण्डवों की पहली युद्ध-बैठक आरम्भ की गयी। बैठक में पितामह भीष्म कौरवों के सेनापति हैं, इस बात को ध्यान में रखते पाण्डवों के सेनापति का चयन किया जानेवाला था। बैठक के मध्य व्याघ्रचर्म बिछाये एक ऊँचे स्वर्णासन पर यादवराज श्रीकृष्ण आसनस्थ हो गये। उनकी दाहिनी ओर धरती पर बिछाये गये आस्तरण पर–पांचालराज द्रुपद, मत्स्यराज विराट, धृष्टद्युम्न और युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल-सहदेव–ये पाँचों पाण्डव बैठे थे। बायीं ओर मैं, धृष्टकेतु, चेकितान, जयसेन, पाण्ड्य मलयध्वज, पांचालों के उत्तमौजा, व्याघ्रदत्त, सिंहसेन, सत्यजित, शिखण्डी, विराटों का उत्तर और उसके भ्रात श्वेत, शतानिक, वसुदान और उनके समीप पौरवराज, मालवराज ऐसे अनेक योद्धा बैठे थे। उन्होंने अपने लिए लगाये गये आसनों को नकारकर स्वेच्छा से ही कृष्णदेव के चरणों में आस्तरण पर ही बैठना स्वीकार किया था। पूजा के स्वर्णथाल में रखे इडाप्रिय रक्तवर्णी पुष्पों और बिल्वदलों से कृष्णदेव ने अपनी अँजुली भर ली। समीप ही बैठे युधिष्ठिर ने तत्परता से उठकर कुंकुम-गन्ध अर्पित किया। दोनों ओर बैठे योद्धाओं की पंक्तियों में से मन्द गति से जाते हुए कृष्णदेव ने अँजुली में लिये बिल्वपत्र और पुष्प इडादेवी के चरणों में अर्पित किये। दोनों हाथ जोड़कर अपने नेत्र बन्द करते हुए वे बुदबुदाये–"ॐ भूर्भुवः स्व: तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो न: प्रचोदयात्!!"

देवी को पीठ न दिखाते हुए पीछे-पीछे आकर सब पर अपनी कृष्णदृष्टि घुमाकर वे अपने उच्चासन पर आसीन हुए। पाण्डवों के सेनापति के चयन की महत्त्वपूर्ण बैठक आरम्भ हुई। पूजा के थाल में रखे कुंकुम में से चुटकी भर कुंकुम लेकर कृष्णदेव ने उसे बैठक पर बिखेर दिया। अपनी

गुलाबी तर्जनी और अँगूठे पर चिपके कुंकुम पर उन्होंने हल्की-सी फूँक मारी। वे मुस्कराये। उनके दाहिनी ओर के दाँत चमक उठे। धीरे-से उन्होंने बैठक का आरम्भ किया–"जो हमारी सात अक्षौहिणी सेना का समर्थ नेतृत्व कर सके, ऐसे वीर पुरुष का आप सब सर्वसम्मति से, चयन करें। इस विषय में जिसे जो कुछ लगता है, खुले मन से कहे। इस बात का ध्यान रखा जाए कि यह चयन अनगिनत योद्धाओं के प्राणों से सम्बन्धित है। इस सेनापति के मातहत अन्य छह विभाग-प्रमुखों का चयन भी इसी समय करना है।"

बैठक अब एकदम गम्भीर हो गयी। कुछ क्षण ऐसे ही व्यतीत हुए। फिर सबसे पहले सहदेव बोलने लगा–"अज्ञातवास के कठिन परीक्षा के समय में महाराज विराट ने हमारी अनमोल सहायता की है। एक अक्षौहिणी सेना सहित वे हमारा साथ दे रहे हैं। मुझे लगता है, हमारी सेना का सेनापत्य महाराज विराट को सौंपा जाए।"

उस पर बैठक में कानाफूसी होने लगी। उसे बढ़ने का अवसर ही न देते हए स्वयं महाराज विराट ही ने कहा, "किसी भी प्रकार का दायित्व लेने से मैं झिझकता नहीं हूँ। किन्तु मुझे लगता है कौरव-सेना के सेनापति पितामह भीष्म हैं, इस बात को ध्यान में रखते हुए बैठक सेनापति पद के लिए किसी युवा योद्धा का चयन करे। अपने अनुभवों का लाभ देने के लिए, कठिन समय पर सावधानी का संकेत देने के लिए वृद्ध व्यक्ति योग्य होते हैं, प्रत्यक्ष युद्धकर्म के लिए नहीं।"

उनके इस कठोर-स्पष्ट कथन पर कृष्णदेव मुस्कराये। सदैव की भाँति नटखटपन से उन्होंने कहा, "तब वृद्ध पितामह भीष्म को सेनापति पद दिलाने में क्या कौरव चूक गये हैं? मुझे ऐसा नहीं लगता। तुम्हें क्या लगता है नकुल?" उन्होंने अपने प्रश्न को नकुल की ओर मोड़ दिया। तत्परता से उठकर उत्तरीय को सँभालते हुए नकुल ने कहा, "हे द्वारिकाधीश, वस्तुत: हमारी सेना का सेनापत्य आप ही को करना चाहिए था। किन्तु आपने तो प्रतिज्ञापूर्वक युद्ध-संन्यास लिया है। शस्त्र-त्याग किया है। आप तो केवल अर्जुन के नन्दिघोष रथ का निःशस्त्र सारथ्य करने जा रहे हैं। मुझे लगता है इन स्थितियों में जिनकी संख्या हमारी सेना में सर्वाधिक है, उन पांचालों के नेता इस दायित्व को स्वीकार करें। महाराज द्रुपद हमारी सेना का सेनापत्य करें।"

यह सुनकर वृद्ध, अनुभवी महाराज द्रुपद ने कहा, "सेनापति पद का भार वहन करने की योग्यता क्या पाण्डवों के भीमसेन अथवा अर्जुन में नहीं है? केवल सैनिकों की संख्या ही सेनापति के चयन का अन्तिम निकष न हो। भीमसेन को सेनापति पद पर अभिषिक्त करने में क्या आपत्ति है?"

द्रुपदराज की सूचना विचार करने को बाध्य करनेवाली थी। बैठक इस पर विचार करने भी लगी। कुछ क्षण बाद स्वयं भीमसेन ने ही उठकर कहा, "पितामह कौरव-सेनापति हैं, अत: हमारे सेनापति पद पर शिखण्डी को ही अभिषिक्त करना मुझे उचित लगता है।"

अब अनुकूल-प्रतिकूल विचारों की सुनाई देनेवाली मुखर फुसफुसाहट बैठक में मचने लगी। मुझे तीव्रता से लगने लगा कि इस समय कृष्णदेव ही को बोलना चाहिए। युद्धनीति का विचार करते हुए पाण्डवों के सेनापति पद के लिए जो नाम वे सुझाएँगे वही उचित होगा। इस विषय में मेरे मन में तनिक भी शंका नहीं थी। वे बड़े अन्तर्यामी थे। सम्भवत: मेरे मन के विचारों को उन्होंने अपनी छठी इन्द्रिय की सहायता से ताड़ लिया, और मेरी ओर सहेतुक देखकर उन्होंने कहा, "सभी आयामों से विचार करें तो हमारे सात्यकि और पाण्डव धनुर्धर अर्जुन पाण्डव-सेना का

सेनापत्य करने योग्य हैं। किन्तु–किन्तु युद्ध में अन्तिम विजय ही महत्त्वपूर्ण होती है अन्य सभी बातें गौण होती हैं। जिस प्रकार प्रेम में सब-कुछ क्षम्य होता है। इन सब बातों पर विचार करने पर मुझे लगता है, युवा पांचाल-युवराज धृष्टद्युम्न को ही सेनापति बनाया जाए।

यह सुनकर मुझसे रहा नहीं गया। कण्ठनाल फुलाकर समस्त बैठक को प्रेरणा देते हुए मैंने गर्जना की–"पाण्डव-सेनाधिपति पांचाल युवरा ऽ ज धृष्टद्यु ऽ म्न ऽ" बैठक में उपस्थित सभी योद्धाओं ने मेरे जयघोष को पूरा किया–"की ऽ जय ऽ...की जय!"

महारथी धृष्टद्युम्न उठ खड़ा हुआ। उत्तरीय के दोनों छोरों को हाथों में थामकर उसने कृष्णदेव को साष्टांग दण्डवत् किया। कृष्णदेव अपने आसन से उठे। धृष्टद्युम्न के किरीट पर लम्बी-लम्बी अँगुलियोंवाला अपना नीलवर्णी हाथ रखते हुए वे बुदबुदाये–"विजयी भव। देवी इडा पुनातु अस्मान्!" बैठक में उपस्थित सभी महावीरों ने 'पाण्डव-सेनापति–पांचाल युवरा ऽ ज धृष्टद्युम्न ऽ की जय...की जय...' का निरन्तर जयघोष करते हुए सर्वसम्मति से 'सेनापति' को स्वीकार किया। उस जयघोष को सुनकर यज्ञपुत्र धृष्टद्युम्न का मुखमण्डल यज्ञाग्नि की भाँति दहक उठा। वक्ष फूलने से उसका लौहत्राण वक्ष पर और भी कस गया। धृष्टद्युम्न के आरक्त भाल पर स्वेद-बिन्दु उभर आये।

उसकी दोनों भुजाओं को थामकर उसे ऊपर उठाते हुए, उसकी आँखों की गहराई में झाँककर कृष्णदेव ने उसे वक्ष से लगाते हुए दृढ़ आलिंगन में ले लिया। उत्तेजित होकर मैंने ही पुन: घोषणा की–"यादवराज भगवा ऽ न वा ऽ सुदे ऽ व की जय हो ऽ जय हो...जय हो!"

पाण्डव-सेनापति के रूप में चुने गये धृष्टद्युम्न ने नम्रतापूर्वक पिता द्रुपद और राजा विराट को भी प्रणाम किया। युधिष्ठिर के आज्ञा देते ही, पाण्डव-सैनिक मत्स्यों के कुशल स्वर्णकारों द्वारा कई दिनों के परिश्रमों से बनाये सेनापति के स्वर्ण-आसन को शिविर के आगे ले आये। धौम्य मुनि के मत्स्य-पुरोहित की सहायता से तैयार किये गये, अभिषेक-विधि की वस्तुओं से भरे थाल शिविर के आगे लाये गये। सभी लोग शिविर से बाहर आ गये। धृष्टद्युम्न की एक ओर मुनिवर धौम्य और दूसरी ओर मत्स्य-पुरोहित हो गये। उन्होंने प्रथम यज्ञाग्नि प्रज्वलित की। उसमें विविध समिधाओं की आहुतियाँ अर्पित कीं। तत्पश्चात् उन्होंने पाण्डव-सेनापति से सेनापति का सिंहासन स्वीकार करने की प्रार्थना की। अपने दाहिने पैर के तलवे का सिंहासन को स्पर्श न हो, इसकी सावधानी रखते हुए धृष्टद्युम्न सिंहासन पर आसीन हुआ। दोनों आचार्यों के शिष्यगणों द्वारा किये गये मन्त्रघोष के साथ यज्ञकुण्ड में आहुतियाँ पड़ने लगीं। गंगा-सिन्धु-यमुना आदि सात नदियों का अभिमन्त्रित पवित्र जल आचार्यों के हाथों, स्वर्ण कुम्भों से पाण्डव-सेनापति के मस्तक पर सींचा जाने लगा। उस पावन जल से महावीर धृष्टद्युम्न को स्नान कराया गया। भीगे वस्त्रों से ही उसने पुन: एक बार कृष्णदेव और अन्य ज्येष्ठों से आशीर्वाद प्राप्त किये। वह समीप के ही अपने शिविर में सेनापति का विशिष्ट वेश धारण करने हेतु चला गया। सेवकों ने सूखे वस्त्र से सेनापति का आसन स्वच्छ पोंछ लिया और उसे पूर्वाभिमुख रखा। उसके दोनों ओर प्रमुख वीरों के स्वर्णासन रखे गये। कृष्णदेव की सूचना के अनुसार सेनापति की दाहिनी ओर चन्दनकाष्ठ का एक आसन रखा गया था। वह उनके अपने लिए था।

शिविर के बाहर की वह सेना-बैठक अब विधिवत् सेनापति के हाथ में चली गयी। धृष्टद्युम्न ने आसन पर बैठकर ही दोनों हाथ जोड़कर कृष्णदेव से विनती की, "सात अक्षौहिणी पाण्डव-

सेना का सेनापति होने के नाते मैं द्वारिकाधीश से प्रार्थना करता हूँ कि वे हमारी सेना के सातों विभाग-प्रमुखों के नाम घोषित करें!" मैंने गर्व से सेनापति धृष्टद्युम्न की ओर देखा। कृष्णदेव से यह प्रार्थना कर निःसन्देह वह सेनापति के नाते अपनी योग्यता को प्रमाणित कर रहा था। मुस्कराते हुए कृष्णदेव अपने आसन से उठे और इसके बाद प्रत्येक पाण्डव-सैनिक को किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, इसका आदर्श पाठ प्रस्तुत करते हुए कहने लगे–"अपने सेनापति के आदेश के अनुसार मैं अपने सात विभाग-प्रमुखों के नाम घोषित करने जा रहा हूँ। हमारी सेना सात अक्षौहिणी है। इनमें से पांचालों की पहली अक्षौहिणी सैन्य का नेतृत्व करेंगे स्वयं सेनापति महारथी धृष्टद्युम्न। पांचालों की दूसरी अक्षौहिणी का नेतृत्व करेंगे पांचालराज द्रुपद। तीसरी अक्षौहिणी के प्रमुख होंगे मत्स्यराज विराट। चौथी अक्षौहिणी सेना महावीर शिखण्डी की आज्ञा में रहेगी। पाँचवीं अक्षौहिणी–जिसमें हमारे यादव वीर अधिक संख्या में हैं–का नेतृत्व करेंगे हमारे यादव सेनापति, आजानुबाहु–महारथी सात्यकि अर्थात् युयुधान। छठी अक्षौहिणी महारथी चेकितान के अधीन रहेगी। सातवीं अक्षौहिणी अर्थात् हमारे उड़ान दल का नेतृत्व करेगा हमारा महारथी-महावीर-महाबली भीमसेन। श्येन पक्षी की भाँति वह रणभूमि पर निर्बाध, मुक्त संचार करेगा।"

भीमसेन ने पूजा का थाल उठाकर सब वीरों के माथे पर तिलक लगाया–और इस प्रकार सेनापति के अभिषेक का आयोजन समाप्त हुआ।

मैं और कृष्णदेव जलते पलीतों के प्रकाश में, विशिष्ट सशस्त्र यादव-योद्धाओं सहित पाण्डव-शिविर के पार्श्व विभाग की ओर चलने लगे। यहाँ पाण्डवों के रनिवास के शिविर थे। हम माता कुन्तीदेवी के शिविर में आ गये। द्रौपदीदेवी भी वहाँ उपस्थित थीं। उनके पास भीमसेन, अर्जुन की अन्य पत्नियाँ भी बैठी थीं। शिविर के अन्दर जाते ही कुन्तीदेवी की चरणधूलि लेने हेतु द्वारिकाधीश झुकने लगे। पितामह की ही भाँति उनको अपने दृढ़ आलिंगन में लेते हुए पाण्डव-माता ने कहा, "हे कृष्ण, मेरे अर्जुन पर तूने सेनापति पद का बोझ नहीं डाला, यह बहुत अच्छा किया। अपना पराक्रम दिखाने के लिए उसे सदैव मुक्त ही रहना चाहिए था और तूने उसे मुक्त ही रखा। सचमुच मुझे मन-ही-मन लगता है कि जहाँ तू और अर्जुन होगा, वहीं धर्म और विजय होगी।"

कृष्णदेव ने द्रौपदीदेवी से कुशल-क्षेम पूछा। सुभद्रादेवी के मस्तक पर प्रेमपूर्वक अपना हाथ रखते हुए आशीर्वाद दिया–"आयुष्मती भव।"

सबसे विदा लेकर, सभी शस्त्रागारों का निरीक्षण कर हम पुन: कृष्णदेव के शिविर में आये। अन्दर आते ही कृष्णदेव ने एक विशेष कार्य मुझको सौंपा–"सात्यकि, हमने सर्वसम्मति से धृष्टद्युम्न को अपना सेनापति चुना है, यह बात तुम स्वयं जाकर कुरु-सेनापति भीष्म से कह दो।"

जलते पलीतों को लिये दो सैनिकों को साथ लेकर मैं कौरव-सेना के बीच पितामह भीष्म के शिविर की ओर चला गया। शिविर के द्वार पर ही नग्न खड्गधारी प्रहरी ने मुझे रोका। मुझे लगा कुरु-सेनापति के शिविर में अभी-अभी कुछ गरमा-गरमी हुई है। अंगराज कर्ण के अस्पष्ट-से शब्द मुझे सुनाई दिये, "जब तक मुझे अर्धरथी कहनेवाले इस वृद्ध अहंकारी भीष्म का रणभूमि में पतन न हो, मैं युद्ध में नहीं उतरूँगा! मैं अपने शिविर में सूर्याराधना करता रहूँगा।"

उन शब्दों के पीछे-पीछे कुरु-सेनापति के शिविर से निकला दिग्विजयी अंगराज कर्ण मेरे आगे ही तीव्रता से अपने शिविर की ओर चला गया। मैंने कुतूहल से सेनापति भीष्म के शिविर में प्रवेश किया। वहाँ उपस्थित राजाओं और महावीरों की कानाफूसी से मैं सारी बातें जान गया।

पितामह भीष्म ने कौरव पक्ष के महारथी, रथी, अर्धरथी योद्धाओं की नामावली अभी-अभी घोषित की थी। भगवान परशुराम से ब्रह्मास्त्र प्राप्त किये दिग्विजयी अंगराज कर्ण का उल्लेख उन्होंने एक अर्धरथी के रूप में किया था। कर्ण को यह बात अत्यन्त अनुचित लगी थी। मुझे भी यह बात बुरी लगी थी। अपेक्षा के अनुसार ही कर्ण की प्रतिक्रिया एकदम ठीक थी। अवमानिक कर्ण 'जब तक भीष्म धराशायी नहीं होते, मैं युद्ध में भाग नहीं लूँगा। उनके अधीन मैं नहीं लड़ूँगा। कहकर वहाँ से चला गया था।

पितामह भीष्म से मिलकर उनको पाण्डव-सेनापति के नियुक्त होने की सूचना देकर मैं सीधे कृष्णदेव के शिविर में लौट आया। वहाँ जो घटना घटी थी, वह मैंने उन्हें बतायी। तब चैन की साँस लेते हुए उन्होंने कहा, "कर्ण युद्धभूमि से विमुख हुआ, ये तो अर्जुन के लिए शुभ समाचार है। यही स्थिति तैयार करने के लिए मैंने बहुत चेष्टा की थी। अमात्य वृषवर्मा द्वारा मैंने पितामह को सन्देश भिजवाया था कि 'कौरव-सेना में महारथी कर्ण के अतिरिक्त कोई अन्य महारथी मुझे दिखाई नहीं दे रहा है। आपकी सेना हमारे महारथियों के आगे टिक नहीं पाएगी। मेरी अपेक्षा के अनुसार ही पितामह ने मेरे सन्देश को ग्रहण किया है। मेरे एक वचन का पालन उन्होंने किया है। सम्भवत: भविष्य में मुझे भी उनके वचन का पालन करना होगा। देखें, उस समय इडादेवी कैसी बुद्धि देती है!" उनका यह कथन बड़ा गहन था। मैं कुछ समझ नहीं पाया। मैं कुछ पूछने ही वाला था कि मुझे किसी और ही मोड़ पर ले जाते हुए उन्होंने कहा, "चलो यादव-सेनापति, अपनी सात अक्षौहिणी सेना का, सभी प्रमुख योद्धाओं का कुशल पूछकर आते हैं।" उन्होंने मुझसे दारुक को बुला लाने को कहा। मैं दारुक को उनके शिविर में बुला लाया। वे दारुक को, अश्वों सहित अपने गरुड़ध्वज रथ को कुरुक्षेत्र पर क्यों ले आये हैं, इसका ज्ञान मुझे अब हुआ। उन्होंने दारुक से कहा, "कल तुम्हें मेरे चारों अश्वों को भलीभाँति खरहराकर, दाना-पानी खिलाकर, उन्हें सजाकर अर्जुन के नन्दिघोष रथ में जोतना है। यद्यपि उसके रथ के चारों अश्व मेरे गरुड़ध्वज अश्वों के समान ही शुभ्र-धवल हैं, किन्तु मुझे उनका और उन्हें मेरा अभ्यास नहीं है। कल से कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि पर भूलकर भी मुझे आभास नहीं होना चाहिए कि मैं नन्दिघोष पर आरूढ़ हूँ। मुझे अपने गरुड़ध्वज को ही हाँकने की प्रतीति होनी चाहिए कि मैं गरुड़ध्वज पर हूँ।" उस कृष्ण-कल्पना-विलास को मैं चकित होकर सुनता रहा। जो उन्हें सूझता था, जो उनके लिए नितान्त सरल था, वह अच्छे-अच्छों को बरसों की साधना के बाद भी साध्य नहीं हो पाता।

हाथ जोड़कर खड़े दारुक को उन्होंने सतर्कता से सूचनाएँ दीं–"अब हमें सात्यकि सहित सेना के सर्वेक्षण के लिए चलना है। किन्तु इस समय हम अर्जुन के ही नन्दिघोष रथ से जाएँगे। तब तक हमारे श्रान्त हुए अश्व विश्राम करेंगे। मैं तुम्हें कुरुक्षेत्र पर होनेवाला युद्ध देखने हेतु अपने साथ नहीं लाया हूँ। नन्दिघोष और गरुड़ध्वज–दोनों रथों की देखभाल करने के लिए मैं तुम्हें यहाँ लाया हूँ। जिस प्रकार तुम पर निर्भर होकर मेरे प्रिय अश्व शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक विश्राम करेंगे, उसी प्रकार मैं भी करूँगा। दुर्योधन ने मेरे समक्ष यह शर्त तो नहीं रखी है कि मैं अपने रथ और सारथि को युद्धभूमि पर न ले जाऊँ!"

एक-एक शब्द के पीछे छिपे उनके बुद्धि-वैभव से चकित होकर मैं उनकी ओर देखता ही रह गया।

दारुक ने 'आज्ञा स्वामी' कहते हुए कुछ ही समय में अर्जुन का कपिध्वजधारी सालंकृत नन्दिघोष रथ लाकर हमारे शिविर के आगे खड़ा कर दिया। मैं, कृष्णदेव, अर्जुन और धृष्टद्युम्न उस पर आरूढ़ हो गये। दारुक ने नन्दिघोष को दौड़ाया। मध्यरात्रि तक हमने अपने सभी सेनादलों का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया।

मध्यरात्रि में कृष्णदेव अपने शिविर के शयनागार में चले गये। कुछ ही समय बाद उनके कक्ष से आते ईश-स्तवन के बोल मुझे सुनाई दिये–'ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्...'।

मैं उनके शिविर से निकला। दूर कुरुसेना-शिविर में जलते पलीते इधर-उधर नाचते हुए दिखाई दे रहे थे। सम्भवत: कौरव-सेनापति पितामह भीष्म अपनी ग्यारह अक्षौहिणी सेना की देखरेख कर अपने शिविर में अभी-अभी लौटे हों। अपने प्रमुख योद्धाओं के साथ वे कल की व्यूह-रचना के विषय में विचार-विमर्श कर रहे हों। पाण्डव-सेना की कल की व्यूह-रचना का सम्पूर्ण दायित्व कृष्णदेव ने धृष्टद्युम्न को सौंपा था।

मैं अपने शिविर में आया। पाण्डव-यादवों के सम्मिश्र सैनिकों की एक अक्षौहिणी सेना का यह शिविर था। द्वारिकाधीश से अनुज्ञा प्राप्त कर कई यादव-सैनिक मेरे नेतृत्व में युद्ध करने हेतु स्वेच्छा से पाण्डव पक्ष में उपस्थित हुए थे। मेरी सेना का बलस्थान था हमारा बलिदानी दल। कौरव-सेना में ऐसे संशप्तक दल थे। कृतवर्मा की सेना के साथ ही वे कुरुक्षेत्र में आये थे। उनकी संख्या कुछ सहस्र थी।

मेरे शिविर के निकट ही सेनापति धृष्टद्युम्न का शिविर था। रात-ही-रात में अन्य पाँच विभाग-प्रमुखों के शिविर भी सेनापति के शिविर के आसपास खड़े किये गये थे। आरम्भिक व्यूह-रचना, सेना की तत्पर गतिविधियाँ और आवश्यकता पड़ने पर विभाग-प्रमुखों की बैठकें तत्काल आयोजित करने हेतु शिविरों की रचना की गयी थी। विभाग-प्रमुखों के मूल शिविर उनके अपने-अपने सेना-विभाग में थे ही। मध्यरात्रि व्यतीत होने के बाद हमारे सेनापति के शिविर की ओर से कुछ कोलाहल सुनाई देने लगा। शिनि, अवगाह आदि कुछ ही योद्धाओं को लेकर मैं वहाँ गया। शिविर के द्वार पर ही सेनापति खड़े थे और उनके आलिंगन में था प्रत्यक्ष दुर्योधन-बन्धु युयुत्सु! धृतराष्ट्र का दासीपुत्र युयुत्सु रात-ही-रात में स्वयं निर्णय से कौरवों के अन्यायी पक्ष को छोड़कर पाण्डव पक्ष में उपस्थित हुआ था। रणवेश और शस्त्र प्रदान कर धृष्टद्युम्न उसे आदर सहित अपने शिविर में ले गया। मैंने भी जाकर उससे कुशल-क्षेम पूछा। उसके साथ उसके कुछ सैनिक भी आये थे। हम तीनों का वार्त्तालाप और फलाहार हो ही रहा था कि अश्वदल के टापों की आवाजें धीरे-धीरे बढ़ती हुई हमारे सेनापति के शिविर के आगे ही आकर रुक गयीं। हम तीनों अपने खड्गों पर मुट्ठियाँ कसते हुए तपाक से खड़े हो गये और शिविर के द्वार की ओर देखने लगे। हमारे सेनापति के रक्षकदल के घेरे में नागफनी के रक्तवर्ण पुष्प की भाँति आरक्त, भरे हुए मुखमण्डल वाले एक वीर योद्धा ने प्रवेश किया। वह भोजकटक से आया सात्वतवंशीय रुक्मि था–रुक्मिणीदेवी का भ्राता–श्रीकृष्णदेव का श्यालक। शिविर के बाहर उसके भ्राता रुक्मबाहु, रुक्ममाली, रुक्मकेश, रुक्मरथ खड़े थे। वे कृष्णदेव के नेतृत्व में पाण्डव पक्ष की ओर से इस महायुद्ध में भाग लेने हेतु ससैन्य आये थे।

रुक्मि ने अपना हेतु हमारे सेनापति से बताया। उन्होंने भी उसे शान्तिपूर्वक सुना। मैं उनका निर्णय सुनने के लिए उत्सुकता से उनकी ओर देखने लगा।

“भोजराज रुक्मि, मैं आपके निवेदन को स्वीकार नहीं कर सकता। अब दोनों पक्षों के सेनापतियों के अभिषेक हो चुके हैं। किसी सैनिक को अब सेना में प्रवेश कराने से युद्ध-नियमों का भंग होगा। क्षमा करें। इच्छा होते हुए भी मैं कुछ नहीं कर सकता।” सेनापति ने रुक्मि को अपना निर्णय सुनाया।

इस निर्णय से अप्रसन्न हुआ रुक्मि तनिक हिचकिचाया। फिर उसने कहा, “सवेरे तक मैं रुकता हूँ। यदि द्वारिकाधीश का भी यही निर्णय हो तो मैं चला जाऊँगा।”

“भोजराज, उन्होंने सेनापति होने के नाते मुझे सर्वाधिकार सौंप दिये हैं। मैंने अपना निर्णय आपको बताया है। आप वापस जा सकते हैं। मुझे पूरा विश्वास है, कृष्णदेव मेरे निर्णय में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।” हमारे सेनापति ने कहा।

बड़ी आशा से इतनी दूर आने के बाद अपेक्षा भंग होने के कारण झुँझलाया हुआ रुक्मि अपने भ्राताओं सहित पाण्डव-सेना के शिविर से चला गया। सीमा पर रुकी उसकी सेना के अनेक योद्धाओं के अनुरोध पर उसी समय कौरव-सेनापति भीष्म से मिलने गया। किन्तु उन्होंने भी उसी कारण से रुक्मि को अपनी सेना में प्रवेश देना अस्वीकार कर दिया। रुक्मि जैसा आया था, वैसा ही कुरुक्षेत्र से चला गया।

अब कहीं उसे किसी समय इसी प्रकार भग्न मन से कौण्डिन्यपुर से लौटे मेरे कृष्णदेव की व्यथा की प्रतीति होनेवाली थी।

मैं अपने शिविर में आया। सवेरे-सवेरे ब्राह्ममुहूर्त में ही मुझे सेनापति धृष्टद्युम्न की सेवा में उपस्थित होना था। ‘इडादेवी नमो ऽ स्तु ते’ कहते हुए मैं शैया पर लेट गया। क्षण-भर में ही मेरी आँखें लग गयीं। मैं खर्राटे भरने लगा। मार्गशीर्ष वद्य द्वितीया का दिन उदित होने को था। ब्राह्ममुहूर्त में वनकाक पक्षियों की काँय-काँय सुनते हुए मैं जाग गया। कर-दर्शन कर कुरुक्षेत्र की पावन भूमि से मैंने कहा, ‘पादस्पर्शं क्षमस्व मे’। शिविर के बाहर आकर मैंने मुख-प्रक्षालन किया। समीप के ज्योति सरोवर में स्नान कर मैं अपने यादव-योद्धाओं सहित शिविर में आया। अपने सेवकों की सहायता से मैंने लौहत्राण सहित अपना सम्पूर्ण रणवेश धारण किया। एक सेवक ने मोटे फलवाला कोषबद्ध खड्ग मेरी कटि में कस दिया। विविध बाणों से भरा तूणीर मेरी पीठ पर चढ़ाकर वक्ष पर उसकी गाँठ कस दी। पूजन कर पुष्पमाला से सजाया मेरा इडाप्रसाद धनुष उसने मेरे बायें कन्धे पर लटकाया। दाहिने कन्धे पर मैंने अपनी विशाल गदा धारण की। मेरे अधीनस्थ विशेष दल के विशिष्ट यादव-योद्धा भी तैयार हो गये। मैंने उनके साथ अपने शिविर में स्थापित इडादेवी की मूर्ति पर रक्तवर्णी पुष्प और बिल्वपत्र अर्पित कर, हाथ जोड़े, आँखें बन्द कर उससे आशीर्वाद ग्रहण किया।

शिविर से बाहर आते ही मेरी सेना के अन्तर्गत लगभग पचीस दल-प्रमुखों ने ‘जै इडामाता’ कहते हुए मेरा अभिवादन किया। उनके समूह के साथ मैं सेनाप्रति धृष्टद्युम्न के शिविर के निकट आया। पाण्डव-सेनापति का वह गोलाकार भव्य शिविर अब पाँच सेना-प्रमुख और उनके सहयोगियों से घिरा हुआ था। पाण्डवों में से अकेला भीमसेन ही वहाँ उपस्थित था। पहले हम सातों सेना-प्रमुख ‘जय कृष्णदेव’ का घोष करते हुए एक-दूसरे के गले मिले।

सेनापति के पीछे-पीछे मैं, पांचालराज द्रुपद, मत्स्यराज विराट, शिखण्डी, चेकितान और भीम उनके शिविर में प्रविष्ट हुए। शिविर में तीन-तीन आसन आमने-सामने रखे हुए थे। आसनों की दोनों पंक्तियों के बीच एक तनिक अधिक ऊँचा सेनापति का आसन रखा हुआ था। सेनापति धृष्टद्युम्न उस पर आसीन हुए। हम भी अपने-अपने आसनों पर आसीन हुए। सेनापति ने रात्रि में ही आज की व्यूह-रचना निश्चित की थी। उस व्यूह की छोटी-सी मृत्तिका-प्रतिकृति उनके दाहिनी ओर आस्तरण पर रखी गयी थी। आज युद्ध के पहले ही दिन उन्होंने अपने नाम—यज्ञकुमार—के अनुकूल 'यज्ञकुण्ड' की व्यूह-रचना निश्चित की थी। उसकी प्रतिकृति के सहारे उन्होंने सम्पूर्ण व्यूह-रचना को हमें सूक्ष्मता से समझाया। थोड़ा-सा फलाहार और सेवकों के लाये धारोष्ण दूध पीकर हम सेनापति के शिविर से बाहर आये। हमने अपने-अपने दल-प्रमुखों को व्यूह-रचना समझायी और उनके साथ हम प्रत्यक्ष युद्धभूमि की ओर चल पड़े। ज्योति, सन्नेथ आदि सरोवरों में तथा दृषद्वती, सरस्वती आदि नदियों में नहाकर सैनिक अपने-अपने शिविरों में लौट रहे थे। शस्त्रागारों के संकुल से अपने-अपने शस्त्र प्राप्त कर रहे थे। इस संकुल में अलग-अलग शस्त्रागार थे। बाणागार में चन्द्रमुख, शिलिमुख, सर्पमुख, गोमुख, गजास्थि, गवास्थि, बस्तिक, अंजलिक, जिह्म, सूचि, नाराच, अग्निपुंख, सुवर्णपुंख, चन्द्रपत्ती, सन्नतपर्व, गृधपत्र, कंकपत्र, नतपर्व भल्ल आदि प्रकार के सहस्रों बाण तूणीरों में भरकर एक ओर पंक्तिबद्ध रखे हुए थे। उनके सम्मुख भित्ति से सटकर विविध आकार-प्रकार के, सुलक्षण प्रत्यंचावाले सहस्रों धनुष अभिमन्त्रित कर सजा रखे थे।

बाणागार के समीप ही गदागार था। उसमें सूर्यफुला, सूर्यबिम्बा, कण्टककंकण आदि भाँति-भाँति की स्वर्णलेप चढ़ायी लौहगदाएँ पंक्तिबद्ध रखी थीं।

खड्गागार में छोटे-बड़े आकार के कोषबद्ध और नग्न धारदार सहस्रों खड्ग, ढालें और लम्बे-लम्बे दण्डों में लगाये शूल पंक्ति में सजा रखे थे।

चक्र, अंकुश, मूसल, भुशुण्डी, शतघ्नी, तोमर आदि शस्त्रों के अलग-अलग भण्डार थे। प्रत्येक शस्त्रागार के प्रवेशद्वार में रक्तवर्णी, शुभ्र, नीलवर्णी आदि विविधवर्णी पुष्प, बिल्वदल और हल्दी-कुंकुम से सुसज्जित पूजासामग्री के थाल रखे हुए थे।

शस्त्रागारों का यह सम्पूर्ण संकुल सशस्त्र सैनिकों से घिरा हुआ था। शिविरों से सुस्नात सैनिकों की पंक्तियाँ शस्त्रागार-संकुल की ओर जा रही थीं। सभी आगार-प्रमुख से अपने-अपने शस्त्र जाँचकर स्वीकार कर रहे थे। हाथ में आये अपने शस्त्र का पूजन कर उसे धारण कर रहे थे। शस्त्रागार में आनेवाला प्रत्येक सैनिक शस्त्र-सज्ज योद्धा बनकर ही शस्त्रागार से बाहर आता था।

जो हमारे सैन्य-शिविरों में हो रहा था, वही कौरवों के सैन्य-शिविरों में अधिक कोलाहल के साथ हो रहा था। उनकी संख्या भी हमसे डेढ़ गुना अधिक थी। अर्द्ध घटिका में ही हम सातों सेना-प्रमुखों के आगे धनुर्धारी, गदाधारी, खड्गधारी, रथी, महारथी, अतिरथी, अश्वारोही, ऊँटारोही, गजाति, पदाति आदि योद्धाओं की पंक्तियाँ लग गयीं।

अब हमारे सेनापति महावीर धृष्टद्युम्न की चपल गतिविधियाँ आरम्भ हुईं। उन्होंने हम छह सेना-प्रमुखों के अधीन पांचालों के उत्तमौजा, व्याघ्रदत्त, सिंहसेन, सत्यजित और विराट के शतानीक, वसुदान, उत्तर और श्वेत आदि युवा योद्धाओं को नियुक्त किया। और अपने अधीन सुमित्र, प्रियदर्शन, ध्वजकेतु, चित्रकेतु, वीरकेतु, सुकेतु, सुरथ और शत्रुंजय इन वीर भ्राताओं को

रखा।

महारथी धृष्टद्युम्न के मेधावी नेतृत्व में, उनकी आज्ञा के अनुसार हमारे सैन्य की पत्ती, सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चमू और अनाकिनी में आपस में शस्त्रबल और पशुबल की सहायता देनेवाली रचना की गयी थी। हमारी सेना की यज्ञकुण्डाकार व्यूह-रचना भी पूर्ण हुई थी।

हमारी सेना की कुल संख्या थी पन्द्रह लक्ष तीस सहस्र नौ सौ। हमारे और कौरव-सेना के बीच पर्याप्त भूमि खुली छोड़कर पितामह ने प्रचण्ड कौरव-सेना को मकराकर रचा था। कौरव-सेना की कुल संख्या थी चौबीस लक्ष पाँच सहस्र सात सौ। पितामह ने उस सैन्य के लिए अपने सहित ग्यारह विभाग-प्रमुखों को नियुक्त किया था–कृतवर्मा, भगदत्त, जयद्रथ, दुर्योधन, शल्य, द्रोणाचार्य, शकुनि, सुशर्मा, भूरिश्रवा और कृपाचार्य। प्रत्येक के नेतृत्व में एक-एक अक्षौहिणी सेना युद्ध करनेवाली थी।

दोनों सैन्यों को रणोत्तेजना देने हेतु स्थान-स्थान पर रणवाद्यों के समूह रखे गये थे। उनमें मुख्य थे नगाड़े और रणदुन्दुभियाँ। वस्तुत: ये नगाड़े भूनगाड़े ही थे। धरती में बीस-पच्चीस हाथ गहरे गड्ढे खुदवाकर, चिकनी मिट्टी से उन्हें लीपकर उनके पृष्ठभाग पर वृषभचर्म को कसकर बिछाया गया था। जब दस-बीस वादक उन नगाड़ों को एक लय में बजाने लगते थे तब कुरुक्षेत्र की साक्षात् युद्धभूमि ही उत्तेजित होकर गूँजने और उछलने लगती थी। उन वाद्यों का पहला नाद सुनते ही योद्धाओं के शरीर में रोएँ खड़े होने लगते थे।

कौरवों के ग्यारह अक्षौहिणी सैन्य की पितामह भीष्म ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक रचना की थी। उनकी सेना में द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, जयद्रथ, शकुनि, अश्वत्थामा, दुर्योधन, दुःशासन, शल्य, विविंशती, भगदत्त, भूरिश्रवा, सुशर्मा, विकर्ण, चित्रसेन, दुःसह, पुरुमित्र, सत्यव्रत और जय जैसे श्रेष्ठ, महारथी योद्धा थे। अपने-अपने रथदल के अग्रस्थान पर ये शस्त्र-सज्ज, युद्धवेशधारी योद्धा वक्ष फुलाकर सेनापति भीष्म से आक्रमण का संकेत पाने हेतु उनके रथ पर दृष्टि लगाये हुए थे। उनके रथ के विशाल पार्श्वभाग भाँति-भाँति के बाणों से भरे तूणीरों, भिन्न-भिन्न आकार के धनुष, गदा, खड्ग, मूसल, भाले, चक्र, अग्निकंकण आदि शस्त्रों से ठसाठस भरे हुए थे।

कुछ रथ शतघ्नी, भुशुण्डी और उससे प्रक्षेपित किये जानेवाले भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के पाषाणों से भरे हुए थे। प्रत्येक रथ में योद्धा के संकेत के अनुसार शस्त्र-पूर्ति करनेवाले पाँच-छह सहायक भी थे। कुछ रथों में तेरह, कुछ में ग्यारह, कुछ में नौ तो कुछ रथों में सात, पाँच, चार अथवा कम-से-कम दो-दो अश्व जुड़े हुए थे। रथ के अश्व समान ऊँचाई के हों, इसकी सावधानी रखी गयी थी। जिस प्रकार मैनाक पर्वत पर रहनेवाला गरुड़ सरलता से आकाश में तैरता है, उसी प्रकार समान ऊँचाई के अश्वों के कारण रथ कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि पर से कहीं भी भ्रमण करने में समर्थ थे। कुछ रथों में कीकर-वृक्ष की लकड़ी से बने समान ऊँचाई के भव्य दस रथचक्र लगे हुए थे– कुछ रथों में आठ, कुछ में छह तो कुछ में चार अथवा दो रथचक्र लगे हुए थे। रथों के पार्श्वभाग में अलग-अलग शस्त्रों के लिए अलग-अलग खण्ड बनाये गये थे। महारथियों के रथचक्रों की रक्षा के लिए अलग चक्ररक्षक थे। प्रत्येक रथ के ध्वजदण्ड पर उसके गणराज्य की ध्वजा लगायी गयी थी। ऐसी सैकड़ों ध्वजाएँ पवन के झोंकों पर फहरा रही थीं। सेना-प्रमुखों के ध्वज भिन्न-भिन्न आकार के, वर्णों के और भिन्न-भिन्न मानचिह्नों से युक्त थे। पितामह भीष्म के गंगौघ रथ में दस रथचक्र और आठ शुभ्र-धवल पुष्ट काबोजी अश्व लगे हुए थे। उनके रथ पर तालध्वज बड़े ठाट से

फहरा रहा था।

पितामह ने अपनी बायीं और दायीं ओर के सेना-विभागों को, अपने प्रचण्ड गजदल के सालंकृत हाथियों को एक के पीछे एक खड़ा कर और भी मजबूत और अभेद्य कर डाला था। इन हाथियों की पीठ पर रखी अम्मारियाँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार के शस्त्रों से भरी हुई थीं। कौरव-सेना के मकर के मुख पर स्वयं कौरव सेनापति भीष्म कन्धे पर धनुष धारण किये खड़े थे। उनकी शुभ्र-धवल दाढ़ी वायु के झोंकों से मन्द-मन्द हिल रही थी। उनकी दायीं ओर आचार्य द्रोण, दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि सभी कर्ण-बन्धु और कर्णपुत्र तथा बायीं ओर कृपाचार्य, अश्वत्थामा, कृतवर्मा, जयद्रथ, शल्य आदि रणोत्सुक महारथी अपने-अपने रथ पर आरूढ़ थे। उनकी पिछली पंक्ति में त्रिगर्त का संशप्तक सुशर्मा रथारूढ़ था। उसके दोनों ओर उसके विख्यात संशप्तक भ्राता सत्यरथ, सत्यधर्मन् सत्यवर्मन् सत्यकर्मन् सत्येषु थे। ये संशप्तक और उनके अनुगायी वीर प्रतिज्ञापूर्वक किसी दल अथवा योद्धा का अन्त करने में विख्यात थे। पितामह ने अपना प्रचण्ड अश्वदल और उष्ट्रदल इन सबके पीछे मकर के उदर में बिखेर दिया था। मकर की पूँछ की ओर पदाति और विरल संख्या में अश्वारोही थे।

कौरव-सेना में क्षेमधूर्ति, विन्द-अनुविन्द, अपराजित, उलूक, सहदेव, भगदत्त, लक्ष्मण आदि अतिरथी, कुहर, कर्काक्ष, गताक्ष, क्रथ, अम्बष्टक आर्जव आदि अर्धरथी, और कोसल देश का बृहद्बल, कलिंगराज भानुमान और उसका पुत्र शुक्रदेव, निषधराज केतुमान, श्रुतायु, तथा कपिश, काम्बोज और गान्धार देशों के सुदक्षिण, सुबलपुत्र आदि महायोद्धाओं को स्थान-स्थान पर बिखेर देने की अचूक सावधानी पितामह ने बरती थी।

ब्राह्ममुहूर्त में जाग उठे पितामह भीष्म ने सूर्य सरोवर में स्नान किया था। अपने सेवकों की सहायता से उन्होंने वक्ष पर लौहत्राण कस लिया था। अलग-अलग शस्त्र धारण किये थे। कण्ठ में धारण की गयी, घुटनों तक लहराती धवल पुष्पों से सेनापति के लिए बनायी गयी माला उन्हें शोभा दे रही थी। लौहत्राण पर लहराती घनी, शुभ्र दाढ़ी के अतिरिक्त वृद्धत्व का कोई भी चिह्न उनमें दिखाई नहीं दे रहा था। पुरोहितों के मार्गदर्शन के अनुसार उन्होंने रणभूमि धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र का विधिवत् पूजन करवा लिया था।

हमारी सेना भी सेनापति धृष्टद्युम्न के नेतृत्व में तैयार हो गयी थी। मेरे सहित अन्य पाँचों विभाग-प्रमुखों ने अपने-अपने स्थान ग्रहण किये थे। सेनापति की दायीं ओर पांचालराज द्रुपद, मत्स्यराज विराट, चेकितान, शिखण्डी, भीम, युधिष्ठिर, नकुल रथारूढ़ हुए थे। बायीं ओर थे पांचालराज-पुत्र व्याघ्रदत्त, सिंहसेन, सत्यजित और विराट-पुत्र शतानीक, वसुदान, उत्तर और श्वेत। उनके पीछे थे रथारूढ़ पौरव, मालव, सुदर्शन आदि राजा और द्रुपद-पुत्र सुमित्र, प्रियदर्शन, चित्रकेतु, सुकेतु, ध्वजकेतु, वीरकेतु, सुरथ और शत्रुंजय।

भीमसेन के पीछे की दूसरी पंक्ति के अन्तर्गत युधिष्ठिर-पुत्र प्रतिविन्ध्य, भीम-पुत्र सुतसोम, घटोत्कच, अर्जुन-पुत्र श्रुतकीर्ति और इरावान, नकुल-पुत्र शतानीक और सहदेव-पुत्र श्रुतसेन रथारूढ़ हुए थे।

हमारे सेनापति धृष्टद्युम्न ने भी पुरोहित धौम्य ऋषि के मार्गदर्शन के अनुसार धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र की रणभूमि का विधिवत् पूजन करवाया था। अब कौरव और पाण्डव-सेना के अविरत गर्जन करते दो महासागर एक-दूसरे के सम्मुख प्राणघाती युद्ध के लिए खड़े हो गये थे। मानो

गिरनार पर्वत की कन्दरा में, घनी अयालवाले दो वनराज एक-दूसरे की शक्ति का अनुमान लगाते आपस में भिड़ने हेतु दहाड़ते हुए एक-दूसरे के सम्मुख खड़े हों। सचमुच ऐसा ही वह दृश्य था!

पाण्डवों की ओर रथ, गज, अश्व, उष्ट्र, पदातियों का पन्द्रह लक्षों का सेनासागर सम्मिश्र ध्वनियों के कोलाहल के साथ प्रचण्ड हाथी की भाँति अपने स्थान पर डोल रहा था। उसके सम्मुख कौरव-सेना का चौबीस लक्ष सेना का महासागर लपलपाता हुआ लहरा रहा था।

दोनों पक्षों के लाखों रणोत्सुक सशस्त्र योद्धा इस महायुद्धरूप महायज्ञ के अध्वर्यु-हमारे कृष्णदेव और उनके शिष्योत्तम अर्जुन तथा उनके नन्दिघोष रथ के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे।

समरभूमि पर अध्वर्यु कृष्णदेव के पुष्प अर्पित किये और श्रीफल तोड़े बिना महायुद्ध का यह महायज्ञ प्रज्वलित होनेवाला नहीं था।

नित्य की भाँति कृष्णदेव उस दिन ब्राह्ममुहूर्त में ही जाग गये थे। शिष्योत्तम अर्जुन और अपने विश्वस्त सेवकों सहित वे स्नान करने ज्योति सरोवर गये थे। अर्जुन सहित वे सरोवर में उतरे थे। सरोवर के जल का स्पर्श ऊष्मापूर्ण था। नित्य की भाँति कृष्णदेव ने छप-छप हाथ मारते हुए सरोवर का एक चक्कर लगाया। सरोवर में तैरते समय निश्चय ही उनको महाप्रभावी महाभूत 'जल' के विषय में आचार्य सान्दीपनि के उद्‍गार स्मरण हुए होंगे, जो उन्होंने सरोवर में, नदी में, पश्चिम सागर में तैरते समय बार-बार मुझसे कहे थे–'जायते यस्मात् लीयते यस्मिन् इति जल:।'...

अभी दिन उदित नहीं हुआ था, फिर भी सरोवर में एक डुबकी लगाकर आँखें बन्द करते हुए उन्होंने उदित होनेवाले सूर्यदेव को अर्घ्य अर्पित किया। स्नान कर शिविर में आते ही वे प्रतिदिन के प्रभातकालीन आह्निकों से निवृत्त हुए थे। नित्य की अपेक्षा आज शिव-ध्यान में वे कुछ अधिक ही तल्लीन हुए थे। इसीलिए समरभूमि पर आने में उन्हें देर हुई थी।

दूर से अर्जुन के रथ के कपिध्वज का बिन्दु दिखाई देने लगा और हमारी सेना में उत्तेजना की लहरें उठने लगीं। फुसफुसाहट मच गयी–'कृष्णदेव आ गये–हमारे कृष्णदेव आ गये...'। मुझसे रहा नहीं गया और मेरे अन्दर का योद्धा रणघोष कर बैठा–'यादव-पाण्डव-तारक वासुदेव भगवा ऽ न श्रीकृष्ण की जय हो ऽ ऽ, जय हो ऽ ऽ!'...

भीमसेन के अधीन एक अक्षौहिणी सेना के मुख पर अर्जुन के नन्दिघोष का स्थान रिक्त था। उसे ग्रहण करने हेतु उड़ान भरनेवाले कपि के चिह्न से अंकित ध्वज फहराता हुआ, चार शुभ्र-धवल अश्वोंवाला नन्दिघोष रथ हमारी सेना की ओर आ रहा था। मैंने उन अश्वों को अचूक रूप से पहचाना।

कृष्णदेव ने अर्जुन और उसके सहायकों सहित नन्दिघोष को लाकर पाण्डव-सेना में खड़ा किया। उनके हाथ की वल्गाओं को एक सूचक झटका देते ही उनके अभ्यस्त चारों अश्वों ने आगे के खुर उठाकर हिनहिनाते हुए स्वीकृति-सूचक प्रतिक्रिया व्यक्त की। पलक झपकने से पहले ही कृष्णदेव ने अपने दुकूल में लटकाया सुलक्षण पांचजन्य अपनी हथेली में ले लिया।–अब वे अपनी ग्रीवा ऊपर उठाकर उसे प्राणशक्ति से फूकेंगे, इस विचार से हम सबके शरीर पर रणोत्साह का रोमांच हो आया। किसी ने अपना धनुष, किसी ने गदा तो किसी ने खड्‍ग उठाया। धनुर्धर धनंजय ने नन्दिघोष से ही अपने सम्मुख खड़ी पच्चीस लक्ष सेना पर दृष्टि घुमायी और जाने क्या हुआ कि उसके हाथ से गाण्डीव धनुष को नीचे गिरते हुए मैंने देखा! यही नहीं, दूसरे ही क्षण बायें हाथ

से कृष्णदेव के पांचजन्य को रोकते हुए "नहीं, मैं नहीं लड़ सकता" इस अर्थ में नकारात्मक सिर हिलाते हुए वह धड़ाम से नीचे बैठ गया। मैं हड़बड़ा गया। अपने रथ को छोड़कर, नन्दिघोष की ओर दौड़ने लगा। तब दूर से ही कृष्णदेव ने हस्त-संकेत से मुझे अपने रथ में बैठने का संकेत किया।

नन्दिघोष में बैठा हताश वीर अर्जुन अब सबको दिखाई देने लगा। वह बार-बार सिर हिलाकर कृष्णदेव से कुछ कह रहा था। दोनों हाथ जोड़कर कुछ गिड़गिड़ा रहा था। नन्दिघोष पर क्या रणनाट्य हो रहा है, किसी की समझ में नहीं आ रहा था। दोनों सेनाओं के चालीस लक्ष शस्त्र-सज्ज योद्धा कुलबुलाते हुए खड़े थे। दिखाई दिया कि अब कृष्णदेव ने चारों अश्वों की वल्गाएँ नीचे रख दीं। वे अब गलितगात्र अर्जुन की ओर मुड़ गये। अपनी सर्वग्राही दृष्टि उन्होंने अर्जुन की अश्रुभरी आँखों में गड़ायी। उन्होंने कई बार मुझसे कहा था–"आचार्य सान्दीपनि के आश्रम में, मेरी दृष्टि में अपनी दृष्टि गड़ाकर आचार्य ने अपनी शक्ति मुझसे संक्रमित करके मुझे जो अमोघ कृपाशीर्वाद दिया, उसे मैं कभी भूल नहीं पाया।" सम्भवत: ऐसा ही कुछ नन्दिघोष पर हो रहा हो!

कृष्णदेव बीच-बीच में अर्जुन के लौहत्राणधारी सुदृढ़ कन्धे पर थपथपा रहे थे। साथ ही दाहिने हाथ की तर्जनी उसकी ओर करके धड़ाधड़ कुछ कहे भी जा रहे थे।

अर्द्ध घटिका बीत गयी। रणज्वर से उत्तेजित हुए दोनों ओर के लाखों शस्त्र-सज्ज योद्धाओं में अब कुलबुलाहट मचने लगी। चारों खुर टपटपाते हुए, अनियन्त्रित होते जा रहे अश्व हिनहिनाने लगे। अपने-अपने स्थानों पर डोलते, प्रचण्ड हाथी सूँड़ें उठाकर चीत्कार करने लगे। किसी को समझ नहीं आ रहा था कि युद्ध आरम्भ क्यों नहीं हो रहा।

अर्जुन को समझा-समझाकर कृष्णदेव श्रान्त हो गये थे। लगभग एक घटिका व्यतीत हो चली थी। कृष्णदेव पुन: अश्वों की ओर मुड़ गये। नीचे रखी वल्गाओं को उन्होंने हाथों में ले लिया। मन को उद्विग्न कर देनेवाली शंका से मैं तिलमिला उठा–क्या अब वे नन्दिघोष को रणभूमि से बाहर ले जानेवाले थे? एक प्रबल आवेग में मैंने रथ के नीचे छलाँग लगायी। दौड़ता हुआ मैं नन्दिघोष के समीप पहुँचा ही था कि कृष्णदेव के निश्चयपूर्ण शब्द मुझे सुनाई दिये–

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी माम् नमस्कुरु...
अहं त्वाम् सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:–"

हे अर्जुन, जीवन क्या है, उसके कर्तव्य क्या हैं, मुक्ति का अर्थ क्या है, यह सब जानकर तुम्हें क्या करना है? अपना मन मुझमें ही लगा दो। मेरे ही भक्त बन जाओ और मुझे प्रणाम करो। मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्ति दिलाऊँगा। अधीर मत हो।

वासुदेव के बोल सुनकर अर्जुन का मुखमण्डल पूर्ववत् दमकने लगा। उसके मुख से वीर धनुर्धर का आवेश पुन: छलकने लगा। पैरों में पड़े गाण्डीव को निश्चयपूर्वक उठाते हुए उसने जो कहा, वह मुझे स्पष्ट सुनाई दिया–

"नष्टो मोह: स्मृतिर्लब्धा–
स्थितो ऽ स्मि गत सन्देह:
करिष्ये वचनं तव!!"

हे अच्युत, तुम्हारे उपदेश से मेरा मोह पूर्णत: नष्ट हुआ है। मुझे अपने कर्तव्य-धर्म का आभास हुआ

है। अब नि:शंक हुआ मैं तुम्हारी इच्छा के अनुसार युद्ध ही करूँगा। उसके इन वीरोचित उद्‌गारों को सुनकर कृष्णदेव का मुखकमल जिस प्रकार खिल उठा, वैसा मैंने पहले कभी नहीं देखा था। हाथ में ली गयी वल्गाओं को पुन: रथनीड़ पर रखकर एक ही छलाँग में वे कुरुक्षेत्र की रणभूमि पर उतरे। पुरोहित द्वारा आगे किये गये पूजाथाल से अँजुली भर गन्ध-कुंकुममण्डित शुभ्र-धवल पुष्प और उन पर एक मात्र बिल्वदल रखकर आँखें बन्द करते हुए कृष्णदेव ने कुरुक्षेत्र की वीरभूमि को अर्पित किया। एक ही आघात में श्रीफल के दो टुकड़े किये और उसका निष्कलंक जल उन्होंने भूमि पर छिड़का।

उन्होंने अँगुली से ही मुझे रथारूढ़ होने का आदेश दिया। झपाटे से चलते हुए वे पुन: नन्दिघोष पर आरूढ़ हुए। अपने झिलमिलाते पीताम्बर पर कटि में कसे सुनील दुकूल में लटकाये सुलक्षण विशाल पांचजन्य शंख को उन्होंने निश्चयपूर्वक पुन: हथेली में ले लिया। दीर्घ श्वास लेते हुए उन्नत वक्ष को कुरुक्षेत्र के विशुद्ध वायुतत्त्व से भरकर उन्होंने अपनी शंखाकार, नीलवर्णी ग्रीवा को ऊपर उठाया। नेत्र बन्द किये। कुरुक्षेत्र के अनन्त, सुनील नभ से अपनी नीलवर्ण मुद्रा को एकरूप किया! श्रीकृष्ण वासुदेव यादव ने तपःसाधना से जीवन-भर निर्मल, विशुद्ध रखे अपने शरीर की बहत्तर सहस्र धमनियों पर क्षण-भर में ही अधिकार जमा लिया। उनका अद्वितीय आत्मतत्त्व-देहतत्त्व फूल उठा। कण्ठ की नसें स्पष्ट दिखाई दे रही थीं—और इस प्रकार उन्होंने पूरी प्राणशक्ति से अपने पांचजन्य शंख को बजाया।

वह ध्वनि इतनी प्रणवसम्पन्न थी कि दोनों सेनाओं के लाखों अश्वों ने अपनी पूँछें उठाकर कान खड़े किये। हाथियों ने सूँड़ों के रणसींग उठाकर रोमहर्षक चीत्कार किये। जिन-जिनको वह पांचजन्य-नाद सुनाई दिया उनके शरीर के रोएँ खड़े हो गये। अब तक सूर्यदेव हाथ-भर ऊपर उठ आये थे। श्रीकृष्णदेव ने नन्दिघोष की आठों वल्गाएँ उठायीं—नि:शस्त्र सारथि के नाते।

पांचजन्य का नाद सुनते ही पितामह ने उतने ही प्राणपण से अपने गंगनाभ नामक शंख से फूँक लगायी। उसके प्रत्युत्तर में हमारे सेनापति धृष्टद्युम्न ने भी अपने यज्ञदत्त नामक शंख को बजाया। उसके पीछे-पीछे अर्जुन ने अपने देवदत्त, युधिष्ठिर ने अनन्तविजय, भीम ने पौण्ड्र, नकुल ने सुघोष और सहदेव ने मणिपुष्पक नामक अपने-अपने दिव्य शंखों को एक के बाद एक बजाया। शंखनाद के उस स्वर के साथ दोनों सेनाओं के विभाग-प्रमुखों ने अपनी-अपनी सेना को रणोत्साह भरनेवाले शंखनाद किये। उनके पीछे-पीछे स्थान-स्थान पर नियुक्त किये गये रणवाद्य-वादकों ने रणभेरी, दुन्दुभी, नगाड़े, रणसींग आदि रणवाद्यों का तुमुल नाद किया। उसे सुनते ही हिनहिनाते अश्वदल, चिंघाड़ते गजदल, उष्ट्रदल आदि और भी आवेश से गरजने लगे। भिन्न-भिन्न राज्यों के सैनिकों द्वारा तीव्र स्वर में किये गये 'आरूऽढ़...आरोऽह...आऽक्रमण' आदि रणघोष उसमें विलीन हो गये। चालीस लक्ष योद्धाओं के एक-दूसरे पर टूट पड़ने से, भिन्न-भिन्न शस्त्रों के टकराने से हुई खनखनाहट उसमें मिश्रित हो गयी।

दोनों ओर के सैनिकों, शस्त्रों, वाद्यों, उत्तेजक घोषणाओं और पशुओं की विभिन्न ध्वनियों का सम्मिश्र तुमुल रणनाद कुरुक्षेत्र के परिवेश में व्याप्त हो गया।

पितामह भीष्म और धृष्टद्युम्न के रथ अपने ध्वजदण्डों पर लगी ध्वजाओं को फहराते हुए एक-दूसरे पर झपट पड़े।

कुरुक्षेत्र की पावन समरभूमि पर कृष्णदेव द्वारा आरम्भ किया गया—न्याय-अन्याय का

निर्णय करनेवाला, मानव के ज्ञान-अज्ञान के अन्तर को स्पष्ट करनेवाला, सत्य-असत्य का प्रत्यय दिलानेवाला न भूतो न भविष्यति महायुद्ध का यज्ञकुण्ड धधकने लगा। प्राणियों को निष्पक्ष न्याय दिलानेवाला महायज्ञ धू-धू करता हुआ प्रज्वलित हुआ।

इस महायज्ञ का अन्त क्या होनेवाला था और इसका निर्णय क्या होनेवाला था, यह तो केवल श्रीकृष्णदेव ही जानते थे। ऐसे कौन-से जीवन-मूल्य इसमें से उभरनेवाले थे, जिसका पालन मानव-जाति पीढ़ियों तक करती रहेगी–यह भी भगवान वासुदेव ही जानते थे। इस महायुद्ध में भाग लेनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को इतना अवश्य ज्ञात हुआ था कि यह युद्ध केवल कौरव-पाण्डवों के राज्याधिकार के लिए, या नारी-अवमान के प्रतिशोध के लिए अथवा दुष्ट-निर्दलन के लिए नहीं लड़ा जा रहा था। वह इससे बढ़कर कुछ था।

प्रलयकाल के दो प्रचण्ड, विकराल, गरजते हुए कालमेघ एक-दूसरे से टकरा जाएँ, उसी प्रकार दोनों शस्त्र-सज्ज सेनाएँ आपस में टकरा गयी थीं। उस प्रचण्ड कोलाहल में भी अपनी भारी गदा कुरुक्षेत्र के आकाश में नचाते हुए भीमसेन का भेदक दहाड़ना स्पष्ट सुनाई देने लगा। उसकी दहाड़ का पहला ही आघात इतना असह्य था कि उसी का सारथि विशोक ही चौंककर काँप उठा। और उसी आवेग के साथ भीमसेन के शस्त्रों से भरे प्रचण्ड रथ को वह झपाटे के साथ सबके आगे निकाल ले गया।

सबसे पहले दुर्योधन और भीम के बीच ही, सूर्य को भी आच्छादित कर देनेवाला घोर द्वैरथ धनुर्युद्ध छिड़ गया।

यौवनसम्पन्न और अब तक अपने पराक्रम के प्रदर्शन का अवसर न पानेवाले द्रौपदीदेवी के पाँचों पुत्र निश्चयपूर्वक कौरव-सेना को चीरते हुए आगे बढ़ रहे थे। प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकीर्ति, शतानीक और श्रुतसेन–इन पाँचों पाण्डव-पुत्रों की पाँच पर्वत-श्रेणियों की भाँति संलग्न पंक्ति एक-दूसरे को संरक्षण देते हुए, शत्रु सैनिकों के सिर उड़ाते और उत्तेजक रणघोष करते हुए, क्षण-क्षण आगे बढ़ने लगी। सुतसोम के हाथ में अपने पिता की ही भाँति भारी प्रचण्ड गदा थी। गदायुद्ध में उसे कोई हरा नहीं पा रहा था। श्रुतकीर्ति इतनी कुशलता से धनुष-बाण का प्रयोग कर रहा था कि अँगुलियों के केवल स्पर्श से बाणों को पहचानकर एक ही समय पाँच-पाँच बाणों को वह कैसे प्रक्षेपित कर रहा था, यही समझ में नहीं आ रहा था। अपनी उलटी दिशा में भी वह अचूक लक्ष्यभेद कर रहा था।

भीष्म के गंगौघ रथ पर से उनके जितने ही ऊँचे पुष्पमण्डित धनुष से एक के बाद एक सैकड़ों बाण सूँकारते हुए छूटने लगे। उनका लक्ष था केवल धनुर्धर अर्जुन। अर्जुन ने सर्वप्रथम दूर से ही उनको नम्र अभिवादन किया। क्षण-भर उसने अपने नेत्रों को मूँद लिया। सम्भवत: उसने अपनी माता कुन्तीदेवी का और कृष्णदेव की कुलदेवी इडामाता का स्मरण किया हो। अब उसने शुभ्र-धवल, प्रफुल्लित पुष्पमालाओं से मण्डित अपने अपराजित गाण्डीव धनुष को तोलते हुए उसकी सुदृढ़ प्रत्यंचा की टंकार की। वह हमारी द्वारिका को घेरकर निरन्तर सुनाई देते समुद्र-गर्जन की भाँति दूर तक फैलती गयी। यह सब करते समय पितामह भीष्म के धनुष से छूटकर आनेवाले बाणों को उसने कभी ग्रीवा टेढ़ी करके तो कभी झुककर निष्फल कर दिया था। मानो बचपन में अपनी गोद में खिलानेवाले पितामह भीष्म के लगभग दस प्रारम्भिक बाणों को उसने आदरपूर्वक अभिवादन ही किया हो। सचमुच वह अर्जुन था–किसी भी ज्ञान, गुण का अर्जन

करनेवाला। उसने अभिजात नम्रता का भी अर्जन किया था। पितामह भीष्म को शोभा देनेवाला ही वह पौत्र–अर्जुन–था।

अब एक बार उठाया हुआ उसका अपराजेय गाण्डीव धनुष युद्ध का स्पष्ट निर्णय होने तक रुकनेवाला नहीं था। पहली अर्द्ध घटिका में उसने भीष्म के भिन्न-भिन्न अरोध्य बाणों को केवल प्रतिकार करते हुए रोककर निष्प्रभ कर दिया।

सूर्य माथे पर आ गया। दोनों ओर के अठारह सेनानायकों के प्रेरक सिंहनादों से पृथ्वी और अन्तरिक्ष गूँज उठे। ध्वजदण्डों से टकरानेवाले सूँकारते बाणों, हाथियों के मद झरते गण्डस्थलों में उनकी गोल-मोटी गरदनों और हिलती सूँड़ों में तड़ाक् से घुसनेवाले बाणों से, एक-दूसरे से टकराते हुए ठनठनाते गदा-प्रहारों से, एक-दूसरे से भिड़नेवाले खड्गों की खनखनाहट से, पदातियों के पदाघातों से, अश्वों के हिनहिनाने, गज-घण्टाओं की छनछनाहट और उनमें मिले हुए शंखों तथा रणवद्यों की ध्वनि से संचारित होकर कुरुक्षेत्र की रणभूमि गूँजने लगी।

मुझ पर और मेरे विशिष्ट योद्धाओं पर मुख्यत: अर्जुन के नन्दिघोष के रथचक्रों के संरक्षण का दायित्व था। अत: मेरा रथ सदैव कृष्णदेव द्वारा सारथ्य होनेवाले नन्दिघोष पर दृष्टि रखकर उसके आसपास ही रहनेवाला था। युद्धभूमि पर उनकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म गतिविधियाँ मुझे देखने को मिलनेवाली थीं। आज तक जीवन के युद्ध में उनके अनेक गुण विशेषों को मैंने निकट से देखा था। कभी-कभी उनकी बुद्धि की गगनभेदी ऊँचाई को देखकर अचम्भित भी हुआ था–चौंधिया गया था। आज कुरुक्षेत्र की रणभूमि पर मुझे तीव्रता से आभास हुआ कि उद्धवदेव की भाँति कृष्णसखा होने का दुर्लभ सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। लाखों यादवों में वह केवल उद्धवदेव और मुझे ही प्राप्त हुआ। उद्धवदेव तो बौद्धिक और आध्यात्मिक दृष्टि से इतने ऊँचे थे, किन्तु मुझमें क्या? कृष्ण ने मुझे अपना सखा स्वीकार करते समय क्या देखा होगा मुझमें? मैं सदैव उनका आज्ञाकारी था। कोई भी प्रसंग क्यों न हो–चाहे वह रुक्मिणीदेवी के लिए दो बार दण्डकारण्य पार करने का हो, अथवा स्वर्णनगरी द्वारिका के निर्माण का हो, या पाण्डवों के राजनगर इन्द्रप्रस्थ के निर्माण का हो–उन्होंने जो भी दायित्व मुझे सौंपा, मैंने उसे बिना कोई प्रश्न किये ही पूरा किया था। सम्भवत: मेरी इस मौन श्रवणभक्ति को उन्होंने परख लिया हो।

कुरुक्षेत्र के इस युद्ध के पहले ही दिन, जब सूर्य सीधे माथे पर आया था, मैंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया था कि अर्जुन के रथचक्र की एकाग्र होकर अन्तिम सीमा तक रक्षा करूँगा और बुद्धि को सचेत रखकर प्रतिदिन घटित होनेवाले कृष्णदेव के बुद्धिचक्र का सूक्ष्म निरीक्षण करूँगा। भावी जीवन में मेरे लिए वही उपयुक्त प्रमाणित होनेवाला था। यह मेरे अनुभव का ही निचोड़ था।

सर्वप्रथम हमारे महारथी कृतवर्मा ने नन्दिघोष पर ही धावा बोल दिया। मैंने अपने रथदल सहित आगे बढ़कर उसे अपने ऊपर ले लिया। हम दोनों द्वारिका के यदुवंशी होते भी कुरुक्षेत्र में हम दोनों में तुमुल युद्ध छिड़ गया। क्या वह कौरव-पाण्डवों के लिए था? द्रौपदीदेवी के लिए था? क्या वह युधिष्ठिर द्वारा अपनी सुविधा के अनुकूल प्रयोग किये गये धर्म के लिए था? नहीं। क्या मैं और कृतवर्मा कृष्णदेव के अनेक अभियानों में कन्धे-से-कन्धा मिलाकर एक साथ नहीं लड़े थे? आज हम एक-दूसरे से लड़ रहे थे। तनिक भी त्रुटि न करते हुए मैंने कृतवर्मा द्वारा अर्जुन पर किये गये आक्रमण को कड़े प्रतिकार से विफल कर दिया। कृतवर्मा जब रथ सहित पीछे हट गया, तब

कृष्णदेव ने मुझ पर जो दृष्टि डाली, उसे मैं कभी भूल नहीं पाया। वे आँखें ही अलग थीं।

कई वर्षों से मन में व्यक्तिगत क्रोध सँजोये हुए दुर्योधन ने भीमसेन पर आक्रमण किया। जिस प्रकार ज्वार के समय का सागर अपनी ओर आते नदी-नालों को दूर फेंक देता है, उसी प्रकार भीमसेन ने उस आक्रमण को विफल कर दिया। युवा अभिमन्यु अनुभवी कोसलाधिपति से अथक लड़ता रहा। किन्तु दु:शासन ने हमारे रूपसुन्दर नकुल को अपनी बाणवर्षा से त्रस्त किया। आरक्तवर्णी नकुल शरीर में घुसे हुए दु:शासन के बाणों से ग्रीष्म ऋतु में खिले पलाश-वृक्ष की भाँति दिखने लगा। कृष्णदेव अत्यन्त चपलता से नन्दिघोष को उसकी दृष्टि-कक्षा में ले गये। आहत नकुल को उसके स्वत्व का भान दिलाते हुए नन्दिघोष पर से ही कृष्णदेव ने कहा, "नकुऽल, तुम तो अपने नाम के अनुकूल दिख रहे हो–अभी-अभी सर्प को क्षत-विक्षत किये नकुल की भाँति! द्रौपदी को डसनेवाला यह सर्प–दु:शासन तुम्हें भी डसने जा रहा है। अधीर मत हो नकुल!" कृष्ण के उन बोलों से चमत्कार हुआ। आहत नकुल ने अपना धनुष उठाकर आनन-फानन में ही दु:शासन के मस्तक पर विराजित मुकुट को कुरुक्षेत्र की भूमि पर गिरा दिया। भयभीत हुआ दु:शासन अपने विस्फारित नेत्रों से उस शिरोभूषण को देखते हुए नकुल के आगे से हट गया।

पाण्डव-सेनापति धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्य की सेना पर अपने युद्धप्रिय पांचालों सहित टूट पड़ा। उसके पिता–द्रुपद द्वारा अपनी दरिद्रता की की हुई अवहेलना से सन्तप्त हुए द्रोणाचार्य ने धृष्टद्युम्न के धनुष के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। हमारे महारथी शिशुपाल-पुत्र धृष्टकेतु ने बाह्लीक पर आक्रमण किया। पिता की ही भाँति रणगर्जनाएँ करता हुआ घटोत्कच अलम्बुष पर टूट पड़ा। शिखण्डी और अश्वत्थामा, विराट और भगदत्त, द्रुपद और जयद्रथ में भयंकर युद्ध छिड़ गया। हमारे प्रतिविन्ध्य पर शकुनि ने अपने दस भ्राताओं सहित आक्रमण किया।

युद्ध के पहले दिन का दूसरा प्रहर ढलने लगा। कृतवर्मा, कृप, दुर्मुख, शल्य और विविंशती का प्रबल समर्थन प्राप्त किये सेनापति भीष्म हमारी आँखों के आगे हमारी सेना का कभी भी क्षतिपूर्ति न होनेवाला विध्वंस करने लगे। मृग नक्षत्र की पवन जिस प्रकार अपने तीव्र झोंकों से डेरेदार आम्र-वृक्ष को झकझोरकर सैकड़ों आम्र-फलों को धरती पर गिराती है, उसी प्रकार क्रुद्ध हुए पितामह भीष्म अपने अमोघ बाणों से हमारे सैनिकों को धरती पर गिराने लगे। उनका गंगौघ रथ हिमालय की कन्दराओं से मुक्त रूप में बहती गंगा की धारा के समान हमारी सेना में कहीं भी भ्रमण करने लगा। यह देखकर क्रुद्ध हुआ अभिमन्यु अग्रसर हुआ। पितामह के लिए संरक्षक रूप में घेरा डाले हुए कृतवर्मा के ध्वज को एक ही बाण में उसने ध्वस्त कर दिया। पाँच बाणों से शल्य को जकड़ डाला। एक सन्नतपर्व बाण से दुर्मुख के सारथि का सिर उड़ा दिया। फिर उसने एक जिह्म बाण छोड़कर कृपाचार्य के धनुष को अचूक तोड़ डाला। अब तक पितामह का संरक्षक पंचक शिथिल हो गया था।

युवा अभिमन्यु का वह चकित कर देनेवाला पराक्रम देखकर पितामह अपने गंगौघ रथ में क्षण-भर स्थिर हो गये। अभिमन्यु की ओर एक भावभीनी, प्रशंसायुक्त दृष्टि डालते हुए उन्होंने कहा, "जय हो पार्थ-पुत्र, धन्य हो तुम। विजयी भव, वीर अभिमन्यु।" इस अन्तराल में कहाँ-कहाँ से अपने ऊपर फेंके गये बाणों को उन्होंने वक्ष पर धारण किये लौहत्राण पर झेलते हुए निष्प्रभ कर डाला था।

पितामह के बायीं ओर के रणक्षेत्र पर विराट-पुत्र उत्तर और मद्रराज शल्य के बीच घमासान युद्ध हो रहा था। उत्तर एक ऊँचे, बलाढ्य हाथी की अम्मारी में बैठा था। उसके पीछे विराटों की एक अक्षौहिणी सेना युद्धरत थी। उत्तर ने अपने हाथी को शल्य के रथ से भिड़ाने का महावत को आदेश दिया। महावत निष्णात था। उसने हाथी के कानों के पीछे अंकुश चुभो-चुभोकर हाथी को सीधे बाण-वर्षा करनेवाले शल्य के रथ से जा भिड़ाया। उस प्रचण्ड हाथी ने शल्य के रथ के अश्वों पर अपनी सूँड़ से बलशाली प्रहार किये। उसके सारथि को अपनी सूँड़ में उठाकर गोल-गोल घुमाकर दूर फेंक दिया। हताश शल्य ने अपने टूटे रथ से एक सर्पतुल्य लौह शक्ति उत्तर पर फेंकी। उत्तर का लौहत्राण तोड़कर वह उसके हृदय में घुस गयी। रणघोष करते हुए लड़नेवाला उत्तर हाथी से नीचे गिरा और छटपटाता हुआ गतप्राण हो गया। हमारी सेना में हाहाकार मच गया।

यह देखकर उत्तर के बन्धु श्वेत ने तेजी से शल्य पर आक्रमण कर दिया। जयत्सेन, रुक्मरथ और अनुविन्द ने उसका मार्ग रोका। शल्य की सहायता के लिए आये पितामह भीष्म और श्वेत के बीच युद्ध छिड़ गया।

वीर श्वेत ने आज पाण्डवों की ओर से पहला स्मरणीय ध्यानाकर्षक पराक्रम किया। उसने सर्वप्रथम अजेय धनुर्धर परशुराम शिष्य भीष्म का धनुष तोड़ डाला। यह देखकर उत्तेजित हुए पाण्डव-सैनिकों ने जयघोष किया–'विराट-पुत्र श्वेत जयतु...जयतु!' उससे देवव्रत भीष्म सन्तप्त हुए। उन्होंने दूसरा धनुष उठाया। पहले ही बाण प्रक्षेपण में उन्होंने श्वेत के रथ के सभी अश्व मार गिराये। दूसरे बाण से उन्होंने श्वेत के सारथि का मस्तक धड़ से अलग कर दिया। विद्ध हुए श्वेत ने एक अतिउग्र शक्ति भीष्म पर प्रक्षेपित की। उसे अचूक पहचानकर भीष्म ने बाणों का अष्टक इस प्रकार फेंका कि वह शक्ति उनमें फँसकर, निष्फल होकर धरती पर गिर गयी।

अब सन्ध्या होने को थी। सूर्य का तेज पश्चिमी क्षितिज पर आ रुका था। पहले दिन के युद्ध के कुछ ही क्षणों के शेष रहते पितामह भीष्म ने ब्रह्ममन्त्र से अभिमन्त्रित एक चमकता हुआ बाण श्वेत पर फेंका। वह श्वेत का वक्ष भेदकर पार चला गया। गतप्राण होकर श्वेत अपने रथ में ही गिर गया। इतने में सूर्य डूब गया। युद्ध रुक गया।

मार्गशीर्ष वद्य द्वितीया सन्ध्या की लम्बी-लम्बी छायाएँ कुरुक्षेत्र पर फैल गयीं। सरोवरों से युक्त इस रम्य, हरे-भरे प्रदेश के प्रतिदिन चहचहानेवाले अनेक पक्षी आज सवेरे थर्रा देनेवाला रणघोष सुनकर जाने कहाँ चले गये थे। कहीं-कहीं नीड़ों में उनके छोटे बच्चे चोंच खोलकर किकियाते हुए माता-पिता की प्रतीक्षा कर-कर के थक गये थे। सब निढाल होकर निश्चेष्ट पड़े थे। सूर्यग्रहण के दिन कुरुक्षेत्र के सूर्यकुण्ड में स्नान कर याचकों को दान देने को क्षत्रियों ने कई वर्षों से पवित्र माना था। प्रत्येक वर्ष सूर्यग्रहण के दिन इस सरोवर-तट पर अनगिनत दान-वेदियाँ खड़ी की जाती थीं। उसी स्थान पर आज दोनों सेनाओं के व्यवस्थापन पथकों ने आम्र, चन्दन, बिल्व आदि पवित्र काष्ठों की चिताओं की पंक्तियाँ रची थीं। राजा विराट ने राजकुमार उत्तर और श्वेत के लिए दो सबसे ऊँची चन्दन की लकड़ियों की चिताएँ रचवायी थीं। वृद्ध मत्स्यराज विराट को अपने पुत्रों की चिता में अग्नि देनी पड़ी थी। अनेक सैनिकों के शव उनके दलों ने लम्बी-लम्बी सामूहिक चिताओं पर रख दिये थे। दूर-दूर से आये अन्त्यक्रिया करनेवाले पुरोहित उनके लिए अन्तिम संस्कार के मन्त्रों का पठन कर रहे थे। तट पर जलती चिताओं के प्रतिबिम्ब सूर्य सरोवर में पड़ने से, अपना नाम सार्थक करता हुआ वह प्रज्वलित-सा दिख रहा था।

रात्रि-भोजन के पश्चात् पाण्डवों सहित हम सात विभाग-प्रमुखों, रथी, अतिरथी, महारथियों की बैठक कृष्णदेव के विशाल शिविर में आयोजित हुई। आज के बाद प्रतिदिन उसका आयोजन होनेवाला था। आज भी अकेले कृष्णदेव ही उच्चासन पर विराजित थे। हम सब धरती पर बिछे आस्तरण पर बैठे थे।

ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर ने म्लान, उदास मुख से कृष्णदेव से कहा, “यदि पितामह इसी प्रकार पाण्डव-सेना का संहार करते रहे तो हमारी पराजय निश्चित है।” वह सुनकर कृष्णदेव मुस्कराये। पलीतों के मन्द प्रकाश में गुलाबी होठों के पीछे छिपे उनके दाँत चमक उठे। उन्होंने युधिष्ठिर से कहा, “हे धर्मराज, धैर्य रखो। घबराओ मत। कुछ लड़ाइयों में हमारी हार होगी ही। किन्तु युद्ध में अन्तिम विजय निश्चित हमारी है। हमारी सेना में महारथी सात्यकि, पराक्रमी विराट, धैर्यशील धृष्टद्युम्न जैसे वीर हैं।

“प्रलयंकर ताण्डव करनेवाले प्रत्यक्ष शिवशंकर से युद्ध करनेवाला तुम्हारा भ्राता गाण्डीवधारी पार्थ हमारी सेना में है। महाबली, पराक्रमी भीमसेन हमारी सेना में है। चिन्तित मत हो। विजयश्री अन्तत: तुम्हें ही माला पहनाएगी। तुम और अन्य सभी अवश्य ध्यान रखो, मेरे भक्तों का विनाश कभी नहीं होगा। मैं वह होने नहीं दूँगा–न मे भक्त: प्रणश्यति!”

कृष्णदेव का वह धीरोदात्त वचन सुनकर निर्भय हुए सभी योद्धाओं ने भक्तिभाव से उनको प्रणाम किया। मुझसे रहा नहीं गया। मैंने पूछा, “क्या कल के युद्ध में भी हमारा सेनापत्य पांचाल-युवराज धृष्टद्युम्न ही करेंगे?” पुन: मुस्कराकर मेरी ओर देखते हुए वे बोले, “जब तक रणभूमि में सेनापति का पतन नहीं होता, सेनापति बदला नहीं जाएगा। मेरा अनुमान है, कौरव भी इसी नीति को अपनाएँगे। पितामह भीष्म में केवल संचित पराक्रम ही नहीं है, उनमें अनुभव का योग भी है। उनके लक्ष्यभेदी अचूक बाणों के आगे सबको पैर टिकाकर खड़ा रहना होगा। मैं सोच रहा हूँ, कल उनसे किस प्रकार निपटा जाए?”

युद्ध के पहले दिन की उस रात में ही मैं जान गया कि यद्यपि पाण्डव-सेना का सेनापति धृष्टद्युम्न है, किन्तु हमारी सेना का पूरा सूत्र-संचालन कृष्णदेव के हाथों में ही है। धृष्टद्युम्न सहित सभी ने दूरदर्शिता से उसे स्वीकार किया है।

आज रणभूमि में कृष्णदेव की बुद्धिमानी अन्य किसी के समझ में आयी हो अथवा न आयी हो, वह मेरी समझ में अवश्य आयी थी। आज के युद्ध में दो महत्त्वपूर्ण और कई साधारण सारथि मारे गये थे। किन्तु अर्जुन के सारथि कृष्णदेव की नील देह पर बाण की एक खरोंच भी नहीं आयी थी। उन्होंने स्वयं को नि:शस्त्र सारथि घोषित कर युद्ध-नियम के अनुसार अपने-आप को पूर्णत: संरक्षित कर लिया था। यह भेद दुर्योधन सहित किसी की भी समझ में नहीं आया था। ‘नि:शस्त्र पर वार नहीं किया जाएगा’ यह एक मुख्य, महत्त्वपूर्ण नियम था। इस नियम से कृष्णदेव ने अपने चतुर्दिक् सुरक्षित कवच बना लिया था।

उनकी अलौकिक बुद्धिमत्ता से निकलनेवाले ऐसे कई अदृश्य अमोघ बाण आज के बाद कौरवों को बार-बार संकट में डालनेवाले थे। एक बड़ा रोचक विचार मेरे मन में उठा,–द्वारिका में कृष्णदेव से भेंट के समय यदि दुर्योधन ने कहा होता–द्वारिकाधीश आपके शस्त्र धारण करने से मुझे कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु रणभूमि पर आप मौन ही रहें–तो क्या होता?

पहले दिन की बैठक समाप्त करते हुए हम अपने-अपने शिविर की ओर चल पड़े। रणभूमि की

देखरेख करनेवाले पथक कल ही रणभूमि की व्यवस्था में लगे थे। मैं अपने शिविर में आया। सेवकों ने मेरा रणवेश और लौहत्राण उतरवाया। शैया पर बैठकर, हाथ जोड़कर, आँखें मूँदकर इडादेवी का स्मरण करते हुए एक ही जिज्ञासा मेरे मन में उभर रही थी।–वास्तव में मेरे कृष्णदेव कौन हैं? गोकुल के गोपाल? मथुरा के सैकडों यादवों के नेता? बलराम भैया और उद्धवदेव के भ्राता? आचार्य सान्दीपनि के शिष्य? पश्चिम सागर में अप्रतिम सुन्दर द्वारिका नगरी का निर्माण करनेवाले स्थापत्य-विशारद? दो बार दण्डकारण्य पार कर रुक्मिणीदेवी का हरण करनेवाले उनके प्रेमल पति? आर्यावर्त के सात राज्यों की राजकुमारियों से विवाह करनेवाले अतुलनीय पतिदेव? सुदर्शन के स्वर्गीय मन्त्र के एकमात्र अधिकारी? कामरूप की सोलह सहस्र अपमानित नारियों को पत्नीत्व का सम्मान दिलानेवाले अद्वितीय पति? आचार्य घोर-आंगिरस से ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए तत्त्वचर्चा करनेवाले ज्ञानलोभी? मधुर मुरली बजानेवाले संगीतकार? नृत्य, नाट्य, शिल्प, चित्र आदि चौंसठ कलाओं के कालाकारों का मान करनेवाले कलाप्रेमी? कौन हैं वे?

मैं कृष्णचरित्र के दण्डकारण्य में उलझता गया। होंठों में इडादेवी का नाम लेकर मैं कब निद्राधीन हुआ, पता ही नहीं चला।

मार्गशीर्ष वद्य तृतीया का दिन उदित हुआ। सेनापति धृष्टद्युम्न ने हमारे सैन्य की ‘क्रौंचारुण व्यूह-रचना’ की थी। यह रचना क्रौंच पक्षी के आकार की थी। हमारे सात विभाग-प्रमुखों में से चार महारथी इस क्रौंच की लम्बी चोंच में रखे गये थे–मैं, भीमसेन, स्वयं धृष्टद्युम्न और चेदिराज धृष्टकेतु। क्रौंच के उदर और पूँछ के भाग में महाराज विराट, जरासन्ध-पुत्र जयसेन और पाण्ड्य को नियुक्त किया था।

पितामह भीष्म ने कुरु-सेना को बाण के आकार में खड़ा किया था। बाण के त्रिकोणी अग्रभाग सेनापति भीष्म के दायीं ओर दुर्मुख, दु:शासन, दुर्धर्ष, दुःसह आदि अपने दस भ्राताओं सहित स्वयं दुर्योधन खड़ा था।

अपनी मोटी और टेढ़ी भौंहें तानकर हमारी सेना के क्रौंच पक्षी को देखते हुए वह तिरस्कारपूर्वक गरजा, “हे कुरुवीरो, पितामह को साक्षी रखकर आज हम पाण्डवों के इस क्रौंच का हृदय बेध डालेंगे।” अपने कण्ठ की धमनियों को पूर्णत: फुलाकर उसने अपने ‘विदारक’ नामक शंख को पूरी प्राणशक्ति से फूँका। उसकी लसोड़ा जैसी बड़ी-बड़ी आँखों की नसों में रक्त उतर आया। सेनापति पितामह के ‘गंगनाभ’ शंख बजाते ही अपने कन्धे पर रखी भारी गदा को हवा में नचाते हुए दुर्योधन अपनी सेना को उत्साहित करने के लिए जोर से चिल्लाया–“आरो ऽ ह..आ ऽ क्रमण” आखेट पर झपट पड़नेवाले व्याघ्र की भाँति कौरव-सेना पाण्डव-सेना पर टूट पड़ी। रण-गर्जनाओं के कोलाहल में खड्ग, गदा, मूसल आदि शस्त्र एक-दूसरे से टकराने लगे। भीमसेन, अभिमन्यु, धृष्टद्युम्न, विराट और मैं–सभी ने पितामह पर धावा बोल दिया। महापराक्रमी पितामह ने अपनी अथक शरवर्षा से हमें जहाँ-का-तहाँ रोक दिया। मुझे उन्होंने सात नाराच बाणों के जाल में जकड़ दिया। मैंने निश्चय से उस जाल को तोड़ दिया। हमारे क्रौंचारुण व्यूह की अभेद्य चोंच के दो भागों को उन्होंने अलग कर दिया। उनके आक्रमण का आदेश देते ही उनकी सेना ने शक्तिशाली आक्रमण करते हुए हमारे व्यूह को भेद डाला। हमारे रथी और अश्वारोही पीछे हटने लगे। दूर से यह देखनेवाला अर्जुन क्षुब्ध हुआ। उसने कृष्णदेव से कहा, “हे वासुदेव, मेरे रथ को

पितामह के सम्मुख ले चलो।”

यह वही अर्जुन था जिसने कल ही तड़पते हुए कृष्णदेव से पूछा था–‘जिनकी गोद में मैं पला हूँ उन पितामह पर मैं प्राणघाती बाण कैसे फेंकूँ?’ आज उसके पूर्णत: विरुद्ध उद्‌गार सुनकर कृष्णदेव तनिक नटखट रूप में मुस्कराये। उन्होंने पार्थ से पूछा, “हे धनंजय, सचमुच ले चलूँ तुम्हारे रथ को पितामह के रथ के आगे?” शीघ्रता से अर्जुन ने कहा–“हाँ–सचमुच ले चलो, अन्यथा पाण्डवों के वे पाँचों योद्धा अधिक समय तक पितामह के आगे टिक नहीं पाएँगे।” यह सुनते ही कृष्णदेव ने अपने पांचजन्य को इस तरह बजाया कि कौरवों को लगा, अर्जुन के ध्वज पर स्थित साक्षात् हनुमान ही हुंकार करता और छलाँगें भरता हुआ आक्रमण करने के लिए चला आ रहा है।

पितामह भीष्म और अर्जुन का घनघोर धनुर्युद्ध आरम्भ हुआ। दुर्योधन, शल्य, जयद्रथ और शकुनि भी पितामह की सहायता के लिए दौड़ पड़े। पितामह के युद्धक्षेत्र में द्वैरथ युद्धों की भीड़ मच गयी। कुरुक्षेत्र की भूमि पर सैकड़ों बाणों के ढेर लग गये। दोनों ओर के आहत और मृत सैनिक भी वहीं अस्वस्थ पड़े थे। महाधनुर्धर धनंजय पितामह सहित चार महायोद्धाओं का एक के बाद एक सामना करता हुआ अचल पर्वत की भाँति लड़ता रहा।

उधर द्रोणाचार्य और सेनापति धृष्टद्युम्न में घमासान युद्ध मचा था। द्रोण ने एक कालदण्ड के समान भयंकर बाण धनुष में लगाया। आँखें बन्द करते हुए कुछ मन्त्र बुदबुदाकर उन्होंने उसे धृष्टद्युम्न पर प्रक्षेपित किया। उसकी ध्वनि इतनी भेदक और कर्कश थी कि दोनों ओर के सैनिक साँस रोककर उसे देखते ही रहे। सावधान धृष्टद्युम्न ने उस बाण को पहचानकर प्रत्याघात करनेवाली शक्ति उस पर फेंकी। उस शक्ति ने द्रोणाचार्य के कड़कड़ाते बाण के टुकड़े-टुकड़े कर डाले।

अब बौखला उठे द्रोणाचार्य ने अविरत बाण-वर्षा करते हुए धृष्टद्युम्न को घेर लिया। तब अपने सेनापति की रक्षा हेतु महाबाहु भीमसेन अग्रसर हुआ। कलिंगराज और उसकी प्रचण्ड सेना भीमसेन के मार्ग में बाधा बनकर आयी। उन्होंने उस महाबली वीर पुरुष को चारों ओर से घेर लिया। जिस प्रकार बन्द कक्ष में घिरा हुआ वनबिलाव क्रुद्ध होकर गुर्राता हुआ जिस किसी पर झपट पड़ता है, उसी प्रकार भीमसेन रथ से उतरकर दहाड़ता हुआ कलिंगों पर टूट पड़ा।

भीमसेन ने गदायुद्ध में कलिंग-पुत्र का वध किया। अपने पुत्र को धराशायी हुआ देखकर सन्तप्त कलिंगराज गदा उठाकर रथ से उतर आया। भीमसेन का और उसका गदाओं का खनखनाते हुए भयंकर गदायुद्ध हुआ। दोनों ओर के सैनिक भयचकित होकर उसे देखते रहे। अन्तत: भीमसेन ने अत्यन्त चपलतापूर्वक अपनी भारी गदा का उसके पुष्ट वक्ष पर अचूक प्रहार किया। उस प्रहार से कलिंगराज का लौहत्राण टूट गया। और उसके वक्ष से अविरल रक्तधारा बहने लगी। कलिंगराज मारा गया। भीमसेन की गदा से भयभीत कलिंग-सेना में भगदड़ मच गयी।

इसी बीच दुर्योधन सहित अनेक ने वीर अभिमन्यु को घेर लिया। उसको संकट में फँसा देखकर कृष्णदेव अपने अश्वों को ललकारते हुए नन्दिघोष को अभिमन्यु के पास ले आये। अनेक वीरों से घिरे अपने पुत्र को मुक्त करने हेतु अर्जुन ने गाण्डीव से बाणों की वर्षा की। उसने दुर्योधन और उसके सहायकों को तितर-बितर कर दिया। भानजे की सहायता के लिए पहुँचनेवाले मामा–‘कृष्णदेव’ का वन्दन करते हुए, युद्ध के दूसरे दिन का सूर्य कुरुक्षेत्र के क्षितिज के पीछे

चला गया। रणभेरी और रण-दुन्दुभियों की ध्वनियों से दिन-भर निनादित होकर, गूँजनेवाली कुरुक्षेत्र की रणभूमि, पितामह के द्वारा 'दिन समाप्ति' का शंख फूँकते ही एकदम नीरव हो गयी। श्रान्त-क्लान्त योद्धा अपने-अपने शिविर को लौटने लगे।

रात्रि-भोजन के पश्चात् प्रतिदिन की भाँति आज भी कृष्णदेव के शिविर में हमारी बैठक आरम्भ हुई। धनुर्धर अर्जुन हमें कल की अर्द्धचन्द्राकार व्यूह-रचना की जानकारी देने लगा। किसको किस स्थान पर रहना है, यह बताते हुए वह इतना तन्मय हुआ कि स्वयं को भूल गया। हम भी उसके मुख को एकटक देखते हुए कल क्या करना है, इस विचार में मग्न हो गये। तभी हमारे गुप्तचर-विभाग का प्रमुख वायुसेन हाँफता हुआ शिविर में घुस आया। हमारे मध्य उच्चासन पर आसीन कृष्णदेव को वन्दन करते हुए उसने कौरव-सेनापति के शिविर से प्राप्त की गयी महत्त्वपूर्ण सूचना हम सबके समक्ष प्रस्तुत की।

"कौरव-शिविर में दुर्योधन ने सेनापति भीष्म से अत्यन्त कठोर वचन कहे थे–'दो दिन में लाखों कौरव-सैनिक धराशायी हुए हैं। आप वृद्ध और अनुभवी हैं, इसलिए हमने आपको सेनापति पद पर अभिषिक्त किया। किन्तु आपसे तो कोई विशेष पराक्रम हो ही नहीं रहा है। आप पाण्डवों के पक्षधर हैं। जानबूझकर उनसे सौम्य युद्ध कर रहे हैं।' उसने सबके समक्ष वन्दनीय पितामह पर चुभनेवाला कठोर आरोप लगाया।

"अपमानित हुए प्रक्षुब्ध भीष्म ने प्रतिज्ञा की है कि कल निःशस्त्र कहलानेवाले द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण को मैं शस्त्र उठाने पर विवश करूँगा! अन्यथा वीरगति को प्राप्त हो जाऊँगा!!"

उनकी इस भीष्म-प्रतिज्ञा से सम्पूर्ण कौरव-शिविर उत्साह से फूल उठा है। दुर्योधन ने उसी बैठक में अपनी रणनीति घोषित की है।

द्वारिकाधीश के शस्त्र उठाते ही–'युद्ध-नियमों का भंग हुआ है। युद्ध में नि:शस्त्र उतरने की प्रतिज्ञा किये कृष्ण ने शस्त्र धारण किया है। वह रणभूमि पर पैर रखने के योग्य नहीं रहा है। उसे अर्जुन के सारथि के स्थान से हटाया जाए और जिस प्रकार उसने रुक्मि को रणभूमि से वापस भिजवा दिया, उसी प्रकार उसको भी द्वारिका भिजवा दिया जाए।' इस प्रकार का वितण्डावाद खड़ा करने की योजना में हैं वे।

यह समाचार सुनकर हमारी बैठक एकदम गम्भीर हो गयी–चुप हो गयी। बिना कृष्णदेव के युद्ध का सीधा अर्थ था हमारी पूर्ण पराजय! इसकी कोई कल्पना ही नहीं कर पा रहा था।

हड़बड़ाया अर्जुन बोला, "मेरा विचार है कि श्रीकृष्ण कल रणभूमि में आएँ ही नहीं। तब शस्त्र उठाने का प्रश्न ही नहीं आएगा।" बहुतों ने उसके इस कथन का समर्थन किया। पितामह की प्रतिज्ञा पत्थर की लकीर है, यह जाननेवाले सभी पाण्डव योद्धा आपस में कानाफूसी करने लगे।

कृष्णदेव शान्त ही थे।

कुछ देर बाद बैठक समाप्ति का आदेश देते हुए उन्होंने शान्तिपूर्वक सबसे कहा, "भीष्म-प्रतिज्ञा का क्या करना है, वह मैं देख लूँगा। आप सब शान्ति से निद्रा की आराधना करें!" उन्होंने बैठक ही समाप्त कर दी।

मार्गशीर्ष वद्य चतुर्थी का दिन कुरुक्षेत्र की रणभूमि के क्षितिज के पीछे खड़ा हुआ। सहस्रों अमोघ किरणों के शस्त्रों से सुसज्जित होगा वह। ब्राह्ममुहूर्त में जाग उठे कौरव-सेनापति ने द्रोण,

कृप, अश्वत्थामा के साथ सूर्य सरोवर में स्नान किया। गोदर्शन, पितर-स्मरण, दानधर्म आदि आह्निकों से निवृत्त होकर, शिरस्त्राण, उरस्त्राण, पुष्पमण्डित धनुष-तूणीर, खड्ग, आदि युद्धवेश धारण करते हुए अपने सहायकों सहित वे शिविर से निकले। वे तेजःपुंज आकाश-पुरुष के समान ही दिख रहे थे–घनी शुभ्र दाढ़ी मूँछोंवाले, विशाल वक्ष के, चौड़े, पुष्ट कन्धोंवाले, खदिर-वृक्ष के समान ऊँचे। उनकी चाल काम्बोज देश के हृष्ट-पुष्ट अश्वों के समान थी।

यद्यपि दिन उगना शेष था। द्रोणाचार्य, दुर्योधन और उसके पाँच भ्राता, कृप, अश्वत्थामा, जयद्रथ, कृतवर्मा आदि से दोनों ओर से घिरे हुए कौरव सेनापति गांगेय भीष्म सहस्त्ररश्मि सूर्यदेव के सदृश दिख रहे थे। निश्चय का तेज उनके मुख से छलक रहा था। सभी योद्धाओं के समूह के साथ अपने सेना की सुनियन्त्रित रचना देखने हेतु वे चलते हुए ही रणभूमि पर आये। दो दिन में दोनों पक्षों को मिलाकर कुल दो अक्षौहिणी सेना वीरगति को प्राप्त हुई थी। उनमें पाण्डव सैनिकों की संख्या अधिक थी। पितामह के आदेश से लगभग दस अक्षौहिणी शस्त्र-सज्ज कौरव-सेना की व्यूह-रचना पक्षिराज गरुड़ के आकार की की गयी थी। इस व्यूह-रचना में महत्त्वपूर्ण था उसका अग्रभाग गरुड़ की चोंच। उस चोंच के आकार में अग्रस्थान पर रहनेवाले थे स्वयं भगवान परशुराम-शिष्य, ब्रह्मास्त्र के अधिकारी, महापराक्रमी भीष्म। चोंच के पीछे गरुड़ की ग्रीवा थी। कैकेय और गान्धार-वीर पुरुष उसकी रचना करनेवाले थे। गरुड़ के फैलाये दायें पंख में यादव कृतवर्मा और सिन्धुनरेश जयद्रथ ससैन्य खड़े रहनेवाले थे। गरुड़ के बायें पंख का संरक्षण भगदत्त और भूरिश्रवा करनेवाले थे। गरुड़ के उदर में सुदक्षिण, नील आदि राजा दुर्योधन के संरक्षक बननेवाले थे। कौरव-सेना के विशालकाय गरुड़ की पूँछ के स्थान पर मद्रराज शल्य और अवन्ती के विन्द-अनुविन्द रहनेवाले थे।

गरुड़ के फैलाये हुए दोनों पैरों के नाखून महत्त्वपूर्ण होते हैं। अपने आखेट को वह इन नाखूनों से ही कस लेता है। कौरव-सेना के गरुड़ के पैरों के नाखूनों के स्थान पर बायीं ओर त्रिगर्त के संशप्तक भ्राता और दायीं ओर बर्बर, निषादों के पथक अग्निकंकण, मूसल जैसे मर्मभेदक शस्त्रों से सज्ज रहनेवाले थे। ये सभी पथक प्रतिज्ञापूर्वक शत्रु का प्राण हरण करने के लिए भारतवर्ष में विख्यात थे।

पितामह की यह गरुड़ व्यूह की रचना पाण्डव-सैनिकों को सर्पों की भाँति नोचनेवाली थी। उनकी बाण-वर्षा से आहत हुए पाण्डव-सैनिकों को संशप्तक, बर्बर और निषाद अचानक झपट्टा मारकर दबोचनेवाले थे।

पितामह की यह सैन्य-रचना अत्यन्त चातुर्यपूर्वक, अभेद्य और आक्रामक थी।

सभी योद्धाओं सहित पितामह अपनी व्यूह-रचना–'सेना-गरुड़' के कण्ठ से उतरकर, दोनों पंखों से होते हुए गरुड़ के उदर में आ गये। वहाँ अपने स्थान पर खड़े दुर्योधन से उन्होंने कहा, "हे सुयोधन, आज कृष्ण को अपनी प्रतिज्ञा भंग करने पर मैं विवश कर दूँगा। रणभूमि से उसे बाहर किस प्रकार करना है, यह तुम्हें देखना है। उसके रणभूमि से चले जाते ही, विजयश्री की माला तुम्हारे ही कण्ठ में पड़ेगी।" यह सुनकर वक्ष फुलाते हुए अभिमानी दुर्योधन अविचार से बड़बड़ाया, "हे पितामह, ऐसा होते ही इस बार बिना कोई द्यूत खेले ही कुरु युवराज होने के नाते मैं, उन पाँच पाप-पुत्र पाण्डवों को पुनः वन भिजवाऊँगा–हिमालय के भी उस पार!"

उसके कन्धे पर हाथ रखकर क्षीण मुस्कराते हुए पितामह ने कहा–"मेरी जानकारी के

अनुसार पाण्डवों की सैन्य-रचना आज अर्धचन्द्राकार होगी। उस चन्द्र को किस प्रकार ग्रहण लगाया जाए, यह सोचो। मैं विश्वासपूर्वक कहता हूँ जब तक पाण्डवों की ओर से वासुदेव रणभूमि में उपस्थित हैं, तुम्हें सफलता मिलनी सम्भव नहीं है।"

सबसे बातें करते हुए विशालकाय पितामह गरुड़ की पूँछ में आये। वहाँ उपस्थित शल्य तनिक अप्रसन्न था। वस्तुत: मद्र देश से वह निकला था अपने भानजों–पाण्डवों की सहायता करने। उसकी यात्रा के बीच दुर्योधन ने गुप्त रूप से उसे अनगिनत उपहार देकर, मीठी-मीठी बातों से अपनी ओर कर लिया था। कल की बैठक में दुर्योधन ने पितामह को सूचना देकर उसे कौरव-सेना के गरुड़ की पूँछ के स्थान पर रखवाया था।

अब कुरुक्षेत्र के इस युद्ध नाटक में कल्पना से भी अधिक रंग भरने लगे। उसमें कई सर्ग, आख्यान, उपाख्यान जोड़े गये थे। हम पाण्डवों की सबसे बड़ी शक्ति थी-कृष्णदेव। दूसरी शक्ति थी पाण्डवों की एकता। भीम-अर्जुन के पराक्रम पर पाण्डव पक्ष के सभी राजा और योद्धाओं को पूर्ण और अडिग विश्वास था।

दुर्योधन की कौरव-सेना में छिपे मतभेद की ऊपर से ढँकी हुई कई खाइयाँ थीं। कृष्णदेव उन्हीं खाइयों का सावधानी से लाभ उठानेवाले थे, इसमें मुझे तिल-मात्र शंका नहीं थी। शस्त्र-अस्त्रों से ठसाठस भरे अर्जुन के नन्दिघोष को कृष्णदेव ने हमारी सेना के मध्य लाकर खड़ा कर दिया। आज हमने सैन्य की अर्धचन्द्राकार रचना की थी। मैंने अपने रथ से आगे बढ़कर कृष्णदेव का स्वागत किया। वे अर्जुन के साथ नन्दिघोष रथ से नीचे उतरे। प्रथम उन्होंने अपने चारों अश्वों से अन्य किसी को भी समझ न आनेवाली भाषा में बात की। किसी की पीठ को तो किसी के अयालों को थपथपाया। किसी के अयालों को प्रेम से सहलाया। दूसरे ही क्षण वे मेरे, भीमसेन और उसके पुत्र घटोत्कच, पांचालराज द्रुपद, मत्स्यराज विराट, युधिष्ठिर नकुल-सहदेव और धृष्टकेतु के साथ पैदल ही हमारी सेना का निरीक्षण करने के लिए निकले। वे हमारी सेना की चन्द्ररेखा का इस ओर से उस ओर तक अन्दर-बाहर से निरीक्षण करते हुए अपने स्थान पर लौट आये।

इस चन्द्ररेखा की विशेषता उसके दो छोरों में थी। इन दोनों स्थानों पर चपल, युद्धनिपुण सैनिकों को बिखेरने से, सेनापति के संकेत से उचित समय पर इन दोनों छोरों को एकत्र करते हुए हमारी सेना क्या श्येन, क्या गिद्ध और क्या गरुड़–किसी भी पक्षी को पूरा-का-पूरा निगल सकती थी।

दोनों सेनापतियों ने अपने-अपने स्थान ग्रहण किये। अब चन्द्ररेखा को नोचने हेतु घात में बैठा लाखों सैनिकों का शक्तिशाली गरुड़ और दूसरी ओर उसे पूरा-का-पूरा निगलने के लिए आँख गड़ाकर ताकनेवाली लाखों सैनिकों की चन्द्ररेखा। इस प्रकार बहुत ही लोमहर्षक दृश्य था कुरुक्षेत्र में। सूर्योदय न होने के कारण दोनों ओर के सेनासागर भीतर-ही-भीतर उबलने लगे।

तेजस्वी सूर्य-बिम्ब के क्षितिज पर आते ही नन्दिघोष में खड़े कृष्णदेव ने अपनी ग्रीवा ऊँची कर दुग्ध-धवल दिव्य पांचजन्य शंख को फूँका। दोनों ओर के सेनापतियों ने भी शंख फूँके। उनके पीछे-पीछे पाँचों पाण्डव-भ्राताओं के शंख गूँज उठे। कई शंखों के नाद आपस में मिश्रित हो गये। शीतल पवन-झकोरों से रथों पर लगी ध्वजा-पताकाएँ फहराने लगीं। रथदल और अश्वदल के अश्व हिनहिनाने लगे। गजदल के सहस्रों हाथी चिंघाड़ते हुए सूँड़ें हिलाने लगे। 'आरो ऽ ह...आ ऽ क्र ऽ मण ऽ' की प्रेरक ललकारों के साथ दोनों ओर के सैनिक आपस में टकरा गये।

आज भीष्म और द्रोण दोनों हठ पर उतर आये थे। पाण्डव-सेना के अर्धचन्द्राकार व्यूह को तोड़ने के लिए उन्होंने पूरी शक्ति लगाकर आक्रमण किया। भीमसेन और घटोत्कच ने उन आक्रमणों को चुटकियों में विफल कर दिया। इससे क्षुब्ध होकर दुर्योधन अग्रसर हुआ। बाण-वर्षा से उसने घटोत्कच को आच्छादित कर दिया। अपने पुत्र को आँखों से ओझल होते देख भीमसेन ने बड़े आवेश से एक तेजस्वी बाण दुर्योधन के वक्ष पर चलाया। उसके लौहत्राण को भेदकर वह बाण उसके वक्ष में घुस गया। आहत दुर्योधन के हाथ से उसका पुष्पमण्डित धनुष नीचे गिर गया। स्वयं दुर्योधन भी मूर्च्छित होकर रथ में गिर पड़ा। अपने सेनानायक को मूर्च्छित हुआ देखकर भयभीत कौरव-सेना इधर-उधर भागने लगी। दोनों हाथ ऊपर उठाकर चिल्लाता हुआ दु:शासन अपने सैनिकों को रोकने का असफल प्रयास करने लगा। मूर्च्छित दुर्योधन के भव्य रथ को उसका सारथि सेना से बाहर ले गया।

पाण्डव-सेनापति धृष्टद्युम्न और ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर ने भीष्म और द्रोण की आँखों के आगे कौरव-सेना पर प्रलयकाल के पर्जन्य के सदृश भयावह बाण-वर्षा की।

शकुनि और उसके दस भ्राताओं की सेना में मैं और अभिमन्यु 'आरो ऽ ह ऽ आ ऽ क्रमण ऽ' की घोषणा करते हुए घुस गये। दायें से हमें धनुर्धर अर्जुन की सेना की सहायता मिल रही थी।

रथ को सेना के बाहर ले गये दुर्योधन के सारथि ने काष्ठनलिका से औषधि सुँघाकर उसे मूर्च्छा से जगाया। सावधान होते ही वह गरज उठा, "कहाँ है पाण्डवों का वह पेटू? हमारे सैनिक इस प्रकार भाग क्यों रहे हैं?" सारथि के उसे वास्तविक स्थिति का भान दिलाते ही वह सँभल गया। अपने रथ को अपनी सेना में घुमाता, दोनों हाथ ऊपर उठाकर गला सूखने तक चिल्लाता रहा, "अरे भीरुओ, कहाँ भाग रहे हो? मैं तुम्हारा स्वामी हूँ। मूर्च्छित स्थिति में मुझे यहीं छोड़कर भागते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आ रही?" उसके चीखने-चिल्लाने से भयभीत हुए उसके सैनिक रुक गये और शस्त्र घुमाते हुए पुन: युद्धभूमि में लौटने लगे। अब दुर्योधन के प्राणों में प्राण आये। उसने अपने सारथि को रथ सीधे पितामह और आचार्य द्रोण के समीप ले जाने का आदेश दिया।

उसने कठोर शब्दों में पितामह से कहा, "पितामह, आप और आचार्य द्रोण जैसे दिग्गज धनुर्धरों के होते हुए हमारे सैनिकों में खलबली मची है। क्या यह उचित है? आप मेरे लिए सचमुच युद्ध कर रहे हैं कि युद्ध करने का नाटक रच रहे हैं? मेरे इन सैनिकों को युद्धभूमि से पलायन करते देखकर मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि आप मेरे शत्रुओं–पाण्डवों के पक्षधर हैं। आप दोनों आज मनःपूर्वक युद्ध नहीं कर रहे हैं। आपका शरीर मेरी सेना में और मन पाण्डवों की ओर है।...

"हे पितामह, आप पहले ही मुझे स्पष्ट कह देते तो मैं दिग्विजयी, अजेय धनुर्धर, अंगराज कर्ण को ही सेनापति पद पर अभिषिक्त कर देता। तब अपकीर्ति की यह विपत्ति मुझ पर नहीं आती।"

दुर्योधन का यह कठोर वाक्ताड़न सुनकर भी पितामह भीष्म शान्त ही रहे। उन्होंने कहा, "हे गान्धारी-पुत्र, आधा राज्य तुम पाण्डवों को दे दो। किसी भी अन्याय के अधिकारी मत बनो। पाण्डव अजेय हैं। वे श्रीकृष्ण वासुदेव की कृपाछाया में हैं। तुमसे यह बात कहते-कहते मैं थक गया हूँ। तुमने किसी की भी कोई बात नहीं सुनी।

"अब भी तुमने जो कुछ कहा, वह छोटे मुँह बड़ी बात है। तुम्हारे लिए नहीं बल्कि शान्तनु-पुत्र गांगेय के व्रत को जो शोभा देगा, मैं वही कर्म करूँगा। जिनके केवल स्मरण से ही मेरा रोम-रोम हर्षित हो उठता है, मैं अपने उन गुरुदेव भगवान परशुराम के शिष्यत्व के गौरव के अनुकूल ही

व्यवहार करूँगा।

"अपनी बक-बक बन्द करो और आँखें खोलकर देखो कि भीष्म किस सत्य का नाम है और उसकी प्रतिज्ञा काल के भी काले पत्थर पर खिंची कैसी धवल रेखा है!"

पितामह ने कठोर वाणी में अपना रथ सीधे अर्जुन के नन्दिघोष के आगे ले जाने का आदेश अपने सारथि को दिया।

'नन्दिघो ऽ ष–नन्दिघो ऽ ष!' उनकी दृष्टि में साक्षात् काल को भी थर्रा देनेवाला आतंक लबालब भरा हुआ था। आसपास के रथों पर आरूढ़ योद्धा और सारथि भयभीत होकर अपने शस्त्र ही नीचे रख दें–इस प्रकार वे गरज उठे, "हे मूढ़ कौरव, यदि आज मैं साक्षात् वसुदेव-पुत्र वासुदेव को, जीवन-भर जिसने यश के अतिरिक्त कुछ नहीं पाया, उस यशोदानन्दन को शस्त्र उठाने पर विवश न कर दूँ तो मेरा भी नाम गंगापुत्र भीष्म नहीं–"

अपना धनुष ऊँचा उठाकर उन्होंने आवेशपूर्ण घोषणा की–'आ ऽ क्रमण!' गरगर घूमते अग्निकंकण की भाँति उनका तेजस्वी गंगौघ रथ हमारी सेना में अविरुद्ध गति से भ्रमण करने लगा। कई रथियों को उन्होंने विरथ किया, महावीर महारथियों को मार गिराया। 'जय गंगा ऽ' गरजते हुए उनके चलाये गये बाण चारों दिशाओं में हाहाकार मचाने लगे। हमारे पदातियों के पथक रणभूमि को पीठ दिखाकर भागने लगे।

निरंकुश हुए भीष्म के सनसनाते गतिमान बाणों ने मेरे सारथि को अचूक लक्ष्य बनाया। वह रथनीड़ से युद्धभूमि पर गिर पड़ा। मेरा रथ एक ही स्थान पर स्थिर हो गया। मैं एकाएक दिग्भ्रमित और किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। मेरे सारथि को धराशायी हुआ देख अर्जुन के रथचक्रों का संरक्षण करनेवाले मेरे पथक के अन्य कई रथों के सारथि रथ छोड़कर भाग खड़े हुए। अर्जुन के रथचक्रों के रक्षकों का घेरा शिथिल हो गया। रणकुशल देवव्रत भीष्म ने इस अवसर को अचूक पाकर अपने रथदल को नन्दिघोष को घेरने की आज्ञा दी। मैं अपने एक ही स्थान पर फँसे रथ से, हतबुद्धि होकर नन्दिघोष की ओर देखता रहा। भ्रमचित्त हुए धनुर्धर अर्जुन ने कृष्णदेव से कहा "हे यादवश्रेष्ठ, ऐसा कौन है जो मुझसे युद्ध कर सके? मैंने अतुल प्रतापी राक्षसों का वध किया है। तुम रथ को आगे बढ़ाओ।" और भीष्म पर शरवर्षा करने लगा।

अर्जुन का वह आक्रामक शरसन्धान भीष्म को क्षुब्ध करने लगा।

गांगेय भीष्म अत्यधिक क्रुद्ध हुए। हमारा धनुर्धर अर्जुन उनकी दृष्टि में तो बच्चा था। उनका मुखमण्डल प्रलयकाल के महोदधि सदृश दिखने लगा। रणोन्मत्त होने के कारण वे अर्जुन से भी अधिक युवा योद्धा लग रहे थे। वे अर्जुन के सैनिकों के मस्तक कन्दुक की भाँति आकाश में उड़ाने लगे। उनके टंकारते हुए धनुष से मघा मेघ के सदृश बाण-वर्षा होने लगी और उनके समक्ष आनेवाले योद्धाओं को आहत करने लगी। उनके अंजलिक, सर्पमुख, भल्ल, नाराच आदि बाणों ने हमारी सेना के हाथियों के मदरस से सने गण्डस्थलों को बेध डाला। उनके चन्द्रमुख, बस्तिक, कंकपत्र, गजास्थि, शिलिमुख बाणों ने हमारे अश्वदल के पुष्ट अश्वों को आहत कर दिया। पितामह के जिह्म, सूची आदि बाणों से त्रस्त हुए ऊँट इधर-उधर अस्त-व्यस्त होकर दौड़ते हुए अपने ही सैनिकों को पैरों-तले कुचलने लगे। अपनी 'भीष्म अर्थात् भयावह' उपाधि को वह सेनापति प्रभावशाली ढंग से प्रमाणित कर रहा था।

नन्दिघोष के सारथि कृष्णदेव सारथ्य-कर्म की अपनी पूरी कुशलता दाँव पर लगा रहे थे। रथ

के चारों अश्व उनकी वल्गाओं के संकेत पर कभी अगले खुर उठाकर उछल रहे थे तो कभी पैर मोड़कर अचानक नीचे झुक रहे थे। उससे भीष्म के बाण व्यर्थ हो रहे थे। फिर भी उनका चतुर सारथि इस कौशल्य से अपने रथ को नन्दिघोष के चारों ओर घुमा रहा था कि अर्जुन को क्षण में आगे, क्षण में पीछे, इस प्रकार सभी दिशाओं में पितामह-ही-पितामह दिखाई देने लगे। वह भ्रमित हो गया। उसके हाथ का गाण्डीव क्षण-भर रुक गया। यह अवसर पाकर भीष्म ने बाण-वर्षा से उसके गाण्डीव को रथ में ही गिरा दिया। शरीर में स्थान-स्थान पर घुसे अनेक बाणों से आहत हुआ अर्जुन नन्दिघोष के ध्वजदण्ड को थामकर फिसलता हुआ मूर्च्छित हो गया। उसके सैन्यदल में प्रचण्ड हाहाकार मच गया। अपने शस्त्रों को जैसे-तैसे सँभालते हुए सैनिक अपनी प्राणशक्ति एकत्रित कर कृष्णदेव से याचना करने लगे–'रक्षा कीजिए ऽ द्वारिकाधी ऽश–पितामह के बाणों से हमारी रक्षा कीजिए। हमें प्राणदान दीजिए।'

चारों दिशाओं से यह आक्रोश आरम्भ होते ही निरुपाय होकर कृष्णदेव नन्दिघोष से नीचे उतरे। पितामह के सारथि ने यह सूचना उनको दी। मैं दूसरे सारथि को लेकर अर्जुन की सहायता के लिए नन्दिघोष के निकट आया। अर्जुन की चेतना वापस लाना मेरा पहला कर्तव्य था। नन्दिघोष पर रखी काष्ठनलिका से दिव्य औषधि की गन्ध मैंने अर्जुन को सुँघायी। वह सचेतन हुआ। सँभलते ही उसने पहला प्रश्न पूछा, "कृष्ण कहाँ हैं?" हमारी दृष्टि रणभूमि पर घूमने लगी। नन्दिघोष पर कृष्णदेव के दिखाई न देने से पितामह भी सम्भ्रम में पड़ गये। धनुष को त्यागकर उन्होंने शरसन्धान रोक दिया था। वे भी अपने सारथि से पूछ रहे थे, 'कृष्ण कहाँ हैं?' वे भी अपने रथ से रणभूमि पर उतर आये।

कृष्णदेव कुछ ढूँढ़ते हुए उनके ही रथ की ओर जा रहे थे। नन्दिघोष को छोड़कर मैं और अर्जुन दौड़ते हुए उनके समीप पहुँचे। तभी धीमे-धीमे डग भरते पैदल उनकी ही ओर आते सेनापति भीष्म कृष्णदेव को दिखाई दिये। उन्होंने रणभूमि में पड़ा एक रथचक्र उठाकर दोनों हथेलियों पर उसे आवेश से गरगर कर घुमाया। क्षण-भर उसे आकाश में उड़ाकर फिर दोनों हाथों पर तोल दिया। अत्यन्त आवेश से वे भीष्म की ओर दौड़ने ही वाले थे कि मेरे साथ चलता हुआ अर्जुन आगे छलाँग लगाकर उनके चरणों में लिपट गया और उनसे प्रार्थना करने लगा, "हे अच्युत, मत चलाओ इस चक्र को!" दोनों हाथों से उठाये रथचक्रों को सँभालते हुए कृष्णदेव ने मुस्कराकर अर्जुन की ओर देखा।

हाथ जोड़कर, आँखें बन्द करते हुए, शुभ्र दाढ़ीधारी पितामह कृष्णदेव के आगे निश्चल, शान्त खड़े थे। सम्भवत: यही सोचते हुए कि–'हे माधव, यदि तुम ही मुझे मारना चाहोगे तो कौन बचा पाएगा मुझे? हे मधुसूदन, मेरा सौभाग्य है कि चक्रधारी रूप में मुझे तुम्हारे दर्शन हुए। अब तनिक भी विलम्ब न करते हुए अपने हाथ के चक्र से मेरा मस्तक इस प्रकार उड़ा दो कि वह तुम्हारे ही चरणों में आ गिरे!'

अपने आगे निश्चल खड़े भीष्म की ओर देखकर भी कृष्णदेव मुस्कराये। उनके विमल गुलाबी होंठों के पीछे छिपा दाँत कुरुक्षेत्र की रणभूमि में उस दिन के सान्ध्य प्रकाश में चमक उठा। कृष्णदेव ने मुस्कराते हुए वह रथचक्र धरती पर फेंक दिया। दोनों भुजाओं को फैलाकर, उनको सर्वप्रथम 'वासुदेव' की उपाधि देकर पहचाननेवाले पितामह भीष्म को उन्होंने आलिंगन में कसकर ले लिया।

हस्तिनापुर का जलपुरुष द्वारिका के जलपुरुष से मिल गया।

दोनों महापुरुष बिना कुछ बोले ही एक-दूसरे से अलग हो गये।

इसी समय सूर्य कुरुक्षेत्र के पश्चिम क्षितिज पर डूब गया। युद्ध रुक गया। दोनों महापुरुष शान्तिपूर्वक अपने-अपने शिविर में चल पड़े।

उस रात्रि में भोजन के पश्चात् श्रीकृष्णदेव के शिविर में हुई हमारी बैठक में कुछ अन्य चर्चा नहीं हुई। केवल अगले दिन के लिए व्यूह-रचना की ही चर्चा हुई।

किन्तु पितामह के शिविर में हुए कौरव-योद्धाओं की बैठक में दुर्योधन की पूरी योजना पर पानी फिर गया था। कृष्णदेव के चक्र-शस्त्र उठाने का उल्लेख करते हुए कण्ठ की धमनियाँ फुलाकर वह अपने सेनापति से कह रहा था, "उस ग्वाले ने प्रतिज्ञा भंग की है। उसके शिविर में शीघ्र दूत भेजकर उसे अर्जुन के सारथि पद से हटाने को कहा जाए। उससे कहा जाए कि द्वारिका लौट जाने के लिए वह मुक्त है।" भीष्म ने दुर्योधन की बक-बक को शान्त होने दिया। तत्पश्चात् अपने उच्चासन से उठे और उसके निकट जाकर ज्येष्ठता के नाते उसके पुष्ट कन्धों को थपथपाते हुए पितामह ने उससे कहा, "दुर्योधऽन! अब भी समय है, इस विनाशकारी महाभयानक युद्ध को रोक दो। न तो तुम और न तुम्हारे भ्राताओं में से कोई भी, इतना ही नहीं–ग्यारह अक्षौहिणियों से बची हमारी सेना में भी कोई ऐसा नहीं है जो श्रीकृष्ण के आसपास भी खड़ा रह सके। उसे पहचानने में तुम भूल कर रहे हो। सँभालो अपने-आप को। श्रीकृष्ण ने किसी भी प्रकार नियम भंग नहीं किया है। उसने जो अपने हाथों में उठाया था, वह रथचक्र था–शस्त्र नहीं। वह भी क्यों उठाया था उसने? इसे केवल मैं ही जान सकता हूँ। रथचक्र को उठाकर उसने मेरी प्रतिज्ञा को पूरा होने दिया–बिना अपनी प्रतिज्ञा को भंग किये। अत: ज्येष्ठ होने के नाते मैं तुमसे कह रहा हूँ, रोक दो इस युद्ध को। पाण्डवों को उनका इन्द्रप्रस्थ लौटा दो। तब हमें हस्तिनापुर और पाण्डवों को इन्द्रप्रस्थ भेजकर वह ग्वाला द्वारिका चला जाएगा!" दुर्योधन को यह स्वीकार होना सम्भव ही नहीं था।

कुरुक्षेत्र के स्थितप्रज्ञ और शाश्वत क्षितिज पर युद्ध के चौथे दिन की तेजस्वी आकाशवाणी चमकने लगी। सेनापति भीष्म की अचूक सूचनाओं के अनुसार कौरव-योद्धाओं ने आज अपनी सेना को आक्रमण के लिए तैयार करते हुए वृषभ के आकार में रचा था। सेना के सँकरे मुख पर स्वयं भीष्म, द्रोण, कृप, दुर्योधन, अश्वत्थामा आदि योद्धाओं सहित शस्त्र-सज्ज होकर खड़े हुए। वृषभ के विस्फारित नासापुटों के स्थान अवन्ती के विन्द-अनुविन्द ने ले लिये। वृषभ के ऊपर उठाये हुए सींगों में राजा चल और शल्य ने अपने सैनिकों को स्थापित कर दिया। वृषभ के पुष्ट कन्धों के स्थान पर राजा सुदक्षिण और नील थे। वृषभ के दायीं ओर झुके पुष्ट ककुद के स्थान पर कैकेयों ने अपने सैनिकों की पंक्तियाँ खड़ी कीं। वृषभ के विशाल उदर में भगदत्त, भूरिश्रवा और जयद्रथ खड़े हो गये। यादव-प्रमुख महारथी कृतवर्मा ने वृषभ की वृत्ताकार उठायी पूँछ के आकार में अपनी सेना की रचना की और स्वयं उसके अग्रस्थान पर रहा। इन यादव-सैनिकों को पितामह ने आज विश्राम ही दिया था, किन्तु आगे वे इसकी पूर्ति करनेवाले थे। उस विशालकाय वृषभ के अगले दो और पिछले दोनों पैरों के स्थान पर मुख्यत: लड़ाकू वन्य जातियों के सैनिक थे। अगले दो पैरों में थे दरद और यवन-सैनिक तथा पिछले दो पैरों में थे बर्बर और निषाद-सैनिक।

रात्रि में हमारे गुप्तचरों द्वारा कौरव-सेना की वृषभ-रचना की सूचना मिलते ही कृष्णदेव ने

सेनापति धृष्टद्युम्न को पाण्डव-सेना के लिए, गजराज के आकार में रचना करने का निर्देश दिया। हमारा गजराज गण्डस्थल को झुकाकर आगे आनेवाले को टक्कर देने की मुद्रा में खड़ा हुआ। गण्डस्थल के महत्त्वपूर्ण स्थान पर बलिदानी पथक और समुद्र के पास के धैर्यवान पाण्ड्य-सैनिकों को नियुक्त किया गया। गज की पीछे मुड़ी सूँड़ के आकार में धृष्टकेतु के सैनिक थे। हमारे विशालकाय गजराज के उदर में थे पाँचों पाण्डव और जयसेन के मागध-सैनिक। उसका विशाल पृष्ठभाग विराट और पांचाल-सैनिकों से व्याप्त था। तीन दिन तक अथक युद्ध करनेवाली इन दोनों ओर की सेनाओं को विश्राम दिलाने की कृष्णदेव की यह रणनीति थी। महात्मा विदुर के कारण हमारी सेना में आये कुछ म्लेच्छ गजराज की छोटी पूँछ के आकार में थे।

बीते हुए तीन दिनों में अनगिनत योद्धाओं के प्राणप्रिय शंख बाणों की मार से भग्न हो चुके थे। प्रमुख योद्धाओं ने बड़े प्रयास से अपने-अपने शंख सँभाल रखे थे। नित्य की भाँति आज भी पहला शंख हमारे नन्दनन्दन कृष्णदेव ने बजाया। उनके पीछे-पीछे पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, पाँचों पाण्डव, अश्वत्थामन्, कृपाचार्य के शंख गूँज उठे। तुमुल रणघोष के साथ चौथे दिन के भयंकर युद्ध का आरम्भ हुआ। द्रोण, दुर्योधन सहित बाल्हीक, दुर्मर्षण, जयद्रथ आदि के रथों से घिरा हुआ पितामह भीष्म का सात शुभ्र-धवल अश्वोंवाला गंगौघ रथ झपट्टा मारकर अग्रसर हुआ। उन सबने अर्जुन पर चढ़ाई की। हमारी सेना के दायीं ओर लड़नेवाले वीर अभिमन्यु को पाँच वीरों ने घेर लिया था। दोनों पिता-पुत्र बड़े धैर्य से, निश्चयपूर्वक अपने युद्ध-कौशल्य से इन सामूहिक आक्रमणों का प्रतिकार करते रहे। अर्जुन का दिव्य गाण्डीव धनुष कड़कड़ाती सौदामिनी की भाँति चमकने लगा। तभी हमारे धृष्टद्युम्न ने चल राजा के पुत्र का वध कर दिया। इससे कौरवों की ओर कोलाहल मच गया। चल और शल्य ने एक साथ धृष्टद्युम्न को घेरकर उसका धनुष तोड़ डाला। धृष्टद्युम्न को शस्त्रहीन हुआ देख वीर अभिमन्यु चपलता से उसकी सहायता करने हेतु दौड़ा। अपने अनिवार्य बाणों से उसने शल्य को ऐसे जकड़ दिया कि उसके सैनिक सहायता के लिए दुर्योधन को पुकारने लगे। उनका आक्रोश सुनकर दुर्योधन ने सबसे पहले लालभभूका होते हुए अपने 'विदारक' शंख को फूँका। उसके बाद अपने रथ से ही चपल गतिविधियाँ करते हुए जयद्रथ के सैन्धव पथक के प्रचण्ड हाथियों को उसने शल्य की सहायता के लिए उसकी ओर घुमाया। सूँड़ उठाकर चीत्कार करते हाथियों की चिंघाड़ में दुर्योधन की घोषणाएँ मिलने लगीं। –'आ ऽ क्रमण ऽ कुचल कर उद्ध्वस्त कर डालो अभिमन्यु और धृष्टद्युम्न की सेनाओं को...'

दुर्योधन के हाथियों के आक्रमण के आगे पुत्र अभिमन्यु टिक नहीं पाएगा, यह ध्यान में आते ही भीमसेन रथ से नीचे उतर गया। उसने इडादेवी और कुन्ती माता की जयकार की। आँखें विस्फारित करते हुए 'आ ऽ क्रमण ऽ' चिल्लाते हुए उसने अपनी स्वर्ण विलेपित भारी गदा को प्रचण्ड गति से घुमाना आरम्भ किया। हाथियों के गण्डस्थलों पर वह इस कौशल और चपलता से तड़ातड़ प्रहार करने लगा कि आघात से मर्माहत हुए कई हाथी बिदककर पीछे मुड़ गये और भीम से भयभीत होकर अपने ही सैनिकों को पैरों-तले कुचलते हुए भागने लगे। उस विकट संग्राम में दुर्योधन कहाँ-से-कहाँ फेंक दिया गया, किसी को पता नहीं चला।...

स्वयं उसे रोकने के लिए धृतराष्ट्र के आठ रथारूढ़ पुत्रों को आते हुए भीम ने दूर से देखा। वह झट से पुन: रथारूढ़ हुआ और चिल्लाया–'विशो ऽ क, वल्गाओं को खुली छोड़ दो। केवल संकेत से ही अपने रथ को उस अष्टक के आगे ले लो।' दृष्टिपथ में दुर्योधन के आठों भ्राताओं के आते ही भीमसेन ने विधुत्-गति से उन पर अविरत बाण-वर्षा की। प्रबल वायु के झोंके जिस प्रकार पके

फलों को वृक्ष से धरती पर गिरा देते हैं, वैसे ही भीमसेन ने दुर्योधन के आठों भ्राताओं को धरती पर गिरा दिया।

अपने एक नहीं–आठ भ्राताओं का पतन हुआ देखकर क्रुद्ध दुर्योधन गर्जना करता हुआ भीमसेन की ओर दौड़ा। उसने एक अमोघ शक्ति भीम पर प्रक्षेपित की। उससे भीम को चक्कर आने लगा। ध्वजस्तम्भ को टेककर वह रथ में ही बैठ गया। अपने पिता–भीम को पहली बार मूर्च्छित होते देख घटोत्कच उसकी सहायता करने दौड़ा। उसने अपने राक्षसी, मायावी युद्ध से दुर्योधन की सेना को भयभीत कर दिया। तब भीष्म ने दुर्योधन से कहा, "हे कौरव, सन्ध्या के समय राक्षस अधिक बलवान होते हैं। घटोत्कच राक्षस-कुलोत्पन्न है। अब सूर्यास्त हो रहा है। युद्ध को रोक दो।"

पितामह की आज्ञा से दुर्योधन रुक गया। सूर्य डूब गया। चौथे दिन का युद्ध समाप्त हुआ।

मूर्च्छित भीम को शिविर में लाया गया है, यह ज्ञात होते ही कृष्णदेव नन्दिघोष को धड़धड़ाते हुए सीधे भीमसेन के शिविर में ले आये। नन्दिघोष में लटकायी दिव्यौषधि की काष्ठनलिका लेकर ही वे रथ से नीचे उतरे। सभी पाण्डव-सैनिकों ने अभिवादन करते हुए उनके लिए मार्ग खुला कर दिया। शिविर के अन्दर जाते ही आस्तरण पर लिटाये भीमसेन का मस्तक उन्होंने अत्यन्त ममता से अपनी गोद में ले लिया। दिव्यौषधि की नलिका उसको सुँघायी गयी।

कुछ समय बाद भीम सचेत हुआ। जैसे पश्चिम सागर के उदर से देवमत्स्य उछल पड़ता है, वैसे ही वह सीधा उठ बैठा! उठते ही उसने पूछा, "कहाँ है वह धृतराष्ट्र-पुत्र?" निर्मल मुस्कराहट के साथ द्वारिकाधीश ने कहा, "वह अपने शिविर में है। आज का युद्ध समाप्त हुआ है। तुम भी हाथियों से लड़कर श्रमित हो गये हो। अब विश्राम करो। कल देखेंगे।" बलात् उन्होंने भीमसेन को पुन: अपनी गोद में सुलाया। जब वह खर्राटे भरने लगा तब उसका मस्तक अपने हाथों से हल्के से नीचे रखते हुए वे उठे। किसी से कुछ भी बोले बिना, धीमे पगों से वे अपने शिविर की ओर चलने लगे। मैं उनके पीछे हो लिया। मार्ग के दोनों ओर के सैनिक धड़ाधड़ उनके चरणों में लोटने लगे। किन्तु उनका उस ओर ध्यान ही नहीं था। किसी विचार में मग्न वे चलते ही रहे।

रात्रि में कृष्णदेव के शिविर में हमारी बैठक आरम्भ हुई। हमारे गुप्तचर-प्रमुख ने नम्र अभिवादन के साथ भीष्म के शिविर से प्राप्त सूचना कृष्णदेव के आगे रखी। पितामह भीष्म कल–पाँचवें दिन पुन: मकर-व्यूह की रचना करनेवाले थे।

अब तक दोनों पक्षों की अठारह अक्षौहिणी सेना में से छह अक्षौहिणी सेना धराशायी हो चुकी थी। कुरुक्षेत्र के सभी सरोवरों के तट पर शवों के ढेर-के-ढेर प्रज्वलित चिताओं में जलकर अनन्त में विलीन हो रहे थे। निष्णात वैद्य सेवाकक्ष में आहत सैनिकों की चिकित्सा कर रहे थे।

कृष्णदेव ने भीमसेन से परामर्श करके, सबको कल के श्येन पक्षी की व्यूह-रचना के विषय में सूचनाएँ दीं। आज की बैठक का उन्होंने शीघ्र ही समापन किया। सभी सेना-प्रमुख उनके चरणस्पर्श कर विश्राम हेतु अपने-अपने शिविर जाने के लिए निकले। मैं भी निकलने ही वाला था कि 'सात्यकि, तुम रुक जाओ' कहते हुए उन्होंने मुझे रोक लिया। आज के उनके 'सात्यकि' सम्बोधन में एक अलग ही आत्मीयता मुझे प्रतीत हुई। सभी योद्धाओं के चले जाने के पश्चात् अत्यन्त आत्मीयता से उन्होंने मुझसे पूछा, "हे यादव-सेनापति, जानते हो, आज तक युद्धभूमि में कितने सैनिक मृत्यु को प्राप्त हुए हैं?"

मैं चौकन्ना हुआ। यह प्रश्न अनपेक्षित था।

वे अपने उच्चासन से उठे। मेरे समीप आकर अपना दायाँ हाथ मेरे बायें कन्धे पर रखते हुए उन्होंने अत्यन्त स्थितप्रज्ञ भाव से कहा, "दोनों सेनाओं में से छह अक्षौहिणी अर्थात् लगभग पन्द्रह लाख योद्धा वीरगति को प्राप्त हो चुके हैं। कैसा लगता होगा उनके सम्बन्धियों को? दुर्योधन को हर प्रकार से मैं समझा-समझाकर थक गया।....सखा सात्यकि, युद्ध में अपने वश में कुछ भी नहीं होता। अनादि और अनन्त काल को जो स्वीकार हो, वही युद्ध का निर्णय होता है।...कल यादव-सेनापति को जमकर युद्ध करना है, सात्यकि! जाओ, निद्रादेवी की गोद में सो जाओ।"

उनके चरण छूकर शिविर से निकलते हुए मुझे तीव्रता से प्रतीत हुआ कि उन्होंने अकेले मुझे ही रोक लिया था। युद्ध आरम्भ होने के बाद चार दिन में पहली बार उन्होंने मुझे 'सखा' कहा था। मैंने स्वयं को समझाया, सम्भवत: यादवों में ज्येष्ठ केवल मैं ही कुरुक्षेत्र में उनके निकट था, इसीलिए ऐसा हुआ होगा।

मार्गशीर्ष वद्य षष्ठी का दिन उदित हुआ। कृष्णदेव के पांचजन्य शंखनाद के साथ हमारी सेना का श्येन पक्षी रणघोषणा का गगनभेदी चीत्कार करता हुआ कौरव-सेना के मकर पर टूट पड़ा। शिखण्डी अपनी सेना के साथ पितामह और चित्रसेन से भिड़ गया। सेना के मध्य आचार्य द्रोण और शिष्य धनंजय के बीच घनघोर संग्राम छिड़ गया। कृष्णदेव के सारथ्य में अर्जुन ने अपने रथदल, गजदल, अश्वदल और पदातियों सहित ऐसी चपल चाल चली कि गुरुदेव द्रोण चारों ओर से घिर गये। तब कौरव-सेनापति भीष्म ने अपने शंख संकेत से कलिंग, जयद्रथ और शकुनि को अपनी सेनाओं सहित अर्जुन पर टूट पड़ने का आदेश दिया। भीमसेन ने जयद्रथ पर आक्रमण किया। युधिष्ठिर मद्रराज शल्य से लड़ने लगा। श्येन पक्षी के एक पंख पर से सहदेव विकर्ण पर टूट पड़ा। दूसरे पंख पर से हमारा सेनापति धृष्टद्युम्न नकुल के साथ कृपाचार्य की सेना से भिड़ गया।

मैं अपने दस पराक्रमी पुत्रों को अपने दायें-बायें लेकर भूरिश्रवा पर टूट पड़ा। उसके भ्राता भूरि और शल उसको संरक्षण दे रहे थे। भूरिश्रवा सोमदत्त का पुत्र था। कुरुश्रेष्ठ बाल्हीक का प्रपौत्र और प्रत्यक्ष पितामह भीष्म का चचेरा भतीजा था। वह अत्यन्त पराक्रमी और खड्गयुद्ध में अजेय योद्धा था।

भूरिश्रवा ने पहले ही आघात में अपने स्वर्णिम सर्पमुख बाणों से मेरी सेना के अग्रभाग को तितर-बितर कर दिया। मेरे दस पितृभक्त पुत्र मुझे संरक्षण देते हुए, लड़ते-लड़ते आगे बढ़ते रहे। उनके और भूरिश्रवा तथा उसके भ्राताओं के बीच घोर धनुर्युद्ध छिड़ गया। दोनों ओर की बाण-वर्षा से समरभूमि धुँधला गयी। मेरे रथ को बीच में रखकर मेरे दसों शूर धनुर्धर पुत्र एक प्रहर तक अथक लड़ते रहे। शीघ्र ही उन्होंने भूरिश्रवा को घेर लिया। मैं पीछे ही रह गया। मेरे पुत्रों ने अपने बाणों से भूरिश्रवा का वध करने का निश्चय किया था। किन्तु उसके कुशल धनुर्धर भ्राता भूरि और शल उसका दृढ़ कवच बन गये थे। तीसरे प्रहर में क्षुब्ध हुए भूरिश्रवा ने अपने भ्राताओं को पीछे हटने की आज्ञा देकर सागर से उछल पड़नेवाले मगरमच्छ की भाँति उछलकर अपने रथ को कौरव-सेना के आगे ले लिया। जैसे वह एक अजेय खड्ग योद्धा था, वैसा ही साक्षात् पितामह से धनुर्वेद प्राप्त किया धनुर्धर भी था। गंगापुत्र भीष्म की जयकार करते हुए उसने दस वेगवान्

सर्पमुख बाण एक के बाद एक मेरे पुत्रों पर अचूक रूप से प्रक्षेपित किये। वे किसी के वक्ष में, किसी के कण्ठनाल में तो किसी के सीधे मस्तक में घुस गये। वृक्ष से गिरनेवाले कटहल के पके फलों की भाँति मेरे आज्ञाकारी दसों पुत्र एक के बाद एक नीचे गिरे–कोई रथ में तो कोई रणभूमि में! वह दुर्दशा देखकर क्षण-भर मैं जड़वत् हो गया! आज तक मैं यादवों के लिए कभी बलराम भैया के साथ, कभी अनाधृष्टि के साथ तो कभी श्रीकृष्णदेव के साथ कई अभियानों में सम्मिलित हुआ था। कभी-कभी मुझ पर प्राणान्तक प्रहार भी हुए थे, किन्तु किसी भी विकट संग्राम में मैंने ऐसे मर्मभेदी प्रसंग को अनुभव नहीं किया था! आज मेरा पितृहृदय शतश: विदीर्ण हुआ था।

पिता के समक्ष पुत्र के देहान्त का मानसिक आघात बड़ा ही भयंकर होता है। एक के बाद एक दस पराक्रमी पुत्रों का गतप्राण होना तो मुझ पर वज्राघात ही था। क्रोध से मैं नख-शिख जल उठा। अब भूरिश्रवा का वध किये बिना मुझे क्षण-भर भी विश्राम मिलनेवाला नहीं था। मैंने आँसुओं को रोककर, गोद में लिया अपने ज्येष्ठ पुत्र का मस्तक नीचे रखा। उसके पास ही सैनिकों ने मेरे अन्य नौ पुत्रों के शव मण्डलाकार रखे थे। मैंने प्रत्येक पुत्र के मुख का अन्त्यदर्शन किया। मुझे तीव्रता से लगा कि इस समय मेरी पीठ पर हाथ रखने के लिए श्रीकृष्णदेव को मेरे पास होना चाहिए था। किन्तु वे तो श्येन पक्षी के दूसरे पंख पर, द्रोणाचार्य से युद्ध करनेवाले अर्जुन के नन्दिघोष पर–रणभूमि के दूसरे छोर पर थे।

‘भू ऽ रिश्रवा ऽ – नी ऽ च...यादवों का सेनापति, यह सत्यकपुत्र सात्यकि रणभूमि में आज तुम्हारा वध करके ही रहेगा! ज ऽ य इडा माता ऽ’ गरजते हुए, धनुष को तौलकर मैं रथारूढ़ हुआ। मेरे दहकते सन्तप्त पितृहृदय का मौन आक्रोश एकाएक फूट पड़ा–‘भूऽरिश्रवाऽ...भूऽरिश्रवा!’

उसी आवेग में मैंने भूरिश्रवा के रथ से रथ सटाकर पहले उसके रथचक्र उद्ध्वस्त कर दिये। उसका रथ लुढ़क गया। जब तक उसके हाथ में धनुष-बाण हैं, युद्ध-नियम के अनुसार उसे अपने बाणों का लक्ष्य बनाने हेतु मैंने अपने सारथि को उसके टूटे-फूटे रथ के चतुर्दिक् चक्कर लगाने को कहा। मेरे उद्देश्य को भाँपकर भूरिश्रवा ने तत्परता से धनुष को त्याग दिया। नग्न खड्ग उठाकर वह सीधे रणभूमि पर उतरा। मुझे खड्ग के द्वन्द्वयुद्ध के लिए ललकारते हुए उसने कहा, “तुम्हारे दस पुत्रों को मैंने मार ही गिराया है। असभ्य यादवों के भगोड़े नायक के प्रिय सखा, वीर सेनापति कहलानेवाले कायर, तुम ग्यारहवें होगे।”

यह सुनकर मैं आग-बबूला हो उठा। उसने मुझे ‘कायर’ कहा, इस बात का मुझे दुःख नहीं हुआ था। मेरे प्रिय यादवों को उसने ‘असभ्य’ कहा, इस बात का भी मुझे खेद नहीं था। उसने मेरे प्राणप्रिय कृष्णदेव को–वे मथुरा छोड़कर द्वारिका चले आये इसलिए ‘भगोड़ा’ कहा, यह बात मेरे लिए असहनीय थी।

मैंने भी उसे कड़ा आह्वान देते हुए कहा, “भरी सभा में रजस्वला कुलस्त्री का वस्त्र-हरण करने की घृणित आज्ञा देनेवाले दुर्योधन की चाटुकारी करनेवाले कुरुवंशज, तुम्हारे हाथों मारे गये अपने दस पुत्रों के शवों को साक्षी रखकर आज मैं तुम्हें अच्छा पाठ पढ़ाऊँगा।”

हमारे चौड़े फलवाले सुदृढ़ खड्ग खनखनाते हुए एक-दूसरे से टकराये। हमारा खड्गयुद्ध आरम्भ हुआ। चौथा प्रहर समाप्त होने को था, फिर भी वह अविराम चलता ही रहा। हम दोनों शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों पर खड्ग के प्रहारों से लहूलुहान हो गये। दोनों पक्षों के सैनिक अपना युद्ध रोककर हमारा प्राणघातक खड्गयुद्ध देखते रहे।

भूरिश्रवा पीछे नहीं हट रहा था–मैं भी हटनेवाला नहीं था। अचानक हमारे चतुर्दिक् मण्डलाकार खड़े दर्शकों से अपनी विशाल गदा को कन्धे पर तोलते हुए रक्तस्नात भीमसेन आकर हम दोनों के बीच पर्वत की भाँति खड़ा हो गया। द्वन्द्व रुक गया। भीमसेन के हाथ में गदा होने के कारण–समशस्त्र न होने से भूरिश्रवा उस पर वार नहीं कर सकता था। 'चलिए सेनापति' कहते हुए भीमसेन ने मेरी पीठ पर थपकी दी। स्वेद से लथपथ मेरी पीठ पर से रक्त-मिश्रित स्वेद की कुछ बूँदें इधर-उधर बिखर गयीं। मेरे हाथ का खड्ग अपने हाथ में लेकर मुझे सँभालते हुए अपने रथ में बिठाया। सूर्यास्त हो गया था। समरभूमि के दूसरे छोर से पहले पांचजन्य का और बाद में गंगनाभ का युद्ध-समाप्ति का संकेत करनेवाला शंखनाद सुनाई दिया।

भीमसेन के साथ शिविर की ओर लौटते हुए मुझे भान हुआ कि कल रात कृष्णदेव ने अकेले मुझे ही अपने शिविर में क्यों रोक लिया था और अत्यन्त प्रेमभाव से सखा क्यों कहा था!

पुत्रवियोग के कारण उस रात्रि मैं बैठक के लिए कृष्णदेव के शिविर में नहीं गया। सुन्न होकर मैं अपने शिविर में बैठा रहा। मध्यरात्रि के समय पलीता लिये एक सैनिक के साथ स्वयं कृष्णदेव ही मुझसे मिलने हमारे शिविर में आ गये।

उनको देखते ही मेरा निर्भय पितृहृदय पुत्रशोक से गद्गद हो उठा। फिर भी उनके सम्मान में मैं उठ खड़ा हुआ।

बिना कुछ बोले, पलीतों के मन्द प्रकाश में वे मेरे समीप आये। दोनों आजानुबाहु फैलाकर उन्होंने मुझे अपने दृढ़ आलिंगन में ले लिया। मेरी आँखों से बहते अश्रु उनकी पीठ पर झरने लगे। उनका हाथ मेरी पीठ को थपथपाते हुए प्रेमपूर्वक मेरी पीठ पर फिरने लगा। अस्सी पुत्रों का पितृत्व प्राप्त किये स्थितप्रज्ञ पिता का निर्मल हाथ दस पुत्रों के मृत्युशोक से विद्ध हुए पिता के क्षोभ को शान्त करते हुए उसकी पीठ पर फिरने लगा। मेरे युगन्धर यादवराज उस क्षण एक शब्द भी नहीं बोले। मुझे उसकी आवश्यकता भी प्रतीत नहीं हुई। मेरा मन उनके केवल स्पर्श से ही शान्त हो गया।...

मार्गशीर्ष वद्य सप्तमी को–युद्ध के छठे दिन कुरु सेनापति पितामह भीष्म ने अपनी सेना को क्रौंचव्यूह की तरह संयोजित किया। उसके प्रत्युत्तर में धृष्टद्युम्न ने भीमसेन की सहायता से अपने सैन्य की बाणाकार व्यूह-रचना की। आकाशमण्डल में सूर्य की लालिमा के दर्शन होते ही कृष्णदेव और पितामह ने युद्धारम्भदर्शक शंख फूँके। आज दुर्योधन ने अपने बीस भ्राताओं का वध करनेवाले, कौरव-सेना के पैरों में चुभनेवाले भीमसेन के काँटे को जड़ सहित उखाड़ने का हठ पकड़ा था। देखते-देखते उसने भीमसेन के रक्तवर्णी सात अश्वोंवाले रथ को अपने दस भ्राताओं–दु:शासन, दुर्विषह, दुःसह, दुर्मद, जय, जयसेन, विकर्ण, चारुमित्र, दुर्धर्ष और सुवर्मा के साथ घेर लिया। ये सभी रथी थे। रणोन्मत्त हुआ भीमसेन भी दौड़ते रथ में ही कुम्भ से अपने कण्ठ में मैरेयक मद्य उँडेलकर, गुंजा के समान लाल आँखों से, अपनी विशाल गदा को उठाये रथ से रणभूमि में कूद पड़ा। वास्तव में मद्य की अपेक्षा दस धृतराष्ट्र-पुत्रों को अपने आगे देखकर उसका रणोन्माद तीव्र हुआ। उसने कुन्ती माता की जयकार की। आसपास के सभी योद्धाओं को भयभीत करते हुए उसने भयावह गर्जना की–आऽक्रमणऽ।' धृतराष्ट्र-पुत्रों का और उसका हृदय को थर्रा देनेवाला संकुल गदायुद्ध आरम्भ हुआ।

मैं रात-भर सो नहीं पाया था। सारी रात एक-एक कर मेरे दसों गतप्राण पुत्रों के मुख मेरी

जागती आँखों के आगे घूमते रहे। मेरे मन में उनकी स्मृतियों का जमघट लग गया। भूरिश्रवा से प्रतिशोध लिये बिना, उसकी उद्दण्डता का दर्प चूर-चूर किये बिना मुझे शान्ति मिलनेवाली नहीं थी। मेरे वीर पुत्र तर्पण की अँजुली को स्वीकार करनवाले नहीं थे!...

मुँह-अँधेरे ही ब्रह्मसरोवर पर स्नानादि से निवृत्त होकर मैं सीधे कृष्णदेव के शिविर में चला गया था। उनके चरणस्पर्श किये बिना मुझे शान्ति नहीं मिल रही थी। कृष्णदेव हाथ में प्रतोद लिये निकलने की तैयारी में ही थे। मुझे आगे देखकर उनके मोरपंखमण्डित मुकुट के नीचे, निर्मल भाल पर क्वचित् ही दिखाई देनेवाली खड़ी लकीर मुझे स्पष्ट दिखाई दी। जैसे ही मैं उनके चरणस्पर्श करने झुका, मेरे कन्धे थपथपाकर धीरे-से मुझे ऊपर उठाते हुए उन्होंने कहा, "सखा सात्यकि, लगता है तुम रात-भर सोये नहीं हो! जब सब जीव-जगत् सोया हुआ होता है, तब जाग्रत रहना कितना कठिन होता है, यह तुम अब जान गये होगे। तुम्हारे मन के शूल को मैं भलीभाँति जानता हूँ। चिन्ता मत करो।" मुझे उनके कथन के रिक्त स्थानों के अभिप्राय को समझ लेने का अभ्यास हो गया था। उनके शब्द सुनकर मैं निर्भय हो गया। और उसे आशीर्वाद समझकर मैं उनके शिविर से निकला।

आचार्य द्रोण और पांचालराज द्रुपद के बीच आज घमासान युद्ध हुआ। भीमसेन की सहायता करने हेतु धृष्टद्युम्न मार्ग में पड़े मृत हाथियों के शरीरों को लाँघता हुआ अपने रथ सहित उसके समीप पहुँच गया। भीमसेन धृतराष्ट्र-पुत्रों से घिरा हुआ था। वह दृढ़ता से उनसे गदायुद्ध कर रहा था। लाल चींटियों की भाँति क्षुब्ध हुए दुर्योधन-बन्धु भीमसेन पर घात करेंगे, यह जानकर धृष्टद्युम्न ने आज युद्ध में पहले अस्त्र-प्रमोहनास्त्र का प्रयोग किया। उसके फेंके अग्निबाण से ऐसे धूम्रवलय निकलने लगे, जिन्हें सूँघते ही धृतराष्ट्र-पुत्र एक-एक कर मूर्च्छित होकर गिरने लगे। यह देखकर कौरव-सैनिक अपने अश्व, हाथी, ऊँट और रथों सहित भाग खड़े हुए। अपने ऊँचे, सालंकृत रथ पर आरूढ़ शुभ्र दाढ़ी-जटाधारी द्रोणाचार्य उनकी सहायता करने हेतु दौड़े। उन्होंने प्रज्ञास्त्र का प्रक्षेपण कर बाणों की पहली मार में धृष्टद्युम्न के प्रमोहनास्त्र के धूम्रवलयों को तितर-बितर कर दिया। फिर बाणों की दूसरी मार में उन्होंने दिव्यौषधियों की सुगन्ध फैलाकर मूर्च्छित दुर्योधन-बन्धुओं को सचेतन किया। द्रोणाचार्य पर आज ऐसा रणोन्माद सवार था कि उनसे टकराना दुष्कर हुआ था। महाबली गदावीर भीम और धृष्टद्युम्न भी उनके आगे टिक नहीं पा रहे थे। उन्होंने शंखनाद के विशिष्ट संकेत से युवा अभिमन्यु को सहायता के लिए पुकारा। अभिमन्यु बारह रथियों के घेरे के साथ उनकी सहायता करने दौड़ा। उसने पहले रणभूमि पर उतरकर, गदायुद्ध में आत्मविस्मृत हुए काका भीमसेन को हाथ जोड़कर, प्रार्थना कर अपने रथ में ले लिया। अन्य रथियों ने धृष्टद्युम्न को उसके रथ पर चढ़ाया। अब सन्ध्या होने को आयी थी।

आज दिन-भर मेरा और भूरिश्रवा का भिन्न-भिन्न प्रकार से युद्ध होता रहा। सन्ध्या होने को है यह देखकर भूरिश्रवा अपना विशिष्ट चौड़ा नग्न खड्ग उठाकर रथ से नीचे उतरा। उसने मुझे खड्गयुद्ध के लिए ललकारा–"यादवों के सेनापति कहलानेवाले कृष्ण जैसे ही भगोड़े, कल तुम भीमसेन के कारण बच गये। देखता हूँ, आज तुम्हें कौन बचाता है!" 'जय गंगापुत्र भीष्म' गरजकर वह मुझसे भिड़ गया। हमारे खड्गों की थर्रा देनेवाली खनखनाहट सुनकर आसपास के योद्धा अपना युद्ध रोककर दर्शक बन गये। मैं अत्यन्त निश्चयपूर्वक 'ज ऽ य इडा देवी ऽ' की गर्जना करते हुए भूरिश्रवा से लड़ने लगा। हममें से कोई किसी से हार नहीं मान रहा था।, न कोई आत्मसमर्पण ही कर रहा था। खड्ग के प्रहारों से दोनों के शरीर से रक्त की धाराएँ बहने लगी थीं।

हम दोनों को इसका भान ही नहीं था कि स्वेद में मिला हमारा रक्त कुरुक्षेत्र की रणभूमि पर अर्घ्य की भाँति अर्पित हो रहा है। एक क्षण ऐसा आया कि विद्ध होकर मैंने धरती पर घुटने टेक दिये। मेरा खड्ग मेरे हाथ से छूटकर दूर जा गिरा! यह अवसर पाकर, मेरे नि:शस्त्र होते हुए भी भूरिश्रवा ने आँखें विस्फारित कर मेरा शिरच्छेद करने हेतु अपना रक्तस्नात चौड़ा खड्ग उठाया। अब क्या होगा यह मैं जान चुका था। मैंने आँखें बन्द कर लीं और जीवन-भर जिनकी छाया बनकर जिनका समर्थन करता आया था, उन कृष्णदेव का मैंने अन्त:करणपूर्वक स्मरण किया। अब एक ही क्षण में भूरिश्रवा के खड्ग-प्रहार से मेरा मस्तक धड़ से अलग होनेवाला था। मेरी बन्द-जाग्रत आँखों के आगे थे केवल प्रतोद धारण किये सारथि कृष्णदेव।

वह क्षण बीत गया–दूसरा भी और तीसरा भी। धड़ाम से गिरने की घोर ध्वनि सुनकर मैंने चट से आँखें खोलीं। मैंने जिनको स्मरण किया था वही प्रतोदधारी कृष्णदेव मुझे आगे–नन्दिघोष पर दिखाई दिये। रथनीड़ के पीछे खड़ा गाण्डीवधारी अर्जुन मेरी ओर देखकर मुस्करा रहा था। उसके रथ के ध्वज पर आरूढ़ कपि हाथ फैलाकर उड़ान भरने की मुद्रा में फहरा रहा था। कृष्णसखा अर्जुन ने अपने एक ही अमोघ चन्द्रमुख बाण से, भूरिश्रवा का मुझ पर खड्ग-प्रहार करनेवाला हाथ काटकर आकाश में उड़ा दिया था। उस दिन मैं नन्दिघोष पर बैठकर ही शिविर में लौट आया। भूरिश्रवा के नियम भंग करने से पहले ही कृष्णदेव के तत्पर संकेत के अनुसार अर्जुन ने उसे अपने बाण का लक्ष्य बनाया था।

रात्रि की हमारी युद्ध-बैठक में हमें कौरव-शिविर का समाचार प्राप्त हुआ। पितामह भीष्म के नेतृत्व में हुई कौरवों की बैठक में दुर्योधन ने अत्यधिक क्रोध से पैर पटके थे और बड़े आक्रोश से उसने एक ही आपत्ति उठायी थी–'भूरिश्रवा पर पीछे से बाण चलानेवाले अर्जुन ने युद्ध-नियम को भंग किया है। कठोरता से उसे इस युद्ध से निवृत्त करना होगा।'

बड़ी देर तक उसका चीखना-चिल्लाना शान्तिपूर्वक सुनने के बाद अनुभवी वृद्ध सेनापति पितामह भीष्म ने कहा, 'अकेले भीमसेन को दस धृतराष्ट्र-पुत्रों ने घेरकर उस पर आक्रमण किया, वह भी नियम भंग ही था। उनका नेतृत्व स्वयं तुमने ही किया था दुर्योधन। हो जाओगे तुम युद्ध से निवृत्त? भूरिश्रवा नि:शस्त्र सात्यकि का वध करनेवाला था। क्या अर्जुन ने ही इस नियम भंग को रोका नहीं है?' निरुत्तर हुआ दुर्योधन झुँझलाकर वहाँ से चला गया।

यह समाचार सुनकर कृष्णदेव के मुखमण्डल पर हास्य की एक सूक्ष्म लहर उठी। उस रात मैं सवेरे ही उनके कहे–'जब प्राणीमात्र सोये होते हैं, तब जाग्रत रहना कितना कठिन होता है!' इस वाक्य पर विचार करता हुआ निद्राधीन हो गया।

युद्ध के सातवें दिन युधिष्ठिर ने धृष्टद्युम्न की सहायता से हमारी सेना की वज्र नामक व्यूह-रचना की। यह रचना देवराज इन्द्र के विख्यात शस्त्र वज्र के आकार की थी। इसके प्रत्युत्तर में पितामह ने कौरव-सेना को मण्डल नामक व्यूह में रचा।

अपने वज्रव्यूह के काँटेदार उग्रस्थान पर मैं और घटोत्कच थे। हमारे पीछे–वज्र के मध्यस्थान पर अर्जुन सहित मत्स्यराज विराट और पांचालराज द्रुपद ससैन्य खड़े थे। वज्र की पूँछ के भाग को अर्जुन-पुत्र इरावान और चेकितान, नकुल-सहदेव आदि वीरों ने सँभाला था। आज भीमसेन अपने रथ पर आरूढ़ होकर सारथि विशोक की सहायता से वज्र के छोर सँभालता हुआ सेना में मण्डलाकार घूमनेवाला था।

हमारे काँटेदार सेनावज्र ने पितामह के सेनामण्डल पर आक्रमण किया। कौरवमण्डल के अग्रस्थान पर नियुक्त बकासुर-बन्धु–राक्षस अलम्बुष मुझसे और घटोत्कच से भिड़ गया। वह मायावी युद्ध में प्रवीण था। वह एक क्षण अपने रथ सहित सेना की पूर्व दिशा में दिखाई देता था, तो दूसर क्षण पश्चिम दिशा में। लड़ते-लड़ते वह अपना रथ दक्षिण से उत्तर तक दौड़ा रहा था। दोपहर तक मुझमें और अलम्बुष में घनघोर द्वैरथयुद्ध चलता रहा। अलम्बुष ने बड़ी कुशलता से मेरे चतुर्दिक् फैला घटोत्कच का सेना कवच मुझसे अलग करते हुए उसे भगदत्त की सेना के आगे धकेल दिया।

एक-दूसरे में मिल गयी दोनों सेनाओं के मध्य द्रोण और विराट, विन्द-अनुविन्द और इरावान, पितामह भीष्म और भीमार्जुन के बीच घमासान युद्ध छिड़ गया। युद्ध करते नरकासुर-पुत्र भगदत्त को अनियन्त्रित होते देखकर सन्ध्या के समय घटोत्कच ने उस पर एक राक्षसी मायावी शक्ति फेंकी। भगदत्त ने उस शक्ति के तीन टुकड़े करते हुए धरती पर गिरा दिया। यह देखकर भयभीत हुआ घटोत्कच रणभूमि से भाग खड़ा हुआ। कृष्णदेव के किये उपकारों को भूलकर भगदत्त चीनी और किरात जाति के योद्धाओं को लेकर कौरवों की ओर से युद्ध में उतरा था। समरभूमि से भागते हुए घटोत्कच को देखते-देखते सातवें दिन का सूर्य अस्त हो गया और युद्ध रुक गया।

अब तक कुरुक्षेत्र के भिन्न-भिन्न रणक्षेत्रों पर यह युद्ध लड़ा गया था। पिछले सात दिनों में प्रतिदिन बदलते रणक्षेत्र पर घटित हुई छोटी-मोटी घटनाओं का समाचार गुप्तचरों द्वारा हस्तिनापुर, द्वारिका और आसपास के गणराज्यों के राजनगरों में पहुँचता था। हस्तिनापुर में यह सूचना सर्वप्रथम सारथि-प्रमुख संजय को प्राप्त होती थी। वे उन घटनाओं का चित्रवत् वर्णन अन्धे महाराज धृतराष्ट्र और गान्धारीदेवी के समक्ष करते थे। अब तक लगभग चालीस धृतराष्ट्र-पुत्र मारे गये थे। उनमें से कई को तो अकेले भीमसेन ने ही मारा था। उनके नाम और पूरा समाचार सुनते समय भीमसेन के प्रति क्रोध से धृतराष्ट्र महाराज थरथर काँप रहे थे।

आठवाँ और नौवाँ दिन अकेले पितामह भीष्म के गगनभेदी पराक्रम से गूँज उठा था। आठवें दिन उन्होंने अपनी सेना को महाव्यूह नामक रचना में उपस्थित किया था। उसके प्रत्युत्तर में हमारे सेनापति धृष्टद्युम्न ने शृंगाटक नामक जटिल रचना की थी। सेनापति भीष्म की रक्षा के लिए उनके आसपास बिखेरे, सुनाभ, आदित्यकेतु, पण्डितक, महोदर, अपराजित, विशालाक्ष और बव्हाशी-दुर्योधन के इन आठ भ्राताओं का भीमसेन ने आठवें दिन के पहले ही प्रहर में वध कर डाला। आठवें दिन उलूपी और अर्जुन के पुत्र इरावान ने युद्धभूमि पर अपनी धाक जमायी।

नौवें दिन अपनी सेना की सर्वतोभद्र व्यूह-रचना करते हुए उसके अग्रस्थान पर खड़े रहकर सेनापति पितामह भीष्म ने अपने दिव्य गंगनाभ शंख को फूँका। पिछले आठ दिन उन्होंने अतुल पराक्रम किया था और पाण्डवों की तीन अक्षौहिणी सेना को यमसदन पहुँचाया था। किन्तु पहले दिन के विराटपुत्र उत्तर और श्वेत के पतन के अतिरिक्त कोई भी विख्यात पाण्डव योद्धा धराशायी नहीं हुआ था। इस कारण अपने ही नेतृत्व से असन्तुष्ट भीष्म के शंख का नाद आज इतना भेदक था कि उसने पांचजन्य के नाद को भी धीमा कर दिया। जिस आवेश से पितामह ने शंख फूँका था, उससे कृष्णदेव भाँप गये थे कि आज भीष्म को कोई भी रोक नहीं पाएगा। वैसा ही हुआ। द्रोणाचार्य, दुर्योधन, सुशर्मा, भगदत्त आदि महारथियों की सहायता से पितामह ने एक ही दिन में

सन्ध्या होने तक पाण्डवों की एक अक्षौहिणी सेना को धराशायी कर दिया। पितामह को रोका नहीं गया तो सम्पूर्ण पाण्डव-सेना नष्ट हो जाएगी, इस भय-आशंका से अर्जुन के चारों भ्राता अपने रथों सहित नन्दिघोष के पास एकत्रित हुए। मैं भी नन्दिघोष के पास चला गया। पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिर ने अपना धनुष नीचे रख, दोनों हाथ जोड़कर कृष्णदेव से प्रार्थना की–"हे यादवश्रेष्ठ, अब आप ही पाण्डव-सेना की रक्षा कीजिए।" उसके सभी भ्राताओं ने अपने रथों को सँभालते हुए अपने ज्येष्ठ भ्राता की ही प्रार्थना को दुहराया।

पितामह भीष्म के रौद्रावतार से भयभीत हुए पाण्डव-सेनापति धृष्टद्युम्न को नन्दिघोष की ओर आते देख कृष्णदेव अपने नन्दिघोष को पितामह के रथ के आगे ले आये।

पिछले आठ दिनों में कृष्णदेव ने भूलकर भी कोई प्रेरक घोषणा नहीं की थी,–जिसकी वे नित्य जयकार करते थे, उस इडादेवी की भी! किन्तु इस क्षण पितामह के आगे आने पर भी धनुर्धर धनंजय को क्रियाशून्य देखकर कृष्णदेव चकरा गये। अपने हाथ की आठों वल्गाओं को झटककर नन्दिघोष को पितामह के रथ के चतुर्दिक् घुमाते हुए आज पहली बार उन्होंने रणघोष किया–"जय इडा ऽ...आ ऽ क्रमण ऽ'। तब भी अर्जुन निष्क्रिय ही रहा! अपने प्रिय अश्वों को सँभालते हुए कृष्णदेव ने अर्जुन को स्मरण दिलाया–"हे पार्थ, युद्ध के आरम्भ में मैंने तुम्हें जो हितोपदेश दिया था उसे क्या इतने में ही भूल गये? पितामह के अमोघ बाणों से डर गये हो क्या?"

अर्जुन ने केवल नकारदर्शी ग्रीवा हिलायी, किन्तु गाण्डीव धनुष को उठाया नहीं। वह पुन: सम्भ्रमित हो गया था–मोहग्रसित हो गया था। अब बिना कोई हितोपदेश दिये, प्रत्यक्ष कृति से ही उसके पुरुषार्थ को जगाना आवश्यक था। कृष्णदेव ने बलपूर्वक उससे कहा–"ठीक है। एक बार मैंने पितामह के लिए शस्त्र न धारण करने की प्रतिज्ञा को तोड़ा था। अब तुम्हारे लिए भी मुझे प्रतिज्ञा भंग करनी पड़ेगी।"

वल्गाओं को नन्दिघोष के रथनीड़ पर रखकर प्रतोद उठाते हुए कृष्णदेव कुरुक्षेत्र की रणभूमि पर कूद पड़े।

अब अर्जुन सचमुच हड़बड़ा गया। गाण्डीव धनुष को रथ में रखते हुए वह भी रथ से कूद पड़ा। आवेश से पितामह की ओर दौड़नेवाले आर्यश्रेष्ठ कृष्णदेव के आड़े आकर, दोनों भुजाएँ फैलाकर उसने व्याकुलता से कहा, "रुक जाओ हृषीकेश! तुम अपनी प्रतिज्ञा मत तोड़ो। कल मैं पितामह से निश्चयपूर्वक युद्ध करूँगा–हनिष्यामि पितामहम्!"

उन उद्‌गारों को सुनते हुए युद्ध के नौवें दिन का सूर्य अस्त हो गया।

पितामह ने हँसते हुए अपने रथ से कृष्णार्जुन की उस दौड़धूप को देखा। अपने धनुष को रथ में रखकर अस्त होते सूर्य को दोनों हाथ जोड़कर दोनों सेनाओं का वह योद्धासूर्य बुदबुदाया।–'ॐ भूर्भुवः स्व: तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि–'

यद्यपि अर्जुन ने 'हनिष्यामि पितामहम्' की प्रतिज्ञा की थी, किन्तु रणनीतिकुशल कृष्णदेव पूर्णत: जानते थे कि वह सम्भव नहीं था। जलपुरुष पितामह को वे भलीभाँति जानते थे।

नित्य की भाँति शिविर में आयोजित हुई सेना-प्रमुखों की बैठक को कल के युद्ध के विषय में सूचना देकर कृष्णदेव ने बैठक को शीघ्र समाप्त किया। शिविर से निकलनेवाले पाण्डवों में से केवल अर्जुन से उन्होंने कहा, "तुम रुको अर्जुन। तुमसे कुछ कहना है!"

आज्ञाकारी अर्जुन रुक गया। अब मिलनेवाली कड़ी चेतावनी को सुनने के लिए वह अपने मन को तैयार करने लगा। कृष्णदेव अपने आसन से उठे। अर्जुन के समीप जाकर उसके पुष्ट वृषस्कन्ध पर अपना दायाँ हाथ रखकर उसे थपथपाते हुए उन्होंने कहा, "घबराओ मत। मैं अब तुमसे यह नहीं पूछूँगा कि तुम पुन: सम्भ्रमित कैसे हुए। एक काम करो–स्वयं तुम पाण्डव-स्त्रियों के शिविर-संकुल में जाकर सखी द्रौपदी से कहो कि मैंने उसे बुलाया है।"

"आज्ञा आर्य", कहकर अर्जुन चला गया। 'युद्ध में स्त्री का क्या काम?' यह सोचते हुए मैं भी जाने के लिए निकला। मुझे भी रोकते हुए उन्होंने कहा, "सखा सात्यकि, तुम्हें तनिक रुकना होगा। तुम्हें एक काम करना है, यादव-सेनापति के नाते!"

मेरा क्या काम हो सकता है? कृष्णदेव धृष्टद्युम्न को कल कौन-सी व्यूह-रचना करने को कहनेवाले हैं! उसमें मेरा दायित्व क्या होगा?–मेरे मन में इस प्रकार के कई विचार आकर चले गये।

वहाँ क्रुद्ध दुर्योधन शकुनि और दु:शासन सहित कुरु-सेनापति भीष्म के शिविर में घुस गया था–यही पूछने के लिए कि आज हाथ में आये सम्भ्रमित अर्जुन को उन्होंने जीवित कैसे छोड़ दिया?

सायं-सन्ध्या से निवृत्त होकर शिविर के भीतरी कक्ष में ध्यानस्थ बैठे पितामह को अशिष्टता से सेवक द्वारा जगाकर उसने बाहर बुलवा लिया। उसने तड़ातड़ अपने उद्धत शब्दों में पितामह से कहा, "हे पितामह, यह युद्ध हो रहा है कि मनोरंजन करनेवाली कुक्कुटों की टक्कर? नौ दिन हो गये। हमारी आधी से भी अधिक सेना को भीमार्जुन ने धराशायी कर दिया। मेरे लगभग पचास भ्राता वीरगति को प्राप्त हुए, जबकि एक भी पाण्डव के शरीर पर बाणों की खरोंच तक नहीं आयी। यह सब क्या हो रहा है? क्या पाण्डवों के प्रेम के मोह में फँसकर आप सेनापति के कर्तव्य को भूल गये हैं? या फिर यह मेरे दुर्भाग्य का आघात है? यदि आप अपने पाण्डव-प्रेम का त्याग नहीं कर सकते, तो आप सेनापति पद का त्याग कीजिए। यही प्रार्थना करने हेतु मैं आया हूँ। तब हम दिग्विजयी अंगराज कर्ण को आमन्त्रित करेंगे और उसे सेनापति पद पर प्रतिष्ठित करेंगे। मुझे विश्वास है कि वह हमें अवश्य विजयश्री दिलवाएगा। आपका क्या विचार है? स्पष्ट कहने की कृपा करें।" नतमस्तक होकर उसने पितामह को व्यंग्यपूर्ण वन्दन किया।

यह सुनकर पितामह मन-ही-मन क्षुब्ध हुए। फिर भी उन्होंने शान्ति से, जिस प्रकार कृष्णदेव ने अर्जुन को हितोपदेश दिया था उसी प्रकार दुर्योधन को हितोपदेश दिया–"हे दुर्योधन, कृष्णार्जुन को पहचानने में तुम भूल कर रहे हो। तुम भूल गये हो कि मैंने सोच-समझकर ही कृष्ण को 'वासुदेव' कहा है। अपने जीवन-भर के अनुभव से मैं तुम्हें कह रहा हूँ, पाण्डवों को उनका राज्यभाग-इन्द्रप्रस्थ दे दो। इसी में सबका हित है।"

ज्वार के समय का सागर गंगा के जल को पीछे फेंक देता है, उसी प्रकार पितामह के अनुभवी बोलों को ठुकराते हुए दुर्योधन ने कहा, "वह समय कब का पीछे छूट चुका है। मेरी छह अक्षौहिणी से भी अधिक सेना युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुई है। आप इतना ही बताइए कि आप सेनापति पद का त्याग करेंगे कि कौरवों की असन्दिग्ध विजय के लिए निष्पक्ष होकर पाण्डवों से युद्ध करेंगे?" उस अहंकारी दुर्योधन ने पितामह को अपराधी के कठघरे में ही खड़ा कर दिया।

सत्यप्रतिज्ञ, आजन्म ब्रह्मचारी, ब्रह्मास्त्रधारी परशुराम-शिष्य के लिए यह असहनीय था।

दुर्योधन वहाँ से शीघ्रातिशीघ्र अपना मुँह काला करे, इस हेतु पितामह ने निश्चयपूर्वक, धीमे-से कहा, "कल मैं इस पृथ्वी को निष्पाण्डव करूँगा। अन्यथा अपनी देह की समिधा को रणयज्ञ में अर्पित कर दूँगा। तुम जा सकते हो।"

वह 'भीष्म-प्रतिज्ञा' थी। उसका गुप्त रहना सम्भव नहीं था। वायु पर आरूढ़ होकर वह कृष्णदेव के शिविर तक पहुँच गयी। उसे सुनते ही वे अत्यन्त चिन्तित हुए। उनको इतना विचलित होते हुए मैंने पहले कभी नहीं देखा था। उनकी आँखों के आगे अब एकमात्र प्रश्न था–अर्जुन सहित सभी पाण्डवों का संरक्षण कैसे किया जाए? उसके लिए आवश्यकता पड़ी तो पितामह भीष्म का भी वध करना पड़ेगा।

नौवें दिन की मध्यरात्रि निकट थी। अर्जुन के दिये सन्देश के अनुसार द्रौपदीदेवी दारुक के लाये नन्दिघोष रथ से कृष्णदेव के शिविर के आगे आ गयीं। हमारी सत्यभामादेवी की भाँति वे कभी रणभूमि में नहीं उतरी थीं। कृष्णदेव का सन्देश सुनकर वे भी भ्रम में पड़ गयी थीं कि किसी समय सखा कृष्ण ने जिस प्रकार अपना सारथ्य पत्नी सत्यभामा को भी सौंपा था, उसी प्रकार कल वह नन्दिघोष का सारथ्य मुझको तो नहीं सौंपने जा रहा? वस्त्रहरण, वनवास जैसी कठिन समस्याओं का सामना करते-करते वे अब धैर्यशालिनी हो गयी थीं। आनेवाली किसी भी समस्या से टकराने का निश्चय कर ही उन्होंने कृष्णदेव के शिविर में प्रवेश किया। उनको देखते ही देव ने नित्य की भाँति स्नेहल शब्दों में कहा, "सखि द्रौपदी, तुम्हें अपने पतिदेव और पाण्डव-सेना की रक्षा हेतु आज एक विशेष कार्य करना होगा। इसी समय तुम्हें सात्यकि के साथ कौरव-सेनापति पितामह भीष्म के दर्शनों के लिए उनके शिविर में जाना होगा। जाते हुए तुम्हें एक बात का विशेष ध्यान रखना है। पितामह को प्रणाम करते समय तुम्हें अपना मुख वस्त्र से आच्छादित रखना होगा। वृद्धत्व के कारण पलीतों के धुँधले प्रकाश में वे तुम्हारा मुख देख नहीं पाएँगे। तुम्हें एक सावधानी बरतनी है, जब तक वे कुछ नहीं कहते तब तक तुम अपने मुख से एक शब्द भी नहीं निकालोगी। उनको प्रणाम करते हुए तुम्हारे स्वर्णकंकणों की ध्वनि स्पष्ट सुनाई देनी चाहिए, इस बात को भूलना मत! उनके बोलने के पश्चात् क्या बोलना चाहिए, यह अपने-आप ही तुम्हारी समझ में आएगा! काम्यक वन में वाक्ताड़न करते हुए तुम्हें जो भी सूझा था, उससे वह अत्यन्त सरल होगा।" उस कठिन एवं जटिल भीष्म-प्रतिज्ञा की समस्या के समय भी वे अत्यन्त निर्मल मुस्कराये।

मैं कृष्णदेव की ओर देखता रहा। कितने प्रकार से विचार करता रहा, फिर भी मेरी समझ में नहीं आया कि वे क्या करना चाह रहे हैं। द्रौपदीदेवी भी उसे समझ पायीं कि नहीं, पता नहीं।

आज्ञा के अनुसार मैं द्रौपदीदेवी के साथ पितामह भीष्म के शिविर की ओर निकल पड़ा। शिविर के बाहर ही रुक जाने और पितामह के सेवक से 'कोई स्त्री पितामह के दर्शन हेतु आयी है' केवल इतना ही कहने का कड़ा निर्देश मुझे दिया गया था।

कुरुक्षेत्र की रणभूमि को परिव्याप्त करनेवाले झींगुरों की ध्वनि गूँज रही थी। कहीं-कहीं से उल्लुओं का घुघुआना सुनाई दे रहा था। मानवी शरीर के अंगों को नोचने के लिए ललचाये भेड़ियों और शृगालों का हुआँना भी कहीं दूर सुनाई दे रहा था। जैसे कि पहले ही तै हो चुका था, पितामह भीष्म के शिविर के समीप आते ही कुरु-सेनापति के सेवक को सन्देश देकर मैं बाहर ही रुक गया। द्रौपदीदेवी अपने अंशुक से मुख ढँककर शिविर में चली गयीं। सेवक के सूचना देते ही ऊँचे,

भव्य शरीरवाले, शुभ्र दाढ़ीधारी सत्त्वशील सेनापति भीष्म, 'दर्शन करने कोई स्त्री आयी है? रणभूमि में? कौन होगी वह?' सोचते हुए, शिविर के भीतरी कक्ष से बाहरी कक्ष में आ गये। द्रौपदीदेवी ने शीघ्रता से आगे बढ़कर, झुककर, पलीतों के मन्द प्रकाश में अपने कंकणों को स्पष्ट खनकाते हुए परशुराम-शिष्य को तीन बार सादर प्रणाम किया।

सत्यव्रत, आजन्म ब्रह्मचारी पितामह के तपस्वी होंठों से आशीर्वाद निकला, "अखण्ड सौभाग्यवती भव! आयुष्मती भव!!"

मुझे वे भी शब्द स्पष्ट सुनाई दिये। द्रौपदीदेवी के शब्दों को सुनने के लिए मैंने उत्सुकता से कान खड़े किये।

द्रौपदीदेवी ने स्पष्ट शब्दों में पितामह से कहा, "हे पितामह, आज ही आपने पृथ्वी को निष्पाण्डव करने की प्रतिज्ञा की है और अभी-अभी आपने मुझे 'सौभाग्यवती' होने का आशीर्वाद दिया है। क्षमा करें। मैं छोटे मुँह बड़ी बात कर रही हूँ–इन दोनों में से पितामह का सत्यवचन कौन-सा है?" मुख पर ढँके अंशुक को हटाकर खुले मुख से अपने आगे खड़ी पौत्रवधू द्रौपदीदेवी को देखकर हिमाच्छादित ऊँचे देवदारु-वृक्ष के सदृश दिखता वह महावीर प्रसन्न होकर मुस्कराया। उन्होंने कहा, "पुत्री, तुम्हें दिया आशीर्वाद ही सत्य होगा। कृष्ण को मेरा सन्देश अवश्य ही पहुँचा देना कि उसको 'वासुदेव' की सार्थक उपाधि देकर मैं अति प्रसन्न हुआ हूँ। उससे कहना कि यद्यपि आयु में वह मुझसे छोटा है, फिर भी इस गंगापुत्र पर सदैव उसकी कृपा बनी रहे। द्रौपदी, यह भीष्म-प्रतिज्ञा है–तुम अखण्ड सौभाग्यवती ही रहोगी!!

"उससे कह दो कि तुम्हारे सुहाग की रक्षा के लिए कल अर्जुन का कवच बनाकर स्त्री-मन के साथ पुरुष-देह धारण किये शिखण्डी को नन्दीघोष पर चढ़ाना न भूलें। समस्त जगत् जानता है कि परशुराम-शिष्य शान्तनव गंगापुत्र भीष्म स्त्री पर कभी भी बाण नहीं चलाता। उससे कह दो कि यह भी मेरी प्रतिज्ञा है।

"जाओ, श्यामले-द्रौपदी, जिस शिखण्डी को तुम भाई-बहनों ने जीवन-भर स्त्रैण, पौरुषहीन समझा, उसी का पौरुष कल कवच बनकर अर्जुन की रक्षा करेगा। जाओ हे कुलवधू, शिवास्ते सन्तु।" हिमालय के समान ऊँचे उस कुलश्रेष्ठ ने मनःपूर्वक हँसते हुए अपनी पौत्रवधू, द्रौपदी को आशीर्वाद दिया।

वह सुनकर गद्गद हुई, नि:शब्द द्रौपदीदेवी ऊँचे कुरु-सेनापति के आगे प्रणाम करने हेतु पुन: नतमस्तक हो गयी।

द्रौपदीदेवी के साथ मैं कृष्णदेव के शिविर में लौटा। मेरे मन में एक ही विचार डोल रहा था–यदि पाण्डवों ने रात-भर सभी सेना-प्रमुखों से परामर्श किया होता, तब भी प्रलयकाल के महोदधि के समान, पराक्रम के हठ पर अड़े, सत्यव्रत, महाबाहु भीष्म को रोकने का इतना सरल उपाय क्या उनको कभी सूझता?

उसी मध्यरात्रि में कृष्णदेव की आज्ञा से मुझे शिखण्डी के शिविर में जाना पड़ा। उसको लाकर मैंने नि:शस्त्र पाण्डव-सारथि के आगे प्रस्तुत किया। बड़ी देर तक यादवश्रेष्ठ ने अपनी कृष्ण बोली में कल के युद्ध की गतिविधियों की बारीकियाँ शिखण्डी को समझायीं।

मार्गशीर्ष वद्य एकादशी का–युद्ध का दसवाँ दिन कुरुक्षेत्र के पूर्व क्षितिज पर सावधानी से खड़ा हो गया। आज पितामह ने कृष्णदेव को उनका विख्यात प्रणवोद्गार निकालनेवाला

पांचजन्य शंख प्रसन्नता से फूँकने दिया। उन्होंने उसका रोमहर्षक नाद ध्यान से सुना। बीच में उन्होंने अपने गंगनाभ शंख की ध्वनि नहीं उठायी।

पांचजन्य की रोमहर्षक स्वर-लहरियाँ एक के बाद एक उठने लगीं। युद्ध के नौ दिन बाद आज पहली बार पांचजन्य के नाद से कुरुक्षेत्र की रणभूमि इस प्रकार गूँज उठी। पांचजन्य को फूँक-फूँककर कृष्णदेव की नीलवर्णी मुद्रा आरक्त हो गयी। शंख फूँकने के परिश्रम से उनके मत्स्यनेत्रों की दीर्घ, घनी पलकों के किनारों पर पानी जमा हुआ। वक्ष पर झूलते उत्तरीय से उन्होंने उसे धीरे से पोंछ लिया, यह मैंने अपने रथ में से स्पष्ट देखा। इसके पहले कुरुक्षेत्र पर ऐसा कभी घटित नहीं हुआ था। वह एक 'जलपुरुष' की आखों का पानी था।

बहुत देर बाद पितामह ने पांचजन्य के प्रत्युत्तर में कौरव-सैनिकों को सुनाई दे-न दे–इस प्रकार अस्पष्ट शंखनाद किया। आज उनको संरक्षण देते हुए द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, दुर्योधन अश्वत्थामा, जयद्रथ, भगदत्त आदि विशिष्ट कौरव-योद्धाओं ने पाण्डव-सेना पर चढ़ाई की। हमारी सेना के अग्रस्थान पर आज कृष्णदेव और धनुर्धर धनंजय के बीच धनुष तोलकर खड़ा शिखण्डी दिखाई दे रहा था। मैं अपनी सेना सहित द्रोणपुत्र अश्वत्थामा को सँभाले, पितामह की बायीं ओर के सेना-पंख पर जा पहुँचा। अभिमन्यु दुर्योधन पर टूट पड़ा। रणभूमि के मध्य विराट और जयद्रथ, युधिष्ठिर और शल्य, धृष्टद्युम्न और शकुनि के बीच थर्रा देनेवाला युद्ध आरम्भ हुआ। विकराल गर्जना करते हुए भीमसेन ने कौरवों के गजदल पर आक्रमण किया।

नन्दिघोष पर आरूढ़ अर्जुन, शिखण्डी और कृष्णदेव के त्रिदल की चपल, अतर्क्य गतिविधियाँ आरम्भ हो गयीं। पितामह भीष्म और अर्जुन के बीच प्रलय मचा देनेवाला घनघोर युद्ध छिड़ गया। उन दोनों की बाण-वर्षा से कुरुक्षेत्र के आकाश में तपता सूर्य भी धुँधला गया। अदृश्य हो गया। पितामह की फेंकी बाण-पंक्तियाँ अर्जुन का मर्मभेद करने आ रही हैं, यह देखते ही लौहत्राणधारी शिखण्डी अर्जुन को आच्छादित करता हुआ दोनों के बीच आ जाता था। अपने लक्ष्य के बीच आये शिखण्डी को देखते ही पितामह बाण-वर्षा को रोककर धनुष को नीचा कर लेते थे। इस अवसर का अचूक लाभ उठाते हुए शिखण्डी ने प्रथम छह नाराच बाणों से पितामह के सारथि का वध किया। दूसरी बाण-वर्षा में उनके तालध्वज को ध्वस्त कर दिया। और तीसरे में पौरुषहीन शिखण्डी ने पौरुषसम्पन्न पितामह के धनुष को छिन्न-भिन्न कर डाला। उस वृद्ध महाबली ने चपलता से दूसरा धनुष उठाया। एक ही समय उसकी प्रत्यंचा पर अलग-अलग दबाव से फेंके जानेवाले सूचि, जिह्म, चन्द्रमुख आदि बाण चढ़ाये गये। अब शिखण्डी के बीच में आने पर भी अर्जुन का बचना कठिन है, यह ध्यान में आते ही कृष्णदेव ने अपने चारों प्रशिक्षित अश्वों को संकेत कर नन्दिघोष के अग्रभाग को ऊपर उठाया। रथ के अग्रभाग के उठाये जाने से अर्जुन और शिखण्डी पितामह की दृष्टि से ओझल हुए और दिखाई देते रहे अकेले प्रतोद उठाये कृष्णदेव! वे तो नि:शस्त्र! अपने-आप ही मुस्कराते हुए पितामह ने धनुष की प्रत्यंचा पर चढ़ाये बाण अर्जुन पर प्रक्षेपित करने के बदले धनुष को ही नीचे कर लिया। कृष्णदेव केवल कुशल वक्ता ही नहीं, अपनी हाथ की वल्गाओं के हलके दबाव-मात्र से अपने शुभ्र-धवल अश्वों द्वारा मनचाहा नृत्य करानेवाले कुशल सारथि भी थे।

आज दिन-भर भीष्मार्जुन का प्रहर-प्रहर तक चलता घनघोर युद्ध इतना विस्मित कर देनेवाला था कि जयद्रथ, शल्य, भगदत्त जैसे महारथी भी अपने युद्ध को रोक, अवाक् होकर

उनके उग्र युद्ध को देखते रहे।

सन्ध्या होने को आयी। अरावली पर्वत की ढलान पर ग्रीष्म ऋतु में रक्तवर्णी पुष्पों से लहलहाये पलाश-वृक्ष की भाँति पितामह भीष्म दिखने लगे। नन्दिघोष का सारथि और शिखण्डी—दोनों सुरक्षित थे। परन्तु कुछ-एक बाण अर्जुन के शरीर में घुसे थे। अवसर मिलते ही शिखण्डी ने उन्हें निकालकर रणभूमि में फेंक दिया था और काष्ठनलिका की दिव्यौषधि का अर्जुन के घावों पर चपलता से लेपन भी किया था। कुलवधू द्रौपदी का सुहाग अक्षय और अखण्ड ही था।

सूर्य-बिम्ब पश्चिम क्षितिज को छू रहा था, तभी अर्जुन ने पितामह पर एक साथ सर्पमुख, सूचि, कंकपत्र, बस्तिक, नाराच, शिलिमुख आदि दस-दस बाणों की, एक के बाद एक, दो बार वर्षा की। उनमें से कुछ सूचिबाण लौहत्राण को भेदकर उनके वक्ष में घुस गये। वीर देह में स्थान-स्थान पर बाण लगे। अस्त होते तेजस्वी सूर्य-बिम्ब सदृश रक्तवर्णी दिखते पितामह रथ से रणभूमि पर गिर गये। वह जहाँ गिरे वहाँ 'शर' नामक रक्तरंजित तृण फैला हुआ था। अस्ताचल सूर्य की छाया में पितामह का पतन होते ही कौरव-सेना में समाचार फैल गया—'सेनापति पितामह भीष्म शरशायी हो गये।'

कौरव-सेना के पहले सेनापति का पतन होते ही सेना में हाहाकार मच गया। अपने शस्त्रों को नीचे रखकर दोनों सेनाओं के योद्धा वृद्ध, वीर सेनापति के दर्शन के लिए दौड़ पड़े। सभी पाण्डवों सहित मैं भी कृष्णदेव के पीछे-पीछे पितामह के दर्शन करने गया। वे शर शैया पर शान्त लेटे हुए थे। कृष्णदेव को देखते ही उन्होंने अत्यन्त ममता से क्षीण स्वर में कहा—"आओ वासुदेव!" मुझे और पाँचों पाण्डवों को साथ लिये कृष्णदेव उनके निकट शर-तृण पर वीरासन में बैठ गये। मैं और अन्य सभी खड़े ही रहे। उन दो महापुरुषों की बातें सुनने को मन अत्यन्त उत्सुक था। वीरासन में बैठे द्वारिकाधीश का दायाँ बाहु प्रेमपूर्वक अपने महाबाहु में लेते हुए गंगापुत्र ने यमुनापुत्र से कहा, "हे वासुदेव, जो तुम्हारे मन में होगा, वही होगा। चिन्ता मत करो। मैं अभी देह को नहीं त्याग रहा हूँ। तुम्हारी ही भाँति पितृकृपा से मैं भी इच्छामरणी हूँ। तुम्हारे जैसा मैं भी सूर्य-भक्त हूँ। जब तक सूर्यदेव दक्षिणायन से उत्तरायण में प्रवेश नहीं करते, मैं देहत्याग नहीं करूँगा।"

उनके उन निश्चयपूर्ण, शान्त, तपःपूत शब्दों को सुनकर मैं विचारमग्न हुआ—सूर्यदेव दक्षिणायन से उत्तरायण कब आएँगे? तब तक शरीर में घुसे बाणों की वेदनाओं को पितामह क्या ऐसे ही सहते रहेंगे? किसी वीर की मृत्यु का गगनमण्डल के सूर्य-भ्रमण से सम्बन्ध ही क्या है? पितामह पर रुकी अपनी दृष्टि को मैंने अब कृष्णदेव पर गड़ा दिया। सम्भवत: मेरे सभी प्रश्नों के उत्तर उनसे ही प्राप्त होनेवाले थे। पितामह का हाथ प्रेमपूर्वक हल्के से दबाते हुए कृष्णदेव ने कहा, "सूर्य को उत्तरायण में आने में अभी छप्पन दिन शेष हैं। हे महाबाहु गांगेय, आप उसके उत्तरायण में आगमन की क्यों प्रतीक्षा कर रहे हैं, यह मैं जान गया हूँ। आपके दर्शनार्थ यहाँ इकट्ठे हुए इन समस्त वीरों को उसका ज्ञान होना आवश्यक है। आप ही इसका अभिप्राय सबको स्पष्ट करें।"

देह से निरन्तर रक्तस्राव होने से क्षीण हुए पितामह मृदुल मुस्कराये। उन्होंने कहा, "हे यमुनापुत्र, यह प्रतीक्षा मैं—गंगापुत्र क्यों कर रहा हूँ, इसे युद्ध के आरम्भ में अर्जुन को हितोपदेश देनेवाली अपनी सरस वाणी में तुम ही समझा दो सबको। हे वासुदेव, इस क्षण मुझे भी अपने विमल मुख से वह सुनने का सौभाग्य प्रदान करो।" दिन-भर उस महावीर ने अर्जुन के अनगिनत बाणों

को हँसते-हँसते झेला था, किन्तु कृष्णदेव के इस बाण को उन्होंने उन्हीं की ओर घुमा दिया।

वहाँ उपस्थित वीरों को आसन्नमरण पितामह के मन का प्रत्येक शब्द वासुदेव के मुख से सुनने को मिला।

कृष्णदेव ने कहा, "हे पितामह, आपके ही नहीं, प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में दो अयन होते हैं–दक्षिण और उत्तर। दक्षिण का अयन कटि के निचले भाग में होता है–मलमूत्र का विसर्जन करने का अपवित्र लगनेवाला किन्तु आवश्यक कार्य करनेवाला! देह के उत्तरायण में बहत्तर सहस्र धमनियों का मूल केन्द्र धारण करनेवाला मस्तक होता है–पवित्र माना गया बुद्धि का निवास-स्थान। यद्यपि मानव की बुद्धि दशमांश ही प्रकट हुई है, नब्बे से अधिक अंशों से वह अब तक अप्रकट ही है।

"इस उत्तरायण में ही योगी और तपस्वियों का परमपवित्र माना गया–अनुभव किया गया–ब्रह्मरन्ध्र है।

"पितामह को अपनी देह की जीवनी-शक्ति को दक्षिणायन में स्थित पैरों की अँगुलियों से खींचकर उत्तरायण में स्थित ब्रह्मरन्ध्र से सूर्य-केन्द्र में विलीन करना है–वह भी सूर्य के पवित्र उत्तरायण में प्रवेश करने के पश्चात्! क्यों, परशुराम शिष्य, मैंने उचित कहा न?"

मैं विस्मित होकर उन दोनों महापुरुषों को बारी-बारी से देखता ही रहा।

"हे सुदर्शन, तुम कैसे कुछ अनुचित कह सकते हो? अब एक काम करो। मेरे अर्धरथी कहने से पिछले दस दिन से रुष्ट होकर अपने ही शिविर में निष्क्रिय बैठे कर्ण से कहो कि वह आकर मुझसे मिले। मुझे उससे कुछ विशेष कहना है।"

"आज्ञा पितामह!" कहते हुए धीरे-से उनका हाथ छोड़कर कृष्णदेव वहाँ से उठे। क्षण-भर उन्होंने अपना मस्तक पितामह के चरणों में रखा। हम सबको साथ लेकर वे अपने शिविर की ओर चल पड़े। जाते हुए उन्होंने धृष्टद्युम्न को निर्देश दिया–"सेनापति, जब तक पितामह देहत्याग नहीं करते, रात-दिन उनके चतुर्दिक् अभेद्य कवच की भाँति सशस्त्र रक्षकों का पहरा बिठा दो। विकलांग हुए पितामह को हिंस्र श्वापदों से क्षति न पहुँचे, इसकी सावधानी रखी जाए।"

"आज्ञा द्वारिकाधीश!" कहकर धृष्टद्युम्न अपनी कार्यपूर्ति के लिए वहीं रुक गया।

अंगराज कर्ण को पितामह का सन्देश देने का काम मुझे ही करना पड़ा।

रात्रि में किसी समय पितामह से मिलकर दानवीर कर्ण अपने शिविर में लौट गया। उनमें क्या बातें हुई, इसका ज्ञान मुझे ही नहीं, किसी को भी नहीं हुआ। क्योंकि पितामह ने ही सशस्त्र सैनिकों सहित सभी को दूर भगाकर पूर्ण एकान्त में कर्ण से भेंट की थी।

अब महारथी, दिग्विजयी, ब्रह्मास्त्रधारी कर्ण रणभूमि में उतरनेवाला था। पितामह के पतन के कारण कौरवों की सेना-सामर्थ्य में आनेवाली त्रुटि को पूरा करने की पूर्ण सामर्थ्य उसमें थी।

अब हमारे सामने प्रश्न था–आचार्य द्रोण और कर्ण के दुहरे आक्रमण का सामना किस प्रकार किया जाए? कर्ण के रणभूमि में उतरने से पहले कुछ करना होगा, रात्रि की बैठक में इस बात की बहुत देर तक चर्चा चली। किसी ने कुछ तो किसी ने कुछ उपाय सुझाये। द्वारिकाधीश बिना कुछ बोले केवल सुनते रहे। बैठक से उन्होंने अन्य सबको जाने दिया। नित्य की भाँति केवल मुझे रोकते हुए उन्होंने कहा, "सखा सात्यकि, तुम रुको।" उनकी आज्ञा के अनुसार मैं वहीं रुक गया

और सोचने लगा कि वे मुझे कौन-सा दायित्व सौंपनेवाले हैं!

मैं आगे खड़ा और वे आसन पर बैठे हुए, इस प्रकार बहुत समय बीत गया। अन्ततः कुछ निश्चय कर उन्होंने कहा, "सेनापति, दारुक को लेकर तुम्हें पाण्डव-स्त्रियों के शिविर-संकुल में जाकर नन्दिघोष में बिठाकर बुआ कुन्तीदेवी को शीघ्र ही यहाँ ले आना है।"

"आज्ञा आर्य!" कहकर मैं वहाँ से निकला। एक विचित्र विचार से मैं चकरा गया था। जिस प्रकार पितामह भीष्म के आगे कृष्णदेव ने शिखण्डी को खड़ा किया था, उसी प्रकार कल वे कर्ण के आगे, अर्जुन के रथ पर स्वयं कुन्तीदेवी को तो खड़ा करने नहीं जा रहे? इतने वर्ष उनके निकट रहते हुए भी वे क्या करेंगे, यह समझना मेरे लिए भी कठिन था।

सोचते-सोचते, मन में कुछ अनुमान लगाते हुए मैं पाण्डव-स्त्रियों के शिविर में गया। कुन्तीदेवी को प्रणाम करके, उनको नन्दिघोष में बिठाकर मैं कृष्णदेव के शिविर में ले आया।

मेरी भाँति पाण्डव-माता भी सम्भ्रमित हुई थीं। आते ही उन्होंने अपने प्रिय भतीजे से पूछा, "हे कृष्ण, साक्षात् तुम्हारे यहाँ होते हुए मेरे वीर पुत्रों को आज मेरी क्या अवश्यकता पड़ गयी? सब ठीक तो है?" यह सुनकर हँसते हुए हृषीकेश ने कहा, "मेरे होने से क्या लाभ? मैं किसी की माता तो नहीं हो सकता। आपके सभी पुत्र कुशलपूर्वक हैं। वे वैसे ही रहें, यही मेरी इच्छा है। अतः इस युद्ध को एक अलग ही मोड़ देनेवाला महत्त्वपूर्ण कार्य आपको करना है।

"कल आपका प्रथम पुत्र अंगराज कर्ण कुरुक्षेत्र की रणभूमि में पहली बार उतर रहा है। मेरी ही भाँति आप भी जानती हैं कि उसके संचित पराक्रम के आगे आपके भीमार्जुन सहित पाँचों पुत्रों में से कोई भी टिक नहीं पाएगा।

"यद्यपि उसने कवच-कुण्डल इन्द्र को दान कर दिये हैं, परशुराम और एक ब्राह्मण के शाप से भी वह ग्रसित हो चुका है, फिर भी आपके पुत्रों को–मेरे प्रिय भ्राताओं को वह भारी पड़ेगा। पितामह के दिये गये युद्ध-समाप्ति के उपदेश को उसने नम्रतापूर्वक अस्वीकार किया है। बहुत पहले ही वह अर्जुन-वध की प्रतिज्ञा कर चुका है। अर्जुन के बिना क्या आप और क्या मैं, जी सकते हैं? अतः क्षत्राणी के अभिमान को त्यागकर और मन पर पत्थर रखकर आपको एक काम करना है।"

"क्या?" विस्फारित आँखें अपने भतीजे पर गड़ाकर ठिठकते हुए कुन्तीदेवी ने पूछा।

"गंगा में अन्तिम स्नान करने हेतु वह कुरुक्षेत्र से गंगा-तट पर चला गया है। उसके अर्घ्यदान कर लौटने से पहले ही आपको उससे गंगा-तट पर ही मिलना होगा–एक साधारण याचक के नाते! इसलिए आपको सात्यकि के साथ अभी गंगा-तट पर जाना होगा।"

सम्भ्रमित हुई राजमाता अपने भतीजे की ओर देखती ही रहीं। फिर जब न रहा गया तो उन्होंने पूछा, "याचक? मैं? अपने पुत्र के आगे?"

"हाँ ऽ बुआ! यदि आप अर्जुन सहित अपने पाँचों पुत्रों को जीवित देखना चाहती हैं, तो आपको याचक बनकर जाना ही होगा, वह भी दानवीर कर्ण के पास–अभी!"

बहुत देर तक कुन्तीदेवी सोच में पड़ी रहीं। फिर कुछ निश्चय कर उन्होंने मुझसे कहा, "चलिए यादव-सेनापति, आपके साथ चलने को मैं तैयार हूँ।"

अगले दिन दानवीर कर्ण से अर्जुन के अतिरिक्त अपने अन्य चार पुत्रों के प्राणों का दान प्राप्त करनेवाली राजमाता कुन्तीदेवी को उनके शिविर में छोड़कर ही मैं रणभूमि में उतरा।

सेनापति पद पर अभिषिक्त हुए आचार्य द्रोण ग्यारहवें दिन अपने रथ पर आरूढ़ हुए। रात्रि में ही पितामह से मिलकर आये दुर्योधन ने उनके शिविर में जाकर कहा था, "हे आचार्य, आप साक्षात् धनुर्वेद हैं। सावधानी कृतज्ञता, यशश्विता और अशरण पराक्रम आदि गुण आप में वास करते हैं। जैसे रुद्रों में कपालि, वसुओं में पावक है, वैसे ही आप हैं। यज्ञ में तो आपकी कुबेर से ही तुलना की जा सकती है। देवताओं में जैसे इन्द्र हैं, वैसे ही आप हैं। समस्त विप्रों में वसिष्ठ को माना जाता है, वैसे ही आप ज्ञानवान हैं। दैत्यों में जो सम्मान शुक्राचार्य का और पितरों में यमधर्म का है–वही सम्मान आपका है।" अपने सेनापति और आचार्य गुरु द्रोण को बढ़कर एक से एक विशेषण लगाने से दुर्योधन चूका नहीं।

अन्त में दोनों हाथ जोड़कर, नतमस्तक होकर बनावटी नम्रता से उसने कहा, "हे आचार्य, युवराज कहलानेवाले, उठते-बैठते हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थ के सिंहासन पर अधिकार जतानेवाले युधिष्ठिर को मेरे आगे जीवित उपस्थित किया जाए!

"उसका वध करना ठीक नहीं होगा। उससे भीमार्जुन अत्यधिक क्रोध-सन्तप्त होंगे। तब उनके आगे बची-खुची कौरव-सेना भी टिक नहीं पाएगी।"

दुर्योधन के पीछे खड़े शकुनि ने अपनी तीक्ष्ण, भूरी-कंजी आँखें द्रोणाचार्य पर गड़ाते हुए, नतमस्तक होकर कहा, "आचार्य-सेनापति उस ज्येष्ठ पाण्डव को जीवित पकड़कर मेरे आगे उपस्थित करें। मैं उसे पुन: उकसाकर द्यूत खेलने पर विवश करूँगा। उसका सर्वस्व जीतकर हम उसे पुन: वन में भेज देंगे। यदि मैं इसमें असफल हुआ, तो हस्तिनापुर को–आर्यावर्त को–छोड़कर गान्धार चला जाऊँगा।"

शकुनि की इस मूर्खतापूर्ण बक-बक को गुरुदेव द्रोण ने अनसुना कर दिया। दुर्योधन को आश्वस्त करते हुए उन्होंने कहा, "हे दुर्योधन, कल जब अर्जुन युधिष्ठिर से दूर होगा, तब उस अवसर का लाभ उठाकर मैं युधिष्ठिर को बन्दी बनाऊँगा।"

द्रोणाचार्य का यह हेतु हमारे सेनापति को ज्ञात हुआ। वह चौकन्ना हो गया। रात्रि-बैठक में कृष्णदेव के शिविर में निश्चित हुआ कि हम सब प्राणपण से युधिष्ठिर की रक्षा करें। इसका दायित्व मुख्यत: मुझको सौंपा गया। राजा विराट, द्रुपद, कैकेय, व्याघ्रदत्त और सिंहसेन मेरी सहायता करनेवाले थे।

युद्ध का ग्यारहवाँ दिन उदित हुआ। कौरवों का नेतृत्व करने हेतु उनका त्रिकोणी, काषाय राजध्वज फहराते हुए गुरुदेव द्रोण निश्चयपूर्वक हमारे सम्मुख खड़े हुए। गुरु द्रोण अर्थात् मूर्तिमान शस्त्रास्त्रवेद! भीष्म-पतन के कारण रात-भर विकल रही कौरव-सेना आज द्रोणाचार्य को सेनापति के वेश में देख रणोत्सुक होकर, गर्जना करने लगी। कुरुक्षेत्र का परिसर उन गगनभेदी गर्जनाओं से गूँजने लगा।

आज पहली बार द्रोणाचार्य के नेतृत्व में रथदल-प्रमुख के नाते कर्ण रणभूमि में उतरा था।

आज सर्वप्रथम कुरु-सेनापति द्रोणाचार्य युधिष्ठिर पर ही टूट पड़े। कृष्णदेव की आज्ञा के अनुसार मैं, विराट, द्रुपद, कैकेय, व्याघ्रदत्त और सिंहसेन को लेकर युधिष्ठिर की रक्षा के लिए दौड़ा। किन्तु आज द्रोणाचार्य को रोकना असम्भव था। उनके दो अचूक भल्ल बाणों ने हमारे पथक के व्याघ्रदत्त और सिंहसेन के मस्तक आकाश में उड़ा दिये। कृतान्त-काल के समान दिखते द्रोण युधिष्ठिर के रथ के आगे आ धमके। उनका रणावेश देखकर भयभीत हुए पाण्डव सैनिक चिल्लाने

लगे–“ज्येष्ठ पाण्डव धर्मराज को घेर लिया गया है–वे अब पकड़े जाएँगे–द्रोणाचार्य उनका वध कर देंगे–दौड़ो ऽ बचाओ ऽऽ बचाओ ऽऽ!”

उनका यह आक्रोश सुनाई देते ही तिलमिलाकर वीर अर्जुन ने अपने ज्येष्ठ भ्राता की रक्षा हेतु कृष्णदेव से कहा, “हे माधव, नन्दिघोष को आचार्य द्रोण के पास ले चलो।”

यह सुनकर द्वारिकाधीश मुस्कराये। वे क्यों हँसे, न अर्जुन को पता चला–न अन्य किसी को। मुझे वह ज्ञात हुआ, उस दिन की युद्ध-समाप्ति के बाद!

वे इसीलिए हँसे थे कि आज तक के युद्ध में आज पहली बार, अनजाने में ही उसने अपने सारथि को रथ किस दिशा में ले जाना है, इसकी आज्ञा दी थी। कृष्णदेव ने सारथि होने के नाते मुस्कराते हुए उसका पालन किया था।

आज ही क्यों, जब तक ज्वालामुखी के समान दहकता कर्ण रणभूमि में निरंकुश भ्रमण कर रहा था, अर्जुन को उसके आगे ले जाने में धोखा था। अत: मेरे द्वारा ही सूचना भिजवाकर कृष्णदेव ने कर्ण से भीमसेन को भिड़ाया था। उन दोनों में छिड़े–एक-दूसरे से न हारनेवाले घनघोर युद्ध को देखते हुए ग्यारहवाँ दिन अस्त हो गया।

बारहवें दिन प्रतिज्ञापूर्वक किसी का वध करनेवाले अथवा स्वयं मृत्यु को प्राप्त होनेवाले संशप्तकों ने आह्वनपूर्वक अर्जुन ही को घेर लिया। यादव-सेना सहित मैं उसकी सहायता के लिए जा ही रहा था कि उसने मुझे रोककर धर्मराज के रक्षणार्थ जाने का संकेत किया। संशप्तकों की प्रतिज्ञा का ज्ञान होने के कारण सम्भ्रमित होकर मैं नन्दिघोष की ओर देखने लगा। क्षण-भर में ही मेरे ध्यान में आया कि उस संकेत के पीछे कृष्णदेव की ही प्रेरणा थी। वे अपने प्रतोद से निर्देश कर मुझे युधिष्ठिर की ओर जाने का आदेश दे रहे थे।

मैं पांचालवीर सत्यजित और विराट-पुत्र शतानीक तथा वसुदान की सहायता से युधिष्ठिर को द्रोणाचार्य से बचाये रखने हेतु प्राणपण से युद्धरत हुआ। किन्तु आज द्रोणाचार्य को कोई भी रोक नहीं पा रहा था। उन्होंने देखते-देखते मेरे आगे ही तीनों का–पांचाल और विराट-पुत्रों का वध कर दिया।

इस बीच भीमसेन कर्ण के नेतृत्व में लड़ रहे, कौरवों के गजदल पर टूट पड़ा था। उसने दाँत पीसते हुए अपनी प्रचण्ड गदा के प्रहारों से कई हाथियों के गण्डस्थल विदीर्ण कर डाले। वह अपनी बाहुओं की सहस्र गज-शक्ति को प्रमाणित कर रहा था। चीत्कार करते हुए धरती पर गिरनेवाले हाथियों से धूल-ही-धूल उड़ने लगी।

अर्जुन ने संशप्तकों से घोर युद्ध किया। उनकी प्रतिज्ञा को असत्य ठहराते हुए उसने पहले सुधन्वा का वध किया, फिर सुशर्मा सहित उसके पाँचों भ्राताओं को धराशायी कर दिया।

अर्जुन के पराक्रम से प्रसन्न हुए कृष्णदेव ने अब नन्दिघोष को युधिष्ठिर की ओर उसके रक्षणार्थ दौड़ाया। नरकासुर-पुत्र भगदत्त ने युधिष्ठिर को घेरकर संकट में डाल दिया था।

भगदत्त असुर था। उसकी लम्बी, घनी भौंहें उसके पलकों से भी नीचे आँखों पर लटकती थीं। इस अड़चन का निवारण करने हेतु उसने भौंहों को ऊपर उठाकर वस्त्र-पट्टी से बाँध दिया था। उसके इस मर्म को केवल कृष्णदेव ही जानते थे। अत: उन्होंने पहले उस वस्त्र-पट्टी को चीर डालने का उपाय अर्जुन को बताया। अर्जुन ने एक ही बाण में वह कार्य किया। वस्त्र-पट्टी के टूटने से

भगदत्त की लम्बी भौंहें उसकी आँखों पर लटकने लगीं। उसे कुरुक्षेत्र धुँधला-सा दिखाई देने लगा। वह हड़बड़ा गया। उसी समय धनंजय ने एक अर्धचन्द्राकार बाण उसके प्रचण्ड हाथी के गण्डस्थल में मारा। हाथी नीचे गिर गया। उसके लम्बे दाँतों के धरती से टकराने से ग्रीवा में ऐंठन आ गयी। उसकी पीड़ा के कारण हाथी ने अपनी पीठ पर की अम्मारी को झटककर दूर फेंक दिया। धरती पर पड़ा भगदत्त उठकर अपने धनुष को सँभालते हुए भागने लगा। नरकासुर-वध पश्चात् के प्राग्ज्योतिषपुर का सिंहासन उसी को दिलाकर कृष्णदेव ने उसे उचित समय पर पाण्डवों की सहायता करने का आग्रह किया था। इस बात को वह भूल गया था।

अर्जुन ने एक और चन्द्रमुख बाण को प्रक्षेपित कर उसके कण्ठनाल को बेध डाला। यह देखकर क्रुद्ध हुए शकुनि ने अपने सैनिकों सहित अर्जुन पर आक्रमण किया। अर्जुन ने आज पहली ही बार एक अस्त्र का प्रयोग किया। आदित्य अस्त्र फेंककर उसने गान्धार-सेना सहित शकुनि को भगा दिया। किन्तु घमासान युद्ध में अश्वत्थामा ने राजा नील का वध कर दिया था।

सन्ध्या समय पहली बार कर्ण का जैत्ररथ अर्जुन के नन्दिघोष के आगे आया। दोनों ने एक साथ ही एक-दूसरे पर शरसन्धान किया। कुरुक्षेत्र की पवित्र रणभूमि पर नन्दिघोषारूढ़ कृष्णदेव ने हँसते-हँसते अस्त होते सूर्य-बिम्ब की ओर देखकर आँखें बन्द करते हुए स्तवन किया–'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं...'

उनके विमल गुलाबी होठों की ओट से दिखती दन्त-पंक्ति का दर्शन कर सूर्यदेव धन्य हो गये। इसी समय सूर्य-भक्त कर्ण भी आँखें बन्द करके, अपने जैत्ररथ पर उसी सवित्र मन्त्र से सूर्य-वन्दना कर रहा था। दोनों को स्वीकार कर आकाश स्वामी सूर्य अस्त हो गया।

रात्रि में जलते पलीतों के प्रकाश में, कृष्णदेव के भव्य शिविर में हम सब सेना-प्रमुखों की बैठक आरम्भ हुई। सभी चिन्ताक्रान्त थे। हमारे गुप्तचर-प्रमुख द्वारा कौरवों के शिविर से प्राप्त किया गया समाचार ही कुछ ऐसा था। नातों के सभी बन्धनों को ठुकराकर दुर्योधन कठोर शब्दों में सेनापति द्रोणाचार्य पर बरस पड़ा था, "बारह दिन में बारह लक्ष कौरव-सेना धराशायी हो गयी, किन्तु अब तक एक भी पाण्डव मृत्यु को प्राप्त नहीं हुआ। मेरे आधे से अधिक भ्राता वीरगति को प्राप्त हुए, किन्तु पाण्डवों का बाल भी बाँका नहीं हुआ। युधिष्ठिर को जीवित पकड़ने की प्रतिज्ञा आपने की थी। यह सब क्या हो रहा है? यह युद्ध है कि विष्णुयाग का भोज-समारोह? गुरुदेव, पाण्डवों के प्राण हरण करने में यदि आपका धनुष असमर्थ हो, तो कल अपने रथ पर फहराता राजध्वज कर्ण के हाथ में दे दीजिए! हम देखेंगे, युद्ध कैसे लड़ा जाए!"

इस कठोर निर्भर्त्सना से क्रुद्ध हुए द्रोणाचार्य ने उच्चासन से उठकर घोर निश्चय घोषित किया, "मेरे पराक्रम पर विवेक-शून्य सन्देह करनेवाले दुर्योधन, मैं दिखा दूँगा कि कल का सूर्य चक्रव्यूह में पड़े किसी-न-किसी श्रेष्ठ पाण्डव योद्धा के शव को देखे बिना अस्त नहीं होगा।"

चिन्तित पाण्डव क्या-क्या सुझाते हैं, यह सुनते हुए कृष्णदेव बैठक में देर तक मौन ही बैठे रहे। अत्यन्त जटिल, टेढ़े-मेढ़े मण्डलोंवाले चक्रव्यूह के भेद का प्रश्न था। प्रश्न था, कल का सेनापति पद किसको सौंपा जाए। सभी ने महाबली भीमसेन का नाम सुझाया। निस्सन्देह भीमसेन महापराक्रमी था, किन्तु वह चक्रव्यूह का भेद नहीं कर सकता था। सेनापति पद देकर भीमसेन को अग्रस्थान पर भेजने का अर्थ था उसको गँवा देना।

पाण्डवों के संरक्षण की दूसरी ढाल किसी को सूझ नहीं रही थी। इसी से सभी चिन्तित, क्षुब्ध

हुए थे। कुछ देर बाद अत्यन्त गम्भीरता से यादवश्रेष्ठ ने मुझे आदेश दिया, "सेनापति, वीर अभिमन्यु को आमन्त्रित करो।"

"जो आज्ञा यादवश्रेष्ठ!" कहकर मैं महारथी अभिमन्यु के शिविर की ओर चला गया। वह अपना युद्धवेश उतरवाकर विश्राम कर रहा था। सोलह वर्ष के उस नवयुवा योद्धा को देखकर, उसे सन्देश देने में मैं तनिक हिचकिचाया। 'मामा ने स्मरण किया है' यह सुनते ही कन्धे पर लहराते अपने सिर के घुँघराले केशों पर शिरस्त्राण रखते हुए वह शीघ्र ही मेरे साथ चल पड़ा।

शिविर में आते ही कृष्णदेव ने अत्यन्त प्रेमपूर्वक भर्राये स्वर में पुकारा–"आओ अभि ऽ" कृष्णदेव के गले से ऐसी भर्रायी ध्वनि मैंने पहले कभी सुनी नहीं थी।

सदा की भाँति 'अभिमन्यु' कहने के स्थान पर मामा ने 'अभि' कहकर बुलाया है, यह बात उस तत्पर अभिमन्यु के ध्यान में आयी। अपने वन्दनीय मामा की चरणधूलि मस्तक पर धारण करके मुस्कराता हुआ, हाथ जोड़कर वह विनम्रता से उसके सम्मुख खड़ा हुआ। एक वर्ष पहले ही उस नवयुवा का विवाह हुआ था। इस समय उसकी सुशीला, रूपवती, सगर्भा पत्नी, विराट-पुत्री उत्तरा पाण्डव-स्त्रियों के शिविर में थी।

सबको मौन देखकर उसने पूछा, "आप सब चुप क्यों हैं? चिन्तित क्यों हैं?"

अपने उच्चासन से उठकर अभिमन्यु के समीप जाकर अपना नीलवर्णी दाहिना हाथ उसके पुष्ट कन्धे पर रखते हुए कृष्णदेव ने कहा, "कल गुरु द्रोण चक्रव्यूह की रचना करनेवाले हैं। उसे भेदने का कार्य..." प्रत्यक्ष कृष्णदेव की ही समझ, में नहीं आ रहा था कि आगे क्या कहें!

"यह दायित्व मुझे सौंपा जा रहा है, यह मेरा सौभाग्य है। आपके आशीर्वाद से मैं इसे पूरा करूँगा।" कहकर श्रद्धापूर्वक सबको अभिवादन करते हुए, धीमी-शान्त गति से अभिमन्यु शिविर से बाहर निकल गया।

उसके घने घुँघराले केश उसके कन्धों पर झूल रहे थे। अभिभूत होकर मैं उसकी जाती हुई आकृति को देखता रहा।

अपने मामा के अनुरूप ही वीर भानजा था वह!

महायुद्ध का तेरहवाँ दिन अभिमन्यु के गगनभेदी, अशरण पराक्रम से गूँज उठा। द्रोणाचार्य के रचे चक्रव्यूह को भेदने हेतु आज अभिमन्यु भीमसेन सहित कौरव-सेना में प्रवेश कर गया। एक के बाद एक शत्रुसेना के मण्डल भेदते हुए वह चक्रव्यूह के सीधे केन्द्र-स्थान में जा पहुँचा। वहाँ दुर्योधन-पुत्र लक्ष्मण से उसका तुमुल गदायुद्ध हुआ। दोनों मूर्च्छित हुए। किन्तु पहले सावधान हुए दुर्योधन-पुत्र ने मूर्च्छित अभिमन्यु पर गदा-प्रहार करते हुए, उसका वध कर दिया। उन्मत्त जयद्रथ ने औंधे गिरे अभिमन्यु के शव को सीधा करने के लिए लात मारी। अपने प्रिय पुत्र के शव की घोर अवमानना के बारे में ज्ञात होते ही अर्जुन ने अगले दिन के अस्त होने से पहले ही जयद्रथ का वध करने, यदि ऐसा न हो सका तो स्वयं जलती चिता में प्रवेश करने की प्रतिज्ञा की।

चौहदवें दिन कुरु-सेनापति द्रोणाचार्य ने शक-व्यूह अर्थात् रथ के आकार की व्यूह-रचना की। श्वेतवर्णी कवच, वैसा ही वस्त्र और शिरस्त्राण धारण किये द्रोणाचार्य थर्रा देनेवाला शंखनाद करते हुए रणभूमि में उतरे। जयद्रथ-वध की घोर प्रतिज्ञा किये अर्जुन के नन्दिघोष रथ को उनके आगे खड़ा कर कृष्णदेव ने पांचजन्य को बजाया। आज कौरवों ने सिन्धुनरेश जयद्रथ को रणभूमि

में ही न लाने की सावधानी बरती। यह शकुनि की धूर्त युद्धनीति थी।

पुत्र-वियोग के सन्ताप से 'जयद्रथ कहाँ है...जयद्रथ कहाँ है?' आक्रोश से चीत्कार करनेवाले अर्जुन के रथ को उसके नि:शस्त्र सारथि ने दिन-भर रणभूमि में दौड़ाया। किन्तु व्यर्थ! जब प्रहर के बाद प्रहर बीतने लगे और जयद्रथ का कहीं पता ही नहीं चला तो, खीझ और चिढ़े हुए अर्जुन ने अवन्ती के बन्धुद्वय–विन्द-अनुविन्द का ही वध कर दिया। वे दोनों कृष्णदेव के फुफेरे भ्राता थे। मित्रविन्दादेवी के सहोदर थे। अंकपाद आश्रम के आचार्य सान्दीपनि के शिष्य थे।

अपनी कठोर प्रतिज्ञा के अनुसार सन्ध्या समय चन्दन की चिता पर चढ़े अर्जुन ने सूर्यग्रहण-समाप्ति का लाभ उठाकर, कृष्णदेव के तर्जनी-संकेत पर, उन्मत्त जयद्रथ का चन्द्रमुख-जिह्म बाण से अचूक शिरच्छेद कर दिया। स्तम्भित कर देनेवाले उस दृश्य को देखकर दोनों ओर के–अब कुछ ही लाख की संख्या में शेष रहे सैनिक भी सिहर उठे। पाण्डव-सैनिकों ने उत्साहविभोर होकर अविरत जयघोष किया।–'कुन्ती-पुत्र अजेय धनुर्धर नरवी ऽ र अर्जु ऽ न की जय ऽऽ! देवकीपुत्र नारा ऽ यण श्रीकृष्ण की जय हो!' उस रोमांचक जयनाद को सुनते हुए चौदहवें दिन का सूर्य अस्त हुआ।

जयद्रथ के आकस्मिक वध से द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, दुर्योधन आदि सभी कौरव-योद्धा क्षुब्ध हो उठे। युद्ध आरम्भ होने के बाद आज पहली बार रात्रि-युद्ध आरम्भ हुआ। सैकड़ों जलते पलीतों के प्रकाश में गुरु द्रोण ने शिबि राजा पर आक्रमण किया।

मुझमें और सोमदत्त में भी भयंकर युद्ध छिड़ गया। शिबि और बाह्लीक को धराशायी करके गुरु द्रोण पाण्डव-सेना को मटियामेट करने लगे। पाँचों पाण्डवों से चारों ओर से घिरा कर्ण अपनी बाण-वर्षा से सबको निष्प्रभ करने लगा। उसका सामना न कर सकनेवाला युधिष्ठिर द्रोणाचार्य के आगे जा खड़ा हुआ। नकुल शकुनि से भिड़ गया। आज पहली बार अर्जुन-कर्ण का आमना-सामना हुआ–वह भी रात्रि-युद्ध में!

कर्ण को रात्रि-युद्ध का भी अभ्यास था, अत: वह बार-बार अर्जुन को विद्ध करने लगा। कर्ण के रूप में पाण्डव सेना में तप्त लौहरस का एक महानद ही अनिरुद्ध रूप से संचार करने लगा। उसका जैत्ररथ एक के बाद एक कैकेय, पांचाल आदि पथकों को रौंदता हुआ निरंकुश भ्रमण करने लगा। प्रबल प्रभंजन जिस प्रकार महासागर को मथ डालता है, उसी प्रकार कर्ण पाण्डव-सेनाओं को मथने लगा। भीम, अर्जुन, युधिष्ठिर, धृष्टद्युम्न, मैं–कोई भी उसके आगे टिक नहीं पा रहा था। "सुबह होने तक यह राधेय हमारी सेना को शेष रहने देगा कि उसका नि:शब्द, रक्तमय नदी में रूपान्तरण करेगा?" भयभीत युधिष्ठिर प्रत्येक योद्धा से यही प्रश्न पूछने लगा। ऐसा कठिन समय आया था कि यदि कर्ण को रोका नहीं गया तो पाण्डव-सेना कल का दिन देख ही नहीं पाएगी। धृष्टद्युम्न और मेरे तथा सभी पाण्डवों के आगे एक ही प्रश्न था–क्या करें?

मैं और धृष्टद्युम्न अन्य चारों पाण्डवों सहित अर्जुन के नन्दिघोष के पास गये। हाथ जोड़कर हमने सारथि कृष्णदेव से प्रार्थना की–"कुछ कीजिए योगयोगेश्वर। कर्ण को रोकिए।"

उन्होंने भीमसेन को अपने निकट बुलवा लिया। रात्रि-युद्ध के कारण गुप्त बैठक बुलवाने का अवसर ही नहीं था। नन्दिघोष की वल्गाओं को सँभालते हुए उन्होंने आज पहली बार सबको सुनाई दे सके, ऐसी वाणी में भीमसेन से कहा, "भीमसेन, अपने पुत्र घटोत्कच को उसकी आसुरी सेना सहित शीघ्र कर्ण से भिड़ने का आदेश दो।"

भीमसेन ने अपने सारथि विशोक से घटोत्कच के पास ले चलने को कहा। घटोत्कच इस समय अपने पुत्र अंजनपर्व सहित रणभूमि के दूसरे छोर पर पश्चिम की ओर कौरव-सेना से युद्ध कर रहा था। भीमसेन का सारथि बड़ी चपलता से अपना रथ उसके पास ले गया। भीमसेन अपने रथ से उतरकर उस महारथी के राक्षसी रथ पर आरूढ़ हुआ। पिता-पुत्र रीछों के चर्म से आच्छादित उस प्रचण्ड रथ सहित कर्ण के आगे आये। कृष्णवर्ण के चौदह पुष्ट अश्वोंवाला वह रथ गृध्र पक्षी के भयंकर चित्र से अंकित ध्वज के कारण भयावह दिख रहा था। वह रक्तवर्णी राक्षसध्वज गीली आँतों की मालाओं से सजाया हुआ था। उस रथ के पीछे राक्षस-सैन्य खड़ा हुआ। अग्रस्थान पर स्थित रथ में खड़ा घटोत्कच जलते पर्वत-शिखर की भाँति भयंकर दिख रहा था। उसके शंकु जैसे कान, मोटी-मोटी भद्दी आँखे, मोटी भौंहें और औंधी कड़ाही जैसा रोएँदार पेट देखकर ही कौरव-सैनिक भयभीत हो गये।

कर्ण की ओर देखते ही वह राक्षस-नायक घटोत्कच गरजा, "जै ऽ हिडिम्बामाता ऽ!" अपने पुत्र को प्रेरणा देने हेतु भीमसेन ने भी भयावह गर्जना की–"जै ऽ कुन्तीमाता ऽ!"

अपने आगे राक्षस अलायुध को रखकर युद्ध करनेवाले कर्ण और भीमसेन को अपने पृष्ठभाग में रखकर युद्ध करनेवाले घटोत्कच के बीच थर्रा देनेवाला रात्रि-युद्ध छिड़ गया। मध्यरात्रि के समय घटोत्कच ने सबके रोंगटे खड़े कर दिये और सबको भयभीत करते हुए अलायुध का वध कर दिया। भयाकुल कौरव-सैन्य अपने शस्त्रों को नचाते हुए आक्रोश करने लगा–"हे दिग्विजयी अंगरा ऽ ज, इस राक्षस से हमें बचाइए। हे दानवीर क ऽ र्ण, हमें जीवनदान दीजिए।"

'दान!' जीवन-भर आकर्षित करते आये उस शब्द से बँधा हुआ कर्ण द्रवित हो उठा। आँखें बन्द कर उसने कुछ चिन्तन किया। कवच-कुण्डल दान के समय इन्द्र से प्रसन्न होकर प्रसन्नतापूर्वक प्राप्त वैजयन्ती शक्ति को अभिमन्त्रित कर कर्ण ने उसे घटोत्कच पर फेंका। उसकी अपनी सुरक्षा के लिए एकमात्र वही शक्ति उसके पास बची थी। उसे फेंकते ही उसका जीवन रिक्त तूणीर जैसा बन गया।

उस शक्ति के वक्षभेद होते ही मायावी विकराल घटोत्कच विचित्र ध्वनि में चीखा। चीखते हुए नीचे गिरते समय उसने इतना विशाल शरीर धारण किया मानो आकाश की छत ही टूटकर गिर रही हो। अशोक-वृक्ष के गिरते ही जिस प्रकार वल्मीक की असंख्य चींटियाँ उसके नीचे मसली जाती हैं, उसी प्रकार उसके विशाल शरीर के नीचे कुचलकर कई कौरव-सैनिक मृत्यु को प्राप्त हुए। रात्रि-युद्ध समाप्त हुआ।

कृष्णदेव की योजना के अनुसार कर्ण को वैजयन्ती शक्ति से वंचित करने का घटोत्कच का जीवन-कार्य भी समाप्त हुआ।

अभी सवेरा होना था। दोनों सेनाओं के थके हुए, श्रान्त सैनिक कुरुक्षेत्र के अलग-अलग सरोवरों में स्नान करने के लिए उतरे। वे अपने नित्यकर्मों से निवृत्त हो रहे थे। उस समय मैंने कृष्णदेव की आज्ञा के अनुसार युधिष्ठिर को उनके आगे उपस्थित किया। पन्द्रहवें दिन की युद्धनीति निश्चित करने के लिए बैठक बुलाने का भी अब अवसर नहीं था।

कृष्णदेव ने युधिष्ठिर को कर्ण से सावधान रहने को कहा। शर-शैया पर पड़े पितामह से एक बार मिल आने का निर्देश दिया। उन्होंने युधिष्ठिर को भिन्न-भिन्न सेना-दलों के लिए कल की

सैनिकी गतिविधियों के बारे में सूचना दी। मैं समझ नहीं पा रहा था कि यह सब कहने के लिए उन्होंने अकेले युधिष्ठिर को ही क्यों बुलाया है! सेनापति होते हुए भी धृष्टद्युम्न को उन्होंने क्यों नहीं बुलाया है! अन्ततः युधिष्ठिर अपने शिविर में जाने के लिए निकला। तब कृष्णदेव ने उसके निकट जाकर, उसके कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा, "हे युधिष्ठिर, जो मैं तुमसे कहने जा रहा हूँ उसे भलीभाँति ध्यान में रखो। कौरव-सेना में मालवराज इन्द्रवर्मा के गजदल में 'अश्वत्थामा' नामक श्रेष्ठ कुंजर-गजराज है। कल भीमसेन को उस कुंजर को मार डालने का आदेश देना है और रणभूमि में कोई भी इस विषय में तुमसे पूछे तो इतना ही कहना है–'अश्वत्थामा हतो–नरो वा कुंजरो वा!'

कुछ भी समझ में न आने से मैं सम्भ्रमित हुआ था। युधिष्ठिर भी हड़बड़ाया-सा दिख रहा था। "जैसा तुम कहो, वासुदेव!" कहकर वह स्नान करने के लिए ब्रह्म सरोवर की ओर चला गया।

पन्द्रहवें दिन गुरु द्रोण ने अपनी सेना को श्येन पक्षी के आकार में खड़ा किया। इंगुदी तैल समाप्त हुए पलीतों से कड़वा-सा धुआँ निकल रहा था। कृष्णदेव और गुरु द्रोण के शंख फूँकते ही दोनों सेनाएँ "आरू ऽ ढ...आ ऽ क्रमण' रण-गर्जना करती हुई आपस में भिड़ गयीं। रणभूमि पर अब न पाण्डवों का वर्चस्व था, न कौरवों का। वहाँ केवल निर्मम, विकराल मृत्यु का ही राज था।

दूसरे प्रहर तक गुरु द्रोण बड़े आवेश से युद्ध कर रहे थे। अचानक कहीं से कोई जोर से चीखा–'अश्वत्थामा मारा गया ऽ...अश्वत्थामा मारा गया ऽ' वस्तुतः वह भीमसेन द्वारा मारा गया मालवराज इन्द्रवर्मा का हाथी था।

सत्य जानने हेतु अपना रथ दौड़ाते हुए गुरु द्रोण युधिष्ठिर के पास पहुँचे। विह्वलता से उन्होंने पूछा, "हे धर्मराज, क्या सचमुच मेरा प्रिय अशू मारा गया? बताइए युधिष्ठिर, तुम्हारी सत्यप्रियता पर मुझे पूरा विश्वास है!"

"गुरुदेव, अश्वत्थामा मारा गया यह सत्य है! किन्तु वह मनुष्य था अथवा हाथी, यह मुझे पता नहीं।" युधिष्ठिर जीवन में पहली बार असत्य बोला। दूसरा वाक्य उसने इतने धीम-से कहा कि वह स्वयं उसे भी सुनाई न दे!

पुत्र-वियोग के दुःख से विह्वल हुए द्रोणाचार्य ने अपना धनुष फेंककर रथ में ही पद्मासन लगाया। वे ध्यानस्थ हुए। तभी आरक्त नेत्रों वाला धृष्टद्युम्न खड्ग उठाकर अपने रथ से कूद पड़ा। वह द्रोणाचार्य की ओर दौड़ने लगा। पाण्डव भी उसको रोकने के लिए उसके पीछे दौड़ने लगे। किन्तु उनके विरोध को अनसुना करते हुए एक ही छलाँग में वह द्रोणाचार्य के रथ पर चढ़ा और किसी के कुछ समझ में आए इससे पहले ही उसने द्रोणाचार्य के मस्तक पर बँधे केशों को मुट्ठी में कसकर एक ही प्रहार में उसका सिर धड़ से अलग कर दिया। आँखें विस्फारिक कर वह चिल्लाया, "मेरे पिता को बन्दी बनाकर उसकी दुर्दशा करनेवाले अधम, अश्वत्थामा नर था कि कुंजर यह अब स्वर्ग में जाकर इन्द्र के ऐरावत से ही पूछ ले!" धृष्टद्युम्न ने द्रोणाचार्य का कटा हुआ मस्तक दोनों सेनाओं के बीच रणभूमि पर फेंक दिया।

युद्ध के सोलहवें दिन का–पौष शुद्ध द्वितीया का प्रभात स्वर्णिम किरणों के पारिजात-पुष्पों को कुरुक्षेत्र पर बिखेरते हुए उदित हो रहा था। आकाशदेव को मानवों की क्रूरता और करुणा से कुछ लेना-देना नहीं था।

दुर्योधन ने अब सेनापति के रूप में कर्ण का अभिषेक किया। सेनापति कर्ण ने एक ऊँची

टेकरी पर चढ़कर अपनी सेना की व्यूह-रचना के लिए उचित स्थान निश्चित किया। कौरव-सेना विशाल मकर के आकार में युद्ध-सज्ज हो गयी। उस मकर के मुखाग्र पर स्वयं कर्ण खड़ा था।

मकर के केन्द्र-स्थान से दुर्योधन द्वारा 'विदारक' नामक शंख को फूँककर युद्धारम्भ का संकेत होते ही कर्ण ने अपनी पुष्पमालाओं से सुशोभित 'विजय' धनुष ऊपर उठाकर उसे गरगराकर घुमाया। उसने अपनी कण्ठ की धमनियाँ फुलाकर 'हिरण्यगर्भ' शंख को इतने जोर से फूँका कि रणभूमि के आसपास के गिद्धों जैसे मांसभक्षी पक्षी भयभीत होकर आकाश में उड़ गये।

'आ ऽ रो ऽ ह...आ ऽ क्र ऽ मण!' कहकर उसने अपनी स्नायुबद्ध भुजाओं को ऊपर उठाकर कौरव-सेना को आक्रमण करने का आदेश दिया।

कौरव-सेना का विशाल मकर पाण्डवों को निगलने हेतु तेजी से आगे बढ़ा। अर्धचन्द्राकार व्यूह में पाण्डव-सेना भी आगे बढ़ी।

कर्ण ने विषैले फलवाले बाणों की अविरत वर्षा से हमारे प्रचण्ड गजदल को शीघ्र ही तितर-बितर कर दिया।

सूर्य ऊपर चढ़ आया और भीमसेन ने क्षेमधूर्ती को मार गिराया। संशप्तकों से भिड़े अर्जुन ने दण्ड और दण्डधार इन राजाओं को धराशायी कर दिया। तब बौखलाये अश्वत्थामा ने उस पर आक्रमण किया। जिस पांचाल-दल में कर्ण घुस गया था, वहाँ सीधे-सीधे संकुलयुद्ध का आरम्भ हुआ।

मत्स्य और पांचाल-वीरों को कर्ण के द्वारा धड़ाधड़ वीरगति को प्राप्त होते हुए देखकर कृष्णदेव उसको रोकने के लिए अपने पांचजन्य के विशिष्ट स्वरों से नकुल को कर्ण पर आक्रमण करने का संकेत बार-बार करने लगे। उस घमासान युद्ध में लगभग आधी घटिका के बाद नकुल को वह संकेत मिला। दूसरे प्रहर के ढलते उसने अपने दल के साथ मत्स्यों के सेवा-दल में प्रवेश किया और सीधे कर्ण पर चढ़ाई की। कर्ण ने बड़ी सरलता से नकुल के बाणों का सामना करके उसे बार-बार विरथ किया। हँसते-हँसते नकुल की दौड़धूप को देखते हुए नि:शस्त्र नकुल से उसने कहा, "जाओ और अपने ज्येष्ठ भ्राता अर्जुन को भेज दो। इसलिए मैं तुम्हें जीवित छोड़ रहा हूँ।"

लज्जित नकुल सिर घुमाकर उसके आगे से हट गया।

सन्ध्या समय, जब कुरुक्षेत्र के आसपास ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की लम्बी-लम्बी परछाइयाँ फैलने लगीं, कृष्णदेव ने पहली बार अर्जुन के नन्दिघोष रथ को कर्ण के जैत्ररथ के सम्मुख पहुँचाया। एक-दूसरे को देखते ही वे अत्यन्त क्षुब्ध हुए। अत्यन्त क्रोध से वे दोनों एक-दूसरे पर चिल्लाये। एक-दूसरे को बेधते हुए उन्होंने अपने धनुषों से ऐसी अविरल बाण-वर्षा की कि कुरुक्षेत्र का आकाश आच्छन्न हो गया। घण्टे-भर तक उनके अमोघ, वेगवान, नादमय बाण आपस में टकराते रहे। उनसे निकलती चिनगारियों ने कर्ण के सारथि सत्यसेन को झुलसा दिया। अर्जुन के बाणों से वह गतप्राण हुआ। अन्तत: पौष शुद्ध द्वितीया को–युद्ध का अत्यन्त कठिन सोलहवाँ दिन समाप्त हुआ।

रात्रि घने अन्धकार का आवरण कुरुक्षेत्र को ओढ़ाने लगी। कुछ क्षणों में सर्वत्र केवल अन्धकार-ही-अन्धकार छा गया।

उस रात दुर्योधन ने कर्ण से पूछा, "अंगराज तुम्हारे सारथि की तो मृत्यु हुई! कल तुम्हारे रथ

का सारथ्य कौन करेगा?”

“युवराज, मुझे एक कुशल, विश्वसनीय सारथि दो। तब कल वायु को भी पीछे छोड़नेवाली गति से मेरा रथ रणभूमि में दौड़ता तुम्हें दिखाई देगा।” कर्ण ने कहा।

‘कुशल सारथि? विश्वसनीय सारथि?’ अपने बायें हाथ की मांसल हथेली पर दायें हाथ की सुदृढ़ मुट्ठी ठोंकता हुआ दुर्योधन विचारमग्न हुआ।

“अंगराज, बुरा न मानो तो मैं एक ही नाम सुझाना चाहूँगा। वही तुम्हारे सारथ्य करने के सर्वथा योग्य है।” दुर्योधन की पाषाणमूर्ति मुखरित हुई।

“कौन है वह?” कर्ण ने अपने मस्तक का मुकुट और भारी लौहत्राण उतारकर चौकी पर रखते हुए पूछा।

“मद्रराज शल्य।” दुर्योधन ने अपना सुदृढ़ दायाँ हाथ उसके विशाल कन्धे पर रखा।

“शल्य? युवराज, क्या तुम भूल गये हो कि शल्य पाण्डवों का मातुल-राजमाता माद्रीदेवी का सहोदर है?” कर्ण के स्वर्णवर्णी ललाट पर रेखाएँ खिंच गयीं!

“कर्ण, शल्य को मैंने युद्धारम्भ से पहले ही अन्य राजाओं से अधिक सम्मान दिया है। वह पाण्डव पक्ष में सम्मिलित होने हेतु ही मद्र देश से निकला था। किन्तु मार्ग में ही उसका हर प्रकार से स्वागत-सम्मान करते हुए बहुमूल्य उपहार देकर मैंने उसे अपने पक्ष में कर लिया है। युद्ध में कौरवों से एकनिष्ठ रहने की उसने प्रतिज्ञा की है। पिछले सोलह दिनों में उसने उसे निभाया भी है। विश्वास रखो, शल्य अब पीछे नहीं हटेगा। क्षत्रिय कभी अपने शब्द से पीछे नहीं हटते—आवश्यकता पड़ने पर मृत्यु को भी स्वीकार करते हैं।”

मद्रराज शल्य को कर्ण का सारथि नियुक्त किये जाने की सूचना हमारे शिविर में पहुँच गयी।

कृष्णदेव ने आज माद्रेय नकुल को उनके सम्मुख उपस्थित करने की आज्ञा मुझे दी। माद्रेय को लेकर वे आज युद्ध-नीति का कौन-सा दाँव-पेंच खेलेंगे, यह सोचते हुए मैं नकुल के शिविर में गया। वासुदेव का आदेश सुनते ही वह मदन-समान सुन्दर नकुल मुस्कराता हुआ मेरे साथ कृष्णदेव के शिविर में आया।

“नकुल, तुम्हें इसी समय अपने मामा मद्रराज शल्य के शिविर में जाना है।” उन्होंने नकुल से कहा।

यादव सेनापति के नाते मैंने अपना सन्देह व्यक्त किया—“पिछले सोलह दिनों में शल्य ने निष्ठापूर्वक कौरवों की ओर से युद्ध किया है। अब वह पाण्डवों की ओर से कैसे युद्ध करेगा?”

मेरी ओर देखकर मुस्कराते हुए कृष्णदेव ने कहा, “हम चाहते ही नहीं हैं कि वह पाण्डवों की ओर से युद्ध में उतरे। नकुल केवल अपने मामा के दर्शन करके उनसे इतनी ही प्रार्थना करे कि कल के युद्ध में वे कर्ण को उसके सूतपुत्र होने का, दुर्योधन का आश्रित होने का बार-बार आभास दिलाते रहें। नकुल अपने मामा का आशीर्वाद और केवल यही वचन लेकर लौटे।”

‘आज्ञा द्वारिकधीश!’ कहकर माद्रेय नकुल अकेला ही अपने मामा से मिलने चला गया। कुछ समय पश्चात् वह अपने कार्य में सफल होकर लौटा।

आज की रात्रि-बैठक को अधिक लम्बा न करते हुए कृष्णदेव ने सबको शान्त मन से सो जाने को कहा! मैं जान चुका था कि यद्यपि अमावस बीत चुकी है किन्तु आनेवाली रातें और भी

अन्धकारमय होनेवाली हैं।

युद्ध का सत्रहवाँ दिन उदित हुआ। वह पौष शुद्ध तृतीया का दिन था। दोनों ओर की सैन्य-संख्या अब आधे से भी अधिक कम हो चुकी थी। योद्धाओं के न होने से कई शिविर अब सूने पड़े थे–अश्व रहित अश्वशालाओं के समान!

सेनापति बना दानवीर कर्ण उषःकाल के धुँधलके में दोनों सेनाओं की गतिविधियों का निरीक्षण करने हेतु चुनी हुई टेकरी पर खड़ा हुआ। पिछले कुछ दिनों से वह टेकरी सैनिकों में 'कर्ण का किला' नाम से प्रसिद्ध हुई थी। डौंडी पिटवाने के कारण आज वह टेकरी कुरुक्षेत्र के आसपास के नगरों से आये याचकों से घिर गयी थी। आज वह मुक्तहस्त से याचकों को दान करने की इच्छा से खड़ा हुआ था।

राजपुरोहित के बताये हुए मुहूर्त पर उसने अपने दान-सत्र का आरम्भ किया। मुट्ठी भर-भरकर वह याचकों को हीरे, माणिक, मोती दान कर रहा था। किसी भी योद्धा के आगे न झुकनेवाला उसका मस्तक आज उन कृश याचकों के आगे आरदपूर्वक झुका हुआ था।

कृष्णदेव की आज्ञा से आज का रणक्षेत्र एक ऊँची टेकरी की पादभूमि में–दक्षिण की ओर निश्चित किया गया था। पूर्व दिशा से कौरवों की और पश्चिम दिशा से पाण्डवों की सेना उस रणभूमि के पास जमा हो रही थी। मद्र, मागध, मत्स्य, मालव, वत्स, बंग, विदेह, विदर्भ, कुलिन्द, किरात, काशी, कोसल, कपिश, काम्बोज, कामरूप, निषाध, गान्धार आदि आर्यावर्त के सभी देशों के बचे-खुचे युद्धोत्सुक योद्धा वहाँ एकत्र हुए थे।

गोलाकर सूर्य-बिम्ब के समान आज कौरव-सेना की रचना थी।

कृष्णदेव ने आज पाण्डव-सेना को मृत्युदेवता यमराज के वाहन महिष के आकार में अर्जुन के रथ के पीछे खड़ा किया था। बची-खुची यादव-सेना सहित मैंने महिष की बायीं ओर को सँभाला था।

कलाई में रजनीगन्धा की कलियों की मालाएँ लपेटे हुए कर्ण अपना दाहिना पाँव सीढ़ी पर रखकर अपने रथ पर आरूढ़ हुआ। उसके रथ का पृष्ठभाग शूल, मूसल, तोमर, गदा, खड्ग, दिव्यास्त्र, चक्र, भिन्दिपाल, शतघ्नी और भाँति-भाँति के बाणों से भरे तूणीरों से खचाखच भरा हुआ था। वीर सेनापति के रथारूढ़ होते ही उसके सारथि शल्य ने भी रथनीड़ पर छलाँग लगायी।

पाण्डव-सेना के अग्रस्थान पर खड़े अर्जुन को कृष्णदेव ने रथारूढ़ होने को कहा। किन्तु वह वैसा ही खड़ा रहा। कृष्णदेव द्वारा रथ पर आरूढ़ होकर प्रतोद और वल्गाएँ हाथ में लिये बिना वह रथ पर चढ़नेवाला नहीं था। मुस्कराते हुए कृष्णदेव ने रथ पर पाँव रखा।

रथारूढ़ होकर कृष्णदेव के अपने शुभ्र पांचजन्य शंख से युद्धप्रेरक, रोमहर्षक स्वर निकालते ही अर्जुन भी नन्दिघोष पर आरूढ़ हुआ। अपने देवदत्त शंख से वह कृष्णदेव के शंखनाद के स्वरों का अनुसरण करने लगा। दोनों सेनाएँ समझ नहीं पा रही थीं कि वह शंखनाद पांचजन्य का है कि देवदत्त का!

आज पहली बार दोनों सेनाओं ने दो ही नामों का जयघोष करते हुए कोलाहल मचाया। जयघोष की वह ध्वनि टेकरी से टकराकर फिर पाण्डव-सेना में गूँजने लगी–'कुन्ती-पुत्र अर्जु ऽ न की जय हो ऽ! दानवीऽर राधेऽय कर्ण ऽ की जय होऽ!'

पाण्डव-सेना का जयनाद सुनते ही वह कुरु-सेनापति खिलते सूर्य-पुष्प की भाँति फूल उठा। वह अब न कौन्तेय था, न राधेय। वह था केवल सेनापति–प्रखर सूर्य।

अपने विजय धनुष को बार-बार ऊपर उठाकर 'आरो ऽ ह...आ ऽ क्रमण' की घोषणा करता हुआ, क्षुब्ध सागर की भाँति गरजता हुआ वह अग्रसर होने लगा। वह आने लगा ज्वालामुखी बनकर! कुरुक्षेत्र को जलाने का सूर्य का कार्य पूरा करने के लिए प्रतिसूर्य बनकर वह आने लगा। उसको संरक्षण देते हुए उसके पुत्र वृषसेन, प्रसेन, चित्रसेन और अश्वत्थामा, शकुनि, दु:शासन, कृपाचार्य, दुर्योधन, कृतवर्मा आदि कौरव-योद्धा भी बड़े आवेश से पाण्डव-सेना पर चढ़ते चले आये।

कृष्णदेव ने नन्दिघोष से उतरकर उसके चारों चक्रों में एरण्ड के तैल और इंगुदी मिश्रित औंगन लगाया।

नन्दिघोष को संरक्षण देते हुए भीम, उत्तमौजा, धृष्टद्युम्न, नकुल, सहदेव के रथ दौड़ने लगे। हाथियों की चिंघाड़, अश्वों की हिनहिनाहट, रथचक्रों की घर-घर और प्रत्यंचाओं की टंकार की सम्मिश्र ध्वनियाँ टेकरी से टकराकर प्रतिध्वनित होने लगीं।

कर्ण का हंसवर्णी पाँच अश्वोंवाला जैत्ररथ धरती को कम्पित करता हुआ हमारी अश्व, गज और पदाति तीनों दलों से युक्त अग्रवर्ती सेना में तेजी से घुस गया। जैसे ही वह हमारी ओर आने लगा, धृष्टद्युम्न की पांचाल-सेना अचानक बीच में आकर हमारी सेना के आगे खड़ी हो गयी। यह चाल कृष्णदेव ने कल ही धृष्टद्युम्न को समझायी थी। उनकी योजना के अनुसार धृष्टद्युम्न ने अपनी सेना को बीच में घुसाकर कर्ण के ज्वालामुखी के समक्ष अवरोध खड़ा कर दिया। पांचालों के पथकों को अचानक सामने आया देखकर क्रुद्ध हाथी की भाँति वह सीधे पथकों में घुस गया। पांचाल के गजदल पर वह विषैले बाणों की निरन्तर वर्षा करने लगा। शरीर में विष भिदने से हाथी बौखलाकर इधर-उधर दौड़ने लगे और अपने ही सैनिकों को पैरों-तले रौंदने लगे। उनके चीत्कारों से पांचाल-पथकों में हाहाकार मच गया।

केवल आधी घटिका में ही उसने पांचालों के अग्रवर्ती पथकों को नष्ट कर दिया। एक ही समय वह पाँच-पाँच, छह-छह बाण प्रक्षेपित कर रहा था। पलक झपकने से पहले ही अपने भारी विजय धनुष से वह चारों दिशाओं में बाण फेंक रहा था।

कृष्णदेव ने अर्जुन के पथकों को संशप्तकों की सेना से ला भिड़ाया। अर्जुन के अमोघ बाण सनसनाते हुए चारों दिशाओं में जा रहे थे। संशप्तकों में भगदड़ मची थी। अर्जुन की सेना उनका पीछा करते हुए उन्हें मार गिरा रही थी।

पाण्डवों के अग्रवर्ती दलों को तितर-बितर करते हुए पाण्डव सेना में घुसे कर्ण का और युधिष्ठिर का सामना हुआ। लम्बे समय तक युधिष्ठिर को परेशान करके कर्ण ने उसके सारथि इन्द्रसेन को रथ से गिरा दिया। इन्द्रसेन तत्क्षण गतप्राण हुआ। असहाय होकर युधिष्ठिर रणभूमि से भाग खड़ा हुआ।

कर्ण को युद्ध में उलझा देख महापराक्रमी भीम समुद्र के ज्वार की भाँति कौरव सेना को ध्वस्त करता हुआ आगे बढ़ा। अपने शक्तिशाली पुत्र घटोत्कच के कर्ण द्वारा वध का प्रतिशोध लेने के लिए वह रणभूमि में कर्ण के पुत्र की खोज में था। और अब वह अवसर उसे मिल गया।

पराक्रमी कर्णपुत्र प्रसेन आधी घटिका भीम से लड़ा, किन्तु अन्त में भीम के फेंके एक

चन्द्रमुख बाण से आहत होकर वह धरती पर गिर गया, और कुछ ही देर में छटपटाता हुआ गतप्राण हुआ।

प्रसेन की मृत्यु की सूचना मिलते ही चेदि और पांचालों के पथकों को तितर-बितर करता हुआ कर्ण अपने मृत पुत्र के पास पहुँचा। पुत्र का धूल-सना मस्तक उसने अपने हाथों में ले लिया। उसके अश्रु कुरुक्षेत्र की भूमि में लुप्त हो गये।

इधर मुझमें और कर्णपुत्र वृषसेन में घनघोर युद्ध छिड़ा हुआ था। आधी घटिका में ही एक विषैले लिप्त बाण से मैंने उसे मुर्च्छित कर दिया। बड़ी चपलता से दु:शासन उसे युद्धभूमि से बाहर ले गया।

अपनी पराजय का प्रतिशोध लेने हेतु द्राविड़ और निषाधों के आरक्षित पथकों को लेकर युधिष्ठिर पुन: कर्ण के आगे खड़ा हुआ। किन्तु पुत्र-वध से क्रुद्ध हुए उस महारथी ने पहले ही प्रहार में युधिष्ठिर के चक्ररक्षक दण्डधार और चन्द्रदेव को मार गिराया। युधिष्ठिर भी निश्चयपूर्वक उससे भिड़ गया।

युधिष्ठिर ने बाण-वर्षा से कर्ण के रथ को ढँक दिया, किन्तु कर्ण ने बाणों के उस आवरण को क्षण-भर में ही ध्वस्त कर डाला।

कर्ण की बाण-वर्षा असहनीय होते ही युधिष्ठिर, मैं और युयुत्सु एक ही रथ पर चढ़कर युद्धभूमि से भागने लगे। युधिष्ठिर का फेंका एक बाण कर्ण के कान के समीप अचूक जा घुसा। मूर्च्छित होकर वह रथ में ही गिर पड़ा।

कर्ण के आगे से भागकर युधिष्ठिर सीधे अपने शिविर में जा बैठा। उसे रणभूमि में न पाकर आशंकित हुए अर्जुन के बाण अपने लक्ष्य से चूकने लगे। उसे युधिष्ठिर की सुरक्षा का विश्वास दिलाने के लिए कृष्णदेव धीरे-धीरे नन्दिघोष को रणभूमि से बाहर निकालकर युधिष्ठिर के शिविर के पास ले गये। रथचक्रों की ध्वनि सुनकर युधिष्ठिर दौड़ता हुआ बाहर आया।

किन्तु अर्जुन का अभी कर्ण से सामना हुआ ही नहीं, यह सुनते ही वह शान्त, संयमी धर्मराज भी अपना विवेक खोकर उबल पड़ा–"तब तुम अपने गाण्डीव को सूर्यकुण्ड में फेंक क्यों नहीं देते अर्जुन?" यह सुनते ही क्षुब्ध होकर अर्जुन गाण्डीव उठाकर अपने पितृतुल्य, प्राणप्रिय ज्येष्ठ भ्राता की ओर लपका।

कृष्णदेव ने बीच में पड़कर दोनों कौन्तेयों का मेल करवाया। अर्जुन ने घोर प्रतिज्ञा की–"कर्ण का वध किये बिना अब मैं शिविर में नहीं लौटूँगा।"

सचेतन हुए वृषसेन को लेकर दु:शासन पुन: कौरव-सेना में प्रवेश कर गया। उसे देखते ही भीम क्रोध से चिल्लाया–'रुक जा नीच!'

कहाँ-कहाँ से आये चित्र-विचित्र शस्त्र उसके मर्मस्थल में घुस सकते हैं, इसका भी भान न रखनेवाले भीमसेन ने सारथि विशोक को हटाकर अश्वों की बल्गाएं अपने हाथ में ले लीं। मृत्यु को भी दहला देनेवाली गर्जना–'दु:शास ऽ न...नी ऽ च' कहते हुए वह सीधे दु:शासन के रथ से भिड़ गया।

अर्द्ध-एक घटिका तक उन दोनों को एक-दूसरे के अतिरिक्त कुरुक्षेत्र पर फैले लाखों योद्धाओं का भान ही नहीं रहा था। अन्त में भीमसेन ने एक प्रबल गदा-प्रहार से दु:शासन को नीचे

गिराया। अपनी गदा को फेंककर चपलता से उसने दु:शासन की दायीं भुजा दोनों हाथों से पकड़ी। अपना दायाँ पैर उसकी स्नायुपुष्ट काँख में दबाकर उसने ऊँची ध्वनि में कहा, "पांचाली के पवित्र वस्त्र को स्पर्श करनेवाली तुम्हारी इस पापी भुजा को मैं समूल उखाड़कर फेंक देता हूँ!" उस असीम शक्तिशाली गदावीर ने एक ही झटके में दु:शासन की भुजा को समूल उखाड़कर घुमाते हुए दूर फेंक दिया। रक्त के फव्वारे फूट पड़े।

भान रहित हुए भीमसेन ने दु:शासन की ही गदा उठाकर एक ही प्रबल प्रहार से छटपटाते दु:शासन के उन्मत्त वक्ष को छिन्न-भिन्न कर दिया।

गगनभेदी आर्त चीत्कार करते हुए दु:शासन के प्राणपखेरू उड़ गये।...गदा फेंककर, घुटने के बल भीमसेन उसके शरीर के पास बैठ गया। दूर खड़े दुर्योधन, शकुनि, अश्वत्थामा, कर्ण आदि की ओर देखकर वह ऊँचे स्वर में चिल्लाया–"किसी में साहस हो तो आगे आए और अपने आखेट का रक्त पीनेवाले इस वनराज को रोके!"

दुःशासन के वक्ष से बहते हुए रक्त में मुँह डालकर वह उसे इस प्रकार पीने लगा मानो मैरेयक पी रहा हो! उसे देखकर मेरे सहित सभी योद्धाओं के शरीर के रोएँ खड़े हो गये।

कइयों ने आँखें बन्द कर लीं। कई मूर्च्छित हो गये। केवल कृष्णदेव ने नन्दिघोष से उतरकर भीमसेन को नियन्त्रित किया। अब कहीं मेरी समझ में आ रहा था कि कृष्णदेव ने उसे पाण्डवों का सेनापति पद क्यों नहीं दिया था। भीमसेन का रक्तसना मुख अपने नीले उत्तरीय से पोंछकर कृष्णदेव ने उसे द्रौपदीदेवी के शिविर की ओर भेज दिया–दुःशासन के रक्त से उनके खुले केशों को धोने की अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने हेतु!

अब युद्धभूमि में क्या होगा, कोई कुछ नहीं कह सकता था।

युद्धभूमि के अब सीधे-सीधे दो भाग हो चुके थे। उसके एक भाग में–उत्तर की ओर थे भीम, धृष्टद्युम्न, सहदेव और युधिष्ठिर तथा मुझसे लड़नेवाले दुर्योधन-बन्धु, कृपाचार्य और सैन्धव। दूसरे भाग में–दक्षिण की ओर थे वृषसेन और उनके निकट खड़े हुए अश्वत्थामा, शकुनि और दुर्योधन तथा वृषसेन पर झपटने के लिए घात में खड़े हुए अर्जुन, नकुल, उत्तमौजा। इस भाग में टेकरी की तलहटी में फैले हुए दलदल के पट्टे की ओर कोई नहीं जा रहा था।

अपने पुत्र वृषसेन को अर्जुन की बाण-वर्षा से बचाने हेतु जैसे ही कर्ण उसके चतुर्दिक् पड़े घेरे के समीप पहुँचा, "हे सूतपुत्र, जैसे तुम सबने मिलकर मेरे प्रिय 'अभि' को मार डाला, वैसे ही आज मैं तुम्हारे पुत्र को तुम सबकी आँखों के आगे मारने जा रहा हूँ"–ऊँचे स्वर से चिल्लाकर यह कहते हुए अर्जुन ने एक चन्द्रमुख बाण से वृषसेन को शिरच्छेद कर दिया।

जैत्ररथ से उतरकर कर्ण ने एक बार वृषसेन के माथे को सूँघा और फिर गगनभेदी गर्जना की–'आ ऽ क्रमण'। कौरवों की बची-खुची सेना को एकत्र करके कर्ण अब अर्जुन के नन्दिघोष की ओर आने लगा।

कृष्णदेव ने नन्दिघोष को ऐसे स्थान पर लाकर खड़ा किया कि अपने रथ को दलदल के पट्टे में लाये बिना शल्य उसे अर्जुन के रथ के आगे खड़ा कर ही नहीं सकता था। निरुपाय होकर कर्ण के आदेश से उसे रथ को दलदल में उतारना ही पड़ा।

अर्जुन का नन्दिघोष और कर्ण का जैत्ररथ एक-दूसरे के सम्मुख आ खड़े हुए।

झट से नीचे उतरकर कृष्णदेव ने नन्दिघोष के चक्रों को औंगन का घना लेप लगाया। यदि नन्दिघोष को दलदल में उतारना ही पड़ा तो रक्तमांस के कीचड़ में वह न फँसे इसलिए!

कृष्णार्जुन ने अपने-अपने शंखों को बड़े आवेग से फूँका। कर्ण ने भी पूरी शक्ति के साथ अपने हिरण्यगर्भ शंख को बजाया।

एक क्षण के लिए सर्वत्र शान्ति छा गयी, किन्तु दूसरे ही क्षण कानों के पर्दे फाड़ देनेवाली रण-गर्जनाएँ करते हुए वे दोनों एक-दूसरे पर अविरत बाण-वर्षा करने लगे। पिछले सोलह दिनों में चित्त को थर्रा देनेवाली ऐसी बाण-वर्षा मैंने नहीं देखी थी।

वे शत्रु पर सैकड़ों-सहस्रों कपिश बाणों की वर्षा करने लगे। जिह्म बाणों से एक-एक पथक-प्रमुख को धराशायी कर वे शत्रुसेना को क्षीण करने लगे। सैनिक समझ नहीं पा रहे थे कि बाण आ कहाँ से रहे हैं। कर्ण और अर्जुन के बाण धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र को आच्छादित कर रहे थे–दहला रहे थे।

कर्ण-सारथि शल्य को हतबल करने हेतु अर्जुन उसके अश्वों पर शरसन्धान करने लगा। सचमुच शल्य बड़ा कुशल सारथि था। वल्गाओं को झटके देकर कभी अश्वों को नीचे बैठा रहा था तो कभी एकदम ऊपर उठा रहा था। कभी-कभी वह कर्ण के शस्त्रास्त्रों से भरे भारी रथ को गर्र ऽ से ऐसे घुमा रहा था कि अर्जुन के बाण उसके लौहमय पार्श्वभाग से टकराकर, निष्प्रभ होकर नीचे कीचड़ में गिर पड़ते थे।

वहाँ की कीचड़ अब खदबदाने लगी थी। दोनों ओर के योद्धा अपने-अपने सेनानायकों को प्रोत्साहित करने हेतु उनका अखण्ड जयघोष कर रहे थे। वे निरन्तर एक-दूसरे पर बाण फेंकते रहे। दोनों की खुली भुजाओं से रक्त की धाराएँ बह रही थीं, किन्तु उस ओर ध्यान देने के लिए उनके पास समय ही नहीं था।

अब वे दोनों अत्यन्त श्रमपूर्वक प्राप्त किये दिव्यास्त्रों को एक-दूसरे पर प्रक्षेपित करने हेतु तैयार थे। अब जीवन के दो विरोधी ध्रुवों के छोर पर वे खड़े थे। वे केवल अपने शत्रु का शव देखना चाह रहे थे। केवल यही उनकी उत्सुकता थी।

कर्ण ने चन्दन के चूर्ण में पगे अग्र वाला एक दिव्य सर्पमुख बाण निकाला। उसके अनजाने में ही एक नागशक्ति उस बाण पर आरूढ़ हुई थी। कर्ण ने अर्जुन का कण्ठभेद करने हेतु उस बाण को प्रक्षेपित किया। अर्जुन को भान ही नहीं था कि उसका कण्ठ भेदने के लिए वह बाण वायुगति से आ रहा है। कृष्णदेव ने अपने हाथ की वल्गाओं को ऐसा झटका दिया कि चारों अश्व पैरों को मोड़कर नीचे बैठ गये। रथ के झुकने से उस भयानक गतिमान बाण ने अर्जुन के किरीट को उड़ा दिया। उसका गोलाकार शिरस्त्राण भी लुढ़ककर रथ में गिर गया। उसके कृष्णवर्ण, घुँघराले केश बिखर गये। कृष्णदेव उसकी ओर देखकर मुस्कराये।

अर्जुन ने तत्परता से अपना शुभ्र दुकूल अपने घने केशों पर लपेट दिया। अर्जुन ने अपने श्वेत बाणों की वर्षा से कर्ण-सारथि शल्य को श्येन पक्षी की भाँति बाणों के पिंजड़े में जकड़ डाला। अब वह हिल भी नहीं सकता था। कर्ण का रथ अब एक ही स्थान पर स्थिर हो गया।

अब तक कर्ण ने एक भी बाण कृष्णदेव की दिशा में नहीं फेंका था।

सन्तप्त अर्जुन ने माथे से खिसकते हुए दुकूल को सँवारकर आग्नेयास्त्र सूचक मन्त्रों को

बुदबुदाना आरम्भ किया। एक दिव्य तेज उसके मुख से छलक रहा था। उसके गाण्डीव धनुष से छूटे अनगिनत अग्निबाण आग उगलते हुए कृष्णदेव के माथे पर से सनसनाते हुए सीधे दौड़ने लगे। भयभीत कौरव-सैनिक इधर-उधर भागने लगे। सूर्य-बिम्ब टूटकर उससे तप्त अग्निरस ही शरीर पर बरस रहा है, इस विचित्र भय से कई सैनिक मूर्च्छित हो गये।

अर्जुन के अग्निबाणों को निष्प्रभ करने हेतु कर्ण ने वरुणास्त्र के दिव्य मन्त्रों का उच्चारण किया। क्षण-भर में ही चारों ओर से रणभूमि पर कृष्णमेघ जमा हो गये। मूसलाधार वर्षा करते हुए उन्होंने आग्नेयास्त्र के साथ-साथ अर्जुन के मन की आग को भी बुझा दिया। उस दानवीर ने उस वर्षा से अपने अर्धमृत आहत वीरों को भी जीवनदान दिया!

किन्तु कर्ण को यह ध्यान नहीं रहा कि उसके रथचक्रों के आसपास का कीचड़ अब और भी घना हो चला है।

अर्जुन के वायव्यास्त्र ने कर्ण के वरुणास्त्र के मेघों को इतस्तत: बिखेर दिया। कुरुक्षेत्र पुन: सूर्य-किरणों से आलोकित हो उठा। प्रसन्न हुए अर्जुन ने वज्रास्त्र को अभिमन्त्रित करके उसे कर्ण पर प्रक्षेपित किया। उसके प्रत्युत्तर में अविचलित कर्ण ने महेन्द्र पर्वत पर प्राप्त किये गये भार्गवास्त्र की तैयारी की। दोनों अस्त्रों के दिव्य संहारक शस्त्र खनखनाते हुए आपस में टकराये! वे चिनगारियाँ बरसाते हुए, असफल होकर धरती पर जा गिरे।

कर्ण के अचूक बाणों से नन्दिघोष की ध्वजा भी तार-तार हो गयी। दोनों ने पाश, तोमर, चक्र, त्रिशूल, भिन्दिपाल आदि शस्त्र एक-दूसरे पर फेंके। न दोनों में से कोई थका था, न युद्ध का कोई निर्णय हो रहा था। अब सूर्य पश्चिम की ओर ढल रहा था।

निशित, नाराच, जिह्म, सन्नतपर्व, बस्तिक, क्षुर आदि बाणों के युद्धभूमि पर ढेर-के-ढेर लगे थे। इतना भयंकर संहार कर्ण और अर्जुन ने किया था कि रणभूमि में अब दोनों सेनाओं के कुछ सहस्र सैनिक ही शेष रहे थे। धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र भी भयभीत हुआ था।

अन्तत: कर्ण ने अत्यन्त श्रमपूर्वक परशुराम से प्राप्त किया अथर्वण अस्त्र अर्जुन पर प्रक्षेपित किया। कृष्णदेव ने रथ को गर्र ऽ से घुमाकर उस अस्त्र की मार को विफल कर डाला।

बाणों के पिंजड़े में फँसने से शल्य कुछ कर नहीं पा रहा था। तब भी ऊँचे स्वर से चिल्लाते हुए वल्गाओं के संकेतों से अपने रथ के अश्वों को उत्तेजित करने का भरसक प्रयास किया। अश्वों ने भी अपने खुर भूमि में गड़ाकर रथ को हिलाने का प्रयास किया, किन्तु रथ अपने स्थान से तनिक भी नहीं हिला–टस-से-मस भी नहीं हुआ।

अर्द्ध-एक घटिका तक दलदल में धँसे उस रथ के चक्रों के आसपास की दलदल सूर्य-किरणों की उष्णता से जमकर थोड़ी कड़ी हो गयी थी।

शल्य की सूचना के अनुसार कर्ण भारी शस्त्रों को रथ से निकालकर फेंकने लगा। रथ को दलदल से निकालने का प्रयास करते-करते अश्वों के मुख से झाग गिरने लगे। किन्तु रथ रत्ती-भर भी नहीं हिल सका। उसका बायाँ रथचक्र धरती में फँस गया था।

पीठ पर लटके तूणीर और विजय धनुष को सँभालते हुए कर्ण रथ से कूद पड़ा।

फिर पूरी शक्ति के साथ अपना दायाँ हाथ रथचक्र के सुदृढ़ आरे में डालकर वह उसे धरती से खींच निकालने का प्रयास करने लगा। उसकी भुजाओं के मत्स्याकार स्नायु फूल उठे। उसने एक

बलशाली झटका दिया। रथचक्र तो हिला नहीं, केवल उसका वह सुदृढ़ आरा टूटकर उसके हाथ में आया।

कर्ण ने नीचे बैठकर धनुष के अग्रभाग को धरती से टिकाते हुए बाण चलाया। उसके फेंके अचूक बाण से अर्जुन मूर्च्छित हो गया। यह देखकर कर्ण ने क्षण-भर अपने धनुष को नीचे रखा और वह दोनों हाथों से रथचक्र को धरती से खींच निकालने का प्रयास करने लगा, किन्तु रथचक्र तनिक भी नहीं हिल रहा था–हिलनेवाला भी नहीं था।

कृष्णदेव ने काष्ठनलिका से औषधि सुँघाकर अर्जुन को सचेत किया।

कर्ण को नि:शस्त्र देख अर्जुन ने भी अपने गाण्डीव को नीचे कर लिया।

रथचक्र को निकालने में एकाग्र हुए उस महावीर की ओर अपने दायें हाथ की तर्जनी से निर्देश करते हुए कृष्णदेव ने कहा, "अर्जुन, अर्धचन्द्राकार अंजलिक बाण!"

"किन्तु वह नि:शस्त्र है–पदस्थ है..." अर्जुन हड़बड़ाया–सम्भ्रमित हुआ।

"अर्जुन, यह आज्ञा है।" कृष्णदेव का स्वर तीव्र, कठोर हुआ–आँखें विस्फारित हुईं।

आज्ञाकारी अर्जुन ने तूणीर से बाण खींचकर प्रत्यंचा की टंकार की। उस सूक्ष्म ध्वनि से भी सावधान होकर कर्ण ने अपनी आँखें नन्दिघोष की ओर घुमायीं। अर्जुन को रोकते हुए वह चिल्लाया, "रुक जाओ अर्जुन! मैं नि:शस्त्र हूँ। नि:शस्त्र पर शस्त्र चलाना धर्मयुद्ध नहीं है।" उस समय सम्भवत: उसने ब्रह्मास्त्र को स्मरण करने का प्रयास किया हो, किन्तु उसे वह स्मरण न हुआ हो।

"धर्म! हे राधेय, क्या धर्म का अभिप्राय तुम जानते हो? हे सूतपुत्र, पाण्डवों को लाक्षागृह में जलाते समय, कौरवों की द्यूतसभा में पांचाली को वारांगना कहते समय, सोलह वर्ष के नवयुवा अभिमन्यु को छह-छह योद्धाओं द्वारा घेरकर मारते समय क्या तुम्हें धर्म का स्मरण हुआ था? कहाँ गया था तब तुम्हारा धर्म? अर्जुन, चलाओ बाण!" कृष्णदेव ने तर्जनी से कर्ण के कण्ठ की ओर अचूक निर्देश किया।

अर्जुन के धनुष से सनसनाता निकला अंजलिक बाण कर्ण के लौहकवच को भेदकर उसके कण्ठनाल को आधा चीरते हुए धँस गया। वह महारथी रथचक्र के समीप ही कीचड़ में गिर पड़ा।

कर्ण के धराशायी होते ही कृष्णदेव ने युद्ध-समाप्ति का शंखनाद कर दिया। रक्त-मांस के कीचड़ में पड़े कर्ण और उसके हिरण्यगर्भ शंख को देखते हुए सूर्य अस्त हुआ। आज का युद्ध रुक गया।

मैं अपना युद्धवेश उतार ही रहा था कि कृष्णदेव का सेवक आ गया। उन्होंने मुझे शीघ्र बुलवाया था। मैं अपने सामान्य वेश में उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। वे धराशायी हुए कर्ण से मिलकर अभी-अभी शिविर में लौटे थे। उस दानवीर कर्ण ने मरने से पहले युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुए एक सैनिक की अन्त्यक्रिया के लिए अपने स्वर्णमय दाँत उसके पिता को अर्पित कर अपनी 'दानवीर' उपाधि को सार्थक किया था। जिस प्रकार पितामह भीष्म ने कृष्णदेव को यह बताया था कि प्राण-त्याग करने से पहले सूर्य के उत्तरायण में आने की वे क्यों प्रतीक्षा कर रहे हैं, उसी प्रकार अंगराज कर्ण ने भी सबके समक्ष क्षीण स्वर में कृष्णदेव के कान में कुछ कहा था। उसने क्या कहा था, यह तो वे दोनों ही जानते थे।

कृष्णदेव के शिविर में आते ही उन्होंने मुझसे कहा, "मेरे साथ चलो, सखा सात्यकि।" उनसे प्रथम भेंट के बाद ही उनके कहे अनुसार, बिना कुछ पूछे उनका अनुसरण करने की मैंने अपनी आदत बना ली थी। तभी तो यादवों में उद्धवदेव की भाँति मैं भी उनका प्रिय सखा बन गया था।

मैं चुपके से उनके पीछे हो लिया। अंगदेश के सशस्त्र सैनिकों से घिरा कर्ण का निष्प्राण शरीर युद्धभूमि में जहाँ पड़ा था, हम वहाँ आ गये। कर्ण का प्रिय अश्व वायुजित अपने स्वामी के शरीर की ओर देखता हुआ खड़ा था। कृष्णदेव के संकेत करने पर कर्ण की मृतदेह को घेरकर खड़े उसके सैनिक दूर हट गये। हम दोनों ने कर्ण के निद्रित दिखनेवाले ऊँचे, स्वर्णवर्णी शरीर को उठाकर वायुजित की पीठ पर समतोल रख दिया।

कृष्णदेव ने मुझसे कहा, "दानवीर अंगराज की अन्तिम इच्छा थी कि मैं ही उसका दाहकर्म करूँ–कुमारी भूमि पर! इस टेकरी की चोटी के एक विशाल पाषाण-खण्ड पर मैं अपने हाथों से उसका अग्निदाह करने जा रहा हूँ–अकेला ही! मेरे आने तक तुम यहीं रुक जाओ–टेकरी के पादतल में ही।" उन्होंने सेवकों द्वारा टेकरी पर चन्दन-काष्ठ भिजवाने का प्रबन्ध पहले ही कर रखा था।

स्वयं कृष्णदेव आज पहली बार एक वीर का दाहकर्म करने निकले थे–वह भी कुमारी भूमि पर? मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा था!

मैं वहीं रुक गया। एक हाथ में पलीता और दूसरे हाथ में वायुजित की वल्गा लिये कृष्णदेव टेकरी चढ़ने लगे। कुछ देर बाद टेकरी के माथे पर एक सुलगी हुई चिता दिखने लगी। कौरवों के नारी शिविर की ओर से एक स्त्री को दौड़ते हुए उस ओर जाते मैंने देखा। कौन हो सकती है वह? मैं समझ नहीं पाया।

कुछ देर बाद अकेले कृष्णदेव टेकरी के पादतल में आये। उनके हाथ में पलीता नहीं था। वे कुछ बोल नहीं रहे थे। मैं उनके पीछे-पीछे चला। हम दोनों उनके शिविर में आये। मेरे मन में उठनेवाले प्रश्नों को बिना बताये ही वे पहचान लेते थे। मेरे समीप आकर उन्होंने मेरे हाथ को अपने हाथ में लेते हुए, बड़ी आत्मीयता से कहा, "अकेले कर्ण का ही मैंने अग्निदाह किया–इससे तुम चकरा गये होगे। किन्तु उसकी इच्छा के अनुसार ही कुमारी-कोख से आये उसके शरीर को कुमारी भूमि में अपने हाथों दहन करके आया हूँ मैं! सभी सेना-प्रमुखों के शिविरों में जाकर तुम कह दो कि युद्ध के विषय में आज कोई बैठक नहीं होगी। कर्णार्जुन के घोर युद्ध में दोनों ओर की सेनाएँ लगभग समाप्त हो चुकी हैं। अब कुछ सैकड़ों की संख्या में ही सैनिक शेष रहे हैं। इन सबकी जड़–अकेला दुर्योधन अब बचा है। कल मैं उसे देख लूँगा। आज अकेले तुम मेरे शिविर में रुक जाओ।" उनके कहे अनुसार मैं उनके पास ही रुक गया। मैंने सारथि-वेश उतारने में उनकी सहायता की। अपना मोरपंखधारी मुकुट चौकी पर रखते समय उन्होंने एक आश्चर्यकारक बात कही–"सात्यकि, पिछले सत्रह दिनों में रक्त की एक बूँद भी इस मोरपंख पर न गिरे, इसकी सावधानी मैंने बरती है। सखी राधा की दी गयी इस प्रेमभेंट को मैंन सदैव आदर सहित सँभालकर रखा है।"

दुर्योधन ने शल्य का सेनापति पद के लिए अभिषेक किया है, यह समाचार हमें प्राप्त हुआ। उसके पीछे-पीछे कुरु राजस्त्रियों के शिविर से आया मलय नामक गुप्तचर-प्रमुख वासुदेव के समक्ष उपस्थित हुआ। उसने एक बार नख-शिख मेरी ओर देखा और कृष्णदेव से कहा, "कौरवों

के स्त्री-परिवार से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूचना मुझे प्राप्त हुई है। किन्तु–किन्तु वह अकेले हृषीकेश से ही कहने योग्य है। अत:...”

मलय के समीप जाकर उसके कन्धे पर हाथ रखते हुए कृष्णदेव ने आत्मीयता से कहा, “मलय, नि:शंक होकर कहो। सेनापति सात्यकि मेरा दायाँ हाथ है। मेरे शरीर का एक अंग ही है वह–मेरा सखा है।”

पलीतों के मन्द प्रकाश में, साहस बटोरकर मलय ने कहा, “कुरु महारानी गान्धारीदेवी ने दुर्योधन को मिलने हेतु आमन्त्रित किया है। उन्होंने सन्देश भिजवाया है–‘शीघ्र मुझसे मिलने आओ–मेरी कोख से जन्म लेते समय तुम जैसे थे, वैसे ही–आकाश की भाँति नग्न!’ दुर्योधन उनके पास जाने की तैयारी में है।”

यह समाचार सुनकर मैं चकरा गया। यद्यपि दुर्योधन, दु:शासन और युद्ध में मारे गये उनके भ्राताओं के प्रति मेरे मन में रत्ती भर भी प्रेम नहीं था, किन्तु माता गान्धारीदेवी का मैं अत्यन्त आदर करता था। उस साध्वी ने अपने पुत्र को यह विचित्र सन्देश क्यों भिजवाया होगा? सचमुच, युद्ध अब किस दिशा में जा रहा है, कुछ समझ में नहीं आ रहा था।

मुझे सोचने का भी अवसर न देते हुए कृष्णदेव ने कहा, “चलो, सेनापति” जहाँ से कुरु-स्त्रियों के शिविर आरम्भ हो रहे थे, उस सीमा पर आकर हम रुक गये। मेरे हाथ में जलता पलीता था। कुछ देर बाद राजवेश धारण किये हुए दुर्योधन पलीताधारी सेवक सहित आता दिखाई दिया। ‘चलो’ कहते हुए कृष्णदेव मेरे साथ अग्रसर हुए। मानो अचानक उससे मिलना हो गया हो, यह जताते हुए उन्होंने कहा, “हे कौरव, इतनी शीघ्रता से तुम कहाँ जा रहे हो, यह मुझे पता है। इस समय तुम दुविधा में पड़े हो, यह भी मैं जानता हूँ। इस समय माता गान्धारीदेवी ने तुम्हें स्वाभाविक अर्थात् विवस्त्र अवस्था में मिलने के लिए बुलाया है। वे तो तुम्हें अब भी अबोध बालक ही समझती हैं। लगता है, अन्य ज्येष्ठ जनों की भाँति वे तुम्हें युद्ध-समाप्ति का उपदेश देना चाहती हैं। क्या तुम उसी प्रकार विवस्त्र अवस्था में उनसे मिलने जा रहे हो जैसा उन्होंने कहलाया है? उन्होंने तो अपने मातृधर्म का पालन किया है। तुम तो कुरु-युवराज हो। क्या तुम अपने पुत्रधर्म का पालन नहीं करोगे?”

लिसोड़े जैसी अपनी आँखें कृष्णदेव पर गड़ाकर दुर्योधन ने कहा, “कृष्णकर्मों के लिए तो तुम विख्यात हो! तुम्हारे उपदेश से अर्जुन के अतिरिक्त किसी का भी भला नहीं हुआ है। मुझे आशंका हो रही है कि तुम्हारे कथन में कुछ रहस्य है। विवस्त्र अवस्था में माता से मिलने कैसे जाऊँ, इस सम्भ्रम में ही पड़ा हूँ मैं। इससे निकलने का कोई मार्ग सूझ नहीं रहा है। अत: सोच रहा हूँ, उनसे मिलने ही न जाऊँ।”

“यह तुम्हारी बड़ी भूल होगी! उनकी अवज्ञा होगी यह! उनकी आज्ञा के अनुसार तुम्हें उनके दर्शन करने अवश्य जाना चाहिए–उनके मातृत्व का आदर करना चाहिए।”

“कैसे? बिना कोई राजनीति लड़ाये, सीधे-सीधे बताओ।” –दुर्योधन ने तुरन्त पूछा। कृष्णदेव ने धीरे-धीरे कहा, “राजमाता के अन्त:कक्ष तक तुम इसी वेश में जाओ। केले का एक बड़ा-सा पत्ता अपने साथ लेते जाओ। उनके कक्ष में प्रवेश करने से पहले अपने राजवस्त्र उतारकर केले का पत्ता कटि में लपेट लो। राजमाता की आज्ञा के अनुसार तुम विवस्त्र भी होओगे और मातृभक्त के रूप में पीढ़ियों तक स्मरणीय रहोगे, क्योंकि केले का पत्ता तो कोई वस्त्र है नहीं।”

दुर्योधन की कंजी आँखें एक विचित्र संकट से उबरने की कल्पना से चमक उठीं। उसने कहा, “सचमुच कुरु राजसभा में कणक और शकुनि मामा जैसे अनेक लोगों की अपेक्षा तुम होते तो मेरी सारी मनोकामनाएँ सफल हुई होतीं। अब तुम्हारे बताये अनुसार ही मैं राजमाता के दर्शन करने जाऊँगा।”

और वह उसी प्रकार राजमाता गान्धारीदेवी के दर्शन करने गया। बाद में हमें पूरी सूचना मिली कि गान्धारीदेवी ने अत्यन्त कठोर शब्दों में दुर्योधन को प्रताड़ित किया था—“दुर्योधन! मूर्ख तो तुम हो ही, अत्यन्त अभागे भी हो! अपनी जन्मदात्री माता की अपेक्षा तुमने श्रीकृष्ण के वचन पर विश्वास किया! अरे बावले, मेरे कहने के अनुसार यदि तुम आते तो मेरी खुली दृष्टि से तुम्हें वज्रदेह का आशीर्वाद प्राप्त हो जाता। किन्तु अब वह तुम्हें अधूरा ही प्राप्त हुआ है। मेरी दृष्टि की शक्ति से तुम्हारा अनावृत शरीर वज्र का बन गया है, किन्तु तुम्हारे शरीर का केले के पत्ते से ढँका भाग उस कवच से वंचित रह गया है। जाओ पुत्र, पुत्र भले ही कुपुत्र हो, माता कभी कुमाता नहीं हो सकती। मैंने तुम्हें आशीर्वाद दिया है।”

युद्ध का अठारहवाँ दिन कुरुक्षेत्र के शाश्वत क्षितिज पर उग आया। उस दिन हिमालय-यात्रा से लौटकर बलराम भैया उद्धवदेव सहित कृष्णदेव के शिविर में आये थे। कौरव पक्ष की सेना अब अत्यल्प रह गयी थी। पाण्डव-सेना की संख्या उससे भी कम थी। किसी भी प्रकार के चक्रव्यूह का अब प्रश्न ही नहीं उठ रहा था। कृष्णदेव की तीक्ष्ण बुद्धि का चक्रव्यूह पाण्डव-सेना की संख्या कम होते हुए भी विजय को पाण्डव पक्ष की ओर खींच लाया था। बचे-खुचे सैनिकों के समक्ष दुर्योधन ने मद्रराज शल्य का सेनापति पद के लिए अभिषेक किया। उसके विजिगीषु मन की ऐंठन इतनी दृढ़ थी कि अब भी उसे अपनी सफलता पर विश्वास था।

पांचजन्य की ध्वनि के पीछे-पीछे पाण्डव-सेनापति धृष्टद्युम्न ने भी अपने ‘यज्ञदत्त’ नामक शंख को फूँका। कौरव-सेनापति शल्य ने भी शंख फूँककर उसे प्रत्युत्तर दिया। जिस प्रकार दावानल दण्डकारण्य के समान सघन अरण्य को चारों ओर से जलाकर शेष भूमि के हरे-भरे टुकड़ों से भी जा भिड़ता है, उसी प्रकार दोनों सेनाएँ आपस में भिड़ गयीं। आज कौन्तेय युधिष्ठिर और कौरव-सेनापति शल्य में घोर युद्ध छिड़ा। दूसरी ओर धृष्टद्युम्न और उसके किये अपने पिता के निर्घृण वध से सन्तप्त अश्वत्थामा में भी घमासान युद्ध आरम्भ हुआ था। दोनों में से कोई भी हट नहीं रहा था। दूसरे प्रहर तक शक्तिशाली टक्कर देते हुए अन्ततः युधिष्ठिर ने अपने मामा मद्रराज शल्य का वध कर दिया। युद्धभूमि के दक्षिण में रक्त-मांस के कीचड़ में शकुनि अपने शेष भ्राताओं को लेकर माद्रेय सहदेव से खड्गयुद्ध कर रहा था। दुर्योधन की प्रत्येक कुटिल चाल के पीछे शकुनि की ही ऊँट की भाँति चलनेवाली टेढ़ी, दुष्ट, निर्दय बुद्धि की चाल थी। आज सहदेव उसे समाप्त किये बिना रहनेवाला नहीं था। शकुनि के वक्ष पर सहदेव ने दो आड़े-टेढ़े प्रबल खड्ग-प्रहार किये। रक्त के फव्वारे छूट पड़े। लक्षावधि प्राणों को बलि का बकरा बनानेवाला गान्धार-नराधम रक्त-मांस के कर्दम में गिर पड़ा। एक कूटपर्व का अन्त हुआ।

कौरव-सेनापति शल्य और कुटिलताओं से अपनी महत्त्वाकांक्षा को निरन्तर प्रज्वलित रखनेवाले शकुनि मामा का पतन हुआ देख भयभीत दुर्योधन अपने रथ सहित रणभूमि से अदृश्य हो गया। आज तक लाखों योद्धाओं ने जिसमें स्नान किया था, ऐसे पवित्र माने गये सूर्यकुण्ड में जाकर वह छिप गया।

इधर दुर्योधन की जंघाओं को तोड़ने की घोर प्रतिज्ञा करनेवाला गदावीर भीम "दुर्योधन कहाँ है?... कहाँ है दुर्योधन?" चिल्लाता और गदा नचाता हुआ दोनों सेनाओं में उन्मादित होकर घूम रहा था।

दुर्योधन को कहीं न पाकर हताश भीम नन्दिघोष के समीप आया। आग उगलती हुई आँखों से, वह क्रोध से चिल्लाया, "हे हृषीकेश, इस समस्त विनाश की जड़ को ही मैं उखाड़ना चाहता हूँ। कौरवों के उस कालसर्प–नीच दुर्योधन को मैं सबके समक्ष मार डालना चाहता हूँ। वह तो रणभूमि से पलायन ही कर गया है। कहाँ खोजूँ उसे?"

आज पहली बार अर्जुन को, पीछे-पीछे आने का संकेत करते हुए कृष्णदेव नन्दिघोष से नीचे उतरे। झपाके से वे भीमसेन के रथ के पास आये। उन्होंने भीम के सारथि विशोक को रथ के पार्श्वभाग में बैठने का निर्देश कर स्वयं सारथि का स्थान ग्रहण किया। युधिष्ठिर को भी अपने पीछे-पीछे आने को कहकर वे भीमसेन सहित सूर्यकुण्ड के तट पर पहुँचे। सरोवर के मध्य बीच-बीच में पानी के पृष्ठ पर आता और प्राणायाम के बल पर दीर्घकाल तक पानी के नीचे रहता दुर्योधन युधिष्ठिर के बार-बार पुकारने पर भी सरोवर से बाहर नहीं आ रहा था। अन्तत: कृष्णदेव ने युधिष्ठिर के कानों में कुछ फुसफुसाया। तब दुर्योधन को सरोवर से बाहर निकालने हेतु युधिष्ठिर ऊँचे स्वर में चिल्लाया, "हे दुर्योधन, सरोवर से बाहर आओ और हम पाँचों भ्राताओं में से किसी से भी–जिससे तुम चाहो–द्वन्द्वयुद्ध करो। यदि ऐसा न करोगे, तो जिस सूर्यकुण्ड में सूर्यग्रहण के दिन स्नान कर क्षत्रिय याचकों को दान देते आये हैं, उसी में हमारे सैनिकों को विष मिलाये पानी के कुम्भ-के-कुम्भ उँडेलने पड़ेंगे। तुम्हें तो बाहर निकलना ही होगा। किन्तु सरोवर के निष्पाप जलचर व्यर्थ ही मर जाएँगे।"

कृष्णदेव के सुझाये गये इस मन्त्र का उस निर्दयी पर प्रभाव हुआ। सरोवर के जल में से ही दुर्योधन ने युधिष्ठिर से पूछा, "क्या सचमुच तुम मुझे द्वन्द्वयुद्ध करने का अवसर दोगे?" स्वीकृति में युधिष्ठिर की ग्रीवा हिलते ही उसने अपेक्षा-भरी दृष्टि से तट पर खड़े गुरुदेव बलराम की ओर देखा। उनके सम्मति देते ही तैरता हुआ दुर्योधन सरोवर-तट पर आया। उसने अपने सेवक द्वारा लाया गया गदायुद्ध का वेश धारण किया। अपने निन्यानवे भ्राताओं को यमसदन पहुँचानेवाले भीमसेन की ओर देखकर अत्यधिक क्रोध से उसने द्वन्द्वयुद्ध के लिए भीमसेन को ललकारते हुए कहा, मेरे निन्यानवे सहोदरों का वध करनेवाले इस नीच-पेटू पाण्डव-पुत्र का वक्ष विदीर्ण किये बिना मेरे भ्राताओं को तर्पण का जल प्राप्त नहीं होगा! जब तक मैं इसके भग्न वक्ष का उष्ण रक्त मैरेयक मद्य की भाँति प्राशन नहीं करूँगा, मेरे अत्यन्त प्रिय भ्राता दु:शासन की आत्मा को शान्ति नहीं मिलेगी। मैं–कुरु-युवराज दुर्योधन–इस पेटू भीम का निर्णायक द्वन्द्वयुद्ध के लिए आह्वान करता हूँ।"

भीमसेन भी गरज उठा–"जीवन-भर शकुनि की अँगुलियों के संकेत पर नाचते रहनेवाले भीरु, द्यूतसभा में ज्येष्ठ कुरुओं के समक्ष मेरी प्रिय पत्नी को विवस्त्र करने की आज्ञा देनेवाले अधम, भरी सभा में उसे नग्न जंघा दिखानेवाले असभ्य, नीच, भीम ने तुम्हारे इस आह्वान को स्वीकार किया है।"

क्षत्रियों की दृष्टि में पवित्र उस सूर्यकुण्ड के तट पर उन दो युद्धोन्मत्त चान्द्रवंशी राजपुत्रों का भयंकर गदायुद्ध आरम्भ हुआ।

"जय माता कुन्तीदेवी ऽ–जय भगवान वासुदेव श्रीकृष्ण की...जय गुरुदेव बलभद्र..."–भीमसेन ने इतने तेज स्वर में जयघोष किया कि शान्त दिखते उस सूर्य सरोवर के जल में भी लहरें उठने लगीं। भयभीत हुए, हाथ-भर लम्बे मत्स्यों ने ढलती धूप में अपने रुपहले पेट दिखाते हुए छलाँगें लगायीं और पुन: वे पानी में अदृश्य हो गये।

"ज ऽ य गान्धारी माताऽ...ज ऽ य गुरुदेव बलरा ऽ म"–दहाड़ता हुआ रक्ताभ नेत्रोंवाला दुर्योधन भीमसेन से भिड़ गया।

कृष्णदेव, बलराम भैया, उद्धवदेव, मैं, सभी पाण्डव, कृपाचार्य, कृतवर्मा, धृष्टदयुम्न और अश्वत्थामा–हम सभी उस शरीर के रोएँ खड़े कर देनेवाले गदायुद्ध के साक्षी थे।

दोनों की प्रचण्ड गदाएँ खनखनाती हुई आपस में टकराने लगीं। सन्ध्या समय होने से अपने नीड़ों को लौटनेवाले पक्षी वह ध्वनि सुनकर चीखते हुए पुन: अरण्य को लौटने लगे। दोनों योद्धाओं के प्रबल प्रहारों से उनकी गदाओं से चिनगारियाँ छूटने लगीं। देखनेवालों के हृदयों को कँपकँपा देनेवाला उनका भयावह गदायुद्ध एक प्रहर तक चलता रहा। उनकी चपल गतिविधियों से उनके पैरों-तले की घास उद्ध्वस्त होने लगी। दोनों के सुपुष्ट, विशाल शरीरों से स्वेद और रक्त की धाराएँ बहने लगीं। एक-दूसरे के प्रहारों को निष्फल करते हुए उनके शिरस्त्राण लुढ़ककर धूल में गिर पड़े। उनके मुक्त, घने केश कन्धों पर झूलने लगे। अवसर पाते ही भीमसेन दाँत पीसते हुए कभी दुर्योधन के चौड़े वक्ष पर, कभी उसकी गँठीली भुजाओं पर तो कभी विशाल पीठ पर गदा-प्रहार कर रहा था। पाण्डव चिल्ला-चिल्लाकर उसे उत्तेजना दे रहे थे।–'साधु गदावी ऽ र...साधु...साधु...महाबली!"

किन्तु दुर्योधन पर उन प्रहारों का तनिक भी प्रभाव नहीं हो रहा था। होनेवाला भी नहीं था। विकराल हँसता हुआ वह भीमसेन को ललकारता रहा था–"हाथियों के गण्डस्थलों को विदीर्ण करनेवाली तुम्हारी लौह भुजाओं की वह सामर्थ्य कहाँ गयी? दिन-रात खाते रहनेवाले पेटू, कहाँ गयी तुम्हारी वह सहस्र हाथियों की शक्ति?"

भीमसेन चकराकर ललाट पर उभरे स्वेद को पोंछने के निमित्त बार-बार कृष्णदेव की ओर देख रहा था। कृष्णदेव तो कब से जंघा थपथपाकर उसे संकेत दे रहे थे; किन्तु भीमसेन के ध्यान में ही वह संकेत नहीं आ रहा था!

गान्धारी माता ने पातिव्रत्य की तप:साधना और अपनी तेजस्वी दृष्टि की शक्ति से पुत्र दुर्योधन की देह को वज्र के समान बनाया था। यह बात भीमसेन को ज्ञात नहीं थी। गुरुदेव बलराम के आशीर्वाद और कृष्णदेव की कृपा से वह निश्चय ही दुर्योधन के वक्ष को भग्न कर देगा, इसी भ्रम में सरल स्वभाव का भीमसेन युद्ध कर रहा था। दुर्योधन के गदा-प्रहारों को झेलते हुए वह क्षण-क्षण अधिकाधिक लहूलुहान होता जा रहा था। कृष्णदेव बार-बार जंघा क्यों थपथपा रहे हैं, यह संकेत उसे समझ में ही नहीं आ रहा था। ऐसा ही चलता रहा तो दुर्योधन भीमसेन का वध करने से नहीं चूकेगा, इस आशंका से सभी पाण्डव भयभीत हो रहे थे।

अब कृष्णदेव ने अपनी स्नायुबद्ध जंघा पर से पीताम्बर को तनिक हटाया और खुली जंघा पर सांकेतिक मुष्टि-प्रहार किया। कृष्णदेव क्या कहना चाह रहे हैं, भीमसेन को इसका अब बोध हुआ। उसने ऊँचे स्वर में गर्जना की, 'ज ऽ य भगवान वासुदेव! जऽय इडादेवी।' दूसरे ही क्षण महाकाय भीमसेन ने दाँत पीसते हुए दुर्योधन की जंघा पर अपनी प्रचण्ड गदा का वज्र-प्रहार किया। 'हे ऽ

माता ऽ’ चिल्लाता हुआ जंघा-भग्न दुर्योधन अपनी गदा को दूर फेंकते हुए धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा। भान रहित हुए भीमसेन ने वैसा ही एक वज्र प्रहार दुर्योधन की बायीं जंघा पर किया। रक्त का फव्वार छूटा। उसकी बायीं जंघा भी चूर-चूर हो गयी। दोनों जंघाएँ टूट जाने से दुर्योधन धरती पर औंधा पड़ा था। दोनों गदावीरों के गुरु बलराम भैया गदा उठाकर क्रोध से भीमसेन की ओर लपके। वे चिल्लाये–“कटि के नीचे प्रहार करते हुए गदायुद्ध का नियम भंग करनेवाले मूढ! अब तुम्हारा वध करके ही मुझे अपने प्रिय शिष्य को न्याय दिलाना होगा–ज ऽ य इडा देवी ऽ” कृष्णदेव ने दोनों हाथों से उन्हें रोकते हुए कहा–“दाऊ, भरी द्यूत सभा में द्रौपदी को असभ्यता से खुली जंघा दिखानेवाले दुर्योधन की जंघा तोड़ने के बदले क्या भीमसेन को अपनी पत्नी को लाकर उसकी जंघा पर बैठाना चाहिए था? दाऊ, यदि इस समय आपके स्थान पर मैं होता तो अपनी कौमोदकी गदा भीमसेन को प्रदान करते हुए उसका सम्मान करता। आप अपने क्रोध पर नियन्त्रण पाइए–शान्त हो जाइए।”

“इसकी जड़ तो तुम ही हो छोटे! वास्तव में भीम से पहले तुम्हें ही दण्डित करना चाहिए! किन्तु क्या करूँ–मैं ज्येष्ठ जो ठहरा!” असहाय होकर बलराम भैया अपने प्रिय, आहत और छटपटाते हुए शिष्य की ओर दौड़ पड़े।

उन्हीं की भाँति कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा भी ‘नियमभंग–नियमभंग’ चिल्लाते हुए भीमसेन की ओर लपके थे। किन्तु मैंने और सभी पाण्डवों ने मिलकर उन्हें रोक लिया था। तब कृष्णदेव ने अर्जुन से कहा था, “चलो अर्जुन, अहंकार का महावृक्ष दिखाता हूँ तुम्हें।” उनके पीछे चारों पाण्डव, दायीं ओर उद्धवदेव और बायीं ओर मैं–हम सब औंधे पड़े दुर्योधन के पास गये।

कृष्णदेव ने झुककर उस अहंकारी ज्येष्ठ कौरव से पूछा, “हे दुर्योधन, क्या तुम्हें अपने पापकर्मों का रत्ती-भर भी पश्चात्ताप हो रहा है? हो रहा हो तो कहो, मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा।”

ऊरुभंग होकर औंधे पड़े उस अभिमानी कौरव ने कुहनियों के बल अपने शरीर का कटि से ऊपर का भाग नागफन की भाँति ऊपर उठाया। ग्रीवा टेढ़ी करते हुए कृष्णदेव की ओर अत्यन्त तिरस्कार से देखकर अपनी वक्र और घनी भौंहों को और भी वक्र करते हुए उसने कहा, “अरे जा! रणभूमि में मृत्यु को प्राप्त होना क्षत्रिय के लिए कितना गौरवशाली होता है, यह तुम जैसा गायों के मलमूत्र से सने पैरोंवाला ग्वाला क्या जाने!”

वह सुनकर हम सभी थर्रा उठे।

अपने वन्दनीय गुरुदेव बलराम की ओर देखते हुए उसने कहा, “हे गुरुदेव, मेरा अन्तिम प्रणाम स्वीकार करें। सभी अर्थों में आपसे छोटे अपने इस भ्राता को–इस ग्वाले को द्वन्द्वयुद्ध के नियम समझा दीजिए।”

अब तक वीरासन में बैठकर दुर्योधन का हाथ अपने हाथों में थामे हुए बलराम भैया तड़ाक् से उठे। उन्होंने कृष्णदेव से कहा, “भीमसेन ने दुर्योधन की जंघा पर प्रहार करके द्वन्द्वयुद्ध के नियमों को भंग किया है।”

“दाऊ, बचपन में भीमसेन को मिष्टान्न में विष मिलाकर खिलानेवाले आपके इस परमशिष्य ने कौन-से भ्रातृधर्म का पालन किया था? कुरुओं की द्यूतसभा में अपनी भाभी द्रौपदी को विवस्त्र करने का आदेश देते हुए युवराज कहलानेवाले आपके इस शिष्य ने किस राजधर्म का निर्वाह

किया था? क्या दूरदर्शिता से वंचित आपके इस पट्टशिष्य ने शकुनि द्वारा पाण्डवों से पुनर्द्यूत खेलने की माँग नहीं की थी? छह वीरों ने मिलकर हमारे प्रिय अभिमन्यु को घेरने का साहस किसके आधार पर किया था? दाऊ, भाग्य ही समझिए–जिस प्रकार वनराज मत्त वन्य वराह का रक्त-प्राशन करता है, उसी प्रकार इस वीर कुन्तीपुत्र भीमसेन ने दुर्योधन की टूटी जाँघ का रक्त-प्राशन नहीं किया!" दुर्योधन की मृत्यु के आसन्न होने से प्रसन्न हृषीकेश ने शान्तिपूर्वक बलभद्र से कहा।

"जो भी हो छोटे, यह युद्ध-नियमों का भंग है और वह मेरे समक्ष हुआ है। तुम्हारे ही कारण भीम ने यह नियम भंग किया है। अत: मैं तुम दोनों का मुख भी नहीं देखना चाहता–मैं द्वारिका जा रहा हूँ।" अपने स्वभाव के अनुसार कृष्णदेव को झिड़ककर बलराम भैया, कुरुक्षेत्र में जैसे अचानक आये थे, वैसे ही चले गये।

सूर्य डूब गया। हम सब शिविरों की ओर लौटे। रात्रि-बैठक में कृष्णदेव धृष्टदयुम्न को सूचना दे रहे थे, "दुर्योधन के अन्त के साथ युद्ध समाप्त हो चुका है। कल हमें अपने शिविर उठाकर कुरुक्षेत्र को छोड़ना है।" उसी समय वहाँ पहुँचे गुप्तचर-प्रमुख मलय ने कृष्णदेव को एक समाचार दिया–

'दुर्योधन ने तिलमिलाकर उससे मिलने आये कृपाचार्य से अश्वत्थामा का कौरवों के अन्तिम सेनापति के रूप में अभिषेक करने की प्रार्थना की थी। यद्यपि उसकी दोनों जंघाएँ टूट गयी थीं, किन्तु उसका अशरण, सन्तप्त राज-मन टूटा नहीं था। अब भी वह अपनी पराजय स्वीकार करने को तैयार नहीं था। और वह प्रतिशोध का दिवास्वप्न देख रहा था।

कृपाचार्य के हाथों अभिषिक्त हुए अश्वत्थामा के सिर पर दुर्योधन ने अपने हाथों से सेनापति का मुकुट रखा। अपने प्रति उसके विश्वास को देखकर द्रोणपुत्र अश्वत्थामा गद्गद हो उठा। उसकी आँखों में आँखें गड़ाकर दुर्योधन ने कहा, "हे गुरुपुत्र, कौरव-सेनापति अश्वत्थामा, तुम हमारे अन्तिम सेनापति हो। यद्यपि कृष्ण के पास सुदर्शन चक्र है, किन्तु लम्बे समय तक उसका प्रयोग न करने के कारण वह उसके दिव्य मन्त्रों को भूल गया है। ऐसा न होता तो पिछले कई वर्षों में ऐसी घटनाएँ घटित हो चुकी हैं कि उस समय वह सुदर्शन का प्रयोग अवश्य करता। उसकी स्थिति कवच-कुण्डल दान किये शापदग्ध कर्ण के समान–और इस समय जो मेरी स्थिति है, उसी के समान–अर्थात् नाखून कटे वनराज के समान है। तुम्हारे पास अपने पिता और हमारे गुरुदेव द्रोणाचार्य का दिया हुआ ब्रह्मास्त्र है। तुम ही हमारी विजय के अन्तिम उद्गाता होगे। अन्तिम कुरु के नाते मैं तुम्हें निर्देश दे रह हूँ और मित्र के नाते प्रार्थना कर रहा हूँ कि पाण्डवों का आमूल विनाश करो।"

"हे कौरव, जैसी तुम्हारी इच्छा है, वैसा ही होगा! मैं पाण्डवों का सम्पूर्ण विच्छेदन कर डालूँगा। अपने हाथ में थामे हुए दुर्योधन के हाथ को दबाते हुए गुरुपुत्र ने अश्वासन दिया।

"जऽय गान्धारी..."–'माता ऽ' कहने से पहले ही अश्वत्थामा के हाथ में हाथ रखे दुर्योधन का प्राणान्त हो गया।

भयावह रात्रि कुरुक्षेत्र पर उतर आयी। चालीस योजन की रणभूमि के पश्चिमी ओर का केवल आधे

योजन का भूमिखण्ड ही कुछ सूखा बचा था। शेष सम्पूर्ण रणभूमि दोनों सेनाओं के लगभग चालीस लक्ष योद्धा, लाखों गज, अश्व, उष्ट्र आदि के रक्त से लांछित हो गयी थी। उस विशाल रणभूमि पर प्रतिदिन कई चिताएँ जली थीं। वीरगति को प्राप्त हुए योद्धाओं के शरीरों की राख विसर्जित होने से कुरुक्षेत्र की दृषद्वती, सरस्वती आदि नदियों और ब्रह्म, सूर्य, ज्योति आदि सरोवरों का जल मटमैला हो गया था। सम्पूर्ण रणभूमि पर जहाँ-तहाँ टूटे रथों के चक्र, खण्डित खड्ग, भग्न गदाएँ, शूल, तोमर आदि शस्त्रों, मानवी देहों के विविध अंग, हाथियों, अश्वों आदि के अंगों के ढेर लगे थे। कुरुक्षेत्र का सम्पूर्ण परिसर गृध, लकड़बग्घों, शृगाल, भेड़ियों आदि की आवाजों से भर गया था। बचे-खुचे वृक्षों के खोंडरों में उल्लुओं का भयावह घुघुआना गूँज रहा था। जलते पलीतों में तैल डालने को कोई रहा ही नहीं था, अत: उनका प्रकाश धीमा पड़ गया था। बुझे पलीतों का कसैला धुआँ सर्वत्र फैल रहा था। कुरुक्षेत्र अब धर्मक्षेत्र नहीं रहा था—वह एक विराट् श्मशान-क्षेत्र बन गया था।

चार-पाँच यादव-सैनिकों सहित मैं अपने शिविर में विश्राम कर रहा था। बार-बार करवट बदल रहा था। पिछले अठारह दिनों के घनघोर युद्ध के क्षणचित्र मेरी आँखों के आगे नाच रहे थे। प्रयास करने पर भी निद्रादेवी मुझ पर प्रसन्न नहीं हो रही थी। कैसे होती? सर्वत्र हिंस्त्र श्वापदों का गुर्राना और नाना प्रकार की विचित्र स्वर-ध्वनियों का कोलाहल मचा हुआ था।

सम्भवत: मध्यरात्रि हो गयी थी! कहीं से एक स्त्री की हृदय-विदारक चीखें सुनाई देने लगीं। मेरे कान खड़े हो गये और आँखें खुली रह गयीं। तीक्ष्ण बोल सुनाई दे रहे थे—"हे अच्यु ऽ त, हे माधव, हे मिलिन्द ऽ, मधुसूऽदन, मेरे साथ घात हुआ है। मैं लुट गयी ऽ! मेरे सारे अंकुरों को उस नीच ने निद्रितावस्था में ही काट डाला! 'जब सारा जग सोया हुआ होता है तब मैं जागता रहता हूँ।' कहनेवाले हृषीकेश, आज ही कैसे सो गये तुम? उठो कृऽष्ण, उठो!"

मैं तड़ाक् से आस्तरण पर उठ बैठा। आक्रोश करनेवाली स्त्री कोई अन्य नहीं—साक्षात् पाण्डवपत्नी द्रौपदी थीं। शिविर में भक-भक करता हुआ एक पलीता उठाकर मैं उस चीत्कार की दिशा में दौड़ने लगा। शिरस्त्राण धारण करने का मुझे भान ही नहीं रहा। मेरे यादव-सैनिक भी मेरे पीछे-पीछे दौड़ने लगे। समझ में नहीं आ रहा था कि क्या हुआ है! मुझे आभास हुआ कि शीघ्र गति से वह आक्रोश कृष्णदेव के शिविर की ओर बढ़ा जा रहा था। मैं भी दौड़ता हुआ कृष्णदेव के शिविर में पहुँचा। वहाँ काषाय वस्त्रधारी उद्धवदेव भी उपस्थित थे। आक्रोश करती द्रौपदीदेवी को दोनों सान्त्वना दे रहे थे। कृष्णदेव उनसे पूछ रहे थे, "क्या हुआ कृष्णे ऽ? पांचाली! क्या हुआ है?"

द्रौपदीदेवी के बचपन के विविध रूप पांचालों ने देखे थे। यौवन-काल के उनके भिन्न-भिन्न रूप पाण्डवों ने देखे थे। इस समय का उनका रूप हम तीनों यादव—कृष्णदेव उद्धवदेव और मैं—देख रहे थे। अनिवार्य वेदना से वह कुलस्त्री ठीक से बोल भी नहीं पा रही थी। वे निरन्तर आक्रोश करती जा रही थीं—"मेरा प्रतिविन्ध्यऽ मेरा सुतसोम—मेरा श्रुतकीर्ति—मेरा शतानीक—मेरा श्रुतसेनऽ" हम इतना ही समझ पा रहे थे कि अपने पाँचों पुत्रों के नाम ले-लेकर वे आक्रोश करती जा रही थीं। किन्तु क्यों? किसलिए? उनका आक्रोश थम नहीं रहा था और हमारा सम्भ्रम मिट नहीं रहा था। कृष्णदेव ने ममतापूर्वक उनके केशों पर हाथ फिराते हुए पूछा, "सखि श्यामले! क्या हुआ? शान्त हो जा—सँभल जा...क्या हुआ तुम्हारे पुत्रों को?"

सिसक-सिसककर और अश्रुधारा बहाते हुए द्रौपदीदेवी ने कहा—"उस नीच ने मेरे सोये हुए

पाँचों पुत्रों का वध किया है। मेरे धृष्ट भैया को भी उसने नींद में ही मार डाला है।"

द्रौपदीदेवी के पीछे-पीछे अब तक कृष्णदेव के शिविर में पहुँचे पाण्डव अपनी पत्नी के चतुर्दिक् खड़े हो गये। भीमसेन अपना सुदृढ़ हाथ उनकी पीठ पर फिराते हुए बार-बार पूछ रहा था—"शान्त हो जाओ द्रौपदी!—बताओ किसने किया है—यह पापकर्म?"

गद्गद हुई द्रौपदीदेवी ने बड़ी आशा से भीमसेन की ओर देखकर छटपटाते हुए कहा, "तुम जैसे एक से बढ़कर एक पाँच सामर्थ्यवान पतियों के होते हुए भी मैं विधवा ही हूँ! क्या आग लगानी है, तुम्हारे पराक्रम को! भरी द्यूतसभा में कौरवों ने मेरे वस्त्र पर हाथ डाला, फिर भी मैं चुप रही। इन्द्रप्रस्थ के सिंहासन के बदले उन्होंने मुझे वनवास दिलाया, उसे भी मैंने सह लिया। आज एक माता कि प्राणप्रिय अंकुरों को—तुम्हारे पुत्रों को—उस निर्दय वधिक ने काट डाला है! फिर भी तुम मुझसे शान्त होने को कह रहे हो? कैसे शान्त हो जाऊँ? वीरपत्नी, एक महाराज्ञी शान्त हो सकती है, किन्तु पाँचों पुत्रों की माता? नहीं—कदापि नहीं।"

द्रौपदीदेवी को झँझोड़ते हुए भीमसेन ने कठोर स्वर में पूछा, "किसने किया है यह पापकर्म? बताओ।" श्रीकृष्णदेव ने भी उनका मस्तक थपथपाते हुए पूछा, "कहो द्रौपदी, कौन है वह?"

अपने हृदय के उबाल को नियन्त्रित करते हुए, सिसक-सिसककर द्रौपदीदेवी ने कहा—"तुम्हारे—तुम्हारे गुरु—द्रोण के पुत्र—उस पापी अश्व... त्था...मा...ने!"

"क्या ऽ?" पाँचों पाण्डव सिहरकर एक साथ चीख उठे। भीमसेन तो अपने पुत्र के वधिक का नाम सुनते ही, अपनी प्रचण्ड गदा पुष्ट कन्धे पर उठाकर शिविर से दौड़ता हुआ निकल भी पड़ा। कृष्णदेव तीव्र गति के साथ उसके पीछे-पीछे गये। मैं और उद्धवदेव भी खिंचे-से उनके पीछे दौड़े।

भीमसेन पहले धृष्टद्युम्न के शिविर में आया। वहाँ मति सुन्न कर देनेवाला दृश्य उसे दिखाई दिया। धृष्टद्युम्न का सिर कटा और धड़ रक्त में सना हुआ पड़ा था। उसके दोनों ओर सोये पाँचों पाण्डवपुत्रों के शव रक्त से लथपथ होकर अस्त-व्यस्त पड़े थे। सबके वक्ष पर खड्ग के क्रूर घाव दिखाई दे रहे थे। केवल अपने मामा के वक्ष पर हाथ रखकर निश्चिन्त औंधे सोये प्रतिविन्ध्य की पीठ पर खड्ग का लम्बा घाव दिख रहा था। सभी पाण्डव-पुत्र निद्रावस्था में ही गतप्राण हुए थे। सर्वत्र जमे हुए लाल-काले रक्त के थप्पे पसरे हुए थे। पर्वत के समान दृढ़ भीमसेन भी अपने पुत्रों और सेनापति की वह दशा देखकर खड़ा नहीं रह सका और हथेलियों में अपना मुँह छिपाकर झट से नीचे बैठ गया। फिर दूसरे ही क्षण कण्ठ की नसें फुलाकर "कहाँ है वह निर्दय वधिक अश्वत्थामा? कोई दिखा दे मुझे—वह कहीं है..." चिल्लाता हुआ वह अश्वत्थामा को ढूँढ़ने हेतु उषःकाल के धुँधले प्रकाश में ही रणभूमि की पश्चिम दिशा में चल पड़ा। उसके पैरों के नीचे हाथियों की सूँड़े, अश्वों की पूँछें, मृत योद्धाओं के सिर, मानव-शरीरों के विविध अंग रौंदे जा रहे हैं, इसका भी उसे भान नहीं था। क्रोध में 'कहाँ है अश्वत्थामा?...' गरजता हुआ वह रणभूमि में घूमता रहा। हम भी उसके पीछे-पीछे खिंचे जा रहे थे। अश्वत्थामा कहीं भी दिखाई नहीं दिया। अन्तत: श्रान्त हुआ भीमसेन हताश होकर एक तमाल-वृक्ष के नीचे पाषाण-खण्ड पर बैठ गया। हम उसके समीप गये। उसे रुआँसा देखकर कृष्णदेव ने कहा, "हे वायुपुत्र, शान्त हो जाओ। तुम्हारे क्रोध को मैं समझ सकता हूँ। अश्वत्थामा का समय अभी नहीं आया है।"

पौष शुद्ध पंचमी का दिन कुरुक्षेत्र पर उग आया था। भीमसेन को सँभालकर शिविर की ओर ले आते कृष्णदेव को दूर पर्वत की ढलान पर एक लहलहाये पलाश-वृक्ष की छाया में पाषाण-

खण्ड पर बैठी एक मनुष्याकृति दिखाई दी। उन्होंने भीमसेन से कहा, "हे पाण्डव, रणभूमि में लहलहाये पलाश-वृक्ष के समान दिखनेवाले तुम आज साग-वृक्ष के तने जैसे काले क्यों पड़ गये हो? निस्तेज क्यों दिख रहे हो? देखो, वह पलाश-वृक्ष कैसे खिल उठा है!"

डबडबायी विशाल आँखों से भीमसेन ने ऊपर देखा। रक्तवर्ण पुष्पों से लहलहाये पलाश-वृक्ष पर घूमकर भीमसेन की दृष्टि उसके नीचे पाषाण-खण्ड पर बैठी मानवाकृति की ओर गयी। उसने दूर से ही अश्वत्थामा को पहचान लिया। वह उच्च स्वर में चिल्लाया, "हमारे निद्रित पुत्रों का वध करनेवाले नी ऽ च वधिक ...अश्वत्थामा ऽ! तुम्हें अपने पिता की सौगन्ध–वहीं रुक जाओ। सामर्थ्य हो तो इस भीमसेन के वक्ष पर खड्ग चलाकर देखो।"

लम्बी-लम्बी छलाँगें भरता हुआ भीमसेन अश्वत्थामा के समीप पहुँचा। अश्वत्थामा के रक्तलांछित वस्त्र सूखकर कड़े हो गये थे, किन्तु उसकी आँखों में युद्ध का अपराजित आवेश था। रणक्षेत्र के पश्चिम भाग में सूखे रहे भूमि-खण्ड पर उन दोनों में गदायुद्ध छिड़ गया। हम सब उसे देखते मण्डलाकार खड़े रहे। सूर्यदेव आकाश में दो हाथ ऊपर चढ़ आये थे। फिर भी वे पहले गदा से और बाद में एक के बाद एक भिन्न-भिन्न शस्त्रों से लड़ते ही रहे! अब सूर्य सीधे माथे पर आ गया था। भीमसेन ने अपने हाथ का खड्ग दूर फेंककर ताल ठोंकते हुए अश्वत्थामा का मल्लयुद्ध के लिए आह्वान किया। मल्लयुद्ध में जरासन्ध सहित कई मल्लों को धूल चटानेवाले भीमसेन की कीर्ति ज्ञात होते हुए भी अश्वत्थामा ने उसका आह्वान स्वीकार किया। उसने भी ताल ठोंककर भीमसेन को ललकारा। तब द्वारिकाधीश उन दोनों के बीच खड़े हुए। उन्होंने भीमसेन से कहा, "भीमसेन, तुम्हारे इस आह्वान से कुछ भी साध्य नहीं होगा। जरासन्ध से तुमने चौदह दिन तक मल्लयुद्ध किया था। अश्वत्थामा से तुम चौदह वर्ष तक मल्लयुद्ध करोगे, तब भी कुछ नहीं होगा। अश्वत्थामा मरनेवाला नहीं है।"

उन्होंने अश्वत्थामा को भी समझाया "जरासन्ध के बाद आर्यावर्त में भीमसेन जैसा कोई भी मल्ल नहीं रहा है। उसे मत ललकारो! इतना कहने पर भी यदि तुम दोनों कुछ सुनना नहीं चाहते हो तो तुम्हारे हाथों में 'अखाड़े' की मिट्टी देकर मैं भी देखूँगा तुम्हारा मल्लयुद्ध!"

कृष्णदेव की दी गयी मिट्टी स्वीकार करते हुए वे दोनों एक-दूसरे से भिड़ गये। आँकड़ी और रजकपृष्ठ जैसे दाँव-प्रतिदाँव लगाते हुए वे लड़ने लगे। उनके चतुर्दिक् दोनों ओर के बचे-खुचे सैनिकों का घेरा पड़ा था। दोनों योद्धा स्वेद से लथपथ हुए। कोई किसी से हार नहीं रहा था। दिन के तीसरे प्रहर में भीमसेन ने 'बाहुकण्टक' का निर्णायक पाश अश्वत्थामा के कण्ठ में कस दिया। किन्तु आज कुछ विचित्र ही घटित हो रहा था। भीमसेन का निणार्यक बाहुकण्टक दाँव आज निष्फल हो रहा था। भीमसेन अपनी पूरी शक्ति के साथ बाहुकण्टक को अश्वत्थामा के कण्ठ में कस रहा था, किन्तु अश्वत्थामा योगबल से श्वास रोककर कण्ठ की धमनियों को ऐसे फुला रहा था कि भीमसेन ही श्रान्त हो रहा था। लम्बे अन्तराल के बाद कृष्णदेव भीमसेन के समीप गये। उसके पास एक खड्ग रखते हुए उन्होंने उसके कान में कहा, "हे कौन्तेय, सावधान होकर सुनो–अश्वत्थामा चिरंजीव है, वह मरनेवाला नहीं है। किन्तु मनुष्य की मृत्यु दो प्रकार की होती है–शारीरिक और लौकिक! अश्वत्थामा के मस्तक पर जो जन्मजात मांसल मणि है, उसे काटकर निकाल दो। उसके मस्तक का घाव कभी भरेगा नहीं, लहूलुहान ही रहेगा–जैसे तुम्हारे पुत्रों के शव रहे! कभी भी न भरनेवाला घाव लेकर ही अश्वत्थामा जीता रहेगा! लौकिक अर्थ में वह उसकी

मृत्यु ही होगी! शीघ्रता करो और काट लो उसके मस्तक की मांसल मणि को!"

स्वेद से लथपथ भीमसेन ने कृष्णदेव के आदेश का पालन किया। बायें हाथ से अश्वत्थामा की ग्रीवा कसकर दाहिने हाथ के खड्ग से उसने उसकी मणि मस्तक से अलग कर दी।

रक्त से सना खड्ग रणभूमि पर ही फेंककर, उस अमूल्य मणि को लेकर भीमसेन पाण्डव-शिविर की ओर लौटा। प्रिय पत्नी द्रौपदी के हाथ में वह मणि देकर भीमसेन ने पूरी घटना उसे सुनायी। कृष्णदेव ने भी द्रौपदीदेवी को अश्वत्थामा के चिरंजीव होने के विषय में बताकर उनका पुत्रशोक कम किया।

उन्नीसवें दिन की सन्ध्या होने को थी। द्वारिकाधीश ने अपने विशाल शिविर को उखाड़कर उसे समेटने का हमें आदेश दिया। उनके प्रिय सखा उद्धवदेव, अर्जुन और मैं–हम तीनों शिविर के खुँटों को धरती से उखाड़ने के काम में लग गये। स्वयं कृष्णदेव ने उस ऊँचे शिविर के मुख्य स्तम्भ को हिला-हिलाकर उखाड़ दिया। एक दल-प्रमुख ने पाण्डव-सेना की अन्तिम गिनती की। अब वह कुछ सैकड़ों की संख्या में ही थी। कौरव-सेना के तो केवल तीन योद्धा जीवित थे–कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा!

वीरगति को प्राप्त हुए सभी योद्धाओं को तर्पण देने का धर्म-कार्य करना अभी शेष था। उसके लिए हम सब दृषद्वती नदी के तट पर आ गये। कृष्णदेव ने धौम्य ऋषि से तर्पण-विधि की तैयारी करने को कहा। अब महायुद्ध समाप्त हुआ, यह सोचकर सबने मुक्ति की साँस ली। युग-युग से बहती आयी दृषद्वती नदी शान्त थी। तट पर हुए मानवी प्रलय से उसे कुछ लेना-देना नहीं था।...

मैं, उद्धवदेव, दारुक, अर्जुन सहित सभी पाण्डव और अच्युत द्वारिकाधीश दृषद्वती के घाट की एक पाषाणी सीढ़ी पर बैठकर सैनिक और पुरोहितों द्वारा किया जानेवाला तर्पण का कर्मकाण्ड देख रहे थे। तभी अभी तक समाप्त न हुए भारतीय महायुद्ध की अन्तिम कटु वार्त्ता लेकर गुप्तचर-प्रमुख मलय हाँफता हुआ वहाँ पहुँचा। कृष्णदेव को प्रणाम करके काँपते हुए उसने कहा, "स्वामी, बड़ा भारी संकट आ पड़ा है। अरण्य में चले जाने से पहले आहत अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र का प्रक्षेपण किया है।"

"क्या ऽ? ब्रह्मास्त्र?" कृष्णदेव तड़ाक् से उठ खड़े हुए। "जी ऽ स्वामी ऽ ब्रह्मास्त्र! पाण्डव-परिवार की उत्तरादेवी के गर्भ पर उसने ब्रह्मास्त्र प्रक्षेपित किया है। पाण्डव-वंश का एकमात्र अंकुर नष्ट होने से पाण्डव-स्त्रियाँ वक्ष पीटकर विलाप कर रही हैं। आपको ही पुकार रही हैं।"

हम सब सुन्न होकर कृष्णदेव की ओर देखते रहे। क्या कहें, क्या करें, किसी को कुछ सूझ नहीं रहा था। केवल काषाय वस्त्रधारी उद्धवदेव ने द्वारिकाधीश की भुजाएँ पकड़कर व्याकुलता से कहा, "हे वासुदेव, पाण्डवों के वंश को बचाना अब केवल आपके–और आप ही के हाथ में है! जीवन-भर की तपःसाधना को स्मरण करके उत्तरा के गर्भ पर से ब्रह्मास्त्र का प्रभाव नष्ट करने हेतु अब आपको ही संकल्प करना होगा। अन्यथा, हे नारायण, पाण्डवों का नाम भी इस जग में शेष नहीं रहेगा।"

कृष्णदेव को अपने साथ लेकर उद्धवदेव दृषद्वती के पाट के समीप गये। उन्होंने एक छोटा-सा आस्तरण बिछाया। कृष्णदेव पद्मासन लगाकर उस पर बैठ गये। उन्होंने अपने नेत्र बन्द कर लिये। उद्धवदेव द्वारा उनकी अँजुली में उँडेले जल की धाराओं को तीन बार भूमि पर छोड़ते हुए, सबको स्पष्ट सुनाई दे सके, ऐसे शब्दों में वे बोलने लगे–"यदि मैं पुण्यपुरुष वसुदेव महाराज और देवकी

माता का पुत्र हूँ, यदि मुझे नन्दबाबा और यशोदा माता का पुत्र कहलाने का अधिकार है, यदि मैं पुण्यश्लोक आचार्य सान्दीपनि और तपस्वी घोर-आंगिरस का सभी अर्थों में योग्य शिष्य हूँ, यदि बिना किसी स्वार्थ के मैंने आर्यावर्त के न्याय-मार्ग को मुक्त करने हेतु अन्याय का निर्दलन किया है, यदि जीवन-भर–दिन में अथवा रात्रि में मैंने कोई असत्य पापकर्म नहीं किया है, तो मेरे इस आचमन के साथ उत्तरा का गर्भांकुर प्रणव का हुँकार करके अपने जीवित हो जाने का प्रमाण देगा।" नारायण ने हथेली में जल लेकर आचमन किया, आँखें खोलीं। उद्धवदेव की ओर देखकर मुस्कराते हुए उन्होंने कहा, "सखा ऊधो, इसी समय पाण्डव-स्त्रियों के शिविर में जाओ और उत्तरा के गर्भ की क्या स्थिति है, यह मुझे शीघ्र बताओ।"

अस्त होते सूर्यदेव ने आज अपूर्व तेज से प्रदीप्त मानव-सूर्यदेव के दर्शन किये।

"आज्ञा, भैया!" कहकर उद्धवदेव दृषद्वती के घाट की सीढ़ियाँ झपाके से चढ़ते हुए पाण्डवों के स्त्री-शिविर की ओर चले गये।

सूर्य के डूबते-डूबते काषाय वस्त्रधारी ऊँची कद-काठीवाले प्रसन्नवदन उद्धवदेव शीघ्र गति से आते दिखाई दिये। हम सबने अतीव उत्कण्ठा से उन्हें घेर लिया। उन्होंने अत्यन्त उत्साह के साथ शीघ्रता से कहा, "उत्तरा के गर्भ का चलन-वलन पुन: आरम्भ हुआ है। पाण्डव-वंश का अंकुर सुरक्षित है...महायुद्ध में केवल दस योद्धा बचे हैं। कौरव पक्ष के कृतवर्मा, कृपाचार्य और अश्वत्थामा तथा पाण्डव पक्ष के पाँचों पाण्डव और महारथी सात्यकि।" वंश की रक्षा होने की जानकारी पाकर, निश्चिन्त होकर नि:श्वास छोड़नेवाले पाण्डवों में से किसी के भी ध्यान में नहीं आया कि दसवाँ योद्धा कौन है! मैं तो उसे भूल ही नहीं सकता था। उद्धवदेव के मुख से सभी उसका नाम सुनें इस हेतु मैंने पूछा, "उद्धवदेव, आपने नौ ही योद्धाओं के नाम गिनाये! दसवाँ कौन है?"

मुस्कराकर मेरे कन्धे पर हाथ रखते हुए कृष्णदेव के परमसखा उद्धवदेव ने कहा–"युगन्धर श्रीकृष्ण!"

उद्धव

मैं उद्धव हूँ। पिता देवभाग और माता कंसा का पुत्र। मेरे पिता देवभाग वसुदेव महाराज के सगे भ्राता थे। वे यादवों की सुधर्मा राजसभा के दस मन्त्रिगणों में से एक थे। स्वयं मैं राजसभा का मन्त्री नहीं हूँ, न किसी दल का प्रमुख हूँ, और न कोई रथी-अतिरथी अथवा महारथी योद्धा। मेरी माता कंसा मथुरा के महाराज कंस की सहोदरा थी। अर्थात् पिता देवभाग के नाते मैं श्रीकृष्ण का ककेरा भ्राता हूँ और माता के नाते मौसेरा भ्राता! अठारह कुल के लाखों यादवों में से मैं भी एक हूँ। किन्तु इन सब नातों से अधिक मैं श्रीकृष्ण का परमप्रिय सखा था—उनका भावविश्वस्त। यही नाता मुझे जीवन-भर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण लगता आया है।

'भावविश्वस्त' की उपाधि स्वयं मैंने अपने-आप को नहीं दी। यह उन्होंने ही मुझे दी थी, और उन्होंने दी थी, इसलिए जीवन-भर वह मुझे स्मरण है!

श्रीकृष्ण मेरे ज्येष्ठ भ्राता थे, अत: मैं उनको आदरपूर्वक 'भैया' कहा करता था। कभी मैं उनको 'ज्येष्ठ', कभी 'यादवश्रेष्ठ' तो कभी 'द्वारिकाधीश' भी सम्बोधित किया करता था। मेरा उनको भैया कहने में केवल आदरभाव नहीं था, बल्कि उसमें अनेक भाव-छटाएँ थीं। उनके जीवन की एक भी घटना ऐसी नहीं थी, जो उन्होंने मुझे नहीं बतायी हो। कभी-कभी तो वे मुझसे इस प्रकार बोलते थे, मानो अपने-आप से ही बोल रहे हों!

विवाह-समारोह के पश्चात् रास खेलने की हम यादवों में प्रथा थी। मैंने विवाह नहीं किया था, अत: मैं जानबूझकर रासक्रीड़ा से दूर ही रहता आया था। यह ध्यान में आते ही भैया ने ही एक बार 'आओ ऊधो, उतरो रास में' कहते हुए हाथ पकड़कर मुझे रासमण्डल में खींच लिया था। वे मुझे प्रेम से सदैव 'ऊधो' ही कहा करते थे। उनके इस सम्बोधन में भी कई भाव-छटाएँ हुआ करती थीं। वे मुझसे कभी किसी कारण से रुष्ट नहीं हुए। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे कभी रुष्ट होते ही नहीं थे।

वसुदेव महाराज को भैया 'तात' कहा करते थे। अपने पिता को 'तात' कहने के लिए वसुदेव महाराज को मैं 'बड़े तात' कहा करता था। देवकी माता और रोहिणी माता को मैं और बली भैया सहित सभी यादव 'बड़ी माँ' और 'छोटी माँ' कहना अपने-आप सीख गये थे। बलराम भैया को मैं 'बली भैया' ही कहता था। वह हम सब भ्राताओं में था भी बलवान। वह शीघ्रकोपी था, किन्तु शान्त भी शीघ्र हो जाता था। नाते तो रक्त और जन्म की अपेक्षा मनुष्य के मनोभाव पर निर्भर करते हैं। यद्यपि मैं रेवती भाभी को 'भाभी' कहता था, किन्तु उनको और रुक्मिणी भाभी को 'भाभी' कहने में अन्तर था। रुक्मिणी भाभी थीं ही वैसी! उनसे छोटी सातों भाभियाँ भी मेरी प्रिय और आदरणीया थीं।

चित्रकेतु और बृहद्‌बल नामक मेरे दो ज्येष्ठ भ्राता थे। रुक्मिणी भाभी उन दोनों को खुलकर 'देवर जी चित्रकेतु' और 'देवर जी बृहद्बल' कहा करती थीं। किन्तु जब वे मुझे सम्बोधित करती थीं तब अपने मुख में ही कुछ अस्फुट-सा कहती थीं। पहले-पहल मुझे वह बड़ा विचित्र-सा लगा। लगा, कहीं वे मुझे अपमानित तो नहीं कर रहीं! किन्तु जब मैं उनके मनोभाव को जान गया, तो मैं मन-ही-मन खिल उठा। वे मुझे 'भैया' कहना चाह रही थीं। मुझे एक सुस्वभाव की, आयु में और अन्य सभी बातों में भी ज्येष्ठ भाव-भगिनी मिल गयी थीं! हम सब भ्राताओं की कोई बहन न होने की कमी अब पूरी हो गयी थी। वे अपने नैहर कौण्डिन्यपुर से स्वयंवर और विवाह के राजमार्ग से द्वारिका नहीं आयी थीं। हमारे बलराम भैया जैसे स्वभाववाले वे अपने भ्राता रुक्मि, रुक्ममाली, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और रुक्मरथ का कड़ा विरोध सहन करके द्वारिका आयी थीं–आयी नहीं वरन् लायी गयी थीं। भैया श्रीकृष्ण उन्हें हरण करके लाये थे। उसी समय उन्होंने सदैव के लिए अपने नैहर कौण्डिन्यपुर से अपना नाता तोड़ दिया था। उनको एक भाव-भ्राता की आवश्यकता थी, किन्तु जीवन-भर यह बात उन्होंने शब्दों में मुझसे कभी नहीं कही। वस्तुत: उनके इस कोमल अभाव की पूर्ति बली भैया को करनी चाहिए थी। किन्तु वे ठहरे ज्येष्ठ! यह उनके स्वभाव में ही नहीं था। भावना की अपेक्षा कर्तव्यपूर्ति में वे अधिक तत्पर थे। लेकिन मेरा मानना था–कर्तव्य को भी भावपूर्ण रीति से पूरा किया जाए। अपने प्रति रुक्मिणीदेवी के भ्रातृ-भाव को जब जाना, मैंने मन-ही-मन निश्चय किया था कि द्वारिका में मैं उनका भ्राता ही बनकर रहूँगा। जीवन-भर मैंने इस निश्चय का निर्वाह किया।

आज मुझे लगता है, भैया का 'परमसखा' बनने का सम्भवत: यह भी एक प्रबल कारण रहा हो!...

मैं विवाह क्यों नहीं करता, यह प्रश्न मेरे माता-पिता, बड़े तात, बड़ी और छोटी माँ, बलदाऊ, मेरे सहोदर भ्राता और कई यादवों ने समय-समय पर मुझसे पूछा था। किन्तु मेरे भैया–द्वारिकाधीश ने यह कभी भी नहीं पूछा। मेरे मन में उनके प्रति परम आदर का, यह सबसे बड़ा कारण था। हमारे जीवन में ऐसी कई छोटी-मोटी घटनाएँ घटीं, जिनके निकष पर कसे जाकर भैया से मुझे 'भावविश्वस्त' होने का मान मिला था।

युद्ध करना मेरा स्वभाव नहीं था। किन्तु मेरे मन में चलते द्वन्द्व को केवल मेरे भैया–द्वारिकाधीश ही भलीभाँति जानते थे। तभी तो उन्होंने अपने–पितामह भीष्म, महात्मा विदुर, मित्र सुदामा, संजय, बलदाऊ, जलपुरुष कर्ण और जिसे उन्होंने युद्धभूमि पर जीवन का हितोपदेश दिया वह धनुर्धर अर्जुन–इन सखाओं में मुझे 'परमसखा' माना था। कई बार उन्होंने सबके समक्ष इस बात को स्पष्ट रूप से कहा भी था। मैंने भी हर बार मुस्कराते हुए उसे केवल सुन लिया था। जीवन में कभी भी मैंने अपने मुख से नहीं कहा कि मैं द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण का 'परमसखा' हूँ। मुझे उसकी आवश्यकता भी प्रतीत नहीं हुई। वे मुझे भलीभाँति पहचानते थे। मैंने उन्हें जानने का जीवन-भर यथामति प्रयास किया। अदृश्य किन्तु अपने प्रचण्ड वेग से समस्त विश्व को व्याप्त कर देनेवाले पवन के समान ही थे वे! अब मुझे स्पष्टत: प्रतीत हो रहा है कि अपने विचारों की चुटकी में मैं उन्हें कभी पकड़ नहीं पाया। वे नीलवर्णी थे–मस्तक पर फैले अनन्त आकाश के समान! उनके नीलवर्ण में भी एक कृष्ण छटा थी–आकाश से परे असीम अवकाश के सदृश! अंकपाद आश्रम में आचार्य सान्दीपनि ने आकाश और अवकाश का अन्तर हमें समझाया था। गुरु-दक्षिणा वाले दिन गुरुदेव मेरे भैया को बार-बार 'कृष्ण'...'श्याम'...क्यों कह रहे थे, यह आज मेरी समझ

में आ रहा है।

भैया की हँसी हर समय अलग होती थी–धरती के समान! जैसे प्रत्येक ऋतु में धरती का रंग-सौन्दर्य अलग होता है। सूक्ष्मता से देखनेवाले के ही ध्यान में आता है कि धरती का जो रूप कल था, वह आज नहीं है। वास्तव में मेरे भैया धरती के समान थे–क्षमाशील! डींगें हाँकनेवाले कई घमण्डियों का उन्होंने अवश्य निर्दलन किया था, किन्तु उनके पुत्र, भ्राता आदि आप्तों को आकाश जैसी क्षमाशीलता के साथ अपना भी लिया था।

सुन्दरता में तो उनके समान वे ही थे! उनके मुख पर झलकता भावपूर्ण क्षात्रतेज आकाशमणि सूर्यदेव को भी लजा देनेवाला था। जब पहली बार वे गोकुल से मथुरा आये थे, कदम्ब-पुष्पों की सघन माला उनके कण्ठ में पहनाकर, यमुना-तट की रेती पर ही मैं उनसे कसकर गले मिला था। तब से उनके क्षात्रतेज को क्रमश: वृद्धिंगत होते ही मैंने देखा था। वे साक्षात् मानव-सूर्य ही थे।

जल के प्रति उनके अपार, सहज आकर्षण को मैंने मथुरा, द्वारिका, हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ–कई स्थानों पर प्रत्यक्ष अनुभव किया। 'जल' शब्द के आचार्य के बताये–'जायते यस्मात् लीयते यस्मिन् इति जल:'–अर्थात् जीव जिससे जन्म लेता है और जिसमें विलीन होता है, वही जल है। इस अर्थ को मेरे भैया ने अपने जीवन में सार्थक कर दिखाया। आर्यावर्त की लगभग सभी प्रमुख नदियों में उन्होंने यथेच्छ जलक्रीड़ा की। निर्माण और प्रवाह के अर्थ में वे जलपुरुष ही थे।

आकाश, पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन पंचमहाभूतों का वे अठारह कुलों के यादवों की पीढ़ियों से चले आये संचित कर्मों का मिश्रण थे। उनके श्रेयस का परम प्रतीक थे।

उनकी जीवन-यमुना के कुछ स्पष्ट प्रभावशाली मोड़ थे। उनमें सबसे अधिक प्रभावशाली और किसी के भी मन को गहरे रूप में प्रभावित करनेवाला पहला ही अत्यन्त सुन्दर मोड़ था–उनके बचपन का गोकुल। दूसरा उतना ही सुन्दर मोड़ था–अवन्ती के अरण्य में आचार्य सान्दीपनि के अंकपाद आश्रम का, हर प्रकार से ज्ञान प्राप्त करनेवाला आश्रम-जीवन। जब वे गोकुल से मथुरा आये, सर्वप्रथम उनसे मिलनेवाला एकमात्र यादव मैं था। तब से महाभारतीय युद्ध के आरम्भ तक मैं निरन्तर उनके साथ रहा। मथुरा में मैंने उनको मगध सम्राट् जरासन्ध के आक्रमणों का प्रतिकार करते देखा। उनकी जीवन-यमुना का यह अवन्ती-मथुरा का मोड़ भी अतीव सुन्दर था! मथुरा से द्वारिका आने का निर्णय केवल उन्हीं का था। मथुरा छोड़कर यदि वे विशाल पश्चिम सागर-तट पर द्वारिका न आते तो? कैसा होता समस्त यादवों का जीवन? यादवों का ही क्यों–कैसा होता सम्पूर्ण आर्यावर्त का जीवन? यह बात उनको रणछोड़दास कहनेवालों के ध्यान में आनेवाली नहीं थी। वैसी उनकी इच्छा भी नहीं थी। उन्होंने कभी भी इस बात का हठ नहीं किया कि लोग उनको समझ लें। उनके प्रत्येक कर्म से हर एक व्यक्ति अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार उनको जान लेता था–समझ लेता था।

अपने असंख्य क्रियाशील यादवों की सहायता से उन्होंने स्वर्णिम द्वारिका के गणराज्य का निर्माण किया–वह भी निरन्तर उफनते, गरजते, चैतन्यशील पश्चिम सागर के वक्ष पर–एक दुहरे द्वीप पर! वे सदैव ही नव-निर्माण के प्रेमी थे। इसी भावना से उन्होंने पाण्डवों के राजनगर–इन्द्रप्रस्थ का निर्माण करवाया। प्रत्यक्ष रणभूमि पर किंकर्तव्यविमूढ़ हुए, सम्भ्रमित अर्जुन को उन्होंने जो अद्वितीय उपदेश दिया, वह भी नया ही था। क्या इसके पूर्व कभी किसी ने किसी को

इस प्रकार उपदेश दिया था? भविष्य में ऐसा कभी कोई दे भी पाएगा? वे नव-निर्माण के उद्गाता नहीं थे तो क्या थे? द्वारिका में रहकर उन्होंने अन्याय के कई केन्द्रों को जड़ से उखाड़ फेंका था। क्या मेरे भैया 'श्रीकृष्ण' नाम को सार्थक करनेवाले पहले पुरुषोत्तम नहीं थे? 'श्री' उपाधि के सभी भावों को क्या उन्होंने सार्थक कर नहीं दिखाया? 'कृष्ण' अर्थात् आकर्षित करनेवाले–अपने इस नाम को क्या उन्होंने सार्थक नहीं कर दिखाया?

मथुरा छोड़कर वे निश्चयपूर्वक द्वारिका आये। तभी उन्होंने बिना कुछ कहे ही मुझे यह अनमोल सीख दी थी कि अवसर आने पर कर्तव्यपूर्ति के लिए अपनी प्राणप्रिय जन्मभूमि को भी त्यागना पड़ता है। उनके जीवन की प्रत्येक घटना ने मुझे कोई-न-कोई जीवनदायी विचार अवश्य दिया।

द्वारिका में, लाखों यादवों सहित सुखपूर्वक रहते हुए भी विस्थापित पाण्डवों के सुख-दुःख की ओर उन्होंने हेतुपूर्वक ध्यान दिया। भारतीय महायुद्ध तो उनकी दिव्य प्रतिभा की पराकाष्ठा थी। चालीस लक्ष योद्धाओं की महाआहुति लेनेवाला यह महायज्ञ था। बिना कोई शस्त्र उठाये उन्होंने अठारह दिन तक महायुद्ध किया। उनके शस्त्र न उठाने से ही इस महायुद्ध को महायज्ञ का स्वरूप प्राप्त हुआ। इस महायज्ञ ने, आर्यावर्त की भावी पीढ़ियाँ जिनका प्रात: स्मरण करेंगी–ऐसी कई ऋचाओं की केवल रचना ही नहीं की, बल्कि उन्हें सार्थक भी कर दिखाया। प्रज्ञावान होते हुए भी क्या कोई आचार्य, कोई ऋषि-मुनि आकाश के सूर्य के तेज का पूर्णत: वर्णन कर पाया है?

क्या इस महायज्ञ ने यह शाश्वत जीवन-तत्त्व नहीं सिखाया कि मनुष्य को किस प्रकार असद् आचरण नहीं करना चाहिए? धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र पर अठारह दिनों तक उनका कराया गया महायुद्ध उनके जीवन का सर्वाधिक विराट् और थर्रा देनेवाला मोड़ था। उसी से तो वे 'युगन्धर' बने।

अपने भैया के जीवन की सभी गतिविधियों का जो अर्थ मैं जान पाया हूँ, यहाँ अपनी बुद्धि की क्षमता के अनुसार उसके बारे में कह सकूँगा। किन्तु मैं यह भी भली-भाँति जानता हूँ कि सब-कुछ कहने पर भी वह दशांगुल शेष ही रह जाएगा।...

मेरे भैया की हिमालय की पादभूमि–बदरी-केदार के परिसर में एक आश्रम स्थापित करने की हार्दिक इच्छा थी। उसकी पूर्व तैयारी के लिए मैं बदरी-केदार गया था–भारतीय युद्ध के आरम्भ से बहुत पहले ही! हिमालय में बदरी-केदार तीर्थ पर आश्रम-निर्माण के लिए मैंने एक योग्य स्थान चुना। आश्रम के लिए आवश्यक वस्तुएँ आसपास मिल सकती हैं कि नहीं, इसकी भी मैंने जाँच-पड़ताल की। वहाँ मैंने अपना रहा-सहा यादव-राजवेश भी गंगा में अर्पित कर दिया था। हिमालय की यात्रा से मुझे अनेक योगी, तपस्वी, मुनि, ऋषि मिले। मैंने उनमें से किसी को अपना गुरु नहीं बनाया। आचार्य सान्दीपनि से दीक्षित होने और पूरा जीवन भैया के सान्निध्य में बिताने के कारण किसी अन्य गुरु की आवश्यकता ही मुझे कभी प्रतीत नहीं हुई। किन्तु अब मैंने हेतुत: काषाय वस्त्र धारण किये थे–बिना किसी दिखावे के–बिना किसी आडम्बर के!

द्वारिका लौटते समय मार्ग में मिलते गये अनेक ऋषि-मुनियों से मुझे कुरुक्षेत्र का वृत्तान्त ज्ञात होता गया। तब द्वारिका की ओर जानेवाले मेरे पैर अपने-आप कुरुक्षेत्र की दिशा में मुड़ गये–अपने प्राणप्रिय भैया का कुशल जानने की एकमात्र इच्छा के कारण।

भारतीय युद्ध के अन्तिम चरण में मैं कुरुक्षेत्र पहुँचा। मेरी ही भाँति हिमालय से ही बलराम

भैया भी वहाँ पहुँचे थे।

दृषद्वती के तट पर श्रीकृष्ण भैया ने पाण्डव-वंश के अन्तिम–एकमात्र अंकुर को बचाने के लिए अपनी समस्त पुण्याई को दाँव पर लगाया था। उसके परिणामस्वरूप उत्तरा के गर्भ में पुन: चेतना हुई थी। पाण्डव-वंश नष्ट होने से बच गया था।

महायज्ञ की भाँति अठारह दिनों तक धधकते रहे महायुद्ध की परिसमाप्ति पर अब एक ही कार्य शेष था–कौरव-पाण्डव-सेनाओं के वीरगति को प्राप्त हुए योद्धाओं को तर्पण करने का कार्य। उसके लिए भैया के आमन्त्रित किये गये पाण्डव-पुरोहित धौम्य ऋषि अपने शिष्यगणों सहित धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में उपस्थित हुए थे। ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर को तर्पण-विधि का यह कार्य करना था। उसके पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हुए अपने आप्तों को तिलांजलि देने हेतु द्रौपदीदेवी सहित सभी पाण्डव-स्त्रियाँ और गान्धारीदेवी के अतिरिक्त अन्य कौरव-स्त्रियाँ कुरुक्षेत्र पर उपस्थित हुई थीं। उचित मुहूर्त में धौम्य ऋषि ने तर्पण-विधि का आरम्भ किया। प्रथम सभी पितरों को स्मरण करते हुए युधिष्ठिर ने उनको पिण्डदान किया। महायुद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए आचार्य द्रोण, धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु, घटोत्कच आदि प्रमुख योद्धाओं को पिण्डदान किया गया। तत्पश्चात् अन्य सभी के लिए समवेत पिण्डदान किया गया। वहाँ उपस्थित सभी स्त्री-पुरुषों ने तिलांजलियाँ अर्पित कीं। पितामह भीष्म अभी तक शरशैया पर ही पड़े हुए थे।

युधिष्ठिर ने आज गृहस्थ-वेश धारण किया था। उसने आज भैया के पीताम्बर जैसा कटिवस्त्र और नीलवर्ण उत्तरीय धारण किया हुआ था। उसकी शंखाकार गौरवर्णी ग्रीवा में यज्ञोपवीत लिपटा हुआ था। ललाट पर तिलक लगा हुआ था। कन्धे पर झूलते उसके विपुल, घने केश अब आधे से अधिक श्वेत हो चले थे। अन्य चारों पाण्डव अभी भी युद्धवेश में ही थे। भीम के कन्धे पर उसकी प्रचण्ड यशस्विनी गदा थी। अर्जुन के वृषस्कन्ध पर उसका पुष्पमण्डित अजेय गाण्डीव धनुष था। नकुल की कटि में उसका प्रिय खड्ग था और सहदेव के कन्धे पर उसका लम्बा, चिकना मूसल था। अग्निकुण्ड के एक ओर वृद्ध, श्रान्त, श्वेतवस्त्रा और शुभ्रकेशा बुआजी–राजमाता कुन्तीदेवी बैठी थीं। उनकी बायीं ओर द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा, चित्रांगदा, उलूपी, पौरवी, विजया, हिडिम्बा आदि पाण्डव-स्त्रियाँ बैठी थीं। मैं और भैया पुरोहित धौम्य ऋषि के निकट दर्भासन पर बैठे थे। सात्यकि युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए यादव-योद्धाओं के विधिवत् तर्पण के विषय में दूतों द्वारा अमात्य विपृथु को सन्देश भिजवाने के प्रबन्ध में लगा हुआ था।

जब सारे क्रिया-कर्म समाप्त हो गये तो युधिष्ठिर अग्निकुण्ड के पास से उठा। धौम्य ऋषि के संकेत के अनुसार वह मृत योद्धाओं को अन्तिम जलांजलि देने हेतु दृषद्वती की ओर चलने लगा। उसके हाथ में जलते नीराजन, अक्षत, गन्ध-कुंकुम और पुष्पों से सजी स्वर्णथाली थी। पहले उसे जलमाता दृषद्वती का पूजन करना था। अनेक वीरों के स्मरण से उसका मन भर आया था। धौम्य ऋषि ने उसको बताया था कि पहले वह लोकमाता दृषद्वती का पूजन करे। तत्पश्चात् अपने सगे-सम्बन्धी वीर योद्धाओं को ज्येष्ठता के अनुसार क्रमश: जलांजलि दे। उसके बाद अन्य सभी योद्धाओं को उनके विभाग-प्रमुखों के नाम का स्मरण करके एक-एक जलांजलि अर्पित कर दे।

उसी समय बुआ कुन्तीदेवी ने हस्त-संकेत से भैया को अपने निकट बुलवा लिया और उनके कान में कुछ कहा। भैया ने स्वीकारदर्शी सिर हिलाया और पुरोहित धौम्य ऋषि के कान में कुछ कहा। धौम्य ऋषि झट से अपने दर्भासन से उठे। दृषद्वती के पाट के समीप पहुँचे युधिष्ठिर को

रोकने हेतु ऊँचे स्वर में उन्होंने कहा, “हे पाण्डव, रुक जाओ।” सदैव की भाँति उन्होंने युधिष्ठिर को ‘ज्येष्ठ पाण्डव’ नहीं कहा। अत: मुझे शंका हुई कि तर्पण-विधि में कुछ त्रुटि रह गयी है, इसलिए बुआजी ने कुछ सूचना दी थी।...युधिष्ठिर वहीं रुक गया। उसके हाथों की स्वर्णथाली में, माथे पर आये सूर्यदेव को प्रकाश दिखाने का व्यर्थ प्रयास करनेवाले दो जलते नीराजन थे।

झपाके से उसके निकट जाते हुए धौम्य ऋषि ने कहा, “कृष्णदेव का सन्देश है कि तर्पण की पहली अँजुली अंगराज कर्ण के नाम से अर्पित की जाए! वे तुम सब पाण्डवों के ‘ज्येष्ठ’ भ्राता थे!”

भिन्न-भिन्न भावनाओं और विचारों के थपेड़ों से युधिष्ठिर खड़े-खड़े ही थरथराने लगा। उसके हाथ की तर्पण-विधि की स्वर्णथाली डगमगाने लगी। सम्भवत: उसे आभास हुआ हो कि उसके पैरों-तले से धरती खिसक रही है। जीवन-भर उसने सर्वत्र ‘ज्येष्ठ पाण्डव’ का सम्मान पाया था। उसी नाते वह इन्द्रप्रस्थ के सिंहासन पर भी आसीन हुआ था। द्यूत खेलकर अपने हठ के कारण उसने अपनी पत्नी और भ्राताओं को वनवास भोगने के लिए विवश किया था। ज्येष्ठत्व के अधिकार से वह उन्हें प्रतिदिन भाँति-भाँति के आदेश देता आया था।

युधिष्ठिर जलांजलि क्यों नहीं दे रहा है, यह देखने के लिए पहले भीम, अर्जुन और फिर नकुल-सहदेव तीव्रता से उसकी ओर बढ़े। भैया के पीछे-पीछे मैं भी गया।

अभी तक युधिष्ठिर सँभल नहीं पाया था। वह काँप ही रहा था। भीमसेन ने उससे पूछा, “क्या हुआ ज्येष्ठ?”

आँसू-भरी आँखों से भीमसेन की ओर देखते हुए भर्रायी वाणी में युधिष्ठिर ने उससे कहा, “आज से मुझे ज्येष्ठ मत कहो बन्धुवर भीमसेन, मैं ‘ज्येष्ठ’ नहीं था—नहीं हूँ!”

उसके निकट आकर अर्जुन ने प्रेम से कहा, “यह क्या कह रहे हो युधिष्ठिर? तुम ही तो हमारे ज्येष्ठ भ्राता हो। ऐसा न होता तो तर्पण-विधि का यह कार्य तुम कैसे करते? इन्द्रप्रस्थ के सिंहासन पर आसीन कैसे होते?”

“नहीं ऽ! मैं तुम्हारा ज्येष्ठ भ्राता नहीं हूँ। तुम्हारा-मेरा—हम सबका ज्येष्ठ भ्राता था वह दिग्विजयी, दानवीर, महारथी, अंगराज कर्ण—जिसे हम सबने बार-बार ‘सूतपुत्र’ कहकर ठुकराया था।”

“क्या ऽ?” भीम और अर्जुन आँखें विस्फारित कर एक-एक पग पीछे हट गये। युधिष्ठिर की भुजाएँ पकड़कर उसे झकझोरते हुए, व्याकुल स्वर में अर्जुन ने पूछा, “यह तुम क्या कह रहे हो युधिष्ठिर? युद्ध में हुई प्रचण्ड प्राणहानि से कहीं तुम भ्रान्तचित्त तो नहीं हो गये?”

भीम भी दृषद्वती की रेती में अपनी गदा का नुकीला अग्रभाग धँसाकर, कभी-कभी अत्यधिक क्रोध से बड़बड़ाया करता था; आज भी उसी प्रकार बड़बड़ाया—“युद्ध-समाप्ति के पश्चात् रात्रि में प्राशन किया हुआ मैरेयक मद्य का नशा सम्भवत: अभी उतरा नहीं है। हे ज्येष्ठ, तर्पण-विधि का कार्य पूरा करके अपने शिविर में जाकर विश्राम करो।”

“मैंने कहा न भीमसेन, मुझे ज्येष्ठ मत कहो! तुम्हारा-मेरा—हम सबका ज्येष्ठ था कर्ण! अब कृष्ण ही के आदेश से पहली जलांजलि मैं उसी को अर्पित करने जा रहा हूँ! मेरे बाद तुम सबको भी उसे जलांजलि देनी होगी!” युधिष्ठिर ने कहा।

अस्थिर-चित्त हुआ अर्जुन कुछ क्षण ऐसे स्तब्ध रहा, मानो उस पर वज्रपात हुआ हो। अगले

क्षण ही दौड़ता हुआ वह अग्निकुण्ड के पास बैठी माता कुन्तीदेवी के निकट पहुँचा। अठारह दिनों के भारतीय युद्ध में जिसकी प्रत्यंचा की टंकार करते हुए अर्जुन ने बड़े-बड़े महापराक्रमी योद्धाओं को यमसदन भेज दिया था, उसी दिव्य गाण्डीव धनुष को उसने कन्धे से खींचकर हाथ में ले लिया। पहले कभी न देखा गया उसका वह रूप देखकर भयभीत हुई बुआजी थरथराती हुई उठ खड़ी हुई।

"हे पापिणी ऽ तुमने मुझसे भ्रातृ-हत्या करवायी है!" चिल्लाते हुए अर्जुन ने अपने दिव्य गाण्डीव धनुष का पाश अपनी जन्मदात्री माता के गले में डाल दिया। अपने हाथों अपने ज्येष्ठ भ्राता के पुत्र सुदामन्, वृषसेन और उसका मानस-भ्राता शोण मारे गये हैं, इस प्रतीति से थर्रा उठा धनंजय अनाप-शनाप बकने लगा–"हे दुष्टेऽऽ, इस गाण्डीव धनुष से मैंने अपने ज्येष्ठ भ्राता का वध किया है। आज इसकी प्रत्यंचा का पाश तुम्हारे कण्ठ में कसकर, भ्रातृ-हत्या के कारण कलंकित हुआ मैं तुम्हें भी मार डालता हूँ।"

अर्जुन का वह निरंकुश भयावह रूप देखकर सभी भयभीत हो उठे। स्वर्गीय योद्धाओं को अन्तिम जलांजलि देने की यह धार्मिक विधि अब रक्तलांछित तो नहीं होगी, इस भय से मैं अवाक् हो गया। मैंने झपटकर अर्जुन के गाण्डीवधारी हाथ को थामते हुए कहा–"हे पाण्डव, रुक जाओ–सँभालो अपने-आप को!"

भैया ने शान्तिपूर्वक मेरे पीछे से आकर अपना आजानुबाहु अर्जुन की पीठ पर रखकर उसे प्रेम से तनिक थपथपाया। अच्छे-अच्छों को सीधे मार्ग पर लानेवाली अपनी वक्रोक्तिपूर्ण वाणी में उन्होंने अर्जुन से कहा, "साधु शिष्यवर! आज भी जिसकी चरणधूलि माथे से लगाने के योग्य मैं भी स्वयं को नहीं मानता, मेरी उसी पूजनीया बुआ का तुम वध करने निकले हो! हे सखा अर्जुन, उसका कहना सुने बिना ही तुम उस पर झपट पड़े हो! 'अभि' की मृत्यु से शोक-विह्वल हुई मेरी बहन–सुभद्रा को कैसे समझा पाओगे तुम? कैसे उसे सान्त्वना दोगे?"

उनके एक-एक शब्द के साथ, जिस प्रकार भाटे के समय समुद्र की लहरें पीछे हटने लगती हैं, उसी प्रकार अर्जुन के क्रोध का उद्रेक धीरे-धीरे कम होने लगा।

भैया उसे भाँति-भाँति से समझाने लगे–'कर्ण का जन्म कब, कैसे हुआ, बुआजी को उसे क्यों त्यागना पड़ा? कर्ण के स्थान पर यदि अर्जुन होता तो क्या अपनी माता को पहली ही भेंट में वह अपने चार भ्राताओं के प्राणों का दान दे देता? अथवा पहली ही भेंट में अपने गाण्डीव की प्रत्यंचा का पाश उनके कण्ठ में कसकर उनके प्राण ले लेता? तुमने और भीम ने बार-बार उसे सूतपुत्र कहकर लज्जित कर दिया था, उसी प्रकार यदि वह भी तुम्हें झिड़क देता तो!' भैया के दिये इस प्रकार के दृष्टान्तों से अर्जुन तनिक सँभल गया। उसने अपना श्रान्त मस्तक भैया के कन्धे पर रखा। उसकी आँखों से बहती अश्रुधारा को देखकर मैं भी प्रेम से उसकी पीठ पर हाथ फिराता रहा। उसकी आँखों से भैया के वक्ष पर झूलती वैजयन्तीमाला पर झरती आँसुओं की धारा अज्ञान से हुई भ्रातृ-हत्या से उत्पन्न व्यथा के कारण थी या कि क्रोध के वशीभूत होकर अपने द्वारा की गयी अपनी ही माता की अवमानना के कारण थी, यह कोई नहीं जान पाया। भैया के अतिरिक्त कोई उसे जान पाए, यह सम्भव भी नहीं था।

ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर द्वारा अर्पित की गयी तर्पण की पहली जलांजलि दृषद्वती के पाट और सूर्य-बिम्ब के बीच अचानक आ गये कृष्णवर्णी कारण्डव पक्षियों के झुण्ड के कारण सूर्य-बिम्ब

तक पहुँच पायी कि नहीं, यह भी केवल भैया ही जान सकते थे।

डबडबायी आँखों के कारण दिखाई न देनेवाले सूर्य-बिम्ब को तर्पण की अँजुली अर्पित करते हुए युधिष्ठिर बुदबुदा रहा था–'ॐ भूर्भुव: स्व: तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो न: प्रचोदयात्...'

मैंने और भैया ने बुआ कुन्तीदेवी की चरणधूलि को माथे से लगाया। दृषद्वती में तर्पणांजलि अर्पित करके लौट हुए अर्जुन को सँभालते हुए हम गरुड़ध्वज रथ की ओर ले गये।

दृषद्वती के तट से हम सीधे पाण्डव-स्त्रियों के शिविर-संकुल में आये। हमारे वहाँ पहुँचते ही सबसे पहले सिसकती हुई सुभद्रा दौड़ी-दौड़ी हमारे पास आयी। उसको सँभालने के लिए उसके पीछे-पीछे द्रौपदी भी आयी। वस्तुत: पाँचों पुत्रों को गँवा बैठी द्रौपदी का दु:ख पाण्डव-स्त्रियों में सबसे अधिक था। जीवन में एक के बाद एक आये संकटों की कसौटी पर वह खरी उतरी थी। सबसे पहले उसने ही अपने-आप को सँभाला था।

"भैया ऽ! कहाँ गया मेरा अभि...एक बार तो उसका दर्शन करा दो मुझे!" कहती हुई भैया के गले लगकर सुभद्रा बिलखने लगी। भैया की लम्बी-लम्बी नीलवर्णी अँगुलियाँ मौन ममता से उसकी पीठ पर घूमती रहीं। मानो वे मौन रहकर ही उससे कह रही थीं–'सुभद्रे...प्रिय बहन, शान्त हो जा...मैं जो कह रहा हूँ, उसे शान्तिपूर्वक सुन ले।'

अत्यन्त शान्त, स्थिर स्वर में उन्होंने कहा, "सुभद्रे, हमारा अभि कीर्तिशिखिर पर पहुँच चुका है। इस महायुद्ध में सबसे छोटा होते हुए भी सबसे अधिक पराक्रम केवल उसी ने किया है। केवल पाण्डवों के कुरुवंश का ही नहीं, बल्कि हमारे यादव-वंश का भी नाम उसने अमर कर दिया है। आँसू मत बहा, उस पर गर्व कर।" उनके शब्दों में, और विशेषत: उनके अलौकिक स्पर्श में इतनी सामर्थ्य थी कि सिसक-सिसककर रोनेवाली सुभद्रा शीघ्र ही शान्त हो गयी। मैंने भी उसके कन्धे पर हाथ रखकर उसे तनिक थपथपाया और भैया के शब्दों को जैसे दोहराते हुए कहा, "बहन सुभद्रा, तुम वीरमाता हो, इस पर मुझे बड़ा गर्व है–और आर्यों की भावी पीढ़ियों को भी तुम पर गर्व होगा। अब तो तुम शान्त हो गयी हो–इडादेवी का स्मरण करके अब अपने मन को भी निर्लिप्त कर लो।"

मेरी सबसे अधिक उत्सुकता तो यह थी कि भैया अब हमारी प्रिय बुआजी से क्या कहेंगे! वे तो मूर्तिवत् शान्त चित्त होकर आसन पर बैठी थीं। भैया उनके चरणस्पर्श करके उनके चरणों में बैठ गये। मैं भी बुआजी के चरणस्पर्श कर, वहीं आस्तरण पर बैठ गया।

कुछ क्षण गहरी नीरवता में व्यतीत हुए। सब चुपचाप बैठे थे। हम सब प्रतीक्षा कर रहे थे कि द्वारिकाधीश कुछ बोलेंगे और वे प्रतीक्षा कर रहे थे कि बुआजी कुछ कहेंगी! अपने ज्येष्ठ पुत्र को उन्होंने खो अवश्य दिया था, किन्तु वे शान्त थीं। अन्तत: पूरे वातावरण में परिवर्तन लानेवाली भैया की मधुर वाणी मुखरित हुई।

प्रेमपूर्वक दोनों हाथ जोड़कर भैया ने कहा, "मुझे क्षमा कीजिए बुआजी! मुझे उसी के स्थान पर मानकर क्षमा कीजिए!" हममें से कोई भी उनके कहने का अभिप्राय जान नहीं पाया। सम्भवत: बुआजी उनका तात्पर्य जान गयी हों। उन्होंने कहा, "तुम क्यों क्षमा माँग रहे हो? क्या तुम्हें क्षमा करने की मेरी योग्यता है? तुमने तो कोई भूल नहीं की।"

हम सबको–कम-से-कम मुझे–तो यही लगा कि युद्ध में अर्जुन के हाथों कर्ण का वध करवाने

के लिए ही वह बुआजी से क्षमा माँग रहे हैं।

बुआजी सहित हम सबका सम्भ्रम दूर करने हेतु उन्होंने कहा, "मेरा प्रिय सखा अर्जुन अपने पुत्र-धर्म को भूलकर, अज्ञानवश मेरे समक्ष आप पर झपट पड़ा, इसलिए मैं आपसे क्षमा माँग रहा हूँ! आपका ज्येष्ठ पुत्र कर्ण तो हमारे अभि से भी अधिक ऊँचे स्थान पर पहुँच चुका है। आप दोनों अर्थों में धन्य हैं—माता और महामाता के रूप में भी!"

बुआजी अपने आसन से उठीं। 'मेरे कृष्णऽ' कहते हुए दोनों बाँहें फैलाकर उन्होंने अपने भतीजे को आलिंगन में ले लिया।

द्वारिका से लौटे सात्यकि को भैया ने पाण्डव-स्त्रियों को कुरुक्षेत्र से सुरक्षित हस्तिनापुर भिजवाने की आज्ञा दी। पाण्डवों सहित उनकी स्त्रियों ने हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान किया। कृतवर्मा तो कब का द्वारिका चला गया था। भीम द्वारा मांसल मणि निकाली जाने के कारण माथे पर अपने रिसते हुए घाव को लेकर अश्वत्थामा किस अरण्य में चला गया, यह किसी को पता भी नहीं चला।

अन्त में गरुड़ध्वज रथ में बैठकर हम चारों ने उजाड़ कुरुक्षेत्र को पीछे छोड़ दिया—दारुक, सात्यकि, मैं और मेरे भैया—यादवराज श्रीकृष्ण। हम हस्तिनापुर की ओर अग्रसर होने लगे। राजनगर हस्तिनापुर की सीमा पर वृकस्थल के पास भैया के एक भक्त के आवास में हमने निवास किया। हम चारों द्वारिका के यादव थे। कुरुओं में से कोई भी हस्तिनापुर नहीं लौटा था।

दूसरे दिन सूर्योदय के साथ हमने गरुड़ध्वज सहित हस्तिनापुर की सीमा में प्रवेश किया। भैया जब सन्धि का प्रस्ताव लेकर यहाँ आये थे, हस्तिनापुर के नगरवासियों ने हर्षोत्फुल्ल होकर उनका स्वागत किया था। किन्तु इस समय हस्तिनापुर के मार्ग सुनसान थे। हस्तिनापुर के प्रत्येक घर में से कोई-न-कोई कुरुक्षेत्र में वीरगति को प्राप्त हुआ था। पीछे रह गये थे केवल वृद्ध, स्त्रियाँ और बालक—वे भी बैठे थे बन्द द्वारों के पीछे, दुःख में डूबे हुए।

हम महात्मा विदुर के निवास के आगे आ गये। कोई अग्रसूचना मिले बिना ही महात्मा विदुर हाथ जोड़कर भैया के स्वागत के लिए खड़े थे। वे शीघ्रता से गरुड़ध्वज के समीप आये। भैया ने उनसे कहा, "सखा विदुर, आप भी रथ में बैठिए। हमें कुरु-महाराज से मिलना है। आप उनके महामन्त्री हैं।"

"जो आज्ञा द्वारिकाधीश"—कहकर विदुर रथ पर चढ़े।

भैया का उनको 'सखा' कहना मेरे मन को गहरे छू गया। क्योंकि इस समय रथ में उपस्थित हम चारों—दारुक, सात्यकि, विदुर और मैं—उनके सखा थे।

हम कुरुओं के ललछौंहे पाषाणोंवाले राजप्रासाद के पास आये। भैया के कहने के अनुसार वहाँ पहले ही पहुँच गये पाण्डव प्रासाद के प्रांगण में खड़े थे। भैया को देखते ही वे आगे बढ़े। महामन्त्री विदुर के कन्धे पर हाथ रखते हुए भैया ने उनसे कान में कुछ कहा।

पाण्डवों सहित द्वारिकाधीश के आगमन की सूचना महाराज धृतराष्ट्र को देने के लिए स्वयं विदुर उनके कक्ष की ओर चले गये। उनके जाते ही भैया ने पाण्डवों को अपने समीप बुलाकर मेरे समक्ष निर्देश दिया—"मेरे प्रिय भ्राताओ, तुम्हें दूर से ही प्रणाम कर अपने काका के दर्शन करने हैं—उनके निकट नहीं जाना है। भीमसेन! विशेषत: तुम्हें सबसे अलग—दूर रहना है। अपने सौ पुत्रों

की मृत्यु से विह्वल होकर वे यदि शाप भी देंगे तो शान्तिपूर्वक उसे सुन लेना है।”

पाण्डवों ने भैया के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म निर्देशों को ध्यानपूर्वक सुना। सबको अपने साथ लेकर भैया कौरवों के शस्त्रागार की ओर चलने लगे। शस्त्रागार के आगे खुले प्रांगण के पूर्व में कौरवों का मल्लविद्या के अभ्यास का अखाड़ा था। पश्चिम दिशा में एकमात्र लौहमूर्ति खड़ी थी–गदाधारी भीम की साक्षात् प्रतिकृति! भैया हम सबको लेकर सीधे उस मूर्ति के आगे खड़े हुए।

भीमसेन अपने कुतूहल को रोक नहीं पाया। उसने पूछा, “कौरवों के शस्त्रागार के प्रांगण में मेरी लौहमूर्ति कैसे? किसने बनवायी है यह श्रीकृष्ण?”

मुस्कराकर उसकी ओर देखते हुए भैया ने कहा, “कोई भी भ्रान्त धारणा मत बनाओ कौन्तेय! तुम्हारी पूजा करने हेतु अथवा तुम पर पुष्प चढ़ाने हेतु यह लौहमूर्ति नहीं बनवायी गयी है। स्वयं दुर्योधन ने अपने कुशल लोहारों द्वारा इसे तुम्हारे आकार के साँचे में ढालकर गढ़ लिया था–गदायुद्ध के प्रतिदिन के अभ्यास के लिए। अपने दु:शासन दुर्मुख, दुर्धर्ष आदि भ्राताओं सहित दुर्योधन यहाँ नित्य घण्टों गदायुद्ध का अभ्यास किया करता था। जब-जब उसे अपने प्रतिस्पर्धी पर प्राणघातक प्रहार करने का अवसर प्राप्त होता था, भूल करनेवाले अपने भ्राता पर हलका सा गदा-प्रहार कर वह उसे छोड़ देता था और रोष से ‘भीऽमसेऽन’ चिल्लाता हुआ वह उसी प्रकार तुम्हारी इस मूर्ति पर प्रहार किया करता था। निकट जाकर देखो। उस मूर्ति पर तुम्हें स्थान-स्थान पर गदा-प्रहारों के चिह्न दिखाई देंगे।”

भीमसेन तो सुन ही रहा था। अन्य पाण्डव भी चकित होकर सुन रहे थे।

उसी समय ‘आइए-आइए–महाराज, इधर से–इधर से’ कहते हुए महाराज धृतराष्ट्र का हाथ थामकर महामन्त्री विदुर शस्त्रागार के प्रांगण में प्रविष्ट हुए। भैया के संकेत पर हम सब हटकर चारों ओर फैल गये। केवल भैया ही भीमसेन की लौहमूर्ति के सम्मुख खड़े रहे। हाथ थामकर वहाँ लाये अन्धे कुरु-महाराज से महामन्त्री विदुर ने कहा, “कुरुक्षेत्र से लौटे द्वारिकाधीश आपके चरणस्पर्श कर रहे हैं, महाराज!” भैया ने झट से आगे बढ़कर वीरासन में बैठते हुए महाराज के चरणस्पर्श किये। उस कुशल राजनीतिज्ञ अन्धे महाराज ने बोली पहचानने के लिए पूछा–“कौऽन?”। बैठे-बैठे ही भैया ने कहा, “मैं द्वारिका के वसुदेव-देवकी का पुत्र कृष्ण हूँ, महाराज!” धूर्त महाराज ने भैया के मुकुट को टटोलकर उसमें मोरपंख लगा है, यह देख लिया। फिर अपनी आदत के अनुसार मन की बात छिपाते हुए उन्होंने बनावटी बात की–“श्रीकृष्ण? तुम्हारा कोई दोष नहीं है। तुम तो नि:शस्त्र थे–सारथि थे! हे श्रीकृष्ण, मेरे सौ पुत्र एक बार मुझसे मिलकर गये और फिर लौटकर नहीं आये। इसीलिए तुम मुझे सान्त्वना देने आये हो, यह मैं जानता हूँ। किन्तु क्या यादव और क्या कुरु, हम तो ठहरे क्षत्रिय! रणभूमि में हुए संहार के लिए क्षत्रिय कभी खेद अथवा शोक नहीं करते। जो कुछ होता है, उसे वे रणदेवी के चरणों में अर्पित कर देते हैं–मैंने भी वही किया, तुम भी वही करते होगे!” वह धूर्त राजा भैया के मन को टटोलने के लिए क्षण-भर रुक गया।

भैया ने भी उनके भ्रम को बनाये रखा और कह दिया–“मैं आपको सान्त्वना देने ही आया हूँ महाराज! पहले राजमाता गान्धारीदेवी के दर्शन करना आवश्यक था। किन्तु सौ पुत्रों के वियोग से आप कितने व्याकुल हैं, यह मैं जानता हूँ; इसीलिए पहले आपके पास आया हूँ। वैसे भी आप इस प्राचीन सिंहासन के स्वामी हैं, यह सोचकर भी मुझे प्रथम आपका ही दर्शन करना उचित लगा। हे

महाराज, अब आप शान्तचित्त हो जाइए।"

"मैं स्थिरचित्त ही हूँ! हस्तिनापुर के सिंहासन पर मेरे प्रिय भ्राता सम्राट् पाण्डु के पुत्र आसीन हों अथवा मेरे पुत्र हों—एक ही बात है। मैं मानता हूँ कि युद्ध के साथ-साथ शत्रुता भी समाप्त हो गयी। पाण्डवों से मिलने के लिए—विशेषत: भीमसेन को वक्ष से लगाने के लिए मैं कब से तड़प रहा हूँ। पिता होने के नाते मूढ़ दुर्योधन और अपने अन्य पुत्रों की मृत्यु का मुझे दुःख हुआ है, यह सत्य है; किन्तु मैंने उसे गंगार्पण कर दिया है। मरणान्तानि वैराणि—यही तो हमें ऋषि-मुनियों ने सिखाया है।

"प्रिय पुत्र श्रीकृष्ण, तुम अकेले ही आये हो? विदुर ने तो कहा था कि तुम्हारे साथ मेरे प्रिय पाण्डव भी आये हैं। कहाँ हैं वे? मेरा प्रिय भीमसेन कहाँ है?" महाराज धृतराष्ट्र ने पूछा।

भैया चपलता से भीमसेन की लौहमूर्ति के पीछे चले गये। वहीं से उन्होंने कहा, "हे महाराज, आपसे अभयदान मिलते ही उसका भय दूर हुआ है। वह चुपचाप आपके सम्मुख ही खड़ा है। आप उसे अपने ममतामय आलिंगन में ले लीजिए। आपका आशीर्वाद पाने के लिए वह लालायित है।"

यह सुनते ही महाराज धृतराष्ट्र ने झट से विदुर का हाथ छोड़ दिया। उन्होंने अपनी पुष्ट भुजाएँ फैलाकर खनखनाते स्पष्ट शब्दों में कहा, "आओऽ प्रिय भीमसेऽन! पुत्र, मुझे दृढ़ आलिंगन दो!" आँखें विस्फारित करते हुए हम ऐसा नाटक चुपचाप देखते रहे, जो हस्तिनापुर में पहले कभी घटित नहीं हुआ था।

सौ पुत्रों के वध से शोक-व्याकुल हुए उस वृद्ध पिता ने भीमसेन समझकर उसकी लौहमूर्ति को अपने आलिंगन में इस प्रकार कस लिया कि उस मूर्ति की भुजा जोड़ से टूटकर नीचे गिर पड़ी। उसकी खनखनाहट से भीमसेन के हाथ से गदा छूटकर गिर गयी है, इस भ्रम में उस व्याकुल पिता ने उस लौहमूर्ति को पुन: अपने आलिंगन में इतनी दृढ़ता से कस लिया कि उसकी दूसरी भुजा भी टूट गयी। 'भीऽमसेऽन—पुत्र भीऽमसेन' कहते हुए उस वृद्ध शोकमग्न पिता द्वारा बार-बार कसकर दबाने के कारण लौहमूर्ति के कटि के ऊपर के भाग के टुकड़े-टुकड़े होकर खनखनाते हुए भूमि पर गिर पड़े।

लौहमूर्ति के टुकड़े करते-करते उस वृद्ध कुरु की देह भी लहूलुहान हो गयी अपने ही रक्त का उष्ण-स्पर्श होने पर कुछ सँभलकर उसकी चेतना जागी। शुभ्र-धवल दाढ़ी-मूँछोंवाला अपना मुख हथेली में छिपाकर नीचे बैठते हुए वह वृद्ध पिता विचित्र-सी ध्वनि करते हुए चिल्लाया—"मेरे सौ पुत्रो, तुम्हारा वध करनेवाले उस क्रूर भीम के मैंने टुकड़े-टुकड़े कर दिये हैं! आकर देख लो उनको—कहाँ हो तुम मेरे पुत्रो!"

अपने अन्ध भ्राता की पीठ पर अपना प्रेमल हाथ रखकर महात्मा विदुर ने प्रथम उसे थपथपाया। फिर अपने हाथ का आधार देते हुए उसे अपने कक्ष की ओर ले जाने लगे। उसके लौटते चरणों को हस्त-स्पर्श कर पाँचों पाण्डव उसे मौन वन्दन करने लगे—उनमें भीमसेन भी था।

पाँचों पाण्डवों सहित मैं भैया के समीप आया। सात्यकि भी मेरे निकट ही था। केवल दारुक बाहर गरुड़ध्वज में ही बैठा था।

भूमि पर पड़े भीमसेन की लौहमूर्ति के एक टुकड़े को मैंने उठाया। उस पर रक्त की कुछ बूँदें थीं। एक दुःखी पिता के रक्त की बूँदें थीं वे। लौह के उन टुकड़ों की ओर देखते हुए मैंने कहा, "भारतीय महायुद्ध के अठारह दिनों में एक-एक महान योद्धा का वध करवाते समय आपने जो

बुद्धि-कौशल दिखाया है, उसके बारे में मैंने सात्यकि के मुख से सुना है। किन्तु आज आपकी बुद्धिमत्ता के अत्युच्च अध्याय को तो मैंने प्रत्यक्ष देखा है। यदि आप न होते तो आज क्या स्थिति होती महाबली भीमसेन की? भैया, एक बार मैं आपके मुख से सुनना चाहता हूँ कि सचमुच आप हैं कौन?"

मेरी ओर देखकर वे धीरे-से मुस्कराये।

उस रात्रि हम सबने महात्मा विदुर के भवन में निवास किया।

विदुरपत्नी पारसवीदेवी पाकगृह में अपने सेवक-सेविकाओं सहित हमारे लिए भोजन बनवाने में जुट गयीं। हम सब बैठक-कक्ष में बैठे थे। कक्ष के मध्यस्थान पर रखे स्वर्णिम आसन पर भैया बैठ गये। विदुर उनके सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े हुए। पाण्डव, कुन्ती बुआ और द्रौपदी सहित अन्य स्त्रियाँ विश्राम करने हेतु विश्राम-कक्ष में चले गये थे।

भैया ने विदुर से कहा, "सखा विदुर, कई वर्ष आपने कुरुओं के महामन्त्री-पद का निर्वाह किया है। बड़ी निष्ठा से आपने अपना दायित्व निभाया है। इसके आगे भी आपको पाण्डवों के लिए यही कार्य करना है। सर्वप्रथम युधिष्ठिर के राज्याभिषेक की तैयारी करवा लीजिए। अभी पितामह भीष्म देह-त्याग करने के लिए कुरुक्षेत्र में उत्तरायण की प्रतीक्षा कर रहे हैं। उनके देह-त्याग करते ही मुझे–द्वारिका–सूचना भिजवाइए।"

महामन्त्री विदुर ने तनिक झुककर आदरपूर्वक कहा, "जो आज्ञा द्वारिकाधीश! मुझको सौंपे कार्य में तनिक भी त्रुटि नहीं रहेगी।"

"युधिष्ठिर को दो दिन विश्राम करने दीजिए, उसके बाद उसे पुन: कुरुक्षेत्र भेज दीजिए। पितामह उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। वे केवल युधिष्ठिर से एकान्त में कुछ बात करना चाहते हैं।" भैया ने कहा।

यह सुनकर मुझे तीव्रता से आभास हुआ कि जब कर्ण पितामह से मिलने गया था, तब भी पितामह ने अन्य सभी को वहाँ से दूर जाने को कहा था। सम्भवत: कर्ण के बाद ज्येष्ठ पाण्डव के नाते युधिष्ठिर से वे एकान्त में कुछ कहना चाहते थे। बहुधा वे उसे एकान्त में धर्म, राजनीति, युद्धनीति, राजकर्तव्य आदि के विषय में अपने अनुभवों का सार बताते थे। सम्भवत: आज भी वे वैसा ही कुछ बतानेवाले हों। सभी पाण्डव पितामह के दर्शन करने के बाद ही कुरुक्षेत्र से निकले थे। विशेषत: राजमाता कुन्तीदेवी, द्रौपदी आदि सभी पाण्डव-स्त्रियाँ जब उनके दर्शन करने गयी थी, पितामह ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही थी। अर्जुन ने ही मुझे बताया था कि पितामह ने हमारी बुआजी से कहा था–"हस्तिनापुर के सिंहासन पर युधिष्ठिर का राज्याभिषेक होने के बाद महाराज धृतराष्ट्र और महाराज्ञी गान्धारी क्षण-भर भी हस्तिनापुर में नहीं रुकेंगे। वे निश्चित ही वानप्रस्थ चले जाएँगे। तुम भी उनके साथ चली जाना। युद्ध में जो होना था, वह हो गया। अब तुम अपने जेठ-जेठानी का साथ मत छोड़ो। उस एकाकी दम्पती को वन में भी आधार दो।"

विशेष बात यह थी कि बुआ कुन्तीदेवी ने पितामह के चरणों पर मस्तक रखकर उनके निर्देश को स्वीकार किया था।

यह सुनते ही मेरे मन में यह उजागर हो गया कि मेरे भैया बुआ कुन्तीदेवी का इतना आदर क्यों करते हैं! क्या कुरु और क्या यादव–हममें कुछ स्त्री-पुरुष ऐसे थे, जिनको जानना बहुत दुष्कर था। भैया को तो मैं अब तक तनिक भी नहीं जान पाया था। मुझे एक ही बात की प्रसन्नता

थी कि उन्होंने निस्सन्देह मुझे अपना परमसखा माना था और बहुतों से बातें करते समय उन्होंने अपने भावविश्वस्त के रूप में मेरा उल्लेख भी किया था।

भोजन का समय होते ही महात्मा विदुर हम सबको बुलाने आये। हाथ जोड़कर उन्होंने भैया से कहा, "हे द्वारिकाधीश, सबके साथ भोजन के लिए चलने की कृपा करें।"

मुस्कराते हुए भैया ने विदुर को टटोला, "क्या बनाया है भोजन में विदुर?"

"आर्य, भोजन को यज्ञकर्म मानकर सादा-सा ही भोजन बनाया है! पारसवी ने बिना बताये ही लौन और छाछ डालकर आप की प्रिय चावल की कनी पकायी।" विदुर बोले।

विदुर के पास जाकर उनके कन्धे पर हाथ रखते हुए भैया ने कहा, "विदुर, आज कनी खाने को मन नहीं कर रहा। देवी पारसवी से कहिए–क्षमा करें, मैं आज केवल दुग्धपान करूँगा–यज्ञकर्म समझकर!"

यह मेरी परीक्षा की घड़ी थी। भैया के भोजन करना अस्वीकार करने पर 'जैसी आपकी इच्छा' कहकर विदुर ने भैया को प्रणाम किया और प्रेमपूर्वक मेरा हाथ थामकर कहा, "आप आइए उद्धवदेव।"

मैंने भी उनके हाथ को प्रेम से थपथपाते हुए कहा, "मैं भी दुग्धपान करना ही पसन्द करूँगा।"

मैं और भैया बैठक-कक्ष में ही बैठे रहे। विदुर दारुक और सात्यकि को लेकर भोजन-कक्ष की ओर चले गये। कुछ ही देर में सेवक ने राजसारथि संजय के आने की सूचना दी।

थोड़ी देर बाद कुरुओं के राजसारथि संजय हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए भैया के आगे खड़े हुए। वे भी भैया के सखा ही थे। आगे जाकर प्रेमपूर्वक उनके दोनों हाथ अपनी हथेली में लेते हुए भैया ने कहा, "प्रिय संजय, कल हम द्वारिका की ओर प्रस्थान करेंगे। राजमाता गान्धारीदेवी को अग्रिम सूचना दो कि हम कल प्रातःकाल उनके दर्शन करने आ रहे हैं। कल उनके यहाँ ही हमारी भेंट होगी। अब कुछ फलाहार और दुग्ध ग्रहण करो।"

"जो आज्ञा द्वारिकाधीश" कहकर फलाहार और दुग्ध ग्रहण करके, भैया के चरण छूकर संजय चला गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल के नित्यकर्मों से निवृत्त होते हुए महात्मा विदुर से ही मुझे पता चला कि रात्रि में भैया ने भोजन नहीं किया था, इसलिए महात्मा विदुर और हमारे सारथि दारुक ने भी केवल दुग्धपान ही किया था। अकेले महारथी सात्यकि ने भरपेट भोजन किया था।

प्रातःकाल के सूर्यदव को अपने भाँति-भाँति के कलरवों से अर्घ्यदान देते हुए विविध पक्षी आकाश में उड़ान भरने लगे। वे सब जीवन के नये दिन का अर्थ ढूँढ़ने के लिए वन में चले गये। तत्पर दारुक ने भैया का प्रिय सुसज्ज गरुड़ध्वज रथ विदुर के भवन के आगे खड़ा कर दिया। स्वच्छ खरहरा किये हुए हमारे प्रिय शुभ्र-धवल अश्व–शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक–उसमें जुते थे। दारुक रथनीड़ पर आरूढ़ हुआ। हमारे पीछे पाँचों पाण्डवों के रथ थे। भैया ने सदैव की भाँति गरुड़ध्वज की सीढ़ी को अँगुलियों से स्पर्श कर अपने मस्तक से लगाया और एक ही छलाँग में वे रथारूढ़ हो गये। उनका अनुसरण करते हुए एक ओर से मैं और सात्यकि और दूसरी ओर से कुरु-महामन्त्री विदुर रथ पर चढ़े। दारुक ने पीछे मुड़कर एक बार देख लिया कि हम सब

रथारूढ़ हुए हैं। गरुड़ध्वज के पताकादण्ड पर लगी यादवों की राजध्वजा गंगा पर से आती प्रातःकाल की पवन से मन्द-मन्द लहराने लगी। उस पर अंकित यादवों का मानचिह्न–पंख फैलाकर उड़ान भरनेवाला सुनहरा गरुड़ भी फहराने लगा।...अब गरुड़ध्वज कौरवों के उस प्राचीन राजप्रासाद की ओर निकलने ही वाला था कि काँव-काँव करता काक-पक्षियों का एक झुण्ड हमारे रथ के ऊपर होकर उड़ गया। उनमें से कुछ पक्षियों की श्वेत-श्याम बीट हमारे शुभ्र-धवल चारों अश्वों की पीठ पर भी गिरी। एक पक्षी की बीट तो हमारे मानचिह्न-स्वर्णिम पक्षिराज गरुड़ के फैलाये दोनों पंखों पर पड़ी। उस ओर किसी का ध्यान ही नहीं था। मेरे समीप ही बैठे भैया आँखें बन्द कर बुदबुदाये–'इडादेवी पुनातु माम्' गरुड़ध्वज के रथचक्र घरघराते हुए घूमने लगे।

हमारा कुशल सारथि दारुक आनन-फानन में ही हमारे रथ को कुरुओं के राजप्रासाद के भव्य महाद्वार के ऊपर स्थित पूर्णचन्द्र की स्वर्ण-प्रतिमा के नीचे से प्रांगण में ले आया। रथ को उसने राजमाता गान्धारीदेवी के व्यक्तिगत कक्ष के आगे लाकर खड़ा कर दिया। एक ओर से मैं और सात्यकि और दूसरी ओर से महामन्त्री विदुर गरुड़ध्वज से नीचे उतरे। सबके बाद भैया ने अपना नीलवर्णी चक्रवर्ती चरण राजप्रासाद की भूमि पर रखा। उनका झलमलाता पीताम्बर सूर्य-किरणों में और अधिक झलमलाया। उनके किरीट में लगा मोरपंख चमक उठा। दारुक रथनीड़ पर ही था। सबके उतरते ही उसे रथ को अतिथियों की अश्वशाला में ले जाना था।

विदुर के पीछे-पीछे हम सब चलने लगे। तभी गंगा की ओर से उड़ती हुई टिटिहरी की कर्कश, कर्णभेदक लम्बी-सी टीऽऽट्यूऽऽ सबको सुनाई दी। मस्तक के ऊपर फैले सुनील नभ की ओर देखते हुए भैया ने अपने नेत्र बन्द किये। उनकी लम्बी-लम्बी अँगुलियाँ धीरे-से वक्ष पर झूलती प्रफुल्लित वैजयन्तीमाला पर घूमीं। गुलाबी होंठों से अस्फुट शब्द निकले–'देवी इडा पुनातु मामू! गंगामाता पुनातु मामू!'

राजमाता के निवास-कक्ष की ओर जानेवाले वृत्ताकार मोड़ों को पैदल ही पार करके हम उस कक्ष के आगे पहुँचे। राजसारथि-कृष्णसखा संजय वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने भैया की अगवानी की और ममतापूर्वक उनका दाहिना हाथ थामकर वे उनको राजमाता से मिलाने अन्तःपुर की ओर ले जाने लगे। भैया के बायीं ओर विदुर तथा दायीं ओर मैं और सात्यकि थे। हमारे पीछे पाँचों पाण्डव थे। संजय द्वारा भैया के आगमन की अग्रिम-सूचना पाकर राजमाता की भिजवायी सेविकाओं ने भैया का स्वागत करते हुए नम्रतापूर्वक कहा, "कौरव राजमाता गान्धारीदेवी की ओर से द्वारिकाधीश का स्वागत है। आइए यादवश्रेष्ठ, राजमाता आपकी प्रतीक्षा ही कर रही हैं।" पीछे मुड़कर वे चलने लगीं। उनके पीछे-पीछे संजय सहित हमारा कृष्ण-जत्था भी चल दिया।

अन्तःपुर में एक चिकने सीसम के मंचक पर राजमाता बैठी थीं। मंचक के पैताने बिछे आस्तरण पर कुछ कुरु-स्त्रियाँ बैठी थीं। उनमें दुर्योधनपत्नी भानुमतीदेवी, दुर्योधन की बहन और जयद्रथ की पत्नी दुःशालादेवी, गुरुपत्नी कृपीदेवी आदि थीं। राजमाता सहित सभी ने श्वेत वस्त्र धारण किये हुए थे। वहाँ नहीं थी केवल कर्णपत्नी वृषालीदेवी। वे तो कुरुक्षेत्र में अपने पति की चिता पर सती हो गयी थीं।

भैया को और हम सबको आते देख राजमाता को छोड़कर अन्य सभी स्त्रियाँ आँचल में मुख ढँककर स्वाभाविक आदर से खड़ी हो गयीं। कुछ स्पष्ट कुछ अस्पष्ट-सी सिसकियाँ भी सुनाई दीं।

केवल आँखों पर शुभ्र वस्त्र-पट्टी बाँधे हुए राजमाता गान्धारीदेवी मंचक पर निश्चल बैठी रहीं–शान्त-स्वस्थ चित्त-स्फटिक की मूर्ति जैसी! उनको देखते ही भैया के चक्रवर्ती चरण भी तनिक डगमगाये। आज तीसरी बार उनके मुख से अस्फुट शब्द निकले–'इडादेवीऽ'–झट से वे अग्रसर हुए। घुटने टेककर राजमाता के मंचक से नीचे लटकते, झुर्रियाँ पड़े हुए गौरवर्णी चरणों पर उन्होंने अपना माथा टेका और कहा, "हे राजमाता, मैं–वसुदेव-देवकीपुत्र–श्रीकृष्ण आपको प्रणाम करता हूँ–आपके आशीर्वाद की याचना करता हूँ।"

कक्ष में किसी ने भी सोचा नहीं था कि भैया इस प्रकार कौरव-माता गान्धारीदेवी के आगे प्रस्तुत होंगे! स्वयं गान्धारीदेवी भी क्षण-भर के लिए हड़बड़ा गयीं।

दूसरे ही क्षण उन्होंने अपने चरण ऊपर खींच लिये। सौ पुत्रों के वियोग से व्याकुल वह राज-स्त्री पहली बार सिसक पड़ी! भैया के हाथों का स्पर्श भी न हो, इसलिए उन्होंने जीवन में पहली बार मंचक पर आलथी-पालथी लगा ली।

मैं तो उस दृश्य को देखकर सिटपिटा ही गया। असहनीयता, विषण्णता और क्रोध से मेरे पूरे शरीर के रोएँ खड़े हो गये। पाण्डवों सहित भैया के सभी सखाओं की भी यही स्थिति थी। दबाये रखी गयी विचित्र-सी भाव-भावनाओं की अधिकता से कक्ष भर गया। जीवन-भर अपने वक्तव्यों से सभी को मन्त्रमुग्ध कर देनेवाले भैया जहाँ अवाक् हुए थे, वहाँ कोई और क्या कह सकता था!

बहुत देर तक फूट-फूटकर रोती रही राजमाता पर ही सभी की दृष्टि लगी रही। अपने सौ पुत्रों को भारतीय महायुद्ध में गँवा बैठी उस तपस्विनी, अतुल पतिव्रता राज-स्त्री की मानसिकता की कोई भी कल्पना नहीं कर सकता था–स्वयं भैया भी!

सिसक-सिसककर अन्त में वे अपने-आप ही शान्त हो गयीं। आँखों से निरन्तर बहती अश्रुधाराओं को अपने आँचल से पोंछ-पोंछकर वे श्रान्त हो गयी थीं। अपने-आप को सँभालकर, निश्चयपूर्वक, कुछ रुक-रुककर वे इस प्रकार बोलने लगीं, मानो स्वयं से ही कुछ कह रही हों–"मेरी...मेरी समझ में...नहीं आ रहा कि वास्तव में तुम चाहते क्या हो! मेरे सौ पुत्रों का विनाश करके–निर्ममता से उनका वध करवाकर तुम मुझसे मिलने आये हो! क्या कोई और आ सकता है इस प्रकार? क्या इस प्रकार मेरे आगे खड़ा होने का साहस कोई कर सकता है?" राजमाता का झुर्रियों से भरा हाथ मंचक के आस्तरण से उठाकर अपने गुलाबी हाथ में लेकर प्रेमपूर्वक उसे थपथपाते हुए मेरे भैया ने कहा, "नहीं–कदापि नहीं राजमाता! पुत्र कितना भी कुपुत्र हो, माता कभी कुमाता नहीं हो सकती। हे राजमाता, मैं केवल आपके दर्शन करने आया हूँ–किसी भी प्रकार की सान्त्वना देने नहीं। लम्बा तत्त्वज्ञान बतानेवाले मेरे पास उचित शब्द भी नहीं हैं। मैंने आपसे आशीर्वाद माँगा, इसमें तनिक भी ढोंग नहीं है। अपने संस्कार और प्रथा के कारण मैंने आपसे आशीर्वाद माँगा है। मैं जानता हूँ, आप मुझे आशीर्वाद नहीं देंगी–दे ही नहीं सकतीं। मुझे पता है, आपका व्याकुल मातृ-हृदय मुझे शाप ही देगा। उसी शाप को आशीर्वाद मानकर, शिरोधार्य करके–अपने साथ ले जाने के लिए ही मैं आपके अन्तिम दर्शन करने आया हूँ–स्थितप्रज्ञ होकर, कुलदेवी इडा का स्मरण कर और अपने मन को दृढ़ कर!" राजमाता के अपने हाथ में थामे हाथ को पुन: अत्यन्त प्रेम से थपथपाकर भैया ने उसे आस्तरण पर रख दिया।

"कैसी बात कर रहे हो! तुम क्या समझते हो, औरों की भाँति मैं भी तुम्हारे शब्दजाल में फँस जाऊँगी? चाहूँ तो जिस प्रकार एक बार मैंने आँखों पर बँधी पट्टी खोलकर पुत्र दुर्योधन को

‘वज्रदेह’ होने का आशीर्वाद दिया, उसी प्रकार आज पुन: एक बार यह पट्टी खोलकर एक ही दृष्टिक्षेप में मैं सबके समक्ष तुम्हें भस्मीभूत कर सकती हूँ। तुम्हें भ्रम है कि विश्व के सारे शब्द केवल तुम्हारे वश में हैं–राजनीति केवल तुम ही जानते हो! भुला दो उस भ्रम को!”

मनुष्य के मन को अचूक जाननेवाले मेरे भैया भी उस समय तनिक हड़बड़ा गये। फिर भी नम्रतापूर्वक उन्होंने कहा, “आपकी सामर्थ्य को मैं भली-भाँति जानता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि आपका शाप केवल मुझे ही नहीं ग्रसेगा। फिर भी मैं पूरे मन से आपके दर्शन करने आया हूँ।”

राजमाता गान्धारीदेवी पालथी बदलकर पर्यंक से उतरकर सीधी खड़ी हुईं। उन्होंने अपनी जीवन-भर की तपस्या को दाँव पर लगाकर, हम सबको रोमांचित कर देनेवाले कठोर शब्दों में भैया को भी थर्रा देनेवाला भयावह शाप दिया–“मेरे सौ पुत्रों का निर्दय, निर्मम अन्त करनेवाले महायुद्ध को तुमने ही प्रज्वलित किया! तुमने ही मेरे कुरुवंश को निर्वंश कर दिया! मेरी सभी पुत्रवधुओं को तुमने ही विधवा बनाया! केवल तुम्हें भस्मीभूत कर मेरे मातृहृदय को–मेरी आत्मा को कभी शान्ति नहीं मिलेगी। अत: मैं–गान्धारपुत्री, कौरव-माता, शिव-आराधिका गान्धारी–हे द्वारिका के यादव-नायक, वसुदेव-देवकी के पुत्र श्रीकृष्ण, तुम्हें शाप देती हूँ, आज से छत्तीस वर्ष बाद इसी प्रकार तुम्हारे वंश का विनाश होगा! इसी प्रकार तुम्हारे यादवकुल की स्त्रियाँ भी विधवा बनेंगी। ‘युद्ध में मारे जाओगे तो स्वर्ग प्राप्त करोगे, और युद्ध में विजय पाओगे तो राजा बनकर हस्तिनापुर के राज्य का उपभोग करोगे’ अर्जुन को ऐसा उपदेश देनेवाले श्रीकृष्ण, तुम तो कभी राजा थे ही नहीं! सौ पुत्रों की यह माता तुम्हें शाप देती है कि तुम किसी भी युद्ध में वीरगति को प्राप्त नहीं होगे। किसी वन में एकाकी मर जाओगे और किसी को पता भी नहीं चलेगा। पुत्र-शोक से जिस प्रकार आज मैं तिल-तिल मर रही हूँ, उसी प्रकार पुत्र-शोक से तुम्हारी दोनों माताएँ–देवकी और रोहिणी भी तिल-तिल करके मरेंगी। मेरी पुत्रवधुओं की भाँति तुम्हारी आठों रानियाँ विधवा होंगी। हे यादवों के सुपुत्र, मैं तुम्हें यही शाप देती हूँ।” थर-थर काँपती उस राजमाता ने अपनी कनपटियों पर रखकर अँगुलियाँ चटकायीं। आस्तरण पर उनके चरणों में बैठकर भैया ने अत्यन्त शान्ति से उस शाप को सुन लिया। उससे भी अधिक शान्तिपूर्वक उन्होंने कहा, “शान्त हो जाइए राजमाता! इस प्रकार के भयंकर शाप का अनुमान कर ही मैं आपके दर्शन के लिए आया हूँ। चिन्ता मत कीजिए। मैं आप से शापमुक्ति की याचना नहीं करूँगा। स्थितप्रज्ञ होकर मैंने आपके शाप को स्वीकार किया है। इस क्षण भी आप मेरे लिए माता रोहिणी और देवकी के समान वन्दनीय हैं। मैं आपको इडादेवी के स्थान पर ही मानता हूँ। इसे ध्यान में रखते हुए आप मुझे आशीर्वाद दें–उससे आपके शाप को सहने की सामर्थ्य मुझे प्राप्त होगी!” भैया ने अत्यन्त नम्र भाव से पुन: अपना मस्तक उनके चरणों पर रखा। राजमाता का भावोद्रेक अब तक बहुत-कुछ शान्त हो चुका था। काँपते हाथों से उन्होंने भैया को ऊपर उठाया। सबको भावाभिभूत करते हुए उन्होंने कहा, “अब क्या लाभ मेरे आशीर्वाद से? मैं शीघ्र ही वानप्रस्थ स्वीकार करके महाराज के साथ सदैव के लिए वन में चली जानेवाली हूँ।”

“मुझे पता है। इसीलिए वन में जाने से पहले आप मुझे आशीर्वाद दें।”

भैया के कन्धों को टटोलकर उन्हें अपने हाथों से कसकर पकड़ते हुए राजमाता ने कहा, “तुम्हें पहचानना बड़ा ही दुष्कर है। कोई अन्य होता तो इतना भयंकर शाप मिलने के बाद मुझसे आशीर्वाद न माँगता–न मेरे आगे इस प्रकार खड़ा रह पाता। जैसा तुमने किया है, उस प्रकार मेरे

चरणों पर मस्तक रखकर कोई प्रणाम भी नहीं करता। हे कृष्ण, एक बात कहो, मेरे सौ पुत्रों में से एक भी तुम्हारे जैसा क्यों नहीं हुआ? हे देवकी-पुत्र, मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ–तुम यावच्चन्द्र दिवाकरौ कीर्तिशाली रहोगे।" अपनी तपस्या और सत्यनिष्ठा से आकाश की ऊँचाई तक पहुँची उस राजमाता ने मेरे भैया को इस प्रकार प्रगाढ़ आलिंगन में कस लिया मानो उन्होंने दुर्योधन ही को आलिंगन में लिया हो! वे दोनों निःस्तब्ध कुछ क्षण एक-दूसरे के आलिंगन में बँधे रहे। दोनों ने मानो निरन्तर दौड़ते काल को एक ही स्थान पर रोके रखा! उस निःस्तब्ध स्थिति में उन दोनों ने मौन रहकर ही आपस में क्या और कैसी बातें कीं, यह तो काल को भी ज्ञात नहीं हुआ होगा, वह केवल उन दोनों को ही वह पता था!...

बिना कुछ बोले भैया गान्धारीदेवी के कक्ष से निकले। भावुक हुए हम सब राजमाता के चरणस्पर्श करते हुए, विचारमग्न स्थिति में खिंचे-से उनके पीछे-पीछे चले। प्रांगण में आते ही उन्होंने ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर से कहा, "तुम सब अब विदुर के भवन में अपनी माता के पास जाओ। पितामह के आदेश के अनुसार वे भी वन में जानेवाली हैं। अब जितना हो सके, तुम सब उनके समीप रहो–उनका ध्यान रखो।" "जो आज्ञा द्वारिकाधीश"–कहते हुए भैया की चरणधूलि माथे से लगाकर युधिष्ठिर सहित सभी पाण्डव चले गये।

अब गरुड़ध्वज को द्वारिका की ओर प्रस्थान करना था। हस्तिनापुर की सीमा पर आते ही रथ रुक गया। महामन्त्री विदुर और राजसारथि संजय नीचे उतरे। भैया ने भी रथ से उतरकर उन दोनों को प्रगाढ़ आलिंगन में ले लिया। पीछे-पीछे मैं, दारुक और सात्यकि ने भी उनको अपनी-अपनी छाती से लगाया। हम पाँच कृष्णसखा हस्तिनापुर की सीमा पर अन्तिम क्षण के मोड़ पर थे। भैया के फुफेरे भ्राता–विजयी पाण्डव विदुर के भवन में विश्राम कर रहे थे।

मैं, भैया और सात्यकि पुन: रथारूढ़ हुए। 'जय इडादेवी' कहकर दारुक ने रथ को हाँका। हमारा रथ आँखों से ओझल होने तक दो आकृतियाँ खड़ी थीं–राजसारथि संजय और महात्मा विदुर की!

मत्स्य, दशार्ण, कुन्तिभोज आदि राज्यों में पड़ाव डालते हुए हम द्वारिका की ओर अग्रसर होते रहे। यद्यपि मार्ग में आनेवाले प्रत्येक राज्य के सैनिक भारतीय महायुद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए थे, किन्तु भैया के आने की सूचना मिलते ही भैया के दर्शनों के लिए वहाँ के नगरजनों की भीड़ लगी हुई थी। उनमें से कई बड़े प्रेम से यात्रा में आवश्यक सामग्री लेकर रथों, बैलगाड़ियों में बैठकर हमारे साथ यात्रा करने लगे। कुरुक्षेत्र जाते समय कृतवर्मा के साथ एक अक्षौहिणी सेना और सात्यकि के साथ कुछ शताधिक सैनिक थे। कौरवों की ओर से युद्ध में उतरा कृतवर्मा हमारे साथ न आकर अकेला ही सीधे द्वारिका लौटा था। अब द्वारिका के केवल हम चार यादव लौट रहे थे। हम नर्मदा के तट पर जहाँ-जहाँ पड़ाव डालते हुए द्वारिका की ओर जा रहे थे, उन-उन स्थानों के सैकड़ों वीर स्वयंस्फूर्ति से हमारे आगे-पीछे चलने लगे। आनर्त पार कर हम सौराष्ट्र के नागेश्वर के शिव-मन्दिर में आ गये। भैया और मैं इस शिवालय में इसके पहले कई बार आये थे। नागेश्वर और सोमनाथ का शिवालय भैया के अत्यन्त प्रिय श्रद्धास्थान थे। नागेश्वर और सोमनाथ की शिव-पिण्डी का अभिषेक कर हम द्वारिका के समीप के, पश्चिम सागर की खाड़ी में आये।

पाँच चुने हुए वीरों को सात्यकि के साथ करके भैया ने उसके द्वारा खाड़ी के उस पार प्रद्युम्न को अपने आगमन की अग्रिम सूचना भिजवायी। कुछ ही समय में वह अति वृद्ध अमात्य विपृथु,

अपने सहोदर भ्राताओं और ककेरे भ्राताओं सहित दो भव्य नौकाओं को लेकर हमारी सेवा में उपस्थित हुआ। हम उन नौकाओं में से द्वारिका के पूर्वी महाद्वार शुद्धाक्ष के आगे आये। इसके पहले भी कई बार हमने हर्षोत्फुल्ल द्वारिकावासियों द्वारा किया गया स्वागत स्वीकार करते हुए इस महाद्वार से द्वारिका में प्रवेश किया था। किन्तु आज मेरा और भैया का सात्यकि तथा दारुक के साथ द्वारिका-प्रवेश अत्यन्त भिन्न था। कुरुक्षेत्र की समरभूमि पर हमने एक अक्षौहिणी यादव-वीरों को गँवा दिया था। महाद्वार पर अंकित मानचिह्नों की ओर देखते हुए भैया क्षण-भर खड़े ही रहे। तत्पश्चात् 'नमोऽस्तु इडामाते' बुदबुदाते हुए उन्होंने महाद्वार के आगे की पहली सीढ़ी को हस्तस्पर्श कर उसे मस्तक से लगाया। उस पर दायाँ पैर रखकर वे शान्ति से, स्वस्थ चित्त होकर चलने लगे। मैं जान गया कि इस क्षण से वे जीवन के एक नये पर्व में प्रवेश कर रहे हैं, क्योंकि इसके पहले कभी भी उन्होंने पूर्व महाद्वार शुद्धाक्ष से द्वारिका में प्रवेश करते समय उसकी सीढ़ी को हस्तस्पर्श कर इडामाता का स्मरण नहीं किया था।

कुरुक्षेत्र के महायुद्ध का सविस्तार समाचार द्वारिका में बहुत पहले ही पहुँच चुका था। पाण्डवों की विजय की प्रसन्नता की अपेक्षा अपने अनगिनत महावीरों के बलिदान से सभी दुःखित थे। भैया के स्वागत पर उदासीनता की छाया फैली थी। उनके स्वागत के लिए तात वसुदेव, बलराम भैया, सुधर्मा सभा के मन्त्रीगण—इनमें से कोई भी उपस्थित नहीं था। इस प्रकार भैया का पहली ही बार द्वारिका में प्रवेश हो रहा था! किन्तु वे नितान्त शान्त थे। जो भी मिलने आता था उसे मुस्कराते हुए नम्रतापूर्वक प्रणाम कर रहे थे। उनका वह हास्य नित्य की भाँति था ही नहीं। वहाँ उपस्थित द्वारिकावासियों को इस बात का तीव्रता से आभास हो रहा था। केवल मैं ही भली-भाँति जानता था कि कुरुक्षेत्र पर अर्जुन को दी गयी स्थितप्रज्ञता की सीख का ही वह निचोड़ था।

इसके बाद यदि द्वारिका हँसी तो केवल उनके कारण और उन्हीं के साथ वह हँसनेवाली भी थी! मुझे पूरा विश्वास था कि अपनी तेजस्वी बुद्धि के अतुल बल पर द्वारिका को पुनः हँसती-खेती बनाये बिना वे रहनेवाले नहीं थे।

सबसे पहले भैया ने देवकी माता के दर्शन किये। उनके कक्ष में जाने के बाद माता की चरणधूलि को माथे से लगाने के बाद ही वे आसनस्थ हुए। मैंने भी देवकी माता के चरणस्पर्श किये, किन्तु वे मुझे पहचान नहीं पायीं। काषाय वस्त्र धारण करनेवाले योगी, तपस्वी द्वारिका में नित्य ही आया करते थे। देवकी माता ने मुझे उन्हीं में से एक समझा।

मेरी ओर हस्त-निर्देश करते हुए भैया ने कहा, "इसको मैं शीघ्र ही गोकुल भेजनेवाला हूँ। इसे आपने पहचाना नहीं बड़ी माँ! यह तो हमारा उद्धव है।" देवकी माता मेरी ओर देखती ही रहीं। कुरुक्षेत्र के विषय में उन्हें भैया से जो भी प्रश्न पूछने थे वे वन-पखेरुओं की भाँति कहाँ के कहाँ फुर्र हो गये! अत्यन्त वृद्ध, झुर्रियों-भरे मुखवाली हम सबकी बड़ी माँ आँखें छोटी करके मेरी ओर देखते हुए बोलीं, "सचमुच—यह तो हमारा उद्धव है—मैंने तो पहचाना ही नहीं इसे! ये कैसे वस्त्र धारण किये हैं तुमने पुत्र? कुशल तो है?" उन्होंने मेरी दृष्टि उतारते हुए अपनी काँपती हुई वृद्ध अँगुलियाँ अपनी कनपटियों पर चटकायीं। मुझसे रहा नहीं गया और मैंने उनके चरणों पर मस्तक रख दिया। तत्पश्चात् बदरी-केदार के आश्रम और अपनी यात्रा आदि विषयों पर मेरा उनके साथ वार्त्तालाप होता रहा। हमारी बातों में कुरुक्षेत्र के महायुद्ध का विषय ही नहीं आया।

फिर एक बार मुझे भैया की बहुआयामी बुद्धि का दर्शन हुआ। एक वाक्य में उन्होंने पूरा वातवरण ही बदल दिया था। आकाश में कितने भी कृष्णमेघ छाये हों, वातावरण को आमूल बदल डालने की सामर्थ्य उनके एक-एक शब्द में थी, इसका मुझे पुन: एक बार अनुभव हुआ–भविष्य में भी अनेक बार हुआ।

बड़ी माँ के दर्शन करके, उनसे मिलकर हम तात वसुदेव से मिलने गये। वहाँ भैया ने एक अनपेक्षित विषय इस प्रकार छेड़ दिया कि तात वसुदेव भी खुले मन से बातें करने लगे। घुटने टेककर भैया ने अपना चक्रवर्ती मस्तक उनके चरणों पर रखा। चरण-वन्दना करने के बाद भैया ने तात से पूछा, "मथुरा के महाराज उग्रसेन का क्या समाचार है, तात?"

द्वारिका में अन्य सभी से ज्येष्ठ, वृद्ध तात वसुदेव इस प्रश्न के साथ सीधे मथुरा जा पहुँचे। सिर हिलाते हुए उन्होंने कहा, "नहीं–बहुत दिन हुए, उनसे कोई समाचार नहीं मिला है। वे कैसे हैं और मेरी मथुरा कैसी है, केवल इडादेवी ही जानें!"

भैया ने झट से कहा, "महाराज, आप चिन्ता न करें। वृद्ध अमात्य विपृथु को विश्राम देकर अब उनके पुत्र सुकृत को नियुक्त किया गया है। उसे ही मथुरा भेज देते हैं। आपका क्या विचार है इस विषय में?" भैया ने नतमस्तक होकर महाराज के आगे हाथ जोड़े–मानो बहुत ही महत्त्वपूर्ण परामर्श करना चाह रहे हों।

"तुम्हारे निर्णय में परिवर्तन क्यों करें? उचित ही है वह।" तात ने कहा।

हेतुपूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए भैया ने कहा, "तब ठीक है! इस सूचना के साथ उद्धव को ही भेज देता हूँ अमात्य विपृथु के पास। वे भी प्रसन्न होंगे।"

वृद्धत्व के कारण थके तात वसुदेव ने कुरुक्षेत्र के प्रसंग को स्पर्श ही नहीं किया। भैया को सुरक्षित देखकर उन्होंने सभी प्रश्नों को मन में ही रखा।

उस अवसर का लाभ उठाते हुए भैया ने कहा, "दाऊ प्रतीक्षा कर रहे होंगे। उनसे मिलकर आता हूँ।"

उसके बाद हम रोहिणी माता, बलराम भैया, रेवती भाभी, आचार्य सान्दीपनि और गुरुपत्नी से मिले। भैया को अपने समक्ष देखते ही उन सबके मुरझाये हुए मुख पुन: प्रफुल्लित हो उठे। अकेले बली भैया अपने प्रिय शिष्य दुर्योधन के नियम-विरुद्ध वध के कारण अभी तक अपने प्रिय भ्राता से रुष्ट थे। जब हम उनसे मिलने गये, उन्होंने राजमाता गान्धारीदेवी के ही शब्दों में भैया से कहा, "कुरुक्षेत्र के विनाशक महायुद्ध के मूल संचालक तो तुम ही हो। उस बेचारी राजमाता के सौ पुत्र मारे गये। क्या स्थिति हुई होगी उनकी? दुर्योधन औरों के लिए अहम्मन्य होगा, किन्तु तुम्हारा तो वह सम्बन्धी था। तुम्हारे पुत्र साम्ब का मैंने ही दुर्योधन-पुत्री लक्ष्मणा से विवाह करवाया था। इसी उद्देश्य से कि सम्बन्धी बनने के बाद तो तुम दोनों भविष्य में एक हो जाओगे–एक-दूसरे के मित्र बनोगे!"

अपने भोले-भाले भैया की यह राजनीतिक युक्ति सुनकर कृष्ण भैया मन्द-मन्द मुस्कराये। अनुभवों से वे जानते थे कि इस विषय में बलराम भैया का समाधान करना असम्भव है। उन्होंने अपनी अलग पद्धति से उनका समाधान किया–"दाऊ, पूर्णत: सोच-समझकर गान्धारीदेवी से मिलकर, उनके दिये भयंकर शाप को स्थितप्रज्ञता से स्वीकार करके ही मैं द्वारिका आया हूँ। मेरे ज्येष्ठ भ्राता होने के नाते आपको भी इस शाप से क्षति पहुँचनेवाली है। इससे रुष्ट होकर यदि

आप भी मुझे शाप देना चाहेंगे तो मैं प्रस्तुत हूँ—उसी स्थितप्रज्ञ भाव से!"

"शाप? कैसा शाप?" लसोड़े के फल जैसी अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को विस्फारित करते हुए बली भैया ने पूछा।

"यादवों के वंश-विनाश का!"

यह सुनते ही बली भैया भी सुन्न—नि:शब्द हो गये!

वे चुप हो गये हैं—यह देखकर उनको धैर्य बँधाते हुए मेरे भैया ने कहा, "बलभद्र भैया, इस विश्व में जो भी जन्म लेता है, कभी-न-कभी उसका विनाश भी अवश्य होता है। उसे अग्नि का भक्ष्य बनना पड़ता है। क्या आप मुझे विश्वास दिला सकते हैं कि मुझे शाप देनेवाली वन्दनीया राजमाता गान्धारीदेवी अग्नि का भक्ष्य नहीं बनेंगी! मैं भली-भाँति जानता हूँ कि जहाँ धनुर्धर पार्थ और चक्रधारी श्रीकृष्ण हों, वहीं धर्म और विजय होगी, यह सत्य नहीं है। अनादि, अनन्त काल के मन में जो होगा—वही धर्म होगा, उसी की विजय होगी। यही सत्य है। भ्राता होने के नाते मैं आपको एक ही परामर्श देना चाहूँगा।"

"कैसा परामर्श? तुम्हारा परामर्श अर्थात् तुम्हारी कुटिल राजनीति का प्रमाणित होना क्या अब भी शेष है? कहो, क्या है तुम्हारा परामर्श?"

"दाऊ, आप अपने मनोवेग को संयत कीजिए। आप बहुत शीघ्र क्रुद्ध हो जाते हैं और सम्प्रति शीघ्र शान्त होनेवाली आपकी आदत छूट गयी है। आप मन-ही-मन सोचिए, क्या शान्ति से आप इन दोनों का त्याग कर सकते हैं—स्थितप्रज्ञ हो सकते हैं? जब से मैं द्वारिका आया हूँ, एक ही बात का विचार कर रहा हूँ..."

"किस बात का? सदैव की भाँति पहेली मत बुझाओ—स्पष्ट कहो!" बली भैया की उत्सुकता उनकी आँखों से छलकने लगी।

"क्या राजमाता गान्धारीदेवी से मिलने आप जाते? उनके घोर शाप को सुनकर आपकी क्या प्रतिक्रिया होती?"

अब मुझसे रहा नहीं गया। बीच में ही मैंने कहा, "कौरव-माता बली भैया को उनसे मिलने की अनुमति ही न देतीं! यदि कुछ देतीं तो शाप ही देतीं—उनसे मिले बिना ही! अब भी आपके तात्पर्य को उन्होंने ठीक से समझा नहीं है—कभी शान्ति से उन्हें समझाइएगा। आपने यादवों का युवराज पद स्वीकार नहीं किया। राजा बनकर आप कभी किसी सिंहासन पर भी नहीं बैठे, वह भी राजमाता का शाप स्वीकार करने के लिए ही—यह भी आप कभी किसी समय उनको समझाइए।"

चलती बातों को कहीं और ही मोड़ देने की अपनी आदत के अनुसार भैया ने बली भैया से कहा, "उचित समय देखकर शीघ्र ही अपने युवराज के अधिकार का उपयोग करते हुए आप सुधर्मा सभा को आमन्त्रित कीजिए। उस सभा में तात और माता का उपस्थित रहना आवश्यक नहीं है, इसकी भी सूचना उनको भिजवाइए। वृद्धावस्था में राजसभा में उपस्थित होने का कष्ट उन्हें न हो। मुझे यादवों से कुछ कहना है।"

बलराम भैया को कोई भी बाधा खड़ी करने का अवसर ही न देते हुए भैया उनके कक्ष से निकल आये। मैं भी यन्त्रवत् उनके पीछे हो लिया।

दो दिनों में बलराम भैया ने अपने युवराज के अधिकार से राजसभा को आमन्त्रित किया।

भैया की सूचना के अनुसार, आज की सभा में तात वसुदेव और दोनों माताएँ उपस्थित नहीं होंगी। राजसभा आज यादव नर-नारियों से खचाखच भर गयी थी। सबको एक ही उत्सुकता थी कि द्वारिकाधीश क्या कहनेवाले हैं! कुरुक्षेत्र के अठारह दिनों के भयंकर युद्ध के सभी वृत्तान्त द्वारिका में कब के पहुँच चुके थे। इस युद्ध में उत्तरायण की प्रतीक्षा करते हुए शर-शैया पर पड़े पितामह भीष्म के अतिरिक्त एक नि:शस्त्र सारथि सहित केवल नौ योद्धा बच गये थे। द्वारिका की एक अक्षौहिणी यादव-सेना वीरगति को प्राप्त हुई थी। लगभग प्रत्येक घर का एक योद्धा कुरुक्षेत्र की समरभूमि पर धराशायी हुआ था। उनके विषय में कृष्ण भैया क्या कहते हैं, भविष्य के जीवन के विषय में वे द्वारिकावासियों का क्या मार्गदर्शन करते हैं, इसकी सभी को अपार उत्सुकता थी। सभी उपस्थित नर-नारी आपस में कुछ खुसुर-फुसुर कर रहे थे। भैया और भाभी की बायीं ओर अपने नित्य के आसन पर मैं आसीन था। अनेक नर-नारी मेरी ओर अँगुलि-निर्देश करते हुए कुछ चर्चा कर रहे थे, जिसका आभास मुझे हो गया। वह सहज भी था। इस सभा में सभासदों के आसनों की विशिष्ट रचना थी। राजसभा के निर्माण से आज तक उनमें से किसी आसन पर कोई काषाय वस्त्रधारी व्यक्ति आसीन नहीं हुआ था। वैसे तो यादवों की इस वैभवशाली राजसभा में काषाय वस्त्रधारी ऋषि, मुनि, योगी, तपस्वी नित्य ही आया करते थे, किन्तु वे अतिथियों के कक्ष में काष्ठासन पर बैठा करते थे। यद्यपि आचार्य सान्दीपनि ऋषि थे, किन्तु वे संन्यासी नहीं थे; अत: वे आचार्योचित शुभ्र वस्त्र धारण किया करते थे।

अब तक ऊँची कदकाठीवाले विपृथु सभा के कामकाज पर नियन्त्रण रखते आये थे, किन्तु अब वे बहुत ही वृद्ध हो गये थे। उनकी झुर्रियों-भरी देह, शुभ्र-धवल दाढ़ी-मूँछें और उनके काँपते हाथों को देखकर कोई भी समझ सकता था कि वे कितने थक गये हैं! किन्तु आज भैया के प्रति नितान्त श्रद्धा और प्रेम के कारण वे राजसभा में उपस्थित हुए थे। उनके निकट के आसन पर अमात्य पद पर नवनियुक्त उनका पुत्र सुकृत आसीन हुआ था। वृद्ध विपृथु के अमात्य के स्थान पर खड़े होकर रत्नजटित राजदण्ड उठाते ही ऐसी शान्ति फैल गयी कि पश्चिम सागर का गर्जन भी स्पष्ट सुनाई पड़ने लगा।

वृद्ध अमात्य ने सभा का आरम्भ करने हेतु अटकते हुए शब्दों में कहा–"द्वारिका के नगरजनों को–द्वारिकाधीश का बहुत दिनों बाद दर्शन हो रहा है। मैं तो केवल उनके दर्शन पाकर और उनको सुरक्षित देखकर धन्य हुआ हूँ।

"हम यादवों को जरासन्ध के समय से ही...लड़ने का...अभ्यास है। युद्ध में होनेवाली प्राणहानि को सहने के लिए हमने अपने मन को कब का तैयार कर रखा है। एक सत्य हमारे रक्त की बूँद-बूँद पर अंकित हुआ है कि सत्य और धर्म की रक्षा के लिए लाखों मर जाएँ...तो कोई चिन्ता नहीं है, किन्तु–किन्तु लाखों का पोषक–आश्रयदाता सुरक्षित रहे! हमें अपने द्वारिकाधीश को पुन: देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, यह इडादेवी की ही कृपा है!...

"सब यादवगणों की–और अपनी ओर से मैं इडादेवी से प्रार्थना करता हूँ कि वह द्वारिकाधीश कृष्णदेव को सुस्वास्थ्यपूर्वक दीर्घायु प्रदान करे!

"द्वारिकाधीश की सूचना के अनुसार, महाराज और दोनों राजमाताएँ सभा में उपस्थित नहीं हैं। उनका विनम्र स्मरण करते हुए मैं द्वारिकाधीश-रुक्मिणीदेवी, उद्धवदेव तथा युवराज-युवराज्ञी को अभिवादन करके–युवराज बलराम से प्रार्थना करता हूँ कि सभा के सूत्र वे अपने हाथों में लें।

जय इडादेवी!"

भूतपूर्व वृद्ध अमात्य ने प्रथा के अनुसार राजदण्ड से धरती पर आघात किया। इस समय यदि सभागृह की छत पर उलटी चलती चींटी नीचे गिर जाती तो सम्भवत: उसकी ध्वनि प्रत्यक्ष सागर-गर्जन को भी सुनाई देती, ऐसी नीरवता सर्वत्र छा गयी!

यादवों के युवराज–बलराम भैया अपने भव्य स्वर्णिम सिंहासन से उठे। युद्ध, आर्यावर्त का भ्रमण और हिमालय की दुष्कर यात्रा के कारण उनका रक्तिमगौर कोकमवर्ण अब कुछ काला पड़ गया था। विशाल वक्ष से फिसलते नीलवर्णी उत्तरीय को अपनी मुट्ठियों में कसकर और भरे हुए सभागृह पर दृष्टि घुमाते हुए उन्होंने केवल इतना ही कहा, "हे यादव बन्धुओ, बोलना मेरा स्वभाव नहीं है और आज तो मैं कुछ भी नहीं कहूँगा–केवल सुनूँगा। आप सबके द्वारिकाधीश, मेरे कनिष्ठ भ्राता श्रीकृष्ण को जो कहना है, खुले मन से कहें।" इतना कहकर हमारी ओर देखते हुए बलराम भैया पुन: आसनस्थ हुए।

सुधर्मा सभा में उपस्थित सभी नर-नारियों की आँखें केवल मेरे प्रिय भैया पर लगी रहीं। उनके निकट बैठी भाभी और मैं भी अत्यन्त उत्सुकता से उनकी ओर देखने लगे।

भैया उठे। उन्होंने अपनी शान्त दृष्टि सभागृह पर अर्द्धवर्तुलाकार रूप से घुमायी। वे इस प्रकार धीर-से मुस्कराये कि केवल मुझे और भाभी को ही आभास हो सके। तात वसुदेव और दोनों माताओं के रिक्त सिंहासनों पर दृष्टि डालकर, आचार्य सान्दीपनि और गुरुपत्नी को दृष्टि से ही अभिवादन करके वे बोलने लगे। यादवगण जिसे कभी भूल न पाएँ–उनके विमल होठों से ऐसी अमर कृष्णवाणी झरने लगी। आज भी वह वेणुवाणी के ही समान मधुर थी! वे कहने लगे–"अठारह कुलों के मेरे प्रिय यादव बन्धुओ, आप सबकी आँखों में एक ही औत्सुक्यपूर्ण प्रश्न झलकता हुआ मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है। उसका उत्तर देने से पहले लक्षावधि यादवों की जीवन-भर निष्ठापूर्वक सेवा करनेवाले वृद्ध अमात्य विपृथु से मैं प्रार्थना करता हूँ कि अब वे सभागृह में खड़े न रहें। यह केवल प्रथा है। अत: उनके लिए आसन का प्रबन्ध किया जाए। अमात्य विश्वास रखें कि उनके बैठने से यादव राजदण्ड अथवा राज्य का कुछ भी अशुभ नहीं होगा। वह हमारे उड़ान भरनेवाले पक्षिराज गरुड़ के समान सदैव उड़ान ही भरता रहेगा–अमर हो जाएगा!" उनके प्रत्येक शब्द के साथ गद्‌गद हुए यादवों ने तालियों की गड़गड़ाहट से उनका अभिनन्दन किया। सेवकों द्वारा विपृथु के लिए आसन की व्यवस्था की गयी। आँखें भर आये विपृथु राजदण्ड को तोलते हुए आसनस्थ हुए। आँसुओं के झीने पटल की आड़ से वे एकटक भैया की ओर देखने लगे।

तालियों की गूँज कम होते ही भैया पुन: बोलने लगे–"कुछ देर पहले मैंने कहा था कि आपकी आँखों में एक प्रश्न झलकता हुआ मुझे स्पष्ट दीख रहा है। क्या है वह प्रश्न? कुरुक्षेत्र के महायुद्ध से क्या पाया हमने? कौरव-पाण्डवों को आपस में लड़ाकर, आर्यावर्त के लाखों योद्धाओं को मृत्यु की खाई में धकेलकर द्वारिकाधीश ने क्या पाया? हस्तिनापुर, द्वारिका और आर्यावर्त की लाखों विधवाओं को अब कौन और कैसे सान्त्वना देगा? क्या इस महायुद्ध का होना भारतवर्ष के लिए सचमुच आवश्यक था? किसलिए प्रज्वलित किया गया मृत्यु का यह महायज्ञ? इस महायुद्ध के मन्थन से कौन-से रत्न प्राप्त हुए?" वहाँ उपस्थित जनों के मन में उठे प्रश्न भैया ने स्वयं ही उच्चारित किये। पहले ही घनीभूत हुई नीरवता अब समुद्र-गर्जन से एकरूप होकर असह्य हो गयी। हेतुत: क्षण-भर रुककर भैया ने सभागृह पर अपनी दृष्टि घुमायी। उस निमिष में पुन:

एक बार आचार्य सान्दीपनि के चरणों के आँख भरकर दर्शन किये। फिर अपने नेत्र बन्द करके उन्होंने 'पुनातु माम्' कहते हुए समर्पित भाव से इडादेवी का स्मरण किया। उनके होंठ थरथराये। उनके स्वर्णकिरीट में लगा विविधरंगी मोरपंख समुद्री वायु से फड़फड़ा उठा। वक्ष पर झूलते नील, महीन उत्तरीय पर से घुटनों तक लटकी हुई प्रफुल्लित वैजयन्तीमाला को दोनों मुट्ठियों में हलके से पकड़कर भैया बोलने लगे। मानो वे नहीं स्वयं इडादेवी ही बोल रही थीं! उनके हाथों कई बार अभिषिक्त हुआ पिण्डीरूप शिव ही बोल रहा था–

"प्रिय बन्धुओ, क्या आप और क्या मैं, जीवन के विषय में हम एक ही ओर से सोचते हैं। दूसरी ओर से सोचने का हम प्रयास ही नहीं करते। आप सब सोचकर देखिए, यह भारतीय महायुद्ध होता ही नहीं तो? तो कैसा होता आर्यावर्त के भिन्न-भिन्न गणराज्यों का रूप?

"युधिष्ठिर के द्यूत से प्रेरणा लेकर क्या अन्य राज्यों के नरेश भी कुछ भी दाँव पर लगाकर द्यूत न खेलते? हस्तिनापुर के द्यूतगृह में हुई द्रौपदी की अप्रतिष्ठा से प्रेरित होकर देश-प्रदेशों के राजनगरों के चौक-चौक में असहाय, कुलीन नारियों के साथ किया गया दुर्व्यवहार क्या हमें देखना था? 'मैं ही कर्ता हूँ, मैं जो कहूँगा वही सत्य है'–इस प्रकार का अहंकार पालनेवाले दुर्योधन से प्रेरणा लेकर अन्य राज्यों के नरेश भी वैसा ही व्यवहार करने लगते तो? कैसा होता उस आर्यावर्त का रूप? सुदूर गान्धार प्रदेश से आकर हस्तिनापुर में यथेच्छ राजनीतिक ऊधम मचानेवाले शकुनि से प्रेरित होकर जाने कहाँ-कहाँ की दुरात्माओं ने यहाँ आकर अपना घर बनाया होता तो?

"बन्धुओ, मेरी सोच के अनुसार परिवर्तन ही जीवन का स्थायी भाव है। जिस प्रकार मानव-जाति कभी-कभी मानवता के अत्युच्च शिखर पर पहुँचती है, उसी प्रकार कभी-कभी वह अमानुषता के रसातल में भी पहुँच जाती है। जैसे रात्रि के बाद दिन आता है, वैसे ही उन दोनों के बीच सन्धि-प्रकाश भी होता है। निरन्तर गरजते पश्चिम सागर में ज्वार के बाद भाटा भी आता है। इन दोनों समय सागर-तट की रेती में बिंध गये पानी के लिए सागर कोई पछतावा नहीं करता!

"वही स्थिति भारतीय महायुद्ध की है। अपने प्रिय सखा अर्जुन और भ्राता उद्धव से मैं कहता आया हूँ कि काल अखण्ड है और जीवन चिरन्तन है–असीम है। दुर्योधन हो, दु:शासन हो, महात्यागी पितामह भीष्म हों अथवा दानवीर, दिग्विजयी कर्ण हो, अपने सुरक्षित, सीमित जीवन में रहकर कोई भी चिरन्तन सत्य की प्रतीति नहीं कर सकता। उसके लिए प्रत्येक को खुले आकाश के नीचे कभी-न-कभी जीवन-संग्राम में उतरना ही पड़ता है।

"सम्भवत: कल आपको और परसों मुझे भी उसमें उतरना पड़ेगा। मैंने केवल कुलवती द्रौपदी की लज्जा-रक्षा के लिए महायुद्ध का यह महायज्ञ प्रज्वलित किया, इस भ्रान्त धारणा को आप अपने मन से निकाल दीजिए। यदि ऐसा होता तो क्या मैं चुन-चुनकर केवल शकुनि, दुर्योधन, दु:शासन आदि का वध नहीं कर देता? कुरुक्षेत्र का युद्ध कौरव-पाण्डवों के व्यक्तिगत अधिकार के लिए लड़ा गया, इस भ्रान्त धारणा को भी आप दूर करें।

"आपमें, मुझमें–प्रत्येक जीव में ईश्वरीय प्रकाश का अंश निवास करता है। सभी प्राणियों और वृक्ष-वनस्पतियों में भी वही निवास करता है। कीड़े-मकोड़ों में भी उसका वास होता है।

"वृक्ष-वनस्पतियाँ प्रतीति की एक ही मिति में रहती हैं। कीड़े-मकोड़े दो मितियों में और पशु-पक्षी तथा मनुष्य तीन मितियों में रहते हैं–अन्तर, भार और गुरुत्वाकर्षण ये वे तीन मितियाँ हैं।

इनके अतिरिक्त एक चौथी भी मिति है–उसका नाम है काल-समय। उसका कोई आदि अथवा अन्त नहीं है। वह अनादि है, अनन्त है।...

"मनुष्य सहित अन्य प्राणियों की चार प्रेरणाएँ होती हैं–आहार, निद्रा, भय और मैथुन।

"मनुष्य में स्थित ईश्वरीय अंश की खोज निरन्तर चलती रही है। मेरा अठारह दिनों तक प्रज्वलित किया गया महाभारतीय महायुद्ध का महायज्ञ उसी का एक भाग है। यह जिनको जैसे-जैसे प्रतीत होता गया, वैसे-वैसे वे मेरे सखा अथवा सखी बन गये। मैंने जिन-जिनको प्रणाम किया, वे केवल आयु में ही नहीं, जीवनानुभवों में थी ज्येष्ठ थे। मेरी दृष्टि में जीवन का अर्थ है प्रत्यक्ष अनुभव। अनुभव करते समय जिसे काल की अखण्डता की अनुभूति हुई, वह इस जीवन से पार हुआ। मैं मानता हूँ, उसी का अनुभव सत्त्वयुक्त और सर्वश्रेष्ठ है।

"कुरुक्षेत्र पर वीरगति को प्राप्त हुए लाखों योद्धाओं के जीवनानुभव को आप कभी भी न भूलें। अवसर आने पर इससे भी अधिक विदारक जीवनानुभवों का आपको सामना करना पड़ेगा। अत: समरभूमि पर अर्जुन को दिये गये उपदेश के कुछ ही अंशों का मैं पुनरुच्चारण करता हूँ। ध्यान में रखिए, जीवन का अर्थ अखण्ड, अमाप उपभोग नहीं है। प्रत्येक मनुष्य को पंचेन्द्रियाँ प्राप्त हुई हैं। उनमें से एक ही इन्द्रिय का–स्वाद का अनुभव देनेवाली जिह्वा का मैं उदाहरण देता हूँ। इस जग में भिन्न-भिन्न रुचि के इतने फल हैं। यदि कोई प्रत्येक फल का एक बार भी स्वाद लेना चाहे तो पूरा जीवन भी उसके लिए कम पड़ेगा। यही उदाहरण अन्य इन्द्रियों पर भी लागू होता है।

"फल की अपेक्षा किये बिना कर्म करना–निष्काम कर्म करना ही जीवन को समझ लेने का एकमात्र सरल मार्ग है। इस मार्ग पर चलना दुष्कर अवश्य है, किन्तु कड़वी औषधि की भाँति अन्तत: हितकर है।

"इस समय इससे अधिक मुझे कुछ नहीं कहना है। किन्तु दो बातें मैं अनुरोधपूर्वक करना चाहता हूँ–पहली बात है सुधर्मा राजसभा में आमूल सुधार। मैं सभा के अधिकतर वृद्ध मन्त्रिगणों को उन्हें अपने-अपने कार्यभार से निवृत्त होकर विश्राम करने का परामर्श देता हूँ। इसका आरम्भ आज से ही मैं अमात्य विपृथु से करता हूँ। कल से अमात्य का कार्यभार उनके पुत्र सुकृत सँभालेंगे। उनका कार्यकाल कल से आरम्भ होगा। अन्य नियुक्तियाँ युवराज बलराम भैया करेंगे।

"आज मैं जो सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य करने जा रहा हूँ वह मेरे परमसखा भ्राता उद्धव से सम्बन्धित है। आप सब यादव भाई-बहनों के समक्ष–आपकी सम्मति से आज मैं उद्धव को 'अवधूत' उपाधि प्रदान करता हूँ। गर्ग मुनि के कहे अनुसार आप सबने भी 'श्री' की उपाधि देकर मुझे कृष्ण से 'श्रीकृष्ण' बनाया था। इस समय मुझे वह प्रसंग याद आ रहा है।

"'अवधूत' अर्थात् कमलदल की भाँति लौकिक जीवन से अलिप्त–सच्चा जीवन-मुक्त! संन्यासी को भी मोक्ष की कामना होती है, अवधूत को वह भी नहीं होती।"

भैया की इस घोषणा के साथ उपस्थित यादवों ने तालियों की गड़गड़ाहट का पर्जन्य बरसाया। भैया अपने आसन से उठकर मेरे आसन के आगे आये। अपने-आप ही मैं आदरपूर्वक खड़ा हुआ। अनपेक्षित रूप में ही उन्होंने अपने वक्ष पर झूलती शुभ्र लम्बी वैजयन्तीमाला उतारकर मेरे कण्ठ में डाल दी। फिर सभागृह की ओर मुड़कर उन्होंने कहा, "जिस दिन मैं गोकुल से मथुरा आया, उसी दिन पहली ही भेंट में इस अवधूत उद्धव ने यमुना के रेतीले पाट में कदम्ब-पुष्पों की माला मेरे कण्ठ में पहनायी थी, इस बात को मैं कभी नहीं भूल पाया!"

हर्षोत्फुल्ल यादवों ने पुन: एक बार तालियों की गड़गड़ाहट की। चारों ओर से एक साथ ध्वनिघोष सुनाई दिया—“अवधूत उद्धवदेवऽधन्य हो! धन्य हो! जय हो—जय हो! कुछ कहिए अवधूत उद्धवदेव! चुप मत रहिए!” सबने आग्रह किया।

प्रिय यादवों के आदेश को शिरोधार्य करते हुए मैंने नतमस्तक होकर नम्रतापूर्वक कहा, “सर्वप्रथम अपने प्रिय भैया—आप सबके द्वारिकाधीश को मैं वन्दन करता हूँ। जीवन-भर मैं ‘मैं कौन हूँ’ यह जानने के लिए चिन्तन करता रहा। मुझे अपनी पहचान दिलानेवाला मार्ग मिल नहीं रहा था। कई बार चिन्तन के एक छोर पर आकर मैं रुक गया। आज मुझे अपनी पहचान मिल गयी। मैं अवधूत होने के लिए ही जीता—तिलमिलाता रहा। पितामह के मुख से सर्वप्रथम ‘वासुदेव’ शब्द सुनते समय भैया को जो लगा होगा, वही आज उनके मुख से ‘अवधूत’ शब्द सुनते हुए मुझे लग रहा है। मुझे परखकर उन्होंने प्रेमपूर्वक जो ‘अवधूत’ उपाधि प्रदान की है, उसे मैं नतशीश स्वीकार करता हूँ। किन्तु उनके द्वारा मेरे कण्ठ में पहनायी वैजयन्तीमाला को कुछ क्षणों से अधिक धारण करने की मेरी योग्यता नहीं है। वह अधिकार केवल उनका और उन्हीं का है। क्योंकि वह किसने उन्हें दी है, इसका मुझे पता है। अवधूत के नाते उन्होंने जो भी कर्तव्य मुझे सौंपे हैं, उनका दायित्व मैंने निष्ठापूर्वक स्वीकार किया है। किन्तु उनकी और उनके भक्तों की परम प्रिय वैजयन्तीमाला को मैं निष्ठापूर्वक उन्हीं के चरणों में अर्पित करता हूँ।” और यह कहते हुए मैंने अपने कण्ठ से वैजयन्तीमाला उतारकर भैया के चरणों में रख दी। भैया ने मुस्कराते हुए उसे उठाकर अपने वक्ष से लगाया। पुन: एक बार आनन्दविभोर यादवों की तालियाँ गूँज उठीं। “वसुदेव-देवकी पुत्र वासुदेऽव श्रीऽकृष्ण महाराऽज की जय हो, देवभाग-कंसापुत्र अवधूत उद्धवदेऽव की जय हो!” —बहुत दिनों बाद भरी राजसभा इस उत्स्फूर्त जयघोष के साथ समाप्त हुई।

हस्तिनापुर से सूचना आयी कि उत्तरायण के आरम्भ होने पर शर-शैया पर पड़े पितामह भीष्म ने अपना देहत्याग कर दिया था। युधिष्ठिर ने प्रतिदिन कुरुक्षेत्र में पितामह से मिलकर उनसे राज-कर्तव्यों का ज्ञान-उपदेश प्राप्त किया था। भैया के मुख से गीतोपदेश सुनकर जैसे अर्जुन धन्य हुआ था, वैसे ही पितामह के मुख से राजकर्तव्योपदेश सुनकर युधिष्ठिर कृतार्थ हुआ था। उसके चारों भ्राताओं को भी वह उपदेश सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। भीष्म ने द्रौपदीदेवी को भी जीवन का मन्त्र बताया, जैसे कोई पिता अपनी पुत्री को बताए। किन्तु इन सबके साथ पितामह से मिलने गयी बुआ कुन्तीदेवी मौन ही रही थीं। वे पितामह के केवल अन्तिम दर्शन करने आयी थीं। और पितामह ने इस प्रकार के शब्दों में उन्हें उपदेश दिया जिसे केवल वे ही समझ सकती थीं। उन्होंने कहा था—“युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के पश्चात् धृतराष्ट्र-गान्धारी का साथ देना भूलना नहीं।” पाण्डवों ने कुरुक्षेत्र के ब्रह्म सरोवर के तट पर पितामह के अन्तिम संस्कारों को यथाविधि पूरा किया था।

अब सभी पाण्डव युधिष्ठिर के राज्याभिषेक की तैयारी में जुट गये थे। यह समाचार सुनते ही भैया ने सात्यकि को हस्तिनापुर भेज दिया। अब प्रतिदिन वे नित्यकर्मों से निवृत्त होने के पश्चात् सन्ध्या समय मेरे साथ पश्चिमी महाद्वार ऐन्द्र पर आने लगे। वहाँ हम पाषाणी आसनों पर बैठा करते थे। ऐसी ही एक बैठक में अविरत गरजती सागर-लहरों की ओर देखते हुए उन्होंने मुझसे कहा, “हे अवधूत, तुम्हें आश्चर्य हो रहा होगा कि पितामह की अन्त्यविधि के लिए मैं हस्तिनापुर क्यों नहीं गया? और अंगराज कर्ण का दहन मैंने अपने हाथों कैसे किया?

"यह समझने की केवल तुम्हारी ही योग्यता है, इसलिए मैं तुम्हें बता रहा हूँ। पितामह, कर्ण और मैं–हम तीनों जलपुरुषों में से सत्यवचनी, आजन्म ब्रह्मचारी, दृढ़प्रतिज्ञ पितामह भीष्म जन्मत: जीवन-मुक्त ही थे। उनको किसी जलांजलि की आवश्यकता ही नहीं थी। उसकी आवश्यकता दुर्योधन की कुटिल राजनीतिक मित्रता में फँसे कर्ण को थी। इसीलिए महाभारतीय युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए लाखों योद्धाओं में से अकेले कर्ण को मैंने जलांजलि दी। भ्राता ऊधो, केवल तुम ही समझ सकते हो–यदि जन्मत: ही कुन्तीबुआ उसका त्याग न करतीं और अपने जीवन-चक्र में वह दुर्योधन के घेरे में न आता तो मेरी ही भाँति पितामह उसे भी वासुदेव कहते!" भैया के प्रत्येक शब्द के साथ, पश्चिम सागर की लहरों की ओर देखते-देखते मैं विचारों में खो गया। जैसे उन लहरों की थाह नहीं लग रही थी, वैसे ही भैया के विचारों की भी थाह नहीं लग रही थी।

मुझे नि:शब्द हुआ देखकर उन्होंने मेरी भुजा पकड़ी और झँझोड़ते हए कहा, "हे अवधूत! कहाँ खो गये? मेरा सन्देश लेकर सात्यकि हस्तिनापुर गया है। तुम्हें गोकुल जाना है–जैसे मेरे गोकुल से मथुरा आने के बाद तुम गोकुलवासियों से मिलने गये थे!" चकराकर मैं उनकी ओर देखता ही रहा। क्षण-भर के लिए मुझे आभास हुआ कि मेरे आगे का दूर-दूर तक फैला हुआ पश्चिम सागर ही मानो साढ़े तीन हाथ की देह धारण करके उनके रूप में मेरे निकट बैठा था!

जीवन के कितने अकल्पनीय मोड़ों को वे पार कर आये थे, फिर भी गोकुल के भोले-भाले गोप-गोपियों के चखे दूध, दही, माखन को वे भूले नहीं थे। अपने माता-पिता को, घर-बार को भूलकर वनों-खेतों में भाँति-भाँति के खेल खेलनेवाले अपने साथियों से वे अन्त:करण से विमुख नहीं हुए थे। उनके नेत्रों की गहराइयों में मैं एकटक देखता रहा। उन्होंने हँसकर कहा, "बन्धु ऊधो, तुम्हें अकेले ही गोकुल जाना है–मेरा प्रतिनिधि बनकर ही नहीं, स्वयं मेरा प्रतिरूप बनकर!"

मैं विचारों में डूब गया। जीवन के उस मोड़ पर भैया के बिना गोकुल जाना कितना दुष्कर है! जाना तो फिर भी सरल है, किन्तु लौटना कितना दुष्कर है–यह विचार मन में आते ही मैंने कहा, "भैया, आप भी चलिए न मेरे साथ! दोनों एक-साथ जाएँगे!"

वे मन से मुस्कराये और उनके दाँत चमक उठे। उनके स्वर्णकिरीट का मोरपंख पश्चिमी पवन से फड़फाड़ाया। सम्भवत: अपने गोप-साथियों के साथ खेलते समय वे इसी प्रकार मुस्कराते रहे होंगे!

उन्होंने कहा, "उद्धव, बड़े चतुर हो तुम! जो तुम्हारी कठिनाई है, उससे बढ़कर मेरी कठिनाई है। तुम ही उसे समझ सकते हो। नन्दबाबा, यशोदा माता, सखी राधिका और अन्य कई गोप-गोपी केवल मुझे देखने के लिए आँखों में प्राण समेटकर जी रहे हैं। केवल मेरा दर्शन ही उनकी अन्तिम इच्छा है। यदि मैं अचानक उनके समक्ष खड़ा हुआ तो क्या होगा, जानते हो? मुझे देखने के बाद क्षण-भर भी वे इस जग में नहीं रहेंगे। इसलिए सबको मेरा कुशल-क्षेम बता देना–वही उनके लिए संजीवनी बूटी होगी।"

मैं भैया की ओर देखता ही रहा।...वे मुझे परमप्रिय सखा कहते आये थे, भावविश्वस्त कहते आये थे, उससे मुझे लगता था कि वे मेरे अत्यन्त निकट हैं। मैंने उनको पूर्णत: जान लिया है। किन्तु वह मेरा भ्रम था। द्वारिका की राजसभा में उन्होंने मुझे 'अवधूत' उपाधि दी थी, सम्भवत:

वह भी उनकी अबूझ राजनीति ही थी!

“अब मैं आप से कुछ नहीं पूछूँगा भैया! आपके आदेश के अनुसार गोकुल चला जाऊँगा।” मैंने कहा।

दूसरे ही दिन गरुड़ध्वज लेकर दारुक सहित खाड़ी पार कर मैंने मथुरा की ओर प्रयाण किया। सौराष्ट्र, दशार्ण, भोजपुर राज्यों में पड़ाव डालते हुए यमुना नदी पार कर हम मथुरा में आये। कितनी बदल गयी थी मथुरा! मेरे भ्राता चित्रकेतु और बृहद्बल के साथ यहीं तो बीता था मेरा बचपन! आज मुझे तीव्रता से आभास हुआ कि वासुदेव श्रीकृष्ण का कहना कितना सत्य था! हर क्षण जग बदल रहा है। वृद्धि और विकास ही उसके लक्षण हैं। जरासन्ध के आक्रमण बन्द होने और मागधों से स्नेह-सम्बन्ध स्थापित होने के कारण मथुरा अब समृद्धि प्राप्त कर रही थी। वृद्ध उग्रसेन महाराज अब राजसभा में नहीं आते थे। उनके द्वारा नियुक्त किया हुआ राजा मथुरा का शासन सँभाल रहा था। उग्रसेन महाराज के दर्शन करके और पूरा राजप्रासाद देखकर मैं और दारुक गोकुल चले गये। नन्दबाबा की दूसरी और तीसरी पीढ़ी के गोप सर्वत्र विचरते दीख रहे थे। हमारा गरुड़ध्वज रथ नन्दबाबा के मुखिया-निवास के पश्चिम द्वार के आगे खड़ा हुआ। एक गोप ने मेरे आने की अग्रिम सूचना नन्दबाबा को दी। सूचना मिलते ही नन्दबाबा और यशोदा माता गोप-समूह के साथ निवास के पश्चिम द्वार पर आये। झुर्रियों से भरे हुए मुख और देहवाली, श्वेतकेशा यशोदा माता आँखों पर अपने दायें हाथ के पंजे की छाया करती हुई मेरे सम्मुख आ गयीं। नन्दबाबा को पीछे छोड़कर वे आगे आयी थीं। अपनी श्रान्त आँखों को मिचमिचाते हुए वे देर तक मुझे देखती रहीं। थोड़ी देर बाद थरथराते स्वर में उन्होंने कहा, “यह—यह हमारा कन्हैया नहीं है।” नन्दबाबा भी उनका साथ देते हुए बोले—“निश्चय ही—यह—हमारा कान्हा नहीं है—वह कदापि काषाय वस्त्र धारण न करता।”

मैंने झट से आगे बढ़कर उन दोनों के चरणस्पर्श किये और कहा, “मैं आपका कान्हा-कन्हैया नहीं हूँ। वे द्वारिका में कुशलपूर्वक हैं। मैं उनका ककेरा भ्राता हूँ। वे द्वारिका के राजकार्य में इतने उलझे हुए हैं कि उनके पास क्षण-भर का भी समय नहीं है। उनके आदेश से ही मैं यहाँ आया हूँ। पहले भी एक बार मैं यहाँ आया था। उनका सन्देश है—‘आप चिन्ता न करें, मैं कुशल से हूँ। शीघ्र ही मिलने आ रहा हूँ!’”

मेरे इन शब्दों के साथ उस वृद्ध गोप-युगल के मुखमण्डल आनन्दविभोर हो उठे। उनके साथ आये गोप आपस में फुसफुसाने लगे—“कान्हा आनेवाला है...द्वारिका का राजा आनेवाला है...कुरुक्षेत्र का सारथि आनेवाला है।” उनकी खुसुर-फुसुर सुनते हुए मैं भैया की एक बात को याद करने लगा—कभी-कभी जीवन के यथार्थ की अपेक्षा उसका आभास ही अधिक सुन्दर होता है—जीवनदायी होता है।...

मैंने नन्दबाबा से पूछा, “भैया ने दादाजी चित्रसेन का कुशल पूछा है। कैसे हैं वे? कहाँ हैं। अब वे बहुत वृद्ध हो गये होंगे! उनको दिखाई-सुनाई नहीं देता होगा—चला भी नहीं जाता होगा उनसे! मुझे उनके पास ले चलिए।”

वह वृद्ध गोप-युगल कुछ क्षण एक-दूसरे के नेत्रों में प्रश्नाकुल देखता रहा। फिर नन्दबाबा ने सिर झुकाकर कहा, “वे कब के इडादेवी के पास चले गये हैं! ‘मेरा कन्हैया-मेरा किशन—मेरे दिये आभीरभानु वंश के चिह्न को—चाँदी के कड़े को भूल तो नहीं जाएगा?’ कहते-कहते उन्होंने प्राण

त्याग दिये।" यह कहते हुए नन्दबाबा के मुखमण्डल पर उदासी छा गयी।

यह देखकर मैं भी व्यथित हुआ। अब तक मेरे आने का समाचार उस छोटे-से गोकुल के घर-घर तक पहुँच चुका था। मैं नन्दबाबा के मुखिया-निवास के गोप-चौक के ओसारे में बिछे कम्बल पर बैठा था। दारुक मेरे समीप ही बैठा था। तभी रेवती भाभी के समान आयु की एक गोप-स्त्री टुकुर-टुकुर देखती मुखिया-निवास में प्रविष्ट हुई। उसके केश भी अब श्वेत हो गये थे। मेरे सम्मुख आने पर औरों की भाँति वह हड़बड़ायी नहीं। उसने कहा, "परमसखा अवधूत, क्या अपने भैया की सखी को पहचाना आपने?" मैंने झट से उठकर उस गोप-स्त्री के चरणस्पर्श करते हुए कहा, "मेरे लिए तो आपको न पहचानना दर्पण में देखकर स्वयं को न पहचानते जैसा ही होगा! भैया ने कहलवाया है कि वे कुशलपूर्वक हैं। उनके लिए आपका क्या सन्देश है?"

वह तनिक मुस्करायी। उसकी हँसी में भैया की हँसी की झलक थी। वह राधिका थी! उसने कहा, "उससे कहिए कि उसकी कृपा से मैं भी कुशलपूर्वक हूँ। उसकी प्रतीक्षा करना मैंने कब का छोड़ दिया है। क्योंकि स्वयं मैं ही सदैव द्वारिका में रहा करती हूँ। मेरे और उसके प्रेम के कारण मन-ही-मन रुष्ट रहता आया और अन्त तक तनिक नहीं बदला हुआ मेरा पति–अनय इडादेवी के पास पहुँच चुका है। मृत्यु से पहले स्पष्ट शब्दों में उसने कहा था–'तेरे उस काले को मैं कभी समझ नहीं पाया और अब समझने से क्या लाभ? अब तो उसके दर्शन नहीं होंगे।'

"उसकी दी गयी भेंट को मैंने आज तक प्राणों से भी अधिक सँभालकर रखा है। कन्हैया से कहिए कि अब उसको ही इस भेंट को सँभालना होगा। उसके पास जो रत्न हैं, उनमें केवल इसकी ही कमी रह गयी है!" कहते हुए राधिका ने अपने वस्त्र में खोंसी हुई वंशी निकालकर मेरे हाथ में सौंप दी।

दूसरे दिन मैं भैया की पावन स्मृतियों को धारण करनेवाले प्रत्येक स्थल पर गया। अन्त में मैं यमुना के कछार पर, उस स्थान पर आया जहाँ उन्होंने खेल-खेल में बली भैया के साथ रेती की शिव-पिण्डी बनायी थी। मेरे साथ उस समय भैया को पुष्प, बिल्वपत्र, अभिषेक के लिए लोटे भर-भरकर दूध लाकर देनेवाले–अब वृद्ध हुए उनके सखा थे।

उस स्थल पर अब नन्दबाबा का स्थापित किया हुआ छोटा-सा पाषाणी शिवालय भी था। उसमें स्थापित अभिषेक-जल में नहाती, वज्रलेप की हुई छोटी-सी शिव-पिण्डी को बिल्वपत्र अर्पित करके जब मैंने हाथ जोड़े, गोपजन भी हाथ जोड़कर अपना नित्य का शिव-स्तवन करने लगे–शिवाकान्त शम्भो...

गोकुल में दो दिन रहकर मैं जिस मार्ग से वहाँ गया था, उसी मार्ग से दो सप्ताह की यात्रा के पश्चात् द्वारिका लौट आया। गोकुल में घटित सभी घटनाओं का वृत्तान्त मैंने भैया के समक्ष प्रस्तुत किया। उनके दादाजी चित्रसेन का अन्तिम उद्‌गार–'मेरा कान्हा मेरे दिये चाँदी के कड़े को भूल तो नहीं जाएगा!' मैंने भैया से कह दिया। सखी राधिका की दी गयी उनकी प्राणप्रिय वंशी भी मैंने उनको सौंप दी। उसे लेकर मेरे साथ वे द्वारिका के रत्नागार में आये। दादाजी चित्रसेन का दिया चाँदी का कड़ा रत्नागार-प्रमुख ने सीसम की एक पेटिका में सँभालकर रखा था। उसके पास रुककर "सुनो, भ्राता उद्धव", कहते हुए भैया ने अपने नेत्र बन्द कर लिये, फिर वंशी से पूर्णत: एकरूप होते हुए उन्होंने एक के बाद ऐसी मधुर धुनें छेड़ीं कि मेरी बन्द आँखों के आगे महीन वस्त्रों की लहरियाँ धीरे-धीरे खुलने लगीं! ऐसे सुर मैंने पहले कभी नहीं सुने थे। फिर भैया ने उसी

सीसम-पेटिका में वंशी रखकर उसे बन्द कर दिया। हम बातें करते-करते भैया के कक्ष की ओर चलने लगे। श्रीसोपान की पहली सीढ़ी पर पाँव रखकर वे उस सोपान की ओर देखते खड़े रहे–मैं भी रुक गया। कितना ऊँचा और भव्य दिख रहा था वह चमकता हुआ स्वर्णिम सोपान!

सेवक को भिजवाकर उन्होंने अब अमात्य बने सुकृत और गर्ग मुनि को बुलवा लिया। हम दोनों एक-एक सीढ़ी चढ़ते हुए उनके कक्ष में आये। वे कुछ बोल नहीं रहे थे। किन्हीं विचारों में वे मग्न हो गये थे।

कुछ ही देर में गर्ग मुनि और सुकृत उपस्थित हुए। मुस्कराते हुए उन दोनों का स्वागत करके भैया ने उनको अपनी योजना बतायी–"अमात्य, मय को उसके साथियों सहित बुलवा लीजिए। मुनिवर गर्ग, हमारे सोपान की रचना में कुछ परिवर्तन करना है। भारतीय युद्ध में अपना पराक्रम दिखानेवाले कुछ महावीरों के स्मरणार्थ इस सोपान में कुछ सीढ़ियाँ जोड़नी हैं। स्वयं आप इसका प्रबन्ध कराइए।"

वे दोनों भैया के सौंपे गये कार्य की पूर्ति करने चले गये।

भैया के कुरुक्षेत्र से लौटने के बाद अन्तःपुर के द्वीप में एक विशेष परिवर्तन दिखाई दे रहा था। रुक्मिणी भाभी के अतिरिक्त अन्य सातों रानियों के स्वभाव में बड़ा ही परिवर्तन आया था। रुक्मिणी भाभी भैया की ही भाँति और भी दक्ष, विचारशील हो गयी थीं। सबसे अधिक बदल गयी थीं हमारी भामा भाभी। उन्होंने अपने दुराग्रही स्वभाव को पूर्णत: त्याग दिया था। वे अब सीधे रुक्मिणी भाभी की ही भाँति बोलने और आचरण करने लगी थीं। उनके जन्मजात सौन्दर्य के कारण वह उन्हें शोभा दे रहा था। तब भी भैया की सबसे प्रिय पत्नी रुक्मिणीदेवी ही थीं।

कुरुक्षेत्र से लौटने के बाद भैया एक बार भी अन्तःपुर के द्वीप पर नहीं गये थे। रुक्मिणी भाभी अब बहुधा मूल द्वारिका में ही रहने लगी थीं। अपना नैहर मूल द्वारिका में होते हुए भी भामा भाभी अब वहाँ बहुत ही कम जाया करती थीं। अपने भानु, सुभानु, स्वर्भानु, प्रभानु, बृहद्भानु इन पाँच विवाहित पुत्रों की गृहस्थी में वे उलझी हुई थीं। कभी-कभी अक्रूर के भवन में जाकर, उनके कोषागार में रखे स्यमन्तक मणि को आँख-भर देखने की स्त्री-सुलभ उत्सुकता को भी उन्होंने लगभग त्याग दिया था। जीवन के अनुभवों से वे अब जान गयी थीं कि सच्चा रत्न कौन-सा है! रुक्मिणी भाभी की सहायता से अपने पाँच कनिष्ठ पुत्रों के लिए योग्य वधू खोजने में वे लगी हुई थीं। एक बात का हठ उन्होंने अब तक नहीं छोड़ा था–वे भैया से अन्तःपुर के द्वीप पर आने का अनुरोध बार-बार करती रहती थीं। वास्तव में भैया से उन्हें अत्यधिक प्रेम था।

रुक्मिणी भाभी की पुत्री भैया की लाडली चारुमती–चारु अब विवाह के योग्य हो गयी थी। यौवनावस्था में जैसी हमारी सुभद्रा दिखती थी, वैसी ही चारु अब सुन्दर दिखने लगी थी। रुक्मिणी भाभी के तीन ज्येष्ठ पुत्र प्रद्युम्न, चारुदेष्ण और सुदेष्ण उसके लिए सुयोग्य वर की खोज में थे। चारु सभी द्वारिकावासियों की अत्यन्त प्रिय थी। वह सदैव अपनी दो सापत्न बहनों के साथ रहा करती थी–उनमें से एक थी भद्रा भाभी की पुत्री और दूसरी थी जाम्बवती भाभी की पुत्री। वे अपनी-अपनी माताओं के साथ अपने ननिहाल–केकय और ऋक्षवान पर्वत जाया करती थीं। चारु भी उनके साथ उनके ननिहाल हो आयी थी। रुक्मिणी भाभी के अन्य सात पुत्र–चारुदेह, सुचारु, चारुगुप्त, भद्रचारु, चारुचन्द्र, विचारु और चारु भी निष्णात आचार्यों के शिष्यत्व में शूल, तोमर, चक्र, भिन्दिपाल, खड्ग, शर-चाप आदि शस्त्र चलाने में कुशल हो गये थे।

जाम्बवती भाभी का मायका–ऋक्षवान पर्वत–द्वारिका के समीप आनर्त गणराज्य से सटा हुआ ही था। भाभी का ज्येष्ठ पुत्र साम्ब यद्यपि रूपसुन्दर था। वह अपने नाम के अनुसार भोला-भाला नहीं था, वरन् अत्यन्त शरारती था। वह और उसके भ्राता सुमित्र, पुरुजित्, शतजित्, सहस्रजित् और विजय ऋक्षवान पर्वत में अपने मातामह जाम्बवान के यहाँ बार-बार जाया करते थे। वे और उनके कनिष्ठ भ्राता चित्रकेतु, वसुमत्, द्रविड़ और ऋतु धनुर्विद्या में निष्णात हुए थे। शरसन्धान की सांगोपांग कला उन्होंने अपने मातामह जाम्बवान और उनके अनुभवी भ्राताओं से सीख ली थी। साम्ब को व्याघ्र, सिंह, हाथी, वराह आदि वन्य प्राणियों के मुखौटे धारण करके अपने अनुजों को डराने की बुरी आदत थी। जाम्बवती भाभी उसे इसीलिए बचपन से डाँटती भी आयी थीं। यद्यपि उसकी यह आदत अब कम हुई थी, किन्तु पूर्णत: छूटी नहीं थी। जब कभी कोई यादव दल-प्रमुख कोई सन्देश देने हेतु जाम्बवती भाभी के कक्ष में आता था, उसके लौटने तक साम्ब बड़ा भोला बनकर खड़ा रहता था, किन्तु जैसे ही वह कक्ष से चला जाता, उसका अनुकरण करके वह सबको हँसाता था।

भैया की कीर्ति की ही भाँति उनका परिवार भी विशाल था। उनकी दो पत्नियाँ–भद्रादेवी और मित्रविन्दादेवी तो उनकी बुआ की ही पुत्रियाँ थीं। मित्रविन्दा भाभी अवन्ती नरेश जयसेन और बुआ राजाधिदेवी की पुत्री थी। कुरुक्षेत्र पर कौरवों की ओर से युद्ध में उतरे और वीरगति को प्राप्त हुए विन्द-अनुविन्द की वे सहोदरा थीं। अवन्ती का राज्य निकट ही होने के कारण उनके पुत्र वृक, हर्ष, अनिल, गृध्र, वर्धन, उन्नाद, महाश, पावन, वह्नि और क्षुधि द्वारिका की खाड़ी को पार कर अपनी ननिहाल जाया करते थे। स्वयं मित्रविन्दा भाभी कदाचित् ही अपने मायके गयी थीं। इस बारे में उन्होंने रुक्मिणी भाभी का आदर्श अपने आगे रखा था। भारतीय युद्ध के पश्चात् उन्होंने जानबूझकर अपने पुत्रों के ननिहाल जाने पर रोक लगायी थी। उनके सभी पुत्र भी शस्त्रास्त्र-विद्या में निष्णात थे।

भद्रा भाभी केकयाधिपति धृष्टकेतु और बुआ श्रुतकीर्ति की पुत्री थीं। वे और लक्ष्मणा भाभी पंचनद प्रदेश की थीं। लक्ष्मणा भाभी मद्र देश के बृहत्सेन की पुत्री थीं। इन दोनों भाभियों का एक-दूसरी के यहाँ अधिक आना-जाना स्वाभाविक ही था। भद्रा भाभी के ज्येष्ठ पाँचों पुत्र–संग्रामजित्, बृहत्सेन, शूर, प्रहरण और अरिजित्–लक्ष्मणा भाभी के ज्येष्ठ पाँचों पुत्रों–प्रघोष, गात्रवत्, सिंह, बल और प्रबल के साथ रहा करते थे। पंचनद के ये दस पुत्र गदा, खड्ग और मल्लविद्या का अभ्यास नित्य एक-साथ ही करते आये थे। पंचनद की विरासत प्राप्त होने के कारण ये सभी भ्राता आपस में लड़ते-झगड़ते भी थे, किन्तु उनमें ज्येष्ठ प्रघोष और संग्रामजित् के डाँटने पर शान्त भी हो जाते थे। भद्रा भाभी के छोटे पाँच पुत्र–जय, सुभद्र, वाम, आयु, सत्यक और लक्ष्मणा भाभी के छोटे पाँच पुत्र–ऊर्ध्वग, महाशक्ति, सह, ओज और अपराजित सामान्यत: समवयस्क होने के कारण साथ-साथ रहा करते थे। वे अपने ज्येष्ठ भ्राताओं के साथ कम ही रहते थे। इन सबको रथ, अश्व, गज, उष्ट्र आदि में अधिक रुचि थी। जब-जब नकुल-सहदेव इन्द्रप्रस्थ से द्वारिका आते थे, भद्रा और लक्ष्मणा भाभी के ये पुत्र अश्वों के विषय में नाना प्रकार के प्रश्न पूछकर उनके नाक में दम कर देते थे। जब मल्लवीर भीमसेन द्वारिका आता था, उसके विशाल, स्नायुबद्ध शरीर को देखने के लिए ये सभी देवमत्स्य के पीछे-पीछे घूमनेवाली छोटी-छोटी मछलियों की भाँति, टकटकी लगाकर उसके पीछे-पीछे घूमते रहते थे।

कोसल देश की सत्या भाभी ने अब नृत्य पर से अपना ध्यान हटा लिया था। कोसल देश से

आये अपने नृत्य-गुरु को प्रचुर गुरु-दक्षिणा देकर भाभी ने उनको विदा कर दिया था। अपने दस पुत्र युद्धविद्या में पिछड़ न जाएँ इस हेतु वे सदा सावधान रहती थीं। उनके प्रथम पाँच पुत्रों–वीर, चन्द्र, अश्वसेन, चित्रगु और वेगवत् की गोरक्षण और संवर्धन में विशेष रुचि थी। कभी-कभी वे यादवों की वृषभ-रथों की स्पर्धाएँ भी आयोजित किया करते थे। सत्या भाभी के छोटे पाँच पुत्र–वृष, आम, शंकू, वसु और कुन्ती इन स्पर्धाओं के आयोजन में अत्यन्त उत्साह से अपने ज्येष्ठ भ्राताओं की सहायता किया करते थे। भैया ने हेतुत: इनमें से एक पुत्र का नाम–कुन्ती बुआ के नाम पर रखा था। अनेक गणराज्यों में पुत्र-पुत्री के नाम एक जैसे ही रखने की प्रथा भी थी।

कालिन्दी भाभी, जिनका नैहर यमुना-तट पर था, अन्य भाभियों से अलग थीं। उन्होंने भैया को अपनी तपस्या के बल पर ही जीत लिया था। उनके प्रथम पाँच पुत्र–श्रुत, कवि, वृष, वीर और सुबाहु अपना अधिक समय आचार्य सान्दीपनि और मुनिवर गर्ग के सान्निध्य में बिताते थे। उनके कनिष्ठ भ्राता भद्र, शान्ति, दर्श, पूर्णमास और सोमक कभी-कभी व्यायामशाला में इतने तल्लीन हो जाते थे कि आचार्य और मुनिवर के यहाँ जाने में टालमटोल करते थे। तब उनके ज्येष्ठ भ्राता उनको तनिक डाँट-डपटकर, व्यायामशाला से निकालकर अपने साथ आचार्य सान्दीपनि के यहाँ ले जाते थे। सत्या भाभी और भद्रा भाभी के एक-एक पुत्र का नाम 'वृष' ही था। उनमें अन्तर करने के लिए उन्हें कोसल-वृष और कैकेय-वृष कहा जाता था।

भैया से अन्तःपुर के द्वीप पर आने का अनुरोध कर-कर के भामा भाभी ऊब गयी थीं। अन्य सभी भाभियों ने भी बहुत प्रयास किया था। भैया सबकी सुनकर केवल मुस्कराते थे और आने का आश्वासन देते थे। विशेष बात यह थी कि रुक्मिणी भाभी ने एक बार भी इस प्रकार भैया से अनुरोध नहीं किया था। वे भली-भाँति जानती थीं कि जब उनकी इच्छा होगी, वे अन्तःपुर के द्वीप पर आएँगे। उन्होंने एक मार्ग निकाल लिया था। भैया के कुरुक्षेत्र से लौटने के बाद पहली ही भेंट में रुक्मिणी भाभी ने पहचान लिया था कि उनके पतिदेव की मानसिकता में बहुत बड़ा परिवर्तन आया है, अत: वे मूल द्वारिका में महाराज्ञी के नाते अपने लिए बनवाये गये प्रासाद में आकर रहने लगी थीं। उन्होंने प्रद्युम्न सहित अपने सभी पुत्रों को द्वारिकाधीश की सेवा में रहने का आदेश दिया था। अपनी सातों बहनों को उन्होंने भैया से मिलते रहने की सूचना दी थी। आखिर वे ज्येष्ठ जो थीं! भैया की अन्य पत्नियों से स्वभावत: ही वे भिन्न थीं। वे तो भैया का दूसरा श्वास ही बन गयी थीं!

भैया ने नये अमात्य सुकृत को जो सूचना दी थी, उसके अनुसार स्थापत्य-विशारद मय अपने साथियों–ताराक्ष, कमलाक्ष, विद्युन्माली सहित द्वारिका में उपस्थित हुआ। विश्वकर्मा भी आ गये। भैया के निर्देशानुसार मुनिवर गर्ग की देखरेख में श्रीसोपान के नवनिर्माण का कार्य आरम्भ हुआ। 'खाड् खाड्-खट्' की ध्वनियों से भैया का राजप्रासाद गूँजने लगा। इस काम में मेरे साथ स्वयं भैया ध्यान दे रहे थे। प्रत्यक्ष द्वारिका के निर्माण में भी उन्होंने व्यक्तिश: इतना ध्यान नहीं दिया था। वहाँ तो उन्होंने कार्य को पूर्णत: स्थापत्य-विशारदों को सौंप दिया था। किन्तु श्रीसोपान के नवनिर्माण के कार्य में वे प्रतिदिन रुचि ले रहे थे। वे स्वयं कारीगरों को छोटी-मोटी सूचनाएँ देते थे। तभी मैं समझ गया कि यह सोपान भैया के मर्मबन्ध की एकमात्र धरोहर होगी।

एक दिन, जब हम इस काम की देखरेख में लगे हुए थे, एक सेवक ने सूचना दी कि 'सुदामदेव आये हैं।' भैया ने सुदामा को आदर सहित लिवा लाने के लिए उसे निर्देश दिया।

सेवकों से घिरा सुदामा श्रीसोपान के पास हमारे समीप आ गया। वह भी अब वृद्ध दिखने लगा था। अब भी उसकी काया-काठी वैसी ही छरहरी थी। कन्धे पर उसकी वही थैली लटक रही थी–उसकी प्राणप्रिय खड़ाउओं सहित!

समीप आकर वह भैया के चरण छूने के लिए झुकने ही वाला था कि भैया ने अपने आजानुबाहुओं को फैलाकर उसे अपने दृढ़ आलिंगन में कस लिया। सुदामा मानो अपने-आप ही से बुदबुदाया–"कैसा भयंकर युद्ध! तुम्हारा कोई समाचार ही नहीं मिल रहा था! मुझसे रहा नहीं गया, अत: स्वयं ही चला आया। हे केशव, कैसे–कैसे हो तुम?"

उसको अपने दृढ़ आलिंगन से मुक्त करके, उसकी भुजाओं को पकड़कर उसे अपने सम्मुख लेते हुए भैया ने मुस्कराकर कहा, "मैं तो तुम्हारे समक्ष खड़ा हूँ! तुम कैसे हो? मेरे लिए दी गयी भाभी की पोटली कहाँ है?"

यह सुनकर सुदामा हड़बड़ा गया। झट से थैली में हाथ डालकर उसने पहले दो चन्दनी खड़ाउओं को बाहर निकाला! उन्हें देखते ही मैंने पहचान लिया। सुदामा के हाथों से खड़ाउओं को लेकर मैंने उसे भाभी के दिये उपहार को थैली से निकालने के लिए मुक्त किया। अंकपाद आश्रम में भैया इन्हीं खड़ाउओं को पहना करते थे। अपने हाथ में आयी भैया की खड़ाउओं को मैंने आदरपूर्वक माथे से लगाया। पूरा अंकपाद आश्रम मेरी आँखों के आगे खड़ा हो गया।

सुदामा ने अपने भाव-उपहार की पोटली मित्रवर द्वारिकाधीश के हाथों में देते हुए सूक्ष्म दृष्टि से मेरी ओर देखा। भैया ने उसके सम्भ्रम को भाँप लिया। मेरे कन्धे पर हाथ रखकर थपथपाते हुए भैया ने कहा, "सुदामा, अरे यह तो अपना उद्धव है–मेरा ऊधो–अब वह अवधूत बन गया है।"

मेरे काषाय वस्त्रों के कारण भोला-भाला सुदामा सम्भ्रमित हुआ था। पहले तो उसने मुझे पहचाना ही नहीं, किन्तु जैसे ही उसने मुझे पहचाना, हर्ष-विभोर होकर, दोनों हाथ फैलाकर वह बोला–"हे ऊधोऽ! हे अवधूत–मेरे प्रिय मित्र! कितने दिनों बाद मिल रहे हैं हम!" जैसे भैया को किया था वैसे ही उसने मुझे भी स्नेहपूर्वक अपनी छाती से कस लिया। बड़ी देर तक हम तीनों कुछ भी नहीं बोले। किन्तु ऐसा भी नहीं कहा जा सकता–क्योंकि मौन रहकर ही हम बहुत-कुछ कह गये।

श्रीसोपान के निर्माण में लगे हुए कारीगर भी अपना काम रोककर हमारे इस मधुर मिलन को देखते रहे। भैया के उन पर दृष्टि डालते ही उनके ध्यान में आया कि काम को बीच ही में रोकना भैया को तनिक भी नहीं भाता है। द्वारिकाधीश कुछ कहें, इसके पहले ही उनमें से एक चतुर कारीगर बोल पड़ा–'जै ऽइडामाताऽ की', और पुन: वे सभी अपने काम में जुट गये।

मूल द्वारिका में एक सप्ताह रहकर सुदामा भैया के परिवार से मिलने हेतु अन्त:पुर के द्वीप पर गया। वहाँ अपनी सरस भाषा में द्वारिकाधीश के पुत्रों को जीवन का हितोपदेश भी दिया। सबसे अधिक जाम्बवती भाभी के साम्ब को उसने विविध प्रकार के उपदेश दिये। कुछ दिनों बाद मुझसे और भैया से पुन: एक बार मिलकर, हम दोनों को दृढ़ आलिंगन देकर भरी आँखों से वह सुदामापुरी लौट गया।

लगभग एक महीना परिश्रम करते हुए मय, उसके साथी और विश्वकर्मा ने मिलकर गर्ग मुनि

के निर्देशानुसार श्रीसोपान का अतिभव्य नवनिर्माण किया। योग्य मुहूर्त पर विधिवत् उसका पूजन किया गया। उसी समय सुधर्मा सभा में कारीगरों सहित स्थापत्य-विशारदों का सम्मान किया गया। पहले जैसे ही जबड़ा खोले, गर्जना करनेवाले दो स्वर्णिम वनराज सोपान के आरम्भ में बनवाये गये थे। अब श्रीसोपान की स्वर्णलेपित सीढ़ियाँ लगभग एक सौ से भी अधिक हो गयी थीं। इसका तात्पर्य यह था कि भैया ने इतने व्यक्तियों को अपने मन में बसा लिया था। वे सीढ़ियाँ किस क्रम से और किनके नाम पर बनवायी गयी थीं, इसका किसी को भी पता नहीं था—मुझे भी नहीं, अर्जुन तो दूर ही था—हस्तिनापुर में।

सन्ध्या समय जब हम पश्चिम सागर के निकट के ऐन्द्र द्वार के पास पाषाणी आसन पर बैठा करते थे, खोद-खोदकर मैं भैया से उन सीढ़ियों के विषय में पूछा करता था। किन्तु वे ठहरे कुशल राजनीतिज्ञ। मधुर मुस्कराकर वे विषय को कहीं और ही मोड़ देते थे। श्रीसोपान की सीढ़ियों का क्रम और वे किनके स्मरण में बनवायी गयी हैं, इसकी उन्होंने मुझे थाह ही नहीं लगने दी।

द्वारिकावासी नर-नारियों के झुण्ड-के-झुण्ड श्रीसोपान के दर्शन करके चले गये। द्वारिका के आसपास सौराष्ट्र, आनर्त, दशार्ण, अवन्ती आदि राज्यों के नगरजन भी श्रीसोपान के दर्शन करने आये। श्रीसोपान की सूचना काम्पिल्यनगर, विराटनगर, हस्तिनापुर-इन्द्रप्रस्थ तक भी पहुँच गयी थी। स्थान-स्थान के आश्रमों के शिष्यगण भी केवल श्रीसोपान के दर्शन के लिए द्वारिका आने लगे।

वहाँ हस्तिनापुर में युधिष्ठिर के राज्याभिषेक की पूरी तैयारियाँ हो गयी थीं। जिस प्रकार पाण्डव-पुरोहित धौम्य ने राजसूय यज्ञ का प्रबन्ध किया था, उसी प्रकार उन्होंने युधिष्ठिर के राज्याभिषेक का भी पूरा-पूरा प्रबन्ध किया था। मुनिवर याज-उपयाज और भिन्न-भिन्न देशों से आये कई विद्वान, अनुभवी ऋषि-मुनि उनकी सहायता के लिए हस्तिनापुर में उपस्थित हुए थे। सम्राट् पाण्डु के बाद यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राज्याभिषेक था। धृतराष्ट्र का तो राज्याभिषेक नहीं हुआ था। महाराज पाण्डु का विश्वस्त होने के नाते उन्होंने हस्तिनापुर का राज्य सँभाला था। युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के आमन्त्रण के भूर्जपत्र के साथ पाण्डवों के दूत सभी देशों में दौड़ रहे थे। भैया से बार-बार परामर्श कर ही पाण्डवों ने राज्याभिषेक का आयोजन किया था। भैया ने द्वारिका में रहकर ही युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के सूत्रों का संचालन किया था। पाण्डवों की ओर से राज्याभिषेक का सर्वप्रथम आमन्त्रण हमें—यादवों को ही मिला था। आमन्त्रण लेकर स्वयं धनुर्धर अर्जुन भूतपूर्व कुरु-अमात्य और अबके पाण्डव-अमात्य वृषवर्मा तथा ऋषिवर धौम्य के साथ पश्चिम सागर की खाड़ी के उस पार आ धमका। उसके साथ पाण्डवों के कई सशस्त्र दल थे। उनकी सुरक्षा में वृषभ-रथ पर लादकर यादवों के लिए लाये गये विविध उपहार उसके साथ थे। उन उपहारों में सोने और चाँदी के आभूषणों से भरी पेटिकाएँ, रत्न-माणिक्य, वैदूर्य, प्रवाल आदि की थैलियाँ, बहुमूल्य वस्त्र, विविध पौष्टिक धान्यों की गोनियाँ, औषधि-वनस्पतियों और पुराने मद्यों के कुम्भ और भाँति-भाँति के शस्त्र थे। वृषभ-रथों के आगे मृगया में सहायक और रक्षक श्वानों के पथक और पीछे अम्मारी-मण्डित गज, झूलों से सजाये विविध वंशों के अश्व, उष्ट्र और पुष्ट दुधारू गायें चल रही थीं।

भैया से मिलने के लिए उतावला हुआ अर्जुन खाड़ी पार करने के लिए नौका पर चढ़ा भी, किन्तु भैया ने सात्यकि द्वारा सन्देश भिजवाकर उसे खाड़ी के उस पार ही रुकने को कहा। स्वयं

भैया ने बलराम भैया को, मुझे और अमात्य सुकृत को लेकर अर्जुन के स्वागत के लिए खाड़ी पार की। भैया ने केवल महायुद्ध में ही नहीं बल्कि जीवन में भी अर्जुन का सारथ्य स्वीकार किया था। अर्जुन अब अभिषिक्त सम्राट् का भ्राता बननेवाला था। आर्यावर्त के सभी नरेश उसके साथ किस प्रकार व्यवहार करें, इसका आदर्श ही भैया प्रस्तुत करना चाहते थे। केवल दुर्योधन, दु:शासन, शकुनि आदि के रूप में उन्मत्त हुई अशिव शक्तियों का निर्दलन करना ही भैया का उद्देश्य नहीं था बल्कि आर्यावर्त में शुभ विचारों का बीज बोना भी उनका ध्येय था। किसी भी अच्छे काम का आरम्भ वे स्वयं से ही करते आये थे, और भविष्य में भी करनेवाले थे। वे गोकुल से निकल पड़े थे एक दिग्विजय के लिए ही, तभी तो उन्होंने अपने चक्रवर्ती चरणों को पुन: गोकुल की ओर मुड़ने नहीं दिया था।

स्वयं द्वारिकाधीश द्वारा अर्जुन को द्वारिका के पूर्व महाद्वार–शुद्धाक्ष से द्वारिका में ले आते ही लाखों द्वारिकावासी नर-नारियों ने जयघोष के साथ उसका भव्य अपूर्व स्वागत किया। सुधर्मा सभा में अर्जुन ने अपने ज्येष्ठ भ्राता के राज्याभिषेक के आमन्त्रण का भूर्जपत्र महाराज वसुदेव के चरणों में रखा। भारतीय महायुद्ध में अठारह दिनों तक गगनस्पर्शी पराक्रम करनेवाले महावीर अर्जुन ने जब तात वसुदेव को साष्टांग प्रणाम किया, तब पूरी सुधर्मा सभा तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठी। भैया ने मेरे समक्ष ही पाण्डवों के भावी राजा के लिए प्रति-उपहार भिजवाने की सूचना अमात्य को दी थी। उपहार के थाल तात वसुदेव और दोनों राजमाताओं के आगे प्रस्तुत किये गये। तात वसुदेव के अपने काँपते हुए वृद्ध हाथों से उन थालों को स्पर्श करते ही पाण्डवों को इस जग का सर्वश्रेष्ठ कृपाशीर्वाद प्राप्त हुआ।

उपहारों का यह आदान-प्रदान सहस्रों यादवों के समक्ष भरी सुधर्मा सभा में हो रहा था। रुक्मिणी भाभी के निकट के आसन पर आसीन भैया अलिप्त-स्थितप्रज्ञ भाव से उसे देख रहे थे। उनकी आँखों में कर्तव्यपूर्ति का अपार समाधान लबालब भरा हुआ मुझे स्पष्ट प्रतीत हुआ। मेरे जीवन की यह एक अत्यन्त अविस्मरणीय घटना थी। धौम्य ऋषि और अमात्य वृषवर्मा का भी राजसभा में सम्मान किया गया। हस्तिनापुर पर अब पाण्डवों का समर्थ शासन स्थापित हुआ है, इस बात की आर्यावर्त-भर में दी गयी यह पहली मान्यता थी।

युधिष्ठिर के आमन्त्रण के अनुसार उसके राज्याभिषेक के लिए हस्तिनापुर जाने हेतु अब द्वारिका में धूमधाम आरम्भ हुई। सर्वप्रथम सभी राजस्त्रियों को सशस्त्र सैनिकों के दलों सहित द्वारिका की खाड़ी पार कर हस्तिनापुर की ओर प्रयाण करवाया गया। पीछे-पीछे युवराज बलराम भैया भी सैन्यदल-प्रमुखों और विशिष्ट योद्धाओं को लेकर अपने और भैया के पुत्रों सहित हस्तिनापुर की ओर अग्रसर हुए। भैया ने कामरूपी स्त्रियों की प्रमुख कशेरु को बुलवा लिया। अब वह विवाहिता, पुत्र-पुत्रियों की माता, कुलीन स्त्री बन गयी थी। भैया ने उसे कुछ विशेष कामरूपी स्त्रियों सहित हस्तिनापुर जाने का आदेश दिया। उनकी सुरक्षा के लिए भी सशस्त्र सैनिकों के पथकों का प्रबन्ध करवाया गया।

अन्त में भैया ने और मैंने तात वसुदेव और दोनों माताओं के आशीर्वाद लिये। अपने भव्य, सुशोभित गरुड़ध्वज रथ के साथ नौका पर चढ़कर हमने द्वारिका की खाड़ी पार की। यात्रा के कष्ट सहने की शक्ति अब तात वसुदेव और दोनों वृद्ध माताओं में नहीं रही थी। अत: वे द्वारिका में ही रहे। हमारे साथ भी विशिष्ट वीरों के सशस्त्र पथक थे। हम अपने परिचित मार्ग से सौराष्ट्र,

आनर्त को पार कर, नर्मदा के तट पर पड़ाव डालते-डालते मध्य देश से हस्तिनापुर की ओर बढ़ते रहे। गोपालगिरि के पास हमने पड़ाव डाला। शीत के दिन थे। एक रात शिविर के बाहर एक बड़ी धूनी जलाकर तापते हुए हम गपशप कर रहे थे। भैया के बड़े पाषाण-खण्ड पर एक दल-प्रमुख के द्वारा बिछाये उसी के उत्तरीय के आस्तरण पर बैठे थे। हम सब उनके चरणों में धूनी के पास ही बैठे थे। अपने आजानुबाहुओं को फैलाकर बीच-बीच में भैया धूनी की अग्नि से उन्हें सेंक रहे थे और मुस्कराते हुए सदैव की भाँति भिन्न-भिन्न विषयों पर मुझसे बातें भी कर रहे थे। अचानक गोपालगिरि के अरण्य से प्रचण्ड कोलाहल सुनाई देने लगा। भैया तड़ाक् से खड़े हुए। उनके दृष्टि घुमाते ही हमारे सैनिक धनुष-बाण, गदा, खड्ग, मूसल–जो भी शस्त्र हाथ आया, उसे लेकर आनेवाले संकट का सामना करने के लिए तैयार हुए। पहले चारों ओर से पैरों की धपाधप आहट सुनाई दी। पीछे-पीछे पेड़-पौधों के पत्तों को दूर हटाने की खड़खड़ाहट सुनाई दी और क्षण-भर में ही वन्य-शस्त्र लिये दस-बीस हट्टे-कट्टे पुरुष प्रकट हुए। वे न तो नागर दिखाई दे रहे थे, न ही वन्य। उनको देखते ही हमारे कुछ सैनिक इडादेवी का जयघोष करते हुए उन पर टूट पड़े। अँधेरे में ही संघर्ष आरम्भ हुआ। उस कोलाहल से शिविर में निद्रित हमारे सैनिक भी जाग उठे और अपने-अपने शस्त्र उठाकर साथियों की सहायता के लिए दौड़ पड़े। उनके द्वारा की गयी इडादेवी की जयध्वनि इतनी प्रबल थी कि अँधेरे का लाभ उठाकर वे आक्रमणकारी लुटेरे अरण्य-पवन की गति से भाग खड़े हुए। उनमें से आहत हुए कुछ-एक के शस्त्र वहीं गिर गये थे। हमारे सैनिक उन्हें उठाकर भैया के पास ले आये।

जब भैया उन शस्त्रों को उलट-पुलटकर देख रहे थे, तब सभी योद्धा उनके पास इकट्ठे हो गये थे। कुछ क्षण पूर्व बड़े आवेश से लड़नेवाले वे वीर अब मौन खड़े थे–भैया के शब्द सुनने के लिए वे बड़े उत्सुक थे।

कुछ देर बाद भैया ने कहा, “ये मरु-प्रदेश के वन्य-जाति के लोग थे। अचानक आक्रमण करने की उनकी प्रथा ही है। यदि तुम न होते तो ये लोग मुझे और इस अवधूत को मार ही डालते!”

“किन्तु ये लोग आये किसलिए थे?” दल-प्रमुख ने भौंहें तानकर पूछा।

“ये मरु-प्रदेश के लुटेरे थे। आभूषण, पशु, भाँड़े-बरतन–यही नहीं स्त्रियों को भी लूट ले जानेवाले आभीर जाति के लोग थे ये!” भैया ने बताया।

उसके बाद देर तक धूनी के पास तापते हुए हम लुटेरों के विषय में ही बातें करते रहे। उत्तर रात्रि के बाद सशस्त्र पहरे की व्यवस्था करके हम शिविर में जाकर निद्राधीन हुए।

कुछ दिनों बाद हम हस्तिनापुर की सीमा पर पहुँच गये। वहाँ बली भैया भी रेवती भाभी और पुत्रों सहित हमसे मिले। युधिष्ठिर सहित अन्य चार पाण्डव कुन्ती बुआ और द्रौपदीदेवी को लेकर हमारे स्वागत के लिए हस्तिनापुर की सीमा पर उपस्थित हुए थे। महात्मा विदुर और संजय भी उनके साथ थे। हस्तिनापुर में प्रवेश करते ही अब कुछ संयत होने लगे हस्तिनापुरवासियों ने हमारा यथोचित स्वागत किया। किन्तु यह स्वागत युद्ध के पूर्व किये गये स्वागत के समान हर्षोत्फुल्ल नहीं था। युद्ध के कारण हुई हानि के लिए पाण्डवों को अभी बहुत-कुछ श्रम करना था।

युधिष्ठिर के बार-बार अनुरोध करने पर भी भैया ने सखा विदुर के आवास में ही रहने का निर्णय लिया। मैं, दारुक और सात्यकि उनके साथ थे ही।

युधिष्ठिर सहित सभी पाण्डवों ने विदुर के आवास पर ही भैया, रुक्मिणी भाभी और उनकी अन्य बहनों की यथाविधि पाद-पूजा की। मेरे निषेध करते हुए भी उन्होंने मेरी भी पाद-पूजा की। तत्पश्चात् वे पाँचों भ्राता कुन्ती बुआ और द्रौपदीदेवी सहित कुरुओं के राजप्रासाद की ओर चले गये।

निश्चित किये गये मुहूर्त पर युधिष्ठिर के राज्याभिषेक की विधियों का यथाक्रम आरम्भ हुआ। एक सप्ताह तक ये विधियाँ चलती रहीं। पाण्डव-प्रेम के कारण देश-देश से आये अतिथियों की हस्तिनापुर में भीड़ लग गयी थी। भैया, मुझे भी अपने साथ लेकर, रुक्मिणी भाभी और उनकी बहनों सहित सभी विधियों में उपस्थित रहे। किन्तु उस समय भी उन्होंने स्वयं निश्चित किये गये नियमों का ही पालन दृढ़तापूर्वक किया। युधिष्ठिर, अर्जुन सहित सभी पाण्डवों के प्रेमपूर्वक अनुरोध करने पर भी वे पाण्डवों द्वारा विशेष रूप से उनके लिए ही बनवाये गये स्वर्ण-आसन पर नहीं बैठे। वे बैठे अतिथि नरेशों के आसनों की पंक्ति में। रुक्मिणी भाभी को उन्होंने पाण्डव-स्त्रियों में सम्मिलित होने की सूचना दी और मुझे राजपुरोहित तथा ऋषि-मुनियों कें कक्ष में बैठने को कहा।

बुआ कुन्तीदेवी ने भी भैया से किसी विशिष्ट स्थान पर बैठने का आग्रह नहीं किया।

जब युधिष्ठिर के मस्तक पर कुरु-महाराज और द्रौपदीदेवी के मस्तक पर महाराज्ञी का अभिमन्त्रित स्वर्णकिरीट पहनाया गया, भैया के नेत्रों में उतरा कर्तव्यपूर्ति का समाधान कुछ अलग ही था। राज्याभिषेक के पश्चात् आमन्त्रितों से खचाखच भरे सभागृह में भैया का आशीर्वाद ग्रहण करने हेतु महाराज युधिष्ठिर और महाराज्ञी द्रौपदी उनके समीप आये। युधिष्ठिर भैया से आयु में ज्येष्ठ था। किरीट धारण किये युधिष्ठिर जब भैया के चरणस्पर्श करने के लिए झुकने लगा, भैया ने उसे रोकते हुए उसकी भुजाएँ पकड़कर ऊपर उठाया और कहा, "हे युधिष्ठिर, आयु में तुम मुझसे ज्येष्ठ हो। जीवन में कभी मैंने तुम्हें अपना चरणस्पर्श नहीं करने दिया है। भीमसेन को भी मैंने कभी अपने पग नहीं छूने दिये हैं। अब तो तुम कुरु-महाराज बन गये हो–और भी ज्येष्ठ! मेरे चरण मत छूना तुम। बुआ के चरणस्पर्श करो–अन्य ज्येष्ठों के करो।" भैया युधिष्ठिर से बातें कर रहे थे तभी द्रौपदीदेवी ने अपना मस्तक उनके चरणों में रख दिया। मुस्कराकर उनकी ओर देखते हुए भैया ने कहा, "अपनी प्रिय सखी के प्रणाम को मैं आनन्दपूर्वक स्वीकार करता हूँ। तुम दोनों दीर्घायु बनो और अपने पूर्वजों की कीर्तिपताका गगनचुम्बी बनाओ!"

सभी ज्येष्ठों के आशीर्वाद ग्रहण करके महाराज युधिष्ठिर और महारानी द्रौपदीदेवी अपने राजसिंहासन पर आसीन हुए। उन्होंने देश-विदेश से आये उपहारों को स्वीकार किया। उसके बाद अनुभवी अमात्य वृषवर्मा ने कुरुओं के प्राचीन, रत्नजटित राजदण्ड को उठाकर घोषणा की–"कुरु गणराज्य प्रमुख हस्तिनापुराधिपति पाण्डुपुत्र, कौन्तेय महाराऽज युधिष्ठिर-महाराज्ञी द्रौपदी देवीऽ" –सभी उपस्थितों ने तीन बार जय-घोषणा की–"जय होऽऽ,–जय होऽऽ,–जय होऽऽ!!"

राजप्रथा में निष्णात अमात्य वृषवर्मा ने भैया की ओर देखकर सभी के मन की बात कही, "आर्यावर्त के इस प्रमुख राज्याभिषेक समारोह में वन्दनीय द्वारिकाधीश रुक्मिणीदेवी सहित उपस्थित हैं। भारतीय युद्ध की पृष्ठभूमि में इस राज्याभिषेक का क्या महत्त्व है, यह सभी उपस्थित जन जानते हैं। अमात्य के नाते मैं द्वारिकाधीश से नम्र निवेदन करता हूँ कि राजवेदी के निकट

आकर वे नव-अभिषिक्त महाराज और महाराज्ञी को आशीर्वाद दें।"

भैया ने बड़ी कुशलता से युधिष्ठिर को आशीर्वाद देने के प्रसंग को टाल दिया था। मैं कुतूहल से देखने लगा कि अब वृद्ध अमात्य के अनुरोध को वे किस प्रकार टालते हैं! भैया ने अमात्य की प्रार्थना को स्वीकार किया। वे राजवेदी पर सिंहासन के समीप गये। वहीं से उन्होंने रुक्मिणीदेवी पर दृष्टिक्षेप किया। उसका तात्पर्य जानकर रुक्मिणी भाभी भी भैया के पास आ गयीं।

यादवों की सुधर्मा राजसभा में मैंने कई बार भैया का वक्तव्य सुना था। अब कुरु-राजसभा को वे किस प्रकार सम्बोधित करते हैं, यह सुनने को मैं उत्सुक हुआ। अपनी तेजस्वी दृष्टि उन्होंने सभागृह पर अर्धवर्तुलाकार घुमायी। एक बार सुनने पर जो जीवन-भर अविस्मरणीय रहे, ऐसी वाणी में उन्होंने कहा, "अमात्य घोषित करें कि नये कुरु-महाराज युधिष्ठिर के शुभ नाम से इसी क्षण से 'युधिष्ठिर संवत्' का आरम्भ हुआ है। आज नये संवत्सर की इस कालगणना का वे उचित प्रबन्ध भी करें। महाराज युधिष्ठिर, महाराज्ञी द्रौपदीदेवी, गदावीर भीमसेन, प्रिय सखा अर्जुन, नकुल-सहदेव और राजमाता–बुआ कुन्तीदेवी तथा उनके नगरजनों के लिए मैं दो ही शब्द कहना चाहूँगा–शिवं भवतु!"

भैया का वक्तव्य अचानक समाप्त हुआ। राजवेदी से उतरकर वे नरेशों की आसन-पंक्ति में और रुक्मिणीदेवी राजस्त्रियों के कक्ष में चली गयीं। फिर भी तालियों की गड़गड़ाहट थम नहीं रही थी। वहाँ उपस्थित सभी आमन्त्रित एक ही जयघोष कर रहे थे–'वासुदेऽव भगवान श्रीकृष्णा...की जय होऽऽजय होऽऽ!

इस वैभवशाली राज्याभिषेक समारोह में महाराज धृतराष्ट और गान्धारीदेवी कहीं दिखाई नहीं दे रहे थे। युधिष्ठिर और द्रौपदीदेवी के विधिवत् आमन्त्रित करने पर भी वे दोनों समारोह में नहीं आये थे। बुआ कुन्तीदेवी ने भी उनसे बार-बार अनुरोध किया था। किन्तु "हम दोनों तो अन्धे हैं। हम क्या करेंगे वहाँ जाकर? क्या वहाँ और क्या यहाँ–हमारे लिए तो सब एक समान हैं। तुम सुखपूर्वक राज्य सँभालो–तुम्हारे पुत्र दीर्घायु हों!" उस अन्धे पिता ने सदैव की भाँति द्विअर्थक शब्दों का प्रयोग करके बुआ को वापस लौटा दिया था।

हस्तिनापुर छोड़ने से पूर्व श्रीकृष्ण उस वृद्ध दम्पती से मिलना नहीं भूले। वृद्ध महाराज के चरणस्पर्श करते हुए उन्होंने कहा, "मैं द्वारिका के महाराज वसुदेव का पुत्र श्रीकृष्ण पत्नी रुक्मिणी सहित आपको प्रणाम करता हूँ, महाराज-महाराज्ञी!" भैया के कन्धे टटोलकर वृद्ध महाराज धृतराष्ट्र ने उनको अपने सम्मुख कर लिया। उनकी अन्धी आँखों की कोरों में संचित पानी छलक उठा। रुद्ध भर्राये स्वर में उन्होंने कहा, "युद्धारम्भ के पूर्व तुमसे मिलने आये मेरे पुत्र दुर्योधन से तुमने कहा था कि 'नि:शस्त्र सारथि के रूप में अर्जुन ने मुझे स्वीकार किया है, क्या मेरी सशस्त्र यादव-सेना तुम्हें स्वीकार है?' वह मूढ़ था–उसने तुम्हारी सशस्त्र सेना को स्वीकार कर लिया! किन्तु उसने यह नहीं कहा कि तुम्हारी सेना और उसका सेनापति तो युद्ध में अपने जिह्वास्त्र का प्रयोग करने को मुक्त रहेंगे, किन्तु तुम्हें नि:शब्द रहकर सारथ्य करना होगा!...

"अब उसका पिता मैं–सम्राट् पाण्डु का भ्राता–जीवन-युद्ध के अन्तिम क्षणों में तुमसे कुछ माँग रहा हूँ। क्या तुम मुझे वह दोगे?"

युद्धारम्भ में अर्जुन को उपदेश देनेवाले, सुधर्मा सभा में अपनी अमोघ वाणी से यादवों को चकित कर देनेवाले मेरे प्रज्ञावान भैया उस प्रश्न को सुनकर सोच में पड़ गये। उन्होंने सतर्क

होकर कहा, “आज्ञा करें महाराज। ज्येष्ठों को माँगना नहीं चाहिए–आज्ञा करनी चाहिए।”

भैया की भुजाओं को अपने हाथों में कसकर उस अन्धे पिता ने व्याकुल होकर कहा–“हे कृष्ण!” आज तक उन्होंने भैया को द्वारिकाधीश, वसुदेवपुत्र अथवा श्रीकृष्ण कहकर ही सम्बोधित किया था। सौ पुत्रों को गँवा बैठे उस पिता के मुख से आज कुन्ती बुआ की ही भाँति आत्मीयतापूर्ण पुकार निकली थी–‘कृऽष्ण’

“जीवन-भर तुम सबके लिए कुछ-न-कुछ करते आये हो। सौ पुत्रों के शोक से विह्वल हुए इस भग्नहृदय पिता के लिए भी आज तुम्हें कुछ करना है। युधिष्ठिर से कहकर तुम मेरे और गान्धारी के वानप्रस्थ चले जाने का प्रबन्ध करवाओ। अब क्षण-भर भी हस्तिनापुर में रहना हमारे लिए सम्भव नहीं है।”

वे क्या कहेंगे इसका अनुमान भैया को था ही। जब से भैया ने सुधर्मा सभा में मुझे ‘अवधूत’ कहा था, मैं उनसे केवल एकरूप ही नहीं हुआ था, बल्कि उनके मन में उभरनेवाले विचार मेरे ही मन में उभर रहे हैं, ऐसा मुझे प्रतीत होता आया था। भैया भलीभाँति जानते थे कि बचपन से कौरव-पाण्डवों के सम्बन्धों में जो अन्तर पड़ता आया था, उसके मूल में सौ पुत्रों के इस पिता के मन का अन्धत्व ही था। भैया सदैव ही उस अन्ध दम्पती के स्थान पर स्वयं की कल्पना करके उनकी समस्याओं को समझते आये थे। उन्होंने कई बार मुझसे कहा था, “महाराज धृतराष्ट्र अन्धे होने के बदले बहरे होते तो ठीक होता। जीवन-भर उन्होंने अन्धी आँखों से असम्भव स्वप्न देखे हैं।” भैया स्वयं से भी अधिक उस वृद्ध दम्पती के जीवन का विचार करते आये थे।

भैया ने शान्तिपूर्वक महाराज धृतराष्ट्र से कहा, “मैं आप दोनों से प्रार्थना कर रहा हूँ कि आप हस्तिनापुर में ही रहें। महाराज युधिष्ठिर को आप दोनों के साथ सदैव आदर और सम्मान से व्यवहार करने का निर्देश देने के पश्चात् ही मैं हस्तिनापुर से जाऊँगा। जिस क्षण आपको आभास होगा कि आपकी अवहेलना हो रही है, उसी क्षण हस्तिनापुर को छोड़कर वानप्रस्थ जाने के लिए आप मुक्त हैं। ज्येष्ठों को माँगना नहीं–दान देना चाहिए। मैं, वसुदेवपुत्र द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण हाथ जोड़कर आपसे याचना कर रहा हूँ!”

भैया ने धृतराष्ट महाराज को बोलने के लिए कुछ शेष नहीं रहने दिया। वे सरलता से कह गये–“जैसी तुम्हारी इच्छा!”

वहाँ से भैया और मैं सबके साथ विदा लेने के लिए बुआ कुन्तीदेवी के कक्ष में आये। आते-आते भैया ने मुझसे कहा, “हे अवधूत, पितामह के निर्देशानुसार हमारी बुआ इस वृद्ध दम्पती की सेवा करने उनके साथ वन में जाने से कदापि नहीं चूकेंगी। कोई कह नहीं सकता कि वन में कब और क्या घटित होगा! यदि मेरी प्रार्थना के अनुसार महाराज धृतराष्ट्र और गान्धारीदेवी हस्तिनापुर में ही रहें, तो अपने-आप हमारी बुआ भी हस्तिनापुर में ही रहेंगी।”

और वही हुआ जो भैया का अनुमान था। जब हम बुआ कुन्तीदेवी के चरणस्पर्श करके उनसे विदा ले रहे थे, तब निश्चयपूर्वक उन्होंने कहा, “हे कृष्ण, तुमने अपने कर्तव्यों का निर्वाह किया। मेरा युधिष्ठिर हस्तिनापुराधीश बन गया और मेरी पुत्रवधू महाराज्ञी। अब मैं वानप्रस्थ चली जाऊँगी।”

भैया का कहना सुनने के लिए मैं सतर्क हुआ। मुझे पता था कि दृढ़ निश्चयी बुआ के आगे उनकी एक नहीं चलेगी। उनकी बौद्धिक चतुराई को बुआ तनिक भी नहीं सुनेंगी। जीवन की

कर्तव्यपूर्ति के इस परमोच्च क्षण में तो निश्चय ही नहीं।

भैया ने कुछ क्षण ठहरकर व्यतीत होने दिये। उसके बाद अपनी प्रिय बुआ से वे सदैव जिस नटखट ढंग से बातें करते आये थे, उसी ढंग से उन्होंने कहा, "वन में रहना आपको बहुत ही प्रिय है बुआ! अब कुछ दिन राजवैभव में भी रह लीजिए। उससे वन का कुछ भी बिगड़नेवाला नहीं है।"

उसे सुनकर कुन्ती बुआ तनिक हिचकिचायीं। फिर उन्होंने कहा, "तुम सदैव ही कोई-न-कोई चक्रव्यूह रचते रहते हो। किन्तु मैं उसमें फँसनेवाली नहीं हूँ। मैं अवश्य वन चली जाऊँगी।"

कुछ क्षण भैया चुप रहे। फिर उन्होंने अपना 'कृष्णबाण' चलाया–"आप अकेले ही जाएँगी कि आपके साथ कोई और जा रहा है?"

भैया का यह बाण अचूक रूप में काम कर गया। बुआ ने सरलता से कहा, "पितामह की आज्ञा के अनुसार ज्येष्ठ देवरजी और गान्धारी दीदी के साथ वन में जाकर मैं अपना शेष जीवन उनकी सेवा में व्यतीत करूँगी। मेरे इस निर्णय में कोई अन्तर नहीं आएगा।"

भैया का काम हो गया था। उन्होंने सहज मुस्कराते हुए कहा, "जैसी आप की इच्छा। जब वे वन जाएँगे, आप भी उनके साथ जाइए। किन्तु इस समय मैं द्वारिका जा रहा हूँ–मुझे आशीर्वाद दीजिए।" भैया और रुक्मिणी भाभी ने बुआ के उन चरणों पर अपना मस्तक रखकर प्रणाम किया–जो जीवन-भर बहुत-कुछ सहन करते रहे। बड़े प्रेम से भैया को ऊपर उठाकर कुन्ती बुआ उनके नेत्रों की गहराई में देखती रहीं। उनके नीलवर्णी चन्द्रमुख की ओर देखते हुए उनके स्वर्णकिरीट से झाँकती श्वेत केशों की लट देखकर शुभ्र केशोंवाली कुन्ती बुआ ने अत्यन्त आवेग से भैया को अपने दृढ़ आलिंगन में ले लिया। उनकी आँखों से बहती अश्रुधारा को भैया की पीठ पर बहते हुए मैं देख रहा था।...

मैंने भी बुआ के झुर्रियों-भरे चरणों पर मस्तक रखकर उस वृद्ध सहनशील पाण्डव-माता को आदर सहित वन्दन किया।

द्वारिका जाने के लिए हम हस्तिनापुर की सीमा पर पहुँचे। हमारे पीछे-पीछे पाँचों पाण्डवों, उनके सेनापति, अमात्य और मन्त्रिगणों के रथ भी पहुँच गये। भैया और मैं गरुड़ध्वज रथ से नीचे उतरे। पाँचों पाण्डव भैया के समीप आये। युधिष्ठिर और भीमसेन को भैया ने सबसे अलग एक ओर बुलाया। धीमे स्वर में उन्होंने युधिष्ठिर से कहा, "हे महाराज, मैं आपसे विशेष रूप से जो बात कह रहा हूँ उस पर ध्यान दें। पुत्र-शोक से व्याकुल हुए महाराज धृतराष्ट्र और गान्धारीदेवी का किसी भी प्रकार–न कर्म से न वचन से–अपमान न हो, इसका पूरा ध्यान रखा जाए। विशेषत: भूलकर भी भीमसेन को उनके आगे नहीं जाने देना चाहिए।–भीमसेन, तुम्हें भी ध्यानपूर्वक इस नियम का पालन करना चाहिए।"

"हमें वन भेजनेवाले, भोले बनकर मेरी प्रिय द्रौपदी के द्यूतगृह में हुए अपमान को सुननेवाले, कुरुक्षेत्र में चालीस लक्ष योद्धाओं के प्राणों की आहुति देनेवाले, इन महाराज-महाराज्ञी का मैं मुख भी नहीं देखना चाहता!" भीमसेन ने कठोर शब्दों में उत्तर दिया।

भीमसेन के स्वेद से भीगे विशाल कन्धे पर हाथ रखकर मैंने उसे थपथपाया और समझाते हुए कहा–"भैया ने उनको वचन दिया है कि पाण्डव उनका तिल-भर भी अपमान नहीं करेंगे! यदि ऐसा हुआ तो महाराज धृतराष्ट्र और गान्धारीदेवी क्षण-भर भी हस्तिनापुर में नहीं रुकेंगे। वे उसी क्षण वन चले जाएँगे और उनके पीछे-पीछे हमारी कुन्ती बुआ–तुम्हारी माता भी चली जाएँगी!

अत: हे भीमसेन, भूलकर भी तुम उस वृद्ध दम्पती के आगे मत जाना।" मैंने सौम्य शब्दों में भीमसेन को समझाने का प्रयास किया और उसने मेरी बात मान भी ली।

पाण्डवों से विदा लेकर हमने द्वारिका की ओर प्रस्थान किया। द्वारिका आते ही एक नयी ही समस्या भैया के आगे खड़ी हुई। शोणितपुर के राजा बाणासुर ने भैया के पौत्र युवा अनिरुद्ध को अपने राज्य के कारागृह में डाल दिया था। बाणासुर राक्षसवंशीय था। उसकी पुत्री उषा प्रद्युम्न और रुक्मवती के पुत्र अनिरुद्ध से प्रेम करती थी। रुक्मवती रुक्मिणी भाभी के सहोदर भ्राता रुक्मि की पुत्री थी। रुक्मि के पुत्र की कन्या रोचना से अनिरुद्ध का पहले ही विवाह हो चुका था। उनका वज्र नामक एक छोटा-सा पुत्र भी था। रोचना-अनिरुद्ध के विवाह के समय प्रथा के रूप में द्यूत खेलते हुए रुक्मि ने यादवों की निन्दा की थी। उससे कुछ क्रुद्ध हुए बलराम भैया ने द्यूत के स्वर्ण-पट के प्रहार से ही रुक्मि का वध कर डाला था। रोचना अपने नैहर भोजकटक नगर से सदा के लिए वंचित हो गयी थी।

बाणासुर के अनिरुद्ध को कारावास में डालने से अन्यमनस्क हुई भैया की पौत्रवधू रोचना अपने पुत्र वज्र सहित भैया से मिलने आयी। अपनी व्यथा उसने भैया से कही–"द्वारिकाधीश ने जग का तो न्याय किया है, किन्तु मेरा क्या? मेरे पतिदेव शोणितपुर के कारागृह में हैं। राक्षसराज बाणासुर की पुत्री उषा के कारण यह सब घटित हुआ है। उसे अपनी बहन मानना मुझे स्वीकार है। मेरे पतिदेव को मुक्त करवाकर द्वारिकाधीश उन्हें द्वारिका ले आएँ।"

भैया के आगे यह नया ही पारिवारिक प्रश्न खड़ा हुआ था। इसके पूर्व जाम्बवती भाभी के पुत्र साम्ब के कारण द्वारिका पर ऐसी ही विपत्ति आयी थी। दुर्योधन-पुत्री लक्ष्मणा के स्वयंवर के लिए हस्तिनापुर गये साम्ब ने स्वयंवर-मण्डप से ही लक्ष्मणा को हरण करने का प्रयास किया था। हस्तिनापुर की सीमा पर ही दुर्योधन ने उसे पकड़कर कारावास में डाल दिया था। बलराम भैया अपने बल पर उसे छुड़ाकर द्वारिका ले आये थे और लक्ष्मणा से उसका विवाह करवाया था।

अब पौत्र अनिरुद्ध के विषय में भी यही समस्या भैया के आगे खड़ी थी। उन्होंने सात्यकि और अमात्य सुकृत को बुलवाकर अभियान-शोणितपुर की सविस्तार सूचना दी। उन्होंने चतुरंगदल सेना की तैयारी की। महाराज वसुदेव और दोनों माताओं के आशीर्वाद प्राप्त करके भैया ने इस ढलती आयु में भी सेना सहित खाड़ी पार की। यह उनके जीवन का अन्तिम युद्ध था। इस युद्ध में उन्होंने हेतुत: बलराम भैया को अपने साथ नहीं लिया। किन्तु अनिरुद्ध के पिता प्रद्युम्न को अपने साथ लेना वे नहीं भूले। पिता-पुत्र सेना सहित शोणितपुर से भिड़ गये। भैया और बाणासुर में घमासान युद्ध हुआ। राक्षस अपने-आप को सदैव सामर्थ्यशाली मानते आये थे। मायावी युद्ध में पारंगत होने के कारण क्षत्रियों को वे दुर्बल समझते थे। इसीलिए अपनी प्रिय पुत्री को एक क्षत्रिय के साथ ब्याहने पर बाणासुर का तीव्र विरोध था। सन्ध्या समय तक तुमुलयुद्ध चलता रहा। अन्तत: बाणासुर भैया की शरण में आया। प्रद्युम्न के साथ वीर सात्यकि ने कई राक्षसों की ऐसी दुर्दशा की कि बाणासुर को यह निर्णय लेना ही पड़ा। अपने सेनादल-प्रमुख के साथ बाणासुर ने सन्ध्या समय अनिरुद्ध और उषा को सात्यकि के हाथों सौंप दिया।

एक सप्ताह में ही द्वारिका में अग्रिम सूचना आ धमकी–राक्षसकन्या उषा को लेकर द्वारिकाधीश, सात्यकि, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध आ रहे हैं। द्वारिका उत्साहविभोर हो उठी। भैया के जयघोष के साथ द्वारिकावासियों ने बाणासुर की कन्या का स्वागत किया। रोचना ने भी उषा को

स्वीकार किया। राक्षसकन्या होते हुए भी उषा अप्रतिम सुन्दरी थी। नृत्य, चित्रकला, संगीत आदि कलाएँ उसे प्रिय थीं।

पन्द्रह दिन के बाद शरद् पूर्णिमा की रात आयी। यादवों की प्रथा के अनुसार नववधू के स्वागत में रास खेलने के लिए परिवार के सभी स्त्री-पुरुष नगर के मध्य में स्थित विशाल उद्यान में एकत्र हुए।

चान्द्ररस उँड़ेलनेवाला थाल के आकार का चन्द्रबिम्ब द्वारिका के गगनमण्डल में चमकने लगा। उद्यान में बनाये गये पाषाणी चूल्हों पर गोरस से भरे कड़ाहे चढ़ाये गये थे। पूरा उद्यान स्त्री-पुरुषों से खचाखच भर गया था। उद्यान के मध्य भाग में स्थित सरोवर में पड़ा चन्द्र-प्रतिबिम्ब डोलने लगा।

पूर्णिमा की दुग्धवर्णी ज्योत्स्ना में नहाते हुए भैया के गरुड़ध्वज रथ के शुभ्रधवल अश्व उद्यान की ओर दौड़ने लगे। उनके रथ के अश्वों की यह तीसरी पीढ़ी थी, किन्तु उनके नाम वही थे–मेघपुष्प, बलाहक, शैव्य और सुग्रीव। रथ में भैया के साथ मैं, बली भैया और सात्यकि थे। हमारे पीछे प्रद्युम्न का रथ था। उसके साथ उसके भ्राता थे। उसके पीछे अन्य सभी भ्राताओं के रथ थे। दारुक ने हमारे सालंकृत गरुड़ध्वज रथ को उद्यान के पूर्व द्वार में लाकर खड़ा कर दिया। उद्यान में इकट्ठा हुए उत्साही स्त्री-पुरुषों का कोलाहल सुनाई दे रहा था।

अमात्य सुकृत ने हमारा स्वागत किया। किसी ने भैया के नाम की घोषणा की। उसे सुनते ही सारा कोलाहल अपने-आप शान्त हुआ। रास में भाग लेनेवाले सभी स्त्री-पुरुष भैया की ही प्रतीक्षा कर रहे थे। वहाँ रुक्मिणी भाभी सहित उनकी सात बहनें और उन सबकी पुत्रवधुएँ उपस्थित थीं।

मेरे साथ भैया रासमण्डल में आये। उनके वक्ष पर वैजन्तीमाला झूल रही थी। उनके किरीट में लगा मोरपंख पश्चिम सागर से आनेवाले पवन-झकोरों से लहरा रहा था। उनके स्वर्णकिरीट से झाँकती घुँघराले केशों की लटें अब ज्योत्स्ना के समान शुभ्र-धवल दीख रही थीं, किन्तु उनके मुख पर वही शतकोटि सूर्यों की प्रभा थी।

रासमण्डल में आते ही भैया ने थाल में रखे कुंकुम से अपनी अँजुली भर ली और इडादेवी का जयघोष करते हुए उसे हवा में बिखेर दिया। बलराम भैया को और मुझे भी संकेत कर उन्होंने मुट्ठियाँ भर-भरकर कुंकुम बिखेरने को कहा।

भू-नगाड़े, दुन्दुभि, भेरी और रणसींग आदि वाद्यों का तुमुल नाद गूँज उठा। रुक्मिणी भाभी सहित रासमण्डल में आयी उनकी सातों बहनों ने–भैया की सभी पत्नियों ने–रास में भाग लिया।

भैया के काठ में झूलती माला वाद्यों की चढ़ती लय के साथ ऐसे डोलने लगी कि वह केवल भैया के कण्ठ में है अथवा उनकी आठों पत्नियों के कण्ठ में–इसका भ्रम होने लगा। कुछ देर भैया के साथ रास खेलने के बाद अपने काषाय वस्त्रों पड़े को कुंकुम हुए झटकते मैं रासमण्डल के बाहर रखे आसन पर आ बैठा।

भैया और बली भैया जिस चपलता से युद्ध में खड्ग चलाते थे, उसी चपलता से स्त्री-पुरुषों के समूह में रास खेलते हुए घूम रहे थे।

चूल्हों पर रखे कड़ाहों में से गोरस पल-पल घटने लगा और वाद्यों के नाद से आकाश परिव्याप्त हो गया। सरोवर में पड़ा चन्द्र-प्रतिबिम्ब डोलने लगा। यादवों की पहली, दूसरी और

तीसरी पीढ़ी का रास चाँदनी रात को मुँह चिढ़ाते हुए और रँगने लगा।

एक बार भैया और मैं द्वारिका के उत्तरी द्वार–भल्लात के समीप के शिव-मन्दिर की पाषाणी अग्रशाला में बैठे थे। अभी-अभी हमने शिव-दर्शन किया था। हमारे साथ दारुक था ही। भैया जहाँ भी जाते थे, सुवासिक पुष्प के आसपास मँडरानेवाले भ्रमरों की भाँति यादव नर-नारी उनके पास आ जाते थे। इस समय भी कुछ नगरजन जमा हुए थे। शिव-मन्दिर में पाषाणी मंचिका पर ही भैया बैठे थे। उन्होंने उनके सुख-दुःख सुन लिये थे। सबकी अपनी-अपनी समस्याओं का समाधान अपने-आप ही मिल जाए, इस प्रकार अपनी मधुर वाणी में वे बोल रहे थे। नगरजन तन्मय होकर उनकी बातें सुन रहे थे। शिव-दर्शन के लिए आनेवाले लोग बिना कुछ कहे शान्तिपूर्वक उस समूह में बैठते जा रहे थे। शिवालय के पुजारी भी पाषाणी स्तम्भों की टेक लगाकर बैठे हुए कृष्णवाणी सुनने में तल्लीन थे।

अर्द्ध-घटिका बोलने के पश्चात् भैया ने अचानक मुझे उस वार्त्तालाप में खींच लिया। उन्होंने कहा–"हमारे और आप के ये अवधूत उद्धवदेव हिमालय में भ्रमण करके आये हैं। भविष्य में ये शिव के चरणों में–बदरी-केदार में एक आश्रम की स्थापना करने की सोच रहे हैं। उनके वचन भी आप शान्ति से सुनें। उनके प्रत्येक शब्द को अनुभवों का सार समझकर आप जीवन-भर स्मरण रखें। यदि सम्भव हो तो उनके विचारों में से किसी एक विचार को तो आप आचरण में लाने का प्रयास भी करें।"

भैया मेरे लिए माता-पिता के समान थे। आचार्य सान्दीपनि के समान वन्दनीय थे। इन सबसे बढ़कर वे मेरे लिए कुछ अधिक भी थे। मैं उनके वचन को टाल नहीं सकता था। अपने काषाय उत्तरीय को दोनों मुट्ठियों में कसकर, मन-ही-मन भैया का स्मरण करके मैं बोलने लगा–"मेरे प्रिय द्वारिकावासी भाइयो और बहनो..." आगे कुछ कहूँ इससे पहले ही अमात्य सुकृत सात्यकि और कुछ यादव सैनिकों के साथ आते दिखाई दिये। सभी उपस्थितों की दृष्टि उनकी ओर मुड़ गयी। उनके साथ श्वेत वस्त्र धारण किये धौम्य ऋषि और उनके शिष्यगणों को देखकर मैं रुक गया। उस समूह के निकट आते ही भैया अग्रशाला से उठे। हम दोनों ने पहले ऋषिवर के चरणस्पर्श किये। उनके साथ राजप्रासाद की ओर चलते हुए भैया ने पूछा–"ऋषिवर, हस्तिनापुर में सब कुशल-मंगल तो है?"

"कुशल ही समझिए! एक आमन्त्रण और एक सन्देश लेकर मैं उपस्थित हुआ हूँ। महाराज धृतराष्ट्र और गान्धारीदेवी वानप्रस्थ के लिए चले गये हैं।" ऋषिवर आगे क्या कहेंगे इसका उचित अनुमान भैया ने लगाया–"भीमसेन और महाराज धृतराष्ट्र में कुछ कहा-सुनी हुई होगी! भीमसेन ने अक्खड़ता से उनका निरादर किया होगा! इसी से वे वन चले गये होंगे और उनके पीछे-पीछे बुआ भी वन चली गयी होंगी!"

चलते-चलते रुककर धौम्य ऋषि ने आश्चर्य से भैया की ओर देखते हुए कहा, "ऐसा ही हुआ है। कुन्तीदेवी का सन्देश है द्वारिकाधीश के लिए।"

"क्या सन्देश है?" भैया ने पूछा। मैं भी सतर्क होकर सुनने लगा।

"वन जाते हुए पाण्डव-माता कुन्तीदेवी ने कहा–'कृष्ण से कहिए, जो तुम कर सकते थे, वह सब तुमने किया। अब अपने ज्येष्ठों की सेवा करने मैं वन जा रही हूँ। मेरे लिए क्या हस्तिनापुर राजप्रासाद और क्या वन–दोनों एक समान हैं। हम हिमालय की तलहटी की ओर जा रहे हैं। जैसे

पहले कभी तुम काम्यकवन गये थे, वैसे ही समय पाकर कभी वहाँ भी आ जाना।'"

भैया किसी गहरे विचार में खो गये। फिर सँभलकर उन्होंने पूछा–"कैसा आमन्त्रण है ऋषिवर?"

"हस्तिनापुराधिपति शककर्ता महाराज युधिष्ठिर ने आप दोनों–युवराज बलराम और आपको आमन्त्रित किया है। पाण्डव अश्वमेध यज्ञ करने जा रहे हैं। यज्ञ के लिए चुने सुलक्षण अश्व का आनेवाली पूर्णिमा के सुमुहूर्त पर पूजन करना है। सभी पाण्डव चाहते हैं कि यह पूजन आप दोनों के हाथों से हो। अत: उनकी ओर से मैं यथाविधि आमन्त्रण लेकर आया हूँ। छत्रधारी यज्ञ-अश्व के साथ धनुर्धर अर्जुन दिग्विजय के लिए हस्तिनापुर से ससैन्य निकलेगा। उन सबको द्वारिकाधीश के आशीर्वाद की आवश्यकता है।"

मैंने भैया के विचारमग्न मुखमण्डल की ओर देखा। थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा, "ऋषिवर, द्वारिका छोड़कर मैं कहीं नहीं जाऊँगा। द्वारिका के प्रतिनिधि के नाते आप हमारे सेनापति सात्यकि को अपने साथ ले जाइए। सात्यकि के साथ पाण्डवों के अश्वमेध यज्ञ के लिए मेरा आशीर्वाद और उपहार भी होगा। दाऊ की क्या इच्छा है, यह आप उन्हीं से पूछ लीजिए।"

दूसरे ही दिन धौम्य ऋषि ने सुधर्मा सभा में हस्तिनापुर की ओर से महाराज वसुदेव को अश्वमेध यज्ञ का आमन्त्रण दिया। भैया के 'ना' कहने पर बली भैया ने भी हस्तिनापुर जाना अस्वीकार कर दिया। भैया के कहने के अनुसार एक सप्ताह बाद सात्यकि उपहार और कुछ सैनिकों सहित धौम्य ऋषि के साथ हस्तिनापुर चला गया।

एक दिन भैया ने किसी विशेष विचार से लौहशाला के प्रमुख को बुला भेजा। वह अधेड़ लौहकार यादव खड्ग, बाण, भालों के फल गढ़ने में निपुण था। वह सोच रहा था कि सम्भवत: द्वारिकाधीश किसी शस्त्र को गढ़ने का कार्य उसको सौंपनेवाले हों। जब वह हाथ जोड़कर भैया के आगे खड़ा हुआ, भैया ने उससे अप्रत्याशित प्रश्न पूछा–"तुम्हारे द्वारा शुद्धाक्ष द्वार के समीप के चौक में लगाये गये समय-दर्शक थाल के घण्टे समुद्र-गर्जन में दब जाते हैं, ठीक से सुनाई नहीं देते। जिसके घण्टे सबको सुनाई दें, ऐसा कितना बड़ा समय-थाल तुम ढाल सकोगे?"

लौहकार हड़बड़ा गया। उसने जो सोचा था उससे तो यह आज्ञा एकदम ही भिन्न थी। वह सोच में पड़ गया। दूसरे को विचारों में उलझाना, दुविधा में डालना और बोलते-बोलते विषय को दूसरा ही मोड़ देना, यह तो भैया की आदत ही थी।

"द्वारिकाधीश मुझे दो दिन का समय दें। घण्टे की ध्वनि दूर तक पहुँचानेवाला बड़े-से-बड़ा समय-सूचक थाल मैं कितने दिनों में ढाल सकूँगा, इसकी ठीक जानकारी मैं आपको दे दूँगा।"

महाभारतीय युद्ध के बाद द्वारिका के छोटे-बड़े कारीगर, सैनिक, दल-प्रमुख सब भली-भाँति जान गये थे कि भैया के आगे ऐसी-वैसी बातें नहीं चल सकतीं। उनके आगे सोच-विचारकर ही बोलना पड़ता है।

"ठीक है–सोचकर बताओ। अब तुम जा सकते हो।" भैया ने लौहशाला के प्रमुख को विदा दी।

अन्दर से आमूल बदली हुई भामा भाभी भैया से अन्त:पुर के द्वीप पर आने का आग्रह करती ही रहीं। वे अब अत्यन्त समझदार प्रेमल बन गयी थीं। भैया तो उनके वश में नहीं आ रहे थे। रुष्ट हुई भामा भाभी ने अपनी एक के बाद एक छह बहनों द्वारा भी प्रयत्न किया, किन्तु वे असफल

रहीं।

अपने चार-पाँच पुत्रों के साथ मूल द्वारिका में आयी जाम्बवती भाभी भैया से कहती थीं, "अपने सभी पुत्रों की शस्त्रों और अश्वारोहण में हुई प्रगति देखने के लिए तो एक बार आर्य को अन्त:पुर के द्वीप पर आना चाहिए।" जाम्बवतीदेवी अब बोलचाल में अपनी अन्य बहनों से इतनी घुलमिल गयी थीं कि मूलत: वे आदिवासी कन्या थीं, इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता था। अपने ज्येष्ठ पुत्र साम्ब को अपनी शरारती आदतें छोड़ने का उपदेश कर-करके वे थक गयी थीं, किन्तु उसमें कोई परिवर्तन नहीं आ रहा था।

भद्रा और लक्ष्मणा भाभी सदैव साथ-साथ ही रहा करती थीं। भैया से अनुरोध करने भी वे एक-साथ ही आया करती थीं। उनके साथ कोलाहल करते हुए उनके पुत्र और दो कन्याएँ भी होती थीं। उनके साथ हँसते-खेलते हुए भैया भारतीय युद्ध की–भीष्म, द्रोण, कर्ण, उत्तर, अभिमन्यु, घटोत्कच, दुर्योधन, अश्वत्थामा–आदि की स्मृतियों को कुछ समय के लिए भूल जाते थे। भद्रा भाभी के ज्येष्ठ पुत्र संग्रामजित् के हाथों में शस्त्र आते ही अत्यधिक उत्साह से वह उसे चलाने का अभ्यास करने लगता था। उसे देखकर भयभीत हुए संग्रामजित् का अनुज सुभद्र उसे रोकने का प्रयास किया करता था। शस्त्र हाथ में आने से उत्तेजित हुआ संग्रामजित् उसे झिड़ककर कहता था–"जा रे भीरु! मुझे हाथ मत लगा। तू तो मेरा भ्राता लगता ही नहीं है।" उसे सुनकर क्रुद्ध सुभद्र आँखों से अंगारे बरसाता हुआ छटपटाता रह जाता था।

लक्ष्मणा भाभी का पुत्र प्रघोष अपने नाम के अनुकूल भारी भद्दे स्वर में बोलनेवाला और कर्कश ध्वनि में चिल्लानेवाला था। वह अपने बल, प्रबल, अपराजित् आदि अनुजों की खिल्ली उड़ाते हुए अपने खुरदरे स्वर में कहा करता था, "कैसे बल-प्रबल हो तुम! तुम तो दुर्बल हो!" अपराजित् को चिढ़ाने के लिए वह कहता था, "क्यों कहलाते हो स्वयं को अपराजित्? मैं तो खड्ग, गदा, मूसल आदि शस्त्रविधाओं में प्रतिदिन ही तुझे पराजित करता हूँ!"

सत्या भाभी के तीन ज्येष्ठ पुत्र–वीर, चन्द्र और अश्वसेन अपने ही 'कुन्ती' नामक अनुज की अपमानकारक खिल्ली उड़ाया करते थे–'हे कुन्ती जी, यहाँ तुम्हारा क्या काम है–तुम हस्तिनापुर जाओ न!'

मित्रविन्दा भाभी के एक पुत्र की ग्रीवा लम्बी होने से उसका नाम ही 'गृध्र' रखा गया था। उसी के भ्राता उसे 'गृध्र-गृध्र' कहकर गृध्र की ही भाँति अपनी ग्रीवा हिला-हिलाकर, चिढ़ा-चिढ़ाकर सताया करते थे।

केवल कालिन्दी भाभी के पुत्र सदैव रुक्मिणी भाभी के पुत्रों के साथ रहा करते थे। उन सबमें ज्येष्ठ, पराक्रमी प्रद्युम्न का अन्य सभी भ्राताओं पर दबदबा था। उसके आते ही भैया के सभी पुत्र आपस में संकेत करने लगते थे–"अग्रज आ गये–अग्रज आ गये।" उनका कोलाहल अपने-आप ही शान्त हो जाता था।

रुक्मिणी भाभी को छोड़कर अन्य सभी भाभियाँ भैया से अन्त:पुर के द्वीप पर आने का बार-बार अनुरोध करने पर भी असफल रहीं। उनकी उदासी का रुक्मिणी भाभी को तीव्रता से आभास होने लगा। वे अन्य सभी भाभियों से स्वभावत: ही भिन्न थीं। अब उन्होंने एक बार क्यों न हो, भैया को अन्त:पुर के द्वीप पर जाने के लिए बाध्य करने का मन-ही-मन निश्चय कर लिया था।

इसके लिए उन्होंने प्रथम मुझे बुलवा लिया। नितान्त सहजता से उन्होंने मुझसे

कहा–“अवधूत, देवर जी कितने दिन हुए, आपने मेरे बनाये गुलगुले ओदन का स्वाद नहीं लिया है! एक बार अन्त:पुर के द्वीप पर आइए न! किन्तु अपने साथ अपने भैया को मत ले आइए। आप अवधूत बन गये हैं–काषाय वस्त्र धारण करते हैं। किन्तु वे एक ओर तो आर्य रणवेश धारण करते हैं और दूसरी ओर अवधूतों के भी अवधूत बने हुए हैं! वे तो अपने पुत्र-पुत्रियों, पत्नियों को भूल गये हैं!”

रुक्मिणी भाभी के इन उद्‌गारों को मैंने शब्दश: जस का तस भैया को सुनाया। रुक्मिणी भाभी की यह भावपूर्ण वैदर्भी मात्रा अचूक काम कर गयी। उन्होंने कहा, “भ्राता ऊधो, सोच रहा हूँ, गुलगुले ओदन का स्वाद चखने के लिए मैं भी तुम्हारे साथ अन्त:पुर में चलूँ! महायुद्ध के बाद मैंने उसका स्वाद लिया ही नहीं है। किन्तु मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा, यह बात तुम रुक्मिणी को मत बताना!”

भैया की इच्छा के अनुसार समय-दर्शक थाल का काम स्वीकार करनेवाला लौहकार शीघ्र ही भैया के आगे उपस्थित हुआ। वह अपने साथ पुरुष-भर लम्बा, भिन्न-भिन्न टिकाऊ धातुओं के उचित मिश्रण से बनाया हुआ समय-सूचक थाल लाया था, जिसे आठ-दस लौहकार उठाये हुए थे। उस पर चन्द्र-प्रतिमा, शस्त्रधारी इडादेवी की प्रतिमा, उड़ान भरता गरुड़, जबड़ा फैलाये हुए वनराज, उसी के आगे निर्भयता से चरती पुष्ट गाय और खड्‌ग, चक्र, गदा आदि शस्त्रों की आकृतियाँ उकेरी हुई थीं। उसे देखकर भैया का मुखकमल खिल उठा। लौहकार उस विशाल थाल को उसके छिद्रों में पिरोये रस्सियों के सहारे अधर में उठाये हुए थे। भैया ने उत्साह से लौहकार का दिया हथौड़ा उठाया और उसका एक बलशाली आघात समय-सूचक थाल पर किया। हमारे कान के परदे मानो फट गये। उस ध्वनि से भैया का कक्ष गूँज उठा। घण्टे की उस ध्वनि में समुद्र-गर्जन भी सुनाई नहीं दे रहा था। देर तक उस घण्टे की ध्वनि हमारे कानों में गूँजती रही।

अत्यन्त प्रभावित हुए भैया ने लौहकार-प्रमुख से कहा, “शुद्धाक्ष महाद्वार के राजमार्ग के अन्तिम चौक के मंच पर इसकी स्थापना करो और हमारे अवधूत के हाथों उसका पूजन करवाओ।”

भैया आजकल बहुत ही कम बोलते थे। जो कुछ बोलते थे, वह केवल मुझसे। द्वारिका-निर्माण के समय मैंने किसी काम में ध्यान नहीं दिया था। किसी को उसकी आवश्यकता भी प्रतीत नहीं हुई थी। किन्तु भैया के बताये समय-सूचक थाल का प्रबन्ध करने में मैंने पूरा ध्यान दिया।

भैया की आज्ञा के अनुसार, द्वारिका के पूर्वी राजमार्ग के अन्तिम चौक के मंच पर उसे लटकाया गया। उसका पूजन किया गया और उसकी देखरेख के लिए रक्षक नियुक्त किये गये। भैया की कठोर आज्ञा थी कि “नगरजनों के लिए पहले से प्रयोग में आनेवाले थाल से ही काम चलता रहेगा। नये समय-दर्शक का प्रयोग केवल मुझसे मिलने हेतु आये विशेष अतिथियों के आगमन के समय ही किया जाए। इसके घण्टे से नगरजनों का कोई सम्बन्ध नहीं होगा। वे अपने दैनिक कर्म चालू रखें। राजनगर में इसकी डौंडी पिटवायी जाए।”

भैया की आज्ञा के अनुसार द्वारिका में डौंडी पिटवायी गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि भैया से प्रेम करनेवाले नगरजनों के झुण्ड-के-झुण्ड ‘श्री-थाल’ के दर्शन करने आने लगे। द्वारिका में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं रहा जिसने ‘श्रीसोपान’ और ‘श्रीथाल’ का दर्शन न किया हो।

सात्यकि, दारुक, प्रद्युम्न, बली भैया के पुत्र निशठ और उल्मुक, भैया के सभी पुत्र-पुत्रियाँ

भैया के दर्शन करने प्रतिदिन सवेरे और सन्ध्या समय श्रीसोपान चढ़कर उनके कक्ष में आया करते थे। एक दिन भैया ने सात्यकि से कुछ नौकाएँ तैयार रखने को कहा। नौकाओं में चढ़कर वे मैं, दारुक सात्यकि तथा सुकृत के साथ पश्चिम सागर में उतरे। हम कहाँ जा रहे हैं, इसका किसी को भी पता नहीं था। सागर में दूर तक जाने के बाद भैया ने सभी नाविकों से नौकाओं को द्वारिका पत्तन के मार्गदर्शक क्रोष्टु दीपस्तम्भ की ओर ले जाने को कहा। कई वर्षों बाद भैया उस दीपस्तम्भ पर जा रहे थे।

कुरुक्षेत्र के महायुद्ध के बाद द्वारिका पत्तन की ओर आनेवाली अन्य देशों की नौकाओं की संख्या घट गयी थी। किन्तु उनका आना बन्द नहीं हुआ था। जब कोई नाविक पूछता था कि यह कौन-सा पत्तन है, तब उसे उत्तर मिलता था–'श्रीकृष्ण की स्वर्ण-द्वारिका का द्वारिकापत्तन।'

उस दिन आधा दिन क्रोष्टु दीपस्तम्भ पर बिताकर, अस्त होते सूर्य की किरणों के साथ हम द्वारिका लौटे। नौका में ही भैया ने सात्यकि से कहा, "द्वारिका की नयी पीढ़ी के युवा यादवों को सागर की पूरी जानकारी देनेवाला आचार्य के अंकपाद आश्रम जैसा आश्रम हमें द्वारिका में भी स्थापित करना चाहिए। हमारा गणराज्य-द्वारिका तीनों ओर से समुद्र से घिरा हुआ है, यह हमें भूलना नहीं चाहिए।" उनकी एक-एक बात मुझे सदैव ही काल के कई पटलों को चीरकर द्रष्टा की भाँति भविष्य में उड़ान भरनेवाली लगती आयी थी।

एक दिन उन्होंने स्वयं ही मुझसे कहा, "हे अवधूत, कल हमें तुम्हारी ज्येष्ठ भाभी–रुक्मिणी के हाथ के बने, लवण-मिश्रित गुलगुले ओदन का स्वाद लेने अन्तःपुर के द्वीप पर जाना है। सात्यकि और अमात्य से कहकर इसका प्रबन्ध करो। रुक्मिणी को हमारे आने की अग्रिम सूचना भिजवा दो।" उनका यह अप्रत्याशित निर्णय सुनकर मैं उनकी ओर देखता ही रह गया। सचमुच उनके अन्तरंग की थाह मिल पाना कठिन था।

सात्यकि द्वारा मैंने यह समाचार अन्तःपुर के द्वीप पर भिजवा दिया कि द्वारिकाधीश सबसे मिलने आ रहे हैं। यह समाचार सुनते ही रनिवास का सम्पूर्ण संकुल प्रसन्नता से झूम उठा। भैया की सभी रानियों ने अश्वारोही भेजकर इधर-उधर गये हुए अपने पुत्रों को शीघ्र बुलवा लिया। रुक्मिणी भाभी ने अपनी देखरेख में अन्तःपुर को पुष्पमालाओं के तोरणों से और रनिवास-संकुल के सभी कक्षों के प्रांगणों में रंगावलियाँ चित्रित करके सुसज्जित एवं सुशोभित करवाया।

इस भेंट में हमारे साथ राजसभा का कोई भी सदस्य नहीं था–था केवल दारुक। सदैव गरुड़ध्वज के रथनीड़ पर बैठनेवाले दारुक को आज अपने साथ नौका पर देखकर मुझे बड़ा सुखद लगा।...भैया की चतुराई की प्रतीति तो मुझे प्रायः हो ही जाती थी। उस समय भी हुई। उन्होंने अमात्य और सात्यकि को स्पष्ट बता दिया था कि वे एक मास तक मूल द्वारिका नहीं लौटेंगे। माता-पिता के प्रभात और सन्ध्या-वन्दन से वंचित न होना पड़े, इसलिए उन्होंने मुझे तात वसुदेव के खड़ाऊँ साथ ले लेने को कहा था। उन्होंने आचार्य सान्दीपनि के चन्दनी खड़ाऊँ भी साथ ले चलने को कहा था और बलराम भैया अप्रसन्न न हों, इस हेतु भैया ने उनको साष्टांग प्रणाम करके समझाया-बुझाया था।

रनिवास के द्वीप पर एक महीना आनन्दपूर्वक कैसे बीत गया, इसका कुछ पता ही नहीं चला। अपनी प्रत्येक प्रिय पत्नी के प्रासाद में चार-चार दिन रहकर अपने पुत्र-पुत्रवधुओं का हालचाल ले करके अन्त में वे रुक्मिणी भाभी के प्रासाद में आये। वहाँ उनकी अत्यन्त प्रिय पुत्री

चारु अत्यन्त श्रद्धा के साथ अपने जगद्वन्द्य चक्रवर्ती पिता की सेवा में रत थी। उसके साथ उसकी तीन सापत्न बहनें भी थीं।

इस निवास-काल में भैया ने, रुक्मिणी भाभी ने और मैंने भिन्न-भिन्न विषयों पर खूब आनन्दविभोर होकर बातें कीं। उनमें अनिरुद्ध-रोचना के विवाह में बलराम भैया के क्रोध की बलि बने रुक्मि का और भोजकटक नगर का भी प्रसंग था। बातों-बातों में दो बार रुक्मिणी भाभी ने मुझे सीधे भैया की भाँति 'भ्राता ऊधो' कहकर सम्बोधन किया!

रुक्मिणी भाभी ने वह खड्ग सँभालकर रखा था, जो भैया ने द्वन्द्वयुद्ध में रुक्मि पर उठाया था और जिसे भाभी ने पकड़कर उन्हें रोक लिया था। भैया को दिखाने के लिए भाभी ने सेवक को भेजकर उसे मँगवा लिया। भैया ने वह सीधे मेरे हाथ में दे दिया और मुझे टटोलने के लिए कहा, "हे अवधूत, यह सत्य है कि इस काषाय वेश में यह शस्त्र तुम्हारे हाथ में शोभा नहीं देता। पहचानो इसे, किसका है यह?" मैंने उस खड्ग को सूक्ष्म दृष्टि से देखा और उस पर हम यादवों के मानचिह्नों को देखकर कहा, "यह तो आपका ही नन्दक खड्ग है।"

मेरे उत्तर को सुनकर प्रसन्न हुई रुक्मिणी भाभी बोलीं, "आखिर भ्राता ऊधो हैं वे!"

तीसरी बार उनके मुख से 'भ्राता' सम्बोधन सुनते हुए मुझे तीव्रता से बोध हुआ कि हम तीनों भ्राताओं की–मेरी, चित्रकेतु और बृहद्बल की–कोई बहन नहीं थी। यद्यपि मैंने शब्दों में कभी नहीं कहा था, किन्तु रुक्मिणी भाभी को मैं भाभी के बदले बहन ही मानता आया था। उसकी जड़ें मेरे अबोध-सुप्त मन में गहरी थीं।

इस समय रुक्मिणी भाभी से विदा लेते हुए मैंने उनके चरणों पर मस्तक रखकर साष्टांग प्रणाम किया। जाने क्यों, भैया और रुक्मिणी भाभी को बहुत वर्षों बाद एक-दूसरे के साथ रहना हुआ। उन्होंने आपस में मुक्त मन से बातें कीं, यह देखकर मुझे अपार आनन्द हुआ था। सभी भाभियों और परिवार से विदा लेकर मूल द्वारिका की ओर लौटते समय भैया ने जाम्बवती भाभी के पुत्र साम्ब को सबसे अलग बुला लिया और मेरे समक्ष कहा, "पुत्र साम्ब, तुम्हारे नाम में 'शिव' है। जैसे शिव के चरणों में प्रलय की सामर्थ्य है, वैसे ही उनकी वाणी में भी है। जिसको वाणी की सामर्थ्य ज्ञात हुई, उसने 'शिव' को जान लिया। उसी को साम्ब कहते हैं। जिसे इसका ज्ञान नहीं हुआ उसे 'शुम्भ' कहते हैं–शुम्भ दानव होते हैं, मानव नहीं। वाणी भी प्रलय मचा सकती है, इसे नहीं भूलना है।"

भैया को समर्थन देते हुए युवा साम्ब के कन्धे थपथपाकर मैंने कहा, "प्रिय साम्ब, भैया के प्रत्येक शब्द को ध्यान में रखना है। सभी पुत्रों में से भैया ने केवल तुम्हें ही यह उपदेश दिया है, निश्चय ही इसमें कोई विशेष उद्देश्य निहित होगा। तुम शूर हो, सुन्दर हो किन्तु शरारती हो। सँभलकर रहो और किसी से भी बात करनी हो तो संयम से करो।"

हम मूल द्वारिका लौट आये।

अब भैया की दिनचर्या पहले जैसी ही आरम्भ हो गयी। व्यायाम, प्राणायाम, भगवत्-दर्शन, स्तवन, दान-धर्म आदि के पश्चात् वे सुधर्मा सभा के प्रजाजन-कक्ष में आकर वे द्वारिकावासियों के दुःख-सुख और आशा-आकांक्षाओं को ध्यान से सुना करते थे। अमात्य सुकृत, सात्यकि और

अलग-अलग दल-प्रमुखों से कहकर उनकी समस्याओं का शीघ्र ही निराकरण किया करते थे। किसी अन्य गणराज्य की बात आती थी तो उसका दायित्व वे बलराम भैया को सौंपते थे और उनके निर्णय में तनिक भी हस्तक्षेप नहीं करते थे। अब वे गुप्तचरों द्वारा प्राप्त होनेवाले केवल दो ही राज्यों के समाचार ध्यानपूर्वक सुना करते थे–एक हस्तिनापुर और दूसरा इन्द्रप्रस्थ। पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ का राज्य अनिरुद्ध-रोचना के पुत्र वज्र के लिए सुरक्षित रखा था। वज्र अल्पायु था, किन्तु उचित समय पर पाण्डव उसका राज्याभिषेक करके उसे इन्द्रप्रस्थ का राज्य सौंपनेवाले थे। बुआ कुन्तीदेवी ने वन जाने से पहले इडादेवी की शपथ दिलाकर पाण्डवों से इसके लिए एक प्रकार से वचन ही ले लिया था। सचमुच बुआ कुन्तीदेवी बड़ी समझदार, दूरदर्शी थीं। वे चाहती थीं कि द्वारिकावासी यादवों की अगली पीढ़ी का हस्तिनापुर के कुरुवंश से दृढ़ भाव-सम्बन्ध बना रहे।

भैया ने द्वारिका में कामरूप की सोलह सहस्र नारियों का पुनर्वास करवाया था। उन्होंने कुरुक्षेत्र की रणभूमि में वीरगति को प्राप्त हुए यादव वीरों के परिवारों को किसी प्रकार की असुविधा न हो, यह ध्यान में रखते हुए उनके लिए भी पुनर्वास की व्यवस्था करवायी थी। कुछ समय बाद वे सुधर्मा सभा में उपस्थित रहना टालने लगे थे। अन्य किसी के ध्यान में भले न आयी हो, मेरे ध्यान में यह बात अवश्य आयी थी। तभी तो अधिक-से-अधिक समय मैं उनके निकट रहकर बिताने लगा था। अत्यन्त वृद्ध हुए तात देवभाग और कंसामाता को प्रतिदिन प्रात: और सन्ध्या समय वन्दन करने जाना मैं भूलता नहीं था। मेरे ज्येष्ठ भ्राता चित्रकेतु और बृहद्बल के विवाह हो चुके थे। अपनी-अपनी पत्नियों और पुत्र-पौत्रों के साथ वे सुखपूर्वक रह रहे थे। बड़ी विचित्र बात थी–जिस सहजता से मैं ज्येष्ठ भ्राता श्रीकृष्ण को 'भैया' कहता आया था, वैसा मैंने चित्रकेतु और बृहद्बल को कभी नहीं कहा था! जैसे मैं रुक्मिणी भाभी को भाभी कहता आया था, वैसे मैंने कभी अपने भ्राताओं की पत्नियों को नहीं कहा था–अनजाने में ही। रुक्मिणी भाभी के अतिरिक्त भैया की अन्य पत्नियों को मैं भाभी ही कहता आया था–किन्तु उनके नैहर के गणराज्य का उल्लेख करते हुए कैकेय भाभी, कोसल भाभी, अवन्ती भाभी–इस प्रकार सम्बोधित करता आया था। मैंने नाम सहित सम्बोधित किया तो केवल रुक्मिणी भाभी को और 'भैया' कहता आया तो केवल द्वारिकाधीश को! मानव-मन की यही विचित्रता होती है, वह किससे, किस सन्दर्भ में, किस प्रकार जुड़ जाएगा, बताया नहीं जा सकता।

आजकल मुझे तीव्रता से प्रतीत होने लगा था कि भैया सैनिक, योद्धा, सेनापति, दल-प्रमुख आदि की अपेक्षा ऋषि, मुनि, तपस्वी, योगी, संन्यासियों के सान्निध्य में अधिक रहने लगे हैं। अचानक एक दिन पूर्वी राजमार्ग के चौक में बिठाये गये नये विशाल समय-दर्शक थाल पर पहला घण्टा ठनठनाता हुआ बजा–उसके बाद दूसरा और तीसरा भी। उस समय मैं भैया के कक्ष में उनके साथ वानप्रस्थ के दिन-क्रम के विषय में, हस्तिनापुर के वैभवशाली राजप्रासाद में जीवन व्यतीत करनेवाले महाराज धृतराष्ट्र और राजमाता गान्धारीदेवी वन में किस प्रकार जीवन बिता रहे होंगे, इस बारे में चर्चा कर रहा था।

नये समय-दर्शक घण्टे की घनघनाहट सुनकर भैया ने अपने नेत्र क्षण-भर के लिए बन्द कर लिये। उनके घुँघराले केश अब पूर्णत: दुग्धवर्णी हो चुके थे। उन्होंने अपनी शुभ्र दाढ़ी-मूँछों की हेतुत: उपेक्षा की थी, किन्तु उनका मुखमण्डल अत्यन्त सत्त्वशील, सतेज दीख रहा था। उनका यह मुखमण्डल अब पितामह भीष्म और भगवान परशुराम का ही स्मरण दिलाता था।

उन्होंने मुझसे कहा, "भ्राता अवधूत, कौन होंगे विशेष अतिथि? चलो, देखें।" वहाँ से निकलते हुए भैया ने सेवक द्वारा बली भैया को नये समय-दर्शक के पास आने का सन्देश भिजवाया।

हम राजमार्ग के उस चौक में आये। हमारे साथ कुछ सशस्त्र सैनिक थे। समय-दर्शक के पाषाणी मंच पर एक लम्बे-से शुभ्र वस्त्रधारी, दाढ़ी-मूँछोंवाले ऋषिवर खड़े थे। दस-पन्द्रह भिन्न-भिन्न आयु के शिष्यगण उन साँवले ऋषिवर को घेरे हुए थे। ऋषिवर से दृष्टि मिलते ही भैया ने अपने सैनिकों को वहीं रोक दिया। झपाके से चलते हुए वे मेरे साथ अग्रसर हुए। हम जगमोहन की सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर आये। बड़े ध्यान से समय-दर्शक पर अंकित यादवों के मानचिह्न देखनेवाले उन ऋषिवर को भैया ने साष्टांग प्रणाम किया। मैंने भी किया। वे थे अत्यन्त वृद्ध महर्षि व्यास!

विवाहित होने के कारण उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किया हुआ था। अपनी शुभ्र-धवल दाढ़ी-मूँछों के कारण वे आकर्षक लग रहे थे। झट से भैया को उठाकर अपने आलिंगन में लेते हुए, बालक की भाँति मुस्कराकर महर्षि ने कहा, "तुम तो अभी से मेरे जैसे दिखने लगे हो! युवराज कहाँ हैं?"

भ्राता गद और सारण सहित बलराम भैया को दूर से आते देखकर महर्षि के शिष्यगण आपस में फुसफुसाने लगे–'द्वारिकाधीश के ज्येष्ठ भ्राता भी आ रहे हैं।'

आते ही बलराम भैया ने अपने भ्राताओं सहित महर्षि को दण्डवत् प्रणाम किया। हम सब पैदल ही सुधर्मा राजसभा में आये। बलराम भैया के आदेशानुसार महर्षि के सत्कार के लिए आवश्यक सामग्री सहित अमात्य सुकृत भी उपस्थित हुए। युवराज के नाते बलराम भैया ने महर्षि का और उनके शिष्यगणों का सत्कार किया। महर्षि के आतिथ्य में इतनी शीघ्रता बरतने का एक विशेष कारण यह था कि एक स्थान पर वे दो दिन से अधिक नहीं रहते थे। वह उनकी प्रथा ही थी।

दो दिन में उन्होंने तात वसुदेव और दोनों राजमाताओं से भेंट की। आचार्य सान्दीपनि और गुरुपत्नी से मिलकर उनकी कुशलता पूछी। महर्षि के दर्शनों के लिए अन्तःपुर के द्वीप से अपने सम्पूर्ण परिवार को बुलवा लेने को भैया ने मुझसे कहा। किन्तु महर्षि ने कहा, "उनको बुलवा लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं ही वहाँ जाऊँगा। सुना है, तुम्हारी रानी रुक्मिणी अत्यन्त स्वादिष्ट गुलगुला ओदन बनाती हैं। तुमने तो उसका यथेच्छ स्वाद लिया है–तनिक मुझे भी लेने दो।" यह कहकर महर्षि निष्पाप शिशु की भाँति खिलखिलाकर हँस पड़े।

यह सुनते ही तो सदैव मन खोलकर बातें करनेवाले भैया की बोलती बन्द हो गयी। विनम्रता से हाथ जोड़कर उन्होंने महर्षि से कहा, "जो आज्ञा, महर्षि!"

महर्षि व्यास शिष्यगणों सहित अन्तःपुर के द्वीप पर गये। मैं और भैया उनके साथ थे ही। महर्षि ने रुक्मिणी भाभी सहित अन्य भाभियों को और भैया के पुत्र-पुत्रियों को दर्शन दिया। एक दिन वहाँ निवास करने के बाद दूसरे दिन ही वे अन्तःपुर के द्वीप से मूल द्वारिका चले आये। अब वे द्वारिका से आगे की यात्रा के लिए निकलनेवाले थे। भैया, बलराम भैया, मैं, सुकृत, सात्यकि, दारुक और प्रद्युम्न सहित भैया के ज्येष्ठ पुत्रों का सप्तक महर्षि को विदा देने के लिए शुद्धाक्ष महाद्वार तक आये। अन्य सभी वहीं रुक गये। केवल भैया, बलराम भैया और मैं महर्षि के साथ शिष्यगणों सहित उनको खाड़ी पार करानेवाली विशाल नौका के पास आये। एक-एक करके उनके शिष्यगण नौका में चढ़ गये। केवल हम चारों–महर्षि, भैया, बलराम भैया और मैं–पीछे रह गये। महर्षि अपना दायाँ हाथ भैया के कन्धे पर रखकर मेरी ओर देखते हुए बोले–"कुरुक्षेत्र का

आघात भी तुच्छ प्रतीत हो, ऐसी सत्त्व-परीक्षा के सत्य का तुम तीनों को सामना करना पड़ेगा।" हम तीनों भ्राता उनके तपःपूत, तेजस्वी मुखमण्डल की ओर देखते रहे। फिर महर्षि ने कहा, "हे युवराज बलभद्र, मेरे शिष्यगणों ने तुम्हारे राजनगर के बारे में मुझे पूरी सूचना दी है। जबसे तुम हिमालय से आये हो, राजप्रासाद से बहुत ही कम बाहर निकलते हो।...और तुम श्रीकृष्ण, कुरुक्षेत्र से आने के बाद तुम अत्यन्त विमनस्क हो गये हो। यह अवधूत उद्धव निरन्तर तुम्हारी ही सेवा में रत रहता है। तुम्हारे प्रजाजन अनुशासनहीन हुए हैं। उनकी केवल भोग-विलास की ओर प्रवृत्ति हुई है। वे अब अपने विहित नित्यकर्मों को भी भूलते जा रहे हैं। इसी से तुम्हारे गणराज्य पर सबसे बड़ा संकट पड़ने की आशंका है। तुम तीनों को सावधान हो जाना चाहिए। प्रजाजनों में से किसी की भी महत्ता का दबाव न मानते हुए तुम्हें कठोर अनुशासन का अवलम्ब लेना चाहिए। अन्यथा पश्चात्ताप करने का भी समय नहीं रहेगा!

"तुम मेरे पुत्रों के समान हो। अत: स्पष्ट शब्दों में मैंने तुम्हें सावधान किया है। मेरे सुनने में यह भी आया है कि तुम्हारे नगरजनों की मद्य-प्रियता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। उसके कारण स्त्रियों के प्रति उचित आदर को पैरों-तले रौंदा जा रहा है। तुम्हारे युद्धप्रिय वीर यादव-सैनिक स्त्री-लम्पट बनते जा रहे हैं। यथार्थ को ध्यान में रखते हुए जो उचित है वह करो। मैं तुम्हें मनःपूर्वक आशीर्वाद दे रहा हूँ। अब आनन्दपूर्वक मुझे विदा करो।"

हमारी ओर पीठ करके, धीमे-धीमे पग धरते हुए महर्षि नौका में चढ़े और अपने शिष्यगणों में मिल गये। हम तीनों के लिए वे अथाह चिन्ता का विषय पीछे छोड़ गये।

दूसरे दिन ही युवराज बलराम ने द्वारिका के प्रजाजनों के लिए कठोर आज्ञापत्र निकाला। डौंडी पिटवाकर सहस्रों नगरजनों तक उसे पहुँचाया। धीरे-धीरे द्वारिका का वातावरण शान्त होने लगा। भैया मेरे साथ खाड़ी पार करके कभी सोमनाथ, कभी नागेश्वर तो कभी वेरावल के पास भालका तीर्थ पर जाने लगे। कभी-कभी वे, सात्यकि, दारुक और मैं प्रभासतीर्थ पर भी जाया करते थे। यादव जब मथुरा में थे, तब से बहुत पहले ही से यह तीर्थक्षेत्र विख्यात था। यदु, क्रोष्टु आदि प्राचीन यादव राजाओं ने मथुरा से प्रभासतीर्थ पर आकर स्नान-दानादि की विधियाँ पूरी की थीं। कुरुक्षेत्र के महायुद्ध को अब दो कल्प बीत चुके थे। भैया और बलराम भैया के पुत्र और पौत्र भी अब संसार-संगर में उतर चुके थे।

कामरूप से आयी सहस्रों स्त्रियाँ भी अब वृद्ध हो गयी थीं। उन्होंने अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार योग्य यादव-सैनिकों से विवाह करके अपने घर बसाये थे। इसके लिए भैया ने उनको प्राग्ज्योतिषपुर में दिये सामूहिक अभय से, शास्त्रानुसार मुक्त किया था। उनकी प्रमुख कशेरू की आयु भी अब ढलने लगी थी। वह राजप्रासाद में आकर कभी युवराज बलराम भैया से, कभी भैया से तो कभी मुझसे मिलकर अपने संकुल में चरणरज छोड़ने की प्रार्थना करती थी।

एक दिन भैया ने मुझसे कहा, "भ्राता ऊधो, आज कोई और काम नहीं करना है। आज का पूरा दिन हम कामरूपी स्त्रियों के संकुल में बिताएँगे। कशेरू को अग्रिम सूचना भिजवा दो।"

भैया की इच्छा के अनुसार दूसरे प्रहर में हम–अर्थात् भैया, मैं, बलराम भैया, सात्यकि, दारुक, अमात्य सुकृत और राजसभा के नव-नियुक्त मन्त्रिगण कामरूपी संकुल में आये।

समस्त संकुल मानो लहलहा उठा! कशेरू ने स्वयं अपनी देखरेख में स्थान-स्थान पर भैया के प्रिय कदम्ब-पुष्पों के तोरण लगवाये थे। संकुल के मध्यवर्ती चौक में ऊँचे मंच पर आस्तरण

बिछाया गया था। देर तक हम सबने वहाँ बैठकर उनके गीत एवं नृत्य का आनन्द लिया। यही नहीं, नृत्य के अन्त में भैया स्वयं आसन से उठे। गोकुल में, मथुरा में चाँदनी रात में रचाये गये रास-नृत्यों में वे जिस प्रकार नृत्य किया करते थे, उसी प्रकार अपने कण्ठ की वैजयन्तीमाला को झुलाते हुए किरीट से झाँकते शुभ्र, घुँघराले केशोंवाले और शुभ्र दाढ़ी-मूँछोंवाले द्वारिकाधीश ने कामरूपी वृद्ध स्त्रियों के साथ भी नृत्य किया।

बलराम भैया की आज्ञा के अनुसार द्वारिका के नगरजन अब अनुशासन में रहने लगे थे। सुधर्मा सभा में नयी पीढ़ी के मन्त्रिगण और दल-प्रमुख अपना-अपना कार्यभार उचित ढंग से सँभालने लगे थे। द्वारिका में पहले जैसे उत्साहपूर्ण रथोत्सव भी होने लगे थे। वृषभ-रथों की, कुक्कुटों की, अश्वों की रोमहर्षक स्पर्धाएँ हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न होने लगी थीं। गदा, खड्ग, बाहुयुद्ध आदि के द्वन्द्वयुद्ध बिना झगड़े के सम्पन्न होने लगे थे। भैया अब सुधर्मा सभा में बहुत ही कम जाया करते थे। युवराज होने के नाते बलराम भैया को तो जाना ही पड़ता था। वृद्ध तात वसुदेव और दोनों माताओं को विश्राम दिलवाकर वे अब सफलतापूर्वक राजसभा का कार्यभार सँभालने लगे थे। पश्चिम सागर में क्रोष्टु दीपस्तम्भ पर पुरुष-भर लम्बी तैल-वर्तिका नित्य प्रज्वलित रहती थी। आजकल आचार्य सान्दीपनि अपने पुत्र दत्त के साथ अवन्ती के अंकपाद आश्रम में लौट जाने की बातें करने लगे थे। मैं और भैया पुनः-पुन: उनको इस विचार से डिगाने का प्रयत्न कर रहे थे।

पाण्डवों के अश्वमेध यज्ञ के अश्व के साथ समस्त आर्यावर्त में भ्रमण करते हुए धनुर्धर अर्जुन सफलतापूर्वक हस्तिनापुर लौटा था। उसके इस भ्रमण में मणिपुर में उसी के पुत्र बभ्रुवाहन ने उसके यज्ञीय अश्व को रोका था। अपने को 'पराक्रमशून्य' कहनेवाले अपने पिता का उसने युद्ध के लिए आह्वान किया था। मणिपुर राज्य की सीमा पर यज्ञीय अश्व की प्रतिष्ठा के लिए पिता-पुत्रों में घमासान युद्ध हुआ। उसमें पराक्रमी बभ्रुवाहन ने अपने पिता को–साक्षात् गाण्डीवधारी अर्जुन को पराजित किया था। अर्जुनपत्नी चित्रांगदादेवी ने मध्यस्थता करके उन दोनों में समझौता करवाया था।

पाण्डव-महाराज युधिष्ठिर का यज्ञीय अश्व के स्वागत का आमन्त्रण द्वारिका आ पहुँचा था। यादवों की ओर से सेनापति सात्यकि अपने पिता का कार्यभार सँभालनेवाले युवा अनाधृष्टि-पुत्र के साथ हस्तिनापुर हो आया था। उसी के द्वारा द्रौपदी का कुशल-समाचार प्राप्त हुआ। महाराज्ञी पद का दायित्व वे सफलतापूर्वक निभा रही हैं, यह सुनकर भैया प्रसन्न हुए थे। हमारी सुभद्रा भी दक्षतापूर्वक अभिमन्यु-उत्तरा के पुत्र परीक्षित का पालन कर रही थी। वह भी अब बड़ा हो गया था।

दिन बीतते गये और पुन: एक दिन समय-दर्शक पर विशेष अतिथि के आने का संकेत देनेवाले घण्टे तीन बार बज उठे–ठन् ऽ ठन् ऽऽ ठन् ऽऽऽ। उन घण्टों को सुनकर भैया सतर्क हुए। बलराम भैया को बुलाने के लिए उन्होंने मुझे उनके कक्ष में भेजा। उनको लेकर ही मैं भैया के कक्ष में लौटा। आते-आते बलराम भैया ने अमात्य, सात्यकि और दारुक को समय-दर्शक के पास आने की सूचना भिजवायी।

भैया, बलराम भैया और मैं आगन्तुक अतिथि के विषय में सोचते हुए समय-दर्शक घण्टे के

समीप पहुँचे।

अपने शिष्यगण और हमारे यादव-सैनिकों के मध्य खड़े थे साक्षात् आचार्य घोर-आंगिरस!

द्यूत के पश्चात् जब पाण्डव द्रौपदीदेवी सहित वन चले गये थे, तब भैया अत्यन्त विमनस्क हो गये थे। उस समय मुझे और दारुक को लेकर वे आचार्य घोर-आंगिरस के पास प्रयागक्षेत्र गये थे। तब आचार्य ने भैया को ब्रह्मज्ञान का गहन उपदेश देकर बहुत-कुछ सँभाला था। अब वे स्वयं बिना कोई सूचना दिये अचानक द्वारिका आ पहुँचे। अब स्पष्ट दिख रहा था कि उन्होंने जैन विचारधारा को स्वीकार किया है। उनके शिष्यगण पहले काषाय वस्त्र धारण किया करते थे, किन्तु अब उन्होंने श्वेत वस्त्र धारण किये हुए थे।

महर्षि व्यास ही की भाँति आचार्य घोर-आंगिरस ने भी भैया को, मुझको और बलराम भैया को आलिंगन में भर लिया था। उनके मुख पर पहले जैसी ही श्वेत वस्त्र-पट्टी बँधी हुई थी। वे भी अब बहुत ही वृद्ध हो चुके थे। वे पहले से बहुत ही कम बोलने लगे थे। उनकी आयु और मुख पर बँधी वस्त्र-पट्टी के कारण उनके शब्द अस्पष्ट रूप में सुनाई दे रहे थे।

अत्यन्त शान्त और स्थिर स्वर में उन्होंने भैया से कहा, “प्रयाग में मैंने तुम्हें जो ब्रह्मविद्या का ज्ञान कराया था उसका तुमने कहाँ तक और कैसे पालन किया है, यह प्रत्यक्ष देखने आया हूँ मैं। मैं जानता हूँ, कुरुक्षेत्र में तुम्हारा करवाया गया महायुद्ध एक महायज्ञ ही था, और वह आवश्यक भी था। वह प्रज्वलित न होता तो आर्यावर्त का रूप कैसा विरूप होता, यह भी मैं समझ सकता हूँ। किन्तु इस समय मैं तुम्हें किसी प्रकार का उपदेश देने नहीं आया हूँ, बल्कि जीवन के इस मोड़ पर तुम्हीं से जीवन का यथार्थ जानने आया हूँ।”

“आप मुझे लज्जित कर रहे हैं, आचार्यश्री!” भैया नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर उनके आगे नतमस्तक होते हुए बोले—“आइए आचार्यश्री, शान्तिपूर्वक बातें करें।”

महर्षि व्यास की भाँति आचार्य घोर-आंगिरस ने भी राजसभा में जाना स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा, “राजोपचार-धर्म-सत्कार-समारोह में मुझे तनिक भी रुचि नहीं है। तुमसे मनःपूर्वक वार्तालाप करने की मेरी इच्छा है—केवल तुमसे! मेरे शिष्य उद्धव और दारुक श्रोता के नाते वहाँ उपस्थित हों, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। तुमसे बातें करने के बाद तुम्हारे तात वसुदेव, दोनों माताएँ और तुम्हें गढ़नेवाले आचार्य सान्दीपनि के दर्शन करके नित्य-निवास के लिए मैं रैवतक चला जाऊँगा।”

अंगिरस कुल के ये घोर तपस्वी, मूलत: अरिष्टनेमि नामक यादववंशीय ही थे। अब वे ही जैन विचारधारा के ‘नेमिनाथ’ नामक तीर्थंकर बन गये थे।

तपस्वियों की प्रथा के अनुसार वे भी दो ही दिन द्वारिका में रहे। उन्होंने किसी भी प्रकार का सत्कार स्वीकार नहीं किया। वे अत्यन्त मितभाषी और मिताहारी थे। भैया के कक्ष में आने पर उनको अपनी दायीं ओर बैठक पर बिठाकर, हमें आगे बैठने का संकेत किया, फिर भैया की पीठ थपथपाते हुए उन्होंने कहा, “कुरुक्षेत्र में तुमने अर्जुन से जो कुछ कहा, उसका केवल सारांश मुझे बताओ। मैं केवल सुनना चाहता हूँ, बोलना केवल तुम्हें है! वैसे भी तुम्हारे केश भी अब श्वेत हो चुके हैं। सबको सीख देने का अधिकार तुम्हें पहले भी था, अब भी है...निस्संकोच बोलो!”

फिर भैया बोलते गये—हम सुनते गये। विषादयोग, कर्मयोग, राजयोग ज्ञानयोग पर बात करते-करते वे अपने प्रिय प्रेमयोग के विषय में भावविभोर होकर बोले। ऐसा लग रहा था कि

उनकी वाणी सुनते ही रहें! बहुत देर बाद भैया ने अपनी अँगुलियों को दाढ़ी-मूँछों में छिपे गुलाबी होठों के पास ले जाते हुए सबको भोजन का स्मरण दिलाया–"पहले हम इस यज्ञकर्म को सफल करें!"

पहली ही बार मुस्कराते हुए आचार्य घोर-आंगिरस ने कहा, "श्रीकृष्ण, गोकुल का तुम्हारा नटखटपन अभी तक कम नहीं हुआ है! इतना बड़ा बौद्धिक खाद्य खिलाने के पश्चात् भी भोजन के नित्यकर्म को तुम नहीं भूले। क्या मैं और क्या आचार्य सान्दीपनि–कोई भी तुम्हारे गुरुपद का अधिकारी नहीं हो सकता।" –वे आगे कुछ कहें इससे पहले अनका हाथ थामकर प्रेमपूर्वक उन्हें भोजन के लिए उठाते हुए भैया ने कहा, "मैं जानता हूँ कि आप एकभुक्त हैं। किन्तु फल और दुग्ध ग्रहण करने में तो कोई आपत्ति नहीं है। आपके शिष्यगणों सहित अन्य सभी आपके साथ भोजन ग्रहण करेंगे।"

आचार्य घोर-आंगिरस के सान्निध्य में दो दिन कैसे व्यतीत हुए, कुछ पता ही नहीं चला। उनके आगमन का समाचार रैवतक नरेश ककुद्मिन को प्राप्त हुआ था। बिना कोई सूचना दिये वे अपने अमात्य और सेनापति सहित तत्परता से आचार्य के स्वागत के लिए उपस्थित हुए। वे आचार्य को सदा के लिए रैवतक पर ले जानेवाले थे। वहाँ उन्होंने आचार्य के लिए एक देवप्रतिमा रहित सुसज्जित आश्रम बनवाया था।

भैया ने अन्तःपुर के द्वीप पर मुझे भेजकर आचार्य के दर्शन के लिए अपनी सभी रानियों और पुत्र-पुत्रियों को बुलवा लिया। मेरे द्वारा ही उन्होंने रुक्मिणी भाभी को विशेष सन्देश भिजवाया था–"आचार्य और उनके शिष्यों को तुम्हारे द्वारा बनाये हुए गुलगुले ओदन का भोजन कराना है। विपुल मात्रा में ले आना!"

भैया के सन्देश के अनुसार रुक्मिणी भाभी उपस्थित हुईं। भैया, मैं, बलराम भैया, महाराज ककुद्मिन, अमात्य सुकृत, सात्यकि, दारुक और आचार्य के सभी शिष्यों ने वार्त्तालाप करते-करते आनन्दपूर्वक ओदन ग्रहण किया।

तात वसुदेव, दोनों राजमाताएँ, आचार्य सान्दीपनि, गुरुपत्नी, गुरुपुत्र दत्त से मिलकर आचार्य घोर-आंगिरस महाराज ककुद्मिन के साथ, अपने शिष्यगणों सहित द्वारिका छोड़कर रैवतक पर्वत पर चले गये।

उनके जाने के बाद कई दिन हम तीनों भ्राताओं को एक अभाव-सा प्रतीत होता रहा। उनको विदा देने के लिए आयी मेरी सभी भाभियों के स्वभाव के एक अलग ही पहलू के मुझे दर्शन हुए। वे सभी भैया से नितान्त प्रेम करती थीं। अलग-अलग कारणों से वे मुझे भैया के कक्ष में बुलवा लेती थीं। भैया के बनवाये गये श्रीसोपान के विषय में उन सबको अपार कुतूहल था। उन सबको विश्वास था कि उनके नाम की सीढ़ी श्रीसोपान में होगी ही! किन्तु उसमें अपना क्रमांक क्या है, यह जानने के लिए वे अत्यन्त उत्सुक थीं। उसमें भी एक सूक्ष्म भाव था–अपने नीचे की सीढ़ी किसके नाम है और ऊपर की सीढ़ी किसके नाम, यह जानने की एक गुप्त-सूक्ष्म जिज्ञासा! इन सबमें अपवाद थी केवल रुक्मिणी भाभी! अन्य सभी भाभियाँ खोद-खोदकर इस विषय में मुझसे पूछताछ किया करती थीं–कभी-कभी अपने नाम की सीढ़ी प्रत्यक्ष रूप में दिखाने का मुझसे आग्रह भी करती थीं। केवल रुक्मिणी भाभी ने इस विषय में मुझसे कभी कुछ नहीं पूछा।

जब मैंने अन्य सभी भाभियों द्वारा की गयी पूछताछ के विषय में उनसे कहा, तब वे केवल

मुस्करायीं–भैया के ही समान! मैंने चकराकर उनसे पूछा, "भाभी, क्या आपको इस विषय में तनिक भी कुतूहल नहीं है?"

उन्होंने नितान्त सरलता से कहा, "क्या करना है मुझे सीढ़ी-वीढ़ी से? मैं तो उनके चरणों की धूल हूँ। क्या मैं सदैव उनके चरणों में नहीं होती?" यह उत्तर उनको ही सूझ सकता था। बल्कि वह उत्तर था ही नहीं–वह था उनका सहजोद्गार!

इस निमित्त भामा भाभी में आया आमूल परिवर्तन मुझे स्पष्ट प्रतीत हुआ। मैंने उनसे भी पूछा, "श्रीसोपान में अपने नाम की सीढ़ी है अथवा नहीं, यह जानने के लिए आप क्यों उत्सुक हैं?" मेरे इस प्रश्न से सतर्क होकर उन्होंने मुझसे ही पूछा–"क्या आपने यह प्रश्न कभी रुक्मिणी दीदी से पूछा है? क्या उत्तर दिया उन्होंने?" रुक्मिणी भाभी का उत्तर उनको बताते ही आँखें विस्फारित करते हुए उन्होंने कहा, "ऐसा कहा दीदी ने?" इसके बाद यह प्रश्न उन्होंने मुझसे फिर कभी नहीं पूछा।

भैया के पुत्रों में से किसी की भी इस श्रीसोपान के प्रति उत्सुकता होने का मुझे कभी आभास नहीं हुआ। उनमें से किसी ने भी इस विषय में मुझसे कभी कुछ नहीं पूछा। कभी-कभी मुझे तीव्रता से लगता था कि भैया, बलराम भैया, उनके भ्राता और मेरे भ्राताओं के पुत्रों की पीढ़ी ही अलग है। द्वारिका में प्रतिदिन दिखते चमकते स्वर्ण को देख-देखकर उनकी दृष्टि ही क्षीण हुई है। श्रीसोपान की स्वर्णिम सीढ़ियाँ और द्वारिका के स्वर्ण-मण्डित प्राकार में उन्हें कोई अन्तर प्रतीत नहीं हो रहा है।

प्रत्येक वर्ष भाद्रपद महीने की वद्य अष्टमी को श्रीसोपान का विधिवत् पूजन हुआ करता था। उस दिन प्रातःकाल ही भैया अपने कक्ष से नीचे उतरकर सोपान के समीप के विशाल प्रांगण में आया करते थे। सूर्योदय के साथ ही द्वारिकावासी स्त्री-पुरुषों की, आबाल-वृद्धों की राजप्रासाद के प्रांगण में भीड़ लगने लगती थी। मैं, बली भैया, सात्यकि, दारुक, अमात्य आदि के घेरे में स्वर्णिम आसन पर बैठे भैया को प्रत्येक द्वारिकावासी पहले वन्दन किया करता था, फिर उसी भक्तिभाव से श्रीसोपान पर गन्ध-पुष्प अर्पित करके, उसकी पहली सीढ़ी पर मस्तक रखकर लौट जाता था। दूसरे प्रहर के पश्चात् आसपास के सौराष्ट्र, आनर्त, दशार्ण, अवन्ती, भृगुकच्छ आदि प्रदेशों से नौकाओं से खाड़ी पार करके दर्शनार्थी द्वारिका में आने लगते थे। दिन-भर यह उत्सव अथक रूप में चलता रहता था। सन्ध्या समय तक श्रीसोपान की पहली सीढ़ी कुंकुम से सनी और विविध प्रकार के पुष्पों से आच्छादित होती थी।

सम्पूर्ण आर्यावर्त में जिस प्रकार स्वर्णद्वारिका का डंका बज रहा था, उसी प्रकार द्वारिका के परिसर में यह श्रीसोपान झलक रहा था। उसे उसकी अपनी एक गौरवशाली नाममुद्रा प्राप्त हुई थी–सुकीर्ति प्राप्त हुई थी।

आचार्य घोर-आंगिरस के आकर चले जाने के पश्चात् भैया की चित्तवृत्ति में भी एक सूक्ष्म परिवर्तन आया था। निरन्तर उनके सान्निध्य में होने के कारण मुझे उसका आभास हुआ था। प्रतिदिन सन्ध्या समय तात वसुदेव और दोनों राजमाताओं के दर्शन करने हम जाया करते थे। पहले भैया उनको वन्दन करते, फिर द्वारिका में उस दिन घटित हुई महत्त्वपूर्ण घटनाओं की चर्चा करके शीघ्र ही उनसे विदा ले लेते थे। किन्तु अब वे तात वसुदेव को प्रणाम करके उनके पर्यंक पर ही बैठने लगे थे। तात को शवासन में लेटने को कहकर, उनके चरण अपनी गोद में लेकर

पीताम्बरधारी भैया घण्टों उनकी चरण-सेवा करते रहते थे। मैं भी स्वयं ही तात का दूसरा चरण अपने अंक में लेकर उनकी चरण-सेवा में लग जाता था। उस समय भैया अपनी मधुर वाणी में तात वसुदेव से भिन्न-भिन्न विषयों पर वार्त्तालाप किया करते थे। उनकी मधुर वाणी सुनना मेरे लिए सर्वाधिक आनन्द की बात थी। अत: मैं क्वचित् ही बोलता था। उनकी संवाद-समाधि को भंग करने का मन नहीं करता था। कंस कितना उन्मत्त, अत्याचारी था, और उसने मथुरा के कारागृह में भैया के अग्रजों को किस प्रकार शिला पर पटककर मार डाला था–यह बताने का प्रयास तात बार-बार करते थे, किन्तु भैया उनको अवसर ही नहीं देते थे। उनका ध्यान दूसरी ओर खींचते हुए वे कहते थे, "तात, कालयवन से हुए युद्ध में हम दोनों में पाषाण-युद्ध हुआ था।" भैया ने विषय-परिवर्तन किया है, यह बात तात के ध्यान में ही नहीं आती थी। कालयवन का नाम आते ही वे यादवों के पूर्वज–तपस्वी नरेश मुचुकुन्द के विषय में बातें करने लगते थे। उसी विषय को भैया आगे बढ़ाते थे। भविष्य में घोर-आंगिरस बने यादव कुल के अरिष्टनेमि ने किस प्रकार मुचुकुन्द से ही प्रेरणा ली और क्षत्रिय जीवन को त्यागकर उन्होंने तपस्वी जीवन को अपनाया, इसकी चर्चा भैया करने लगते थे। अपनी बातचीत में मुझे सम्मिलित करने हेतु भैया बीच ही में मुझसे पूछते थे, "बन्धु उद्धव, अवधूत बनने की प्रेरणा तुमने आचार्य घोर-आंगिरस से तो नहीं ली है?" तब श्रवण-भक्ति छोड़कर मुझे बोलना ही पड़ता था।

तब तक भैया की चरण-सेवा के कारण तात वसुदेव निद्रा के अधीन होने लगते थे। मेरी ओर देखते हुए, 'आज का काम समाप्त हुआ' इस अर्थ से आँखें झपकाकर भैया मुस्कराते थे। उनकी मुस्कराहट में बचपन की चमक और निष्पापता में तनिक भी त्रुटि नहीं आयी थी। अपने अंक से तात का चरण धीमे से उठाकर, शैया पर रखकर वे वहाँ से निकलते थे। मैं भी उनका अनुसरण करता था।

उसके बाद हम दोनों राजमाताओं के कक्ष में जाते थे। वहाँ भी भैया देवकी माता को शैया पर विश्राम करने को कहकर, उनकी चरण-सेवा करने लगते थे। मैं भी उनका हाथ बँटाने लगता था। तात से तो वे बहुतेरी बातें कर चुके होते थे, सम्भवत: इसी कारण देवकी माता से वे कहते थे, "बड़ी माँ, आप बोलिए। आपके पास मैं केवल सुनने के लिए ही आया हूँ।"

वह भोली-भाली प्रेमल राजमाता काँपते शब्दों में कहती थी, "क्या कहूँ पुत्र कृष्ण! जब तुम जनमे तब इतने से थे–हाथ-भर!" उन्होंने अपने झुर्रियों-भर हाथ से संकेत करते हुए बताया। उसके बाद वे अपने भ्राता कंस ने भैया के नवजात भ्राताओं को एक-एक करके किस प्रकार निर्दयता से शिला पर पटक-पटककर मार डाला, यह अपने काँपते स्वर में बताने लगती थीं। कृष्ण भैया विषय-परिवर्तन करने का पर्याप्त प्रयास करते थे। किन्तु असफल ही रह जाते थे। राजमाता उनको रोककर सीधे कहती थीं, "पुत्र, विषयान्तर करवाने की तुम्हारी आदत से मैं भली-भाँति परिचित हूँ। अत: तुम्हारी यह चाल मेरे आगे नहीं चलेगी। मैं जो कह रही हूँ, उसे चुपचाप सुन लो।" यह सुनकर इन्द्रप्रस्थ हस्तिनापुर, द्वारिका की राजसभाओं को अपनी वाक्पटुता से मन्त्रमुग्ध कर देनेवाले भैया चुप हो जाते थे। बड़ी माँ को नींद तो नहीं आती थी। कुछ देर बाद वे ही कहती थीं–'छोड़ो अब मेरी चरण-सेवा को! तुम ठहरे द्वारिकाधीश–तुम्हें और भी कुछ काम होंगे। जाओ–अब छोटी माँ को भी अपनी चरण-सेवा का लाभ लेने दो।" हम उनको दुशाला ओढ़ाकर रोहिणी माता के कक्ष की ओर चले जाते थे।

माता-पिता के प्रति भैया के नम्र आदरभाव को देखते हुए एक दिन मुझे सहसा ध्यान आया कि भैया के अस्सी पुत्रों में से किसी ने भी एक प्रथा के रूप में चरणस्पर्श करने के अतिरिक्त कभी अपने चक्रवर्ती पिता की चरण-सेवा नहीं की थी! इस प्रकार का विचार भी कभी उनमें से किसी के मन में नहीं आया था। इसका तात्पर्य यही था कि आकाश में तपते सूर्यदेव के नीचे बढ़ती हुई प्रत्येक पीढ़ी अलग होती है। उसके आचार-विचार, आदर्श अलग होते हैं। और यह तत्त्व शाश्वत रूप में सत्य है।

भैया मुझे लेकर कभी सोमनाथ, कभी नागेश्वर, तो कभी भालका आदि तीर्थों में सदैव जाया करते थे। कभी-कभी हम प्रभासक्षेत्र भी जाते थे। बहुत पहले की भाँति भैया की दिनचर्या पुन: बिना किसी विक्षेप के आरम्भ हो गयी थी।

हम दोनों के सम्भाषणों में पाण्डवों का विषय बार-बार आता था। युधिष्ठिर संवत् को अब समस्त आर्यावर्त ने स्वीकार किया था। हस्तिनापुर और उसके आसपास के गणराज्य उस संवत् के नियमों के आधार पर ही पर्व-उत्सव सम्पन्न करने लगे थे। आसपास के सभी राज्यों से पाण्डवों के साथ आत्मीय, मित्रता के सम्बन्ध स्थापित हुए थे। महात्मा विदुर और अनुभवी मन्त्री संजय के मार्गदर्शन में उनका राज्य-शासन सुचारु रूप से चल रहा था। अश्वमेध यज्ञ के अर्जुन के सफल दिग्विजय के कारण प्रतिवर्ष हस्तिनापुर में असीम सम्पत्ति जमा होने लगी थी। धार्मिक और प्रजाहित तत्पर पाण्डवों ने गंगा-तट के स्थान-स्थान पर सुन्दर पाषाण-घाट बनवाये थे। स्थान-स्थान पर पानी के कूप खुदवाये थे। विशाल उद्यान, गदा, खड्ग और धनुर्विद्या की स्पर्धाओं के लिए सुरचित क्रीड़ांगण और व्यायामशालाओं से राजनगर हस्तिनापुर सम्पन्न हुआ था। पाण्डवों की कीर्ति सुनकर आसपास के राज्यों के कलाकारों और शिल्पकारों की भी हस्तिनापुर में भीड़ होने लगी थी। कुछ लोग तो कुरुक्षेत्र के घोर महायुद्ध को जीतनेवाले पराक्रमी भीमार्जुन को आँख-भर देखने हेतु बड़े कुतूहल से हस्तिनापुर आते थे। पाण्डवों ने भी अब नगर के मध्य इडादेवी का सुघड़ पाषाणों का मन्दिर बनवाया था। अर्जुन के शुभ्र-धवल अश्वोंवाले रथ में बैठकर महाराज्ञी द्रौपदीदेवी अपनी सेविकाओं सहित विशिष्ट दिन देवी के दर्शन करने जाती थीं। उनके नन्दिघोष रथ को कपिध्वज और शुभ्र अश्वों के कारण नगरजन दूर से ही पहचानते थे। रथ से आयी सुगन्ध की लहरों से चतुर नगरजन भाँप लेते थे कि रथ में महारानी द्रौपदीदेवी हैं। नगर की उत्तर सीमा पर पाण्डव-पुरोहित धौम्य ऋषि का आश्रम था। जीवन के मार्गदर्शन के लिए चारों ओर के गणराज्यों से शिष्यगण उस आश्रम में आते थे। पाण्डवों ने भैया के प्रपौत्र वज्र का विधिवत् राज्याभिषेक किया था। किन्तु अनिरुद्ध-रोचना का यह पुत्र अभी तक अल्पायु होने के कारण, सज्ञान होने तक हस्तिनापुर में ही रहनेवाला था। उसके प्रतिनिधि के नाते एक महामन्त्री इन्द्रप्रस्थ के शासन का संचालन करनेवाले थे। वैसे अब दोनों राज्य पाण्डवों के लिए ही बन गये थे। दोनों ओर महाराज युधिष्ठिर का ही संवत् माना गया था। अभिमन्यु-उत्तरा का पुत्र परीक्षित धौम्य ऋषि और अन्य निष्णात आचार्यों के मार्गदर्शन में शस्त्रास्त्र-विद्या, राजकुल के शिष्टाचार आदि का ज्ञान प्राप्त कर रहा था।

अवसर मिलते ही चारों भ्राता युधिष्ठिर से द्वारिका जाने की अपनी इच्छा व्यक्त करते थे। तब युधिष्ठिर उनसे कहता था–"हस्तिनापुर के राज्य-शासन का उचित प्रबन्ध किये बिना श्रीकृष्ण से मिलना उचित नहीं होगा। मिलते ही वे हस्तिनापुर की राज्य-व्यवस्था के बारे में पूछेंगे। प्रजाहित के कौन-से काम हमने किये हैं, यह पूछे बिना वे नहीं रहेंगे। अत: सब कार्यों को पूरा करने के

पश्चात् ही, श्रीकृष्ण को रुक्मिणीदेवी सहित आमन्त्रित करने मैं द्वारिका जाऊँगा।... अश्वमेध यज्ञ के पश्चात् भी वे हस्तिनापुर नहीं आये हैं। क्या इसी से उनका हेतु स्पष्ट नहीं होता? उनको आमन्त्रित करने मेरा अकेले जाना भी उचित नहीं होगा। उसके लिए द्रौपदी और सुभद्रा सहित हम सबको जाना होगा।"

केवल पाण्डव ही नहीं, भारतीय युद्ध में भाग लेनेवाले प्रत्येक राजा की अगली पीढ़ी के वंशज की यही इच्छा थी कि द्वारिकाधीश के चरण उनके राज्य में पड़ें। ऐसे कई आमन्त्रण भैया को मिले थे, किन्तु किसी भी आमन्त्रण को उन्होंने स्वीकार नहीं किया था।

एक अविस्मरणीय प्रसंग मुझे स्मरण आ रहा है। द्वारिका आनेवाले भिन्न-भिन्न राज्यों के सेनापति, अमात्य, राजपुरोहित आदि अपने-अपने ढंग से एक बात हमसे कहना नहीं भूलते थे–उनके राज्यों के राजपुत्र, प्रज्ञावान आश्रमकुमार अवसर पाते ही हस्तिनापुर जाते थे। वहाँ धनुर्धर अर्जुन से भेंट किये बिना वे नहीं लौटते थे। महाराज युधिष्ठिर और अन्य तीन पाण्डवों से मिलने के लिए वे इतने आग्रही नहीं थे, किन्तु अर्जुन से भेंट होने तक वे हस्तिनापुर में ही पड़ाव डाले रहते थे।

वे अर्जुन से कुरुक्षेत्र की रणभूमि पर युद्ध के आरम्भ में भैया के दिये गये उपदेश के विषय में पूछते थे। पहले अर्जुन बात को टालता, किन्तु भैया की सौगन्ध देते ही वह तन्मय होकर भैया के हितोपदेश के विषय में बोलने लगता था। इस प्रकार भैया द्वारा अकेले अर्जुन को दिया गया उपदेश एक के मुख से दूसरे तक, दूसरे के मुख से तीसरे तक होता हुआ प्रसारित हो रहा था। वह सहज ही अनन्तमुखी हो रहा था। कुरुजांगल, हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ आदि ब्रह्मावर्त की घाटियों के प्रजाजन उस हितोपदेश को 'श्रीकृष्णगीता' के नाम से पहचानने लगे थे।

इस प्रकार अपने समक्ष यह सब घटित होता देखकर कभी-कभी मुझे लगता कि यद्यपि भैया मुझे परमसखा भावविश्वस्त, अवधूत कहते हैं, किन्तु उनका प्राणप्रिय, परमप्रिय सखा अर्जुन ही है! अपने मन का यह विचार मैंने कभी भी भैया से स्पष्ट रूप में नहीं कहा।

एक दिन हम भैया के कक्ष में बैठे हुए बातें कर रहे थे। काम्पिल्यनगर से आये पांचाल सेनापति, अमात्य और वृद्ध ऋषिवर याज-उपयाज वहाँ उपस्थित थे। वे भैया को उनकी 'श्रीकृष्णगीता' गंगा की घाटी में पांचाल-जनों के घर-घर कैसे पहुँच गयी है, इसका वृत्तान्त सुना रहे थे। भैया निर्लिप्त मन से, मुस्कराते हुए, मौन रहकर ही सबकी बातें सुन रहे थे। तभी श्रीसोपान की ओर से कुछ कोलाहल सुनाई देने लगा। उसे सुनते ही हमारी बैठक में शान्ति छा गयी। समय-सूचक मंच की चौकी का प्रमुख अपने हाथ में भाला और कटि का खड्ग सँभालते हुए उतावली में कक्ष में घुस आया। कुछ डरते, ठिठकते हुए वह कहने लगा, "मैंने बहुत समझाया–मुनिवर यहीं रुकिए, अपने आगमन की सूचना देने के लिए घण्टा बजाइए–यदि आप नहीं बजाना चाहते तो मैं बजा देता हूँ–द्वारिकाधीश को अपने-आप सूचना मिल जाएगी और वे स्वयं आपसे मिलने चले आएँगे। किन्तु...किन्तु उन दाढ़ीवाले मुनिवर ने मेरी एक भी नहीं सुनी। मेरी बात को अनसुना करके उन्होंने कहा, 'नहीं–तेरे द्वारिकाधीश को अपने आगमन की अग्रसूचना देने की मुझे क्या आवश्यकता पड़ी है? मैं सीधे जा रहा हूँ उसके पास!' वे छरहरी काया-काठीवाले, हाथ में वक्र बिल्वकाष्ठ लिये मुनिवर अपने हाथ के उस काष्ठ को धरती पर ठोंकते हुए इसी ओर आ रहे हैं। द्वारिकाधीश की अवज्ञा का दोष मुझे न लगे, इसलिए दौड़ता हुआ उनके आने के पहले ही मैं यहाँ

आया हूँ।” हाँफता हुआ वह दल-प्रमुख मुक्ति की साँस ले ही रहा था कि वक्र बिल्वकाष्ठधारी, छरहरी कायावाले, ऊँचे श्यामवर्णी, दाढ़ी-जटाधारी ऋषिवर ने श्रीसोपान चढ़कर भैया के कक्ष में प्रवेश किया।

उनको देखते ही भैया तड़ाक् से आसन से उठे। शीघ्रता से आगे बढ़कर उन्होंने चारों ओर आँखें घुमानेवाले उन ऋषिवर के लम्बी अँगुलियोंवाले कृश चरणों में सीधे दण्डवत् किया। उस दृश्य को देखते ही मेरे सहित सभी पांचाल झट से उठ खड़े हुए और हम सबने भी उनको साष्टांग प्रणाम किया। भैया ने प्रेमपूर्वक उनका कृश हाथ अपने हाथ में ले लिया। फिर “कब हुआ ऋषिवर का आगमन द्वारिका में?” पूछते हुए भैया ने आदर सहित उनको अपने आसन पर ला बिठाया। नतमस्तक होते हुए, हाथ जोड़कर भैया ने उनसे कहा, “आज्ञा दीजिए ऋषिवर। कैसे आना हुआ?”

सीधे कक्ष में घुसे, इकहरी काया के उन ऋषिवर ने अपनी आरक्त दृष्टि एक बार हम सब पर घुमायी। अपने बिल्वकाष्ठ को एक बार हवा में उड़ाकर वे गरज उठे, “स्वयं को द्वारिकाधीश कहलानेवाले कृष्ण, क्या स्थिति है तुम्हारी द्वारिका की? मैं नगर में घूमकर आया हूँ। यहाँ चौक-चौक में मदिरालय खड़े हुए हैं! तुम्हारे वीर यादव क्षत्रियत्व को भूलकर, मद्य पी-पीकर तुच्छ से कारण के लिए भी रात-दिन आपस में झगड़ते रहते हैं। केवल तुम्हारे शस्त्रधारी दल-प्रमुखों को देखकर ही कुछ देर के लिए वे चुप हो जाते हैं–भोले बने रहते हैं!”

मैं भैया की ओर देखता रहा। वे कोई भी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं कर रहे थे। किन्तु ऋषिवर के रुद्रावतार को देखकर पांचाल-प्रमुख भयभीत हुए थे। भौंहें चढ़ाकर, आपस में कानाफूसी करते हुए, दबे स्वर में पूछ रहे थे–“कौन हैं ये ऋषिवर?”

ऋषिवर अपना बिल्वकाष्ठ और आरक्त आँखें घुमाते हुए कड़क उठे, “मैं कौन हूँ, यह जानने की किसको आवश्यकता पड़ी है? जिसे जानना है, वह सुन ले–मैं हूँ ऋषिश्रेष्ठ अत्रि का पुत्र–दुर्वाऽसा!” भैया पर आँखें लगाकर वे पुन: गरज उठे–“हे द्वारिकाधीऽश, कहाँ-कहाँ से उठा लाये हो इन पत्थरों को? निकाल दो सबको! इतने प्रचण्ड महाभारतीय युद्ध को तुमने प्रज्वलित किया! क्या मिला उससे? उसकी अपेक्षा अपनी स्वर्ण-द्वारिका के निवासियों का मन स्वर्णिम बनाने में अपना जीवन व्यतीत करते तो उचित नहीं होता क्या? अब तुम्हारा न इन्द्रप्रस्थ की ओर ध्यान है, न हस्तिनापुर की ओर, न ही द्वारिका की ओर! तुम्हारी द्वारिका के सहस्रों यादव द्वारिका में आनेवाली असीम सम्पत्ति के कारण उन्मत्त और निरंकुश हो गये हैं–किसी की सुनते नहीं हैं। अरे, अनुशासन न हो तो तीन हाथ का यह शरीर भी ठीक से काम नहीं करता–तब अनुशासनहीन राज्य का क्या होगा? स्वर्ण के राज्य को मिट्टी बनने में कितनी देर लगेगी? क्या समझते हो तुम अपने-आप को? वासुदेव? भगवान? कर्तुमकर्तुम्?”

हम सब थर्राकर सुनते ही रहे। भैया भी सिर झुकाकर केवल सुन रहे थे–कुछ बोल नहीं रहे थे।

वह देखकर दुर्वासा और भी भड़क उठे, “पाण्डव-माता, तुम्हारी बुआ, मेरे देवहुति मन्त्र की अधिकारिणी कुन्तीदेवी का क्या हुआ, कुछ पता है तुम्हें?”

अब चौंककर भैया ने सिर ऊपर उठाया। विवशता से उसे नकारार्थी रूप में हिलाया। भैया का ऐसा असहाय रूप मैंने कभी भी नहीं देखा था। हमारे कान खड़े हो गये।

“अन्धे धृतराष्ट्र और अन्धत्व स्वीकार करनेवाली गान्धारी की सेवा करने हेतु उनके साथ

वन जानेवाली तुम्हारी बुआ कुन्तीदेवी वन में अचानक भड़क उठी दावाग्नि का भक्ष्य बन गयी! वारणावत के वन में लाक्षागृह बनवाकर पाँचों पुत्रों सहित कुन्ती को भस्मसात् करने का षड्यन्त्र रचनेवाला धृतराष्ट्र भी स्वयं ही अपनी साध्वी पत्नी के साथ दावाग्नि में भस्मसात् हो चुका है! हस्तिनापुर को अभी इसकी सूचना भी नहीं मिली है।"

वह हृदय-भेदक, कटु समाचार सुनकर आँखों में कभी अश्रु न लानेवाले मेरे स्थितप्रज्ञ, निर्लेप और विसर्जनवादी वृत्ति के भैया के मत्स्यनेत्र भी आज डबडबा आये!...

उसे देखकर ऋषिवर दुर्वासा तनिक सौम्य हुए। उन्होंने कहा, "उन तीनों के अन्त्यसंस्कार करने का सन्देश पाण्डवों को शीघ्र भेज दो। यह सूचना तुम्हें देने हेतु ही हिमालय के पश्चिम मार्ग से, अरावली पर्वत की ओर से यात्रा करता हुआ सबसे पहले मैं तुम्हारे पास आया हूँ।"

"यह काषाय वस्त्रधारी कौन है?" उन्होंने मेरी ओर हाथ उठाकर पूछा।

भैया के उत्तर देने से पहले ही हाथ जोड़ सिर झुकाकर मैंने कहा, "मैं–मैं देवभाग और कंसापुत्र उद्धव हूँ ऋषिवर–द्वारिकाधीश का ककेरा भ्राता!"

"तुमने यह अच्छा किया कि अपना परिचय 'अवधूत' के रूप में नहीं दिया। किन्तु मैं कहता हूँ कि तुम अवधूत पद को पहुँच गये हो, तुम्हारी आँखें ही बता रही हैं! पुन: बदरी-केदार में मिलेंगे हम।" फिर भैया की ओर देखते हुए बोले–"हे कृष्ण, तुम्हारे माता-पिता और युवराज बलराम से मिलकर, आचार्य सान्दीपनि के दर्शन कर कल ही मैं लौट जाऊँगा। प्रभासतीर्थ पर अपने ही हाथों से अपना श्राद्ध-कर्म सम्पन्न कर मैं हिमालय की ओर लौटूँगा।"

भैया द्वारा मँगवाये दुग्ध और फलाहार को ऋषिवर दुर्वासा ने स्वीकार किया। उसे ग्रहण करने के पश्चात् वे और भी सौम्य हो गये। अब भैया के प्रति उनके हृदय का 'कृष्णभाव' गिने-चुने शब्दों में ही व्यक्त हुआ। अपने बिल्वकाष्ठ को उन्होंने एक ओर रख दिया और भैया की ओर एकटक देखते हुए उनके आजानु बाहुओं को प्रेमपूर्वक अपने हाथों में लेकर उन्होंने कहा, "हे वासुदेव, अपने स्वभाव के अनुसार मैंने बहुत-कुछ कहा। इससे यदि तुम्हें चोट पहुँची हो तो जीवन-भर भ्रमण करनेवाले इस सनकी दुर्वासा को क्षमा कर देना!"

अब भैया ने ही उनके कृश हाथों को अपनी अँजुली में लेकर प्रेमपूर्वक थपथपाया। उनका बिल्वकाष्ठ पुन: उनके हाथ में पकड़ाया और मुस्कराकर कहा, "मुझे तनिक भी चोट नहीं पहुँची है, ऋषिवर! आपने यह सब न कहा होता तो मुझे चिन्ता होती! उस चिन्ता के कारण मुझे अवश्य चोट पहुँचती। आप इस अवधूत के साथ मेरे माता-पिता के पास जाइए। मैं अपनी सभी पत्नियों और पुत्र-पौत्रों को बुलवा लेता हूँ। वे भी आपका दर्शन और आशीर्वाद प्राप्त करें। प्रभासतीर्थ पर आपका पूरा प्रबन्ध करवाने के लिए मेरा यह भ्राता-अवधूत आपके साथ जाएगा।"

दुर्वासा ऋषि भैया के आसन से उठे। नतमस्तक हुए भैया के स्वर्णकिरीट पर हाथ रखकर उन्होंने आशीर्वाद दिया, "कल्याणमस्तु! शिवम् भवतु द्वारिकाधीश!"

आशीर्वाद देकर ऋषिवर कुछ देर भैया के किरीट में लगे रंगसमृद्ध मोरपंख की ओर एकटक देखते रहे। फिर उन्होंने सरलता से कहा, "हे कृष्ण, तुम्हारी भाँति आर्यावर्त के किसी भी क्षत्रिय ने अपने किरीट में इस प्रकार का प्रतीकात्मक मोरपंख जीवन-भर धारण नहीं किया है। मुझे नहीं लगता कि भविष्य में भी कोई करेगा! जीवन का जो अर्थ तुम्हें ज्ञात हुआ, वह हमारे जैसे ऋषि-मुनियों को भी समझ नहीं आया। वास्तव में तुम्हें आशीर्वाद देने की मेरी योग्यता नहीं है। केवल

ज्येष्ठ होने के नाते मैंने तुम्हें शुभेच्छाएँ दी हैं।"

दुर्वासा ऋषि मेरे साथ भैया के कक्ष से बाहर निकले। सबके साथ श्रीसोपान की नीचे जानेवाली पहली सीढ़ी के पास वे क्षण-भर रुके। भैया अपने कक्ष में ही थे। ऋषिवर ने मुझसे पूछा, "यह भव्य, सुघड़ सोपान किसलिए बनाया गया है अवधूत?"

अन्य किसी ने यह प्रश्न पूछा होता तो मैंने भी भैया की भाँति कुछ तिरछा उत्तर देकर उसे भ्रमित कर दिया होता। किन्तु यहाँ मेरा पाला पड़ा था कुन्ती बुआ को देवहुति मन्त्र देनेवाले तपस्वी-साक्षात् दुर्वासा ऋषि से! श्रीसोपान के विषय में जो कुछ मैं जानता था, वह मैंने उनको बताया "भैया के चक्रवर्ती जीवन में जो चिर-स्मरणीय व्यक्ति आये, उनके स्मरण के लिए उन्होंने स्वयं इस सोपान को बनवा दिया है। किन्तु इन सीढ़ियों का क्रम क्या है, यह तो वे ही जानते हैं। इसके विषय में वे किसी से कोई बात नहीं करते। मुझे जो बताते हैं, वह भी अधूरा-सा होता है।"

यह सुनकर ऋषिवर मन-ही-मन मुस्कराये। अपने भाल पर रेखाओं का जाल बुनते हुए उन्होंने उस सोपान का ऊपर से नीचे तक एक बार निरीक्षण किया। श्रीसोपान की पहली सीढ़ी पर पाँव रखने से पहले उन्होंने झुककर उसे हस्त-स्पर्श किया और अपने माथे से लगाया। मैंने उनका अनुसरण किया और अन्य सभी ने मेरा। ऋषिवर के साथ मैं तात वसुदेव के पास चला गया।

भैया ने विशेष सेवक भिजवाकर अन्तःपुर के द्वीप से अपनी सभी पत्नियों को और पुत्र-पौत्रों को बुलवा लिया। मैंने उन सबको ऋषिवर दुर्वासा से मिलवाया। ऋषिवर अब प्रभासतीर्थ जाने के लिए निकले थे। नौकादल-प्रमुख ने उनके लिए पुष्पमालाओं से और गरुड़ चिह्नांकित पताकाओं से सुशोभित भव्य नौका तैयार रखी थी। ऋषिवर को विदा देने के लिए बलराम भैया, सात्यकि, दारुक, अमात्य और अन्य दल-प्रमुख सागर-तट पर इकट्ठा हुए। मेरी सभी भाभियाँ ऋषिवर के दर्शन कर अन्तःपुर के द्वीप को लौटी थीं।

अब भैया भी ऋषिवर को विदा देने खाड़ी तट पर उपस्थित हुए। सब उन्हीं की प्रतीक्षा कर रहे थे। स्वयं ऋषिवर दुर्वासा भी उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे और उन्हीं के बारे में पूछ रहे थे। तभी भैया उपस्थित हुए। उनके साथ उनका पुत्र साम्ब और उसके कुछ सहोदर तथा सापत्न भ्राता थे। उनमें रुक्मिणी भाभी और कालिन्दी भाभी का एक भी पुत्र नहीं था। भैया और उनके पुत्र ऋषिवर को प्रभासक्षेत्र ले जानेवाली नौका के पास आये। सबके समक्ष भैया ने ऋषिवर दुर्वासा के आगे घुटने टेके। उन्होंने अपना मस्तक ऋषिवर के चरणों में रखा। उनके पीछे-पीछे बलराम भैया, मैंने सात्यकि, दारुक आदि ने भी ऋषिवर को प्रणाम किया। भैया के साम्ब आदि पुत्र दूर ही खड़े रहकर तटस्थ की भाँति यह वन्दन-समारोह देख रहे थे।

भारतवर्ष में भ्रमण करते रहनेवाले और अपने शिष्यगणों सहित अन्य ऋषि-मुनियों की भी समझ से परे, विक्षिप्त कहे जानेवाले ऋषिश्रेष्ठ दुर्वासा ने भैया को अन्तिम आशीर्वाद दिया—"शुभम् भवतु।"

पीछे देखे बिना ही इस आयु में श्री ऋषिवर एक ही छलाँग में नौका पर चढ़ गये। शिष्यगणों ने झट से पीछे हटते हुए उनको स्थान दिया। भैया की आज्ञा के अनुसार मैं भी नौका पर चढ़ा। उन्होंने पुत्र साम्ब के कन्धे पर हाथ रखकर धीमे स्वर में उससे कुछ बातें कीं। मेरी सहायता करने के बाद ऋषिवर को विधिवत् विदा करने के लिए साम्ब भी अपने भ्राताओं सहित नौका पर

चढ़ा। उन सबके पास गदा, चक्र, शूल, तोमर खड्ग, मूसल आदि शस्त्र थे।

ऋषिवर दुर्वासा के साथ हम प्रभासतीर्थ पहुँचे। ऋषिवर दुर्वासा की योजना के अनुसार उनके अपने श्राद्ध-कर्म की विधि आरम्भ हुई। उनके शिष्यगण आवश्यक सामग्री उनके सम्मुख रखने लगे। ऋषिवर के अब तक देखे रूप और भैया के विशेष निर्देश के कारण आवश्यक वस्तुओं की कमी उन्हें प्रतीत न हो, इस पर मैं सावधानी से ध्यान दे रहा था। साम्ब सहित भैया के सभी पुत्र दूर एक वितानाकार आम्र-वृक्ष की छाया में बैठकर हास-परिहास कर रहे थे। उनका अस्पष्ट-सा कोलाहल हमें सुनाई दे रहा था।

प्रभासक्षेत्र के एक धर्मज्ञ पुरोहित की देखरेख में ऋषिवर दुर्वासा की श्राद्ध-विधि घण्टे भर में सम्पन्न हुई। दुर्वासा ने अस्त होते सूर्य को अर्घ्यदान दिया। ऋषिवर, उनके शिष्य और मैं कार्यपूर्ति की सन्तुष्टि के साथ आपस में बातें करते हुए भैया के पुत्र जहाँ बैठे थे, उस वृक्ष के पास आये।

वहाँ के दृश्य में अब कुछ परिवर्तन हुआ था। भैया के पुत्रों के बीच अब एक स्त्री दिखाई दे रही थी। उसने अपने मुख पर आँचल को लपेट लिया था। उसके उदर के आकार से उसके गर्भवती होने का आभास मिल रहा था! अब तक उनका नेतृत्व करनेवाला साम्ब कहीं दिखाई नहीं दे रहा था। हम सबके उनके पास पहुँचते ही भैया के सभी पुत्रों ने उस स्त्री को ऋषिवर का आशीर्वाद लेने का संकेत किया।

वह गर्भवती स्त्री कष्टपूर्वक पैर उठाते हुए ऋषिवर के पास गयी। गर्भ-भार के कारण मानो उससे झुका नहीं जा रहा है, इस प्रकार के हाव-भाव के साथ उसने ऋषिवर से कहा, "ऋषिवर मेरे पुत्र होगा अथवा पुत्री, यह बताकर कृपाकर मुझे सरलता से प्रसूता होने का आशीर्वाद दें।"

ऋषिवर ने अपनी लाल आँखों से उस स्त्री का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुए पूछा, "हे आर्ये, तुम कौन हो? अचानक यहाँ कैसे आ गयी?" वह स्त्री झूठ-मूठ का अभिनय करते हुए स्त्री-सुलभ पतले स्वर में बोली, "आप तो अन्तर्ज्ञानी हैं। मैं कुलवन्ती स्त्री–अपने पति का नाम अपने मुख से कैसे बताऊँ? मेरे ये सेवक ही बताएँगे।"

भैया के तीन-चार पुत्र एक-साथ बोले, "यह हमारे बभ्रु यादव की पत्नी है। ऋषिवर, इसे आशीर्वाद देकर, इसके गर्भ से पुत्र उत्पन्न होगा कि कन्या, यह बताने की कृपा करें।"

ऋषिववर दुर्वासा सूक्ष्म दृष्टि से उसकी ओर देख रहे हैं, इस बात का उस स्त्री को आभास हुआ। उनकी दृष्टि को टालने हेतु वह कृत्रिम संकोच से पुन: एक बार इठलायी। उसके मटकने से उसका कटिवस्त्र कुछ ढीला हुआ और 'धप्प' से धवनि हुई। हड़बड़ाकर उस स्त्री ने अपने उदर को सँभालने का प्रयास किया। पुन: दो बार धप्प से ध्वनि हुई। हड़बड़ाकर अपने वस्त्र को सहेजनेवाली वह स्त्री विद्रूप-सी हँसी हँसते हुए भैया के पुत्रों की भीड़ में अदृश्य हो गयी। पीछे-पीछे विकृत हँसी की खिलखिलाहट सुनाई दी। जहाँ वह स्त्री खड़ी थी, वहाँ समभाग कटे हुए मूसल के तीन खण्ड दिखने लगे।

उन काष्ठखण्डों को देखकर ऋषिवर दुर्वासा क्रोध से थरथराने लगे। उनके हाथ का बिल्वकाष्ठ भी लड़खड़ाने लगा। उनकी आरक्त आँखें यज्ञकुण्ड की अग्नि की भाँति दहकने लगीं। उन काष्ठखण्डों को देखकर मैं भी भय से थर्रा उठा। ऋषिवर के शिष्य भी भयभीत हुए।

ऋषिवर दुर्वासा के आगे जो आयी थी, वह कोई गर्भवती स्त्री नहीं थी। वह बभ्रु यादव की पत्नी भी नहीं थी। वह था भैया और जाम्बवती भाभी का पुत्र साम्ब! जब से दुर्वासा द्वारिका आये

थे, हाथ में बिल्वकाष्ठ लेकर घूमनेवाले, बिना झिझक सबको आदेश देनेवाले इस कृशतनु, विक्षिप्त ऋषि को सीधा करने की प्रबल इच्छा साम्ब के मन में उत्पन्न हुई थी। वह स्वभावत: ही उपद्रवी, शरारती था। गर्भवती स्त्री का वेश, ऋषिवर दुर्वासा के आशीर्वाद की झूठी याचना, उनकी सर्वज्ञता की खिल्ली उड़ाने के लिए 'मेरे गर्भ से पुत्र उत्पन्न होगा कि पुत्री?' यह पूछना, अपने इस खेल में अपने भ्राताओं को सम्मिलित कर लेना, यह सब साम्ब के उर्वरक मस्तिष्क की उपज थी। बचपन से उसकी इस स्वेच्छाचारिता के लिए किसी ने भी उसे कठोर ताड़ना नहीं दी थी। किसी ने उसे रोका नहीं था। भैया के आगे वह बहुत ही कम आया करता था। यह सब उसी का परिणाम था।

हम सब भयभीत होकर ऋषिवर दुर्वासा की ओर देख रहे थे। क्रोध से काँपते हुए दुर्वासा मूसल के उन खण्डों के पास गये। अपने बिल्वकाष्ठ से उन्होंने उन खण्डों को उलट-पलटकर देखा। उन पर दो-चार कठोर प्रहार किये। फिर अपने बिल्वकाष्ठ को बायीं काँख में दबाकर उन्होंने अपने कमण्डल से दायीं हथेली पर जल उँड़ेल लिया। आँखें बन्द कर वे कुछ बुदबुदाये। उस जल को छपाके से उन तीन खण्डों पर छिड़कते हुए वे कठोर तपस्वी ऋषिवर गरज उठे, "मुझ जैसे ऋषि का घोर अपमान करनेवाले बुद्धिहीन यादवो, यही मूसल शीघ्र ही तुम यादवों का विनाश करेगा। इस मूसल से तुम्हारा विनाश ही जन्म लेगा! अब मैं यहाँ क्षण-भर भी नहीं रुकूँगा–चलो!"

मेरी अथवा भैया के पुत्रों की ओर मुड़कर भी न देखते हुए ऋषिवर शीघ्रता से उत्तर दिशा की ओर चलने लगे। उनका शिष्य-समुदाय भी खिंचा-सा उनके पीछे-पीछे चलने लगा। विषण्ण होकर मैं भी उन्हें समझाने के लिए उनके पीछे-पीछे दौड़ा।

साम्ब और उसके भ्राताओं ने एक श्रेष्ठ ऋषि की जो हँसी उड़ायी थी, उसे भैया से कैसे कहूँ–इसी सोच में मैं पड़ा था। मेरे गिड़गिड़ाने की ओर तनिक भी ध्यान न देते हुए, मुझसे एक शब्द भी बोले बिना ऋषिवर दुर्वासा चले गये थे।

मैं पुन: साम्ब सहित भैया के पुत्र जहाँ खड़े थे, उस वृक्ष के पास आया। वहाँ न वह विनाशकारी मूसल था, न ही भैया के पुत्र! उन सबने यह एक और अक्षम्य चतुराई की थी। मैं उस मूसल को भैया के हाथों सौंपकर पूरी घटना उनको बतानेवाला था। ऋषिवर दुर्वासा के समान महान ऋषियों को आमन्त्रित कर भैया उन मूसल-खण्डों की यज्ञकुण्ड में आहुति दे सकते थे। सम्भवत: वे प्रत्यक्ष ऋषिवर दुर्वासा को ही द्वारिका में आमन्त्रित करते।

भैया के उस अति नटखट पुत्र साम्ब और उसके भ्राताओं ने उन मूसल-खण्डों को कूटकर उनका चूर्ण कर दिया था। उन्होंने सोचा था कि समस्या की जड़ को ही मिटा दें तो कोई समस्या रहेगी ही नहीं! उन भ्राताओं ने मिलकर मूसल के उस चूर्ण को अँजुली भर-भरकर पश्चिम सागर की फेनिल लहरों में अर्पित भी कर डाला था।

जब मैं प्रभासतीर्थ से अकेला ही द्वारिका लौटा तो मेरा मन अत्यन्त विषण्ण हुआ था। केवल इसलिए नहीं कि यादवों का विनाश होनेवाला है, बल्कि इसलिए कि उसे रोकने के लिए मैं कुछ भी कर सकने में असमर्थ हूँ। उससे भी अधिक मैं इसलिए उदास था कि यह अत्यन्त कटु समाचार स्वयं मुझे ही भैया को बताना पड़ेगा।

जब भैया ने मुझसे पूछा–"ऋषिवर दुर्वासा सुरक्षित लौट गये?" तब केवल "जी भैया" कहकर मैं रुक गया। मेरे स्वभाव के अनुसार मेरा यह उत्तर पर्याप्त नहीं है, यह भैया ने भाँप लिया। मेरे

निकट आकर मेरे कन्धों को थपथपाते हुए उन्होंने कहा, "हे अवधूत, तुम मुझसे कभी भी कुछ भी नहीं छिपा पाओगे। जो कुछ घटित हुआ हो, वह सब मुझे बताओ–चाहे वह कितना भी अशुभ क्यों न हो!" मुझे तीव्रता से आभास हुआ कि उनके स्पर्श में और उनकी बातों में तनिक भी अन्तर नहीं आया था–वह सदैव की तरह ही था। अपने प्रति उनके दृढ़ विश्वास को देखकर कुछ कहने से पहले मैं तनिक हिचकिचाया। यादवों के लिए उन्होंने क्या नहीं किया था? गोकुल को छोड़कर वे मथुरा आये थे। मथुरा के लिए उन्होंने प्राणों को दाँव पर लगाकर जरासन्ध से सत्रह बार युद्ध किया था। अपार सम्पत्ति का अर्घ्य देकर, अपने कुशल कर्मयोग से उन्होंने स्वर्ण-द्वारिका का निर्माण किया था। यादवों के नवनिर्मित गणराज्य को उन्होंने आर्यावर्त में सम्मान दिलवाया था। उन्होंने यादवों के लिए जीवन-भर अपनी दिव्यात्मा को कष्ट दिया था। उन्हीं के विनाश का हृदय को विदीर्ण कर देनेवाला समाचार मैं उनसे कैसे कह दूँ! मुझे कुछ सूझ नहीं रहा था।

लेकिन उनके पूछने पर भी मैं उनसे कुछ न कहूँ, यह भी सम्भव नहीं था। उससे भी असम्भव था कि मैं उनसे कुछ छुपाऊँ! अन्त में मन पर पत्थर रखकर मैंने सारी घटना उनसे बता दी।

उन्होंने सारा वृत्तान्त ध्यान से सुना और सुनकर वे अत्यन्त गम्भीर हुए। उन्हें इस प्रकार गम्भीर होते मैंने पहले कभी नहीं देखा था–महाभारतीय युद्ध के बाद भी! देर तक वे मुझसे कुछ नहीं बोले, फिर तनिक मुस्कराये। कुछ देर बाद उन्होंने मुझसे पूछा, "हे उद्धव-अवधूत इस समय यदि मेरे स्थान पर तुम होते, तो क्या करते?" उनके प्रश्न का हेतु मैं समझ गया। वे टटोलना चाहते थे कि मैं उनसे कितना एकरूप हुआ हूँ!

मैंने कहा, "आप ही की भाँति मैं सुधर्मा सभा में सारी बात स्पष्ट कर देता।"

सुनकर वे धीरे-से मुस्कराये। उन्होंने मुझसे कहा–"वही होगा उद्धव! इसी समय जाकर अमात्य सुकृत को भेज दो।"

अमात्य सुकृत ने बलराम भैया से मिलकर मन्त्रिगणों से विशेष सुधर्मा सभा के आयोजन के विषय में विचार-विमर्श किया। बलराम भैया की आज्ञा के अनुसार समस्त द्वारिका में डौंडी पिटवायी गयी। अन्तःपुर के द्वीप पर भी डौंडी पिटवाने से अमात्य नहीं चूके। डौंडी का आशय था–"द्वारिकाधीश भगवान वासुदेव–श्रीकृष्ण महाराज द्वारिका जनपद के सभी नगरजनों से कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कहना चाहते हैं। जो कोई उनकी बातें सुनने में रुचि रखता हो, बृहस्पतिवार को सुधर्मा राजसभा में उपस्थित रहे। क्योंकि इसके बाद किसी को भी उनको किसी भी सभा में सुनने का सौभाग्य प्राप्त नहीं होगा।"

घोषित किया गया बृहस्पतिवार द्वारिका के दर्शन करने और पश्चिम सागर का अविरत गर्जन सुनने के लिए उदित हुआ।

द्वारिका के निर्माण से लेकर अब तक कभी भी इतनी भीड़ नहीं हुई थी। नगरजनों के झुण्ड-के-झुण्ड सुधर्मा राजसभा में इकट्ठा होने लगे। इस सभा की सूचना खाड़ी को पार करके सौराष्ट्र, आनर्त, भृगुकच्छ, अवन्ती आदि राज्यों तक पहुँच गयी थी। भैया से प्रेम करनेवाले वहाँ के नगरजनों के झुण्ड भी द्वारिका की ओर आने लगे। थके हुए तात वसुदेव आज दोनों राजमाताओं सहित अपने विशेष सशस्त्र सेना-पथक की सुरक्षा में सुधर्मा राजसभा में उपस्थित हुए थे। उनसे पहले युवराज बलराम भैया रेवती भाभी के साथ आकर आसनस्थ हुए थे। सभी मन्त्री भी अपने-अपने आसन पर आसीन हुए थे। आचार्य सान्दीपनि, यादवों के कल्पक स्थापत्य-विशारद गर्ग

मुनि भी उपस्थित थे। चतुरंगदल सेना के नवनियुक्त सभी दल-प्रमुख और नौदल-प्रमुख उपस्थित थे। उनकी निचली पंक्ति में भैया के प्रद्युम्न, भानु, वृक्, श्रुत, संग्रामजित्, प्रघोष, वीर आदि पुत्र अपने अनुजों सहित बैठे थे। और हाँ, अपनी अविचारी चंचलता के कारण यादवों को आपत्ति में डालनेवाला साम्ब भी अपने अनुजों सहित वहाँ बैठा था। सबसे निचली पंक्ति में भैया का पौत्र अनिरुद्ध अपने सहोदर और सापत्न भ्राताओं सहित बैठा था। मय और विश्वकर्मा की देखरेख में बार-बार वर्धित किया गया नगरजनों का बैठक-चौक अब बहुत विशाल हो गया था, उसमें स्त्रियों और पुरुषों के लिए अलग-अलग बड़े-बड़े कक्ष बन गये थे। आज तो वे पहले प्रहर से ही भर गये थे। महाराज वसुदेव के सिंहासन के पीछे विस्तृत नारी-दीर्घा थी, जिसमें बेलबूटेदार आसन लगाये गये थे। दाहिनी ओर की नारी-दीर्घा में भामा भाभी के साथ भैया की जाम्बवतीदेवी, मित्रविन्दादेवी, लक्ष्मणादेवी, सत्यादेवी, भद्रादेवी, कालिन्दीदेवी आदि पत्नियाँ अपनी पुत्रवधुओं सहित बैठी थीं। बायीं ओर की नारी-दीर्घा में गद, सारण की पत्नियाँ–मेरी भाभियाँ अपनी पुत्रियों, पुत्रवधुओं सहित बैठी थीं। राजस्त्रियों में भामा भाभी के निकट भैया की प्रिय कन्या चारुमती–चारु–अपनी अन्य बहनों के साथ बैठी थी।

यादवों के रत्नजटित राजदण्ड को लेकर अमात्य सुकृत अपने स्थान पर खड़े थे। विस्तृत सुधर्मा राजसभा आज खचाखच भरी हुई थी। तिल धरने को भी उसमें स्थान नहीं था। कई द्वारिकावासी और अन्य राज्यों से आये लोग निरुपाय होकर सभागृह के बाहर जहाँ भी स्थान मिला, खड़े रहे थे।

अमात्य सहित सभी अब केवल द्वारिकाधीश की–और उनकी अर्धांगिनी रुक्मिणीदेवी की प्रतीक्षा कर रहे थे। सबको पता था कि हम दोनों–अर्थात् मैं और दारुक उन दोनों को लेकर आएँगे।

वैसे भैया के राजप्रासाद से सुधर्मा राजसभा समीप ही थी, फिर भी भैया के आदेशानुसार दारुक ने गरुड़ध्वज रथ को सुसज्जित कर रखा था। उसी में बैठकर हम राजसभा की ओर जाने लगे। मार्ग में समय-दर्शक थाल का चौक आते ही भैया ने हस्त-संकेत से दारुक से रुकने को कहा। दारुक ने वल्गाएँ खींचकर चारों अश्वों को रोका। गरुड़ध्वज रुक गया। भैया अकेले ही रथ से नीचे उतरे। अत्यन्त धीमी गति से चलते हुए, मंच की सीढ़ियाँ चढ़कर वे उस दीर्घवृत्ताकार, स्वर्ण लेपित लौह-थाल के पास गये।

उनके मोरपंख मण्डित स्वर्णकिरीट में से, नीलवर्णी उत्तरीय के पास झूलती शुभ्र-धवल केशों की घुँघराली घनी लटें कन्धे पर बड़ी सुन्दर दिख रही थीं। वक्ष पर विराजित प्रफुल्लित शुभ्र-धवल वैजयन्तीमाला को दोनों हाथों में थामते हुए उन्होंने स्वर्ण-लेपित लौह-थाल पर अंकित यादवों के मानचिह्नों को एक-एक करके ध्यान से देखा। वे अपने-आप से मुस्कराये। उनके सिकुड़े हुए गुलाबी होठों के पीछे से दाँत चमक उठे। मुझे आभास हुआ कि उनके दाँतों की धवल आभा उनके शुभ्र केशों में विलीन हो गयी है। उनका यह हास्य अपूर्व था–जिसे मैंने पहले कभी नहीं देखा था।

उन्होंने लौह-थाल के समीप के चर्म-कोष में रखे हथौड़े को उठाया और एक के बाद एक तीन बार उस भारी हथौड़े से लौह-थाल पर सशक्तिक प्रहार किये। उस भेदक नाद से अब तक सुनाई देनेवाली समुद्र-गर्जन की ध्वनि ऐसे बन्द हुई मानो किसी ने कल घुमायी हो! वे किसी समय सुदर्शन चक्र धारण करनेवाले आजानुबाहु द्वारा किये गये शक्तिशाली प्रहार जो थे! भैया ने

शान्तिपूर्वक उस स्वर्ण-विलेपित हथौड़े को यथास्थान रख दिया।

धीमी गति से वे मंच से उतरे और गरुड़ध्वज की ओर आने लगे।...उनको पता था कि उनके प्रबल प्रहारों से समय-सूचक थाल का स्वर्ण-लेप उखड़ने से उस पर अंकित मानचिह्न अब उघड़ गये थे और उनका मूल लौहवर्ण दिखने लगा था। चर्म-कोष में रखे हथौड़े का स्वर्ण-लेप भी उखड़ गया था। अब ऐसा ही होनेवाला था!

भैया और भाभी के पीछे-पीछे दारुक के साथ मैंने राजसभा में प्रवेश किया। हमें देखकर तात वसुदेव, दोनों राजमाता, युवराज बलराम भैया, रेवती भाभी और आचार्य सान्दीपनि को छोड़कर समस्त सुधर्मा राजसभा तालियाँ बजाती खड़ी हो गयी। भैया ने अपना सदैव का राजवेश धारण किया हुआ था। हस्तिनापुर से लौटने के बाद भैया ने कुरुक्षेत्र में धारण किया गया–अर्जुन के सारथि का वेश कोषागार में सीसम की बनी एक पेटिका में बन्द कर रखवा दिया था। उसी पर उन्होंने अपने प्रिय पांचजन्य शंख को भी रखवा दिया था।

रुक्मिणी भाभी ने राजसभा के लिए विशेष वस्त्र धारण किये थे। उनके स्वर्ण किरीट से भी श्वेत केशों की मुक्त लटें झाँक रही थीं। मैंने सदैव की भाँति काषाय वस्त्र धारण किये थे। मेरे केशों में भी श्वेत केशों की लटें स्पष्ट दिख रही थीं। दारुक अपने सारथिवेश में था। वह अपने आसन की ओर चला गया।

हम तीनों अपने आसन के पास आये। भैया ने नतमस्तक हो, हाथ जोड़कर समस्त सभागृह को विनम्र अभिवादन किया। उनके पीछे-पीछे रुक्मिणी भाभी ने और मैंने भी किया। तालियों की तड़तड़ाहट अभी भी गूँज रही थी। उसकी ध्वनि सभागृह के बाहर पहुँचते ही वहाँ खड़े कृष्णप्रेमी जनसमूह द्वारा की गयी करतल ध्वनि भी सभागृह के अन्दर सुनाई देने लगी थी।

परिपक्व, कृतार्थ भैया ने नम्रतापूर्वक मुस्कराते हुए अपने आजानुबाहु उठाकर सभा को बैठ जाने का संकेत किया। सभा के सभी सदस्य अपने-अपने आसनों पर आसीन हुए। सभागृह के बाहर तनिक कोलाहल हुआ, किन्तु शीघ्र वहाँ उपस्थित जन, जहाँ स्थान मिला वहीं बैठ गये।

युवा अमात्य सुकृत ने यादवों का गरुड़-चिह्नांकित रत्नजटित राजदण्ड ऊपर उठाया। उन्होंने संक्षिप्त शब्दों में कहा, “प्रिय यादव बन्धुओ, यह सभा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। द्वारिकाधीश वासुदेव श्रीकृष्ण महाराज ने इसे आमन्त्रित किया है। आज तक महाराज वसुदेव और युवराज बलराम के ही आदेश से सभा का आयोजन किया जाता था। आज द्वारिकाधीश जो भी कहेंगे उसका प्रत्येक शब्द बुद्धिसागर के चिन्तन, मनन और जीवनानुभव की कसौटी पर परखा हुआ होगा। आप सब उनके प्रत्येक शब्द को ध्यानपूर्वक सुन लें और स्मरण रखें।”

अमात्य के उस ऊँचे राजदण्ड के धरती पर आघात करते ही सर्वत्र शान्ति छा गयी–सभागृह में भी और बाहर भी।

मेरे प्रिय भैया आसन से उठे। आज भी उनके मुखमण्डल पर शतकोटि सूर्यों की आभा झलक रही थी। उन्होंने प्रथा के अनुसार पहले सभी ज्येष्ठ जनों और सभागृह का नम्र अभिवादन किया। कभी वैजयन्तीमाला को तो कभी स्वर्णकिनारी वाले केसरी उत्तरीय को अपनी मुट्ठियों में थामते हुए वे बोलने लगे। उनका स्वर्णवर्णी पीताम्बर झिलमिलाने लगा। वे जो कुछ कह रहे थे, वह उनका जीवनसार था। उनका कण्ठस्वर पहले जैसा ही ठनठनाता हुआ और वेणुनाद के समान मधुर था। वे कहने लगे–

"मेरे प्रिय यादव भाइयो और बहनो, बालक और बालिकाओ–"

सभागृह में और बाहर भी ऐसे नर-नारी भी उपस्थित हैं जो यादववंशीय नहीं हैं, यह ध्यान में रखते हुए भैया पुन: कहने लगे–"मुझसे विशुद्ध प्रेम करनेवालो, मैं आज कम ही बोलनेवाला हूँ। अधिक बोलने से कुछ लाभ नहीं होता, यह मेरा अनुभव है। लाखों वर्षों से यह पश्चिम सागर बोल रहा है, गरज रहा है, किसी ने सुनी है इसकी? गरज-गरजकर वह कह रहा है–'मेरे उर में मोती हैं, रत्न हैं; किन्तु सबको दिखाई देता है केवल मेरा खारा पानी! जिसके पास बुद्धि है, विचार-शक्ति है, वह इस खारे पानी को भी शुभ्र लवण में परिवर्तित करके जीवनोपयोगी बनाता है।'

"मैं जो कह रहा हूँ वह हितोपदेश नहीं है। जीवन से मुझे जो भी प्राप्त हुआ, उसे आप तक पहुँचाना मेरा कर्तव्य है।

"कुरुक्षेत्र में मैंने अर्जुन को सभी जीवनयोग बताये। आज मैं विश्वासपूर्वक कह रहा हूँ–प्रेमयोग ही जीवन का सार है। प्रेम अनन्त है, उसका कभी अन्त नहीं होता। मनुष्य जाति उत्पन्न ही प्रेमयोग के लिए हुई है। द्वेष का अन्त होता है। जब एक मनुष्य दूसरे से द्वेष करता है, दूसरे का अन्त होते ही द्वेष भी समाप्त हो जाता है। जब एक जाति दूसरी जाति से द्वेष करती है, उसका अन्त होते ही द्वेष का भी अन्त हो जाता है। जब एक मानव-समूह दूसरे मानव-समूह से द्वेष करता है तब उस समूह के नष्ट होते ही द्वेष का भी अन्त होता है। जब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के प्रति द्वेष-भावना रखता है, तब उस राष्ट्र के नष्ट होते ही द्वेष भी नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि कहीं-न-कहीं द्वेष समाप्त होता है। किन्तु उसके समाप्त होने तक दोनों ओर के व्यक्तियों की, जातियों की, समूहों की, राष्ट्रों की अपूरणीय प्रचण्ड हानि हो चुकी होती है। किन्तु यह नियम प्रेम पर लागू नहीं होता। देने से प्रेम बढ़ता है–कम नहीं होता।

"मैं अपने अनुभव से कह रहा हूँ, मानवी बुद्धि का केवल कुछ अंश ही अब तक प्रकट हो पाया है। उसका बहुत बड़ा भाग अभी भी अप्रकट है। उसकी इस अनन्त यात्रा में सहयोग देना ही वास्तव में जीवन है।

"सत्ता, सम्पत्ति और स्त्री की असीम अभिलाषा से ही युद्ध भड़कते हैं–विनाश होता है। कौरव-पाण्डवों के युद्ध से भी यही सत्य सिद्ध हुआ है। उस युद्ध को रोकने के लिए मैंने हर-सम्भव प्रयास किया, किन्तु जब युद्ध अनिवार्य हुआ तब मुझे उसे महायज्ञ का रूप देना पड़ा।

"मैं चाहता हूँ कि उस युद्ध से आप सभी एक सीख ग्रहण करें। सबसे बड़ा युद्ध, महायुद्ध-महायज्ञ प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्मन में ही सुलगता रहता है। जिसने अपने अन्तरंग को जान लिया, सुष्ट-दुष्ट शक्तियों को जान लिया, उसने जीवन को जान लिया। जीवन का तात्पर्य ही है जीना और जीने देना! विराट् प्रकृति में घटित होनेवाली छोटी-मोटी घटनाओं का कार्य-कारण-भाव तभी हमारी समझ में आएगा, जब हम अपने अहंभाव को समझ पाएँगे–जब हम अपनी अभिलाषा के शत-शत विषदंशों को समझ पाएँगे।

"आप में से प्रत्येक के भीतर-बाहर के विराट् रूप का सूक्ष्म प्रतिबिम्ब पसरा हुआ है। अलिप्तता से उसे देखने की शक्ति जब आपको प्राप्त होगी, तभी आपको अपने में ही विराट् का दर्शन प्राप्त होगा। उस दर्शन को प्राप्त करनेवाले नेत्रों का एक ही नाम हो सकता है–प्रेमनेत्र!

"जन्म से ही आपसे बँधे अटूट बन्धनों के कारण मैं आपसे बार-बार स्पष्ट शब्दों में कह रहा हूँ–वन्दनीय ऋषिवर दुर्वासा की खिल्ली उड़ानेवाला साम्ब आपका प्रतिनिधि था। आपमें से प्रत्येक

के मन में एक साम्ब छिपा हुआ है। उसे पहचानिए और उसे उचित समय पर ही समूल उखाड़कर फेंक दीजिए। एक-दूसरे से द्वेष मत कीजिए। अहंकार के वश में होकर आपस में मत लड़िए। अहंकार को हवा देनेवाले मदिरा जैसे व्यसन की बलि मत चढ़िए। व्यसन, अभिलाषा, आलस्य, अनास्था, अविश्वसनीयता, भ्रष्टता ये कल भी असत् थे, आज भी हैं और कल भी असत् ही रहेंगे।

"प्रेम, ज्ञान-विज्ञान और प्रज्ञान की लालसा, जीने और जीने देने की इच्छा, विहित कर्म में आस्था, अभ्यास और स्वाध्याय में रुचि, सच्चाई के प्रति प्रेम, और भ्रष्टता के प्रति चिढ़–से कल भी सत् थे, आज भी हैं और कल भी सत् ही रहेंगे।

"काल अखण्ड है। जीवन चिरन्तन और असीम है। इस चिरन्तन यात्रा में अपना भाग बहुत ही अल्प है, यह जिसने जान लिया, उसने बहुत कुछ जान लिया।

"मैं ही कर्तुम्-अकर्तुम् हूँ, मेरे ही कारण चन्द्र-सूर्य प्रकाशित होते हैं, मेरे ही कारण नदी-नाले, पवन बहते हैं, विद्युत् चमकती है, कृषि लहलहाती है, वृक्ष फलों से लद जाते हैं, फूल झूमते हैं, इस प्रकार अहंकार रखनेवाला जीवन सत्य से कई योजन दूर होता है।

"मन कितना भी चाहे, रक्त की अथवा दुग्ध की एक बूँद का भी हम निर्माण नहीं कर सकते। माता के स्तन में और गोमाता के थन में अन्न और चारे से दुग्ध का कैसे निर्माण होता है और मानव-शरीर में रक्त का कैसे निर्माण होता है, यह भी हम समझ नहीं सकते, फिर किस बात पर हम इतना अहंकार करते हैं?

"मेरा जीवन यादवों में–आप लोगों में ही बीता है। आपके गुण-दोषों को मैं भली-भाँति जानता हूँ। आप अपने विनाशकारी अहंकार को त्याग दीजिए–शीघ्रकोपी स्वभाव को छोड़ दीजिए और व्यसन को तो विष के समान अपने से दूर रखिए।

"मुझे जो कुछ कहना था, आचार्य सान्दीपनि को साक्षी रखकर, स्पष्ट शब्दों में आपसे कहकर मैंने अपना कर्तव्य पूरा किया है। आजकल आचार्य अपने आश्रम में अवन्ती लौट जाने की इच्छा बार-बार व्यक्त कर रहे हैं। मुझे भी प्रतीत हो रहा है गुरुदेव के अंकपाद आश्रम लौट जाने का यही उचित समय है। मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि अठारह शाखाओं के यादवों को, मुझे, मेरे सभी भ्राताओं को, पत्नियों को, पुत्र-पुत्रियों को, पुत्रवधुओं को और मेरे प्रपौत्र व्रज को आशीर्वाद देकर आचार्य सान्दीपनि अपने परिवार सहित अंकपाद आश्रम को प्रस्थान करें। युवराज बलराम भैया उनके निवास में जाकर उनका यादवोचित सम्मान करें।

"हस्तिनापुर से धनुर्धर अर्जुन को भी आमन्त्रित किया जाए। अश्वमेध यज्ञ के दिग्विजय के लिए यादवों की ओर से उसका भी उचित सम्मान किया जाए। पाण्डवों के अब स्थिर हो चुके हस्तिनापुर राज्य को स्वर्ण, माणिक, वैदूर्य, धन-धान्य, उपयुक्त सेवक-सेविकाओं के रूप में विपुल उपहार दिया जाए।...

"इस सभागृह में उपस्थित मेरी प्रिय पत्नी रुक्मिणीदेवी और उनकी अन्य बहनों के लिए मेरी अब की जानेवाली घोषणा सुनना और उसे स्वीकार करना अत्यन्त कठिन होगा।"

सभागृह में अस्पष्ट-सी खुसुर-फुसुर आरम्भ हुई–क्या कहनेवाले हैं द्वारिकाधीश? वह खुसुर-फुसर क्षण-क्षण बढ़ती ही गयी। भैया ने हेतुपूर्वक अमात्य सुकृत की ओर देखा। उन्होंने 'शान्ति-शान्ति' कहकर अपने हाथ के राजदण्ड से भूमि पर आघात किया। सभागृह में शन्ति-ही-शान्ति छा गयी!

भैया ने अपने मन की बात स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कही, "मेरे यादव बन्धुओ, कल से मैं अपने परमसखा उद्धव के अतिरिक्त किसी की भी सेवा स्वीकार नहीं करूँगा। अपनी प्रिय पत्नी रुक्मिणी सहित अन्य पत्नियों की भी सेवा मैं स्वीकार नहीं करूँगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके मुझसे मिलने पर रोक लगायी गयी है। वे कभी भी मेरे कक्ष में आकर मुझसे मिल सकती हैं। द्वारिकावासियों की ओर से उनके सम्मान में कोई कमी नहीं होनी चाहिए। विगत काल की तरह ही भविष्य में भी वे मेरी पत्नियाँ ही रहेंगी, किन्तु कल से मैं अन्तःपुर के द्वीप पर नहीं जाऊँगा।

"जिस प्रकार मैं रनिवास में पाँव नहीं रखूँगा, उसी प्रकार सुधर्मा राजसभा में भी पाँव रखना कल से मेरे लिए वर्जित होगा। आपकी राजनीतिक, सामरिक, सामाजिक, व्यक्तिगत–सभी समस्याओं को युवराज बलराम भैया हल करेंगे। आज के बाद अपनी समस्याओं का उत्तर पाने के लिए कोई भी मुझसे न मिले। मैं जानता था कि कभी-न-कभी यह निर्णय मुझे करना ही पड़ेगा, इसीलिए मैंने हेतुत: राजसभा में कोई भी पद स्वीकार नहीं किया था।

"मथुरा को छोड़कर द्वारिका आने के बाद आप में से कइयों ने 'रणछोड़दास' कहा था। मेरा आज का निर्णय सुनकर कई लोग मुझे 'पलायनवादी' कहेंगे। किन्तु ऐसा नहीं है।

"शीघ्र ही द्वारिका छोड़कर जानेवाले अपने परम-आदरणीय आचार्य को साक्षी रखकर मैं कहता हूँ, यह मेरे वानप्रस्थाश्रम का आरम्भ है–वन में न जाते हुए भी। मेरा यह वानप्रस्थाश्रम कायिक नहीं है, वाचिक नहीं है–वह है मानसिक-आत्मिक। मैं जानता हूँ, इस विषय में भी कुछ लोग शंका व्यक्त करेंगे। बचपन से ही मेरे हर कर्म के विषय में शंकाएँ उठायी गयी हैं। गोकुल में मेरे नन्दबाबा के दुग्धागार में दधि, दुग्ध, नवनीत से भरे मटकों के होते हुए भी अन्य गोपालों के घर में घुसकर, चुराकर दधि, नवनीत खानेवाला मैं विख्यात 'माखनचोर' कहलाया! अपनी उस 'माखनचोर' उपाधि पर मुझे आज भी गर्व है, क्योंकि सम्पूर्ण गोकुल को ही मैं अपना घर मानता था। मैं चाहता था कि मेरी ही भाँति अन्य सभी भी ऐसा ही मानें।

"जब मैं मथुरा छोड़कर द्वारिका आया, द्वारिका में रहकर जब मैंने मानवी जीवन-गंगा में रोड़े अटकानेवाले सभी मदोन्मत्तों का हेतुत: विनाश किया–जिनमें मेरे सगे-सम्बन्धी भी थे, तब भी बहुतों ने भाँति-भाँति की शंकाएँ उठायी थीं। अनेक लोगों ने यह भी सोचा था कि द्वारिका का निर्माणकर्ता होते हुए भी मैं हस्तिनापुर के कौरव-पाण्डवों की समस्याओं में क्यों सिर खपा रहा हूँ!

"सौ वर्षों से भी अधिक वर्षों की मेरी जीवन-यात्रा में मेरे प्रत्येक क्रिया-कलाप के विषय में तर्क-वितर्क किये गये। किन्तु आज मैं अपने किसी भी कृति-कर्म का समर्थन नहीं करना चाहता।

"कुरुक्षेत्र में मैंने अर्जुन को जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विचार बताया था, वह था स्थितप्रज्ञ होने का। जीवन में अपना विहित कर्म करते हुए भी निर्लिप्त रहने का। इसी अर्थ में कल से मेरा मानसिक और आत्मिक वानप्रस्थाश्रम आरम्भ हो रहा है।...

"जैसा कि मैंने पहले कहा, कल से केवल मेरा परमप्रिय सखा–उद्धव ही मेरी सेवा में रहेगा।" अपनी दायीं भुजा ऊपर उठाकर भैया के नेत्र-संकेत करते ही, प्रथा के अनुसार, अमात्य ने राजदण्ड को उठाकर धरती पर आघात किया। भैया के जीवन की अन्तिम सुधर्मा राजसभा समाप्त हो गयी। हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक सभी उपस्थितों को अभिवादन करके भैया आसनस्थ हुए।

अवसन्न हुए सभासद, यादव नर-नारी मौन-व्यग्र मन से एक-एक करके सभागृह से बाहर निकलने लगे। वे भली-भाँति जानते थे कि ये कृष्ण-वचन हैं, इनमें कोई भी किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं ला सकता। भैया के स्वर्ण-किरीट का सप्तरंगी मोरपंख पश्चिम सागर से आनेवाले पवन से फहराता ही रहा।...

उसके बाद मेरे जीवन में भैया की सेवा के महत्त्वपूर्ण कर्मयोग का प्रारम्भ हुआ। अपने निवास को छोड़कर अब मैं भैया के कक्ष में ही रहने लगा। फिर एक दिन परिवार सहित आचार्य सान्दीपनि के अपने अवन्ती-अंकपाद आश्रम जाने का समय आ गया। उनको विदा देने के लिए समस्त द्वारिका युद्धाक्ष महाद्वार के पास खाड़ी-तट पर जमा हो गयी। आचार्य के तीनों शिष्य–भैया, बलराम भैया और मैं सबसे आगे थे। आचार्य के नौका में चढ़ने से पहले, खाड़ी-तट की मटमैली रेती में घुटने टेककर भैया ने अपना चक्रवर्ती, विमल मस्तक अत्यन्त आदरपूर्वक आचार्य के चरणों पर रख दिया। कुछ क्षण वे उसी स्थिति में रहे। आचार्य भी आँखें बन्द करके स्तब्ध खड़े रहे। शरद् ऋतु की प्रभात-पवन से काँप उठनेवाले पारिजात-वृक्ष के समान गुरुदेव तनिक कम्पित हुए। उनकी बन्द आँखों से तपशुद्ध आत्मरस की दो बूँदें ढलकीं। अपनी शुभ्र-धवल दाढ़ी पर से वे पारिजात-पुष्प की भाँति भैया के किरीट पर टपके। आचार्य ने कुछ कहा तो नहीं, किन्तु वे अस्पष्ट-से कुछ बुदबुदाये–सम्भवत: वे शब्द थे–'श्रीकृष्णाय अर्पणमस्तु'! झट से उन्होंने अपने प्रिय शिष्य को–मेरे भैया को प्रगाढ़ आलिंगन में कस लिया। देर तक दोनों एक-दूसरे के आलिंगन में बँधे रहे। मुझे लगा–मानो धूप में चमकते हिमालय के दो हिमशुभ्र शिखर आपस में गले मिले हैं। तत्पश्चात् भैया ने गुरुपत्नी के चरणस्पर्श किये और गुरुपुत्र दत्त को आशीर्वाद दिया। मैंने और बलराम भैया ने भी उनका अनुसरण किया। आचार्य सान्दीपनि पीछे की ओर मुड़ गये। उनकी चन्दनी पादुकाओं की खटखट पश्चिम सागर के गर्जन में विलीन हो गयी। गुरुदेव का परिवार नौका में चढ़ गया। नाविक ने पतवार उठाये। नौका दूर जाने लगी। उसके आँखों से ओझल होने तक हाथ ऊपर उठाकर हम तीनों समुद्र-तट पर खड़े थे।

भैया की सेवा करने के लिए एक-दो दिन में ही मैंने अपने अन्दर के साधक को परे कर दिया। अपने-आप को मैंने नम्र सेवक के रूप में परिवर्तित कर लिया था। किसी भी अतिथि को द्वारिकाधीश की दिनचर्या में कोई परिवर्तन प्रतीत नहीं होता था। चारणगणों के वीणावादन के साथ ही ब्राह्ममुहूर्त में ही वे सदैव की तरह जाग उठते थे। और कर-दर्शन करके 'पादस्पर्शं क्षमस्व मे' कहते हुए भूमि पर पैर रखते थे। फिर हस्त-मुख-प्रक्षालन करके सूर्य-दर्शन करते थे। और प्राणायाम, आसन-व्यायाम करते थे। उसके बाद भैया स्नान करके पहले सूर्य-दर्शन और तत्पश्चात् तात वसुदेव, दोनों माता, बलभद्र भैया, रेवती भाभी आदि ज्येष्ठ जनों के दर्शन करते थे। गोमाता के दर्शन करते हुए दान-वेदिका पर से वे अतिथियों को दान देते थे। उनसे मिलने आये ऋषि-मुनियों के साथ चर्चा में वे अधिकतर सुना ही करते थे। अतिथि तपस्वियों का आदर-सत्कार करने, उनको दुग्ध-फलाहार देने आदि कामों को मैं निष्ठापूर्वक करने लगा था। मैं इस बात का विशेष ध्यान रखने लगा कि भैया के प्रिय दधि और दूध से बने व्यंजन प्रतिदिन उनके भोजन में रहें। चित्राहुति देकर भोजन को आरम्भ करने के बाद भैया कोई प्रश्न पूछकर मुझे ही अधिक बोलने को बाध्य करते थे। भोजन समाप्त होने पर उनके आचमन लेने के बाद मैं भी आचमन लिया करता था। सुगन्धित जल का बेलबूटेदार कुम्भ उठाकर मैं उनके पीछे-पीछे स्वच्छतागृह तक जाता था और बातें करते-करते मैं अपने बायें हाथ से उनके जूठे हाथ पर पानी डालता था।

फिर झट से हाथ पोंछने के लिए मैं उनको सूखा अँगोछा देता था। भोजन के पश्चात् जब वे मंचक पर जा बैठते थे, ऋतु विशेष में होनेवाले किसी पके फल की फाँकें एक-एक करके मैं उनके हाथ में देता था। कभी-कभी उनके माँगे बिना ही सुगन्धित ताम्बूल भी मैं उनके हाथ में दिया करता था। विश्राम करने हेतु जब वे शैया पर फैलकर बैठ जाते थे, तो हल्के हाथों से मैं उनकी चरण-सेवा करने लगता था। जब उनकी आँखें उनींदी हो जातीं थीं, मैं उनका किरीट उतारकर, और उत्तरीय से पोंछ चौकी पर स्वर्णथाल में रख देता था। लेट जाने पर जब उनकी साँस-प्रसाँस धीमी होने लगती थी, उन्हें दुशाला उढ़ाते हुए उन्हीं के एक वचन का मुझे तीव्रता से स्मरण हो आता था। वे जीवन-भर कहते आये थे–'या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'। उन्होंने यह केवल कहा ही नहीं था, बल्कि वे इसी प्रकार आचरण करते आये थे। अत: उनकी निद्रा भंग न हो, इसीलिए मैं हलके हाथों से उनको दुशाला उढ़ाता था। कभी-कभी उनके पास बैठा मैं उनके चरणों पर मस्तक रखकर कब सो जाता था, स्वयं मुझे ही पता नहीं चलता था! उस समय मेरे प्रति भैया के गहरे प्रेम की अनुभूति मुझे हुआ करती थी। मेरी निद्रा न टूटे, इसलिए मुझसे पहले ही जागे हुए भैया अपने चरणों को तनिक भी न हिलाते हुए चुपके से लेटे रहते थे।

दोपहर के बाद दारुक प्रांगण में भैया के कक्ष के आगे गरुड़ध्वज को लाकर खड़ा कर देता था। कभी हम उत्तरी महाद्वार भल्लात के समीप के शिवालय की ओर तो कभी दक्षिणी महाद्वार पुष्पदन्त की ओर सैर करने जाया करते थे। भैया को–और मुझे भी पश्चिम महाद्वार ऐन्द्र के समीप पाषाणी आसनों पर बैठकर सागर-लहरों का गर्जन सहित नृत्य देखना बहुत अच्छा लगता था। सागर-गर्जन के अविराम रौद्र संगीत के हम अभ्यस्त हो चुके थे। सन्ध्या समय वहाँ बैठकर भिन्न-भिन्न विषयों पर हम मुक्त मन से वार्त्तालाप किया करते थे। शुरू-शुरू में मैं रुक्मिणी भाभी और अन्य भाभियों तथा उनके पुत्र-पुत्रियों का विषय अपनी बातों में लाया करता था। भैया केवल मुस्कराकर मेरी ओर देखते रहते थे। उनकी शुभ्र-धवल दाढ़ी और मेरे श्वेत केश समुद्री पवन के झकोरों से लहराते रहते थे। यद्यपि मैं अवधूत हुआ था, मैंने दाढ़ी-मूँछें नहीं बढ़ायी थीं। न अपने काषाय वस्त्रों में कोई परिवर्तन किया था। भैया की उस मुस्कराहट का अर्थ हुआ करता था, "बन्धु-ऊधो, क्यों मुझे टटोलने का प्रयास कर रहे हो?" उसे भाँपकर मैं बात को आगे नहीं बढ़ाने देता था।...इडादेवी के मन्दिर में जाकर श्रद्धापूर्वक उनके दर्शन करके हम लौट आते थे। आगे चलकर तो मैंने मन-ही-मन निश्चय कर लिया था कि अब उनसे सांसारिक-जीवन के विषय में बातें नहीं करूँगा।

सन्ध्या-भ्रमण के समय कभी-कभी हमारे साथ बलराम भैया, सात्यकि, अमात्य सुकृत अथवा मन्त्रिपरिषद् का भी कोई सदस्य हुआ करता था।

एक दिन मुझे अपने प्रति भैया के अकृत्रिम, विशुद्ध प्रेम की प्रतीति बड़ी तीव्रता से हुई। उस दिन भैया ने गरुड़ध्वज रथ को सीधे मेरे पिता के भवन की ओर ले जाने के लिए दारुक से कहा। अग्रिम सूचना दिये बिना वे कभी भी किसी के घर नहीं जाते थे। हम अपने पिता के पास जा रहे हैं, यह ध्यान में आते ही मैं सोच में पड़ गया। मेरे तात देवभाग महाराज वसुदेव की ही आयु के थे और मेरी माता कंसा दोनों राजमाताओं की समवयस्का थीं।

मेरे भ्राता चित्रकेतु और बृहद्बल ने हम तीनों–मेरा, भैया और दारुक का हाथ जोड़कर, प्रसन्नतापूर्वक स्वागत किया। उन्हें विश्वास ही नहीं हो रहा था कि स्वयं द्वारिकाधीश चलकर

उनके यहाँ आये हैं। वे हड़बड़ा गये थे।

भैया सीधे अन्तःपुरी कक्ष में–शयनागार में गये। पीछे-पीछे मैं और दारुक थे ही। उनको देखकर मेरे तात शैया पर से उठनेवाले ही थे कि भैया ने उन्हें आग्रहपूर्वक पुनः पूर्ववत् लिटा दिया। उनको प्रणाम कर भैया शैया पर उनके चरणों में बैठे और उनसे यादवों की अठारह शाखाओं के बारे में बातें करने लगे। तात भी उनकी बातों में उलझ गये। भैया ने मेरे भ्राताओं का लाया हुआ दुग्ध और फलाहार ग्रहण किया।

तात को बोलते रखने के लिए भैया उनसे कुछ-न-कुछ पूछते जा रहे थे। तात बोलते रहे और अन्य सभी सुनते रहे। भैया ने कब उनके चरण अपने अंक में लेकर उनकी चरण-सेवा करना आरम्भ किया, उनके ध्यान में ही नहीं आया, और जब आया तब बहुत समय हो गया था!

मेरी माता कंसा के पर्यंक के निकट जाकर उसकी शैया पर बैठते हुए भैया ने कहा, "मेरे तात वसुदेव और देवकी माता ने कंस मामा के कारावास को साथ-साथ ही भोगा था। हमारी प्रथा है कि पति-पत्नी सुख-दुखों को एक-साथ ही भोगते हैं। मैंने देवभाग काका की चरण-सेवा की है। अब आपको अपना पत्नीत्व प्रमाणित करने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प ही नहीं रहा है।" भैया ने मेरी माता को कुछ कहने का अवसर ही नहीं दिया। तात की भाँति ही उन्होंने माता कंसा की भी चरण-सेवा की। उस दिन भैया की विनम्रता और मेरे प्रति उनका प्रेम देखकर मैं तो मुग्ध हो गया। विदा लेते समय उन्होंने मेरे माता-पिता से कहा था–"जैसे यह उद्धव आपका पुत्र है, वैसे ही तात वसुदेव का यह कृष्ण आपका उद्धव ही है!"

एक दिन भैया के कक्ष में मैं उनसे कुछ बातें कर रहा था। तभी द्वारपाल आकर कहने लगा, "प्रभासक्षेत्र के क्षेत्रपाल द्वारिकाधीश से मिलने आये हैं। उनके पास दर्भों का एक गट्ठर है और उसे वे द्वारिकाधीश को दिखाना चाहते हैं। स्वामी किसी से भी नहीं मिलेंगे, यह बार-बार समझाने पर भी वे कुछ सुनने को तैयार नहीं हैं। वे स्वामी से मिलने के हठ पर अड़े हुए हैं।" यह सुनकर भैया के चिकने, नीलवर्णी भव्य भाल पर आड़ी रेखाएँ खिंच गयीं। उनकी दोनों भौंहों के बीच दो खड़ी रेखाएँ उभर आयीं। यह उनकी विशेषता थी। पूरी द्वारिका में इस प्रकार किसी के भी भाल पर खड़ी रेखाएँ दिखाई नहीं देती थीं। भैया के भाल पर उभरनेवाली ये खड़ी रेखाएँ आड़ी रेखाओं को छेदकर ऊपर जाती थीं। शान्तिदूत बनकर जब वे हस्तिनापुर गये थे, तब कौरवों की राजसभा से निकलते हुए उनके भाल पर ऐसी ही खड़ी रेखाएँ उभर आयी थीं। सात्यकि ने ही यह बात मुझे बतायी थी।

द्वारपाल की सूचना सुनकर भैया ने सहेतुक मेरी ओर देखा। प्रेमपूर्ण विश्वास से दी हुई वह आज्ञा ही थी। मुझे उनका अभ्यास हो गया था। कक्ष से निकलकर मैं प्रभास के क्षेत्रपाल से मिला। उसने मुझे प्रणाम किया और गिड़गिड़ाते हुए प्रार्थना की–"हे अवधूत, कुछ भी कीजिए, कुछ क्षणों के लिए ही क्यों न हो, मुझे द्वारिकाधीश से मिलवाइए। यह देखिए..."

उसने काँख में दबाये गट्ठर में से दो-तीन दर्भ खींचकर मेरे हाथ में दे दिये। वे काले मूलवाले हाथ-भर लम्बे दर्भ थे। नित्य की धार्मिक विधियों में जिनका उपयोग किया जाता है, उन्हीं दर्भों के सदृश थे वे! किन्तु उनका वर्ण हरा नहीं था–काले पड़े लौह के समान था। उनके अग्रभाग भी साधारण दर्भों जैसे नहीं थे–बाणों के फल के आकार के त्रिकोणी और नुकीले थे!

आँखें विस्फारित करके क्षेत्रपाल ने कहा, "उद्धवदेव, ये साधारण दर्भ नहीं हैं। प्रयास करके

देखिए—वे टूटते हैं क्या? वे टूटते नहीं हैं। लौह की पतली छड़ों की भाँति वे मुड़ते हैं, किन्तु पुन: अपने मूल आकार में आते हैं।”

क्षेत्रपाल ने एक दर्भ को मोड़कर पुन: छोड़ दिया। मैंने भी उसे चीरने का प्रयास किया, किन्तु मेरा प्रयास असफल ही रहा! अब मैं भी उस लौहदर्भ को सूक्ष्म दृष्टि से देखने लगा।

क्षेत्रपाल से अब रहा नहीं गया और अटकते हुए वह कहने लगा, “इतनी आयु हुई है मेरी। पूरे जीवन में मैंने ऐसे भयंकर—लौहदर्भ कभी नहीं देखे हैं। बड़े ही अशुभ चिह्न हैं ये—हमारे प्रभास क्षेत्र में—सागर-तट पर ऐसे लौह-से काले दर्भ के चरान विपुल मात्रा में उग आये हैं। सेवकों से यह समाचार मिलते ही मैं प्रत्येक चरान से कुछ दर्भ उखाड़कर उनका एक गट्ठर द्वारिकाधीश को दिखाने के लिए ले आया हूँ। हे अवधूत, एक बार मुझे द्वारिकाधीश से मिलवाइए।”

उसकी बातों में मुझे बड़े तथ्य का आभास हुआ। मैंने कहा, “दर्भों का गट्ठर लेकर मेरे साथ आओ। यह सत्य है कि भैया मेरे अतिरिक्त किसी से बातें नहीं करते—यह तो ‘कृष्ण प्रतिज्ञा’ है। किन्तु यह अद्‌भुत देखकर वे अवश्य तुमसे कुछ बातें कर सकेंगे।” मैंने क्षेत्रपाल सहित भैया के कक्ष में प्रवेश किया।

झुलसे हुए-से दो-चार दर्भ भैया के हाथ में देकर मैंने उनको पूरा वृत्तान्त सुनाया। दर्भ का स्पर्श हाथ से होते ही क्वचित् ही उभरनेवाली आड़ी-खड़ी रेखाएँ उनके भव्य भाल पर उभर आयीं।

क्षेत्रपाल देर तक बोलता रहा। वह दर्भ टूटता नहीं है, यह प्रमाणित करने के लिए उसने शक्तिपूर्वक एक दर्भ का अग्रभाग अपनी बायीं हथेली में चुभा दिया। वह दर्भ जहाँ उसकी हथेली में अन्दर चुभा वहीं से निमिष-भर में ही रक्त की एक बूँद उभर आयी। ‘चक्‌चक्’ करते हुए क्षेत्रपाल ने दर्भ को हाथ से खींचकर निकाला। भैया ने अपने केसरी उत्तरीय से उसकी हथेली पर उभरी रक्त की बूँद को पोंछा और अपना अँगूठा उसके घाव पर दबा रखा। कुछ ही देर में रक्त का आना बन्द हुआ। भैया ने एक दर्भ को लेकर उसकी काली जड़ों को तोड़ने का प्रयास किया। वे मुड़ रहे थे, किन्तु उखाड़े नहीं जा रहे थे। भैया के भाल पर रेखाओं का जाल अब और भी घनीभूत हो गया। दर्भ को तोड़ा जा सकता है कि नहीं इसकी उन्होंने बार-बार जाँच की। वह टूट नहीं रहा था। भैया ने उसके तिकोने अग्रभाग को सूक्ष्म दृष्टि से देखा। उनके घनी पलकोंवाले मत्स्यनेत्र क्षण-भर फड़फड़ाये। अपने स्वर्ण कुण्डलों को डुलाते हुए वे अपने-आप से, किन्तु हमें स्पष्ट सुनाई दे इस प्रकार बोले, “नहीं ऽ यह लौहदर्भ नहीं है। यह है दर्भबाण! लोहे का दर्भबाण! हमारे सूचिबाण से भी अधिक प्रभावशाली—विनाशक लौहदर्भबाण!”

उन्होंने क्या कहा, यह हममें से किसी की भी समझ में नहीं आया। भैया ने वह दर्भबाण मेरे हाथ में दिया। उन्होंने उन दर्भों को ‘विनाशक’ कहा था। इसलिए मैंने निकाले हुए सभी दर्भों को पुन: गट्ठर में डालकर वह गट्ठर क्षेत्रपाल के हाथ में थमा दिया और संकेत से ही उसे विदा हो जाने को कहा। वह चला गया। मेरे वृद्ध भैया विचलित मन से कक्ष में चक्कर काटते हुए बार-बार कह रहे थे—‘रक्ष-रक्ष इडादेवी रक्ष रक्ष। रक्षा करो—रक्षा करो शिवशंकर!’ प्रत्येक शब्द के साथ उनके भाल पर घनीभूत हुआ रेखाओं का जाल बिखरता गया। वे स्वस्थचित्त हुए, और उनके साथ मैं भी!

हमारा नित्यकर्म पहले जैसा ही चलता रहा। दूर-दूर से ऋषि-मुनिवर, तपस्वी, पण्डित, कलाकार द्वारिका में आते रहते थे। पहले युवराज होने के नाते बलराम भैया से मिलकर वे भैया से मिलने की इच्छा प्रकट करते थे। कोई-न-कोई बहाना बनाकर बलराम भैया उसे टाल देते थे।

किन्तु उनमें से कुछ निश्चयपूर्वक भैया से मिलने आ ही जाते थे और भेंट कराने के लिए मेरे आगे गिड़गिड़ाते थे। मैं भी बड़ी कुशलता से समझा-बुझाकर उनको विदा कर देता था। एकाध कृष्णभक्त इससे भी हार नहीं मानता था और बड़ी चतुराई से अन्तःपुर के द्वीप पर जाकर रुक्मिणी भाभी के प्रासाद के आगे अनशन करने का निश्चय प्रकट किया करता था। उसकी यह युक्ति हम दोनों को प्रभावित कर जाती थी। निरुपाय होकर उसका यह हठ मैं भैया तक पहुँचाता था और भैया भी निरुपाय होकर उस हठी भक्त से मिलना स्वीकार कर लेते थे। उससे वे पूरे मन से वार्त्तालाप करते थे। जब कुछ भक्तों को इस युक्ति का पता चल गया, तब वे भी इसी उपाय का अवलम्बन लेने लगे। इस पर भैया ने ही मार्ग निकाला। आजकल वे किसी को कोई आदेश नहीं देते थे, अपने-आप से ही कहा करते थे–'यदि रुक्मिणी को ही मूल द्वारिका में निवास करने को कहा जाए तो...'

मैं भैया से इतना एकरूप हुआ था कि उनके स्वगत कथन का आशय भाँपकर शीघ्र ही उस कार्य को पूरा कर देता था।

मेरे सन्देश के अनुसार रुक्मिणी भाभी अन्तःपुर के द्वीप को छोड़कर मूल द्वारिका में महाराज्ञी के प्रासाद में जाकर रहने लगीं। वे भी कुछ कम चतुर नहीं थीं। अपनी सभी बहनों को द्वारिकाधीश का दूर ही से क्यों न हो–नित्य दर्शन प्राप्त हो, इसलिए रुक्मिणी भाभी ने एक-एक करके उन सबको बुलवाकर अपनी छत्रछाया में ले लिया। रुक्मिणी भाभी के प्रासाद के गवाक्षों से, गरुड़ध्वज में बैठकर भ्रमण के लिए निकले हुए भैया दूर से भी स्पष्ट दिखाई देते थे। भैया की पत्नियों में से जिस किसी को गवाक्ष में से उनकी झाँकी मिलती थी, वह झट से अपनी अन्य बहनों को संकेत करती थी। फिर वे सभी भैया को दिखाई न दें, इस प्रकार की चतुराई से उनके दर्शन कर लेती थीं।

भैया ने अपनी सभी पत्नियों को किसी भी समय मिलने आने की अनुमति दे रखी थी। किन्तु रुक्मिणी भाभी ने भैया के 'वानप्रस्थाश्रम' की सूचना अपनी सभी बहनों को दी थी और भैया के नित्य-जीवन में किसी भी प्रकार की बाधा डाले बिना उनको किस प्रकार आचरण करना चाहिए, यह समझाया था। यद्यपि भामा भाभी अन्य सभी विषयों में आमूल बदल गयी थीं, किन्तु भैया के प्रति उनका प्रेम सबसे अधिक है, यह प्रमाणित करने के उद्देश्य से वे तनिक भी विचलित नहीं हुई थीं। भैया से मिलने की उनकी इच्छा जब अनिवारणीय होती थी तब वे बड़ी चतुराई दिखाती थीं। मुझे बुलवाकर वे कहा करती थीं, "देवरजी! सुना है, श्रीजी का स्वास्थ्य ठीक नहीं है। क्या कष्ट है उनको?"

यह सुनकर मैं चकरा जाता था और झट से कहता था, "मेरे होते हुए उनका स्वास्थ्य बिगड़े और मुझे पता भी न चले! मैं तो उनका पूरा ध्यान रखता हूँ। क्या हुआ है उनको? अब उन्हीं से पूछता हूँ, क्या हुआ है?" चिन्तित होकर भामा भाभी के कक्ष से मैं भैया के कक्ष में चला आता था।

थोड़ी ही देर में रुक्मिणी भाभी और भामा भाभी को भैया के कक्ष में आयी देखकर मैं चकरा जाता था। और तत्परता से उनको भैया के पास ले जाता था। रुक्मिणी भाभी चिन्तित होकर बार-बार पूछती थीं, "अब कैसा है श्रीजी का स्वास्थ्य?" मुस्कराते हुए भैया कहते थे–"मुझे क्या हुआ है? मैं तो सकुशल हूँ।" इस भेंट में भामा भाभी केवल नेत्र-भक्ति ही करती थीं और नेत्रों में न समानेवाले भैया को आँख-भर देख लेने में ही तृप्ति का अनुभव करते हुए दोनों वहाँ से चली जाती

थीं। क्या हुआ होगा, यह अब मेरी समझ में आ रहा था। यह सारी योजना भामा भाभी की ही होती थी। मुझसे भेंट होने के बाद रुक्मिणी भाभी से मिलकर वे कहती थीं–"देवर जी अवधूत अभी-अभी आये थे। बताकर गये हैं कि स्वामी का स्वास्थ्य कुछ ठीक नहीं है–"

यह सुनते ही विचलित होकर रुक्मिणी भाभी कहती थीं–"शीघ्र ही जाना चाहिए उनके पास। भामा, तुम भी चलो मेरे साथ।" 'हाँ-ना' करते हुए सारा नाटक रचकर भामा भाभी रुक्मिणी भाभी को अगुआ बनाकर भैया से मिलने आती थीं।

सम्प्रति एक बात का मुझे तीव्रता से आभास हो रहा था कि प्रभात और सन्ध्या-वन्दन के अतिरिक्त भैया के पुत्रों में से कोई भी उनसे मिलने अन्य समय नहीं आता था। आता था अकेला पौत्र अनिरुद्ध–वह भी अपनी पत्नी उषा का भूर्जपत्र पर बनाया चित्र अपने पितामह को दिखाने के निमित्त! केवल भैया की प्रिय पुत्री चारु बार-बार उनसे मिलने आया करती थी और भैया भी उससे घुलमिलकर बातें किया करते थे।

समय शान्तिपूर्वक व्यतीत हो रहा था। कुरुक्षेत्र के महायुद्ध के पश्चात् तीन तपों अर्थात् छत्तीस वर्षों का काल बीत चुका था। उस महायुद्ध की स्मृतियाँ भी अब पीछे छूट गयी थीं। मैं तो प्रभास के क्षेत्रपाल की भेंट को भी भूल गया था। एक दिन भैया ने दारुक से कहा, "गरुड़ध्वज रथ को युवराज बलराम भैया के प्रासाद की ओर ले चलो।" बलराम भैया के प्रासाद के आगे पहुँचने के बाद मैं और भैया रथ में ही रुक गये। भैया के आगमन की सूचना देने हेतु दारुक अन्दर चला गया।

थोड़ी देर बाद सिर झुकाये हुए वह लौट आया। मैंने उससे पूछा, "क्या हुआ दारुक? शीघ्र ही लौट आये तुम? क्या बलराम भैया प्रासाद में हैं?"

उसने सिर झुकाये हुए ही कहा, "जी–हैं, किन्तु द्वारपालों ने मुझे उनसे मिलने से रोका। क्रुद्ध हुए युवराज बैठक-कक्ष में किसी पर बरस पड़े हैं। द्वारपालों का कहना था कि इस समय मेरा उनके आगे जाना उचित नहीं होगा। अत: तनिक रुककर मैं चुपके से लौट आया हूँ।"

यह सुनते ही एक ही छलाँग में भैया रथ से उतरे। मैं भी उनके पीछे हो लिया। हमें देखते ही बलराम भैया के सशस्त्र सैनिक द्वारपाल आदर सहित अभिवादन कर पीछे हट गये, हम सीधे बैठक कक्ष में चले गये।

हमारी ओर बलराम भैया की पीठ थी। फिर भी क्रोध से वे काँप रहे हैं, इसका स्पष्ट आभास मिल रहा था। उनसे भी अधिक वृद्ध दिखता कृतवर्मा उनके आगे खड़ा था।

भारतीय युद्ध के पश्चात् कृतवर्मा ने सुधर्मा राजसभा में आना छोड़ दिया था। भैया के आगे तो वह कभी भी नहीं जाता था। मुझसे भी वह कदाचित् ही मिला था। यादवों की मन्त्रिपरिषद् का सदस्य होते हुए भी वह रात-दिन मद्यपान के नशे में डूबा रहने लगा था। और इसी से उसके सेवक-सैनिक भी मद्यप बन गये थे। धीरे-धीरे यह रोग सभी यादव-योद्धाओं में फैल गया था। राजनगर के चौक-चौक में पुन: मद्यालय खुल गये थे। मद्योन्मत्त हुए उद्दण्ड यादव-योद्धा एक-दूसरे से लड़-झगड़ रहे थे।

वानप्रस्थाश्रम स्वीकारने के पश्चात् भैया ने राजसभा में जाना ही छोड़ दिया था। राजकार्य में वे तनिक भी ध्यान नहीं देते थे। युवराज के अधिकार में आज्ञापत्र प्रस्तुत करते-करते बलभद्र भैया उकता गये थे। यादव अब किसी का भी अनुशासन नहीं मान रहे थे।

निकट भविष्य में द्वारिकाधीश इसका कठोर स्पष्टीकरण पूछे बिना नहीं रहेंगे, इसका बलराम भैया को पूरा आभास था। इसलिए उन्होंने यादवों के अध:पतन के मूल कारण को खोज निकाला था। इसी कारण वे कृतवर्मा पर बरस पड़े थे। हमारे आने का उन्हें पता ही नहीं चला था।

मूलत: मितभाषी बलराम भैया उसे खरी-खोटी सुना रहे थे, "अरे नीच–कुलघातकी, जो तुम कुरुक्षेत्र में नहीं कर पाये उसे तुम यहाँ पूरा कर रहे हो? अश्वत्थामा ने जब द्रौपदी के पुत्रों का वध किया था, तभी हमको तुम्हें पहचानना चाहिए था। क्योंकि उस रात कृप के साथ तुम भी नग्न खड्ग लेकर शिविर के द्वार पर खड़े रहे थे। कुरुक्षेत्र से आने के पश्चात् द्वारिका के बचे-खुचे वीरों को तुमने बिगाड़ दिया है–उन्हें व्यसनी, मद्यप बनाया है। तुम तो आस्तीन के साँप हो। आज ही द्वारिका छोड़कर चले जाओ अन्यथा नगरजनों के समक्ष अपने हाथों से मैं तुम्हारा शिरच्छेद करूँगा।"

क्रोध से बलराम भैया थरथर काँप रहे थे। गदा के अग्रभाग की भाँति उनका शुभ्र दाढ़ीदार, गोलाकार मुखमण्डल लाल हो गया था।

अब भैया आगे बढ़े। उन दोनों के बीच खड़े होकर भैया ने कहा, "दाऊ, आपके क्रोध को मैं समझता हूँ, उस पर अंकुश लगाइए। किन्तु आपके इस कठोर अनुशासन में अब बहुत देर हो गयी है। मुझे लगता है, अब आप ही प्रभासतीर्थ जाकर यादवों के हित के लिए परमेश्वर की आराधना करें। जो आप उचित समझें, वही करें।" इससे अधिक कुछ भी न कहते हुए भैया बलराम भैया के प्रासाद से चले आये। उस दिन हम दोनों ऐन्द्र महाद्वार के निकट इडादेवी के मन्दिर की पाषाणी अग्रशाला में देर तक बैठे रहे–नि:शब्द। केवल सागर-लहरों के अविरत नृत्य को देखते हुए, काल के अथाह गर्जन को सुनते हुए...

शरद् पूर्णिमा का दिन उदित हुआ। इस दिन प्रभास क्षेत्र में पहुँचना यादवों की परम्परा थी। उसके अनुसार यादवों की मधु, भोज, दाशार्ह, कुकुर, अन्धक, वृष्णि, सात्वत, यदु, तुर्वसु, भजमान, इन मुख्य शाखाओं के और द्विमीढ़, चेदि, शैनेय, दारिकेय, महाभोज, आभीर, शूर और क्रथकैशिक–इन गौण शाखाओं के प्रमुख यादव नौकाओं में बैठकर प्रभास क्षेत्र की ओर चले गये। पीछे रह गये केवल वृद्ध और बालक। सबके जाने के बाद बलराम भैया भी अपने भ्राता गद और सारण तथा पुत्र निशठ, उल्मुक आदि के साथ प्रभास क्षेत्र की ओर चले गये। प्रभास चले गये यादवों के मनोरंजन के लिए मैरेयक नामक मदिरा के और सोमरस के कुम्भों से लदी लगभग सौ नौकाओं का समूह भी उस ओर चला गया। भैया ने तो ऐसे सामूहिक समारोहों में जाना कब का छोड़ दिया था।

शरद् पूर्णिमा की शुभ्र ज्योत्स्ना में हम दोनों दारुक सहित ऐन्द्र महाद्वार के पास पाषाणी आसनों पर बैठ गये। हमारे सम्मुख शुभ्र चाँदनी में सागर की लहरें उमड़ रही थीं। ऐसी कई शरद् पूर्णिमाओं में मैंने भैया को विवाह अथवा नामकरण के निमित्त यादव नर-नारियों के साथ रास खेलते देखा था। लोटे भर-भरकर केसर-मिश्रित सुगन्धित दुग्धपान किये यादव नर-नारियों को भैया के साथ एकरूप होकर एवं भानरहित होकर नाचते हुए मैंने देखा था। अत: गरजती हुई फेनिल लहरों की ओर देखते हुए मैंने भैया से पूछा, "भैया, रास खेलते हुए मैंने आपको सबसे समरस होते देखा है। लगता है कि प्रत्येक नर-नारी के साथ आप ही नृत्य कर रहे हैं। इसका क्या रहस्य है?"

भैया ज्योत्स्ना में नहाते पश्चिम सागर की ओर और मेरी ओर बारी-बारी देखते रहे। तत्पश्चात् मुस्कराते हुए गिने-चुने शब्दों में उन्होंने कहा, "हे अवधूत, रास तो एक प्रतीक है। जीव-सृष्टि को निर्माण करनेवाला परमात्मा प्रत्येक क्षण रास ही खेलता रहता है। इस क्षण भी वह सुदूर रास ही खेल रहा है!" उसके बाद वे मौन हो गये। मैं भी चुप रहा। उस रात शरद् राका की शुभ्र-धवल ज्योत्स्ना में हम देर तक सागर-तट पर बैठे रहे—मौन! मध्यरात्रि बीतने के बाद हम लौट आये।

दो दिन बीत गये। तीसरे दिन प्रभातकाल में ही द्वारिकाधीश की विशेष भेंट की माँग करनेवाले समय-सूचक थाल पर तीन घण्टे बजे। 'कौन हो सकता है' इस अर्थ में मैंने और भैया ने प्रश्नवाची मुद्रा से एक-दूसरे की ओर देखा।

कुछ समय बाद पहले समय-पालक आया और उसके पीछे-पीछे आया प्रभास क्षेत्र का क्षेत्रपाल, जिसे अग्रसूचना देने की प्रथा का भी भान न रहा। वह क्षेत्रपाल थर-थर काँपता हुआ भैया के चरणों में लोटकर सिसकने लगा।

हम दोनों कुछ समझ नहीं पा रहे थे। भैया के चरणों में पड़े उस क्षेत्रपाल को थपथपाते हुए शान्त करने का मैं प्रयास करने लगा।

पाँव छूनेवाले को भैया नित्य ही तत्परता से ऊपर उठाया करते थे, किन्तु आज उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे निश्चल खड़े ही रहे। मैंने सान्त्वना देकर क्षेत्रपाल को ऊपर उठाया और कहा, "घबराओ मत—रोओ मत। आकाश-सदृश विशाल, अभय देनेवाले महापुरुष के आगे खड़े हो तुम! कहो, क्या हुआ है?"

नेत्रों से अविरत बहती अश्रुधाराओं को उत्तरीय के छोर से पोंछते हुए वह बड़ी कठिनाई से एक-एक शब्द बोलने लगा—"हे द्वारिकाधीश, हे अवधूत, भयंकर विपत्ति टूट पड़ी है। परसों रात—शरद् पूर्णिमा की रात में—प्रभास क्षेत्र में प्रलय हुआ। सभी यादव मद्योन्मत्त होकर आपस में लड़-लड़कर मृत्यु को प्राप्त हो गये—समाप्त हो गये।"

"क्या ऽ ऽ ऽ?" मैं चीख पड़ा।

भैया शान्त ही थे! निश्चल! वे मानो अपने-आप से ही बोले—"क्षेत्रपाल, शान्त और अचल मन से कहो—क्या और कैसे हुआ। उद्धव को इसकी पूरी जानकारी दो।"

अब क्षेत्रपाल तनिक सँभलकर स्पष्ट बोलने लगा—

"शरद् का पूर्णचन्द्र आकाश में दिखाई देते ही सहस्रों यादवों ने कड़ाहों में भरे मैरेयक मद्य और सोमरस का सामूहिकपान आरम्भ किया। मध्यरात्रि तक—चन्द्र के माथे पर आने तक सभी मद्यपान करते हुए उन्मत्त हो गये थे।

"पहले कृतवर्मा ने स्यमन्तक मणि का प्रसंग उठाकर द्वारिकाधीश को 'चोर' कहते हुए सात्यकि को उकसाया। तब सन्तप्त हुए सात्यकि ने दर्भों को—लौह दर्भों को जड़ से उखाड़कर उन्हें कृतवर्मा पर फेंकना आरम्भ किया। दोनों में देर तक दर्भबाण का युद्ध होता रहा। जिस गति से महारथी सात्यकि ने कुरुक्षेत्र के युद्ध में भी बाण नहीं चलाये होंगे, उस गति से वह धरती से दर्भबाण जड़ सहित उखाड़कर कृतवर्मा पर फेंकता रहा। दर्भबाणों से घिरे अपने मद्यगुरु कृतवर्मा को देखकर साम्ब क्रुद्ध हुआ। उसने सात्यकि पर आक्रमण किया। उसने भी सात्यकि पर अनगिनत दर्भबाण फेंके। सेनापति सात्यकि पर किया गया यह प्रहार प्रद्युम्न से सहा नहीं गया।

उसने साम्ब का वध कर दिया। भद्रादेवी के ज्येष्ठ पुत्र संग्रामजित् को उसी के भ्राता सुभद्र ने 'सदैव मेरा अपमान करते रहते हो—'कहकर दाँत किटकिटाते हुए दर्भबाण फेंक-फेंककर मार डाला।

"मद्योन्मत्त हुए यादव ज्येष्ठता-कनिष्ठता, रिश्ते-नाते, सब-कुछ भूलकर चीखते-चिल्लाते हुए एक-दूसरे पर दर्भबाण फेंकने लगे।

"दोनों हाथ ऊपर उठाकर 'रुक जाओ ऽ—तुम्हें इडादेवी की सौगन्ध...रुको ऽ' चिल्लाते हुए युवराज बलभद्र उन सबको रोकने के लिए इधर-उधर दौड़-धूप करते रहे और आक्रोश कर-करके थक गये। किसी ने भी उनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। उत्तर रात्रि तक मद्योन्मत्त यादवों का चीखना-चिल्लाना और मारपीट चलती रही। विषण्ण मन से, थके हुए युवराज दोनों हाथों में मस्तक पकड़कर एक पाषाण-खण्ड पर बैठ गये।

"किसी युद्ध में शत्रुओं को भी नहीं मारा होगा। इतनी निर्ममता से! यादव बन्धु-बन्धुओं ने दर्भबाण फेंक-फेंककर एक-दूसरे को मार डाला था।

"सूर्योदय तक प्रभास क्षेत्र कुरुक्षेत्र बन गया था। मृग नक्षत्र की प्रचण्ड वर्षा में झंझा के प्रबल झकोरों से जिस प्रकार विशाल वितानाकार आम्र-वृक्ष के फल धरती पर गिर जाते हैं, उसी प्रकार यादवों के मृतदेह इधर-उधर बिखरे पड़े थे। दर्भबाणों के सभी चरान उद्ध्वस्त हो गये थे। सागर-पुलिन पर एक भी स्थान ऐसा नहीं था, जहाँ पर किसी यादव की मृतदेह न पड़ी हो।

"इस विनाश में बचे एक युवा यादव के कन्धे का सहारा लेते हुए विषण्ण युवराज बलभद्र ने सागर-पुलिन की रेती में ही पद्मासन लगाया। उसी समय सागर में ज्वार आया। युवक ने बाद में मुझे बताया कि युवराज की बन्द आँखों से शुभ्र-धवल ज्योति निकली और सुदूर सागर-लहरों में विलीन हो गयी।

"ज्वार के गरजते समुद्र को देखकर भयभीत हुआ युवक वहाँ से भाग खड़ा हुआ। बाद में हम वहाँ गये, किन्तु युवराज की देह हमें नहीं मिली।

"हे द्वारिकाधीऽश, हमारे युवराज बलभद्र हमें छोड़कर चले गये—सागर को प्रिय हो गये!" उत्तरीय में मुख छिपाकर क्षेत्रपाल खड़े-खड़े सिसकता रहा।

विषण्ण होकर, दोनों हाथों में अपना सिर पकड़कर मैं धप्प-से नीचे बैठ गया।

"दाऊ, एक बार रुष्ट होकर आप मुझे छोड़कर चले गये थे। तब मोरपंख भिजवाकर मैंने आपको वापस बुलवाया था। अब आपको वापस बुलवाना आपके इस छोटे के वश में नहीं रहा!" इतना ही कहकर भैया अन्तःकक्ष में चले गये।

भैया ने दारुक से गरुड़ध्वज को तैयार करने का निर्देश दिया। मुझे और रेवती भाभी को लेकर वे प्रभास क्षेत्र की ओर प्रस्थान करने लगे। अमात्य को तात वसुदेव और दोनों माताओं को प्रभास क्षेत्र ले आने की सूचना देकर ही वे निकले थे। हस्तिनापुर, काम्पिल्यनगर, इन्द्रप्रस्थ, विराटनगर, रैवतक आदि स्थानों पर यह समाचार पहुँचाने के लिए दूत भिजवाने का भी उन्होंने निर्देश दिया था।

अब बलराम भैया की सभी अन्तिम विधियाँ सम्पन्न होने तक हम सब प्रभास क्षेत्र में ही रहनेवाले थे। भैया ने यादवी में मारे गये सभी यादवों के लिए बड़ी-बड़ी अठारह चिताएँ रचवा ली

थीं और प्रत्येक यादवकुल के वृद्ध सदस्यों के हाथों मृतकों का एकत्र ही समन्त्र दहन करवाया था। बलराम भैया की चन्दनी चिता में अग्नि देते हुए भी भैया निश्चल, शान्त थे।

सबको तिलांजलि देने के लिए हस्तिनापुर से युधिष्ठिर और द्रौपदी के साथ चारों पाण्डव प्रभास क्षेत्र आये।

तिलांजलि की विधि पूरी होने के बाद अकेले अर्जुन को लेकर भैया सबसे अलग थोड़ी दूर चले गये। मैं भी उनके साथ था। अत्यन्त शान्तिपूर्वक उन्होंने अर्जुन से पूछा,–"क्या हिमालय जाकर तुम सबने बुआ की अन्त्यविधि सम्पन्न की?"

बलराम भैया की स्मृति के कारण डबडबायी आँखोंवाले अर्जुन के लिए यह प्रश्न अप्रत्याशित था। भरी हुई आँखों से वह भैया की ओर केवल देखता रहा। वह भी अब वृद्ध दिखने लगा था। उसने केवल स्वीकृतिदर्शक ग्रीवा डुलायी थी। उसे कुछ सूझ नहीं रहा था कि क्या कहें।

अपना दायाँ हाथ अर्जुन के विशाल वृषभस्कन्ध पर रखकर उसे थपथपाते हुए भैया ने कहा, "मेरे दाऊ चले गये। सभी को जाना पड़ता है। कल मुझे भी जाना पड़ेगा। इस क्षण कुन्ती बुआ को और दाऊ को स्मरण करके मुझे एक वचन दो!"

भैया ने आज तक किसी से भी, कुछ भी नहीं माँगा था–वचन भी नहीं! इस अनुभूति से, आँखें भरे हुए अर्जुन ने भैया के फैलाये गये गुलाबी करतल पर अपना हाथ रखकर अपने वचन देने की मौन स्वीकृति दी।

मैं उत्सुक होकर सुनने लगा। मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि इतना सब घटित होने पर भी भैया की मधुर वेणुवाणी में तनिक भी परिवर्तन नहीं आया था। उन्होंने धीमे शब्दों में अर्जुन से कहा, "मेरे पश्चात् द्वारिका की सभी यादव-स्त्रियों की रक्षा तुम्हें ही करनी है पार्थ!"

मैं सिहर उठा। भैया ऐसा कुछ कहेंगे, इसका मुझे तनिक भी अनुमान नहीं था। अर्जुन तो दिङ्मूढ़ ही हो गया था। पाण्डवों के हस्तिनापुर लौटने का समय आया। उनको विदा करते समय भैया ने आचार्य सान्दीपनि और मुनिवर घोर-आंगिरस की भाँति ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिर और भीमसेन के चरणों पर माथा रखकर उनको प्रणाम किया। किन्तु यादवों के विनाश और बलराम भैया के देहान्त से वे दोनों ऐसे दहल गये थे कि अपने चरणों पर भैया के मस्तक रखने का उन्हें आभास ही नहीं हुआ। मैंने भी भैया का अनुसरण कर युधिष्ठिर और भीमसेन के चरणों पर अपना माथा रखा। किन्तु यह बात न उनके ध्यान में आयी, न मेरे।

अर्जुन सहित दो कनिष्ठ पाण्डवों–नकुल और सहदेव ने भैया को दण्डवत् प्रणाम किया। उन्होंने केवल नरोत्तम सखा अर्जुन को अपने दृढ़ आलिंगन में लिया। देर तक वे दोनों उसी स्थिति में नि:शब्द खड़े रहे। अन्य किसी ने देखा कि नहीं, यह मुझे पता नहीं; किन्तु मैंने अर्जुन के नेत्रों में बहते आत्मरस को भैया की पीठ पर झरते हुए देखा!

भैया से सदैव निर्भयता से बातें करनेवाली द्रौपदी इस समय कुछ बोल नहीं रही थी। जैसे ही वह भैया को प्रणाम करने हेतु झुकने लगी, अत्यन्त प्रेमपूर्वक उसके दोनों हाथों को अपनी हथेली में लेते हुए भैया ने उसे रोका।

उसे लगा था कि इस समय भैया उसे कुछ-न-कुछ उपदेश अवश्य देंगे। किन्तु–"सखि ऽ ऽ! तुम मुझसे शब्दों की अपेक्षा कर रही हो और मैं तुम्हें दे रहा हूँ अपना प्रेम–वस्त्ररूप में! इसे

सँभालना!" इतना ही कहकर भैया ने अपने कण्ठ में लिपटा केसरी उत्तरीय निकालकर उसकी हथेली पर रख दिया।

पाण्डव द्रौपदी सहित हस्तिनापुर चले गये। हम तात वसुदेव और दोनों माताओं के साथ द्वारिका लौट आये। भैया की दिनचर्या में आयी त्रुटि का मुझे आभास होने लगा। उन्होंने सागर-तट पर जाकर सूर्यदेव को अर्घ्य देना छोड़ दिया। द्वारिका में आनेवाले ऋषि-मुनि, तपस्वियों से मिलना भी उन्होंने बन्द कर दिया था। बिना चूके वे प्रतिदिन दोनों समय तात वसुदेव और दोनों माताओं का दर्शन करते थे। अब उनका अधिक-से-अधिक समय दान-वेदिका पर ही व्यतीत होता था। आजकल वे मुझसे भी कम बोलने लगे थे। जब बलराम भैया के निमित्त रैवतक से तीर्थंकर घोर-आंगिरस भैया से मिलने आये और जब अंकपाद आश्रम से आचार्य सान्दीपनि अपने पुत्र दत्त के साथ इसी कारण द्वारिका आये, केवल तभी भैया कुछ मुखर हुए।

जिस प्रकार उनका मौन मुझे प्रतीत हो रहा था, उसी प्रकार वह रुक्मिणी भाभी को भी प्रतीत हो रहा था। जब हम दोनों मिलते थे, इसी विषय पर बातें करते थे। आखिर वे भैया के अनुरूप शोभाशाली उनकी सबसे प्रिय पत्नी थीं–उनकी अर्धांगिनी थीं! हमारी चर्चा की समाप्ति करते हुए वे कहती थीं, "आप चिन्ता मत कीजिए देवर जी! वे जब भी बोलेंगे, आप ही से बोलेंगे–वह भी पूरे अन्तर्भाव से!"

मैं उसी की प्रतीक्षा करता रहा। मन-ही-मन कुढ़ता रहा। एक दिन हमारे जल-विभाग का प्रमुख सभी को गम्भीरता से सोचने पर विवश करनेवाला समाचार लेकर आया। पश्चिम सागर में भूकम्प-सदृश कुछ उथल-पुथल हुई थी, जिससे द्वारिका पत्तन का मार्गदर्शन करनेवाला क्रोष्टु दीपस्तम्भ ढह गया था। इस पर भी भैया मुझसे कुछ नहीं कह रहे थे। अन्ततः वह दिन उदित हुआ–भैया के बोलने का–युग के अन्त का!

उस दिन ब्राह्ममुहूर्त में मुरली की एक के बाद एक सुनाई देनेवाली मधुर धुनों से मैं जाग उठा। मैं चकित हो गया। द्वारिका में आज पहली ही बार उनको मुरली बजाते हुए मैं देख रहा था। नित्य आनेवाले चारणगण अभी तक नहीं आये थे। रुद्रवीणा के सुरों से वे भैया को जगाएँ इससे पहले ही मुरली की अविस्मरणीय अज्ञात धुनों से भैया ने ही मुझे जगाया।

मुझे जाग उठा देखकर उन्होंने मुस्कराते हुए मुरली बजाना बन्द किया। मैंने कुतूहल से पूछा, "भैया, चारणगणों के आने से पहले ही आप कैसे जाग गये?"

उन्होंने कहा, "मुख-प्रक्षालन करके आ जाओ। फिर बताता हूँ।" भैया भी अपनी प्रातर्विधियों से निवृत्त हो चुके थे। करदर्शन करके उन्होंने भूमाता को वन्दन किया था। मुख-प्रक्षालन करने के बाद सीसम के मंच पर बैठकर वे संगीत का आनन्द ले रहे थे।

मुख-प्रक्षालन करके मैं नित्य की भाँति उनके आगे धरती पर बिछाये आस्तरण पर आलथी-पालथी लगाकर बैठ गया। मुझे किसी सम्भ्रम में डालने का उनको अवसर ही न देते हुए मैंने उनसे पूछा, "चारणगणों के आने से पहले ही आप जाग कैसे गये भैया?"

वे मुस्कराये। उनकी शुभ्र मूँछों की आड़ से मेरे चिरपरिचित उनके दाँत चमक उठे। "शान्तचित्त होकर तुम सुन सको, इसीलिए मैंने मुरली बजाना बन्द किया है। सुनो, कुछ सुनाई दे रहा है तुम्हें?" आज भैया ने उषःकाल से ही मेरी परीक्षा लेना आरम्भ कर दिया था। आँखें मूँदकर, एकाग्र होकर मैं सुनने लगा। मुझे केवल पश्चिम सागर का अविरत गर्जन सुनाई दे रहा

था। मैंने कहा, “नित्य की भाँति पश्चिम सागर अपने गर्जन की मुरली बजा रहा है। केवल वही सुनाई दे रही है मुझे।”

“नहीं–प्रिय सखा अवधूत! ध्यानपूर्वक सुन लो।” आज के उनके पहले वाक्य से ही मुझे उनमें आये परिवर्तन की स्पष्ट प्रतीति हुई थी। मानसिक वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करने के बाद आज तक उन्होंने मुझे कोई आज्ञा नहीं दी थी। मुझसे कुछ काम करवाते समय भी वे सीधे मुझसे कुछ नहीं कहते थे, स्वगत-कथन ही किया करते थे। बहुत दिनों के बाद आज उन्होंने मुझे आज्ञा दी थी। उसे सुनकर मन-ही-मन मुझे एक अज्ञात-सा आनन्द हुआ। मुझे लगा कुछ खोया हुआ मुझे मिल गया है, किन्तु क्या मिल गया है, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा था।

आँखें मूँदकर मैं ध्यानपूर्वक सुनने लगा। थोड़ी देर बाद मैंने कहा, “वस्त्र के चीरने की-सी सूक्ष्म ध्वनि सुनाई दे रही है।”

वे पुनः मुस्कराये। उनकी इस प्रकार की हँसी को मैंने कई वर्ष पूर्व अवन्ती के अंकपाद आश्रम में देखा था–निष्पाप–नटखट!

उन्होंने कहा, “नहीं, भ्राता ऊधो! यह वस्त्र के चीरने की ध्वनि नहीं है। यह तो वन-काक की उषःकालीन काँय-काँय है, जिसे हमने पहली बार अंकपाद आश्रम में, ब्राह्ममुहूर्त में सुना था। आज चारणगणों के आने से पहले मेरे इस पुराने मित्र ने अपनी ‘काँय-काँय’ की वंशी सुनाकर मुझे जगाया है। मेरी उसकी मित्रता बहुत पुरानी है।”

हम स्नान, प्राणायाम, पुरश्चरण, गो-दर्शन, दुग्धपान आदि नित्यकर्मों से निवृत्त हुए। भैया ने सेवक को भिजवाकर दारुक को बुलवा लिया। कुछ ही समय में दारुक भैया की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने प्रांगण में, हमारे कक्ष के आगे गरुड़ध्वज को लाकर खड़ा किया। आज उसने सालंकृत गरुड़ध्वज को भैया के प्रिय कदम्ब-पुष्पों की मालाओं से सजाया था। दारुक ने हाथ जोड़कर, नतमस्तक होकर हमसे गरुड़ध्वज में बैठने की प्रार्थना की। भैया के पीछे-पीछे मैं भी रथारूढ़ हुआ। हम तात वसुदेव और दोनों माताओं के प्रभात-दर्शन के लिए निकले। दारुक ने रथ को द्वारिका के महाराजाधिराज तात वसुदेव के राजप्रासाद के आगे लाकर खड़ा किया।

नित्य की भाँति आज दारुक ने स्वर्ण-किनारीवाली झूलें डाले हुए अपने प्रिय अश्वों को उनके नाम लेकर नहीं पुचकारा था, यह बात भैया की दृष्टि से छिपी नहीं रही। रथ से उतरने से पहले भैया ने दारुक से कहा, “सखा दारुक, लगता है दो दिन से तुमने मेरे प्रिय अश्वों को खरहरा नहीं किया है! नित्य की भाँति वे पूँछें नहीं हिला रहे हैं–हिनहिना नहीं रहे हैं! पवन की लहरों से अपने शरीर पर भँवर नहीं खिला रहे हैं!”

“सत्य है स्वामी। खरहरे के लिए आवश्यक कँटीली वनलताएँ लाना मैं भूल गया, और उनका खरहरा नहीं किया जा सका। इसीलिए वे तनिक शिथिल लग रहे हैं। अन्यथा आपके दर्शन होते ही वे आनन्दविभोर होकर कब के हिनहिनाये होते!” दारुक ने झेंपते हुए पूरी बात बता दी।

“ठीक है, खरहरे के लिए कँटीली वनलताएँ दूसरे प्रहर में ही ले आऊँगा।” भैया ने मुस्कराते हुए कहा और वे रथ से नीचे उतरे। हम तीनों तात वसुदेव के भव्य, वैभवशाली राजप्रासाद में प्रविष्ट हुए। तात को पूर्वसूचना भिजवाकर हम अन्तःकक्ष में उनके और दोनों माताओं के दर्शन करने गये। भैया ने तीनों को दण्डवत् प्रणाम किया। मैंने और दारुक ने उनका अनुसरण किया। नित्य की भाँति भैया शीघ्र वहाँ से नहीं लौटे। वे देवकी माता के मंचक पर बैठ गये। कुछ क्षण

नीरवता में ही व्यतीत हुए। कोई कुछ नहीं बोल रहा था। यादवी और बलभद्र भैया के देहान्त के पश्चात् यही स्थिति बनी हुई थी। सबकी मानसिक दुविधा को तोड़ते हुए भैया ने बड़ी माँ से कहा, "कितने दिन हुए–आपके हाथ से दुग्धपान नहीं किया!" माँ की ओर देखकर वे ऐसे मुस्कराये कि उन्हें कुछ कहना सूझा ही नहीं। सेविका को आज्ञा देने के बदले मुस्कराते हुए 'अभी आयी' कहकर वे स्वयं ही पाकगृह में चली गयीं। वे तात वसुदेव के निकट के आसन पर बैठी रोहिणी माता के समीप गये। अनजाने में ही वे अपने-आप उठकर खड़ी हुईं। बलराम भैया की स्मृति से वे दोनों राजमन गद्‌गद हो उठे। छोटी माँ अंशुक का छोर मुख पर ओढ़कर सिसकने लगीं। भैया ने झुर्रियाँ पड़े उनके हाथ अपने हाथों में ले लिये। हाथों को थपथपाते हुए भर्राये स्वर में उन्होंने कहा, "शान्त हो जा छोटी माँ! वास्तव में शोक तो आपसे अधिक मुझे करना चाहिए! कितना सताया मैंने अपने दाऊ को–आपके पुत्र को!" छोटी माँ के थके, वृद्ध कन्धों को भैया ने प्रेमपूर्वक थपथपाया।

देवकी माता का लाया गोरस का प्रसाद भैया ने आँखें मूँदकर बड़ी रुचि से ग्रहण किया।

हम तीनों उस मातृ-पितृ-प्रासाद से निकले। भैया के पहले से दिये निर्देशानुसार, अमात्य ने दान-वस्तुओं से भरे स्वर्ण-थाल नगर के मध्य स्थित दान-वेदिका पर सजा रखे थे। आज उनकी संख्या बहुत अधिक बढ़ गयी है, यह मेरे ध्यान में ही नहीं आया।

बिना बताये ही दारुक, नित्य के अनुसार गरुड़ध्वज को दान-वेदिका के पास ले आया। हम दोनों वेदिका पर चढ़ गये और दारुक रथ में ही रुक गया। भैया ने गन्ध-पुष्प अर्पित करके दान-थालों का पूजन किया। उनके संकेत के अनुसार, एक-एक वस्तु मैं उनके हाथों में देने लगा और वे मन्त्रघोष के साथ द्वारिकावासी नर-नारियों को दान देने लगे। उनके केवल दर्शन से ही सन्तुष्ट हुए नगरजन हाथ ऊपर उठा-उठाकर उन्हें आशीर्वाद देने लगे–'आयुष्मान् भव द्वारिकाधीश! कल्याण-मस्तु! शिवं भवतु!'

द्वीपद्वारिका को आलोकित कर देनेवाले सूर्यदेव मानव-जीवन को आलोकित कर देनेवाले मानव-सूर्य के दर्शन करते हुए आकाश में ऊपर चढ़ने लगे। आज भैया बड़ी देर तक दान देते रहे।

हम भैया के प्रासाद में लौट आये। भोजन का समय हुआ था। दारुक प्रतिदिन इस समय अपने घर जाया करता था। आज भैया ने, 'आओ दारुक' कहकर उसके कन्धे पर हाथ रखा। हाथ रखते ही वह चुपचाप भैया के साथ श्रीसोपान चढ़ने लगा।

जाने कैसे, रुक्मिणी भाभी ने हम तीनों को साथ-साथ आते देखा था। भैया ने अपने साथ हमें भी हाथ-प्रक्षालन करने को कहा। हम तीनों भोजन के लिए लगायी गयी सीसम की चौकियों पर बैठ गये। भोजन के थाल रखने के लिए भी वैसी ही तीन चौकियाँ रखी गयी थीं। रुक्मिणी भाभी के कक्ष की ओर से सेविकाएँ भोजन के थाल ले आयीं। मैंने झट से आगे बढ़कर एक-एक थाल पकड़ लिया और एक-एक चौकी पर रख दिया। दो चौकियों के बीच की चौकी पर भैया बैठे। उनकी बायीं ओर दारुक और दायीं ओर मैं बैठा। भैया ने अन्न की आहुतियाँ दीं–हमने भी दीं। मैंने भोजन के थाल पर दृष्टि घुमायी। आज भैया के सभी प्रिय व्यंजन थाल के कटोरों में दिखाई दे रहे थे। निश्चय ही ये सभी व्यंजन रुक्मिणी भाभी ने बनाये थे।

हम वार्त्तालाप करते-करते भोजन करने लगे। सहसा मैंने एक जिज्ञासा प्रकट की–"भैया, दारुक ने दो दिन अश्वों का खरहरा नहीं किया है, यह उसके बताये बिना ही आपने कैसे जाना?"

गुलगुले ओदन का कौर निगलते हुए मुस्कराकर उन्होंने कहा–"जैसे आज मैं ब्राह्ममुहूर्त में वन-काक पक्षियों की काँय-काँय सुनकर जागा–वैसे ही! दारुक से मैं सदैव ही कहता आया हूँ कि गरुड़ध्वज के चारों अश्व मेरे शरीर के अंग ही हैं। जिस प्रकार कुरुक्षेत्र में मैंने अर्जुन को जीवन-गीता बतायी थी, उसी प्रकार दारुक को मैंने कई बार सभी अध्यायों और पर्वों सहित अश्व-गीता समझायी है! क्यों दारुक?"

"जी-स्वामी! मैंने उसे भली-भाँति ध्यान में रखा है।" दारुक ने आदरपूर्वक कहा।

बड़ी देर तक भिन्न-भिन्न विषयों पर मुक्त मन से वार्त्तालाप करते हुए हमने अपना भोजन समाप्त किया। भैया के बाद हमने भी आचमन किया। भैया पहले उठे। नित्य की भाँति उन्होंने अपने आगे रखा जल का एकमात्र स्वर्णकुम्भ बायें हाथ से उठाया।

बातें करते हम स्वच्छतागृह में पहुँच गये। अब मेरे ध्यान में आया कि पिछले अनेक वर्षों से भोजन के बाद मैं ही तो भैया के जूठे हाथों पर पानी डालता आया हूँ–मैंने झट से उनके हाथ से जलकुम्भ लेने का प्रयास किया। उन्होंने भी झट से अपना जलकुम्भ पीछे हटाते हुए प्रसन्नता से मुस्कराकर कहा, "नहीं अवधूत, आज का दिन तुम्हारा है। आज तक तुमने मेरे हाथों पर पानी डाला है, मेरे हाथ धुलवाये हैं; आज मैं तुम्हारे हाथ धुलवाऊँगा–दारुक के भी! आज तक तुम दोनों ने मेरी सेवा की, आज तनिक मुझे भी करने दो!"

नित्य की भाँति उन्होंने मुझे निरुत्तर कर दिया! विवश हो मैंने धीरे-से अपने हाथ आगे बढ़ाये। भैया मेरी ओर बड़े प्रेम से देखते हुए मेरे हाथों पर पानी डालते रहे। दारुक के हाथों पर भी उन्होंने पानी डाला। अन्त में उन्होंने मुझसे अपने हाथ धुलवाये।

मेरे दिये वस्त्र से अपने भीगे हाथ पोंछते हुए उन्होंने दारुक से पूछा, "अश्वों के खरहरे के लिए कँटीली लताएँ तुम कहाँ से लाते हो दारुक?"

"वेरावल के पास भालका तीर्थ के अरण्य से स्वामी!" दारुक ने बताया।

"दारुक, आज तुम विश्राम करो। तनिक विश्राम करने के बाद मैं और उद्धव भालका तीर्थ जाकर उन वनबेलों को ले आएँगे। आज तुमने गरुड़ध्वज को अत्यन्त सुन्दर सजाया है। उसे आज खोलो मत, ऐसे ही अश्वशाला में छोड़ आओ।"

"जो आज्ञा द्वारिकाधीश!" कहकर उसने भैया के चरणस्पर्श किये और जाने लगा। भैया ने मृदुता से उसे ऊपर उठाकर अपने वक्ष से सटा लिया। 'स्वामी ने आज सहभोजन का और प्रगाढ़ आलिंगन का सम्मान क्यों प्रदान किया?' यह सोचते हुए वृद्ध दारुक चला गया।...

मैंने भैया का किरीट चौकी पर स्वर्णथाल में रख दिया और वे अपने ऊँचे, सीसम के मंचक पर लेट गये। मैं आस्तरण पर बैठकर उनकी चरण-सेवा करने लगा। कुछ देर बाद आँखें बन्द किये हुए उन्होंने कहा, "अब तुम जाओ उद्धव। दूसरे प्रहर के ढलते लौट आना। हमें भालका तीर्थ जाना है। उसके लिए नौका तैयार रखो।"

"जी भैया!"–कहकर मैं भी उनकी चरणधूलि लेकर उनके कक्ष से निकला। जाते-जाते मैंने उनके कक्ष के प्रशस्त द्वार बन्द कर लिये। सवेरे से घटित हुई घटनाओं के बारे में सोचता हुआ, नौका का प्रबन्ध करने के लिए मैं शुद्धाक्ष के पास की खाड़ी की ओर चला गया।

भैया और दारुक ने जिसका उल्लेख किया था, वह भालका तीर्थ सोमनाथ-वेरावल के समीप

के अरण्य में था। यह अरण्य खाड़ी के उस पार बीस योजन की दूरी पर था। वहाँ जाने के लिए गरुड़ध्वज की आवश्यकता थी। सदैव की भाँति गरुड़ध्वज को नौका पर चढ़ाकर ही हमें खाड़ी पार करनी थी।

दो प्रहर का समय होने के कारण द्वारिकापत्तन के बहुत से नाविक भोजनादि के लिए अपनी-अपनी कुटियों में चले गये थे। उनको खोजकर उनमें से कुशल नाविक का चयन करने में एक प्रहर बीत गया। लौटते हुए मैं शुद्धाक्ष महाद्वार पर अंकित यादवों के मानचिह्नों का निरीक्षण करते हुए तनिक रुक गया। उनमें गदा-चिह्न को देखकर बलभद्र भैया की स्मृति से मेरा मन इतना गद्‌गद हो उठा कि परिचित नगरजन 'प्रणाम उद्धवदेव–वन्दन अवधूत' कहते हुए मेरा अभिवादन कर रहे हैं, इस ओर भी मेरा ध्यान नहीं था! अब दूसरा प्रहर ढलने को था। शीघ्र ही भैया की सेवा में उपस्थित होना आवश्यक था।–अब तब भैया उठ गये होंगे और मुख-प्रक्षालन करने के लिए उनको पानी देना होगा।...वे नित्य ही गूढ़तापूर्ण बातें करते रहते हैं, दूरदर्शिता की बातें करते रहते हैं।...आज जीवन में पहली बार उन्होंने स्वयं मेरे हाथ क्यों धुलवाये? यही सब सोचते-गुनते मैं श्रीसोपान के पास पहुँचा।–पिछले तीन तपों से मैं इस श्रीसोपान के विषय में सोचता रहा हूँ। क्यों बनवाया होगा भैया ने इस सोपान को? कभी-कभी वे कहते हैं, 'मेरे जीवन में आये विशिष्ट व्यक्तियों की स्मृतियों के लिए मैंने यह सोपान बनवाया है।' क्या उन विशिष्ट व्यक्तियों में एक मैं भी होऊँगा? यदि होऊँगा तो मेरी सीढ़ी कौन-सी होगी?

मैंने उस भव्य सोपान को आँखों में समेटते हुए दृष्टि ऊपर उठायी। ऊपर की पहली सीढ़ी पर मेरे भैया मुस्कराते हुए खड़े थे। उन्होंने वहीं से पूछा, "क्यों उद्धव, सारी तैयारियाँ हो गयीं? क्या मैं नीचे आ जाऊँ?"

"जी भैया–सारी तैयारियाँ हो चुकी हैं। किन्तु आप नीचे मत आइए–मैं ही ऊपर आता हूँ।" लम्बे-लम्बे डग भरकर चढ़ते हुए मैं उस अति भव्य सोपान में उनके पास पहुँचा।

उनकी ओर देखते ही मैं चकित हो गया। कुरुक्षेत्र से आने के बाद पेटिका में बन्द कर रखे गये नि:शस्त्र सारथि का सुरक्षित रणवेश कई वर्षों बाद आज पहली बार उन्होंने धारण किया था। गोलाकार पृष्ठभागवाला बेलबूटेदार मोरपंख से मण्डित स्वर्णमुकुट उन्होंने अपने घने, शुभ्र-धवल केशों पर ठीक से बिठाया था। यह मुकुट वह नहीं था जिसे वे नित्य पहना करते थे। यह कई वर्ष पुराना था। आँखें चौंधिया देनेवाले उस चमकते स्वर्णकिरीट में लगा मोरपंख इस क्षण भी मन्द-मन्द हिल रहा था। यद्यपि उनकी भौंहों और दाढ़ी-मूँछों के भी केश दुग्ध-धवल हो गये थे, किन्तु वे इस प्रकार मुस्करा रहे थे कि उनकी आयु का अनुमान ही नहीं हो रहा था। इस क्षण भी उनके मुखमण्डल पर शतकोटि सूर्यों की आभा बिखरी हुई थी। उनके कण्ठ में झूलती प्रफुल्लित शुभ्र-धवल पुष्पों की सघन वैजयन्तीमाला उनके घुटनों से भी नीचे पहुँची थी। वहाँ के परिवेश को उसने सुगन्धित कर दिया था। भैया ने आज अपने विशाल वक्ष पर स्वर्णलेप चढ़ाया लौहत्राण धारण किया था। उस पर वैजयन्तीमाला के नीचे दमकती कौस्तुभमणियों से सुशोभित मौक्तिक-मालाएँ विराजमान थीं। उनके वृषभस्कन्ध पर उनका प्रिय केसरी उत्तरीय था। दोनों कलाइयों में और भुजाओं में स्वर्णिम बाहुभूषण थे। उनका स्वर्णवर्णी पीताम्बर झिलमिला रहा था। उस पर दुकूल में उनका सुलक्षण, शुभ्र पांचजन्य बँधा हुआ था। उनके बायें हाथ में लम्बे डण्ठलवाला काषायवर्णी कमल-पुष्प था। कई वर्ष पुराने उस वेश में आज दो नयी वस्तुएँ समाविष्ट थीं–एक तो आज बड़े

तड़के बजायी गयी वंशी उन्होंने अपनी कटि के पीताम्बर में खोंस रखी थी, और दूसरे गोकुल को छोड़ते समय दादाजी चित्रसेन का दिया–आभीरभानु वंश का प्रतीक चाँदी का कड़ा उन्होंने अपने दायें हाथ में पहन रखा था।

सचमुच कहीं दृष्टि न लग जाए–ऐसा ही उनका रूप सौन्दर्य था–आज भी! आज भी वे अपने नाम को सार्थक करनेवाले–दूसरों को आकर्षित कर लेनेवाले कृष्ण थे–'श्री' युक्त श्रीकृष्ण थे!

मैं उनकी ओर ही देख रहा हूँ, यह ध्यान में आते ही उन्होंने पूछा, "चलें उद्धव? चलो–जिस सोपान के विषय में तुम मुझसे सदा ही पूछते आये हो। आज मैं तुम्हें उसके बारे में बताता हूँ।" क्षण-भर उन्होंने अपने नेत्र मूँद लिये। मन-ही-मन उन्होंने किसी का स्मरण किया। तत्पश्चात् वे कहने लगे–"सोपान की यह पहली सीढ़ी कंस के कारागृह में अपने छह नवजात शिशुओं की निर्मम हत्या की व्यथा को सहनेवाली मेरी जन्मदात्री देवकी माता के स्मरण के लिए है।" भैया उस सीढ़ी पर क्षण-भर रुक गये।

"दूसरी सीढ़ी है मेरी प्रिय पत्नी–द्वारिका की भाग्यलक्ष्मी–रुक्मिणी के नाम। तीसरी है मेरे जन्मदाता पिता–द्वारिका के महाराजाधिराज तात वसुदेव के नाम।" एक-एक कर वे दो सीढ़ियाँ उतर आये। तीसरी सीढ़ी पर वे तनिक रुक गये। मैं भी रुक गया। चौथी सीढ़ी की ओर देखते हुए उन्होंने कहा, "यह सीढ़ी किसके नाम की है, यह मैं तुम्हें नहीं बताऊँगा। तुम्हें ही उसे पहचानना होगा।" पाँचवीं सीढ़ी पर खड़े रहकर उन्होंने कहा, "यह मेरे ब्रह्मविद्या के गुरु घोर-आंगिरस के नाम की।" छठी और सातवीं सीढ़ी की ओर देखकर उन्होंने कहा, "ये दो मेरे जल-बन्धुओं के नाम हैं–पहली गांगेय पितामह भीष्म के और दूसरी प्रथम कौन्तेय–दानवीर राधेय के नाम।" अब हम आठवीं सीढ़ी पर आ गये थे। उस पर रुककर भैया ने कहा, मेरे जन्म के कारण 'आठ' का अंक मुझे प्रिय है, यह तुम जानते ही हो। यह है मेरे प्रिय सखा अर्जुन के नाम।" हम दोनों उस आठवीं सीढ़ी पर देर तक खड़े रहे। मुस्कराकर भैया ने कहा, "दिखने में तो यह आठवीं सीढ़ी है, किन्तु मानो तो यह पहली है, अन्यथा अन्तिम भी।" यह सुनकर मैं दुविधा में पड़ गया। दूसरे को दुविधा में डालना तो उनका स्वभाव ही था! मुझे तो वे बार-बार दुविधा में डालते आये थे। आठवीं सीढ़ी के बाद की सीढ़ियाँ क्रमश: बलभद्र भैया, अर्जुन के अतिरिक्त अन्य पाण्डवों, हमारे प्रिय भानजे अभिमन्यु, यशोदा माता, ननदबाबा, रोहिणी माता, कुन्ती बुआ, राधिका, द्रौपदी, सुभद्रा और रेवती भाभी के नाम थीं।

उनके बाद की सीढ़ियाँ थीं भैया की पत्नियों–मेरी भाभियों–जाम्बवती देवी, सत्यभामादेवी, कालिन्दीदेवी, लक्ष्मणादेवी, भद्रादेवी, मित्रविन्दादेवी तथा सत्या देवी के नाम। उनके बाद थी कौरवमाता गान्धारीदेवी और के बाद थी पुत्री चारुमती के नाम।

उसके आगे की सीढ़ियाँ क्रमश: भैया के सखा महात्मा विदुर, सुमित्र सुदामा, दारुक, संजय और सात्यकि की थीं।

अब तक हम आधे से अधिक श्रीसोपान उतर आये थे। पहली दो सीढ़ियों के बाद ही मैं असमंजस में पड़ गया था। मैं सोच रहा था कहीं भैया अपने आचार्य सान्दीपनि को भूल तो नहीं गये?

अब वे एक-एक सुहृद् का नाम लेते हुए अपने चक्रवर्ती चरणों से एक-एक सीढ़ी उतरने लगे। पहला नाम उन्होंने लिया मेरे पिता देवभाग का। उसके बाद गोकुल के चित्रसेन दादाजी का और

उसके बाद कौरव विकर्ण का। विकर्ण के बाद क्रमश: मेरी माता कंसा, विराट महाराज, द्रुपद महाराज, धृष्टद्युम्न, द्रोण, कृप, धौम्य, गर्ग, विश्वकर्मा, मय आदि नाम लेते हुए वे शीघ्रता से सीढ़ियाँ उतरने लगे। अपने सुहृद् नर-नारियों में उन्होंने अन्त में कुब्जा का भी नाम लिया।

अपनी सप्त पत्नियों के प्रथम पुत्रों के नाम लेना भी वे नहीं भूले। किन्तु उनसे पहले भैया ने नाम लिया पौत्र अनिरुद्ध का। उसके बाद प्रद्युम्न, भानु, संग्रामजित्, वृक, वीर, श्रुत, प्रघोष और प्रपौत्र वज्र के नाम आये।

उनमें यादवों के विनाश के कारण बने–जाम्बवती भाभी के पुत्र साम्ब का नाम नहीं था। उसका नाम था भैया के जीवन में रोड़े अटकानेवाले कुकर्मियों में!...

हाँ–ऐसे उन्मत्त घमण्डियों को भी भैया भूले नहीं थे। उनमें सर्वप्रथम था कंस। उसके बाद थे शृगाल, नरकासुर, कालयवन, जरासन्ध, शिशुपाल, दन्तवक्र, विदूरथ, पौण्ड्रक वासुदेव, शाल्व, दुर्योधन, धृतराष्ट्र और भैया का पुत्र–मेरा भतीजा साम्ब तथा कृतवर्मा और शकुनि।

अब शेष रही थी श्रीसोपान की अन्तिम सीढ़ी। मुझसे रहा नहीं गया। मैंने भैया से पूछा, अपने परम वन्दनीय आचार्य सान्दीपनि और द्रोणपुत्र अश्वत्थामा को आप कैसे भूल गये भैया?" मेरी ओर मुस्कराकर देखते हुए उन्होंने कहा, "ऊधो, क्या मुझे कभी उनका विस्मरण हो सकता है? जिस पर हम खड़े हैं, वह अन्तिम सीढ़ी है–मैं जैसा भी हूँ, मुझे गढ़नेवाले मेरे वन्दनीय आचार्य सान्दीपनि के नाम। बन्धु, कोई भी पुरुष एक बार नहीं, दो बार जन्म लेता है। पहली बार माता की कोख से और दूसरी बार तब, जब गुरु सुविचार और संस्कारों से उसे गढ़ते हैं। क्या किसी भी जीव का जीवन-सोपान इन दो सीढ़ियों में ही सीमित नहीं होता?"

उनके इस स्पष्टीकरण से मैं सोच में पड़ गया। मुझे अधिक उलझन में न डालते हुए भैया ने पूछा, "मेरे परमसखा अवधूत, प्रिय बन्धु ऊधो, अब तुम ही बताओ, जिस चौथी सीढ़ी पर मैंने किसी का नाम नहीं लिया, वह किसके नाम है?"

"मेरे!" मैंने झट से कहा। हम दोनों खिलखिलाकर हँसे–जैसे हम अंकपाद आश्रम में हँसा करते थे। मैंने भैया से अन्तिम प्रश्न पूछा, "किन्तु अश्वत्थामा का क्या?" सदैव की भाँति सहज मुस्कराते हुए उन्होंने कहा, "वह तो चिरंजीवी है। मानवी वेदना के रूप में!" फिर क्षण-भर रुककर, सोपान की ओर मुड़कर भैया निश्चल खड़े रहे। जिसके दर्शन करके समस्त नर-नारी, बालक धन्य हो रहे थे, उस श्रीसोपान को भैया ने हाथ जोड़े। फिर मेरे कन्धे पर उन्होंने अपना प्रेमल हाथ रखा।

हम द्वारिका की सुसज्जित अश्वशाला की ओर चलने लगे–भालका तीर्थ जाने के लिए! मैंने सहज ही दायीं ओर के रुक्मिणी भाभी के प्रासाद की ओर दृष्टि डाली। प्रासाद की अट्टालिका के पहले ही गवाक्ष में खड़ी रुक्मिणी भाभी मुझे स्पष्ट दिखाई दीं। वे हमारी ही ओर एकटक देख रही थीं। उनको आँखों से ही अभिवादन करके मैं मुस्कराया। उनके मुख पर भी अस्पष्ट-सा झलकता स्मित मुझे दिखाई दिया।

रुक्मिणी भाभी गवाक्ष में खड़ी हैं, इसका आभास मैं भैया को बहुधा नहीं होने देता था, किन्तु आज वहाँ रुककर मैंने भैया से कहा, "यदि आप श्रीसोपान को अपने दर्शन नहीं देते, तो कोई बात नहीं थी, किन्तु मुझे लगता है रुक्मिणी भाभी के सौध के गवाक्ष को आज आप अवश्य दर्शन दें।" मानो किसी तन्द्रा से जागकर उन्होंने उस गवाक्ष की ओर दृष्टि डाली। रुक्मिणी भाभी और

भैया की दृष्टि मिलते ही भाभी हड़बड़ा गयीं। यह उनका पहला ही अनुभव था। वे झट से गवाक्ष से पीछे हट गयीं। अपनी गुलाबी हथेली मेरे कन्धे पर रखकर हल्के से थपथपाते हुए भैया ने कहा–"अन्तर्यामी हो, तभी तो मैं तुम्हें 'अवधूत' कहता हूँ।"

अश्वशाला पहुँचते ही गरुड़ध्वज के रथनीड़ पर चढ़ने के लिए मैं आगे बढ़ने को हुआ कि मेरा कन्धा दबाकर भैया ने मुझे रोका और मुस्कराते हुए कहा, "नहीं ऊधो–आज रथनीड़ पर मैं चढ़ूँगा। अपने अश्वमित्रों से बातें करते हुए आज तुम्हारा सारथ्य मैं करूँगा। आज मैं तुम्हारी सेवा करूँगा–अर्जुन की ही भाँति! तुम उससे भी सौभाग्यशाली हो। क्योंकि कुरुक्षेत्र में तो एक रणनीति के रूप में अर्जुन के नन्दिघोष रथ में मैंने केवल अपने प्रिय अश्व ही जुतवाये थे। आज दारुक द्वारा कदम्ब-पुष्पों से सजाया मेरा गरुड़ध्वज रथ ही तुम्हारी सेवा में उपस्थित है। मेरी ओर देखो। आज तुम्हारा सारथ्य करने के लिए ही मैंने यह वेश धारण किया है।"

मैं सोच में पड़ गया। शीघ्र गति से चलते हुए भैया एक ही छलाँग में गरुड़ध्वज के रथनीड़ पर चढ़ गये। तभी सवेरे से शिथिल से दिखनेवाले चारों अश्वों ने एक से बढ़कर एक ऊँची ध्वनि में हिनहिनाते हुए अपने अगले खुर उठाकर मानो उनका अभिवादन किया। मुस्कराते हुए भैया ने गरुड़ध्वज की आठों वल्गाओं को अपनी मुट्ठियों में कसकर, तीसरी पीढ़ी के अपने अश्वमित्रों को उनके नामों से 'मेघा ऽ बला ऽ...शैव्या ऽ सुग्रीवा ऽ' पुकारते हुए 'झा-झा' कहा। अपने स्थान पर ही गोलाकार घूमकर किसी समझदार की भाँति अश्व गरुड़ध्वज को अश्वशाला से बाहर ले आये।

पक्षिराज गरुड़ की भाँति बड़े डौलदार ढंग से गरुड़ध्वज द्वारिका के राजमार्ग पर से शुद्धाक्ष महाद्वार की ओर दौड़ने लगा। दोपहर का समय होने के कारण राजमार्ग पर बहुत भीड़ नहीं थी। भिन्न-भिन्न शालाओं के सेवक, ढलती आयु के कुछ यादव-सैनिक गरुड़ध्वज को देखकर आदरपूर्वक रुक रहे थे। हाथ जोड़कर, 'जै इडा माता' कहकर मुझे प्रणाम कर रहे थे। रथनीड़ पर सारथि के वेश में स्वयं भैया हैं, यह अधिकतर किसी के ध्यान में नहीं आ रहा था। जिस किसी के ध्यान में आता था, वह चकित होकर रथ के दृष्टि से ओझल होने तक देखता रहता था। शुद्धाक्ष महाद्वार को पार कर, काठ के सुदृढ़ फलकों पर से हम अपनी विशाल नौका पर रथ सहित चढ़े। नौका भृगुकच्छ की खाड़ी को पार करने लगी। अथाह, सुदूर फैले जलतत्त्व पर से जलपुरुष सागर के उस पार जाने लगा! यादवश्रेष्ठ अठारह शाखाओं के यादवों की स्वर्ण-द्वारिका का भर-आँख दर्शन कर रहे थे। जैसे-जैसे सागर-तट निकट आने लगा, दोनों हाथ जोड़कर सागर-लहरों पर डोलनेवाले स्वर्णवर्णी प्रतिबिम्ब सहित अपने प्रिय राजनगर द्वारिका को प्रणाम करते हुए भैया बुदबुदाये–"जलदेवता: पुनातु माम्...अर्पणमस्तु!" उन्हीं की भाँति मैंने भी द्वारिका को प्रणाम किया। अपने कण्ठ से एक मौक्तिक-माला उतारकर नाविक-प्रमुख की हथेली में रखते हुए भैया ने कहा–"जय इडादेवी"। नाविक-प्रमुख और उसके सहायकों ने 'जै इडा' कहते हुए सागर-पुलिन पर ही भैया को दण्डवत् प्रणाम किया। भैया ने कटि के पीताम्बर में खोंसा काषाय कमल-पुष्प मेरे हाथ में पकड़ाकर अपना दायाँ हाथ उठाकर धीवरों को आशीर्वाद सहित मौन विदा दी।

हमारा प्रिय गरुड़ध्वज सोमनाथ की दिशा में दौड़ने लगा। भैया के बायें हाथ में वल्गाएँ थीं और दायें हाथ में प्रतोद।

योजन के बाद योजन पीछे छोड़ते हुए हम सोमनाथ के छोटे शिवालय में आये। हमें देखते ही बिना बताये ही शिवालय के पुजारी ने सोमनाथ के अभिषेक की तैयारियाँ की थीं। मन्दिर के

गर्भगृह में शिव-पिण्डी के पास रखी बेलबूटेदार चौकी पर भैया बैठ गये। उनकी बायीं ओर की चौकी पर मैं बैठा। वज्रलेप किये शिव-पिण्डी पर पहला बिल्वपत्र अर्पित करने से पहले भैया ने मुझसे कहा–"हे अवधूत, आज मैं तुम्हारे मुख से शिव-स्तवन सुनना चाहता हूँ–भगवान शिव की भी यही इच्छा है। आरम्भ करो शिव-स्तुति!"

मैंने हाथ जोड़कर आँखें बन्द कीं। अभिषेक-धारा की भाँति मेरे मुख से शिव-स्तुति प्रवाहित होने लगी–

"पशूनां पतिं पापनाशं परेशं, गजेन्द्रस्य कृत्तिं, वसानं वरेण्यम्।
जटाजूटमध्ये स्फुरद्गंगवारि, महादेवमेकं स्मरामि स्मरामि॥
शिवाकान्त शम्भो शशांकार्धमौले, महेशान शूलिन् जटाजूट धारिन्।
त्वमेको जगद्व्यापको विश्वरूप, प्रसीद प्रसीद प्रभो पूर्णरूप॥"...

पुजारी का दिया प्रसाद हमने ग्रहण किया। भैया ने कण्ठ से उतारी मौक्तिक-माला दक्षिणा में रूप में पुजारी को देनी चाही, किन्तु पुजारी ने अपने दोनों कपोलों को अँगुलियों से स्पर्श करके, कानों की लौ को चुटकियों में पकड़ते हुए अस्वीकार में ग्रीवा हिलायी। उसने भैया के चरणों में गिरकर उन्हें साष्टांग दण्डवत् किया। भैया ने मुस्कराते हुए अपने हाथ की मौक्तिक-माला शिव-पिण्डी की जलहरी में रख दी।

हम शिव-मन्दिर से निकले। भैया ने पुन: रथनीड़ पर अपना स्थान ग्रहण किया। बिना बताये ही मैं रथ के पृष्ठभाग में आरूढ़ हुआ। हम छोटे-से वेरावल ग्राम में पहुँचे। वहाँ के नगरजन भैया के रथ को पहचानकर पहले मुझसे और बाद में मेरे सारथि के नाते भैया को प्रणाम कर रहे हैं। गरुड़ध्वज की छोटी-छोटी स्वर्ण-घण्टिकाएँ मधुर नाद कर रही थीं। आठों वल्गाओं को सँभालते हुए भैया अपने अश्वमित्रों से अपनी अश्वबोली में बातें करते हुए, प्रतोद को केवल हवा में फटकारते हुए रथ दौड़ा रहे थे।

भालका तीर्थ के सघन अरण्य के पास पहुँचते ही भैया ने रथ को रोका। वल्गाओं को रथनीड़ पर रखकर एक ही छलाँग में वे रथ से आनर्त की भूमि पर उतरे। मैं भी रथ के पृष्ठभाग से नीचे उतरा। मेरे काषाय वस्त्रों पर शोभा देनेवाला काषायवर्णी कमल-पुष्प उन्होंने मुझे दिया था, जिसे मैंने उनकी कटि के पीताम्बर में खोंस दिया।

आज मुझे एक अपूर्व दृश्य देखने को मिला। पहले उन्होंने रथ की बायीं ओर के दोनों अश्वों की पीठ को प्रेमपूर्वक थपथपाया और अपना हाथ बड़े स्नेह से फिराया। दोनों अश्व भैया के स्पर्श के प्रति अपनी संवेदना व्यक्त करते हुए उछल-उछलकर हिनहिनाये। भैया ने उनके सम्मुख जाकर अपने हाथों से उनके घने अयाल बिखरा दिये। जिस प्रकार वे अर्जुन को गले लगाकर उसे आलिंगन में लिया करते थे, उसी प्रकार वे अपने रथ के अश्वों को गले लगाया करते थे। तत्पश्चात् भैया ने धीमी चाल से सम्पूर्ण गरुड़ध्वज को निहारते हुए उसकी चतुर्दिक् परिक्रमा की। वे पुन: अश्वों के आगे आये। उनके निर्देशानुसार, रथ में से लायी गदा को, उन्होंने मुझसे लेकर अपने कन्धे पर रख लिया। फिर अपने प्रिय रथ के ध्वजदण्ड की ओर उन्होंने देखा। उस पर लगा यादवों का केसरिया ध्वज आनर्त के पश्चिम सागर से आते पवन-झकोरों से निरन्तर फहरा रहा था। उसी पवन से मन्द-मन्द हिलती भैया की शुभ्र दाढ़ी उससे जाने क्या और किस भाषा में बातें कर रही थी! इस क्षण उनके नेत्रों में दिखाई देनेवाला अपार समाधान अविस्मरणीय था।

"चलो उद्धव, इनके खरहरे के लिए खुरदरी वनलताएँ ले आते हैं।" कहकर कण्ठ में झूलती प्रफुल्लित वैजयन्तीमाला को हलके से अपनी दायीं मुट्ठी में थामकर वे सामने दिखाई देते घने अरण्य में प्रवेश कर गये। उनके पीछे-पीछे मैं भी गया। समीप के ही एक सघन अश्वत्थ की शीतल छाया में हम आ गये। भैया द्वारा कई बार मुझे बताये गये गोकुल के भाण्डीर-वृक्ष की ही भाँति यह कई शाखाओं और जटाओंवाला विशाल अश्वत्थ-वृक्ष था। यहाँ से हमारा रथ स्पष्ट दिखाई दे रहा था। भीतर–बहुत भीतर से मुझे तीव्रता से प्रतीत हुआ कि पिछले तीन तपों अर्थात् छत्तीस वर्षों से मेरे मन में मँडराता–मुझे सताता महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछने का यही उचित समय है।

उसी धुन में आगे बढ़कर मैंने भैया का हाथ थामकर उन्हें रोकते हुए कहा, "भैया, आप कुछ भी कहिए, किन्तु यह सत्य है कि मेरी अपेक्षा–मेरी अपेक्षा अर्जुन ही आपका प्रिय–परमप्रिय शिष्य है! ऐसा न होता तो पिछले कई वर्षों से आपने मुझसे सभी प्रकार की सेवा तो करवायी है–किन्तु...किन्तु..." संकोच में मैं रुक गया।

"किन्तु क्या? कहो बन्धु ऊधो, निस्संकोच कहो।" भैया बोले।

"ऐसा न होता तो, जिस प्रकार कुरुक्षेत्र में आपने अर्जुन को जीवनोपदेश दिया–जिसे अब सब 'गीता' कहते हैं, ऐसा ही कुछ उपदेश मुझे भी दिया होता! उसके लिए मुझे भी योग्य समझा होता! आपका परमप्रिय सखा अर्जुन ही है–मैं नहीं! मैं केवल एक सेवक हूँ!" संकोच से सिर झुकाकर मैं उनके आगे खड़ा रहा। इस प्रकार मैंने उनके आगे कभी बात नहीं की थी।

अपना हाथ मेरे हाथों से छुड़ाकर पहले उन्होंने अत्यन्त प्रेम से मेरे कन्धों को थपथपाया। उस स्पर्श से छलकती ममता का मुझे स्पष्ट आभास हुआ। फिर मुस्कराकर वे कहने, "ऐसा कुछ नहीं है उद्धव! पगले हो तुम। अर्जुन मेरा सखा है–फुफेरा भ्राता है। कुरुक्षेत्र के युद्ध में वह मेरे लौकिक जीवन का विश्वस्त था। तुम मेरे ककेरे भ्राता हो–मेरे परमसखा, मेरे पारलौकिक जीवन के एकमात्र भावविश्वस्त हो। तुम्हें मुझसे कुछ सुनना है न?–तो सुनो।" उन्होंने इधर-उधर देखकर बैठने के लिए सीसमवर्णी शिलारस के पाषाण-खण्ड को चुना। गदा को उससे सटाकर रखते हुए, पाषाण पर पड़ी धूलि को अपने केसरी उत्तरीय से झटककर वे उस पर बैठ गये। मुझे ज्ञात था कि जीवन में कभी वे किसी राजसिंहासन पर नहीं बैठे थे। अब वे जिस पाषाण-खण्ड पर बैठे थे, वह मुझे इन्द्रप्रस्थ के, हस्तिनापुर के अथवा द्वारिका के ही नहीं, किसी भी राजसिंहासन से अधिक स्वर्णिम श्रेष्ठ प्रतीत हुआ। मैं खिंचा-सा उनके चरणों के निकट धरती पर ही बैठ गया। आज मुझे अत्यन्त तीव्रता से आभास हुआ कि उनका नाम कृष्ण–अर्थात् आकर्षित करनेवाला है। वास्तव में मेरे भैया कृष्ण 'श्री' से युक्त थे। वे सभी अर्थों में श्रीकृष्ण थे!

भैया बोलने लगे, मैं सुनने लगा। उन्होंने पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है?"

"उद्धव!" मैंने हड़बड़ाकर कहा। उन्होंने फिर पूछा, "उद्धव का क्या अर्थ है?"

"उद्धव–उत्-धव–अर्थात् ऊपर जाने की इच्छा करनेवाला जीव।" मैंने उत्तर दिया। उन्होंने पुन: पूछा, "जीव का अर्थ क्या है?"

"जीव का अर्थ है अपने होने की प्रतीति।" मैंने कहा। भैया के झिलमिलाते स्वर्णवर्णी पीताम्बर पर चढ़े वन-कीट की ओर देखते हुए मैं कानों में प्राण समेटकर सुनने लगा।

मेरी ओर एकटक देखते हुए वे बोले–"अब समझ लो कि 'उद्धव' तुम्हारा नाम है ही नहीं।"

“समझ लिया,” मैंने चौकन्ना होकर कहा।

फिर उन्होंने पूछा, “बिना नाम का तुम्हारा जीव अब है अथवा नहीं?”

“है!” मैं सावधानी से उनका प्रत्येक शब्द सुनने लगा।

मेरी ओर एकटक देखते हुए उन्होंने पूछा, “वह जीव अब कहाँ बैठा है? किस पर? किसके नीचे?”

“आप के आगे–आनर्त की भूमि पर–नील आकाश के गुमटीदार अश्वत्थ-वृक्ष के नीचे!”

“ठीक है। यह आनर्त, आकाश, वृक्ष और मैं–इन सबको क्या कहा जाएगा?”

“सृष्टि!” मैंने उत्तर दिया।

“जानते हो, इस सृष्टि की उत्पत्ति कैसे होती है?”

“पंचमहाभूतों से–नित्य नूतन प्रतीत होते मूलतत्त्वों से।”

“ठीक कह रहे हो। यह पंचमहाभूतात्मक सृष्टि परमात्मा के तामस अहंकार से निर्मित होती है।”

“परमात्मा का क्या अर्थ है?” मैंने अतीव उत्सुकता से पूछा।

भैया ने कहा, “नितान्त अचूक और बहुत ही अच्छा प्रश्न पूछा तुमने। मैं, तुम और मेरे पीताम्बर पर बैठे हुए कीटक–हम सब अपने-अपने परिमाणों में जीते रहते हैं। जीवों के परिमाण तीन होते हैं–वस्तुभार, अन्तर और समय। समय का ही दूसरा नाम है ‘काल’। सजीव और निर्जीव–दोनों प्रकार की सृष्टि इन तीन परिमाणों के मध्य रहती है।”

“भैया, परमात्मा के अहंकार की बात बीच में ही छूट गयी, क्या वह केवल ‘तामस’ ही है।” भैया के जो वचन मेरी बुद्धि से बाहर थे, उन्हें उचित समय पर ही समझ लेना मुझे आवश्यक लगा।

“नहीं–अहंकार केवल ‘तामस’ ही नहीं है, और भी दो हैं–‘राजस’ और ‘सात्त्विक’,–जिन्हें समझने से पहले ‘अहंकार’ के अर्थ को भली-भाँति समझ लो। कुछ देर पहले तुमने कहा–जीव अर्थात् अपने होने की प्रतीति। उसी प्रकार ‘अहंकार’ का अर्थ है स्वयं परमात्मा की–अपने अस्तित्व की प्रतीति। इस ‘अहंकार’ का अर्थ घमण्ड नहीं है। जिस प्रकार अपने अस्तित्व का भान तुम्हें है, उसी प्रकार वह परमात्मा को भी है। तुम, मैं, प्रत्येक जीव परमात्मा का ही अंश है। अत: परमात्मा को जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। परमात्मा तुम्हें न जानें, तो उनका कुछ नहीं बिगड़ता है, किन्तु तुम उन्हें जान न पाए तो तुम्हारा बहुत-कुछ बिगड़ सकता है।”

मुझे विश्वास होने लगा कि भैया मुझे अपने विशेष भाव-विश्व की गहराई में ले जा रहे हैं। उन्होंने परमात्मा के राजस और सात्त्विक अहंकार का केवल उल्लेख किया था। अत: मैंने उनसे पूछा, “जैसे परमात्मा के तामस अहंकार से पंचमहाभूतात्मक सृष्टि उत्पन्न हुई, वैसे ही उनके राजस अहंकार से क्या निर्माण हुआ?”

“परमात्मा के राजस अहंकार से सभी विकार उत्पन्न हुए। विकार इन्द्रियों से सम्बद्ध हैं और मानव की दस इन्द्रियाँ हैं–कान, नाक, त्वचा, आँखें, जीभ, हाथ, पाँव, वाणी, गुदा और उपस्थ।”

“सात्त्विक अहंकार से क्या उत्पन्न हुआ?”

“सात्त्विक अहंकार से मन का निर्माण हुआ। जिस प्रकार हमारे ऊपर के इस वट-वृक्ष की कई

टहनियाँ, जटाएँ हैं–उसी प्रकार मानव-मन है–कई आयामोंवाला! मन का देवता है चन्द्र!"

भैया अब और भी तल्लीन हो चले। सुधर्मा सभा में जिन्होंने उनके वचनों को सुना था, उन्हें कहने पर भी विश्वास ही नहीं होता कि ये वही श्रीकृष्ण हैं। केवल कुरुक्षेत्र में युद्ध के आरम्भ में ही धनुष-बाण को त्यागकर हताश, किंकर्तव्यविमूढ़ हुआ अर्जुन ही समझ पाता कि ये वही श्रीकृष्ण हैं। वे और खुलकर बोलें, इसलिए मैंने पूछा, "विकार ओज, बल अथवा वीर्यशक्ति से सम्बद्ध होते हैं। उनका देवता कौन है?"

"उनका देवता सूर्य है। इसीलिए जब आकाश मेघाच्छन्न होता है, सूर्य मेघों के पीछे छिप जाता है, तब मनुष्य का शरीर शिथिल हो जाता है, निरुत्साह से भर जाता है। और मन भी कुम्हला जाता है, उत्साहहीन हो जाता है। अब ध्यानपूर्वक सुन लो–'तामस' से अज्ञान का निर्माण होता है, 'राजस' से विकार उत्पन्न होते है और 'सात्त्विक' से मन का निर्माण होता है। मनुष्य जीवन-भर मन को जान लेने का प्रयास करता रहता है। बुद्धि उस मन से भी परे है। बुद्धि से परे है प्राण अथवा आत्मा।"

आज मुझे उनसे और भी बातें जान लेनी थीं। अत: मैंने कहा, "आपके बताये तीनों परिमाण–वस्तुभार, अन्तर और काल, तीन भाव–तम, रज और सत्त्व तथा तीन तत्त्व–मन, बुद्धि और प्राण अब मेरी समझ में आ रहे हैं। किन्तु आपने परमात्मा के विषय में जो कुछ कहा, वह मैं अब भी समझ नहीं पा रहा हूँ।"

मेरी ओर देखकर वे अत्यन्त मधुर भाव से मुस्कराये। उनकी ऐसी हँसी मैंने पहले कभी नहीं देखी थी। वे बोले, "बताता हूँ–नितान्त सरल शब्दों में बताता हूँ क्योंकि तुम मेरे परमसखा, भावविश्वस्त और अवधूत हो। ध्यानपूर्वक सुनो, परमात्मा केवल कोई कल्पना नहीं है। प्रतिदिन उगनेवाले सूर्य को तुम देखते हो–वह सूर्य जितना सत्य है, उतना ही परमात्मा सत्य है। परमात्मा–अर्थात् चराचर सृष्टि, अनन्त आकाश और उसके उस पार का अवकाश–इन सबमें विश्व-किरणों के रूप में निर्बाध, अखण्ड संचरण करनेवाली भाररहित तेजशक्ति। वह चिरन्तन है, अजर है, अमर है। अखण्ड काल की सहायता से वह तेजशक्ति नित्य कुछ-न-कुछ गढ़ती-बिगड़ती रहती है। वह सभी का नियमन करती है।"

अब मेरी समझ में आने लगा कि वे मुझे सबसे अलग क्यों लगते आये थे। वे इससे भी अधिक स्पष्ट बोलें, इस निमित्त से मैंने पूछा–"तब इसका अर्थ यही है न कि सब-कुछ उस परमात्मशक्ति को सौंपकर मनुष्य को शान्त रहना चाहिए?"

सुधर्मा सभा में बोलते हुए जैसे कभी-कभी उनकी ग्रीवा नागफन की भाँति तन जाती थी, उसी प्रकार ग्रीवा सीधी करके उन्होंने कहा, "कदापि नहीं। पीढ़ियों से हम यही भूल करते आये हैं। तुम तो केवल अर्धसत्य ही देख रहे हो। अपनी सुविधा के अनुसार सत्य को मोड़ दे रहे हो। उस विराट् परमात्मा का अंश प्रत्येक जीव में विद्यमान है। तुमने ही कहा है–जीव अर्थात् अपने अस्तित्व की प्रतीति। उस प्रतीति की निरन्तर सर्वांगीण खोज करते रहना ही जीवन है।"

मैं उनकी ओर एकटक देखता ही रहा। उनकी भृंगवर्णी आँखों की थाह ही नहीं मिल रही थी। वे बोलते ही रहें, इस हेतु पुन: मैंने पूछा, "खोज करने से क्या होता है?"

वे कहने लगे–"परमात्मा से जीव के सम्बन्ध का जब ज्ञान होता है, तब जैसे मृदु वस्त्र का थान खुलता जाता है, वैसे ही समस्त जीवन खुलने लगता है। केवल अपना ही नहीं, सजीव-

निर्जीव, दृश्य-अदृश्य सृष्टि का, दूर तक फैले आकाश, अवकाश का और इन सबमें संचरण करनेवाली उस भाररहित तेजशक्ति का ज्ञान होने लगता है।"

"उस ज्ञान को क्या कहते हैं?"

"प्रज्ञान। यह ज्ञान और विज्ञान से परे होता है। अविद्या और विद्या से परे प्रविद्या का यह क्षेत्र है।"

"इस क्षेत्र को खोजने, समझने का उचित मार्ग कौन-सा है?" मैंने अत्यन्त कुतूहल से पूछा।

"इसका एक ही मार्ग है–सम्पूर्ण समर्पित भक्ति-भाव और सभी जीवों से निरपेक्ष प्रेम।" कुछ देर पहले मैंने उनको अपने रथ के अश्वों से गले मिलते देखा था। उनके उस तरह के व्यवहार का, उनके उस आचरण का और अश्वगीता का अर्थ अब कुछ-कुछ मेरी समझ में आने लगा।

"आपके गीता-उपदेश के कारण और उसे सुनने का अवसर प्राप्त होने के कारण सब आपको 'नारायण' और अर्जुन को 'नर' कहते हैं। क्या इस विषय में आप मुझे कुछ बताएँगे?"

"नार अर्थात् उदक-जल और अयन अर्थात् निवास-स्थान। मैं जीवन-भर जल के समीप रहा हूँ। गुरुदेव सान्दीपनि का जल शब्द का बताया अर्थ तुम्हें स्मरण होगा। किसी भी प्राणी के एवं वृक्ष-लताओं के प्राण जल पर ही निर्भर होते हैं। जल निरन्तर सम स्तर पर रहने का प्रयास करता है, मनुष्य का भी मूल स्वभाव वही होता है। उसे समझ लेना ही जीवन है।"

"आपके श्रीसोपान में गंगापुत्र भीष्म और प्रथम कौन्तेय कर्ण के नाम की सीढ़ियाँ इतनी ऊपर क्यों हैं, अब मेरी समझ में आ रहा है। उन्होंने जीवन-भर आपके सम स्तर पर रहने का भरसक प्रयास किया। किन्तु आप सदैव उन दोनों से दशांगुल ऊपर ही रहे। तभी तो पितामह ने सबसे पहले आपको 'वासुदेव' कहा–नारायण माना। कर्ण ने भी आपको वही माना। अब 'अर्जुन' के नर होने का अभिप्राय समझाइए।"

"सभी प्रणियों में नर-मादा दोनों के स्तन होते हैं। केवल अश्व-जाति में नर के स्तन नहीं होते, मादा के होते हैं। तभी तो अश्व को पौरुष का अत्युच्च मानबिन्दु माना गया है। उसकी दौड़ने की शक्ति अन्य किसी भी प्राणी से अधिक है। अधिक समय तक वह टिकती भी है। इसीलिए शक्ति को अश्वशक्ति के परिमाण में गिना जाता है। अश्व कभी धरती पर बैठकर सोता नहीं है। वह खड़े-खड़े ही सो जाता है। अर्जुन का सबसे बड़ा गुण है–निद्रा पर उसका नियन्त्रण, इसीलिए उसे गुडाकेश भी कहते हैं।

"मैंने तुम्हें पहले ही बताया है कि प्रत्येक जीव में परमात्मा का अंश विद्यमान है। अर्जुन सब जीवों का मेरा चुना प्रतिनिधि है। नर अर्थात् साधुत्व की ओर जाने की योग्यता रखनेवाला–प्राथमिक अवस्था में स्थित जीव।

"प्राणियों में अश्व की भाँति मनुष्यों में अर्जुन पूर्ण नर है। उसके स्तन नहीं हैं। निद्रा पर उसका पूर्ण नियन्त्रण है। अश्व की गति से वह विविध शस्त्र चलाता है। इसीलिए कुरुक्षेत्र में मैंने पाण्डवों में नरश्रेष्ठ अर्जुन को गीतोपदेश दिया।"

"फिर आज यह उपदेश आप मुझे क्यों दे रहे हैं?" मैंने झट से पूछा।

वे मन्द-मधुर मुस्कराये। इस प्रकार वे केवल अंकपाद आश्रम में ही मुस्कराये थे। उन्होंने कहा, "बन्धु ऊधो, बड़े चतुर हो तुम! और सरोवर में उगे कमल-दल की भाँति निर्लिप्त भी! अर्जुन

पूर्ण नर है, इसीलिए अन्य भ्राताओं की अपेक्षा अधिक नारियों में आसक्त हुआ। तुम यादव होते हुए भी गुरुदेव घोर-आंगिरस की भाँति नारियों से निर्लिप्त रहे। तभी तो भरी सुधर्मा सभा में मैंने तुम्हें ‘अवधूत’ की उपाधि दी और अन्य यादवों ने भी उसे स्वीकार किया। मेरे पूछे बिना ही गुरुदेव घोर-आंगिरस ने भी उस उपाधि को स्वीकृति दी। तुम भली-भाँति जानते हो, वे मेरे ब्रह्मविद्या के गुरु हैं।”

अब तक मेरी लगभग सभी महत्त्वपूर्ण शंकाओं का निरसन हो चुका था। एक-दो ही शेष थीं। उनका भी निवारण कराना आवश्यक था। अत: मैंने पूछा, “आपने कहा, जीवन का अर्थ है अपने अन्दर की तेजशक्ति का शोधन। आपने यह भी कहा कि इस शोधन का मार्ग है समर्पित भक्ति-भाव और निरपेक्ष प्रेम। अब यह भी बताइए कि भक्ति और प्रेम का क्या तात्पर्य है?”

“भक्ति अर्थात् निःस्वार्थ विश्वास, सेवा और पूजन। प्रेम का अर्थ है निरपेक्ष आदरयुक्त आकर्षण!”

उन्होंने अपने दोनों विश्वस्तों—मेरे और अर्जुन—के बीच जो अन्तर बताया था, अब मैंने उसके विषय में पूछा—“आपने नर के साथ नारी का भी उल्लेख किया था। आपकी दृष्टि में ‘नारी’ क्या है?”

भैया की आँखें चमक उठीं। हमारे ऊपर सघन वृक्ष के पर्णों के बीच से दिखते नील नभ की ओर उन्होंने थोड़ी देर एकटक देखा, फिर कहा, “सुनो उद्धव, स्त्री पुत्र-पुत्रियों को जन्म देनेवाला यन्त्र नहीं है। नारी अर्थात् वात्यल्य, वात्सल्य अर्थात् नारी।

“घर-घर में विचरण करनेवाले परमात्मा के वैश्विक तेजशक्ति का—अखण्ड निर्माणशील वत्सलता का—अंश है नारी। वात्सल्य वस्तुभार, अन्तर और समय परिमाणों से परे होता है। वह अज्ञान, ज्ञान और प्रज्ञान से परे होता है। वह अविद्या, विद्या तथा प्रविद्या से परे होता है। वह तम, रज और सत्त्व—इन तीनों भावों से परे होता है।

“नारी केवल माता, महामाता, सखी, पत्नी, भगिनी, भाभी, पुत्री, चाची, मामी, बुआ, सेविका—इन्हीं नातों में नहीं बल्कि नारी के रूप में भी सर्वदा वन्दनीया होती है।

“मेरे साथ मुझे देखनेवालों को भी परमात्मा के नारी-रूप का आभास होता रहे, इसलिए मैंने जीवन-भर मोरपंख को आदर सहित अपने मस्तक पर धारण किया। नारी श्रेयस का—उसके निर्माणशील योनिद्वार का यह अद्वितीय प्रतीक है। अब तो मेरे द्वारा पूर्णत: त्याग दिये जानेवाले सुदर्शन चक्र की अपेक्षा मेरा मोरपंख ही मेरा जीवन-सन्देश है।” भैया ने मुझे नि:शब्द और मुग्ध कर दिया था। पिछले तीन तप मैंने उनकी जो सेवा की थी, उसका पूर्ण कृपा-प्रसाद मुझे प्राप्त हुआ था। उसी क्षण उन्होंने, जिस प्रकार अर्जुन के आगे फैलायी थी उसी प्रकार मेरे आगे अपनी गुलाबी दायीं हथेली फैलायी। उसके ध्वज, चक्र, शंख, स्वस्तिक, त्रिकोण, चौकोन, यव आदि दुर्लभ चिह्न आलोकित हो उठे। मेरी आँखों की गहराई में झाँकते हुए भैया बोले, “हे अवधूत, अब तो जान गये, किस प्रकार तुम मेरे आध्यात्मिक जीवन के भावविश्वस्त हो? मुझे वचन दो, बदरी-केदार में आश्रम बनाकर तुम मेरे उपदेश को पीढ़ियों तक पहुँचाओगे।”

मैंने सहज ही उनकी हथेली पर अपनी हथेली रखी। मुस्कराकर वे बोले, “उद्धव, तुम्हारी इस अवधूत-गीता को भी लोग हृदय से स्वीकार करेंगे। चलो, अब चलते हैं। जिस काम के लिए निकले हैं, उसे पूरा करते हैं।”

मैंने आदरपूर्वक उनकी कौमोदकी गदा उनके हाथ में दी। उसे कन्धे पर रखते हुए उन्होंने कहा, "अब तुम गरुड़ध्वज को लेकर राजनगर लौट जाओ। मैंने तुम्हें अभी जो कुछ कहा है, उस पर मनन करो। कँटीली वनलताएँ इकट्ठा करके मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे आता हूँ–अर्थात् आनर्त के पश्चिमी पवन का आनन्द लेते हुए! क्यों?"

"जैसी आपकी इच्छा और आज्ञा, नारायण!" मैंने उनकी चरणधूलि अपने मस्तक पर धारण की। उन्होंने अपनी बायीं भुजा लपेटकर मुझे दृढ़ आलिंगन में कस लिया। क्षण-भर हम दोनों एक-दूसरे के आलिंगन में बँधे रहे। फिर मैं अरण्य से बाहर निकला और भैया कँटीली लताएँ बटोरने के लिए अरण्य में भालका तीर्थ की ओर चले गये।

मैं भैया के मुख से सुने एक से बढ़कर एक श्रेष्ठ विचारों में खो गया था। रथ को हाँकते-हाँकते वेरावल कब पीछे छूट गया, मेरे ध्यान में ही नहीं आया। भैया के विचारों की गहराई और ऊँचाई–दोनों की संगति लगाने के लिए किसी शान्त स्थान में बैठकर चिन्तन करना मुझे आवश्यक लगा। सोमनाथ के शिवालय के अतिरिक्त कौन-सा स्थान इसके योग्य हो सकता था?

सोमनाथ के शिवालय के आगे मैंने रथ को रोका। गर्भगृह में जाकर अभिषेक-जल से नहाते सोमनाथ के पुन: दर्शन किये। प्रसाद ग्रहण कर गर्भगृह से बाहर आकर मैं मन्दिर की पाषाणी अग्रशाला में बैठ गया। पश्चिम सागर का अविरत गर्जन सुनाई दे रहा था। भैया के मुख से सुने एक-एक शब्द का चिन्तन करते-करते समय कैसे बीता, मुझे ज्ञात ही नहीं हुआ।...

अब दिन का चौथा प्रहर आरम्भ हुआ था। राजनगर की ओर लौटना आवश्यक था। अभी तक मैं भैया के विचारों से भलीभाँति निकल नहीं पाया था। उसी तन्द्रा में शीघ्र गति से रथ दौड़ाता हुआ मैं खाड़ी के तट पर पहुँचा। हमारे साथ आया नाविक मेरी प्रतीक्षा ही कर रहा था। उसके बिछाये काष्ठ-फलकों पर से मैंने गरुड़ध्वज को नौका पर चढ़ाया। नौका द्वारिका की ओर बढ़ चली। द्वारिका से सोमनाथ की ओर नौकाओं के समूह-के-समूह दिखाई देने लगे।

गरुड़ध्वज ने शुद्धाक्ष महाद्वार से राजनगर द्वारिका में प्रवेश किया। आकाश में छाये मेघ पवन के द्वारा हटाये जाने पर जिस प्रकार आकाश निरभ्र हो जाता है, उसी प्रकार मेरा मन निरभ्र होने लगा था। मैं गरुड़ध्वज को अश्वशाला में ले आया। रथ के चारों शुभ्र-धवल अश्व भैया के कितने प्रिय हैं, यह मैंने प्रत्यक्ष ही देखा था। देर तक वे रथ के जुए से बँधे हुए थे, अत: उन्हें खोलना आवश्यक था। अश्वशाला में कोई सेवक दिखाई नहीं दे रहा था। अश्व भी बहुत अधिक थके हुए भी दिख रहे थे।

भैया के दिये ज्ञानोपदेश की तन्द्रा में ही मैंने अश्वों को खोल दिया। उनके आगे चारा डाल दिया। भैया के मुख से सुने विचारों की अपने-आप से ही संगति लगाते हुए मैं श्रीसोपान के पास आया। भैया के बताये आचार्य सान्दीपनि के नाम की सीढ़ी को दायें हाथ से स्पर्श करके उसे मैंने माथे से लगाया। अपने-आप में खोया-सा मैं उस ऊँचे सोपान पर चढ़ने लगा। भैया की बहुत-सी बातें मेरी समझ में आयी थीं। उनकी इच्छा के अनुसार मैं मन-ही-मन बदरी जाने की योजना बनाने लगा था। इतने में–

ऊपर से नीचे आते अमात्य सुकृत "कहाँ थे आप, उद्धवदेव? आपको ही ढूँढ़ रहा हूँ मैं। इतनी देर कहाँ थे आप? क्या हुआ है, आपको कुछ पता है?" कहते हुए मेरे आगे ही आकर खड़े हुए। उनके दायें हाथ में यादवों का रत्नजटित राजदण्ड था। मैंने चौंककर पूछा–"क्या हुआ? खाड़ी में

शीघ्रगति से एक ही दिशा में जानेवाली नौकाओं के समूह-के-समूह दिखाई दिये। राजमार्ग पर कोई भी व्यक्ति दिखाई नहीं दे रहा है।”

“हे अवधूत, अनर्थ हुआ है! भालका तीर्थ के अरण्य में एक अश्वत्थ-वृक्ष के नीचे द्वारिकाधीश की निष्प्राण देह पायी गयी है! उनके तलवे में जरा नामक जिस व्याध का प्राणघातक बाण चुभा है, वह अपने साथियों सहित आकर यह सूचना दे गया है। रुक्मिणीदेवी सहित सम्पूर्ण द्वारिका वहीं चली गयी है। नगर में कोई भी नहीं है। मैं–मैं केवल आपके लिए रुक गया हूँ। हे अवधू ऽ त, हमारे द्वारिकाधीश हमें छोड़कर चले गये हैं।” अपने उत्तरीय के छोर से आँखें पोंछते हुए अमात्य सिसकने लगे। उनका शरीर कम्पित होता रहा। यह हृदय-भेदक समाचार मुझे सुनाते हुए अपनी रुलाई रोकने के प्रयास में उनके हाथ से राजदण्ड नीचे गिर गया। वह सीढ़ियों पर से लुढ़कता हुआ सोपान की अन्तिम सीढ़ी पर गिरा और पल-भर में उस सीढ़ी पर से भी नीचे चला गया।

उनके शब्दों को सुनकर कुछ निरभ्र हुआ मेरा मन पुन: काले-काले मेघों से घिर आया। खड़े-खड़े मैं ऐसा विषण्ण एवं संज्ञाहीन हुआ मानो मुझ पर विद्युत्पात हुआ हो। मैं कहाँ हूँ, मेरे पैरों के नीचे क्या है, मेरे परम भावविश्वस्त होने का क्या तात्पर्य है, मेरी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था।

कुछ समय पूर्व ही उन्होंने मुझे जीवन का ज्ञानरस भर-भरकर दिया था। मेरी बुद्धि संवेदन-शून्य हो गयी थी।

अमात्य भी कब के चले गये थे। मुझे रोना भी नहीं आ रहा था। मेरी आँखों में आँसू की एक बूँद भी नहीं थी। मुड़कर दो-दो, चार-चार सीढ़ियों को लाँघता हुआ कब मैं सोपान उतरा, मुझे कोई भान नहीं रहा। धनुष से छूटे बाण के समान, भानरहित होकर मैं शुद्धाक्ष महाद्वार की ओर दौड़ने लगा। अश्वशाला की ओर जाने का भी मुझे भान नहीं रहा। खाड़ी-तट पर द्वारिकावासियों का जमघट लगा हुआ था। मुझे पैदल ही दौड़ते हुए आते देखनेवाले अपने-आप ही मुझे मार्ग दे रहे थे। जिनकी पीठ मेरी ओर थी, उनको ढकेलते हुए मैं जैसे-तैसे खाड़ी-तट पर पहुँचा। जो नौका मुझे दिखाई दी, उसमें घुसकर मैंने नाविकों को आदेश दिया–“शीघ्र चलो।” वह भी शीघ्र गति से नौका खेने की पराकाष्ठा करने लगा। मेरे चारों ओर जल से भरा समुद्र था, किन्तु मेरी आँखों में आँसू की एक बूँद भी नहीं थी। मैं अवसन्न था–चेतना-शून्य।

खाड़ी के उस पार पहुँचते ही मैं नौका से कूद पड़ा। आगे दिखाई दिये रथ पर चढ़कर मैंने सारथि को आज्ञा दी–“शीघ्र–अतिशीघ्र चलो! कहीं भी रुकना नहीं है! सीधे भालका तीर्थ चलो।” ...द्वारिका लौटते समय मैं गरुड़ध्वज पर आरूढ़ था। अब मैं किसके रथ पर आरूढ़ हुआ था, मुझे पता नहीं था। नौका खेनेवाले नाविक से भी अधिक इस सारथि ने शीघ्रता की पराकाष्ठा कर दी। वेरावल को पीछे छोड़कर जब उसने रथ को भालका तीर्थ के अरण्य के पास लाकर खड़ा किया, तब उसके रथ के अश्वों के मुख से झाग निकल रहे थे। अब भी मेरी आँखों में आँसू की एक बूँद भी नहीं थी! मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा था–मैं कौन हूँ? क्या हुआ है?...रथ को छोड़कर दौड़ता हुआ मैं अरण्य में घुस गया। मेरे कन्धे से उड़कर उत्तरीय कहाँ गिर गया, इसका भी मुझे भान नहीं रहा।

अनेक वृक्षों को पीछे छोड़ता हुआ मैं उस अश्वत्थ-वृक्ष के समीप आया। वह वृक्ष नर-नारियों से घिरा हुआ था।

मुझे आते देखकर वे ‘उद्धवदेव आ गये–अवधूत आ गये’ फुसफुसाते हुए मुझे मार्ग देने लगे।

मैं वहाँ पहुँचा, जहाँ रुक्मिणी भाभी के साथ अन्य सभी भाभियाँ भैया की अचेतन देह के पास हृदयभेदी क्रन्दन कर रही थीं। मुझे देखकर वे भी तनिक परे हो गयीं। मैं देख रहा था–भैया के दायें घुटने पर रखे बायें पाँव के तलवे में एक सूचिबाण घुसा हुआ था। उस घाव से बहते रक्त ने उनके पीताम्बर को भिगो दिया था। उनके चरणों में रक्त के थक्के फैले हुए थे। वह रक्त भी अब जमकर काला पड़ने लगा था।

मैं शोक नहीं कर रहा हूँ, मेरी आँखों में आँसू की एक बूँद भी नहीं है–यह देखकर अवसन्न यादव और भी नि:शब्द हो गये। मैं अन्दर-ही-अन्दर घुट रहा था। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मुझे रोना क्यों नहीं आ रहा! मेरी आँखों में आँसू की एक बूँद भी क्यों नहीं आ रही? मुझ पर जैसे बिजली गिरी हो–इस प्रकार मैं अवसन्न-जड़वत् क्यों हुआ हूँ? पाँवों में फैले रक्त के थक्कों से चिपकी उनकी पाँवों की लम्बी-लम्बी नीलवर्णी अँगुलियों को देखकर मुझे लगा कि माथे पर फैला असीम आकाश उनकी साढ़े तीन हाथ लम्बी देह में समाविष्ट हो गया है।

मेरी दृष्टि उनके पाँवों के नखों से उनकी शुभ्र दाढ़ी के ऊपर–उनके गुलाबी होंठों तक तीव्रता से घूम गयी। मेरे प्राणों ने तिलमिलाकर कहा, “एक बार मुझसे बात कीजिए–एक बार मुझे ‘ऊधो–अवधूत कहकर पुकारिए!...आँसू की एक बूँद मुझे दे दीजिए।”

वे कुछ भी नहीं बोले। बोलनेवाले थे भी नहीं। कुछ समय पहले ही उन्होंने मुझसे बहुत-कुछ कहा था। कहने के लिए तो उनके पास और भी बहुत-कुछ था, किन्तु उसे सुनने का भाग्य अब कभी भी किसी को प्राप्त होनेवाला नहीं था! केवल इस विचार से ही मेरा हृदय व्याकुल हो उठा।

“भैया ऽ!” चिल्लाते हुए मैं उनके वक्ष पर पड़ी वैजयन्तीमाला पर गिर पड़ा। उनका केसरी उत्तरीय मेरी आँखों के आत्मरस की धारा से भीगता गया...भीगता गया! मेरे अश्रुकोष का बाँध टूट चुका था। सिसक-सिसककर रोनेवाला मैं तभी शान्त हुआ, जब रुक्मिणी भाभी का हाथ मेरी पीठ पर पड़ा।

मैंने दृढ़ता से अपने-आप को सँभाला। वे होते तो उन्हें क्या अच्छा लगता, यह सोचकर मैंने पहले शान्तिपूर्वक रुक्मिणी भाभी सहित सभी भाभियों को सान्त्वना दी। अमात्य ने कुछ यादवों की सहायता से भालका तीर्थ पर द्वारिकाधीश के व्यक्तित्व की गरिमा के अनुकूल चन्दन-काष्ठों की चिता रचवायी थी। अब सन्ध्या हो रही थी। दारुक, मेरी और अमात्य की सहायता के लिए कुछ ज्येष्ठ सम्माननीय यादव अग्रसर हुए। भैया की नीलवर्णी चक्रवर्ती देह जीवन-भर उनके साथ रहे पांचजन्य, कौमोदकी गदा, पद्म, वैजयन्तीमाला, कौस्तुभमणि, मोरपंख से शोभित किरीट और नन्दक खड्ग सहित चन्दनी चिता पर रखी गयी। गोकुल की और दो वस्तुएँ भी उनके साथ स्पष्ट दिखाई दे रही थीं। कटि में खोंसी वंशी और कलाई में धारण किया गया चाँदी का कड़ा। दूर वृक्ष के नीचे बैठे कुछ वृद्ध यादव शान्त हुए तात वसुदेव और दोनों माताओं का हाथ थामकर चिता के पास ले आये। तीनों ने डबडबायी आँखों से भैया का अन्तिम दर्शन करके एक-एक चन्दन-काष्ठ उनकी देह पर रखा। ज्येष्ठ यादव, पुरोहित गर्गमुनि, उनके शिष्यगण, दारुक, अमात्य, सबने एक-एक चन्दन-काष्ठ उनके शरीर पर रखा। उनका नील शरीर अब चन्दन-काष्ठों से पूर्णत: आच्छादित हुआ था। अन्तिम चन्दन-काष्ठ चिता पर मैंने रखा। तभी किसी ने मेरे हाथ में प्रज्वलित पलीता पकड़ा दिया।

'ॐ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये'—अर्थात् सत्य का मुख नित्य हिरण्यवर्णी आच्छादन से ढँका रहता है। उस सत्य के दर्शन की आस रखनेवाले मुझे, हे परमेश्वर, झलक तो दिखा दे।'—इस ऋग्वेद-ऋचा का यादव-पुरोहितों ने तीन बार घोष किया। उसके बाद मन्त्रघोष के साथ मैंने चिता को अग्नि दी। अग्नि के पक्षी नीलवर्णी आकाश में उड़ान भरने लगे। अमात्य ने तात वसुदेव, दोनों माताओं और अन्य ज्येष्ठों को राजनगर भिजवाने का प्रबन्ध किया। मैंने अपने हाथ में जलते हुए चन्दन-काष्ट को दूर फेंककर भैया के जीवन-यज्ञ को अन्तिम समिधा प्रदान की। चिता के पास सशस्त्र यादवों का एक पथक रखकर, दो-चार विशिष्ट यादवों के साथ मैं भी द्वारिका की ओर चल पड़ा। भैया के अश्वमित्रों को सान्त्वना देना आवश्यक था।

कोई कुछ भी नहीं बोल रहा था। चलते-चलते एक नीलवर्णी सरोवर दिखाई दिया। उसकी ओर एकटक देखते हुए मैं चला जा रहा था कि पैरों तले बिछी घनी हरियाली पर पड़े कुछ मोरपंख मुझे दिखाई दिये। मेरे सारे शरीर के रोएँ खड़े हो गये। सरोवर का पानी पीकर हरियाली पर यथेच्छ नाचते हुए मयूरों के बिखरे पड़े कुछ पंख थे वे।

मैं आगे नहीं बढ़ सका। मैंने झुककर एक मोरपंख लिया। अंकपाद आश्रम के अन्तर्गत सरोवर में यथेच्छ डुबकियाँ लगाने के पश्चात् भैया के भीगे, घने, घुँघराले केशों में ऐसे ही मोरपंख सजाकर, हम बड़े आनन्द से उनके चतुर्दिक् नृत्य किया करते थे। अपनी मधुर वेणुवाणी, अद्वितीय सौन्दर्य और हँसमुख स्वभाव के कारण वे हमें सदैव ही हम सबसे अलग लगते आये थे।

हाथ में लिये उस विविध रंगी मोरपंखी की ओर मैं केवल देखता रहा। उनकी सप्तरंगी स्मृतियों से मेरा मन भर आया। मेरी आँखों से झरती अश्रुधारा उस मोरपंख के नीलवर्ण को उजला बनाने का व्यर्थ-सा प्रयास करने लगी।

मेरा मन उमड़-उमड़कर पूछने लगा—भैया, वास्तव में आप कौन थे? क्या आपको जन्म देनेवाली बड़ी माँ को—देवकी माता को वह कभी ज्ञात हुआ? छोटी माँ—रोहिणी माता क्या कभी वह जान पायीं? क्या कभी तात वसुदेव उसे समझ पाये? जीवन-भर आपका साथ देनेवाले बलराम भैया को क्या कभी उसका ज्ञान हुआ? आपके कहने के अनुसार, आपको दूसरा जन्म देनेवाले गुरुदेव सान्दीपनि और आचार्य घोर-आंगिरस क्या कभी आपको जान पाये? जिनको आपने जलतत्त्व का अधिकारी माना, वे पितामह भीष्म और दानवीर कौन्तेय कर्ण आपको समझ सके? आपका पालन-पोषण कर आपको संस्कारों की देन देनेवाले दादाजी चित्रसेन, यशोदा माता और नन्दबाबा को क्या कभी आपकी पहचान मिल पायी? आपका निरन्तर स्मरण होता रहे, इसलिए परमात्मा से दुःख की माँग करनेवाली कुन्ती बुआ को क्या आपके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हुआ? क्या कौरव-माता गान्धारीदेवी के कठोर शाप से आप समाप्त होंगे?

क्या आपके सुहृद् गर्गमुनि, धौम्य ऋषि, तात देवभाग, विराट, द्रुपद, धृष्टद्युम्न आदि को आपके हृदय की थाह मिल गयी? क्या आपके हाथों वध होने से कंस, नरकासुर जैसे दुष्टों का जीवन धन्य नहीं हुआ? आपके सखा दारुक, संजय, महात्मा विदुर, सुदामा, सात्यकि और सखियाँ राधा, द्रौपदी, बहन सुभद्रा, और एकानंगा, भानजा अभिमन्यु और उसकी पत्नी उत्तरा—इनमें से क्या किसी के कभी ध्यान में आया कि वास्तव में आप कौन थे?

प्रद्युम्न सहित आपके पुत्रों में से किसी ने क्या कभी आपके सत्यरूप को जानने का प्रयास

किया? क्या आपकी प्रिय पुत्री चारुमती और उसकी बहनें आपको कभी समझ पायीं?

रुक्मिणी भाभी को छोड़कर अन्य भाभियों को आपकी पत्नी होने के सौभाग्य का कभी आभास हुआ?

युधिष्ठिर सहित जिन पाण्डवों को आपने समर्थन दिया, क्या वे कभी आपको जान पाये?

औरों की तो बात ही जाने दीजिए, जिसे आपने ज्ञानसमृद्ध गीता सुनायी, अपने लौकिक जीवन का परमप्रिय सखा कहकर जिसका गौरव बढ़ाया, क्या उस धनुर्धर अर्जुन को आपके जीवन के सभी आयामों के दर्शन हुए?

उन सबकी बात भी दूर की है, क्या पिछले तीन तपों अर्थात् छत्तीस वर्षों से निरन्तर आपकी सेवा करता आ रहा यह उद्धव आपको ठीक-ठीक जानने का सौभाग्य प्राप्त कर सका?...

यदि आपको किसी ने थोड़ा-बहुत जाना ही होगा, तो केवल रुक्मिणी भाभी ने! जब कभी कोई आपको, बिना किसी त्रुटि के, पूर्णत: जान पाएगा, तब मेरे प्रिय भैया, आर्यावर्त के ही नहीं समस्त विश्व के जीवन का वह स्वर्ण-दिवस होगा!...

मेरा मन निरन्तर आक्रन्दन कर रहा था–'मेरे भैया–श्रीकृष्ण, हे युगन्धर, सचमुच आप कौन थे?'

मेरी आँखों से अविरत झरती अश्रुधारा से मेरे हृदय के मोरपंख का असीम, अनन्त नीलवर्ण आलोकित हो रहा था!

आनर्त-सौराष्ट्र के भालका तीर्थ के पश्चिम क्षितिज पर सूर्य डूब रहा था। युगान्त हो चुका था।

□□□

णाणं पयासयं

भारतीय ज्ञानपीठ

शिवाजी सावन्त

पूरा नाम: शिवाजी गोविन्दराव सावन्त।

जन्म: 31 अगस्त, 1940 को आजरा, ज़िला कोल्हापुर (महाराष्ट्र) में।

लेखन-प्रारम्भ कविता से, किन्तु परिणति गद्य-लेखन में। वर्षों के चिन्तन-मनन के उपरान्त 27 वर्ष की अवस्था में ही प्रथम मराठी उपन्यास मृत्युंजय का प्रकाशन। यह उपन्यास उनकी लोकप्रियता का प्रतिमान बना। इसका अनुवाद अँग्रेज़ी एवं हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी, कन्नड़, तेलुगु, मलयालम, बांग्ला आदि अनेक भाषाओं में हो चुका है। छावा (मूल मराठी में, 1989) के अतिरिक्त मृत्युंजय और छावा की कथावस्तु को ही लेकर दो नाटकों की रचना। अन्य उल्लेखनीय कृतियाँ हैं—लढत (जीवनी), शेलका साज (ललित निबन्ध), अशी मने असे नमुने (रेखा-चित्र), मोरावला (रेखा-चित्र) और युगन्धर (उपन्यास)।

उनके उपन्यास मृत्युंजय, छावा, युगन्धर और नाटक संघर्ष के हिन्दी अनुवाद भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हैं।

गुजरात राज्य सरकार का ‘साहित्य अकादेमी पुरस्कार’ (1982), भारतीय ज्ञानपीठ का ‘मूर्तिदेवी पुरस्कार’ (1995), ‘आचार्य अत्रे प्रतिष्ठान पुरस्कार’, पुणे (1999) सहित अनेक पुरस्कारों से सम्मानित।

18 सितम्बर, 2002 को मडगाँव (गोवा) में देहावसान।

भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003

संस्थापक :

स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन, स्व. श्रीमती रमा जैन